Hindi / English / Gujarati

सुश्रुत संहिता

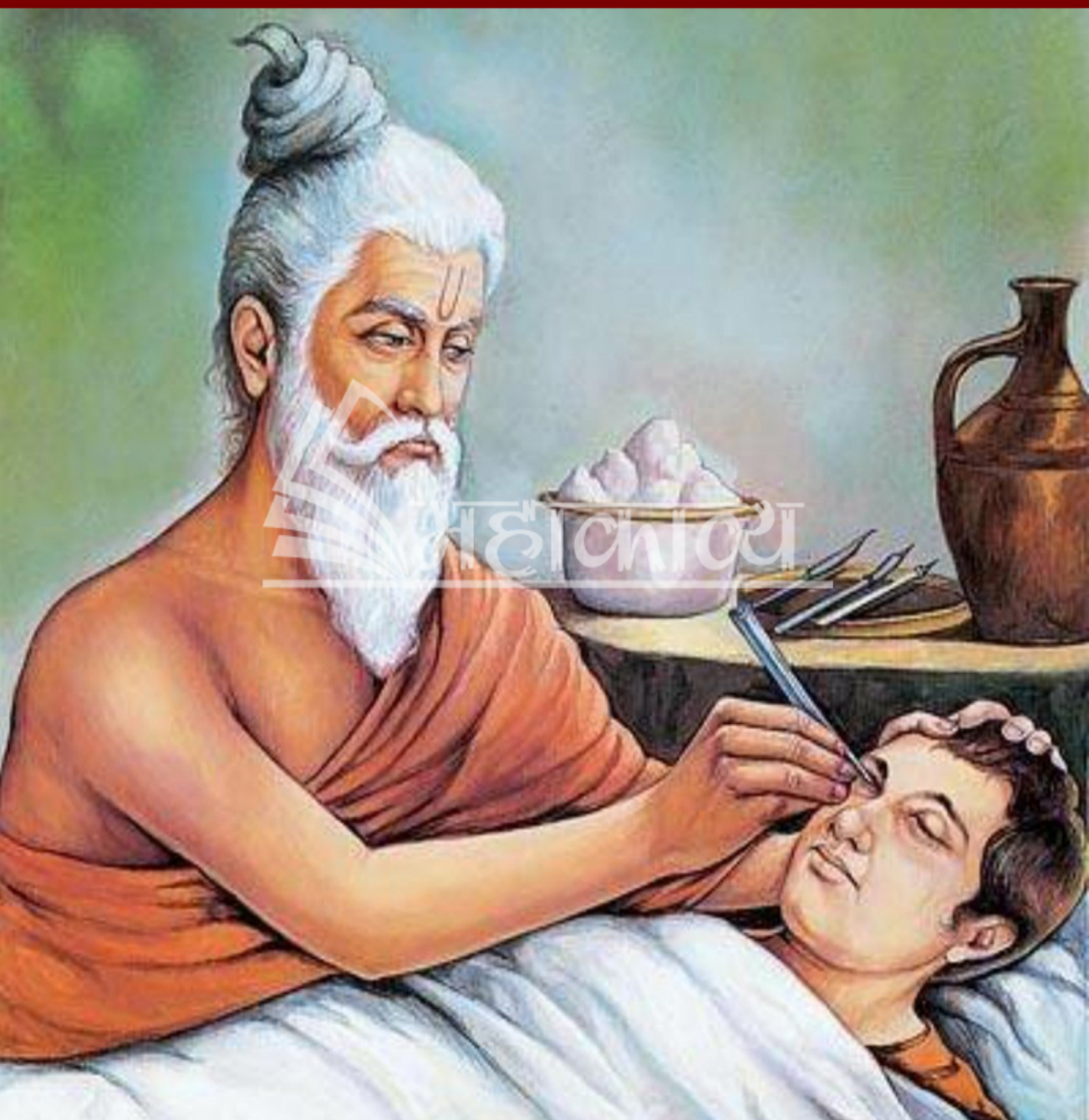

महाकाव्य

विषय-सूची

सूत्रस्थान

विषयाः पृष्ठाङ्काः

प्रथम अध्याय

वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम १
औपधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन २
औपधेनवादि का धन्वन्तरि द्वारा स्वागत "
आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग कथन "
आयुर्वेद के शल्यादि आठ अङ्ग ३
शल्यादि अष्टाङ्गों का सक्षेप से लक्षण "
शल्य-शालाक्य-कायचिकित्सा-भूतविद्या-कौमारभृत्यलक्षण "
अगदतन्त्रलक्षण ४
रसायनतन्त्र-वाजीकरणतन्त्रलक्षण "
अष्टाङ्ग का उपसहार "
शल्याङ्गप्रधान आयुर्वेदोपदेश के लिये भगवान् धन्वन्तरि के आगे औपधेनवादि शिष्यों की प्रार्थना "
सब की ओर से सुश्रुत को प्रश्नादि करने का अधिकार देना "
सुश्रुत को आयुर्वेद का प्रयोजन बताना "
आयुर्वेद की निरुक्ति "
प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलतासिद्धि ५
शल्याङ्ग का प्राधान्य, प्रशंसा तथा नित्यता "
आयुर्वेद की गुरुपरम्परा से प्राप्ति या अवतरणक्रम "
भगवान् धन्वन्तरि का आत्म-परिचय देना "
आयुर्वेदिक पञ्चमहाभूतादि पुरुष की परिभाषा ६
संस्वेदजादि चतुर्विध भूतग्राम में पुरुष का प्राधान्य "
व्याधिपरिभाषा "
व्याधियों के चतुर्विध भेद "
आगन्तुक-शारीरिक-मानसिक स्वाभाविक व्याधि "
चतुर्विध व्याधियों के कारण, स्वरूप तथा द्विविध-अधिष्ठान "

विषयाः पृष्ठाङ्काः

व्याधियों के निग्रह में हेतु ६
संशोधन आदि में आहार की मुख्यता तथा स्थावर-जङ्गम भेद से ओषधियों का द्वैविध्यवर्णन ७
स्थावर ओषधियों के चार भेद "
जङ्गम ओषधियों के चार भेद "
जरायुजादि चतुर्विध सृष्टि में गिने जाने वालों का निर्देश "
ओषधियों के चिकित्सोपयोगी अङ्गों का निर्देश "
पार्थिव ओषधियां "
कालकृत प्रवात-निवातादि विशेषताएं तथा उनके सञ्चय प्रकोपादि में कारण ८
शारीरिक रोग-प्रशमन में उक्त चतुर्विध वर्ग की कारणता "
आगन्तुकरोगाधिष्ठान "
आगन्तुकरोगचिकित्सासूत्र "
पूर्व निर्दिष्ट व्याधि, पुरुष, औषध, क्रियाकाल का उपसंहार "
प्रथमाध्यायोक्त सचिसार्थ को चिकित्सावीज सिद्ध करना "
सुश्रुतान्तर्गत स्थान एव अध्यायों की संख्या-सूची "
सुश्रुततन्त्राध्ययनफल "

द्वितीय अध्याय

शिष्योपनयनीय अध्याय का उपक्रम ८
पढाने योग्य शिष्य का लक्षण ९
आयुर्वेददीक्षाविधि "
आयुर्वेदाध्ययन के अधिकारी "
शिष्य एवं गुरु का कर्तव्य "
रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य १०
आयुर्वेदाध्ययन में वर्जित समय "

तृतीय अध्याय

अध्ययनसम्प्रदानीय अध्याय का उपक्रम १०
सूत्रादि प्रत्येक स्थानों की अध्याय-सख्या "
सूत्रस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम "

विषयाः पृष्ठाङ्काः

सूत्रस्थान की निरुक्ति १०
निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम ११
निदानस्थान की निरुक्ति "
शारीरस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम "
शारीरस्थान-प्रयोजन "
चिकित्सास्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम "
चिकित्सास्थान की निरुक्ति "
कल्पस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १२
कल्पस्थान की निरुक्ति "
उपसंहार "
उत्तरतन्त्र के प्रथम अध्याय के 'औपद्रविक' नामकरण में कारण "
शालाक्यतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम "
कौमारतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम "
भूतविद्यान्तर्गत अध्यायों के नाम "
तन्त्रभूषण अध्यायों के नाम १३
उत्तरतन्त्र की निरुक्ति "
अष्टाङ्ग आयुर्वेद का संक्षेप से तन्त्रद्वय में नियमन "
आयुर्वेद का उपासक उभयज्ञ वैद्य राजार्ह होता है "
केवल शास्त्रज्ञ अथवा केवल कर्म-निष्णात भिषक् का चिकित्सा कार्य में अनधिकार "
उभयज्ञ अर्थात् शास्त्रज्ञ और कर्म निष्णात भिषक् की प्रशंसा "
आयुर्वेद शास्त्र के अध्यापन और अध्ययन का प्रकार १४
अध्ययन समाप्त कर लेने पर शिष्य का कर्तव्य "

चतुर्थ अध्याय

प्रभावणीय अध्याय का उपक्रम
प्रभावण का प्रयोजन १४
एक सौ बीस अध्यायों के वर्णन तथा श्रवण की आवश्यकता "
अन्य शास्त्रों में वर्णित विषयों का उन्हीं के पण्डितों से श्रवण १५
बहुश्रुतप्रशंसा "

विषय सूची

विषयाः पृष्ठाङ्काः

गुरुमुख से आयुर्वेद का श्रवण कर अभ्यास करने वाले व्यक्ति ही वैद्य संज्ञा के अधिकारी हो सकते हैं १५

औपधेनवादितन्त्रों की अन्य समान तन्त्रों में प्रधानता का निर्देश »

पञ्चम अध्याय

अग्रोपहरणीय अध्याय का उपक्रम १५

त्रिविध चिकित्साकर्म »

शस्त्रकर्म प्रधान होने से उसका प्रथम वर्णन १६

आठ प्रकार के शस्त्रकर्म »

शस्त्रक्रिया के पूर्व सञ्चय करने योग्य सामग्री »

शस्त्रकर्म की विधि »

शस्त्रक्रिया में प्रशस्त व्रण के लक्षण १७

शस्त्रकर्म करने योग्य वैद्य के गुण »

एक व्रण (चीरे) से पूयादि न निकलने पर अन्य व्रण करने पूर्व पूयगति तथा उत्सर्ग को देखकर वहां व्रण करने का विधान »

तिर्यक् छेद करने के स्थान »

पाणि, पाद, गुद, मेढ्र पर चन्द्र-मण्डलादि छेद »

अन्यथा छेद करने पर दोष »

मूढगर्भादि में विना खाये शस्त्रकर्म करने का उपदेश »

शस्त्रक्रिया के अनन्तर उपचार विधान »

व्रणधूपनद्रव्य और जल से रोगी का परिमार्जन १८

व्रण रोगी का रक्षाकर्म »

सुरक्षित व्रणरोगी के स्वकर्तव्य तथा आगारप्रवेश १९

व्रणी के पट्टबन्धन तथा विमोचन के समय पर विचार »

द्वितीयदिवसपट्टमोक्षण दोष »

दोष-कालादि के अनुसार कषाय-आलेपन आदि का विचार सदोष व्रण के रोपण में दोष »

व्रण की रोपण चिकित्सा का समय तथा उसमें वर्जनीय वस्तु »

ऋतु के अनुसार व्रण की पट्टी खोलने का नियम »

अतिपाती रोगों में उक्त नियम का निषेध »

शस्त्रनिपातजनितवेदना के शमन का उपाय »

विषयाः पृष्ठाङ्काः

छठा अध्याय

ऋतुचर्या अध्याय का उपक्रम २०

कालशब्द की निरुक्ति »

संवत्सरात्मक काल के गतिविशेष से निमेषादि विभाग »

निमेषादि के लक्षण »

छः ऋतुओं का विभाग »

दक्षिण और उत्तर दो प्रकार का अयनविभाग »

चन्द्र, सूर्य और वायु ही पालन में कारण हैं »

संवत्सर, युग और कालचक्र की परिभाषा २१

संशोधनाश्रय वर्षादि क्रम से ऋतु विभाग »

वर्षादि ऋतुओं में पित्तादिके चय, प्रकोप तथा उनके रोग-भवन प्रकार »

वर्षादि ऋतुओं में सञ्चित तथा शरदादि में प्रकुपित दोषों के निर्हरण का उपाय »

वातादि दोषों का स्वाभाविक संशमन काल »

एक दिन में षट् ऋतुओं का होना तथा उनमें दोष-चयादि अवस्था २२

अव्यापन्न ऋतुओं में ओषधियों का गुणशाली होना »

ऋतुओं की विकृति के कारण, विकृत जल के उपभोग से रोगोत्पत्ति »

विकृत ऋतुओं में अविकृत औषध-सेवनोपदेश »

ऋतुविकृति के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी रोग हो जाते हैं »

विकृत ऋतुकाल में स्थान परिवर्तनादि उपदेश »

अविकृत ऋतुओं के लक्षण २३

हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट्, वर्षा तथा शरद् ऋतु के लक्षण »

वातादि दोषों के प्रकोप के कारण २४

किस ऋतु में किस दोष का निर्हरण करने का उपदेश »

सातवां अध्याय

यन्त्रविधि अध्याय का उपक्रम २४

यन्त्रोंकी संख्या तथा सामान्य लक्षण »

यन्त्रों के छ प्रकार तथा आवान्तर भेद »

यन्त्र बनाने के द्रव्य »

यन्त्रनिर्माणविधि २५

स्वस्तिकयन्त्रों के नाम, लक्षण और कार्य »

विषयाः पृष्ठाङ्काः

सदंशयन्त्रों के नाम लक्षण और कार्य २५

तालयन्त्रों के नाम, स्वरूप और कार्य »

नाडीयन्त्रों के नाम स्वरूप और कार्य »

शलाकायन्त्रों के नाम स्वरूप और कार्य २६

उपयन्त्रों के नाम, स्वरूप और कार्य »

यन्त्रों के कार्य तथा दोष २७

प्रशस्तयन्त्रस्वरूप »

दृश्य तथा गूढ शल्य निकालने वाले यन्त्र »

यन्त्रों में कङ्कमुखयन्त्र की प्रधानता »

अष्टम अध्याय

शस्त्राचारणीय अध्याय का उपक्रम २८

बीस प्रकार के शस्त्र »

शस्त्र पकड़ने का तरीका »

नखशस्त्रादि का प्रमाण »

शस्त्रों की सम्पत् या गुण »

शस्त्रों के दोष तथा धारा २९

आहरण और एषणकर्म में धाराओं का भेद »

वडिश, दन्तशङ्कु तथा एषणी का स्वरूप »

शस्त्रों की त्रिविध पायना का निरूपण »

पायित शस्त्रों का विभिन्न शस्त्रकर्मों में प्रयोग »

शस्त्र को तीक्ष्ण करने के लिये शिला तथा धारास्थापनार्थ शाल्मलिफलक »

शस्त्रकर्म में प्रयुक्त करने योग्य शस्त्र »

अनुशस्त्रों का वर्णन व उपयोग »

शस्त्र बनाने योग्य धातु तथा कारीगर ३०

शस्त्रग्रहणपरिचय की आवश्यकता »

नवम अध्याय

योग्यासूत्रीय अध्याय का उपक्रम ३०

योग्या करने की आवश्यकता »

छेद्यादिशस्त्रकर्मों का विभिन्न फलादिकों पर अभ्यास »

शस्त्रकर्म में अभ्यस्त वैद्य मोह को नहीं प्राप्त होता है ३१

शस्त्रकर्मकौशल-प्राप्ति में योग्या आवश्यक है »

दशम अध्याय

विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय का उपक्रम ३२

विशिखानुप्रवेश या चिकित्सा कर्म के योग्य वैद्य »

दूत-शकुनादि का विचार कर रोगी के घर में जाना »

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रोगविज्ञान के छः साधन	३२
श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और प्रश्न द्वारा रोग विज्ञान प्रकार	,,
अपरीक्षित रोगों में चिकित्सक किं-कर्तव्य विमूढ हो जाता है	३३
साध्य, याप्य और असाध्य रोगों में वैद्य का कर्तव्य	,,
कुछ रोगियों में साध्य रोग भी दुश्चिकित्स्य हो जाते हैं	,,
वैद्य के लिये परस्त्री का सम्पर्क-निषेध	३४
ग्यारहवां अध्याय	
क्षारपाकविधि अध्याय का उपक्रम	३४
शस्त्रानुशस्त्रों में क्षार की प्रधानता	,,
क्षारशब्द की निरुक्ति, क्षार के गुण और कर्म	,,
क्षार के भेद	,,
प्रतिसारणीय क्षार के विषय	३५
पानीयक्षार के विषय	,,
क्षारचिकित्सा के अयोग्य रोगी	,,
पानीयक्षारनिर्माणविधि	,,
प्रतिसारणीय क्षार के भेद तथा उसके निर्माण की विधि	,,
मृदुक्षार तथा मध्यमक्षार	३६
पाक्यसंज्ञक तीक्ष्ण क्षार का निर्माण-प्रकार	,,
व्याधि के बलाबल को देख कर क्षार-प्रयोग करना चाहिये	,,
मृदुक्षार में बलाधानार्थ क्षारोदक का प्रक्षेप	,,
क्षार के गुण	,,
क्षार के दोष	,,
क्षारप्रतिसारणविधि	,,
क्षार से सम्यग्दग्ध के लक्षण	३७
क्षारदग्ध के न गिरने पर आलेप	,,
क्षार व्रण के रोपण का उपाय	,,
क्षारदग्धवेदना अम्ल से शान्त होती है, इसमें युक्ति	,,
क्षार द्वारा सम्यक्, हीन और अतिदग्ध के लक्षण	,,
क्षारदग्धव्रणचिकित्सा	,,
द्विविधक्षार का प्रतिषेध विषय	,,
प्रदेश विशेष में क्षार का निषेध	३८
क्षार का अवस्था विशेष में निषेध	,,
अल्पमति-प्रयुक्त और विज्ञ-प्रयुक्त क्षार की विशेषता	,,
बारहवां अध्याय	
अग्निकर्मविधि अध्याय का उपक्रम	३८
क्षार से अग्नि की श्रेष्ठता	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अग्निकर्म के साधन	३८
अग्निकर्म का काल और अपवाद	,,
सर्व रोगों में पिच्छिलान्न खिला कर अग्निकर्म करें किन्तु अश्मर्यादि में भूखे पेट अग्निकर्मविधान	३९
एकीयमत से द्विविध अग्निकर्म	,,
त्वग्मांसादिदग्धलक्षण	,,
विभिन्न रोगों में विभिन्न स्थानों पर अग्नि कर्म का विधान	,,
अग्निकर्म का विषय	,,
अग्निकर्म का वलयादिस्वरूपवैशिष्ट्य	,,
अग्निकर्म के पूर्व विचारणीय विषय	,,
सम्यग्दग्ध पर मधुसर्पि प्रलेप	,,
अग्निकर्म के अयोग्य रोगी	,,
इतरथादग्ध या स्नेहदग्धलक्षण	४०
अग्निदग्ध के चार भेद	,,
दहन के सार्वदेहिक लक्षण और उन की सम्प्राप्ति	,,
प्लुष्टदग्धचिकित्सा	४१
दुर्दग्धचिकित्सा	,,
सम्यग्दग्धचिकित्सा	,,
अतिदग्धचिकित्सा	,,
सर्वदग्ध व्रणों के लिये रोपण घृत	,,
स्नेहदग्ध की चिकित्सा	,,
धूमोपहतलक्षण	,,
धूमोपहत की चिकित्सा का क्रम	४२
उष्णवातातपदग्ध शीतवर्षानिल-पीडित-विद्युत्पातदग्ध की एवं इन्द्रवज्रदग्ध रोगी के उपचार	,,
तेरहवां अध्याय	
जलौकावचारणीय अध्याय का उपक्रम	४३
जलौका के योग्य रोगी	,,
वात-पित्त-श्लेष्मदुष्ट शोणित का क्रमतः शृङ्ग, जलौका, तुम्बी द्वारा रक्तमोक्षण	,,
शृङ्गादि से रक्तमोक्षण करने की विधि	,,
जलौका शब्द की निरुक्ति	,,
जलौकाओं का सख्या निर्देश	,,
सविष जलौकाएं	,,
निर्विष ,,	४४
जलौकाओं के निवास क्षेत्र	,,
क्षेत्रभेद से जलौकाओं का सविष निर्विषत्व	,,
जलौकाओं का सुगन्धित सजल क्षेत्र निवास	,,
जलौका-ग्रहणोपाय	,,
जलौकाओं का सरक्षण तथा पोषण क्रम	४५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
त्याज्य जलौका	४५
जलौकावचारणविधि	,,
जलौका द्वारा रक्तग्रहण का ज्ञान	,,
जलौका द्वारा शुद्ध रक्त ग्रहण का ज्ञानोपाय	,,
रक्तपूर्ण जलौकाओं में से रक्त निकालने का उपाय	,,
सम्यग्वान्ता लक्षण	,,
दुर्वान्ता लक्षण	,,
दुर्वान्ता के इन्द्रमद रोग	,,
जलौकावचारण के द्वारा रक्तमोक्षण के पश्चात् उपचार	४३
जलौकाज्ञानविषयक संग्रह श्लोक	,,
चौदहवां अध्याय	
शोणितवर्णनीय अध्याय का उपक्रम	४६
रस की परिभाषा, स्थान तथा परिभ्रमण का प्रकार	,,
रस से रक्त की उत्पत्ति का स्थान व प्रकार	४८
रक्त की परिभाषा	,,
रस से ही रज.सज्ञक रक्त की उत्पत्ति	,,
रक्त और आर्तव का स्वभावतः भेद	४९
आर्तव रक्त में आग्नेयत्व	,,
जीवरक्त का पञ्चभूतात्मक कथन	,,
रक्त में पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों की उपस्थिति या गुण	,,
रस से रक्तादि-धातुओं की क्रम से उत्पत्ति का निर्देश	,,
अन्नपानजन्य रस ही सर्वधातुओं का पोषक है	५०
पुरुष रसज है अतः रस की अन्नपानादि से रक्षा करें	,,
रस की निरुक्ति तथा एक २ धातु में अवस्थान काल	,,
शरीर में तीन प्रकार से रस की गति	५१
वाजीकरण ओषधियों का शीघ्र शुक्र रेचकता गुण	५२
बालकों-में शुक्र प्रतीति न होने में युक्ति	,,
वृद्धावस्था में अन्नरस के पोषक न न होने में कारण	,,
विकृत रक्त के दोषभेद से लक्षण	,,
शुद्ध रक्त का लक्षण	५३
विस्राव्य-रोगियों का अतिदेश से कथन	,,
अविस्राव्य रोगी	,,
शस्त्रविस्रावण के दो भेद	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
प्रच्छानविधि	५३
शोणित के ठीक स्रवण न होने में हेतु	»
मद्यादिव्याप्त रोगियों का रक्त स्रवित नहीं होता है	»
दुष्ट रक्त के न निकालने में दोष	»
अतिविस्रावित रक्त के उपद्रव	»
शोणितमोक्षण के योग्य काल	५४
सम्यग्विस्रावित लक्षण	»
रक्तविस्रावण के लाभ	»
अप्रवृत्त रक्त के प्रवर्तन का उपाय	»
अतिप्रवृत्त रक्त के रोकने के उपाय	»
अधिक रक्तस्रुति से मन्दाग्नि व वातप्रकोप	५५
रक्तस्रवण को रोकने के चार उपाय	»
रक्तस्राव में दाह की प्रधानता	»
सशेषदोष रक्तस्राव का उपदेश	५६
देह का मूल रक्त है अत एव जीव रक्त की रक्षा करें	»
रक्तस्राव-रोध में शीत-प्रयोग से प्रकुपित वात के शमन का उपाय	»
पन्द्रहवां अध्याय	
दोष, धातु, मलों के क्षयवृद्धि-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	५६
दोषों के क्षय-वृद्धि वर्णन का कारण	»
प्रकृतिस्थ वात तथा पित्त के कार्य	»
प्रकृतिस्थ कफ के कार्य	५७
प्रकृतिस्थ रसरक्तादि धातुओं के कार्य	»
मलों के स्वाभाविक कार्य	»
आर्त्तव, गर्भ और स्तन्य के कार्य	५८
प्रकृतिस्थ दोष, धातु, मल और स्तन्य की रक्षा का उपदेश	»
क्षीण वातादि दोषों के लक्षण तथा चिकित्सा	»
रसरक्तादि धातुओं के क्षय के लक्षण तथा चिकित्सा	»
पुरीष, स्वेद तथा आर्त्तवक्षय का लक्षण एव उनकी चिकित्सा	५९
अतिवृद्ध दोष, धातु और मल के लक्षण	»
अतिवृद्ध रस-रक्तादि धातुओं के लक्षण	»
अतिवृद्ध पुरीष, स्वेद	»
आर्त्तव, स्तन्य और गर्भ के लक्षण	»
अतिवृद्ध दोष, धातु और मलादिकों की चिकित्सा	»
अतिवृद्ध धातु आदियों का ह्रास करना श्रेष्ठ है	»

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
बल (ओज) के तथा बलक्षय के लक्षण	५९
ओज की परिभाषा	»
बल (ओज) के प्राकृत कार्य	»
ओज के गुण	»
ओजक्षय के कारण	»
विकृत ओज की तीन व्यापत्तियाँ	»
ओज के तीन दोष तथा बलविस्रंस का उपसंहार	»
बलव्यापत् और बलक्षय के लक्षण	६२
बलविस्रंस और व्यापत् की चिकित्सा	»
दोषधात्वादि क्षीण में स्वयोनिवर्धन द्रव्यों का उपयोग	»
अभीष्ट आहार से क्षीण दोष, धातु, मल की पूर्ति	»
अचिकित्स्य धातुक्षयी के लक्षण	»
मेदोवृद्धि का कारण और चिकित्सा	»
मेदोवृद्धि में शिलाजत्वादि द्रव्य, व्यायाम तथा लेखन वस्ति	»
कार्श्य का कारण तथा चिकित्सा	६३
उत्पन्न कार्श्य में मधुरगण द्रव्य तथा दुग्ध-दध्यादि का प्रयोग	»
मध्य शरीर के कारण, गुण तथा रक्षा का उपदेश	»
स्थूल और कृश की निन्दा तथा मध्यशरीर श्रेष्ठ	»
दोष ही धातु और मलों के क्षय में कारण होते हैं	६४
दोष, धातु और मलों के परिमाण-निर्देश न करने के कारण	»
विना स्वास्थ्य के दोष-समता के ज्ञान का अभाव	»
दोषों के क्षय तथा वृद्धि का लक्षण अनुमान से जाने जाते हैं	»
स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैद्य का कर्तव्य	»
स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण	»
सोलहवां अध्याय	
कर्णव्यधबंधविधि अध्याय का उपक्रम	६४
कर्णवेध का प्रयोजन तथा विधि	»
अन्यदेशविद्ध-ज्ञानोपाय	६५
कर्णसिराओं के वेध होने पर उपद्रव	»
दुर्विद्ध कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा	»
सम्यग्विद्ध में पश्चात्कर्म	»
कर्णोपद्रव शान्त होने पर उस के वर्धन के उपाय	»
छिन्नकर्ण सन्धान	६६
कर्णसन्धान की पन्द्रह विधियां	»

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कुछ कर्णवन्धों के सन्धान सूत्र	६६
मक्षिकादि पञ्च असाध्य कर्णवन्ध	»
दोनों कर्णपाली न होने पर कर्तव्य	»
आभ्यन्तर और बाह्य सन्धानोपदेश	६७
एक पालि होने पर कर्तव्य	»
पालि के अभाव में कर्तव्य	»
कर्णवन्धविधि	»
कर्णवन्ध में परिहार्य	»
सन्धान के अयोग्य कर्ण	»
कर्णसन्धान के पश्चात् कर्म	»
व्रणरूढ होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन	»
अरूढ व्रण कर्ण के वर्धन में दोष	»
शुद्ध कर्णपाली के वर्धन का उपाय	६८
अनुपद्रव कर्णपालि का स्वेदनादि कर्म	»
कर्णपालि पर उद्वर्तन	»
शतावर्यादि तैलाभ्यङ्ग	»
कर्णवर्धन रुकने पर स्वेद-स्नेह-प्रच्छानादि-प्रयोग	»
वृद्धकर्ण का सहसा वर्धन करने से आमकोशी विकार	»
वर्धन योग्य कर्ण	»
कर्णवन्धों की अपरिसंख्येयता	»
कर्णपाली के रोग तथा उनके वातादि दोषदुष्टि के लक्षण	»
कर्णपाली के रोगों की चिकित्सा	»
कर्णपाली के उपद्रव	»
उत्पाटक पर लेप	६९
उत्पुटक पर लेप	»
स्थावहर लेप	»
सकण्डूक पर लेप और तैल	»
उपद्रवों के व्रण की चिकित्सा	»
अवमन्थक में अवसेचन तथा लेप	»
कर्णकण्डूहर लेप तथा तैल	»
ग्रन्थिक में स्रावण तथा लेप	»
जम्बुल में लेखनादि प्रयोग	»
स्रावी उपद्रवहर लेप	»
कर्णदाह में उपचार	»
विश्लेषित (छिन्न) नासा की सन्धानविधि	»
छिन्नौष्ठ की सन्धान विधि	७०
सत्रहवां अध्याय	
आमपक्वैषणीय अध्याय का उपक्रम	७०
शोफ की परिभाषा	»
शोफ के छः भेद, वातादि षड्विध शोफ के लक्षण	७१
शोफ के पकने में हेतु	»
आमशोफलक्षण	»
पच्यमान शोफ के लक्षण	»

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पक्वशोफ के लक्षण	७२
गम्भीरधातुगत कफज शोफ के पक्वापक्वसंदेह होने पर उस के जानने का उपाय	,,
शोफ की आमादि अवस्थाओं को जानने वाला ही वैद्य है तथा इतर नस्कर होते हैं	,,
वात के विना पीडा, पित्त के विना पाक और कफ के विना पूय नहीं होते हैं	,,
अन्यमत से शोणित का पाक होकर पूय बनता है	,,
आम शोथ छेदन में दोष	७३
पक्वापक्वशोफ में पक्व की उपेक्षा करने से नाडी का होना	,,
आमशोफ-छेदन और पक्व की उपेक्षा करने पर वैद्य को अपच उपाधि	,,
शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन तथा मद्यपान कराने का विधान और उनके गुण	,,
स्वल्प या महान् शोफ की चिकित्सा न करने पर कृच्छ्रसाध्य होना	,,
आलेपनादि से शोफ का शमन न होने पर उसका पकाकर पिण्डित होना	७४
पक्वशोफ का पूय न निकालने पर दोष	,,
शोफ के विस्रापनादि सात उपक्रम	,,

अट्ठारहवां अध्याय

व्रणालेपनबन्धनविधि अध्याय का उपक्रम	७४
व्रणोपक्रमों में आलेप और बन्धन की प्रधानता	,,
प्रतिलोम आलेपन तथा उस के गुण	,,
शुष्यमाण की उपेक्षा न करे	,,
लेप के तीन भेद	,,
प्रलेप, प्रदेह और आलेप	,,
प्रलेपादि में भेद	,,
आलेपादि के गुण	,,
अविदग्ध शोफ में आलेप लगाने के लाभ	७५
आलेप में स्नेह डालने का दोषानुसार प्रमाण	,,
आलेप की मोटाई का प्रमाण	,,
रात्रि में आलेप का निषेध	,,
रोगानुसार आलेप का प्रयोग तथा आलेप के नियम	,,
व्रणबन्धन द्रव्यों का निर्देश	,,
चौदह प्रकार के बन्धन तथा उनके नाम	७६
उक्त बन्धनों के बांधने के स्थान	७६
बन्धन की गांठ लगाने का स्थान	,,
बन्ध (पट्ट) बांधने की विधि	,,
अतिस्निग्ध और रूक्ष विकेशिका (वर्ति) का निषेध	७७
व्रण के स्थानानुसार बन्धन के तीन भेद	,,
गाढ, शिथिल और समबन्ध के लक्षण	,,
गाढादि बन्धनों के स्थान	,,
दोषानुसार तथा स्थानानुसार बन्धनों में परिवर्तन	,,
दोषानुसार तथा कालानुसार बन्धन बांधने के समय के नियम	,,
स्थाननिर्देश के विपरीत बन्धन बांधने से दोष, उचित बन्धन बांधने के लाभ	,,
बन्धन नहीं बांधने में दोष	,,
बन्धन से व्रण में विशेष लाभ	,,
अबन्ध्य व्रण	७८
कुष्ठ, अग्निदग्ध आदि से उत्पन्न व्रण भी अबन्ध्य हैं	,,
देश, दोष, व्रण और ऋतु का विचार कर बन्ध बांधे	,,
पट्टबन्धनविधि	,,
बन्धन में योग्य विकेशिका तथा औषध	,,
दोषों के अनुसार व्रण से पूय निकालने की विधि	,,
ओष्ठसन्धान तथा अस्थिसंयोजन में भी बन्धन की उक्त विधि प्रशस्त है	,,
कुछ व्रण ऐसे हैं जो बन्धन के विना ठीक नहीं हो सकते	,,

उन्नीसवां अध्याय

व्रणितोपासनीय अध्याय का उपक्रम	७९
व्रणित के योग्य आगार का निर्माण	,,
आगारयोग्य भूमि	,,
व्रणी के योग्य शय्या तथा शिरोदिशा	,,
अच्छे आस्तीर्ण वाली शय्या के गुण	,,
व्रणी के समीप मित्रोपस्थिति के लाभ	,,
व्रणी के दिवाशयन से दोष	,,
उत्थानादि क्रियाओं में व्रण रक्षा का ध्यान रखे	,,
व्रणित के लिये स्थानासन चंक्रमण निषेध	,,
अधिक उठने बैठने से हानि	८०
व्रणी के लिये गम्य स्त्रियों के दर्शन, स्पर्शन, भाषण का निषेध	,,
स्त्रीदर्शनादि से शुक्रस्राव-सम्भावना	८०
व्रणी के लिये नवधान्यादि का निषेध	,,
नवधान्यादि से पूयादि दोषवृद्धि	,,
व्रणी के लिये मद्य का निषेध	,,
व्रणी के लिये अन्य वातादि का त्याग	,,
उक्त परिहार्य द्रव्यों के त्याग न करने से दोष	,,
व्रणरोगी को विशेष आगन्तु बाधाओं का परिहार	,,
व्रणी नीचनखरोम से रहे तथा शान्तिपाठ करे	,,
मांसशोणित के इच्छुक राक्षस व्रणी के पास आते हैं अतः धूपबल्युपहार द्वारा उनका सत्कार विधान	,,
राक्षस-भूतादि प्रसन्नता का फल	८१
प्रसन्नतापूर्वक कथाओं के श्रवण से शीघ्र लाभ	,,
उपाध्याय तथा वैद्य वेदोक्त आशीर्वचनों से व्रणी की रक्षा करे	,,
दशरात्रि तक सर्पपादि से दिन में दो बार व्रण का धूपन	,,
व्रणी के शिरोधार्य ओषधियां	,,
व्रण पर चंवरी से हवा करना, व्रण की विघट्टन, तुदन और कण्डूयन से रक्षा करना	,,
राक्षसों को नष्ट करने वाली विधि का फल	,,
व्रणी का पथ्य आहार	,,
व्रणी के लिये शाकनिर्देश तथा श्रृत जल पान	,,
दिवानिद्रानिषेध	८२
आयास, जागरण, दिवास्वाप और मैथुन से व्रणी का अहित	,,
यथोक्त आहार आचार पर नियमित रोगी को सुखप्राप्ति	,,

RV वीसवां अध्याय

हिताहितीय अध्याय का उपक्रम	८२
हिताहितीय-विषयक शङ्का-समाधान	,,
एकान्त हितद्रव्य और एकान्त अहित द्रव्य	,,
सर्वप्राणि हितकर रक्तशाल्यादि आहारवर्ग	,,
एकान्त रूप से पथ्यतम द्रव्य	८३
हितकारी और अहितकारी द्रव्य	,,
सयोग से विषतुल्य होने वाले द्रव्य	,,
रोग, सात्म्य, देश, काल आदि का विचार करके व्रणी के पथ्य की कल्पना करें	,,

विषय सूची

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कोई भी द्रव्य एकान्त रूप मे हितकर या अहित कर नहीं हो सकता	८३
दुग्ध की एकान्तहितता तथा विष की एकान्त अहितता	»
संयोग से अहितकारी अन्य द्रव्य	»
कर्मविरुद्ध द्रव्यों का वर्णन	८४
मानविरुद्ध द्रव्यों का वर्णन	»
वीर्य और विपाक से विरुद्ध रस द्वन्द्व	»
तर और तम योग से युक्त भावों का त्याग	८५
वीर्य, गुण या रस से विरुद्ध द्रव्य पूर्ण रूप से अहितकारी होते हैं	»
विरुद्ध रसवीर्य युक्त द्रव्यों के सेवन से हानि	»
अहित का सामान्य वर्णन	»
विरुद्धाहारजन्य रोगों के शमनार्थ विरेचन, वमन, शमन, हित-सेवन का उपदेश	»
कुछ दशा में विरुद्ध द्रव्य भी अहित-कारी नहीं होते हैं	»
पूर्व दिशा की वायु के गुण	८६
दक्षिण दिशा की वायु के गुण	»
पश्चिम दिशा की वायु के गुण-दोष	»
उत्तर दिशा की वायु के गुण	»
इक्कीसवां अध्याय	
व्रणप्रश्न अध्याय का उपक्रम	८६
वात, पित्त और कफ ही देह की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण होते हैं	»
वात, पित्त और कफ या रक्त इन के विना देह की स्थिति नहीं है	८७
वात, पित्त तथा श्लेष्मा शब्द की निरुक्ति	»
प्रकृतिस्थ वातादि दोष स्थानों का वर्णन	»
प्रत्येक दोष तथा उनके स्थानों के पांच-पांच भेद	»
कफ, पित्त तथा वात ये देह के धारक हैं	८८
शरीर में पित्त के अतिरिक्त अन्य अग्नि है या पित्त ही अग्नि है इस शङ्का का समाधान	»
पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त का कार्य तथा पित्त के पाचक-रञ्जकादि पञ्चविध भेद	»
पित्त का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण	८९
पञ्चविध श्लेष्मा का स्थान और कर्म	»
श्लेष्मा का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण	८९
पञ्चविध श्लेष्मा के कार्य	९०
अविदग्ध तथा विदग्ध श्लेष्मा के लक्षण	»
रक्त का स्थान, रक्त का स्वलक्षण	»
उक्त दोष-स्थानों में सञ्चित दोषों के लक्षण	»
वातप्रकोपण द्रव्य	९१
वातप्रकोपण का समय	»
पित्तप्रकोपक द्रव्य	»
पित्तप्रकोपण का समय	»
कफ के प्रकोपक द्रव्य	»
कफ के प्रकोपण का समय	»
रक्त के प्रकोपक द्रव्य	९२
रक्तप्रकोपण का समय	»
दोषप्रकोपण का समय	»
प्रकुपित दोषों के प्रसार के हेतु, विशेष लक्षण तथा पृथक् पृथक्, दो २ तथा सम्मिलित रूप में प्रसरण	»
प्रकुपित दोष जहा प्रसरण करता है वहां ही रोग उत्पन्न होता है	»
एक दोष दूसरे दोष के स्थान में प्रसरित हो तो उस स्थान के दोष के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिये	»
प्रकुपित तथा प्रसरित वातादि दोषों के लक्षण	९३
दोषों के स्थान-संश्रय का वर्णन तथा वहां उत्पन्न होने वाले रोगों का निर्देश	»
व्याधिप्रकट होने की अवस्था	»
व्याधियों की भेदावस्था	»
व्याधियों के सञ्चय, प्रकोप और प्रसरादि को समझने वाला ही वैद्य हो सकता है	९४
सञ्चयावस्था में दोषहरण से लाभ	»
ससर्ग में अशाश बल-विकल्प से अनुबन्ध्य (प्रधान) तथा अनु-बन्ध (अप्रधान) भाव	»
दोष संसर्ग तथा सन्निपातावस्था में शेष दोष के साथ अविरोध पूर्वक प्रधान दोष की चिकित्सा का निर्देश	»
व्रण निरुक्ति तथा व्रणवस्तु की परिभाषा	»
बाईसवां अध्याय	
व्रणास्रावविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	९५
व्रणवस्तु या व्रण के त्वगादि आठ अधिष्ठान	९५
सुचिकित्स्य तथा दुश्चिकित्स्य व्रण	»
व्रण की चार स्वाभाविक आकृतियां तथा शेष आकृतियां दुश्चिकित्स्य व्रण की द्योतक हैं	»
आत्महितेच्छुक रोगी के सद्वैद्य द्वारा चिकित्सा करने से व्रण सुचि-कित्स्य होते है तथा कुपथ्यसेवी के व्रण दूषित हो जाते हैं	»
दुष्ट व्रण के लक्षण	»
त्वङ्मांसादिगत सम्पूर्ण व्रणों के आस्राव लक्षण	»
स्थानभेद से व्रणास्राव के लक्षण और असाध्यता	९६
वातादि दोषानुसार सर्व व्रण वेदनाओं का वर्णन	»
दोषानुसार व्रणवर्ण का वर्णन	९७
व्रण की वेदना और वर्ण के अनुसार सर्व शोफों की वेदना और वर्ण को समझो	»
तेईसवां अध्याय	
कृत्याकृत्यविधि अध्याय का वर्णन	९७
सुखसाध्य, कष्टसाध्य, सुखरोपणीय तथा दुश्चिकित्स्य व्रण	»
कृच्छ्रसाध्य तथा याप्य व्रण	९८
चिकित्सा न करने से साध्य व्रण याप्य, याप्य व्रण असाध्य और असाध्य व्रण प्राणनाशक हो जाते हैं	»
याप्य लक्षण	»
असाध्य व्रणों का वर्णन	»
वसा-मेद मज्जादिस्रावयुक्त आगन्तु व्रण ठीक हो सकता है किन्तु दोषज व्रण ठीक नहीं हो सकता	९९
असाध्य व्रण लक्षण	»
साध्य व्याधि की उपेक्षा करने से असाध्य हो जाती है	»
व्याधि की सुखसाध्यता	»
शुद्ध व्रण के लक्षण	»
रोहित होते हुये व्रण के लक्षण	»
सम्यग्रूढ व्रण के लक्षण	»
रूढ व्रण के विदीर्ण होने के कारण	»
चौबीसवां अध्याय	
व्याधिसमुद्देशीय अध्याय का उपक्रम	१००
शस्त्रसाध्यत्व और स्नेहादिसाध्यत्व से रोगों के दो भेद	»
व्याधि की परिभाषा	»

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
त्रिविधदुःख	१००
उक्त दुःख सात प्रकार की व्याधियों के रूप में प्रगट होता है	,,
आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त आदि सात व्याधियां, आदिबल प्रवृत्त के दो भेद	,,
जन्मबलप्रवृत्त के दो भेद, दोषबल प्रवृत्त के दो भेद, उक्त रोग शारीरिक व मानस भेद से द्विविध हैं	,,
उक्त त्रिविध व्याधियां आध्यात्मिक हैं	,,
संघातबलप्रवृत्त आधिभौतिक रोग हैं	१०१
कालबलप्रवृत्त रोगों के कारण तथा भेद	,,
दैवबलप्रवृत्त रोगों के कारण व भेद	,,
स्वभावबलप्रवृत्त रोग तथा उन के भेद	,,
उक्त रोग आधिदैविक हैं	,,
सर्व व्याधियों के वात, पित्त और कफ ही कारण हैं	,,
धातुओं के दोष दूषित होने से उक्त रोगों की रसज-मांसजादि संज्ञा होती है	,,
रस रक्त मांस-मेदा-अस्थि मज्जा शुक्र मल इन दोषों से उत्पन्न विकार	१०२
इन्द्रियायतन विकार	,,
शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रोग होने में हेतु	,,
वातादि दोष तथा ज्वरादि रोगों का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य	१०३
दोषरोगसम्बन्धशङ्का का समाधान	,,
अध्यायोपसंहार	,,
पच्चीसवां अध्याय	
अष्टविधशस्त्रकर्मीय अध्याय का उपक्रम, छेद्य व्याधियां	,,
भेद्य, लेख्य, वेध्य, एष्य और आहार्य व्याधियां	१०४
सांव्य और सीव्य व्याधियां	,,
असीव्य तथा विशोधनीय रोग	,,
सीवनकर्म की विस्तृतविधि	,,
वेल्लितक, गोफणिका, तुन्नसेवनी और ऋजुग्रन्थिसीवन	,,
सूची के तीन भेद तथा उनके उपयोग	१०५
अतिदूर तथा अतिसमीप सीवन के दोष	,,
सीवन के पश्चात् कर्त्तव्य कर्म	,,
सूत्र में संक्षिप्त अष्टविध शस्त्रकर्म का चिकित्सा में विस्तार संकेत	,,
अष्टविध शस्त्रकर्म में चतुर्विंध व्यापत्तियां	१०५
अज्ञानादिकारणों से कुशस्त्रकर्म करने पर अनेक रोगोत्पत्ति	,,
रोगी ऐसे वैद्य का सर्पवत् त्याग करे	,,
अज्ञवैद्य द्वारा प्रयुक्त शस्त्र से हानियां	,,
मर्मविद्ध के लक्षण	१०६
सिराओं के छेदन-भेदन होने पर रक्तस्रुति तथा विविधरोगोत्पत्ति	,,
स्नायुविद्ध के लक्षण	,,
चलाचलसन्धिक्षत होने के लक्षण	,,
अस्थिविद्ध के लक्षण	,,
मांसविद्ध के ,,	,,
अज्ञान से निजगात्र छेद करने वाले वैद्य का त्याग	,,
तिर्यक् शस्त्र प्रयोग की व्यापत्तियां	,,
रोगी माता-पिता से भी बढ कर वैद्य में विश्वास करता है अतः वैद्य उसकी पुत्र के समान चिकित्सा करे	,,
हितपूर्वक सम्यक् चिकित्सा करने का फल	१०७
अष्टविधकर्मों में से कोई रोग एक, दो, तीन या चार से सिद्ध होता है	,,
छब्बीसवां अध्याय	
प्रणष्टशल्यविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१०७
शल्यशब्द की निरुक्ति तथा उस के चिकित्सोपयोगी भेद	,,
शल्य का लक्षण तथा शल्यशास्त्र-नामकरणहेतु	,,
शारीरिक और आगन्तुक शल्यों का निर्देश	,,
शल्य का अधिकार या शर की प्रधानता	,,
शर के कर्णी तथा अकर्णी दो भेद	१०८
शल्यों के आहरणोपयोगी गति भेद	,,
शरीर में शल्यों के लगकर अवस्थित होने में हेतु	,,
शल्य अवस्थित होने पर उस के लक्षण	,,
शल्य के सामान्य तथा विशेष लक्षण	,,
शल्ययुक्त प्रदेश के सामान्य लक्षण	,,
त्वचामांसपेश्यन्तरसिरास्नायु-स्रोतोगत शल्य के विशेष लक्षण	,,
धमनी-अस्थिविवर- सन्धिममगत शल्य-लक्षण	,,
शुद्ध देहियों के अनुलोम प्रविष्ट शल्य रोहित होते हैं	१०८
दोषप्रकोपादि से शल्य बाधा पहुंचाते हैं	१०९
त्वक्प्रविष्टशल्यज्ञानोपाय	,,
मांसप्रणष्टशल्यज्ञानोपाय	,,
सिराधमनीस्रोतस्नायुप्रणष्ट शल्य ज्ञानोपाय	,,
अस्थिप्रणष्टशल्यज्ञानोपाय	,,
सन्धिमर्मप्रणष्टशल्यज्ञानोपाय	,,
गुप्त शल्य के सामान्य विज्ञानोपाय	,,
श्लोक द्वारा गुप्त शल्य ज्ञानोपाय निर्देश	,,
शल्यरहित प्रदेश के जानने का उपाय	,,
अस्थि, शृङ्ग तथा लोहमय शल्यों का परिणाम	११०
वृक्ष, वांस और तृणमय शल्य का परिणाम	,,
कनक, रजत आदि धातु शल्यों का परिणाम	,,
अन्य शल्यों का परिणाम	,,
शरीर में विशीर्ण (विलीन) न होने वाले शल्य	,,
शल्य की उक्त विशेषताओं का ज्ञाता वैद्य ही राजचिकित्सक हो सकता है	,,
सत्ताईसवां अध्याय	
शल्यापनयनीय अध्याय का उपक्रम	,,
शल्य के अवबद्ध तथा अनवबद्ध दो भेद	,,
अनवबद्धशल्यनिर्हरण के पन्द्रह उपाय	,,
स्थान तथा स्वरूप आदि विशिष्ट शल्य को निकालने के विशिष्ट उपाय	,,
बडे या छोटे सर्व प्रकार के शल्यों को निकालने के प्रतिलोम तथा अनुलोम दो ही तरीके है	१११
उत्तुण्डित (दृश्यमानमुख) शल्य को निकालने की विधि	,,
शल्यनिष्कासन समय में मूर्च्छित रोगी का उपचार	,,
शल्यनिर्हरण तथा उस का पश्चात्कर्म	,,
शिरास्नायुविलग्न शल्याहरण	,,
हृदयस्थ शल्याहरण	,,
अस्थिविवरप्रविष्टशल्याहरणविधि	,,
कुक्षि आदि में प्रविष्ट शल्य के निकालने की विधि	११२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कर्णीशल्याहरणविधि	११२
कण्ठासक्त जातुपशल्य की आहरणविधि	,,
अजातुपशल्याहरणविधि	,,
कण्ठासक्त अस्थिशल्य की आहरणविधि	,,
जलमग्न व्यक्ति के उदरान्तःस्थ जल के आहरण का उपाय	,,
कण्ठासक्त ग्रासशल्य के निर्हरण की विधि	११३
बाहु-रज्जुपाश (फांसी) पीडित कण्ठ प्रकुपित वातश्लेष्म को अनुलोम करने का उपाय	,,
शल्य की आकृति, स्थान आदि का निरीक्षण कर शल्य आहरण करे	,,
कर्णी तथा दुःखाहार्य शल्य को युक्ति से निकाले	,,
उक्त उपायों से शल्य के न निकलने पर यन्त्र द्वारा निकाले	,,
अनिर्हृत शल्य के दोष	,,
अट्ठाईसवां अध्याय	
विपरीताविपरीत व्रणविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	११४
पुष्प, धूम तथा मेघ फल, अग्नि और वृष्टि के व्यापक हैं तद्वत् अरिष्ट मृत्यु के सूचक हैं	,,
उत्पन्न अरिष्ट सूक्ष्म होने से, प्रमाद से या शीघ्र मिट जाने से अज्ञ द्वारा ज्ञात नहीं होते हैं	,,
अरिष्ट होने पर भी मृत्यु रोक सकते हैं	,,
अरिष्ट का फल नियत समय पर होता है	,,
गतायु की चिकित्सा से वैद्य को अपयश मिलता है	,,
गन्ध, वर्ण, रसादि विकृति व्रणी के मृत्यु की सूचक है	,,
वातादि दोष से व्रण मे विशिष्ट गन्ध आती है	,,
व्रण की प्राकृतिक गन्ध	,,
मुमूर्षु के व्रण से मद्यादि की गन्ध आना	११५
कुत्ता घोड़ा, चूहे आदि की से गन्ध वाले निन्दित व्रण	,,
पित्तप्रकोपजन्य अचिकित्स्य व्रण	,,
वातप्रकोपजन्य अचिकित्स्य व्रण	,,
विकृत शब्द वाले अचिकित्स्य व्रण	,,
स्पर्शविकृति ,, ,, ,, ,,	
रूपविकृति ,, ,, ,, ,,	

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
प्राणमांसक्षयश्वासादि युक्त अचिकित्स्य व्रण	११५
योग्य उपचार से भी ठीक न होने वाले व्रण की चिकित्सा वर्जनीय	,,
अध्यायोपसंहार	,,
उनतीसवां अध्याय	
विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीय अध्याय का उपक्रम	११५
दूतदर्शनादिक रोगी के शुभ या अशुभ के सूचक होते हैं	,,
व्रण के समान मत, वर्ण या आश्रम के दूत शुभसूचक होते हैं, विपरीत अशुभसूचक होते हैं	११६
दूतविषयक अशुभ शकुन	,,
पाशदण्डायुधादिधारक अशुभ दूत	,,
दूत की तृणकाष्ठ छेदनादि अशुभ चेष्टाएं	,,
दूतागमन काल में वैद्य की अशस्त चेष्टाएं	,,
दूत और वैद्य का समागम का प्रशस्त अप्रशस्त काल	,,
वैद्य के पितृ, दैव कार्य करते समय तथा मध्याह्न, अर्द्धरात्रि, सन्ध्या के समय, चतुर्थी, नवमी आदि तिथि को आये हुये दूत अप्रशस्त होते हैं	,,
भिन्न भिन्न रोगों में दोषों के अनुसार दूतों की शुभाशुभता	,,
प्रशस्त दूत के लक्षण	११७
कार्यकर दूत के लक्षण	,,
स्वस्थ और प्राङ्मुखी वैद्य के पास आया हुआ दूत प्रशस्त होता है	,,
रोगी को देखने जाते समय मार्ग में मिलने वाले शुभ शकुन	,,
कर्मसिद्धिसूचक शुभ शकुन	,,
शुष्कादि वृक्ष पर बैठ कर कर्कश शब्द बोलने वाले पक्षी अशुभ	,,
पुरुष पक्षी वाम तथा स्त्रीपक्षी दक्षिण शुभ होते हैं	,,
श्व-शृगाल का वैद्य के दक्षिण से वामगमन श्रेष्ठ है	,,
मार्ग में अन्य अनिष्ट दर्शन	११८
शुभाशुभवायु वर्णन	,,
वैद्य की यात्रा में रोगविशेषानुसार शुभाशुभ शब्द	,,
रोगी देखने जाते समय वैद्य को रोकना, वस्तुभग्न होना या छींक अशुभ है	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रुग्ण के गृह में वैद्य के प्रवेश करते समय पात्रों का गिरना आदि अशुभ शकुन	११८
वैद्य के साथ रुग्ण की अशुभ चेष्टाएं	,,
मित्र या रोगी के द्वारा देखे जाने वाले शुभाशुभ स्वप्न	११९
अशस्त स्वप्न	,,
विफल स्वप्न	,,
रोग विशेष में विशिष्ट स्वप्न देखना रिष्ट होता है	,,
अशुभ स्वप्नों का परिहार	१२०
प्रशस्त स्वप्न दर्शन	,,
तीसवां अध्याय	
पञ्चेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम	१२०
शरीर और शील प्रकृति का विकृत होना अरिष्ट है	,,
आतुर के द्वारा असम्भव शब्दों का सुनाई देना	,,
आतुर के द्वारा उष्ण का शीत तथा शीत का उष्ण स्पर्श प्रतीत करना अरिष्टसूचक स्पर्शेन्द्रिय विकृति है	१२१
रुग्ण स्वशरीर को धूलिव्याप्त माने तथा वर्ण में परिवर्तन हो गया हो यह अरिष्टसूचक वर्णविकृति है	,,
जिस के शरीर पर स्नान करा के चन्दन का लेप करने पर भी नीलमक्षिकाएं बैठती हों या अधिक सुगन्धि आती हो वह गन्धेन्द्रियविकृति है	,,
रसनेन्द्रियविप्रतिपत्ति	,,
गन्धेन्द्रियविप्रतिपत्ति	,,
स्पर्शग्रहणविप्रतिपत्ति	,,
रूपग्रहणविप्रतिपत्ति	,,
स्वच्छाया का अदर्शन या विकृतदर्शन, अग्निविकृतिदर्शन	१२२
इकतीसवां अध्याय	
छाया विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम	१२२
रिष्टभूत छाया	,,
शीलविकृतिजन्य अरिष्ट	,,
ओष्ठादि अवयवविकृतिजन्य अरिष्ट	,,
दन्तविकृतिजन्य अरिष्ट	,,
जिह्वाविकृतिजन्य अरिष्ट	,,
नासाविकृतिजन्य अरिष्ट	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
नेत्रविकृतिजन्य अरिष्ट	१२१
केशविकृतिजन्य अरिष्ट	१२३
मुखगलमूर्धाविकृतिजन्य अरिष्ट	,,
अरिष्टभूतमूर्च्छन	,,
अरिष्टसूचक पदविकृति	,,
शीतहस्तपादश्वासादिरिष्ट	,,
अतिनिद्रानिद्राभावादिरिष्ट	,,
उत्तरोष्ठलेहनादि ,,	,,
रोमकूपरक्तस्राव-सद्योमृत्युसूचकरिष्ट	,,
हृदय में वाताष्ठीलारिष्ट	,,
स्वतन्त्ररूप से पादोत्थ शोथ मनुष्य को तथा मुखोत्थ स्त्री को मार डालता है	,,
श्वासकासरोगी के अतिसारादि रिष्ट	,,
स्वेद, दाह, हिक्का-श्वासादि ,,	,,
जिह्वा, नेत्र और मुख गत ,,	१२४
मुख, पाद और नेत्र ,, ,,	,,
सद्योमृत्युसूचक शरीर	,,
शरीर में गन्ध-विकृतिजन्य ,,	,,
यूकासर्पण तथा काक द्वारा स्वयं दत्त बलि न खाना रिष्ट है	,,
ज्वरातिसाररूप ,,	,,
क्षुधा तथा तृषा की अशान्ति रिष्ट है	,,
सद्योमरणसूचक प्रवाहिकादिरिष्ट	,,
प्राणी की मृत्यु में विषमोपचारादिहेतु	,,
प्रेतभूतादि के रोगी के पास उपसर्पण से औषध निष्फल हो जाती है	,,

बत्तीसवां अध्याय

स्वभावविप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम	१२४
शरीरावयवों का अन्यथा होना मरण सूचक होता है	,,
भ्रू, पलक, ओष्ठादिगत सद्योमृत्यु-सूचक अरिष्ट	१२५
कफ, पुरीष वीर्य का जल में डूबना आदि रिष्ट	,,
वस्तवट्टिलपनादि अन्य रिष्ट	,,
उत्तम चिकित्सा से भी रोगवृद्धि होना रिष्ट है	१२६
महाव्याधि की सद्योनिवृत्ति रिष्ट है	,,
उक्त अरिष्टों का ठीक ज्ञाता वैद्य ही राजमान्य होता है	,,

तेंतीसवां अध्याय

अवारणीय अध्याय का उपक्रम	१२६
उपद्रवयुक्त व्याधियां रसायन विना अचिकित्स्य हैं	,,
आठ महारोग स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य हैं	१२६
रोगों की असाध्यता में हेतुभूत उपद्रव	,,
असाध्य वातव्याधि के ,,	,,
,, प्रमेह के ,,	,,
,, कुष्ठ के ,,	,,
,, अर्श के ,,	१२७
,, भगन्दर के ,,	,,
,, अश्मरी के ,,	,,
,, मूढगर्भ के ,,	,,
,, उदर रोग के ,,	,,
,, ज्वर के ,,	,,
,, अतिसार के ,,	,,
,, यक्ष्मा के ,,	,,
,, गुल्म के ,,	,,
,, विद्रधि के ,,	,,
,, पाण्डुरोग के ,,	,,
,, रक्तपित्त के ,,	,,
,, उन्माद के ,,	१२८
,, अपस्मार के ,,	,,

चौंतीसवां अध्याय

युक्तसेनीय अध्याय का उपक्रम	१२८
विपादि से राजा की रक्षा करनी चाहिये	,,
शत्रुद्वारा दूषित मार्गजलादि के लक्षण	,,
काल तथा आगन्तु मृत्यु	,,
वैद्य, पुरोहित सदा राजा को बचावे	,,
कुमार्गीनृपसे धर्म प्रजादि का विनाश	,,
नृप में विशेषतायें	,,
देव के समान सदा नृप की रक्षा करें	
सेना के केम्प में राजा के पास वैद्य का निवास हो	,,
विज्ञ वैद्य की उपयोगिता तथा ख्याति	१२९
चिकित्सा के वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक ये चार पाद हैं	,,
गुणवान् उक्त चतुष्पाद महान् रोग को भी शीघ्र नष्ट करते हैं	,,
वैद्य के विना गुणवान् भी त्रिपाद निरर्थक हैं	,,
गुणवान् वैद्य की प्रमुखता	,,
भिषक् पाद लक्षण	,,
व्याधित ,, ,,	,,
भेषज ,, ,,	,,
परिचारक ,, ,,	,,

पैंतीसवां अध्याय

आतुरोपक्रमणीय अध्याय का उपक्रम	१३०
रोगी की चिकित्सा करने वाला वैद्य प्रथम रोगी की आयु की परीक्षा करे	१३०
आयु शेष होने पर रोग, ऋतु आदि की परीक्षा करे	,,
दीर्घायु के लक्षण	,,
अल्पायु के ,,	,,
मध्यमायु के ,,	,,
श्लोकद्वारा दीर्घायु लक्षण	,,
मध्यमायु के श्लोकोक्त लक्षण तथा सत्तर आयुष्य-मान जघन्यायु के लक्षण तथा पचीस वर्ष का आयुः प्रमाण	,,
आयु के विज्ञानार्थ अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रमाण और सार का वर्णन	१३१
घृपण-चिबुकादि का प्रमाण	,,
मुख-ग्रीवादि का प्रमाण	,,
पुरुष का समस्त शरीर एक सौ बीस अङ्गुल	,,
पुरुष पचीस में तथा स्त्री सोलहवें वर्ष में परिपूर्ण वीर्य होते हैं	१३२
दीर्घ, मध्यम और हीन आयु वाले पुरुष स्वानुरूप फल प्राप्त करते हैं	,,
सार वर्णन	,,
सत्त्वसार का लक्षण	,,
शुक्रसार ,, ,,	,,
मज्जसार ,, ,,	,,
अस्थिसार ,, ,,	,,
मेदःसार ,, ,,	,,
मांसरक्तत्वक्सार ,,	,,
अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रमाण और सार के द्वारा आयु परीक्षण कर चिकित्सा करने वाला वैद्य सफल होता है	,,
साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय भेद से त्रिविध व्याधियां तथा औपसर्गिक, प्राक्केवल या अन्य लक्षण युक्त व्याधि का ज्ञान	,,
औपसर्गिक, प्राक्केवल और अन्य लक्षणयुक्त व्याधि की पहचान	,,
सोपद्रव व्याधि की चिकित्साविधि	१३३
प्राक्केवल तथा अन्यलक्षणयुक्त व्याधि की चिकित्साविधि	,,
अज्ञात रोग की चिकित्सा दोषानुसार करे	,,
शीत ऋतु में शीत प्रतीकार उष्ण ऋतु में उष्ण प्रतीकार ही चिकित्सा है	,,

विषयाः पृष्ठाङ्काः
अप्राप्तकाल में चिकित्सा करना तथा प्राप्त काल में चिकित्सा न करना पूर्व हीनक्रिया, अधिकक्रिया साध्य रोगों में भी सफल नहीं होती है १३३
यथार्थक्रिया (चिकित्सा) लक्षण ,,
अन्नपाचक अग्नि के चार भेद होते हैं ,,
विषम, तीक्ष्ण, मन्द और सम अग्नि ,,
समविषमादि अग्नि के लक्षण १३४
विषमादि अग्नि से उत्पन्न होने वाले रोग ,,
समविषमादि अग्नि में कर्तव्य ,,
जाठराग्नि का कार्य ,,
जाठराग्नि प्राणापानादि से प्रदीप्त हो कर अन्न को पचाती है ,,
वय के बाल्य, मध्य, वृद्ध तीन भेद ,,
बालकों के क्षीण आदि तीन भेद तथा उनकी परिभाषा ,,
मध्य अवस्था तथा उसके वृद्धि, यौवन आदि चार भेद ,,
वृद्धावस्था तथा उसके परिणाम १३५
वर्धिष्णु आयु में औषधमात्रा की भी वृद्धि ,,
बाल्यावस्था में श्लेष्मा, मध्यमावस्था में पित्त तथा वृद्धावस्था में वायु बढती है ,,
बालक तथा वृद्धों में अग्नि और चार कर्म वर्जित हैं ,,
वैद्य सदा स्थूल का कर्षण, कृश का बृंहण और मध्य का रक्षण करे ,,
चिकित्सा में रोगी का बल प्रधान है ,,
कृश और स्थूल के बलाबल का निर्देश ,,
सत्य गुण के लाभ १३६
सात्विक, राजस और तामस पुरुष की चिकित्सा में वैशिष्ट्य ,,
सात्म्य के लक्षण ,,
रस और व्यायामादि की सात्म्यता ,,
प्रकृति और भेषज का निर्देश ,,
देश के आनूप, जाङ्गल आदि भेद तथा उनके लक्षण ,,
साधारण देश के ,, ,,
समानदेश मानने में हेतु ,,
स्वदेशसन्निभ दोष अन्य देश में कुपित होने पर अधिक बलवान् होते हैं ,,
सुखसाध्य, असाध्य और कृच्छ्रसाध्य रोग में कारण ,,
एक क्रिया निष्फल होने पर क्रियान्तर का प्रयोग १३७
हितकारी क्रिया का अधिक दिन प्रयोग ,,
ऋत्वग्निसात्म्यादि-विशेषज्ञ वैद्य ही भयङ्कर रोगों को नष्ट कर सकता है ,,

छत्तीसवां अध्याय

मिश्रक अध्याय का उपक्रम १३७
वातशोफहर प्रलेप ,,
पित्तशोफहर ,, ,,
श्लेष्मशोफहर ,, ,,
सान्निपातिक शोफहर प्रलेप ,,
दोषभेद से लेप के संस्कार विशेष ,,
शोथपाचन द्रव्य १३८
शोथदारण ,, ,,
व्रणपीडन ,, ,,
व्रणसंशोधक कषाय ,,
संशोधकवर्तिद्रव्य ,,
संशोधक कल्कद्रव्य ,,
व्रणशोधक कासीसादि तैल-घृत ,,
व्रणसंशोधक अर्कादिघृत ,,
,, तैलद्रव्य ,,
,, चूर्ण ,,
व्रणसंशोधनी रसक्रिया ,,
व्रणधूपन द्रव्य ,,
व्रणरोपक कषाय ,,
,, सोमादिवर्ति ,,
,, समङ्गादिकल्क १३९
,, पृश्निपर्ण्यादि घृत ,,
व्रणरोपक तैलद्रव्य ,,
,, धवादिचूर्ण ,,
व्रणरोपणार्थ रसक्रिया ,,
व्रणोत्सादक द्रव्य ,,
काशीसादि उत्सादकद्रव्य ,,
उक्त योगों में सब द्रव्य न मिला सकें तो यथालाभ समस्त वा अर्द्ध द्रव्य डालें ,,

सैंतीसवां अध्याय

भूमिप्रविभागविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १३९
औषधग्रहण योग्य भूमि ,,
जलाग्निवाताकाश-गुणभूयिष्ठ भूमि के लक्षण ,,
ऋतु के अनुसार मूल-पत्रादि औषध ग्रहण करने में शङ्का-समाधान १४०
विरेचक, वामक, संशामक द्रव्यों के योग्य भूमि ,,
सर्व द्रव्य नये लें किन्तु मधु-घृत-गुड-पिप्पली-विडङ्ग नये लेवें १४०
विडङ्गादि पुराने ही लें ,,
क्षीरयुक्त या रसयुक्त द्रव्यों का ग्रहण करें ,,
गोपाल, तापस, व्याध आदि वनचारी से ओषधियों का परिचय करें ,,
पलाशक्षारादि के ग्रहण में समय की पाबन्दी नहीं है १४१
भूमि के रसानुसार षड् भेद ,,
साधारणभूमि के लक्षण ,,
ग्राह्य पुराण तथा नवीन द्रव्य ,,
जङ्गम जीवों के क्षीर-रक्त-मूत्रादि-ग्रहण का समय ,,
ओषधियों के रखने के स्थान तथा भेषजागारयोग्य स्थान ,,

अड़तीसवां अध्याय

द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय का उपक्रम १४१
द्रव्यों के सैंतीस गण होते हैं ,,
विदारीगन्धादिगण ,,
,, के गुण ,,
आरग्वधादिगण तथा उसके गुण १४२
वरुणादिगण ,, ,, ,, ,,
वीरतर्वादिगण ,, ,, ,, ,,
सालसारादिगण ,, ,, ,, ,,
रोध्रादिगण ,, ,, ,, ,,
अर्कादिगण ,, ,, ,, ,,
सुरसादिगण ,, ,, ,, १४३
मुष्ककादिगण ,, ,, ,, ,,
पिप्पल्यादिगण ,, ,, ,, ,,
एलादिगण ,, ,, ,, ,,
वचादिगण ,,
हरिद्रादिगण ,,
दोनों के गुण ,,
श्यामादिगण तथा उसके गुण ,,
बृहत्यादिगण ,, ,, ,, ,,
पटोलादिगण ,, ,, ,, १४४
काकोल्यादिगण ,, ,, ,, ,,
ऊषकादिगण ,, ,, ,, ,,
सारिवादिगण ,, ,, ,, ,,
अञ्जनादिगण ,, ,, ,, ,,
परूषकादिगण ,, ,, ,, ,,
प्रियङ्ग्वादिगण ,,
अम्बष्ठादिगण ,,
दोनों गणों के गुण ,,
न्यग्रोधादिगण तथा उसके गुण १४५
गुडूच्यादिगण ,, ,, ,, ,,
उत्पलादिगण ,, ,, ,, ,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मुस्तादिगण तथा उसके गुण	१४५
त्रिफला " " "	"
त्रिकटु " " "	"
आमलक्यादिगण " " "	"
त्रप्वादिगण " " "	"
लाक्षादिगण " " "	१४६
पञ्च पञ्चमूल वर्णन	"
कनीयान् पञ्चमूल तथा उसके गुण	"
बिल्वादि महत् पञ्चमूल " "	"
दशमूल तथा " "	"
वल्लीपञ्चमूल	"
कण्टकपञ्चमूल	"
वल्ली तथा कण्टकपञ्चमूल गुण	"
तृणपञ्चमूल तथा उसके "	"
उक्त पञ्चमूलों का वातादिनाशन निर्देश	"
त्रिवृतादिगण का अन्यत्र वर्णन	१४७
उक्तगणों का चिकित्सा स्थान में विस्तृत वर्णन	"
उक्तगणों से लेप-कषाय-तैल-घृतादि-निर्माण	"
ओषधिरक्षण-व्यवस्था	"
दोषानुसार मिश्र या भिन्न गणों का प्रयोग	"

उनतालीसवां अध्याय

संशोधन-संशमनीय अध्याय का उपक्रम	१४७
ऊर्ध्वभाग-दोषहरद्रव्य	"
अधोभाग "	"
उभयभाग "	१४८
शिरोविरेचन द्रव्य	"
वात-संशमनवर्ग	"
पित्त "	"
कफ "	"
व्याध्यग्निपुरुष-बलानुसार औषध मात्राकल्पना	"
दुर्बल रोगी को मृदु दोषहर द्रव्य दें	१४९
संशोधक औषध का प्रयोग आवश्यक है	"
क्वाथ, चूर्ण आदि औषध की मात्रा	"

चालीसवां अध्याय

द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१४९
द्रव्य की प्रधानता का युक्तियुक्त प्रतिपादन	१५०
द्रव्य का लक्षण	"
रस की प्रधानता में एकीयमत	"
वीर्य की " " "	१५१
रसाश्रित वीर्यकर्म	१५१
अन्यमत से विपाक की प्रधानता	"
विपाक विवेचन	१५२
विपाक के भेदों में मतान्तर	"
मधुर रस का पाक मधुर आदि वर्णन	"
आगमों में मधुर और कटु दो पाकों की प्रधानता	"
पञ्चमहाभूतों की बहुलतानुसार मधुर तथा कटुक पाक का निर्माण	"
रस, गुण, वीर्य और विपाक इन चारों के समुदाय की प्रधानता	"
द्रव्यों का स्वप्रभाव, वीर्य, रस और विपाक द्वारा दोषनाशनादिक निर्देश	"
पाक, वीर्य, रस और द्रव्य इनमें द्रव्य का प्राधान्य	"
द्रव्य और रसों का अन्योन्याश्रय तथा वीर्यादि अष्टगुण भी द्रव्याश्रित ही हैं अतः द्रव्य ही प्रधान है	१५३
आगमोक्त गुणसिद्ध ओषधियों पर स्वतर्क करने का निषेध	"
प्रत्यक्ष फलदायी होने से आगम की सर्वश्रेष्ठता	"

इकतालीसवां अध्याय

द्रव्यविशेषविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१५३
द्रव्योत्पत्ति तथा उनकी पाञ्चभौतिकता	"
पार्थिवद्रव्य के लक्षण एवं गुण	"
जलीय " " " "	१५४
तैजस " " " "	"
वायवीय " " " "	"
आकाशीय द्रव्य के लक्षण एवं गुण	"
जगत् के समस्त द्रव्यों का ओषधित्व निर्देश	"
काल, कर्म, वीर्य आदि का निर्देश	"
विरेचक द्रव्यों के अधोगमन तथा विरेचन होने में प्रमाणनिर्देश	"
वामक द्रव्यों के ऊर्ध्वगमन तथा वमन होने में प्रमाणनिर्देश	"
संशमन-संग्राही-दीपन-लेखन-बृंहण ओषधकार्यनिर्देश	"
त्रिदोषशामक तथा वर्द्धक द्रव्यों का निर्देश	"
शीतोष्णादिगुणों में पार्थिवादि विवेचन	१५५
शरीर की स्थिति, वृद्धि और क्षय द्रव्यमूलक है	"

बयालीसवां अध्याय

रसविशेषविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१५५
पञ्चमहाभूतों में गुण वृद्धि क्रम से शब्दादि पञ्चार्थ गुण उत्पन्न होते हैं	"
रससम्भव हेतु	"
रस के भेद	१५६
रस के तिरसठ भेद	"
भूतबाहुल्य से मधुरादि का निर्देश	"
मधुरादिरसों का वातादिनाशननिर्देश	"
त्रिदोषों का आत्मधर्म	"
रसों की स्वयोनिवर्द्धकता तथा अन्ययोनिप्रशामकता	"
किसी के मत से रसों का सौम्य आग्नेय दो भेद	"
कषायरस वातल होता है	"
कटुरस पित्तल "	"
मधुररस श्लेष्मल "	"
कटुरस श्लेष्मघ्न "	"
छः रसों के लक्षण या गुण	१५७
मधुर लक्षण	"
अम्ल "	"
लवण "	"
कटु "	"
तिक्त "	"
कषाय "	"
मधुर रस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	"
अम्ल रस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	"
लवण रस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	"
कटुक रस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	१५८
तिक्तरस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	"
कषाय रस के गुण, कर्म और अतिसेवन से दोष	"
संक्षेप से मधुर वर्ग द्रव्य	"
" अम्ल " "	"
" लवण " "	"
" कटु " "	१५९
" तिक्त " "	"
" कषाय " "	"
तिरसठ रससंयोग भेद	"
रस तथा दोष अपने बलवान् रस और दोष के अधीन हो जाते हैं	"

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
तैतालीसवां अध्याय	
वमनद्रव्यविकल्प-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१५९
मदनफल की श्रेष्ठता तथा वमनार्थ मदनपुष्पादिकल्पनिर्माण	,,
मदनफलकल्पनिर्माण	१६०
द्वितीय मदनफल कल्पविधान	,,
तृतीय ,, मज्जचूर्ण विधान	,,
जीमूतकपुष्पादिकल्पविधान	,,
कुटजफल विधान	१६१
इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णविधान	,,
धामार्गव कल्प	,,
कृतवेधन	,,
उक्त वामक द्रव्यों का रोग-देश-कालानुसार प्रयोग	,,
चौवालीसवां अध्याय	
विरेचनद्रव्य-विकल्पविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१६१
विरेचन में प्रधानद्रव्य	,,
दोषानुसार वृहत्त्रिवृत्-विधान	१६२
त्रिवृच्चूर्ण का अन्यौषधों के साथ प्रयोग	,,
त्रिवृन्नागराभयादिकल्प	,,
विरेचनद्रव्य चूर्णों का स्वक्वाथ-भावनविधान	,,
त्रिवृतादिचूर्ण का गुड़ के साथ विधान	,,
विरेचनीयद्रव्यचूर्णों का प्रयोगान्तर	,,
विरेचकद्रव्य-रस-क्वाथभावितमुद्ग-प्रयोग	,,
पित्तरोगे इक्षुचूषण प्रयोग	१६३
तृड्दाहशान्तिकर ,,	,,
त्रिवृच्चूर्ण का सुकुमारों के लिये रेचन	,,
पित्तशामक त्रिवृच्चूर्णावलेह	,,
श्लेष्मशामक त्रिवृतादि योग	,,
श्लेष्मशामक त्रिवृत् का प्रयोगान्तर	,,
सन्निपातहर त्रिवृतादि चूर्ण	,,
सन्निपातशामक त्रिवृतादिमोदक	,,
त्रिवृत्त्रिफलादि-गुडगुटिका	,,
श्यामात्रिवृच्चूर्ण प्रयोग	,,
विरेचनद्रव्य-क्वाथासवप्रयोग	,,
विरेचनद्रव्यमूलक्वाथभावित माषादिसुरा	१६४
त्रिवृतादि-संशोधनीयगणद्रव्यकृत सौवीरक	,,
त्रिवृतादि-द्रव्यकृतसुखोदक प्रयोग	,,
सर्वविरेचक द्रव्यों में त्रिवृत्-मूल की श्रेष्ठता	,,
द्रन्ती-द्रवन्तीमूलादि-प्रयोग	,,
चतुर्विधस्नेह प्रयोग	१६५
दन्ती-द्रवन्त्यादि ,,	,,
पथ्यादिमोदक	,,
त्र्योषादि ,,	,,
तिल्वकादि चूर्ण	,,
वैरेचनिकफलों का निर्देश	,,
हरीतक्यादिफल-प्रयोग	,,
द्वितीय हरीतक्यादिफल-प्रयोग	,,
नीलिनीफलादियोग	१६६
पिप्पल्यादिकषाय से हरीतकीप्रयोग	,,
हरीतकी का नागर-गुडादि के साथ प्रयोग	,,
त्रिफला की प्रशंसा तथा उसका घृत के साथ प्रयोग	,,
फलविधान के बाद वैरेचनिक दुग्धों का प्रयोग	,,
स्नुहीक्षीर की उत्तमता	,,
वृहत्पञ्चमूलादि के साथ स्नुहीदुग्ध प्रयोग	,,
स्नुहीदुग्धभावित तण्डुल की यवागू, लेह आदि	,,
सप्तला-शङ्खिनी-दन्त्यादि का मृदुविरेचन	१६७
त्रिवृत्-त्रिफलादिचूर्ण या मोदक	,,
घृत-तैलादि के साथ वैरेचक प्रयोग	,,
क्षीर, रस, कल्क, कषाय आदि छः औषध कल्प और उनकी उत्तरोत्तर लघुता	,,
पैंतालीसवां अध्याय	
द्रवद्रव्यविधि अध्याय का उपक्रम	१६७
पानीय वर्ग	,,
आन्तरिक्षजल के गुण	,,
,, ,, पृथिवी पर गिरने से विशिष्ट रस की उत्पत्ति	१६८
आन्तरिक्ष जल के नदी-नदादि बारह आश्रय	,,
एकीयमत से लोहितादि भूमि में गिरने से जल में मधुरादि रसों की उत्पत्ति	,,
उक्त प्रकार से रसोत्पत्ति का खण्डन तथा अन्योन्यानुप्रविष्ट पार्थिवादि गुणविशेष से रसविशेष की उत्पत्ति	,,
आन्तरिक्ष उदक के चार भेद और उनके गुण	,,
गाङ्ग-सामुद्र भेद से आन्तरिक्ष जल के दो भेद	,,
गाङ्ग-सामुद्र-जलवर्षणकाल तथा उनकी परीक्षणविधि	१६८
गाङ्ग जल एकत्रीकरणविधि	,,
गाङ्ग जल के अभाव में भौम जल तथा उसके सात भेद	,,
विभिन्न ऋतु में विभिन्न जलसेवन का निर्देश	१६९
वर्षाकालीन दूषित नवीन जल के स्नान-पान से रोगोत्पत्ति	,,
विकृत जल लक्षण	,,
,, ,, के ६ दोष	,,
स्पर्शादि षट् दोषों के लक्षण	,,
दूषित जल के शोधनोपाय	१७०
पुष्पाधिवासित जल को सुवर्णादि पात्रों में रखकर पीना	,,
व्यापन्न तथा अनार्तवजल का त्याग तथा उसके पान से उत्पन्न रोग	,,
कलुषित जलशोधन के सात उपाय	,,
जल पात्र रखने के पांच साधन	,,
उबले जल को शीत करने की सात विधियां	,,
उत्तम जल के लक्षण	,,
विभिन्न दिशा में प्रवाहित होने वाली नदियों के जल के गुण दोष	,,
प्रवाह की गति के कारण तथा देश भेद से नदियों के जल में गुण	१७१
भौम जल ग्रहण का समय	,,
अन्तरिक्ष जल के समान गुण वाला जल	,,
उत्तमपात्र में गृहीत गगनाम्बु के गुण	,,
चन्द्रकान्तोद्भव जल के गुण	,,
शीतल ,, ,,	,,
पार्श्वशूलादिक रोगों में शीतल जल-पान निषेध	,,
नादेय जल के लक्षण	,,
सारस ,, गुण दोष	,,
तडाग ,, ,,	,,
वापी ,, ,,	,,
कूप के ,, ,,	,,
चौष्टय ,, ,,	,,
झरने के ,, ,,	,,
औद्भिद ,, ,,	,,
वैकिर ,, ,,	,,
कैदार ,, ,,	,,
पाल्वल ,, ,,	,,
सामुद्र ,, ,,	,,
आनूप ,, ,,	,,
जाङ्गल ,, ,,	,,
साधारण ,, ,,	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
उष्णोदक के गुण	१७१
गुणयुक्त जल के लक्षण	,,
पर्युषित ,, का निषेध	,,
शृतशीत ,, के विषय	,,
नारियल के पानी के गुण	१७२
अरोचकादि रोगों में पानी का क्रम प्रयोग करें	,,
अथ क्षीरवर्ग	
दुग्धाष्टक	१७२
सर्वप्राणियों के लिये दुग्ध की सात्म्यता का कारण	,,
सात्म्य होने से सर्वावस्था में सब प्राणियों के लिये दुग्ध का विधान	,,
दुग्ध की अनेक रोगनाशकता तथा उसके अद्भुत गुण	,,
गोदुग्ध के गुण	१७३
बकरी के दुग्ध के गुण	,,
ऊँटनी ,, ,,	,,
भेड़ी ,, ,,	,,
भैंस ,, ,,	,,
एक खुर (घोड़ी, गदही) वाले प्राणियों के दुग्ध के गुण	,,
स्त्री-दुग्ध के गुण	,,
हस्तिनी के दुग्ध के गुण	,,
प्रातःकाल निकाले हुए दुग्ध के गुण	,,
सन्ध्यासमय ,, ,,	,,
कच्चे तथा उबाले दुग्ध के गुण	,,
नारीदुग्ध के पाक का निषेध	,,
धारोष्ण दुग्ध के गुण	१७४
देर तक रखे हुए तथा अधिक उबाले हुए दुग्ध के गुण	,,
वर्जनीय दुग्ध	,,
दधिवर्ग	
दधि के गुण	१७४
मधुर, अम्ल, अत्यम्ल तथा मन्द-जात दही के गुण	,,
गोदधि ,,	,,
बकरी के दही के गुण	,,
भैंस ,, ,,	,,
ऊँटनी ,, ,,	१७५
भेड़ी ,, ,,	,,
घोड़ी ,, ,,	,,
स्त्री ,, ,,	,,
हस्तिनी ,, ,,	,,
उक्त सर्वदधियों में गोदधि की श्रेष्ठता	,,
वस्त्रादि में बांधकर स्रुत किये हुए दधि के गुण	,,
उबले दुग्ध से जमाये दही के गुण	,,
दही के ऊपर के पानी ,, ,,	,,
घृत या क्रीम निकाले हुए दुग्ध के दही के गुण	१७५
ऋतुभेद से दधि का वर्जन और सेवन	,,
दही के ऊपर के पानी के गुण	,,
तक्रवर्ग	
सामान्य तक्र के गुण	१७६
तक्र और घोल के लक्षण	,,
तक्र का निषेध	,,
तक्र सेवन के योग्य काल तथा रोग	,,
मधुर तथा अम्ल तक्र के गुण	,,
वात, पित्त तथा कफ दोष में तक्र-सेवन की विशेष विधि	,,
तक्रकूर्चिका और मण्ड के गुण	,,
किलाट, पीयूष और मोरट ,, ,,	,,
ताजे नवनीत ,, ,,	,,
पुराने ,, ,, ,,	,,
कच्चे दुग्ध से निकाले मक्खन के गुण	१७७
सन्तानिका (मलाई) के गुण	,,
पूर्वोक्त तक्रादि गुण गव्य तक्र के हैं शेष प्राणियों के तक्रादि के गुण उनके दुग्ध के अनुसार जानो	,,
घृतवर्ग	
सामान्य घृत के गुण	१७७
गो के ,, ,,	,,
अजाघृत ,, ,,	,,
माहिषघृत ,, ,,	,,
ऊँटनी के घृत ,, ,,	,,
भेड़ी ,, ,,	,,
एकशफ वाले प्राणियों (घोड़ी, गदही) के घृत के गुण	,,
स्त्री घृत के ,,	,,
हस्तिनी-घृत ,, ,,	,,
कच्चे दुग्ध के मक्खन से निकाले घृत के गुण	,,
घृतमण्ड के गुण	,,
पुराण घृत ,,	१७८
कुम्भसर्पि और महासर्पि घृतों की परिभाषा तथा गुण	,,
तैलवर्ग	
सामान्यतया तैल के गुण और कर्म	१७८
तिलतैल के गुण और उपयोग	,,
एरण्डतैल के गुण	,,
निम्बादि फलों के तैल के गुण	१७९
अलसी तैल के गुण	,,
सरसों ,,	,,
इङ्गुदी ,,	,,
कुसुम तैल के गुण	१७९
चिरायतादि ,,	,,
मधुकादि ,,	,,
तुवरक और भल्लातक के तैलों के गुण	,,
चीड़ आदि सार स्नेह के गुण	,,
तुम्बी आदि तैल ,, ,,	,,
यवतिक्ता (कालमेघ) तैल ,, ,,	,,
एरंडिका ,, ,, ,,	,,
आम्रफल की गुठली के ,, ,, ,,	,,
फलतैलों के गुण उनके फलों के समान जानो	,,
जितने भी स्थावर स्नेह हैं उनके गुण तिलतैल के समान हैं	१८०
सर्वतैलों में तिलतैल की विशेषता	,,
वसा, मेद और मज्जा के गुण	,,
मधुवर्ग	
मधु के सामान्य गुण	१८०
,, की आठ जातियां	,,
पौत्तिक मधु के गुण	१८१
भ्रामर ,, ,,	,,
क्षौद्र ,, ,,	,,
माक्षिक ,, ,,	,,
छात्र ,, ,,	,,
आर्घ्य ,, ,,	,,
औद्दालक ,, ,,	,,
दाल ,, ,,	,,
नवीन, पुराण, पक्व तथा आम मधु के गुण	,,
मधु की योगवाहिकता	,,
मधु उष्णविरोधी है	,,
वमनादि क्रिया में उष्ण जलादिक के साथ सेवित मधु हानिकर नहीं है	,,
मधु की आम (अजीर्ण) अवस्था मारक होती है	,,
इक्षुवर्ग	
इक्षु के सामान्य गुण	१८१
इक्षु के बारह भेद	१८२
इक्षु विशेष के गुण	,,
इक्षु के अवयव विशेष में गुणविशेष	,,
दाँत से चूसे हुए इक्षुरस के गुण	,,
यन्त्र (चरखी) से निकाले हुए इक्षुरस के गुण	,,
अग्निपक्व इक्षुरस के गुण	,,
फाणित (राब) ,, ,,	,,
गुड़ ,, ,,	,,
पुराने गुड ,, ,,	,,

विषयाः पृष्ठाङ्काः
पूगफल (सुपारी) के गुण २०२
जावित्री, कर्पूर, जायफल, कङ्कोलक, लवङ्ग और लता कस्तूरी के गुण "
प्रियाल, बिभीत, कोल, आमलक, बीजपूर, शम्पाक और कोशाम्र की मज्जाओं के गुण "
फलों की मज्जा अपने-अपने फलों के समान गुण करती हैं "
बिल्व को छोड़ कर अन्य फल पके हुये अधिक गुणकारी होते हैं "
कच्चे बिल्वफल के गुण "
वर्जनीय फल "

शाकवर्ग

कूष्माण्डादि फल शाक २०२
कूष्माण्डादि के सामान्य गुण "
कूष्माण्ड, कालिन्द और अलाबू के गुण "
त्रपुसादि फल शाक "
" " शाकों के सामान्य गुण "
त्रपुस, पेर्वारुक और कर्कारुक के गुण २०३
शीर्णवृन्त के गुण "
पिप्पल्यादि कटुफल-शाक "
पिप्पल्यादि गणों की शाकों के गुण "
आर्द्र तथा शुष्क पिप्पली के " "
आर्द्र तथा शुष्क मरिच के " "
श्वेतमरिच के " "
नागर (शुण्ठी) के गुण "
आर्द्रक " "
हिङ्गु "
द्विविध जीरक के गुण "
कारवी तथा उपकुञ्चिका के गुण "
हरे और सूखे धनिये के " "
जम्बीर, सुरस, सुमुख, अर्जक और भूस्तृण के गुण "
कासमर्दक " २०४
शोभाञ्जन, लाल सहजन, सरसों का शाक, गण्डीर, चित्रक, तिलपर्णी के गुण "
मूली के भेद तथा उनके गुण "
शाकों के पुष्प, पत्र और फल यथोत्तर भारी होते हैं "
रसोन के गुण "
पलाण्डु तथा क्षीरपलाण्डु के गुण "
कलाय (मटर) शाक के गुण २०५
सुच्चु, जूही, तरुणी आदि शाकवर्ग "
" आदि शाकवर्ग के सामान्य गुण "
" शाक तथा जीवन्ती शाक के " "
वृक्षादनी (वन्दाल) के गुण "

विषयाः पृष्ठाङ्काः
वट, पिप्पलादि क्षीरी वृक्षों के पत्तों के शाकों के गुण २०५
पुनर्नवादिवर्ग की शाकों के सामान्य गुण "
तण्डुलीयक वर्ग की शाकें तथा इनके गुण "
तण्डुलीयक शाक के गुण "
उपोदिका " " "
वास्तूक " " "
चिल्ली, पालङ्की और अम्बष्ठा शाकों के गुण "
मण्डूकपर्णी वर्ग की शाकें "
" " शाकों के सामान्य गुण "
मण्डूकपर्णी शाक के गुण २०६
गोजिह्वा, सुनिषण्णक, वाकुची, मटर, मकोय, पटोलपत्र शाकों के गुण "
बृहतीफल के गुण "
कर्कोटक तथा कारवेल्लक शाक के गुण "
अडूसा, बेंत, गिलोय निम्ब, पित्तपापड़ा तथा चिरायता शाकों के गुण "
वरुण तथा पंवाड शाक के गुण "
कालशाक, कुसुम्भशाक, नाडीशाक, और चाङ्गेरी शाक के गुण "
लोणिकादि वर्ग की शाकें "
" शाकवर्ग के सामान्य गुण "
कुन्तलिका, कुरण्टिका, राजक्षव, शटी, हरिमन्थ (चने), मटर, पूतिकरञ्जपत्र तथा पान के गुण

पुष्पवर्ग

कोविदारादि पुष्पशाक तथा इनके गुण २०६
अडूसा और अगस्त्य पुष्प के गुण "
करील तथा लाल सहजन के पुष्पों के गुण २०७
रक्तवृक्ष (बन्धूक), नीम, मुष्कक, आक, असन तथा कुटज के पुष्पों के गुण "
कुमुद, कुवलय तथा उत्पल के गुण "
सिन्धुवारपुष्प के गुण "
मालती तथा मल्लिका पुष्प गुण "
बकुल, पाटल, नागकेशर और कुङ्कुम के गुण "
चम्पक, किंशुक और कुरण्टक के गुण "
मधुशिग्रु और करीर पुष्पों के " "

विषयाः पृष्ठाङ्काः
अनुक्त पुष्प, कांटे, पत्र और अवरोह के गुण उनके निजी वृक्षलतादिकों के अनुसार होते हैं २०७
वृक्षादि उद्भिज्जशाक तथा उनके सामान्य गुण "
वृक्ष तथा बांस के अंकुर के गुण "
उद्भिद्वर्ग के छत्र "
पलालजात छत्र के गुण "
इक्षुजात " " "
करीषजात " " "
वेणुजात छत्रक " "
पृथिवी फोड़कर निकले छत्रक, के गुण "
पिण्याक, तिलकल्क, स्थूणिका तथा शुष्क शाक के दोष "
वटक (बड़े) और सिण्डाकी (पकोड़ी) के गुणदोष "
सर्व शाकों के सामान्य गुण "
वर्जित पत्रादि शाक २०८

कन्दवर्ग

विदारीकन्द, शतावरी प्रभृति कन्दों के नाम २०८
कन्दों के सामान्य गुण "
विदारीकन्द के " "
शतावर के " "
बिस, सिंघाड़े तथा कसेरू के गुण "
पिण्डालुक, सुरेन्द्रकन्द तथा बांस के करीर के गुण "
स्थूलकन्द, सूरणकन्द और माणककन्द के सामान्य गुण माणककन्द के गुण "
कुमुदोत्पलपद्मकन्द के गुण-दोष "
वाराहकन्द के गुण "
ताड़, नारियल, खजूर की मस्तकमज्जा के गुण "
वर्जनीय कन्द "

लवण वर्ग

सैन्धवादि लवण तथा उनके सामान्य गुण २०९
सैन्धव लवण के गुण "
सामुद्र " " "
विड " " "
सौवर्चल " " "
रोमक " " "
औद्भिद " " "
गुटिका " " "
ऊषर, वालुकैल, शलमूलाकरोद्भूत लवणों के गुण "

विषयाः पृष्ठाङ्काः
यवस्वर्जिकाक्षिक्षारवर्ग तथा उनके सामान्य गुण २०९
स्वर्जिका क्षार और यवक्षार के गुण "
ऊषक्षार, पाकिमक्षार तथा टङ्कण क्षार के गुण "
सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, त्रपु, सीसक मुक्ता, विद्रुम, वज्र, वैदूर्य और स्फटिकादि के गुण "
अनुक्त धान्य, मांस, फल और शाकों के गुण उनके स्वाद तथा भूत गुणों के अनुसार होते हैं २१०
धान्यवर्ग के श्रेष्ठ द्रव्य "
मांसवर्ग " "
फलवर्ग " "
शाकवर्ग " "
गो का दूध और घृत लवणों में सैन्धव श्रेष्ठ हैं "
अन्य श्रेष्ठ द्रव्यों की प्रधानता "

कृतान्न वर्ग

लाजमण्ड के गुण "
पेया तथा विलेपी "
मण्ड, पेया, विलेपी और यवागू के लक्षण "
पायस तथा कृशरा के गुण २११
घौन ओदन के गुण "
अघौन " "
भृष्टतण्डुलकृत ओदन के गुण "
स्नेह, मांस, कन्दादियोग से सिद्ध ओदन के गुण "
सूप और शाकों के संस्कार विशेष से गुण विशेष "
मांस के गुण "
सिद्धमांस के गुण "
प्रदिग्धमांस के गुण "
परिशुष्कमांस " "
उल्लुप्तमांस की परिभाषा तथा उसके गुण २११-२१२
वह्निपक्व उल्लुप्त के गुण "
शूल्यमांस के " "
तलघृतसाधितमांस के गुण "
मांसरस के गुण "
सौराव के " "
उबाल कर रस निकाल दिये हुये मांस के दोष "
श्वानिष्कमांस के गुण "
वेसवार की परिभाषा तथा उसके गुण "
मुद्गयूष के गुण "

विषयाः पृष्ठाङ्काः
रागषाडव के गुण २१२
मसूरादिपञ्चक यूष गुण २१२-२१३
" " में मृद्वीकादि योग से गुणविशेष "
पटोल तथा निम्ब यूष के गुण "
मूलकयूष के गुण "
कुलत्थयूष के " "
दाडिमामलक यूष के गुण "
मुद्गामलक यूष के " "
यव, कोल, कुलत्थ यूष और सर्वधान्यकृत यूष के गुण "
खड, काम्बलिक, दाडिमाम्ल, दध्यम्ल और तक्राम्ल के गुण "
खड, यवागू, षाडव और पानक "
खड आदि की अकृत तथा कृत सञ्ज्ञा "
गोरसधान्याम्लादि संस्कृता संस्कृत मांसरस के गुण "
काम्बलिकयूषलक्षण २१३-२१४
शुष्कशाकविशेष कृतान्न तथा वटकों के गुण "
रागषाडव के गुण "
रसाला तथा गुडयुक्त दधि के गुण "
मन्थ के लक्षण तथा गुण "
द्रव्यान्तर संयुक्त मन्थ के गुण "
गुडकृतपानक के " "
मृद्वीकापानक के " "
परुषककोलपानक के " "
पानकों की गुरुलाघवता में हेतु "

भक्ष्य वर्ग

भक्ष्यनिर्देश "
क्षीरकृतभक्ष्यों के गुण "
घृतपूर (घेवर) के गुण "
गुडकृतभक्ष्यों के " "
मधुमस्तक, संयाव, अपूप और मोदकों के गुण २१५
सष्टक के गुण "
विष्यन्दन के " "
सामित तथा फेनकादिक के गुण "
मुद्गादिवेसवार से भरे हुये सामित के गुण "
पालल, शष्कुली तथा पिष्टक के गुण "
मुद्गादि वैदलकृत भक्ष्य के " "
भापकृतभक्ष्य के गुण "
कूर्चिकाकृत भक्ष्य के गुण "
विरुधान्यकृतभक्ष्य गुण "
घृतनिर्मित " " "
तैलनिर्मित " " "
फलमांसादिकृत " "

विषयाः पृष्ठाङ्काः
कपाल एवं अङ्गारपक्व भक्ष्यों के गुण विशेष २१६
किलाटादि तथा कुल्माष भक्ष्यों के गुण २१५-२१६
वाट्य तथा धानोलुम्ब भक्ष्यों के गुण "
सक्तु तथा उसकी पिण्डी और अवलेह के गुण "
धानलाज तथा धानलाजकृत सक्तु के गुण "
पृथुक के " "
कच्चे चांवलों का आटा, नवीन चावल और पुराने चांवलों के गुण "
उक्तानुक्त धान्यों का उपसंहार "

अनुपान वर्ग

अम्ल तथा माधुर्य रस का प्रयोग वैशिष्ट्य "
अनुपानवर्ग के द्रव्य "
अनुपानों में जल की श्रेष्ठता २१७
उष्णोदकादि अनुपान का विस्तार "
पूर्वोक्त शाल्यादि वर्गों के पृथक् २ अनुपान "
मद्यपी तथा मांस का मद्य अनुपान "
घृप, अध्व, भाष्य, स्त्री से क्षीणों का दुग्धानुपान "
कृशों को सुरानुपान "
स्थूलों को शहद जल का अनुपान "
वातादि-दोषप्रकृति-पुरुषों में भिन्न २ अनुपान "
रक्तपित्ती को इक्षुरसानुपान "
शूकधान्यादि में बदराम्लानुपान "
वैदलों में धान्याम्लानुपान "
जङ्गाल और धन्वज मांसों में अनुपान "
विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, विलेशय, एकानेकशफ, कूलचर आदि के मांसों में भिन्न २ अनुपान निर्देश "
महेन्द्र जल के " की प्रशंसा २१८
दोषानुसार उष्ण-शीतजलानुपान "
सदोष, गुरु तथा अतिभुक्त में अनुपान से लाभ "
अनुपान के सामान्य गुण "
भोजन के आदि, मध्य एवं अन्त में प्रयुक्त अनुपान के गुण "
अनुपान के न लेने से हानि "
" अयोग्य प्राणी "
" पीने के बाद वर्जनीय "

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गुरु-लाघवचिन्ता में स्वभाव, संस्कार एवं मात्रा की प्रधानता	२१८
मन्दकर्माग्नि व सुकुमारों में गुरु-लाघवविचार तथा वली, दीप्ताग्नि और श्रमशील व्यक्ति में उक्त विचार अनावश्यक	,,
आहारविधि का वर्णन तथा योग्य महानस का लक्षण	२१९
सिद्ध अन्न का रक्षण	,,
विविध आहार की उपकल्पना (परोसनविधि)	,,
भोजन कराने योग्य स्थान	,,
हितकारी भोजन लक्षण	,,
रसानुसार पूर्व में मधुर, मध्य में अम्ल-लवण पश्चात् शेषरस युक्त भोजन करें	२२०
प्रथम फलादिलक्षण	,,
घनभक्ष्य का प्रथम सेवन	,,
भोजन में आंवले की श्रेष्ठता	,,
मृणालादि का सेवन-समय	,,
किस प्रकार बैठ कर भोजन किया जाय	,,
समय पर मात्रापूर्वक किये हुये भोजन का फल	,,
ऋतुभेद से भोजन का काल	,,
अकाल भोजन के दोष	,,
हीनमात्र और अतिमात्र भोजन के दोष	,,
सेवन करने योग्य भोजन	२२१
निन्दित अन्न	,,
यथोत्तर मधुरतर भोजन सेवन करना चाहिये	,,
भोजनकाल में गण्डूष करने के गुण	२२१
स्वादु अन्न के गुण	
स्वादु तथा अस्वादु भोजन के लक्षण	,,
भोजन के बाद तथा मध्य में जल पीने का विधान	,,
दांतों में फंसे हुये अन्न के निकालने की विधि	,,
जीर्ण, विदग्ध और भुक्तमात्र में त्रिदोष वृद्धि	,,
भोजन में बढे हुये कफ के नाशन का उपाय	२२२
भोजनोत्तर कर्तव्य	,,
भुक्तान्नस्थिरता के लिये मनःप्रिय शब्दादि विषयों का सेवन	,,
भोजनोत्तर जुगुप्सित शब्दादि विषयों का त्याग	,,
भोजनोत्तर वर्ज्य	,,
अतिमात्र सेवित रसों के दोष	,,
मन्दाग्नि में दो वार भोजन का निषेध	,,
मन्दाग्नि में गुरु आहार का निषेध	,,
पिष्टान्न का निषेध	,,
लेह्य-पेयादि चतुर्विध आहार की यथोत्तर गुरुता	,,
लघु-गुरु द्रव्यों का मात्रा विचार	,,
प्रभूत द्रवयुक्त शुष्कान्न सेवन में दोषाभाव	
शुष्कान्न सेवन में दोष	२२३
अन्नविदाह के हेतु	,,
शुष्क, विरुद्ध और विष्टम्भी अन्न अग्नि को मन्द कर देते हैं	,,
अजीर्ण के आम, विदग्ध आदि चार भेद	२२३
अजीर्ण के कारण	,,
चतुर्विध अजीर्णों के लक्षण	,,
अजीर्ण के उपद्रव	,,
अजीर्ण की चिकित्सा	,,
समशन, विषमाशन और अध्यशन के लक्षण	,,
विदग्धाजीर्ण की चिकित्सा	२२४
आमाशयगत अन्नविदाह की चिकित्सा	,,
अजीर्णशङ्का में शुण्ठी-अभया का प्रयोग	,,
अजीर्ण में भी क्षुधा विनाशकारी होती है	,,
विंशति गुणों के कर्म का वर्णनारम्भ	,,
शीतोष्ण-स्निग्धादिदश गुणों के कर्म	,,
द्रवादि दश गुणों के कर्म	,,
आहार की गति (परिवर्तन) का वर्णन	२२५
पाञ्चभौतिक आहार के गुण	,,
आहारावस्थापाक से दोषवृद्धि	,,
पक्व आहार के मल तथा सार एवं सार से सर्वधातु-पोषण	२२६
सप्तधातुओं के सप्त मल	,,
दिन में हृदय की अधिक विकास-शक्ति होने से अजीर्ण होने पर भी भोजन विधान	,,
रात्रि-अजीर्ण में भोजन निषेध	,,
आहारविधि आदि के सूत्र पाठ का फल	,,

सूत्रस्थान समाप्त

॥ श्रीः ॥

आयुर्वेद-तत्त्वसंदीपिकाख्यव्याख्या-समुल्लसिता

सुश्रुतसंहिता

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः,
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके अनन्तर यहां से वेदोत्पत्ति नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुतके प्रति) कहा है ॥ १ ॥

विमर्शः-"ग्रन्थसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" इस श्रुति के अनुसार यहां प्रारम्भ में अथ शब्द मङ्गलाचरण का द्योतक है। जैसा कि कहा है "ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥" चरक तथा महाभाष्य में भी सर्वप्रथम मङ्गलार्थ अथ शब्द का प्रयोग हुआ है। "अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्याम." (च० सू० अ० १), "अथ शब्दानुशासनम्" (व्या० म० भा० अ० १, पा० १, आ० १), "अथातो धर्मं व्याख्यास्याम" (वै० अ० १ आ० १ सू० १)

वेदोत्पत्ति—"उपस्थित परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात्" इस नियमानुसार तथा प्रकरणवशाद् वेद शब्द से आयुर्वेद का ग्रहण किया गया है क्योंकि उच्चरित नामैकदेश समग्र नाम मात्र का परिचायक होता है। चरक ने भी वेद शब्द से आयुर्वेद का ग्रहण किया है। यथा—"तस्यायुष. पुण्यतमो वेदो वेदविदा मत.। वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हितम्॥ (च० सू० अ० १)

आयुर्वेदोत्पत्तिः—आयुर्वेद आयु के हित, अहित द्रव्य-गुणकर्मों का प्रतिपादक विज्ञान (Science of life) है और विज्ञान की उत्पत्ति न होकर स्मृति ही हुआ करती है। वर्तमान में जितने भी आविष्कार हो रहे हैं वे सब रात्रिन्दिव अन्वेषण (Research) की धुन में लगी हुई उच्च आत्माओं की स्मृति स्वरूप हैं अत एव चरक में स्पष्ट कहा है कि "ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदम्" ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण किया, इसीलिये वेदों को अपौरुषेय (कर्तृरहित) माना गया है। यहां पर भी वेदोत्पत्ति से आयुर्वेद की उत्पत्ति अर्थ न कर उसका अवबोध और उपदेश का व्याख्यान करेंगे यही अर्थ ग्रहण किया जाता है जैसा कि चरक में भी कहा गया है—"न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके" (च० सू० अ० ३०), अवबोधादुत्पत्ति र्यथा—ब्रह्मण आयुर्वेदोत्पत्ति, उपदेशाच्चोत्पत्तिर्यथा—इन्द्रोपदेशाद्भरद्वाजेन मर्त्यलोके आयुर्वेद उत्पादित इत्यादि, आयुर्वेददीपिका। इस तरह जब से सृष्टि का आविर्भाव हुआ है तभी से आयुर्वेद भी विद्यमान है। यूरोप के विद्वानों ने भी संसार में सब से प्रथम व प्राचीन ऋग्वेद को माना है। जब कि पाश्चात्य देश अज्ञानरूपी निद्रा में थे उस समय भारतवर्ष के चिकित्सा विज्ञान, गणित विज्ञान, अस्त्र शस्त्र द्वारा युद्धकला विज्ञान, शिल्पविज्ञान और दार्शनिक विज्ञान उन्नत शिखर पर थे। समस्त ससार को ज्ञान प्रकाश देने का गौरव इसी परम पुनीत आर्यावर्त को है अत एव हम निःशङ्क तथा साभिमान इसे जगद्गुरु घोषित करते हैं। 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन.। स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥ (मनुस्मृतिः) भारतवर्ष से ही आयुर्वेद का ज्ञान यूनान में गया तथा वहा से ग्रीस और ग्रीस से इग्लैण्ड निवासियों ने ग्रहण कर निरन्तर अन्वेषण करते हुए आज इस रूप में पहुंचा दिया है। भगवान् शब्द का प्रयोग षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न विशिष्ट आत्मा (अवतार धारी) के लिये होता है। ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस. श्रिय। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीङ्गना ॥ (विष्णुपुराण) अन्यच्च—उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥ इससे धन्वन्तरि की योग्यता, सर्वज्ञता, एव विश्वसनीयता प्रदर्शित होती है। चरक में ऐसे शक्तिसम्पन्न पुरुष को योगिकोटि में माना है तथा योगियों का अष्टविध ऐश्वर्य (बल)

स्पष्टतया वर्णित है। आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थाना छन्दत' क्रिया। दृष्टि श्रोत्रं स्मृति कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥ इत्यष्टविधमाख्यात योगिना बलमैश्वरम्। शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते॥ (च० शा० अ० १)

धन्वन्तरि—धनु=शल्य, तस्यान्त=पारमियर्ति गच्छतीति धन्वन्तरि। शल्यशास्त्र का आद्यन्त सम्यग्ज्ञाता धन्वन्तरि कहलाता है। वर्तमान में ऐसे विद्वान् को सर्जन कहा जाता है। भानुमती में धन्वन्तरि की निम्न व्याख्या है—जगदर्थसाधनाद् धनुर्धर्मस्तस्यान्तोव्याधिरकालमृत्युसम्पादकोऽधर्मस्तस्यारिः शत्रुर्योऽसौ धन्वन्तरिः॥ भागवतमें विष्णु के अशांश से धन्वन्तरि की उत्पत्ति मानी है स वै भगवत साक्षात् विष्णोरशांशसम्भव। धन्वन्तरिरितिख्यात आयुर्वेदद्दगिज्यभाक्॥ विष्णुपुराण में अमृतपूर्णकलश को लिये हुए धन्वन्तरि की उत्पत्ति समुद्र से मानी गई है। मन्थान मन्दर कृत्वा नेत्र कृत्वा च वासुकिम्। ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसाऽमृतम्॥ ततो धन्वन्तरिर्देव श्वेताम्बरधर स्वयम्। विभ्रत्कमण्डलु पूर्णममृतस्य समुत्थित॥ अन्यच्च—धन्वन्तरि धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम्॥ १॥

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतयऊचु॥

सर्व देवताओं में श्रेष्ठ, महर्षियों के समुदाय से परिवेष्टित, अपने आश्रम में विराजमान काशिराज दिवोदास भगवान् धन्वन्तरि को औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, सुश्रुत आदि ऋषि प्रश्न करने लगे॥२॥

विमर्श—सुश्रुतप्रभृतयः—भगवान् धन्वन्तरि के पास शल्य शास्त्र के अध्ययन करने के लिये अनेक ऋषि आये थे। उनमें जो प्रधान थे, उनका नाम मूल में लिखा है किन्तु शेष को प्रभृति शब्द से सम्बोधित किया है जैसे भोज, निमि, काङ्कायन, गार्ग्य, गालव आदि का प्रभृति से ग्रहण होता है॥२॥

भगवन्! शारीरमानसागन्तुव्याधिभिर्विविधवेदनाऽभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्चमानवानभिसमीक्ष्यमनसि नः पीडा भवति। तेषां सुखैषिणां रोगोपशमार्थमात्मनश्च प्राणयात्राऽर्थं प्रजाहितहेतोरायुर्वेदं श्रोतुमिच्छाम इहोपदिश्यमानम्॥३॥

हे भगवन्! शारीर, मानस और आगन्तुक रोगों से, अनेक प्रकार की पीडा से दुःखित तथा मित्र, भृत्य, धन आदि वस्तुओं के होने से सनाथ होते हुए भी अनाथों की तरह तडफते और विलाप करते हुए मनुष्यों को देखकर हमारे मन में पीडा उत्पन्न होती है। इसलिये सुखको चाहने वाले उन रोगियों के रोगों को नष्ट करने के लिये तथा अपने प्राणों की रोगादिकों से रक्षा करने के हेतु एवं सर्व साधारण प्रजा की हितकामना से आप द्वारा उपदिश्यमान आयुर्वेदशास्त्र को हम सुनना चाहते हैं॥ ३॥

विमर्शः—रोगभेदा—यद्यपि इसी ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में व्याधियों के चार भेद सलक्षण बताये हैं तथा शार्ङ्गधर में भी "त्रिभाविकागन्तुककायिकान्तरा" चार भेद लिखे हैं किन्तु चिकित्सा शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक इन तीन रोगों की ही हो सकती है अतः यहां तीनों रोगों का ही निर्देश है। इसी हेतु चरक भी रोगों के तीन मुख्य भेद करता है। "त्रयो रोगा निजागन्तुमानसा." (च० सू० अ० ११) चौथे प्रकार के स्वाभाविक रोग अचिकित्स्य होते हैं। कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः। रोगा स्वाभाविका दृष्टा स्वभावो निष्प्रतिक्रिय॥ (च० अ० १) "स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासा जरामृत्युनिद्राप्रभृतय" (सुश्रुत) सुखैषिणाम्—अर्थ, मित्र, दारा, सुत, भृत्यादि सुख की अपेक्षा आरोग्य इस शास्त्र में प्रधान सुख माना गया है तथा शोक, चिन्ता, दारिद्र्यादिक दुःख की अपेक्षा रोगों को ही यहा प्रधान दुःख माना है। 'सुखसंज्ञकमारोग्य विकारो दुःखमेव च" प्राणयात्रार्थ का वृत्तिकर (धनोपार्जन) अर्थ यहा उचित नहीं है क्योंकि आयुर्वेद परमार्थ के लिये बना है। नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयाम्प्रति। प्रकाशितो धर्मपरैरायुर्वेदो महर्षिभि॥ चिकित्सा की एवज में धन लेने की निन्दा की गई-हे कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सा पुण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चन राशि पाशुराशिमुपासते॥ ३॥

अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकञ्च श्रेयः।
तद्भगवन्तमुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति॥ ४॥

इस आयुर्वेद में सासारिक और पारलौकिक कल्याण है, इस लिये हम शिष्यभाव से आप के पास आये हैं॥ ४॥

विमर्श—वेदों के अध्ययन से केवल पारलौकिक सुख प्राप्त होता है किन्तु आयुर्वेद उभयलोक हितकारक है। स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपैरमुष्मिंश्च शक्रसलोकता व्रजेत्। (सुं० अ० १) धर्मा सदृशस्तस्य दाता नेहोपलभ्यते। न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते॥ तस्मायुप पुण्यतमो वेदो वेदविदा मत। वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हित॥ (च० सू० अ० १)

तानुवाच भगवान्—स्वागतं वः; सर्व एवामीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः!॥ ५॥

भगवान् धन्वन्तरि ने उन शिष्यों को कहा कि आप अच्छे कार्य के लिये आये हैं अतएव आप सब शिष्य कुलशीलादिदृष्टि से अविचारणीय और पढाने योग्य हैं॥ ५॥

विमर्शः—योग्यशिष्याध्यापकलक्षणम्—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्य शिष्यमेवादित परीक्षेत, ततोऽनन्तरमाचार्य परीक्षेत॥ अध्याप्यशिष्यलक्षणम्—कृतज्ञाऽद्रोहिमेधाविशुचिकल्पानुसूयका.। अध्याप्या धर्मत साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति अ० १-२८) योग्याध्यापकलक्षणम्—"पर्यवदातश्रुत, परिदृष्टकर्माणं, दक्ष, दक्षिण, शुचि, जितहस्तमुपकरणवन्त, सर्वेन्द्रियोपपन्न, प्रकृतिज्ञ, प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविधमनहङ्कृतमनसूयकमकोपन क्लेशक्षम, शिष्यवत्सलमध्यापक शासनसमर्थञ्चेति। एव गुणो ह्याचार्य सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव शस्यगुणै सुशिष्यमाशु वैद्यगुणै सम्पादयति। (च० वि० अ० ८)

इह खल्वायुर्वेद मष्टाङ्ग मुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रञ्च कृतवान् स्वयम्भूः। ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्॥ ६॥

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है और इसके आठ भाग हैं।

पूर्वकाल में ब्रह्मदेव ने सृष्टिरचना के पूर्व इस आयुर्वेद को एक लक्ष श्लोकों और एक हजार अध्यायों के रूप में बनाया था पश्चात मनुष्यों को अल्प आयु तथा स्वल्प बुद्धि वाले जान कर पुनः उस आयुर्वेद को आठ भागों में विभक्त कर दिया ॥ ६ ॥

विमर्शः—चरक तथा हस्त्यायुर्वेद में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग माना है किन्तु व्यासकृत चरणव्यूह एवं शङ्करोक्त आयुर्वेद ग्रन्थों में इसे ऋग्वेद का उपवेद माना है। अष्टाङ्गसङ्ग्रहकार ने सुश्रुतसंहितानुसार आयुर्वेद की अष्टाङ्गों में विभक्ति ब्रह्मदेव कृत न मानकर अग्निवेषादिकृत मानी है। आयुर्वेद श्लोकलक्षेण पूर्वं ब्राह्मस्त्वासीदग्निवेशादयस्तु। कृच्छ्राज्जेयप्राप्तपारा सुतन्त्रास्तस्यैकैकं नैकधाङ्गानि तेनु ॥ ६ ॥

तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति ॥ ७ ॥

शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र ये इसके आठ अङ्ग हैं ॥ ७ ॥

अथास्य प्रत्यङ्गलक्षणसमासः ॥ ८ ॥

तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिवालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थश्च ॥ ९ ॥

अब इस आयुर्वेद के आठों अङ्गों के संक्षिप्त लक्षण कहते हैं ॥ ८ ॥ आयुर्वेद के जिस अङ्ग में अनेक प्रकार के तृण (घास) काष्ठ (लकडी), पत्थर, धूलि के कण, लौह, मिट्टी, हड्डी, केश, नाखून, पूय (मवाद = Pus), स्राव (Discharge), दूषित व्रण, अन्तः शल्य तथा गर्भ (मृतगर्भ) शल्य आदि को निकालने का ज्ञान, यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म करने का ज्ञान तथा व्रणों का आम, पच्यमान और पक्व आदि का निश्चय किया जाता हो उसे शल्यतन्त्र कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—उल्बणोक्तशल्यलक्षणम्—अतिप्रवृद्धं नलदोपजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्। यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥ शल् हिंसायां धातुस्तस्माच्छल्यं, शल् रुजायां वा धातुस्तस्मादपि शल्य सिद्धयति। शल्यतन्त्र को पाश्चात्य वैद्यक में सर्जरी (Surgery) कहते हैं ॥ ९ ॥

शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्, शालाकायन्त्रप्रणिधानार्थं च ॥ १० ॥

आयुर्वेद के जिस अङ्ग में जत्रु के ऊर्ध्वभाग स्थित कान, नेत्र, मुख, नासिका आदि में होने वाले रोगों की शान्ति का वर्णन किया गया हो तथा शलाकायन्त्रों के स्वरूप तथा प्रयोग करने की विधि का वर्णन किया गया हो उसे शालाक्यतन्त्र कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—शालाक्यव्युत्पत्तिः—शलाका, तस्या कर्म, तत्प्रधान तन्त्र शालाक्य, शलाकया यत्कर्म क्रियते तच्छालाक्यम्। अष्टाङ्गहृदय में उसे ऊर्ध्वाङ्ग शब्द से बोधित किया है। हारीतसंहितामते शालाक्यलक्षणम्—शिरोरोगा नेत्ररोगा कर्णरोगास्तथैव च। ऊर्ध्वकण्ठशरीरस्थास्तु ये रोगा सम्भवन्ति हि ॥ तेषां प्रतीकारकर्म नस्यवर्त्मञ्जनानि च। अभ्यङ्गमुखगण्डूपक्रिया शालाक्यसंमिता ॥ जत्रु शब्द से ग्रीवा, कण्ठनाड़ी, ग्रीवामूल, वक्षोऽससन्धि, हनुसन्धि आदि अनेक अर्थ गृहीत होते हैं किन्तु गणनाथ सेनजी ने प्रत्यक्षशारीर में जत्रु का पर्याय अक्षकास्थि देकर उसे क्लेविकिल (Clavicle) माना है। "अक्षक नाम असमूलाद्बुर-फलकसङ्गत धनुर्वक्र नलकास्थि, तदेव जत्रुसंज्ञमिति प्राञ्च। चरक ने 'द्वावक्षकौ, एकं जत्रु' इस प्रकार दोनों शब्दों को भिन्नार्थ में प्रयुक्त किया है। इस तरह अक्षक से दोनों हंसलिया (Clavicles) और जत्रु से कण्ठनाडी (Trachea) मानना श्रेष्ठ है। डाक्टरी में शालाक्य के तीन विभाग किये गये है। नं० १ में कर्ण, नासा और कण्ठ (Ear, Nose, Throat), नं० २ में आंख का विभाग है जिसे (Ophthalmology) कहते हैं और नं० ३ में दन्तविभाग आता है जिसे (Dentistry) कहते हैं। शालाक्य में समाविष्ट शिरोरोग विभाग डाक्टरी में कायचिकित्सा का ही अङ्ग माना गया है ॥ १० ॥

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् ॥ ११ ॥

आयुर्वेद के जिस अङ्ग में सर्वशरीरगत रोगों जैसे ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि की शान्ति का वर्णन हो उसे कायचिकित्सा कहते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—कायशब्देन सकल शरीर गृह्यते। अथवा कायति शब्द करोतीति कायो जाठराग्निस्तदुक्त भोजे-जाठर प्राणिनामग्नि काय इत्यभिधीयते। यस्त चिकित्सेत सीदन्त स वै कायचिकित्सक ॥ प्रायेणाग्निविकृतिमूला ज्वरातिसारप्रभृतयो रोगास्तथा च चरक—शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिर जीवत्यनामय। रोगी स्यादविकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ ११ ॥

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥ १२ ॥

आयुर्वेद के जिस अङ्ग में देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि ग्रहों से पीड़ित चित्तवाले रोगियों की शान्ति के लिए शान्ति पाठ, बलिप्रदान हवन आदि ग्रह दोषशामक क्रियाओं का वर्णन किया गया हो उसे भूत विद्या कहते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्ष पितृनागपिशाच ग्रहात्मकानि भूतानि वेत्ति अनयेति, भूतावेशनिराकरणार्थ विद्येति वा भूतविद्या। डाक्टरी में इसे (Demnology) कहते हैं ॥१२॥

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥ १३ ॥

आयुर्वेद के जिस अङ्ग में बालकों के पोषण, धात्री के दुग्ध के दोषों के संशोधन उपाय तथा दूषित दुग्धपान और ग्रहों से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन हो उसे कौमारभृत्यतन्त्र कहा गया है ॥ १३ ॥

विमर्शः—कुमाराणा भृतिर्धारण पोषण चेति कुमारभृति, कुमा-

रभृतेरिदं कौमारभृत्यम्। अष्टाङ्गहृदय तथा संग्रह में इसे बाल-चिकित्सा तथा डाक्टरी में इसे (Science of Paediatrics) कहते हैं ॥ १३ ॥

अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च ॥ १४ ॥

सर्प, कीट, लूता (मकडी) चूहे आदि के काटने से उत्पन्न विष लक्षणों को पहचानने के लक्षण तथा अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विषों से उत्पन्न विकारों के प्रशमन का जहां वर्णन हो उसे अगदतन्त्र कहते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—गदो रोग, अगदो रोगप्रतीकारः, तदर्थं तन्त्रमगदतन्त्रम्। अष्टाङ्गहृदय तथा सङ्ग्रह में दंष्ट्राचिकित्सा तथा चरक में विषगरवैरोधिकप्रशमन तथा जाङ्गलि, एव डाक्टरी में (Toxicology) कहते हैं ॥ १४॥

रसायनतन्त्रं नाम वयस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थञ्च ॥ १५ ॥

युवावस्था को अधिक समय तक बनी रखने के उपाय, आयु, धारणा शक्ति और बल की वृद्धि करने के प्रकार, एवं शरीर की स्वाभाविक रोग प्रतिरोधक शक्ति (Natural immunity) की वृद्धि के तरीकों का जहां वर्णन हो उसे रसायनतन्त्र कहते हैं ॥ १५ ॥

विमर्शः—रसाना रसरक्तादीनामयन प्रापणमाप्यायन वेति रसायनम्। अथवा रसाना रसजीर्यविषाऽऽदीनामायुरादिकारणानामयन विशिष्टलाभोपायो रसायन तदर्थं तन्त्रं रसायनतन्त्रम्। तदुक्त चरके "लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम्॥ रसायनफलम्-दीर्घमायु स्मृतिं मेधामारोग्य तरुण वय। प्रभावर्ण स्वरौदार्य देहेन्द्रियबल परम्॥ वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्॥ अस्य प्रयोगाच्च्यवन सुकृद्धोऽभूत्पुनर्युवा। (च० चि० अ० १)

वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थञ्च ॥१६॥

अल्प, दुष्ट, क्षीण और शुष्कवीर्यवाले मनुष्यों के वीर्य की पुष्टि, शोधन, वृद्धि और उत्पत्ति तथा स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय हर्ष बढाने के लिए जो वर्णन किया जाता है उसे वाजीकरणतन्त्र कहते हैं।

विमर्शः—वाजीकरणव्युत्पत्ति -वजन वाज शुक्रस्य वेग, स विद्यते येषान्ते वाजिनः, अवाजिनो वाजिन क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम् अथवा स्त्रीषु विषये नरो वाजीव शक्ति प्राप्नोतीति तद्वाजीकरणम्। येन वाऽत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्र तद्वाजीकरणम्। "येन नार्यासु सामर्थ्य वाजिवल्लभते नर। व्यज्यते चाधिक येन वाजीकरणमेव तत्॥ वाज शुक्र सोऽस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद्वाजीकरणम्। किंवा वाजो मैथुन तथा च हारीत -वाजो नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसज्ञितम्। वाजीकरणसज्ञामि. पुस्त्वमेव प्रचक्षते॥ वाजीकरणभेदाश्चैव —शुक्रस्तुतिकर किञ्चित किञ्चिच्छुक्रविवर्द्धनम्। स्तुतिवृद्धिकर किञ्चित त्रिविध वृष्यमुच्यते॥ तत्र स्तुतिकर स्यात्स्वर्शादि, वृद्धिकर क्षीरादि, स्तुतिवृद्धिकर माषादि। अल्परेतस पञ्चविंशतिमप्राप्ता, क्षीणरेतस्तु मध्यमवयस कारणादल्पीभूतरेतस शुष्करेतसो वृद्धाः। इति दल्हण, बाल तथा वृद्ध पुरुष के लिये स्त्रीगमन निषिद्ध है। जैसा कि कहा भी है—अति बाले अस्मूर्णसर्वधातु स्त्रिय व्रजन् उपतप्येन सहसा तटागमिव काननम्॥ शुष्क रूक्ष यथा काष्ठ जन्तुदग्ध विजर्जरम्। स्पष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्॥ (च० चि० अ० २)

अतएव वाजीकरण का प्रयोग कारणवश अल्प, दुष्ट, क्षीण और शुष्क वीर्य पुरुषों के लिये मुख्यतः माना गया है।

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते; अत्र कस्मै किमुच्यतामिति ॥ १७ ॥

इस तरह यह आयुर्वेद अष्टाङ्ग कहलाता है, इन अङ्गों में से किस शिष्य को कौन सा अङ्ग पढ़ावें ॥ १७ ॥

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति ॥ १८ ॥

शिष्यों ने कहा कि आप हम सब को शल्यज्ञान प्रधान आयुर्वेद का उपदेश करें ॥ १८ ॥

स उवाचैवमस्त्विति ॥ १९ ॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि ऐसा ही किया जायगा ॥

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम्—अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति, अस्मै चोपदिश्यमानं वयमप्युपधारयिष्यामः ॥ २० ॥

उन शिष्यों ने फिर भगवान् धन्वन्तरि से कहा कि एक ही मत (विचार) वाले हम में से सुश्रुत हमारी आन्तरिक इच्छा का ध्यान रख कर आप से प्रश्न करेगा और आप द्वारा उसके प्रश्नों के उत्तर के रूप में दिये गये आयुर्वेदोपदेश को हम सब धारण करेंगे ॥ २० ॥

स उवाचैवमस्त्विति ॥ २१ ॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि-ऐसा ही होगा ॥ २१ ॥

वत्स सुश्रुत ! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणञ्च ॥ २२ ॥

हे वत्स सुश्रुत ! रोगों से व्याप्त मनुष्यों की रोगों से मुक्ति तथा स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा ये ही दो आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

विमर्शः—चरक ने भी यही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन माना है किन्तु वहाँ प्रथम स्वास्थ्य रक्षण ततः रोग मुक्ति यह उपयुक्त क्रम दिया है। "प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च" (च० सू० अ० ३०) चरक ने प्रकारान्तर से रसरक्तादि धातुओं की सामता रखना भी इस तन्त्र का उद्देश्य माना है जो इन्हीं दोनों में समाविष्ट-सा है। 'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (च० सू० अ० १) डाक्टरी में स्वास्थ्यरक्षण विभाग को (Preventive Medicine and Hygiene तथा चिकित्सा विभाग को Curative Medicine) कह कर ये ही दो विभाग माने हैं।

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः॥

आयु (के हिताहित) का विचार जिसमें हो तथा (दीर्घ) आयु की प्राप्ति जिसके उपदेशों से होती हो उसे आयुर्वेद कहते हैं ॥

विमर्शः—चरकेऽपि नं० १ आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः (सू० अ० ३०) नं० २ हिताऽहित सुख दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानञ्च तच्च

यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते ॥ (सू० अ० १) नं० ३ शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ तस्यायुष. पुण्यतमो वेदो वेदविदा मत ॥ (सू० अ० १) नं० ४ शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगविशिष्टत्वे सति धार्यायुर्धनेऽपर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयमानत्वमायुष्ट्वमिति परिष्कृतोऽर्थः, नं० ५ "यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेद." (सू० अ० ३०) नं० ६ आयुर्हिताहित व्याधेर्निदानं शमनं तथा। विद्यते यत्र विद्वद्भि स आयुर्वेद उच्यते ॥

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय ॥ २४ ॥

इस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्य अङ्ग का प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान और उपमान इन चारों प्रमाणों से अविरुद्ध जो उपदेश कर रहा हूं उसको तुम धारण करो ॥ २४ ॥

विमर्शः—यहाँ पर वर्णित प्रत्यक्षादि चार प्रमाण महर्षि गौतम के मत से हैं। "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (न्यायसूत्र) वैशेषिक तथा सांख्य के मत में प्रमाण तीन होते हैं और उपमान को अनुमान में ही प्रविष्ट करते हैं। किन्तु चरक ने चार और तीन प्रमाण माने हैं। "द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तत्र चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेश प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति (सू० अ० ११) त्रिविध खलु रोगविशेषविज्ञान भवति तद्यथा—आप्तोपदेश प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति (वि० अ० ४)।

एतद्धयङ्गं प्रथमम्, प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञशिरःसन्धानाच्च। श्रूयते हि, यथा—"रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति, ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—भगवन्तौ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः, भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यमिति। तावूचतुरेवमस्त्विति। अथ तयोरर्थे देवा इन्द्र यज्ञभागेन प्रासादयन्। ताभ्यां यज्ञस्य शिरः सहितम्" इति ॥ २५ ॥

शल्य शालाक्यादि आठ अङ्गों में शल्य अङ्ग ही मुख्य है क्योंकि पूर्व समय में देवदानव युद्ध में प्रहारजन्य व्रणों के रोपण करने से तथा यज्ञ के कटे हुए शिर का सन्धान कर देने से इसी अङ्ग को प्रधान माना है। यह सुनने में आता है कि प्रकुपित शिव ने यज्ञ का शिरश्छेदन कर दिया था, तब देवताओं ने अश्विनीकुमारों के पास जाकर कहा कि आप हमारे में अतिश्रेष्ठ होंगे। आपको यज्ञ के कटे शिर का सन्धान करना चाहिये। दोनों ने कहा ऐसा ही हो, तब देवताओं ने अश्विनीकुमारों को यज्ञ का भाग मिलने के लिये इन्द्र को प्रसन्न किया। इस तरह अश्विनीकुमारोंने यज्ञ के कटे शिर का सन्धान किया ॥ २५ ॥

विमर्शः—इस वर्णन से शल्यशास्त्र का महत्त्व तथा शल्यकोविद का सम्मान विदित होता है। चरक में भी यह वर्णन है। अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। दक्षस्य हि शिरश्छिन्न पुनस्ताभ्या समाहितम् ॥ (चि० अ० १)

अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्, आशुक्रियाकरणात्, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्, सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥ २६ ॥

आशु (शीघ्र) क्रिया करने से, यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग करने से, तथा अन्य सर्वतन्त्रों के समान चिकित्सा इसमें होने से आठों तन्त्रों में यही शल्यतन्त्र अधिक माननीय है ॥ २६ ॥

विमर्शः—चरक में भी अनेक स्थल पर शल्यचिकित्सा का महत्त्व स्वीकृत किया गया है। गुल्मरोगे—तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकार. क्रियाविधौ। वैद्याना कृतयोग्याना व्यधशोधनरोपणे ॥ उदररोगे—इदन्तु शल्यहर्तृणा कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्। अर्शसि—तमाहुरेके शस्त्रेण कर्त्तन हितमर्शसाम्। दाह क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना ॥ (च० चि० अ० १३)

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरञ्चेति ॥ २७ ॥

यह शल्यतन्त्र शाश्वत (नित्य), पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यश करने वाला, आयु के लिये हितकर तथा जीविकोपयोगी है ॥ २७ ॥

विमर्श.—चिकित्सा की एवज में धनादिग्रहण करना निन्दित है। कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चन राशिं पाशुराशिमुपासते ॥ (चि० अ० १) वरमाशीविषविषं कथितं तान्नमेव वा। पोतमत्यग्निमन्तप्तं भक्षितं वाप्ययोगुडं ॥ न तु श्रुतवता वैद्यं विश्रब्धं शरणागतम्। गृहीतमन्न पान वा विद्य वा रोगपीडितम् ॥ (च० सू० अ० १) "या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात्सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थानामवाप्ति." (च० सू० अ० ३०) आज का चिकित्सक अधिकतर लुटेरा बन गया है। शास्त्रमर्यादा को कौन माने। डाक्टर लोग तो मनुष्य मरा पड़ा हो फिर भी उसकी फीस लेते हैं और न देने पर मुकदमे तक करते हैं। यह अतीव निन्दाजनक है। यदि चिकित्सक उदारहृदय होकर सेवा करे तो उसकी सेवा निष्फल नहीं हो सकती। क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मैत्रो क्वचिदर्थः क्वचिद्यश. कर्माभ्यास क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥ नार्थार्थं नापि कामार्थमथभूतदयान्प्रति। वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥ न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते। सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानव। कस्तेन न कृतो धर्मः काञ्च पूजा न सोऽर्हति ॥

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥ २८ ॥

इस आयुर्वेद को सर्वप्रथम ब्रह्मा ने कहा। ब्रह्मा से प्रजापति दक्ष ने प्राप्त किया। दक्षप्रजापति से अश्विनीकुमारों ने इसका अध्ययन किया। अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने पढ़ा तथा इन्द्र से मैंने (धन्वन्तरि ने) पढ़ा। प्रजा के हित के लिये याचकरूप में आये हुये तुम सबको मुझे अध्यापन रूप से देना है ॥ २८ ॥

विमर्शः—गुरुमुख से पढ़ी विद्या का शिष्यों में सञ्चार न करने से वह ऋणी तथा पापभागी होता है। सम्यग् गुरुमुखादधीत्य यो न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्य. स खलु ऋणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति।

भवति चात्र—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽम-

राणाम्। शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम्॥ २९॥

देवताओं की वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु को नष्ट करने वाला आदिदेव मैं धन्वन्तरि आयुर्वेद के अन्य अङ्गों के साथ शल्यतन्त्र का उपदेश करने के लिये फिर से इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हूँ॥ २९॥

विमर्शः—पुराणों में समुद्रमन्थन के समय धन्वन्तरि की उत्पत्ति लिखी है।

अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्; कस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्। लोको हि द्विविधः-स्थावरो जङ्गमश्च। द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्; पञ्चात्मको वा। तत्र चतुर्विधो भूतग्राम-संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञः। तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्। तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्॥ ३०॥

इस आयुर्वेद शास्त्र में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत तथा शरीरी (आत्मा) इनके संयोग को पुरुष कहा है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है एव यही पुरुष चिकित्सा तथा कर्मफल का अथवा स्वास्थ्य और रोगों का अधिष्ठान है क्यों कि ससार दो प्रकार का होने से सजीव सृष्टि स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार की है। अथवा अग्नि तथा जल तत्व की अधिकता होने से आग्नेय और सौम्य ये इसके दो भेद हैं। किंवा पञ्च महाभूतों से बनी होने से यह सृष्टि पञ्चात्मिका है। इनमें सम्पूर्ण प्राणिवर्ग स्वेदज, जरायुज, अण्डज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के होते हैं। इनमें पुरुष प्रधान है तथा अन्य इसके साधन है इस हेतु पुरुष अधिष्ठान है॥ ३०॥

विमर्शः—यद्यपि सामान्यतया पुरुष शब्द से समस्त पशु आदि का बोध होता है तो भी यहां पर पुरुष से मनुष्य का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि आयुर्वेद का उपदेश मनुष्य के लिये है। चरक ने भी ६ तत्वों के संयोग को पुरुष माना है। खादयश्चेतना षष्ठा धातव पुरुष स्मृत। पुरि शेते इति पुरुष। पुरुष के लिये चरक ने लोक शब्द का भी प्रयोग किया है। षड् धातव समुदिता लोक इति शब्द लभन्ते (च० शा०) सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति सयोगात् तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्॥ (च० सू० अ० १) आग्नेय और सौम्य से आर्त्तव तथा शुक्र का अर्थ भी उचित है, क्योंकि इन्ही दोनों के योग से ही सजीव सृष्टि की रचना होती है। 'सौम्य शुक्रमार्त्तवमाग्नेयम्'

तद्दुःखसयोगा व्याधय उच्यन्ते॥ ३१॥

जिनके संयोग से पुरुष (मनुष्य) को दुःख होता है उन्हें व्याधि (रोग) कहते है।

विमर्शः—तच्छब्देनान्निर्दिष्ट पुरुषोऽधिक्रियते, दुःख कायवाङ्मानसं पीडा, विविध दुःखमादधतीति व्याधय। तस्य पुरुषस्य दुःखायसयोगो येषामागन्तुप्रभृतीना ते व्याधय। अथवा तस्य पुरुषस्य येषु सत्सु यैर्वा कारणभूतै, येभ्यो वा दुःखजायते ते व्याधय।

ते चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति॥ ३२॥

ये व्याधियां चार प्रकार की होती हैं-आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक॥ ३२॥

विमर्शः—आयुर्वेद में रोगों के भेद कई तरह से किये गये हैं। "त्रयो रोगा निजागन्तुमानसा" तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थ, आगन्तुर्भूतविषपवाव्यग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः, मानस पुनरिष्टस्याला-भाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते। (च० सू० अ० ११) चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुर्वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता। विकारा पुनरपरिसख्येया, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरिसख्येयत्वात्। (च० सू० अ० २०) हेतुभेदेन त्रिविधा व्याधयो भवन्ति, आग्नेया, सौम्या, वायव्याश्च, द्विविधाश्चापरे राजसा, तामसाश्च। (च० नि० अ० १) शार्ङ्गधरमते चत्वारो रोगाः—स्वाभाविकागन्तुकृकायिकान्तरा रोगा भवेयु किल कर्मदोषजा।

तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याऽभ्यसूयादैन्यमात्सर्य्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः॥ ३३॥

इनमें आगन्तुक रोग शस्त्र, लाठी, पाषाण आदि के आघात से उत्पन्न होते हैं। शारीरिक रोग हीन, मिथ्या और अति मात्रा में प्रयुक्त अन्नपान के कारण कुपित हुए या विषम हुए वात, पित्त, कफ, रक्त या इनके सन्निपात (समूह) से उत्पन्न होते हैं। मानस रोग क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदों से उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रोग भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु और निद्रा आदि हैं॥३३॥

विमर्शः—यद्यपि सुश्रुत ने कई जगह वातादि तीन ही दोष मानते हैं 'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतव" (सू. अ २१) "सर्वेषाञ्च व्याधीना वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्" (सू. अ० २४) तथापि शल्यतन्त्र दृष्टि से व्रणोत्पत्ति और व्रणसन्धान में रक्त की प्रधानता होने से उसे दोषरूप में माना है किन्तु वह सर्वमति से दूष्य ही है। वस्तुतस्तु स्वतन्त्रदूषणात्मकत्वाभावात्प्रकृत्यारम्भकत्वाभावाच्च दूष्यतैव शोणितस्य न दोषता" इति गणनाथसेना।

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः॥ ३४॥

ये चारों प्रकार के रोग मन, और शरीर को आश्रित कर उत्पन्न होते हैं॥ ३४॥

तेषां सशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः॥ ३५॥

इन रोगों का निग्रह या प्रतीकार देश, काल, वय, मात्रा आदि रूपसे सम्यक्प्रयुक्त संशोधन, सशमन, आहार और विहार से होता है॥ ३५॥

विमर्शः—सशोधनलक्षणम्—यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधाशोधनञ्च तत्। नीरुहो वमन कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुति॥ (अ० स० सू० अ० २४) सशमन लक्षणम्—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् तत्सशमनमुच्यते॥ आहारभेदा.—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायभेदेन षड्विध। भक्ष्य भोज्य तथा पेय चर्व्य चोष्य लेह्यञ्च षड्विध.। शीतोष्णवीर्यभेदेन द्विधः,

"पञ्चभूतात्मके देहे आहार पाञ्चभौतिक" इति पञ्चविधः ॥

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसाञ्च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः—स्थावरा जङ्गमाश्च॥ ३६॥

प्राणियों की जीवन रक्षा का मूल कारण आहार ही है तथा शरीर के बल, वर्ण और ओज (Vitality) की रक्षा या वृद्धि में भी आहार ही कारण है। यह आहार षड्रसात्मक या षड् रसाश्रयी होता है। रस द्रव्यों के आश्रित होते हैं। ओषधियों को द्रव्य कहा जाता है। स्थावर और जङ्गम ये दो ओषधियों के भेद हैं॥ ३६॥

विमर्शः—"आहार प्राणिना प्राणा" वर्ण प्रसाद सौस्वर्य जीवित प्रतिभा सुखम्। तुष्टि पुष्टिर्बल मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥ (च० सू० अ० २७) "एकरसाहार. कर्शनीयाना, सर्वरसाभ्यवहारो बल्कराणाम्"। ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुष, अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते, अन्नभूताना ज्येष्ठ तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। (तैत्तिरीयोपनिषद्) परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भव'। (च०सू०अ० २८) चरके द्रव्यलक्षणम्—यत्राश्रिता कर्मगुण कारण समवायि यत्। तद्द्रव्यम्। खादीन्यात्मामन कालो दिशश्च द्रव्यसग्रहः। तेन्द्रिय चेतन द्रव्य निरिन्द्रियमचेतनम्॥ किञ्चिद्दोषप्रशमन किञ्चिद्धातुप्रदूषणम्। स्वस्थवृत्तौ मत किञ्चित्त्रिविध द्रव्यमुच्यते॥ तत्पुनस्त्रिविध प्रोक्त जङ्गमौद्भिदपार्थिवम्। (च० सू० अ० १)

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, ओषधय इति। तासु, अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः। पुष्पफलवन्तो वृक्षाः। प्रतानवत्य. स्तम्बिन्यश्च वीरुधः। फलपाकनिष्ठा ओषधय इति॥ ३७॥

इन में स्थावर औषधियों के चार भेद किये गये हैं। वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि। इनमें से जिनके पुष्प न हो किन्तु फल आते हों उन्हें वनस्पति, जिनके पुष्प और फल दोनों आते हों उन्हें वृक्ष, जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हों उन्हें वीरुध तथा जो फलों के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हों उन्हें ओषधि कहते है॥३७॥

विमर्शः-अपुष्पा अविद्यमानपुष्पा इतिडल्हण, येषा पुष्पमन्तरेणैव फलजन्मेतिहाराणचन्द्र। वट, औदुम्बर, पीपल इसके उदाहरण हैं। वैज्ञानिक मत से इनमें भी असंख्य पुष्प होते हैं अतः अपुष्प का अर्थ अदृश्यपुष्प यह वाणेकर जी का प्रशस्त है। वीरुध का उदाहरण त्रपुष (खीरा) अलाबु (लौकी) है। वीरुध में तृणजाति (शरेक्षुप्रभृति) तथा गुल्म और वल्ली (गुडच्यादिक) का भी समावेश मानना चाहिये। ओषधि में शालिगोधूमयवतिलमुद्ग आदि हैं।

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः॥ ३८॥

जङ्गम के भी जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार भेद होते हैं॥ ३८॥

विमर्शः—जङ्गम्यन्ते गच्छन्ति ये ते जङ्गमा। गर्भावरणं जरायु (Placenta with the membranes), उद्भिद्य पृथिवीं जायन्ते इति उद्भिज्जा (Vegetable kingdom)

तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजा। खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः। कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः। इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः॥ ३९॥

इनमें पशु, मनुष्य, व्याल (व्याघ्र सिंहादि हिंस्रक पशु) आदि जरायुज हैं। पक्षी, सर्प, (अजगर), सरीसृप (सांप, मत्स्य, मकर, छिपकली), आदि अण्डज होते हैं। यूका, लिक्षा आदि कृमि, कीट, चींटी, मकोडे आदि स्वेदज हैं एवं इन्द्रगोप (वीरबहूटी) मेढक आदि उद्भिज्ज है॥ ३९॥

विमर्शः—मनुस्मृति में जङ्गम सृष्टि के तीन भाग ही किये हैं तथा यहां के उद्भिज्ज जीवों का समावेश वहां अण्डज में ही कर दिया है। अन्य ग्रन्थों के उद्भिज्जगण के लिये यहां स्थावर का प्रयोग किया है। अण्डजा पक्षिण सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपा। यानि चैवप्रकारणि स्थलजान्यौदकानि च॥ उद्भिज्जा स्थावरा सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिण। चरके—औद्भिदन्तु चतुर्विधम्। वनस्पतिस्तथा वीरद्वानस्पत्यस्तथौषधि। भेलसहितायाञ्च—उद्भिज्जास्तु तृणलतावृक्षवनस्पतय।

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः॥ ४०॥

इनमें स्थावर ओषधियों की छाल, पत्ते, पुष्प, फल, जड, कन्द, निर्यास (गोंद) और स्वरस कार्य में आते है एवं जङ्गम ओषधियों में से चर्म, नख, रोम (बाल) और रक्त आदि का प्रयोग होता है॥ ४०॥

विमर्श.—आजकल डाक्टरी में यकृत्, प्लीहा, मज्जा, अग्न्याशय, थायराइड, पेराथायराइड, यूटेरस, ओवरी, टेस्टिकिल्स, सुप्रारीनल, पेन्क्रियाज आदि के अन्त. स्रावों का प्रयोग बहुत सफलता से हो रहा है किन्तु भारतीयों ने इस दिशा में अपने महर्षियों के निम्न वाक्यों पर कुछ भी शोध न की। यकृद्वा भक्षयेदाजमाम पित्तसमायुतम्। (उ०अ० ४५) मधूनि गोरसा पित्त वसा मज्जास्रगामिषम्। विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गनखा खुरा॥ जङ्गमेभ्य प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचना॥ (च० सू० अ० १)

पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः॥ ४१॥

पार्थिव द्रव्योंमें सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मैनसील, मिट्टी तथा कपाल (ठिकरी) का उपयोग होता है॥ ४१॥

विमर्शः—पार्थिव द्रव्यों में शिलाजीत, सिकता, सुधा, हरताल, लवण, गैरिक और रसाञ्जन आदि भी महत्त्व के होने से गणनीय हैं। मोती समुद्री जन्तुकृत सीप में से निकलते हैं अतः जन्तु है।

कालकृतास्तु प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्स्नातम शीतोष्णवर्षाऽहोरात्रपक्षमासर्त्वयनादयः संवत्सरविशेषाः॥

चिकित्सा हित की दृष्टि से कुछ काल कृत विशेषताए है जैसे वायु का अतिसञ्चार, वायु रहित प्रदेश, धूप, छाया, चांदनी रात, अंधेरा, शीत, उष्ण, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन और संवत्सर आदि॥ ४२॥

विमर्शः—स्वास्थ्यरक्षण, ओषधि सञ्चय, ओषधि निर्माण शस्त्रकर्म आदि में कालकृत विशेषता उपयोगी होती है। चरक ने भी कहा है—"कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति" (च० वि० अ० ८) चिकित्सा में भी काल विभाग लाभकारी है। यथा-प्रवात वर्जयेत्, निवातागारमाश्रयेत्, वायवश्चन्द्रपादाश्च शीतदाहज्वरापहा', न चालेप रात्रौ प्रयुञ्जीत, पक्वाज्जातरस पिबेत्,

हरेद्वसन्ते श्लेष्माण पित्त शरदि निर्हरेत्। वर्षासु शमयेद्वायु प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ॥

त एते स्वभावत एव दोषाणां सञ्चयप्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥ ४३ ॥

ये सब काल की विशेषताएं स्वभाव से ही दोषों के सञ्चय प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार में कारण हैं और चिकित्सा में उपयोगी हैं ॥ ४३ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः।
प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकै ॥४४॥

शारीरिक व्याधियों के प्रकोप और प्रशमन में यही स्थावरादि चार प्रकार का पूर्वोक्त वर्ग चिकित्सकों द्वारा कारण माना गया है ॥ ४४ ॥

विमर्श—स्थावर, जङ्गम, पार्थिव और कालकृत चतुर्विध वर्ग है।

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषान्तु द्विविधा क्रिया ॥४५॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः ॥४६॥

जो रोग आगन्तुक हैं उनके दो अधिष्ठान हैं। कुछ मन में और कुछ शरीर में उत्पन्न होते हैं। उनकी चिकित्सा भी दो प्रकार से होती है। शरीर में उत्पन्न रोगों की चिकित्सा शारीरिक रोगों के अनुसार होती है तथा मन में उत्पन्न रोगों की चिकित्सा सुखदायक शब्दादि वर्ग से करनी ठीक है ॥ ४५-४६ ॥

विमर्श—चरक में शारीर और मानस रोग चिकित्सा—प्रशान्त्यौषधै पूर्वा दैवयुक्तिव्यपाश्रयै। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभि ॥ मानस प्रति भैषज्य त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्। तद्विधसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वश ॥ धीधैर्यात्मादिविज्ञान मनोदोषौषधं परम् ॥

एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम्। तत्र पुरुषग्रहणात् तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तस्तदङ्गप्रत्यङ्गविकल्पाश्च त्वङ्मांसास्थिसिरास्नायुप्रभृतयः। व्याधिग्रहणाद् वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः सर्व एव व्याधयो व्याख्याताः। औषधग्रहणाद् द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकानामादेशः। क्रियाग्रहणाच्छेद्यादीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि। कालग्रहणात् सर्वक्रियाकालानामादेशः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुरुष, व्याधि, औषध और क्रियाकाल इन चारों की संक्षेप में व्याख्या कर दी है। इन में पुरुष शब्द से पुरुष की उत्पत्ति करने वाले पञ्चमहाभूतात्मक शुक्रशोणितादि तथा उस पुरुष के अङ्ग प्रत्यङ्ग के भेद एव त्वचा, मांस, अस्थि सिरा, स्नायु आदि का ग्रहण होता है। व्याधि शब्द से वात, पित्त, कफ, रक्त और इनके सन्निपात (समुदाय) के विषम होने से उत्पन्न सर्वरोगों का ग्रहण करना चाहिये। इसी तरह औषध शब्द से द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक और प्रभाव का ग्रहण होता है। क्रिया शब्द से छेद्य भेद्यादि अष्ट विध शस्त्रकर्म तथा स्नेहन, स्वेदन व पञ्चकर्मों का ग्रहण होता है। कालशब्द से चिकित्सादि सर्व कार्यों के लिये जो उपयोगी समय है उस का ग्रहण होता है ॥ ४७ ॥

विमर्शः—क्रियाणा स्नेहवमनादीना तथा छेद्यादीनाञ्च प्रवृत्तिनिवृत्ति उपदर्शनकाल क्रियाकाल इति भानुमत्यान्।

भवति चात्र।

बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥४८॥

यहां पर समग्र चिकित्सा शास्त्र का बीज सक्षेप से कह दिया है तथा एक सौ बीस अध्यायों में इसकी व्याख्या की जावेगी ॥ ४८ ॥

तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्वर्थवशात् संविभज्य, उत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः ॥ ४९ ॥

इन एक सौ बीस अध्यायों को सूत्र निदान, शारीर, चिकित्सा और कल्प इन पांच स्थानों में विषयानुसार विभक्तकर शेष विषय की उत्तरतन्त्र में व्याख्या करेंगे ॥ ४९ ॥

भवति चात्र।

स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनं पठेद्धि यः काशिपतिप्रकाशितम्। स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपैरसुत्त्यजे शक्रसलोकतां व्रजेत् ॥ ५० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वेदोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ब्रह्मदेव से कहे हुए और काशिपति (धन्वन्तरी) से प्रकाशित इस सनातन (नित्य) आयुर्वेद शास्त्र को जो पढ़ेगा वह पुण्यकर्मा मनुष्य पृथिवी में राजाओं द्वारा पूजित होकर मरने पर इन्द्रलोक को प्राप्त करेगा ॥ ५० ॥

इति तत्वसन्दीपनीभाषायां प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब यहां से शिष्योपनयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत के लिये कहा था) ॥ १-२ ॥

विमर्शः—यहां उपनयन शब्द का अर्थ अध्ययन के लिये शिष्य का गुरु के समीप आना है। "अध्ययनार्थमाचार्यसमीप नीयतेऽनेनेत्युपनयनम्" वा शिष्यस्य उपनयनं दीक्षा तदधिकृत्य कृतोऽध्याय शिष्योपनयनीय। गुरोर्वेनाना वेदस्य

यमस्य नियमस्य च । देवतानां सभां वा येनासौ नीयते द्विज. ॥ तदुपनयनं प्रोक्तम् ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहञ्च भिषक् शिष्यमुपनयेत् । अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥ ३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन में से किसी एक को जो उत्तम कुल, योग्य आयु, सुशील, शौर्य, पवित्रता, आचार, नम्रता, उत्साह, बल, मेधा धृति, स्मृति, मति और प्रतिपत्ति (प्रौढता आदि गुणों से युक्त हो एवं जिस के जिह्वा, ओष्ठ और दांतों के अग्रभाग पतले हों तथा मुख, आंख और नासिका ये सीधे हों और जिसका मन, वाणी और चेष्टाएं प्रसन्न (उत्तम) हों, जो क्लेश सहन करने की शक्ति रखता हो, ऐसे शिष्य को वैद्य (अध्यापक) इस शास्त्र को पढावे । इनसे विपरीत गुण वाले शिष्य को कभी भी न पढावे ॥ ३ ॥

विमर्श—शौर्यगुण शस्त्रकर्म में उपयोगी है । शौर्यमाशुक्रियावैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते । मेधा—धारणावती बुद्धिः । धृतिर्हि-नियमात्मिका । स्मृति -दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात्स्मृतिरुच्यते । (चरक), "अनुभूतविषयासंप्रमोष स्मृति । (योगसूत्रम्), प्रतिपत्ति —'अर्थावबोधप्रागल्भ्यमनुष्ठानं वा' ।

उपनयनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु प्रशान्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्रं स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन, दर्भैः संस्तीर्य्य, पुष्पैर्लाजभक्तैः रत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरवृक्षाणां (न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुघृताक्ताभिर्दार्वीहौमिकेन विधिना स्रुवेणाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात् सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः । ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥ ४ ॥

उपनयन करने वाला ब्राह्मण शुभ तिथि, करण, मुहूर्त्त नक्षत्रों में शुभ दिशा तथा पवित्र और समतल स्थान में चार हाथ लम्बा और चौडा चौकोर स्थण्डिल बनाकर उसे गोबर से लीप कर उस पर दर्भ बिछाकर पुष्प, धान की लाजा और विविध रत्नों से देवता, ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन कर के पश्चात् स्थण्डिल पर ऊर्ध्वमुखी लकीरें खींच कर जल से प्रोक्षित कर दक्षिण दिशा में ब्रह्मा की स्थापना कर और पास में अग्नि प्रज्वलित करे । खदिर, पलाश (ढाक), देवदार और बिल्व की अथवा वट, गूलर, पीपल और महुआ इन चारों क्षीरी वृक्षों की दही, शहद और घृत से लिप्त समिधाओं से दार्वी-होम विधि की प्रथा से लकड़ी की दर्वी से ॐकारपूर्वक महाव्याहृतियों का उच्चारण करते हुए घृत की आहुति देवे । इसके अनन्तर प्रत्येक देवता तथा ऋषियों का नामोच्चारण करते हुये स्वाहाकार अर्थात् आहुति देवे और शिष्य से भी आहुतियां दिलावे ॥ ४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्योद्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति । शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके ॥ ५ ॥

ब्राह्मण तीनों वर्णों के लडकों को उपनयन कर (शिष्य बना) सकता है, क्षत्रिय दो वर्ण तथा वैश्य केवल वैश्य का उपनयन कर सकता है । शूद्र भी उत्तम कुल और अच्छे गुणों वाला हो तो उसे वैदिकमन्त्रवर्जनपूर्वक तथा उपनयन-संस्कार के बिना ही आयुर्वेद का अध्यापन करा सकते हैं ऐसा कई आचार्यों का मत है ॥ ५ ॥

ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्य्याभिवादनतत्परेणाऽवश्यं भवितव्यम् । मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा, मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम् । अतोऽन्यथा ते वर्त्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

(आहुति देने के) पश्चात् हुताग्नि की तीन वार प्रदक्षिणा कर के अग्निसाक्षिपूर्वक शिष्य से कहे कि तुम्हें काम, क्रोध लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोरता, पिशुनता (चुगलखोरी), असत्य, आलस्य तथा बदनाम करने वाले कार्य को छोड़ कर, नख और (शिर के) बाल कटा कर, पवित्र हो के कषाय वस्त्र पहन कर, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य और अभिवादन (गुरु को प्रणाम करने की प्राचीन पद्धति) करने में अवश्य तत्पर रहना चाहिये । मेरे कहे हुए या मेरी अनुमति लेकर कहीं जाना, सोना, बैठना, भोजन करना और अध्ययन करने में तत्पर रहते हुये मेरे लिये प्रिय और हितकारक कार्य करते रहना चाहिये । यदि तुम इसके विपरीत वर्ताव करोगे तो अधर्म होगा तथा (तुम्हारी पढी हुई) विद्या निष्फल होकर कहीं भी प्रसिद्ध न होगी ॥ ६ ॥

विमर्शः—यहां गुरु के प्रति शिष्य के कर्तव्य को कहा है । आयुर्वेद में पक्ष में तीन वार अर्थात् पांच २ दिन में नख, डाढ़ी, केश और लोम काटने का उपदेश है । त्रि पक्षस्य नखश्मश्रुकचरोमाणि वर्धयेत् ।

अहं वा त्वयि सम्यग्वर्त्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्याम्, एनोभाग्भवेयम्, अफलविद्यश्च ॥ ७ ॥

(अब गुरु भी अग्निसाक्षी कर प्रतिज्ञा करता है कि) यदि मैं तेरे ठीक नियमपूर्वक रहने पर यथाक्रम से विद्योपदेश न करूं तो मैं पाप का भागी होऊंगा तथा मेरी विद्या निष्फल हो जायगी ॥ ७ ॥

विमर्शः—यहां शिष्य के प्रति गुरु के कर्तव्य को बतलाया गया है । पूर्वकाल में गुरु-शिष्य स्वकर्तव्यपालन में कितने दृढ रहते थे यह आज के छात्र और अध्यापकों को सीखना चाहिये । सवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं निदेशयेत् । हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरोः ॥ (इति कूर्मपुराणे)

द्विजगुरुदरिद्रमित्रप्रव्रजितोपनतसाध्वनाथाभ्युपगतानां चात्मबान्धवानामिव स्वभेषजैः प्रतिकर्त्तव्यमेवं साधु भवति। व्याधशाकुनिकपतितपापकारिणां च न प्रतिकर्त्तव्यम्। एवं विद्या प्रकाशते मित्रयशोधर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति ॥ ८ ॥

ब्राह्मण, गुरु, दरिद्री (गरीब), मित्र, संन्यासी, पास में नम्रतापूर्वक आये हुये, साधु, अनाथ और अभ्यागत इन की चिकित्सा अपने बान्धवों की तरह अपनी ओषधियों से करनी चाहिये। किन्तु व्याध (जाल से पशु-पक्षियों को फसाने वाला), चिड़ीमार, पतित (स्वकीय आचार भ्रष्ट या महापातकी) और पापियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इस नियम का पालन करने से विद्या प्रकाशित होती है तथा मित्र, यश, धर्म, अर्थ और कामादि अभीष्ट प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

चरक में इस विषय का वर्णन विमानस्थान के अध्याय ३, में हैं।

भवतश्चात्र—

कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे
शुक्ले तथाऽप्येवमहर्द्विसन्ध्यम्।
अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे
स्वतन्त्रराट्क्षितिपव्यथासु ॥ ९ ॥
श्मशानयानायतनाहवेषु
महोत्सवौत्पातिकदर्शनेषु।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा
नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥ १० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शिष्योपनयनीयो-
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कृष्णपक्ष की अष्टमी और कृष्णपक्ष की समाप्ति के दो दिन (अर्थात् चतुर्दशी तथा अमावस), इसी प्रकार शुक्लपक्ष की (अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा), सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय, अकाल (वर्षा ऋतु के विना) में बिजली चमकना तथा मेघगर्जन होना, अपने (शरीर) तथा (अपने) सम्बन्धी तथा राष्ट्र और राजा के आपत्काल में, श्मशान में, सवारी (यात्रा काल) में, वधस्थान में तथा युद्ध के समय, महोत्सव तथा उत्पात (भूकम्पादि) के दिन तथा जिन दिनों में ब्राह्मण अनध्याय रखते हों उन दिनों में एवं अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥ ९-१० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातोऽध्ययनसम्प्रदानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से अध्ययनसम्प्रदानीय अध्याय का वर्णन करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत के लिये) उपदेश दिया था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—सम्यक् प्रविभज्य दान सम्प्रदानम्, अध्ययन शास्त्र तस्य सम्प्रदानमित्यध्ययनसम्प्रदान तमधिकृत्य कृतमध्यायमिति।

आगमिहितं सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु। तत्र सूत्रस्थानमध्यायाः षट्चत्वारिंशत्, षोडश निदानानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि, अष्टौ कल्पाः, तदुत्तरं षट्पष्टिः ॥ ३ ॥

पूर्व अध्यायों में कहा है कि इस संहिता के एक सौ बीस अध्याय हैं वे पांच स्थानों में विभक्त हैं। उन में सूत्रस्थान के ४६ अध्याय, निदानस्थान के १६ अध्याय, शारीरस्थान के १० अध्याय, चिकित्सास्थान के ४० अध्याय, कल्पस्थान के ८ अध्याय तथा इनके पश्चात् उत्तरस्थान के ६६ अध्याय हैं ॥३॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यनयस्तथाऽध्ययनदानिकः।
प्रभापणाग्रहरणावृतुचर्याऽथ यान्त्रिकः ॥ ४ ॥
शस्त्रावचारणं योग्या विशिखा क्षारकल्पनम्।
अग्निकर्मजलौकाख्याव्यायौ रक्तवर्णनम् ॥ ५ ॥
दोषधातुमलाद्यानां विज्ञानाध्याय एव च।
कर्णव्यधामपक्वैपावालेपो व्रण्युपासनम् ॥ ६ ॥
हिताहितो व्रणप्रश्नो व्रणस्रावश्च यः पृथक्।
कृत्याकृत्यविधिर्व्याधिसमुद्देशीय एव च ॥ ७ ॥
विनिश्चयः शस्त्रविधौ प्रनष्टशल्यानिकस्तथा।
शल्योद्धृतिर्व्रणज्ञानं दूतस्वप्ननिदर्शनम् ॥ ८ ॥
पञ्चेन्द्रिय तथा छाया स्वभावाद्वैकृत तथा।
वारणो,युक्तसेनीय आतुरक्रमभूमिकौ ॥ ९ ॥
मिश्रकाख्यो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः।
द्रव्यादीनाञ्च विज्ञानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥ १० ॥
रसज्ञानं वमनार्थमध्यायो रेचनाय च।
द्रवद्रव्यविधिस्तद्वदन्नपानविधिस्तथा ॥ ११ ॥
सूचनात् सूत्रणाच्चैव सवनाच्चार्थसन्ततेः।
षट्चत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥ १२ ॥

वेदोत्पत्ति, शिष्योपनयनीय, अध्ययनसम्प्रदानीय, प्रभापणीय, अग्रोपहरणीय, ऋतुचर्या, यन्त्रविधि, शस्त्रावचारणीय, योग्यासूत्रीय, विशिखानुप्रवेशनीय, क्षारपाकविधि, अग्निकर्मविधि, जलौकावचारणीय, शोणितवर्णनीय, दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय, कर्णव्यधबन्धविधि, आमपक्वैषणीय, व्रणालेपनबन्धविधि, व्रणितोपासनीय, हिताहितीय, व्रणप्रश्न, व्रणस्रावविज्ञानीय, कृत्याकृत्यविधि, व्याधिसमुद्देशीय, अष्टविधशस्त्रकर्मीय, प्रनष्टशल्यविज्ञानीय, शल्यापनयनीय, विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय, विपरीताविपरीतदूतशकुनस्वप्ननिदर्शनीय, पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति, छायाविप्रतिपत्ति, स्वभावविप्रतिपत्ति, अवारणीय युक्तसेनीय, आतुरोपक्रमणीय, भूमिप्रविभागविज्ञानीय, मिश्रक, द्रव्यसंग्रहणीय, संशोधनशमनीय, द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीय, द्रव्यविशेषविज्ञानीय, रसविशेषविज्ञानीय, वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय, विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय, द्रवद्रव्यविधि और अन्नपानविधि ये सूत्रस्थान के ४६ अध्यायों के नाम हैं। आयुर्वेद के सूचन करने

से, अर्थों को योग्यस्थान पर रखने से तथा अर्थ समुदाय की कल्पना करने से इन २६ अध्यायों का नाम सूत्रस्थान है॥८-१३॥

विमर्श—अर्थसन्तेः सूचनात्—अर्थात् कोई विषय एकदेशरूप से कहे जाने पर भी उससे अनुक्तार्थ का बोध करा देना जैसे स्थावर द्रव्यों में त्वक् पत्रपुष्पादि से अनुक्त कण्टकभस्म का भी ग्रहण हो सकता है।

अर्थसन्तेः सूचनात्—इससे "अध्यायसन्निर्दिष्टं सारवद्विज्ञेयं सुश्रुत। अस्मिन्नध्याये सूत्रं सूत्रविदो विदुः"॥ इस श्लोकोक्त आशय का ग्रहण होता है। जैसे—सूत्रसंग्रहो व्याख्यः, इतना मात्र कथन करने से सर्वव्याधियों का सूत्रण हो जाता है।

सन्तानार्थसन्तेः—हाराणचन्द्रकी सुश्रुत में सन्धानाच्चार्थसन्तेः' ऐसा पाठ मानकर सन्धान शब्द का अनुसन्धान या अन्वेषण अर्थ किया है और उदाहरण के लिये औषध के ग्रहण से द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव का बोध किया है। औषध शब्द को द्रव्यपरक माना और द्रव्य रसगुणादि के बिना नहीं होता ऐसा अनुसन्धान किया है।

वातव्याधिकमर्शांसि साश्मरिञ्च भगन्दरः।
कुष्ठमेहोदरं मूढो विद्रधिः परिसर्पणम्॥ १३॥
ग्रन्थिवृद्धिक्षुद्रशूकमश्मा च मुखरोगिकम्।
हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति षोडश॥ १४॥

वातव्याधि, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, कुष्ठ, प्रमेह, उदर, मूढगर्भ, विद्रधि, परिसर्प (विसर्प नाडीस्तन रोग), ग्रन्थि (ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्ड), वृद्धि (वृद्ध्युपदंशरलीपद), क्षुद्ररोग, शूकदोष, अश्म और मुखरोग ये सोलह निदान निदानस्थान के अध्याय हैं। रोगोत्पत्ति का हेतु (कारण) तथा रोगों के लक्षण का निर्देश (ज्ञापन) करने से इन सोलह अध्यायों को 'निदानस्थान' के नाम से कहे हैं॥ १३-१४॥

विमर्श—हेतुशब्द से रोगजनक कारणों का बोध होता है जैसा कि अमरकोष में कहा है "हेतुर्न कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्' रोगजनक कारणों में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम मुख्य हैं। लक्षण शब्द से जिन तरीकों से व्याधि का ज्ञान हो (लक्ष्यते ज्ञाप्यते व्याधिरनेनेति लक्षणम्) जैसे निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पांचों से रोग भलीभांति जाना जाता है। निदान शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्, निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्। रोगनिश्चयकरं निदानम्। निर्दीयते निरूप्यते हेत्वादिपञ्चकमनेनेति निदानम्। वस्तुनस्तु निदान शब्द के मुख्य दो अर्थ हैं। १—रोगोत्पत्ति में हेतु को निदान कहते हैं। 'रोगोत्पादको हेतुर्निदानम्' हेतुर्न कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्। २—जिन उपायों से रोगों का स्वरूपज्ञान या निश्चित (Diagnosis) हो उसे भी निदान कहते हैं।

भूतचिन्ता रजःशुद्धिर्गर्भावक्रान्तिरेव च।
व्याकरणं च गर्भस्य शरीरस्य च यद्भूतम्॥ १५॥
प्रत्येकं मर्मनिर्देशः सिरावर्णनमेव च।
सिराव्यधो धमनीनां गर्भिण्या व्याकृतिस्तथा॥ १६॥
निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा।
विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि॥ १७॥

सर्वभूतचिन्ता, शुक्रशोणितशुद्धि, गर्भावक्रान्ति, गर्भव्याकरण, शरीरसंख्याव्याकरण, प्रत्येकमर्मनिर्देश, सिरावर्णनविभक्ति, सिराव्यधविधि, धमनीव्याकरण और गर्भिणीव्याकरण ये दश शारीराध्याय आदरणीय धन्वन्तरि भगवान् ने वैद्य तथा योगियों को शरीरज्ञान सम्यक् हो जाय तदर्थ कहे हैं॥१५-१७॥

विमर्श—शारीर—शीर्यते यत्तच्छरीरं तत्र भवं ज्ञानं शारीरज्ञानम्। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'। (गीता)

व्याकरण—विवरण या विस्तार।

भिषजां शरीरस्य विज्ञानार्थं—इस वैज्ञानिक युग में आद्य शारीर के साथ साथ पाश्चात्त्य अंगप्रत्यंग विज्ञान (Anatomy) का अध्ययनात्मक और क्रियात्मक (प्रत्यक्ष) ज्ञान अर्थार्थी और राज्यप्रजासम्मानार्थी चिकित्सक के लिये परमावश्यक है। इसके बिना आयुर्वेद की तथा वैद्यों की उन्नति हो ही नहीं सकती। सुश्रुत में कहा है—'शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः। दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवतीर्याचरेत्क्रियाः'॥ चरकेऽपि—'शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कात्स्न्र्येन वेद लोकसुखप्रदम्'॥

द्विव्रणीयो व्रणः सद्यो भग्नानां वातरोगिकम्।
महावातिकमर्शांसि साश्मरिञ्च भगन्दरः॥ १८॥
कुष्ठानां महतां चापि मैहिकं पैडकं तथा।
मधुमेहचिकित्सा च तथा चोदरिणामपि॥ १९॥
मूढगर्भचिकित्सा च विद्रधीनां विसर्पिणाम्।
ग्रन्थिवृद्ध्युपदंशानां तथा च क्षुद्ररोगिकम्॥ २०॥
शूकदोषचिकित्सा च तथा च मुखरोगिणाम्।
शोफस्यानागतानाञ्च निषेधो मिश्रकं तथा॥ २१॥
वाजीकरं च यत् क्षीणे सर्वाबाधशमोऽपि च।
मेधाऽऽयुष्करणञ्चापि स्वभावव्याधिवारणम्॥ २२॥
निवृत्तसन्तापकरं कीर्त्तितञ्च रसायनम्।
स्नेहोपयौगिकः स्वेदो वमने च विरेचने॥ २३॥
तयोर्व्यापच्चिकित्सा च नेत्रबस्तिविभागिकः॥
नेत्रबस्तिविपत्सिद्धिस्तथा चोत्तरबस्तिकः॥ २४॥
निरूहक्रमसंज्ञश्च तथैवातुरसंज्ञकः।
धूमनस्य विधिश्चान्त्यश्चत्वारिंशदिति स्मृताः॥ २५॥
प्रायश्चित्तं प्रशमनं चिकित्सा शान्तिकर्म च।
पर्यायास्तस्य निर्देशाच्चिकित्सास्थानमुच्यते॥ २६॥

द्विव्रणीय, सद्योव्रण, भग्न, वातव्याधि, महावातव्याधि, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, कुष्ठ, महाकुष्ठ, प्रमेह, प्रमेहपिडका, मधुमेह, उदर, मूढगर्भ, विद्रधि, विसर्प (विसर्पनाडीस्तनरोग), ग्रन्थि (ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्ड), वृद्धि (वृद्धि, उपदंश, रलीपद), क्षुद्ररोग, शूकरोग, मुखरोग, शोफ, अनागताबाधप्रतिषेधनीय, मिश्रक, क्षीणबलीयवाजीकरण, सर्वाबाधशमनीय रसायन, मेधायुष्कामीय रसायन, स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन, निवृत्तसन्तापीय रसायन, स्नेहोपयौगिक, स्वेदावचारणीय, वमनविरेचनसाध्योपद्रव, वमन-

विरेचनव्यापत्, नेत्रवस्तिप्रमाणप्रविभाग, नेत्रवस्तिव्यापत्, अनुवासनवस्ति, निरूहक्रम, आतुरोपद्रव और धूम नस्य कवलग्रह इस तरह ये ४० चिकित्सा अध्याय इस चिकित्सा स्थान में हैं। प्रायश्चित्त, प्रशमन, चिकित्सा और शान्तिकर्म ये सब शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं। इनका व्याख्यान इन अध्यायों में करने से इसको 'चिकित्सास्थान' कहते हैं॥ १८-२६॥

विमर्शः—प्रत्यश्चित्तं—'प्रायो नाम तप प्रोक्त चित्त निश्चय-उच्यते। तपोनिश्चयसयोगात्प्रायश्चित्तमितीर्यते'॥ चक्रपाणिदत्तेन च-'प्रायश्चित्तमिति भेषजसंज्ञा, प्रायश्चित्ताद्भेषजस्याऽधर्मकार्यव्याधिहरत्वेन। तथा च चरकेऽपि-'चिकित्सित व्याधिहर पथ्य साधनमौषधम्। प्रायश्चित्त प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्॥' विद्याद्भेषजनामानि।

का नाम चिकित्सा—'याभि क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातव समा। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजा स्मृतम्॥ चतुर्णा मिषगादीना शस्ताना धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्यातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते'॥ 'सक्षेपत क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। या ह्युदीर्ण शमयति नान्य व्याधि करोति च। सा क्रिया न तु या व्याधि हरत्यन्यमुदीरयेत्'॥

अन्नस्य रक्षा विज्ञानं स्थावरस्येतरस्य च।
सर्पदष्टविषज्ञानं तस्यैव च चिकित्सितम्॥ २७॥
दुन्दुभेर्मूषिकाणाञ्च कीटानां कल्प एव च।
अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात्॥२८॥

अन्नपानरक्षाविज्ञान, स्थावरविषविज्ञान, जङ्गमविष विज्ञान, सर्पदष्टविषविज्ञान, सर्पदष्टविषचिकित्सित, दुन्दुभि स्वनीय, मूषिककल्प और कीटकल्प, इस तरह इन आठ अध्यायों में विषचिकित्सा की कल्पना होने के कारण इनको 'कल्पस्थान' कहते है॥ २७-२८॥

अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम्।
अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते॥ २९॥
अधिकृत्य कृतं यस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान्।
औपद्रविक इत्येष तस्माद्व्यक्त्वान्निरुच्यते॥ ३०॥

इस प्रकार पूर्व प्रतिज्ञानुसार एक सौ वीस अध्यायों का वर्णन किया गया तथा यहा से आगे अपने नाम से ही 'उत्तर तन्त्र' का वर्णन किया जाता है॥

व्रणों के ज्वरादि उपद्रवों का विचार करने के लिये यह तन्त्र बनाया गया है इस लिये इस तन्त्र के प्रारम्भिक अध्याय को 'औपद्रविक अध्याय' कहते हैं॥ २९-३०॥

सन्धौ वर्त्मनि शुक्ले च कृष्णे सर्वत्र दृष्टिषु।
संविज्ञानार्थमध्याया गदानां तु प्रति प्रति॥ ३१॥
चिकित्साप्रविभागीयो वाताभिष्यन्दवारणः।
पैत्तस्य श्लैष्मिकस्यापि रौधिरस्य तथैव च॥ ३२॥
लेख्यभेद्यनिषेधौ च छेद्यानां वर्त्मदृष्टिषु।
क्रियाकल्पोऽभिघातश्च कर्णोत्थास्तच्चिकित्सितम्॥३३॥
घ्राणोत्थानाञ्च विज्ञानं तद्वदप्रतिषेधनम्।
प्रतिश्यायनिषेधश्च शिरोगदविवेचनम्॥
चिकित्सा तद्वदानाञ्च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते॥ ३४॥

सन्धि, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, सर्वगत और दृष्टि इनके रोगों को जानने के लिये प्रत्येक के लिये पृथक् २ अध्याय कहे गये हैं। इस प्रकार ये ६ अध्याय तथा चिकित्सितप्रविभाग विज्ञानीय, वाताभिष्यन्दप्रतिषेध, पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेध, श्लेष्माभिष्यन्दप्रतिषेध, रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेध, लेख्यरोग प्रतिषेध, भेद्यरोगप्रतिषेध, छेद्यरोगप्रतिषेध, पक्ष्मकोपप्रतिषेध, दृष्टिगतरोगप्रतिषेध, क्रियाकल्प, नयनाभिघातप्रतिषेध, कर्णगतरोगविज्ञानीय, कर्णगतरोगप्रतिषेध, नासागतरोगविज्ञानीय, नासागतरोगप्रतिषेध, प्रतिश्यायप्रतिषेध, शिरोरोगविज्ञानीय, शिरोरोगप्रतिषेध इन २६ अध्याया को 'शालाक्यतन्त्र' कहते हैं। अर्थात् इनका 'शालाक्यतन्त्र' मे समावेश है॥३१-३४

नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम्॥ ३५॥
अपस्मारे कुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्।
पूतनायास्तथाऽन्धाया मण्डिका शीतपूतना॥ ३६॥
नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा।
कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्त्तितम्॥ ३७॥

नवग्रहाकृतिविज्ञानीय, स्कन्दग्रहप्रतिषेध, स्कन्दापस्मारप्रतिषेध, शकुनिप्रतिषेध, रेवतीप्रतिषेध, पूतनाप्रतिषेध, अन्धपूतनाप्रतिषेध, शीतपूतनाप्रतिषेध, मुखमण्डिकाप्रतिषेध, नैगमेषप्रतिषेध, ग्रहोत्पत्ति, योनिव्यापत्प्रतिषेध एव शारीरस्थान में वर्णित रज शुद्धि, गर्भावक्रान्ति आदि 'कौमारतन्त्र' है।

विमर्श.—आयुर्वेदिक 'कौमारभृत्य' में योनिव्यापच्चिकित्सा (Gynæcology), प्रसूतितन्त्र (Midwifery) और बालरोग चिकित्सा (Paediatrics) इनका समावेश होता है। डाक्टरी में ये तीनों विभाग स्वतत्र है। हारीतसहितोक्त-कुमारतन्त्रव्याख्या— गर्भोपक्रमविज्ञान सूतिकोपक्रम तथा। बालाना रोगशमन क्रिया बालचिकित्सितम्॥ 'श्रीगणनाथसेनजी' ने प्रसूतितन्त्र को 'शारीर' मे तथा मूढगर्भचिकित्सा को 'शल्यतन्त्र' मे समाविष्टकर प्रसूतितन्त्र को 'कौमारभृत्य' से भिन्न माना है।

ज्वरातिसारशोषाणां गुल्महृद्रोगिणामपि।
पाण्डूनां रक्तपित्तस्य मूर्च्छाया. पानजाश्च ये॥ ३८॥
तृष्णायाश्छर्दिहिक्काना निषेधः श्वासकासयोः।
स्वरभेदचिकित्सा च कृम्युदावर्त्तिनोः पृथक्॥ ३९॥
विसूचिकाऽरोचकयोर्मूत्राघातविकृच्छ्रयोः।
इति कायचिकित्साया शेषमत्र प्रकीर्त्तितम्॥ ४०॥

ज्वर, अतिसार, शोष, गुल्म, हृदयरोग, पाण्डुरोग, रक्तपित्त, मूर्च्छा, पानात्यय, तृष्णा, छर्दि, हिक्का, श्वास, कास, स्वरभेद, कृमिरोग, उदावर्त्त, विसूचिका, अरोचक, मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र इन शेष काय रोगोंकी चिकित्सा का इस 'उत्तरतन्त्र' के ३९ वें अध्याय से ५९ वें अध्याय तक वर्णन कर दिया है॥ ३८-४०॥

अमानुषनिषेधश्च तथाऽऽपस्मारिकोऽपरः।
उन्मादप्रतिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते॥ ४१॥

अमानुषोपसर्गप्रतिषेध, अपस्मारप्रतिषेध और उन्मादप्रतिषेध इनको 'भूतविद्या' कहते हैं ४१॥

रसभेदा स्वस्यवृत्तं युक्तयस्तान्त्रिकाश्च याः ।
दोषभेदा इति ज्ञेया अध्यायास्तन्त्रसंपगा' ॥ ४२ ॥

रसभेदविकल्प, स्वस्थवृत्त, तन्त्रयुक्ति और दोषभेदविकल्प ये चार अध्याय 'उत्तरतन्त्र' के मूलगभूत हैं ॥ ४२ ॥

श्रेष्ठत्वादुत्तरं ह्येतत्तन्त्रमाहुर्महर्षयः ।
बहुर्थसङ्ग्रहाच्छ्रेष्ठमुत्तरञ्चापि पश्चिमम् ॥ ४३ ॥

महर्षियों ने इस तन्त्र को श्रेष्ठ होने के कारण 'उत्तर (श्रेष्ठ) तन्त्र' कहा है क्योंकि इस तन्त्र में अनेक शालाक्यादिक तन्त्रों के अर्थों का सङ्ग्रह है। पश्चिम अर्थात् अन्तिम होने के कारण भी इसे 'उत्तरतन्त्र' कहते हैं ॥ ४३ ॥

शालाक्यतन्त्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या ।
भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे तूत्तरसंज्ञिते ॥ ४४ ॥
वाजीकरश्चिकित्सासु रसायनविधिस्तथा ।
विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शस्त्रज्ञानं समन्ततः ॥ ४५ ॥
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् ।
विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि ॥ ४६ ॥

शालाक्यतन्त्र, कौमारतन्त्र, कायचिकित्सा और भूतविद्या ये चार विषय 'उत्तरतन्त्र' में वर्णित हैं। वाजीकरण और रसायनविधि 'चिकित्सास्थान' में वर्णित है। 'कल्पस्थान' में विषतन्त्र का वर्णन है और शस्त्रशास्त्र का वर्णन सर्वत्र किया है। इस तरह आदिदेव (भगवान् धन्वन्तरि) द्वारा प्रकाशित इस अष्टाङ्गतन्त्र (सुश्रुत) को यथाविधि पढ़कर चिकित्सादि का प्रयोग करनेवाले मनुष्य (वैद्य) संसार में रोगियों के प्राणरक्षक होंगे ॥ ४४-४६ ॥

एतद्ग्रन्थमध्येयम्, अधीत्य च कर्मण्यवश्यमुपासितव्यम्, उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति ॥४७॥

इस तन्त्र को अवश्य ही पढ़ना चाहिये एवं पढ़कर प्रत्यक्षकर्म (रसरसायन-निर्माण, चीरा-फाड़ी तथा कायचिकित्सारूप कार्य) भी निश्चय करना चाहिये क्योंकि उभयज्ञ अर्थात् शास्त्र और कर्मानुभवी वैद्य ही राजाओं की चिकित्सा में सफल होने से सम्मानित होता है ॥ ४७ ॥

भवन्ति चात्र—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥ ४८ ॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो वाष्टर्थाच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वर्धं चार्हति राजतः ॥ ४९ ॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवैद्यवरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥ ५० ॥

जो वैद्य केवल शास्त्र को जानता है किन्तु प्रत्यक्षकर्म में निपुण नहीं है वह रोगी के चिकित्सार्थ आने पर कर्तव्याकर्तव्य चिकित्सारूप कार्य में व्यामोह को प्राप्त होता है जैसे डरपोक आदमी युद्ध में जाकर घबरा जाता है। इसी तरह जो वैद्य निरन्तर कर्मोपासनाजन्य प्रगल्भता से प्रत्यक्ष कर्म में तो निपुण हो किन्तु शास्त्रीयज्ञान में शून्य हो उसकी सज्जनों (विद्वान् वैद्यों) में पूजा नहीं होती है। और वह राजा से वध का दण्ड पाने के योग्य है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति (चिकित्सक) अर्थात् एक शास्त्र में निपुण किन्तु क्रिया में अनिपुण और दूसरा क्रिया में निपुण किन्तु शास्त्र में अनिपुण एक २ पक्ष को धारण करने वाले दो पक्षी की तरह आर्त वैद्य (ज्ञान) को जानने वाले समय पड़ने पर अपने अपने कार्य में असमर्थ और अयोग्य प्रमाणित होते हैं ॥४८-५०॥

औषध्योऽमृतकल्पास्तु शास्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यनैरुपहृतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥ ५१ ॥

अमृत के समान प्रभाव करने वाली ओषधियां (चिकित्सोपयोगी समस्त द्रव्य) मूर्ख वैद्यों के द्वारा दी जाने पर शस्त्र, वज्र (विद्युत्पात) और विष के समान नुकसान करती हैं इस लिये इन (उपर्युक्त शास्त्र ज्ञान रहित मूर्ख चिकित्सकों) का परित्याग करना चाहिये ॥ ५१ ॥

विमर्शः-कुछ टीकाकारों ने "एतान विवर्जयेत्" इसका अर्थ अज्ञद्वारा प्रयुक्त ओषधि किया है वह भी ठीक है जैसा कि चरक में लिखा है-यथाविषं यथाशस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा ।

तथौषधमविज्ञातं विज्ञानमृतं यथा ॥
योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम् ॥
(च० सू० अ० १) ॥

चरके मूर्खवैद्यनिन्दा—श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृता । वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्तोऽनुचरा भुवि ॥

स्नेहादिष्वनभिज्ञा ये छेद्यादिषु च कर्मसु ।
ते निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्या नृपदोषतः ॥ ५२ ॥

जो वैद्य स्नेहन-स्वेदनपूर्वक पञ्चकर्मों में और छेद्य, भेद्य आदि अष्टविध शस्त्रकर्म करने में असमर्थ हैं वे वैद्य (द्रव्य के) लोभ से (चिकित्सा में प्रवृत्त होने पर) मनुष्यों को मार डालते हैं। प्रायः राजा के दोष से ही कुवैद्य का जन्म (प्रचार) होता है ॥ ५२ ॥

विमर्शः—राजा ऐसे चिकित्सकों को चिकित्सा न करने दे और करे तो भारी दण्ड देवे तो कदापि संसार में कुवैद्यों का प्रचार न हो। वर्तमान में प्रतिदिन समाचार-पत्रों में झूठे विज्ञापन तथा सड़कों पर मजमा लगाने वाले एवं अष्टाङ्गायुर्वेद में प्रत्यक्ष-क्रियाशून्य लोगों की भरमार है। इसी से आयुर्वेद बदनाम है। यह वर्तमान शासन-प्रणाली का दोष है।

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥ ५३ ॥

जो वैद्य शास्त्र और प्रत्यक्षज्ञान को भली भांति जानता है और साथ साथ मतिमान् (ऊहापोहक्षम सहज बुद्धियुक्त) भी है वही सुचिकित्सारूपी अर्थ (प्रयोजन) के साधन में समर्थ हो सकता है। जैसे दोनों पहियोंवाला रथ युद्ध में कार्य करने में समर्थ होता है ॥

विमर्शः—अर्थसाधन से आयुर्वेद के दो प्रयोजन गृहीत होते हैं। 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च"। चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये चिकित्सक को केवल शास्त्र और कर्माभ्यास में ही निपुण होना पर्याप्त नहीं है किन्तु उसे बुद्धिमान् होना भी आवश्यक है। चरकेऽप्युक्तम्—'शास्त्र

ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शन बुद्धिरात्मन । ताभ्यां भिषक सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥ (सू० अ० ९)

अथ वत्स! तदेतदध्येयं यथा तथोपधार्य मया प्रोच्यमानम्—अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा। ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेयाः। एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत्। अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं व्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमचिभ्रद्भौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत्। न चान्तरेण कश्चिद् व्रजेत् तयोरधीयानयोः ॥ ५४ ॥

हे वत्स सुश्रुत! जिस विधि से इस आयुर्वेद शास्त्र को पढ़ना चाहिये वह विधि मैं बतलाता हूँ उसे श्रवण कर हृदय में धारण करो। गुरु का कर्तव्य है कि वह शौच, स्नान सन्ध्यादि नित्यकर्मों से पवित्र हुये, उत्तरीय वस्त्र धारण किये हुये, अव्याकुल अर्थात् शान्त चित्तवाले तथा अध्ययन के समय पढ़ने के लिये उपस्थित हुये शिष्य को यथाशक्ति पद (श्लोक का एक छोटा अवयव), पाद (श्लोक का चौथा भाग) अथवा पूरा श्लोक पढावे। तदनन्तर पढाये हुये पद, पाद और श्लोक को बार बार क्रम से एक साथ मिला लेवे। इस प्रकार एक एक छात्र को (या श्लोक को) पढावे पश्चात् स्वयं पढे। न अधिक शीघ्रता से, न ज्यादा विलम्ब से तथा निःशङ्क हो कर अनुनासिकोच्चारण न करते (घूंघे की तरह न बोलते) हुये स्पष्ट शब्दोच्चारणपूर्वक, अक्षरों के ऊपर अधिक जोर न लगा कर (अर्थात् मध्यस्वर से) तथा नेत्र, भ्रकुटी, ओष्ठ तथा हाथों से किसी प्रकार का विकृत भाव (हास्य, कटाक्षादि) न दिखाते हुये, सुसस्कृत (अनुस्वार विसर्गादि सहित) रूप से, न बहुत जोर से और न अधिक धीरे स्वरों से पढे एव गुरु और शिष्य के अध्ययन करते समय दोनों के मध्य से कोई न जावे ॥ ५४ ॥

विमर्श.—यहां पर प्राचीन पठन-पाठन विधि का वर्णन किया गया है। प्राचीनकाल में आजकल के समान पुस्तकें नहीं रहती थीं। इसलिये सम्पूर्ण शास्त्र कण्ठस्थ करने पडते थे और इसीलिये उपर्युक्त विशिष्ट पद्धति से अध्ययन करना पड़ता था। अन्तरागमनेऽनध्याय —पशुमण्डूकमार्जारसर्पनकुलाखुभि । अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ (मनु० अ० ४-१२६)

भवतश्चात्र—

शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

शौच-स्नानादि से पवित्र, गुरुभक्त, दक्ष, तन्द्रा तथा निद्रा से रहित हो कर जो छात्र इस विधि से पठन करता है वह शास्त्र में पारङ्गत हो जाता है ॥ ५५ ॥

वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तद्भ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥ ५६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽध्ययनसम्प्रदानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अध्ययन के अन्त (पार) जाने का इच्छुक छात्र सदा वाणी के सौष्ठव (अर्थात् स्पष्टोच्चारण और हित-मधुर भाषण) में, अर्थविज्ञान में तथा धाष्टर्य तथा क्रियानैपुण्य प्राप्ति में, शास्त्र के अभ्यास और वाञ्छितार्थ की सिद्धि में सदैव प्रयत्न करता रहे ॥ ५६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातः प्रभापणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से प्रभापणीय नामक अध्याय का व्याख्यान किया जाता है। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—पढ़े हुये शास्त्र का विशेष ध्यान से अर्थानुसन्धानपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है उसे 'प्रभापण' कहते हैं। अधीतशास्त्रस्य प्रकर्षेणार्थानुसन्धानपूर्वकं व्याख्यान प्रभाषणम्। तदधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तत्।

अधिगतमप्यध्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण पढ़े हुये शास्त्र को फिर से उसका तत्त्वरूप में अर्थ न जाना जाय तो वह गर्दभ के पीठ पर रखे हुये चन्दन के भार की भांति परिश्रमकारक या निरर्थक होता है ॥ ३ ॥

भवति चात्र—

यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥ ४ ॥

जिस तरह चन्दन की लकड़ी को वहन करने (ढोने) वाला गदहा केवल उसके भार का ही ज्ञान रखता है किन्तु चन्दन (की सुगन्ध और शीतादि आह्लादजनक गुणों) को नहीं जान सकता उसी प्रकार अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लेने वाले किन्तु उन शास्त्रों के तात्त्विक अर्थों में मूढ पुरुष (छात्र) केवल उन गदहों की तरह ग्रन्थभार मात्र के वाहक हैं ॥ ४ ॥

तस्मात् सविंशमध्यायशतमनुपदश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यञ्च। कस्मात्? सूक्ष्मा हि द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकदोषधातुमलाशयमर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिगर्भसम्भवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरणव्रणविनिश्चयभग्नविकल्पाः साध्यायाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमादयश्चान्ये सहस्रशो विशेषा ये विचिन्त्यमानाविमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः किं पुनरल्पबुद्धेः। तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यञ्च॥

इस लिये एक सौ बीस अध्यायों के एक एक पद, एक एक चरण और प्रत्येक श्लोक का गुरु वर्णन (अर्थसहित व्याख्यान) करे और शिष्य श्रवण करे क्योंकि स्थावरादि द्रव्य, मधुरा-

स्यादि रस, गुर्वादिगुण, शीतोष्णादिवीर्य, मधुरादिविपाक, वातादि दोष, रसरक्तादि धातु, मूत्रादि मल, वातादि के आशय (स्थान) तथा मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, शुक्रार्तवादि गर्भोत्पादक द्रव्यसमूह एवं प्रनष्ट शल्य का आहरण, व्रण का विनिश्चय, भग्न के भेद तथा रोगों के साध्य, याप्य और प्रत्याख्येयता तथा इन के अतिरिक्त हजारों सूक्ष्म विषय होते हैं जिनका ठीक विचार करने पर विमल (निर्मल) और विपुल (विशाल) बुद्धिवाले मनुष्य की बुद्धि को भी वे व्याकुल कर देते हैं। फिर स्वल्प बुद्धिवाले का तो ठिकाना ही क्या है। अतः एव आचार्य निश्चय ही एक २ पद, पाद तथा श्लोक का वर्णन करे और शिष्य श्रवण करे ॥ ५ ॥

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यम् । कस्मात् ? न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शल्यः सर्वशास्त्रागमवरोधः कर्तुम् ॥ ६ ॥

प्रयोजनवश यहां लिखे हुये अन्य शास्त्रों के अर्थों को उन शास्त्रों के विशेषज्ञों से ही श्रवण करे क्यों कि एक शास्त्र में अन्य आवश्यक सब शास्त्रों का विस्ताररूप से समावेश करना शक्य नहीं है ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥ ७ ॥

केवल एक शास्त्र को पढनेवाला मनुष्य उस शास्त्र के सिद्धान्तों को भी ठीक नहीं जान सकता है अतएव चिकित्सक आवश्यक अन्य शास्त्रों का प्रथम अध्ययन कर पश्चात इस आयुर्वेद शास्त्र को पढे ॥ ७ ॥

विमर्श—आयुर्वेद शास्त्र में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये प्रवेशार्थी छात्र को अन्य आवश्यक शास्त्र प्रथम पढ लेना चाहिये। व्याकरण, साहित्य, न्याय तथा सांख्य का ज्ञान संस्कृत की दृष्टि से तथा रसशास्त्र की उत्कर्षता के लिये रसायनशास्त्र (Chemistry) पदार्थविज्ञान के लिये भौतिकविज्ञान (Physics), द्रव्यगुण शास्त्र के लिये वनस्पतिशास्त्र (Botany) तथा शारीरशास्त्र और Anatomy के पूर्णज्ञान के लिये जन्तुशास्त्र (Zoology) पढना जरूरी है।

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत् ।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ॥ ८ ॥

गुरु के मुख से कहे हुये शास्त्र को पढ कर तथा अनेक बार उसका ग्रन्थात्मक और क्रियात्मक अभ्यास (अनुभव) कर के जो चिकित्सारूपी कार्य करता है वही वैद्य है इसके विपरीत अन्य सब चोर हैं ॥ ८ ॥

विमर्श—आयुर्वेद उपवेद होते हुये भी शास्त्र भी है। शास्त्रपरिभाषा—शासनाच्छंसनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते । रोगान् शास्तीति शास्त्रम्। आयुरारोग्यदानेन धर्मार्थकामादीना शासनाद्वा शास्त्रम्। शस्यात् त्रायत इति वा शास्त्रम्। "शास्त्र शङ्गेतिः प्रकाशार्थम्" सर्वत्र लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।

आजकल अधिकतर हिन्दी के ग्रन्थों को बांच कर तेली, तमोली, भिस्ती, आदि भी अपने को चिकित्सक घोषित कर देते हैं तथा ये अज्ञ अनेक पोथे तथा शीशियां जुटा कर भव्य दवाखाना खोल देते हैं। इसी से आयुर्वेद अवैज्ञानिक नाम से कलङ्कित है। शास्त्र ऐसे वैद्यों की निन्दा करता है। 'भव्यमाडोपवैः पुंभिः कल्पवैरकल्पकैः। वैद्यशब्दं लभन्ते ये हन्तान्ते प्रतिरूपकाः' ॥ ऐसे चिकित्सकों को फांसी दे देनी चाहिये। 'स राजा व्यसनैति'। सर्ववत्रस्ता—ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः। जितक्लमा जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥

औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥ ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रभाषणीयो नामचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

औपधेनव, औरभ्र, सौश्रुत और पौष्कलावत ये चार तन्त्र शेष (अन्य) सर्व शल्यतन्त्रों के मूल (प्रधानतया प्रवर्तक) हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—शल्य विज्ञान में दक्षता प्राप्त करने के लिये इन चार तन्त्रों को पढना चाहिये परन्तु खेद है कि ये चारों तन्त्र अप्राप्य हैं। वर्तमान प्रतिसंस्कृत सुश्रुत 'सौश्रुत तन्त्र' से भिन्न है यह भी इसी श्लोक से निर्विवाद सिद्ध होता है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से 'अग्रोपहरणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—'कर्मणामग्रे उपहरणं येषां यन्त्रशस्त्रादीनां तान्यग्रोपहरणानि तान्यधिकृत्य कृतोऽध्यायोऽग्रोपहरणीयस्तमि'ति चक्रः।

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति । तद्व्याधिं प्रति प्रत्युपदेक्ष्यामः ॥ ३ ॥

कर्म तीन प्रकार का होता है। पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात् कर्म तथा इन का उपदेश प्रत्येक व्याधि के वर्णन करते समय किया जायगा ॥ ३ ॥

विमर्शः—'लङ्घनादिरिरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च। पाटनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत्स्मृतम् ॥ व्रणव्रणाग्निकार्यन्तु पश्चात्कर्म समादिशेत्'॥ 'प्रधानकर्मफलानुवृत्तिकरं कर्म पश्चात्कर्म' इति डल्हणचन्द्रः।

डाक्टरी में भी तीन कर्म प्रधान हैं। लंघन, विरेचन, वस्ति तथा शस्त्रकर्मस्थानसंशोधन (Sterilization) इन्हें पूर्वकर्म (Preparation of the Pationt) कहते हैं। प्रधान कर्म में मुख्य शस्त्रक्रिया है जिसे Main operation कहते हैं। व्रणितोपचारादि उपाय तथा व्रणचिकित्सा पश्चात्कर्म After treatment है।

अस्मिन् शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छस्त्रकर्मैव तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च ॥ ४ ॥

इस 'शल्य शास्त्र' में शस्त्रकर्म के प्रधान होने से प्रथम शस्त्रकर्म तथा उसकी सामग्रियों का वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

तच्च शस्त्रकर्माऽष्टविधम्। तद्यथा—छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यम्, विस्राव्यं, सीव्यमिति ॥ ५ ॥

वह शस्त्रकर्म आठ प्रकार का होता है। जैसे-छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, विस्रावण और सीवन ॥ ५ ॥

विमर्श—शस्त्रकर्म भेद सुश्रुत ने अष्ट तथा चरक ने एषण और आहरण को यन्त्रकर्म मान कर शस्त्रकर्म ६ ही माने हैं। 'षड्विधं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रोच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्' (च चि अ २५)। छेदन (Excision)—काट कर अलग कर देना, जैसे-अर्श, चर्मकील और भगन्दर। 'छेद्या भगन्दरा ग्रन्थि श्लीपिन्यन्त्रिलकालजाः'। भेदन (Incision)—चीरना जैसे-विद्रधि। भेद्याविद्रधयोऽन्त्र सर्वतो ग्रन्थयश्चयः। लेखन (Scraping or scarification)—खुरचना 'लिख्यास्त्वक्स्नायो रोहिण्यः किलासमुत्क्लिष्टा'। वेधन (Puncturing)—नोकदार शस्त्र से छेद करना जैसे-सिरावेध आदि। वेध्या सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम्। एषण (Probing, exploration)—शलाका द्वारा नाडीव्रणादि का पता लगाना। एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये। आहरण (Extraction—बाहर खींच कर निकालना। 'आहार्या शल्यौषधिगर्भोद्धरणोऽस्थनी। शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निर्हिंचं गुदे।' विस्रावण (Drainage)—रक्त, लसीका और पूय को वली आदि से बाहर निकालना। 'स्राव्या विद्रधयः पञ्च सर्वजाश्च सिरास्नायुसन्धिमर्मास्थिगतान्वर्जयित्वा सर्वजाश्च'। सीवन (Suturing, stitching) टांके लगाना। 'सीव्या भेद्यसमुत्थाश्च भिन्नाः कुलिखिता गदाः। सद्योव्रणाश्च ये चैव चर्मसन्धिविदारिताः'। वाग्भट ने उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दहन ये पांच कर्म अधिक मान कर शस्त्रकर्म के तेरह भेद माने हैं। कुट्टन को Pricking (सूई द्वारा त्वचा में छेद करना), मन्थन को Drilling (मथते हुए छेद करना), ग्रहण को Catching (पकड़ना) तथा दहन को Cautery (यन्त्र-शस्त्रादि से दाह करना) कहते हैं। आज कल Cautery knife का प्रयोग शस्त्र कर्म में बहुत बढ़ गया है। सुश्रुत में भी इस प्रकार का वर्णन है। 'अग्निनालेन शस्त्रेण विध्येद्'।

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि—यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाश्रृङ्गजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रोतसूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यञ्जनशीतोष्णोदकवटाहादीनि; परिकर्मिणश्च स्निग्धा स्थिरा बलवन्तः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त अष्ट शस्त्रकर्मों में से किसी एक कर्म करने की इच्छा वाले वैद्य को प्रथम ही निम्नलिखित सामग्री तैय्यार कर लेनी चाहिये। यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जोंक, अलाबू (तूम्बी), जाम्बवौष्ठ, पिचु, (रुई), प्रोत (वस्त्र), सूत्र, पत्ते, पट, मधु, घृत, वसा, चरबी, दुग्ध, तैल, सन्तर्पण-द्रव्य (जलयुक्त सक्तुक्षीरादि), क्वाथ और लेप की ओषधियां, कल्क (लुगदी), पखा, ठंडा और गरम पानी, वटाह आदि लौहनिर्मित पात्र एवं स्निग्ध (अनुरक्त), स्थिरचित्त और बलवान् भृत्य होने चाहियें ॥ ६ ॥

विमर्श—जाम्बवौष्ठ—जम्बूफलस्दृशमुखाग्रवृत्तपाषाणगर्भचिता वर्त्ति। यह एक प्रकार का शस्त्र है जिसका अग्निकर्म और क्षार कर्म में प्रयोग किया जाता है। पट-व्रणबन्धनोपयोगी वस्त्र Bandages। शस्त्रकर्म में बलवान परिचारकों की आवश्यकता रहती है इसलिये यहां बलवान् विशेषण दिया है। कायचिकित्सा में बलवान् की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जैसा कि चरक में कहा है। परिकर्मिणो लक्षणम्—'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरेऽर्हने ॥ (च० सू० अ० ९)

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा, कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघुभुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य यन्त्रयित्वा, प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन् अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादाभूयदर्शनात्, सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च। महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रपदमुक्ता ॥ ७ ॥

फिर श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त और नक्षत्र के दिन दही, चांवल, अन्न-पान तथा रत्नादि से अग्नि, ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन कर, बलि, मङ्गल, स्वस्तिवाचन किये हुये एवं हल्का भोजन किये हुये रोगी को पूर्वाभिमुख बिठाकर तथा उसके हस्त-पादादि अङ्गों को नियन्त्रित कर पश्चिम दिशा में मुख किया हुआ वैद्य (सर्जन) मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनियों का बचाव करते हुए पूय के सम्पूर्ण निकलने तक लोमों की दिशा में शस्त्र को चलाये। इस तरह ठीक रूप से उचित स्थान पर एक बार ही शस्त्रप्रवेश कर पुनः शीघ्रता से निकाल लेवे। पाकस्थानों के महान् (अधिक दूर तक फैले हुये) होने पर भी दो अङ्गुल या तीन अङ्गुल तक लम्बा व्रण का घाव करना चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्श—भोजन का प्रयोजन—'प्राक्शस्त्रकर्मणश्चेष्टे भोज्येदातुरं भिषक्। न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्नरो शस्त्रं न दुष्यते। तस्माद्भक्तवन्त्य भोक्तव्यम्। प्राणो ह्यान्नान्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः। धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥' भोजनकर्म वर्जन—मूढगर्भोदराशोभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवत कर्म कुर्वीत। यन्त्रणकर्म—इस वैज्ञानिक युग में अनुसन्धानशील विद्वानों ने सार्वदैहिक संज्ञाहरद्रव्य (Chloroform), स्थानिक संज्ञाहर द्रव्यों (प्रोकेन, नोवोकेन, कोकेन आदि) का आविष्कार कर यन्त्रण सरीखी आसुरी क्रिया की आवश्यकता नहीं रखी है फिर भी प्रायः देखा जाता है कि साधारण विद्रधि को खोलने के लिये किसी भी संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग न कर रोगी के हाथ पांवों को सहायक कम्पाउण्डर, नर्स आदि पकड़ लेते हैं अतः कम वेसी यन्त्रण करना ही पड़ता है।

मर्माणि—मारयतीति, मरणकारित्वाद्वा मर्म, मर्माणि नाम मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिसन्निपातास्तेषु स्वभावत एव प्राणास्तिष्ठन्ति। द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं व्रणं कुर्यात्—विद्रधि बड़ी हो तो दो

अङ्गुल या तीन अङ्गुल की दूरी पर अन्य शस्त्रपद या व्रण शस्त्र द्वारा बनाने चाहिये जिससे पूय का पूर्ण रूप से निर्हरण हो जाय। अङ्गुलद्वयमथवाऽङ्गुलत्रयमन्तरीकृत्य पुनरन्यं व्रणं कुर्यान्नित्वासन्नम्। अरुणदत्त ।

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो निराश्रय इति व्रणगुणाः ॥ ८ ॥

आयत (दीर्घ), विशाल (विस्तृत=चौडा), सम (सीधा), सुविभक्त अर्थात् तीक्ष्ण शस्त्र से साफ कटा हुआ जिस कारण त्वचा मांसादि का अधिक नाश नहीं हुआ हो तथा निराश्रय (पूय कोटर रहित) ये व्रण के गुण हैं ॥ ८ ॥

भवतश्चात्र—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥ ९ ॥

आयत, विशाल, सुविभक्त, निराश्रय तथा उचित समय पर किया गया व्रण चिकित्साकर्म में श्रेष्ठ माना जाता है ॥९॥

विमर्श—प्राप्तकालकृत—शोथ, विद्रधि या फोड़े को आमावस्था में चीरने से पूर्ण रूप से दोष नहीं निकलते तथा पके हुये की उपेक्षा करने से भीतर का पूय इधर उधर जाकर नाडी (Sinus) बना देता है अतः योग्य काल में उसे चीर देना चाहिये। यश्छिनत्त्याममज्ञानाद् यश्च पक्वमुपेक्षते। श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितिकारिणौ।

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथु ।
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥ १० ॥

शूरता, (उत्साह, निर्भयता), शस्त्रपातादिक्रिया में शीघ्रता (लघुहस्तता), शस्त्र की धार का उचित तीक्ष्ण होना, शस्त्रकर्म करते समय वैद्यसर्जन को पसीना न आना तथा हाथ का न कांपना तथा रोगोल्वणता या बडे शस्त्रकर्म की दशा में या निकलते हुए रक्तादि को देख कर मूर्च्छित न होना ये शस्त्रचिकित्सक (Surgeon) के गुण हैं और ऐसे ही सर्जन शस्त्रकर्म (Operation) में प्रशस्त होते हैं ॥ १० ॥

एकेन वा व्रणेनाऽशुध्यमाने नाऽन्तरा बुद्ध्याऽवेक्ष्यापरान् व्रणान् कुर्यात् ॥ ११ ॥

यदि एक व्रण (Incision चीरा) से फोड़े की शुद्धि न हुई हो या पूयादि का पूर्णरूप से निर्गमन न हुआ हो तो बुद्धिपूर्वक विचार कर बीच में या पूर्वव्रण के समीप अन्य व्रण कर देवे ॥ ११ ॥

भवति चात्र—

यतो यतो गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रणं कुर्य्याद् यथा दोषो न तिष्ठति ॥ १२ ॥

जिस जिस स्थान पर दोष (पूय) की गति तथा उभार प्रतीत हो उस उस स्थान पर शस्त्र से व्रण (चीरे) करने चाहिये जिस से दोष (पूय) भीतर (मांसादि गम्भीर धातुओं में) न रह सके ॥ १२ ॥

विमर्श—दोष शब्द से यहां दोषोत्पन्न पूय का ग्रहण होता है। 'पूय एव दोषशब्देन उच्यते, कारणे कार्योपचारात्' इति डल्हणः।

तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकवङ्क्षणेषु तिर्यक् छेद उक्तः ॥ १३ ॥

भ्रू, गण्डस्थल (गाल=कपोल), शङ्खप्रदेश (कनपटी), ललाट, आंखों के पलक, ओष्ठ, दन्तवेष्ट (मसूडे), कक्षा (कांख), कुक्षि (उदर) और वंक्षण (ऊरुसन्धि) इन स्थानों में तिरछा छेदन करना चाहिये ॥ १३ ॥

(चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत् ।
अर्द्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥१४॥)

बुद्धिमान वैद्य हस्त और पाद में चन्द्रमण्डल के समान गोल छेदन करे तथा गुदा और मेढ्र (इन्द्रिय) में अर्धचन्द्राकृति छेदन करे ॥ १४ ॥

अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनम्, अतिमात्रं वेदना, चिराद् व्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥ १५ ॥

उपर्युक्त विधि के अनुसार चीरा न लगाने से सिरा और स्नायु के छेदन की सम्भावना रहती है, पीड़ा अधिक होती है, चिरकाल (देरी) से व्रण भरता है और मांस की गांठ उत्पन्न हो जाती है ॥ १५ ॥

मूढगर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत ॥ १६ ॥

मूढगर्भ, उदररोग, अर्श, पथरी, भगन्दर और मुखरोगों में रोगी को विना कुछ खिलाये ही शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥१६॥

विमर्श—आधुनिक शल्यतंत्र (Surgury) के अनुसार उदर, मूढगर्भ और मुखरोगों में शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन करने से प्रत्यावर्त्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा वमन तथा हिक्का उत्पन्न होकर बाधा उत्पन्न होती है किन्तु अर्श, अश्मरी और भगन्दर में ऐसी सम्भावना कम होने से हल्का तथा द्रवप्राय भोजन कराना ठीक माना है। सुश्रुत में भी आगे चिकित्सास्थान में अर्श और भगन्दर में शस्त्रकर्म के पूर्व आहार देने को कहा है। 'केनाचेद्व्राशोभगन्दरावविपक्वेते, तदयुक्त, चिकित्सिते तयोः शस्त्रकर्मण प्राग् भोजनविधानादेतदर्थानुवादिना वाग्भटेनाप्यपठितत्वाच्च" इति हाराणचन्द्र ॥

ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य, समन्तात् परिपीड्याङ्गुल्या, व्रणमभिमृद्य(ज्य), प्रक्षाल्य कषायेण, प्रोतेनोदकमादाय, तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्त्तिं प्रणिदध्यात्। ततः कल्केनाच्छाद्य घनां कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्। वेदनारक्तोघ्नैर्धूपैर्धूपयेद् रक्तोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ॥ १७ ॥

तदनन्तर व्रण से शस्त्र को निकाल कर रोगी को शीतल जल से (मुख-हस्तादि पर सेचन द्वारा) आश्वासन या शान्ति देकर चारो ओर (बाहर और अन्दर से) अङ्गुलियों द्वारा व्रण को धीरे २ दबाकर (सद्योव्रणहित अथवा शोधन) कषाय

से व्रण का प्रक्षालन करें। पश्चात् प्रोत (शुद्ध वस्त्र) से व्रण के भीतर के शेष कषायजल को पोंछ कर तिल कल्क, शहद, और घृत से लिप्त तथा न अतिस्निग्ध और न अधिक रूक्ष (मिश्रकाध्यायोक्त अजगधा, अजशृंगी आदि सशोधन ओषधि युक्त वर्ति व्रणस्थान में रख कर उसे सद्योव्रणहित औषध) कल्क से ढक कर तथा उस पर मोटी कवलिका (गद्दी या स्वच्छ रूई) रख कर वस्त्रपट्ट से बांध देना चाहिये। पश्चात् वेदनाहर और राक्षस (जीवाणु) नाशक द्रव्यों की धूनी (धूपन) से उस स्थान को धूपित करे तथा रक्षोघ्नमंत्रों से व्रण की रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्श—शीतल जल पिलाना भी चाहिये जिससे मूर्च्छा आदि नहीं होने पाती। व्रणमभिमृद्य—कभी २ व्रण के भीतर अनेक पूयकोटर (Pus pookets) होते हैं अतः व्रण के भीतर एक या दो अगुलियां डाल कर धीरे२ मर्दन द्वारा उन्हें तोडना पडता है। शोधनकषाय—शङ्खिन्यङ्कोठसुमन'करवीरसुवर्चला'। शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिक ॥ (सू० अ० २७)। आज कल व्रणशोधनके लिये—डेरॉल बोरिक एसिड, पोटासपरमैंगनेट, मर्क्युरी (पारद), एक्रिफ्लेविन आदि के घोल प्रयुक्त होते हैं। वर्ति—इसकी जगह डाक्टरी में जालीदार कपडे (Gauze) को जन्तुघ्न द्रव्य के घोल में भिंगो कर वर्ति बना के रखते हैं अथवा रबर नली (Drainage Tube) रखी जाती है। प्राचीन काल में भी कवलिका आदि सभी को उष्णता तथा धूपन द्वारा जन्तुरहित (Sterile) कर काम में लेते थे। वाग्भटे—

शुचिसूक्ष्मदृढा पट्टा कवल्य सविकेशिका।
धूपिता मृदव श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिता ॥

ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रविमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्, आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत ॥ १८ ॥

तदनन्तर गूगल, अगर, राल, वचा, श्वेत सरसो इनके चूर्ण तथा लवण, नीम के पत्ते इनको घृत के साथ मिलाकर धूपन करे। बचे हुये घृत से रोगी के हृदयादि मर्म स्थानों पर (हल्के हाथ से) मालिश करे ॥ १८ ॥

उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात् तद्वक्ष्यामः ॥ १९ ॥

जल के घडे में से पानी हाथ में लेकर रोगी पर छिड़क (परिमार्जन) कर निम्न मन्त्रों से रक्षाकर्म करना चाहिये। उसकी विधि आगे कहते हैं ॥ १९ ॥

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥ २० ॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥
पृथिव्यामन्तरीक्षे च ये चरन्ति निशाचराः।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥ २३ ॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥ २४ ॥
उदानं विद्युतः पान्तु समान स्तनयित्नवः।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥ २५ ॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥ २६ ॥
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥ २७ ॥
रेतस्त्वाप्यायन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा।
आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥ २८ ॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम्।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवौ भ्रुवौ ॥ २९ ॥
एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ ३० ॥
(स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम्।)
स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ।
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥ ३१ ॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥ ३२ ॥

इति स्वाहा।

कृत्याओं तथा राक्षसों के भय को दूर करने के लिये रक्षाकर्म करूंगा। ब्रह्मदेव इस कर्म का अनुमोदन करें। नाग, पिशाच, गन्धर्व, पितर, यक्ष, राक्षस, आदि जो जो तुम्हें पीड़ा पहुचाते हों उन्हें ब्रह्मादिक देवता नष्ट करें। पृथिवी पर, आकाश में और दिशाओं में जो जो राक्षस विचरते हों तथा तुम्हारे घर में जो राक्षसादि रहते हों वे तेरे नमस्कार से प्रसन्न होकर तेरी रक्षा करें। अनेक ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि, सब पर्वत, नदियां, सातो या चारो समुद्र, ये तेरी रक्षा करें। अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करें, वायु प्राणों की, सोम व्यान वायु की और पर्जन्य (वृष्टिमान् मेघ) अपान वायु की रक्षा करें। बिजली उदानवायु की, मेघ समान वायु की, बलपति इन्द्र बल की और मनु ग्रीवा की सिराओं तथा बुद्धि की रक्षा करें। गन्धर्व तेरी कामनाओं या मनोरथों की, इन्द्र सत्व (सतोगुण या मन) की, राजा वरुण प्रज्ञा की तथा समुद्र नाभिमण्डल की रक्षा करें। सूर्य नेत्रों की, दिशाएं कर्णों की, चन्द्रमा मन की, नक्षत्र रूप (सौन्दर्य) की और रात्रि तेरी छाया की सदा रक्षा करें। जल तेरे वीर्य को बढावे, ओषधियां रोमपंक्ति की, आकाश शरीरछिद्रों की तथा पृथिवी तेरे देह की रक्षा करें। वैश्वानर शिर की, विष्णु तेरे पराक्रम की, पुरुषोत्तम तेरे पौरुष (मेढ्र) की, ब्रह्मा आत्मा की और ध्रुव दोनों भृकुटियों की रक्षा करें। तेरी देह में नित्य ये उपर्युक्त देवता विशेष करके रहते हैं। ये तेरी निरन्तर रक्षा करें तथा तुझे दीर्घायु प्राप्त हो। भगवान् ब्रह्मा तेरा मंगल करे, सब देवता तेरा मंगल करें, चन्द्रमा और सूर्य दोनों तेरा कल्याण करें, नारद और पर्वत (ऋषी) तेरा शुभ करें। अग्नि, वायु तथा इन्द्र सहित सब देवता तेरा मंगल करें। यह पितामह (ब्रह्म-

देव) द्वारा की हुई रक्षा तेरा कल्याण करती हुई आयु को बढ़ावे। तेरी सब ईतियां (कष्ट) दूर होकर तू सदा व्यथा (पीडा) से रहित हो जा। इन मन्त्रों को पढकर स्वाहा शब्दोच्चारण करे ॥ २०-३२ ॥

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥ ३३ ॥

कृत्या और व्याधि को नष्ट करने वाले इन वेदसम्बन्धी मन्त्रों द्वारा मुझसे रक्षित तू दीर्घायु को प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

विमर्शः—कृत्या—कुपितमन्त्रिणोऽभिचारकर्मजनिता राक्षसी कृत्येत्युच्यते। ईति —अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः खगा। स्वचक्र परचक्रञ्च सप्तैता ईतय स्मृता'।

ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्य आचारिकमादिशेत् ॥ ३४ ॥

इसके पश्चात् उक्त मन्त्रों से रक्षित किये रोगी को उसके स्थान (घर Indoor ward) में ले जाकर उन्नीसवें व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे हुये आहार-विहारादिक स्वास्थ्यवर्द्धक नियमों का उपदेश करे ॥ ३४ ॥

ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवमेव बध्नीयाद्वस्त्रपट्टेन, न चैन त्वरमाणोऽपरेद्युर्मोक्षयेत् ॥ ३५ ॥

आचारिक उपदेश देने के बाद तीसरे दिन व्रणबन्धन की पट्टी खोलकर पूर्वानुसार ही कषाय से धोकर ,पट्ट से बन्धन कर देना चाहिये। शीघ्रता की आकांक्षा रखकर दूसरे ही दिन पट्टी को नहीं खोलनी चाहिये ॥ ३५ ॥

द्वितीयदिवसपरिमोक्षणाद्विग्रथितो व्रणश्चिरादुपसंरोहति, तीव्ररुजश्च भवति ॥ ३६ ॥

दूसरे दिन व्रण की पट्टी खोलने से उसमें गांठें पडकर देरी से रोहण होता (भरता) है और वेदनाएं अधिक तीव्र होती है ॥ ३६ ॥

अत ऊर्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपनबन्धाहाराचारान् विदध्यात् ॥ ३७ ॥

इसके बाद व्रण के दोष तथा समय की मौसम और रोगी के बल जैसे हीन, मध्यम, उत्तम और आयु आदि का विचार कर तदनुसार कषाय, लेप, बन्ध, आहार और आचार का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३७ ॥

न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोष रोपयेत्। स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति ३८

जल्दी अच्छे होने की आकांक्षा से शीघ्रता करके सदोष व्रण पर रोपण क्रिया कभी भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सान्तर्दोष रोपित व्रण बाद में थोडे ही कुपथ्य करने से भीतर ही भीतर उठाव कर विकार उत्पन्न कर देता है ॥ ३८ ॥

भवन्ति चात्र—

तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम्।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्।
हर्षं क्रोधं भयञ्चापि यावत् स्थैर्य्योपसम्भवात् ॥३९॥

इस कारण भीतर और बाहर से भली प्रकार शुद्ध हुये व्रण का रोपण करना चाहिये तथा रोपण होने के बाद भी जब तक उस स्थान में पूर्ण आरोग्यता दिखाई न दे तब तक अजीर्ण, व्यायाम, स्त्रीसम्भोग, हर्ष, क्रोध और भय इनका वर्जन करना चाहिये ॥ ३९ ॥

विमर्श—शुद्ध व्रण लक्षण—त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्त श्यावौष्ठः पिडकी सम । अवेदनो निरास्रावो व्रण शुद्ध इहोच्यते ॥ सम्यग्व्रणरूढलक्षण—रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुज व्रणम्। त्वक्सवर्ण समतल सम्यग्रूढ विनिर्दिशेत् ॥ (सु० सू० अ० २३) अष्टाङ्गसंग्रह में मैथुनादि के वर्जन का समय ६ या ७ मास तक माना है। 'रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्। मासान् षट् सप्त वा नृणा विधिरेष प्रशस्यते ॥

हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत्।
त्र्यहाद् द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥४०॥

बुद्धिमान् वैद्य हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु में तीसरे दिन पट्ट खोले तथा शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में दूसरे दिन व्रण की पट्टी खोल देवे ॥ ४० ॥

विमर्श—प्रायः शीत समय में पाक कम होने से तीन दिन पर तथा उष्णकाल में पाकशीघ्रता भय से दो दिन में खोलना लिखा है। यदि पैत्तिक व्रण हो तथा ऋतु शरद् या ग्रीष्म हो तो दिन में सुबह-शाम दो बार भी पट्टी खोलनी पड़ती है।

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्य्यात् प्रतिक्रियाम् ॥४१॥

व्रण में पाक द्वारा अथवा तीव्र रक्तस्राव द्वारा हानि या प्राणभय की सम्भावना होने पर पट्टमोक्षण के उक्त नियमों पर ध्यान न देते हुये जलते हुये मकान के प्रतीकार की तरह जिस किसी उपाय से लाभ पहुंचे वैसी प्रतिक्रिया (व्यवस्था = चिकित्सा) करनी चाहिये ॥ ४१ ॥

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्रोपहरणीयो-
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

किसी शस्त्र की चोट से अथवा शस्त्र क्रिया के कारण व्रण में उत्पन्न हुई तीव्र वेदना जो कि शरीर को दुःखित या सन्तप्त करती हो वह मुलेठी के चूर्ण से युक्त किंचित् उष्ण घृत के द्वारा सेचन करने से शान्त हो जाती है ॥ ४२ ॥

विमर्श—एक कटोरी में तोले या ६ माशे भर घृत डाल कर उसमें ३ माशे भर मुलेठी का चूर्ण प्रक्षिप्त कर निर्धूम अङ्गारों पर कुछ उष्ण करके व्रण-वेदना-स्थान पर लगाना चाहिये।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथात ऋतुचर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'ऋतुचर्या' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुतके लिये) कहा था॥

कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्ममपि कलां न लीयत इति कालः। सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति कालः ॥ ३ ॥

काल की व्याख्या इस प्रकार है। वह ऐश्वर्यशाली और स्वयम्भू अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं है तथा आदि, मध्य और अन्त से रहित है, अर्थात् न उसके आदि (प्रारम्भ) का न मध्य का और न समाप्त होने का ज्ञान है। मधुरादि ६ रसों की विकृति और सम्पत्ति तथा प्राणियों का जीवन और मरण उस काल के ही अधीन है। वह काल अपनी सूक्ष्म कला तक भी नहीं ठहरता है अतः उसे 'काल' कहते हैं। अथवा प्राणियों का सङ्कलन (सुख-दुःख के साथ संयोग) करता है किंवा प्राणियों का संहार करता है अतः एव उसे 'काल' कहते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—कालशब्दनिरुक्ति—"कलाशब्दस्य ककाराकारौ लीधातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्ति"। कलनात् सर्वधातूनां सकाल परिकीर्तितः। सुखदुःखाभ्यां भूतानि योजयतीति कालः। कालयति सञ्चिपतीति वा कालः। मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः। भागवतेऽपि—कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः। प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपाल इवाऽविता पशून्॥ हारीतचन्द्रस्तु—सूक्ष्ममपि कलां कालाशविशेषं लीयते=श्लिष्यति कालस्य सर्वमूर्त्तसंयोगित्वादिति कालः।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ॥ ४ ॥

संवत्सररूपी उस काल का भगवान् सूर्य अपनी गतिविशेष से निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग इस तरह विभाग करते हैं ॥४॥

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाऽक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, त्रिंशतिकलो मुहूर्त्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः। स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः ॥ ५ ॥

उक्त कालभेदों में प्रत्येक का लक्षण लिखते हैं—अकारादि लघु अक्षर के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उसे 'अक्षिनिमेष' कहते हैं। पन्द्रह अक्षिनिमेषों की एक 'काष्ठा' होती है। तीस काष्ठाओं की एक 'कला' और बीस कला तथा एक कलाका दसवां हिस्सा (३ काष्ठा) मिलकर एक 'मुहूर्त्त' एवं तीस मुहूर्त्त का एक 'अहोरात्र' (दिन रात) और पन्द्रह अहोरात्र का एक 'पक्ष' होता है जिसके शुक्ल तथा कृष्ण दो भेद हैं। दो पक्षों का एक 'मास' होता है ॥ ५ ॥

तत्र माघादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड् ऋतवो भवन्ति। ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति ॥ ६ ॥

उक्त संवत्सर में माघादि बारह मास होते हैं। दो २ मास की एक एक 'ऋतु' होती है। इस तरह बारह मासों से ६ ऋतुएं बनती हैं। उनके नाम शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त हैं। उनमें तप (माघ) और तपस्य (फाल्गुन) मासों से शिशिर, मधु (चैत्र) और माधव (वैशाख) मासों से वसन्त, शुचि (ज्येष्ठ) तथा शुक्र (आषाढ) मासों से ग्रीष्म, नभ (श्रावण) और नभस्य (भाद्रपद) मासों से वर्षा, इष (आश्विन) और ऊर्ज (कार्तिक) मासों से शरद् तथा सहा (मार्गशीर्ष) और सहस्य (पौष) मासों से हेमन्त ऋतु होती है ॥ ६ ॥

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरञ्च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरञ्च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्द्धते। उत्तरञ्च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरञ्च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते ॥ ७ ॥

शीत, उष्ण और वर्षा लक्षणों वाली इन ऋतुओं के चन्द्र और सूर्य के काल-विभाग करने के गुण से दक्षिण और उत्तर ऐसे दो 'अयन' होते हैं। उनमें से वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतु के समय को 'दक्षिणायन' कहते हैं। दक्षिणायन की वर्षादि इन ऋतुओं में भगवान् चन्द्रमा क्रमशः आप्यायित (बलशाली) होते हैं तथा अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं। सर्व प्राणियों का बल भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। शिशिर वसन्त और ग्रीष्म के समय को 'उत्तरायण' कहते हैं। इन ऋतुओं में भगवान् सूर्य बलशाली होते हैं। तिक्त, कषाय और कटु रस बलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सर्व प्राणियों का बल क्षीण होता है ॥ ७ ॥

विमर्श—दक्षिणायन को 'विसर्ग काल' कहते हैं। विसर्गश्च यद्बल विसृजत्ययम्। विसृजति जनयत्याप्यमश प्राणिनाञ्च बलमिति विसर्गः। (चक्रपाणि)। चन्द्रादि के शीतल होने से अम्ल-मधुरादि रस पुष्ट होकर प्राणियों का बल बढ़ाते हैं। उत्तरायण को 'आदान काल' कहते हैं। सूर्य अपनी तीव्र किरणों से जगत् के जल, पृथिवी, वृक्ष, मनुष्य सभी प्राणियों के स्नेहांश को खींच लेता है अतः एव इसे 'आदान' कहा है। आदान च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्। (अ० हृ०)। आददाति=क्षपति पृथिव्याः सौम्यांश प्राणिनाञ्च बलमित्यादानम्। (चक्रपाणि)।

भवति चात्र—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥ ८ ॥

चन्द्रमा पृथ्वी को अपनी शीत किरणों द्वारा विलग्न (आर्द्र) रखता है और सूर्य सुखाता है। तथा चन्द्र और सूर्य दोनों का आश्रय ले कर वायु प्रजा का पालन करता है ॥ ८ ॥

विमर्श—वायु योगवाही होने से चन्द्र और सूर्य दोनों के कार्य में सहयोग देता है। योगवाह परं वायुः सयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसश्रयात् ॥ (च० चि० अ० ३)। वायुके अन्य उपयोगी गुण–"सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, उद्भेदन चौद्भिदाना, पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, बीजाभिसस्कारः सस्याभिवर्धनम्, अविक्लेदोपशोषणे। (च०सू०अ० १२।

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति । ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते । स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्त्तमानः कालचक्रमुच्यत इत्येके ॥

इन दक्षिणायन तथा उत्तरायण दोनों अयनों का मिल कर एक 'वर्ष' होता है। वे पांच वर्ष मिल कर 'युग' कहलाते हैं। निमेष से ले कर युग तक चक्र के समान परिवर्तन (भ्रमण) शील यह काल किसी के मत से 'कालचक्र' कहलाता है ॥ ९ ॥

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड् ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तम् । ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः । तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः, कार्त्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति ॥ १० ॥

यहाँ तो दोषों के सञ्चय, प्रकोप और प्रशमन निमित्त से वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् ये ६ ऋतुएं होती हैं और भाद्रपदादि दो २ मासों को मिलाकर इनकी गणना (व्याख्या) की जाती है। जैसे भाद्रपद और आश्विन को 'वर्षा', कार्त्तिक और मार्गशीर्ष को 'शरद्', पौष और माघ को 'हेमन्त', फाल्गुन और चैत्र को 'वसन्त', वैशाख और ज्येष्ठ को 'ग्रीष्म' तथा आषाढ और श्रावण को 'प्रावृट्' कहते है॥१०॥

तत्र,वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रसन्नाः क्षितिमलप्रायाः । ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसञ्चयमापादयन्ति । स सञ्चयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीन् जनयति॥

उन धातुओं में से वर्षा ऋतु में ओषधियाँ तरुण (नूतन) होने से अल्पवीर्य वाली होती हैं तथा जल पृथिवी के मल (सडे गले पदार्थों) से युक्त होने के कारण अप्रसन्न (कलुषित) होता है। आकाश के मेघाच्छन्न होने पर तथा पृथिवी के वृष्टि जल से गीली हो जाने पर क्लिन्न देह वाले तथा शीत (से कुपित) वात से विनष्ट पाचकाग्नि वाले प्राणियों के शरीर में उस दूषित जल तथा ओषधि-सेवन से विदाह रहने लगता है। विदाह से पित्त का सञ्चय होता है। यह पित्त का सञ्चय मेघों के अल्प होने पर और पृथिवी के कीचड़ के शुष्क होने पर सूर्य की किरणों से विद्रुत होकर पैत्तिक व्याधियों को उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रसन्नाः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च । ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्भानोः सतुषारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद्गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसञ्चयमापादयन्ति । स सञ्चयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् व्याधीञ्जनयति ॥ १२ ॥

वे ही ओषधियां हेमन्त ऋतु में समय के परिणाम से परिणतवीर्य (परिपक्व वीर्य वाली) और बलवान् हो जाती हैं तथा जल भी निर्मल, स्निग्ध और अत्यन्त भारी हो जाता है। इस समय सूर्य की रश्मियों के मन्द होने से तथा तुषार (बर्फ) से मिली वायु के सम्पर्क द्वारा स्तम्भित देह वाले प्राणियों में प्रयुक्त की हुई वे ओषधियां और जल मधुरपाकी होकर स्नेह, शीतता, गुरुता (भारीपन) और चिक्कणता के कारण कफ का सञ्चय करती हैं। यह सञ्चित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से पिघल कर कुछ स्तब्ध हुई देह वाले प्राणियों में श्लैष्मिक रोग पैदा करता है ॥ १२ ॥

ता एवौषधयो निदाघे निस्सारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाद्वैशद्याच्च वायोः सञ्चयमापादयन्ति । स सञ्चयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातवर्षैरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति । एवमेष दोषाणां सञ्चयप्रकोपहेतुरुक्तः ॥ १३ ॥

ये ही ओषधियां और जल ग्रीष्म ऋतु में साररहित, रूक्ष और अत्यन्त हल्की हो जाती हैं। उक्तगुण वाली प्रयुज्यमान ये ओषधियां और जल सूर्य की गरमी से शुष्क देहवाले मनुष्यों में रूक्षता, लघुता और विशदता (निःस्नेहता) के कारण वायु का सञ्चय करती हैं। यह वायु का सञ्चय प्रावृट ऋतु में भूमि के जल द्वारा अधिक गीली होने पर क्लिन्न देह वाले प्राणियों में शीत, वात और वर्षा के कारण वातिक विकारों को उत्पन्न करता है। इस तरह दोषों के सञ्चय और प्रकोप के हेतु का वर्णन किया है ॥ १३ ॥

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु सञ्चितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम् ॥१४॥

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म में सञ्चित हुये तथा शरद्, वसन्त और प्रावृट् ऋतु में कुपित हुये दोषों का (उचित शास्त्रोक्त उपायों द्वारा) निर्हरण करना चाहिये ॥ १४ ॥

विमर्श—मिथ्या आहार-विहारादि से सञ्चित दोषों का संशोधन उनकी चयावस्था में ही करना चाहिये। "चय एव जयेद्दोषम्" (वाग्भट)। सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः। ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ (सुश्रुत) सञ्चितदोषहरणविधिः—माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः। सहस्यप्रथमे चैव हारयेद्दोषसञ्चयम् ॥ (च० सू० अ० ७)। श्रावणे कार्त्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत् ॥ (वाग्भट)।

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मि-

काणां निदाघे, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव। त एते सञ्चयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

पित्तजन्य रोगों का शमन हेमन्त में, कफजन्य रोगों का शमन ग्रीष्म में और वातजन्य रोगों का शमन शरद् ऋतु में स्वभाव से ही हो जाता है। इस तरह दोषों के सञ्चय, प्रकोप और प्रशमन की व्याख्या की गई है ॥ १५ ॥

विमर्श—प्रायेण प्रशम याति स्वयमेव समीरण। शरत्काले वसन्ते च पित्त प्रावृड्तौ कफ ॥ (शार्ङ्गधर)।

तत्र, पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्॥१६॥

दिन के पूर्व भाग में वसन्त ऋतु के लक्षण होते हैं, एवं मध्याह्न में ग्रीष्म, अपराह्न में प्रावृट्, सन्ध्या के समय वर्षा, आधीरात में शरद् और सूर्योदय के पूर्व (ब्राह्ममुहूर्त्त) में हेमन्त ऋतु के लक्षण होते हैं। इस तरह दिन और रात भी दोषों के सञ्चय, प्रकोप और प्रशमनों द्वारा वर्ष की तरह शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षणों से युक्त माने जाते हैं ॥ १६ ॥

विमर्श—अहोरात्र में वर्ष की तरह प्रतिदिन छहों ऋतुयें तथा उनमें दोषों का सञ्चय, प्रकोप और प्रशमन होते रहते हैं।

तत्र अव्यापन्नेष्वृतुष्वव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्बलवीर्यौजस्कर्यो भवन्ति ॥ १७ ॥

अव्यापन्न (अविकृत=स्वाभाविक) ऋतुओं में ओषधियां तथा जल भी अव्यापन्न अर्थात् अदूषित रहते हैं। उनका उपयोग प्राणशक्ति, आयु, बल, वीर्य और ओज का वर्द्धक होता है ॥ १७ ॥

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्टकारिताः, शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्त्यपश्च ॥ १८ ॥

उन ऋतुओं की व्यापत् (विकृति) अदृष्ट (अधर्म) से होती है। शीत, उष्ण, वायु और वर्षा का वैपरीत्य ओषधियों और जल को बिगाड देता है ॥ १८ ॥

विमर्श—चरकेऽपि "कुतो मूलमेषा वाय्वादीना वैगुण्यमुपपद्यते?, वाय्वादीना यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूल वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्। तेषा तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते।

तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥ १९ ॥

विकृत हुई उन ओषधियों तथा जल के सेवन करने से अनेक प्रकार के रोगों का प्रादुर्भाव अथवा मरक भी उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

विमर्श—मरक को महामारी (Pandemic or epidemic disease) कहते हैं। चरकोक्तकारण—वैगुण्यमुपपन्नाना देशकालानिलाम्भसाम्। गरीयस्त्व विशेषेण हेतुमत सम्प्रवक्ष्यते ॥ वाताज्जलं जलाद् देश देशात् काल स्वभावत.। विषाद् दुष्परिहार्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ॥

तत्र, अव्यापन्नानामोषधीनामपाञ्चोपयोगः ॥२०॥

ऋतुओं की विकृति के समय तथा महामारी रोग उत्पन्न हो जाने पर अदूषित ओषधियां तथा जल का उपयोग करना चाहिये ॥ २० ॥

विमर्श—ऋतुओं की विकृति प्रारम्भ होने के पूर्व ओषधियां उखाड कर सुरक्षित रख लेनी चाहिये जैसा कि चरक में कहा है—तस्मात् प्रागुद्ध्वसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरेच्च, सौम्य! भैषज्यानि यावन्त्योपशान्तरसवीर्यप्रभावाणि। 'शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजै पूर्वमुद्धृतै'। आजकल कॉलरा टायफायड्, प्लेग, चेचक आदि महामारियों के फैलने के पूर्व उनसे बचने के लिये Pro phylaxis treatment किया जाता है जिससे रोग-सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

कदाचिदव्यापन्नेष्वप्यृतुषु कृत्याऽभिशापरक्षःक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः। विषौषधिपुष्पगन्धेन वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते, ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावैर्वा ॥ २१ ॥

किसी किसी समय ऋतुओं के ठीक रहने पर भी कृत्या, अभिशाप, राक्षस-पिशाचादिकों के क्रोध और अधर्म से देश के देश विनष्ट हो जाते हैं। कभी २ विषयुक्त अथवा विषैले पुष्पों की गन्ध से दूषित वायु द्वारा वातादि दोषों तथा सात्विकादि प्रकृति की विशेषता के विना ही कास, श्वास, वमन, प्रतिश्याय, शिरोवेदना तथा ज्वर से देशवासी पीडित हो जाते हैं। किंवा सूर्यादि ग्रह तथा अश्विन्यादि नक्षत्रों के अनिष्ट प्रभाव से भी व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं अथवा घर, स्त्री, शयन (पलग), आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न एवं अन्य उपकरणों की दुष्टि होने से तथा अन्य अशुभ-सूचक लक्षणों से रोग उत्पन्न होते देखे गये हैं ॥ २१ ॥

विमर्श—बहुत से रोगों का विष वायुद्वारा प्राणियों पर आक्रमण करता है जैसे-मसूरिका, रोमान्तिका, प्रतिश्याय, मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर (Cerebrospinal Fever), रोहिणी, न्यूमोनिया, कास आदि। पूर्वकाल में एक शत्रु दूसरे शत्रु राजा के देश के जल, वायु, खाद्य-पेय पदार्थों में विषादि मिला देते थे।

तत्र, स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याऽञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाऽभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यम्, एवं साधु भवति ॥ २२ ॥

इस प्रकार की अवस्था में निवास स्थान का परित्याग, शान्तिकर्म, प्रायश्चित्त, मंगल, जप, हवन, उपहार (बलिदान), यज्ञ (इज्या), बद्धाञ्जलि प्रणाम, तप, नियम, दया, दान, दीक्षाग्रहण तथा देवता, ब्राह्मण और गुरुओं में श्रद्धाभक्ति करना चाहिये, इससे शान्ति होती है ॥ २२ ॥

विमर्श—नरकोक्तोपाया -"येषा न मृत्युमामान्यं सामान्य न च कर्मणाम्। कर्म पञ्चविधं तेषा भेषज परमुच्यते॥ हित जनपदाना च शिवानामुपसेवनम्। सेवन ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥ सद्भिा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्। धार्मिकै. सात्त्विकैर्नित्य सहास्या वृद्धसमतै.॥

अत ऊर्द्ध्वमव्यापन्नानामृतूनां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः॥ २३॥

इसके आगे अव्यापन्न (अदूषित=शुद्ध) ऋतुओं के लक्षण कहते हैं॥ २३॥

वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः।
छन्नस्तुषारैः सविता हिमानद्धा जलाशयाः॥ २४॥
दर्पिता ध्वाङ्क्षखड्गाहमहिषोरभ्रकुञ्जराः।
रोध्रप्रियङ्गुपुन्नागाः पुष्पिता हिमसाह्वये॥ २५॥

हेमन्त ऋतु में उत्तर दिशा की ठण्डी वायु चलती है, चारों दिशाएं धूलि और धूए से व्याप्त रहती हैं। सूर्य तुषार (हिमपात) से आच्छादित रहता है, तडागादि जलाशय बर्फ से ढक जाते हैं, काक, गैंडा, महिष, भैंडा और हस्ती ये अपने मद से दर्पित (मदोन्मत्त) रहते हैं तथा लोध, प्रियङ्गु और पुन्नाग (नागकेशर) के वृक्ष पुष्पित हो जाते हैं॥ २४-२५॥

शिशिरे शीतमधिकं वातवृष्ट्याकुला दिशः।
शेषं हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः॥ २६॥

शिशिर ऋतु में शीत अधिक होता है, दिशाएं वायु और वर्षा से व्याकुल (व्याप्त) रहती हैं तथा शेष लक्षण हेमन्त ऋतु के समान होते हैं जिनका बुद्धिमान् स्वयं ज्ञान कर लेवे॥ २६॥

सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते।
मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते॥ २७॥
वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः।
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः॥ २८॥
दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः।
किंशुकाम्भोजबकुलचूताशोकादिपुष्पितैः॥ २९॥
कोकिलाषट्पदगणैरुपगीता मनोहराः।
दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः॥ ३०॥

वसन्त ऋतु में सिद्ध तथा विद्याधरों की वधुओं के चरणों में लगे हुए अलक्तक (माहोर या लाक्षारस) से अङ्कित मलय गिरि के ऊपर चन्दन पर चढ़ी हुई चमेली-मालती आदि लताओं के आलिङ्गन (अत्यन्त संपर्क) से सुवासित, कामीजनों को आनन्द देने वाली, अनङ्ग (कामदेव) को दीप्त करने वाली तथा स्त्री और पुरुषों के परस्पर मान का भेदक मलयगिरि की दक्षिणी वायु चलती है। इनके अतिरिक्त वसन्त ऋतु में सब दिशाएं निर्मल, वन-उपवनों से शोभायमान, पलाश, कमल, वकुल (मौलश्री), आम्र और अशोक इत्यादि वृक्षों के पुष्पों से शोभित तथा चारो-ओर कोकिला और भ्रमरों के समूह के गुञ्जन (गीत) से मनोहर, दक्षिण दिशा की वायु से व्याप्त तथा अनेक नये २ भूरे-लाल कोमल पल्लवों से शोभित होती हैं॥ २७-३०॥

ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतो नैर्ऋतोऽसुखः।
भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव॥ ३१॥
भ्रान्तचक्राह्वयुगलाः पयःपानाकुला मृगाः।
ध्वस्तवीरुत्तृणलता विपर्णाङ्घ्रिपादपाः॥ ३२॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य तीक्ष्ण किरणों वाला हो जाता है, निर्ऋत दिशा का कष्टदायक पवन चलता है, पृथ्वी गरमी से संतप्त रहती है, अल्पप्रवाह के कारण नदियां पतली (कम जल वाली) हो जाती हैं, चारो दिशाएं प्रज्वलित सी प्रतीत होती हैं, चकवा और चकवी का जोडा पानी की खोज में भ्रान्त से घूमते रहते हैं, हरिण जल पीने के लिये व्याकुल से रहते हैं, छोटे वृक्ष, तृण और लताएं नष्ट हो जाती हैं तथा पेड़ों के पत्ते झड़ जाते हैं॥ ३१-३२॥

प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः।
अम्बुदैर्विद्युदुद्द्योतप्रस्नुतैस्तुमुलस्वनैः॥ ३३॥
कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता॥ ३४॥

प्रावृड् ऋतु में आकाशमण्डल पश्चिम दिशा की वायु से लाये हुये तथा बिजली की चमक के साथ कुछ बरसने वाले और भयङ्कर गर्जन करने वाले मेघों से व्याप्त रहता है एवं पृथ्वी कोमल तथा श्याम रंग की घास से व्याप्त, एव शक्रगोपों (इन्द्रवधू-वीरबहूटी) से उज्ज्वल तथा कदम्ब, नीप, कुटज, सर्ज, केतकी से भूषित रहती है॥ ३३-३४॥

विमर्श—वाल्मीकिकृतवर्षावर्णने—'बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।

तत्र वर्षासु नद्योऽम्भश्छन्नोत्खाततटद्रुमाः।
वाप्यः प्रोत्फुल्लकुमुदनीलोत्पलविराजिताः॥ ३५॥
भूरव्यक्तस्थलश्वभ्रा बहुससयोपशोभिता।
नातिगर्जत्स्रवन्मेघनिरुद्धार्कग्रहं नभः॥ ३६॥

वर्षा ऋतु में नदियां जल से पूर्ण हो कर अपने प्रबल प्रवाह से तीर के ऊपर के स्थित पेडों को उखाड देती हैं। बावड़ियां अत्यन्त खिले हुए कुमुद (श्वेत कमल) तथा नील कमलों से शोभायमान रहती है। पृथिवी घास से ढकी होने से उसके ऊपर विद्यमान स्थल और गड्ढे विदित नहीं होते हैं तथा अनेक प्रकार के धान्यों से सुशोभित रहती है। इसी तरह मन्द-मन्द ध्वनि कर के बरसते हुए मेघों से सूर्य और नक्षत्र तथा आकाश छिपे रहते है॥ ३५-३६॥

बभ्रुरुष्णः शरद्यर्कः श्वेताभ्रविमलं नभः।
तथा सरांस्यम्बुरुहैर्भान्ति हंसांसघट्टितैः॥ ३७॥
पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेपु भूः।
बाणसप्ताह्वबन्धूककाशासनविराजिता॥ ३८॥

शरद् ऋतु मे सूर्य पिङ्गलवर्ण का तथा उष्ण रहता है। आकाश श्वेत बादलों से निर्मल (स्वच्छ) दिखाई देता है। हंसों के इधर-उधर चलने से उनके कंधों से घट्टित (आलोडित) कमलों से सरोवर शोभायमान रहते है। तथा नीचे-ऊंचे

और समान स्थानों में पृथिवी कीचड़युक्त, शुष्क (सूखी) और द्रुम (वल्मीक=विमवट बनाने वाली चीटियों) से व्याप्त हो जाती है तथा झिण्टी, सतौना, गुलदुपहरिया, काश और विजयसार से शोभित रहती है ॥ ३७-३८ ॥

विमर्श—वल्मीककारिण्य सूक्ष्मा पिपीलिका द्रुमा उच्यन्ते। इति डल्हण ।

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः ।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम् ॥ ३९ ॥

ऋतुओं में अपने स्वाभाविक गुणों के अधिक मात्रा में बढने से तथा विपरीत होने से किंवा अपने गुणों के विषम होने से प्राणियों के शरीर-स्थित वातादि दोष प्रकुपित होते हैं ॥ ३९ ॥

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासु शमयेद्वायु प्राग् विकारसमुच्छ्रयात् ॥ ४० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या-
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

रोग उत्पन्न होने के पूर्व वसन्त ऋतु में वमनादि विधि से कफ का हरण, शरद् ऋतु में विरेचन द्वारा पित्त का हरण और वर्षा ऋतु में स्नेहपान, वस्ति आदि उपायों से वात का संशमन कर देना चाहिये ॥ ४० ॥

विमर्श—विरेचन हि पित्तस्य जयाय परमौषधम् । चरके दोषहरणोपदेश.—हैमन्तिक दोषचय वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकम-ऋकाले । वनात्यये वार्षिकमाशु सन्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान् न जातु ॥ आजकल दोषशामक सुन्दर उपाय का उपयोग न करने से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में वातादि रोगों की प्रबलता होती रहती है। उक्त क्रम का पालन करना अत्यन्त श्रेष्ठ है। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम् । Prevention is better then cure.

इत्यायुर्वेदतत्त्वसदीपिकाभाषायां षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से 'यन्त्रविध' अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१-२॥

विमर्श—यन्त्रव्युत्पत्ति —यन्त्र्यते शस्त्रकर्मसमये नियन्त्र्यते रोगी रोगो वाऽनेनेति यन्त्रम् । शल्याहरणोपायो वा यन्त्रम् ।

यन्त्रशतमेकोत्तरम्, अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ । किं कारणम् ? यस्माद्धस्ताहते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव, तदधीनत्वाद् यन्त्रकर्मणाम् ॥ ३ ॥

यन्त्र एक सौ एक १०१ होते हैं। यहां हाथ को ही प्रधान यन्त्र जानना चाहिये कारण कि हस्त के विना यन्त्रों का प्रयोग असम्भव है क्योंकि यन्त्रकर्म हाथ के ही अधीन होते हैं ॥३॥

विमर्श - यन्त्र एक सौ एक १०१ ही होते हैं ऐसा यहां तात्पर्य नहीं है, ये अनेक हो सकते हैं। 'स्वबुध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि च उपकल्पयेत्। अतः कर्मव-शात्तेषामियत्ताऽवधारणमशक्यम् । (अ० सं०)।

तत्र, मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि, तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि ॥ ४ ॥

मन और शरीर को बाधा (दुःख) पहुंचाने वाले भावों को शल्य तथा इन को निकालने के उपकरणों या उपायों का नाम 'यन्त्र' है ॥ ४ ॥

विमर्श—मनःशल्य कोई दृश्यमान पदार्थ नहीं है अतः उसे यन्त्र-शस्त्रों से निकाला भी नहीं जा सकता, इस दोष के निराकरणार्थ सुश्रुत सूत्रस्थान के २६ वें अध्याय में "सर्वशरीरावाधकर शल्यम्" ऐसा शल्यलक्षण किया है। आहरणोपाय-विशेषकर स्वस्तिक, सदश और तालयन्त्र का कार्य है किन्तु अन्य कार्य भी यन्त्रों के होते हैं।

१—दर्शन कार्य—जैसे कण्ठशल्यावलोकन, योनिव्रणेक्षणादि। निम्न यन्त्र रोग या शल्य-दर्शनार्थ हैं—Laryngoscope, Pharyngoscop, Gorethroscope, Cystoscope, Auroscope, Proctoscope, Sigmoidoscope, Vaginal speculum, Rectal speculum, Nasal Speculum, इत्यादि। २—क्रियासौकर्य में स्पेकुलम तथा डायरेक्टर्स। ३—विशोधनकार्य—जैसे मूत्रमार्ग-शोधक कैथेटर. साउण्ड, स्पून, स्कूप डायलेटर्स आदि।

तानि षट्प्रकाराणि, तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि, तालयन्त्राणि, नाडीयन्त्राणि, शलाकायन्त्राणि, उपयन्त्राणि चेति ॥ ५ ॥

इन यन्त्रों के आकृतिभेद से ६ प्रकार हैं। जैसे स्वस्तिक यन्त्र (Cruci form instruments), सन्दशयन्त्र (Forceps), तालयन्त्र (Scoop or Spoon), नाडीयन्त्र (Speculum), शलाकायन्त्र (Probes) और उपयन्त्र ॥ ५ ॥

तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे संदंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर्नाड्यः, अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि ॥ ६ ॥

उनमें से स्वस्तिकयन्त्र २४ चौबीस प्रकार के, सन्दंशयन्त्र २ दो प्रकार के, तालयन्त्र भी २ दो ही प्रकार के, नाडीयन्त्र बीस २० प्रकार के शलाकायन्त्र २८ अट्ठाइस प्रकार के और उपयन्त्र २५ पचीस प्रकार के होते हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—'अष्टाङ्गहृदय' में ४ चार प्रकार के सन्दंशयन्त्र, २३ तेईस प्रकार के नाडीयन्त्र, ३४ चौंतीस प्रकार के शलाका-यन्त्र और १९ उन्नीस प्रकार के उपयन्त्र माने हैं।

तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति, तत्प्रतिरूपकाणि वा तदलाभे ॥ ७ ॥

प्रायः करके ये यन्त्र लौह के बनाये जाते हैं किन्तु लौह के अभाव में उसके सदृश पदार्थों के भी बनाये जा सकते हैं॥७॥

विमर्श—लौह शब्द से फौलाद या स्टील ही ग्रहण करें नकि, सोना, चांदी आदि। किन्तु लौह (Iron) न मिलने

पर सोना, चांदी, तांबा आदि धातु तथा शृङ्ग, लकड़ी और हाथी के दांत का उपयोग हो सकता है।

तत्र, नानाप्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणां प्रायशः सदृशानि। तस्मात् तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्रदर्शनाद् युक्तितश्च कारयेत्॥

यन्त्रों की बनावट या सकल (स्वरूप) के लिये कहा है कि अनेकप्रकार के हिंसक पशु, मृग और पक्षियों के मुख के समान इनका मुख बनाना चाहिये क्यों कि इन जानवरों के मुख प्रायः यन्त्रों के समान होते हैं। इसलिये उक्त प्रकार के पशु-पक्षियोंके मुख-सादृश्यानुसार, आगम (शास्त्र) के प्रमाणानुकूल, अनुभवी वैद्यों के कथनानुसार एवं पूर्वकाल में बने हुये यन्त्रों के समान और युक्तिपूर्वक यन्त्रों का निर्माण करना चाहिये॥ ८॥

समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत्॥ ९॥

यन्त्रों को समाहित (प्रमाणबद्ध, न अधिक मोटे और न अधिक छोटे), आवश्यकतानुसार कोई खुरदरे और कोई मुलायम मुख वाले, अत्यन्त मजबूत, सुन्दर और जिन्हें ठीक तरह से हाथ में पकड़ सकें ऐसे बनावें॥ ९॥

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि, सिंहव्याघ्रवृकतरक्षुवृत्तद्वीपिमार्जारशृगालमृगैर्वारुककाककङ्कुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रक्रौञ्चभृङ्गराजाञ्जलिकर्णावभञ्जननन्दिमुखमुखानि, मसूराकृतिभिः कीलैरवबद्धानि, मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गाणि, अस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते॥ १०॥

स्वस्तिक यन्त्रों को १८अट्ठारह अङ्गुल प्रमाण के लम्बे तथा सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, तरक्षु (चरख), भालू (रींछ), चीता, बिल्ली, गौदड़, हरिण, हरिण के समान पशु (एर्वारुक), कौआ, कंक (बगुला), कुरर, चास, भास, शशघाति (खरगोश को मारने वाला) उल्लू, चिल्ली (चील), श्येन (बाज), गीध, क्रौंच, भृङ्गराज, अञ्जलिकर्ण, अवभञ्जन और नन्दिमुख इन के मुखों के समान मुखवाले तथा मसूर के समान कील से सिरे (दोनों खण्ड के मेल) पर मुड़े हुये एवं मूलभाग में अङ्कुश के समान मोड़े हुये पकड़ने के स्थान वाले होने चाहियें। ये 'स्वस्तिकयन्त्र' अस्थि में अथवा जहां कहीं भी शल्य हो उसे निकालने के लिये प्रयुक्त होते हैं॥ १०॥

विमर्श—स्वस्तिकयन्त्रों को Forceps कह सकते हैं। आज कल मुख्य 'स्वस्तिकयन्त्र, निम्न हैं—

प्राण्यङ्गसाम्यवाले—सिंहमुख Lion Forceps, शशघातिमुख Dental Hawk bill Forceps, मूषिकमुख Mouse teeth Forceps, मकरमुख Crocodile Forceps, श्वमुख Bulldog Volsalla, कार्यानुसार नामवाले—Bone Forceps, Dental Forceps।

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशाङ्गुलौ भवतः। तौत्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते॥ ११॥

सनिग्रह (कीलयुक्त With handle) और अनिग्रह (कील रहित Without handle) ऐसे दो प्रकार के सन्दंशयन्त्र होते हैं तथा ये १६ सोलह अङ्गुल लम्बे होते हैं। इनका उपयोग त्वचा, मांस, सिरा और स्नायु में प्रविष्ट शल्य को निकालने के के लिये होता है॥ ११॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रह के "सनिबन्धनो निर्निबन्धनश्च षोडशाङ्गुलौ सन्दंशौ द्वौ भवत।" इस पाठ की टीका में सनिबन्धन का अर्थ कीलबद्ध किया है। अर्थात् With a catch और निर्निबन्धन का Without a catch ऐसा अर्थ होता है जिससे Dressing Forceps या V के आकार के Forceps ग्रहण किये जा सकते हैं। अष्टाङ्गहृदय भी ऐसे ही सन्दंश लिखता है। "कीलबद्धविमुक्ताद्यौ संदंशौ षोडशाङ्गुलौ" वाग्भट ने इन दो के अतिरिक्त तीसरा ६ अङ्गुल का सन्दंश (षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपदमणाम्) और चौथा मुचुण्डीसन्दंश (मुचुण्डीसूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचकभूषणा। गम्भीरव्रणमासानामर्मण. शेषितस्य च) माना है।

तालयन्त्रे-द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालुवदेकतालद्वितालके, कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम्॥ १२॥

'तालयन्त्र' संख्या में २ दो तथा १२ बारह अङ्गुल के होते हैं तथा वे मत्स्य के तालु के समान एक ताल और द्विताल युक्त होते हैं। इनका उपयोग कान, नासा और नाड़ी के शल्यों को निकालने में होता है॥ १२॥

विमर्श—ताल शब्द का सीधा अर्थ निम्न मध्यप्रदेश है तथा मन्दिरों में बजाने के कांस के ताल और हस्ततल भी इसके अर्थ हैं। इस समय इन्हें Scoop या Spoon के रूप में ग्रहण करना चाहिये। एक ताल को Single Scoop तथा द्वितालको Double Scoop कहते हैं।

नाडीयन्त्राणि-अप्यनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखानि, उभयतोमुखानि च। तानि स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थं, क्रियासौकर्य्यार्थञ्चेति। तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगदीर्घाणि च॥ १३॥

नाडीयन्त्र भी अनेक प्रकार के होते है तथा अनेक कार्यों में प्रयुक्त होते हैं। किसी के एक तरफ मुख होता है तथा किसी के दोनों तरफ मुख होता है। नाडीयन्त्रों का प्रयोग स्रोतोगत शल्य को निकालने के लिये, रोगों को देखने के लिये, अर्थात् रोगों की परीक्षार्थ, कुछ नाडीयन्त्रों का उपयोग दूषित रक्त तथा पूय का चूषण करने के लिये एवं अर्श आदि रोगों में क्षारपातनादि क्रिया की सुगमता के लिये होता है। इन नाडीयन्त्रों की मोटाई स्रोतोद्वार के समान तथा लम्बाई आवश्यकतानुसार होती है॥ १३॥

विमर्श—नलिका की भांति अन्दर से पोले तथा एक या दोनों तरफ जिनके मुख हों उन्हें नाडीयन्त्र (Speculum and Scope) कहते है।, "नाडीवान्त सुषिराणि यन्त्राणि नाडीयन्त्राणि" रोगदर्शन के लिये Speculum प्रयुक्त होते है जैसे Nasal Speculum, Ear speculum, Rectal Speculum, Vaginal Speculum, कुछ रोगदर्शक नाडीयन्त्र में प्रकाश का प्रबन्ध होता है

उन्हें 'स्कोप' कहते हैं जैसे Recto Scope, Cysto Scope, Auro Scope, आचूषण क्रिया में दूषित रक्त निकालने को यन्त्र, अलाबु तथा दूषित स्तीदुग्ध को निकालने के लिये Breast pump, उरस्तोय के द्रव को निकालने के लिये Potains Aspirator तथा फोडी हुई पथरी के कणों को निकालने के लिये Eva cuator प्रयुक्त होता है। आजकल अलाबु तथा शृङ्गयन्त्रों के दूषित रक्त-पूयादि के निकालने का कार्य Cupping glasses से किया जाता है। चूषणकार्य के लिये वाग्भट ने घटीयन्त्र भी माना है (तद्वद् घटी क्षिप्ता गुल्मविलयोन्नमने च सा) लोक में इसे कूलडे लगाना कहते हैं। इस घटी में दीपक जला कर या सन के गुच्छ जलाकर पेट औंधी कर देते हैं जिससे चूषणकार्य होता है। शस्त्रक्रिया के सौकर्य में Probe director, Hernia director, Lithotomy director, और Fistula director प्रसिद्ध नाडीयन्त्र हैं।

तत्र भगन्दरार्शो व्रणबस्त्युत्तरबस्तिमूत्रवृद्धिदकोदरधूमनिरुद्धप्रकाशसन्निरुद्धगुदयन्त्राण्यलाबूष्टङ्गयन्त्राणि चोपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

इनमें से भगन्दर नाडीयन्त्र (Rectal Speculum), अर्शोयन्त्र, व्रणयन्त्र (Syringe and irrigator) बस्तियन्त्र (Enema), उत्तरबस्तियन्त्र (Rubber ball vaginal douche) मूत्रवृद्धियन्त्र तथा दकोदरयन्त्र (Canula), धूमयन्त्र (Inhalers or Respirators) निरुद्धप्रकाशयन्त्र (Prepuce or Urethral dilator) सन्निरुद्धगुदयन्त्र Rectal dilator or Bougie), अलाबूयन्त्र और शृङ्गयन्त्र इनका विस्तृत वर्णन पृथक् करेंगे ॥ १४ ॥

विमर्शः—डल्हण ने अपनी टीका में एकछिद्र तथा द्विछिद्र ऐसे भगन्दरयन्त्र तथा अर्शोयन्त्र के २-२ दो दो भेद माने हैं। बस्तियन्त्र के ६ छ, ८ आठ, १० दस और १२ द्वादश अङ्गुल लम्बे ऐसे ४ भेद, धूमयन्त्र के वैरेचनिक, स्नैहिक, प्रायोगिक ऐसे ३ भेद एवं शेष मूलोक्त मिलकर कुल २० नाडीयन्त्र माने हैं। हाराणचन्द्र जी ने अपनी टीका में अर्शोयन्त्र स्त्री और पुरुष भेद से २, बस्तियन्त्र ४, उत्तरबस्तियन्त्र पुरुषों के २ दो, स्त्रियों के २ दो तथा कन्याओं के लिये १ एक ऐसे ५ पांच, धूमयन्त्र-प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासघ्न और व्रणधूपनार्थ ऐसे ५, शेष मूलोक्त मिला के नाडीयन्त्रों के २० भेद किये हैं। वाग्भट ने सुश्रुतोक्त मूल के १२ बारह अथवा टीकाकारों के २० बीस नाडीयन्त्रों के सिवाय निम्न ६ नाडीयन्त्र ज्यादा माने हैं। १—कण्ठशल्यावलोकिनी नाडी (Throat Speculum), शल्यनिर्घातिनी अङ्गुली त्राणक (Finger guard) शमीयन्त्र, घ्राणार्बुदार्शोयन्त्र (Nasal Speculum), योनिव्रणेक्षणयन्त्र (Vaginal speculum)।

शलाकायन्त्राणि—अपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च। तेषां गण्डूपदसर्पफणशरपुङ्खबडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते। मसूरदलमात्रमुखे द्वे किञ्चिदानताग्रे स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थम्; पट् कार्पासकृतोष्णीषपाणि प्रमार्जनक्रियासु। त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि, क्षारौषधप्रणिधानार्थम्। त्रीण्यन्यानि जाम्बवावदनानि, त्रीण्यङ्कुशावदनानि, पडेवाग्निकर्मण्यभिप्रेतानि। नासाऽर्बुदहरणार्थमेकं कोलास्थिदलमात्रमुखं खल्लतीक्ष्णोष्ठम्। अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रम्। मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति ॥ १५ ॥

शलाकायन्त्रों के भी अनेक भेद हैं। ये अनेक कार्यों में प्रयुक्त होते हैं तथा प्रयोजन के अनुसार मोटाई तथा लम्बाई वाले होते हैं। इनमें गण्डूपदमुखी अर्थात् केंचुए के समान मुखवाली (Blunt probe), सर्पफणमुखी (Retractors), शरपुङ्खमुखी और बडिशमुखी (Hooks) ये २-२ दो दो होती हैं। इन का उपयोग क्रमशः एषण (Probbing), व्यूहन (ऊपर को उठा कर बाहर निकालना), चालन और आहरण में होता है। मसूर की दाल के समान मुखवाली किञ्चित् नीचे की ओर मुडी हुई २ दो शलाकाएं होती हैं जो स्रोतोगत शल्य के निकालने में प्रयुक्त होती हैं। शिर पर कार्पास (रूई) लिपटी हुई ६ शलाकाएं Swab probes) होती हैं जिन्हें व्रणादि को पोंछने में प्रयुक्त करते हैं। दर्वी (कलछी) के समान आकृति वाली तथा खल्ल (औषधमर्दन पात्र) की तरह कुछ गट्टेदार ३ तीन शलाकाएं (Spoons) होती हैं। इनको व्रणादिक में क्षार तथा अन्य औषध लगाने के प्रयोग में लेते हैं। इसी तरह अन्य ३ तीन शलाकाएं जामुन फल के समान मुख वाली होती हैं एवं ३ तीन अङ्कुश के सदृश मुखवाली होती हैं इन ६ छहों शलाकाओं को अग्निकर्म (Cautery) में प्रयुक्त करते हैं। नासिका के अर्बुद को निकालने के लिये बेर की गुठली के समान मुखवाली तथा खरल के किनारों की तरह तेज किनारों वाली एक शलाका (Nasal Curette) होती है इसी तरह बीच में मटर के समान गोल तथा दोनों किनारों पर मुकुलाकार (पुष्पकलिका समान पतली) पतली एक शलाका होती है जिसे नेत्रों में सुरमा आंजनों के लिये प्रयुक्त करते हैं। मालती पुष्प के वृन्त (डठल) के अग्र के समान मोटाई तथा गोलाई या लम्बाई के प्रमाण वाली एक शलाका (Urethral sound or Bougie) होती है जो कि मूत्रमार्ग के शोधनकर्म में प्रयुक्त होती है ॥ १५ ॥

विमर्शः—वाग्भट ने निम्न ५ शलाकाएं अधिक मानी हैं। गर्भशङ्कु (Blunt hook and crotchet) सर्पफणमुखी (Lithotomy Scoop) कर्णशोधनयन्त्र (Ear Scoop) शरपुङ्खमुखयन्त्र (Tooth elevator) अर्धेन्दुमुखीशलाका।

उपयन्त्राणि—अपि रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कललतावस्त्राष्टीलाऽश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखबालाश्वकटकशाखाष्टीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तमयानि क्षाराग्निभेषजानि चेति ॥ १६ ॥

✓उपयन्त्रों में रस्सी, वेणिका, पट्ट, चर्म, अन्तरछाल, लता, वस्त्र, अष्ठीलाग्रन्थि के आकार का पत्थर, मुद्गर, पाणितल, पादतल, अङ्गुलि, जिह्वा, दांत, नख, मुख, बाल, अश्वकटक (घोड़े की काठी), वृक्ष की शाखा, ष्ठीवन (थूकना), प्रवाहण, हर्ष, अयस्कान्त, क्षार, अग्नि, और भेषज कहे गये हैं॥१६॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातः शस्त्रावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से शस्त्रावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लियेकहा था॥

विमर्शः—शस्त्राणामवचारणमुपयोगो यस्मिन्नध्यायेऽस्ति स शस्त्रावचारणीयस्तं तथोक्तम्।

विंशतिः शस्त्राणि, तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्द्धधारसूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकबडिशदन्तशङ्कुक्षेपण्य इति ॥ ३ ॥

शस्त्र बीस प्रकार के होते हैं। उनकी गणना इस प्रकार है। १-मण्डलाग्र (Circular knife or Round head knife, Decapitating knife), २-करपत्र (आरी Bone saw) ३-वृद्धिपत्र (प्रयताग्र Scalpel या Dissecting knife तथा अञ्चिताग्र Curved Bistoury), ४-नखशस्त्र (Nail parer), ५-मुद्रिका (Finger knife), ६-उत्पलपत्र (Lancet), ७-अर्धधार (Single edged knife), ८-सूची (Needle-Straight सरल, Half Curved वक्रमुख, Fully Curved धनुर्वक्र), ९-कुशपत्र (Paget's knife or Bistoury), १०-आटीमुख (चक्रवर्तिमते Hawk bill Scissors, सामान्यत. यह Lancet है), ११-शरारीमुख (Pair of Scissors), १२-अन्तर्मुख (Curved Bistoury), १३-त्रिकूर्चक (Trocar or Brush), १४-कुठारिका (कुठारसदृश Axeshaped knife), १५-व्रीहिमुख (Trocar), १६-आरा (Awl आल), १७-वेतसपत्र (Narrow oladed knife या scalpel), १८-बडिश (Hook), १९-दन्तशङ्कु (Tooth scater) २०-एषणी (Sharp Probe, Probe director) ॥३॥

विमर्शः—वाग्भट ने उक्त बीस शस्त्रों के अतिरिक्त निम्न शस्त्र अधिक माने हैं। सर्पास्य घ्राणकर्णशौछेदनार्थम्। लिङ्गनाशवेधनी शलाका (Cataract Needle) कूर्च, नं० ४, खज, नं० ५ कर्तरी, नं० ६ कर्णवेधनशस्त्र।

तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च। वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्द्धधाराणि छेदने भेदने च। सूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे। कुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च। बडिशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे। एषण्येषणे आनुलोम्ये च। सूच्यः सीवने। इत्यष्टविधे कर्मणि उपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥ ४ ॥

उक्त शस्त्रों में मण्डलाग्र तथा करपत्र छेदन और लेखन कर्म में वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र और अर्द्धधार 'छेदन' और 'भेदन' कर्म में, सूची, कुशयन्त्र, आटीमुख, शरारीमुख, अन्तर्मुख और त्रिकूर्चक 'विस्रावण कर्म' में, कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा, वेतसपत्र और 'सूचीवेधनकर्म' में, बडिश तथा दन्तशङ्कु 'आहरणकर्म' में, तथा एषणी और एषण 'अनुलोमन' और 'सूचीसीवन' के कर्म में प्रयुक्त होती है। इस तरह उक्त शस्त्रों का आठ प्रकार के शस्त्रकर्म में उपयोग कहदिया गया है॥

तेषामथ यथायोगं ग्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते-तत्र वृद्धिपत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृह्णीयाद्भेदनान्येवं सर्वाणि। वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रञ्च किञ्चिदुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्यम्। वृन्ताग्रे विस्रावणानि। विशेषेण तु बालवृद्धसुकुमारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणाञ्च त्रिकूर्चकेन विस्रावयेत्। तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां व्रीहिमुखम्। कुठारिकां वामहस्तन्यस्तमितरहस्तमध्यमाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठविष्टब्धयाऽभिहन्यात् आराकरपत्रैषण्यो मूले। शेषाणि तु यथायोगंगृह्णीयात् ॥

अब इन शस्त्रों को कर्म करते समय हाथ में धारण करने (पकड़ने) की विधि कहते हैं। उनमें से 'वृद्धिपत्र शस्त्र' को वृन्त और फल के संयोग स्थान पर पकड़ना चाहिये एवं अन्य सर्वप्रकार के 'भेदक शस्त्रों' को भी इसी तरह पकड़े। 'वृद्धि पत्र' तथा 'मण्डलाग्र' शस्त्र को कुछ उत्तान किये हाथ से पकड़ कर 'लेखन कर्म' में अनेक बार उसका अवचारण (प्रयोग) करना चाहिये। 'विस्रावण कर्म' करने वाले शस्त्रों को वृन्त के अग्रभाग पर पकड़ने चाहिये। विशेषतया बालक, वृद्ध, कोमलाङ्ग, डरपोक और स्त्रियों के तथा राजा और राजपुत्रों के विस्रावण कर्म 'त्रिकूर्चक शस्त्र' से करें। 'व्रीहीमुख शस्त्र' के वृन्त भाग को हस्ततल में ढांक कर अङ्गुष्ठ तथा प्रदेशिनी अङ्गुली से उसे पकड़ना चाहिये। 'कुठारिका' को वामहस्त से पकड़ कर दक्षिणहस्त की मध्यमाङ्गुली से अङ्गुष्ठ का सहारा लेकर उसके शिर पर ठोकनी चाहिये। 'आरा', 'करपत्र' और 'एषणी' को मूलभाग में पकड़ें तथा शेष शस्त्रों को शस्त्रकर्म के सुविधानुसार उनका जो स्थान योग्य हो उसे पकड़ना चाहिये॥५॥

तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ६ ॥

उन शस्त्रों का स्वरूप प्रायः उनके नाम से ही जान लिया जाता है ॥ ६ ॥

तत्र नखशस्त्रैषण्यौ अष्टाङ्गुले, सूच्यो वक्ष्यन्ते, (प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका। दशाङ्गुला शरारिमुखी सा च कर्त्तरीति कथ्यते)। शेषाणि तु षडङ्गुलानि॥

उनमें 'नखशस्त्र' और 'एषणी' आठ आठ अङ्गुल के होते हैं। 'सूचियों' का व्याख्यान आगे किया जायगा। 'मुद्रिकाशस्त्र' प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली के अग्रिम पर्व (पोरचे) के बराबर होता है। 'शरारिमुखी शस्त्र' दश अङ्गुल प्रमाण का होता है उसे 'कर्तरी' (कैंची) कहते हैं। शेष अस्त्र छ अङ्गुल प्रमाण के होते हैं ॥ ७ ॥

तानि सुग्रहाणि सुलोहानि सुधाराणि सुरूपाणि सुसमाहितमुखाग्रैरकरालानि चेति शस्त्रसम्पत् ॥८॥

इन शस्त्रों की मूठें (Handle) उत्तम हों जिससे ये सुग्रह हों (ठीक तरह से पकड़े जा सकें), ये अच्छे लौह (कान्तलौह या Steel) से बने हों, अच्छी धार वाले, दीखने में सुन्दर, इनके मुख का अग्रभाग ठीक बना हो, तथा ये शस्त्र अकराल (दांते रहित) होने चाहिये। ये लक्षण 'शस्त्र सम्पत्' के नाम से कहे गये हैं ॥ ८ ॥

तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं, खरधारम्, अतिस्थूलम्, अतितुच्छम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, इत्यष्टौ शस्त्र दोषाः । अतो विपरीतगुणमाददीत, अन्यत्र करपत्रात् । तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् ॥ ६ ॥

इनमें वक्र (टेढे), धारा में कुण्ठित, प्रयोग के समय या ऐसे ही पडे २ खण्डित होते रहना, खुरदरी धारवाले अधिक मोटे, अधिक पतले, अधिक लम्बे, अधिक छोटे ये आठ 'शस्त्रों के दोष' हैं। इन दोषों से विपरीत गुणवाले शस्त्रों को ग्रहण करें किन्तु 'करपत्र' खरधार वाला ही अस्थिछेदन में उपयुक्त होता है ॥ ९ ॥

तत्र धारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्द्धमासूरी, व्यधनानां विस्रावणानाञ्च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति ॥ १० ॥

इनमें 'भेदनकर्म' करने वाले शस्त्रों की धारा मसूर के समान, 'लेखनकर्म' में प्रयुक्त शस्त्रों की धारा अर्धमासूरी, 'व्यधन' तथा 'विस्रावण कर्म' करने वाले शस्त्रों की धारा कैशिकी (केशसदृशतन्वी) और 'छेदन कर्म' करने वाले शस्त्रों की धारा अर्धकैशिकी होनी चाहिये ॥ १० ॥

वडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे । तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखेषणी गण्डूपदाकारमुखी च ॥ ११ ॥

'बिडिश' और 'दन्तशङ्कु' ये दोनों शस्त्र अग्रभाग पर मुड़े हुये होते हैं। तीखे कांटे के समान मुखवाली, यव के नवीन उत्पन्न पत्र के समान मुख वाली और केंचुए के समान आकार तथा मुख वाली ऐसे तीन प्रकार की 'एषणी' होती है ॥ ११ ॥

विमर्शः—"वडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखे, एषणी गण्डूपदाकारमुखी । तीक्ष्णकण्टक समान 'वडिश' तथा प्रथम यवपत्र समान 'दन्तशङ्कु' और गण्डूपद के आकार की 'एषणी' ऐसा पाठान्तर है जिसे 'हाराणचन्द्रजी' ने भी माना है।

तेषां पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु । तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु ॥ १२ ॥

शस्त्रों को तेज करने के लिये इन्हें गरम कर क्षार, जल और तैल में डुबाते हैं। इस क्रिया को 'पायना' कहते हैं तथा यह क्षार, उदक और तैल ऐसे तीन प्रकार की होती है। 'क्षारपायित शस्त्र' शर (बाण) के शल्य को निकालने तथा अस्थिछेदन में प्रयुक्त होता है। 'उदकपायित' शस्त्र को मांस के छेदन, भेदन और पाटन कर्म में प्रयुक्त करना चाहिये। 'तैलपायित' शस्त्रों को सिराओं के वेधन कर्म तथा स्नायुच्छेदन कर्म में प्रयुक्त करें ॥ १२ ॥

विमर्शः—पायना (Tempering) निवृत्तानां शस्त्राणां तत्तद्द्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना। सा च तत्तद्द्रवप्रभावात् कर्मविशेषोत्कर्षकरी भवति । (हाराणचन्द्रः) "पायितं द्रवेण तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिनां भाषा" (इन्दुः)

तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा, धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥ १३ ॥

शस्त्रों की धारा को तेज करने के लिये उड़द के रंग की (काली) खुरदरी शिला होती है। शस्त्रों की धारा को स्थिर रखने के लिये सेमल के वृक्ष का फलक उपयोग में आता है ॥

विमर्शः—कुण्ठित शस्त्र को प्रथम 'निशातनी' (Whet stone) पर घर्षण द्वारा तीक्ष्ण कर पश्चात् 'शाल्मलिफलक' (आजकल 'नाई चर्मपट्ट' काल में लाते हैं) पर नाइयों की दृष्टविधि के अनुसार दो तीन वार शस्त्र को घिस लेवें या फेर लेवें इस 'धारासंस्थापना' को Stropping कहते हैं। वाग्भट ने शस्त्रों को सुरक्षित रखने के लिये एक 'शस्त्रकोश' (Surgical instrumeat Case) का वर्णन किया है। स्यान्नवाङ्गुलविस्तार- सुखनो द्वादशाङ्गुल- । क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥ विन्यस्तपाशः सुस्यूत- सान्तरोर्णास्यशस्त्रकः । शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोश. सुसञ्ज्ञय- ॥

भवति चात्र ।

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥ १४ ॥

जब 'निशातनी' पर घिसा हुआ शस्त्र रोम काटने में समर्थ हो जाय (जैसा कि नाई अपने पांव या हाथ के बालों पर धार दिये छुरे की बाल काटने के पहिले परीक्षा कर लेते हैं तथा सुसस्थित (शोभनाकृति) हो और उसे शास्त्र प्रमाणानुसार हाथ में धारण कर पश्चात् शस्त्रकर्म में प्रयुक्त करे ॥ १४ ॥

अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकाऽग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुलय इति ॥ १५ ॥

बांस की छाल, स्फटिक पत्थर, कांच, कुरुविन्द, जोंक, अग्नि, क्षार, नख, गोजी (गाजवा), हार श्रृङ्गार का पत्ता, शाकपत्र (सागौन का पत्ता), करीर, बाल और अङ्गुलियां ये 'अनुशस्त्र' हैं ॥ १५ ॥

विमर्शः—'अनुशस्त्र'—अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि, (इन्दुः) । अथवा शस्त्रतुल्यानि—अनुशस्त्राणि, (हाराणचन्द्रः)।

शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत् ।
त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥ १६ ॥
आहार्य्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत् ।
विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् क्षारवह्निजलौकसाम् ॥ १७ ॥
ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये ।
गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्रावयेत्तु तान् ॥
एष्येष्वेषण्यलाभे तु बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः ॥ १८ ॥

बालकों के लिये तथा शस्त्रों से डरने वाले पुरुषों के लिये और जब संयोगवश पास में कोई शस्त्र न हो तब छेदन और भेदन कर्म करने के लिये 'त्वक्सारादि' (वंश, स्फटिक, काच, कुरुविन्द) अनुशस्त्र का प्रयोग करें। आहरण, छेदन भेदन तथा अन्य शक्य (करने योग्य) शस्त्रकर्म को करने के लिये नाखूनों का प्रयोग करना चाहिये।

क्षार, अग्नि और जलौकाओं के प्रयोग की विधि आगे के अध्यायों में कहेंगे। जो रोग मुख में उत्पन्न होते हैं उनका तथा नेत्रों के वर्त्म में होने वाले रोगों का विस्रावण गोजी, शेफालिका और शाक के पत्रों से करना चाहिये। एष्यकर्म में 'एषणी' का प्रयोग करें तथा एषणी के अभाव में बाल, अङ्गुलियों और अङ्कुरों का उपयोग करना चाहिये ॥ १६-१८ ॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रह में उक्त चतुर्दश अनुशस्त्रों के अतिरिक्त सूर्यकान्त (Converging glass) त्वग्दाह के लिये, समुद्रफेन (Cuttle fish bone) लेखनकर्म के लिये तथा शुष्कगोमय ये तीन 'अनुशस्त्र' अधिक वर्णित किये गये हैं।

शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु।
कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥ १९ ॥

बुद्धिमान् वैद्य इन शस्त्रों को शुद्ध (अपद्रव्यरहित) शैक्यायस (तीक्ष्णायस, फौलाद Steel) से करणप्राप्त (उपकरणबनाने में चतुर) कर्मकोविद (लौहकार शास्त्र के पण्डित) ऐसे कर्मार (लुहार) से बनवावे ॥ १९ ॥

प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छस्त्राणां ग्रहणे सदा ॥ २० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्राहरणीयो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

शस्त्रों अनुशस्त्रों, यन्त्रों अनुयन्त्रों आदि के प्रयोग (उपयोग) को भलीभांति जानने वाले वैद्य को सदा शस्त्रकर्म में या रोगी को ठीक करने में सिद्धि (सफलता) प्राप्त होती है इस लिये हमेशा शस्त्रग्रहण करने में परिचय (अभ्यास) करना चाहिये ॥ २० ॥

इत्यायुर्वेददत्त्वसदीपिकाभाषायामष्टमोऽध्यायः।

नवमोऽध्यायः।

अथातो योग्यासूत्रीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'योग्यासूत्रीय' अध्याय का वर्णन करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१-२॥

विमर्श—योग्यासूत्रीयम्-योग्या सम्यक्कर्मान्यास, योग्याया सूत्रं, तद्विषये यस्मिन् स तथा। अन्ये तु योग्यास्थापकं सूत्रं योग्यासूत्रं तदधिकृत्य कृतोऽध्यायो योग्यासूत्रीयस्तं तथेति। कर्तव्यकर्मणः सम्यग्योगाय तत्सदृशकर्माभ्यासो योग, "योग कर्मसु कौशलम्" तेन योगाय प्रभवतीति योग्या तत्या सूत्रं योग्यासूत्रं तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थस्तं तथेति चक्र 'योग्या' को डाक्टरी में ओपरेटिव सर्जरी (Operative Surgery) कहते हैं तथा मृतशरीर (Dead body) पर यह अभ्यास कराया जाता है।

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्याङ्कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत्। सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यः कर्मस्वयोग्यो भवति ॥ ३ ॥

सर्वशास्त्र को पढ़े हुये शिष्य को भी 'योग्या' (प्रत्यक्ष कर्माभ्यास) करवानी चाहिये। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, तथा छेदन, भेदन, वेधन आदि शस्त्रकर्मों में कर्मपथ (मार्गदर्शन) का उपदेश करें। अच्छी प्रकार से अनेक शास्त्रों को श्रवण किया (पढा) हुआ भी शिष्य (छात्र) ने यदि 'योग्या' को न सीखा हो तो वह प्रत्यक्षकर्मों (शस्त्रकर्म, चिकित्साकर्म, भेषजादिनिर्माण कर्म) में अयोग्य होता है ॥३॥

तत्र, पुष्पफलालाबूकालिन्दकत्रपुसैर्वारुकर्कारुकप्रभृतिषु छेद्यविशेषान् दर्शयेत्, उत्कर्तनपरिकर्त्तनानि चोपदिशेत्, दृतिवस्तिप्रसेवकप्रभृतिषु उदकपङ्कपूर्णेषु भेद्ययोग्याम्। सरोम्णि चर्मण्यातते लेख्यस्य। मृतपशुसिरासूपलनालेषु च वेध्यस्य। घुणोपहतकाष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबूमुखेष्वेष्यस्य। पनसविम्बीबिल्वफलमज्जामृतपशुदन्तेष्वाहार्य्यस्य। मधूच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य। सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य। पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धनयोग्याम्। मृदुचर्ममांसपेशीपूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिबन्धयोग्याम्। मृदुषु मांसखण्डेष्वग्निक्षारयोग्याम्। उदकपूर्णघटपार्श्वस्रोतस्यलाबूमुखादिषु च नेत्रप्रणिधानबस्तिव्रणबस्तिपीडनयोग्यामिति ॥ ४ ॥

'योग्या' अथवा प्रत्यक्षकर्माभ्यास के लिये पुष्पफल (कोहडा), अलाबू (लौकी, घियाकद्दू), कालिन्दक (तरबूज), त्रपुस (खीरा), एर्वारु (ककडी), कर्कारुक (बालम ककडी) आदि पदार्थों पर 'छेद्यादिकर्म' की विशेषता का अभ्यास कराना चाहिये तथा 'उत्कर्तन' (ऊर्ध्वच्छेद) और 'परिकर्त्तन' (अधश्छेद) भी इन्हीं पर सिखावें। दृति (मशक), वस्ति (Bladder) और प्रसेवक (चर्मनिर्मितभाण्ड) आदि को जल और कीचड से भर कर इन पर 'भेदन कर्म' का अभ्यास कराना चाहिये। विस्तृत और बालदार चमड़े पर 'लेखनकर्म' का अभ्यास, मृत पशुओं की शिराओं (Veins) तथा कमलनालों पर 'वेधनकर्म', घुण लगने से नष्ट हुये काष्ठ, बांस, कमलनाल आदि तथा सूखे हुये तुम्बी के मुखों में 'एषणकर्म' पनस (कटहल), विम्बीफल, (टिंडोरी, कुनस, तुण्डी) और बिल्वफल की मज्जा तथा मृत पशुओं के दांतों पर 'आहरणकर्म' मोम (मधूच्छिष्ट) से लिपटे (लिप्त) हुये सेमल के फलक पर 'विस्रावणकर्म' पतले तथा मोटे दो वस्त्रों के प्रान्तभागों तथा कोमल चमड़े के प्रान्त भागों पर 'सीवनकर्म', वस्त्र अथवा मृत्तिका से बनाये हुये पुतलों (Dummy) के अङ्ग प्रत्यङ्गों पर 'बन्धनकर्म' (Bandaging), मुलायम मांस खण्डों पर 'अग्निकर्म' और 'क्षारकर्म' तथा मुलायम चर्म, मांसपेशियों और कमलनालों पर 'कर्णसन्धिबन्धन' का अभ्यास कराना चाहिये। इसी प्रकार जल से भरे हुये घड़े के पार्श्वछिद्र में तथा तुम्बी के मुख आदि में 'नेत्र' (वस्तिनेत्र) का प्रवेश, 'वस्तिकर्म' और 'व्रणवस्ति कर्म' की शिक्षा देनी चाहिये ॥ ४ ॥

विमर्श—पुस्त-पुस्तो दार्व्यादिमय्याः, स्त्याघाछनेरुपादानकारणं यद्वस्तु तदुच्यते (अरुणदत्त) अन्यच्च—मृदा वा दारुणा

वाऽथ वस्त्रेणाच्छाद्य चर्मणा। लोहरज्जुभिः दृतं वाऽपि पुरुषमित्यभिधीयते॥ पुरुष को Dummy कहते हैं तथा इस पर प्रसवकालीन गर्भगतियों' तथा 'मृढगर्भ के शस्त्रकर्माभ्यास' का ज्ञान कराया जाता है। अन्य सर्व शस्त्रकर्माभ्यास मृत शरीर पर ही कराते हैं। प्राचीन काल में शव स्पर्श के निषिद्ध माने जाने से पुरुष का प्रयोग लिखा है। शवं नस्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति। (मनुः) परन्तु मृत शरीर पर ही सच्ची 'योग्या' सिखाई जा सकती है अतः वैद्यकीय छात्रों को उसी पर Operative Surgery की शिक्षा देवें।

भवतश्चात्र।

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु॥ ५॥

अधिक बुद्धिमान् छात्र उक्त प्रकार के उपकरणों तथा अन्य योग्य वस्तुओं पर 'योग्या' का अभ्यास करता हुआ शस्त्रादि कर्मों को करने में मोहित (कर्तव्याकर्तव्यशून्य) नहीं होता है॥ ५॥

तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु।
यस्य यत्रेह सादृश्यं तत्र योग्यां समाचरेत्॥ ६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस लिये शस्त्र, क्षार और ....अग्निकर्म में कौशल की इच्छा रखता हुआ छात्र जहाँ पर जिस कार्य की समानता या सुगमता देखे उसी पर उस शस्त्रादिकर्म का पूर्ण अभ्यास सम्पादन करे॥ ६॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां योग्यासूत्रीयोनाम नवमोऽध्यायः।

दशमोऽध्यायः।

अथातो विशिखाऽनुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब यहां से 'विशिखानुप्रवेशनीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥

विमर्शः—विशिखाऽत्र कर्ममार्ग उच्यते, तदुद्दिश्यानुप्रवेशनं, यदि वा विशिखाख्या "रथ्या प्रतोली विशिखा" (इत्यमरः) तस्या चिकित्सार्थमनुप्रवेशनमिति चक्रः। प्रशस्तवर्त्मापरपर्यायोऽपि विशिखाशब्दोऽतुरवासवर्त्ममात्रे प्रवर्तते गमकत्वादिति डल्हणचन्द्रः।

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केनानुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या॥ ३॥

गुरु के मुख से शास्त्र को पढ़े हुये तथा तन्त्र (शास्त्र) के अर्थ की उपासना (अभ्यास) करके तथा शस्त्रादि कर्म को गुरु द्वारा करते हुये देखकर, पश्चात् उसकी 'योग्या' का अभ्यास कर शास्त्र को पढाने की कुशलता होने पर उस शास्त्र में प्रवीणता तथा चिकित्सा, शस्त्रकर्मादि के करने की राजा से अनुमति या प्रमाणपत्र (Certificate) प्राप्त कर नख और बालों को कटा कर, स्नानादि से पवित्र हो स्वच्छ श्वेत वस्त्र पहन कर, छाता धारण कर, हाथ में यष्टिका लेकर तथा पांवों में जूते पहन कर सौम्य वेशभूषा धारण कर, मन के भावों को उच्च रखते हुये, मङ्गलकारी शब्द बोलते हुये निश्छल वृत्ति से प्राणियों का बन्धु बन कर, उत्तम सहायक (भृत्य) के साथ वैद्य 'विशिखा' (स्वकर्ममार्ग या रोगी के गृह जाने के मार्ग) में प्रवेश करे॥ ३॥

विमर्शः—पूर्वकाल में राजा की आज्ञा के विना कोई चिकित्साकार्य प्रारम्भ नहीं कर सकता था। राजाज्ञया विना नैव जनैः कार्यं चिकित्सितम्। (शुक्रनीतिः) राजा भी वैद्य की परीक्षा कर अनुमति देता था। "ततो राज्ञा परीक्ष्य वैद्य-प्रचारचार्थमनुमन्तव्य एष धर्मः" (चक्रः) वर्तमान में यद्यपि डाक्टरी चिकित्सा के लिये पढाई का पूर्ण प्रबन्ध तथा प्रमाणपत्र प्राप्ति का सुप्रबन्ध है परन्तु आयुर्वेद की चिकित्सा कोई भी अल्पज्ञ करने लग जाता है जिससे शास्त्र बदनाम होता है। इसलिये ग्रन्थात्मक तथा क्रियात्मक उभय प्रकार से अष्टाङ्ग आयुर्वेद को पढ कर राज्यमान्य संस्थाओं से उत्तीर्ण स्नातकों को ही चिकित्सा का अधिकार होना चाहिये।

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत्, पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः। तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति॥ ४॥

इसके पश्चात् दूत, निमित्त, शकुन और मङ्गल को अनुकूल जान कर रोगी के घर में जा के आसन पर बैठ कर रोगी को देखे, शरीर, नाडी, यकृत्प्लीहादि का स्पर्श करे तथा रोगोत्पत्ति, लक्षण एवं वेदना, निद्रा आना न आना, मल, मूत्र होता है या नहीं होता है' आदि प्रश्न करें। कुछ आचार्यों का मत है कि इन तीन (दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न) रोग ज्ञानोपायों द्वारा प्रायः रोगों को पहचाना जाता है किन्तु यह मत ठीक नहीं है। रोगों के जानने के ६ उपाय (तरीके) हैं। जैसे श्रोत्र नेत्र नासिका, जिह्वा और त्वचा तथा प्रश्न॥ ४॥

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणास्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्निलः सशब्दो निर्गच्छति' इत्येवमादयः। स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयावर्णत्वगबलवर्णविकारादयः। रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः। घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानाञ्च गन्धविशेषाः। प्रश्नेन च विजानीयादेशं कालं जातिं सात्म्यमात्मजसमुत्पत्तिं वेदनासमु-

छायं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्मासदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्ज्ञानीयात् ॥ ५ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय से जानने योग्य विशेष बातों का वर्णन व्रणास्राव विज्ञानीयादि अध्यायों में किया जायगा जैसा कि वहां कहा है कि फेनयुक्त रक्त में गति पैदा करने वाला वायु निकलते समय शब्द पैदा करता है इत्यादि। स्पर्शनेन्द्रिय से शीत, उष्ण, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु, कठिन आदि स्पर्श की विशिष्टताएं ज्वरादिकों में जानी जाती हैं। नेत्रेन्द्रिय के द्वारा शरीर की वृद्धि और ह्रास, आयु के लक्षण, बल, वर्ण और विकार आदि का ज्ञान करते हैं। रसनेन्द्रिय के द्वारा प्रमेहादिक रोगों में माधुर्यादि रस विशेषताओं का ज्ञान करते हैं। घ्राणेन्द्रिय से अरिष्टलिङ्गादिकों में व्रण तथा अन्य स्थानों से जो गन्ध आती है उसका ज्ञान करते हैं। प्रश्न के द्वारा देश, काल, जाति, सात्म्य, रोग की उत्पत्ति (कारण), वेदना का आधिक्य, बल, अन्तराग्नि (पाचकाग्नि), वात, मूत्र और मल का होना तथा न होना और कालप्रकर्ष अर्थात् रोग कब से उत्पन्न हुआ है आदि बातें जानी जाती हैं। वैद्य यदि चक्षुरादि किसी इन्द्रिय से रहित हो तो जानने योग्य रोगी की बातों को उसके समीप रहने वालों से जान कर रोग का ज्ञान कर लेवे ॥ ५ ॥

रोगों का निदान करने के लिये कई प्रकार से आचार्यों ने लिखा है वह प्रायः विचार करने पर एक विध सा ही हो जाता है। चरक ने रोगों की परीक्षा करने के तीन मुख्य उपाय लिखे हैं—"त्रिविधं खलु रोगविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानञ्चेति" (च० वि० अ० ४)

आप्तोपदेश में निदानपञ्चक का समावेश हो जाता है। निदान पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्॥ (वाग्भट) चरक ने आप्तोपदेश में गुम्फित निदानपञ्चक का निदान स्थान में पञ्चविध रोग ज्ञानोपाय कर के निर्देश भी कर दिया है "तत्रोपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितः" च० नि० अ० १ "तत्राद्यायोनि निमित्तानुग्रहतन्त्रबुद्धि हेत्वादिभिर्निर्वर्त्यमानमुपलभेत, च० नि० अ० १

प्रत्यक्षन्तु खलु रोगलक्षणं सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानुपलभ्य परीक्षेत, अन्यत्र स्वप्नादात्। (वि० अ० ४) इस तरह प्रत्यक्ष परीक्षा में नेत्र द्वारा दर्शन परीक्षा, त्वचा (हस्त) द्वारा स्पर्शन (यकृत्प्लीहानाड़ी और उदर) परीक्षा, श्रोत्र द्वारा श्रवण (हृदय फुफ्फुसगतविकृतशब्दश्रवण, अन्त्र कूजन श्रवण) परीक्षा का समावेश हो जाता है।

अनुमानं खलु तर्कोपपत्तिश्च। इसमें मति, बल, मन, स्मृति, आदि समस्त अवशेष विषयों की परीक्षा हो जाती है। वृद्धि व्याधि की परीक्षा उपशय तथा अनुपशय से की जाती है। इस तरह चरक ने आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों परीक्षाओं में सर्व परीक्षाओं का समावेश कर दिया है। अन्य आचार्यों ने रोगी परीक्षा और रोग परीक्षा ऐसे परीक्षा के दो भेद कर दिये हैं। दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत रोगिणम्। रोगं निदानपूर्वरूपसम्प्राप्तिभिः ॥ मलमूत्रादि की परीक्षा का दृष्टविधपरीक्षा नाम से वर्णन है। रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडी मूत्रं मलं जिह्वा शब्दस्पर्शदृगाकृतीः ॥

डाक्टरीमत से रोग परीक्षा के प्रथम दो उपाय बताये हैं। प्रथम उपाय प्रश्न (Interrogation) है तथा दूसरा उपाय परीक्षा। सामान्य और विशेष ऐसे प्रश्न के भी दो भेद कर दिये हैं। सामान्य प्रश्न General Interrogation में रोगी का नाम, आयु, व्यवसाय, विवाहित, अविवाहित, निवासस्थान, देश, रोगारम्भ का इतिहास, वर्तमानरोगावस्था, रोगवृद्धिक्रम, कहां २ क्या २ चिकित्सा कराई, उसका परिणाम, आहार सम्बन्धी बातें और पारिवारिक इतिहास आदि मुख्य हैं। विशेष प्रश्न Special Interrogation में जो अङ्ग या संस्थान पीड़ित होता है उसके विषय में प्रश्न किये जाते हैं। परीक्षा कई तरह की होती है।

नं० १ दर्शनपरीक्षा (Inspection) में रोगी को अच्छी तरह से आपादशिर देखना चाहिये। निर्वस्त्र करके भी देखें।

नं० २ स्पर्शनपरीक्षा (palpation) प्रायः एक हाथ से, कभी २ दोनों हाथों से भी की जाती है। इस में हाथ न अधिक गरम और न अधिक शीत हो। इसके द्वारा उदर, यकृत्, प्लीहा, शोथयुक्त स्थान, हृदय, वक्ष सभी का स्पर्शन करें। नाडी परीक्षा भी इसमें आ जाती है।

नं० ३ अङ्गुलिताडन (Percussion) विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जलगर्भ और रिक्त (वायुयुक्त) स्थानों का ज्ञान होता है। अङ्गुलि द्वारा ताडन करने पर प्रतिध्वनि मन्द (Dull) हो तो उस स्थान में ठोसपन तथा प्रतिध्वनि डिमडिम या ढोलवत् (Tympanitic) हो तो उस स्थान में रिक्तता या वायुपूर्णता समझनी चाहिये। यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा में उपयोगी है। बामहस्त की मध्यमाङ्गुलि को परीक्ष्य स्थान पर अनुत्तान रखकर दक्षिण हस्त की मध्यमाङ्गुली के सिरे से हथौड़ी की तरह आघात किया जाता है। एक स्थान पर दो या तीन बार से अधिक ताड़न न करें। ताड़न अधिक जोर से न किया जाय।

नं० ४ श्रवणपरीक्षा (Auscultation) एक विशेष नाड़ीयन्त्र (Stethoscope) द्वारा की जाती है। परीक्ष्य स्थान पर प्रत्यक्ष कर्ण से भी श्रवण हो सकता है। फुफ्फुस और हृदय के रोगों में यह परीक्षा महत्व की है।

नं० ५ आङ्गिकनिदान (Clinical diagnosis) शास्त्र में प्रत्येक रोग के लक्षण (Symptoms) तथा बाह्य चिह्न (Physical Signs) निश्चित होते हैं। उन्हें ठीक तरह से घटाकर रोग निर्णय करें। निलिता अरुच्यादयो ज्वरः, आत्राबे कादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा, (मधुकोश)।

नं० ६ विभेदनिदान (Differential diagnosis) कई रोगों के कुछ लक्षण परस्पर एक से होते हैं अत एव विशिष्ट भेदक लक्षणों से अमुक रोग नहीं है किन्तु अमुक है ऐसा निर्णय करना चाहिये।

नं० ७ उपशयात्मकनिदान (Therapentical diagnosis) मलेरिया में किनाइन, पेल्यूड्रिन, अमीबिक अतिसार में इमेटीन और फिरङ्ग के लिये साल्वर्सन का प्रयोग करने पर लाभ हो जाय तो अचूकनिदान हो जाता है।

नं० ८ प्रायोगिकविधियों (Laboratory methods) से आजकल रोगनिदान करने की अधिक प्रथा हो गई है। इसमें

रोगी के मल, मूत्र, थूंक, रक्त, मस्तिष्क सुषुम्णा, जल, लसीका तथा शरीर के अन्य स्रावों की परीक्षा की जाती है।

(क) रासायनिक (Chemical) विधि से मूत्र परीक्षा होती है।

(ख) सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) की सहायता से व्रणस्राव, रक्त, मल, मूल, थूंक के जीवाणुओं का ज्ञान हो कर रोगनिदान होता है। इसमें कणगणना (Cytology) से भी रोग ज्ञान होता है। भिन्न २ रोगों में रक्त के श्वेत या लाल कणों के घटने या बढ़ने से विशिष्ट रोग हो जाते हैं।

(ग) जीवाणुविषयक (Bacteriological Tests), जब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा जीवाणुओं का दर्शन नहीं होता है तब रक्त, मूत्र, थूंक, पूय आदि सन्दिग्ध द्रव्य को वर्धन द्रव्य (Culture media) में प्रविष्ट कर जीवाणु वृद्धि (Culture) करके उनके संघ की 'सूक्ष्मदर्शक' से परीक्षा कर जीवाणु का ज्ञान कर लेते है। संशयित पूय रक्तादि द्रव्य का गिनिपिग, मूषक, शशकादि में अन्तःक्षेप (Inoculation) करते हैं तथा उनकी मृत्यु होने पर जीवाणु की जांच की जाती है।

(घ) लसीकाविषयक परीक्षा (Serological Tests) रोगी की लसीका लेकर उसकी विविध प्रकार से जांच की जाती है। आन्त्रिक ज्वर में विडाल, फिरङ्ग के लिये पाशरमेन, काला अजार के लिये अल्ड हाइड, या यूरियास्टिकामीन परीक्षा करते हैं।

(ङ) संकीर्णपरीक्षाए—जैसे आन्त्रिक ज्वर के लिये अट्रोपीन की परीक्षा, राजयक्ष्मा के लिये ट्युजर क्युलीन परीक्षा।

(च) क्ष किरण (X-ray) का उपयोग मुख्यतया राजयक्ष्मा में तथा फेक्चर, प्रविष्ट वन्दूक-गोली आदि जानने में होता है।

निष्कर्ष—आजकल डाक्टर तथा वैद्य सभी थर्मामीटर, स्टेथेस्कोप, एक्सरे, मल-मूत्रादि परीक्षाओं द्वारा रोगनिर्णय करने लग गये हैं किन्तु प्राकृतिक साधनों (पञ्चज्ञानेन्द्रियों) के सम्यक्प्रयोग का वर्जन एक बडी भारी भूल है। बुद्धिमान तथा अनुभवी चिकित्सक रोग परीक्षा में सदा अपनी इन्द्रियों पर अधिक विश्वास रखते हैं। सहायतार्थ या सशय निवारणार्थ उक्तस्थानों का कभी २ प्रयोग करते हैं। यहां की जनसंख्या अधिकतर ग्रामीण है। उनके पास औषध के लिये व्यय करना भी मुश्किल है तो फिर अधिक खर्चीली इन Laboratory की परीक्षाओं में बेहद धन कहां से लावेंगे अतएव भारतीय चिकित्सक विशेषतया निदान के प्राकृतिक साधनों को काम में लावे। सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्। अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्॥ शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः। ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति॥ आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च। अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः॥ (चरक)

विमर्श:—'आत्मासदृशेषु' की जगह 'आत्मसदृशेषु' ऐसा पाठ 'डल्हण' सम्मत है जिसका अर्थ है कि रोगज्ञान के जो ६ उपाय बताये हैं उनमें से वातादि दोषों का स्वरूप जानने के लिये जो उपाय उपयोगी हों उनकी इन अधिष्ठान द्वारा इन्द्रिय-विज्ञेय विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये। यहां सुश्रुत ने प्रमेहादिकों में मूत्रगत मधुरता जानने को रसनेन्द्रिय का प्रयोग लिखा है किन्तु चरक इसे अनुचित मानता है। "प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगवस्तु बुभुत्सु सर्वैरिन्द्रियै सर्वानिन्द्रियार्थानातुरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्" (वि० अ० ४) यह ज्ञान चरकमत से मक्षिका, पिपीलिका, यूका, काक इत्यादि द्वारा करना लिखा है। रसन्तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरस विद्यात्। यूकासर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसन्देहे तु धारि लोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यमेवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिनीत। (वि० अ० ४) अन्यच्च—मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्। गणनाथा अपि—प्रमेहादिरसज्ञाने रासनी सा न शस्यते। माधुर्यादिपरिज्ञानसाधने बहुधा स्थिते। कोऽधुना तु प्रयुञ्जीत जिह्वा मूत्रपरीक्षणे॥ (सि० निदान)।

भवति चात्र—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥ ६॥

मिथ्यादृष्ट अर्थात् पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन की योग्य परीक्षा न हुई हो, तथा रोगी या रोगी के अभिभावक द्वारा जिन के सम्बन्ध में ठीक न बताया गया हो तथा जो उचित रूप से विचारित न किये गये हों ऐसे रोग चिकित्सक को चिकित्सा के समय मोहित (कर्तव्याकर्तव्यज्ञानशून्य) कर देते हैं॥ ६॥

एवमभिसमीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत्॥ ७॥

इस तरह रोगी और रोग की परीक्षा ठीक तरह से करके 'साध्य' रोगों को चिकित्सा द्वारा ठीक करें, 'याप्य' रोगों को भेषज द्वारा निवारित करे अर्थात् उनसे रोगी को कष्ट न होने दे तथा 'असाध्य' रोगों की चिकित्सा न करें। जो रोग एक वर्ष के पुराने हों उनकी प्रायः चिकित्सा नहीं करनी चाहिये क्यों कि वे भी करीब २ 'असाध्य' से होते हैं॥ ७॥

विमर्श—साध्यलक्षणम्-सुखसाध्य सुखोपाय कालेनाल्पेन साध्यते। याप्यलक्षणम्-यापनीय विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्। क्रियाया तु निवृत्ताया सद्य एव विनश्यति॥ असाध्यलक्षणम्—परोऽसाध्यः क्रिया सर्वा प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते। तस्मादुपेक्ष्य एवाऽसौ। (अ० स०) अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसग्रहम्। प्राप्नुयान्नियत वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥ (चरक) प्रायशः कुछ रोग वर्ष से पुराने होने के पश्चात् ही साध्य होते हैं अतः 'प्रायः' शब्द दिया है। रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यस्य लक्षणम्।

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति। तद्यथा—श्रोत्रियनृपतिस्त्रीबालवृद्धभीरुराजसेवककितवदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधितोपकदरिद्रकृपणक्रोधनानामनात्मवतामनाथानाञ्चैवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति॥ ८॥

उक्त साध्यासाध्य रोगों में निम्न व्यक्तियों की साध्य व्याधियां भी प्रायः दुश्चिकित्स्य होती हैं। जैसे वेदपाठी (नित्य

स्नानादि नियम करते रहने से), राजा (क्षणिक विचार वाले होने से), स्त्री (पारतन्त्र्य, लज्जा, वेगावरोध तथा गुह्यरोगों को प्रगट न करने से), बाल, वृद्धा, डरपोक, राजभृत्य, द्यूतकार, दुर्बल, वैद्याभिमानी, व्याधि छिपाने वाला, दरिद्री, कंजूस, क्रोध करने वाला, अपनी आत्मा का हित न चाह कर मनमाना (भक्ष्यादि) काम करने वाला (अपथ्यसेवी) और अनाथ इनके रोग 'साध्य' भी 'कष्टसाध्य' हो जाते हैं ऐसा विचार कर के जो वैद्य रोगियों की चिकित्सा प्रारम्भ करता है वह धर्म, अर्थ (धन), काम और यश को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

विमर्श—श्रोत्रियलक्षणम्—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते ॥ सदातुरा. श्रोत्रियराजसेवकास्त्रैव वैद्या. सह पण्यजीविभिः। द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताहिकक्रियादिभिर्देहहित न चेष्टते ॥ नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयम् ॥ (च० सि० अ० १२)

भवति चात्र—

स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासञ्च वर्जयेत्।
दत्तञ्च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्विशेषतः ॥ ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखाऽनुप्रवेशनीयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

और भी कहा है कि स्त्रियों के साथ एक आसन पर अथवा पास में सट कर बैठना, उनके साथ रहना तथा हंसी-मजाक करना वर्जित करना चाहिये। वैद्यों के द्वारा अन्न के अतिरिक्त उनसे दी हुई किसी अन्य वस्तु (रुपये, वस्त्रादि) को ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

विमर्श—चरकेऽपि न कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यम्। अननुज्ञातश्च नार्ताऽपराऽभ्यक्षेत्।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां विशिखानुप्रवेशनीयो नाम दशमोऽध्याय. ॥ १० ॥

✓ एकादशोऽध्यायः।

अथातः क्षारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से आगे 'क्षारपाकविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्श—पचन पाक, विधिरुच्चारणं, क्षारस्य पाकविधी यत्र त क्षारपाकविधिम्। क्षार का पाक (तैयार करने की विधि) और क्षार का उपयोग करने की विधि।

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः; छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्, त्रिदोषपन्नत्वात्, विशेषक्रियाऽवचारणाच्च ॥ ३ ॥

शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से क्षार अधिक प्रधान माना गया है क्यों कि यह छेदन, भेदन और लेखन इन शस्त्रकर्मों को करने से, अनेक ओषधियों द्वारा बना होने से त्रिदोषनाशक होने से तथा विशेषक्रियाओं में इसका अवचारण (उपयोग) होने से श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

विमर्श—जिस विषमस्थान में शस्त्र द्वारा कार्य न हो सकता हो तथा शस्त्र प्रयोग से भी जहां सिद्धि प्राप्त न हो वहां भी यह लाभ पहुंचाता है अत' शस्त्रानुशस्त्रों से प्रधानतम है। येषु न शस्त्रं क्रमते स्नायुनेन्द्रियनाशनानि यानि स्यु.। तेषु निपात्य क्षार (चरक)। कृशदुर्बलभीरूणा नाडी मर्माश्रिता च या। क्षारसूत्रेण ता छिन्द्यात् तु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥ (सुश्रुतः)। विशेषक्रियावचारणात्—त्रिदोषघ्न और सौम्य हो कर भी दहन, पचन और दारण करता है। आग्नेय होकर भी रक्तपित्त और अर्श में हितकारी है, दारण या क्षणन होकर भी पेयकार्य में प्रयुक्त होता है। वाग्भटे क्षारश्रेष्ठता—सर्वशस्त्रानुशस्त्राणा क्षार श्रेष्ठो बहूनि यत्। छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि ॥ दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्ति च। अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते ॥

तत्र क्षारणात् क्षणनाद्वा क्षारः ॥ ४ ॥

दूषित मांस आदि के क्षरण (काटने) से अथवा त्वचा मांसादि का क्षणन (हिंसन) करने से क्षार कहलाता है ॥ ४ ॥

विमर्श—चरकमते क्षारपरिभाषा—भित्त्वा भित्त्वाऽऽशयान् क्षार. क्षरत्वात् क्षारयत्यधः। क्षर—स्यन्दने, क्षण हिंसाया वा तत. क्षार।

नानौषधिसमवायात् त्रिदोषघ्नः, शुक्लत्वात् सौम्यः, तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा। स खल्वाग्नेयौषधिगुणभूयिष्ठत्वात् कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥ ५ ॥

यह क्षार अनेक ओषधियों के संयोग से बनता है अत एव त्रिदोषनाशक है। वर्ण में श्वेत होने से सौम्य है किन्तु सौम्य स्वभाव का होते हुये भी इसकी दहन, पचन, दारण की शक्ति विद्यमान है। क्यों कि यह क्षार आग्नेय ओषधियों के द्वारा बनने से रस में कटु, वीर्य में उष्ण, गुणों में तीक्ष्ण, व्रणशोथादि का पाचक, गुल्मादि का विलायक, दुष्टव्रणों का शोधक, शुद्धव्रणों का रोपणकर्ता, व्रणों की क्लिन्नता का शोषक, रक्तातिस्राव का स्तम्भक (Styptic), कठिनोन्नतमांसादि का लेखक, कृमि, आमदोष, कफ और कुष्ठ, विष और मेदोवृद्धि का नाशक है तथा इसे अधिक मात्रा में सेवन करने से यह पुंस्त्व (पौरुष शक्ति) का नाशक है ॥ ५ ॥

विमर्श—"क्षारं नात्युपयुञ्जीत, क्षारः पुंस्त्वघ्नानां श्रेष्ठ" (चरक)।

स द्विविधः—प्रतिसारणीयः, पानीयश्च ॥ ६ ॥

'प्रतिसारणीय' (व्रणादिकों पर छिड़कना) और 'पानीय' (यकृत्प्लीहगुल्म रोगों में पीना) भेद से यह क्षार दो प्रकार का होता है ॥ ६ ॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रह में 'बाह्यपरिमार्जन' (व्रणस्थान पर लगाना) और 'अन्तः परिमार्जन (मुख से सेवन करना) नाम से क्षार के २ भेद किये हैं। "स द्विविधो बाह्याभ्यन्तरपरिमार्जनभेदेन" (अ० सं०)।

तत्र, प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यङ्गमशकबाह्यविद्रधिकृमिविषादिपूपदिश्यते । सन्नसु च मुखरोगेषूपजिह्वाऽधिजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीषु, एतेष्वेवानुशस्त्रप्रणिधानमुक्तम् ॥ ७ ॥

इन में से प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग कुष्ठ, किटिभ, दद्रुमण्डल (Ringworm), किलास (श्वेत कुष्ठ Leucoderma), भगन्दर, अर्बुद, अर्श, दुष्टव्रण, नाडी, चर्मकील (Warts), तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, मशक, बाह्यविद्रधि, कृमि, विष में होता है तथा उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकुश, दन्तवैदर्भ और तीन प्रकार की रोहिणी ऐसे सात मुख रोगों में 'क्षार' का प्रयोग होता है। इन रोगों में अनुशस्त्र का उपयोग करना ही कहा है ॥ ७ ॥

पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकानाहशर्कराश्मर्य्याभ्यन्तरविद्रधिकृमिविषार्शस्सूपयुज्यते॥८॥

✓'पानीय क्षार' का प्रयोग गर (कृत्रिम) विष, गुल्म, उदर रोग, अग्निसङ्ग, अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, अश्मरी, आभ्यन्तरविद्रधि, कृमि, विष और अर्श इन रोगों में होता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—गर.-नानाप्राण्ड्गभवमलविरुद्धौषधिभस्मनाम् । विषाणाञ्चाल्पवीर्याणा योगो गर इति स्मृत ॥ कृत्रिमं गरसङ्ज्ञन्तु क्रियते विविधौषधै.। (अ० सं०)। गुल्म.—इसे गेस ट्यूमर (Gastumor) कहते हैं। हृद्वस्त्योरन्तरे ग्रन्थि सञ्चारी यदि वाऽचल । चयापचयवान् वृत्त स गुल्म इति कीर्त्तित ॥ अरोचक—Anorexia, प्रक्षिप्तन्तु मुखे चान्न नन्तोर्न स्वदते मुहुः । अरोचक स विज्ञेय. । आनाहः—आमं शकृद्वा निचित क्रमेण भूयो विवद्धं विगुणानिलेन । प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥

अश्मरी—Stone, Calculus, इसी के छोटे २ कण जब मूत्र में आते हैं तो उन्हें शर्करा, सिकता या Grauel कहते हैं।

अहितस्तु रक्तपित्तज्वरितपित्तप्रकृतिबालवृद्धदुर्बलभ्रममदमूर्च्छातिमिरपरीतेभ्योऽन्येभ्यश्चैवंविधेभ्यः॥९॥

✓रक्तपित्त, ज्वरित, पित्तप्रकृति, बालक, वृद्ध, दुर्बल तथा भ्रम, मद, मूर्च्छा और तिमिर रोगों में यह 'पानीयक्षार' अहितकारी है ॥ ९ ॥

विमर्शः—भ्रम (Vertigo)—चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा । भ्रमरोग इति ज्ञेयो रज.पित्तानिलात्मक ॥

तञ्चेतरक्षारवद् दग्ध्वा परिस्रावयेत् । तस्य विस्तरोऽन्यत्र ॥ १० ॥

इस 'पानीयक्षार' को इतर अर्थात् 'प्रतिसारणीयक्षार' की तरह ओषधियों को जलाकर स्रवण कर (चुवा) के बना लेना चाहिये। इसके निर्माण की विस्तृत विधि आगे 'गुल्माध्याय' में कही गई है ॥ १० ॥

अथेतरक्षिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च । तं चिकीर्षुः शरदि गिरिसानुजं शुचिरुपोष्य प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं महान्तमसितमुष्ककमधिवास्यापरेद्युः पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाट्य निर्वाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरादीपयेत् । अथोपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म पृथग् गृह्णीयाद्भस्मशर्कराश्च ॥ ११ ॥

✓'प्रतिसारणीयक्षार' भी तीन तरह का होता है जैसे मृदु, मध्य और तीक्ष्ण। इस क्षार को बनाने की इच्छा वाला वैद्य शरद् ऋतु में उत्तम दिन जानकर पवित्र हो के उपवास कर गिरि (पर्वत) के सानु (शिखरों) की प्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुये शीत, वर्षा, अग्नि, विष, कृमि आदि से जिसका वीर्य या प्रभाव नष्ट न हुआ हो तथा मध्य आयु के (आपूर्ण रस वीर्य), बहुत बडे, काले फूल वाले मुष्क (मोखे) को मन्त्रादि से प्रथम दिन आमन्त्रित (अधिवासन) कर दूसरे दिन उखाड़ कर, कुल्हाड़ी से टुकड़े टुकडे करके वायुरहित स्थान में सञ्चित (इकट्ठा) करके उसके ऊपर (कुछ नीचे, बीच में) चूने के छोटे २ कंकड डाल कर तिलनाल से अग्नि प्रदीप्त कर देनी चाहिये। अग्नि के स्वाङ्गशीत होने पर मोखे की भस्म पृथक् किसी पात्र में इकट्ठी कर लेनी चाहिये तथा चूना और शर्करा (छोटे कंकड) को अलग ग्रहण कर लें ॥ ११ ॥

विमर्श—मुष्कक कालपुष्पस्तु वर. श्वतादिपुष्पत । अधिवास्य—सुरापललसुमनोऽक्षतादिभिश्चतुर्दिश वलिं कृत्वा प्रदक्षिणञ्चाभ्यर्च्यैनमधिवासयेत् । निवसन्तीह भूतानि यान्यस्मिन् कानिचिद् द्रुमे । अपक्रामन्त्वतश्छेद्य परार्थे श्वो व्यय द्रुम । 'सुधाशर्करा' को 'सुधापाषाण' कहते हैं । भस्म शर्करा—भस्मीभूत सुधापाषाण' कुछ लोग जलते 'मुष्क' से निर्गत रस से वही भस्म शर्करा समान हो जाती है ऐसा मानते है। मुष्कादह्यमानात्तु रस प्रच्यवते तु य.। भस्मना सह सयुक्त काठिन्यमुपगच्छति ॥ ता भस्मशर्करामाहु. ॥

अथानेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकबिभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतिकेन्द्रवृक्षास्फोताऽश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाश्वतस्नश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत् ॥ १२ ॥

इस उपर्युक्त विधि के ही अनुसार कुडा, पलाश (ढाक, खांखरा), अश्वकर्ण (शाल), निम्ब, बहेड़ा, अमलतास, तिल्वक (लोध), आक, थूहर, आंधी झाडा (चिरचिटा), पाटला, नक्तमाल (करञ्ज), अडूसा, कदली, चित्रक, पूतिक (नाटा करञ्ज), इन्द्रवृक्ष (कुटजभेद), शारिवा, कनेर, सप्तपर्ण, अरणी, चरमू तथा बडे फल, छोटे फल, पीले फूल और श्वेत पुष्प ऐसे चार भेदों वाली 'कोशातकी' इन सबकी जड़, फल, पत्र और शाखाओं को ले के जला कर भस्म कर लेनी चाहिये ॥ १२ ॥

ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्य मूत्रैर्वा यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्द्वर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत् । स यदा भवत्यच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुनरग्नावधिश्रयेत् । तत एव च क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽपनयेत् ॥ १३ ॥

इस तरह जलाने के बाद बनी हुई उक्त भस्म रूपी क्षार को एक द्रोण (४ आढक) लेकर ६ द्रोण पानी में आलोडित करें अर्थात् घोल देवें। यदि क्षार तेज बनाना हो तो पानी की जगह गो आदि का मूत्र ले के उसमें घोलकर इक्कीस बार वस्त्र से उस पानी को छान लेना चाहिये। फिर एक बडी कडाही में कलछी से धीरे २ चलाते हुये उस क्षार पानी का पाक (पाचन) करना चाहिये। पकाते पकाते जब वह निर्मल, लाल रङ्ग का, तीक्ष्ण और पिच्छिल (चिपचिपा) दिखाई देने लगे तब कडाही को उतार कर मोटे कपडे से छान कर बिना छने द्रव्य को छोड कर छने हुये को पुनः कटाह में भरकर अग्नि पर चढा के अग्नि देने लग जाय किन्तु पकाने के पहले उसी क्षारोदक से एक कुडव अथवा डेढ कुडव क्षारजल निकाल कर अन्य किसी पात्र में रख देना चाहिये॥

विमर्श—क्षारद्रोण अर्थात् मोखे की राख दो भाग और कुटजादि द्रव्यों की राख एक भाग मिला के फिर इसमें से १ द्रोण राख लेनी चाहिये। मूत्र—गाय का लेवें। उक्तं तत्रा-रपे मूत्रे गवां मूत्रं प्रकीर्त्तितम्। 'वाग्भट' ने जल और मूत्र दोनों को समान भाग में मिश्रित कर क्षार पकाने को लिखा है। "सलिलस्यसहस्रेण गवादिमूत्रपलसहस्रेण क्षालोद्य परिस्रावयेत्।

ततः कटशर्कराभस्मशर्कराक्षीरपाकशङ्खनाभीरग्नि-वर्णाः कृत्वाऽऽदधसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निपिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसम्मितं शङ्खनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्य्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः। एष एवाप्रतीवापः पक्वः संव्यूहिमो मृदुः॥ १४॥

फिर कटशर्करा (खडिया मिट्टी या चूने का पदार्थ), भस्मशर्करा, क्षीरपाक (जलशुक्ति) और शङ्ख की नाभि इन्हें आग में अग्नि के समान लाल सुर्ख करके पहले ही लौह-पात्र में रखे हुये क्षारोदक में बुझाकर तथा उसी क्षार जल से पीस कर दो द्रोण शेष क्षारोदक के लिये आठ पल शङ्खनाभि आदि का प्रमाण प्रक्षिप्त कर निरन्तर प्रमादरहित हो के कलछी से चलाते (घोटते) हुये पकावे। वह न अधिक गाढा रहे और न अधिक पतला रहे ऐसा प्रयत्न कर पाक करना चाहिये। आमन्नपाकावस्था के लक्षण होने पर उसे चूल्हे से उतार कर छोटे मुख के लोहे के कुम्भ (घडे) में भरकर उसका मुख बन्द कर रख देवें। यह 'मध्यम क्षार' का विधान है। यदि इसी में शङ्खनाभि आदि का जो आठ पल 'प्रतिवाप' डालने को लिखा है वह न डाल कर पकाया जाय तो उसे 'मृदुक्षार' कहते हैं तथा उसका 'संव्यूहिम' भी नाम है॥१४॥

प्रतीवापे यथालाभं दन्तीद्रवन्तीचित्रकलाङ्गलकीपू-तिकप्रगलतालपत्रीविडसुवर्चिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचाऽ-तिविषाः समाः श्लक्ष्णचूर्णाः शुक्तिप्रमाणाः प्रतीवापः। स एव सप्रतीवापः पक्वः पाक्यस्तीक्ष्णः॥ १५॥

यदि उक्त कटशर्करादि द्रव्यों के 'प्रतिवाप' में यथाप्राप्त दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लाङ्गली (कलिहारी), पूतिक (नाटा करञ्ज) के प्रवाल (पत्ते), तालपत्री (मूसली), विडलवण, सुवर्चिका (हुलहुल या स्वर्जिक्षार), कनकक्षीरी (सत्यानाशी, पीले फूलों का धतूरा, चोक), हींग, वचा और अतीस इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन चूर्ण के रूप में करके शुक्ति-प्रमाण भर डाल देवें। इस तरह कटशर्करादि प्रतिवाप के साथ दन्त्यादि द्रव्यों का भी प्रतिवाप देकर जो पकाया जाता है उसे 'तीक्ष्णक्षार' कहते हैं तथा उसका दूसरा नाम 'पाक्य' है॥१५॥

विमर्श—क्षारभेद—सव्यूहिमस्तथा पाक्यो द्विविधः क्षार इष्यते। पाक्यस्तु सप्रतिवापस्तीक्ष्णोऽन्यस्तु भवेन्मृदुः। सुधादिवर्ग पिष्ट्वा तु सिञ्चेत् क्षारोदकैः शनैः। तेनैव तं पुनः पिष्ट्वा त्वयःपात्रे निधापयेत्॥ एष सव्यूहिम क्षारो मृदुः। प्रतिवापलक्षणम्—द्रवद्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतिवाप उच्यते। वाग्भटेऽप्येवंपि प्रतिवापपदार्थौ—श्लक्ष्णं शङ्खदक्षशिखिगृध्रकङ्ककपोतजम्। चतुष्पात् पक्षिपित्तालननोद्दालवणानि च॥

तेषां यथाव्याधिबलमुपयोगः॥ १६॥

मृदु, मध्य और तीक्ष्ण इन तीन प्रकार के क्षारों में से जैसा रोग तथा रोगी का बल दिखाई दे तदनुसार किसी एक का उपयोग करे॥ १६॥

विमर्श—क्षारोपयोगः—योज्यस्तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदा-दिषु। मध्येष्वेव च मध्योऽन्य पित्तास्रगुदजन्मसु॥

क्षीणबलेतु क्षारोदकमावपेद् बलकरणार्थम्॥१७॥

जिस क्षार का बल क्षीण हो गया हो अर्थात् अधिक समय तक पडा रहने से किंवा हीनौषधि के कारण क्षार मृदु बना हो तो उसमें रोगनाशक तीक्ष्ण शक्ति लाने के लिये पुनः क्षारजल डालकर पाक करना चाहिये॥ १७॥

✓भवतश्चात्र—

नैवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः॥ १८॥

✓न ज्यादा तीक्ष्ण, न अति मृदु किन्तु रङ्ग में श्वेत हो, श्लक्ष्ण (अकर्कश=मुलायम) हो, पिच्छिल (चिकना) हो, अविष्यन्दी (प्रसरणशील न हो), शिव (सौम्य या गुण-कारी) तथा शीघ्रप्रभावकारी हो, ये 'क्षार' के आठ गुण होते हैं॥ १८॥

विमर्श—क्षारके क्षारगुणा—तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पाकी विदारण। दाहनो दीपनश्छेत्ता सर्वक्षारोऽग्निसन्निभ॥

अतिमार्दवश्वैत्यौष्ण्यतैक्ष्ण्यपैच्छिल्यसर्पिताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते॥ १९॥

✓अधिक मृदु, अधिक श्वेत, अधिक उष्ण, अधिक तीक्ष्ण, अधिक पिच्छिल, अधिक फैलने वाला, अधिक सान्द्र (गाढा), पूर्ण न पका हुआ और जिसमें शास्त्रोक्त ओषधियां सब न पड़ी हों, ये क्षार के दोष हैं १९॥

विमर्श—योग्यतीक्ष्णक्षारज्ञानप्रकार—"यष्टेरण्टजनालमेष द-हति क्षारो वरो वाक्शतात्॥

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवाततापे देशेऽसम्बाधेऽग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपसम्भृतस-म्भारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावघृष्यावलिख्य प्रच्छयित्वा शलाकया क्षारं प्रतिसारयेत्, दत्त्वा वाक्-शतमात्रमुपेक्षेत॥ २०॥

१०० तक गिनती करने पर पुरण्डनाल जलाने वाला तीक्ष्ण, १०० गिनती के पूर्व ही जलाने वाला अतितीक्ष्ण और १०० गिनती के बाद तक भी पुरण्डनाल को जलाने में समर्थ न हो उसे 'अतिमृदु' जानो। क्षार से ठीक होने लायक रोगी को वात तथा धूप रहित चौड़े स्थान (हाल) में बिठा कर 'अग्रोपहरणीय' अध्याय के अनुसार क्षारकर्म करने में उपयोगी सम्भार (सामग्री) को प्रथम एकत्रित कर लेवे तथा बाद में क्षारकर्म योग्य रुग्ण स्थान का सम्यक् निरीक्षण कर उस स्थान को दोषानुसार अर्थात् वातदुष्ट स्थान पर लेपन, पित्तदुष्ट स्थान पर घर्षण एवं कफदुष्ट स्थान पर प्रच्छान (नश्तर से चांचवे लगाना) क्रिया करके 'शलाकायन्त्र' से क्षार का अवचारण करना चाहिये तथा क्षार लगाने के बाद १०० तक गिनती बोलने तक निरीक्षण करना रहे ॥ २० ॥

तस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम् ।
तत्राम्लवर्गः शमनः सर्पिर्मधुकसंयुतः ॥ २१ ॥

क्षार के प्रयोग से व्याधि (रोग) के दूर होने पर उस स्थान का कृष्ण हो जाना 'क्षारदग्ध' का लक्षण है। पश्चात उस स्थान पर सौवीरक, तुषोदक, धान्याम्ल (काञ्जी) आदि अम्लवर्ग के द्रव्यों में घृत और मुलेठी का चूर्ण मिलाकर लगाने से जलन, पीडा आदि दुःख शान्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीर्य्यते ।
इदमालेपनं तत्र समग्रमवचारयेत् ॥ २२ ॥

यदि रोग की जड स्थिर (मजबूत) हो जिससे कि क्षारदग्ध (दुष्टमांसादि) भाग विशीर्ण (दारित) न हो तो वक्ष्यमाण ओषधियों का सर्व (पूरा) लेप वहां करना चाहिये ॥ २२ ॥

अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान् मधुकमेव च ।
प्रपेष्य समभागानि तेनैनमनुलेपयेत् ।
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः ॥ २३ ॥

अम्ल (खट्टी) काञ्जी के बीज अर्थात् उसके तल भाग में अवशिष्ट किण्व द्रव्य, तिल और मुलेठी इन्हें समान प्रमाण में लेकर पीस के क्षारदग्ध स्थान पर लेप करें। इस लेप के प्रभाव से क्षारदग्ध भाग विशीर्ण हो जाता है और वहां व्रण बन जाता है उस व्रण पर तिलों का कल्क और मुलेठी चूर्ण को घृत के साथ पीस कर लगाने से उस व्रण का रोपण होता है ॥ २३ ॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रहे दग्धव्रणोपक्रम'-मालतीवृषाक्वोलनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्रक्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्। एषामेव च कल्ककाथैः सिद्धं सर्पिस्तैलं वा रोपणम्। नागपुष्पमञ्जिष्ठाचन्दननिलपर्णिकासु वा।

रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्य्योष्णेन च योजितः ।
आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति ॥ २४ ॥
एवं चेन्मन्यसे वत्स ! प्रोच्यमानं निबोध मे ।
अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत् ॥ २५ ॥
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा ।
अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः ॥ २६ ॥
माधुर्य्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ।
माधुर्य्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः ॥ २७ ॥

भगवान् धन्वन्तरि सुश्रुत से कहते हैं कि हे वत्स ! यदि तुम्हारा यह सिद्धान्त हो कि तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य और आग्नेय अम्लरस के प्रयोग से अग्नि के समान धर्म वाला क्षार किस तरह शान्त हो जाता है तो मेरे द्वारा इस शङ्का का समाधान सुनो। क्षार के अन्दर अम्ल रस को छोड कर सभी रस विद्यमान रहते हैं। उनमें कटुरस अधिक मात्रा में या प्रधान रहता है तथा लवण रस अल्प मात्रा में या अप्रधान होता है। जब तीक्ष्ण लवण रस अम्लरस के साथ मिलता है तब तीक्ष्ण भाव को त्याग कर अत्यन्त मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है एवं मधुरता से शान्त हो जाता है जिस तरह जल से अग्नि शान्त हो जाती है ॥ २४-२७ ॥

विमर्श—कटुकस्तत्र-इसका अर्थ डल्हण ने विपरीत किया है, अर्थात् वह लवण रस को प्रधान तथा कटुक रस को अप्रधान मानता है। "तत्र पञ्चरसे क्षारे कटुकोऽनुरस, लवणस्तु भूयिष्ठ इति योज्यम्" किन्तु चरक में 'कटुकलवणभूयिष्ठं' तथा अष्टाङ्गसंग्रह में भी कटुक रस का ही प्रथम निर्देश होने से तथा सुश्रुत में भी क्षार के लक्षण और कटुक रस के लक्षण परस्पर मिलते हुये से वर्णित होने से कटुक को प्रधान रस तथा लवण को अनुरस मानना उचित है। कथं क्षारः प्रशाम्यति-अम्लो हि शीघ्रं स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः। यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्क्षारान् ॥ यतश्चोष्णतमः क्षारः शैत्यं चाम्लरसेऽधिकम्। तस्मात्तेनैव देहाग्न्यम्लः क्षारं निवर्त्तयेत् ॥ (वाग्भट.)। चरकेऽपि-क्षारो हि यानि माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।

तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च ।
हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च । अतिदग्धे दाहपाकरागस्रावाङ्गमर्दक्लमपिपासामूर्च्छाः स्युर्मरणं वा ॥

रोगग्रस्त स्थान पर क्षार द्वारा सम्यग्दग्ध होने पर रोग का शमन, अङ्गों में लघुता तथा स्राव का बहना बन्द हो जाता है। हीनदग्ध होने पर व्रणस्थान पर सूई चुभोने की सी पीड़ा, खुजली और उस स्थान की जडता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतिदग्ध होने पर दाह, पाक, लालिमा, पूयादि का स्राव, अङ्गमर्द, ग्लानि, प्यास और मूर्च्छा तथा मरण तक हो सकता है ॥ २८ ॥

क्षारदग्धव्रणं तु यथादोषं यथाव्याधि चोपक्रमेत् ॥२९॥

क्षारदग्ध से उत्पन्न हुये व्रण का दोषानुसार तथा व्याधि के अनुसार ठीक उपचार करें ॥ २९ ॥

अथ नैते क्षारकृत्याः । तद्यथा-दुर्बलबालस्थविरभीरुसर्वाङ्गशूनोदरिरक्तपित्तिगर्भिण्यृतुमतीप्रवृद्धज्वरिप्रमेहिरूक्षक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छोपद्रुतक्लीवापवृत्तोद्वृत्तफलयोनयः ॥ ३० ॥

नीचे लिखे रोगियों में क्षारकर्म नहीं करना चाहिये। जैसे-दुर्बल, बालक, वृद्ध, डरपोक, सारे अङ्ग में जिनके शोथ हो, उदर रोगी, रक्तपित्त के रोगी, गर्भिणी, रजस्वला स्त्री, जिसका ज्वरवेग बढ़ा हुआ हो, तथा प्रमेह, उरःक्षत से क्षीण, तृष्णा, मूर्च्छा से पीडित, एवं नपुंसक तथा जिस स्त्री की फलयोनि अर्थात् गर्भाशय का ऊपर या नीचे को भ्रंश (Disptacment) हो गया हो ॥ ३० ॥

विमर्श—वाग्भट ने अतिसार, शिरोरोग, पाण्डुरोग में तथा

वमन और विरेचन कर्म किये हुये में क्षार प्रयोग निषिद्ध माना है। फलयोनि —सुश्रुते टल्हणो वदति-फलमण्ड, योनिर्गर्भाशय, उद्वृत्तफल =स्थानादूर्ध्वंगताण्ट, अपवृत्तफल =स्थानात् स्रस्ताण्ड। उद्वृत्तयोनि =स्थानादूर्ध्वंगतयोनि, अपवृत्तयोनि =स्थानात् स्रस्तयोनि, अत्ये तु फलयोनिशब्देन गर्भाशयमाचक्षते, तत्रायमर्थ — उद्वृत्तफलयोनि =स्थानादूर्ध्वंगतगर्भाशया। अपवृत्तफलयोनि. = स्थानात्स्रस्तगर्भाशया। अपरे तु फलशब्द रजसि वर्तयन्ति, कुत गर्भस्य फलसाधनत्वात्। केचित्तु फलशब्देनेहान्त्र ग्राहयन्ति। अन्तिमे मते निरर्थके।

तथा मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तःशेफःस्रोतस्वल्पमांसेषु च प्रदेशेष्वक्षणेश्च न दद्यादन्यत्र वर्त्मरोगात् ॥ ३१ ॥

मर्मस्थान, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि (कार्टिलेज), सेवनी (Suture or Rapne), धमनी, गला, नाभि, नाखून, शिश्न के भीतर, स्रोतस् में, अल्पमांसवाले स्थानों में एवं वर्त्म रोग को छोड़ कर नेत्र के सब रोगों में क्षार का प्रयोग न करें३१

तत्र क्षारसाध्येष्वपि व्याधिषु शूलगात्रमस्थिशूलिनमन्नद्वेषिणं हृदयसन्धिपीडोपद्रुतं च क्षारो न साधयति॥

क्षारकर्म से साध्य रोगों में भी जिस का शरीर शोथयुक्त हो, जिसकी हड्डियों में शूल चलता हो, अन्न में जो द्वेष करता हो, हृदय और सन्धियों में जिसके पीड़ा हो रही हो उन्हें क्षार लाभ नहीं पहुचाता है ॥ ३२ ॥

विमर्श—शीतोष्णवर्षदुर्दिनप्रवातेषु च क्षारो न योक्तव्य.।

(अ० सग्रह)

भवति चात्र—

विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः क्षारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान्॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

स्वल्प बुद्धि या कम शास्त्र पढे हुये वैद्यों द्वारा प्रयुक्त किया हुआ क्षार विष, अग्नि, शस्त्र, तथा वज्र के समान मृत्यु करने वाला होता है और वही क्षार जब बुद्धिमान् चिकित्सक द्वारा ठीक तरह से प्रयुक्त होता है तब शीघ्र ही भयङ्कर रोगों को नष्ट कर देता है ॥ ३३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'अग्निकर्मविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भेषजशस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च ॥ ३ ॥

दहन क्रियाओं में क्षार की अपेक्षा अग्नि उत्तम मानी गई है क्यों कि अग्नि से जले हुये रोगों की फिर से उत्पत्ति नहीं होती है और जो रोग औषध, शस्त्र और क्षार के प्रयोग से ठीक नहीं होते है वे भी अग्नि द्वारा जलाने से ठीक हो जाते हैं ॥३॥

विमर्श—क्षारकर्म में आग्नेय द्रव्यों का प्रयोग होता है। दहन कर्म में कृत्रिम उष्णता का प्रयोग होता है इसे कॉटरी (Cautery) कहते है। अग्निकर्म में शस्त्र या अन्य पदार्थों को तप्त कर के प्रयुक्त किया जाता है इसे Actual cautery कहते है। डाक्टरी में अग्निकर्म के दो भेद हैं। (१) विद्युत्प्रवाह द्वारा उष्णता उत्पन्न की जाती है इसे विद्युद्दहनकर्म (Galvano cautery) कहते हैं। (२) कर्म के उपयोगी औजार को अग्नि ज्वाला पर प्रतप्त कर कर्म किया जाता है इसे Poquiln's thermo cautery कहते हैं। अग्निकर्म से स्थानिक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं जिस से व्रण में पाक नहीं होता है "अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यादन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभय स्यात्"। अग्निकर्म से स्थानिक सिराओं का सङ्कोच हो जाने से रक्तस्राव नहीं होता तथा व्रण का रोहण शीघ्र हो जाता है। "दाह सङ्कोचयेत् सिरा" इन दो विशिष्ट गुणों से 'अग्निकर्म' क्षारकर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

अथेमानि दहनोपकरणानि। तद्यथा—पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलौहाः क्षौद्रगुडस्नेहाश्च। तत्र, पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकास्त्वग्गतानां, जाम्बवौष्ठेतरलौहा मांसगतानां, क्षौद्रगुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ॥ ४ ॥

अग्नि द्वारा दहन करने के लिये ये उपकरण कार्य में प्रयुक्त होते हैं। जैसे-पीपल, बकरी की मींगनियां, गाय या बैल का दांत, शर, शलाका, जाम्बवौष्ठ तथा अन्य सोना, चांदी, तांबा आदि लौह (धातुए) एवं शहद, गुड तथा घृत तैलादि स्नेह पदार्थ। इनमें पीपल, बकरी की मींगनियां, गोदन्त, शर, शलाका इनका उपयोग त्वचा के दहन कर्म में होता है। जाम्बवौष्ठ तथा अन्य धातुएं मांसगत रोगों के दहनकर्म में एव शहद, गुड़ तथा स्नेह पदार्थ सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि में उत्पन्न हुये रोगों के दहन कर्म में प्रयुक्त होते है ॥४॥

विमर्श—शर से ग्रन्थिविसर्प का दाह करते हैं। 'अथास्य दाह क्षारेण शरैर्लोहेन वा हित' (चरक)। लौह शब्द से स्वर्णादि धातु गृहीत होने में प्रमाण निम्न हैं—(१) रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया। पक्ष्मरोगे पुनर्नैव कदाचिद्रोमसम्भव (चक्रदत्त)। (२) अपानमार्गपिटिका दहेत् स्वर्णशलाकया। अग्निप्रतप्तया पश्चात् कुर्यादग्निव्रणक्रियाम्॥ (योगरत्नाकर)। (३) तप्तैर्वा विविधैर्लौहैर्दहेद्दाहविशेषवित्। (चरक)। (४) हेमताम्रायोरूप्यकास्यैर्मांसदाहः। (अ० सग्रह)। वाग्भट ने पित्तुवर्ति, सूर्यकान्त और सोम इन्हें भी दहनोपकरणों में माना है।

तत्राग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्यां; तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा ॥ ५ ॥

शरद् और ग्रीष्म ऋतु के सिवाय अन्य सर्व ऋतुओं में अग्निकर्म करना चाहिये। शरद् और ग्रीष्म ऋतु में भी आत्ययिक अर्थात् प्राणों का सङ्कट उपस्थित हो तथा रोग अग्निकर्म

से ही साध्य हो तो ऋतुविपरीत आहार-आच्छादनादि का प्रबन्ध कर अग्निकर्म करना चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्श—शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्। कृत्वा कुर्याद् क्रियां प्राज्ञः क्रियाकालं न हापयेत्' ॥ चरकेऽपि—आतङ्किके पुनः कर्मणि कालमनवेक्ष्य विकल्प्य ऋतुमिश्रगुणोदयमनेन यथर्तुगुणविपरीतेन मेषजं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपायं प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा प्रयोजयेत्।

सर्वव्याधिष्वृतुषु च पिच्छिलमन्नं भुक्तवतः कर्म कुर्वीतः अश्मरीभगन्दरार्शोमुखरोगेष्वभुक्तवतः ॥ ६ ॥

प्रायः सर्व रोगों में तथा सर्व ऋतुओं में पिच्छिल अन्न को खिला कर अग्निकर्म करना चाहिये परन्तु मूढगर्भ, अश्मरी, भगन्दर, उदर रोग, अर्श तथा मुख के रोगों में रोगी को बिना खिलाये अग्निकर्म करना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्श—पिच्छिलान्न यथा-पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धान श्लेष्मलो गुरु।

तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके-त्वग्दग्धं, मांसदग्धञ्च। इह तु सिरास्नायुसन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः ॥७॥

कुछ आचार्य अग्निकर्म के 'त्वग्दग्ध' और 'मांसदग्ध' ऐसे दो भेद मानते हैं किन्तु इस धन्वन्तरि सम्प्रदाय में सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थियों में भी अग्निकर्म का निषेध नहीं है ॥ ७ ॥

तत्र, शब्दप्रादुर्भावो दुर्गन्धता त्वक्सङ्कोचश्च त्वग्दग्धे। कपोतवर्णताऽल्पशूयवेदना शुष्कसङ्कुचितव्रणता च मांसदग्धे। कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे। रूक्षारुणता कर्कशस्थिरव्रणता च सन्ध्यस्थिदग्धे ॥ ८ ॥

विमर्श—अङ्गुरेके कल्पपादयः-न सिरास्नायुसन्ध्यस्थिकर्मस्वपि कथञ्चन। देशस्वौक्ष्येण कार्यं दाहो वा भिषगग्निना ॥ अष्टाङ्गसंग्रह ने तो शोणितस्रावृत्ति में इनमें भी अग्निकर्म करना ही लिखा है। "यथा सिरास्नायुसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितस्रावृत्तिषु सिराव्रिद्धवत्" इनमें चट-चट शब्द का होना, दुर्गन्ध आना तथा त्वचा का सङ्कोच होना ये 'त्वग्दग्ध' के लक्षण हैं। कपोत के समान वर्ण होना, शोथ तथा वेदना कम होना, सूखे तथा सङ्कुचित व्रणों का होना ये 'मांसदग्ध' के लक्षण हैं। व्रण में कालापन तथा उभार तथा स्राव का नहीं निकलना ये 'सिरास्नायुदग्ध' के लक्षण हैं। व्रण में रूक्षता, लालिमा, कर्कशपना और कठिनता होना ये 'सन्धि' और 'अस्थिदग्ध' के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

तत्र, शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्, वर्त्मरोगेष्वार्द्रालक्तकप्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोमकूपान् दहेत् ॥ ९ ॥

शिर के रोग तथा अधिमन्थ (नेत्ररोग) में भौंह, ललाट और शङ्ख प्रदेश में दाह करना चाहिये। वर्त्मरोगों में दृष्टि को गीले वस्त्र से ढक कर वर्त्म (पलक) के रोमकूपों को या बालों को या बालों की जड़ को दग्ध करना चाहिये ॥ ९ ॥

विमर्श—अधिमन्थलक्षणम्-उत्पाट्यन्त इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा। शिरसोऽर्धञ्च तं विद्यादधिमन्थं त्वलक्षणैः'॥ यह Acute orbital cellulitis है। विशेषतया वर्त्मरोगों में पक्ष्मकोप (Trichiasis and Distriaichiasis) होने पर अग्निकर्म किया जाता है। 'अलक्तक' का अर्थ किसी ने 'माहोर' (लाक्षानिर्मित विशेष रङ्ग) किया है। अष्टाङ्गसंग्रह में लाक्षारस का प्रयोग पक्ष्म के बालों में निशान लगाने को लिखा है "उत्पक्ष्माणि तु लाक्षारसेन लक्षयित्वा सन्दंशेनोद्धृत्य तनुसूच्यग्न्यग्निवर्णेन रोमकूपान् दहेत्'।

त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽत्युग्ररुजि वायावुच्छ्रितकठिनसुप्तमांसे व्रणे ग्रन्थ्यर्शोऽर्बुदभगन्दरापचीश्लीपदचर्मकीलतिलकालकान्त्रवृद्धिसन्धिसिराच्छेदनादिषु नाडीशोणितातिप्रवृत्तिषु चाग्निकर्म कुर्य्यात् ॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि तथा अस्थि में होने वाली वायु की तीव्र पीडा में तथा जिस व्रण में मांस उभर आये और कठोर तथा सुप्त (शून्य) हो जाय उसमें एवं ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिलकालक, आन्त्रवृद्धि, सन्धि के रोग तथा सिराओं के कट जाने पर और नाडीव्रण तथा रक्त के अधिक स्राव होने पर अग्निकर्म करना चाहिये ॥ १० ॥

तत्र वलय-बिन्दु-विलेखा-प्रतिसारणानीति दहनविशेषाः ॥ ११ ॥

वलय (कङ्कण के समान गोल), बिन्दु, विलेखा (रेखाएं) और प्रतिसारण (तप्त वस्तु से रगडना) ये चार दहन के प्रकार हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—सङ्ग्रहकार ने अर्धचन्द्र, स्वस्तिक और अष्टापद ऐसे तीन दहन प्रकार अधिक माने हैं। सङ्ग्रहे दहनकर्मविधि-अथ दाहार्हमातुर कृतस्नस्नेयनमुपक्लृप्तसर्वोपकरण प्राङ्मुखं सविष्टनास्रावलम्बित कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरखदिराङ्गारैरयोघटनप्रकारेण भस्त्रानिलाध्मातं वंजनेन चोर्ध्वानिर्गच्छज्ज्वालनयापादितावयमानभानुरश्मिवर्णं जाम्बवोष्ठादिभिर्व्याधिप्रदेशवशाद्वलयार्धचन्द्रस्वस्तिकाष्टापदबिन्दुरेखाप्रतिसारणविकल्पेन मुहुर्मुहुर्हितोपहितामिर्वाग्भिरद्भिश्चातुरमाश्वासयन् दहेदासम्यग्दाहलिङ्गोत्पत्तेः। उच्छूनपुपिप्रलूनदग्ननाडीसजन्तुदुष्टव्रणेषु तु स्नेहभृच्छिष्टमधुगुग्गुलैः पूरयित्वा दहेत्।

भवति चात्र—

रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यङ्नरस्य मर्माणि बलाबलं च।
व्याधिं तथर्तुञ्च समीक्ष्य सम्यक् ततो व्यवस्येद्भिषगग्निकर्म॥

रोग के संस्थान (मोटाई) का भली प्रकार अवलोकन कर तथा रोगी के मर्मस्थान और बलाबल का भी पूर्ण विचार कर एवं व्याधि और ऋतु (समय) का भी अच्छी प्रकार से विचार करके पश्चात् वैद्य अग्निकर्म करे ॥ १२ ॥

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः ॥ १३ ॥

सम्यग्दग्ध में शहद और घृत को मिश्रित कर लगाना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्श—औद्रसर्पिषो प्रशस्ता-क्षतोष्मणो निग्रहार्थं तर्षस्य च। सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते॥ तुदग्धं घृतमध्यक्त स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत्॥ (अ० सङ्ग्रह)

अथेमानग्निना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं भीरुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥ १४ ॥

इन मनुष्यों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिये। पित्तप्रकृति, रक्तपित्ती, अतिसारी, जिसका शल्य न निकाला हो, दुर्बल,

वालक, वृद्ध, डरपोक, अनेक व्रणों से पीडित तथा अस्वेद्य अर्थात् जिनके लिये स्वेदनकर्म वर्जित हो ॥ १४ ॥

विमर्श—'अन्तःशोणित' का अर्थ कुछ लोगों ने 'एकत्रित कुपित तथा दूषित रक्त' किया है यह ठीक नहीं है क्योंकि चरक ने भी रक्तपित्तियों में अग्निकर्म का निषेध किया है। 'बाल-दुर्बलवृद्धाना गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् । नाग्निकर्मोपदेष्टव्यम्' । 'भिन्नकोष्ठ' का 'अतिसारी' अर्थ न 'कर शस्त्रादि से भिन्न उदर' ऐसा अर्थ करते है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में अग्निकर्म का विधान है । 'उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिन । अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् । 'नेत्ररोग और कुष्ठ में भी अग्निकर्म न करें । 'नाग्निकर्मोपदेष्टव्य नेत्रकुष्ठव्रणेषु च । (चरक)।

अत ऊर्ध्वमितरथा दग्धलक्षणं वक्ष्यामः—तत्र, स्निग्धं रूक्षं वाऽऽश्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति। अग्निसन्तप्तो-हि स्नेहः सूक्ष्मसिराऽनुसारित्वात्त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति । तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका रुजो भवन्ति ॥ १५ ॥

इसके पश्चात् 'इतरथा दग्ध' या 'प्रमाददग्ध' के लक्षण कहते हैं। अग्नि स्निग्ध अथवा रूक्ष द्रव्य का आश्रय पाकर जलाती है। अग्नि से सन्तप्त हुआ स्नेह पदार्थ छोटी छोटी सिराओं में प्रवेश करने की क्षमता रखने से त्वचा आदि में प्रविष्ट होकर शीघ्र जला देता है इसी लिये 'स्नेहदग्ध' में अधिक वेदनाएं होती है ॥ १५ ॥

विमर्श—स्नेहभेदा -सर्पिस्तैल वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विध । 'इतरथादग्ध' को वाग्भट ने 'प्रमाददग्ध' कहा है। डाक्टरी में भी दग्ध के द्रव्यानुसार दो भेद है। तप्त ठोस पदार्थ या अग्निज्वाला से जले को वर्न (Burn) जो कि 'रूक्ष दग्ध' है तथा सन्तप्त जल तैलादि द्रवपदार्थ या उष्ण गैस (हवा) से जले को स्काल्ड (Scald) या 'द्रवदग्ध' या 'स्निग्धदग्ध' कहते हैं।

तत्र, प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धञ्चेति चतुर्विधमग्निदग्धम् । तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टम् । यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोपदाहरागपाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद् दुर्दग्धम् । सम्यग्दग्धमनवगाढं तालफलवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तञ्च । अतिदग्धे मांसावलम्बन गात्रविश्लेषः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति । व्रणश्चास्य चिरेण रोहति रूढश्च विवर्णो भवति। तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं भवति ॥

१—प्लुष्ट, २—दुर्दग्ध, ३—सम्यग्दग्ध और ४-अतिदग्ध ऐसे असावधानी से हुये अग्निदग्ध के (देहधातुओं पर असर होने की दृष्टि से) चार भेद किये गये हैं। उनमें से जहां अतिमात्रा में त्वचा का रङ्ग विकृत हो जाय और झुलस सा जाय उसे 'प्लुष्ट' कहते हैं। इसे वाग्भट ने 'तुत्थ' कहा है। जहां पर जलने से भयङ्कर फफोले (छाले) पड जांय तथा चोप (चूसने की सी पीड़ा), दाह, राग (लालिमा), पाक (पूतीभवन) और वेदना ये तीव्र हों तथा अधिक समय में जिसकी शान्ति हो उसे 'दुर्दग्ध' कहते हैं। जहां पर व्रण नीचा न हो तथा उसका रङ्ग ताट के फल के समान हो एवं सुसस्थित (समान) हो तथा पूर्वोक्त त्वचा, मांस, सिरा के दाह लक्षणों से युक्त हो उसे 'सम्यग्दग्ध' कहते हैं। 'अतिदग्ध' में जले हुए मांस के टुकडे लटकते दिखाई देते है, शरीर के अङ्गों या सन्धियों का विश्लेष (Dislocation) या विघटन हो जाता है, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि इनका अधिक मात्रा में विनाश हो जाता है तथा ज्वर, दाह, पिपासा और मूर्च्छा ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इसका बना व्रण देरी से भरता है तथा भर (रोपित हो) जाने पर भी विरूप सा हो जाता है। इस तरह यह चार प्रकार का अग्निदग्ध-लक्षण ठीक तरह से जानकर चिकित्सा करने पर वैद्य के आत्मकर्म (चिकित्सा) में प्रसाधक (लाभदायी) होता है ॥ १६ ॥

विमर्श—डाक्टरी में दग्ध की ६ अवस्थाएं मानी है। प्रथमावस्था में चमडी लाल और विवर्ण हो जाती है, जलती नहीं है इसे 'प्लुष्ट' कह सकते है। द्वितीयावस्था में त्वचा तथा ऊपरी पर्त में लसीका-सञ्चय होकर फफोले बन जाते है, इसे 'दुर्दग्ध' कह सकते हैं। तृतीयावस्था में त्वचा का ऊपरी पर्त तथा त्वचा का स्वल्प भाग नष्ट हो जाता है किन्तु स्पर्शाङ्कुर (Papillae), स्वेद-ग्रन्थियां, रोमकूप और तैल-ग्रन्थियां नष्ट नहीं होती है। यह 'सम्यग्दग्ध' की अवस्था है। चतुर्थावस्था-में सारी त्वचा तथा उपत्वचा का कुछ भाग नष्ट होता है। पञ्चमावस्था में त्वचा, उपत्वचा और पेशियां नष्ट होती है। षष्ठावस्था में शरीर के अवयव, सिरा, सन्धि, अस्थिया नष्ट और विघटित हो जाती है। ये शेष तीनों अवस्थाएं 'अतिदग्ध' के समान है।

भवन्ति चात्र—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्य्यते ॥ १७ ॥
तुल्यवीर्य्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा ।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च वर्धते ॥१८॥

अग्नि से कुपित हुआ मनुष्य का रक्त अधिक खराब हो जाता है पश्चात् उसी वेग से उसका पित्त भी कुपित हो जाता है क्योंकि रक्त और पित्त ये दोनों वीर्य में समान है तथा रस और द्रव्य की दृष्टि से भी समानधर्मी होने से तीव्र वेदनाएं होती हैं, स्वाभाविक दाह होता है, शरीर पर शीघ्र ही फोडे निकल आते है एवं वह व्यक्ति ज्वर और प्यास से पीडित होता है ॥ १७-१८ ॥

विमर्श—आधुनिक चिकित्सा में इन लक्षणों को तीन भागों में विभक्त किया है। (१) दाहावस्था-दाह का विस्तार तथा गहराई अधिक होने से Shock उत्पन्न होता है तथा हार्ट फेल हो जाता है। गहराई की अपेक्षा विस्तार ज्यादा भयानक होता है। (२) शोथावस्था—में त्वचा, मांस, रक्त आदि धातुएं जल जाती है। ज्वर, दाह और तृषा ये खास लक्षण होते हैं। स्थानानुसार यदि दाह शिर, वक्ष और उदर आदि मर्मस्थानों पर हो तो मस्तिष्कावरणशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ, न्यूमोनिया आदि उपद्रव उत्पन्न होते है तथा दग्ध व्रणों में जीवाणुओं के उपसर्ग का भी भय रहता है। (३) रोपणावस्था—यह जीवाणुओं के शरीर में प्रविष्ट न होने से होती है

अन्यथा विसर्प, धनुःस्तम्भ (टिटेनस) आदि रोग उत्पन्न होते है।

दग्धस्योपशमार्थाय चिकित्सा सम्प्रवक्ष्यते।
प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्य्यमुष्णं तथौषधम् ॥ १९ ॥
शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्नं भवति शोणितम्।
प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम् ॥ २० ॥
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथञ्चन ॥ २१ ॥

अब दग्ध पुरुष के रोग की शान्ति के लिये चिकित्सा कही जाती है। 'प्लुष्ट' में जले भाग को अग्नि से तपाना चाहिये तथा बाह्य लेपादि और आभ्यन्तरीय (पानादि) ओषधियां भी उष्ण गुण वाली प्रयुक्त करनी चाहिये। दग्ध के कारण शरीर के अधिक मात्रा में स्विन्न हो जाने से रक्त भी स्विन्न हो जाता है; ऐसी दशा में शीतोपचार या शीतल जल का (सेचनादि रूप से) प्रयोग किया जाय तो स्वभाव से ही वह रक्त को अधिक स्कन्दित (गाढा) कर देता है इसी लिये व्रणों का प्रक्षालन करने में तथा पीने के लिये उष्ण जल का ही प्रयोग करना चाहिये। शीतल जल या शीतल पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ १९–२१ ॥

विमर्श—उष्णोपचारप्रयोजनम्-स्थाने रक्ते हिमैर्नोष्मा निष्क्रामति यतो बहि:। वेदना वर्धते तेन रुधिरञ्च विदह्यते। उष्ण निष्क्रामयत् कुर्यादूष्माण मन्दता रुज ॥ (अ० सग्रह)

शीतामुष्णाञ्च दुर्दग्धे क्रियां कुर्य्याद् भिषक् पुनः।
घृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत् ॥ २२ ॥

दुर्दग्ध में शीत तथा उष्ण दोनों प्रकार के उपचार वैद्य करे किन्तु घृत, आलेप और सेक का उपयोग शीत रूप में ही करें ॥ २२ ॥

सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः।
सामृतैः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद्भिषक् ॥ २३ ॥
ग्राम्यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत्।
पित्तविद्रधिवच्चैनं सन्ततोष्माणमाचरेत् ॥ २४ ॥

'सम्यग्दग्ध' की अवस्था में वगलोचन, प्लक्ष (पिलखन) की छाल, लाल चन्दन, सोना गेरू और गिलोय इन्हें पत्थर पर महीन पीसकर घृत मिला के आलेपन कर देना चाहिये। अथवा घोडे आदि ग्राम्य पशु, वाराह आदि आनूप पशु तथा कच्छपादिक आनूप प्राणियों के मांस को पीसकर प्रलेप करना चाहिये। यदि दग्ध स्थान पर या सर्वदेह में निरन्तर दाह होता हो तो 'पित्तविद्रधि' के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २३–२४ ॥

अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम्।
क्रियां कुर्य्याद् भिषक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥
तिन्दुकीत्वक्कषायैर्वा घृतमिश्रैः प्रलेपयेत् ॥ २५ ॥
व्रणं गुडूचीपत्रैर्वा छादयेदथवौदकैः।
क्रियाञ्च निखिलां कुर्य्याद् भिषक् पित्तविसर्पवत् ॥

'अतिदग्ध' की अवस्था में जले हुये मांस को निकाल कर प्रथम शीतल उपचार करना चाहिये पश्चात् शाली चावलों का चूर्ण अथवा तिन्दुकी की छाल के क्वाथ में घृत मिलाकर प्रलेप करे और व्रण को गुडूची के पत्रों अथवा कमल के पत्रों से आच्छादित (ढक) कर देना चाहिये। अन्य शेष क्रिया (चिकित्सा) 'पित्तविसर्प' की तरह करनी चाहिये ॥२५–२६॥

मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा।
मञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वा पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥ २७ ॥
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद्रोपणमुत्तमम्।
स्नेहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत् ॥ २८ ॥

मोम, मुलेठी, लोध, राल, मजीठ, रक्तचन्दन और मूर्वा इन्हें जल के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना लेवें। पश्चात् इस कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चौगुना पानी डालकर घृतावशेष पाक कर लेवे। यह सर्व प्रकार के 'अग्नि-दग्ध' में उत्तम रोपक घृत है। तैल, घृत आदि स्नेहों से दग्ध होने पर विशेष कर रूक्ष क्रियाएं करनी चाहिये ॥ २७–२८ ॥

विमर्श—'दग्ध' में मूर्च्छित व्यक्ति को गर्म कमरे में रखना, कम्बल आदि गर्म वस्त्रों से ढकना, गर्म तथा उत्तेजक और हृद्य पदार्थ पीने को देना चाहिये। दग्ध अङ्ग को Boric Acid के विलयन में रखना चाहिये। अथवा विलयन से भीगे हुये वस्त्र से लपेट देना चाहिये। मूर्च्छा निवृत्त होने पर 'टेनिक एसिड' के घोल में वस्त्र भिगो कर दग्ध स्थान पर रखे। सडे-गले मांस के दूर होने पर 'केलोमीना प्रिपरेटा' का मलहम लगाना चाहिये।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम्।
श्वसिति क्ष्वौति चात्यर्थमत्याधमति कासते।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥ २९ ॥
सधूमकं निश्वसिति ध्रेयमन्यन्न वेत्ति च।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥ ३० ॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति।
धूमोपहत इत्येवं, शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥ ३१ ॥

अब इसके पश्चात् 'धूमोपहत' के लक्षण कहता हूँ। श्वास में कठिनाई, बार २ छींकों का आना, पेट पर जोर का आफरा हो जाता है, खांसी चलती है, नेत्रों में जलन तथा लालिमा हो जाती है। श्वास क्रिया में धूंआ छोडता है, अथवा श्वास में धूए की गन्ध आती है, धूए के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का गन्धज्ञान नहीं करता है। रसों के पहचानने का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। श्रवणशक्ति नष्ट हो जाती है। प्यास, दाह और ज्वर से पीडित होकर दुर्बल रहता है। मूर्च्छा भी हो जाती है। इस तरह ये 'धूमोपहत के' लक्षण है। अब इसकी चिकित्सा सुनो ॥ २९–३१ ॥

विमर्श—'धूमोपहत' को Asphyxiation कहते है। धूएं में अनेक जहरीली गैसे जैसे-कार्बन डायाक्साड (Co2), कार्बन मोनोक्साइड, गन्धकीय धूम तथा अमोनिया, हाइड्रोज सल्फाइड रहती है, इनके श्वासमार्ग तथा फेफडों में भर जाने से शुद्ध वायु के भीतर नहीं जा सकने से रक्त शुद्ध नहीं होता है तथा इन दूषित गैसों के रक्त में मिलने से श्वासकेन्द्र (Respiratory Centre) प्रभावित हो जाता है जिससे श्वासकृच्छ्र, आक्षेप और अवसाद ये क्रमशः तीन अवस्थाएं उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराऽम्बु वा।
मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥ ३२ ॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद् धूमगन्धश्च नश्यति।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥ ३३ ॥
दाहमूर्च्छातृडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः।
मधुरैर्लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥ ३४ ॥
सम्यग्गृहातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित् ॥ ३५ ॥
दृष्टिर्विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवञ्च देहिनः।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥ ३६ ॥

सर्वप्रथम 'धूमोपहत' रोगी को वमन कराने के लिये घी, सांठे (ऊख) का रस, मुनक्का, दूध, शक्कर का पानी (शर्बत) अथवा मधुर और अम्ल रस मिलाकर पिलाना चाहिये। इस प्रकार वमन कराने से उसकी कोष्ठशुद्धि हो जाती है तथा धूएं की अन्तःप्रविष्ट गन्ध नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस विधि से सदन (अङ्गग्लानि), छींक और ज्वर शान्त हो जाते हैं। तथा दाह, मूर्च्छा, प्यास, पेट का आफरा और दारुण श्वास-कास भी नष्ट हो जाते हैं। मधुर, लवण, अम्ल और कटु रस प्रधान द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ द्वारा कवलग्रह करने से वह मनुष्य भिन्न २ इन्द्रियों के अर्थों (शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि) को ठीक तरह से ग्रहण करने लग जाता है; और मन भी निर्मल हो जाता है। वमन के पश्चात् शास्त्र का ज्ञान रखने वाला वैद्य इसे योग (युक्ति) से शिरोविरेचन करावे। इससे उस रोगी की दृष्टि शुद्ध हो जाती है और शिर तथा गला भी साफ हो जाते हैं। अनन्तर रोगी को दाह नहीं करने वाला तथा लघु और स्निग्ध आहार कराना चाहिये ॥ ३३-३६ ॥

विमर्श—डाक्टरी चिकित्सा—धूएं के स्थान से हटा कर खुली हवा में रखना। गले या छाती पर के कपडों को हटाना चाहिये। वक्ष, मुख तथा शिर पर शीतल जल सेचन, 'सन्दंश' से जिह्वा को पकड कर बार २ थोडी २ देर में खींचे, सूघने के लिये 'ओक्सिजन' भी दें। वक्षोगत 'क्रेनिकनर्व' को विद्युत्सहायता से उत्तेजित करनी चाहिये। होश में लाने के लिये अमोनिया गैस सुंघानी चाहिये। दशा अधिक चिन्तनीय हो तो 'शिरावेध' द्वारा ४० से ८० तोले तक दूषित रक्त निकाल कर उतना ही 'नार्मल सेलाइन' शिरा द्वारा प्रविष्ट कर दें। हृदय रक्षा के लिये 'टिंचर नक्स वोमिका', 'कोरामीन' आदि औषधियों का इञ्जेक्शन देना चाहिये। हाथ-पैरों पर गर्म जल की थैली रखनी चाहिये। कृत्रिम श्वासक्रिया (Artificial respiration) अवश्य करनी चाहिये।

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्य्यो विधिः सदा।
शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ॥ ३७ ॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नास्ति कथञ्चन।
इन्द्रवज्राग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत्।
स्नेहाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ॥ ३८ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

उष्णवायु (लू) और तेज धूप से दग्ध होने पर सदा शीतोपचार करना चाहिये। अत्यधिक शीत, वर्षा और अधिक ठंढी वायु से दग्ध रोगी में स्निग्ध और उष्ण उपचार प्रशस्त होता है तथा अति तेज (इन्द्रवज्र, विद्युत्पात) से दग्ध रोगी की किसी प्रकार भी सिद्धि (चिकित्सालाभ) नहीं होती है किन्तु इन्द्रवज्रादिदग्ध यदि जीवित अवस्था में हो तो स्नेह, अभ्यङ्ग, परीषेक और प्रदेह से प्रतिकार करना चाहिये ॥३७-३८॥

विमर्श—'उष्णवाततप दग्ध' को हीट स्ट्रोक, सन स्ट्रोक, हीट अपोप्लेक्सी, या थर्मिक फीवर (Heat stroke, Sun stroke, Heat apoplexy, Thermic fever) या भाषा में 'लू लगना' कहते हैं।

कारण—ग्रीष्म प्रदेशों में ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड सूर्य की गर्मी में घूमना या तेज भट्टी के पास रहना मुख्य कारण हैं। अत्युष्णता से मस्तिष्कसुषुम्णागत उष्णतानियामक केन्द्र के कार्य में विकृति होकर शरीर की गरमी बढ़ती है। यह ताप कभी कभी १०८-११२ फै० तक बढ़ते देखा है। लक्षण—सिर-दर्द, हृल्लास, वमन, बैचेनी ये लक्षण प्रारम्भ में होकर मूर्च्छा हो जाती है श्वास-घुर्घुर युक्त, नाडी-दुर्बल, क्षीण और शीघ्र होती है। चिकित्सा—रोगी को ठंढे कमरे में ले जाना, कपडे खोल कर गीले कपड़ों में लपेटना, शिर पर वर्फ की थैली रखना, चाहिये। 'चन्दनासव' या 'कर्पूर' पानी में डाल कर पिलाना चाहिये। धारागृह भूमिगृह सुशीत वनञ्च रम्य जलवातशीतम्। वैदूर्यमुक्तामणिभाजनाना स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीता. ॥ पत्राणि पुष्पाणि च वारिजाना क्षौमञ्च शीत कदलीवनानि। प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलाना च दलाः प्रशस्ता ॥ प्रियङ्गुकाचन्दन-रूषिताना स्पर्शाः प्रियाणाञ्च वराङ्गनानाम्। दाहे प्रशस्ता. सजलाः सुशीता पद्मोत्पलानाञ्च कलापवाता सरिद्भदाना हिमवद्वरीणा चन्द्रोदयाना कमलाकराणाम्। मनोऽनुकूला शिशिराश्च सर्वा" (च० चि० अ० ३)। शीतवर्षानिलदग्ध—को 'फ्रास्ट वाइट' (Frost bite) कहते हैं। कारण—शीतर्तु के समय शीतप्रदेश में हिमतुषारयुत अतिशीत वायु के चलने पर घूमने से या वहां रहने से रक्त तथा तद्गत जलीयांश जमने लगता है जिससे रक्तसञ्चार कम होने लगता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग सिकुड़ कर कठिन और मोम समान हो जाते हैं। चिकित्सा—धमनी तथा शिराओं में जमे हुये रक्त को द्रवावस्था में लाने के लिये घर्षण क्रिया करनी चाहिये। रोगी के कमरे की उष्णता भी धीरे २ बढ़ानी चाहिये। पीने को उष्ण पेय देने चाहिये। अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर कम्बल आदि गरम कपडे लपेटना चाहिये। इन उष्णोपचारों की शीघ्रता करने से एकाएक रक्तप्रवाह शुरू हो कर 'शोथयुक्त कोथ' (Inflammatory gangrene) होने का भय रहता है। अतितेजदग्ध—को Lightaning कहते है। आकाशविद्युत् के तीव्राघात से अथवा कृत्रिम विद्युत् (Electricity) के तीव्राघात से मस्तिष्कघात Neuro paratysis) हो कर तत्काल रोगी मर जाता है। सौम्याघात होने पर यदि मनुष्य बच भी जाय तो वह स्मृतिनाश, दृष्टिमान्द्य, अंगवध, अपस्मार और उन्माद आदि रोगों से ग्रस्त हो जाता है, ऐसी दशा में उपद्रवानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातो जलौकाऽवचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से 'जलौकावचारणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १–२ ॥

विमर्शः—जलमोकः स्थानं यासां ता जलौकस्तेषामवचारणमधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तम् । कहीं २ 'जलायुका' भी है वहां जलमात्तानायुरिति व्याख्येयम् । 'जलौका' को भाषा में 'जोंक' तथा अंग्रेजी में 'लीच' या 'हिरडू' (Leech, hirudu) कहते हैं ।

नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो-जलौकसः ॥ ३ ॥

राजा, आढ्य (धनवान्), बालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल, स्त्री तथा कोमल देह वाले मनुष्यों के अनुग्रह के लिये दूषित रक्त को निकालने का यह परम सुकुमार तरीका 'जोंक' का बताया है ॥ ३ ॥

विमर्शः—प्रच्छान तथा शस्त्र द्वारा सिरावेध कर रक्त निकालना कष्टदायी, शृङ्ग और अलाबू या कपिल्ल ग्लास द्वारा रक्त निकालना साधारण सुकुमार विधि है किन्तु जलौका द्वारा रक्तक्षुति परम सुकुमार विधि है ।

तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासंख्यं शृङ्गजलौकोऽलाबुभिरवसेचयेत्, स्निग्धशीतरूक्षत्वात् । सर्वाणि सर्वैर्वा ॥ ४ ॥

रक्तावसेचन में भी वात, पित्त और कफ से दूषित रक्त को क्रमशः शृङ्ग, जलौका और अलाबू (तोंबी) से निकालना चाहिये । कारण कि शृङ्ग स्निग्ध होने से वात का शामक, जलौका-शीत होने से पित्तशामक और तोंबी-रूक्ष होने से कफ की शामक होती है । अथवा सब का सर्वदोषों में उपयोग कर सकते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—'अष्टाङ्ग-हृदय' में दूषित रक्त तथा स्थान के अनुसार भिन्न २ तरीकों से रक्तावसेचन करना लिखा है । 'प्रच्छानेनैकदेशस्थं श्रथित जलजन्मभिः । हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तनस्व्याधि सिराव्यधैः ॥ प्रच्छान पिण्डिते वा स्याद्वगाढे जलौकसः । तन्त्रेऽलाबवीशृङ्गं सिरैव व्यापकेऽन्यजि ॥ सर्वाणि सर्वैर्वा ।

भवन्ति चात्र—

उष्णं समधुरस्निग्धं गवां शृङ्गं प्रकीर्तितम् ।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥ ५ ॥

गोशृङ्ग—उष्णवीर्य, मधुर रस युक्त स्निग्ध होता है । इस लिये वात से दूषित रक्त का अवसेचन करने के लिये हितकर माना गया है ॥ ५ ॥

शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसम्भवा ।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्वसेचने ॥ ६ ॥

जोंक—शीतल स्थान में अधिवास (निवास) करती है तथा जल में ही उत्पन्न होती है एवं रस में मधुर होती है इस लिये पित्त से दूषित रक्त का अवसेचन करने में वह हितकर है ।

अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णञ्च परिकीर्त्तितम् ।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥ ७ ॥

तोंबी—कटुक रसवाली, रूक्ष तथा तीक्ष्ण होती है इस लिये श्लेष्मा (कफ) से दूषित रक्त के अवसेचन में वह हितकारी है ॥ ७ ॥

विमर्शः—भिषग्वातान्वित रक्त विषाणेन विनिर्हरेत् । पित्तान्वित जलौकाभिः कफान्वितमलाबुभिः । (च० चि० अ० २१)

तत्र, प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलसूत्रावनद्धेन शृङ्गेण शोणि तमवसेचयेदाचूषणात्, सान्तर्दीपयाऽलाब्वा ॥८॥

सर्व प्रथम जिस स्थान से रक्त निकालना हो वहां प्रच्छित (उस्तरे या ब्लेड द्वारा) चांचवे लगा करके पतले वस्त्र को डोरे से बांध कर सींग के मुख में रख के मुख द्वारा आचूषण विधि से रक्त का अवसेचन करना चाहिये । अथवा तुम्बी में दीपक रख कर या स्पिरिट या रूई भीतर रख के जला कर उस तुम्बी को दूषित स्थान पर औंधी रख देने से रक्तावसेचन हो जाता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—सान्तर्दीपयाऽलाब्वा—शृङ्ग के दोनों तरफ छिद्र होने से मुख द्वारा चूषण करते हैं किन्तु अलाबु एकमुखी होने से उसके भीतर दीपादिज्वलन क्रिया द्वारा भीतरी प्राणवायु (Oxygen) जलाकर शून्यस्थान उत्पन्न किया जाता है । शृङ्गालाबुप्रमाणानि—अङ्गुलास्य भवेच्छृङ्ग चूषणेऽष्टाङ्गुलम् । अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्र मुनदग्धं चूचुकाकृति ॥ स्याद् द्वादशाङ्गुलाऽलाबूर्नाहे लष्टादशाङ्गुला । चतुस्त्र्यङ्गुलवृत्तास्या दीर्घाऽन्ते श्लेष्मरक्तहृत् ॥ अन्यत्र—विषाणं श्वेतगोरिन्दुचक्र सप्ताङ्गुलायतम् । क्षिप्तान्त पिचुपेशीकं बोध्यं वातयुतेऽन्यजि ॥ अष्टाङ्गुलपरिणाहा चतुरङ्गुलनालसन्मिता सुमुखी । कृमिगुदालिप्तमनुः श्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलाबू ॥

जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलौकसः ॥ ९ ॥

जल ही है आयु (जीवन) जिनका उन्हें 'जलायुका' कहते हैं । अथवा जल ही ओक (निवासस्थान) है जिनका उन्हें 'जलौकाएं' कहते हैं ॥ ९ ॥

ता द्वादश, तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः ॥ १० ॥

ये जलौकाएं—बारह प्रकार की होती हैं उनमें ६ सविष होती हैं तथा उतनी ही अर्थात् ६ निर्विष होती हैं ॥ १० ॥

तत्र, सविषाः-कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इन्द्रायुधा सामुद्रिका गोचन्दना चेति । तासु, अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः-कृष्णा । वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः-कर्बुरा । रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी-अलगर्दा । इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रिता-इन्द्रायुधा । ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पकृतिचित्रा-सामुद्रिका । गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी-गोचन्दनेति, ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्च-

र्दिमर्द' सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र महागद' पानालेपननस्यकर्मादिपूपयोज्यः। इन्द्रायुधादष्टमसाध्यम्। इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः ॥ ११ ॥

इनमें विष वाली जलौकाएं-कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना ये ६ हैं। उनमें से अञ्जन (कृष्णाञ्जन) के चूर्ण के समान काले वर्ण वाली तथा बड़े शिर वाली 'कृष्णा' होती है'। वर्षा मछली की तरह लम्बी तथा उदर पर उभरी हुई रेखाओं वाली 'कर्बुरा' होती है। शरीर पर रोम वाली, महापार्श्वा और काले मुख की 'अलगर्दा' होती है। इन्द्र के धनुष के रङ्ग की तरह चित्र विचित्र-रेखाओं से युक्त 'इन्द्रायुधा' होती है। कुछ काली तथा पीली बिन्दुओं से युक्त तथा अनेक प्रकार के पुष्प के समान आकृति (स्वरूप) से चित्रित 'सामुद्रिका' होती है। बैल के वृषण (अण्ड) की तरह अधोभाग में द्विधाभूत (दो भागों में अलग परन्तु जुडी हुई) आकृति (स्वरूप) वाली तथा छोटे मुख वाली 'गोचन्दना' होती है। इन जोंकों से काट लेने पर उस मनुष्य के दंशस्थान पर सूजन, अधिक मात्रा में खुजली, वेहोशी, ज्वर, दाह, वमन, नशा और थकावट ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में 'महागद' नामक ओषधि को पीने, आलेप करने और नस्य आदि कर्म में प्रयुक्त करनी चाहिये। 'इन्द्रायुधा' नामक जलौका से काटा हुआ रोगी असाध्य होता है। इस प्रकार इन विषयुक्त जलौकाओं तथा इनकी चिकित्सा का व्याख्यान कर दिया है ॥ ११ ॥

विमर्श—महागद औषध का वर्णन इस ग्रन्थ के 'कल्पस्थान' में 'सर्पदष्टविषचिकित्सित' अध्याय में कर दिया है। जैसे—त्रिवृद्विशल्ये मधुक हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गे। कटुत्रिकञ्चैव विचूर्णितानि श्लक्ष्णे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥

अथ निर्विषाः—कपिला पिङ्गला शङ्खमुखी मूषिका पुण्डरीकमुखी सावरिका चेति। तत्र, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा-कपिला। किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च-पिङ्गला। यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी-शङ्खमुखी। मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च-मूषिका। मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा-पुण्डरीकमुखी। स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा-सावरिका। सा च पश्वर्थे। इत्येता अविषा व्याख्याता. ॥ १२ ॥

विषरहित जलौकाएं—कपिला, पिङ्गला, शङ्खमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका ये ६ हैं। इनमें मैनसिल के समान पीले रंग से रंगे हुये पार्श्वों वाली तथा पीठ पर चिकनाई और मूंग के समान रंग वाली 'कपिला' होती है। कुछ लाल, गोल शरीर वाली, कुछ पिङ्गवर्ण की और शीघ्र चलने वाली 'पिङ्गला' होती है। यकृत् के समान काले या बैंगनी रंग वाली, शीघ्र रक्त को पीने वाली तथा लम्बे और तीक्ष्ण मुख वाली 'शङ्खमुखी' होती है। मूषिका के समान आकृति (स्वरूप) और रङ्ग वाली तथा दुर्गन्धि वाली 'मूषिका नामक जलौका होती है। मूंग के समान हरे वर्ण की तथा कमल के समान मुख वाली 'पुण्डरीकमुखी' होती है। चिकनी, कमल के पत्ते के समान रङ्ग वाली और अट्ठारह अङ्गुल लम्बी 'सावरिका' जोंक होती है। पशुओं के दूषित रक्त को निकालने के लिये इसका उपयोग होता है। इस तरह इन निर्विष जलौकाओं का व्याख्यान किया गया है ॥ १२ ॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रहे जलौकावर्णन यथा—सर्वासाम्र पर प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि, तत्र चतुष्पत्रपटुना नृपु योजयेत्। गजवाजिष्वपरा। तासु मृदुमारास्तनुचपोऽल्पशिरस्का बृहदुदरकामाश्च स्त्रिय। विपरीता पुनासोऽर्धचन्द्राकृतिपुरोवृत्ताश्च। तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमासो योजयितव्या, स्त्रियो विपरीतेषु।

तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि। तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति ॥ १३ ॥

उन जलौकाओं के यवन, पाण्ड्य, सह्य और पौतन आदि क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में बड़े शरीर वाली, बलवान, शीघ्र रक्त पीने वाली, अधिक खाने वाली तथा विशेष कर निर्विष जलौकाएं होती हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—यवन देश से तुरुष्क देश-टर्की, पाण्ड्य देश से मद्रास प्रान्त के चोरल प्रदेश का नैर्ऋत्य भाग कन्नोजादक्षिणभागे तु सह्यप्रस्थाच्च पश्चिमे। पाण्ड्यदेशो गरुत्मान् महाशूत्वकारक ॥ सह्य से नर्मदा-तीरवर्ति पर्वतीय भाग तथा पौतन से मथुरा (पूतनाया इद पौतनम्) का ग्रहण होता है।

तत्र, सविषमत्स्यकीटदर्दुरमूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भस्सु च सविषाः। पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमलेष्वम्भस्सु च निर्विषाः ॥ १४ ॥

इन देशों में जहां विषयुक्त मत्स्य, कीडे और मेंढक के मूत्र और मल की सडन होती है वहां तथा कलुषित (तृण-पर्ण दूषित) जल में विषैली (कृष्णा, कर्बुरा आदि ६) जलौकाएं पैदा होती हैं। पद्म (किञ्चित्श्वेत कमल), उत्पल (नीलकमल), नलिन (रक्तकमल), कुमुद (रक्तकमल भेद), सौगन्धिक (सुगन्धिकमल), कुवलय (रक्तकमल भेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल) और शैवल (काई) इनके कोथ में तथा निर्मल जल में निर्विष (कपिला, पिङ्गला आदि) जलौकाएं उत्पन्न होती हैं ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिषु।
न च सङ्कीर्णचारिण्यो न च पङ्कशया. सुखाः॥१५॥

ये विषरहित जलौकाएं गहरे तथा सुगन्धित पानी वाले जलाशयों में रहती हैं। सङ्कीर्ण स्थानों में नहीं घूमती हैं अथवा सङ्कीर्ण (विषैले) पदार्थों को नहीं खाती हैं तथा कीचड वाले स्थान में भी निवास नहीं करती हैं ॥ १५ ॥

तासा ग्रहणमार्द्रे चर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात्॥१६॥

इन जलौकाओं को गीले चमड़े से पकडे अथवा अन्य प्रयोग (विधि) से अर्थात् सद्योहत प्राणी की मांसपेशी पर मक्खन, घी और दुग्ध लगा कर इनके मुख की तरफ रखने से वे इसे

ठीक तरह से वमन करानी चाहिये। 'दुर्वान्ता' जोंक को 'इन्द्रमद' नाम की असाध्य व्याधि हो जाती है॥ २२॥

विमर्श—'इन्द्रमद' रोग को 'वाग्भट' ने 'रक्तमत्ता' नाम से लिखा है। 'ता अप्यसम्यग्गमनात् प्रतन च निपातनात्। सोदन्ति सलिल प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत्॥ एक वार प्रयुक्त जोंक को सात दिन तक पुनः रक्तावसेचन के लिये प्रयुक्त नहीं करनी चाहिये। "सप्तरात्र च ता पुनर्न पातयेत्' (अ० सङ्ग्रह)।

शोणितस्य च योगायोगानवेक्ष्य शतधौतघृताभ्यङ्गस्तत्पिचुधारणं वा, जलौकोव्रणान् मधुनाऽवघट्टयेत्। शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेद् वध्नीत वा, व्रणं कषायमधुरस्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति॥ २३॥

रक्त का योग (सम्यक् स्राव) तथा अयोग (हीन, मिथ्या, अति स्राव) का विचार करके तदनुसार शतधौत घृत का अभ्यङ्ग अथवा 'शतधौत' घृत में आप्लुत पिचु (रुई) के द्वारा जलौका कृत व्रण का उपचार करना चाहिये। अथवा जलौका-व्रणों पर शहद से घर्षण करके शीतल जल से सेचन करना चाहिये। अथवा व्रणों पर पट्ट-बन्धन कर देना चाहिये अथवा कषाय, मधुर, स्निग्ध और शीत पदार्थों का लेप कर देना चाहिये॥ २३॥

विमर्श—रक्तस्रावणयोगायोगविचार-पलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धया रुधिरस्य वा। रुधिर स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा॥ (चरक)। अशुद्धौ स्रावयेद्दोषान् हरिद्रागुडमाक्षिकै। (वाग्भट)। रक्तातिस्राव—जोंक के सिर में छोटी छोटी ग्रन्थियां होती हैं जिनसे रस निकलता है और उस रस में hirudin नामक द्रव्य होता है यह द्रव्य रक्त की जमने की शक्ति को कम कर देता है जोंक के दशन करते समय यह रस लाला के साथ व्रण में पहुचता रहता है।

भवति चात्र—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम्।
जलौकसाञ्च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद् गदान्॥२४॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने जलौकाऽवचारणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

जलौकाओं के रहने योग्य देश, उनके ग्रहण (पकडने) की विधि, जाति, उनके पोषण का तरीका तथा उनको दूषित स्थान पर लगाने की विधि (अवचारण) जो वैद्य जानता हो वह जलौकासाध्य रोगों को ठीक कर सकता है॥ २४॥

विमर्श—जोंक लगाने में आवश्यक बातें-(१) जोंक लगाने के पूर्व उस स्थान पर स्वेदन। (२) जोंक प्रातःकाल में लगावे। रक्तस्रुति की प्रवृत्ति होने से रात्रि या सन्ध्या समय ठीक नहीं है। (३) बच्चों में रक्तप्रवृत्ति का भय अधिक रहता है। अतः ध्यान रखें। हड्डी के ऊपर लगाने से दबाकर खून बन्द कर सकते हैं। (४) सिरा, नेत्रपलक, स्तन, शिश्न, वृषण इन मृदु स्थानों पर जोंक न लगावें। (५) २ वर्ष तक की आयु में १ जोंक, युवा के लिये ६ से १० तक, किन्तु ज्यादा जोंक न मिले तो उसकी पूंछ के पास सूई से छेद कर देने पर पिया हुआ रक्त निकलता रहता है जिससे उसे निचोट कर पुनः लगाने की जरूरत नहीं पड़ती है। जलौकासाध्यरोगा वाग्भटे-गुल्मार्शोविद्रधिकुष्ठवातरक्तगलामयान्। नेत्रस्रग्विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकस॥ दूषित ग्रन्थियां, त्वचा, अस्थि के शोथ, Pneumonia, Pleurisy Myocarditis, pericarditis, parotitis, तथा कर्ण, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण, यकृत् और सन्धि इन के शोथ तथा विद्रधि में लाभ करती है। कनपटी पर जोंक लगाने से शिरःशूल, गुदा के पास लगाने से अर्शोजन्य कुन्थन, वेदना बन्द हो जाती है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां जलौकावचारणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब यहां से 'शोणितवर्णनीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्य्यस्याष्टविधवीर्य्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः सरस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्द्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद् गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः। तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणि रसे जिज्ञासा-किमयं सौम्यस्तैजस? इति। अत्रोच्यते-स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते॥ ३॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इनसे बने हुये तथा पेय, लेह्य, भक्ष्य और भोज्य करके चार प्रकार के शीत और उष्ण ऐसे द्विविध वीर्य वाले अथवा शीतोष्णस्निग्धरूक्षविशदपिच्छिलमृदुतीक्ष्ण इन आठ वीर्य वाले किंवा गुरुमन्दादि अनेक गुण वाले और आहार विधि के अनुसार ठीक तरह से प्रयुक्त तथा पाचकाग्नि (पित्त तथा पाचक रसों) द्वारा पूर्ण रूप से पचे हुये आहार का जो तेजोभूत सार भाग है उसे 'रस' कहते हैं। उसका स्थान हृदय है। वह हृदय से चौवीस धमनियों-जैसे-ऊपर जाने वाली दस, नीचे जाने वाली दस तथा टेढी जाने वाली चार-में प्रविष्ट हो कर सम्पूर्ण शरीर को रात-दिन तृप्त करता है, बढाता है, धारित करता है और यापन करता रहता है। इन क्रियाओं में पूर्वजन्म का अदृष्ट (पुण्यादि या भाग्य) ही कारण है। क्षय, वृद्धि और विकृतियों के कारण शरीर में

परिभ्रमण करने वाले उस रस की गति का अनुमान किया जाता है। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों, दोष, धातु, मल और आशयों में घूमने वाले उस रस के विषय में यह जानने की इच्छा होती है कि वह सौम्य (जलीय) तत्त्वात्मक है अथवा तैजस तत्त्वात्मक। इस विषय में कहते हैं कि-वह द्रव के समान अनुसरण (गति) शील होने से तथा शरीर को स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण किये रहने से सौम्य (जलतत्त्वात्मक या कफमय) है ॥ ३ ॥

विमर्शः—आहार के भेद-प्राचीनों ने आहार को पञ्चभूतात्मक माना है—पञ्चभूतात्मके देहे आहार. पाञ्चभौतिक । तथा द्विविध या अष्टविध वीर्य, पेय-लेह्यादि भेद से चतुर्विध, रस भेदेन षड्विध तथा गुणभेद से सात्त्विक, राजस और तामस, अथवा वानस्पतिक आहार और मांसाहार इस तरह भेद हैं। आहार में निम्न गुण होते है। गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिरा. । गुणा सप्तक्षमविशदा विंशति. सविपर्यया ॥ आधुनिक दृष्टि से-कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, फेट, विटामिन्स, लवण और जल ये भोजन के ६ भेद माने है। अथवा शरीर के पूर्ण स्वस्थ रहने के लिये भोजन में ये ६ तरह के पदार्थ होना परमावश्यक है। सम्यक्परिणतस्य—आयुर्वेद में भोजन को पचाने के लिये पाचकाग्नि की कल्पना है और वह पित्त है, इसी को जाठराग्नि नाम दिया है जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचक । सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तु नैव शक्यते ॥ इस अग्नि का स्थान उदर माना है जैसा कि इसे जाठर, औदर्यः, उदर्य, आदि नाम दिये हैं, किन्तु आगे चलकर पक्वाशय और आमाशय के मध्य में पित्त को माना है तथा चतुर्विध अन्न को पचाता है। "तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्नपान पचति, इस पित्त को धारण करने वाली कला को 'पित्तधरा' कला कहा है। षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥ इस तरह यह 'पित्तधरा' कला या ग्रहणी, ड्यूडिनम (Duodenum) है तथा भोजन का शेष पाचन इसमें होता है तथा यकृत्स्थ पित्ताशय (गाल ब्लेडर) से पित्त और अग्न्याशय (Pancreas) से अग्निरस और आन्त्ररस इसी में आकर पाचन का कार्य पूर्ण करते हैं। परमसूक्ष्म —खाये हुये पदार्थों का शरीर में शोषण तथा सात्म्यीकरण होने के लिये अत्यन्त सूक्ष्म होना अत्यावश्यक है। इसके लिये प्रथम दांत-चर्वणक्रिया से भोजन को पीस (चबा) कर महीन बनाते है तथा लालारस (Saliva), आमाशय रस (Gastric juce), पित्त, अग्निरस इनके प्रभाव से चबाये हुये भोजन के कण अत्यन्त महीन घटकों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस तरह पेषण, पाचन और शोषण से बचा हुआ कचरा (किट्टभाग) मलरूप में गुदद्वार से बाहर निकल आते हैं। तस्य च हृदय स्थानम्—यह परम सूक्ष्म रस हृदय में कैसे पहुचता है? आयुर्वेद में रस का स्थान हृदय है तथा रस के रक्त (रञ्जित) होने का स्थान 'यकृत्प्लीहा' है। किन्तु पच्यमानाशय (ग्रहणी, Duodenum) से यह रस यकृत्प्लीहा में कैसे पहुचता है? तथा वहां से हृदय में कैसे पहुंचता है? इसका विचार किया जाता है। रस गतिशील है यह इसकी परिभाषा 'अहरहः रसति-गच्छतीति रस.' से ही प्रसिद्ध है। रस के दो भेद कर दिये हैं। अन्नपाक से उत्पन्न पोषक रस या अन्नरस या आहारप्रसादाख्य रस इसे 'काइल' कहते है। दूसरा 'स्थायी रस' या इसे 'धातुरस' (Lymph) कहते है। इन दोनों प्रकार के रसों का शरीर में रसवाहिनियों, (Lymph veins) रक्तवाहिनियों (Arteriese and veins) द्वारा चक्रवत् परिभ्रमण होता रहता है। सन्तत्या भोज्यधातूना परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। (च० चि०)। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्र देहे विक्षिप्यते सदा ॥ (च० चि०)। हृद्यो रसो नि सरति तस्मादेव च सर्वश । सिराभिर्हृदय चैति (भेलसंहिता)। रसस्तु हृदय याति समानमारुतेरित । रञ्जित. पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम्। अथवा—दृश्य यकृति यत्पित्त तद्रस शोणित नयेत्। शार्ङ्गधर। डाक्टरी मत—से आहारप्रसादाख्य रस का हृदय में पहुंचने का निम्न क्रम है। भोजन में 'कार्बोहाईड्रेट' आदि ६ प्रकार के पदार्थ माने गये हैं उन में से मेदोजातीय पदार्थों के रस का शोषण क्षुद्रान्त्र (Small intestine) में स्थित 'रसाङ्कुर' (Villi) द्वारा होकर वह रस 'रसप्रपा' (Cisterna chyli) में जाता है तथा यहां से 'रसकुल्या' (Lymphatic ducts) में होता हुआ 'अक्षाधरासिरा' (Subclavian vein) में रक्त के साथ मिल जाता है तथा 'उत्तरामहासिरा' Superior vena cava) द्वारा हृदय (दक्षिणालिन्द) में पहुंच जाता है। मांसजातीय (Proteins) पदार्थ तथा शर्कराजातीय (Carbohydrates) पदार्थों का रस 'प्रतिहारिणीसिरा' (Portal vein) द्वारा रक्त में मिलकर यकृत् में जाता है। यकृत् से एक शाखा द्वारा 'अधरा महासिरा' (Inpherior vena cava) में मिलकर हृदय (दक्षिणालिन्द) में चला जाता है। खनिज पदार्थ (Salts) और जल सिरा तथा लसीकावाहिनियों द्वारा हृदय में पहुंचते हैं। हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य—प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से हृदय से केवल एक महाधमनी (Aorta) निकलती है तथा वही हृदय के ऊपर तोरणिका रूप में (Arch of Aorta) हो जाती है। सर्वप्रथम महाधमनी से दो पतली शाखाएं निकलती हैं जो हृदय का पोषण करने के कारण हार्दिकी धमनियां (Coronary arteries) कहलाती है। तोरणिका रूप भाग (Arch of Aorta) से तीन बडी शाखाएं निकलती हैं। दक्षिण भाग से पहली काण्डमूला (Innominate artery) निकलती है जो कुछ ऊपर जाकर दो भागों में विभक्त हो जाती है। इनमें से एक शाखा दाहिनी ऊर्ध्वशाखा के पोषणार्थ जिसे 'दक्षिण अक्षकाधरा' कहते हैं तथा दूसरी शाखा ग्रीवा के दाहिने भाग में जाकर ग्रीवा और शिर के दाहिने भाग का पोषण करती है जिसे 'दक्षिण महामातृका' (Right common carotid) कहते है। तोरणिका धमनी की दूसरी शाखा 'वामा महामातृका' (Left common carotid) धमनी है जो ग्रीवा और शिर के बाएं भाग का पोषण करती है। तोरणिका धमनी की तीसरी शाखा 'वामाक्ष काधरा' (Left subclavian artery) है जो बाईं ऊर्ध्व शाखा का पोषण करती है। इस तरह हृदय से दो हृत्पोषण धमनियां तथा हृदय की महाधमनी के तोरणिका भाग से तीन शाखाएं निकलती हैं फिर महाधमनी का अवरोही भाग नीचे वक्ष की ओर जाता है। प्रायः इस महाधमनी (Aorta) के वक्षीय

तथा औदरिक भाग से सर्व शरीर के लिये करीब छोटी मोटी छत्तीस शाखाएं निकलती हैं। हृदय से ऊर्ध्वगा दश, अधोगा दश और चतस्रश्च तिर्यग्गा ऐसा स्पष्ट सामञ्जस्य प्रत्यक्ष में नहीं होता है। अनुमानाद् गति —यद्यपि धमनियों का स्पन्दन पाद, ग्रीवा आदि स्थानों में प्रत्यक्ष दिखाई देने से रस भी रक्त से मिश्रित होकर या रक्त में परिणत होकर गतिशील प्रत्यक्ष है तथापि अनुमानप्रमाण भी उसकी गति का दृढीकरण है। शरीर के किसी भाग के क्षीण होने से रसगति का-हीनयोग, शरीर की वृद्धि होने से-मिथ्यायोग और सम्पूर्ण शरीर में या एक भाग में विकृति होने से गति का-अतियोग या मिथ्यायोग का अनुमान होता है। क्षिप्यमाण रक्तैगुण्याद्रस सन्तति वत्त स'। तस्मिन विकार कुरुते रक्ते वर्णमिव तोयद ॥ आशया.-वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय ये सात स्त्रीपुरुषों में समान किन्तु स्त्रीणामष्टमी-गर्भाशय.।

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति ॥४॥

वह आहार के पाचन से बना हुआ जलतत्व की अधिकता रखने वाला या जल के समान जीवन तर्पण रूप से शान्ति देने वाला रस (Chyle) प्रथम यकृत् और प्लीहा में जाकर राग (रक्त रूप) को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भवतश्चात्र—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

देहधारियों के शरीर में रहने वाले प्रसन्न (विशुद्ध) तेज (रञ्जक पित्त) से रञ्जित (रक्तता को प्राप्त हुये) तथा अव्यापन्न (अविकृत निर्मल) जो आहारप्रसादात्म्य जलीय रस है वह 'रक्त' कहा जाता है ॥ ५ ॥

विमर्श —सुश्रुत ने रस का यकृत्प्लीहा में रञ्जकपित्त द्वारा रक्त बनना माना है। चरक का भी यही मत है—तेजो रसाना सर्वेषा मनुजाना यदुच्यते। पित्तोष्मण स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति। (च चि.अ १५)। अष्टाङ्गहृदयकार इसी रञ्जकपित्त को आमाशय में मानते हैं। आमाशयाश्रय पित्त रञ्जक रसरञ्जनात्। शार्ङ्गधर रस का रञ्जकपित्त द्वारा रक्तरूप में परिणत होना हृदय से मानता है। रसस्तु हृदय याति समाननारतेरित'। रञ्जित पाचि-तस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम ॥ इस तरह आयुर्वेद के सभी आचार्य रञ्जक पित्त से ही रस का रक्त बनना मानते हैं। स्थान के विषय में मतभेद अवश्य है। डाक्टरी मत से रक्त में सूक्ष्म दर्शकयन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर एक तरल तथा दूसरा घन भाग दिखाई देता है। तरल भाग को रक्त रस (Plasma) कहते हैं। इसका रंग हल्का पीला होता है तथा इसमें शरीर-पोषक पदार्थ, आक्सिजन, कार्बन डायाक्साइड, सनिजपदार्थ होते हैं। घनभाग में तीन तरह के कण होते हैं। (१) लाल-रक्तकण (Red blood corpuscles R. B. C. या Erythrocy-tes) (२) श्वेत रक्तकण (White blood corpuscles W B. C.) (३) सूक्ष्म रक्तकणिकाएं (Platelets) लालरक्तकण समस्त रुधिर के ४७ प्रतिशत होते हैं। गणना से प्रतिघन मिलीमीटर ($\frac{1}{16}$ ड्राम) में इनकी संख्या पुरुषों में ६० लाख तथा स्त्रियों में ५५ लाख होती है। इन लाल कणों से ही रक्त की लालिमा होती है तथा इन कणों की लालिमा इनके भीतर एक कण-रञ्जक (हीमोग्लोबीन haemoglobin) होता है जो 'ग्लोबीन' नामक प्रोटीन तथा 'हीमाटीन' नामक रङ्गद्रव्य का यौगिक है। यह रङ्गद्रव्य वायु से 'आक्सिजन' ग्रहण कर रक्त को शुद्ध तथा रञ्जित करता है। अन्वेषण से पता चला है कि लालकणों की उत्पत्ति अस्थियों की 'लोहितमज्जा' (Red marrow) से होती है। यह रक्तमज्जा कशेरु, उर.फलक, पर्शुकाएं और कपाल की अस्थियों के सुषिरसंघात (Spongy tissue) में होती है। भ्रूण और शिशु की नलकास्थियों के विवर (Midulary cavity) में भी रक्तमज्जा होती है। शैशवावस्था के पश्चात् इन विवरों में लोहितमज्जा का स्थान पीतमज्जा (Yellow marrow) ले लेती है। रक्तकणों की उत्पत्ति यकृत्प्लीहा में गर्भावस्था के मध्यकाल से जन्म होने के एक मास पूर्व तक हुआ करती है तत्पश्चात् यह कार्य रक्तमज्जा में प्रारम्भ होता है। कुछ अन्वेषणों से यह सिद्ध हो गया है कि यकृत् प्लीहा भी आवश्यकता पड़ने पर रक्तोत्पत्ति का कार्य करते हैं। प्लीहा से बाहर आने वाले रक्त में हीमोग्लोबिन का प्रमाण अधिक पाया जाता है (The blood expelled from the spleen is specially rich in haemoglobin) (hand book of physiology) आमाशय भी रक्तोत्पत्ति में भाग लेता है। असाध्य घातक पाण्डुरोग में यकृत् तथा आमाशय के सत्वों के प्रयोगों से अच्छा लाभ होता है। आयुर्वेद ने तो पहले से ही ऐसे रोगों में रक्त तथा यकृत्सेवन की घोषणा कर रखी है। अनिनिम्बुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्त पिबेदसृक्। यकृता भक्षयेदाजमाम पित्तसमायुतम्॥ पाश्चात्य विज्ञान अपने अनुभव द्वारा अब आयुर्वेद के द्वारा रक्तोत्पत्ति के लिये बताये हुये यकृत्, प्लीहा तथा आमाशय इन स्थानों को महत्त्व देने लगा है। आयुर्वेद की वैज्ञानिकता अत्यन्त प्राचीन और अकाट्य है।

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्त्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ६ ॥

रस से ही स्त्रियों में रजःसंज्ञक रक्त प्रवर्तित होता है। यह रज नामका रक्त (रजोदर्शन) बारह वर्ष की आयु के पश्चात् प्रगट होकर पचास वर्ष की आयु के आस-पास नष्ट (बन्द) हो जाता है ॥ ९ ॥

विमर्श—रसादेव यहा पर एव शब्द निश्चयात्मक है। जिस तरह मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है तद्वत् कोई मज्जा से स्त्रियों में शुक्र की बजाय 'आर्तव' उत्पन्न होता हो ऐसी शङ्का न करे अत. 'रसादेव' लिखा है। इसे रज, आर्तव और पुष्प कहते हैं। निश्चित समय में होने से आर्तव (ऋतौ भवमार्त्तवम्) तथा गर्भरूपी भावी फल का द्योतक होने से पुष्प कहा जाता है। शुद्धञ्च रक्त पुष्पसज्ञ गर्भाशयस्थ फलस्य भविष्यतोऽभिव्यञ्जक-त्वात्। अंग्रेजी में भी 'आर्त्तव' को पुष्प (Flower) कहने की प्रथा है। Menstruation, called also menses, period, monthly flow and flowers यह रक्तमय स्राव है जो कि स्त्री की युवावस्था के प्रारम्भ तथा गर्भाधान होने का सूचक है। यह प्रतिमास हुआ करता है किन्तु गर्भस्थिति, दुग्धपाना-

वस्था, रक्तगुल्म, रक्ताल्पता आदि स्थिति में बन्द हो जाता है। १२–१४ वर्ष की आयु से ४५–५० वर्ष की आयु तक होता है पश्चात् बन्द हो जाता है इसे–रजोनिवृत्ति मेनोपाज (Meno pause) कहते हैं। शीत–प्रधान देशों में देर से होता है। चल-चित्र देखने वाली, गन्दे-अश्लील उपन्यास पढ़ने वाली, तेज मिर्च-मसाले तथा अधिक गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन करने वाली, एवं अमीर वर की लड़कियों में रजोदर्शन जल्दी होता है। निर्बल और अस्वस्थ में देर से होता है। आर्तव दर्शन के समय से यौवन के अन्य लक्षण जैसे स्तनों, गर्भाशय, योनि का बढना, कामाङ्ग पर बालों का उगना, नितम्ब प्रदेश का मोटा होना, चेहरे पर रौनक आना तथा हाव-भाव कटाक्ष, मन्द मुस-कान आदि उत्पन्न होते हैं। रजोनिवृत्ति के समय गर्भाशय, योनि, बीजग्रन्थियां तथा स्तन सिकुडने लगते हैं। दाढी और मूछ के स्थान पर कुछ बालों का उगना, आवाज़ बदलना, शरीर का स्थूल या पतला होना, चेहरे पर कर्कशता आदि लक्षण उत्पन्न होने हैं। बीजकोप का अन्तःस्राव बन्द हो कर थायराइड तथा अधिवृक्क का अन्तःस्राव अधिक मात्रा में रक्त में आने से तेज मिजाज, चिडचिडापन, बेचैन, उद्विग्नचित्त तथा कभी कभी कोई स्त्री पागल सी हो जाती है। इसके अतिरिक्त शिरोभ्रम, शरीरकम्प, निद्रानाश, दिल में धड़कन, ऊर्ध्ववात (हिक्का) तथा मृगी आदि उत्पन्न होते देखे गये हैं। प्रतिमास आर्तव निकलने से पहले गर्भाशय की श्लैष्मिक कला में रक्त अधिक उपचित हो जाता है जिससे गर्भाशय कला–मोटी, मृदु और पिलपिली हो जाती है फिर उस कला में से रक्त बाहर निकल आता है। रक्त निकल जाने पर श्लैष्मिक कला सिकुड़ कर पूर्व दशा को प्राप्त होती है। आर्तवरक्त किञ्चित् काले रङ्ग का और धारीय होता है। उसमें श्लैष्मिक कला के टुकडे, गर्भा शय ग्रन्थियों का स्राव और खटिक के लवण आदि होते हैं। प्रतिमास स्राव तीन से ५ दिन तक और तीन या चार छटांक तक होता है। मासेनोपचितं काले वमनीभ्या तदार्तवम्। ईषत्कृष्ण विगन्धञ्च वायुर्योनिमुखं नयेत्। (सुश्रुत)। मासान्निष्पिच्छदाहा-र्तिपञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहुलात्यल्पमार्त्तव शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक)। सूक्ष्मकेशप्रतीकाशा बीजरक्तवहा सिराः। गर्भाशय पूर-यन्ति मासाद्बीजाय कल्पते॥ मासिकधर्म के समय डिम्बग्रन्थि, डिम्बप्रणालियां और योनि अधिक रक्तमय हो जाती हैं। गर्भा-शय का परिमाण भी कुछ बढ जाता है। आर्तव निकलने के दो चार दिन पहले से तथा जब तक निकलता रहता है उस समय बहुत सी स्त्रियों की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है। आलस्य, अरुचि, कमर, कूल्हों और पेडूमें भारीपन हो जाता है। पीनप्रसन्नवदना प्रस्निग्धात्ममुखद्वि-जान्। नरकामा प्रियकथा स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्द्धजान्। स्फुरद्भुजकुचश्रोणि नाम्यूरुजघनस्फिचान्। दर्पोत्कुक्यपराञ्चापि विद्याद्दुमतीमिति॥ (सुश्रुत)। आर्त्तवस्रावकारण–रजःस्राव का घनिष्ठ सम्बन्ध बीज कोप (Ovary) के साथ है। बीजकोप में दो रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। एक ओइस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरा प्रोजे-स्टिन (Progestin) है। ओइस्ट्रिन के प्रभाव से गर्भाशय की श्लैष्मिकता का नाश हो कर रजःस्राव होता है दूसरा प्रोजे-स्टिन गर्भाशय की कला को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा स्तनों को भी परिपुष्ट करता है। जब गर्भ नहीं रहता तब ओइ-स्ट्रिन अपना नाशक कार्य करके 'रज:स्राव' करता है। उसके नाशकार्य के पश्चात् प्रोजेस्टिन रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह परस्पर विरोधी ये दोनों द्रव्य प्रतिमास नियतसमय में अपने २ प्रभाव द्वारा आर्तव चक्र जारी रखते हैं।

आर्त्तवं शोणितं त्वाग्नेयमग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ॥७॥

यद्यपि रससे ही रज बनता है किन्तु वह अग्निगुण प्रधान होता है रस की सौम्यता उसमें नहीं रहती क्यों कि गर्भ अग्नि और सोम गुण प्रधान होता है॥ ७॥

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्य्याः ॥ ८॥

अन्य आचार्य जीवरक्त (जीवनपोषक रक्त अथवा जीव = चेतनायुक्त रक्त) को पञ्चमहाभूतों के संयोग से युक्त मानते हैं॥ ८॥

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ ९॥

रक्त में विस्रता–(आमगन्धिता)–पृथिवी का गुण, द्रवता-जल का गुण, राग (लालिमा)–तेज का गुण, स्पन्दन–वायु का गुण तथा लघुता–आकाश का गुण स्पष्ट दिखाई देता है अत एव रक्त पाञ्चभौतिक है॥ ९॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ञः शुक्रं तु जायते ॥ १०॥

रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है॥ १०॥

विमर्श—इस श्लोक में रस-रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति का क्रम अथवा पोषण क्रम बताया गया है। धातुओं के पोषण के लिये क्षीरदधिन्याय, केदारकुल्यान्याय तथा खले कपोतिका-न्याय ऐसे तीन वाद प्रचलित हैं। (१) क्षीरदधिन्याय के अनु-सार जैसे समग्र दुग्ध से दधि तथा दधि से मक्खन, मक्खन से घृत और घृत से घृतमण्ड बनता है उसी प्रकार समग्र आहार रस से रक्त और रक्त से मांस आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं। अतः इसे 'क्रम परिणाम पक्व' भी कहते हैं। यह क्रम निम्न श्लोकानुसार है। स्थूलसूक्ष्ममलं. सर्वं भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा'। अर्थात्–प्रत्येक धातु के धात्वग्निद्वारा पाक होने पर स्थूल, सूक्ष्म और मल ऐसे ३ भाग हो जाते हैं। स्व.–स्थूलोऽश पर सूक्ष्मस्तन्मल याति तन्मल। स्वाग्निभि. पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु। न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मल॥ भोजन किये हुये अन्न का पाक होने पर मल रूप में विष्ठा और मूत्र तथा सार भाग रस होता है, इसे पोषक रस या काइल (Chyle) कहते हैं। इस रस का पाचन होने पर स्थूल भाग रस, सूक्ष्म भाग रक्त और मलभाग कफ उत्पन्न होता है। इस स्थूल रस को पोष्यरस या Plasma कहते हैं। इसी तरह रक्त का पाचन होने से स्थूल भाग रक्त, सूक्ष्म भाग मास तथा मलभाग पित्त बनता है। मांस का पाचन होने से स्थूल भाग मास, सूक्ष्मभाग मेद तथा मलरूप में नासा, कर्ण और नेत्र के मल उत्पन्न होते हैं मेद का पाचन होने से स्थूल भाग मेद, सूक्ष्म भाग अस्थि तथा मल भाग स्वेद बनता है। अस्थि के पाचन से स्थूल भाग अस्थि, सूक्ष्म भाग

मज्जा और मल भाग केश, लोम तथा श्मश्रु उत्पन्न होते हैं। मज्जा के पाचन से स्थूल भाग मज्जा, सूक्ष्म भाग वीर्य तथा मल भाग आंखों का कीचट और चर्म का स्नेह बनता है। शुक्र के पाचन से स्थूल भाग शुक्र सूक्ष्म भाग ओज बनता है किन्तु मल भाग नहीं बनता है जैसे शुद्ध सोने को तपाने से मल नहीं बनता। वाग्भट में धातुओं के मलों की उत्पत्ति में ओज को शुक्र का मल माना है। कफ पित्त मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षिचर्मविण्मूत्रे धातूनां क्रमशो मलाः ॥ (२) केदारकुल्या-न्याय—का मत है कि जैसे जल की नालियों से बगीचे या नहर के जल से खेतका समीपवर्ती भाग सींचा जाता है तत्पश्चात् उसी जल से दूरवर्ती भाग, वैसे ही आहार रस से प्रथम रक्त पोषित होता है पश्चात् मांस, मेद आदि। अर्थात् आहार रस प्रथम रक्त में जाता है और रक्त अपने समान भाग को रस से ग्रहण कर लेता है, पश्चात् वही रस मांस में जाता है और मांस उससे अपने समान अंश को ग्रहण कर लेता है। ऐसे इस पक्ष में आहार रस ही सर्व धातुओं का पोषण करता है। (३) खले कपोतिन्याय—का मत है कि जैसे खलिहान में कबूतर दूर या समीप के स्थानों से पहुचते हैं तद्वत् आहार रस भिन्न भिन्न स्रोतसों के द्वारा धातुओं का पोषण शीघ्र या देरी से करता है। प्रथम पक्ष चरक सम्मत है स्रोतसाञ्च यथास्वेन धातु पुष्णाति मातुना। द्वितीय पक्ष सुश्रुत सम्मत है 'तर्पण सर्वधातूना-मन्नपानरसः प्रीणयिता। तृतीय पक्ष द्वितीय के समान ही है। अरुणदत्त ने सर्वाङ्गसुन्दरी टीका में एक चौथा पक्ष माना है जो एकाल धातुपोषण पक्ष कहलाता है। इनका और डाक्टरी मत की धातुपोषण कल्पना मिलती जुलती है। जो भी हम अन्न खाते हैं उसमें शरीर के धातुओं के पोषण के उपयोगी सर्व पदार्थ रहते हैं। अन्न का पाचकरसों द्वारा पाचन हो कर जो रस बनता है उसका आन्त्रस्थ रसाङ्कुरों तथा सिरा द्वारा शोषण हो कर हृदय में पहुचता है तथा हृदय से उसके सङ्कुचित होने से एक साथ समस्त शरीर में महाधमनी की शाखा-प्रशाखाओं द्वारा पहुचता है तथा शरीर के वे अङ्ग या धातुएं उस रस (रक्तमिश्रित रस) से अपने पोषण योग्य अंश का ग्रहण कर लेते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में यही कल्पना वर्णित है। एकमन्नरस एव साक्षात् सर्वधातून् कैश्चिदेव कालभेदेन पुष्णाति। न पुनर्धातवो-ऽन्यान्यरसं स्वरूपभेदेन प्रतिपद्यन्त इति। चरक भी यही मानता है "पुष्णन्ति शरीरं सप्तरात्रेणैकैकं धातुं मासमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौ-जांसि आयुर्वेद ने रस-रक्तादि सात धातुएं मानी हैं किन्तु पाश्चात्यों ने केवल चार ही धातु माने हैं। (१) मांसधातु को मस्कुलर टिस्यू (Muscular tissue) कहते हैं। इसमें सङ्कोच और प्रसार करने का गुण है जिससे शरीर में गति होती है। (२) आच्छादकधातु (Epithelial tissue) से शरीर की बाह्य-त्वचा, श्लैष्मलत्वचा तथा आशयों के बाह्य और आन्तरिक आवरण बने हुये हैं। (३) संयोजकधातु (Connective tissue) शरीर के विभिन्न अङ्गों का संयोग और बन्धन करती है इसके रक्त, दृढकवच, अस्थि, तरुणास्थि, लसीकाधातु (Lympho id tissue), मेद, स्थितिस्थापक धातु (Elastic tissue), तान्तव धातु (Fibrous tissue) ये उपधातु हैं। रक्त और शुक्र को छोड़कर आयुर्वेदिक धातुओं का इसी में अन्तर्भाव होता है। आयुर्वेद में भी उपधातुएं मानी गई हैं। रसात् स्तन्य तथा रक्त-सम्भव कण्डरा शिरा। मांसाद्वसात्वचः षट् च मेदस स्नायुसन्धय ॥ रस से स्तन्य तथा आर्त्तवरक्त, रक्त से कण्डरा तथा शिराएं, मांस से वसा और छ त्वचाएं तथा मेद से स्नायु और सन्धियां ये उपधातुयें होती हैं। वातधातु (Nervous tissue) में मस्तिष्क (Brain), सुषुम्ना (Spinal cord) तथा दोनों से उत्पन्न वात सूत्र (Nerves) इसी धातु से बने हैं। पाश्चात्य लोग शरीर को अनेक प्रकार की सेलों से बना मानते हैं जैसे ईंटों से मकान। आयुर्वेद ने भी शरीर की बनावट में सेल की जगह पर असंख्य परमाणु स्वरूप शरीर के अवयव माने हैं "शरीरा-वयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्या-दतीन्द्रियत्वाच्च। च० शा० अ० ७। प्राचीन समय में ये परमाणु स्वरूप शरीरावयव अतीन्द्रिय थे किन्तु वर्तमान विज्ञान ने 'सूक्ष्मदर्शकयन्त्र' द्वारा इन्हें दृश्य कर दिया है। एक प्रकार के सेल के समूह को जिसका कि विशिष्ट कार्य हो, धातु (Tissue) कहते हैं। इनके चार भेद ऊपर कह दिये हैं।

तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ ११ ॥

इन सर्व प्रकार की धातुओं को अन्न और पान से उत्पन्न रस तर्पित करता है ॥ ११ ॥

विमर्श—पाचन से उत्पन्न आहाररस (Chyle) कहा जाता है तथा यह पोषक रस है। रक्त जब सूक्ष्म केशिकाओं में पहुचता है तब केशिकाओं की अत्यन्त सूक्ष्म दीवारों में से यह निकल जाता है इसे पोष्यरस या रक्तरस या प्लाज्मा (Plasma) कहते हैं। इससे अन्य रक्तादि धातुओं का पोषण होता है। तथा इस रक्तरस की क्षीणशक्ति को आहारजन्य रस पूर्ण करता है अत एव आहार रस ही मुख्यतया सर्व धातुओं का पोषक है।

रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ॥ १२ ॥

पुरुष को रस से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिये इस लिये मतिमान मनुष्य सावधान होकर अन्न, पान और आचार पालन से रस की रक्षा करे ॥ १२ ॥

तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥

गत्यर्थक 'रस' धातु से रस शब्द बना है। रात्रिन्दिव जो गतिशील हो उसे रस कहते हैं ॥ १३ ॥

स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते। एवं मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्त्तवम् ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

अष्टादशसहस्राणि सङ्ख्या ह्यस्मिन् समुच्चये।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥ १५ ॥

यह रस ३०१५ कला क एक धातु में ठहरता है। इस प्रकार एक महीने में रस पुरुषों में वीर्य तथा स्त्रियों में आर्त्तव के रूप में परिणत होता है इस रस से शुक्र बनने के समुच्चय में इस तंत्र तथा अन्य तंत्रों के अनुसार १८०९० कला समय लगता है ॥ १४-१५ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने रस से शुक्र का निर्माण एक मास में

माना है। भोजन का पाचन होकर आहार रस तथा आहार रस से धातु रस एक ही दिन में पैदा हो जाता है किन्तु फिर प्रत्येक धातु के लिये पांच पांच दिन लगते हैं। शरीर के भीतर के धातु निर्माण की विधि नेत्रों से दृश्य नहीं होने से इस विषय में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं। किसी के मत से आहार रस द्वारा धातुनिर्माण एक दिन में, कुछ ६ दिन में, कुछ ७ दिन में, कुछ आठ दिन में मानते हैं। केचिदाहुरहोरात्रात् षड्भ्योऽपरे परे। मासेन यान्ति शुक्रत्वमन्न पाकक्रमादिमे॥ (वाग्भटे)। षट्त्रि. केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च। इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्तनम्॥ (चरके)। आहारोऽशनतो यः स्यो रसस्तं नियच्छति। शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि॥ मेदस्त्वं पञ्चमे षष्ठे ह्यस्थित्वं सप्तमे व्रजेत्। मज्जतां शुक्रतामेति दिवसैः सप्तभिः क्रमात्॥ सप्ताहि पक्वमाहारमाददानां नृणां ध्रुवम्। सप्तरात्रेण शुद्ध्यन्ति प्रदुष्यन्तिच धातवः॥ (शारङ्गधरः)। आधुनिक मत से इन धातुओं की उत्पत्ति का निश्चित समय बताना कठिन है किन्तु आवश्यकतानुसार प्रतिदिन इन धातुओं की उत्पत्ति होती रहती है। चरक का भी यही अभिप्राय है। संतत्या सोऽन्नपानानां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां स्यात्। आयुनिक तथा चरक मत ही प्रशस्त दिखाई देता है तथा आहार-रस शरीर में रक्त के साथ सर्वधातुओं में प्रतिक्षण मौजूद रहता है और कार्य करते रहने से प्रत्येक धातु के सेल क्षणक्षण में नष्ट होते रहते हैं तथा उन क्षीण हुये धातु सेलों की पूर्ति रस द्वारा अपने समानांश से प्रतिक्षण हुआ करती है। अतः १ दिन, ६ दिन, ७ दिन या ८ दिन या मास भर का कथन कोई महत्व नहीं रखता। स्त्री-आर्तवम्—स्त्रियों में आर्तवस्राव एक मास से होता है किन्तु वह आर्तव रक्त रस से ही बनता है ऐसा पहले कह आये हैं। यह रजःसंज्ञक रक्त एक मास में तैय्यार होता है ऐसा आधुनिकों का मत नहीं है किन्तु यह रज-च्युति तथा ओवरी से ओवा (Ova) का उत्सर्ग एक मास से होता है।

स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्॥ १६॥

वह रस शब्दसन्तान की तरह तिर्यक्, अर्चि-(अग्नि) सन्तान (पुञ्ज या समूह) की तरह ऊर्ध्वगामी (हविर्भुजश्चोर्ध्वज्वलनं प्रसिद्धम्) तथा जलसन्तान की तरह अधोगामी (अधो निम्नदेशगमनं) होकर समस्त शरीर में अनुधावन (परिभ्रमण) करता रहता है॥ १६॥

विमर्शः—शब्द (ध्वनि), उष्णता और जल जैसे चारों ओर फैलने की क्षमता रखते हैं तद्वत् रस भी सर्वदिशा में जा सकता है। पाश्चात्य शरीरकार्यविज्ञानानुसार यह कार्य Filteration, osmosis, Dialysis और Diffusion इन भौतिक विधियों द्वारा होता है। कुछ टीकाकार अर्चिःसन्तान से रस का धमनीगत प्रवाह, शब्दसन्तान से सिरागत प्रवाह, और जलसन्तान से स्रोतसगत प्रवाह मानते हैं। रसपरिभ्रमण (Blood circulation) का पता 'हार्वे' नामक वैज्ञानिक ने सन् १६२८ में लगाया था। रस या रक्त का स्थान हृदय है तथा हृदय के सङ्कोच से रक्त बड़े वेग से बृहद्धमनी में प्रवेश कर उसकी विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त शरीर में फैलता है। धमनी से रक्त धमनिका तथा केशिकाओं (Capillaries) में जाता है तथा उनकी दीवारों से प्राणवायु व पोष्य रस चूकर अङ्ग प्रत्यङ्ग पोषित होते हैं। फिर केशिकाओं के मिलने से शिराएं बनती हैं जिनसे रक्त वापस हृदय की ओर आता है और अन्त में अधोगा महाशिरा तथा ऊर्ध्वगा महाशिरा द्वारा नीचे तथा ऊपर गया हुआ रक्त वापस हृदय के दक्षिणालिन्द (R A,) में आ जाता है। हृदो रसो निःसरति तत एव च सर्वतः। शिरानिर्हृदयञ्चैति तस्माद् हृदयमुच्यते॥ (भेडसंहिता)।

हृदय के दक्षिण निलय से रक्त फेफड़ों में शुद्ध होने जाता है तथा फेफड़ों से वापस सिराओं द्वारा हृदय के वामालिन्द में आकर वामनिलय में होता हुआ बृहद्धमनी में जाकर समस्त शरीर में भ्रमण करता रहता है। एक बार के रक्तपरिभ्रमण में अनुमानतः १५ सेकण्ड लगते हैं। शरीर में चार प्रकार के रक्त परिभ्रमण माने गये हैं। (१) शारीरिक रक्तपरिभ्रमण (General blood Circulation) (२) फौफ्फुसीय रक्तपरिभ्रमण (Pulmonary blood circulation) (३) यकृत् रक्तसंवहन (Portal circulation) (४) वृक्कीय रक्तसंवहन (Renal circulation)। आयुर्वेद में रक्तशोधक वायु (Oxygen) को प्राणवायु माना है तथा उसका नासि से हृत्कमलान्तर (हृत्कोष्ठों) में जाना और वहां से कण्ठ द्वारा बाहर निकल कर विष्णुपदामृत (Oxygen) पान (ग्रहण) कर पुनः लौट के अखिल देह को तृप्त करना तथा जठरानल को प्रदीप्त करना माना है। नासिक्य. प्राणवन. सृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ पीत्वा चान्द्रपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥ (शार्ङ्गधर) मैंने इस श्लोक में प्रत्यक्ष दृष्ट शारीराधार से निम्न परिवर्तन किया है। देहस्थो दूषितो वायुः सृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। फुफ्फुसाभ्यां बहिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ आयुर्वेद ने फेफड़ों को उदान वायु का आधार माना है। उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः। (शार्ङ्गधर)। यह उदानवायु देह की दूषित कार्बन डायाक्साइड हो सकती है। इसके सिवाय प्राणवाहक दो स्रोतस माने हैं। 'प्राणवहे द्वे तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः' इस वर्णन से प्राण (Oxygen) के वाहक दो स्रोतस् हैं। ये दो स्रोतस् दोनों नासारन्ध्र, या दोनों फेफड़ों में जाने को द्विधाविभक्त श्वासनलिका (Trachea), अथवा दोनों फेफड़े, कौन से लिये जांय? तो फेफड़े ही ग्रहण करना अधिक प्रशस्त है क्योंकि इन दोनों का मूल हृदय अथवा हृदय से फेफड़ों में जानेवाली दोनों धमनियां (Pulmonary Arteries) तथा कण्ठनलिका से आनेवाली श्वासनलियां होती हैं। पं० हरिप्रपन्न जी प्राणवह दो स्रोतस् से दोनों फुफ्फुसीय धमनियों को लेते हैं किन्तु ये धमनियां तो हृदय से अशुद्ध रक्त फेफड़ों को लाती हैं अतः प्राणवाहक नहीं हैं इसलिये दोनों फेफड़ों से प्राण (Oxygen) युक्त रक्त को लेकर हृदय की ओर जानेवाली सिराओं का ग्रहण किया जाय तो अधिक युक्तिसङ्गत है क्योंकि ये हृदय से सम्बन्धित होने से इनका मूल हृदय भी हो सकता है तथा प्राणवाहक है हीं। कुछ टीकाकारों ने प्राण (O) के वाहक दोनों (Bronchi) को ग्रहण किया है किन्तु इनका मूल हृदय होता नहीं अतः प्राणवाहक स्रोतस् दोनों फुफ्फुस अथवा दोनों फुफ्फुसों से जानेवाली सिराएं ही अर्थ

करना अधिक प्रशस्त है। इस तरह आयुर्वेद ने रक्तवृद्धि के साथ फुफ्फुस का सम्बन्ध स्थापित किया है हालां कि स्पष्ट निर्देश नहीं है।

वाजीकरणस्तम्भोषधयः स्ववलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति ॥ १७ ॥

वाजीकरण ओषधियां अपने प्रभाव से विरेचक ओषधियों की तरह शुक्र का शीघ्र विरेचन करती हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—प्रथम कह आये हैं कि १ मास में शुक्र बनता है अतः उसका यह अपवाद है कि कुछ ओषधियां पादलेप, स्पर्श आदि प्रभाव से तथा कुछ दुग्ध, घृत आदि स्वगुणोत्कर्ष से एवं मांसादि स्ववल तथा स्वगुणोत्कर्ष दोनों कारणों से शीघ्र ही आहार रस से शुक्र का शुक्राशय में विरेचन (प्रादुर्भाव) करती हैं। प्राय. करोत्यहोरात्राद् कर्मान्यदपि मेघवत्। (वाग्भट) किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥ रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विद्व्यात्। सद्योऽन्यथा तत्कुरुते प्रभावाद्येनोरतत्तन्त्र न गोचरोऽस्ति ॥ (अ० सं०)।

यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुमथो नैवा (नैव चा)स्तीति; अथवाऽ(च)स्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति कृ(ज्ञा)त्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते; स एव पुष्पे विवृतपत्रकेशरे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति; एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति, रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम्। रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति ॥ १८ ॥

जैसे पुष्पों के मुकुल (कलिका) में स्थित 'गन्ध है या नहीं'? ऐसा नहीं कहा जा सकता। अथवा 'है' ऐसा कह सकते हैं क्योंकि 'पूर्व से विद्यमान भावों (पदार्थों) की ही अभिव्यक्ति (आविर्भाव) होती है' ऐसा सिद्धान्त है। केवल सूक्ष्म होने के कारण कच्ची कली में गन्ध व्यक्त नहीं होती है किन्तु कुछ समय बीतने पर जब कलिका के पंखुड़ी, पराग विकसित होते हैं तब वही गन्ध प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार बालकों में भी अवस्था (आयु) के बढने पर शुक्र का प्रादुर्भाव होता है तथा रोमराजी (डाढी, मूछ, गुह्याङ्गों के बाल) उत्पन्न होती है एवं स्त्रियों में गुह्याङ्गों पर रोमराजी होने के साथ २ रज के धीरे धीरे सञ्चित होने से स्तन, गर्भाशय (Utarus)) और योनि (Vagina) की वृद्धि होती है ॥ १८ ॥

विमर्श—स्त्री और पुरुष दोनों जब यौवनावस्था में प्रवेश करते हैं तब उनके शुक्र और रज के उत्पादक अङ्गों में एक विशेष प्रकार का स्राव उत्पन्न होता है जिसे अन्त स्राव (Internal secretion) कहते हैं। यह स्राव रक्त में मिलकर शरीर के विविधाङ्गों में जाता रहता है जिससे वे अङ्ग प्रबल तथा पुष्ट होते हैं पुरुषों में युवावस्था आने पर स्वर बदल जाता है तथा स्त्रियों की मानसिक दशा में परिवर्त्तन होकर लज्जा, हाव, भावादि लक्षण प्रगट होते हैं

स एवान्नरसो वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति ॥ १९ ॥

वही अन्न का रस वृद्ध पुरुषों में बुढापे के कारण शरीर के परिपक्व होने से पुष्टिकारक नहीं होता है ॥ १९ ॥

विमर्श—किसी भी उत्पन्न वस्तु की स्थिति रहने की मर्यादा होती है। कोई भी वस्तु कार्य में आते रहने से पुरानी हो जाती है चाहे वह चैतन्य सृष्टि की हो अथवा जड सृष्टि की। इसी तरह शारीरिक या मानसिक कार्य करते रहने से तथा समय के बीतते रहने से शरीर के सेल या परमाणु कार्य करने में शिथिल हो जाते हैं जिससे अन्न का पाचन, रस का ग्रहण और मलों के उत्सर्ग ठीक रूप से नहीं होते हैं। वृद्धावस्था में शरीर की धमनियों में कठिनता उत्पन्न होकर धमनीदार्ढ्य (*Arterio sclerosis*) हो जाता है जिससे रस सञ्चार शरीर में पूर्ववत् न होने से अन्न पोषण रहित होकर मनुष्य को मृत्यु के निकट पहुंचाते हैं। मनुष्य की आयु धमनियों पर निर्भर करती है। (A man is as old as his arteries

त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते ॥ २० ॥

ये रसादि सात धातु शरीर को धारण करते हैं इसलिये इन्हें धातु कहा जाता है ॥ २० ॥

विमर्शः—'डुधाञ्—धारणपोषणयो' अर्थात् धारण और पोषण अर्थ की 'डुधाञ्' धातु से धातु शब्द सिद्ध होता है अतः जो शरीर का धारण और पोषण करता हो उस की धातु संज्ञा है। ये सात हैं तथा सिरा, स्नायु, त्वचा, वसा आदि सात उपधातु हैं। शिवदास ने लिखा है कि—धातुशब्दप्रवृत्तेर्धारणपोषणनिमित्तत्वात्, तेन ये शरीरं धारयन्ति धातूंश्च पुष्णन्ति रसादयस्त एव मुख्या धातुशब्दवाच्या न स्तन्यादयः। ते हि शरीरं धारयन्त्येव न तु किञ्चित्पुष्णन्ति। उक्तं हि भोजेन—सिरास्नायुरज स्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्ता उपधातवः॥ उपधातुओं की धातुओं से ही उत्पत्ति होती है। जैसे—रसात् स्तन्यं ततो रक्तमतश्च कण्डरा सिराः। मांसादिदं त्वचः षट् च मेदस स्नायुसन्धयः॥ अस्नो दन्तास्तथा मज्ज्ञः केशा ओजश्च सप्तमात्। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः॥ स्तन्यादिक शरीर का धारण अवश्य करते हैं किन्तु पोषण नहीं करते हैं अतएव इन्हें उपधातु माना है किन्तु रसादि शुक्रान्त सात वस्तुओं से शरीर का धारण और पोषण दोनों होता है अतः वे धातु हैं। मांस और शुक्र को छोड़कर शेष पांच धातुएं धारणार्थक दृष्टि से Connective tissue में अन्तर्भूत हो सकती हैं। शुक्र विशिष्ट अङ्गों का स्राव है अतः इसे डाक्टरीमत में धातु नहीं माना है।

तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते तस्मात्तदधिकृत्य वक्ष्यामः। तत्र, फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टम्। नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तदुष्टम्। गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टम्। सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं; पित्तवद्रक्ते-

नातिकृष्णं च द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम्। जीवशोणितमन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

इन धातुओं की क्षीणता और वृद्धि रक्त के कारण होती है इसलिये रक्त के विषय में कुछ वर्णन किया जाता है। झागदार, किञ्चिद्रक्तवर्ण, काला, रूखा, पतला, शीघ्र बहने वाला और न जमने वाला रक्त वात से दूषित होता है। नीला, पीला, हरा, काला, विस्र (आम) गन्ध वाला तथा चींटियों और मक्खियों के लिये अप्रिय और नहीं जमने वाला पित्त से दूषित होता है। गेस के पानी के समान तथा चिकना, ठंढा, गाढा, चिपचिपा, मन्दगति से बहने वाला और मांसपेशी के समान दिखाई देने वाला कफ से दूषित होता है। इन तीनों लक्षणों से युक्त तथा काञ्जी के समान एवं अधिक दुर्गन्धि वाला सन्निपात से दूषित होता है। रक्तदोष से दूषित रक्त 'पित्तदुष्ट रक्त' के लक्षणों वाला होता है किन्तु वह काला अधिक होता है। दो दोषों के लक्षणों वाला रक्त द्विदोषदुष्ट होता है। जीवशोणित का वर्णन अन्यत्र किया जायगा ॥ २१ ॥

विमर्शः—शरीर के भीतर बहता हुआ रक्त जमता नहीं है किन्तु शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् शीघ्र जम जाता है। जमने से घन और द्रव ऐसे दो भाग हो जाते हैं। रक्त जमने के लिये खटिक के लवण (Calcium salts), फाईब्रिन और श्वेतकण आवश्यक हैं। खटिक लवण रक्त में ही होता है। श्वेतकण तथा सूक्ष्मकणों के विनाश से उत्पन्न एक विशेष पदार्थ का खटिक लवण के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है। रक्त जमने में ये तीनों पदार्थ कारण हैं। जीवशोणित—'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसयोगाश्रय रक्त' को कहते हैं ऐसा डल्हण का मत है। अन्यच्च—यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्।

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ॥ २२ ॥

इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान लालवर्ण वाला, असंहत अर्थात् न बहुत पतला और न अधिक गाढा हो एवं विकृत वर्ण वाला न हो उसे शुद्ध रक्त समझना चाहिये ॥ २२ ॥

विमर्शः—चरकोक्त विशुद्धरक्तलक्षण—तपनीयेन्द्रगोपाभ पद्मालक्तकसन्निभम्। शुक्लाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥ डाक्टरी मत से धमनीगत रक्त शुद्ध माना जाता है तथा उसमें लालिमा का कारण लालरक्तकणस्थ 'हीमोग्लोबिन' है। हीमोग्लोबिन आक्सिजन को ग्रहण करता है जिससे कण अत्यधिक लाल होकर रक्त की लालिमा बढा देते हैं। शुद्ध रक्त न अधिक पतला और न अधिक गाढा होता है। इसका गुरुत्व १०५५ होता है तथा यह अपारदर्शक, स्वाद में कुछ नमकीन, प्रतिक्रिया में क्षारीय तथा एक विशिष्ट गन्ध से युक्त होता है। शरीर में रक्त का कुल प्रमाण शरीर के भार का $\frac{1}{10}$ अंश के लगभग होता है। जैसे यदि किसी के शरीर का भार १ मन बीस सेर हो तो रक्त २ सेर के लगभग होगा।

विस्राव्याण्यन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २३ ॥

विस्राव्य अर्थात् जिन रोगियों का अशुद्ध रक्त निकालना चाहिये उनका वर्णन अष्टविधशस्त्रकर्माध्याय में किया जायगा॥२३॥

अथाविस्राव्याः—सर्वाङ्गशोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजननिमित्तः, पाण्डुरोग्यर्शसोदरिशोपिगर्भिणीनां च श्वयथवः ॥ २४ ॥

अब अविस्राव्य (रक्त निकालने के अयोग्य) रोगियों को कहते। जिसके सारे शरीर में शोफ हो, क्षीण पुरुष का अम्लपदार्थों के भोजन से उत्पन्न हुये शोथ तथा पाण्डुरोगी, अर्शोरोगी, उदररोगी, शोपरोगी और गर्भिणी स्त्रियों के शोथ में रक्त नहीं निकालना चाहिये ॥ २४ ॥

तत्र शस्त्रविस्रावणं द्विविधं-प्रच्छानं सिराव्यधनं च॥

अस्त्र द्वारा रक्त का मोक्षण दो तरह से किया जाता है। एक प्रच्छान विधि से तथा दूसरा सिरावेध विधि से ॥ २५ ॥

तत्र, ऋज्वसङ्कीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्मसिरास्नायुसन्धीनां चानुपघाति॥२६॥

इन में प्रच्छान सीधा, असंकीर्ण (एक दूसरेसे से मिला न हो), बारीक, समान, अधिक गाढा नहीं, अधिक उत्तान भी नहीं हो, ऐसा करना चाहिए। मर्म, सिरा, स्नायु तथा सन्धियों का बचाव करते हुये शीघ्र शस्त्र द्वारा दूषित स्थान पर प्रच्छान करना (चांचवे लगाना) चाहिये ॥ २६ ॥

विमर्शः—वाग्भट प्रच्छानविधि.—गात्र वद्ध्वोपरि दृढ रज्ज्वा पट्टेन वा समम्। स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत्॥ अधोदेशप्रविस्तैः पदैरुपरिगामिभिः। न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरेत्॥

तत्र, दुर्दिने दुर्विद्धे शीतवातयोरस्विन्ने भुक्तमात्रे स्कन्दत्वाच्छोणितं न स्रवत्यल्पं वा स्रवति ॥ २७ ॥

दुर्दिन अर्थात् मेघ वर्षा के कारण अन्धेरा होने पर (मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्), सिरा, सन्धि के वैद्यसर्जन के अनभ्यास-दोष से दुर्वेध होने पर, शीत और वायु के लगने से, स्वेदन कर्म के विना किये तथा तुरन्त भोजन करने के बाद ही प्रच्छान करने पर रक्त स्कन्दित हो (जम) जाता है अत एव उसका स्राव होता ही नहीं अथवा अल्प स्रवित होता है ॥ २७ ॥

मदमूर्च्छाश्रमार्त्तानां वातविण्मूत्रसङ्गिनाम्।
निद्राऽभिभूतभीतानां नृणां नासृक् प्रवर्त्तते ॥२८॥

भांग, गांजा, अफीम आदि के द्वारा उत्पन्न मद, मूर्च्छा तथा श्रम से पीडित, अपान वायु, मल और मूत्र के अवरोध वाले तथा निद्रा से व्याप्त और डरे हुये मनुष्यों का रक्त ठीक तरह से नहीं निकलता है ॥ २८ ॥

तद् दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं कण्डूशोफरागदाहपाकवेदना जनयेत् ॥ २९ ॥

उक्त मनुष्यों का दूषित रक्त शरीर से नहीं निकलने पर देह में खुजली, शोफ, लालिमा, जलन, पाक और वेदना उत्पन्न करता है ॥ २९ ॥

अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिविद्धेऽन्नैर्विस्रावितमतिप्रवर्त्तते। तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिर-

प्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ हिक्कां कासं श्वासं पाण्डुरोगं मरणं चापादयति ॥ ३० ॥

अधिक उष्ण ऋतु या परिस्थिति में, अधिक स्वेदन करने पर, अधिक वेध होने पर तथा अङ्गों द्वारा विस्रावण करने पर रक्त अधिक मात्रा में निकलता है। इस प्रकार से हुआ यह रक्तस्राव का अतियोग शिर का रोग, अन्धता, अधिमन्थ और तिमिर रोग उत्पन्न करता है तथा धातुक्षय, आक्षेपक, पक्षाघात, एकाङ्गघात, तृष्णा, दाह, हिक्का, कास, श्वास, पाण्डुरोग तथा मृत्युजनक होता है ॥ ३० ॥

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥ ३१ ॥

इसलिये न शीतकाल में, न अधिक गरमी के समय, न ज्यादा स्वेदन करा के और न अधिक तपा कर रक्तमोक्षण करे किन्तु प्रथम रोगी को यवागू पान करा कर पश्चात् रक्तमोक्षण करना चाहिये ॥ ३१ ॥

सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत् ॥ ३२ ॥

शोणितमोक्षण से दूषित रक्त ठीक तरह से निकल कर स्वयमेव रक्तवहना बन्द हो जाय तब जाने कि अब शुद्ध रक्त है तथा सम्यग् विस्रावण हो गया है ॥ ३२ ॥

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।
सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥ ३३ ॥

शरीर में या पीडित स्थान में हलकापन की प्रतीति, पीड़ा का शमन होना, रोग की तीव्रता का कम हो जाना तथा मन का प्रसन्न होना ये सम्यग् विस्रावण के लक्षण हैं ॥ ३३ ॥

त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य समय २ पर रक्तमोक्षण कराते रहते हैं उनके त्वग्दोष (अष्टादश कुष्ठ, शीतपित्तोदर्दकोठादि), अपची, कण्ठमाला, गलगण्ड आदि ग्रन्थियों के रोग, शोफरोग तथा दुष्टशोणितजन्य रोग कभी भी उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ ३४ ॥

विमर्श—शोणितजन्यरोग—मुखरागोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता। गुल्मोऽलजीसर्पराक्तपित्तप्रमीलकाः। विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥ वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता। सन्तानश्चातिदौर्बल्यमरुचि शिरसश्च रुक् ॥ विदाहश्चाङ्गमानस्य तिक्तास्योद्गिरणं क्लमः। शोथः प्रचुरता रुद्धे सम्मोहो लवणास्यता ॥ स्वेद शरीरदौर्गन्ध्य मद कम्पः स्वरक्षयः। तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥ कण्डूक्कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः। विकारा सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रया ॥ शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक् साध्या न सिद्धयन्ति रक्तजास्तान् विनावयेत् ॥ (चरक)।

अथ खल्वप्रवर्त्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्राऽर्काङ्कुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेदेवं सम्यक् प्रवर्त्तते ॥ ३५ ॥

यदि प्रच्छान करने से रक्त प्रवर्तित न हो तो इलायची, कपूर, कूठ, तगर, पाठा, देवदारु, विडङ्ग, चित्रक, त्रिकटु, रसोई घर का धुआं, हरिद्रा, आक के अङ्कुर और करञ्ज के फल इनमें से यथाप्राप्त तीन, चार अथवा समस्त ओषधियों का चूर्ण करके लवण और तैल मिलाकर उससे व्रणमुख का घर्षण करें। ऐसा करने से रक्त ठीक तरह से प्रवर्तित होता है।

अथातिप्रवृत्ते रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत् सालसर्जार्जुनारिमेदमेषशृङ्गधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्। शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः परिषेकप्रदेहैश्चोपाचरेत्। क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तम्। व्यधनादनन्तरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत्। काकोल्यादिकाथं वा शर्करामधुरं पाययेत्। एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं, क्षीरयूपरसैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात्। उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत् ॥

जब रक्त अधिक निकलने लगे और बंद न होवे तब पठानीलोध, मुलेठी, प्रियङ्गु, पतङ्ग, गेरू, राल, रसौंत, सेमल के फूल, शंख, सीप, उडद, जौ और गेहूँ इनका चूर्ण बनाकर उससे धीरे धीरे व्रण के मुख को घर्षित कर अङ्गुली के अग्रभाग से दबा देना चाहिये। अथवा साल, राल, अर्जुन, इरिमेद, मेढासिङ्गी, धव और धामन इनकी छाल को पीस कर उससे व्रणमुख पर अवचर्षण करना चाहिये। अथवा क्षौम (रेशमी) वस्त्र को जलाकर उसकी राख से अवचूर्णन करें। किंवा समुद्रफेन या लाक्षाचूर्ण से व्रणमुख पर घर्षण करें, तत्पश्चात् क्षौम, कार्पास आदि व्रणबन्धन द्रव्यों से गाढा बन्धन बाँध देना चाहिये। फिर उस स्थान पर शीतल पदार्थ (कमलपत्र, गीला वस्त्र) से आच्छादन, शीतल (दुग्ध, चांवल, शर्करा) भोजन और शीतल मकान में शयन तथा शीतल ओषधियों (चन्दन, हीवेर, खस) का लेप और उन्हीं के क्वाथ से सेचन करना चाहिये। इन उपचारों से भी रक्तस्राव बंद न हो तो क्षार अथवा अग्नि से जलाना चाहिये। अथवा व्यध के अनन्तर उस सिरा का रक्त बंद न हो तो उसी वेधित सिरा का दूसरी जगह पुनर्वेधन करना चाहिये। अथवा काकोल्यादिगण की ओषधियों के क्वाथ को शक्कर तथा शहद से मीठा बनाकर पिलाना चाहिये। अथवा एण (कृष्ण) हरिण या ताम्र हरिण, मेंढा, खरगोश, भैंसा और सूकर इनका ताजा रक्त पिलाना चाहिये। अथवा दुग्ध और मूंग के यूष के साथ स्निग्ध भोजन कराना चाहिये। अन्य जो भी उपद्रव हों उनकी यथाशास्त्र चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

विमर्श—इस तरह आयुर्वेद में अतिप्रवृत्त रक्त के निरोध के लिये शीतप्रयोग, उष्णप्रयोग, दहन, रक्तरोधक ओषधियों

का प्रयोग, अवपीडन और बन्धन ये ६ स्थानिक उपाय बताये हैं। इनके अतिरिक्त डाक्टरी पद्धति में रक्तस्रुति निवारण के लिये उस स्थान को ऊँचा उठाना जैसे हाथ-पांव के रक्तस्राव में, इससे वहां रक्त प्रवाह कम होकर बन्द होता है। धमनी संदंश (Arterry forceps) से सिरा या धमनी को पकड कर दबा के थोडी देर तक रखना। टांका लगाना या (Ligature) करना इसके लिये ' Cat gut ' का प्रयोग होता है। अन्य मेपादीना शुष्कान्य 'तात' शंति स्थात शस्त्रच्छेदानन्तर सूक्ष्मसिरादिबन्धनादिषु युज्यते। रक्त स्तम्भनीमाकृष्य सन्दंशेन सिरा भिषक् । बद्ध्वा स्नाय्वादिभिर्गाढं व्रण वस्त्रेण वेष्टयेत्॥ काश्मर्योत्पादिक्वाथ—उक्त बाह्य रक्तरोधक उपाय बताकर अब आभ्यन्तरीय औषधप्रयोग बताते हैं—पित्तदोष में क्षीर, कफदोष में यूष, वातदोष में मांसरस देना यह उल्लेख मत है। कुछ लोग 'दीप्ताग्नि में क्षीरभोजन, मध्यमाग्नि में यूष भोजन और मन्दाग्नि में मांसरस देना' अर्थ करते हैं। हरिणादिकरुधिरपान—आयुर्वेद का मत है कि समान द्रव्य से समान द्रव्य की वृद्धि होती है। सर्वेषामेव हि भावाना सामान्य वृद्धिकारणम्। एवमेव सर्वधातुपुगाना सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रास. । तस्मान्मासमाप्यायते मासेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहित लोहितेनैव, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्र शुक्रेण, गर्भस्त्वामर्भेण। (चरक)। पाश्चात्य विज्ञान ने महर्षि चरक के वचनों पर श्रद्धा कर अनेक अन्वेषण करके भिन्न २ ग्रन्थियों का अन्तःस्राव तथा रक्त, मांसादि की अनेक ओषधियाँ (इंजेक्शन) निकाल कर असाध्य रोगों में आश्चर्यजनक समुन्नति की है किन्तु भारतीय चिकित्सक अहिंसा, आलस्य और अकर्मण्यता की गहरी नींद में सो रहे हैं जिससे देश का लाखों रुपया प्रतिवर्ष विदेशों को जा रहा है। अनेक पाश्चात्य औषधनिर्मापक कम्पनियों ने रक्तस्थ 'हीमोग्लोबीन' के अनेक प्रयोग पीने के लिये बनाये हैं। एक मनुष्य के रक्त को दूसरे अल्प रक्त वाले मनुष्य के शरीर में सिरा द्वारा प्रवेश (Blood transfusion) भी करते हैं। घोड़े के रक्त की लसीका (Serum) मुख द्वारा अथवा इञ्जेक्शन द्वारा रक्तस्राव रोकने में प्रयुक्त होती है रक्तस्राव में हृद्योत्तेजक ओषधियां (कर्पूर, चन्द्रोदय, कस्तूरी, कोरामीन) नहीं देनी चाहिये।

भवन्ति चात्र—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥ ३७ ॥
तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥ ३८ ॥

रक्त के स्रुत होने पर शरीर की अन्य मांस, मेदआदि धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं जिससे उस मनुष्य की अग्नि मन्द हो जाती है तथा वात भी अत्यन्त कुपित हो जाता है इसलिये प्रयत्नपूर्वक उस मनुष्य को न अधिक ठण्डे तथा हलके, स्निग्ध, रक्तवर्द्धक और कुछ खट्टे अथवा अम्लरहित पदार्थों का भोजन कराना चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

विमर्शः—वाग्भट का भी ऐसा ही मत है। नात्युष्णशीत लघु दीपनीय रक्तेऽनीते हितमन्नपानम्। तदा शरीर क्षतवस्तासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ रक्तवर्धक पदार्थों को (Haematics या Haematinics कहते हैं। रक्तवृद्धि के लिये लौह के यौगिक जैसे—शिलाजत्वादि लौह, शतमूल्यादि लौह, नवायस लौह तथा लौहयुक्त खाद्यपदार्थ जैसे टमाटर, आंवले का मुरब्बा, पुनर्नवा शाक, आलू, बादाम, अण्डे आदि उत्तम होते हैं। सखिया (Arsenic) भी शोणितवर्धक है। इनके अतिरिक्त हीमोग्लोबिन सीरप, हीमोग्लोबीन सीरप, हीमोजेन सीरप एवं यकृत् के प्रिपेरेशन हीपेटेक्स, लीवर इक्सट्रेक्टस आदि का प्रयोग उत्तम प्रमाणित हुआ है।

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥ ३९ ॥
व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा सम्पाचयेद्भस्म दाहः सङ्कोचयेत् सिराः ॥४०॥

रुधिर के अतिस्राव को रोकने के लिये सन्धान, स्कन्दन, पाचन और दहन ये चार प्रकार के उपाय है। इनमें कषाय रस वाले द्रव्य—जैसे न्यग्रोध, उदुम्बर, लोध, हरीतकी ये पदार्थ व्रण का सन्धान (जोड या मिलान) कर रक्तस्राव को रोकते हैं। हिम (शीतल) पदार्थ-रक्त को स्कन्दित (जमाते या गाढ़ा) करते हैं। रेशम आदि की भस्म-पाचन करती है। दाहकर्म-सिराओं का सङ्कोचन कर रक्तस्राव बन्द करना है ॥ ३९-४० ॥

अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत्।
सन्धाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥ ४१ ॥
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधिः।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते ॥ ४२ ॥

शीतोपचार से रक्त का स्कन्दन नहीं होने पर कषायरसप्रधान द्रव्यों द्वारा सन्धान क्रिया करनी चाहिये। सन्धानक्रिया से लाभ न होने पर भस्म द्वारा पाचन क्रिया करनी चाहिये। वैद्य को चाहिये कि प्रथम वह इन तीन विधियों से ही रक्तस्राव को रोकने का प्रयत्न करे। यदि इन विधियों से सिद्धि प्राप्त न हो तब दाहक्रिया द्वारा रक्तस्राव बन्द करना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

विमर्शः—सिरा या धमनी से रक्तस्राव होता हो तो तप्तशलाका द्वारा दाह करे किन्तु समस्त व्रण से अर्थात् तद्गत केशिकाओं से स्राव होता हो तो १३० से १६० फैरन हीट उष्णता वाले जल से प्रक्षालित करने सेर रक्तस्राव बन्द हो जाता है। प्रथम प्रकृति स्वय रक्तस्राव रोकने का कार्य करती है। जिससे प्रथम रक्त बाहर आते ही गाढ़ा होने लगता है तथा थोडी देर में थक्का बन कर वाहिनी के मुख को बन्द कर देता है। दूसरा उपाय वाहिनियों की दीवाल संकुचित होकर मुख छोटा हो जाने से रक्त जमने में सहायता होती है। इन दो प्राकृतिक उपायों से लाभ न होने पर चिकित्सा करते हैं। कषायरस रक्त और व्रणस्रावगत अल्ब्यूमीन आदि प्रोटीनों को जमाकर रक्तस्राव बन्द करता है। शीत प्रयोग से रक्तवाहिनियों की दीवालें संकुचित करके तथा दाह अल्ब्यूमिन आदि प्रोटीनों को जमाकर तथा वाहिनियों को सङ्कुचित कर रक्तस्राव बन्द करता है।

शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्त्तते।
सावशेषे ततः स्थेय न तु कुर्य्यादतिक्रमम्॥ ४३॥

रक्त के अन्दर कुछ दोष शेष रहने पर भी व्याधि अधिक नहीं बढती है अत एव रक्त में कुछ दोष शेष रहने पर रक्तस्राव करना बन्द कर देना चाहिये परन्तु रक्त का अतियोग करना उचित नहीं है॥ ४३॥

विमर्शः—शरीर से रक्तस्रुति कराने में रोगी के बल, दोष और शुद्ध रक्त का ध्यान रखना चाहिये। बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धया रुधिरस्य वा। रुधिर स्रावयेज्जन्तोराशय प्रसमीक्ष्य वा। शरीर से ज्यादा से ज्यादा रक्त एक प्रस्थ निकालने का प्रमाण है। पर प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थ शोणितमोक्षणे। वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे॥ सार्द्धत्रयोदशपल प्रस्थमाहुर्मनीषिण॥ (सुश्रुत)। डाक्टरी मत से भी ज्यादा से ज्यादा ६०० सी. सी. (प्रायः ५५ तोले) रक्त निकाल सकते है। अतिरक्तस्राव से भयङ्कर रोग तथा मृत्यु तक हो सकती है। अतिस्रुतौ हि मृत्यु. स्याद् दारुणा वा चलामया। (वाग्भट) रक्त सशेषदोषन्तु कुर्यादपि विचक्षण। न चातिप्रस्रुत कुर्याच्छेष सशमनैर्जयेत्॥ (सु० शा०)। हरेच्छृङ्गादिभिः शेष प्रसादमथवा नयेत्। शीतोपचारपित्तास्रक्रियाशुद्धिविशोषणै। दुष्ट रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत्॥ (अ० हृ०)।

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्य्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥ ४४॥

शरीर का रक्त ही प्रधान पोषक है तथा रक्त ही से शरीर धारित होता है, इस लिये यत्नपूर्वक रक्त की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि वास्तव मे रक्त ही जीव है ऐसी सब शास्त्रों की स्थिति (राय) है॥ ४४॥

स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत्॥ ४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शोणितवर्णनीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

रक्तस्राव के पश्चात् उसे रोकने के लिये शीतल सेक आदि किये जाते हैं, उनसे यदि वायु कुपित होकर सुई चुभोने की सी पीडा के साथ २ शोथ हो जाय तो मन्दोष्ण घृत से परिषेचन करना चाहिये॥ ४५॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाव्याख्यायां शोणितवर्णनीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

अथातो दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब यहां से दोष, धातु, मल इनके क्षय और वृद्धि के विशिष्ट ज्ञान कराने वाले अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥१-२॥

दोषधातुमलमूलं हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षणमुच्यमानमुपधारय॥ ३॥

दोष, धातु तथा मल ही शरीर के मूल कारण है अत एव इनके लक्षण यहां कहता हूं तुम उन्हें सुन कर धारण करो॥३॥

विमर्शः—दोष शब्द से वात, पित्त और कफ इनका ग्रहण होता है। ये मिथ्या आहार-विहार के सेवन करने से कुपित होकर शरीर को दूषित करते है अतः इनकी 'दोष' संज्ञा है तथा समप्रमाण में रह कर शरीर को धारण करते है अतः इनकी 'धातु' संज्ञा भी है। वायुः पित्त कफश्चेति त्रयो दोषा' समासत'। शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्॥ धातु -जो शरीर का धारण तथा पोषण करते हों उन्हें 'धातु' कहते है। 'धातुशब्दप्रवृत्तेर्धारणपोषणनिमित्तत्वात्तेन ये शरीर धारयन्ति धातूश्च पुष्णन्ति रसादयस्त एव मुख्यतया धातुशब्दवाच्या.। रसासृङ्मासमेदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि धातव सप्त दूष्या, मला.-मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च॥ (वाग्भट)। "मलिनीकरणान्मला." मूत्र, विष्ठा और स्वेद ये शरीर से नहीं निकलने पर मलिन (रुग्ण) कर देते हैं अतः इन्हें 'मल' कहते है। आयुर्वेद तथा वेदान्तादि शास्त्रों में मनुष्य शरीर की तुलना वृक्ष के साथ करते हैं। जैसे वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में मूल (जड) प्रधान होती है तद्वत् शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में दोष, धातु और मल ये तीनों मूलभूत हैं। ऊर्ध्वमूलमध शाखमृषय' पुरुष विदु। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगाल् शीघ्रतर जयेत्॥ (वाग्भट)

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति॥ ४॥

उन में प्रस्पन्दन, उद्वहन, पूरण, विवेचन और धारण इन पांच कार्यों को करने वाला वायु पांच प्रकार से विभक्त होकर शरीर को धारण करता है॥ ४॥

विमर्श—वायु के पांच भेद है। व्यानोदानप्राणसमानापाना पञ्च भेदा.। प्रस्पन्दन—शरीर का चलना-चलना 'व्यानकर्म', उद्वहन—श्वास, प्रश्वास, भाषण आदि ज्ञानेन्द्रियार्थों का धारण 'उदान कर्म', पूरण उदर को आहार से भरना 'प्राणवायुकर्म', विवेक-रस, मूत्र और मलों को विभक्त करना 'समानवायुकर्म', धारण-वीर्य, मल, मूत्रादिक का अवेगावस्था में धारण तथा वेगावस्था में उत्सर्ग करना 'अपानवायु का कार्य' है। विशिष्टवर्णन 'निदानस्थान प्रथमाध्याय' में देखना चाहिये। हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले। उदान कण्ठदेशस्थो व्यान सर्वशरीरग॥

रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति॥ ५॥

राग, पक्ति, तेज, मेधा और उष्मा को करने वाला पित्त पांच प्रकार से विभक्त होकर अग्नि का कार्य कर के शरीर का अनुग्रह (उपकार) करता है॥ ५॥

विमर्शः—रागकृत्-रस को रक्त में परिवर्तित करने वाला 'रञ्जक पित्त' है। "यत्तु यकृत्प्लीहो पित्त तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति सज्ञा स रसस्य रागकृदुक्त"। आमाशयाश्रय पित्त रञ्जक रसरञ्जनात्। पक्तिकृत्-आहार को पचाने वाला 'पाचकपित्त' है। पित्त पञ्चात्मक तत्र पक्वामाशयमध्यगम्। पचत्यन्न विभजते सारकिट्टौ पृथक् पृथक्॥ तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्। करोति बलदानेन

पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ तेज कृत्—'तेजो दृष्टिरिति ख्यातम्' इसे 'आलोचक पित्त' कहते हैं। मेधाकृत्—बुद्धि को करने वाला या धारणाशक्ति को करने वाला 'धीर्धारणावती मेधा' इसे 'साधक पित्त' कहते हैं। ऊष्मकृत्—शरीर की गरमी रखने वाला 'भ्राजक पित्त' कहलाता है। बुद्धिमेधाभिधानाद्धै-रभिप्रेतार्थसाधनात्। साधक हृद्गत पित्त रूपालोचनत. स्मृतम् ॥ दृक्स्थमालोचक त्वक्स्थं भ्राजक भ्राजनात्त्वच । पित्तस्थानानि—नाभिरामाशयः-स्वेदो लसीका रुधिर रस ॥ दृक् स्पर्शनञ्च पित्तस्य नाभिस्त्र विशेषत । अग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति—जैसे लौकिक अग्नि-दहन, पाचनादि कार्य करती है वैसे शरीरस्थ पित्त अग्नि की तरह भीतर दहन पाचनादि कार्य करता है। विशेष वर्णन इसी स्थान के इक्कीसवें अध्याय में देखना चाहिये।

सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥ ६ ॥

सन्धियों में संश्लेषण, शरीर में तथा भोज्यपदार्थों मे स्नेहन, व्रणादि का रोपण, अग्नि का या शरीर का पूरण तथा बल और स्थिरता को करने वाला श्लेष्मा पांच प्रकार से विभक्त होकर जल की तरह शरीर का अनुग्रह (उपकार) करता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—सन्धिसंश्लेषक श्लेष्मा को 'श्लेष्मक कफ' कहते हैं। सन्धियों मे एक प्रकार का द्रव होता है जिसे 'शायनो वियल फ्ल्यूड' कहते हैं। जो कि सन्धि को चिकनी बनाये रखता है तथा उसकी गति में सुविधा उत्पन्न करता है। स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्र साधु प्रवर्त्तते। सन्धय साधु वर्तन्ते सदिग्धा श्लेष्मणा तथा ॥ स्नेहनकारक कफ को 'क्लेदक' कहते हैं, शेष को 'रोपक,' 'तर्पक' और 'अवलम्बक' कहते हैं। स्नेहो बन्ध स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥ (चरक)। श्लेष्मा तु पञ्चधोर स्थ. सन्निकृष्य स्ववीर्यत । हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ॥ कफधाम्नाञ्च शेषाणा यत्करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बक श्लेष्मा यस्त्वामाशय-सस्थित । क्लेदक सोऽन्नसघातश्लेदनाद् रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी शिर.सन्धोऽक्षितर्पणात् ॥ तर्पक सन्धिसश्लेषात् श्लेष्मक सन्धिषु स्थित'। श्लेष्मस्थानानि—उर कण्ठशिर.क्लोम-पर्वाण्यामाशयो रस । मेदो घ्राणञ्च जिह्वा च कफस्य मुतरामुरः ॥ यद्यपि वात, पित्त और कफ ये एक एक ही हैं किन्तु स्थान तथा कार्यभेद से इनके भेद किये गये है। 'ते चैते दोषाः प्रत्येक पञ्चभि प्रकारैर्भिद्यन्ते। विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रियाभेदात् यथैकोऽ-पि देवदत्तो वा या या क्रिया करोति तदनुरूपमेवानेक पाचकलावकादि-नाम लभते (इन्दु')।

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्ण-प्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च, अस्थीनि देह-धारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च, मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति शुक्रं धैर्यं च्यवन प्रीतिं देहबलं हर्षं वीजार्थं च ॥ ७ ॥

आहारप्रसादजन्य 'रस'—शरीर को प्रसन्न तथा तर्पित करता है एवं रक्त को पुष्ट करता है। 'रक्त'—शरीर के वर्ण का प्रसादन, मांसधातु का पोषण और जीवनदान करता है। 'मांस'—शरीर एवं मेदोधातु की पुष्टि करता है। 'मेद'—शरीर में स्नेहन, स्वेद और दृढता उत्पन्न करता है तथा अस्थि का पोषक है। 'अस्थियां'—देह को धारण करती हैं तथा मज्जा की पुष्टि करती हैं। 'मज्जा'—शरीर में प्रसन्नता, स्निग्धता, बल, शुक्र की पुष्टि और अस्थियों का पूरण करती है। 'शुक्र'—शरीर में धीरता अथवा वीर्यच्युति, प्रसन्नता, बल और हर्ष तथा गर्भोत्पत्ति में वीज का कार्य करता है ॥ ७ ॥

विमर्शः—प्रथम धातु उत्तर धातु का पोषण करती है यह यहां दिखाया है। अस्थिया-जैसे मकान बनाने के पूर्व लोहे, लकडी आदि का ढांचा खडा कर उसके सहारे मिट्टी या ईंटे जोड़कर मकान खड़ा करते हैं उसी प्रकार अस्थियां देह को धारण करती हैं। अभ्यन्तरगतै. सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहा.। अस्थि-सारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिना तथा ॥ शुक्रं-स्फटिकाभ द्रव स्निग्ध मधुर मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभ तथा ॥ (सुश्रुत)। यह दुधिया रङ्ग का, गाढा, लसदार, क्षारीय प्रतिक्रिया वाला द्रव है जो शुक्राशय (Vesicula seminales) अष्ठीलाग्रन्थि (Prostate), शिश्नमूलग्रन्थियां (Cowpers glands), शुक्रप्रणाली या वाहिनी (Vas deferens), लिटर की ग्रन्थियां तथा शुक्रग्रन्थियों के रसों के मिश्रण का नाम 'शुक्र' (Semen) है। वीजार्थ च-शुक्र की 'सूक्ष्मदर्शकयन्त्र' द्वारा परीक्षा करने पर उसमें इधर उधर दौड़ते हुये असंख्य जीव दिखाई देते हैं। इन्हीं के ऊपर गर्भ का धारण निर्भर करता है। शुक्र इन्हीं वीजभागों को पुष्ट करता है। इनकी उत्पत्ति अण्डग्रन्थियों (Testes) में होती है। इन्हें 'शुक्राणु' या 'स्पर्मेटोझोआ' (Spermatozoa) कहते है। एक वार के मैथुन में निकले शुक्र में इनकी संख्या २० करोड़ से भी अधिक होती है। प्रत्येक शुक्राणु के तीन अवयव होते हैं। १ मुण्ड, २ मध्य, ३ पूंछ। मुण्ड-मोटा और अण्डाकार होता है। पूछ-नोकीली होती है। इनकी लम्बाई $\frac{१}{१००}$ से $\frac{१}{८००}$ इञ्च तक होती है। सवल शुक्राणु तेजी से दौड़ते है। किन्तु निर्वल शुक्राणु सुस्ती से। जो शुक्राणु प्रवल होता है। वही स्त्री वीज (ova) से मिलकर गर्भधारण कराता है। शेष शुक्राणु इस दौड़ में नष्ट हो जाते हैं। जब शुक्र में शुक्राणु न हो तो उस रोग को (Azo-spermia) तथा दुर्बल हो तो (Oligo spermia) और निश्चल हो तो (Necrospermia) कहते हैं। आजकल के विज्ञान ने पुजीव (शुक्राणु) तथा स्त्रीवीज (Ova) को परस्पर टेस्ट्यूब में मिलाकर उचित पोषक पदार्थ देकर गर्भोत्पत्ति की है। सगर के ६०००० हजार सन्तानों का तुम्बिका मे महर्षियों के तपोबल प्रभाव से उत्पन्न होना प्रसिद्ध है। हमारे पूर्वजों के विज्ञान के संमुख वर्तमान विज्ञान नगण्य सा है किन्तु खेद है कि वह परम्परा यवन तथा विदेशी राजाओं के आक्रमण से नष्ट हो गई।

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च। बस्तिपूरण-विक्लेदकृन्मूत्रम्। स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् ॥८॥

पुरीष शरीर का उपस्तम्भ (अवष्टम्भन) तथा वायु और अग्नि को धारण करता है। मूत्र वस्ति (Bladder) को पूरण तथा शरीर में आर्द्रता करता है। स्वेद शरीर में क्लेद तथा त्वचा को सुकुमार करता है ॥ ८ ॥

विमर्श—आंतों के अन्दर कुछ सूक्ष्म मल रहता है जो शरीर को धारण करता है तथा राजयक्ष्मा में एवं दुर्बल रोगी के उस मल की रक्षा करना बताया है। शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तञ्च जीवनम्। तस्माद्बलेन संरक्ष्ये यक्ष्मिणो मलरेतसी॥ सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विट्बलम्।

रक्तलक्षणमार्त्तवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणम्, स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति ॥ ९ ॥

शरीर के साधारण रक्त के समान लक्षणों वाला 'आर्तव रक्त' होता है तथा वह गर्भ की स्थिति करता है। गर्भ-गर्भ के लक्षणों को उत्पन्न करता है। स्तनों में होने वाला दुग्ध स्तनों की पुष्टता करता है तथा बालकों के लिये जीवन देता है॥ ९॥

विमर्श—गर्भकृच्च—प्राचीनों ने आर्तव के दो भेद माने हैं। एक 'शुद्धार्तव' है जो कि तीन, पाँच या क्वचित् सात दिन तक योनि में निकलता रहता है वह शरीर तथा गर्भाशय की शुद्धि करना है। रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। दूसरा सर्व शरीर दोषाश्च॥ दूसरा 'शुक्रार्तव' है जो कि स्त्री-पुरुष समागम के समय विसर्पित होता (निकलता) है। तथा गर्भाधान में भाग लेता है। घृतपिण्डो यथाग्निमाश्रित्य प्रविलीयते। विसर्पत्यार्त्तवं नार्यास्तथा पुंसा समागमे॥ इसी धारणा से इसे 'पुष्प' तथा 'स्त्रीबीज' कहा है। 'पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत्। सूक्ष्मकेशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः सिराः'। गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद्बीजाय कल्पते॥ स्त्रीजननेन्द्रियों में गर्भाशय (Uterus) के दोनों ओर दो बीजग्रन्थियां या डिम्बग्रन्थियां (Overies) होती हैं जो कि दीर्घबन्धनों द्वारा गर्भाशय से बंधी हैं। गर्भाशय के ऊर्ध्वभाग के दोनों पार्श्वों से दो डिम्बवह प्रणालियां या बीजवाहिनियां (Fallopian tubes) निकलती हैं जिनके आखिरी सिरे झालरदार होते हैं। इन दोनों डिम्बग्रन्थियों में ७२००० के लगभग 'डिम्ब' होते हैं। प्रत्येक मासिकधर्म के समय एक बीज परिपक्व होकर निकलता है तथा डिम्बवाहिनी के झालरदार हिस्से में अटक कर वाहिनी में होता हुआ गर्भाशय में आता है। यदि इस समय इसका 'शुक्रकीट' के साथ सम्मेलन हो जाय तो गर्भ रह जाता है। इस तरह आर्तव बीजोत्सर्ग करता है, गर्भाशय को शुद्ध करके उसकी कला को गर्भचिपकने योग्य बनाता है। प्रायः यह निश्चित है कि इसी आर्त्तवकाल में गर्भ धारण होता है जिसका समय १६ दिन माना है। ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः। गर्भग्रहणयोग्यास्तु स एव समयः स्मृतः॥ गर्भलक्षण—'तत्र सर्वेषु गृहीतगर्भायां लिङ्गानि—अमोघानि. पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः, स्फुरणञ्च योनेः। उत्तरकालं लक्षणानि—स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिचर्माणि चाप्यस्याः सम्पद्यन्ते निरौषधम्॥ अव्यक्तहृदयनिर्गमाद्बुद्धिजनेऽनुभावाच्च। प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते॥

तत्र विधिवत्परिरक्षणं कुर्यात ॥ १० ॥

प्रकृतिस्थ वातादि दोष, रसरक्तादि धातु तथा मल और स्तन्यादि उपधातुओं की यथाशास्त्रविधि से रक्षा करनी चाहिये॥ १०॥

अत ऊर्ध्वमेषां क्षीणलक्षणं वक्ष्यामः—तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च। पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं च। श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च॥ ११॥

इसके अनन्तर क्षीण वातादि दोषों के लक्षण कहते हैं—वात के क्षीण होने पर—शरीर की चेष्टाओं का मन्द होना, बोलने की शक्ति अल्प हो जाना, मन की प्रसन्नता का अभाव तथा संज्ञा का अल्प होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। पित्त के क्षीण होने पर—शरीर की गरमी और पाचकाग्नि मन्द हो जाती है तथा शरीर प्रभा हीन हो जाता है। श्लेष्मा के क्षीण होने पर—सम्पूर्ण शरीर में रूक्षता, शरीर के भीतरी अङ्गों में दाह तथा आमाशय के अतिरिक्त अन्य श्लेष्मा के आशयों में शून्यता प्रतीत होती है, एवं सन्धियों में शिथिलता, बार बार प्यास लगना, देह में दौर्बल्य एवं निद्रा का न आना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ११॥

विमर्श—प्रभा—शरीर के तेज (Lustre) को 'प्रभा' कहते हैं। श्लेष्माशया—उरः कण्ठशिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयोरः सः। मेदो घ्राणञ्च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः॥ क्षीणा जहति स्वं लिङ्गम्। कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्। (चरक)।

तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः॥ १२॥

इन दोषों की क्षीणावस्था में इन दोषों की उत्पत्ति को करने वाले द्रव्यों का ही प्रयोग करना ही प्रतीकार या चिकित्सा है॥ १२॥

विमर्श—'वातेन पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वा वाग्व्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, कर्मापि यद्यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्' (चरक)। वातक्षये स्नेहैरुपनाहैस्तत्वन्यैः कटुकादिभिः। पित्तक्षयेऽपि कटुकैरुष्णैर्नैः लवणादिभिः॥ क्षीरादिभिः स्निग्धशीतैः प्रतिकुर्यात् कफक्षये। अन्यच्च—वातक्षये कटूतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्। पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानाम्। श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। (चरक)।

रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च। शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च। मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च। मेदःक्षये श्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च। अस्थिक्षयेऽस्थिशूल दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च। मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च। शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्॥ १३॥

रस के क्षीण होने पर—हृदय में पीड़ा, सर्वाङ्ग या हस्तपादकम्प, अङ्गों की शून्यता तथा प्यास ये लक्षण होते हैं। रक्त के क्षीण होने पर—त्वचा में कठोरता (खुरदरापन), अम्ल तथा ठण्डे पदार्थों के खाने की इच्छा तथा सिराओं (धमनियों) में शिथिलता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। मांस के क्षीण होने पर—

स्फिक् (नितम्बप्रदेश), कपोल, ओष्ठ, जननेन्द्रिय, ऊरु, वङ्क्षण स्थल, कक्षा, पिण्डिका (जांघ या पिण्डलियां), उदर और ग्रीवा ये स्थान सूख जाते हैं तथा रूक्षता, सूई चुभोने की सी पीड़ा, शरीर में पीडा और धमनियों में शिथिलता ये लक्षण उत्पन्न होते है। मेदोधातु की क्षीणता में-प्लीहा की वृद्धि, सन्धियों में शून्यता, रूक्षता और स्निग्ध मांस या मेदस्वी प्राणियों के मांस खाने की इच्छा होती है। अस्थि धातु की क्षीणता में-अस्थियों में शूल, दन्त और नाखूनों का टूटना तथा रूक्षता ये लक्षण पैदा होते है। मज्जा की क्षीणता में-शुक्र का कम होना, जोडों में भेदन सी पीडा, अस्थियों में सूई चुभोने की सी पीडा और अस्थिशून्यता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। शुक्र के क्षीण होने पर-मेढ्र (लिङ्ग) तथा वृषण में वेदना, मैथुन करने में अशक्ति अथवा मैथुन करने पर भी देरी से वीर्य का निकलना और निकले हुये स्राव में कुछ रक्त तथा शुक्र का दिखाई देना ये लक्षण उत्पन्न होते है ॥ १३ ॥

विमर्शः—शुक्रक्षये चरक—क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्र प्रवर्तते अतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्। तथाऽस्य वायुर्व्यापद्यमानस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्नाभ्य शोणित प्रच्यावयति। तच्छुक्रक्षयादस्य पुन शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्। (च० नि०)।

तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः॥ १४ ॥

धातुओं का क्षय होने पर भी अपनी २ उत्पत्ति को वढाने वाले द्रव्यों का उपयोग करना ही प्रतीकार (चिकित्सा) है॥१४॥

विमर्शः—धातुक्षय में समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ठ द्रव्योपयोग और धातुवृद्धिकर कर्म करना श्रेयस्कर है। मास मासेन, लोहित लोहितेनैव, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्र शुक्रेण। समानगुणभूयिष्ठोदाहरण यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यानानाञ्चापरेषा द्रव्याणाम्। (चरक)।

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ सञ्चरणं च। मूत्रक्षये बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च। अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः। स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च। तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥ १५ ॥

पुरीष (मल) के क्षय होने पर-हृदय और पार्श्व में पीडा, शब्दयुक्त वायु की ऊपर की ओर गति तथा उदर में वायु का सञ्चार होता है। मूत्रक्षीणता में-वस्ति में सूई चुभोने की सी पीडा तथा मूत्र कम आता है। मल और मूत्रक्षय की अवस्था में भी स्वयोनिवर्धकद्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। स्वेदक्षय होने पर-रोमकूप स्तब्ध (बन्द) हो जाते है तथा त्वचा में शुष्कता, स्पर्शज्ञान में विकृति और स्वेदनाश हो जाता है। इस अवस्था में तैलों द्वारा शरीर में अभ्यङ्ग और स्वेदनकर्म करना चाहिये॥

विमर्शः—मूत्रक्षयेऽन्यलक्षणानि-मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्र मूत्रवेवर्ण्यमेव च। पिपासा वाधते चास्य मुखञ्च परिशुष्यति॥ (चरक)। मलक्षयलक्षणम्—मलानामतिसूक्ष्माणा दुर्लक्ष्य लक्षयेत् क्षयम्। त्वमलायनसशोपतोदशून्यत्वलाघवै ॥ (वाग्भट)। पुरीषक्षये—कुल्माषमाषकुष्माण्डाऽजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्। मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम्। (चरक)। स्वेदरोमकूपता—त्वचा में तैलग्रन्थियां तथा स्वेदग्रन्थियां होती हैं। इनसे त्वचा पर चिकना पदार्थ निकला करता है जिससे त्वचा चिकनी, कोमल और चमकयुक्त रहती है। स्वेदक्षय में रोमकूपों के अवरुद्ध हो जाने से उक्त ग्रन्थियों का चिकना स्राव त्वचा पर नहीं पहुंचने से वह शुष्क हो जाती है। तथा च वाग्भट—स्वेदे रोमच्युति, स्तब्धरोमता, स्फुटन त्वच। स्वेदक्षयचिकित्सा—अभ्यङ्गव्यायाममधस्वप्ननिवातशरणस्वेदै। (अ सं.)।

आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासम्भवोऽल्पता वा। तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः। गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च। तत्र प्राप्तबस्तिकालायाः क्षीरबस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोगश्चेति॥ १६ ॥

स्त्री के आर्तव के क्षीण होने पर-उचित समय पर रजःस्राव नहीं होना तथा होने पर अल्पमात्रा में रज का निकलना तथा योनिवेदना ये लक्षण उत्पन्न होते है। आर्तवक्षय में-विरेचन और उत्तरवस्ति द्वारा संशोधन तथा तिल, उडद, और सुरा आदि आग्नेय द्रव्यों का यथाविधि प्रयोग करना चाहिये। दुग्ध के क्षय होने पर-स्तनों में ढीलापन या झुर्रियों का पड़ना, दुग्ध का अभाव अथवा अल्प आना आदि लक्षण होते है। स्तन्यक्षय रोग में-कफवर्द्धक द्रव्यों जैसे अष्टवर्ग, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, शतावर का प्रयोग करना चाहिये। गर्भ के क्षीण होने पर-गर्भ के स्पन्दन का अभाव तथा माता की कुक्षि (उदर) का उभार नहीं होना आदि लक्षण उत्पन्न होते है। ऐसी स्थिति में गर्भिणी के आठवां मास शुरू हो जाय तो क्षीरवस्ति का प्रयोग तथा मेध्य अन्न का सेवन करना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्शः—आग्नेयद्रव्योपयोगो यथा—तत्र मत्स्यकुलत्थान्लतिलमाषसुराहिता। पाने मूत्रमुदश्चित्र दधि शुक्तञ्च भोजने॥ स्तन्यपरिभाषा—रसप्रसादो मधुर पक्वाहारनिमित्तज कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्यमित्यभिधीयते॥ गर्भास्पन्दनेन—गर्भस्य स्पन्दनाभाव, ईषत्स्पन्दन चिरात्स्पन्दनञ्चेति त्रयो भावा गृह्यन्ते। गर्भक्षयचिकित्सा—मेध्यान्नोपयोग.-मेधाय यज्ञाय हित मेध्य तदेवान्न मेध्यान्न क्षीरसर्पिश्छागादिकमित्येतत् (हाराणचन्द्र.), गर्भस्त्वामगर्भेणेति चरक। तथा पयसा रसानामामगर्भाणा च गर्भवृद्धिकर, आमगर्भरसेन चाश्नीयात्, तानेव च तत्र भृष्टान् भक्षयेत्।

अत ऊर्ध्वमतिवृद्धानां दोषधातुमलानां लक्षणं वक्ष्यामः। वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद्भवति॥ १७ ॥

अब इसके पश्चात् अतिवृद्ध वातादि दोष, रसरक्तादि धातु तथा विण्मूत्रादि मलों के लक्षण कहते है। इनकी वृद्धि इनकी उत्पत्ति करने वाले द्रव्यों के अधिक सेवन करने से होती है॥ १७ ॥

तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्य कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्व गाढवर्चस्त्व च।

पित्तवृद्धौ पीतावभासता सन्तापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च। श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्य्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्ध्यस्थिविश्लेषश्च ॥ १८ ॥

इनमें से वायु की वृद्धि होने पर-बोलने में कर्कशता, शरीर की कृशता और कालापन तथा अङ्गों में फडकन, उष्ण आहार और विहार की इच्छा, निद्रानाश, बल की अल्पता तथा विष्ठा में गाढापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। पित्त की वृद्धि में-त्वचा का पीलापन या उस रोगी को सर्व दृश्यों में पीतिमा का भास होना, देह में सन्ताप, शीत आहार और विहार के सेवन की इच्छा, निद्रा का कम आना, कभी २ मूर्च्छा होना, शरीर के बल की हानि, इन्द्रियों की अर्थग्रहण में दुर्बलता तथा विष्ठा, मूत्र और नेत्रों में पीलापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। कफ की वृद्धि में-समस्त शरीर अथवा नख और नेत्रपलकों में सफेदी दीखना, शीतल शरीर रहना, देह में स्थिरता, भारीपन, शारीरिक और मानसिक अवसाद, ग्लानि, तन्द्रा, निद्रा, संधि और अस्थियों में शिथिलता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

विमर्श—'निद्रा श्लेष्मतमोभवा' निद्राहेतुस्तम, यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मन क्लमान्विता। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानव ॥ अन्यच्च—श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च। इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम् ॥ (अ० स०)। तन्द्रा लक्षणम्—इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भण क्लम। निद्रार्तस्येव यत्चेष्टा तत्य तन्द्रा विनिर्दिशेत् ॥

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति। रक्तं रक्ताङ्गक्षितां सिरापूर्णत्वं च। मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च। मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च। अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्तांश्च। मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च। शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च ॥ १९ ॥

रस की अधिक वृद्धि होने से—हृदय में उत्क्लेद (मिचलाहट) तथा मुँह से लार का टपकना ये लक्षण होते हैं। अति वृद्ध रक्त—शरीर के अङ्ग तथा नेत्रों में लालिमा और सिराओं में रक्त की अधिक पूर्ति करता है। अधिक बढा हुआ मांस—नितम्ब, गण्ड (कपोल), ओष्ठ, मूत्रेन्द्रिय, ऊरुप्रदेश, बाहु और जङ्घाओं (पिण्डलिकाओं) में अधिक वृद्धि तथा शरीर में भारीपन पैदा करता है। अधिक बढी हुई मेदोधातु—शरीर में अङ्गों की अधिक स्निग्धता, उदर और पसवाडों की वृद्धि, कास, श्वास, शरीर में दुर्गन्धि ये लक्षण उत्पन्न करती है। अधिक वृद्ध अस्थि—चणकास्थियों तथा अधिदन्तों को उत्पन्न करती है। अतिवृद्ध मज्जा-शरीर के समस्त अङ्ग तथा विशेषकर नेत्रों में गुरुता उत्पन्न करती है। अधिक बढा हुआ शुक्र-शुक्राश्मरी तथा वीर्य का अधिक पात करता है ॥१९॥

विमर्श.—अध्यस्थि-अधिकमस्थि अध्यस्थि। अस्थियों का स्वाभाविक आकार से मोटा होना इसे Hyper trophy कहते हैं।

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोदमाध्मानं च। स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च ॥ २० ॥

अधिक बढी हुई विष्ठा—पेट में आटोप (अफारा) तथा शूल उत्पन्न करती है। अधिक बढा हुआ मूत्र—मूत्रवृद्धि (ज्यादा मात्रा में मूत्र निकलना अथवा Hydrocele), बार बार मूत्र की प्रवृत्ति, वस्ति में सूई चुभोने की सी पीडा और आध्मान इन लक्षणों को पैदा करता है। अधिक मात्रा में वृद्ध स्वेद—त्वचा में दुर्गन्धि और खुजली उत्पन्न करता है ॥ २० ॥

विमर्शः—आटोपो गुटगुडाशब्दः, आध्मानलक्षणम्—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदर भृशम्। आध्मानमिति त विद्याद्घोरं वातनिरोधजम् ॥ आध्मान को Tympanitis कहते हैं।

आर्त्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च। स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च। गर्भौ जठराभिवृद्धिं स्वेदं च ॥ २१ ॥

आर्तव के अधिक बढने पर—अङ्गों में वेदना, रजःस्राव का अधिक होना और दौर्बल्य उत्पन्न होता है। अधिक वृद्ध दुग्ध-स्तनों में स्थूलता, बार २ दुग्ध की प्रवृत्ति तथा स्तनों में सूई चुभोने की सी पीडा को करता है। बढता हुआ उदर को बढाता है तथा पसीना पैदा करता है ॥ २१ ॥

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥ २२ ॥

इन अधिक बढे हुये दोष, धातु और मलों का क्षय से अविरुद्ध यथाविहित विशेष क्रियाओं द्वारा संशोधन तथा क्षपण (ह्रास या संशमन) करना चाहिये ॥ २२ ॥

विमर्श.—दोषों की चिकित्सा चरक में भी ऐसे ही है। 'वृद्धा क्षपयितव्या, क्षीणा वर्धयितव्या, सम्या पालनीया' क्षपण-वृद्धस्य तथा क्षपण कर्तव्य यथाऽन्यदोषस्य धातोर्वा वृद्धि क्षयो वा न भवति, (चक्र)। अविरुद्धक्रिया—छिन्नाविश्वादिभिर्वायु पित्त क्षौद्रफलत्रिकै। कफ गुडार्द्रकाद्यैश्च जयेद्दोषाविरोधिभि ॥

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥ २३ ॥

पूर्व पूर्व धातु अधिक बढने से पर पर धातु को बढाती है इसलिये अति प्रवृद्ध धातुओं का घटाना हितकारी होता है ॥२३॥

विमर्श—वाग्भटेऽपि-पूर्वा वृद्ध पर कुर्याद् वृद्ध क्षीणश्च तद्विधम्। क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्। तावद्यावदरोग स्यान्नरो रोगसमन्वित ॥ किन्तु उत्तर वृद्ध धातु अपने पूर्व की धातु को बढाती है। तेन परोऽपि वृद्ध पूर्व वर्धयति, तथा परोऽपि क्षीण पूर्व क्षपयति, तथा पूर्व. क्षीण पर क्षपयति।

बललक्षणं बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदेक्ष्यामः। तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ॥२४॥

अब इसके अनन्तर बललक्षण तथा बलक्षय लक्षण का वर्णन करते हैं-रसादिक तथा शुक्रान्त धातुओं के उत्कृष्ट सार भाग को 'ओज' कहते है तथा अपने शास्त्र की परिभाषानुसार उसी का दूसरा नाम 'बल' है ॥ २४ ॥

विमर्श—वस्तुतस्तु ओज और बल दोनों भिन्न हैं। ओज कारण है तथा बल कार्य है। ओज का रूप, रस और वर्ण होने से वह द्रव्य है किन्तु बल इसका कार्य है। केवल चिकित्सा की दृष्टिसे कार्य और कारण में अभेद कर के दोनों को एक ही मान लिया है।

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥ २५ ॥

इस बल से मांसधातु स्थिर तथा पुष्ट होती है। मनुष्य सर्व प्रकार के कार्यों को करने में समर्थ होता है तथा उसका स्वर और वर्ण प्रसन्न (निर्मल) रहता है एवं बाह्य (हस्तपादादि) तथा आभ्यन्तरिक मन, बुद्धि आदि कर्म और ज्ञानेन्द्रियां अपने २ कार्य को करने में उत्तमरूप से प्रवृत्त होती हैं २५

भवन्ति चात्र—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥ २६ ॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥ २७ ॥

ओज—सोमात्मक (सौम्य), स्निग्ध, शुक्ल, शीतवीर्य, स्थिर, प्रसरणशील, विविक्त अर्थात् श्रेष्ठ गुणयुक्त, कोमल, पिच्छिल और प्राणों का उत्तम आधार है। मनुष्यों का सर्व अवयवयुक्त शरीर इस ओज से व्याप्त रहता है। इस ओज का शरीर में अभाव हो जाने से मनुष्यों की देह विशीर्ण (नष्ट) हो जाती है ॥ २६-२७ ॥

विमर्शः—चरके ओजवर्णन यथा—हृदि निष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्। ओज शरीरे सख्यात तत्राज्ञात्रा विनश्यति ॥ भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सञ्चियते मधु। तद्वदोज शरीरेभ्यो गुणै सञ्चियते नृणाम् ॥ किसी ने ओज को उपधातु माना है—स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथौजश्च सप्तमम्। इति धातुमला ज्ञेया एते सप्तोपधातवः। वाग्भट ने ओज को शुक्र का मल माना है—कफपित्त मल खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षित्वग्विसामोजो धातूना क्रमशो मलाः ॥ ओजका स्थान—सर्व मत से हृदय है तथापि वह रक्त के साथ सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है। हृदयस्थमपि व्यापि तत्पर जीवितास्पदम्। कुछ आचार्यों ने ओज के दो भेद किये हैं, पर और अपर। पर ओज—अष्टबिन्दात्मक होता है तथा उसका स्थान हृदय है किन्तु अपरओज—अञ्जलि परिमाणात्मक किंवा अर्धाञ्जलिपरिमाणात्मक होता है तथा वह हृदयाश्रित धमनियों में रहता है। प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रया। अष्टबिन्दुप्रमाण तदीषद्रक्त सपीतकम्॥ अग्निसोमात्मकत्वेन द्विरूप वर्णितञ्च तत्॥ चरके चक्रपाणि.—एतेन द्विविधमोजो दर्शयति, परमपरञ्च। तत्राञ्जलिपरिमाणमपरमल्पप्रमाणन्तु परम्। सति हि परे चापरे चौजसि परस्येति विशेषण सार्थक भवति न त्वेकरूपे। अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिता स्थानम्। तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौज. क्षीयते नाष्टबिन्दुकम्। अस्य हि किञ्चित्क्षयेऽपि मरण भवति प्रमेहे त्वोज.क्षये जीवत्येव तावत्। ओज क्षयलक्षणमपि अर्धाञ्जल्योज क्षय एव बोद्धव्यम्। ओज शब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्त रसश्चौजः सख्यात, इति, तथापि इह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते। एतच्चौज उपधातुरूप केचिदाहु.। धातुर्हि धारणपोषणयोगाद्भवति, ओजस्तु, देहधारकमपि न देहपोषकं तेन नाष्टमो धातुरोज। केचित्तु शुक्रविशेषमोज प्राहु, तच्च न मन. प्रीणाति। ओजसो दशगुणा—गुरु शीत मृदु श्लक्ष्णं बहुल मधुर स्थिरम्। प्रसन्न पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुण स्मृतम्॥ पाश्चात्य विद्वानों ने स्वरूप और कार्य के अनुसार ओज को निम्न भिन्न २ रूप से माना है। नं० १ वृषणसार (Internal secertion of the testicles) नं० २ बीजकोषसार (Internal secretion of the overy) नं० ३ अष्ठीलासार (Prostatic secretion) नं० ४ पीयूषग्रन्थिसार (Pituitrine) नं० ५ जीवनीयद्रव्य (Vitamins) नं०६ अल्ब्यूमीन (Albumin) नं० ७ द्राक्षाशर्करा Glycogen).

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः सङ्क्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥ २८ ॥

चोट लगने से, धातुओं के क्षय से, क्रोध करने से तथा शोक, ध्यान (चिन्तन) और परिश्रम करने से तथा भूख के कारण ओज का क्षय होता है। इस तरह वायु से प्रेरित (समीरित=चलायमान) तेज (ओज) धातुग्रहण स्थान अर्थात् हृदय और धमनियों से निकल कर प्राणियों को अपने प्राकृतिक कार्यों से वञ्चित कर देता है ॥ २८ ॥

विमर्शः—धातवो गृह्यन्त एभिरिति धातुग्रहणानि वक्ष्यमाणानि स्रोतासि तेभ्यो नि.सृतम्।

तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवन्ति। सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसन्निरोधश्च विस्रसे। स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने। मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥

व्यापन्न (विकृत) हुए ओज के विस्रंस, व्यापत् और क्षय ये लक्षण होते हैं। विस्रंस में सन्धियों का विश्लेष (Dislocation), शरीर के अङ्गों में पीड़ा, वातादि दोषों का अपने स्थानों से च्यवन (भ्रष्ट) होना तथा शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं का ठीक नहीं होना ये लक्षण होते हैं। ओज की व्यापत् में—शरीर के अङ्गों का निश्चल तथा भारी होना, वातिक शोथ, देह के वर्ण का बदलना, ग्लानि, तन्द्रा और निद्रा ये लक्षण होते हैं। ओज के क्षय में-मूर्च्छा, मांसक्षय, मोह, प्रलाप और मरण तक हो सकता है ॥ २९ ॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः।
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम् ॥ ३० ॥

व्यापद्, विस्रंस और क्षय ये बल (ओज) के तीन दोष कहे गये हैं। अङ्ग या सन्धियों का विश्लेष तथा उनमें पीड़ा, वातादि दोषों का स्थानभ्रष्ट होना, थकान तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मल, मूत्र, श्वास, रक्तसंवहन आदि क्रियाओं की प्रवृत्ति न होना ये बलविस्रंस के लक्षण हैं ॥ ३० ॥

गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्।
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ॥ ३१ ॥

अङ्गों में भारीपन, स्तब्धता तथा म्लानता, शरीर के वर्ण में भेद, तन्द्रा, निद्रा और वातिक शोफ ये बलक्षय के लक्षण हैं॥

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च।
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ॥ ३२ ॥

मूर्च्छा, मांसक्षय, मोह, प्रलाप, अज्ञान और पूर्वोक्त लक्षण तथा मरण ये बलक्षय के लक्षण है ॥ ३२ ॥

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्। इतरं तु मूढसञ्ज्ञं वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

इनमें से विस्रंस और व्यापद् की अवस्थाओं में विशेष क्रियाओं से जो कि शरीर के बल, दोष और अग्नि के विपरीत न हों रोगी के बल को बढाना चाहिये। ओज क्षय के क्षीण सज्ञा वाले रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

विमर्शः—क्रियाविशेषै -जीवनीयोपधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्। (वाग्भट)

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥ ३४ ॥

वातादि दोषों की क्षीणता, रसादि धातुओं की क्षीणता, विण्मूत्रस्वेदादि मलों की क्षीणता तथा बल (ओज) की क्षीणता में रोगी अपनी अपनी उत्पत्ति को करने वाले अन्न और पान की आकाक्षा करता है ॥ ३४ ॥

विमर्श.—यवान् मुद्गान् हरेणूंश्च रूक्षञ्च लघु भोजनम्। कषायकटुतिक्तञ्च वातक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ तिलमाषकुलत्थादिपिष्टान्नविकृतिं तथा। मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि पित्तक्षीणस्तथा दधि ॥ मांसमाहिषवाराहमाज गुडगुरूणि च। श्लेष्मक्षीणोऽभिलषति क्षीरस्वप्नदधीनि च ॥ इक्षुं मांसरसं मद्यमधुसर्पिर्गुडौदकम्। असृङ्मांसं यवागूञ्च रसक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ इत्यादि, शेषश्लोका टल्हणटीकाया द्रष्टव्या।

यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ॥ ३५ ॥

क्षीण मनुष्य जिस जिस आहार की आकांक्षा करे उस उस प्रकार के आहार समुदाय के प्राप्त हो जाने से उसी क्षय का नाश हो जाता है ॥ ३५ ॥

यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत्।
प्रक्षीणं च बलं यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥३६॥

जिस रोगी के धातुक्षय होने से वायु कुपित होकर संज्ञा तथा शारीरिक क्रियाओं को नष्ट कर देती है और जिस रोगी का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बल नष्ट हो गया हो उसकी चिकित्सा करना शक्य नहीं है ॥ ३६ ॥

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च। तत्र श्लेष्मलाहारसेवितोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नति स्नेहान्मेदो जनयति। तदतिस्थौल्यमापादयति। तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति, सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति। सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् ॥३७॥

आहार रस के कारण ही मनुष्य में स्थूलता तथा कृशता उत्पन्न होती है। कफवर्द्धक आहार सेवन करने वाले, अध्यशन (भोजन के ऊपर भोजन) करने वाले, व्यायाम नहीं करने वाले तथा दिन में शयन करने का स्वभाव वाले मनुष्य का ठीक तरह से नहीं पचा हुआ अधिक मधुर आमरस समग्र शरीर में भ्रमण करता हुआ अतिस्निग्ध होने से मेदोधातु को उत्पन्न करता है तथा वह उत्पन्न मेदोधातु शरीर को अधिक स्थूल बना देती है। इस तरह अधिक स्थूल हुये मनुष्य में क्षुद्रश्वास, पिपासा, क्षुधाधिक्य, निद्रा, स्वेद, शरीर में दुर्गन्धि, सहसा श्वास का रुक जाना, अङ्गों की पीडा या थकान और गद्गद वाक् (अव्यक्तवचन) ये लक्षण उत्पन्न हो जाते है। मेदोधातु के सुकुमार होने से वह मनुष्य सर्वप्रकार की शारीरिक चेष्टाओं (क्रियाओं) में असमर्थ हो जाता है। कफ और मेदोधातु से शुक्रवह स्रोतसों के निरुद्ध हो जाने से स्त्री-सम्भोग करने में अधिक समर्थ नहीं होता है तथा अन्य रसादिवाहक स्रोतसों के मार्ग भी आवृत (घिरे हुये) हो जाने से शेष उत्तरोत्तर धातुएं अधिक पुष्ट नहीं होती हैं जिससे वह रोगी अल्प जीवनशक्ति वाला हो जाता है। जीवन शक्ति व्याधिक्षमता (Immunity) के अल्प हो जाने से वह व्यक्ति प्रमेह, प्रमेहपिडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि और वातविकार इन रोगों में से किसी एक रोग को प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त होता है। मेद से रसादिवाहक स्रोतसों के मार्ग अवरुद्ध होने से प्रायः सभी रोग बलवान् होते हैं इसलिये मेदोधातु को बढ़ाने वाले सभी आहार-विहार आदि कारणों को परित्याग कर देना चाहिये ॥ ३७ ॥

विमर्श—अध्यशनलक्षणम्—'भुक्तस्योपरि भोजनमध्यशनम्' किंवा—अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते। क्रथनलक्षणम्—श्वासरोधो हि योऽकस्मात् स क्राथ क्रथनञ्च तत्। क्षुद्रश्वासलक्षणम्— किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वास प्रवर्तते। निपण्णस्यैति शान्तिञ्च स क्षुद्र इतिसञ्ज्ञित ॥ अतिस्थौल्यस्याष्टौ दोषा -अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जवोपरोधकृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्य, दौर्गन्ध्य स्वेदाबाध, क्षुदतिमात्र पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषा।

उत्पन्ने तु शिलाजतुगुग्गुलुगोमूत्रत्रिफलालोहरजोरसाञ्जनमधुयवमुद्गकोरदूषकश्यामाकोद्दालकादीनां विरूक्षणच्छेदनीयानां द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनवस्त्युपयोगश्चेति ॥ ३८ ॥

अतिस्थौल्य रोग के उत्पन्न हो जाने पर शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु, गोमूत्र, त्रिफलाचूर्ण, लौहभस्म, रसाञ्जन, शहद, यव, मूग, कोरदूषक (कोदोधान), श्यामाक, उद्दालक (कुट्टू)

आदि विरु यथाविधि सेवन करना
चाहिये त न का प्रयोग करना
हितकर है ॥

विमर्श.—रसाञ्जनप क्वाथसम क्षीर पाद पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जन स्नान ो परम हितम्॥ अन्यच्च-रसगर्भं रसाञ्जनम्। 'उद्दालकान्न विरूक्षणीयानाम्' (चरक)। छेदनलक्षणं यथा—श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूल्यति यद्बलात्। छेदन तथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु॥ (शार्ङ्गधर)। लेखनवस्तिपरिचय.—त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमन्विता। ऊषकादिप्रतीवापा वस्तयो लेखना स्मृता.॥ चरके स्थौल्यहरा सामान्योपाया—गुरुचापतर्पण श्रेष्ठ स्थूलाना कर्षणम्प्रति। वातघ्न्यश्चयानानि श्लेष्ममेदोहराणि च॥ रूक्षोष्णा वस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि च। प्रजागर व्यवायश्च व्यायाम चिन्तनानि च॥ स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तु क्रमेणाभिप्रवर्धयेत्॥ व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूममोजन। सन्तर्पणकृच्छ्रदोषः स्थौल्य मुक्त्वा विमुच्यते॥

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति, तस्मादतिकार्श्यं भवति, सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति। सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्। अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्॥३६॥

वातवर्द्धक द्रव्यों का भोजन करने वाले, व्यायाम, स्त्रीसम्भोग, अध्ययन, भय, चिन्ता, ध्यान, रात में जागना, प्यास, क्षुधा, कषायरस और थोड़ा भोजन इत्यादि कारणों से उपशोषित रस धातु शरीर में पूर्ण रूप से भ्रमण नहीं करती है तथा अल्पप्रमाण में होने से शरीर को पुष्ट नहीं करती है जिससे उस मनुष्य का शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है। वह अत्यन्त कृश मनुष्य-क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वायु, वर्षा और भारवहन में असमर्थ होकर वातरोगों से प्रायः पीडित तथा सर्व प्रकार के कार्यों में अल्पशक्ति वाला हो जाता है। इस प्रकार का मनुष्य-श्वास, कास, शोष, प्लीहावृद्धि, उदरवृद्धि, अग्निमान्द्य, गुल्म, रक्तपित्त इनमें से किसी एक रोग को प्राप्त कर मर जाता है। उसकी प्राणशक्ति (Immunity) अल्प होने से सर्व प्रकार के रोग बलवान् होते हैं इसलिये शरीर को कृश करने वाले आहार-विहारादि कारणों का परित्याग कर देना चहिये॥ ३६॥

उत्पन्ने तु पयस्याऽश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरीबलाऽतिबलानागबलानां मधुराणामन्यासां चौषधीनामुपयोगः, क्षीरदधिघृतमांसशालिपष्टिकयवगोधूमानां च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्यव्यायामबृंहणवस्त्युपयोगश्चेति॥

कार्श्य रोग उत्पन्न हो जाने पर—क्षीरकाकोली, अश्वगन्ध, विदारीकन्द, शतावर, खिरैटी, अतिबला, नागबला तथा अन्य मधुर रस वाली ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त दुग्ध, दही, घी, मांस, शाली और साँठी चांवल, जौ, गेहूं इनका सेवन तथा दिन में शयन, ब्रह्मचर्य, व्यायाम और बृंहण (बलवर्द्धक) वस्ति का उपयोग करना चाहिये॥४०॥

विमर्शः—चरक में सद्य क्षीण तथा चिरक्षीण ऐसे कृश के दो भेद कर चिकित्सोपदेश किया है। तेषा सन्तर्पण तज्ज्ञै पुनरारभ्यानमौषधम्। यत्तदात्वे समर्थं स्याद्भ्यासे वा तद्धितम्॥ सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते। नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति॥ देहाग्निदोषभैषज्यमात्राकालानुवर्तिना। कार्यमत्वरमाणेन भेषज चिरदुर्बले॥ हिता मासरसास्तस्मै पयासि च घृतानि च। स्नानानि वस्तयोऽन्नाद्यतर्पणास्तर्पणाश्च ये॥ स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृतिः शमः। नवान्नानि नव मद्य ग्राम्यानूपौदका रसाः॥ स्निग्धमुद्वर्तन स्नान गन्धमाल्यनिषेवणम्। शुक्लवासो यथाकाल दोषाणामनसेचनम्॥ रसायनाना वृष्याणा योगानामुपसेवनम्। हृत्वाऽतिकार्श्यमादत्ते नृणामुपचय परम्॥ अचिन्तनाच्च कार्याणा ध्रुव सन्तर्पणेन च। स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति॥ बृंहणवस्ति—बृंहणद्रव्यत क्वाथैस्तत्कल्कस्नेहसंयुक्तो। युक्ता. खजप्रथिता वस्तयो बृंहणा मता.॥

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवर्षातपसहो बलवांश्च। स सततमनुपालयितव्य इति॥ ४१॥

जो मनुष्य दोनों प्रकार के साधारण द्रव्य अर्थात् न अधिक रूक्ष (वातवर्द्धक) तथा न अधिक बृंहण (कफवर्द्धक) द्रव्यों का सेवन करता हो उसका अन्नरस शरीर में परिभ्रमण करता हुआ समान मात्रा में धातुओं का वृद्धि या पोषण करता है तथा समधातु होने से मध्य शरीर वाला तथा सर्व प्रकार की चेष्टाओं (कार्यों) को करने में समर्थ होता है एवं क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वर्षा और धूप को सहन करने वाला तथा बलवान् होता है। ऐसे मध्यशरीरी मनुष्य का हितकारक आहार-विहार द्वारा सदा रक्षण करना चाहिये॥ ४१॥

विमर्श—रक्षण चैव मध्यस्य कुर्वीत सतत भिषक्। (सु०)। दिनचर्या निशाचर्यामृतुचर्या यथोदिताम्। आचरन् पुरुष. स्वस्थ. सदा तिष्ठति नान्यथा॥

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥ ४२॥

अधिक स्थूल और अधिक कृश मनुष्य सदा अति गर्हित माने गये हैं किन्तु मध्यशरीर का मनुष्य श्रेष्ठ है। इन दोनों में भी स्थूल की अपेक्षा कृश मनुष्य अच्छा होता है॥ ४२॥

विमर्श.—यद्यपि उक्त दोनों प्रकार के मनुष्य सदा रोग ग्रस्त होने से गर्हित माने गये हैं। सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ। सतत चोपचर्यो हि कर्षणबृंहणैरपि॥ (चरक)। किन्तु कृश की अपेक्षा स्थूल निन्दित है क्योंकि इसकी चिकित्सा विरुद्धोपक्रम होने से कठिन है। जैसे यदि लंघन का प्रयोग

करें तो मेद शान्त होगा परन्तु वात और अग्नि बढ़ जाती है और यदि बृहण का उपयोग करें तो वात तथा अग्नि शान्त होंगे किन्तु मेदोधातु बढ़ जायगी। स्थौल्यकार्श्ये वर कार्श्य समोपकरणौ हि तौ। यद्युभौ व्याधिरागच्छेत स्थूलमेवातिपीडयेत्। (चरक)। कार्श्यमेव वर स्थौल्यान्नहि स्थूलस्य भेषजम्। बृहण लङ्घनं नालमतिमेदोऽग्निवातजित्॥ मधुस्निग्धसौहित्यैर्यथैतत्सौख्येन च नश्यति। ऋशिमा स्थविमाऽत्यन्त विपरीतनिषेवणे॥(अ० सं०)।

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम्॥ ४३॥

मिथ्या आहार-विहारादि से कुपित दोष अपनी शक्ति से रसरक्तादि धातुओं को नाश कर देता है जैसे कि इन्धनादि से बढ़ी हुई चूल्हे की अग्नि अपने तेज से उखा (स्थाली) के जल को नष्ट कर देती है॥ ४३॥

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात् तथैव च।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते॥ ४४॥

प्रत्येक मनुष्य के शरीर की हर एक बातों में भिन्नता होने से एवं अस्थायी होने से वातादि दोष, रसादि धातु और विण्मूत्रादि मलों का निश्चित परिमाण (तौल) नहीं हो सकता है॥ ४४॥

विमर्शः—वातादि प्रकृति, रक्तादिसार, संहनन, ऊंचाई, मोटाई, वय और भारादिसहन में प्रत्येक मनुष्यों के प्रमाण में वैलक्षण्य होता है। चरक ने यद्यपि शरीर के दोषधातुओं का प्रमाण लिखा है किन्तु वह प्रायिक है, उसमें घट-बढ़ होती रहती है। दशोदकस्याञ्जलय, नवाञ्जलय पूर्वस्याहाग्परिणामधातो, अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मण, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसाया, द्वौ मेदस, एको मज्जाया, मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलि, शुक्रस्य तावदेव प्रमाण, तावदेव श्लैष्मिकस्यौजसइति। (च० शा० अ० ७)। तत्पर प्रमाणमभिधेयम्। तच्च वृद्धिह्रासयोगितर्क्यमेव। ते सर्वे एव धातवो मलाख्या प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्या पुष्यन्त स्वमानमनुवर्तन्ते यथावय शरीरम्। (च० सू० अ० २८)।

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्य वक्तुमन्येन हेतुना॥ ४५॥

वैद्यों के द्वारा दोष, धातु और मलों की समता का जो वर्णन किया जाता है उसका स्वास्थ्य के सिवाय अन्य किसी हेतु से दिखाया जाना या कहा जाना अशक्य है॥ ४५॥

विमर्श—जिस तरह पाश्चात्यों ने स्वस्थ पुरुष के शरीर का तापक्रम, नाडी की गति, श्वाससंख्या, रक्त का भार (Blood pressur), मूत्र की क्षारीयता, आपेक्षिक गुरुत्व आदि निश्चित लिखकर स्वस्थ के पहचान का निश्चित स्टैण्डर्ड कायम किया है तद्वत् वैद्यकशास्त्र में स्वास्थ्यलक्षणों के सिवाय आरोग्यता या स्वस्थता का दर्शक अन्य नापतौल बाट-बटखरे नहीं हैं। रोगस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यमरोगता। विकारो धातुवैषम्य साम्य प्रकृतिरुच्यते। सुखाना कारण सम।

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्॥ ४६॥

कुशल वैद्य मनुष्य को अप्रसन्नेन्द्रिय देख कर दोष, धातु और मलों की असमानता को अनुमान से जान लेवे॥४६॥

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्य्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्।
तावद्यावद्रोगः स्याद्वैतत्साम्यस्य लक्षणम्॥ ४७॥

बुद्धिमान चिकित्सक स्वस्थ पुरुष की हिताहार-विहारादि द्वारा रक्षा करे तथा अस्वस्थ (रोगी) हुये मनुष्य के दोष, धातु और मल यदि बढ़ गये हों तो उन्हें घटावे तथा घट गये हों तो उन्हें बृंहित करे। इस कर्षण-बृंहण क्रिया को मनुष्य के रोगरहित होने तक करते रहना चाहिये। दोषों के साम्य का लक्षण वक्ष्यमाण श्लोकोक्त है॥ ४७॥

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ ४८॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

वात, पित्त और कफ इन दोषों की समता, पञ्चमहाभूतों की पांच, रसधातुओं की सात और तेरहवीं जाठर इन अग्नियों का समान रहना तथा रसरक्तादि धातुओं और विण्मूत्रस्वेदादिमलों की पोषण, धारण तथा निर्गमनादि क्रियाओं का समान होना एव आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता ये बातें जिसमें विद्यमान हों उसे स्वस्थ कहा जाता है॥ ४८॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वप्रदीपिकाभाषाया दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयो नाम पञ्चदशोऽध्याय॥ १५॥

षोडशोऽध्यायः।

अथातः कर्णव्यधबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
अथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'कर्णव्यधबन्धविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचन धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग् वामहस्तेनाकृष्य कर्ण दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेन ऋजु विध्येत्। प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया, पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वाम कुमार्याः। ततः पिचुवर्त्तिं प्रवेशयेत्॥ ३॥

रक्षा और भूषण के लिये बालक के कानों का वेधन करना चाहिये। छठे या सातवें मास में, शुक्लपक्ष की उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त्त और नक्षत्र में मङ्गलाचरण तथा स्वस्तिवाचन

करके धाय की गोद में या बालक की देखभाल करने वाले मनुष्य की गोद में बच्चे को बिठाकर बालकोचित खिलौनों से आकृष्ट (प्रलोभित) कर तुतली बोली में सान्त्वना देते हुये वैद्य अपने वामहस्त से उस बच्चे के कान को खींचकर दैवकृत छिद्र के सूर्य किरणों द्वारा दिखाई देने पर धीरे धीरे दक्षिण हस्त से उस दैवकृत छिद्र में सीधा वेधन करना चाहिये। यदि कर्ण पतला हो तो सूई से तथा मोटा हो तो आरा से वेधन करना चाहिये। बच्चे के प्रथम दक्षिण कर्ण में तथा बच्ची के प्रथम वामकर्ण में वेधन करें उसके अनन्तर कर्णछिद्र में रुई की बत्ती या डोरा लगा देना चाहिये ॥ ३ ॥

विमर्शः—कर्णव्यधप्रयोजनम्—कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते। भूष्यते तु मुख यस्मात्कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः ॥ यद्यपि कर्णव्यधेन व्रणिनि बाले रक्षोभय भवति तथापि तदल्पकाल प्रतिकर्त्तव्यञ्च, तेन चिरकालरक्षार्थं तदल्प व्यजत एव। चक्र०। कर्णव्यधकालः—इसमें अनेक मत हैं। १–षट्सप्ताष्टममासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि। (अ० सं०)। २–मासि षष्ठे सप्तमे वाऽप्यष्टमे मासि सत्वरे। कर्णवेध प्रशसन्ति पुष्टयायु श्रीविवृद्धये ॥ (धर्मशा०)। ३–नाय जन्मकालादूर्ध्व किन्तु सवत्सरादेर्भाद्रपदाद्य षष्ठो मासो माघ सप्तम फाल्गुनस्तयोर्मध्ये एकस्मिन्निति (डल्हणः)। ४–"कर्णौ हिमागमे विध्येत्" (वाग्भटः)। प्रायः शीतकाल में प्राणियों का बल उत्तम होता है तथा व्रण में पाक होने का भय भी बहुत कम रहता है तथा व्रणरोपण शीघ्र होता है। इसी दृष्टि से आयुर्वेद ने भी शिशिर या हिम का समय ही प्रशस्त माना है। कुमारधरलक्षणम्—अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः। कुमारधारः कर्णव्यस्तत्राद्यो बालचित्तवित् ॥ (अ० सं०)। कर्णवेधनस्थानम्—मध्यत कर्णपीठस्य किञ्चिद्गण्डाश्रयम्प्रति। जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्मयवभासिते ॥ विध्ये दैवकृते छिद्रे (अ० सं०)। कर्णपाली का मध्यभाग जो सूर्य की किरणों की तरफ करके देखने से अत्यन्त पतला और सिरादिवर्जित हो वह श्रेष्ठ है। पिचुवर्ति—आजकल सुवर्णकार से कर्णवेधन कराके बच्चों के कान में उसी वक्त वङ्गादिमिश्र धातु की कडी पहना दी जाती है तथा नारियल का तैल दिन में दो वार कर्णछिद्र स्थान पर लगाते हैं। 'ततो वर्तिं प्रवेश्य सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत्।'

शोणितबहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति जानीयात्। निरुपद्रवतया तद्देशविद्धमिति ॥ ४ ॥

यदि वेधन करने से रक्त का अधिक स्राव तथा पीड़ा हो तो अन्यदेशविद्ध समझना चाहिये और किसी तरह का उपद्रव न हो तो उस दैवकृतछिद्र में वेधन हुआ समझना चाहिये ॥ ४ ॥

विमर्श—सिरा और धमनी में वेधन से रक्तस्राव तथा वातसूत्र (Nerve) में वेधन होने से वेदना होती है अतः वेधन के समय उनका परिहार करें।

तत्राज्ञेन यदृच्छया विद्धासु सिरासु कालिकामर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति। तत्र, कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति। मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च। लोहितिकायां मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति। तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥

अज्ञ मनुष्य अपनी इच्छा से दैवकृत छिद्र का ध्यान न रखकर कालिका, मर्मरिका और लोहितिका सिराओं में जब वेधन करता है तब उपद्रव उत्पन्न होते हैं। कालिका में वेधन होने से ज्वर, दाह, शोथ और वेदना उत्पन्न होती है। मर्मरिका में वेधन होने से वेदना, ज्वर और ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं तथा लोहितिका में वेधन होने से मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह और कर्णशूल उत्पन्न होता है। इनमें यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्शः—शरीर के किसी भी विभाग या स्थान में धमनी (Artery), सिरा (Vein) और वातसूत्र (Nerve) निश्रित होते हैं। यहां पर यद्यपि तीनों को सिरा कहा है किन्तु अशुद्ध रक्तवाहक वाहिनी CO_2 गैस के कारण नील या कृष्ण वर्ण की होती है अतः कालिका से सिरा तथा ओक्सिजन के कारण लाल रक्त को वहन करनेवली धमनी होती है अतः लोहितिका से Artey और मर्मरिका से Nerve या वातसूत्र का ग्रहण करना चाहिये। सिरा, धमनी वेधन से रक्तस्राव तथा वातसूत्र में वेधन होने से वेदना होती है। ज्वर, शोथ आदि उपद्रव वेधनकृत व्रण में विकारी जीवाणुओं के प्रविष्ट होने से उत्पन्न होते हैं। यदि स्थान की पूरी सफाई तथा वेधन करने की सूचिका का पूर्ण विशोधन और सिरा, धमनी, वातसूत्रों का बचा कर वेधन किया जाय तो ज्वर, शोथ, वेदनादि कोई भी उपद्रव नहीं हो सकते हैं।

क्लिष्टजिह्माप्रशस्तसूचीव्यधाद्गाढतरवर्त्तित्वाद्दोषसमुदायादप्रशस्तव्यधाद् वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र वर्त्तिमुपहृत्याशु मधुकैरण्डमूलमञ्जिष्ठायवतिलकल्कैर्मधुघृतप्रगाढैरालेपयेत् तावद्यावत् सुरूढ इति। सुरूढं चैनं पुनर्विध्येत्। विधानन्तु पूर्वोक्तमेव ॥ ६ ॥

धाररहित या खुरदरी तथा टेढी और अप्रशस्त धातु की बनी हुई सूची के द्वारा वेधन करने से या अधिक मोटी बत्ती के कान में रखने से किंवा दोषों के प्रकोप से अथवा ठीक तरह से वेधन न होने से जहां पर संरम्भ (शोथ) या वेदना उत्पन्न हो तो कर्णदत्तवर्ति को हटा कर शीघ्र ही मुलेठी, एरण्ड की जड़, मजीठ, यव और तिल इनके कल्क में शहद और घृत अधिक मात्रा में मिला कर रोहण होने तक प्रतिदिन आलेप करना चाहिये। रोहित हुये कर्ण का पुनः योग्य स्थान पर वेधन करना चाहिये। वेधन करने की विधि पूर्ववत् ही है॥६॥

तत्र सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत् त्र्यहात्त्र्यहाच्च वर्तिं स्थूलतरां दद्यात् परिषेकं च तमेव ॥ ७ ॥

योग्य वेधन हो जाने पर तिल्ली के कच्चे तैल से व्रण का परिसेचन करना चाहिये तथा तीन २ दिन के अन्तर से रुई की वर्तिका उत्तरोत्तर मोटी प्रविष्ट कर आमतैल से सेचन करते रहना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ व्यपगतदोषोपद्रवे कर्णे वर्धनार्थं लघुवर्धनकं कुर्यात् ॥ ८ ॥

दोष और ज्वर-शोफादि उपद्रवों के शान्त होने पर कर्ण-

छिद्र को बडा करने के लिये छोटे छोटे वर्धनकों का उपयोग करना चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्श.—कान के छिद्रको धीरे धीरे बडा करने के लिये नीम की सींकें उत्तरोत्तर बढा कर कान में पहनाते हैं इसे वर्धनक कहा है। 'अपामार्गनिम्बकार्पासादीना काष्ठानामन्यतमस्य अथवा नीमकाष्ठिवटिना वर्त्तुलपुष्पाकृतिं कुर्यात्॥ (डल्हणः)

एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धानं तस्य मे शृणु ॥ ९ ॥

कभी २ इस प्रकार से विवर्धित कर्ण दोषों के प्रकोप से अथवा आघात (चोट) लगने से दो भागों में विभक्त होकर फट जाता है अतः उसके सन्धान करने की विधि का श्रवण करो ॥ ९ ॥

तत्र समासेन पञ्चदशकर्णबन्धनाकृतयः। तद्यथा—नेमिसन्धानक उत्पलभेद्यको वल्लूरक आसङ्गिमो गण्डकर्ण आहार्यो निर्वेधिमो व्यायोजिमः कपाटसन्धिकोऽर्द्धकपाटसन्धिकः सङ्क्षिप्तो हीनकर्णो वल्लीकर्णो यष्टिकर्णः काकौष्टक इति ॥ १० ॥

इस कार्य के लिये कर्णसन्धान करने की संक्षेप से पन्द्रह विधियां होती हैं जैसे—नेमिसन्धानक, उत्पलभेद्यक, वल्लूरक, आसङ्गिम, गण्डकर्ण, आहार्य, निर्वेधिम, व्यायोजिम, कपाटसन्धिक, अर्धकपाटसन्धिक, संक्षिप्त, हीनकर्ण, वल्लीकर्ण, यष्टिकर्ण और काकौष्टक ॥ १० ॥

तेषु, पृथुलायतसमोभयपालिर्नेमिसन्धानकः। वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलभेद्यकः। ह्रस्ववृत्तसमोभयपालिर्वल्लूरकः। अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरासङ्गिमः। बाह्यदीर्घैकपालिर्गण्डकर्णः। अपालिरुभयतोऽप्याहार्य्यः। पीठोपमपालिरुभयतः क्षीणपुत्रिकाश्रितो निर्वेधिमः। स्थूलाणुसमविषमपालिर्व्यायोजिमः। अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरितरल्पपालिः कपाटसन्धिकः। बाह्यदीर्घैकपालिरितरल्पपालिरर्धकपाटसन्धिकः। तत्र दशैते कर्णबन्धविकल्पाः साध्याः। तेषां स्वनामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ११ ॥

इनमें यदि कर्णपालि के दोनों भाग मोटे फैले हुये हों तथा समान हों तो नेमिसन्धानक बन्ध का उपयोग करना चाहिये। जिसकी दोनों कर्णपालियां गोल, दीर्घ तथा समान होंतो उत्पलभेद्यक बन्ध का उपयोग करें। छोटी, गोल और समान दोनोंकर्णपालियां होने पर वल्लूरकबन्ध बांधना चाहिये। जिसकी भीतरी एक कर्णपाली दीर्घ हो तो वहां आसङ्गिम बन्ध बांधे। यदि बाहर की कर्णपाली दीर्घ हो तो गण्डकर्ण बन्ध बांधे। जब दोनों ओर कर्णपालियां न हों तो आहार्य बन्धन काम में लाना चाहिये। यदि दोनों कर्णपालियां मूल से ही छिन्न हों तो पुत्रिका के शेष भाग का आश्रय करके निर्वेधिम बन्धन बांधना चाहिये। यदि पालि का एक भाग स्थूल हो तथा दूसरा अणु (सूक्ष्म) हो, एवं एक समान और दूसरा विषम हो तो वहां व्यायोजिम बन्धन बांधना चाहिये। जहां एक पाली भीतर से लम्बी हो तथा दूसरी पाली अल्प हो तो कपाटसन्धिक बन्धन उपयुक्त होता है। यदि कर्णपाली का बाहरी भाग दीर्घ और भीतर का अल्प हो तो अर्धकपाटसन्धिक बन्धन श्रेष्ठ है। इस तरह कर्णबन्धन के ये दस भेद साध्य होते हैं। इनकी प्रायः अपने नाम से ही आकृतियां व्याख्यात समझनी चाहियें ॥ ११ ॥

विमर्श—कर्णपाली के ऊपर तथा कर्णकुहर के दोनों तरफ जो कुछ २ उभार होते हैं उन्हें पुत्रिका, ट्रेगस तथा एण्टि ट्रेगस (Tragus and anti tragus) कहते हैं।

सङ्क्षिप्तादयः पञ्चासाध्याः। तत्र शुष्कशष्कुलिरुत्सन्नपालिरितरल्पपालिः सङ्क्षिप्तः। अनधिष्ठानपालिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः। तनुविषमाल्पपालिर्वल्लीकर्णः। ग्रथितमांसस्तब्धसिरासन्ततसूक्ष्मपालिर्यष्टिकर्णः। निर्मांससङ्क्षिप्ताग्राल्पशोणितपालिः काकौष्टक इति। बद्धेष्वपि तु शोफदाहरागपाकपिडकास्रावयुक्ता न सिद्धिमुपयान्ति ॥ १२ ॥

सङ्क्षिप्त, हीनकर्ण, वल्लीकर्ण आदि शेष पांच बन्धन असाध्य होते हैं। इनमें बाह्य पाली का शष्कुली भाग सूख गया हो तथा पाली का एक भाग नष्ट हो एवं दूसरा भाग भी अल्प हो गया हो तब सङ्क्षिप्त बन्ध का उपयोग करें। जहां पर पाली का अधिष्ठान ही न हो तथा गण्ड के दोनों तरफ बाह्यभाग में मांस क्षीण हो वहा हीनकर्ण बन्ध काम में लाना चाहिये। यदि पाली पतली, टेढी-मेढी और अल्प हो तब वल्लीकर्ण बन्धन बांधना चाहिये। जहां पाली के मांस में गांठें पड गई हों, सिराएं कुटिल या स्तब्ध हो गई हों और पाली छोटी हो वहा यष्टिकर्ण बन्धन कार्य में लाना चाहिये। यदि पाली मांसरहित, संक्षिप्त अग्रभाग वाली तथा अल्प रक्त युक्त हो तो काकौष्टक बन्धन प्रयुक्त करें। इस तरह इन बन्धनों के करने पर भी शोथ, दाह, लालिमा, पाक, पिडकाएं और पूयादि का स्राव होने लग जाय तो सन्धान में कार्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती है ॥ १२ ॥

विमर्श—कर्णशष्कुली बाह्यकर्ण का भाग है जिसमें स्त्रियां बालियां पहनती हैं। प्रायः इसी को लोग 'कान' कहते हैं। यह शुक्तिसदृश होता है इसे पिन्ना या औरीकुला (Pinna or Auricule) कहते हैं तथा यह तरुणास्थि (कार्टिलेज) का बना होने से कुछ कडा प्रतीत होता है। इसके नीचे का जो मुलायम लटकता हुआ भाग है जिसका वेधन कर बच्चों को सोने या चांदी की मोतीयुक्त या लालयुक्त कडियां पहनाते हैं और स्त्रियां टोटिया, कर्णफूल या लौंग पहनती हैं इसे कर्णपाली या लौर (Lobule of Ear) कहते हैं।

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह।
कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्ध्वा विवर्धयेत् ॥ १३ ॥

जिस मनुष्य के कान में दोनों पाली न हों उसके कर्णपीठ के मध्य के समान स्थान में वेधन करके वर्धन करना चाहिये ॥ १३ ॥

बाह्यायामिह दीर्घायां सन्धिराभ्यन्तरो भवेत् ।
आभ्यन्तरायां दीर्घायां बाह्यसन्धिरुदाहृतः ॥ १४ ॥

बाहर की कर्णपाली लम्बी हो तो भीतर की ओर सन्धान करना चाहिये एवं यदि भीतरी कर्णपाली लम्बी हो तो बाहर की ओर सन्धान करना चाहिये ॥ १४ ॥

एकैव तु भवेत् पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा च या ।
तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१५॥

यदि किसी मनुष्य की मोटी, चौड़ी और स्थिर एक ही पाली हो तो उसे बीच से चीरकर ऊपर की ओर जोड़ देना चाहिये ॥ १५ ॥

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता ।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्य शास्त्रवित् ॥ १६ ॥

यदि किसी मनुष्य के पाली न हो तो शास्त्रज्ञ वैद्य गण्ड-प्रदेश (कपोलस्थल) से जीवित तथा कुछ सम्बन्ध रखे हुये मांस को लेकर उसकी कर्णपाली बनावे ॥ १६ ॥

विमर्श—गण्डस्थान से मांस का कुछ सम्बन्ध रखने से उसका रक्तसञ्चार तथा स्पर्शादि अवस्था बनी रहेगी। यह आहार्य बन्ध का सन्धान है। इसे (Rexo plastic operation) कहते हैं।

अतोऽन्यतमं बन्धं चिकीर्षुरौपहरणीयोक्तोपसम्भृतसम्भारं विशेषतश्चौपहरेत्, सुरामण्डं क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णञ्चेति । ततोऽङ्गनां पुरुषं वा ग्रथितकेशान्तं लघु भुक्तवन्तमाप्तैः सुपरिगृहीतं च कृत्वा बन्धमुपधार्य्य छेद्यभेद्यलेख्यव्यधनैरुपपन्नैरुपपाद्य कर्णशोणितमवेक्ष्य दुष्टमदुष्टं वेति । तत्र वातदुष्टे वान्यान्लोष्णोदकाभ्यां, पित्तदुष्टे शीतोदकपयोभ्यां, श्लेष्मदुष्टे सुरामण्डोष्णोदकाभ्यां प्रक्षाल्य कर्णौ, पुनरवलिख्यानुन्नतमहीनमविषमञ्च कर्णसन्धिं सन्निवेश्य, स्थितरक्तं सन्दध्यात् । ततो मधुघृतेनाभ्यज्य पिचुप्लोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य सूत्रेणानवगाढमनतिशिथिलञ्च बद्ध्वा कपालचूर्णेनावकीर्य्याचारिकमुपदिशेद् द्विव्रणीयोक्तेन च विधानेनोपचरेत् ॥ १७ ॥

उपर्युक्त बन्धनों में से किसी एक बन्धन को करने की इच्छा वाला वैद्यसर्जन प्रथम 'औपहरणीय' अध्याय में वर्णित आवश्यक सामग्री का सञ्चय करे। विशेषतया सुरामण्ड, दुग्ध, जल, काञ्जी और टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तन का महीन चूर्ण पास में रखे फिर स्त्री या पुरुष जो हो उसके सिर के बालों को ठीक तरह से पीछे की ओर बांध कर हल्का भोजन करा के हितैषी उपचारकों या उसके बन्धुओं द्वारा पकड़वा कर जो बन्धन लगाना हो उसका निश्चय करके छेदन, भेदन, लेखन और वेधन इनमें से जो उचित क्रिया हो उसे करके कान के रक्त को देखकर निर्णय करे कि यह रक्त दूषित है या अदूषित । यदि वायु से दूषितरक्त हो तो काञ्जी और गरम जल से, पित्त से दूषित रक्त हो तो ठण्डे पानी तथा दुग्ध से तथा कफ से दूषित हो तो सुरामण्ड और गरम जल से कानों को प्रक्षालित कर पश्चात् उस स्थान का लेखन कर्म करके कर्णसन्धि को न ऊँचे, न नीचे और न विषम रखकर रक्तस्रुति के बन्द होने पर सन्धान कर देना चाहिये। फिर शहद और घृत लगाकर पिचु (रुई) या प्रोत (कपड़े) से ढककर डोरे से न अधिक गाढा तथा न अधिक शिथिल बांधकर कपाल का चूर्ण छिड़क कर आहार-विहार का उपदेश करना चाहिये तथा 'द्विव्रणीय अध्याय' में कहे हुये विधान के अनुसार उपचार करना चाहिये ॥ १७ ॥

भवति चात्र—

विघट्टनं दिवास्वप्नं व्यायाममतिभोजनम् ।
व्यवायमग्निसन्तापं वाक्श्रमञ्च विवर्जयेत् ॥ १८ ॥

कर्ण का किसी के साथ विघट्टन, दिन में शयन, व्यायाम, अतिभोजन, स्त्रीसम्भोग, अग्नि या सूर्य का ताप तथा अधिक भाषण एवं अन्य प्रकार का परिश्रम ये सब वर्जित करना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्श—किसी किसी पुस्तक में इस श्लोक के पश्चात् 'आमतैलपरीषेकं त्रिरात्रमवचारयेत्। ततस्तैलेन सञ्जष्टं व्यहादुपनयेत् पिचुम्' ॥ यह पाठाधिक्य है।

न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा सन्दध्यात् । स हि वातदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपुटनवान् । पित्तदुष्टे दाहपाकरागवेदनावान् । श्लेष्मदुष्टे स्तब्धः कण्डूमान् । अतिप्रवृत्तरक्ते श्यावशोफवान् । क्षीणोऽल्पमांसो न वृद्धिमुपैति ॥ १९ ॥

बन्धन के समय यदि कर्णपाली से अशुद्ध रक्त निकलता हो, या अधिक मात्रा में रक्त निकलता हो अथवा रक्त बहुत कम निकलता हो तो सन्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि वातदुष्ट रक्त में सन्धान करने से रोपित होने पर भी 'परिपोट' रोग हो जाता है, पित्तदुष्ट रक्त में रूढ होने पर दाह, पाक, राग और वेदना ये उपद्रव होते हैं तथा कफ से दूषित रक्त में सन्धान करने से स्तब्धता तथा खुजली होती है। अधिक रक्त की प्रवृत्ति की अवस्था में सन्धान करने से वह स्थान काला या नीला तथा शोथयुक्त हो जाता है। रक्त की क्षीणावस्था में सन्धान करने से मांस कम रहने के कारण सन्धान करने पर भी उसकी वृद्धि नहीं होती है ॥ १९ ॥

विमर्श—परिपोटरोगलक्षणम्—सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्त्तते । कर्णशोफो भवेत् पाल्या सरुजः परिपोटवान् ॥

आमतैलेन त्रिरात्रं परिषेचयेत् । त्रिरात्राच्च पिचुं परिवर्तयेत् । स यदा सुरूढो निरुपद्रवः सवर्णो भवति तदैनं शनैश्शनैरभिवर्द्धयेत् । अतोऽन्यथा संरम्भदाहपाकरागवेदनावान्, पुनश्छिद्यते वा ॥ २० ॥

तिल्ली के कच्चे तैल द्वारा तीन दिन तक परिषेक करना चाहिये। प्रत्येक तीसरे दिन पिचु का परिवर्तन करना चाहिये। इस तरह से जब वह ठीक तरह से रोपित हो जाय तथा कोई उपद्रव भी पैदा न हो एवं उस स्थान की त्वचा का रङ्ग अन्य त्वचा सदृश हो जाय तब उसके छिद्र को वर्धनकों द्वारा धीरे २ बढ़ाना चाहिये। इसके विपरीत करने से

संरम्भ (शोथ), दाह, पाक, राग और वेदना होती है अथवा फिर फट जाता है ॥ २० ॥

अथास्याप्रदुष्टस्याभिवर्धनार्थमभ्यङ्गः। तद्यथा—गोधाप्रतुदविष्किरानूपौदकवसामज्जानौ पयः सर्पिस्तैलं गौरसर्षपजं च यथालाभं सम्भृत्यार्कालर्कबलाऽतिबलाऽनन्ताऽपामार्गाश्वगन्धाविदारिगन्धाक्षीरशुक्लाजलशूकमधुरवर्गपयस्याप्रतिवापं तैलं वा पाचयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात् ॥ २१ ॥

अब शुद्ध कर्णपाली की वृद्धि के लिये अभ्यङ्ग का प्रयोग लिखते हैं—जैसे गोधा, प्रतुद, विष्किर, आनूप तथा जलीय प्राणियों की वसा और मज्जा, दुग्ध, घृत, श्वेत सरसों का तैल यथालाभ ग्रहण कर आकडा, मदार, वला, अतिवला, सारिवा, अपामार्ग, असगन्ध, विदारीगन्ध (शालपर्णी), क्षीरविदारी, जलशूक-शैवाल, क्षीरकाकोली और मधुरादिगण की ओषधियों के कल्क के साथ पाक करना चाहिये। अथवा अर्कादि ओषधियों के कल्क को तिल-तैल के साथ पाककर सुरक्षित रख देना चाहिये ॥ २१ ॥

स्वेदितोन्मर्दितं कर्णं स्नेहेनैतेन योजयेत्।
अथानुपद्रवः सम्यग् बलवांश्च विवर्द्धते ॥ २२ ॥

प्रथम स्वेदन कर्म करके पश्चात् इस तैल को कान पर लगाकर मर्दन करें। इस तरह इस तैल के प्रयोग से विना उपद्रव हुये ठीक तरह से कर्ण बलवान् होकर बढ़ता है ॥२२॥

यवाश्वगन्धायष्ट्याह्वैस्तिलैश्चोद्वर्त्तनं हितम् ॥ २३ ॥

जौ, असगन्ध, मुलेठी और तिल इन्हें पानी के साथ पत्थर पर महीन पीस कर कान पर उबटन करना हितकारी होता है ॥ २३ ॥

शतावर्यश्वगन्धाभ्यां पयस्यैरण्डजीवनैः।
तैलं विपक्वं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्द्धनम् ॥ २४ ॥

शतावर, असगन्ध, क्षीरकाकोली, एरण्ड के बीज (छिलके रहित) तथा जीवनीय गण की ओषधियां इनके कल्क तथा दुग्ध के साथ यथाविधि तिल-तैल का पाक कर उसका अभ्यङ्ग करने से पाली की वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

ये तु कर्णा न वर्द्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः।
तेषामपाङ्गदेशे तु कुर्य्यात् प्रच्छानमेव तु।
बाह्यच्छेदं न कुर्वीत व्यापदः स्युस्ततो ध्रुवाः ॥ २५ ॥

जो कान उक्त प्रकार से स्वेदन, स्नेहन और उद्वर्तन तथा अभ्यङ्ग करने से भी नहीं बढ़ते हों उनके लिये अपाङ्ग प्रदेश में प्रच्छान करना चाहिये। कर्ण के बाह्यप्रदेश में प्रच्छान नहीं करना चाहिये क्योंकि वहां सिरादि मर्म होने से निश्चित ही अनेक व्यापदें (आन्ध्य, दृष्टिनाश आदि) उत्पन्न होती हैं २५

वर्द्धमात्रं तु यः कर्णं सहसैवाभिवर्द्धयेत्।
आमकोशी समाध्मातः क्षिप्रमेव विमुच्यते ॥ २६ ॥

यदि कर्णपाली का सन्धान करने के बाद ही उसे सहसा बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय तो पाली आम होने से शीघ्र ही शोथयुक्त होकर वहां से गिर जाती है ॥ २६ ॥

जातरोमा सुवर्त्मा च श्लिष्टसन्धिः समः स्थिरः।
सुरूढोऽवेदनो यश्च तं कर्णं वर्धयेच्छनैः ॥ २७ ॥

जब कर्ण पर बाल उत्पन्न हो जाय तथा छिद्र अच्छा हो और सन्धि जुड़ गई हो एवं कर्णपाली समान तथा स्थिर हो गई हो तथा वहां के व्रण का भली भांति रोहण हो गया हो तथा पीड़ा भी नहीं होती हो ऐसी अवस्था में धीरे धीरे उस कान का योग्य उपायों द्वारा वर्धन करना चाहिये ॥ २७ ॥

अमिताः कर्णबन्धास्तु विज्ञेयाः कुशलैरिह।
यो यथा सुविशिष्टः स्यात्त तथा विनियोजयेत् ॥२८॥

कर्णपाली का सन्धान करने के लिये शास्त्र में अनेक बन्ध होते हैं अत एव जहां पर जो बन्ध ठीक तरह से प्रतीत हो वहां उस का प्रयोग करना चाहिये ॥ २८ ॥

कर्णपाल्यामयान्नॄणां पुनर्वक्ष्यामि सुश्रुत!।
कर्णपाल्यां प्रकुपिता वातपित्तकफास्त्रयः ॥ २९ ॥
द्विधा वाऽप्यथ संसृष्टाः कुर्वन्ति विविधा रुजः।
विस्फोटः स्तब्धता शोफः पाल्यां दोषे तु वातिके ३०
दाहविस्फोटजननं शोफः पाकश्च पैत्तिके।
कण्डूः सश्वयथुः स्तम्भो गुरुत्वञ्च कफात्मके ॥ ३१ ॥

हे सुश्रुत! अब मैं मनुष्यों के कर्णपाली में होने वाले रोगों को कहता हूं। मिथ्या आहार-विहार से वात, पित्त और कफ ये कुपित हो कर पृथक् पृथक्, दो दो मिलकर या तीनों मिल कर कर्णपाली में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं जैसे कर्णपाली में वायु के कुपित होने पर विस्फोट, स्पर्शज्ञानाभाव और शोथ उत्पन्न होता है। पाली में पित्त कुपित होने पर दाह, विस्फोट का प्रादुर्भाव, शोथ और पाक उत्पन्न होता है। पाली में कफ के कुपित होने पर कण्डू, शोथ, कान की जकड़ाहट तथा भारीपन ये रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २९-३१ ॥

यथादोषं च संशोध्य कुर्य्यात्तेषां चिकित्सितम्।
स्वेदाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रलेपास्रविमोक्षणैः ॥ ३२ ॥
मृद्वीं क्रियां बृंहणीयैर्यथास्वं भोजनैस्तथा।
य एवं वेत्ति दोषाणां चिकित्सां कर्त्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

उक्त प्रकार के रोगों में दोषों के अनुसार प्रथम शोधन करके पश्चात् स्वेदन, अभ्यङ्ग, परीषेक, प्रलेप और रक्तमोक्षण से चिकित्सा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य मृदु क्रियाएं तथा यथायोग्य बृहणीय भोजन का प्रयोग करें। इस प्रकार जो जानता है वही दोषों की चिकित्सा कर सकता है ॥३२-३३॥

अत ऊर्ध्वं नामलिङ्गैर्वक्ष्ये पाल्यामुपद्रवान्।
उत्पाटकश्चोत्पुटकः श्यावः कण्डूयुतो भृशम् ॥ ३४ ॥
अवमन्थः सकण्डूको ग्रन्थिको जम्बुलस्तथा।
स्रावी च दाहवांश्चैव शृण्वेषां क्रमशः क्रियाम् ॥३५॥

अब इसके अनन्तर कर्णपाली में उपद्रवरूप में होने वाले रोगों के नाम तथा उनके लक्षण कहते हैं। उत्पाटक, उत्पुटक और श्याव ये अत्यन्त कण्डुयुत होते हैं। अवमन्थ, सकण्डूक, ग्रन्थिक, जम्बुल, स्रावी तथा दाहवान् ये १० पाली के उपद्रव है। इनकी यथाक्रम से चिकित्सा कहता हूं उसे सुनो ॥३४-३५॥

अपामार्गः सर्जरसः पाटलालकुचत्वचौ।
उत्पाटके प्रलेपः स्यात्तैलमेभिश्च पाचयेत्॥ ३६॥

उत्पाटक रोग में आंधी झाडा, राल, पाटला, बड़हल की त्वचा इन्हें सम प्रमाण में जल के साथ पीस कर प्रलेप करना चाहिये अथवा इन्हीं द्रव्यों के कल्क से तैल पका कर लगाना चाहिये॥ ३६॥

शम्पाकशिग्रुपूतीकान् गोधामेदोऽथ तद्वसाम्।
वाराहं गव्यमैणेयं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत्।
लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम्॥ ३७॥

उत्पुटक रोग में अमलतास, सहजन, करञ्ज, गोह की चरबी और वसा तथा सूकर, गाय और हरिण इनका पित्त तथा घृत उचित प्रमाण में लेकर सबको महीन पीस कर लेप करना चाहिये। अथवा इन्हीं से यथाविधि बनाया हुआ तैल लगाना चाहिये॥ ३७॥

गौरीं सुगन्धां सश्यामामनन्तां तण्डुलीयकम्।
श्यावे प्रलेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम्॥ ३८॥

श्याव नामक रोग में हरिद्रा, सुगन्धवाला, अनन्तमूल और चौलाई की जड़ इन्हें पीस कर प्रलेप करें अथवा इनसे सिद्ध किया हुआ तैल लगावें॥ ३८॥

पाठां रसाञ्जनं क्षौद्रं तथा स्यादुष्णकाञ्जिकम्।
दद्याल्लेपं सकण्डूके तैलमेभिश्च साधितम्॥ ३९॥

सकण्डूक रोग में पाठा, रसौंत, शहद, उष्ण कांजी इनका लेप करना चाहिये एव इन्हीं से सिद्ध किया हुआ तैल लगाना चाहिये॥ ३९॥

व्रणीभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं विजानता॥ ४०॥
मधुकक्षीरकाकोलीजीवकाद्यैर्विपाचितम्।
गोधावराहसर्पाणां वसाः स्युः कृतबृंहणे॥ ४१॥

इस उपद्रव के साथ व्रण उत्पन्न हो जाय तो वक्ष्यमाण तैल का प्रयोग करना चाहिये। मुलेठी, क्षीरकाकोली और जीवनीय गण की ओषधियों से पकाया हुआ तैल लगाना चाहिये और जहां पाली शुष्क हो रही हो तो गोधा, सूकर तथा सर्प की वसा के द्वारा उसका बृंहण करना चाहिये॥४०-४१॥

प्रलेपनमिदं दद्यादवसिच्यावमन्थके।
प्रपौण्डरीकं मधुकं समङ्गां धवमेव च॥ ४२॥

अवमन्थक उपद्रव में प्रथम अवसेचन (प्रक्षालन) करके कमल, मुलेठी, मजीठ या लज्जालु और धव इनका लेप अथवा इन्हीं से पकाया हुआ तैल लगाना चाहिये॥ ४२॥

तैलमेभिश्च सम्पक्वं शृणु कण्डूमतः क्रियाम्।
सहदेवा विश्वदेवा अजाक्षीरं ससैन्धवम्॥ ४३॥
एतैरालेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम्॥ ४४॥

अब यहां से कण्डू की शान्ति के लिये चिकित्सा का वर्णन करते हैं, उसे हे सुश्रुत! तुम सुनो। सहदेवी, विश्वदेवा (नागबला), बकरी दुग्ध और सैन्धव लवण इन्हें पत्थर पर पीसकर लेप लगाना चाहिये, अथवा इन्हीं से सिद्ध किया हुआ तैल लगाना चाहिये॥ ४३-४४॥

ग्रन्थिके गुटिकां पूर्वं स्रावयेदवपाट्य तु।
ततः सैन्धवचूर्णन्तु घृष्ट्वा लेपं प्रदापयेत्॥ ४५॥

ग्रन्थिक उपद्रव में प्रथम शस्त्र से ग्रन्थि को चीर कर उसमें से रक्तादि को स्रवित कर देना चाहिये उसके अनन्तर सैन्धव लवण द्वारा घर्षण करके उसी का जलपिष्ट लेप लगा देना चाहिये॥ ४५॥

लिखित्वा तत् स्रुतं घृष्ट्वा चूर्णैर्लोध्रस्य जम्बुले।
क्षीरेण प्रतिसार्येण शुद्धं सरोपयेत्ततः॥ ४६॥

जम्बुल उपद्रव में प्रथम लेखन कर्म से रक्तादि का स्रावण करके लोध के चूर्ण द्वारा घर्षण कर दुग्ध से प्रक्षालित करके यथाविधि शुद्ध होने पर रोपण क्रिया करनी चाहिये॥ ४६॥

मधुपर्णी मधूकञ्च मधुकं मधुना सह।
लेपः स्राविणि दातव्यस्तैलमेभिश्च साधितम्॥ ४७॥

स्रावी उपद्रव में गिलोय, महुआ के फूल या छाल और मुलेठी इनको शहद के साथ पीस कर लेप लगाना चाहिये। अथवा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ तैल लगाना चाहिये४७

पञ्चवल्कैः समधुकैः पिष्टैस्तैश्च घृतान्वितैः।
जीवकाद्यैः ससर्पिष्कैर्दह्यमान प्रलेपयेत्॥ ४८॥

पञ्चवल्कलों को मधु और घृत के साथ पीस कर अथवा जीवनीय गण की ओषधियों को घृत के साथ पीसकर दाहयुक्त प्रदेश पर लेप करने से वह शान्त हो जाता है॥ ४८॥

विश्लेपितायास्त्वथ नासिकाया-
वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां
पत्रं गृहीत्वा त्वबलम्बितस्य॥ ४९॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वा-
दुत्कृत्य बद्ध्वा त्वथ नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रतिसन्दधीत
तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः॥ ५०॥
सुसंहितं सम्यगतो यथाव-
न्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा।
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु
पतङ्गयष्टीमधुकाञ्जनैश्च॥ ५१॥
सञ्छाद्य सम्यक् पिचुना सितेन
तैलेन सिञ्चेदसकृत्तिलानाम्।
घृतञ्च पाय्यः स नरः सुजीर्णे
स्निग्धो विरेच्यः स यथोपदेशम्॥ ५२॥
रूढञ्च सन्धानमुपागतं स्यात्
तदर्द्धशेषन्तु पुनर्निकृन्तेत्।
हीनां पुनर्वर्द्धयितुं यतेत
समाञ्च कुर्यादतिवृद्धमांसाम्॥ ५३॥

रोग के द्वारा या किसी शत्रु के द्वारा नासिका कट जाने पर उसको जोडने की विधि का यथावत् वर्णन करता हूं। छिन्न नासिका के बराबर किसी वृक्ष का पत्ता ले कर उसके बराबर ही कपोल से कुछ सम्बन्ध रखते हुये चर्मयुक्त मांस काट कर कटे नाक के अग्रभाग का विलेखन करके उस स्थान पर वह मांस लगा कर सूई से सीवन कर्म करके बन्धन लगा कर सावधानीपूर्वक शीघ्रता से जोड देवे। उसके पश्चात् नासा के रन्ध्रों में दो एरण्डनाल प्रवेश कर नासा को कुछ ऊंची उठा कर दोनों का जोड ठीक तथा स्वाभाविक नासिका की तरह देख कर बन्धन लगा देना चाहिये। पश्चात् उस पर लाल चन्दन, मुलेठी और रसौत का महीन चूर्ण छिडकना चाहिये। फिर श्वेत पिचु (रुई या वस्त्र) से ढक कर तिलों के तैल से बार बार सेचन करते रहना चाहिये। पूर्व भोजन के ठीक जीर्ण होने के बाद घृतपान कराना चाहिये। स्निग्ध होने पर युक्तिपूर्वक विरेचन कर्म कराना चाहिये। जब ठीक तरह से सन्धित नासा का रोहण हो जाय उस दशा में उसके कपोल सम्बन्धित हिस्से को काट देना चाहिये। यदि नासिका छोटी रह गई हो तो उसे पुनः बढाने का प्रयत्न करना चाहिये और यदि मांस अधिक बट जाय तो उसे काट कर समान कर देना चाहिये॥ ४९-५३॥

विमर्श—वाग्भटे नासासन्धानवर्णनम्—अथ कुर्याद्यथास्थस्य छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम्। छिन्नान्नासासमं पत्रं तत्तुल्यञ्च कपोलतः॥ त्वङ्मांसं नासिकासन्धेरक्षतस्तत्तनुना नयेत्। सीव्येद् गण्डं तनं सूच्या सेवित्वा पिचुयुक्तया॥ नासाच्छेदे च लिखिते परिवर्त्योपरि त्वचम्॥ कपोलबन्धं मध्यात् सीव्येन्नासाञ्च बन्धनम्॥ नाडीभ्यामुत्क्षिपेदन्तर्मुखोच्छ्वासप्रवृत्तये॥ यदि नासा सद्यश्छिन्न हुई हो तो उस कटी नासा को ही ठीक तरह से उस स्थान पर रख कर सीवन कर देना चाहिये। निर्वर्तिते यथान्यास सद्यश्छिन्नेऽप्यथ विधिं।

(अ० सं०)

नाडीयोगं विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिम्।
य एवमेव जानीयात् स राज्ञः कर्तुमर्हति॥ ५४॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कर्णव्यधबन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

कटे हुये ओष्ठ या जन्मजात विकृत ओष्ठ (Hairlip) का सन्धान भी नासासन्धान के अनुसार करना चाहिये। भेद केवल इतना ही है कि इसमें एरण्डनाल का उपयोग नहीं होता है। इस प्रकार जो वैद्य नासा तथा ओष्ठ के सन्धान को भली भांति जानता हो वह राजाओं की चिकित्सा करने में योग्य हो सकता है॥ ५४॥

विमर्श—इस अध्याय में कर्णपाली, नासा तथा ओष्ठ के सन्धानों का वर्णन किया है। इसी के आधार से पाश्चात्य देशों में सन्धान कर्म (Plastic surgery) में प्रगति हुई है। The plastic surgery of the 19th Century was stimulated by the example of Indian methods Dr Neubergers History of Medicine. भारतीयवैद्य अपनी निद्रा, दुराग्रह और अकर्मण्यता तथा आलस्य को छोड कर शारीर शल्य, शालाक्य और प्रसूति तन्त्र आदि प्रमुख विषयों का प्राच्य और नवीन दोनों ढङ्ग से गम्भीर अध्ययन कर शस्त्रकर्म करने में तत्परता दिखाते हुये अपने मस्तिष्क को गवेषणा (Research) की ओर लगावें, जिसमें उनके संमान का रक्षण हो सकेगा। पाश्चात्य विज्ञान नित्य प्रति नई नई शोधें कर रहा है किन्तु प्राचीन वैद्य अपने उसी दायरे में घूम रहा है। अष्टाङ्ग आयुर्वेद की प्रत्येक शाखा की समुन्नति में लग जाना चाहिये।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां कर्णव्यधबन्ध-विधिर्नाम षोडशोऽध्यायः॥

सप्तदशोऽध्यायः।

अथात आमपक्वैषणीयमध्याय व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब यहां से 'आमपक्वैषणीय' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

विमर्श—आम शब्द से आम और पच्यमान दोनों का ग्रहण होता है क्योंकि आगे चलकर आम विपच्यमानञ्च सम्यक् पक्वञ्च यो भिषक्। ऐसा वर्णन किया है। आमश्च पच्यमानश्च पक्वश्च तेषामेषण विज्ञान विद्यते यस्मिन् स आमपक्वैषणीयस्तम्।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसङ्घातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते॥ ३॥

ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी प्रभृति अनेक स्वरूप की व्याधियां प्राय शोथयुक्त हुआ करती हैं किन्तु उनसे विलक्षण, फैला हुआ, गांठदार, सम या विषम, त्वचा और मांसादि धातु में होनेवाला वातादि दोषों का समूह जो शरीर के किसी एक देश में उत्पन्न होता है उसे शोफ कहते हैं॥ ३॥

विमर्श—यहां जो शोफ वर्णित है वह हृदय, वृक्क और यकृत् के रोगों में उपद्रव रूप से उत्पन्न सर्वाङ्गशोफ तथा अर्धाङ्गशोफ से भिन्न शोफ है। इस शोफ में केवल स्थानिक लक्षण जैसे सूजन, लालिमा, ताप और वेदना होती है किन्तु उन दो शोफों में इन्द्रिय विकृति लक्षण भी होते हैं। यह एकदेशोत्थित स्थानिक शोफ है इसे इन्फ्लेमेटरी आइडिमा (Inflammatory oedema या Inflamation) कहते हैं। चरक में शोफ के तीन भेद होते हैं। आगन्तुहेतुस्त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात्।

स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तु-निमित्तः। तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः॥ ४॥

वात, पित्त, कफ, रक्त तथा इनके सन्निपात और आगन्तुक इन छः कारणों से उत्पन्न होने की दृष्टि से वह (शोफ) ६ प्रकार का माना गया है। उस षड्विध शोफ के दोष और रूप को दर्शानेवाले लक्षणों को कहते हैं॥ ४॥

विमर्श—यहां शोफ के ६ कारण बताये हैं। डाक्टरी में

व्रणशोफ के ये कारण हैं—विकारी जीवाणु, दबाव, आघात, मरोड़, मोच, अग्नि या तप्तपदार्थों से जल जाना, रासायनिक पदार्थ तीव्र या शुद्ध अम्ल (Acids), क्षार (Alkali), वानस्पतिक तथा प्राणिज विष और विद्युत्प्रवाह। चरक में आगन्तुशोथ के कहे कारणों में इनका समावेश हो सकता है। 'मुष्टिनि खड्गाग्नेः नखदशनपतनाभिघाताभिषङ्गाभिघातवधबन्धपीडनरज्जुदहनशस्त्राग्निभूतोपसर्गादीनि'।

तत्र, वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। श्लेष्मशोफः पाण्डुः शुक्लो वा कठिनः शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्डूदयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। सन्निपातजः सर्ववर्णवेदनः सन्निपातजः। पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च। पित्तरक्तलक्षण आगन्तुर्लोहितावभासश्च ॥ ५ ॥

इनमें से वातजन्यशोफ कुछ लाल, काला, खुरदरा और मृदु होता है तथा उसमें सूई चुभोने की सी वेदना होती है जो कभी बढ़ती है तथा कभी घटती है। पित्तजन्यशोफ पीले रक्त का, मुलायम, रक्तयुक्त तथा शीघ्र बढ़ने वाला होता है। इसमें औषादिक (ओष, चोष, दाह) की सी वेदना होती है। कफजन्यशोफ पाण्डु वर्ण का या श्वेत, कठिन, शीत, स्निग्ध, धीरे धीरे बढ़ने वाला तथा कण्डू-गुरुत्व-सुप्ति ऐसी वेदनाविशेषताओं वाला होता है। सन्निपातजन्य शोफ में सर्व (तीनों) दोषों के कहे हुये वर्ण और वेदनाएं होती हैं। शोणितजन्य शोफ में पित्तजशोफ के समान लक्षण होते हैं किन्तु वह काला अधिक होता है। आगन्तुक शोफ में पित्त और रक्त जन्य शोफ के लक्षण होते हैं तथा लोहितवर्ण का अवभास लिये होता है ॥ ५ ॥

विमर्श:—डाक्टरी मत से शोथ के निम्न लक्षण होते हैं। नं० १ शोथ आघात लगने से रक्ताधिक्य होकर रक्त में से रक्तरस निकल कर वहां की धातुओं में जमा हो जाना है जिससे स्थान शोथयुक्त हो जाता है। नं० २ लालिमा (Redness) का भी मुख्य कारण प्रागवायु युक्त रक्तप्रवाह की अधिकता है। नं० ३ उष्णता (Heat)। यह भी रक्ताधिक्य के कारण ही होती है जिससे शोथयुक्त स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक उष्ण प्रतीत होता है। नं० ४ वेदना (Pain)। शोथ के स्थान में घमनीगत रक्तभार बढ़ जाने से तथा लसीका का सञ्चय अधिक होने से वानसूत्रों (Nerves) के अग्रभागों पर दबाव पड़कर शोथ होने से वेदना प्रतीत होती है। नं० ५ स्पर्शासहता (Tenderness)। उस स्थान पर दबाव पड़ने से रोगी की वेदना या बेचैनी बढ़ जाती है। नं० ६ स्वकर्मगुणहानि (Loss of function) वेदना वृद्धि तथा स्थानिक सेलों में बाधा होने से वह स्थान स्वकर्मशून्य हो जाता है।

स यदा बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न सम्भावितः प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययाद् बहुत्वाद्वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति। तस्यामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥ ६ ॥

जब वह शोफ विपरीत क्रियाओं से या दोषों की शक्ति अधिक होने से बाह्य (आलेप, परिषेक, सेक, अभ्यङ्ग, उपनाह) और आभ्यन्तर (रक्तशोधनादि तथा शोथहर क्वाथ, रस, भस्मादि) क्रियाविशेषताओं के करने से भी शान्त नहीं होता हो तब पकने लगता है। उसकी आम, पच्यमान और पक्व अवस्थाओं के लक्षण कहता हूं उन्हें धारण करो ॥ ६ ॥

विमर्श.—शोफ अधिकतर शरीर में विकारी जीवाणुओं के प्रवेश से उत्पन्न होता है। ये जीवाणु प्रवेश-स्थान की सेलों को मार कर अपना खाद्य लेकर अपनी वृद्धि करते हैं तथा साथ में विषैले पदार्थ भी उत्पन्न करते हैं जो स्थानिक सेलों का नाश तथा रक्त के साथ मिलकर सर्वदेह में भ्रमण कर विषमता के लक्षण प्रगट करते हैं। शरीर के सेल भी अन्य शरीररक्षक सेलों की सहायता से इनके साथ मुकाबला करते हैं। यदि विकारी जीवाणु निर्बल होते हैं तो वे हार जाते हैं तथा शोफ नष्ट हो जाते हैं और यदि शरीररक्षक सेल निर्बल होते हैं तो जीवाणु क्रियाप्रबल होकर रोग वृद्धि होती है। इसी को शोथ कहते हैं। शोथ की प्रारम्भिकावस्था आमावस्था है। इसमें शरीर का बल और औषधबल हो तो रोग शान्त हो सकता है किन्तु जीवाणु या दोष प्रबल हों तथा योग्य चिकित्सा का भी अभाव हो तब स्थानिक धातु नष्टहोकर पूय बनती है तथा वह प्रसारित होती है इसे पच्यमानावस्था कहते हैं। किन्तु पूयोत्पत्ति बन्द होकर शरीरधातु-नाश भी बन्द होकर तथा पूय के चारों ओर रोहण धातु (Granulation tissue) की दीवाल बनकर पूयप्रसार रुक कर वह एक स्थान में कैदी की भांति एकत्रित हो जाता है उसे पक्वावस्था या विद्रधि (Abscess) कहते हैं।

तत्र, मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ॥ ७ ॥

इनमें से शोथ का स्थान कुछ गरम होना, उस स्थान की त्वचा की अन्य त्वचा से समानवर्णता, शोफ का शीतस्पर्श, स्थिरता (कठापन), अल्प पीड़ा और अल्पशोफता ये आमशोफ के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

सूचिभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यत इव छिद्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निचाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति। वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति। आध्मातवस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गम् ॥ ८ ॥

सूइयों के चुभोने की सी पीड़ा होना, चींटियों से काटा जाना हो, तथा चींटियां शरीर में चलती हुई सी प्रतीत होती हों, शस्त्र से काटा जाता हो, 'शक्ति शस्त्र' से भेदन करने के समान, दण्डे या लकड़ी से पीटे जाने के समान, हाथ से दबाये जाने के समान, अङ्गुलियों द्वारा मले जाने के समान,

अग्नि से जलाये जाने और क्षार से पकाये जाने के समान जहां प्रतीत होता हो एवं ओष (एक भाग में दाह), चोष (पास में रखी अग्नि के समान दाह) तथा परिदाह (चारों ओर) जलन प्रतीत होती हो तथा विच्छूं के काटे हुए के समान खड़े रहने, बैठने और सोने से भी शान्ति न मिलती हो, फूली हुई मसक की तरह तना हुआ शोथ हो, त्वचा में वर्णभिन्नता, शोफ में वृद्धि, ज्वर, दाह, प्यास लगना और भोजन में अरुचि ये सब पच्यमान शोफ के लक्षण होते हैं ॥८॥

विमर्श—पच्यमानावस्था में पूय बढ़ता है और उसका दबाव वातसूत्रों पर पड़ने से उपर्युक्त विविध प्रकार की पीडाएं होती हैं। पाकस्थान से विष रक्त द्वारा मस्तिष्क में पहुंचकर उष्णताजनक केन्द्रों (Thermogenic Canters) को उत्तेजित कर ज्वर पैदा करता है।

वेदनोपशान्तिः पाण्डुनाऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमन, वस्ताविवोदकसञ्चरण पूयस्य, प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा पक्वलिङ्गम् ॥ ९ ॥

वेदना की शान्ति, देह में पाण्डुता, शोफ का कम होना, त्वचा पर झुर्रियां पड़ना और उभार होना, अङ्गुलि से दबाने पर त्वचा मांस में गढा पड़ना तथा अङ्गुलि के हटाने पर पुनः गढ़े का भर जाना, अङ्गुलि से एक तरफ के भाग को दबानेपर मसक में भरे हुये पानी की तरह पूय के सञ्चरण की दूसरे कोने पर प्रतीति होना, बार-बार सूई चुभोने की सी पीडा होना, कण्डू, शोफ के उत्सेध (उभार) का कम होना, उपद्रवों की शान्ति तथा भोजन करने की इच्छा ये पक्वशोफ के लक्षण हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—दबाने से उस स्थान का पूय इधर उधर हट जाने से गढा तथा दबाव हटते ही वापस आजाने से पुनरुन्नतता प्रतीत होती है इसे पिटिङ्ग ऑन प्रेशर (Pitting on pressure) कहते हैं। यह द्रव्यमशोफ का प्रधान लक्षण होता है जो घन शोथ (Solid oedema) या मेदसोर्दीमा या श्लीपद में कचित मिलता है। दबाव से पूयसञ्चरण की तरह प्रतीति को फ्लक्चुएशन टेस्ट (Fluctuation test) कहते हैं। यह परीक्षा जलोदर, मूत्रवृद्धि (हायड्रोनील), पूयविद्रधि, ग्रन्थि (Cyst) आदि में की जाती है।

कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वाद्दाभिघातजेषु वा केषुचिद्दसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मन्यमानो भिषग् मोहमुपैति। यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थौल्यमल्परुजताऽश्मवच्च घनता, न तत्र मोहमुपेयादिति ॥ १० ॥

कफ के द्वारा उत्पन्न हुये शोफ रोगों में शोथ गहरी धातुओं में स्थित होने से अथवा चोट से उत्पन्न हुये कई रोगों में पक्वावस्था के सम्पूर्ण लक्षण दिखाई नहीं देने पर पक्व शोथ को भी अपक्व शोथ मान कर वैद्य मोह (अज्ञान) को प्राप्त होता है अतः ऐसी स्थिति में जहां त्वचा में सवर्णता, शोफ स्थान में शीतलता और स्थूलता तथा वेदना की अल्पता और पत्थर की तरह घनता दिखाई दे तो संशय नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

विमर्श:—कफज शोथ में पूय के गम्भीर धातु स्थित होने से तथा कफ की विशेषता से त्वक्सवर्णता, शीतशोफतादि लक्षण होने पर भी वैद्य मोह को प्राप्त न हो अर्थात वहां पक्व शोफ के अन्य शेष लक्षणों (विदाहादि) के मिलने से पक्वावस्था जान लेनी चाहिये। 'यत्र तु कफजेष्वभिघानजेषु वा रोगेषु गम्भीरगतित्वात् प्रपाकप्रतियोगीन्येतानि लिङ्गानि दृश्यन्ते न तत्र मोहमुपेयात, शेषलक्षणेनैव पक्व विजानीयादित्यर्थः, इति हाराणचन्द्रः'। कफजे गम्भीरे तथा शस्त्रजे च गम्भीरे अन्न पाके शीतनादि भवति, तत्रान्तर्दाहादिना पाकादिकावधारण, न तत्र मोहमुपेयादिति शेषविदाहादिपूर्वलक्षणे पक्व जानीयादिति चक्रः। वाग्भट ने इसी अवस्था को रक्तपाक कहा है। रक्तपाकमिति वृत्तौ प्राहो मुक्तसंशय। डाक्टरी मत से रक्त परीक्षा करने से यह सन्देह निश्चित दूर हो जाता है। स्वाभाविकावस्था के रक्त में श्वेत कण (W B. C.) की संख्या औसत प्रति घन सहस्रांश मीटर रक्त में सात हजार से दस हजार होती है किन्तु पूयोत्पत्ति के समय प्रतिघन सहस्रांश मीटर रक्त में इनकी संख्या बीस हजार से पचास हजार तक अधिक हो जाती है।

भवन्ति चात्र—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वञ्च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥ ११ ॥

जो वैद्य शोफ की आम, विपच्यमान, और पक्व इन तीन अवस्थाओं को अच्छी तरह जानता है वही वैद्य कहलाता है शेष सब तस्करवृत्ति होते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श.—'तस्करवृत्ति' से यहां धन और प्राण दोनों के चुराने से तात्पर्य है। ऐसे मूर्ख वैद्यों के लिये एक सुभाषित है—वैद्यराज ! नमस्तुभ्य यमराजसहोदर !। यमस्तु हरते प्राणान् वैद्य प्राणान् धनानि च ॥

वातादृते नास्ति रुजा न पाकः पित्तादृते नास्ति कफाच्च पूयः
तस्मात् समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफांश्चय एवदोषाः॥
कालान्तरेणाभ्युदितन्तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य।
पचत्यतः शोणितमेव पाको मतोऽपरेषां द्विदुषां द्वितीयः १२

वायु के बिना शोथ में या कहीं भी शरीर में पीडा नहीं होती, पित्त के बिना पाक (Formation of Pus) नहीं होता है एवं कफ के बिना पूय की उत्पत्ति नहीं होती है इस लिये शोथादि के पाक के समय वातादि तीनों दोष शोथ को पकाते हैं। कालान्तर में बढ़ा हुआ पित्त स्वबल से वायु और कफ को अपने वश में करके रक्त को पका देता है। यह पाक के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों का मत है ॥ १२-१३ ॥

विमर्श.—पूय कैसे बनता है, इस विषय में आयुर्वेद ने दो मत प्रदर्शित किये हैं। 'पूर्वदर्शने कफात् पूय., अत्र दर्शने शोणितात्पूय., इति विशेषः (मधुकोष) ताडपुस्तक में लिखा है कि—त्र्यूषणां चन्दनादीना दग्धाना श्वेतता यथा। तद्वत् पित्तोष्मणा दग्धं रक्तं पूयमिहोच्यते ॥ शोणित पचतीत्यनेन शोणितात्मारमासादिपाकोऽपि लक्ष्यत एवेति चक्रः। इस तरह कफ, रक्त और मासादि धातुओं के पित्त द्वारा पकने से पाक होता है।

डाक्टरी मत से पूय की उत्पत्ति अधिकतया रक्त से ही मानी है। पूय को (Pus) कहते हैं तथा पाकविधि को (Suppuration) कहते हैं। शोथ का स्थान मानो रणक्षेत्र है। यहां पर शरीर के शत्रु और रक्षक दलों में युद्ध होता है। पाकविधि में निम्न पूयजनक (Pyogenic) जीवाणु भाग लेते हैं। कोकाइ जाति जैसे-स्ट्रेप्टो, स्टेफिलो, न्यूमो, मेनिंगो, गोनो कोक्स, बेसीलस पायो सायनीयस, वे० कोलाई, वे० टायफोसिस, वे० ट्युबरक्युलोसीस और एक्टिनो मायसीस। इनके प्रवेश से वहां प्रथम शोथ, रक्तसञ्चाराधिक्य और श्वेतकणागमन वृद्धि होकर दोनों में युद्ध होता है। प्रबल जीतते हैं, निर्बल हारते हैं। जीवाणु अधिकसंख्यक तथा सबल हो तो न्यूनिक धातुसेल, श्वेतकण तथा जीवाणु नष्ट होते हैं। इस तरह पूय इन्हीं मृत सेलों से बनता है। पूय के तरल भाग में रक्तरस होता है और घन भाग में न्यूनिक धातुओं के मृत सेल, मृत पूयजनक जीवाणु और मृत श्वेतकण होते हैं। वे० कोलाय से बना पूय मलगन्धी, वे० पायोसायनीयस से बना पूय नीला हरा होता है। यकृत् की विद्रधि, डिम्बवाहिनी विद्रधि (Pyosalpinx) तथा रासायनिक द्रव्योत्पन्न शोथ में पूय बिना जीवाणु के होता है।

तत्र, आमच्छेदे मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रधिर्वा भवति । स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदीर्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वेति ॥ १४ ॥

अन शोथ के छेदन करने से मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धियों का नाश, अधिक मात्रा में रक्त की प्रवृत्ति, वेदना का प्रादुर्भाव, मांसादि धातुओं का फटना, अनेक प्रकार के उपद्रवों का होना अथवा क्षतविद्रधि उत्पन्न होती है। यदि वैद्य भय और मोह (अज्ञान) से पक्व शोथ को भी अपक्व समझता हुआ व्याधि (शोफ) की चिर काल तक उपेक्षा कर देता है तब गम्भीर धातुओं में गया हुआ पूय बाहर निकलने का द्वार न प्राप्त कर अपने आश्रयीभूत स्थान को विदीर्ण कर गहरा और बड़ा अवकाश करके नाड़ी (Sinus) उत्पन्न कर देता है जिससे वह शोथ कृच्छ्रसाध्य और असाध्य हो जाता है ॥ १४ ॥

भवन्ति चात्र—

यश्छिनत्त्यामभज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ १५ ॥

जो वैद्य अनावस्था में शोफ को चीरता है तथा जो पक्वावस्था में उपेक्षा कर देता है वे दोनों प्रकार के असमीक्ष्यकारी वैद्यों को चाण्डाल के समान समझना चाहिये। जैसे चाण्डाल किसी को भी मार देता है तद्वत् ये भी रोगी को मार देते हैं ॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाऽसहः ॥ १६ ॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥ १७ ॥
प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः ।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ १८ ॥

शस्त्रकर्म (Operation) करने के पहले रोगी को हितकर भोजन करना चाहिये तथा जो रोगी शस्त्रकर्म में शस्त्र द्वारा होने वाली वेदना को सहन न कर सके तथा वह मद्यपान करने वाला हो तो तीक्ष्ण मद्य का पान कराना चाहिये। रोगी को अन्न खिलाने से मूर्च्छा प्राप्त नहीं होती है तथा मदिरा द्वारा मत्त हो जाने से शस्त्रपातजन्य पीडा का बोध नहीं होता है, इसलिये जिन रोगों में भोजन कराना कहा गया है उनमें शस्त्रकर्म के पूर्व अवश्य ही भोजन करा देना चाहिये। मनुष्यों का भीतरी प्राण (शक्ति) बाह्य प्राण (अन्न) के गुणों के साथ मिलकर इस पाञ्चभौतिक शरीर को निर्विरोध धारण करता है ॥ १६-१८ ॥

विमर्श—निम्न रोगों को छोड़ कर अन्य रोगों में शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन कराना चाहिये। 'मूत्रगर्भाश्मशर्शोभगन्दरमुखरोगेष्वमुक्त्वा कर्म कुर्वीत' अन्न की प्राण संज्ञा है "प्राणो वा अन्नम्" शरीरमन्नादम् "आहारः प्राणिना प्राणा तथा देह पञ्चभूतों से बना है और आहार भी पाञ्चभौतिक होने से देह धारक है। पञ्चभूतात्मके देहे आहार पाञ्चभौतिक'। विपक्व पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धते ॥ इन्हीं कारणों से शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन कराना श्रेष्ठ माना है इसके सिवाय भोजन करा देने से त्वचादि स्थानों की रक्तवाहिनियां सङ्कुचित हो जाती हैं जिससे वहां का रक्त पाचक रसों की उत्पत्ति के लिये पचन संस्थान (Digestive system) की ओर अधिक मात्रा में जाता है जिससे शस्त्रकर्म करने के स्थान से रक्तस्राव कम होता है।

मद्यपान—से रोगी की वेदना तथा संज्ञा दोनों का हरण होता है जिससे शस्त्रकर्म में कुछ सहायता मिल सकती है किन्तु इस विषय में वर्तमान विज्ञान ने अत्यधिक उन्नति कर अनेक वेदनाहर (Anodyne) और संज्ञाहर (Anaesthetic) ओषधियों का आविष्कार किया है। क्लोरोफार्म से सार्वदैहिक संज्ञाहरण तथा कोकेन, नोवोकेन, प्रोकेन और ईथर से स्थानिक संज्ञाहरण करते हैं। इससे चाहे जितना बडा शस्त्रकर्म किया जाय परन्तु रोगी को तिलमात्र भी वेदना नहीं होती है। भोजप्रबन्ध में संज्ञाहर चूर्ण से राजा को बेहोश कर शिर का शस्त्रकर्म करके मस्त्य निकाल कर सञ्जीवक चूर्ण के प्रयोग से सचेष्ट करने का वर्णन है।

अल्पो महान् वा क्रियया विना यः
समुच्छ्रितः पाकमुपैति शोफः ।
विशालमूलो विषमो विदग्धः
स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः ॥ १९ ॥

उत्पन्न हुआ छोटा अथवा बड़ा शोफ आलेपनादि क्रिया के बिना बढ कर पाक को प्राप्त होता है। इस प्रकार का शोफ विशाल मूल, विषम और विदग्ध हो कर उसका दोष (पूय) अवगाढ (गहरे) स्थान में स्थित हो जाता है जिससे वह कृच्छ्रसाध्य हो जाता है ॥ १९

आलेपविस्रावणशोधनैस्तु
सम्यक् प्रयुक्तैर्यदि नोपशाम्येत्।
पच्येत शीघ्रं सममल्पमूलः
स पिण्डितश्चोपरि चोन्नतः स्यात् ॥ २० ॥

आलेप, रक्तस्रावण और संशोधन इनके ठीक तरह से प्रयुक्त करने पर भी यदि शोफ का शमन न हो तो वह समान तथा अल्पमूल वाला शोफ पिण्डित या गोलाकार के रूप में ऊपर को उठ कर शीघ्र ही पक जाता है ॥ २० ॥

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निः
वाय्वीरितः सन्दहति प्रसह्य।
तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि
मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ २१ ॥

जिस प्रकार वायु से प्रेरित या प्रदीप्त अग्नि तृणसमूह को प्राप्त कर उसे बलात् जला देती है उसी तरह शरीर या शोफयुक्त स्थान से पूय को न निकालने से वह वहां के मांस, सिरा और स्नायुओं को नष्ट कर देता है ॥ २१ ॥

आदौ विस्रापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहञ्च चतुर्थीं पाटनक्रियाम् ॥ १८ ॥
पञ्चमं शोधनं कुर्य्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते।
एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥ १९ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आमपक्वैषणीय-
विधिर्नाम सप्तदशोऽध्यायः।

सर्वप्रथम-विस्रापन, द्वितीय-पूयादि का अवसेचन, तृतीय-उपनाह, चतुर्थी-पाटन क्रिया, पञ्चम-शोधन, षष्ठ-रोपण और सप्तम-विकृतिहरण प्रयोग ये व्रणशोफ के सात उपक्रम हैं २२-२३

विमर्श.—यद्यपि सुश्रुत चिकित्सा स्थान प्रथम अध्याय में व्रण शोफ के साठ उपक्रम बताये है किन्तु उनमें जो प्रधान हैं उनका यहा सक्षेप में वर्णन किया गया है। विस्रापनविधि — अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनै शनै। निर्मर्दयेद् भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा ॥ इनमें अपतर्पण से विस्रापनान्त ६ उपक्रम समाविष्ट हो जाते हैं। अवसेचन-दोषों का निर्हरण, इसमें विस्रावण, स्नेहन, वमन और विरेचन ये चार समाविष्ट होते हैं। उपनाह को पोल्टिस (Poultice) कहते हैं, इसमें पाचन का समावेश है। पाटन क्रिया में छेदन से सीवन तक के नौ उपक्रमों का समावेश है। शोधन और रोपण में सन्धान से व्रणधूपन तक के तेरह उपक्रम तथा वैकृतापह में उत्सादन से रक्तविधान तक के शेष २६ उपक्रम समाविष्ट होते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायामामपक्वैषणीयो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथातो व्रणालेपनबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर व्रण के आलेपन और बन्धन की विधि को बताने वाले अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा था ॥ १-२ ॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च, तं च प्रतिरोगं वक्ष्यामः। ततो बन्धः प्रधानं, तेन शुद्धिर्व्रणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥ ३ ॥

आलेप सबसे आद्य (प्रथम) उपचार है। यह सर्वप्रकार के शोफों में सामान्य है तथा अधिक प्रधान है। इसका विवेचन प्रत्येक रोग के वर्णन के समय किया जायगा। आलेप के पश्चात् बन्ध की प्रधानता होती है। बन्धन से व्रण का शोधन, रोपण और अस्थि तथा सन्धियों की स्थिरता होती है ॥ ३ ॥

तत्र प्रतिलोममालिम्पेन्नानुलोमम्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति रोमकूपान् स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥ ४ ॥

हमेशा आलेप को प्रतिलोम अर्थात् बालों के रुख की विरुद्ध दिशा में लगाना चाहिये, अनुलोम नहीं लगाना चाहिये। प्रतिलोम आलेप लगाने से औषध अच्छी प्रकार वहां लगी रहती है, रोमकूपों में प्रवेश करती है एवं स्वेदवाहक स्रोतस तथा सिरामुखों द्वारा भीतर जाकर बलवान् होती है ॥ ४ ॥

न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्। शुष्को ह्यपार्थको रुक्षश्च ॥ ५ ॥

जहां पर व्रणशोफ में पीडनकार्य करना अभीष्ट हो उसको छोड़कर अन्य शोफ में प्रयुक्त आलेप को सूखने नहीं देना चाहिये क्योंकि शुष्क आलेप निरर्थक और पीडा करनेवाला होता है ॥

विमर्शः—पीडनार्हशोफा —पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीटयेत् ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेह पीडनम्प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोष प्रसिच्यते॥ आलेपभेदा.—स्नैहिको निर्वापण, प्रसादन, स्तम्भन, विलायन., पाचन, पीडन, शोधन., रोपण, सवर्णीकरणश्च। (अ० सं०) शुष्कालेपदोषा —'शुष्क हि दाहोपारागश्यावत्वशूलानि वर्धयति' (सु०उ०)।

स त्रिविधः—प्रलेपः, प्रदेहः, आलेपश्च। तेषामन्तरं-प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी च; प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च। मध्यमोऽत्रालेपः॥६॥

प्रलेप, प्रदेह और आलेप भेद से वह लेप तीन प्रकार का होता है। उनमें भेद निम्न प्रकार से हैं। प्रलेप ठण्ढा, पतला तथा अपीडयितव्य व्रण में नहीं सूखने वाला होता है। प्रदेह की ओषधियों को पानी के साथ पीसकर गरम करके वात और कफ प्रधान शोफ में प्रयुक्त करते हैं तथा पित्त और रक्त प्रधान में शीत तथा मोटा या पतला तथा अधिक न सूखनेवाला लेप करते हैं। आलेप प्रलेप और प्रदेह के मिले हुये लक्षणों वाला होता है ॥६॥

तत्र, रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः। प्रदेहो वातश्लेष्म-

प्रशमनः सन्धानः शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च, तस्योपयोगः क्षताक्षतेषु । यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः कल्क इति संज्ञां लभते निरुद्धालेपनसंज्ञः तेनास्रावसन्निरोधो मृदुता पूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति ॥ ७ ॥

इनमें आलेप रक्तपित्त प्रधान शोथ का शमन करता है। प्रदेह वात और श्लेष्म प्रधान शोथ का शामक, शोधक, रोपक तथा शोथ और वेदना को नष्ट करता है। उसका प्रयोग व्रणयुक्त शोथ तथा अव्रणयुक्त दोनों में होता है। जिसको क्षत (घाव) में प्रयुक्त करते हैं उसे प्रायः कल्क तथा निरुद्धालेपन भी कहते हैं। इससे स्राव का निरोध, स्थान का मृदु होना, सड़े गले मांस का नाश होकर व्रण की भीतरी निर्दोषता (पूयाभाव) होकर शुद्धि होती है ॥ ७ ॥

विमर्शः—अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो प्रलेपादिकों की परिभाषा सुश्रुत से विरुद्ध की है। "यस्तु शीतस्तनुर्मुहुर्मुहुश्च प्रयुज्यते स प्रदेहो रक्तपित्तत्वचा प्रसादकृत्। प्रलेपस्तूष्ण शीतो वा बहुलश्च तथा वातश्लेष्मप्रशमन॰ ॥"

अविदग्धेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत् ।
यथास्वं दोषशमनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥ ८ ॥
त्वक्प्रसादनमेवाग्र्यं मांसरक्तप्रसादनम् ।
दाहप्रशमनं श्रेष्ठं तोदकण्डूविनाशनम् ॥ ९ ॥
मर्मदेशेषु ये रोगा गुह्येष्वपि तथा नृणाम् ।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥ १० ॥
षड्भागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागन्तु वातिके ।
अष्टभागन्तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥ ११ ॥

अविदग्ध शोफ की अवस्था में आलेपन हितकारक होता है तथा शोफों के भिन्न २ दोषों का शमन करता है एवं दाह, कण्डू और रुजा को नष्ट करता है। त्वचा को शुद्ध करने में प्रधान है। मांस और रक्त को भी शुद्ध करता है। दाह का शमन करता है इसके अतिरिक्त सूई चुभोने की सी पीड़ा और कण्डू को शान्त करता है। मनुष्यों के मर्म स्थानों पर तथा गुह्य स्थानों पर जो रोग होते हैं उनकी शुद्धि या शमन करने के लिये आलेपन करना चाहिये। पित्तजन्य शोफ के आलेप में छठा भाग, वातिक में चतुर्थ भाग और कफजन्य शोथ में आठवाँ भाग स्नेह का प्रयुक्त करना चाहिये ॥८-११॥

तस्य प्रमाणमार्द्रमाहिषचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति ॥१२॥

उक्त आलेप की मोटाई भैंसे के गीले चर्म के बराबर होती है ॥ १२ ॥

विमर्श—चरके तु "त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात्प्रलेपः कल्कपेषित॰" ॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत, मा भूच्छैत्यपिहितोष्मणस्तदनिर्गमाद् विकारप्रवृत्तिरिति ॥ १३ ॥

आलेप को रात्रि के समय नहीं लगाना चाहिये क्योंकि आलेप की शीतलता से रुकी हुई उस स्थान की उष्णता के नहीं निकलने से विकार की वृद्धि या अन्य रोग की प्रवृत्ति न हो जाय अतः रात्रि में आलेप का निषेध है ॥ १३ ॥

विमर्शः—आलेपस्य रात्रौ निषेध.-तमसा पिहितो ह्यूष्मा रोमकूपैरनावृतैः । लेपाद्विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥

प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं दिवा ।
पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः ॥१४॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
उपर्युपरि लेपं तु न कदाचित् प्रदापयेत् ॥ १५ ॥
ऊष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि ।
न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः ॥
शुष्कभावात् स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः॥१६॥

प्रदेह के द्वारा साध्य रोगों में तथा अधिकतया पित्त, रक्त या रक्तपित्त, अभिघात और विषजन्य रोगों में दिन के समय लेप लगाना हितकारक होता है। पर्युषित अर्थात् पूर्व दिन में पिसा हुआ लेप दूसरे दिन नहीं लगाना चाहिये। इसी तरह प्रथम आलेप को विना हटाये उसी पर दूसरा आलेप नहीं चढ़ाना चाहिये क्योंकि लेप पर लेप लगाने से लेप मोटा या घन हो जाता है जिससे उस स्थान में गरमी, वेदना और दाह को उत्पन्न करता है। प्रथम वार लगाने से वचे हुये लेप को कालान्तर में दूसरी वार नहीं लगाना चाहिये क्योंकि वह शुष्क होने से निर्वीर्य हो जाता है जिसे लगाने पर भी कोई कार्य सिद्धि नहीं होती है ॥ १४-१६ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में स्थानिक शोफ के शमन के लिये (Poste, Pigment or Paint, and Plaster) का उपयोग होता है। इसके सिवाय भीतर में पूयनिर्माण को रोकने के लिये सेप्टेनीलेम, सल्फाडायजिन, सल्फाट्राइड या सीवाझोल इनमें से किसी एक औषध की एक २ छोटे को तथा दो दो टिकिया बड़े को दिन में तीन वार पानी के साथ देते हैं।

अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः । तद्यथा-क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कलालावूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः; प्रकरणतश्चैषामादेशः ॥ १७ ॥

अब यहाँ से व्रण के 'बन्धन' द्रव्यों का उपदेश किया जाता है, जैसे क्षौम (शण से बना), रूई, भेड़ की ऊन से बना हुआ, दुकूल (पट्ट वस्त्र), कोशाकार कृमि से बनाया रेशम, पत्रोर्ण (टसर), चीन देश में बना हुआ पट्ट (वस्त्र), हरिणादि का चर्म, भूर्जपत्र, गूलर आदि वृक्षों की अन्तर्छाल, तुम्बी का टुकड़ा, लता (वेलड़ी), विदल (वांस की खपची), रस्सी, तूल फल, सन्तानिका (मलाई), स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह आदि। व्याधि और काल का विचार करके इनका उपयोग करना चाहिये। इनका विशेष उल्लेख प्रकरणानुसार होगा ॥ १७ ॥

विमर्शः—प्रकरणानुसार इनका उपयोग जैसे सर्पदंश में रज्जु-सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता। अन्तर्वल्कलों का का कुशार्थ प्रयोग—मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वच । वंशसर्ज-

व्रणानाञ्च कुशलेनोपसंहरेत्॥ चर्मोपयोग-चर्मणा गोफणाबन्धः कार्यो यो वा हितो भवेत्।

तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितप्रत्(मु)तोलीमण्डल-स्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोफणाः पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः॥ १८॥

कोश, दाम, स्वस्तिक, अनुवेल्लित, प्रतोली, मण्डल, स्थगिका, यमक, खट्वा, चीन, विबन्ध, वितान, गोफण और पञ्चाङ्गी ये चौदह बन्धविशेष हैं। प्रायः इनके नाम से ही इनका स्वरूप या रचना स्पष्ट है॥ १८॥

विमर्शः—वाग्भट ने उत्सङ्ग नामक एक अधिक बंध माना है। बन्ध को बैण्डेज (Bandage) कहते हैं। आज कल बन्धनों की संख्या इन पन्द्रह से भी अधिक है जिनका स्थानानुसार नाम रखा गया है। चतुर्दश बन्धानां लक्षणानि—पूर्वैर्लोपैर्बन्ध नियते कोशलक्षणैः। कोशकाख्यं स विज्ञेयो वैद्यैर्बन्धेन वर्जितान्॥ दामाकृतिं चतुर्भागा दामाख्यं स्वस्तिकं पुनः। स्वस्तिकाकृतिमासीन्द्र पञ्चावेष्टैर्व्यवस्यते॥ अनुवेल्लित तद्विद्वान्-प्रतोलीलक्षणं शृणु। वल्लिमुष्टिकाकारो जालवद् बहुरन्ध्रकः॥ मुतोली-बन्ध एषस्यात् सशल्यस्यन शृणु। गोतुण्डिकां चालनीञ्च तामे-वाहुर्भिषग्वराः॥ मण्डल वेष्टनाकारं विद्वद्भान्मण्डलाख्यके। मेष-जादिभिरपूर्वं स्थगिका पट्टबन्धेन च॥ बध्यते मण्डलाकारो यमलव्रण-योर्यु सः। बन्ध यमकनामानं भिषजो वर्णयन्ति तम्॥ खट्वा तु बहुपादा स्याच्चिराभिर्बहुभिर्वृता। चीनबन्ध विजानीयाच्चिराभिर्बहु-भिर्वृतम्॥ विबन्धो विविधो बन्ध स च षड्व्रण्यिकाश्रयः। ज्ञेयो वितानसंज्ञस्तु वितानाकारसंस्थितः॥ पाषाणगुटकोत्क्षेपकारिणीं गो-फणां विदुः। तदाकृतिं भिषक् कुर्यात् फलस्य पञ्चकं त्रिभिः। पञ्चाङ्गीन्तु पृथग् कुर्यात् बन्धनाय चिकित्सकः॥

तत्र कोशमङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु विद्ध्यात्। दाम सन्धा-वेऽङ्गे। सन्धिकूर्चकश्रान्तनान्तरतलेषु स्वस्तिकम्। अनुवेल्लितं तु शाखासु। ग्रीवामेढ्रयोः प्रतोलीम्। वृत्ते-ऽङ्गे मण्डलम्। अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकाम्। यम-लव्रणयोर्यमकम्। हनुशङ्खगण्डेषु खट्वाम्। अपाङ्गयो-श्चीनम्। पृष्ठोदरोरःसु विबन्धम्। मूर्द्धनि वितानम्। चिबुकनासौष्ठांसवस्तिषु गोफणाम्। जत्रुण ऊर्द्ध्वं पञ्चा-ङ्गीमिति। यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् विद्ध्यात्॥ १९॥

अङ्गुष्ठ और अङ्गुलियों के पोरवों में कोशबन्ध बांधना चाहिये। सन्धाव (तग या पुटनयुक्त) अङ्ग में दामबन्ध सन्धि, कूर्चक, भ्रू, स्तनों के मध्य, हस्ततल, पादतल और कर्ण में स्वस्तिकबन्ध, शाखाओं में अनुवेल्लित, ग्रीवा और मेढ्र में प्रतोली, गोल अङ्गों में मण्डल, अङ्गुष्ठ, अङ्गुलि और लिङ्ग इनके अग्र भागों पर स्थगिकाबन्ध, पार्श्ववर्ति दो व्रणों में यम-कबन्ध, ठोढी, कनपटी और कपोल पर खट्वाबन्ध, अपाङ्गप्रदेश में चीनबन्ध, पीठ उदर और वक्षःस्थल पर विबन्धबन्ध, सिर पर वितानबन्ध, ठोढी की नोक, नासिका, होठ, स्कन्ध और वस्तिप्रदेश में गोफणाबन्ध तथा जत्रु (हसली) के ऊपर पञ्चा-ङ्गीबन्ध बांधना चाहिये। अथवा वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार जो बन्ध जिस प्रदेश में उपयुक्त बंध सके उसे उसी प्रदेश में बांधना चाहिये॥ १९॥

विमर्शः—बन्धनकर्म को (Bandaging) कहते हैं। आघात, चोट, मोच, रक्तस्राव, अस्थिभङ्ग, (Fracture), सन्धिविश्लेष (Distocation) आदि में बन्धन बांधना अत्या-वश्यक होता है। बन्धन बांधने की विधि केवल पढ़ने से नहीं आती है। पहले पुत्तमय पुरुषों (Dumy) पर यह सीखते थे परन्तु अपने सहपाठियों पर प्रथम अभ्यास कर पश्चात् होस्पिटलों में आने वाले रोगियों पर बांधना चाहिये। आयुर्वेद के इन चौदह बन्धनों से पता चलता है कि पूर्व काल में उसका शल्यविभाग पर्याप्त उन्नत था।

नाम	अं० नाम	स्थान
१ कोशबन्ध	Sheath Bandage.	अङ्गुष्ठ, अङ्गुली पर्व
२ दामबन्ध	Cross or Spon B.	सन्धाघाङ्ग
३ स्वस्तिक बन्ध	Spiral Bandage	सन्धि, कूर्चक, भ्रूस्तन कर्ण तल
४ अनुवेल्लित बन्ध		हस्तपाद शाखा
५ प्रतोली बन्ध	Stump Bandage	ग्रीवा, लिङ्ग,
६ मण्डल बन्ध		उदर, उरु, बाहु
७ स्थगिका बन्ध	Four tailed B	अङ्गुष्ठ, अङ्गुलि, लिङ्गाग्र
८ यमक बन्ध	Eye Bandage.	संयुक्त व्रण
९ खट्वा बन्ध	Many tailed B.	हनु, शङ्ख, गण्ड
१० चीन बन्ध	Capheline B.	नेत्र, अपाङ्ग
११ विबन्ध बन्ध	Sling Bandge. or T Bandage	पीठ, उदर, छाती
१२ वितान बन्ध		सिर
१३ गोफणा बन्ध	Arm Sling B.	ठोढी, नासा, ओष्ठ अंस, वस्ति
१४ पञ्चाङ्गी बन्ध		जत्रु के ऊपर
१५ उत्सङ्ग बन्ध		बाहु

यन्त्रणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च॥ २०॥

बन्धन की यन्त्रणा अर्थात् गांठ ऊपर, नीचे और तिरछी लगानी चाहिये॥ २०॥

विमर्शः—जहां पर व्रण हो उसके ऊपर, नीचे या तिरछी गांठ लगावें। उस पर गांठ लगाने से व्रण में बाधा होती है। वर्तमान में Safety Pin का उपयोग होने से सुविधा हो गई है।

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुम-नाविद्धमसङ्कुचितं मृदु पट्टं निवेश्य बध्नीयात्। न च व्रणस्योपरि कुर्य्याद् ग्रन्थिमाबाधकरं च॥ २१॥

प्रथम व्रणस्थान पर मोटी कवलिका रख कर वामहस्त में लिये हुये पट्ट को दक्षिण हस्त से सीधा, मोड़ के विना एवं ठीक तरह से फैलाकर बांध देना चाहिये। व्रण के ऊपर पीडा

या बाधा पहुंचाने वाली ग्रंथि नहीं लगानी चाहिये ॥ २१ ॥

न च विकेशिकौषधेऽतिस्निग्धेऽतिरूक्षे वा कुर्वीत। यस्मादतिस्नेहात् क्लेदो, रौक्ष्याच्छेदो, दुर्न्यासाद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥ २२ ॥

विकेशिका तथा औषध अधिक स्निग्ध, अधिक रूक्ष और विषम नहीं होने चाहिये। क्योंकि इनके अतिस्निग्ध होने से कीचड़, रूक्ष होने से व्रण फट जाता है तथा विषम रखने से व्रण के मार्ग में घर्षण होता है ॥ २२ ॥

विमर्श.—विकेशिका को वर्ति कहते हैं। बारीक वाली (Gauze) को जन्तुघ्न द्रव्य के घोल में भिगो कर व्रण में रखते हैं। इसके रखने से व्रण की शुद्धि होती है, व्रण के पूय को यह वर्ति सोख लेती है तथा अशुद्ध व्रण के किनारों को आपस में न मिलने देने से वे जुड़ते या चपकते नहीं हैं। आयुर्वेद भी इसका इतना ही महत्व मानता है। "अवश्यं चाव्रणे व्रणे विकेशिकां दद्यात् " (अ० सं०)। सम्यूतिमांसं सोल्लेखं सर्गति पूयमर्गिमगत्। व्रणं विशोधयेच्छीघ्रं स्थिना ह्यन्तर्विकेशिका ॥ (वाग्भट)। कल्कवर्ति दोषाः—न च विकेशिकामौषधं वातिस्निग्धरूक्षमतिश्लक्ष्णमतिगाढमल्पकं दुर्न्यस्तं वा दद्यात्। अतिश्लक्ष्णत्वादपरिशुद्धिः, गाढतया संरम्भः, अल्पत्वाद् व्रणवर्त्मोपघर्षणम्।

तत्र व्रणायतनविशेषाद्बन्धविशेषस्त्रिविधो भवति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥ २३ ॥

व्रण के आयतन (स्थान, दोष, काल) की विशेषता से बन्ध की भी गाढ, सम और शिथिल ये तीन विशेषताएं होती हैं ॥ २३ ॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः ॥ २४ ॥

जो बन्ध दबाने से पीड़ा नहीं करे उसे गाढ कहते हैं, जो बन्ध रोगी के सांस लेने से हिले उसको शिथिल कहते हैं और जो न गाढा हो तथा न शिथिल हो उसे समबन्ध कहते हैं ॥ २४ ॥

तत्र, स्फिक्चिबुकवङ्क्षणोरुशिरःसु गाढः। शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरस्सु समः। अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिल इति ॥ २५ ॥

स्थानानुसार बन्ध-वैशिष्ट्य—नितम्ब, कुक्षि, कक्षा (बाहुमूल), वंक्षण सन्धि, ऊरु और शिर इन स्थानों में गाढ बन्ध, हाथ, पैर, मुख, कान, कण्ठ, लिङ्ग, वृषण, पीठ, पार्श्व, उदर, छाती इन स्थानों में समबन्ध तथा नेत्र और सन्धि स्थानों में शिथिलबन्ध बांधना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं बध्नीयात्, समस्थाने शिथिलं, शिथिलस्थाने नैव; एवं शोणितदुष्टं च। श्लैष्मिकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्; एवं वातदुष्टं च ॥ २६ ॥

दोषानुसार बन्धवैशिष्ट्य—पैत्तिक व्रणों में जहां गाढबन्ध लगाना हो वहां समबन्ध बांधे, समबन्ध लगाना हो वहां शिथिलबन्ध लगावे तथा जहां शिथिलबन्ध बांधने का विधान हो उस स्थान को खुला ही रखना चाहिये। इसी प्रकार का नियम रक्त की दुष्टि से उत्पन्न व्रण में भी जानना चाहिये। कफ से दूषित व्रणों में जहां शिथिलबन्ध बांधने का नियम हो वहां समबन्ध, समस्थान में गाढबन्ध और गाढबन्ध बांधने की जगह अत्यन्त गाढबन्ध लगाना चाहिये। कफ के व्रण के अनुसार ही वातदुष्ट व्रण में बन्धन बांधना चाहिये ॥ २६ ॥

तत्र पैत्तिकं शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्। रक्तोपद्रुतमप्येवम्। श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोस्त्र्यहाद्रातोपद्रुतमप्येवम्। एवमभ्यूह्य बन्धविपर्ययं च कुर्यात् ॥

कालानुसार बन्धवैशिष्ट्य—पित्तदुष्टि से उत्पन्न व्रण को शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में दिन में दो वार सुबह शाम बांधना चाहिये। इसी प्रकार रक्तदुष्टि जन्य व्रण में भी दो वार बांधे। कफ की दुष्टि से उत्पन्न व्रण को हेमन्त तथा वसन्त ऋतु में तीसरे दिन खोल कर बांधना चाहिये। वायु से दूषित व्रण का भी इसी नियमानुसार बन्धन करना चाहिये। इस तरह स्थान, दोष और काल का विचार करके बन्धनविधि में विपर्यय करना चाहिये ॥ २७ ॥

तत्र समशिथिलस्थानेषु गाढं बद्धे विकेशिकौषधनैरर्थक्यं शोफवेदनाप्रादुर्भावश्च, गाढसमस्थानेषु शिथिलं बद्धे विकेशिकौषधपतनं पट्टसञ्चाराद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति। गाढशिथिलस्थानेषु समं बद्धे च गुणाभाव इति ॥ २८ ॥

यदि सम और शिथिल बन्धन बांधने की जगह गाढ बन्ध बांधा जाय तो विकेशिका (वर्ति) तथा औषध निरर्थक हो जाती है तथा व्रण स्थान में शोफ और वेदना होती है। गाढ और सम बन्ध के स्थान में यदि शिथिल बन्ध बांधा जाय तो वर्ति तथा औषध गिर जाती है तथा पट्ट के इधर उधर खिसकते रहने से व्रण के मार्ग में घर्षण होता है। इसी तरह गाढ, शिथिल बन्ध के स्थानों में समबन्ध बांधने से कोई गुण नहीं होता है ॥ २८ ॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक्प्रसादो मार्दवं च ॥

यदि बन्धन अनुकूल बांधा जाय तो वेदना का शमन, रक्त की शुद्धि तथा व्रण स्थान में मृदुता उत्पन्न होती है ॥ २९ ॥

अबध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिर्विशेषैरभिहन्यते व्रणो विविधवेदनोपद्रुतश्च दुष्टतामुपैत्यालेपनादीनि चास्य विशोषमुपयान्ति ॥ ३० ॥

यदि व्रण पर बन्धन नहीं बांधा जाय तो मक्षिका, मच्छर, घास, लकड़ी, पत्थर के कण, धूली, ठण्ढक, वायु, धूप आदि से व्रण दूषित होता है तथा अनेक प्रकार की वेदनाओं से उपद्रुत होकर अधिक दूषित हो जाता है तथा उस पर लगाये हुए आलेपादिक जल्दी सूख जाते हैं ॥ ३० ॥

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम्।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति ॥ ३१ ॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥ ३२ ॥

√ आघात से शरीर का कोई भाग चूर्णित हो जाय, विलोडित हो जाय, टूट जाय, सन्धिच्युत हो जाय, स्वस्थान से च्युत हो कर लटकने लगे, अथवा अस्थि, स्नायु और सिराएं छिन्न हो जाय तो बन्धन बांधने से ठीक हो जाते हैं। बन्धन से व्रणी पुरुष ठीक तरह से सोता है, सुख से चलता है, सुख-पूर्वक खड़ा रह सकता है, बैठ सकता है तथा जो सुख से सो सकता है और बैठ सकता है उसका व्रण भी शीघ्र भर जाता है ॥ ३१-३२ ॥

अवन्ध्याः पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्ता यदा च शोफदाहपाकरागतोदवेदनाऽभिभूताः क्षाराग्निदग्धाः पाकात् प्रकुपितप्रशीर्णमांसाश्च भवन्ति ॥ ३३ ॥

पित्त तथा रक्त की दुष्टि से और अभिघात और विष के कारण उत्पन्न व्रण तथा सूजन, जलन, पाक, लालिमा, सूई चुभोने की सी पीड़ा और वेदना से युक्त हो तथा क्षार एवं अग्नि द्वारा जलने से उत्पन्न व्रण तथा पाक से मांस सड़कर झरता हो ऐसे व्रणों में बन्धन नहीं बांधना चाहिये ॥ ३३ ॥

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडका मधुमेहिनाम्।
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे विषजुष्टव्रणाश्च ये ॥ ३४ ॥
मांसपाके न बध्यन्ते गुदपाके च दारुणे।
स्ववुद्ध्या चापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥

कुष्ठियों के व्रण, अग्निदग्ध व्रण, मधुमेही मनुष्यों की पिड़काओं के व्रण, चूहे के काटने से फैले हुए विष के कारण उत्पन्न कर्णिकायुक्त व्रण, विषयुक्त व्रण, मांसपाक जन्य व्रण और गुदपाक जन्य व्रणों में बन्धन बाँधना निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान वैद्य कहां बन्धन लगाना उचित है और कहां अनुचित है आदि कृत्याकृत्य का निर्णय अपनी बुद्धि से कर लेवे ॥ ३४-३५ ॥

देशं दोषञ्च विज्ञाय व्रणञ्च व्रणकोविदः।
ऋतूंश्च परिसङ्ख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

व्रण के विषय को जानने वाला विद्वान् वैद्य देश, दोष, व्रण, ऋतु आदि का सम्यग् विचार करके फिर यथायोग्य बन्धन बांधे ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं तिर्य्यगधस्ताच्च बन्धना त्रिविधा मता।
यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३७ ॥
घनां कवलिकां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम्।
विकेशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत् ॥ ३८ ॥
अक्लेदयत्यतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च।
युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म धर्षति ॥ ३९ ॥
विषमञ्च व्रणं कुर्य्यात् स्तम्भयेत् स्रावयेत्तथा।
यथा व्रणं विदित्वा तु योगं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

ऊपर, नीचे तथा टेढ़ी इस तरह बन्धग्रन्थि तीन तरह से लगाई जाती है। अब जिस तरह बन्धन बांधा जाता है उस विधि को सम्पूर्णरूप से कहते हैं-प्रथम व्रणस्थान में विकेशिका या वर्ति लगा के औषध कल्क लगावें फिर उस पर मोटी कवलिका (रूई या गाज का पेड या गद्दी) रख कर मुलायम पट्ट (Bandage) से बांध देना चाहिये। विकेशिका (वर्ति) तथा औषध इन्हें अधिक चिकनी करके न लगावें क्योंकि अतिस्निग्ध वर्ति व्रण स्थान को क्लिन्न कर देती है तथा रूक्ष वर्ति या औषध उस व्रण को हानि पहुंचाती है किन्तु उचित स्नेहयुक्त वर्ति व्रण को भरती है। यदि वर्ति को ठीक न रखी जाय तो वह व्रण के मार्ग का घर्षण करती है व्रण को विषम बनाती है, स्राव का निरोध कर देती है या स्राव को बढ़ा देती है इसलिये व्रण का उचित निरीक्षण करके योग्य उपचार करना चाहिये ॥ ३७-४० ॥

पित्तजे रक्तजे वाऽपि सकृदेव परिक्षिपेत्।
असकृत् कफजे वाऽपि वातजे च विचक्षणः ॥ ४१ ॥
तलेन प्रतिपीड्याथ स्रावयेदनुलोमतः।
सर्वांश्च बन्धान् गृढान्तान् सन्धींश्च विनिवेशयेत्॥४२॥

पित्त तथा रक्त की दुष्टि से उत्पन्न व्रण में एक वार ही दबाकर दोष (पूयादि) का स्राव करना चाहिये। कफजन्य तथा वातजन्य व्रण में वार २ दबा कर पूय निकालना चाहिये हस्ततल से व्रण को धीरे २ दबाकर अनुलोम रूप से पूयादि को निकालें तथा सर्व प्रकार के बन्धनों को इस तरह बांधे कि उसके सिरे तथा जोड़ बाहर से दिखाई न दें ॥ ४१-४२ ॥

ओष्ठस्याप्येष सन्धाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः।
बुद्ध्योत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता॥४३॥
उत्तिष्ठतो निषण्णस्य शयनं वाऽधिगच्छतः।
गच्छतो विविधैर्यानैर्नास्य दुष्यति स व्रणः ॥ ४४ ॥
ये च स्युर्मांससंस्था वै त्वग्गताश्च तथा व्रणाः।
सन्ध्यस्थिकोष्ठप्राप्ताश्च सिरास्नायुगतास्तथा ॥ ४५ ॥
तथाऽवगाढगम्भीराः सर्वतो विषमस्थिताः।
नैते साधयितुं शक्या ऋते बन्धाद्धरन्ति हि ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणालेपनबन्धविधिर्नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ओष्ठ के सन्धान कर्म में तथा अस्थि के जोड़ने में भी विद्वान् वैद्य स्वबुद्धि से विचार कर उक्तविधि के अनुसार ही बन्धन बांधे। बन्धन से उठते, बैठते, सोते, अनेक सवारियों पर बैठ कर चलते हुए पुरुष का व्रण दूषित नहीं होता है। जो व्रण मांसल स्थानों में होते हैं, त्वचा के अन्दर जो व्रण होते हैं तथा सन्धि, अस्थि और कोष्ठ स्थानों में जो व्रण होते हैं एवं सिरा और स्नायुओं में होने वाले व्रण तथा जो गाढ़े और गम्भीर व्रण होते हैं एवं जो सर्वथा विषम व्रण होते हैं वे बन्धन के बिना ठीक नहीं हो सकते हैं ॥ ४३-४६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां व्रणालेपनबन्धविधिर्नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातो व्रणितोपासनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से व्रणितोपासनीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत् । तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्य्यम् ॥ ३ ॥

व्रणी पुरुष के लिये सर्व प्रथम रहने के लिये मकान का प्रबन्ध करना चाहिये, तथा वह मकान श्रेष्ठ भूमि में बनाना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते ।
निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः ॥ ४ ॥

प्रशस्त भूमि में बनाये हुए मकान में जो कि पवित्र और सीधी आनेवाली धूप से वर्जित हो तथा वायु के झोकों से रहित हो तो उसमें रहने से शारीरिक आगन्तुक तथा मानसिक रोग नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—वास्तु शब्द का अर्थ गृह है । चरके वास्तुवर्णनम्—"अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धाया भूमौ गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा ॥ वास्तुशास्त्रेऽपि-विस्रो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डित सप्तपर्णक । सहकारश्च षड्वृक्षै-रारूढा या समस्थला । निष्कपाला निरुपला कृमिवल्मीकवर्जिता ॥ अस्थिवर्ज्या न सुषिरा तनुवालुकसंयुता । अङ्गारैर्वृक्षमूलैश्च स्थूलैश्चापि पृथग्विधैः ॥ पङ्कसङ्करकूपैश्च दारुभिर्लोष्ट्रकैरपि । शर्कराभिरयुक्ता या भस्माद्यैश्च तुषैरपि ॥ सा शुभा सर्ववर्णानां सर्वसम्पत्करी धरा । मनसश्चक्षुषो यत्र सन्तोषो जायते भुवि ॥ तस्या कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम् ॥ जहाँ भूमि कंकरीली, बालुका या खड़िया-युक्त होनी चाहिये । उसके आस पास जल सचय न होता हो तथा वायु और सूर्यप्रकाश आने में बाधा न हो । मकान का द्वार पूर्व या उत्तर (प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा) हो कमरे ग्रीष्म में शीतल तथा शीत में उष्ण रह सकें, छत तथा दरवाजे पर्याप्त ऊंचे हों । प्रत्येक व्यक्ति के कमरे का नाप ७० से १०० वर्ग फुट होना चाहिये । (अष्टहस्तायत चतुर्हस्तविस्तृतं धूमातपरजसामन-भिगमनीयमृतुसुखमतमस्क निवात प्रवातैकदेशमिति), मकान में खिड़कियाँ तथा झरोखे हों । सूर्य की किरणों में तथा शुद्ध वायु में प्रबल रोग तथा उसके जीवाणुओं के नाशन की शक्ति है अतएव ये दोनों कमरे में आ सकें ऐसा प्रबन्ध हो । रोगी या स्वस्थ पर अधिक समय तक सूर्य की सीधी किरणें न पड़े इसका भी ध्यान रखना चाहिये ।

तस्मिन् शयनमसम्बाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं कुर्वीत ॥ ५ ॥

ऐसे मकान में सम्बाधा (पीड़ा) से रहित, उचित लम्बी चौड़ी तथा शुद्ध वस्त्र से आच्छादित, मन को प्रिय लगनेवाली, पूर्व में सिरहानेवाली तथा सिरहाने के नीचे चाकू, छुरी आदि शस्त्र रखे हों ऐसी शय्या बिछानी चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्शः—ऊँची, नीची, कठोर, खटमलों से व्याप्त, कमजोर पायेवाली खाट नहीं होनी चाहिये । मच्छरदानी लगाना भी श्रेष्ठ है । स्वास्तीर्ण—साफ गद्दा, चद्दर, तकिया और कम्बल या रजाई होनी चाहिये । रोगी के बिछौने, ओढ़ने और पहनने के वस्त्रों को प्रतिदिन धूप में रखें तथा धोने योग्य को धोएँ एवं गुग्गुल सर्षपादि धूपन द्रव्यों से धूपित तथा सुवासित करने चाहिये । "शयनास्तरणप्रावरणानि मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्यु । स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्यु । असति सम्भवेऽनेकेषां तान्येव सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि सुशुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः । धूपनानि नर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणाना च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवय स्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्षपनिर्मोकानि घृतसम्प्रयुक्तानि स्यु । (चरक) ।

सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी ।
प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः ॥६॥

अच्छे आस्तीर्णवाली शय्या पर व्रणी शयन कर सुखपूर्वक शरीर की चेष्टाएँ (करवट बदलना) कर सकता है । पूर्व दिशा में देवता निवास करते हैं इसलिये उनकी पूजा (सत्कार) के लिये पूर्व दिशा में रोगी का सिर या सिरहाना रखते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—उत्तर दिशा में रोगी या स्वस्थ किसी का शिर नहीं करना चाहिये । स्वगृहे प्राक्शिरा शेते श्वासुर्ये दक्षिणशिरा ।

तस्मिन् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो यथेष्टमासीत ॥ ७ ॥

उक्त प्रकार से शुभलक्षणों वाले गृह में या शय्या पर रोगी अपने अनुकूल तथा प्रिय बोलनेवाले मित्रों के साथ बातचीत करता हुआ स्वेच्छानुकूल यथेष्ट समय तक बैठे या शयन करे ॥ ७ ॥

सुहृदो विचित्रिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः ।
आश्वासयन्तो बहुशस्त्वनुकूला. प्रियंवदाः ॥ ८ ॥

अनुकूल तथा प्रिय बोलनेवाले मित्र अनेक प्रकार से आश्वासन देते हुये तथा विविध ढङ्ग की कथाओं को सुना के रोगी की व्रण वेदना को शीघ्र ही दूर कर देते हैं ॥ ८ ॥

न च दिवानिद्रावशगः स्यात् ॥ ९ ॥
दिवास्वप्नाद् व्रणे कण्डूर्गात्राणां गौरवं तथा ।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैव भृशं भवेत् ॥ १० ॥

व्रणी मनुष्य दिन में निद्रा नहीं लेवे क्योंकि दिन में सोने से व्रण स्थान में खुजली, अङ्गों में भारीपन, व्रण में सूजन, लालिमा तथा स्राव की अधिकता ये उपद्रव हो जाते हैं ॥९-१०॥

उत्थानसंवेशनपरिवर्त्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणाद्यास्वात्मचेष्टाष्वप्रमत्तो व्रणं संरक्षेत् ॥ ११ ॥

उठने, बैठने, करवट बदलने, घूमने, जोर से बोलने आदि आत्मचेष्टाओं में सावधान रह कर व्रण की रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

स्थानासनं चङ्क्रमणं दिवास्वप्नं तथैव च ।
व्रणितो न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥ १२ ॥

खड़े रहना, बैठना, घूमना, दिन में सोना, इन्हें शक्ति होने पर भी व्रणी सेवन न करे ॥ १२ ॥

उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या चातिनिषेविता।
प्राप्नुयान्मारुतादद्वे रुजस्तस्माद्विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

अधिक उठने, बैठने, खड़े रहने तथा शयन करने से वायु कुपित हो जाती है जिससे अङ्गों में अनेक प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं इस कारण उत्थानादि को वर्जित कर देनी चाहिये ॥ १३ ॥

गम्यानाञ्च स्त्रीणां सन्दर्शनसम्भाषणसंस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत् ॥ १४ ॥

मैथुन करने योग्य स्त्रियों को देखना, उनके साथ बातचीत करना, तथा उनका स्पर्श करना दूर से वर्जित कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत्।
ग्राम्यधर्मकृतान् दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥ १५ ॥

उक्त स्त्री-दर्शनादि भावों से कभी २ दुर्बल इन्द्रिय पुरुष का शुक्र चलित (स्वस्थानच्युत) हो जाता है जिससे स्त्री सम्भोग न करने पर भी ग्राम्यधर्म (स्त्रीभोग) से होनेवाले दोष (वीर्यच्युति, बलहानि) प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥

विमर्शः—गम्या—स्वपत्नी, वेश्या, दासी प्रभृति।

नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीन् परिहरेत् ॥ १६ ॥

नूतन धान्य, उड़द, तिल, मटर, कुलथी, चवले, हरित वर्ग के शाक, अम्ल, लवण, कटु रस प्रधान द्रव्य, गुड़ और पिष्ट (आटे) के बने मालपूए आदि गरिष्ट पदार्थ, वल्लूर (शुष्क मांस), शुष्क शाक, बकरी, भेड़, आनूप देश तथा जल में रहनेवाले प्राणियों का मांस तथा वसा, ठंढा पानी, कृशरा (खिचड़ी), पायस (खीर), दही, दुग्ध, छाछ आदि को व्रणी वर्जित कर देवे ॥ १६ ॥

विमर्शः—हरितकवर्गशाकानि—कुठेरशिग्रुसुरसशुखाशुरिभूस्तृणा। मूलक चुक्रिका चेति वर्ग हरितकं विदुः ॥

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः।
दोषसञ्जननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥ १७ ॥

नवधान्य से शुरू कर तक्र पर्यन्त जो वर्ग कहा गया है वह दोषजनक तथा पूयवर्द्धक है ॥ १७ ॥

मद्यपश्च मैरेयारिष्टासवशीधुसुराविकारान् परिहरेत् ॥

मद्यपान करनेवाला या अमद्यपी व्रणी मनुष्य मैरेय, अरिष्ट, आसव, सीधु, सुरा विकारों को वर्जित कर देवे ॥ १८ ॥

विमर्शः—मैरेयपरिचयः—मैरेय धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसाधितम्। सचातुर्जातकाजाजीभक्तुष्ठोषणनागरम् ॥ अथवा—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने। सन्धान तद्विजानीयान्मैरेयमुभयात्मकम् ॥ आसवारिष्टलक्षणम्—यदपक्वौषधान्वुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टं काथसिद्धः स्यात्। सीधुलक्षणम्—ज्ञेयः शीतरसः सीधुः पक्वमधुरद्रवैः। सिद्धः पक्वरसः सीधु सम्पक्वमधुरद्रवैः ॥ सुरालक्षणम्—परिपक्वान्नसन्धानमुत्पन्ना सुरा जगुः। कुछ आचार्य मधुर सौम्यगुणयुक्त द्राक्षारसादिजन्य मद्यसेवन का उपदेश करते हैं। सस्नेह मधुरप्राय नातितीक्ष्णमकर्कशम्। तनु यत्सुखपेयञ्च मार्द्वीकेषु तदुत्तमम। यद्यपि मद्य उष्णप्रकृतिक होने से पित्त और रक्त को कुपित कर व्रण की शुद्धि तथा रोपण में बाधा पहुंचा सकते हैं किन्तु मधुर सौम्यगुणी मद्य हृदय का ताकत देने वाला तथा दीपन, पाचन, हर्षण और उत्साहवर्धक होने से भोजनोत्तर स्वल्प मात्रा में रोगी को देने से लाभ ही करता है।

मद्यमम्ल तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः।
आशुकारि च तत् पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम् ॥ १९ ॥

मद्य—अम्लरस वाला, रूक्षप्रकृतिक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, और शीघ्र ही रस-रक्तादि वाहक स्रोतसों में प्रवेशनशील होने से उसका पान करने से शीघ्र व्रण को व्यापादित कर देता है। ॥ १९ ॥

वातातपरजोधूमाव्यायातिसेवनातिभोजनानिष्टभोजनश्रवणदर्शनेर्ष्यामर्षभयक्रोधशोकध्यानरात्रिजागरणविषमाशनशयनोपवासवाग्व्यायामस्थानचङ्क्रमणशीतवातविरुद्धाध्यशनाजीर्णमक्षिकाद्याबाधाः परिहरेत् ॥

वायु, धूप, धूली, धुआं, ओस, इनका अधिक सेवन, अति भोजन, अनिष्ट भोजन, अनिष्ट शब्द का श्रवण और वस्तु का दर्शन, ईर्ष्या, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि जागरण, विषम भोजन, विषम शयन, उपवास, जोर से बोलना, सीधा खड़ा रहना, घूमना, शीत और वात का सेवन, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण तथा मक्षिका, मच्छर आदि बाधाओं का परिहरण कर देना चाहिये ॥ २० ॥

विमर्शः—बहु स्तोकमकाले वा विज्ञेय विषमाशनम्। भुक्तस्योपरि भोजनमध्यशन तथा ॥ मक्षिकावर्जनहेतु—मक्षिका व्रणमागत्य निक्षिपन्ति यदा कृमीन्। श्वयथुर्भवेच्छिते तैस्तु जायते भृशदारुण. ॥ तीव्रा रुजा विचित्रश्च रक्तस्रावश्च जायते ॥

व्रणिनः सम्प्रतप्तस्य कारणैरेवमादिभिः।
क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यङ् न जीर्यति ॥ २१ ॥
अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्।
ततः शोफरुजास्रावदाहपाकानवाप्नुयात् ॥ २२ ॥

उक्त प्रकार के तथा अन्य इसी प्रकार के कारणों से सन्तप्त हुये तथा क्षीण शोणित-मांस वाले व्रणी का खाया हुआ भोजन ठीक तरह से पचता नहीं है। इस तरह अजीर्ण होने से वात, पित्त आदि दोषों का विभ्रम (स्थानान्तर गमन या दुष्टि) बलवान हो जाता है जिससे व्रण स्थान में सूजन, पीड़ा, स्राव, दाह और पाक उत्पन्न होते हैं ॥ २१-२२ ॥

सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरेण भवितव्यमिति। तत् कस्य हेतोः ? हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपतिकुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतज-

निमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित्॥ २३॥

सर्वदा नख और बाल छोटे रखने वाला, पवित्र, श्वेत वस्त्र पहने हुये, शान्ति पाठ, मङ्गल कर्म, देवता, ब्राह्मण और गुरु की सेवा में तत्पर व्रणी को होना चाहिये। ऐसा क्यों रहना? हिंसार्थ विहार करनेवाले पराक्रमी राक्षस तथा रुद्र, कुबेर और कार्तिकेय के अनुचर मांस और रक्त के अभिलाषुक होने से रक्त के निमित्त व्रणी के पास अपना सत्कार कराने को आते हैं अथवा कभी २ उस व्रणी को मारने की इच्छा से भी आते हैं॥ २३॥

भवति चात्र—

तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तरात्मना।
धूपबल्युपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवोपहारयेत्॥ २४॥

सत्कार को चाहनेवाले उन राक्षसों के लिये सच्चे अन्तःकरण से प्रयत्न करना चाहिये एवं उनके लिये धूप, बलि, उपहार तथा मिष्टान्नादिक भक्ष्य पदार्थ चौरास्ते पर रखने चाहिये॥ २४॥

विमर्शः—राक्षसाः क किमर्थञ्च घ्नन्ति-अशुचिं भिन्नमर्यादं घृतं वा यदि वाऽक्षतम्। हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा॥ राक्षस शब्द से यहां आठों प्रकार के ग्रहों का बोध होता है। देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषां गन्धर्वयक्षाः पितरो भुजङ्गाः। रक्षांसि यावापि पिशाचजातिरेषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः॥

ते तु सन्तर्पिता आत्मवन्तं न हिंस्युः। तस्मात् सततमतन्द्रितो जनपरिवृतो नित्यं दीपोदकशस्त्रस्रग्दामपुष्पलाजाद्यलङ्कृते वेश्मनि सम्पन्मङ्गलमनोऽनुकूलाः कथाः शृण्वन्नासीत॥ २५॥

उन देवग्रहों को बलि, उपहार आदि से संतृप्त कर देने से वे जितेन्द्रिय पुरुष को नहीं मारते हैं। इसलिये निरन्तर सावधान होकर कुटुम्बी अथवा आसपास के अनेक मनुष्यों के साथ सदा दीप, जल, शस्त्र, माला, रज्जु, पुष्प तथा धान की लाजा आदि पदार्थों से अलंकृत मकान में सम्पत् (धन), मङ्गल (गाजे बाजे) आदि से प्रसन्न चित्त होकर धर्म कथाओं को सुनता रहना चाहिये॥ २५॥

सम्पदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः।
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात्॥२६॥

सम्पत्ति के अनुकूल धर्म कथाओं से प्रसन्न मन होकर व्याधि के छुटकारे के लिये आशा रखते हुये प्रयत्न करने से जल्दी रोग मुक्त होकर व्रणी सुख प्राप्त करता है॥ २६॥

ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः॥ २७॥

उपाध्याय तथा वैद्य प्रातः तथा सायं दोनों सन्ध्या समयों में ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों में कहेहुये तथा अन्य शास्त्रोक्त आशीर्वचनों से रोगी की रक्षा करे॥ २७॥

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
द्विरह्नः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः॥ २८॥

सरसों, नीम के पत्ते, घृत और नमक इनके द्वारा दिन में दो वार दस दिन तक लगातार सावधानीपूर्वक धूनी देनी चाहिये॥ २८॥

विमर्शः—धूपने विशेषः—'न केवलं व्रणं धूपयेत्, शयनाद्यपि व्रणदौर्गन्ध्यापगमार्थं, नीलमक्षिकादिपरिहारार्थञ्च' (डल्हणः)। व्रणे निम्बवचाद्यञ्च धूपनं सम्प्रशस्यते। (शार्ङ्गधर)। शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च धूपयुक्तम्। धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषघ्नः॥ इस तरह प्राचीनों ने भी व्रण, व्रण बन्धन द्रव्य, शय्या, वस्त्र, मकान इन्हें विष तथा जीवाणुरहित करने के लिये धूपन का प्रयोग लिख कर जीवाणुनाशक (Antiseptic) प्रयोगों का पथप्रदर्शन किया है।

छत्रामतिच्छत्रां लाङ्गूल(ङ्ग)लीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सहस्रवीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत्॥ २९॥

छत्रा, अतिच्छत्रा, लाङ्गली, जटिला, ब्रह्मचारिणी, लक्ष्मी, गुहा, अतिगुहा, वचा, अतिविषा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या और सिद्धार्थक इन्हें सिर पर धारण करना चाहिये॥ २९॥

विमर्शः—छत्रा और अतिच्छत्रा को डल्हण दोनों प्रकार की द्रोणपुष्पी मानता है। सुश्रुत कहता है कि—छत्रातिच्छत्रके विद्याद् रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे। जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते॥ अरुणदत्त छत्रा को शतपुष्पा तथा अतिच्छत्रा को विषाणिका मानता है। लाङ्गली कपिकच्छुरिति डल्हणः, विषघ्नलाङ्गलीति हाराणचन्द्रः। जटिला=जटामांसी। ब्रह्मचारिणी=मुण्डतिकेति डल्हणः, ब्रह्मयष्टीति हाराणचन्द्रः, ब्राह्मीति अन्ये। लक्ष्मी=शमी, लक्ष्मणेत्यन्ये, विष्णुक्रान्तेत्यपरे, ऋद्धिरित्युदयचन्द्रः, तुलसीत्यन्ये, गुहाऽतिगुहा-शालपर्णीपृश्निपर्ण्यौ। शतवीर्या-शतावरी, नीलदूर्वेत्यन्ये, श्वेतदूर्वेति हाराणचन्द्रः। सहस्रवीर्या-श्वेतदूर्वेति डल्हणः, दूर्वेति हाराणचन्द्रः।

व्यज्येत बालव्यजनैर्व्रणं न च विघट्टयेत्।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत्॥ ३०॥

गाय, घोड़े आदि की पूंछ से बनी चँवरी से व्रण पर पंखा (हवा) करना चाहिये। व्रण को दबाना, दुखाना और खुजाना नहीं चाहिये किन्तु शय्या पर सोते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिये॥ ३०॥

अनेन विधिना युक्तमादावेव निशाचराः।
वनं केशरिणाऽऽक्रान्तं वर्जयन्ति मृगा इव॥ ३१॥

उक्त प्रकार से रहने वाले व्रणी मनुष्य को निशाचर प्रथम ही त्याग देते हैं या आक्रमित नहीं करते हैं जैसे सिंह से व्याप्त वन को अन्य मृग छोड़ देते हैं॥ ३१॥

जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम्।
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति॥ ३२॥

पुराने सांठी चांवलों का भात जो घृत से स्निग्ध हो, एवं उष्ण तथा द्रव और अल्पमात्रा में लेकर जङ्गली पशुपक्षियों के मांसरस के साथ सेवन करने से शीघ्र ही व्रण नष्ट हो जाता है॥ ३२॥

तण्डुलीयकजीवन्तीमुनिषण्णकवास्तुकैः।

बालमूलकवार्त्ताकपटोलैः कारवेल्लकैः ॥ ३३ ॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः।
अन्यैरेवंगुणैर्वाऽपि मुद्गादीनां रसेन वा ॥
शक्तून् विलेपीं कुल्माषं जलञ्चापि श्रृतं पिबेत् ॥३४॥

चौलाई, जीवन्ती, चौपतिया, बथुआ, कोमल मूली, बैंगन, परवल, करेला इन शाकों को घृत में भूनकर सैन्धव लवण, अनारदाने का चूर्ण और आंवलों का रस मिला कर सेवन करना चाहिए। अथवा और भी इनके समान गुणवाले अन्य पदार्थ तथा मूंग आदि के स्वरस के साथ चावल सेवन करें तथा सत्तू, विलेपी, कुल्माष इन्हें भी प्रयुक्त करें एवं श्रृतजल पीना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः।
व्रणी वैद्यवशे तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति ॥ ३५ ॥

दिन में निद्रा नहीं लेवे तथा झोंके की वायु से रहित मकान में रहकर व्रणी वैद्य के कथन का पालन करता रहने से शीघ्र ही व्रण से आराम प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

व्रणे श्रमश्रुरायासात् स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापात् ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥

किसी भी प्रकार के श्रम के करने से व्रण में सूजन उत्पन्न होती है तथा जागरण करने से सूजन और लालिमा उत्पन्न होती है। दिन में शयन करने से सूजन, लालिमा तथा वेदना ये उत्पन्न होते हैं। स्त्रीसम्भोग करने से सूजन, लालिमा, वेदना और मृत्यु होती है ॥ ३६ ॥

एवंवृत्तसमाचारो व्रणी सम्पद्यते सुखी।
आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा ॥ ३७ ॥
इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणितोपासनीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

उपर्युक्त प्रकार से आहार तथा विहार का सेवन करने से व्रणी सुख को प्राप्त करता है तथा वह दीर्घायु का लाभ करता है ऐसा धन्वन्तरि भगवान् का वचन है ॥ ३७ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां व्रणितोपासनीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशतितमोऽध्यायः।

अथातो हिताहितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से 'हिताहितीय अध्याय' का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२

यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किञ्चिद् द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वा अस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते। तत्तु न सम्यक्। इह खलु यस्माद् द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति ॥ ३ ॥

जो औषध या पदार्थ किंवा आहार-विहार वायु के लिये पथ्यकारी है वह पित्त के लिये अपथ्यकारी होता है। इस विचार की दृष्टि या कारण से कोई भी द्रव्य सब समय और सब अवस्थाओं में पूर्णरूप से या निश्चयरूप से हितकारी या अहितकारी नहीं हो सकता है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। यह इनका विचार ठीक नहीं है क्योंकि धन्वन्तरि के मतानुसार सुश्रुततन्त्र में सम्पूर्ण द्रव्य अपनी प्रकृति से किंवा अपने संयोग से निरन्तर हितकारी, निरन्तर अहितकारी और अवस्थानुसार हित और अहित उभयार्थकारी होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—स्वभावत -तत्र प्रकृतिरुच्यते। स्वभावोय', स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोग। तथया—स्वभावादुरुवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जला'। स्वभावाद् गुरवो माषा वराहो महिषस्तथा ॥ (चरकः)। संयोग शब्द से संयोग, संस्कार, राशि, देश, काल का ग्रहण करना चाहिये। संयोगो द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभाव, स विशेषमाश्रिते। य पुनर्नैकशो द्रव्याण्यारभन्ते, तथया मधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसाञ्च संयोग। (चरकः)।

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि। एकान्ताहितानि तु दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषादीनि। संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति। हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥ ४ ॥

उनमें से जल, घृत, दुग्ध और चांवलों का भात ये द्रव्य मनुष्य जाति की हित की दृष्टि से जन्म से ही हितकारी हैं। दहन, पचन और मारण आदि कार्यों में अग्नि, क्षार और विष क्रमशः प्रयुक्त द्रव्य एकान्त (पूर्ण या निश्चय) रूप से अहितकर होते हैं। संयोग के कारण अच्छे द्रव्य भी विषतुल्य हो जाने से एकान्तरूप से अहितकर हैं। एक ही समय में हित तथा अहित करने वाले द्रव्य जैसे जो द्रव्य वायु के लिये पथ्यकारी है वही द्रव्य उसी समय पित्त के लिये अपथ्यकारी होता है ॥ ४ ॥

अतः सर्वप्राणिनामयमाहारार्थो वर्ग उपदिश्यते। तद्यथा—

रक्तशालिषष्टिककङ्कुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमकशकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्दालकश्यामाकगोधूमवेणुयवादयः। एणहरिणकुरङ्गमृगमातृकाश्वदंष्ट्राकरालक्रकरपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्त्तिकादीनां मांसानि, मुद्गवनमुद्गमकुष्टकलायमसूरमङ्गल्यचणकहरेण्वाढकीसतीनाः। चिल्लिवास्तुकसुनिषण्णकजीवन्तीतण्डुलीयकमण्डूकपर्ण्यः। गव्यं घृतं सैन्धवदाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः ॥ ५ ॥

इस लिये सर्व प्राणियों के आहार के लिये वक्ष्यमाण वर्ग का उपदेश करते हैं। जैसे—लाल चांवल, षष्टिक (साठ दिन में पकने वाले) चांवल, कंगुक (कांगुनी), मुकुन्दक (काले सांठी), पाण्डुक (पीले धान्य), पीतक, प्रमोदक, कालक,

असनक, पुष्पक, कदंबक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कलम, नीवार धान्य, कोद्रव (कोदो), उद्दालक (वनकोदो), श्यामाक, गेहूँ, वेणुयवादि धान्य विशेष तथा पृष्ठ (कृष्ण हरिण), हरिण, एण, मृगमातृका, रुरुदंष्ट्रा, कराल (कस्तूरीमृग), कक्कर, कपूतर, बटेर, तीतर, कपिञ्जल, वर्तीर, वर्तिका आदि प्राणियों का मांस और मृग, वनमृग, मोठ, कलाय (मटर), मसूर, मङ्गल्य (पाण्डु वर्ण की मसूर), चना, हरेणु, अरहर, सर्षप, चिरौंजी (खेत का बथुआ), वास्तुक (साधारण बथुआ), सुनिषण्णक (चौपतिया), जीवन्ती, तण्डुलीयक (चौलाई) और मण्डूकपर्णी ये शाकें तथा गौ का घी, सैन्धव लवण, अनारदाने और आंवले आदि पदार्थों वाला वर्ग सर्वप्राणियों के लिए सामान्यतया अधिक पथ्यकारक है ॥ ७ ॥

विमर्श.—वरकेऽपि पथ्यतमत्यागा निर्देश.—शोणितशालयः मुद्गयूषान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठता.। मुद्गाः यवगोधान्यानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, घृतं गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्।

तथा ब्रह्मचर्य्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशाव्यव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्य, वायुरहित स्थान में शयन, सुहाने गरम पानी में स्नान, रात्रि में शयन तथा व्यायाम ये पूर्णरूप से अधिक पथ्यकारी हैं ॥ ६ ॥

विमर्श.—ब्रह्मचर्यलक्षणम्-स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यं सेवनीयं सदा बुधैः॥ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकपरसाधनम्। अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमैकान्तिकम्। (वाग्भट)। रात्रिनिद्रा—स्वाभाविक होने से श्रेष्ठ है। रात्रिस्वभावप्रभवा सर्वा या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्। (चरकः)। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः। (मनु.)। प्रदोषदिवसौ वामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वयं त्रयाणां ब्रह्मभूयाद कल्पते। (द० स्मृति.)। व्यायाम.—शरीरायासजनकं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। (सु०)। त्रयाणां विविधोऽज्ञानां व्यायाम इति संज्ञितः। (धनुर्वेदः)।

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि च प्रागुपदिष्टानि। हिताहितानि तु यद्वयोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥७॥

कुछ द्रव्य एकान्त हितकारी होते हैं जैसे पानी, कुछ द्रव्य एकान्त अहितकर होते हैं जैसे अग्नि, इन्हें पहले कह आये हैं। हित और अहितकारक द्रव्य तो वे हैं जैसे-जो द्रव्य वायु के लिए पथ्यकारक हैं वे ही पित्त के लिये अपथ्यकारक हैं ॥७॥

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति। तद्यथा-वल्लीफलकवृक्ककरीराम्लफललवणकुलत्थपिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्कशाकाजाविकमांसमद्यजाम्बवचिलिचिममत्स्यगोधावराहांश्च नैकध्यमश्नीयात् पयसा॥

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो अन्य पदार्थों के साथ संयोग करने से विषतुल्य हो जाते हैं। जैसे वल्ली (लता) पर लगने वाले फल कुष्माण्ड आदि, कवक (छत्रक), बांस के अङ्कुर, निम्बादि अम्ल फल, नमक, कुलथी, तिल की खली, दही, तैल, अङ्कुरित धान्य, पिष्टविकृतियां, सूखे शाक, बकरी और मेढ़ का मांस, मद्य, जामुन के फल, चिलचिम नामक मत्स्य, गोधा और शूकर का मांस इन पदार्थों में किसी को भी दुग्ध के साथ मिलाकर सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्श:—जब दो पदार्थों के संयोग होने से भिन्न गुण-धर्म वाला एक तीसरा ही पदार्थ उत्पन्न हो जाय और वह शरीर पर अहित प्रभाव करे उसे संयोगविरुद्ध (Chemically Incompatible) कहते हैं। तुल्य मधु-घृतादि का परीक्षण कर देखना चाहिये।

रोगं सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
अवेक्ष्याग्न्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥९॥

रोगवृत्ति अर्थात् रोगी समूह या रोगी के उदरादिक रोग, अष्टविध (जात्यातुरौषधान्नरसदेशर्तुदक) सात्म्य, आनूपादिक देश, शीतोष्णवर्षरूपी काल, स्थूल-कृश-मध्य देह, अग्नि, प्रकृति, वय, बल सत्त्व आदि भावों को देखकर बुद्धिमान वैद्य विचार करके हित या अहित द्रव्य का प्रयोग करे ॥ ९ ॥

विमर्श—विचार कर दिया विष अमृत तथा बिना विचार कर दिया दुग्ध भी विष हो सकता है। योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं वापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्॥ (चरक)

अवस्थाऽन्तरबाहुल्याद्रोगादीनां व्यवस्थितम्।
द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ॥ १० ॥

रोगादिकों की अनेक अवस्थाओं का आधिक्य होने से बुद्धिमान् वैद्य किसी भी द्रव्य को एकान्तहित या एकान्त रूप से अहितकर नहीं समझते हैं किन्तु स्वस्थावस्था के रक्षण में हित या अहित का विचार करते हैं ॥ १० ॥

द्वयोरन्यतरादाने वदन्ति विषदुग्धयोः।
दुग्धस्यैकान्तहिततां विषमेकान्ततोऽहितम् ॥ ११ ॥
एवं युक्तरसेष्वेषु द्रव्येषु सलिलादिषु।
एकान्तहिततां विद्धि वत्स! सुश्रुत! नान्यथा ॥ १२ ॥

जिस तरह वैद्य स्वस्थ मनुष्य के लिये विष और दुग्ध इन दोनों में से एक को ग्रहण करना हो तो दुग्ध ही को एकान्त हितकारी तथा विष को एकान्त अहितकारी कहते हैं। हे वत्स सुश्रुत! इसी तरह दुग्ध की भांति प्रभावसंसिद्ध युक्तरस जलादिक द्रव्यों को एकान्त (पूर्ण) रूप से हितकारी जानो तथा विपरीत रसयुक्त विषादि में पूर्णहितकारिता न जानो ॥ ११-१२ ॥

अतोऽन्यान्यपि संयोगाद्हितानि वक्ष्यामः—नवविरूढधान्यैर्वसामधुपयोगुडमाषैर्वा ग्राम्यानूपौदकपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्। न पयोमधुभ्यां रोहिणीशाकं जातुकशाकं वाऽश्नीयात्। बलाकां वारुणीकुल्माषाभ्याम्। काकमाचीं पिप्पलीमरिचाभ्यां नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्यम्। मधु चोष्णोदकानुपानं पित्तेन चाममांसानि। सुराकृशरापायसांश्च नैकध्यम्। सौवीरकेण सह तिलशष्कुलीम्। मत्स्यैः सहेक्षुविका-

रान्। गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, गुडेन वाराहं मधुना च सह विरुद्धम्। क्षीरेण मूलकमाम्रजाम्बवश्वाविच्छूकरगोधाश्च। सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा विशेषेण चिलिचिमम्। कदलीफलं तालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा। लकुचफलं पयसा दध्ना मापसूपेन वा। प्राक् पयसः पयसोऽन्ते वा ॥ १३ ॥

इसके अनन्तर अन्य पदार्थ जो कि संयोग से अहितकर होते हैं उनका वर्णन करते हैं। नवीन अङ्कुरितधान्य तथा वसा, शहद, दुग्ध, गुड़ और उड़द के साथ ग्राम्य, आनूप और जलीय प्राणियों का मांस नहीं खाना चाहिये। दुग्ध और मधु के साथ रोहिणी शाक या जातुक नहीं खानी चाहिये। बलाका के मांस को मद्य तथा अर्द्धस्विन्न धान्य के साथ नहीं खाना चाहिये। मकोय को पीपल तथा काली मरिच के साथ नहीं खानी चाहिये। नाडी का शाक, मुरगा और दही को एक साथ नहीं खाना चाहिये शहद को गरम पानी के साथ, कच्चे मांस के साथ पित्त को तथा सुरा, खिचडी और पायस (खीर) को एक साथ नहीं सेवन करें। सौवीरक (कांजी) के साथ तिल की पापडी नहीं खानी चाहिये। ऊख के बने गुड, शर्करा आदि को मत्स्य के साथ नहीं खावें। गुड के साथ मकोय, मधु के साथ मूली, गुड तथा शहद के साथ शूकर का मांस निषिद्ध है। इसी तरह दुग्ध के साथ मूली, आम, जामुन, खरगोश, सूकर और गोधा मांस सेवन वर्जित है। दुग्ध के साथ सर्व प्रकार की मछलियां वर्जित हैं किन्तु चिलचिम विशेष कर निषिद्ध है। ताल फल, दुग्ध, दही और छाछ के साथ कदलीफल नहीं खाना चाहिये। दुग्ध, दही और उड़द की दाल या यूष के साथ लकुच (बडहल) का फल नहीं खाना चाहिये तथा दुग्ध के पूर्व या पीछे भी लकुच फल नहीं खाना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्श.—मधु का सर्व उष्ण पदार्थों के साथ सेवन वर्जित है। हन्यान्नरमुष्णार्तमथवा सविषान्वयात्। (चरकः)। उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णं निहन्ति तत्। (वाग्भट)। नानापुष्पप्रकाराणां रसनागात्मकं मधु। तच्छैत्यात्सौकुमार्याच्च सर्वत्रैवविरुद्ध्यते ॥ (हारीतः)। सौवीरकलक्षण—सर्वेषु निष्तुषे पक्वे सौवीरं संधितं भवेत्। (शार्ङ्गधर.)। चरके—दुग्धेन सह संस्कारमत्स्यसेवननिषेध—"न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदुभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं महाभिष्यन्दि शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं, विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय च विशेषेण चिलचिमं, स पुनः शक्त्या सर्वतोगोहितरालिलोहितप्रकारः प्रायो भूमौ चरति। स हि महाभिष्यन्दित्वात् स्थूललक्षणमानेतान् शोणितजान् विविधांश्च व्याधीनुपजनयति, आमविषमुदीरयति च।

(चरकः)

अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः—कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान् नाद्यात्। कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डदार्वग्निसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात्। कांस्यभाजने दशरात्रपर्युषितं सर्पिः, मधु चोष्णैरुष्णे वा, मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीम्। तिलकल्कसिद्धमुपोदिकाशाकम्। नारिकेलेन वराहवसापरिभृष्टां बलाकाम्। भासमङ्गारशूल्यं नाश्नीयादिति ॥ १४ ॥

अब इसके अनन्तर कर्मविरुद्ध द्रव्यों का वर्णन करते हैं—सरसों के तैल में भूने हुये कबूतरों को नहीं खाना चाहिये। कपिञ्जल, मोर, लाव, तीतर और गोधा इनको एरण्ड की लकडियों की अग्नि में पका कर अथवा एरण्ड के तैल में पका कर नहीं खाने चाहिये। कांसे के बर्तन में दस रात तक रखा हुआ घी नहीं खाना चाहिये। उष्ण द्रव्यों के साथ तथा ग्रीष्म ऋतु में शहद सेवन नहीं करना चाहिये। मछली अथवा सोंठ पकाये पात्र में मकोय पका कर नहीं खानी चाहिये। तिलकल्क में सिद्ध किया हुआ पोई का शाक नहीं खाना चाहिये। वराह की चर्बी में भूनी हुई बलाका को नारिकेल के साथ तथा भास पक्षी को लोहे के कांटे में बींध कर अग्नि में पका के नहीं खाना चाहिये ॥ १४ ॥

अतो मानविरुद्धान् वक्ष्यामः—मध्यस्नुषी मधुसर्पिषी मानतस्तुल्ये नाश्नीयात्। स्नेहौ मधुस्नेहौ जलस्नेहौ वा। विशेषादान्तरीक्षोदकानुपानौ ॥ १५ ॥

अब इसके बाद मानविरुद्ध द्रव्यों का वर्णन करते हैं—शहद और पानी तथा शहद और घी बराबर प्रमाण में सेवन नहीं करें। दो प्रकार के भिन्न २ स्नेहों को मिला के सेवन नहीं करें तथा शहद और स्नेह अथवा जल और स्नेह समप्रमाण में मिला कर नहीं खाने चाहिये। विशेषतया मधु और स्नेह के साथ आकाश जल का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्श.—स्नेहपरिभाषा—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः। (चरकः)।

अत ऊर्ध्वं रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाकतश्च विरुद्धानि वक्ष्यामः—तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च। मधुरकटुकौ च सर्वतः। मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्यां मधुरकषायौ चाम्ललवणौ रसतः। अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्, अम्लतिक्ताम्लकषायौ च सर्वतः। लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां, लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः। कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च, तिक्तकषायौ रसतः ॥ १६ ॥

अब इसके अनन्तर रस, वीर्य और विपाक में विरुद्ध दो दो रसों का वर्णन करते हैं। जैसे मधुर और अम्ल तथा मधुर और लवण ये रस और वीर्य में विरुद्ध हैं तथा मधुर और कटु रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर और तिक्त रस तथा मधुर और कषाय रस रस और विपाक में परस्पर विरुद्ध हैं। अम्ल और लवण रस ये दोनों केवल रस में विरुद्ध हैं। अम्ल और कटुक रस रस और विपाक में विरुद्ध हैं। अम्ल और तिक्त तथा अम्ल और कषाय रस सर्व प्रकार से परस्पर विरुद्ध हैं। लवण और कटु रस रस और विपाक में विरुद्ध हैं। लवण और तिक्त रस तथा लवण और कषाय रस सर्व बातों में विरुद्ध हैं। कटु और तिक्त रस तथा कटु और कषाय रस रस और वीर्य में विरुद्ध हैं। तिक्त और कषाय रस रस विरुद्ध हैं ॥ १६ ॥

तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिरूक्षानतिस्निग्धानत्युष्णानतिशीतानित्यवमादीन् विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

तर और तम योग से युक्त भाव अर्थात् पदार्थ जैसे अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अति उष्ण और अति शीत आदि को वर्जित करना चाहिये ॥ १७ ॥

भवन्ति चात्र—

विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानि च ।
तान्येकान्ताहितान्येव शेषं विद्याद्धिताहितम् ॥ १८ ॥

उक्त प्रकार से जो भी पदार्थ या द्रव्य, वीर्य, गुण तथा रस से विरुद्ध हों वे सब पूर्णरूप से अहितकारी हैं तथा शेष में से कुछ पदार्थ हितकारी तथा कुछ पदार्थ अहितकारी हैं ॥ १८ ॥

विमर्शः—द्रव्य रस, वीर्य, गुण, पाक आदि में से किसी एक द्वारा मुख्यतया अपना २ कार्य करते हैं। किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥ चरकोक्तो द्रव्याणां विरोधप्रकारो यथा—यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः । आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते ॥ यद्यपि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः । संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च । विरुद्धं तच्च न हितं हन्तस्यद्विविधिमिश्च यत् ॥ (च सू अ.२६)

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति ।
विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवान्नरः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा तथा शरीर के स्वास्थ्य का रक्षण नहीं करता हुआ रसनेन्द्रिय के स्वाद में लालायित होकर रस और वीर्य आदि से विरुद्ध पदार्थों का सेवन करता है वह रोग, इन्द्रियों की दुर्बलता और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

विमर्शः—विरुद्धान्नसेवनजा रोगाः—पाण्ड्वान्यवीसर्पकोदरागा विस्फोटकोन्मादभगन्दरार्शान्। मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यानिलस्य चैव ॥ क्लिासकुष्ठग्रहणीगदानां शोषान्नपित्तज्वरपीनसानाम् । सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ (च. सू. अ. २६)

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत् ।
रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥ २० ॥

जो कुछ भी खाया हुआ विरुद्ध अन्नादि पदार्थ वातादि दोषों को प्रकुपित कर देता है। किन्तु उन दोषों को वमन या विरेचन द्वारा बाहर नहीं निकालता है वह शरीर में विकार करता है, अथवा रस-रक्तादि धातुओं में दुष्टि उत्पन्न कर रोग करता है ॥ २० ॥

विमर्शः—अन्यत्र यत्किञ्चित् से आहार तथा विहार दोनों का ग्रहण किया है। यत्किञ्चिद्दोषमाकृत्य न निर्हरति कायतः । आहारजातमन्यद्वा तत्सर्वमहितं स्मृतम् ॥

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।
वमनं शमनं वाऽपि पूर्वं वा हितसेवनम् ॥ २१ ॥

इस तरह विरुद्धाहार से उत्पन्न हुये रोगों को विरेचन, वमन और शमन नष्ट करते हैं। अथवा पूर्व ही से हितपदार्थों का सेवन करना भी रोगनाशक है ॥ २१ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद ने चिकित्सा के दो प्रकार उक्त श्लोक से बताये हैं। आगत व्याधिचिकित्सा और अनागत व्याधिचिकित्सा प्रथम में रोगोत्पत्ति होने पर वमन, विरेचन तथा रोगविरोधी द्रव्यों (रस, भस्म, काष्ठौषधि) द्वारा रोग का प्रशमन करना। चरक ने भी यही माना है। एषाञ्च खलु परेषाञ्च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतीकारकरा भवन्ति, यथा वमनं, विरेचनं, तद्विरोधिना द्रव्याणा संशमनार्थमुपयोगस्तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कार शरीरस्येति। वाग्भट ने भी ये ही दो भेद लिखे हैं 'शमं वा तद्विरोधिभि, द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृति'। 'तथाविधैः' के लिये रसायनप्रयोगैरिति चक्रपाणिः, वैरोधिकक्रुपितदोषप्रतिपक्षभूतैर्द्रव्यैरिति-अरुण दत्तः, सुवर्णलौहादिविरोधिरोगहरं पूर्वमेव सेवेत, यदुक्तं "न सज्जते हेमपात्रे विषं पक्वदलेऽम्बुवत्' इति डल्हणः। शरीर में जीवाणु प्रवेश से उत्पन्न रोग की चिकित्सा को Curative treatment कहते हैं तथा Serum का उपयोग इसमें बहुत लाभ करता है। जैसे Bacillary dysentery, मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर (Carebrospinal fever), धनुःस्तम्भ (Tetanus), रोहिणी (Diphtheria) रोगों में सीरम से बहुत लाभ होता है। सीरम द्वारा जीवाणुविरोधी या विषविरोधी द्रव्य को रोगी के शरीर में प्रविष्ट कर प्रविष्ट हुये जीवाणु या उनके विष का शमन करते हैं। द्वितीय अनागत व्याधिचिकित्सा (Prophylactic treatment) के लिये मनुष्य को होने वाले रोग से बचने के लिये "पूर्वं वा हितसेवनम्" का उपदेश देते हैं तथा चरकानुसार ऐसे द्रव्यों का सेवन करा देते हैं जिससे मनुष्य के शरीर में होनेवाले रोगों के विरुद्ध टक्कर लेने के लिये संस्कार हो जाता है। 'तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमपि संस्कार. शरीरस्येति' तुलसीपत्र, कालीमरिच आश्विन में सेवन करते रहने से मलेरिया ज्वर नहीं होता। रुद्राक्ष के दाने को घिस कर सात दिन तक छोटे बच्चों को देने से शीतला (Small Pox) रोग उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान में वैक्सीन (Vaccine) के प्रयोग से बहुत लाभ हुआ है। जीवाणु या उनके विष को स्वस्थ शरीर में प्रविष्ट कर उनका शरीर में संस्कार करके शरीर को उन्हीं विरोधी द्रव्यों के लिये क्षम बनाया जाता है जिससे उन जीवाणुओं का भविष्य में शरीर पर आक्रमण होने पर भी रोगोत्पत्ति न हो। इस तरह वैक्सीन का प्रयोग रोगप्रतिषेध के लिये होता है। जैसे प्लेग, आन्त्रिक ज्वर (Typhoid), विसूचिका (Cholera), अतिसार आदि को रोकने में बहुत लाभ हुआ है। यद्यपि आयुर्वेद में सीरम और वैक्सीन का प्रयोग नहीं है किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों तद्विरोधी द्रव्योपयोग द्वारा आगत व्याधिचिकित्सा सीरमप्रयोग तथा पूर्वमपि संस्कार. शरीरस्येति द्वारा अनागत व्याधिचिकित्सा या वैक्सीन प्रयोग का उल्लेख स्पष्ट है। शमनलक्षणम्—न शोषयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि । समीकरोति विषमान् तद् संशमनमुच्यते ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च ।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ २२ ॥

नित्याभ्यास से सात्म्य हुआ, अल्पमात्रा में सेवित, दीप्ताग्नि वाले का, युवा मनुष्य का अन्तः और बाह्य प्रयोग से शरीर स्निग्ध हो, व्यायाम करने वाले तथा बलवान् पुरुषों का किया हुआ विरुद्ध भोजन भी निष्फल (रोगोत्पत्ति नहीं करने वाला) हो जाता है ॥ २२ ॥

विमर्शः—सात्म्य नाम तथत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। (चरकः)। दीप्ताग्नेः—बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिता। (चर०)। व्यायामप्रभावः—व्यायाम कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्। विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते ॥

अथ वातगुणान् वक्ष्यामः—

पूर्वः समधुरः स्निग्धो लवणश्चैव मारुतः।
गुरुर्विदाहजननो रक्तपित्ताभिवर्द्धनः ॥ २३ ॥
क्षतानां विषजुष्टानां व्रणिनः श्लेष्मलाश्च ये।
तेषामेव विशेषेण सदा रोगविवर्द्धनः ॥ २४ ॥
वातलानां प्रशस्तश्च श्रान्तानां कफशोषिणाम्।
तेषामेव विशेषेण व्रणक्लेदविवर्द्धनः ॥ २५ ॥

अब इसके अनन्तर वायु के गुणों को कहते हैं। पूर्व दिशा की वायु मधुर, स्निग्ध, लवण, गुरु, दाहजनक तथा रक्तपित्तवर्धक है। क्षत (व्रण) से युक्त, विष से व्याप्त, व्रण से पीड़ित तथा श्लेष्म प्रकृति के मनुष्यों के लिये विशेष करके सदा रोगवर्धक है। वायु की प्रकृति वाले, थके हुये और जिनका कफ सूख गया हो उनके लिये पूर्व वायु प्रशस्त है किन्तु इन्हीं पुरुषों के यदि व्रण हो तो उसमें क्लेद को बढ़ाती है ॥ २३-२५ ॥

मधुरश्चाविदाही च कषायानुरसो लघुः।
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपणः ॥ २६ ॥

दक्षिण दिशा की वायु मधुर, विदाह नहीं करनेवाली, कुछ कसैली, लघु, नेत्रों के लिये हितकारी, बलवर्धक, रक्तपित्त रोग की शामक तथा वातरोगों को नहीं प्रकुपित करनेवाली है।

विशदो रूक्षपरुषः खरः स्नेहबलापहः ॥ २७ ॥
पश्चिमो मारुतस्तीक्ष्णः कफमेदोविशोषणः।
सद्यः प्राणक्षयकरः शोषणस्तु शरीरिणाम् ॥ २८ ॥

पश्चिम दिशा की हवा विशद, रूक्ष, परुष, खर, स्नेह और बल का नाशक, तीक्ष्ण, कफ और मेदोधातु का शोषक, तुरन्त ही प्राण का नाशक और शरीर का शोषक है ॥ २७-२८ ॥

उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च।
कषायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणः ॥ २९ ॥
तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्धनः।
क्षीणक्षयविषार्त्तानां विशेषेण तु पूजितः ॥ ३० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने हिताहितीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

उत्तर दिशा की हवा स्निग्ध, मुलायम, मधुर, कषायानुरस, शीत तथा दोषों को प्रकुपित नहीं करने वाला है, इसी लिये प्रकृतिस्थ या स्वस्थ पुरुषों के शरीर में क्लेदकारक तथा बलवर्धक है। रसरक्तादि धातुक्षीण, क्षय और विष से पीड़ित मनुष्यों के लिये विशेषकर लाभकारी है ॥ २९-३० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां हिताहितीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'व्रण प्रश्न' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—व्रणाः व्रणकारणत्वाद् वातादिदोषास्तद्विषयक प्रश्नो यस्मिन् स व्रणप्रश्नम्।

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥ ३ ॥

वात, पित्त और श्लेष्मा ये तीनों ही शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं। इन्हीं अकुपित तथा नीचे, मध्य और ऊपर यथाक्रम से रहने वाले वात, पित्त और कफ से यह शरीर धारण किया जाता है जिस तरह तीन स्तम्भों से मकान धारण किया जाता है, इस लिये कई आचार्य इस शरीर को त्रिस्थूण कहते हैं। मिथ्या आहार-विहारों से प्रकुपित हुये ये ही वातादि दोष शरीर के प्रलय (विनाश) में कारण होते हैं। वात, पित्त और कफ ये तीन तथा चौथा रक्त ये चारों शरीर की उत्पत्ति, स्थिति (धारण या पोषण) और प्रलय (नाश) में अविरहित (वर्तमान) रहते हैं या ये ही कारण हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—देहसम्भव में प्रधान रूप से यद्यपि शुद्ध शुक्र और आर्तव होते हैं तथापि उनमें भी वातादि अवस्थित होते हैं एवं गर्भ का धारण, पोषण, अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकाश आदि कार्य वातादि का है अतः इन्हें देहसम्भव में हेतु माना है। 'तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीरादाप्यायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्निपोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रपद्यते। शीतोष्मानिलैरभिप्रपद्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते। (सुश्रुत)। शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूच्छितं गर्भ इत्युच्यते तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आप क्लेदयन्ति, (सुश्रुतः)। दोषाणां शुक्रार्तवस्थितिः—शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विपेणैव विपक्रिमे। तैश्च तिस्र प्रकृतयो हीनमध्योत्तमा पृथक्॥ दोषस्थानानि—ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंस्थिता। त्रिस्थूणम्—ऊर्ध्वमूलमधः शाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम्। क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो

वै वेद स वेदवित्॥ शोणितचतुर्थं —यद्यपि चरकादिकों ने वातादि तीन ही दोष माने हैं तथा सुश्रुत ने भी वातादि तीन दोष माने हैं किन्तु सुश्रुत ने जहां शल्यप्रकरण है वहां रक्त को भी दोष माना है क्योंकि वातादि दोष भी रक्त के साथ मिल कर ही सब स्थानों में जाते हैं अथवा रोगोत्पत्ति करते हैं। विना रक्त के इनके द्वारा व्रणस्थान की दुष्टि, शोथ, पूयभवन और रोहण नहीं हो सकते।

भवति चात्र—

नर्त्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥ ४ ॥

कफ के विना देह नहीं है, पित्त के विना देह नहीं है, वायु के विना देह नहीं है अथवा रक्त के विना भी देह नहीं है अत एव सदा इन चारों ही से देह का धारण होता है॥४॥

विमर्शः—वायु. पित्त कफश्चेति त्रयो दोषा. समासतः। विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातु', 'तप' सन्तापे, 'श्लिष' आ लङ्गने, एतेषां कृद्विहितै. प्रत्ययैर्वात' पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥ ५ ॥

इनमें वात शब्द 'वा गतिगन्धनयो' धातु से एवं पित्त शब्द 'तप सन्तापे' धातु से तथा श्लेष्मा शब्द 'श्लिष आलिङ्गने धातुओं से कृदन्तविहित प्रत्ययों द्वारा सिद्ध होते हैं॥५॥

विमर्शः—वात—गतिगन्धोपादानार्थस्य वा धातो.-असुन्दरादिभ्य इत्यादिसूत्रोत्पन्ने तप्रत्यये वात इति रूपम्। वा धातु का गति और गन्धन अर्थ है। गति से गमन, ज्ञान, प्राप्ति और मोक्ष ये चार अर्थ तथा गन्धन का सूचन अर्थ है। इस तरह वात शब्द के अर्थ में Nervous, System के समस्त कार्य समाविष्ट हो जाते हैं। 'सर्वा हि चेष्टा वातेन' 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः (चरकः)। 'नर्त्त' को नाड़ी कहना उचित नहीं है क्योंकि 'नर्व' ठोस होती हैं और 'नाडी' शब्द नाली या पोली वस्तु के लिये है। 'सिरा' या 'धमनी' को नाडी कहना उचित है जैसा कि अमरकोष में लिखा है 'नाडी तु धमनी शिरा' 'नाडी परीक्षा' से धमनी गत रक्त की परीक्षा करते हैं न कि नर्व की 'करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। तच्चेष्टया सुख दुःख ज्ञेयं कायस्य पण्डितै ॥

अतः नाडी को वातसूत्र या ज्ञानतन्तु तथा नर्वस सिस्टम् को वात संस्थान कहना चाहिये। जिस तरह किसी मकान में लगे हुये तांबे के ठोस तारों में विद्युत्प्रवाह होता रहता है और वह तार दृश्य है पर प्रवाह दृश्य नहीं किन्तु प्रकाश होने से या स्पर्श करने से शरीर में झटका लगने से विद्युत् शक्ति का ज्ञान होता है इसी तरह पावरहाउस से तारों में होनेवाले विद्युत्प्रवाह की भांति मस्तिष्क से वातसूत्रों में आज्ञा या संज्ञा का वहन वात द्वारा होता रहता है। वह वात दृश्य नहीं है 'रूपरहितत्वे स्पर्शवत्त्व वायोर्लक्षणम्' किन्तु स्पर्श या शरीर की गति और कार्य से अनुमेय है। पित्तम्—सन्तापार्थस्य तप्धातो. रचि प्रत्यये तकारस्येत्वे वर्णविपर्यये तस्य च त्ते कृते पित्तमिति रूपम्। आयुर्वेद में पित्त के पचन, दर्शन, रक्तरञ्जन और शरीर की उष्णता रखना ये मुख्य कार्य माने हैं। 'पित्तादेवोष्मण पक्तिर्नराणामुपजायते' (चरकः)। श्लेष्मा—आलिङ्गनार्थस्य श्लिष् धातोर्मनिन् प्रत्यये गुणे च कृते श्लेष्मेति रूपम्।

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र समासेन वात श्रोणिगुदसंश्रयः; तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः; पक्वामाशयमध्य पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मण ॥ ६ ॥

अब इसके अनन्तर वातादि दोषों के स्थानों का वर्णन करते हैं। उनमें सक्षेप से वायु श्रोणि और गुदा में रहता है। श्रोणि और गुदा के ऊपर किन्तु नाभि के नीचे पक्वाशय है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है। आमाशय श्लेष्मा का स्थान है॥ ६॥

विमर्शः—यद्यपि वात, पित्त और कफ सारे शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं। 'सर्वशरीरचरा. खलु वातपित्तश्लेष्माण' (चरकः)। तथापि जहां जहां ये विकृतरूप से, स्थूलरूप से, मलरूप से या क्रिया विशेष रूप से उपस्थित होते हैं वहां इनके स्थान माने गये हैं। वायु का प्रधान काम बाहर फेंकने का होने से (प्रक्षेपसहारकरः स प्रोक्तः) पक्वाशय (स्थूलान्त्र Large Intestine) में रहता है। 'अत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्' यहां वायु अन्न पाचन से बने हुये मल को गुदा की तरफ ढकेल कर बाहर फेंकने का काम करता है। बृहदन्त्र में (Peristalsis) की क्रिया होकर मल बाहर फेंका जाता है। कटि भाग के वात सूत्रों द्वारा यह कार्य होता है।

पित्तस्थान—पक्वाशय और आमाशय के मध्य पित्त का स्थान है। महास्रोत के आमाशय (Stomach), ग्रहणी (Duodenum), क्षुद्रान्त्र (Small Intestine), बृहदन्त्र, और गुदा ऐसे विभाग हैं। इनमें ग्रहणी के अन्दर अग्न्याशय (Pancrese) से अग्नि रस तथा यकृत् से पित्त (Bile) आता है तथा आन्त्ररस (Succus entericus) इन तीनों पाचन का कार्य होता है। ग्रहणी को पित्तधरा नाम की कला मानी है तथा स्थान पक्वाशय और आमाशय के मध्य माना है। षष्ठी-पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ चरक ने पित्त का स्थान आमाशय लिखा है 'अत्रापि-आमाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्' तथा आमाशय को नाभि और स्तनों के मध्य माना है। नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। अशित खादितं लीढ पीतञ्चात्र विपच्यते॥ किन्तु प्रत्यक्ष में यह बात विरुद्ध है आमाशय में आमाशयिक रस (Gastric juice) होता है। यदि हम पित्त को (Bile) मानें तो उसका बनने का स्थान यकृत् है तथा यकृत् में लगे हुये पित्ताशय (Gallbledder) में वह सञ्चित रहता है जहां से समय समय पर एक नाली द्वारा ग्रहणी में पाचनार्थ आता रहता है। इस प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि (Bile) ही यदि पित्त है तो उसका मुख्य निवास स्थान पित्ताशय है आमाशय नहीं। श्लेष्मस्थान—आमाशय माना है किन्तु चरक ने उरः (वक्ष) माना है। 'अत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्' वाग्भट ने भी कफ का स्थान उर माना है। 'कफस्य मुतरामुरः।'

अतः परं पञ्चधा विभज्यते। तत्र वातस्य वातव्याधौ वक्ष्यामः। पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिः स्वक् पूर्वोक्तं च। श्लेष्मणस्तूरःशिरःकण्ठसन्धय इति पूर्वोक्तञ्च। एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम्॥

इसके अतिरिक्त ये दोष तथा इनके स्थान पांच पांच प्रकार से विभक्त हैं। वात के भेद तथा स्थान वातव्याधि में कहेंगे। पित्त के स्थान यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि, त्वचा और पूर्वोक्त हैं। श्लेष्मा के स्थान उर, शिर, कण्ठ, सन्धियां तथा पूर्वोक्त हैं। ये अविकृत दोषों के स्थान हैं॥ ७॥

विमर्शः—सुश्रुत ने दोषों के पांच २ भेद किये हैं अतः तदनुसार स्थान दिये है। चरक में दोषों के निम्न स्थान माने हैं। 'स्वेदो रसो लसीका, रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि उर शिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मण' स्थानानि। वस्तिः पुरीषाधानं कटि सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ ८॥

जिस तरह चन्द्रमा, सूर्य और वायु क्रम से विसर्ग, आदान और विक्षेप इन क्रियाओं से जगत् का धारण करते हैं उसी तरह सोमांश कफ सूर्य समान पित्त तथा वायु देह का धारण करते हैं॥ ८॥

विमर्शः—वातादिदोष बाह्य, सोम, सूर्य और वायु से अभिन्न ही हैं। 'तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेय, श्लेष्मा सौम्य इति। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः, 'तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीता' कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूता. समुपदिश्यन्ते।' (चरकः)।

विसर्गः—विसृजति जनयत्याप्यमंशमिति विसर्गः, चन्द्र पृथिवी पर तथा प्राणियों में किरणों द्वारा स्निग्धता तथा शीतलता उत्पन्न करता है तद्वत् कफ भी शरीर को शीतल तथा स्निग्ध रखता है। आदानः—आददति क्षपयति पृथिव्या सौम्यांशमादानम्। सूर्य उष्ण किरणों से जल खींचता है तद्वत् पित्त अन्नरस को खींचता है। विक्षेपः—शीतोष्णवर्षादीना यथायोग प्रेरणम्। बाह्य वायु जगत् में शीत, उष्ण, वर्षा आदि का प्रेरण करता है तथा अन्तर्वायु शरीर में मलमूत्रादिकों को बाहर निकालकर तथा पित्तादि रसों को स्वाशयों में स्रावण करके शरीर की रक्षा करता है। सोमकार्यम्—सोम शिशिराभिर्भाभिरापूरयन् जगदाप्याययति शश्वत्। कफकार्यम्—सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणमलस्थैर्यक्लेदक्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणा अनुग्रह करोति। सूर्यकार्यम्—रविर्भाभिराददानो जगत स्नेहम्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि। पित्तकार्यम्—रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्त पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति। वायुकार्यम्—धरणी धारण, ज्वलनो ज्वालनं सृष्टिर्मेघानाम्, अपां विसर्ग, प्रवर्तन स्रोतसा, पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदन चोद्भिदानाम्। शरीरगतवायुकार्यं—समीरणोऽग्नें, दोषसशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, विण्मूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपसहारकर.।

(चरकः)

तत्र जिज्ञास्यं, किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति?। अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेष्वग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति॥ ९॥

पित्त के विषय में यह बात जानने की इच्छा है कि क्या शरीर में पित्त के अतिरिक्त अन्य अग्नि है अथवा पित्त ही अग्नि है। इस विषय में यह कहते हैं कि-पित्त के अतिरिक्त शरीर में अन्य अग्नि उपलब्ध नहीं होती है क्योंकि पित्त में अग्निगुण होने से दहन, पचनादि क्रियाओं के बढ जाने पर अग्नि के समान ही उपचार किया जाता है इस लिये पित्त ही शरीर के भीतर अग्नि है। इसी तरह अग्निगुण तुल्य पित्त के क्षीण होने पर उसकी वृद्धि के लिये अग्नि समान उष्णगुण वाले द्रव्यों (चित्रक, सोंठ, पिप्पली) का उपयोग करते हैं एवं उस पित्त के अधिक बढ जाने पर शीतल द्रव्यों का उपयोग करने से तथा शास्त्र के प्रमाण से हम यह कह सकते हैं कि पित्त के अतिरिक्त शरीर में अन्य अग्नि नहीं है॥ ९॥

विमर्शः—आयुर्वेद में अग्नि और पित्त में भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों मत हैं। तीक्ष्ण पित्तेनाग्नि, पित्त के कारण या पित्तप्रकृति वाले की अग्नि तीक्ष्ण होती है। कटूष्णतीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्यनल जल तप्तमिवानलम्॥ द्रव स्निग्धमधोगच्छ पित्त वह्निरतोऽन्यथा॥ यहां पित्त और अग्नि में स्पष्ट भेद लिखा है। मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषम समश्चेति चतुर्विध। कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनल॥ विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्ण. पित्तनिमित्तजान्। करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥ सुश्रुत ने आगमप्रमाण जैसे—ऊष्म। तेजोमय पित्त पित्तोष्मा य. स पक्तिमान्। स कायाग्नि.। दहन पचनादि प्रत्यक्षप्रमाण तथा सर्वेषामेव भावाना सामान्यं वृद्धिकारणम् इस नियमानुसार क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्' इस अनुमान प्रमाण से अग्नि और पित्त की एकता सिद्ध कर दी है। तथा अनेक स्थलों पर पित्त और अग्नि में अभेद रूपेण उल्लेख भी है। सधुक्षित समानेन पचत्यामाशयस्थितम्। औदर्योऽग्निर्यथा वाह्य स्थालोस्थ तोयतण्डुलम्॥ (वाग्भट)। समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले युक्तं सम सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥ (चरक)। जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तु नैव शक्यते॥ (सुश्रुत) निष्कर्ष—वस्तुतस्तु एक ही व्यक्ति कार्य भेद से भिन्न २ पाचक, फोटोग्राफर, अध्यापकादि भिन्न सज्ञाओं को प्राप्त होता है तद्वत् पित्त भी स्थान और कर्मभेद से विभिन्न हो जाता है। पाचनार्थ प्रयुक्त पित्त जाठराग्नि संज्ञक हो जाता है। इस तरह पित्त और अग्नि का भेद वर्णन तथा अभेद वर्णन दोनों मत यथार्थ हैं। डाक्टरी में पाचन के लिये सलाइवा, गेस्ट्रिक् ज्युस, बाईल, पेन्क्रियाटिक ज्युस और आन्त्रिक रस ये पांच तरह के भिन्न २ पाचक स्राव माने हैं। यादवजी ने इन पांचों में पाचक पित्त का रहना माना है किन्तु इन स्रावों की क्रिया भोजन के भिन्न २ भागों पर होती है यह विचारणीय और अन्वेषण का विषय है। गणनाथसेनजी ने भी 'सिद्धान्त निदान' में लिखा है कि 'वस्तुतस्तु पित्तपद सामान्यतो निखिलपाचकरसार्थक, विशेषतश्च यकृदादिपित्तार्थे प्रयुक्तमवगन्तव्य मृगलोहादिशब्दवदिति समाधिः। अग्निस्तु सूक्ष्मरूपः किण्ववद्वस्तुगर्भितरसाना जनक।

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्त-

नानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा; यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः; यत् पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः; यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः; यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः॥ १०॥

पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित पित्त अदृष्टवश या पूर्वजन्मकृत कर्म के कारण चतुर्विध अन्न को पचाता है तथा दोष, रस, मूत्र और मल को पृथक् करता है तथा पक्वाशय मध्य में ही रहता हुआ अपने प्रभाव से शेष चार पित्तस्थानों को तथा समस्त शरीर को अग्नि (उष्णता प्रदानादि) कर्म से अनुगृहीत करता है। इस पित्त की पाचकाग्नि संज्ञा है। जो पित्त यकृत् और प्लीहा में रहता है उसकी रञ्जकाग्नि संज्ञा है तथा वह आहार पाचन से उत्पन्न रस को रञ्जित (रक्तरूप में परिणत) करता है जो पित्त हृदय में रहता है उसकी साधकाग्नि संज्ञा है तथा वह अभिलषित मनोरथ को साधता है। जो पित्त दृष्टि में रहता है उसकी आलोचक संज्ञा है, वह दृश्य रूप को ग्रहण करने में नियुक्त है। जो त्वचा में पित्त रहता है उसकी भ्राजकाग्नि संज्ञा है तथा वह त्वचा पर प्रयुक्त स्नेहादि के अभ्यङ्ग, सेचन, अवगाहन और आलेपादि क्रियाओं द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों को पकाता है तथा शरीर की छाया का प्रकाशक है॥ १०॥

विमर्श—आधुनिक मत से भोजन के मांस जातीय (Protein), मेदोजातीय (Fat), शालिजातीय (Carbohydrates) और खनिज पदार्थ (Salts) ये चार तथा वीटामीन और जल ऐसे ६ भेद माने हैं। तथा ये भोज्य पदार्थों में होते हैं। मांस, अण्डे, दुग्ध और दालों में प्रोटीन अधिक होता है। स्निग्ध पदार्थों में फेट होती है 'घृतं तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽष्टौ कार्बो हैड्रेट—चांवल, गेहूं, जौ और मकई में अधिक होता है। साल्ट तथा वीटामीन्स भी भोज्य पदार्थों में होते हैं। अन्नमेदाः—अशितं खादितं पीतं लीढं चेति चतुर्विधम्। विवेचयति—सार और त्याज्य भाग को पृथक् करता है। चरक ने प्रथम पाचित अन्न के आहार प्रसादाख्य रस और मलाख्य किट्ट बनना माना है तथा किट्ट से स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त और कफ बनना माना है 'तत्र आहारप्रसादाख्यो रसः किट्टञ्च मलाख्यमभिनिर्वर्तते,। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः' रञ्जकोऽपि—'आमाशयाश्रितं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्' का लीवर से रस का रञ्जन लाल रक्तकण (R. B. C.) करते हैं तथा उनकी उत्पत्ति अस्थि, मज्जा में होती है। साधकाग्नि संज्ञक पित्त हृदय में रहता है और वह बुद्धि मेधा अभिप्रेतार्थ को सिद्ध करता है। बुद्धिमेधाऽभिधानार्थैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृदयं पित्तम्॥ (वाग्भट)। बुद्धि, मेधा, सोचने विचारने आदि का कार्य वक्षोगत हृदय नहीं करता है किन्तु मस्तिष्क (Brain) करता है यह डाक्टरीमत है। इसी दृष्टि से निम्न श्लोक भी है। प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते॥ उन्माद, अपस्मार आदि रोग भी इसी की विकृति से होते हैं 'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदुष्य' गगनाथसेनजी ने मस्तिष्क स्थित हृदय को सद्व्यवहार माना है तथा आत्मा, बुद्धि आदि का वही स्थान है। आलोचकाग्निः-डाक्टरी में रूपग्रहण का कार्य रेटिना (Retina) करता है। प्रकाश या बाह्यवस्तु की किरणें कृष्णमण्डल (Carnea), तेजोजल (Aucous humour), दृष्टिमण्डल (Pupil), कांच (Lens) और मेदोजल (Vitreous humour) इनमें से होती हुई दृष्टिपटल (Retina) पर पड़ती हैं जिससे वस्तु का वहां उल्टा प्रतिबिम्ब बनता है। दृष्टिपटल का सम्बन्ध दृष्टिनाडी (Optic Nerve) से है जो कि मस्तिष्क को वस्तु का ज्ञान कराती है। भ्राजकाग्नि—'त्वक्स्थं भ्राजक भ्राजनात् त्वच' स्वेदोत्पत्ति, तैलग्रन्थियों से तैल उत्पन्न करा के त्वचा को स्निग्ध और चमकीली करना तथा उष्णता का नियन्त्रण आदि। चरकोक्तपित्तकार्याणि—दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्मविकारजम्॥ छाया—छाया पित्तमाश्रया।

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥ ११॥

पित्त तीक्ष्ण, द्रव, दुर्गन्धित, नीलवर्ण, पीतवर्ण, उष्ण और कटुरस होता है तथा विदग्ध (विकृत) हो जाने पर अम्लरस हो जाता है॥ ११॥

विमर्शः—निर्दूषितपित्तलक्षणम्—अनाम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्। पक्वं विदग्धं विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम्। दूषितपित्तलिङ्गम्—दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु। अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सान्नं विनिर्दिशेत्॥ चरके तु—सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु।

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः—तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य; स चतुर्विधस्याहारस्याधारः। स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसङ्घातः सुखजरश्च भवति॥ १२॥

अब इसके अनन्तर श्लेष्मा के स्थानों का वर्णन करते हैं। कफ के स्थानों में आमाशय पित्त का विरोधी कफ होने से एवं पित्ताग्नि की ऊर्ध्वगति होने से पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जैसे सूर्य के ऊपर चन्द्र स्थित है। यह आमाशय चार प्रकार के आहार का आधार है और वह चतुर्विध आहार कफ के जलीय गुणों से प्रक्लिन्न (गीला या पतला) और महीन होकर सुखपूर्वक पाचन योग्य हो जाता है॥ १२॥

विमर्शः—पित्त को अग्नि या सूर्य के समान माना है तथा कफ को जल या चन्द्र के समान माना है। यदि आकाश में सूर्य तथा देह में पित्त ही केवल रहे तो वे वहां (पृथ्वी, देह को) दाहादि क्रिया कर के उन्हें नष्ट कर देंगे अत एव उनको या उनकी क्रियाओं को कम करने के लिये चन्द्र और कफ रखे हैं। पित्त या अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से उसके ऊपर आमाशय होना उचित है जिससे आमाशय गत अन्न का पाक हो सके जैसे चूल्हे की अग्नि पर स्थित पात्र में तण्डुल पाक हो सके जैसे चूल्हे की अग्नि पर स्थित पात्र में तण्डुल और पानी होने से आंच पात्र के पेंदे में लग कर पका देती है

तद्वत् पित्ताशय मानों अग्नियुक्त चूल्हा है और चतुर्विध अन्न युक्त आमाशय जल तण्डुल युक्त पात्र है। जैसा कि चरक ने कहा है। एव रसनलामान्नमाशयस्थमध स्थित.। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्भुतण्डुलम्॥ प्रत्यक्ष में उदरगुहा के वाम भाग की ओर आमाशय होता है तथा उससे कुछ नीचे और दक्षिण भाग में ग्रहणी (डियोडिनम) होती है। अग्न्याशय आमाशय के नीचे तथा ग्रहणी और प्लीहा के मध्य में होता है। अग्न्याशय के ऊपर आमाशय होने पर भी अग्निरस का उस पर या आमाशयस्थ भोजन पर कोई पाचक कार्य नहीं होता है अपि तु आमाशय की दीवारों में लगी हुई ग्रन्थियों के स्राव (गेस्ट्रिक ज्युस) से ही वहां पाचन क्रिया होती है। इसी तरह यकृत् उदरगुहा के दक्षिण भाग में रहता है तथा पित्त का निर्माण करता है और पित्ताशय भी उसी में लगा है। पित्त का भी आमाशय या आमाशयस्थ भोजन के पाचन से कोई सम्बन्ध नहीं है। ग्रहणी (डियोडीनम) के अन्दर जब भोजन आमाशय से आता है तब ग्रहणी में नलिका द्वारा आये हुये पित्त और अग्न्याशय का अग्निरस पाचन कार्य करते हैं। इस ग्रहणी के कुछ ऊपर यकृत्स्थ पित्ताशय है तथा अग्न्याशय भी ग्रहणी के पार्श्व में या समानान्तर स्थित है। इस तरह चरक और सुश्रुत का वर्णन कुछ यथार्थ किन्तु अधिकतर आलङ्कारिक है। सूर्यसिद्धान्त में चन्द्र को सूर्य के नीचे स्थित माना है। मन्दामरेज्यभृपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दव.। पञ्चिनन्त्यधोऽध.स्था। अन्यच्च-ग्रादको भास्करस्येन्दुरधस्तो घनबन्धवेत्। परन्तु विष्णुपुराण में चन्द्रमण्डल को सूर्य के ऊपर माना है। भमेर्योजनलक्षे तु सौरं मैत्रेयमण्डलम्। लक्षाद्विवाकरस्यापि मण्डलं शशिन. स्थितम्॥ आशय —आमाशय में आया हुआ भोजन ३-४ घण्टे रहता है। भिन्नसघातो नुक्तश्चरश्च— भोजन के संघात (घन अवयवों) का भेदन प्रथम दांत करते हैं किन्तु कुछ लोग जल्दी २ में भोजन को ठीक नहीं चबाते हैं तथा दांतों द्वारा चबाये भोजन का भी अधिक महीन होना आवश्यकीय है। यह पूर्ति आमाशय अपने सिकुड़न और प्रसारण क्रियाओं द्वारा भोज्यांश को दबा दबा कर करता रहता है तथा साथ ही में अपने रस द्वारा उसे पाचित कर द्रव बनाता है। भोजन के अत्यन्त महीन होने पर ही उसका द्वार खुलता है जिससे भोजन ग्रहणी में जाता है।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥ १३॥

आहार के मधुर, पिच्छिल और प्रक्लेदी होने से आमाशय में कफ भी शीतल और मधुर उत्पन्न होता है॥ १३॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति। उरःस्थश्चिकसन्धारणमात्मवीर्य्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति। जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्त्तते। शिरःस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वाद् इन्द्रियाणामात्मवीर्य्येणानुग्रहं करोति। सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति॥ १४॥

यह कफ आमाशय में ही रहता हुआ अपने प्रभाव से तथा जलीय (मधुर शीततर्पक) क्रिया से शेष श्लेष्मस्थानों और शरीर का उपकार करता है। छाती में स्थित कफ त्रिक को धारण करता है तथा अन्नरस और अपने सौम्यवीर्य से हृदय का अवलम्बन करता है। जिह्वा के मूलभाग तथा कण्ठ में स्थित कफ अपनी सौम्यगुण से रसनेन्द्रिय को सर्वप्रकार के रसज्ञान में प्रवर्तित करता है। शिरःस्थित कफ स्नेहन और सतर्पण क्रियाओं द्वारा तथा अपने सौम्य प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों को अनुगृहीत (स्वकर्मकरणक्षम) करता है। सन्धियों में स्थित कफ सब सन्धियों को जोड़ने से उनका उपकार करता है॥ १४॥

विमर्शः—त्रिकपरिभाषा—शिरोवाहुहृदयसन्धानस्थानम् (शोल्डरगर्डिल), इति डल्हणः, स्फिक्पक्ष्णो पृष्ठवंशस्योर्ध्व सन्धिरत्रिक मतम्। इसे Pelvic girdle कहते हैं। कफ—केन जलेन फलतीति कफ। सन्धिस्थ श्लेष्मा—सन्धियों में एक प्रकार का तरल रहता है जिसे Synovial fluid कहते हैं। इससे सन्धियों में चिकनापन तथा उनकी गति में सहायता होती है।

श्लेष्मा श्वेतो गुरु स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः॥ १५॥

कफ वर्ण में श्वेत, भारी, चिकना, चिपचिपा, शीत तथा प्राकृतिक अवस्था में मधुर और विकृतावस्था में लवण होता है॥

शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ। तच्च प्रागभिहितम्। तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति॥ १६॥

✓ रक्त का स्थान यकृत् और प्लीहा है, जो पहले शोणितवर्णनीय अध्याय में कह दिया है। रक्त उन्हीं यकृत्प्लीहा स्थानों में रहता हुआ शेष रक्तस्थानों का उपकार करता है॥ १६॥

भवति चात्र—

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तञ्च वर्णतः।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाह्यास्य पित्तवत्॥ १७॥

रक्त न अधिक उष्ण और न अधिक ठंडा, मधुर, स्निग्ध, लालवर्ण, भारी तथा आमगन्धी होता है। इसका विदाह पित्त की तरह होता है॥ १७॥

एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु सञ्चीयन्ते दोषा। प्राक् सञ्चयहेतुरुक्तः। तत्र सञ्चिताना खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथम क्रियाकालः॥ १८॥

इस तरह ये पूर्वोक्त दोषों के स्थान हैं। इनमें दोषों का सञ्चय होता है। दोषों के सञ्चय का कारण पूर्व ही में ऋतुचर्या अध्याय में कह आये हैं। इन स्थानों में दोषों के सञ्चय होने से कोष्ट में भारीपन और पूर्णता, नेत्र, मल तथा त्वचा में पीलापन का भास होना या उस रोगी को पीलापन का भास होना, उष्णता की कमी, अङ्गों में भारीपन, आलस्य, दोषों को बढाने वाले कारणों में द्वेष होना ये लक्षण होते हैं। ऐसी अवस्था में चिकित्सा करना प्रथम क्रिया काल है॥ १८॥

विमर्शः—अष्टाङ्गहृदये—दोषसञ्चयहेतवः—उष्णेन युक्ता रूक्षाधा वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्। शीतेन युक्ताः स्निग्धाधा कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्॥ शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाधाश्च पित्तस्य कुर्वते॥ सचयलक्षणम्—स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणा चय इत्यभिधीयते। चयो वृद्धिः स्वधाम्नेव (वाग्भट)। तत्र प्रथम प्रधान उत्तमो वा चिकित्साकाल। सञ्चयेऽपक्ता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः। ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ (वाग्भट)। अणुर्हि प्रथम भूत्वा रोग पश्चाद्विवर्धते। स ज्ञानमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः। तस्मात्प्रागेवरो गेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा। भेषजै प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः (चरक)।

अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः—तत्र बलवद्भिरहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातलङ्घनप्लवनतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरङ्गरथपदातिचर्य्याकटुकपायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्य्यशुष्कशाकवल्लूरचरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते॥ १९॥

अब इसके अनन्तर दोषों के प्रकोपक आहार-विहारादि कारणों को कहते हैं। बलवान् के साथ लड़ना, अधिक व्यायाम करना, अधिक मैथुन करना, अति अध्ययन, ऊचे से गिर पडना, दौडना, मोच होना, चोट लगना, कूदना, कूदते कूदते चलना, तैरना, रात मे जागना, भार उठाना, हाथी, घोडे, रथ पर या पैदल अधिक चलना, कडवे, कसैले, तीते, रूखे, हलके और शीतवीर्य द्रव्यों का सेवन, शुष्क साग, शुष्क मांस, वरक (कुधान्य), उद्दालक (जङ्गली कोदो), कोरदूष, श्यामाक (सांवक), नीवार, मूग, मसूर, तुवर, हरेणु, मटर, निष्पाव (राजशिम्बी) इनका सेवन, उपवास, विषमाशन, अध्ययन एवं वायु, मूत्र, पुरीष वीर्य, वमन, छींक, उद्गार (डकार) और वाष्प इनके वेग को रोकना आदि कारणों से वायु प्रकुपित होता है॥ १९॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः।
प्रत्यूषस्य पराह्णे तु जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति॥ २०॥

वह वायु ठण्डे समय, मेघ के समय, अधिक हवा चलने पर तथा विशेष कर वर्षा ऋतु में, प्रभातसमय, अपराह्ण और अन्न के हजम हो जाने पर प्रकुपित होता है॥ २०॥

विमर्शः—वातप्रकोपहेतवस्त्रिजट्टाचार्यमते—व्यायामादपतर्षणात्प्रपतनाद् भगाल्लङ्घनाज्जागराद् वेगानाञ्च विधारणादतिशुचि शैत्यादतित्रासत॥ रूक्षशोषकषायतिक्तकटुकैरेभि प्रकोप व्रजेद् वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकटवम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते॥ २१॥

क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, विदग्ध (जले हुये) पदार्थों का सेवन, स्त्रीसम्भोग, भ्रमण, कडवे, खट्टे, नमकीन, तीखे, गरम, हल्के, दाहोत्पादक, तिलतैल, खली, कुलथी, सरसों का तैल, अलसी का तेल, हरे शाक, गोधा, मछली, बकरी, भेड़ का मांस, दही, मट्ठा, कूर्चिका, दही का पानी, काञ्जी, सुरा के अनेक भेद, खट्टे फल और कट्वर प्रभृति के सेवन करने से पित्त प्रकुपित होता है॥ २१॥

विमर्शः—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहञ्च जनयेत् पाक गच्छति तच्चिरात्॥ कूर्चिका—दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतवनद्रवभाग क्षीर कूर्चिकेत्युच्यते। (हेमाद्रि)। कट्वरपरिचय—सौवीराम्लमथात्यम्ल काञ्जिक कट्वर विदु.। अन्ये तु तदधोभाग तक्र चात्यम्लता गतम्। सस्नेह दधिज तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्॥

तदुष्णैरुष्णकाले च मेघान्ते च विशेषतः।
मध्याह्ने चार्द्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति॥२२॥

वह पित्त उष्ण पदार्थों के सेवन से, गरमी के दिनों में, शरदृतु (आश्विन-कार्तिक) में, मध्याह्न और आधी रात में एवं भोजन के पचने के समय में कुपित होता है॥ २२॥

विमर्शः—पित्तप्रकोपहेतव—कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप, स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभि.। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिना मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्त प्रकोप व्रजेत्॥

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेक्षुकटमाषमहामाषगोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशराषायसंक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुकशृङ्गाटकमधुरवल्लीफलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते॥ २३॥

दिन में शयन, किसी प्रकार शारीरिक श्रम या व्यायाम न करना, आलस्य तथा मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, गुरु (माषादि), चिपचिपे, अभिष्यन्दकारक, हायनक, (धान्यविशेष), जौ, नैषध, इक्षुकट, उड़द, महामाष, गोधूम, तिल, पिष्ट (आटे) के विकार, दही, दूध, खिचडी, खीर, ऊख के बने पदार्थ (गुड़, खाण्ड) एव आनूप और जलीय प्राणियों का मांस, चरबी, कमलनाल, कसेरू, सिंगाड़े, मीठे फल जैसे नारियल आदि, वल्लीफल जैसे लौकी, कोहड़ा इनका सेवन तथा समशन और अध्यशन आदि कारणों से कफ कुपित होता है॥ २३॥

विमर्शः—अभिष्यन्दि—दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदप्राप्तिजनकम्। (डल्हण)। पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्य रुद्ध्वा रसवहाः सिरा। धत्ते यद्गौरव तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥ (शार्ङ्गधर)। अध्यशन—भुक्तस्योपरिभोजनमध्यशनम्।

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति॥ २४॥

वह कफ शीतद्रव्यों से, शीतकाल में, विशेष कर वसन्त ऋतु में एव दिन के पूर्वभाग और प्रदोष समय में और भोजन करते समय प्रकुपित होता है॥ २४॥

विमर्शः—कफप्रकोपहेतव—गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य

द्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पि प्रपूरै। तुहिनपतनकाले श्लेष्मण सप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ मुक्तमात्रे वसन्ते ॥

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥ २५ ॥

पित्त को कुपित करने वाले आहार-विहारों के निरन्तर सेवन से तथा द्रव, स्निग्ध, भारी पदार्थों के सेवन से और दिन में शयन, क्रोध, अग्नि और सूर्य की गरमी, परिश्रम, चोट लगना, अजीर्ण, विरुद्धाशन, अध्यशन आदि विशेष कारणों से रक्त प्रकुपित होता है ॥ २५ ॥

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥ २६ ॥

वातादि दोषों के विना रक्त कभी भी कुपित नहीं होता है इसलिये उसके प्रकोप का काल दोषों के अनुसार जानना चाहिये ॥ २६ ॥

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसञ्चरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ॥ २७ ॥

उन दोषों के प्रकोप होने से कोष्ठ (पेट) में सूई चुभोने की सी पीड़ा, वायु का सञ्चार, खट्टी डकारों का आना, प्यास लगना, दाह होना, अन्न में द्वेष तथा जी मिचलाना ये लक्षण होते हैं। दोषों के प्रकोप का यह समय चिकित्सा का दूसरा काल है ॥ २७ ॥

विमर्शः—पूर्व में दोषों का चय तथा यहां प्रकोप का वर्णन है जो कि एक तरह से दोषों की वृद्धि के ही भेद हैं। वृद्धिर्हि द्वेधा चयप्रकोपभेदेन। (अ० सं०)। चयो वृद्धिः स्वधामन्येव कोपस्तून्मार्गगामिता। (वाग्भट)। देहेऽतिरिक्ता वृद्धिश्चयः, विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोप। (डल्हण)।

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः-तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां पर्य्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये। स हि रजोभूयिष्ठः, रजश्च प्रवर्त्तकं सर्वभावानाम्। यथा-महानुदकसञ्चयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति। एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विश समस्ताः शोणितसहिता वा अनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा—वातः, पित्तम्, श्लेष्मा, शोणितम्, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥ २८ ॥

अब यहां से वातादि दोषों के प्रसार का वर्णन करते हैं। जिस तरह किण्व (सुरावीज), पिष्ट (तण्डुलपिष्ट) और पानी इन्हें परस्पर संयुक्त कर एक रात रखने से इनमें उफान (झाग) उत्पन्न होकर पात्र के बाहर निकलने लगते हैं उसी तरह बलवद्विग्रहादि कारणों से कुपित हुये दोषों में उद्रेक उत्पन्न होकर उनका प्रसार होता है। इनमें से वायु चेतना रहित होने पर भी गतिशील होने से इनके प्रसरण में कारण होता है। क्योंकि वायु रजोगुण बहुल होती है तथा रजोगुण सब भावों का प्रवर्तक है। जिस तरह बड़ा भारी पानी का सञ्चय अधिक पानी के आजाने से बढ़ कर सेतु (पाल या बन्ध) को तोड़कर दूसरी ओर स्थित जलाशय के जल से मिलकर चारों ओर बहने लगता है इसी तरह वातादि दोष भी अधिक सञ्चित और प्रकुपित हो के अपने आशयरूपी मर्यादाओं का उल्लंघन कर कभी अकेले, कभी दो दो तथा कभी तीनों मिलकर तथा कभी रक्त को भी साथ लेकर विविध प्रकार से शरीर में फैलते हैं। जैसे वायु, पित्त, कफ, रक्त, द्वन्द्वरूप में जैसे वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातशोणित, पित्तशोणित, कफशोणित, त्रिरूप में वातपित्तशोणित, वातकफशोणित, पित्तकफशोणित, वातपित्तकफ, वातपित्तकफशोणित इस तरह पन्द्रह प्रकार से फैलते हैं ॥ २८ ॥

विमर्शः—किण्व को Yeast कहते हैं जो कि वानस्पतिक जीवाणु है। यह पिष्टमय पदार्थ तथा शर्करा में अभिषङ्ग (Fermentation) उत्पन्न कर भिन्न २ प्रकार के मद्यों को बनाता है। वायुर्गतिमत्त्वात्प्रसरणहेतुः—पित्त पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ (शार्ङ्गधर)। स्वातन्त्र्यान्नित्यमाशाच्च सर्वगत्वात्तथैव च। अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्॥ (सुश्रुत)। विभुत्वाद्दाशुकारित्वाद्व्यवायित्वादव्यक्तोपनाद्। स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः॥ (वाग्भट)। वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः। वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् व्यापित्वात्प्रेरणात्॥ (चरक)।

कृत्स्नेऽर्द्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥ २९ ॥
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥ ३० ॥

सारे शरीर में, आधे शरीर में, जहां भी दोष अधिक कुपित होता है वहां ही विकार उत्पन्न करता है जैसे आकाश में जहां भी बादल होता है वहीं वृष्टि करता है। यदि दोष अधिक कुपित नहीं होते हैं तो वे शरीर के स्रोतस आदि मार्गों में छिप कर स्थित हो जाते हैं तथा उन दोषों की चिकित्सा न करने पर कालान्तर में स्ववृत्ति हेतु को प्राप्त कर कुपित हो जाते हैं ॥ २९-३० ॥

विमर्शः—तत्स्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः। ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥ (वाग्भट) यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति, अथवा कालप्रकर्षादबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः। चिराद्वाऽभिनिवर्तन्ते तनवो वा भवन्ति। (चरक)।

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः। पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्। कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्। एष क्रियाविभागः ॥ ३१ ॥

इनमें यदि वायु पित्त के स्थान में पहुंचे तो उसकी पित्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये। कफ के स्थान में गये

हुये पित्त की चिकित्सा कफ के समान ही करनी चाहिये। वायु के स्थान में गये हुये कफ की चिकित्सा वायु के समान ही करनी चाहिये। इस प्रकार यह चिकित्सा कार्य का विभाग है ॥ ३१ ॥

विमर्शः—चिकित्साविषये त्रय· पन्थान.—तत्रान्यस्थानसस्थेषु तदीयामवलेपु च । कुर्याच्चिकित्सा स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु । स्थानं जयेद्धि पूर्वन्तु स्थानस्थस्याविरुद्धतः । आगन्तुं शमयेद्दोष स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ॥ (वाग्भट)। आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते । रूक्षपूर्वो हित· स्वेद. स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ (चरक)।

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओपचोपपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति। तत्र तृतीयः क्रियाकालः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार से प्रकुपित और प्रसरित दोषों में विमार्गगमन तथा आटोप होना ये वायु के लक्षण है। ओप, चोप, परिदाह और धूयें का सा श्वास या डकार आना पित्त के लक्षण है। अरुचि, भोजन का नहीं पचना, अङ्गों में दर्द और वमन होना ये कफ के लक्षण हैं। इस अवस्था में चिकित्सा करना तीसरा क्रिया काल है ॥ ३२ ॥

विमर्शः—आटोपो गुडगुडाशब्द· प्रोक्तो जठरसम्भव ।

सञ्चय-प्रकोप-प्रसरभेदाः—सञ्चय अवस्था में दोष जमे घृत के समान, प्रकोपावस्था में गरम घी के समान तथा प्रसरावस्था में अधिक गरम किये घृत के उछल कर इधर उधर भगने के समान दोषों की दशा होती है। उष्णदुग्ध प्रकोपावस्था अर्थात् अत्युष्ण होने पर जब दुग्ध उफनता है उस समान दशा को प्रसरावस्था कहते हैं।

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः—एवं प्रकुपिताः तांस्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति। ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गानाहविसूचिकाऽतिसारप्रभृतीन् जनयन्ति। वस्तिगता प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन्। वृषणगता वृद्धीः। मेढ्रगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन्। गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन्। ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान्। त्वङ्मांसशोणितस्था· क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पाश्च। मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन्, अस्थिगता विद्रध्यनुशयीप्रभृतीन् पादगता श्लीपदवातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन्। सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतीन्। तेषामेवमभिनिविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः; तं प्रतिरोगं वक्ष्याम·। तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकाल ॥ ३३ ॥

अब इसके अनन्तर दोषों के स्थान संश्रय का वर्णन करते हैं। उक्त प्रकार से प्रकुपित हुये दोष शरीर के भिन्न भिन्न प्रदेश में पहुंच कर भिन्न भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं। वे दोष जब उदर में प्रवेश करते हैं तब गुल्म, विद्रधि, उदररोग, पाचकाग्नि की मन्दता, पेट का फूलना, विसूचिका, अतिसार प्रभृति विकारों को उत्पन्न करते हैं। वस्ति प्रदेश में प्रविष्ट होकर प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात तथा अन्य मूत्र के रोग उत्पन्न करते हैं। वृषण में प्रविष्ट होकर वृद्धिरोग उत्पन्न करते है। मेढ्र में जाकर निरुद्धप्रकश, उपदंश, शूकदोष आदि रोग उत्पन्न करते हैं। गुद में प्रविष्ट होकर भगन्दर, अर्श आदि विकारों को उत्पन्न करते है : जत्रु (अक्षकास्थि) के ऊपर नासा, नेत्र, कर्ण, मुख, शिर आदि स्थानों में प्रविष्ट होकर उनके रोगों को उत्पन्न करते हैं। त्वचा, मांस और रक्त में मिल कर क्षुद्ररोग, कुष्ठ और विसर्प को उत्पन्न करते हैं। मेदो धातु में प्रविष्ट होकर ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। अस्थि में प्रविष्ट होकर विद्रधि, अनुशयी आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। वे दोष पावों में प्रविष्ट होकर श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक प्रभृति रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा सर्वाङ्ग में फैलकर ज्वर तथा सर्वाङ्गों में रोग पैदा करते हैं। इस तरह शरीर के भिन्न २ भागों में प्रविष्ट हुये दोषों से रोगों की पूर्वरूपादि अवस्था का प्रादुर्भाव होता है उसको प्रत्येक रोग के प्रारम्भ में कहेंगे। पूर्वरूपावस्था में जो चिकित्सा की जाती है वह चौथा क्रियाकाल है ॥ ३३ ॥

विमर्शः—वृद्धेः सप्त भेदा·—वातपित्तकफशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ता सप्त वृद्धय·। निरुद्धप्रकश (Phimosis) में शिश्न के ऊपर का चर्मछिद्र छोटा हो जाता है जिससे सुपारी बाहर नहीं निकल सकती है। अपची या कण्ठमाला को Serofula कहते हैं। श्लीपद को फीलपांव या Elephantiasis कहते है। वातरक्त को Gout कहते हैं। पूर्वरूप नाम प्रागुत्पत्तिलक्षण व्याधे· (चरक)। स्थानसश्रयिण कुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्ग पूर्वरूप तदुच्यते ॥ इसे Prodrome or Premonitory symptom कहते हैं।

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्याम —शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता, ज्वरातिसारप्रभृतीनाञ्च। तत्र पञ्चमः क्रियाकाल· ॥ ३४ ॥

अब इसके अनन्तर रोग के दर्शन या उत्पत्ति (रूप) को कहते हैं। शोफ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प प्रभृति तथा ज्वर अतिसार आदि रोगों के लक्षणों का व्यक्त हो जाना ही रोग है। उस दशा में चिकित्सा करना पञ्चम क्रियाकाल कहलाता है ॥ ३४ ॥

विमर्शः—रूप रूप्यते व्याधिरनेनेति रूपम्। तदेव व्यक्तता यात रूपमित्यभिधीयते। सस्थान व्यञ्जन लिङ्ग लक्षण चिह्नमाकृति· ॥

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः। ज्वरातिसारप्रभृतीनाञ्च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥ ३५ ॥

अब इसके पश्चात् इन शोफादिकों के अवदीर्ण होकर व्रणावस्था को प्राप्त होने पर जो चिकित्सा की जाती है वह छठा क्रियाकाल है। ज्वर, अतिसार आदि का अधिक समय तक अनुबन्ध बना रहना भी छठा क्रियाकाल है। यह भेदावस्था है। इस अवस्था में चिकित्सा नहीं करने से रोग असाध्य हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

विमर्शः—इस छट्ठी भेदावस्था में दोष शोफादिक की त्वचा को भेद कर बाहर निकल आते है किन्तु जहां ज्वरादिक सर्वाङ्गरोगों का इस तरह भेद होना असभव हो जाता है वहां दीर्घकालानुवन्धी (Chrome) हो जाते हैं।

भवन्ति चात्र—

सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥३६॥

वातादि दोषों का सञ्चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसश्रय, व्यक्ति और भेद को जो जानता है वही यथार्थ वैद्य होता है॥

सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ ३७॥

सञ्चयावस्था में यदि दोषों का विनाश कर दिया जाय तो वे उत्तरगति (प्रकोप, प्रसरादि) को प्राप्त नहीं होते हैं। उत्तरगति प्राप्त होने पर वे उत्तरोत्तर अधिक बलवान् हो जाते हैं॥ ३७॥

विमर्शः—बहुदोष में शोधन, मध्यदोष में लङ्घन, पाचन, तथा अल्पदोष में संशमन क्रिया की जाती है। 'तत्र लङ्घनमल्पदोषाणा, लङ्घनेन ह्याशुमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोष. प्रदोषमाधत्ते। लङ्घनपाचने तु मध्यमबलदोषाणा, बहुदोषाणा पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं नह्यभिन्न केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्त तद्वद् दोषावसेचनम्। (चरक)।

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्ध दोष दोषोऽनुधावति॥ ३८॥

सर्व भावों से, तीन भावों से, दो भावों से अथवा एक भाव से ससर्ग होने पर कुपित हुआ दोष क्रुद्ध हुये दोष का अनुधावन करता है॥ ३८॥

विमर्शः—'भाव' शब्द से यहां रूक्ष-शीत-लघु आदि वायु के, उष्ण-तीक्ष्णादि पित्त के, स्निग्धादिक कफ के भाव ग्रहण किये हैं। जो दोष अपने समस्त भावों से कुपित होता है वह अनुवन्ध्य या प्रधान तथा जो तीन, दो या एक भाव से कुपित होता है वह अनुवन्ध या अप्रधान होता है। स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुवन्ध्य। तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुवन्ध। अनुवन्ध्यलक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तत त्रिक सन्निपातमाचक्षते, द्वय वा ससर्गम्। अनुवन्ध्यानुलन्धविशेषकृतस्तु बहुविधो दोषभेद.। (च० वि० अ० ६)।

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्य· स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च॥ ३९॥

संसर्गावस्था में जो दोष अधिक उग्र (प्रधान या अनुवन्ध्य) हो उसी की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु वह चिकित्सा शेष दोषों के विरुद्ध या उन्हें बढ़ाने वाली नहीं होनी चाहिये। यही विधि सन्निपात में भी प्रशस्त है॥ ३७॥

विमर्शः—शेषदोषाऽविरोधेन—तेन कुपितस्तथा जेतव्यो यथा तद्विपरीतैराहारादिभ. सदृशत्वाद्दोषान्तर न कुप्यति। (इन्दु)। यहां निम्न मत हैं। १-त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तम। (चरक)। २-वात सब में प्रधान होने से प्रथम वात, फिर पित्त और तदनु कफ को जीते। वातस्यानु जयेत् पित्त पित्तस्यानु जयेत्कफम्। (चरक)। ३-कुछ आचार्य प्रथम कफ फिर पित्त और अन्त में वात की चिकित्सा करना मानते है। कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वर जयेत् (चरक)। सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्। पश्चाच्छ्लेष्मणि सक्षीणे शमयेत्पित्तमारतौ॥ (चक्रदत्त)। श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद् व्याधौ त्रिदोषजे। (वृन्दमाधव)। ४-ज्वरातिसारयो सुश्रुतमतम्-निर्हरेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्त्तेषु विशेषत॥ समवाये तु दोषाणा पूर्वं पित्तमुपाचरेत्। ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥ अन्याचार्या प्रथम कफ, तत पित्त, तदन्ते वायु जयन्ति। अष्टाङ्गसग्रहे सर्वक्रमवर्णनम्-चय एव जयेद्दोष कुपित त्वविरोधयन्। सर्वकोपे बलीयास शेषदोषाविरोधत.॥ क्रमान्मरुत्पित्तकफान् सर्वत्र सदृशे बले। वातादीना यथापूर्व यत· स्वाभाविक बलम्॥ स्थानत. केचिदिच्छन्ति प्राक् तावच्छ्लेष्मणो वधम्। तस्मादादौ कफो घात्य कायद्वारार्गलो हि स॥ जयेज्ज्वरेऽतिसारे च क्रमात् पित्तकफानिलान्। प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते॥ विशश्च सरण पित्तात्तथा च मृदुकोष्ठता। तस्य चानुबलः श्लेष्मा गौरवाऽपक्तिजाड्यकृत्॥ वायुश्च वर्धतेऽवश्य यावत्त्वहस्तु तयोः क्षये। ज्वरातिसारयोस्तस्मादेष दोषजये क्रम॥ कफपित्तानिलानन्ये क्रमादाहुस्त्रयोरपि। यस्मादामाशयोत्क्लेशाद् भूयिष्ठ तत्समुद्भवः॥ विशाय कर्मभि· स्वै स्वैर्दोषोद्रेक यथाबलम्। भेषज योजयेत्तत्र तत्री कुर्यान्नतु क्रमम्। प्रयोग शमयेद्व्याधि योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नाऽसौ विशुद्ध शुद्धस्तु शमयेधो न कोपयेत्॥

वृणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः॥ ४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणप्रश्नीयो नाम एकविंशतितमोऽध्याय॥ १६॥

जिस स्थान पर घाव हुआ हो वहां आच्छादन करने से व्रण कहते हैं। घाव के भर जाने पर भी देह धारण (जन्म) पर्यन्त जो वहां पर व्रणवस्तु (चिह्न) बन जाता है, वह नष्ट नहीं होता है अतएव भी उसे व्रण कहते हैं॥ ४०॥

विमर्शः—व्रणपरिभाषा-व्रणगात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रण·। आघात से स्थानिक शोथ होकर उसके पकने पर अपने आप फूट जाता है या शस्त्र द्वारा त्वचा में चीरा देते हैं। इस तरह बने घाव को व्रण (Ulcer) कहते हैं। व्रणवस्तु—व्रण होने के स्थान-त्वङ्मासशिरास्नाऽस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। इसके सिवाय व्रणवस्तु को व्रणचिह्न (Cicatrix or scar) भी कहते हैं। त्वचा के नष्ट सेलों में जो व्रणवस्तु बनती है वह अन्य सेलों से बनती है अतः घाव का स्थान शणसूत्रसन्निभ (Fibrous) धातु से आच्छादित होकर कड़ा बनता है। इसमें रक्तवाहिनियां, रसायनियां, वातसूत्राग्र, रोमकूप, स्वेदग्रन्थियां, तैलग्रन्थियां नहीं होती हैं। यदि व्रणोष्ठों को परस्पर ठीक मिला दिया जाय तो यह सौत्रिक धातु कम बनती है जिससे त्वचा अल्प विकृत होती है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां व्रणप्रश्नीयो नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो व्रणास्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर व्रणास्रावविज्ञानीय अध्याय का वर्णन किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि । अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः ॥ ३ ॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म ये आठ व्रणवस्तुएं है । इन्हीं में सर्वप्रकार के व्रणों का सन्निवेश या स्थिति होती है ॥ ३ ॥

विमर्शः—कोष्ठ'-स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुक' फुप्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

तत्र, आद्यैकवस्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः । शेषाः स्वयमवदीर्यमाणा दुरुपचाराः ॥ ४ ॥

उक्त त्वङ्मांसादि में से आदि की एक वस्तु (त्वचा) में उत्पन्न होने वाले तथा केवल त्वचा को ही भेदन करने वाले व्रण की ठीक तरह से चिकित्सा की जा सकती है तथा मांस-सिरादि में उत्पन्न होने वाले स्वयं ही पक कर फूटने वाले व्रण दुःसाध्य होते हैं ॥ ४ ॥

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमासः, शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति ॥ ५ ॥

इनमें से दीर्घ, चतुष्कोण, गोल और त्रिकोण ये संक्षेप से चार व्रण की आकृतियां होती हैं। इनके अतिरिक्त विकृत आकृति वाले व्रण दु साध्य होते हैं ॥ ५ ॥

सर्व एव व्रणाः क्षिप्रं संरोहन्त्यात्मवतां सुभिषग्भिश्चोपक्रान्ताः; अनात्मवतामशैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाच्च दोषाणाम् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य पथ्यकारी आहार-विहार करते हैं तथा सुशिक्षित और अनुभवी वैद्यों के द्वारा चिकित्सा कराते हैं उनके सर्व प्रकार के व्रण शीघ्र ही रोपित हो (भर) जाते हैं किन्तु आहार-विहार में कुपथ्य करने वाले तथा अशिक्षित और अनुभवहीन नीमहकीमी चिकित्सा कराने वाले मनुष्यों के व्रण दोषों की वृद्धि हो जाने से दूषित या दुश्चिकित्स्य होते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—प्रायः व्रण में सफाई का ध्यान रखने से तथा जन्तुनाशक घोलों से प्रक्षालनादि न करने से व्रण दूषित (Septic) हो जाते हैं जिससे वे शीघ्र नहीं भरते हैं ।

तत्रातिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूणः पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्क्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिङ्गानि । तस्य दोषोच्छ्रायेण षट्त्वं विभज्य यथास्वं प्रतीकारे प्रयतेत ॥ ७ ॥

अधिक छोटे मुखवाला, अधिक चौडे मुखवाला, अति कठिन, अति मृदु, उन्नत (उठा हुआ) मांस, हीनमांस, अधिक ठण्डा, अधिक गरम, काला, लाल, पीला और श्वेत रंगों में से किसी एक रंग वाला, देखने में भयानक, दुर्गन्धित पूय, मांस, सिरा, स्नायु आदि से युक्त, दुर्गन्धित पूय के स्राव से युक्त, उन्मार्गी (ऊर्ध्वमुख), ऊँचा उठा हुआ, देखने में और और गन्ध में विकृत, अधिक पीड़ायुक्त, दाह, पाक, लालिमा, खुजली, शोथ और पिड़काओं से उपद्रुत, अत्यन्त दूषित रक्त के स्राव से युक्त तथा अधिक समय से अनुवर्त्तित (विद्यमान) ये दुष्टव्रण के लक्षण हैं । दोषों की अधिकता के अनुसार उस व्रण के ६ विभाग कर यथादोष चिकित्सा करने में यत्नशील होना चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्शः—षट्त्वम्-वातपित्तकफरक्तसन्निपातागन्तुभेदत' ।

अत ऊर्ध्वं सर्वस्रावान् वक्ष्यामः-तत्र घृष्टासु छिन्नासु वा त्वक्षु स्फोटेषु भिन्नेषु विदारितेषु वा सलिलप्रकाशो भवत्यास्रावः किञ्चिद्विस्रः पीतावभासश्च । मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेतः पिच्छिलश्च । सिरागतः सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृत्तिः, पक्वासु च तोयनाडीभिरिव तोयागमन पूयस्य, आस्रावश्चात्र तनुर्विच्छिन्नः पिच्छिलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च । स्नायुगतः स्निग्धो घनः सिंघाणकप्रतिमः सरक्तश्च । अस्थिगतोऽस्थन्यभिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते वा दोषभक्षितत्वादस्थि निःसारं शुक्तिधौतमिवाभाति । आस्रावश्चात्र मज्जमिश्रः सरुधिरः स्निग्धश्च । सन्धिगतः पीड्यमानो न प्रवर्त्तते, आकुञ्चनप्रसारणोन्नमनविनमनप्रधावनोत्कासनप्रग्रहणैश्च स्रवति । आस्रावश्चात्र पिच्छिलोऽवलम्बी सफेनपूयरुधिरोन्मथितश्च । कोष्ठतोऽसृङ्मूत्रपुरीषपूयोदकानि स्रवति । मर्मगतस्त्वगादिष्ववरुद्धत्वान्नोच्यते ॥ ८ ॥

अब इसके अनन्तर सर्व प्रकार के स्रावों का वर्णन करते हैं । त्वचा के घिस जाने या छिल जाने पर तथा फोड़ों के स्वयं फूट जाने या विदारित करने पर जल के समान स्राव निकलता है जो कि कुछ दुर्गन्धयुक्त तथा पीला होता है । मांसस्थित व्रण का स्राव घृत के समान गाढ़ा, श्वेत और चिपचिपा होता है । सिरास्थित व्रण की यदि तत्काल सिरा कटी हो तो उसमें से रक्त का अधिक स्राव होता है । पाक हो जाने पर जल की नालियों से जल निकलने के समान व्रण से पूय का स्रवण होता है । इस तरह का स्राव पतला, खण्डित, लसदार, गाढा, काला तथा ओस के समान होता है । स्नायुगत व्रण का स्राव चिकना, गाढा, नासा से निकलने वाले पीत श्लेष्मा के समान तथा रक्तयुक्त होता है । अस्थि के टूटने, फूटने, भिन्न होने तथा दोषों से विदीर्ण होने पर अस्थि में व्रण हो जाता है तथा दोषों (जीवाणुओं) द्वारा अस्थि के भक्षित होने पर अस्थि निःसार (हल्की) तथा धोई हुई सीप के समान हो जाती है तथा

उसमें से मज्जायुक्त, स्निग्ध तथा रक्त सहित स्राव निकलता है। सन्धि में स्थित व्रण होने पर सन्धि को दबाने पर भी स्राव नहीं निकलता है किन्तु सन्धि को या अङ्ग को कुञ्चन (सिकोड़ने), प्रसारण करने से ऊँचा उठाने या नीचा दबाने से एवं दौड़ने से, जोर से खांसने से और प्रवाहण (कांखने) करने से निकलता है तथा वह स्राव चिपचिपा चासनी के समान तार टपकाने वाला पूय फेन, मवाद तथा रक्त से मथित जैसा होता है। व्रण के कोठ में स्थित होने पर उसमें से रक्त, मूत्र, मल, पूय और जल टपकते (स्रवित होते) हैं। मर्म स्थानों में व्रण के होने पर उनका समावेश त्वगादि के व्रणों के अन्तर्गत हो जाने से पृथक् लक्षण नहीं कहे जाते हैं॥ ८॥

तत्र त्वगादिगतानामास्रावानां यथाक्रमं पारुष्यश्यावश्यावदधिमन्तुक्षारोदकमांसधावनपुलाकोदकसन्निभत्वानि मारुताद् भवन्ति। पित्तात्तोमेदगोमूत्रभस्मशङ्खकषायोदकमाक्षीकतैलसन्निभत्वानि। पित्तवद् रक्तादतिविस्रत्वञ्च। कफान्नवनीतकासीसमज्जपिष्टतिलनारिकेलोदकवसाहवसासन्निभत्वानि। सन्निपातान्नारिकेलोदकैर्वा लुकरसकाञ्जिकप्रसादासुकोदकप्रियङ्गुफलयकृन्मुद्गयूषसवर्णत्वानीति॥ ९॥

अब त्वचा, मांस, मिरा, स्नायु आदि जो व्रण के उत्पन्न होने के आठ स्थान कहे हैं उनमें होने वाले आस्रावों (Discharges) के वात, पित्तादि दोषानुसार यथाक्रम से लक्षण लिखते हैं—जैसे वायु के कारण त्वचागत व्रण स्राव परुष, मांसगत व्रण स्राव काला, स्नायुगत व्रण स्राव दही के पानी के समान, सिरागत व्रण स्राव, तूहरे के समान, अस्थिगत व्रण स्राव क्षारोदक के समान, सन्धिगत व्रण स्राव मांसधावन के समान तथा कोष्ठगत व्रण स्राव पुलाकोदक के समान होता है। पित्त के कारण क्रमशः त्वगादि स्थानों के व्रणों का स्राव गोमेदक, गोमूत्र, शङ्ख, भस्म, कषायोदक, माक्षीक और तैल के समान होते हैं। रक्त के कारण त्वगादि स्थानों के स्राव पित्त के समान ही होते हैं किन्तु इन स्रावों में आममांस की तरह दुर्गन्ध अधिक होती है। कफ के कारण त्वगादिस्थानों के स्राव मक्खन, कासीस, मज्जा, पिट्ठी, तिल, नारियल के जल के सदृश तथा शूकर की चरबी के समान क्रमशः होते हैं। सन्निपात के कारण त्वगादि स्थानों के स्राव नारियल के पानी, ककड़ी के जल, कांजी का स्वच्छ पानी, आम्रकोदक, प्रियङ्गु फल, यकृत, मूग के यूष के समान होते हैं॥ ९॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

पक्वाशयात्माध्यन्तु पुलाकोदकसन्निभः।
क्षारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात् स्रवन्॥१०॥
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद् भिषक्॥११॥

पक्वाशय से पुलाकोदक के समान निकलने वाला स्राव असाध्य तथा रक्ताशय से क्षारोदक के समान निकलने वाला स्राव वर्जित है। इसी तरह आमाशय और त्रिकसन्धि से मटर के यूष के समान स्राव असाध्य होता है इसलिये प्रथम इन स्रावों की परीक्षा करके पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये॥

अत ऊर्द्ध्वं सर्वव्रणवेदना वक्ष्यामः—तोदनभेदनताडनच्छेदनायमनमन्थनविक्षेपणचुंचुमायननिर्दहनावभञ्जनस्फोटनविदारणोत्पाटनकम्पनविविधशूलविश्लेषणविकिरणपूरणस्तम्भनस्वप्नाकुञ्चनाकुशिकाः सम्भवन्ति। अनिमित्तविविधवेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्मुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदनाविशेषास्तं वातिकमिति विद्यात्। ओषचोषपरिदाहधूमायनानि यत्र गात्रमङ्गारावकीर्णमिव पच्यते यत्र चोष्माभिवृद्धिः क्षते क्षारावसिक्तवच्च वेदनाविशेषास्तं पैत्तिकमिति विद्यात्। पित्तवद्रक्तसमुत्थं जानीयात्। कण्डूर्गुरुत्वं सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्वं स्तम्भः शैत्यञ्च यत्र तं श्लैष्मिकमिति विद्यात्। यत्र सर्वासां वेदनानामुत्पत्तिस्तं सान्निपातिकमिति विद्यात्॥

अब इसके अनन्तर सर्व प्रकार के व्रणों की वेदना का वर्णन करते हैं। जहां तोदन (सूई चुभोने के समान), भेदन (विदारण), ताडन (डण्डे से आघात), छेदन, (काटने के समान), आयमन (खींचने के समान), व्रण के भीतर मथने के समान, विक्षेपण (फेंकने के समान), चुभचुभायन, जलाने के समान, अवभञ्जन (वायु से टूटने के समान), फूटने की सी, नखादि से विदारण (फाड़ने) की सी, उखाड़ने की सी, कम्पन सी, पीड़ा तथा अनेक प्रकार के शूल, विश्लेष (अलग २ करने सी), चारों ओर विकिरण (फेंकने की) सी, पूरण, स्तम्भन, त्वचा की सुप्तता, अङ्गों में अकड़ाव, अङ्कुशाघात की सी पीड़ा हो तथा अकारण ही अनेक प्रकार की वेदनाओं का प्रादुर्भाव होना, तथा बार बार कई प्रकार की वेदना विशेष की प्रतीति होना आदि लक्षण हों तो वातिक व्रण जानना चाहिये। जहां पर ओष, चोष, परिदाह और व्रण से धूम निकलने की सी प्रतीति हो तथा शरीर अङ्गारों से व्याप्त होकर जलता सा विदित हो एवं शरीर या व्रणस्थान की गरमी बढ़ जाय तथा व्रण पर क्षारावसेचन की तरह पीड़ा होती हो उसे पैत्तिक व्रण जानना चाहिये। पित्त के समान ही रक्त दुष्टि से उत्पन्न व्रण के लक्षण जानने चाहिये। जहां पर खुजली, भारीपन, सुप्ति, शरीर लिप्त सा रहना, पीड़ा की न्यूनता, स्तब्धता और शीतलता आदि लक्षण हों उसे कफ दूषित व्रण समझना चाहिये। जहां पर तीनों दोषों में कही हुई सर्व प्रकार की पीड़ाओं की उत्पत्ति हो उसे सान्निपातिक व्रण जानना चाहिये॥ १२॥

विमर्शः—दूषिवस्त्रान्त्रूपम्—श्वेतोऽसृग्वस्त्रवर्त्माऽसितिपिच्छरः। नील श्यावोऽतिपिट्को रक्तः कृष्णोऽतिपूतिक॥ रोध्रकुर्म्मामुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः॥ व्रणस्रावा.—लसीकाजलपूयासृग्धारिद्राऽञ्जनसन्निभाः। क्षयाक्षीणोऽहरितस्निग्धरूक्षमिश्रासिता॥ व्रणास्वरूपम्—कृच्छ्रोत्क्लेदन्यथा दुष्टोऽदुष्टो मर्म्मस्थितो न च। सदृशो दारुण स्रावो सविषो विषमन्वितः॥ उत्सन्नपूयसम्पाद्य व्रणान् विद्याद्विपर्ययं तु। इति नानात्वसंदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः। व्रणगन्ध.—सर्पिरर्न्नं श्वसासूयरक्तश्यावाम्लपूतिका। व्रणाना व्रणगन्धश्चैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः। वातजादिव्रणलक्षणम्—रूक्षः कठिनसस्पर्शो मन्दस्रावोऽतिवेदनः। तुद्यते स्फुरति श्यावो दृश्यो मारुतसम्भवः॥ तृष्णामोहज्वरस्वेदादहदृष्यवदारणैः। व्रणः पित्तकृतः विद्याद् गन्धैः

स्रावैश्च पूतिकै ॥ बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदन । पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥ साध्यासाध्यज्ञानम्—त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रव । धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्य. स्मृतो व्रण. ॥ गुणैरन्यतमैर्हीनस्तत कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः । सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपद्रवः ॥ (च० चि० अ० २५)

अत ऊर्ध्वं व्रणवर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोतास्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य । नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः कपिलः पिङ्गल इति रक्तपित्तसमुत्थयोः । श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य । सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥ १३ ॥

अब इसके अनन्तर व्रणों के कर्मों का वर्णन करते हैं। वायु के द्वारा दूषित व्रण भस्म, कपोत और अस्थि के समान होता है तथा स्पर्श में कठोर, कुछ लाल और काला होता है। रक्त और पित्त के द्वारा दूषित व्रण नीला, पीला, हरा, आस्मानी, काला, लाल, कपिल और पिङ्गल वर्ण का होता है। कफ के द्वारा दूषित व्रण सफेद, चिकना और पाण्डु वर्ण का होता है। सन्निपात से दूषित व्रण उक्त सर्व प्रकार के वर्णों से युक्त होता है ॥ १३ ॥

भवति चात्र—

न केवलं व्रणेभूक्तो वेदनावर्णसङ्ग्रहः ।
सर्वशोफविकारेषु व्रणवल्लक्षयेद्भिषक् ॥ १४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणस्रावविज्ञानीयो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

उक्त प्रकार से वातादिजन्य वेदना और वर्ण का जो संग्रह किया गया है वह केवल व्रण का ही नहीं है किन्तु व्रण की तरह वातादिक सर्व प्रकार के शोफों में भी समझना चाहिये ॥ १४ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने व्रणस्रावविज्ञानीयो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमाऽध्यायः ।

अथातः कृत्याकृत्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब यहां से कृत्याकृत्यविधि नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—कृत्याश्चिकित्सारूपक्रियार्हाः साध्याः, तद्विपर्ययेणाकृत्या असाध्याः । साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा । सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्योऽन्यश्चानुपक्रमः ॥

तत्र, वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववताञ्च सुचिकित्स्या व्रणाः । एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद्गुणचतुष्टयं तस्य सुखसाधनीयतमाः । तत्र, वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशुव्रणा रोहन्ति । दृढानां स्थिरबहुमांसत्वाच्छस्त्रमवचार्यमाणं सिरास्नाय्वादिविशेषान्न प्राप्नोति । प्राणवतां वेदनाभिघाताहारयन्त्रणादिभिर्न ग्लानिरुत्पद्यते । सत्त्ववतां दारुणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति । तस्मादेतेषां सुखसाधनीयतमाः ॥ ३ ॥

इनमें युवा, दृढ़ शरीर वाले, प्राण (जीवनीय शक्ति) वाले, मनः सम्पत् वाले या सात्त्विक पुरुषों के व्रण सुचिकित्स्य होते हैं। जहां पर एक ही मनुष्य में उक्त चारों गुण विद्यमान हों उनके व्रण अत्यन्त सुखसाध्य होते हैं क्योंकि युवा पुरुषों के शरीर की धातुएँ नवीन होने से वर्धनशक्ति सम्पन्न होती हैं अतएव उनके व्रण शीघ्र ही भर जाते हैं। दृढ़ पुरुषों के स्थिर और अधिक मांस होने से उनमें प्रयुक्त अस्त्र सिरा, स्नायु आदि गम्भीर धातुओं तक नहीं पहुंचता है। प्राणशक्ति वाले मनुष्य वेदना, आघात तथा आहारनियन्त्रण आदि से ग्लानि को प्राप्त नहीं होते हैं। सत्त्ववान् पुरुषों को भयङ्कर शस्त्रादिक्रियाओं से भी पीड़ा नहीं होती है इसलिये इन मनुष्यों के व्रण अत्यन्त सुखसाध्य होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना । (सुश्रुत) । 'ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडासु त्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात्' (चरक) ।

त एव विपरीतगुणा वृद्धकृशाल्पप्राणभीरुषु द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥

उपर्युक्त प्रकार के वे ही व्रण वृद्ध, कृश, अल्पप्राणशक्ति और डरपोक मनुष्यों में कष्टसाध्य होते हैं ॥ ४ ॥

स्फिक्पायुप्रजननललाटगण्डौष्ठपृष्ठकर्णफलकोपोदरजत्रुमुखाभ्यन्तरसंस्थाः सुखरोपणीया व्रणाः ॥ ५ ॥

नितम्ब प्रदेश, गुदा, इन्द्रिय, ललाट, कपोल, ओष्ठ, पृष्ठ, कर्ण, अण्डकोष, उदर, अक्षकास्थि के आसपास तथा मुख के भीतर स्थित व्रण सुखपूर्वक भर जानेवाले होते हैं ॥ ५ ॥

अक्षिदन्तनासापाङ्गश्रोत्रनाभिजठरसेवनीनितम्बपार्श्वकुक्षिवक्षःकक्षास्तनसन्धिभागगताः सफेनपूयरक्तानिलवाहिनोऽन्तः शल्याश्च दुश्चिकित्स्याः । अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो, रोमान्तोपनखमर्मजङ्घाऽस्थिसंश्रिताश्च । भगन्दरमपि चान्तर्मुखं सेवनीकुटकास्थिसंश्रितम् ॥ ६ ॥

नेत्र, दांत, नासा, अपाङ्ग प्रदेश, कान, नाभि, उदर, सेवनी, नितम्ब, पार्श्व, कुक्षि, वक्षस्थल, कक्षप्रदेश, स्तन और सन्धियों में स्थित व्रण तथा जिन से फेनयुक्त, पूय रक्त और वायु निकलती हो तथा जिनके भीतर कोई शल्य रह गया हो ऐसे व्रण दुश्चिकित्स्य होते हैं। तथा जिसकी नाडी नीचे की ओर और मुख ऊपर की ओर हो एवं सीमन्त, नख के पास के स्थान, मर्म और जङ्घास्थि में स्थित व्रण भी दुश्चिकित्स्य होते हैं। सेवनी के समीप तथा कुटकास्थि (ककुन्दरास्थि) से संश्रित भीतरी मुखवाला भगन्दर रोग भी दुश्चिकित्स्य होता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—रोमान्तास्त्वत्र शिरसि विभक्ता मर्मसु परिगण्याः पञ्च सीमन्ता एव, न तु केशान्तो देशान्तस्य मर्मादिविरहितत्वेन तत्संश्रितानां दुःसाध्यत्वं प्रति युक्त्यभावात् (हाराणचन्द्रः) ।

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ॥७॥

कुष्ठ से पीड़ित, विषों से व्याप्त, शोष रोगी और मधुमेह रोग वाले मनुष्यों के व्रण कृच्छ्रता से सिद्ध होते हैं तथा जिनके व्रण में ही व्रण उत्पन्न होते हैं वे भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—कुष्ठ में कुष्ठ के(Bacillus lapri) जीवाणु त्वचा, मांस, रक्त और लसीका का तथा विष शरीर की स्थानिक व्रण की धातुओं का नाश करने से, शोष में रक्त मांसादि धातु के पूर्ण न बनने से तथा मधुमेह में ओज (Sugar) का नाश होते रहने से व्रण शीघ्र नहीं भरते हैं अतः व्रणोपचार के साथ २ उन उन रोगों की चिकित्सा भी करते रहना अत्यावश्यक है। फिरङ्ग (Syphilis) की मुख्य चिकित्सा करने से उसके व्रण शीघ्र भरते हैं।

अवपाटिकानिरुद्धप्रकाशसन्निरुद्धगुदजठरग्रन्थिक्षतक्रिमयः प्रतिश्यायजाः कोष्ठजाश्च स्वरदोषिणां प्रमेहिणां वा ये परिक्षतेषु दृश्यन्ते। शर्करा सिकतामेहो वातकुण्डलिकाऽष्ठीला दन्तशर्करोपकुशः कण्ठशालूकं निष्कोषणदूषिताश्च दन्तवेष्टा विसर्पास्थिक्षतोरःक्षतव्रणग्रन्थिप्रभृतयश्च याप्याः ॥ ८ ॥

अवपाटिका, निरुद्धप्रकाश, सन्निरुद्धगुद, जठर के रोग, ग्रन्थिक्षत, कृमि, प्रतिश्याय, कोष्ठगत कृमि, स्वरोग तथा प्रमेह से युक्त रोगियों के व्रणगत कृमि, शर्करामेह, सिकतामेह, वातकुण्डलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, उपकुश, कण्ठशालूक, दांतों को कुचरने से दूषित दन्तमांस, विसर्प से उत्पन्न अस्थिक्षत, उरःक्षत और व्रणग्रन्थि प्रभृति से उत्पन्न व्रण याप्य होते हैं ॥ ८ ॥

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य अपने रोग या व्रण की चिकित्सा नहीं करते हैं उनके साध्य व्रण याप्य हो जाते हैं, याप्य व्रण असाध्य हो जाते हैं तथा असाध्य व्रण उस रोगी के प्राणों का नाश कर देते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किञ्चित्साध्यं न सिद्ध्यति। प्रेष्योपकरणाभावाद्दीरात्म्याद्व्याधदोषत ॥ अकर्मतश्च साध्यत्व कश्चिद्रोगोऽतिवर्तते। सन्ति ह्येवविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः ॥ ये ह्यनुरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥ (चरक)।

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥ १० ॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजितः ॥ ११ ॥

उचित क्रिया (चिकित्सा) जिस रोगी को उस रोग से अधिक पीड़ित न होने देती हो तथा धारित किये रहे किन्तु उस चिकित्सा के छोड़ देने पर रोगी शीघ्र मर जाता हो उस रोग को याप्य जानो। जिस प्रकार ठीक रूप से लगाया हुआ खम्भा गिरते हुये मकान को रोक देता है उसी प्रकार प्रारम्भ की हुई उचित चिकित्सा याप्य रोग से पीड़ित रोगी को जिलाये (धारण किये) रखती है ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—क्षुद्र आयु के शेष रहने पर तथा जिसे कर्मफल भोगना हो उसे याप्य रोग होता है। शेषतश्चायुषो याप्यमसाध्य पथ्यसेवया। लब्धात्मसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशु प्रवर्तकम् ॥ याति नाशेषता रोग. कर्मजो नियतायुष। प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽतुरो हितैः ॥ (अ० सं०)।

अत ऊर्ध्वमसाध्यान् वक्ष्यामः-मांसपिण्डवदुद्वृताः प्रसेकिनोऽन्तःपूयवेदनावन्तोऽश्वापानवदुद्वृत्तौष्ठाः। केचित् कठिना गोशृङ्गवदुन्नतमृदुमांसप्ररोहाः। अपरे दुष्टरुधिरस्राविणस्तनुशीतपिच्छिलास्राविणो वा मध्योन्नताः। केचिदवसन्नशुषिरपर्यन्ताः शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शनाः। वसामेदोमज्जमस्तुलुङ्गस्राविणश्च दोषसमुत्थाः। पीतासितमूत्रपुरीषवातवाहिनश्च कोष्ठस्थाः। त एवोभयतोभागव्रणमुखेषु पूयरक्तनिर्वाहिणः। क्षीणमांसानाञ्च सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांसबुद्बुदवन्तः सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः। क्षीणमांसानाञ्च पूयरक्तनिर्वाहिणोऽरोचकाविपाकक्कासश्वासोपद्रवयुक्ताः। भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र मस्तुलुङ्गदर्शनंत्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भावः क्कासश्वासौ वा यस्येति ॥१२॥

अब इसके अनन्तर असाध्य व्रणों का वर्णन किया जाता है। मांस के पिण्ड के समान ऊँचे उठे हुये, अधिक पूय रक्तादि को बहाने वाले, जिनके भीतर पूय भरा हो तथा वेदना होती हो, घोड़ी के भगोष्ठ के समान जिनके ओष्ठ (किनारे) ऊँचे उठे हों, कुछ कठिन, गौ के शृङ्ग के समान ऊपर उठे मृदु मांसांकुरों वाले, दुष्ट रक्त स्राव वाले अथवा पतला, शीतल और पिच्छायुक्त स्राव वाले, मध्य में ऊँचे उठे हुये, जिनके किनारे नीचे और भीतर धँसे हों तथा कमलनाल छिद्र के समान सुषिर पर्यन्त वाले शण के तूल (गुच्छ) के समान स्नायुजाल वाले, देखने में खराब तथा वातादि दोषों के कारण वसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क के समान गूगले या धूसर वर्ण के स्राव वाले, कोष्ठगत व्रण जिनसे पीला, काला स्राव बहता हो अथवा मूत्र, मल और वायु का वहन होता हो एवं मुख, गुदा तथा व्रण से पूय और रक्त का स्राव होता हो ऐसे व्रण तथा क्षीण मांस वाले मनुष्यों के चारों ओर शरीर में फैलने वाले व्रण तथा छोटे मुख वाले व्रण एवं जिनमें से मांस के बुद्बुदे (अङ्कुर) निकलते हों ऐसे व्रण एवं शब्द के साथ वायु निकलने वाले शिर और कण्ठ में उत्पन्न व्रण, इसी प्रकार क्षीणमांस वाले मनुष्यों के पूय और रक्त का स्राव करने वाले व्रण तथा अरुचि, अविपाक, कास और श्वास से उपद्रुत व्रण तथा शिर और कपाल में चोट लगने पर जहां मस्तुलुङ्ग (Brain) का कुछ हिस्सा निकल आवे एवं त्रिदोषों का प्रकोप हो जाय अथवा कास और श्वास चलने लगे इस प्रकार के व्रण असाध्य होते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—घोड़े के गुदौष्ठ या घोड़ी के योनि के ओष्ठ के समान ऊँचे उठे हुये (Elevated edges) व्रण सार्कोमा तथा

केन्सर में होते हैं। असाध्यव्रणा'—नैव सिद्ध्यन्ति वीसर्पज्वरातीसारकासिनाम्। पिपासच्छर्दिनिद्राणाम्॥ (वाग्भट)।

भवन्ति चात्र—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत्।
आगन्तुस्तु व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसम्भवः॥ १३॥

जिस आगन्तुक व्रण से वसा, मेद, मज्जा और मस्तुलुङ्ग का स्राव भी होता है तो भी ठीक हो सकता है किन्तु भीतरी वातादि दोषों की दृष्टि से उत्पन्न व्रण से वसा, मेद आदि निकले हों तो वह ठीक नहीं हो सकता है॥ १३॥

अमर्मोपहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्जिते।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम्॥ १४॥

शिरा, सन्धि एवं अस्थि से रहित स्थान में उत्पन्न व्रण तथा मर्मरहित प्रदेश में उत्पन्न व्रण चिकित्सा करने पर भी ठीक न हो तो उसे असाध्य समझना चाहिये॥ १४॥

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातून्ननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥ १५॥

व्रणादिक कोई भी रोग क्रमशः उपचय को प्राप्त करता हुआ धीरे धीरे शरीर के गम्भीर धातुओं में फैलने लगता है तब वह बढे हुये वृक्ष की तरह सहसा नष्ट नहीं किया जा सकता है॥ १५॥

स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥ १६॥

वह विकार स्थिर होने से, बढ़ जाने से तथा रक्त-मांस-मेद आदि गम्भीर धातुओं में प्रवेश करने से प्रयुक्त की हुई ओषधियों के प्रभाव को नष्ट कर देता है जैसे दुष्टग्रह मन्त्रों की शक्ति को नष्ट कर देता है॥ १६॥

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते।
अवद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः॥ १७॥

इस कारण श्लोकोक्त गुणों या लक्षणों से विपरीत गुणों वाला रोग सुखसाध्य कहा जाता है जिस प्रकार जमीन में तुरन्त उत्पन्न हुआ क्षुप (छोटा पौधा) जड़ के पृथ्वी में ज्यादा गई हुई न होने से उसे सुखपूर्वक उखाड़ा जा सकता है॥ १७॥

विमर्शः—सुखसाध्यव्रणलक्षणम्—त्वङ्मांसज. सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः। धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रण'॥(चरक)। वृद्धरोगदुर्बलता—अणुर्हि प्रथम भूत्वा रोग. पश्चाद्विवर्धते। स जातमूलो मुष्णाति बलमायु. सुदुर्मतेः॥ यथा स्वल्पेन यत्नेन च्छिद्यते तरुणस्तरुः। स एवातिप्रवृद्धस्तु च्छिद्यतेऽतिप्रयत्नत.॥

त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥ १८॥

जो व्रण वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से आक्रान्त न हो, जिसके ओष्ठ (किनारे) श्याव रङ्ग के हो, जिसमें छोटी छोटी पिडकाएं या मांसाङ्कुर दिखाई देते हों तथा जिसके सब भाग समान हों एवं वेदना तथा स्राव से रहित हो उसे शुद्ध व्रण कहते हैं॥ १८॥

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः।
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्॥१९॥

कबूतर के वर्ण के समान वर्ण वाला, तथा पूयादिस्राव से रहित, स्थिर और चिपिटिकाओं (शुष्क सूक्ष्म श्वेत मृदु त्वचाओं) से युक्त ये रोपित होते हुये व्रण के लक्षण हैं॥ १९॥

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत्॥ २०॥

जिसका मार्ग भर गया हो, जिसमें मांसादि की ग्रन्थियां न हों, चारों ओर जिसके सूजन न हो, पीड़ा से रहित, जिसकी त्वचा अन्य स्वस्थ प्रान्त की त्वचा के समान वर्ण की हो गई हो और जिसका तलभाग भर कर बराबर हो गया हो उसे सम्यग्रूढ व्रण कहते है॥ २०॥

विमर्शः—आधुनिकों ने व्रण की तीन अवस्थाएं मानी हैं। प्रथमावस्था को दुष्टावस्था Stage of ulceration proper or extension कहते हैं। इसमें दोषों की प्रबलता, स्थानिक धातु नाश, दुर्गन्धयुक्त पूय-रक्तादि स्राव, व्रणोष्ठ मोटे तथा शोथयुक्त, समग्र व्रण लाल सुर्ख तथा उसका तलभाग चिपका हुआ होता है। पूति. पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः। दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः॥ (माधव)। द्वितीयावस्था को शुद्धावस्था Stage of transition कहते हैं। इसमें दोषप्राबल्य, स्थानिक धातुविनाश तथा पूयादि स्रावनिर्गमनबन्द हो जाते हैं। व्रण गुलाबी रङ्ग का स्वच्छ, स्वस्थ तथा तलभाग में छोटे छोटे मांसाङ्कुरों (Granulations) से युक्त दिखाई देता है। 'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्त.' ये इसी के लक्षण हैं। अन्य लक्षण जैसे—जिह्वातलाभो मृदु. स्निग्ध. श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण' (सुश्रुत)। नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्। न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्य पर व्रणः॥ (चरक)। तृतीयावस्था को रोहणावस्था Stage of repair कहते हैं इसका वर्णन कपोत वर्ण प्रतिमा आदि से किया गया है। इसमें रोहण धातु (Granulation tissue) अधिक बन कर सारे तलभाग पर छा जाती है। व्रण का पृष्ठ प्रदेश मृदु, लाल तथा पीड़ा रहित होता है। स्पर्श से कुछ रक्त निकलता है। किनारे श्वेत, नील रक्तवर्ण व स्वस्थ होते हैं। व्रण की रूढावस्था में रोहणधातु का परिवर्तन तान्तव धातु (Fibrocicatricial tissue) में हो जाता है जिससे एक पतला त्वचा का चर्म बन जाता है इसी को व्रणवस्तु (Scar) कहते हैं। व्रणपरीक्षा में व्रण का तल (Base), पृष्ठ भाग (Surface), स्राव (Discharge), व्रणौष्ठ (Edges), व्रणान्त (Margins), व्रणधातु तथा व्रणस्थान इन सात का निरीक्षण करना अत्यावश्यक है।

दोषप्रकोपाद् व्यायामादभिघातादजीर्णतः।
हर्षात् क्रोधाद्व्यवायादपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्यविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

वात, पित्त, कफ दोषों के प्रकोप से, किसी प्रकार के परिश्रम से, आघात से, अजीर्ण से, अधिक हर्ष, क्रोध और भय से रूढ या रोहित व्रण भी पुनः विदीर्ण हो जाता है ॥ २१ ॥

विमर्शः—स्नायुक्लेदात् सिराक्लेदाद् गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात्। अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वाच्च सर्पणात्॥ नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमातिवृद्धनात्। मिथ्यावन्धादतिस्नेहादतिमैथुन्यकर्षणात्॥ अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात्। शोकात्क्रोधादिवास्वप्नाद्व्यायामान्मैथुनात्तथा ॥ व्रणा न प्रशम यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥ (चरक)। रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्। हर्ष क्रोधं भयञ्चापि यावत्स्थैर्योपसम्भवात् ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्यविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

√चतुर्विंशतितमोऽध्यायः।

अथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर व्याधिसमुद्देशीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—समासकथनमुद्देशः, व्याधीना रोगाणा समासेन सक्षेपेणोद्देश कथन तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः।

द्विविधास्तु व्याधय -शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते। स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते ॥३॥

√व्याधियां दो प्रकार की होती हैं। प्रथम शस्त्रसाध्य तथा द्वितीय स्नेहादिक्रियासाध्य। शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहादिचिकित्सा निषिद्ध नहीं है किन्तु स्नेहादि क्रिया से साध्य रोगों में शस्त्रकर्म नहीं किये जाते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्त परिमार्जन, बहि परिमार्जन, शस्त्रप्रणिधानञ्चेति, शस्त्रप्रणिधान पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनासीवनैषणक्षारजलौकसश्चेति, तत्रान्त परिमार्जन यदन्त शरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि, यत्पुनर्बहि स्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोमर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहि परिमार्जनम्। (चरक)।

अस्मिन् पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात् सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः क्रियते। प्रागभिहितम्—'तद्दुःखसंयोगा व्याधय' इति। तच्च दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकमिति ॥

√इस शल्यशास्त्र या सुश्रुततन्त्र में सर्वतन्त्र समानता होने से सब रोगों का स्थूलरूप से वर्णन किया जाता है। प्रथम ही कह आये हैं कि उस पुरुष का दुःखों के साथ जो सयोग होता है उसे व्याधि कहते हैं। वह दुःख तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ॥ ४ ॥

विमर्शः—आध्यात्मिकम्-आत्मन्यधि अध्यात्म तत्र भवमाध्यात्मिकम्। पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष.। त्रिदोष तथा मानसिक रज और तम से उत्पन्न पुरुष के रोग। आधिभौतिक—भूतेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्त्तते तत्। मनुष्य, पशु, पक्षी सरीसृप आदि भूतों के कारण उत्पन्न रोग। आधिदैविक—देवेष्वधिकृत्य प्रवर्तते तत्। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षसादि के कारण उत्पन्न रोग।

तत्तु सप्तविधे व्याधावुपनिपतति। ते पुनः सप्तविधा व्याधयः। तद्यथा-आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, सङ्घातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति ॥ ५ ॥

वह दुःख सात प्रकार के रोगों के रूप में प्रगट होता है। जैसे आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त, सघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त तथा स्वभावबलप्रवृत्त ॥ ५ ॥

तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः। तेऽपि द्विविधाः-मातृजाः पितृजाश्च। जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते। तेऽपि द्विविधाः-रसकृता दौहृदापचारकृताश्च। दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च। तेऽपि द्विविधाः-आमाशयसमुत्थाः पक्वाशयसमुत्थाश्च। पुनश्च द्विविधाः-शारीरा मानसाश्च। त एते आध्यात्मिकाः ॥ ६ ॥

उनमें से पिता के शुक्र तथा माता के आर्तव दोष से उत्पन्न होने वाले कुष्ठ, अर्श आदि रोग आदिबलप्रवृत्त कहे जाते हैं तथा उनके मातृज और पितृज ऐसे दो भेद होते हैं। गर्भ के समय माता के मिथ्या आहार-विहार के सेवन करने से उत्पन्न हुये पङ्गु, जात्यन्ध, बधिर, मूक, मिन्मिन (हकला), वामन (बौना) आदि विकार जन्मबलप्रवृत्त कहे जाते हैं। वे भी रसकृत तथा दौहृदावमान जन्य ऐसे दो प्रकार के होते हैं। अन्य रोगों के उपद्रव रूप में तथा मिथ्या आहार-विहार के सेवन से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे दोषबलप्रवृत्त कहलाते हैं। वे भी आमाशय से उत्पन्न तथा पक्वाशय से उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार के होते है। फिर और उनके शारीरिक तथा मानस ऐसे दो भेद होते हैं। इस तरह वर्णित ये आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त और दोषबलप्रवृत्त रोग आध्यात्मिक हैं। अर्थात् आत्मा, मन, शरीर में वातादि शारीरिक दोष तथा रज, तम आदि मानस दोषों से उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

√विमर्शः—आदिबलप्रवृत्त—मानवोत्पत्ति के आदि कारण भूत शुक्रकीट (Spermato zoa) तथा स्त्रीबीज (Ova) की दुष्टि से उत्पन्न रोगों को Hereditary कहते हैं। मनुष्यबीज हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मक स्वसदृश प्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम्। रोगरहित कुल के रोगरहित लडके-लडकियों का विवाह होने से आदिबलप्रवृत्त रोग होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इन रोगों को याज्ञवल्क्य ने 'सञ्जारी' चरक ने 'कुलज' वाग्भट ने 'कुलोद्भव' और 'सहज' तथा भेल ने 'प्रकृतिप्रभाव' नाम से लिखा है। कुष्ठ, अर्श, राजयक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र और अपस्मार ये कुलज रोग हैं। विवाह में ये कुल

वर्जित हैं—दर्शतानि कुलानि परिवर्जयेत्—हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् । क्षयामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च । (मनु) । डाक्टरी में श्वित्र, अपस्मार, मधुमेह, कैंसर, मेदोऽर्बुद, हीमोफायलिया (रक्तपित्त भेद), पर्पुरिकृत्ता, वातरक्त, अस्थिभङ्गुरता, छाजन (Eczema), श्वास, उन्माद, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि, मोतियाबिन्द, रक्तचाप (High blood pressure), स्थौल्य, कटा ओष्ठ, कटा तालु, अङ्गुलियों की जुड़ावट, न्यूनता या अधिकता आदि रोग कुलज माने गये हैं । किन्तु जीवाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग जैसे कुष्ठ, राजयक्ष्मा को कुलज नहीं मानते हैं अपि तु कुष्ठी तथा यक्ष्मी माता या पिता के गाढ सम्पर्क में रहने से उनमें उन रोगों के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है । यदि जन्म होते ही इन बच्चों को कुष्ठी या यक्ष्मी वातावरण से पृथक् कर दिया जाय तो वे रोगग्रस्त नहीं हो सकते । इसी प्रकार अर्श को भी डाक्टरी में कुलज नहीं माना है कुछ रोग प्रत्येक पीढी की सन्तति में होते हैं जैसे मोतियाबिन्द । कुछ एक दो पीढी के बाद होते हैं जैसे वातरक्त, कुछ रोग केवल पुरुषों में ही होते हैं तथा उनकी कन्या की पुरुषसन्तति में फिर दिखाई देते हैं किन्तु रोगी पुरुष के कन्या-पुत्र उस रोग से पीड़ित नहीं होते हैं । इन रोगों को लिङ्गसम्बद्ध (Sex-limited) कहते हैं जैसे हीमोफायलिया, रक्तान्यता आदि । चरक ने 'कुलजरोग' का कारण बीजभाग का उपतप्त होना माना है। यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्यावयवस्य विकृतिरूपा जायते (शा० अ० ३) । बीज शब्द से शुक्रकीट तथा ओवा एवं बीजभाग से उनकी भीतरी सूक्ष्म अङ्गप्रत्यङ्गरचना माननी चाहिये । जन्मबलप्रवृत्त—गर्भावक्रान्ति के समय में उत्पन्न रोग, इन्हें Congenital कहते हैं । इनके अस्वाभाविक वृद्धि तथा औपसर्गिक रोग ऐसे दो भेद होते हैं । अस्वाभाविक वृद्धि को विकृताकार, व्यङ्ग (Malformations or Developmental error) कहते हैं । वियोनिविकृताकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः । (वाग्भट) । सर्पवृश्चिकक्रूराण्डविकृताकृतयश्च ये । गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेया पापकृतो बृहत् ॥ (सुश्रुत) । औपसर्गिक रोग-ये माता के उपसर्ग से उत्पन्न होते हैं जैसे फिरङ्ग, आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि ।

सङ्घातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात् । तेऽपि द्विविधाः-शस्त्रकृता व्यालकृताश्च । एते आधिभौतिकाः ॥ ७ ॥

दुर्बल मनुष्य के बलवान् के साथ लड़ाई करते समय चोट लगने से जो आगन्तु विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें सङ्घातबलप्रवृत्त रोग कहते हैं । शस्त्रों से उत्पन्न तथा व्याल (सर्प, शेर) आदि से उत्पन्न ऐसे इनके भी दो भेद होते हैं । ये आधिभौतिक व्याधियाँ हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—आगन्तुरोगाः-ये भूतविषवाय्वग्निसन्प्रहारादिसम्भवाः नृणामागन्तवो रोगाः । (चरक) ।

कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षाप्रभृतिनिमित्ताः । तेऽपि द्विविधाः-व्यापन्नर्तुकृता अव्यापन्नर्तुकृताश्च । दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशस्तका अथर्वकृता उपसर्गजाश्च । तेऽपि द्विविधाः-विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च । पुनश्च द्विविधाः-संसर्गजा आकस्मिकाश्च । स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः । तेऽपि द्विविधाः-कालकृता अकालकृताश्च । तत्र परिरक्षणकृताः कालकृताः । अपरिरक्षणकृता अकालकृताः । एते आधिदैविकाः । अत्र सर्वव्याध्यवरोधः ॥ ८ ॥

जो रोग शीत, उष्ण, वायु, वर्षा आदि के कारण उत्पन्न होते हैं उन्हें कालबलप्रवृत्तरोग कहते हैं 'विकृत ऋतु' से उत्पन्न तथा 'अविकृत ऋतु' से उत्पन्न ऐसे इनके भी दो भेद होते हैं । देवता, गुरु ब्राह्मण आदि के साथ अभिद्रोह करने से अथवा गुरुओं के अभिशाप से उत्पन्न किंवा अथर्ववेद प्रणीत आभिचारिक मन्त्रों के प्रयोग से उत्पन्न अथवा रुग्ण पुरुष के साथ रहने से उत्पन्न संक्रामक ज्वर आदि दैवबलप्रवृत्त रोग कहलाते हैं । विद्युत् तथा इन्द्रवज्रपात से उत्पन्न तथा भूत, प्रेत, पिशाचादि से उत्पन्न ऐसे इनके भी दो भेद होते हैं । सांसर्गिक तथा आकस्मिक ऐसे इनके पुनः दो भेद किये गये हैं । क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु और निद्रा प्रभृति स्वभावबलप्रवृत्त रोग हैं । ये भी कालकृत तथा अकालकृत भेद से दो प्रकार के हैं । इनमें से उचित आहार विहार द्वारा शरीर का रक्षण करते रहने पर भी जो उचित समय पर हो जाते हैं वे कालकृत तथा रक्षासाधनों के उपयोग न करने से अकाल रोग होते हैं उन्हें अकालकृत समझने चाहिये । ये सब आधिदैविक रोग हैं । इनमें सब रोगों का समावेश होता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—दैवबलप्रवृत्त रोगों में जीवाणुजन्य रोगों का वागेकरजी ने समावेश माना है तथा इन्हें (Parasitic) कहते हैं । उपसर्गजा.—ज्वरादिरोगपीडितजनसम्पर्काद्भवन्ति । उपसर्गजरोगोत्पत्तिहेतुः—प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात् । सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ उपसर्ग को (Infection) कहते हैं । संसर्गज का अर्थ अति समीप आने से या स्पर्श से होने वाले रोग इन्हें (Contagious) कहते हैं । आकस्मिक को (Sporadic) कहते हैं ।

सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च । यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते । एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते । दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः । दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु सञ्ज्ञा क्रियते-रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयम्, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥ ९ ॥

सर्व प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ ही मूल कारण हैं क्योंकि उन रोगों में वात, पित्त और कफ के लक्षण मिलने से तथा उन लक्षणों के अनुसार वातादि दोषहर चिकित्सा करने पर रोगशान्तिरूपी फल दिखाई देने से एवं शास्त्र का भी प्रमाण है कि वातादि ही सब रोगों के कारण हैं जिस प्रकार जगत के रूप में अवस्थित यह समस्त महदादि २३ तेइस तत्त्वों से निर्मित विकारसमूह सत्त्व,

रज और तमोगुण से पृथक् नहीं हैं उसी प्रकार विश्व में व्याप्त समस्त विकार जात (रोगसमूह) वात, पित्त और कफ के विना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। दोषों, धातुओं और मलों के संयोग से स्थानभेद से तथा कारण के भेद से इन रोगों के अनेक विकल्प (भेद) होते हैं। वातादि दोषों से रस-रक्तादि धातुओं के अत्यन्त कुपित होने से रोगों के भिन्न २ नामकरण किये जाते हैं जैसे यह रसज रोग है। यह रक्तज रोग है, यह मांसजन्य रोग है, यह मेदोजन्य रोग है, यह मज्जाजन्य रोग है तथा यह शुक्रजन्य रोग है ॥ ९ ॥

विमर्शः—निमित्त से वाह्यकारण या निदान है। येनाहार-विहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्। तयो वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते। (वङ्गसे०)। रोगभेदाः—त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥ रसजोऽयमिति-रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधय सम्भवन्ति ये। तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्बृंहणादिवत्॥

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्ति-गौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालव-लिपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः ॥ १० ॥

रसदोष के कारण अन्न में द्वेष, भोजन में अरुचि, अजीर्ण, अङ्गमर्द, ज्वर, जी मचलाना, न खाने पर भी तृप्ति का भान, भारीपन, हृद्रोग, पाण्डुरोग, स्रोतोऽवरोध, दुबलापन, मुख की विरसता, थकावट, अकाल में चर्म में झुर्रियां पडना तथा वालों का श्वेत होना आदि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्द-ररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च ॥११॥

रक्त की दुष्टि होने से कुष्ठ, विसर्प, पिडका, मशक, नीलिका, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, इन्द्रलुप्त, प्लीहावृद्धि, विद्रधि, रक्त गुल्म, वातरक्त, अर्श, अर्बुद, अङ्गमर्द, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, आदि रोग तथा गुदपाक, मुखपाक और लिङ्गपाक रोग उत्पन्न होते है ॥ ११ ॥

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डि-काऽलजीमाससङ्घातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ॥ १२ ॥

मांस की दुष्टि होने से अधिमांस, अर्बुद, अर्श, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश, गलशुण्डिका, अलजी मांससघात, ओष्ठ-प्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला आदि विकार उत्पन्न होते हैं॥१२॥

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहाति-स्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः ॥ १३ ॥

मेदोधातु की दुष्टि से ग्रन्थि, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोजन्य ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद आदि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—मधुमेहशब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेहविशेषे च वर्तते, यथा तृणशब्दः सर्वतृणे तृणविशेषे च वर्तते। (चक्रपाणिदत्त)।

अस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थि-दोषजाः ॥ १४ ॥

अस्थि के अन्दर दोष प्रकुपित होने से अस्थ्यर्बुद (Osteoma), अधिदन्त (Odantoma), अस्थियों में सूचीभेद सी पीडा, अस्थिशूल तथा कुनख आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिस्य-न्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः ॥ १५ ॥

मज्जधातु की दुष्टि होने से आंखों के सामने अन्धेरा आना, मूर्च्छा, भ्रम, पर्वों में स्थूलता तथा व्रणों का होना, नेत्राभि-स्यन्द इत्यादि रोग प्रगट होते हैं ॥ १५ ॥

विमर्शः—पर्वसु स्थूलमूलानानरूपा जन्म। अरुषा स्थूलमूलाना पर्वजाना च दर्शनम्। (चरक)।

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः ॥

शुक्र की दुष्टि होने से क्लैब्य (Sterility), अप्रहर्षण (ग्लानशिरनता या लिङ्गशैथिल्य (Impotence), शुक्राश्मरी, शुक्रमेह तथा अन्य शुक्र के दोष आदि उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा मलाय-तनदोषाः॥१७॥

जब दोष मलों के आयतन (अवकाश) में उत्पन्न होते है तब त्वचा के विकार, मल-मूत्रादिकों का सङ्ग, अधिक उत्सर्ग और न्यूनाधिक उत्सर्ग आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं॥१७॥

विमर्शः—मलानाश्रित्य दूषिता मेदश्शोणितमदूषयन्। दोषा मलाना कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गौवनीव च॥

इन्द्रियाणामप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतनदोषाः, इत्येष समास उक्तः। विस्तरं निमित्तानि चैषां प्रति-रोगं वक्ष्यामः ॥ १८ ॥

जब दोष इन्द्रियों के आयतनों (स्थानों) में प्रविष्ट हो कर कुपित होते हैं तब वे इन्द्रियां अपने अपने अर्थ के ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं होती हैं अथवा विषम रूप से प्रवृत्त होती है। इस तरह धातुगत विकारों का यह सक्षिप्त वर्णन किया है। इनका विस्तार तथा कारण और चिकित्सा प्रत्येक रोग के साथ आगे उत्तरतन्त्र में कहेंगे ॥ १८ ॥

विमर्शः—इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः। उप-घातोपतापाभ्या योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥ (चरक)।

भवति चात्र—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ १९ ॥

शरीर में रसादि के साथ सञ्चरण करने वाले दोषों के प्रकुपित होकर परिधावन करते समय स्रोतसों की विगुणता से जहां उन दोषों का अवस्थान (स्थिति) हो जाता है वहां ही रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

विमर्शः—व्यान वायु की प्रेरणा से शरीर में रस तथा दोषों का परिभ्रमण होता है। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित-कर्मणा। युगपत् सर्वतोऽन्नं देहे विक्षिप्यते सदा॥ क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्याद्रस. सज्जति यत्र स.। तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयद. ॥ दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपनम्। (अ० हृ०)।

भूयोऽत्र जिज्ञास्यं, किं वातादीनां ज्वरादीनाञ्च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा ? इति । यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः स्युः । अथाप्यन्यथा वातादीनां ज्वरादीनां चान्यत्र वर्त्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति कृत्वा यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति; तन्न ॥ २० ॥

इस विषय में यहां पर यह जानने की इच्छा है कि क्या वातादि दोष और ज्वरादि रोगों का नित्य सम्बन्ध है अथवा विश्लेष है । यदि कहा जाय कि इनका सम्बन्ध नित्य है तब सर्व प्राणी सदा ही रोगी बने रहने चाहिये । यदि इनका सदा विश्लेष ही रहता हो तो वातादि दोष तथा ज्वरादि रोग दोनों भिन्न २ स्थानों पर रहने से एक देश में उनके लक्षण नहींहो सकते क्योंकि अन्यत्र वर्तमान भावों के लक्षण अन्यत्र नहीं होते अतएव वातादिक दोष ज्वरादिक रोगों के कारण नहीं हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—नित्यः सश्लेषः समवाय. सन्बन्धो यथा सूर्यातपयो', चन्द्रचन्द्रिकयोरिव । परिच्छेदो विश्लेष. पृथक्त्व वा यथा पटतन्तुवाययोः, घटकुम्भयोः, स्वर्णस्वर्णकारयोरिवेति ।

अत्रोच्यते—दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति । अथ च न नित्यः सम्बन्धः । यथा हि विद्युद्वाताशनिवर्षाण्याकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति । सत्यप्याकाशे कदाचिन्न भवन्ति । अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पत्तिरिति । तरङ्गबुद्बुदादयश्चोदकविशेषा एव । वातादीनां ज्वरादीनाञ्च नाप्येवं संश्लेषो न परिच्छेदः शाश्वतिकः । अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति ॥

उक्त प्रश्न का अब खण्डनार्थ उत्तर देते हैं कि दोषों को छोड़ कर ज्वरादि रोग नहीं होते हैं तथा इनका सम्बन्ध भी नित्य नहीं है जैसे कि बिजली, वायु, वज्र और वर्षा आकाश को छोड़ कर अन्यत्र नहीं होते हैं तथा आकाश के सदा विद्यमान रहने पर भी ये सदा नहीं रहते है किन्तु निमित्त होने पर ये आकाश में उत्पन्न हो जाते हैं । इसी तरह तरङ्ग और बुलबुले जैसे जल को छोड़ कर अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु कारण होने पर जल में ही उत्पन्न हो जाते हैं । इसी प्रकार वातादि दोष तथा ज्वरादिक रोगों का नित्य सम्बन्ध भी नहीं है तथा नित्य पृथक्त्व भी नहीं है किन्तु मिथ्या आहार-विहारादि रूप निमित्त के होने से ही दूषित हुये वातादि दोषों से ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ २१ ॥

भवति चात्र—

विकारपरिमाणञ्च सङ्ख्या चैषां पृथक् पृथक् ।
विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वा बाधाश्च वक्ष्यते ॥ १२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्याधिसमुद्देशीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

विकारों का परिमाण (पूर्णसंख्या) तथा उनके भेदों की पृथक् पृथक् सख्या एवं उनके सर्व प्रकार के उपद्रव इनका सविस्तार वर्णन उत्तरतन्त्र में किया जायगा ॥ २२ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां व्याधिसमुद्देशीयो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

✓पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टविधशस्त्रकर्मीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर अष्टविधशस्त्रकर्मीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—सुश्रुत के मत से शस्त्रकर्म आठ, चरक के मत से छ—पाटन व्यधन चैव छेदन लेखन तथा । प्रोन्छनं सीवनञ्चैव षड्विध शस्त्रकर्म तत् । वाग्भट के मत से त्रयोदश—उत्पाट्यपाट्यसीव्यैष्यलेख्यप्रच्छान्नकुट्टनम् । छेद्य भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाह्यश्च तत्क्रिया ॥

छेद्या भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मिकस्तिलकालकः ।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥ ३ ॥
शल्यं जतुमणिर्मांससङ्घातो गलशुण्डिका ।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीक शतपोनकः ॥ ४ ॥

निम्न रोगों में छेदनकर्म (Excision) किया जाता है, जैसे—भगन्दर, श्लैष्मिक ग्रन्थि, तिलकालक, नाडीव्रण, अर्बुद, अर्श, चर्मकील, अस्थिशल्य, मांसशल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका, स्नायु, मांस और सिराओं के सड़े गले भाग, वल्मीक, शतपोनक (एक प्रकार का भगन्दर), अध्रुष, उपदंश, मांसकन्दी और अधिमांस ॥ ३-४ ॥

अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्ध्यधिमांसकः ।
भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद् ग्रन्थयस्त्रयः ॥ ५ ॥
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ।
प्रमेहपिडकाशोफस्तनरोगावमन्थकाः ॥ ६ ॥
कुम्भीकानुशयीनाड्यो वृन्दौ पुष्करिकाऽलजी ।
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटौ तालुदन्तजौ ॥ ७ ॥
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ।
वस्तिस्तथाऽश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥ ८ ॥

निम्नरोगों में भेदनकर्म (Incision) किया जाता है, जैसे—सान्निपातिक विद्रधि के सिवाय अन्य सर्व विद्रधियां, वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाली तीनों प्रकार की ग्रन्थियां, वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न वीसर्प, सर्व प्रकार की वृद्धियां, विदारिका, प्रमेहपिडका, व्रणशोफ, स्तनविद्रधि, अवमन्थक, कुम्भीका, अनुशयी, नाडीव्रण, दोनों प्रकार के वृन्दरोग, पुष्करिका, अलजी, प्रायः सर्व प्रकार के क्षुद्ररोग, तालुपुप्पुट और दन्तपुप्पुट, तुण्डीकेरी, गिलायु, मुख के पकने वाले अन्य रोग, अश्मरी को निकालने के लिये बस्ति तथा अन्य मेदोजन्य रोग ॥ ५-८ ॥

लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका।
मेदोजो दन्तवैदर्भौ ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दो मांसोन्नतिस्तथा॥ ९॥

निम्न रोगों में लेखनकर्म (Scraping, Scarification) करना चाहिये। जैसे वात, पित्त, कफ और रक्तजन्य रोहिणी (इरीसिपेलस), किलास, उपजिह्विका, मेदोजन्य दन्तवैदर्भ, ग्रन्थिरोग, वर्त्मरोग, अधिजिह्विका (Epiglottitis), अर्श, मण्डल कुष्ठ, मांसकन्दी, मांस की वृद्धि आदि॥ ९॥

वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम्।
एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये॥१०॥

अनेक प्रकार की विकृत सिराएँ, मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर इन रोगों में वेधनकर्म (Puncturing) करना चाहिये तथा शल्ययुक्त नाड़ियां और उन्मार्गी व्रणों का एषण (Probing) करना चाहिये॥ १०॥

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोऽश्मरी।
शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे॥ ११॥

तीनों प्रकार की शर्कराएं जैसे-दन्तशर्करा (Tarter), पाद शर्करा और मूत्रशर्करा (Gravel), दांत और कान का मैल, अश्मरी, सर्व प्रकार के शल्य (Foreign body), मूढगर्भ तथा गुदा में इकट्ठा हुआ मल इन सबका आहरण (Extraction) करना चाहिये॥ ११॥

स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजाहते।
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः॥ १२॥
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टञ्च शोणितम्।
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितस्तु ये॥ १३॥
त्रयश्चयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका।
सुषिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदन्तकः॥ १४॥
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः।
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः॥१५॥

निम्न रोगों में विस्रावण कर्म (Drainage) करना चाहिये, जैसे-सान्निपातिक विद्रधि को छोड़कर शेष पांचो विद्रधियां, कुष्ठ, वेदनायुक्त वायु एक स्थान में उत्पन्न शोथ, पाली के रोग, श्लीपद, विष से दूषित रक्त, सर्व प्रकार के अर्बुद तथा विसर्प, प्रारम्भिक तीन प्रकार की ग्रन्थियां तथा तीन प्रकार के उपदंश, स्तनरोग, विदारिका, सौषिर (दन्तरोग), गलशालूक, तालुकण्टक, कृमिदन्त, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुप्पुट, पित्तरक्त तथा कफजन्य ओष्ठ रोग एवं अनेक प्रकार के क्षुद्ररोग॥ १२-१५॥

विमर्शः—प्रायः एक प्रकार के रोग में कभी एक, कभी दो तथा कभी तीन प्रकार के कर्म भी करने पड़ते हैं। जैसे-अर्बुद में लेखन, भेदन, छेदन आदि अवस्थानुसार एक, दो या सभी किये जा सकते हैं। कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा। विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभि॥

सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः।
स्नाय्वोव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः॥ १६॥

मेदोजन्य रोग, जिनमें भेदन हो गया हो, जिनका सुलेखनकर्म हो गया हो तथा चलसन्धि का आश्रय कर उत्पन्न होने वाले सद्योव्रण या केवल सद्योजात व्रण जो कि धूलि, जीवाणु आदि से दूषित न हों तथा चलसन्धि के आश्रित व्रण इनमें सीवनकर्म (Suturing, stitching) करना चाहिये॥१६॥

विमर्शः—अष्टाङ्गहृदये विशेष-'सद्य सद्योव्रणान् सीव्येद् विवृत्तानविवाताज्ञान्। मेदोजान् विवृतान् ग्रन्थीन् छित्त्वा' पालिञ्च कर्णयोः॥ शिरोऽक्षिकूटनासौष्ठकर्णोत्क्वाथुषु। श्रीमल्लाटमुष्कस्निग्धमेढ्रपायूदरादिषु॥ गम्भीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च।' इति

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मान्त्यवाहिनः।
नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विशोधनम्॥ १७॥

क्षार, अग्नि और विष से व्याप्त तथा वायु जिनसे निकलती हो, जिनके भीतर दूषित रक्त और शल्य शेष हो ऐसे व्रणों का सावन नहीं करना चाहिये॥ १७॥

विमर्शः—अनीदृग्व्रणाः—न तु व क्षणकक्षादावल्पमांसचले व्रणान्। वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निकान्॥(वाग्भट)। मान्त्यवाहिनः—B welchii तथा vibrio septic नामक वायुजनक जीवाणुओं के प्रवेश होने पर व्रण में वायु उत्पन्न होती है तथा बाहर निकलती है।

पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत्॥ १८॥
अहृतानि यतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम्।
रुजश्च विविधाः कुर्य्युस्तस्मादेतान् विशोधयेत्॥१९॥

धूलि, बाल, नख आदि वस्तु तथा अस्थि के टूटे चलायमान टुकड़े इन्हें यदि व्रण से नहीं निकाले जांय तो ये व्रण को अधिक पका देते हैं तथा अनेक प्रकार की व्रण में वेदना उत्पन्न करते हैं इसलिये इन्हें पूर्णरूप से निकाल कर व्रण का सम्यग् शोधन करना चाहिये॥ १८-१९॥

विमर्शः—सीवन के पूर्व दूषित तथा छिन्न, भिन्न, मांस, अस्थिखण्ड तथा बाह्य प्रविष्ट धूलि आदि सबको निकाल व्रणशोधक घोल से अच्छी प्रकार धोकर सीना चाहिये। सीव्येच्चलास्थिशुष्काक्षतृणरोमापनीय तु। प्रलम्बि मांस विच्छिन्न निवेश्य स्वनिवेशने॥ (वाग्भट)।

ततो व्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम्।
सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा॥ २०॥
शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्व्या वालेन वा पुनः।
मूर्वागुडूचीतानैर्वा सीव्येद्वेल्लितकं शनैः॥ २१॥
सीव्येद्गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम्।
ऋजुग्रन्थिमथो वाऽपि यथायोगमथापि वा॥ २२॥

फिर व्रण के किनारों को ऊंचा उठा कर दोनों किनारों को ठीक तरह से मिलाकर महीन सूत्र, अश्मन्तक की छाल के रेशे, सन के सूत्र, क्षौम सूत्र, स्नायुतान, घोड़े के बाल, मूर्वा और गिलोय के तन्तु इनमें से यथायोग्य किसी एक से वेल्लितक, गोफणिका, तुन्नसेवनी, ऋजुग्रन्थि अथवा जैसा उचित समझें उसी प्रकार से सीना चाहिये॥ २०-२२॥

विमर्शः—स्नायु-शणाकार उपधातुविशेषो येन धनूंषि नह्यन्ते।

स्नायु Tendon है। डाक्टरी में सीवन के लिये कंगारु के स्नायु, केट गट (Cat gut), Silk wormgut, घोड़े के बाल, रेशम, सन, चांदी के तार तथा विशेष कर केट गट का अधिक प्रयोग होता है। प्रयोग के पूर्व इनका पूर्ण शोधन (Sterlize stion) होना अत्यावश्यक है। वेल्लितकसीवन को Glover's continuous suture कह सकते हैं। तात्कालिक व्रण जो कि निर्दोष (Aseptic) हों वहां इस विधि से सीते हैं—व्रण के एक ओर से दूसरी ओर एक ही सूत्र से अविच्छिन्न टांके लगाये जाते हैं। अभ्यन्तरन्तु कुटिलं सीव्यते बहुवेष्टनम्। यत्तद्वेल्लितकं नाम शास्त्रादौ युज्यते बुधैः॥ गोफणिकासीवन को Blanket suture कह सकते हैं। अधिक विस्तृत व्रण को बन्द करने के लिये यह सीवन करते हैं। पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम्। देयं सूत्वा यथायोगं पुनस्तच्छेदशङ्कया। नातिस्थूले नातिसूक्ष्मे शलाके द्वे निपात्य च॥ तदासक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनी कृता। नाम्ना गोफणिका प्रोक्ता दुष्करा मन्दबुद्धिभिः। तुन्नसेवनी सीवन को Halstead's subcuticularstich कह सकते हैं। इससे व्रणोष्ठ पूर्णरूप से मिल जाते हैं जिससे व्रणवस्तु (Soar) नहीं के बराबर हो जाती है। पृथक् पृथक् तु संछिन्नं सीव्यते तुन्नसेवनी। सा योज्या पक्ष्मकोपादौ। ऋजुग्रन्थि को Interrupted suture कह सकते हैं। इसका उपयोग बाह्यत्वचा के सीवन में अधिक होता है। प्रत्येक टांका पृथक् पृथक् होने से यदि व्रण में पूय पड़ जाय तो एक दो टांके तोड़ कर निकाले जा सकते हैं। पार्श्वात् पार्श्वान्तरं यावद् ऋजुसूत्रौ निपात्य च। संवेष्ट्याकृष्य सूत्रेण ग्रन्थियैः सन्धिदेशवे॥ क्रियते स ऋजुग्रन्थिरोष्ठादिषु विधीयते॥ (हाराणचन्द्रः)

देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताऽङ्गुलद्वयम्।
आयता त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा मांसले वाऽपि पूजिता॥२३॥
धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि।
इत्येताखिविधाः सूचीस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः॥२४॥
कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डलाः॥ २५॥

कम मांसवाले अङ्ग में तथा सन्धियों के सीवन के लिये दो अङ्गुल लम्बी तथा गोलमुख सूई चाहिये तथा अधिक मांस वाले अङ्ग में तीन अङ्गुल लम्बी तथा तीन धारा वाली सूई श्रेष्ठ है। मर्मस्थान, वृषणकोष तथा उदर के सीवन कर्म के लिये धनुष के समान टेढ़ी सूई ठीक होती है। इस तरह मालती (चमेली) के पुष्प के वृन्त (डण्ठल) के अग्रभाग के समान मोटी, गोल तथा तीक्ष्णाग्र वाली तीन तरह की सूइयां बनवानी चाहिये॥ २३-२५॥

विमर्शः—वर्तमान में सीधी (Straight), वक्रमुख (Half Curved), तथा धनुर्वक्र (Fully curved) ये सूइयों के तीन भेद हैं।

नातिदूरे निकृष्टे वा सूचीं कर्मणि पातयेत्।
दूराद्व्रजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुञ्चनम्॥ २६॥

व्रणौष्ठ के सीवन कर्म में सूई को न तो अधिक दूर तथा न अधिक समीप प्रयुक्त करना चाहिये अर्थात् टांके न अधिक दूर दूर और न अधिक पास पास में लगावें। दूर दूर लगाने से तनाव के कारण पीड़ा तथा अधिक समीप लगाने से व्रणोष्ठ के किनारे टूट सकते हैं॥ २६॥

अथ क्षौमपिचुच्छन्नं सुस्यूतं प्रतिसारयेत्।
प्रियङ्गुसञ्जनयष्ट्याह्वरोध्रचूर्णैः समन्ततः॥ २७॥
शल्लकीफलचूर्णैर्वा क्षौमध्यामेन वा पुनः।
ततो व्रणं यथायोगं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत्॥ २८॥

यथोक्त विधि से अच्छी प्रकार सीये हुये व्रण को क्षौमवस्त्र तथा पिचु (रूई के फोये) से ढक कर प्रियङ्गु, सौवीराञ्जन, मुलेठी, लोध इनके चूर्ण अथवा शल्लकी फल के चूर्ण किंवा अतसी के वस्त्र की राख का प्रतिसारण (छिड़काव) कर फिर व्रण को यथाशास्त्र नियमानुसार बांधकर व्रणितोपासनीय अध्यायानुसार आचरण (पथ्यापथ्य) का आदेश करना चाहिये॥ २७-२८॥

एतदष्टविधं कर्म समासेन प्रकीर्तितम्।
चिकित्सितेषु कात्स्न्र्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते॥ २९॥

इस प्रकार यह अष्टविध शस्त्रकर्म संक्षेप से यहां कहा है उसका सम्पूर्ण विस्तार चिकित्सा स्थान के अध्यायों में किया जायगा॥ २९॥

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः।
एताश्चतस्रोऽष्टविधे कर्मणि व्यापदः स्मृताः॥ ३०॥

उक्त अष्टविध शस्त्रकर्म में हीन छेद, आवश्यकता से अधिक छेद, तिर्यक् छेद एवं असावधानी से अपने ही शरीर में छेद करना ये चार व्यापत्तियां होती हैं॥ ३०॥

अज्ञानलोभाहितवाक्ययोग-
भयप्रमोहैरपरैश्च भावैः।
यदा प्रयुञ्जीत भिषक् कुशस्त्रं
तदा स शेषान् कुरुते विकारान्॥ ३१॥

अज्ञान से, लोभ से, अहित वाक्य के योग से, भय से, मोह से तथा अन्य किन्हीं आशयों से जब वैद्य सदोष शस्त्र (अनुचित शस्त्रकर्म) का प्रयोग करे तब वह व्रण में अनेक शेष विकारों को उत्पन्न करता है अथवा व्रण में दुष्ट पूयरक्तादि विकारों को शेष अर्थात् उपस्थित रखता है॥ ३१॥

तं क्षारशस्त्राग्निभिरौषधैश्च
भूयोऽभियुञ्जानमयुक्तियुक्तम्।
जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यं
विवर्जयेदुग्रविषाहितुल्यम्॥ ३२॥

पुनः क्षार, शस्त्र अग्नि या अन्य लेपादि औषधियों से अयुक्तिपूर्वक उस शेष विकार को नष्ट करने का प्रयत्न करने वाले वैद्य को भयङ्कर विषधारी सर्प के समान जान कर जीवित रहने की इच्छा करने वाला मनुष्य दूर से ही त्याग देवे॥ ३२॥

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्
हिंस्यात् सिराः स्नायुमथास्थि चैव।
सूर्खप्रयुक्तं पुरुषं क्षणेन
प्राणैर्वियुञ्ज्यादथवा कथञ्चित्॥ ३३॥

अज्ञ वैद्य के द्वारा आवश्यकता से अधिक लम्बा, गहरा, टेढामेढा तथा अस्थान में प्रयुक्त किया हुआ शस्त्र मर्मस्थान, सन्धियां, सिराएं, स्नायु और अस्थिको काट देता है अथवा कभी कभी क्षण भर ही में किसी प्रकार रोगी के प्राणों को भी नष्ट कर देता है ॥ ३३ ॥

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं संलयनोष्णते च ।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववात-
स्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥ ३४ ॥
मांसोदकाभं रुधिरञ्च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्द्धसङ्ख्येष्वपि हि क्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥ ३५ ॥

दश से आधे (पांच) मर्म स्थानों में क्षत या वेध होने से भ्रम, प्रलाप, शक्ति या देह का पात, प्रमोह (चित्त नाश), हस्तपाद का पटकना या देह का उलट पलट करना, सलयन (सुप्ति), शरीर की उष्णता बढना, अङ्ग तथा सन्धियों में शैथिल्य, बेहोशी, ऊर्ध्ववात या ऊर्ध्वश्वास होना, वात जन्य भिन्न भिन्न तीव्र वेदनाएँ, मांस के धोवन के समान रङ्ग के रक्त का निकलना तथा सर्व प्रकार के इन्द्रियार्थों के ग्रहण शक्ति का विराम होना ये सामान्यतया लक्षण होते हैं ॥ ३४-३५ ॥

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेद्वै क्षततश्च वायुः ।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तां-
श्छिन्नासु भिन्नास्वथवा सिरासु ॥ ३६ ॥

सिराओं के छिन्न तथा भिन्न होने पर वीरबहूटी के समान लाल रङ्ग का रक्त घाव से अधिक मात्रा में निकलता है तथा वायु प्रकुपित होकर अधिमन्थ शिरो रोग आदि विविध विकारों को उत्पन्न करता है ॥ ३६ ॥

विमर्शः—धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनिल. । पव नश्च पर कोप याति । रक्तादिस्रुतिजरोगा – तदतिप्रवृत्त शिरोरोगा-भितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति ॥

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि
तं स्नायुविद्धं मनुज व्यवस्येत् ॥ ३७ ॥

कुबड़ा होना, शरीर के अवयवों में ग्लानि, शारीरिक क्रियाओं में अशक्ति, तीव्र वेदना तथा व्रण का देरी से रोहित होना ये स्नायुविद्ध के लक्षण हैं ॥ ३७ ॥

शोफातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥ ३८ ॥

शोफ की अधिक वृद्धि, भयङ्कर वेदनाएं, बल की क्षीणता, पर्वों (जोड़ों) में स्फोटन की पीड़ा और शोथ तथा सन्धियों के कार्य (गति, चेष्टा, संकोच, विस्तार) का उपरम (अभाव) होना ये सब अचल तथा चल सन्धियों के क्षत होने के लक्षण हैं ॥ ३८ ॥

विमर्शः—सन्धिभेदा —शाखासु द्वन्द्वो कट्यान्त्र चेष्टावन्तश्च सन्धयः । शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥ अस्थियों की सन्धियों को Joints or Articulations कहते हैं। अधिक चेष्टाशील Diarthroses or Movable Joints, अल्प-चेष्टा शील Amphiarthroses or mixed Articulations अचेष्ट, अचल या स्थिरसन्धियां Synarthroses or Immovable Joints कर्मोपरतिः कर्मनाश (Loss of function) ।

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु न शान्तिरस्ति ।
तृष्णाऽङ्गसादौ श्वयथुश्च रूक्ष-
स्तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥ ३९ ॥

जिस मनुष्य के रात और दिन में भयङ्कर पीडाएं होती हों, किसी भी अवस्था में रखने पर भी शान्ति न मिलती हो तथा प्यास, अङ्गों में पीडा, शोथ और रूक्षता रहती हो तो उसके अस्थि में विद्ध हुआ जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

यथास्वमेतानि विभावयेयु-
र्लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।
स्पर्शं न जानाति विपाण्डुवर्णो
यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥ ४० ॥

सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि इन मर्मों में चोट लगने पर ये पूर्वोक्त लक्षण क्रमशः अपने अपने समझने चाहिये। मांसमर्म के ताडित होने पर स्पर्शज्ञान का अभाव, शरीर या त्वचा के वर्ण का विशेषतया पाण्डु हो जाना ये लक्षण होते हैं ॥ ४० ॥

आत्मानमेवाथ जघन्यकारी
शस्त्रेण यो हन्ति हि कर्म कुर्वन् ।
तमात्मघातात्महनं कुवैद्यं
विवर्जयेदायुरभीप्समानः ॥ ४१ ॥

कुत्सित तथा हीन कर्म करने वाला वैद्य शस्त्रकर्म के समय असावधानी से अपने ही अङ्ग को काट देता है ऐसे आत्म-घाती कुवैद्य को आत्मा का हित और दीर्घायु की कामना-वाला मनुष्य छोड़ देवे ॥ ४१ ॥

तिर्य्यक्प्रणिहिते शस्त्रे दोषाः पूर्वमुदाहृताः ।
तस्मात् परिहरन् दोषान् कुर्याच्छस्त्रनिपातनम् ॥४२॥

शस्त्र के तिरछा चलाने से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें अग्रोपहरणीय अध्याय में कह चुके हैं इसलिये दोषों का परि-हार करते हुए शस्त्र का अवचारण (प्रयोग) करना चाहिये ॥

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः ।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥ ४३ ॥

विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते ।
तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥ ४४ ॥

व्याधित पुरुष माता, पिता, पुत्र और बन्धुओं में भी शङ्कित मन होकर रहता है किन्तु वैद्य में पूर्ण विश्वास करता है तथा अपने शरीर को वैद्य के भरोसे छोड़ देता है, उसमें किसी भी प्रकार की शङ्का नहीं करता है इसलिये सच्चा वैद्य उस रोगी का अपने पुत्र के समान चिकित्सादि द्वारा रक्षण करे ॥ ४३-४४ ॥

धर्मार्थौ कीर्तिमत्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम् ।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासञ्च हितमारभ्य कर्मणा ॥ ४५ ॥

इस तरह हितकारी (दोषरहित) कर्म (चिकित्सा) करने वाला वैद्य धर्म, अर्थ, अधिक कीर्ति, सज्जनों में आदर ग्रहण और स्वर्गवास को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा ।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

कोई रोग एक कर्म से, कोई दो कर्म से, कोई तीन कर्म से तथा कोई चार कर्म से ठीक होता है ॥ ४६ ॥

विमर्शः—कर्म शब्द से अष्टविधशस्त्रकर्म, चिकित्सार्थ दृष्टि से वमन, विरेचनादिक अन्तःपरिमार्जन कर्म । स्नेह, स्वेद अभ्यङ्गादि बहिःपरिमार्जन कर्म । रोगों को ठीक करने के लिये साथ साथ या आगे पीछे कई कर्म किये जा सकते हैं ।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः प्रनष्टशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर प्रनष्टशल्यविज्ञानीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्श—प्रनष्टशल्यादि का तात्पर्य है कि जो शल्य बाहर से शरीर के भीतर मांसादि धातु में प्रविष्ट होकर प्रनष्ट (अदर्शित) हो जाता है उसे-कहां स्थित है आदि जानने का प्रकार ।

'शल', 'श्वल' आशुगमने धातुः । तस्य शल्यमिति रूपम् । तद् द्विविधं-शारीरमागन्तुकञ्च ॥ ३ ॥

शल् तथा श्वल् ये दो धातु आशुगमन अर्थ में हैं उन से "इञ्शल्येद" इस औणादिक सूत्र से यत् प्रत्यय करने पर शल्य यह रूप सिद्ध होता है । वह दो प्रकार का है । शारीरिक और आगन्तुक ॥ ३ ॥

विमर्शः—'शल्य' शब्द के शङ्कु तथा शर शलाका ये दो अर्थ होते हैं । "वा पुंसि शल्यं शङ्कुनी", यल्लिङ्गिनमाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्' इस परिभाषा बल से शङ्कु तथा शरशलाकादि दोनों गृहीत होते हैं ।

वाक्यार्थ—शल्यं-शल्यत्वाशु गच्छति वेगेनान्तः शरीरमनुप्रविशतीति शल्यम् । शल् हिंसायां धातुरस्य शल्यमिति रूपम् । शल्ल् रुजायां धातुरस्य वा शल्यमिति रूपम् ।

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तद्धोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥ ४ ॥

समस्त शरीर में जो बाधा या पीडा करता हो उसे शल्य कहते हैं । उसी शल्य को निकालने के लिये यहां उपदेश दिया जाता है इसलिये इस को शल्यशास्त्र कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—शरीर ग्रहण से मन का ग्रहण स्वतः ही हो जाता है जैसा कि गौतम ने 'न्यायसूत्र' में कहा है "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" अन्तःश्वास तथा अन्नपानादिक भी अन्तःप्रवेशी होते हैं अतः उन्हें 'शल्य' नहीं कहा जाय इस लिये 'बाधाकर' शब्द दिया है । यदि अन्न भी अधिक मात्रा में या दूषित रूप में लिया जाय तो शरीर में बाधाकारी हो कर 'शल्य' हो सकता है । इस तरह 'शल्य' शब्द से शरशलाका, शङ्कु ही नहीं अपि तु यावन्मात्र भाव जो कि शरीर को पीडा पहुंचावें समस्त 'शल्य' हो सकते हैं । जैसा कि प्रथमाध्याय में कहा है—"शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणांशुलोहलोष्टास्थिवालनखपूयास्रावान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च' ।

तत्र शारीरं रोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः । आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥ ५ ॥

शारीरिक और आगन्तुक ऐसे शल्य के दो भेद किये गये हैं उनमें दन्त, रोम, नख, श्मश्रु आदि तथा रसादि धातु, अन्न, मल तथा दूषित हुये वातादि दोष ये शारीरिक शल्य हैं एवं इन शारीरिक शल्यों के अतिरिक्त संसार के यावन्मात्र पदार्थ जो कि दुःख उत्पन्न करे उन्हें आगन्तुक शल्य (Foreign body) कहते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—शरीरधातवः पुनर्द्विविधा-संग्रहेण मलभूता प्रसादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युस्तथया—शरीरच्छिद्रेभ्यूदेशः पृथग्जनानां बहिर्दुष्टाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान् मलान् संचक्षते । (चरक) ।

अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लोहमयेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः ॥ ६ ॥

स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोहादि धातु तथा बांस, वृक्ष, तृण,

त्वक्, अस्थि आदि से बने पदार्थों में शल्यत्व का अधिकार है उन में भी विशेषतया हिंसार्थ प्रयुक्त होने के कारण लोह के पदार्थों में शल्य शब्द प्रयुक्त होता है। लोहों में भी दुर्वारण होने से, सूक्ष्ममुख होने से तथा दूर से भी छोडने पर लक्ष्यवेधक होने से 'शल्य' शब्द से 'बाण' का ही अधिक तर ग्रहण होता है ॥ ६ ॥

विमर्श—प्राचीनकाल में युद्ध के लिये बाणों का प्रयोग होता था तथा वे अत्यन्त तीक्ष्ण मुखवाले और कठिन होते थे एवं दूर से ही वेग के साथ आकर कवचादि को छेदकर शरीर में प्रविष्ट हो के पीडा करते थे इस तरह शल्यशास्त्र का उदय प्रथम इन बाणों को निकालने लिये हुआ था अतः सम्पूर्ण 'शल्यचिकित्सा' का शल्यचिकित्सा या शल्यतन्त्र नाम पडा।

स द्विविधः कर्णी, नालीकश्च। प्रायेण विविधवृक्षपत्र-पुष्पफलतुल्याकृतयो व्याख्याता व्यालमृगपक्षिवक्त्र-सदृशाश्च ॥ ७ ॥

यह बाण दो प्रकार का होता है। प्रथम कर्णयुक्त और द्वितीय कर्णरहित। ये बाण प्रायः अनेक प्रकार के वृक्ष, पत्र, पुष्प और फलों के आकार के समान तथा हिंसक सर्प, मृग पक्षियों के मुख के समान आकृति वाले होते हैं ॥ ७ ॥

विमर्श—जिनके पीछे कुछ लगा हो अर्थात् बडिश के समान कांटों वाले हों वे कर्णी तथा जो बिल्कुल सीधा हो वह नालीक होता है। कुछ पीपल के पत्ते के समान चौडी और चपटी नोक वाले, कुछ कनेर के पत्र के समान लम्बी तथा चपटी नोक वाले, कुछ मालतीकलिका के सदृश गोल नोक वाले, कुछ पलाशकी के समान तिधारी नोक युक्त तथा कुछ सिंहसर्पादि के मुख के समान नोक वाले होते थे।

सर्वशल्यानान्तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गति-विशेष ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्य्यग्गृजुरिति ॥ ८ ॥

बडे या छोटे सर्व प्रकार के शल्यों की पांच प्रकार की गति होती है जैसे ऊपर, नीचे, विपर्यस्त, तिर्यक् और सरल ॥८॥

तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तु-ष्ववतिष्ठन्ते। धमनीस्रोतोऽस्थिविवरपेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु ॥ ९ ॥

वे शल्य वेगक्षय होने से, प्रतिघात से त्वचा आदि व्रण वस्तुओं में किंवा धमनी, स्रोतस, अस्थिविवर और मांसपेशी आदि शरीर के प्रदेशों में अवस्थित हो जाते हैं ॥ ९ ॥

तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्त्व द्विवि-धं-सामान्यं वैशेषिकञ्च। श्यावं पिडकाऽऽचितं शोफ-वेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुन्नतं मृदुमांसञ्च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति। सामान्य-मेतल्लक्षणमुक्तम् ॥ १० ॥

उन स्थानों में स्थित होने पर जो शल्य के लक्षण होते हैं उन्हें कहता हूं श्रवण करो। वह लक्षण दो प्रकार का है, एक सामान्य तथा दूसरा विशेष। यदि व्रण श्यामवर्ण का पिडकाओं से युक्त, शोफ और पीडा वाला, बार बार रक्तस्राव होता हो, बुलबुले उठते हों और मुलायम मांस हो ऐसे व्रण को शल्य-युक्त समझना चाहिये। यह सामान्य लक्षण कहा है ॥ १० ॥

वैशेषिकन्तु—त्वग्गते विवर्णः शोफो भवत्यायतः कठिनश्च। मांसगते शोफाभिवृद्धिः शल्यमार्गानुपसं-रोहः पीडनासहिष्णुता चोपपाकौ च। पेश्यन्तरस्थेऽ-प्येतदेव चोपशोफवर्जम्। सिरागते सिराऽऽध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च। स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरम्भश्चोग्रा रुक् च। स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगु-णहानिः ॥ ११ ॥

विशेष लक्षणों में त्वचागत शल्य होने पर त्वचा का रङ्ग बदल जाता है तथा वहां विस्तृत और कठिन शोथ होता है। मांसगत शल्य होने पर शोफ की अधिक वृद्धि, शल्य के मार्ग का रोपण नहीं होना, पीडन करने से असह्यता (Tenderness) तथा वहां चोप (दाह) और पाक होता है। पेशी में शल्य होने पर भी चोप तथा शोफ के विना उक्त लक्षण ही होते हैं। सिरागत शल्य होने पर सिराओं का रक्तावरोध होना, फूलना, सिराओं में वेदना और सिराशोफ (Phlebitis) ये लक्षण होते हैं। स्नायुगत शल्य होने पर स्नायुओं का संकोच, तीव्र शोथ और भयङ्कर पीडा ये लक्षण होते हैं। स्रोतोगत शल्य होने पर उनके कार्य का नाश यह लक्षण होता है ॥११॥

धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्निलः सशब्दो निर्ग-च्छत्यङ्गमर्दः पिपासा हृल्लासश्च। अस्थिगते विविध-वेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च। अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्ण-ताऽस्थितोदः संहर्षो बलवांश्च। सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टो-परमश्च कोष्ठगत आटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनञ्च व्रणमुखात्। मर्मगते मर्मविद्धवच्चेष्टते। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति ॥ १२ ॥

धमनीगत शल्य होने पर फेनवाले रक्त को बाहर निकालता हुआ वायु शब्द करता हुआ निकलता है तथा अङ्गमर्द, पिपासा और जी मिचलाना ये लक्षण होते हैं। अस्थिगत शल्य होने पर अनेक प्रकार की पीडाओं का होना तथा शोफ ये लक्षण होते हैं। अस्थिविवरगत शल्य होने पर उसका भर जाना, उसमें सूई चुभोने की सी पीडा होना तथा बलवान् संहर्ष (संघट्टन या बैचेनी) ये लक्षण होते हैं। सन्धिगत शल्य होने पर अस्थिगत शल्य के समान लक्षण होते हैं तथा उनकी चेष्टाओं का नाश हो जाता है। कोष्ठगत शल्य होने पर आटोप (गुडगुड शब्द), आफरा होता है तथा व्रण के मुख से मूत्र, मल और आहार आता है। मर्मगत शल्य होने पर मर्मविद्ध के समान चेष्टा करता है। सूक्ष्मगति वाले शल्यों में भी ये ही लक्षण अस्पष्टरूप में उत्पन्न होते हैं ॥

महान्त्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति, विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्यस्थिविव-रेषु। दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताजीर्णेभ्यः प्रचलितानि पुनर्बाधन्ते ॥ १३ ॥

शुद्ध शरीर वाले मनुष्यों में रोमों के अनुकूल प्रविष्ट हुये छोटे या बड़े सर्व प्रकार के शल्य तथा विशेष कर कण्ठ, स्रोतस, सिरा, त्वक्, पेशी और अस्थिविवरगत शल्यों के व्रण रोहित हो (भर) जाते हैं किन्तु दोषों का प्रकोप, व्यायाम, अभिघात और अजीर्ण से चलायमान होकर शरीर को फिर बाधा पहुंचाते हैं॥ १३॥

तत्र, त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयमृदितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्। स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात्। मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमाणं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्। कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्ववस्थितमेवमेव परीक्षेत, सिराधमनीस्रोतःस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुक्ते याने व्याधितमारोप्याशु विषमेऽध्वनि यायाद् यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्। अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेद्यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्। सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसरणाकुञ्चनबन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्। मर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति॥ १४॥

त्वचा में शल्य छिपा हुआ हो तो उसको तैल से स्निग्ध तथा स्वेदन से स्विन्न करके मिट्टी, उड़दी, जौ, गेहूं और गोबर इनमें से किसी एक के द्वारा रगड़ने पर त्वचा के उस स्थान में संरम्भ (शोथ या सुर्खी या सुरसुराहट) और पीड़ा प्रतीत हो तो वहां शल्य है ऐसा जानो। अथवा जमा हुआ घी, मिट्टी और चन्दन का लेप करने से यदि शल्य हो तो उसकी गरमी से शीघ्र ही वह घृत फैलता है तथा लेप सूख जाता है। मांस में शल्य के छिप जाने पर स्नेहन, स्वेदन आदि अविरुद्ध विशेष क्रियाओं द्वारा रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये। दुबले पतले मनुष्य का ढीला, अपने स्थानसे मुक्त तथा चुभित किया हुआ शल्य जहां पर भी लालिमा, शोथ और पीड़ा उत्पन्न करता हो वहां ही उसे स्थित समझना चाहिये। कोष्ठ, अस्थिविवर, सन्धिविवर और पेशी विवर में प्रनष्ट शल्य की भी इसी प्रकार परीक्षा कर स्थान निश्चिति करें। सिरा, धमनी, स्रोतस और स्नायुओं में शल्य गुप्त हो तो टूटे हुये पहिये की गाड़ी में रोगी को बिठा कर विषम (टेढे मेढे) मार्ग से चलाने से जहां पर संरम्भ (सुर्खी, शोथ) और वेदना प्रतीत हो वहीं शल्य है ऐसा जानो। अस्थि के अन्दर शल्य के गुप्त होने पर स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त सन्धियों का बन्धन तथा पीड़न से अत्यन्त उपचार करे तथा ऐसा करने से जहां संरम्भ और वेदना हो वहीं शल्य की स्थिति जानो। सन्धि में शल्य के गुप्त होने पर प्रथम सन्धियों पर स्नेहन और स्वेदन करके फिर उन्हें प्रसारण, आकुञ्चन, बन्धन और पीड़न आदि क्रियाओं से उनका उपचार करना चाहिये। ऐसा करने से जहां भी संरम्भ तथा वेदना हो वहीं शल्य समझना चाहिये। मर्मस्थान में शल्य गुप्त होने पर सिरा, मांस आदि स्थानों से अतिरिक्त मर्म न होने के कारण उपर्युक्त सिरामांसादि स्थानगत शल्य परीक्षा विधियों से ही मर्मगत शल्य के अस्तित्व का पता लगा लेना चाहिये॥ १४॥

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमारोहणधनुर्व्यायामद्रुतयाननियुद्धाध्वगमनलङ्घनप्रतरणप्लवनव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्वातमूत्रपुरीषशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्॥ १५॥

गुप्त शल्य के सामान्य विज्ञानोपाय—जैसे हाथी के कन्धे पर बैठने से, घोड़े की पीठ पर बैठने से तथा पहाड़ और पेड़ों पर चढ़ने से, धनुष के तानने, व्यायाम करने, शीघ्र चलने, बाहुयुद्ध, मार्ग में चलने, खड्डे को लांघने, नदी को तैरने, ऊंचे कूदने और व्यायाम करने से तथा जमुहाई, डकार, कास, छींक, ष्ठीवन, हसने और प्राणायाम करने से एवं वात, मूत्र और मल के उत्सर्ग करने से जहां पर सुर्खी, शोथ अथवा पीड़ा होती हो वहाँ ही शल्य है ऐसा जानना चाहिये॥ १५॥

विमर्शः—सङ्क्षेपेण प्रनष्टशल्यलक्षणम्—सामान्येन सशल्यन्तु क्षोभिण्या क्रियया सरुक्। वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटञ्च समासत। अदृश्यशल्यसंस्थानव्रणाकृत्या विभावयेत्॥ (वाग्भट)

भवन्ति चात्र—

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च।
घट्टते बहुशो यत्र स्रूयते तुद्यतेऽपि च॥ १६॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति।
संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत्॥ १७॥

शरीर के जिस अङ्ग प्रत्यङ्ग में सूई चुभोने की सी पीड़ा, सुप्तता, गुरुता प्रतीत हो तथा घर्षण करने से स्राव निकलता हो तथा अधिक पीड़ा प्रतीत हो तथा रोगी जिस स्थान की निरन्तर अधिक रक्षा करता हो एवं जहाँ बार बार संवाह्यमान अर्थात् दबाता हो वहीं शल्य समझना चाहिये॥१६-१७॥

अल्पाबाधमशूनञ्च नीरुजं निरुपद्रवम्।
प्रसन्नं मृदुपर्य्यन्तं निराघट्टमनुन्नतम्॥ १८॥
एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनान्नूनं निःशल्यमिति निर्दिशेत्॥ १९॥

जहां पर पीड़ा कम हो, शोथ न हो, रुजा न हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो, देखने में रोगी अथवा वह स्थान प्रसन्न या निर्मल दीखता हो, जिसके पर्यन्त (किनारे) मुलायम हो, निश्चल हो, ऊंचा उठा हुआ प्रतीत न हो, ऐसे

व्रण को उसके मार्ग के अनुसार एषणी (Probe) से भली-भांति देखकर तथा उस अङ्ग का प्रसार और सङ्कोच करके भली प्रकार परीक्षा करके शल्य रहित है ऐसा निर्देश या निदान करे ॥ १८-१९ ॥

विमर्शः—आजकल X-Ray के द्वारा बाह्यप्रविष्टशल्य (Foreign body) का पता लगा लेते हैं।

अस्थ्यात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्य्यते।
प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायसञ्चेति निश्चयः॥ २० ॥

अस्थिरूप शल्य भीतर ही भीतर दो तीन भागों में टूट जाता है तथा कणशः फूट जाता है तथा शृङ्ग और लौह का शल्य प्रायः टेढ़ा हो जाता है यह निश्चित है ॥ २० ॥

वार्क्षवैणवतार्णानि निह्रियन्ते तु नो यदि।
पचन्ति रक्तं मांसञ्च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥ २१ ॥

वृक्ष, बांस और तृण के शल्य शरीर के भीतर घुसने पर यदि उन्हें न निकाला जाय तो वे शीघ्र ही रक्त और मांस को पका देते हैं ॥ २१ ॥

कानकं राजत ताम्र रैतिक त्रपुसीसकम्।
चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥ २२ ॥
स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मताः।
द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२३॥

इसी तरह सुवर्ण, चांदी, ताम्बा, पित्तल, रांगा और सीसा इनके शल्य शरीर में अधिक समय तक पड़े रह जांय तो वे शरीरस्थ पित्त के तेज से तप या गलकर वहीं विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार स्वभाव से जो सौम्य और मृदु अन्य भी कोई ऐसे ही शल्य हों और वे अधिक समय तक शरीर ही में रह जांय तो वे भी पित्त की गरमी से पिघल कर शरीर की रसरक्तादि धातुओं के साथ एकस्वरूपता को प्राप्त हो जाते हैं॥

विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि तु।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥२४॥

सींग, दांत, केश, अस्थि, बांस, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी के शल्य शरीर में अधिक समय तक रहने पर भी द्रुत होकर नष्ट नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

द्विविधं पञ्चगतिमत्त्वगादिव्रणवस्तुषु।
विश्लिष्टं वेत्ति यः शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ २५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

जो चिकित्सक कर्णी और श्लक्ष्ण ऐसे द्विविध शल्य को जानता हो तथा ऊर्ध्वाधोभेद से उनकी पांच प्रकार की गतियों को जानता हो तथा त्वगादि व्रणवस्तुओं में उनकी विविध प्रकार की गुप्त या स्पष्ट स्थिति को जानता हो वही राजा का चिकित्सक बनने योग्य है ॥ २५ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः शल्यापनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर शल्यापनयनीय अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

शल्यं द्विविधम्-अवबद्धमनवबद्धञ्च ॥ ३ ॥

शल्य के दो भेद होते हैं। एक अवबद्ध अर्थात् धातुओं में संसक्त या गड़ा हुआ तथा दूसरा अनवबद्ध या शिथिल ॥ ३ ॥

तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा—स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तः, हर्षश्चेति ॥ ४ ॥

उनमें से अनवबद्ध शल्य को निकालने के लिये संक्षेप से पन्द्रह उपाय बताते हैं जैसे स्वभाव, पाचन, भेदन, दारण, पीडन, प्रमार्जन (वस्त्रादि से पोंछना), नस्यादि से निर्ध्मापन, वमन, विरेचन, प्रक्षालन, प्रतिमर्श, प्रवाहण, आचूषण, अयस्कान्त तथा हर्ष ॥ ४ ॥

विमर्श.—Load stone) से आकर्षण कार्य होता है।

तत्र, अश्रुक्लवथूद्गारकासमूत्रपुरीषानिलैः 'स्वभाव-बलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः पतति। मांसावगाढं शल्यमविदह्यमानं पाचयित्वा प्रकोपात् तस्य पूयशोणितवेगाद् गौरवाद् वा पतति। पक्वमभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद् वा। भिन्नमनिरस्यमानं पीडनीयैः पीडयेत् पाणिभिर्वा। अणून्यक्ष्णशल्यानि परिपेचनाभ्यामपनैर्बालवस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत्। आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमनैर्निर्धमेत्। अन्नशल्यानि वमनाङ्गुलिप्रतिमर्शप्रभृतिभिः। विरेचनैः पक्वाशयगतानि। व्रणदोषाशयगतानि प्रक्षालनैः। वातमूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणमुक्तम्। मारुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वाचूषणमास्येन विषाणैर्वा। अनुलोममनवबद्धमकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन। हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेणेति ॥ ५ ॥

इनमें से आंसू बहाना, छींके लेना, डकारें आना, कासना तथा मल, मूत्र और वायु का निकलना ऐसे इन स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त उपायों द्वारा नेत्रादि समस्त शरीर के स्थानों से शल्य बाहर आ गिरता है। मांस में गहरा स्थित शल्य यदि स्वयं न पकता हो तो उसे ओषधियों के लेपादि से पकाना चाहिये। पकने से वह पूय और रक्त के वेग के साथ अथवा स्वयं के भारीपन से बाहर निकल आता है। पकने पर भी यदि नहीं फूटता हो तो उसे शस्त्र द्वारा भेदन करना चाहिये अथवा उष्ण ओषधियों के लेप से विदारण करना चाहिये। भिन्न होने पर भी जो शल्य या पूय बाहर नहीं आता हो तो

उसे पीड़नीय द्रव्यों के लेप से अथवा हस्त से दबा कर बाहर निकालना चाहिये। इन्द्रियों के सूक्ष्म शल्यों को परिषेचन, या आध्मापन से अथवा बाल, कपड़ा या हाथ से पोंछ कर निकाल देने चाहिये। भोजन के समय असावधानीवश बोलने या हंसने से नासा या श्वास मार्ग में गये हुये आहार को तथा खांसने पर भी पूरे रूप से न निकल कर बचे हुये श्लेष्मा को तथा हीन (छोटे) और अणु (अतिसूक्ष्म) शल्यों को श्वसनमें जोर से खांसने से और प्रधमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये। अन्न के शल्यों को वमन द्वारा या अङ्गुलि को ओष्ठ-तालु पर घिस कर निकालना चाहिये। पक्वाशयगत शल्यों को विरेचन औषध देकर निकाल देना चाहिये। व्रण तथा दोषों के आशयों (स्थानों) में प्रविष्ट शल्यों को प्रक्षालन द्वारा निकालना चाहिये। वात, मूत्र, मल और गर्भ के रुक जाने पर प्रवाहण द्वारा उन्हें बाहर निकाल देने चाहिये। वायु, पानी, विषयुक्त रक्त, दूषित दुग्ध को मुख अथवा विषाण (सींग) से आचूषण करके निकाले। अनुलोम, शिथिल, कर्णहीन (श्लक्ष्ण) तथा चौड़े मुख के व्रण में स्थित हुये शल्य को अयस्कान्त द्वारा निकालना चाहिये। अनेक कारणों से उत्पन्न तथा हृदय में स्थित शोक रूपी शल्य को हर्ष द्वारा दूर करना चाहिये॥ ५॥

सर्वशल्यानान्तु महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः। प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम्।

उत्तुण्डितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम्। छेदनीयमुखान्यपि कुक्षिवङ्क्षःकक्षावङ्क्षणपर्शुकान्तरपतितानि च हस्तशक्यं यथामार्गेण हस्तेनैवापहर्त्तुं प्रयतेत। हस्तेनापहर्त्तुमशक्यं विशस्य शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत्॥

बड़े या छोटे सभी प्रकार के शल्यों को निकालने के लिये दो ही उपाय होते हैं। एक प्रतिलोमविधि तथा दूसरी अनुलोमविधि। जो शल्य अर्वाचीन अर्थात् शरीर के अन्दर दूर तक नहीं गया हो उसे प्रतिलोम करके अर्थात् उसी प्रवेश मार्ग से निकाले तथा पराचीन (शरीर में दूर तक प्रविष्ट) शल्य को अनुलोम करके अर्थात् प्रवेशमार्ग से न निकाल कर दूसरी ओर नया मार्ग करके निकालना चाहिये। अथवा जिस दिशा से शरीर में शल्य प्रविष्ट हुआ हो उसी दिशा में आगे बढ़ाकर निकालना चाहिये। उत्तुण्डित अर्थात् दृश्यमान मुखवाले या उद्गत कण्टकाञ्चित (ऊंचे कांटों से व्याप्त) मुख वाले शल्य को निकालने के लिये दूसरी ओर छेदन करके हाथ से इधर उधर हिलाकर अनुलोम या प्रतिलोम मार्ग से निकालना चाहिये। कुक्षि, वक्ष, कक्षा, वंक्षण और पर्शुकान्तर (Intercostal Space) प्रदेश में फँसे हुये तीक्ष्णधारामुख वाले शल्य को जो कि हाथ से निकल सके उन्हें उसी मार्ग से हाथ से ही प्रतिलोम निकालने का प्रयत्न करना चाहिये किन्तु जिनको हाथ से निकालना शक्य नहीं हो तो उस शल्य को प्रथम शस्त्र से काट कर पश्चात् यन्त्र से पकड़कर निकालना चाहिये॥ ६॥

भवति चात्र—

शीतलेन जलेनैनं मूर्च्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम्॥ ७॥

शल्य निकालते समय मूर्च्छित होते हुये मनुष्य को शीतल जल से सिञ्चित करना चाहिये तथा हृद्य ओषधियों से इसके हृदय, मस्तिष्कादि मर्म स्थानों की रक्षा करे एवं बार बार उसे हर्षजनक बातों से आश्वासन देते रहना चाहिये॥

ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेद्यार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्य विदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां वद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत्॥ ८॥

इसके अनन्तर हस्त या यन्त्र से शल्य को निकाल कर व्रण के रक्त को पिचु-प्रोतादि से साफ कर स्वेदन के योग्य व्रण को अग्नि-घृतादि से स्वेदित कर अग्नि से जलाने योग्य को जलाकर फिर मधु और घृत का लेप कर पट्टबन्धन करके व्रणितोपासनीयोक्त आहार विहार का उपदेश करना चाहिये॥८॥

विमर्शः—स्वेद्यव्रणाः—अग्निकृत्या व्रणा ये तु तेष्वग्निमवचारयेत्। स्वेदयेत् सक्तुपिण्डीभिः स्वेदकृत्यान् समन्ततः॥ (भोज)।

सिरास्नायुविलग्नं शलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत्। श्वयथुग्रस्तवारङ्गं समवपीड्य श्वयथुं, दुर्बलवारङ्गं कुशादिभिर्बद्ध्वा॥ ९॥

सिरा और स्नायुओं में उलझे हुए शल्य को शलाका आदि से छुड़ाकर निकालना चाहिये। शोथ में फँसे हुये बाण को शोथयुक्त स्थान को दबाकर निकालना चाहिये। दुर्बल बाण को कुशादि से बांधकर निकालना चाहिये॥ ९॥

हृदयमभितो वर्त्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद् यथामार्गम्। दुरुपहरमन्यतोऽपबाध्यमानं पाटयित्वोद्धरेत्॥ १०॥

हृदय के चारों ओर वर्तमान शल्य को शीतल जल से उद्वेजित पुरुष को आश्वासित कर जिस मार्ग से वह घुसा हो उसी मार्ग से निकालना चाहिये। यदि वह यथामार्ग से न निकल सके तो अन्य स्थान में थोड़ा छेदन कर के निकालना चाहिये॥ १०॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेदशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभुज्य धनुर्गुणैर्वद्धैकतश्चास्य पक्ष्माङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकविके वध्नीयात्। अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति। दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद् वद्ध्वोद्धरेत्॥ ११॥

अस्थि के छिद्र में प्रविष्ट अथवा अस्थि में फँसे हुये शल्य को यन्त्र से पकड़ कर तथा शल्ययुक्त स्थान के दोनों ओर पांव लगाकर खींचना चाहिये। अथवा इस प्रकार से यदि शल्य न निकल सके तो बलवान् मनुष्यों द्वारा रोगी को भली प्रकार नियन्त्रित करके उसके शल्य के वारङ्ग (हत्थे) को

यन्त्र के द्वारा पकड़ कर टेढा करके एक तरफ से धनुर्गुण से बांध देवे तथा शल्य के दूसरे भाग को पञ्चाङ्गी बन्ध में बद्ध किये घोड़े के मुख में लगाम लगा कर उसमें बांध देना चाहिये। अब घोड़े को कशा (चाबुक) से ताड़ित करे जिससे वह शिर को झटके से ऊचा करता हुआ शल्य को निकाले अथवा पहले की तरह एक तरफ धनुष की डोरी से बन्धे हुये शल्य वारङ्ग को घोड़े के बजाय वृक्ष की मजबूत शाखा को नामित कर शल्य का दूसरा किनारा इससे बांधकर छोड़ देवें। इस तरह छोड़ने पर वह शाखा ऊची उठेगी जिस से शल्य बाहर निकल आवेगा ॥ ११ ॥

विमर्श—पञ्चाङ्ग—घोड़े के चारों पांव तथा मुख कस कर बांधने को पञ्चाङ्गी बन्ध कहते हैं। सुसयतस्य सुष्ठु शोधनं कृत्वा बद्धस्य। कथ सुसयतस्य पञ्चाङ्गया। पञ्चानामङ्गाना चतुर्णा पादाना मुखसमाहिताना समाहार. पञ्चाङ्गीबन्धविशेष.। (अरुणदत्त) कुछ टीकाकारों ने पञ्चाङ्गयासुपसंयतस्य का सम्बन्ध मनुष्य के साथ किया है तथा पञ्चाङ्गी से सारयुक्त वृक्ष ग्रहण किया है। त्वक्पत्रवृक्षमूल फलनेकस्य शाखिन.। एकत्र मिलितं चैतद् पञ्चाङ्गमिति संज्ञितम्॥

अदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाऽश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥ १२ ॥

कुक्षि आदि अच्छेदनीय स्थान में प्रविष्ट हुए उत्तुण्डित शल्य को अष्ठीला, पत्थर और मुद्गर इनमें से किसी एक के प्रहार से शल्य को विचलित कर यन्त्र से पकड़ कर प्रवेशमार्ग से ही निकालना चाहिये ॥ १२ ॥

यन्त्रेण विमृदितकर्णानि कर्णवन्त्यनावाधकरदेशोत्तुण्डितानि पुरस्तादेव ॥ १३ ॥

कर्णा शल्य को जो कि पीडाकर (मर्म) प्रदेश में स्थित न हो तो प्रथम यन्त्र द्वारा उसके कर्ण को सकुचित करके प्रविष्ट मार्ग से ही निकालना चाहिये ॥ १३ ॥

जातुपे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्ताञ्च शलाकां तयाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतामुद्धरेत्। अजातुपं जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पनेत्येके ॥ १४ ॥

कण्ठ में लाख के शल्य के फंस जाने पर प्रथम कण्ठ में एक नलिका डाले तथा उसमें अग्नितप्त शलाका प्रविष्ट कर उस से शल्य द्रुत होकर उसी में लग जायगा फिर शीतल जल से उस नाली स्थित शलाका को सिञ्चित कर स्थिरीभूत लाक्षाशल्य को निकाल लेना चाहिये। किन्तु जो शल्य लाक्षा के सिवाय अन्य वस्तु का हो उसे लाख और मोम से लिप्त शलाका द्वारा पूर्वविधि के अनुसार ही निकाले ऐसा कई आचार्यों का मत है ॥ १४ ॥

विमर्श:—प्राय: छोटे बच्चे कभी लाख के टुकड़े या अन्य वन वस्तु खा लेते हैं। वह वस्तु कण्ठ (अन्ननलिका = Oesophagus) में फस जाती है।

अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकण्ठात्; पूर्वकोष्ठं च वामयेत्। वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्; मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनापहरेत् प्रणुदेद्वाऽन्तः। घृतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत्त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्करासमिश्रम् ॥१५॥

अस्थि का टुकड़ा या अन्य कोई वस्तु कण्ठ में तिरछी अटक जाय तो उसे निकालने के लिये घोड़े के बालों की बनी गुच्छी (केशोण्डुक = Probang) के एक तरफ मजबूत डोरा बांध कर रोगी को गले तक द्रव भोजन के साथ पिला देनी चाहिये तथा उदर के पूरा भर जाने पर रोगी को वमन करा देना चाहिये वमन करने से शल्य का एक प्रदेश उस बालगुच्छी में फसा जान कर उस डोरे को जोर से सहसा खींचना चाहिये। ऐसा करने से शल्य बाहर आ जायगा। अथवा दन्तधावन की मुलायम कुर्ची में उस शल्य को अटका कर निकालने या बाहर न निकल सके तो भीतर की ओर ढकेल देवे जिससे वह आमाशयादि में चला जा कर अन्त में मलमार्ग से मल के साथ निकल जायगा। इस तरह को क्रिया से कण्ठ में क्षत हो जाय तो शहद और शर्करा के साथ त्रिफला चूर्ण चटाने को देना चाहिये ॥ १५ ॥

उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद्धुनीयाद्वामयेद्वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् ॥ १६ ॥

नदी, तालाब, या कुए में गिरने से पेट में पानी भरे हुये मनुष्य की टांगों को पकड़ कर लटका के शिर नीचा कर के पेट पर दबावे, उसे इधर उधर जोर से हिलावे अथवा वमन करा देवे अथवा एक गढा खोदकर उस में राख भर के उस रोगी को मुख तक दबा कर रखे ॥ १६ ॥

विमर्श:—धुनीयात्—चाक पर लिटा के भी घुमाते हैं। 'उदकपूर्णस्य चक्राधारोपगेनोदकनिःसार कार्य इति (अरुणदत्त) जलमग्नमूर्च्छित की चिकित्सा में प्रथम उस के छाती और गले के कपड़े हाथ से या चीर के हटा देवें फिर-पृथ्वी पर अधोमुख लिटा के कृत्रिमश्वास-कर्म (Artificial respiration) करना चाहिये। साथ में मुख को तथा वदन को पोंछे, गरम कम्बल आदि उस के पांव पर रखें। पानी की गरम बोतलें उसके आस पास रखें। अमोनिया गंध सुघावे। हृदय तथा श्वास केन्द्र की उत्तेजक ओषधियां जैसे Strychnin Camphor, Coramine आदि सूचिकाभरण रूप से देवें। होश में आने पर मद्य, चाय, काफी आदि गरम और हृद्य पेय देवें। प्राय: जलमग्न की न्यूमोनिया, श्वास, कासादि, होकर मरने की सम्भावना रहती है। 'अन्यथा क्षुन्मार्गगामिभिरद्भिरात्मानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपघातज्वरादय. श्लेष्मविकारा मृत्युश्च तत्र यथास्वं कफे प्रतिकुर्यात्' (अ० सं०)। धूमोपहत, तथा जलनिमग्न आदि प्राणावरोध (Asphyxia) करने वाले रोगों में कृत्रिम श्वासप्रक्रियाओं से बड़ा लाभ होता है। इस के लिये शेफरविधि (Schafer's method), सिल्वेस्टर की विधि (Silvester's method) तथा लेबोर्डे की विधि (Laborde's method) काम में आती हैं। प्रथमविधि सबसे उत्तम और आसान है। रोगी को अधोमुख कर भूमि पर लिटा देते हैं तथा वक्ष के निचले हिस्से को एक तकिये

पर रखते है। फिर एक मनुष्य उसकी पीठ पर सवार होकर जमीन पर घुटने टेक कर अपने दोनों हाथों को रोगी की पीठ की दोनों ओर की अन्तिम पसलियों पर रखता हुआ आगे को झुक कर अपने शरीर भार को अपने दोनों हाथों पर डालता हुआ रोगी की छाती को खूब दबाता है जिससे फेफडे संकुचित हो जाते हैं। फिर वह अपने शरीर को पीछे की ओर पूर्वस्थिति में लौटालाता है जिससे छाती पर का दबाव हट जाने से फुप्फुस विकसित होते हैं जिससे हवा बाहर को जाती है तथा विस्तार होने पर बाहर से भीतर को आती है। यह क्रिया प्रतिमिनट बारह से पन्द्रह बार करनी चाहिये। सिल्वेस्टर की विधि में रोगी को पीठ के बल लिटाते हैं तथा जिह्वा को डोरे, संदंश या अन्य प्रकार से आगे की ओर खिची जाती है। दूसरा कार्यकर्ता उसके सिरहाने के पास जमीन पर घुटने टेक कर कुहनी से रोगी के दोनों बाहुओं को पकड कर धीरे धीरे रोगी के सिर के ऊपर की ओर ले जाता है तथा वहां दो सेकण्ड तक ठहरता है जिससे छाती चौडी होती है, फेफडे फैलते हैं तथा वायु बाहर से भीतर जाती है तत्पश्चात् बाहुओं को वहां से नीचा करके छाती के दोनों ओर रखकर अपने पूरे बल से दबाता है जिससे फेफडे संकुचित होकर भीतर गई वायु वापस बाहर आती है। इस क्रिया को १ मिनट में पन्द्रह बार करे। ब्रॅटॅर्ट विधि—इससें रोगी की जिह्वा को रूमाल से पकड कर १ मिनट में पन्द्रह बार आगे को खीची जाती है जिससे मस्तिष्कगत श्वसन केन्द्र (Respiratory centre) उत्तेजित होता है। इस विधि को स्वतंत्र या अन्य विधि के साथ कर सकते हैं।

प्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात्; स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत्॥१७॥

प्रासशल्य के कण्ठ में आसक्त होने पर निःशङ्क हो के सहसा रुग्ण के स्कन्ध पर मुष्टि प्रहार करे अथवा उसे स्नेह, मद्य या पानी पिलाना चाहिये ॥ १७ ॥

बाहुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद्वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि लालास्रावं फेनागमनं संज्ञानाशं चापादयति। तमभ्यज्य संस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं दद्याद्रसञ्च वातघ्नं विद्ध्यादिति॥

हस्त, रज्जु, लता अथवा डोरी आदि की फांस से कण्ठ को दबाने से वायु कुपित होकर श्लेष्मा को कुपित करके श्वास स्रोत को रोक देती है जिससे मुख से लालास्राव, फेन का आना और संज्ञानाश (बेहोशी या मूर्च्छा उत्पन्न होती है। ऐसे रोगी को अभ्यङ्ग कराके स्वेदित कर तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवे तथा वातनाशक रस का पान कराना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्श—बाहु पाश से कण्ठपीडन को Throttling, रज्जु या लतापाश से जो कण्ठपीडन करते हैं उसे Strangulation तथा रज्जु या लता का पाश लगाकर मनुष्य स्वयं अपने को टांग लेता है या दूसरे टांग देते हैं उसे Hanging कहते हैं। इन तीनों में बाहर से शुद्ध वायु भीतर नहीं जाती हैं तथा भीतर की अशुद्ध वायु बाहर नहीं निकलती है जिससे संज्ञानाशादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा—गले की फांस काटना, कृत्रिमश्वास तथा Oxygenसूंघने को देना चाहिये।

भवन्ति चात्र—

शल्याकृतिविशेषांश्च स्थानान्यावेद्य बुद्धिमान्।
तथा यन्त्रपृथक्त्वं च सम्यक् शल्यमथाहरेत् ॥१९॥

शल्य की आकृति के विशेष भेद, शल्य के स्थान तथा यन्त्रों के भेद इन सभी का बुद्धिमान् वैद्य ठीक तरह से विचार करके शल्य का आहरण करे ॥ १९ ॥

कर्णवन्ति तु शल्यानि दुःखाहार्याणि यानि च।
आददीत भिषक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितः ॥२०॥

जो शल्य कर्णी हों तथा जो कठिनता से निकालने योग्य हों उन्हें वैद्य युक्ति से सावधान होकर निकाले ॥ २० ॥

एतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्यात्यते यदि।
मत्या निपुणया वैद्यो यन्त्रयोगैश्च निर्हरेत् ॥ २१ ॥

उपर्युक्त उपायों से शल्य नहीं निकल सके तो वैद्य अपनी निपुण बुद्धि तथा यन्त्रों के द्वारा जैसे भी हो वैसे निकाले ॥

विमर्शः—शल्याहरणविधि—दृश्यं सिंहमुखार्धेस्तु गृढं कङ्कमुखादिभि। निर्हरेत्तु शनैः शल्यं शास्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥ (सुश्रुत)। अथाहरेत् करप्राप्य करेणैवेनरत्पुनः। दृश्यं सिंहाहिमकरवर्मिकर्कटकाननैः ॥ अदृश्यं व्रणसस्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यत। कङ्कगृध्रबकुररशरारीवायसाननैः ॥ सदृशाभ्यां त्वगादिस्थं तालाभ्यां सुषिरं हरेत्। सुषिरस्थ तु नलकैः शेषं शेषैर्यथायथम् ॥ (वाग्भट)। अहार्यं शल्यं—नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम्। शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुर्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवति, उद्धृतशल्यो म्रियते। (सुश्रुत)।

शोथपाकौ रुजश्चोग्रा कुर्याच्छल्यमनिर्हृतम्।
वैकल्यं मरणं चापि तस्माद् यत्नाद्विनिर्हरेत् ॥ २२ ॥

यदि शल्य को न निकाला जाय तो वह उस स्थान में शोथ, पाक, तीव्र वेदनाएं, विकलता तथा मृत्यु तक कर देता है इस लिये यत्नपूर्वक उसको निकालना चाहिये किन्तु विशल्यघ्न और निरुपद्रव नष्ट शल्य को नहीं निकाले ॥ २२ ॥

विमर्शः—वाग्भटोक्तकर्णशल्यानि—कीटे कर्णस्रोत प्रविष्टे तोदो गौरव भरभरायणञ्च भवति, स्पन्दमाने चाप्यधिक वेदना। तत्र सलवणेनाम्बुना मधुकयुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम्। तोयपूर्ण कर्ण हस्तेनोन्मथितेन तैलाम्बुना पूरयेत्। पार्श्वावनतं वा कृत्वा हस्तेनाहन्यान्नाट्या वा चूषयेत् ॥ (अ० सं०)।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने शल्यापनयनीयो नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—शब्द, स्पर्श, रूप तथा गन्ध जिन व्रणों का विकृत हो वे विपरीत तथा जिनका प्राकृत हो वे अविपरीत व्रण होते हैं उनका विचार यहां किया जाता है।

फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा।
ख्यापयन्ति भविष्यत्त्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥ ३ ॥

भविष्य में होने वाले फल, अग्नि और जलवर्षा का ज्ञान जैसे पुष्प, धूम और मेघों द्वारा होता है उसी प्रकार अरिष्ट लक्षण भविष्य में होने वाली मृत्यु के सूचक हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—रिष्टपरिभाषा-'नियतमरणाख्यापक लिङ्गनरिष्टम्' (माधव)। रोगिणो मरण यस्मादवश्यंभावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्ट स्याद्रिष्टञ्चापि तदुच्यते॥ (भावप्र०)। क्रियापथमतिक्रान्ता. केवल देहमाप्नुनाः। चिह्न कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्ट निगद्यते॥ क्षणेन हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तनश्चारिष्टप्रादुर्भावः। (चरक)। रूपेन्द्रियस्वरच्छाया प्रतिच्छाया क्रियादिषु। अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्तत॥ विकृतिर्या समासेन रिष्ट तदपि लक्षयेत्॥ (वाग्भट)।

प्रथम रिष्ट के दो भेद हैं। (१) पुरुषमनाश्रित (जितका सम्बन्ध रोगी से न हो) जैसे दूताधिकार, पथि औत्पातिक, आतुरकुले भावावस्था। (२) पुरुषसश्रय, या आतुराश्रयरिष्ट, अर्थात् जिनका सम्बन्ध रोगी के साथ होता हो। पुरुषाश्रित अरिष्ट के भी दो भेद हैं। प्रथम स्थायिरिष्ट या रिष्ट, दूसरे अस्थायिरिष्ट या रिष्टाभास। 'केचित्तु तद् द्विधेत्याहु, स्थाय्यस्थायिविभेदन' (वाग्भट)। स्थायिरिष्ट से निश्चित मृत्यु होती है तथा इनका हेत्वादि निमित्त अव्यक्त, अज्ञात और अदृष्ट होता है अत इन्हें नियतारिष्ट या अनिमित्तारिष्ट भी कहते हैं। एषा वारणोपाय —ब्राह्मणैस्तत् किलामलै.। रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते॥ (सुश्रुत)। कदाचिद् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति। (योगर०)। अस्थायिरिष्ट ज्ञातनिमित्त तथा दोष बाहुल्य से पैदा होते हैं। इनका शमन हो सकता है। दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभास समुद्भवेत्। तद्दोषाणा शमं शाम्येत्। (अ० सं०)।

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात्।
गृह्यन्ते नोद्गतान्यद्यैर्मुमूर्षोर्न त्वसम्भवात् ॥ ४ ॥

मरने वाले पुरुष के शरीर में उत्पन्न हुये ये अरिष्ट सूक्ष्म होने से, वैद्य के प्रमाद (अज्ञान) से तथा शीघ्र ही इनमें व्यतिक्रम (उलट फेर) हो जाने से या रिष्ट होते ही रोगी की मृत्यु हो जाने से अज्ञ वैद्यों द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं। असम्भव या उत्पन्न नहीं होने से नहीं जाने जाते हैं यह बात नहीं है ॥ ४ ॥

विमर्शः—पूर्व श्लोकोक्त पुष्पफल के दृष्टान्त में कभी २ व्यभिचार हो सकता है किन्तु रिष्ट तथा मृत्यु में व्यभिचार कभी नहीं होता। अप्येवन्तु भवेत्पुष्प फलेनानन्वित यत्। फलञ्चापि भवेत्किञ्चिद्यस्य पुष्प न पूर्वजम्॥ नत्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्॥ (चरक)।

ध्रुवन्तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्य्यते ॥ ५ ॥

रिष्ट के उत्पन्न होने पर मरण निश्चित है तथापि ऐसा कहा है कि रागद्वेषादि मानसदोषों से रहित ब्राह्मणों के द्वारा अथवा रसायन, तप और गायत्र्यादि जपने में परायण पुरुषों द्वारा यह मृत्यु निवारित हो सकती है ॥ ५ ॥

विमर्शः—किलशब्दोऽवागमार्थं सूचयति, एव किल आगमे प्रतिपादितमित्यर्थ' (डल्हण)। रसायनलक्षणम्—यज्जराव्याधिविध्वसि भेषज तद्रसायनम्। यद् दुष्कर यद् दुराप यद् दुर्ग यच्च दुस्तरम्। तत्सर्वं तपसा साध्य तपो हि दुरतिक्रमम्।

नक्षत्रपीडा बहुधा यथाकालं विपच्यते।
तथैवारिष्टपाकं च ब्रुवते बहवो जनाः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार विशिष्ट नक्षत्र पर स्थित हुये ग्रहों की पीडा विशिष्ट काल पर फलवती होती है उसी प्रकार का अरिष्ट का फल भी विशिष्ट समय में होता है ऐसा बहुत से लोग कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—नक्षत्रग्रहफलम्—होराया नवमे सूर्य. सप्तमे च शनैश्चरः। एकादशे गुरु. शुक्रो मासमेकं न जीवति॥ अशुभे लग्नसम्प्राप्ते षष्ठाष्टमे निशाकर.। शनैश्चरस्तु बन्धुस्थो द्विमासे मृत्युमृच्छति॥

असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः।
अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥ ७ ॥

क्षीण आयु वाले रोगी की चिकित्सा करने वाला वैद्य असिद्धि (अपयश) को प्राप्त होता है इसलिये कुशल चिकित्सक यत्नपूर्वक अरिष्टलक्षणों का ज्ञान करे ॥ ७ ॥

विमर्शः—असिद्धि—अर्थविधायशोहानिमुपक्रोशमसग्रहम्। प्राप्नुयान्नियत वैद्यो योऽसाध्य समुपाचरेत्॥ (चरक)।

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतः।
वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम् ॥ ८ ॥

गन्ध, वर्ण और रसादिक जो इन्द्रियविषयक भाव हैं उनके स्वभाव (प्राकृतिक धर्म) में जो विकृति उत्पन्न होती है वह व्रणी के पक्व (मृत्यु) होने के लक्षण को व्यक्त करती है ॥

कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिभिः।
लोहगन्धिस्तु रक्तेन व्यामिश्रः सान्निपातिकः ॥ ९ ॥

वायु से कटुगन्ध, पित्त से तीक्ष्णगन्ध, कफ से आमगन्ध, रक्त से लोहगन्ध और दोषों के सन्निपात से मिश्रित गन्ध आती है ॥ ९ ॥

लाजातसीतैलसमाः किञ्चिद्विस्राश्च गन्धतः।
ज्ञेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतोऽन्यद्गन्धवैकृतम् ॥ १० ॥

वातपित्त से लाजगन्ध, वातकफ से अलसी के तैल की सी

गन्ध तथा पित्तकफ में तिलतैल के समान गन्ध आती है। ये तीनों द्वन्द्वज गन्धें कुछ आमगन्धी होती हैं। ये दोषों की प्राकृतिक गन्धें हैं किन्तु इनसे विपरीत विकृत गन्ध समझनी चाहिये ॥ १० ॥

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ।
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ॥ ११ ॥

मरणोन्मुख मनुष्यों के व्रणों से मद्य, अगुरु, घृत, चमेली के पुष्प, कमल, चन्दन, चम्पा इनके समान गन्ध तथा दिव्य गन्ध आती है ॥ ११ ॥

श्वबाजिमूषिकव्याङ्गपूतिवल्लूरमत्कुणैः ।
सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गर्हिताः ॥ १२ ॥

कुत्ता, घोड़ा, चूहा, कौआ, पूतिमांस, शुष्कमांस तथा मत्कुण इनके समान गन्ध वाले व्रण तथा कीचड के समान गन्धवाले व्रण और भूमि के समान गन्ध वाले व्रण गर्हित (निन्दित) होते हैं ॥ १२ ॥

श्यामकुङ्कुमकङ्कुष्टसवर्णाः पित्तकोपतः ।
न दह्यन्ते न चूष्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१३॥

पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुये व्रण कुछ काले तथा केशर और कंकुष्ठ के समान वर्ण वाले होने पर भी दाह और चोष उत्पन्न नहीं करते हों उनकी वैद्य चिकित्सा न करे ॥ १३ ॥

कण्डूमन्तः स्थिराः श्वेताः स्निग्धाः कफनिमित्ततः ।
दूयन्ते वाऽपि दह्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१४॥

कफ के कोप से उत्पन्न हुये व्रण कण्डूयुक्त, स्थिर, श्वेत और स्निग्ध होते हुये भी पीडा और दाह उत्पन्न करते हों उनकी वैद्य चिकित्सा न करे ॥ १४ ॥

कृष्णास्तु ये तनुस्रावा वातजा मर्मतापिनः ।
स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रुजं तान् परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

वात से उत्पन्न व्रण यदि काले, पतले या अल्प स्राव वाले हों तथा मर्म प्रदेश पर होने पर भी थोड़ी सी भी पीड़ा न करते हों तो उनकी भी चिकित्सा न करे ॥ १५ ॥

क्वेडन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः ।
त्वङ्मांसस्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये ॥ १६ ॥

शब्दविकृति का उदाहरण—जिन व्रणों से खट खट और घुट घुट आदि ध्वनि निकलती हो तथा जो दाह करते हों तथा त्वचा और मांस में होते हुये भी शब्दयुक्त वायुको छोड़ते हों उन्हें भी अचिकित्स्य जाने ॥ १६ ॥

ये च मर्मस्वसम्भूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ।
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ॥ १७ ॥

स्पर्शविकृति का उदाहरण—जो व्रण मर्मस्थानों में न होने पर भी अधिक पीड़ा देते हों तथा भीतर से अत्यन्त गर्म और बाहर से शीतल मालूम होते हों तथा जो बाहर में अधिक दाह करते हों और भीतर से अत्यन्त शीतल हों उन्हें भी असाध्य जाने ॥ १७ ॥

दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ।
शक्तिध्वजरथाः कुन्तवाजिवारणगोवृषाः ॥ १८ ॥
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा ।
चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति वा न च चूर्णिताः ॥ १९ ॥

रूपविकृति का उदाहरण—जिन व्रणों में शक्ति (आयुध), ध्वजा, रथ, कुन्त (भाला), घोडा, हाथी, गाय, बैल इनके चित्र का भास होता हो तथा राजमहल की सी आकृति वाले व्रण तथा जो चूर्ण के न छिडकने पर भी चूर्ण से व्याप्त हुये के समान भासित होते हों वे भी असाध्य हैं ॥ १८-१९ ॥

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥ २० ॥

जिन व्रणों में रोगी प्राणक्षय, मांसक्षय, श्वास, कास, अरोचक आदि से पीडित हो तथा जिनसे पूय और रक्त अधिक निकलता हो तथा जो व्रण मर्मस्थानों पर स्थित हों वे भी असाध्य होते हैं ॥ २० ॥

क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेत्तान् भिषक् प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ २१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतव्रण-विज्ञानीयो नाम अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

प्रारम्भ में ही योग्य चिकित्सा करने पर भी जो व्रण अच्छे नहीं होते हों उन्हें वैद्य अपने यश की रक्षा करने के हेतु वर्जित करे ॥ २१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयो नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीय नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

दूतदर्शनसम्भाषा वेषाश्चेष्टितमेव च ।
ऋक्षं वेला तिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥ ३ ॥
देशो वैद्यस्य वाग्देहमनसाश्च विचेष्टितम् ।
कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥ ४ ॥

दूत का दर्शन, सम्भाषण, वेष और चेष्टाएं तथा नक्षत्र, समय, तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का स्थान तथा वाणी, देह और मन की चेष्टाए ये सब विषय रोगी के शुभ या अशुभ भाव को कहते हैं ॥ ३-४ ॥

पाखण्डाश्रमवर्गानां सपक्षाः कर्मसिद्धये।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥ ५ ॥

पाखण्ड (वेदबाह्य बौद्ध कापालिक), ब्रह्मचर्यादि आश्रम, ब्राह्मणादिवर्ग, इनमें से जिस मत, आश्रम या वर्ण का रोग हो उसी मत, आश्रम या वर्ण का दूत चिकित्सा में सफलतादायक होता है और यदि रोगी के मत, आश्रम तथा वर्ण से विपरीत मत, आश्रम और वर्ण वाले दूत हों तो चिकित्सा में निष्फलताजनक होते हैं ॥ ५ ॥

नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः।
गर्दभोष्ट्ररथग्राम्याः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः ॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥ ६ ॥

नपुंसक, स्त्रीदूत, बहुत से दूत तथा अनेक दूत भिन्न भिन्न कार्य से आये हों, परस्पर या रोगी में ईर्ष्या रखने वाले या निन्दा करने वाले, गदहे या ऊंट के रथ में बैठ कर आये हों अथवा एक के बाद एक करके आये हों या एक के पीछे एक पंक्ति बनाकर जो दूत वैद्य के समीप आये हों वे सब निन्दित हैं ॥

पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः।
आर्द्रजीर्णोपसव्यैकमलिनोद्ध्वस्तवाससः ॥ ७ ॥
न्यूनाधिकाङ्गा दद्रुघ्ना विकृता रौद्ररूपिणः।
रूक्षनिष्ठुरगदाश्राव्यमाङ्गल्याभिधायिनः ॥ ८ ॥

पशुओं को बांधने की रज्जु, दण्ड, किसी प्रकार का अन्य शस्त्र धारण किये हुये एवं पाण्डु तथा काले, पीले, लाल वस्त्र पहिने हुये तथा गीले, फटे पुराने, अपसव्य, केवल एक वस्त्र, मलिन और फटा पुराना वस्त्र पहने हुये तथा जिन के अङ्ग या उपाङ्ग (अङ्गुल्यादि) कम या अधिक हों, बवड़ाये हुये, ओष्ठ, नासादि कटे होने से लंगड़े, लूले, विकृताङ्ग वाले एवं भयानक स्वरूप वाले दूत तथा रूक्ष और निष्ठुर वाक्य बोलने वाले अथवा अमाङ्गलिक शब्दों का उच्चारण करने वाले दूत निन्दित होते हैं ॥ ७-८ ॥

छिन्दन्तस्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम्।
वक्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशाक्षुशः ॥ ९ ॥
स्रोतोऽवरोधहृद्रण्डमूर्धोरःकुक्षिपाणयः।
कपालोपलभस्मास्थितुषाङ्गारकरास्त्र ये ॥ १० ॥
विलिखन्तो महीं किञ्चिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः।
तैलकर्दमदिग्वाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः ॥ ११ ॥
फलं पक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम्।
नखैर्नखान्तरं गाऽपि करेण चरणं तथा ॥ १२ ॥
उपानच्चर्महस्ता वा विकृतव्याधिपीडिताः।
वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः ॥ १३ ॥
याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥ १४ ॥
दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम्।
ज्वलन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्माणि चोद्यतम् ॥ १५ ॥

तृण को या काष्ठ को तोड़ने वाले अपनी नासिका तथा स्तनों को छूने वाले एवं वस्त्र का सिरा, अनामिका अङ्गुली, सिर के बाल, नख, शरीर के बाल तथा दांतों को छूने वाले, कर्णादि छिद्र रूपी स्रोतसों का अवरोध करने वाले, स्कन्ध प्रदेश, हृदय, गण्डस्थल, कपोल, सिर, छाती तथा कुक्षि के ऊपर हाथ फेरने वाले तथा कपाल (ठिकरा), पत्थर, भस्म, हड्डी, भूसा तथा अङ्गार इनमें से किसी एक वस्तु को हाथ में लिये हुये तथा नख, लकड़ी आदि से भूमि को खरोंचते हुये, अपने केशों को नोंचते हुये या हस्तस्थित वस्तु को गिराते हुये, मिट्टी के ढेले को हाथों से फोड़ते हुये, तैल अथवा कीचड़ से अङ्गों को लिप्त किये हुये, लाल माला पहने हुये तथा लाल चन्दन का तिलक किये हुये एवं पका हुआ फल, सारहित फल अथवा अन्य उसके समान क्षुद्र वस्तु हाथ में लिये हुये और नाखूनों से नाखून तथा हस्त से पाद को रगड़ते हुये, हाथ में जूते या चमड़ा लिये हुये अथवा गलितकुष्ठ आदि विकृत रोगों से पीड़ित, विपरीत आचार वाले, रोते हुये, जोर से सांस लेते हुये, फूले आदि से विकृत नेत्र वाले, दक्षिण दिशा में हाथ जोड़े हुये, टेढ़े या एक पैर से खड़े हुये इस तरह जो दूत वैद्य के पास आते हैं वे भी निन्दित हैं ॥ ९-१५ ॥

नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु गाऽशुचिम्।
प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव च।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥ १६ ॥

वैद्य के दक्षिण दिशा में मुख किये होने पर, अपवित्र स्थान में अग्नि को जलाते हुये तथा पकाते हुये, पशुवधादि क्रूरकर्म में लगे हुये, नग्न तथा भूमि पर लेटे हुये, मलमूत्रादि के त्याग करने से अपवित्र हुये, शिरके बालों को फैलाये हुये, शरीर पर तैलादि से अभ्यङ्ग करने पर स्वेदित हुये तथा विह्वल हुये ऐसे वैद्यके पास जो दूत आते हैं वे भी निन्दित हैं ॥

वैद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ॥ १७ ॥
मध्याह्ने चार्द्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च।
आर्द्राऽश्लेषामघामूलपूर्वासु भरणीषु च ॥ १८ ॥
चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा पञ्च्यां सन्धिदिनेषु च।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥ १९ ॥

वैद्य के देवता के हवन या पितृकार्य (श्राद्धादि) में प्रवृत्त होने पर, उल्कापात, भूकम्पादि उत्पात के समय, मध्याह्न, अर्द्धरात्र, प्रभात और सायङ्काल की सन्धि वेला में तथा कृत्तिका, आर्द्रा, अश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, भरणी इन नक्षत्रों में तथा चतुर्थी, नवमी, षष्ठी एवं पूर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपदा आदि सन्धि दिनों में जो दूत वैद्य के पास आते हैं वे भी निन्दित हैं ॥ १७-१९ ॥

स्विन्नाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः।
गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यमुपागताः ॥ २० ॥
त एव कफरोगेषु कर्मासद्धिकराः स्मृताः।
एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा सविभजेत्तु तत् ॥ २१ ॥
रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च।
प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः।

विज्ञायैवं विभागं तु शेषं बुध्येत पण्डितः ॥ २२ ॥

अग्नि के समीप बैठने से पसीने से व्याप्त हुये, धूप से तप्त हुये दूत मध्याह्न के समय पित्तरोगियों की चिकित्सा के लिये वैद्य के पास आये हुये निन्दित हैं। किन्तु वे ही दूत कफ रोगियों की चिकित्सा के लिये वैद्य के समीप आये हों तो चिकित्सा में सिद्धि देते हैं। इस सिद्धान्त से अनुक्त विषयों को भी व्याख्यात समझ कर विभाग करना चाहिये। रक्तपित्त, अतिसार और प्रमेहों में जहां पानी का बांध हो ऐसे स्थान में वैद्य और दूत का समागम प्रशस्त है। पण्डित चिकित्सक इस तरह से अनुक्त बातों को भी समझ लेवे ॥ २०–२२ ॥

विमर्शः—एतेन शेषं व्याख्यातम्–तद्यथा–घृतोदकादिद्रवसमीपस्थमतिशीतस्तब्ध प्रत्युषसि श्लेष्मामयेऽशुभ। पित्तामये तु शुभ। (अ० सं०)। वातरोगे परुषरूक्षसिक्तापापाणशर्करादिविशिष्टे देशे काले सायाह्ने दूतोऽशुभ। विपरीतस्तु शुभः। (अरुणदत्त)। तथा सेतुभङ्गे छर्दिमेहातिसारादिष्वशुभ सेतुबन्धे तु शुभ। दूतवैद्यसमागमे चरकमतम्—विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक्। दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुर तमुपाचरेत्॥ (चरक)।

शुक्लवासाः शुचिर्गौर श्यामो वा प्रियदर्शनः।
स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्य्यकरः स्मृतः ॥२३॥

जो दूत श्वेत वस्त्र पहना हुआ, पवित्र, गौरवर्ण अथवा श्यामवर्ण, देखने में मनोहर तथा रोगी की निजी जाति और गोत्र का हो वह कार्य सिद्धि करने वाला होता है ॥ २३ ॥

गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः ॥ २४ ॥
स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान्।
अलङ्कृतो मङ्गलवान् दूतः कार्य्यकरः स्मृतः ॥ २५ ॥

बैल की सवारी से आया हुआ, प्रसन्नचित्त, पैदल चलकर आया हुआ, उत्तम चेष्टाओं वाला, स्मरणशक्ति युक्त, शास्त्रविधि और उचितानुचित समय को जानने वाला, स्वतन्त्र, प्रगल्भबुद्धिवाला, उत्तम वस्त्र तथा आभूषणों से अलङ्कृत ऐसा मङ्गलकारी दूत चिकित्सारूपी कार्य को करने वाला होता है ॥

स्वस्थं प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम्।
उपसर्पति यो वैद्यं स च कार्य्यकरः स्मृतः ॥ २६ ॥

समान तथा पवित्र देश में पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुये स्वस्थ तथा पवित्र वैद्य के पास जो दूत जाता है वह कार्य सिद्ध करता है ॥ २६ ॥

मांसोदकुम्भातपत्रविप्रवारणगोवृषाः।
शुक्लवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गता ॥ २७ ॥
स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्धमाना स्वलङ्कृता।
कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि ॥२८॥
हिरण्याक्तपात्रं वा रत्नानि सुमनो नृपः।
अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चाषः शिखी तथा ॥२९॥
ब्रह्मदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेणुरथस्वनाः।
सिंहगोवृषनादाश्च ह्रेषितं गजबृंहितम् ॥ ३० ॥
शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकं चैव वामतः।
प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयङ्गमाः ॥ ३१ ॥

मांस, जलकुम्भ, छत्र, ब्राह्मण, हाथी, गौ, वृषभ तथा श्वेत वर्ण के पुष्प, दही, चांवल, मोती आदि पदार्थ रोगी को देखने जाते समय रास्ते में मिलने पर शुभ है। पुत्रवती स्त्री, बछडे सहित गाय, यौवनावस्था में बढ़ती हुई तथा अलङ्कार युक्त कुमारिका एवं मछलियां, कच्चे फल, स्वस्तिक चिह्न, लड्डू, दही, सुवर्ण, अक्षतपूर्ण पात्र, रत्न, पुष्प, राजा, जलती हुई आग, घोडा, हंस, चापपक्षी तथा मयूर एवं ब्रह्म (वेद), नगाडा, मेघ, शंख, वेणु और रथ इनकी ध्वनि का होना, शेर, गाय, बैल इनका शब्द, घोडे की हिनहिनाहट, हाथी का चिंघाडना, हंस का बोलना, वामहस्त की ओर उल्लू का बोलना तथा अन्य भी हृदय को आनन्द देने वाली कोकिला, तोता, मैना आदि की बोलियां रोगी को देखने जाने वाले वैद्य के लिये शुभ हैं ॥

पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान्नीरुजो द्रुमान्।
आश्रिता वा नभोवेश्मध्वजतोरणवेदिकाः ॥ ३२ ॥
दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः।
वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये ॥३३॥

पत्र, पुष्प और फलों से युक्त, दुग्ध वाले और नीरोग वृक्षों पर बैठे हुये अथवा आकाश में उडते हुये, किंवा मकान, पताका, तोरण और वेदिका इन पर स्थित हुये किंवा शान्त दिशाओं में मधुर वाणी बोलते हुये, पीछे से आने वाले तथा बांई अथवा दाहिनी तरफ से आने वाले शकुन (पक्षी) कार्य सिद्धि करते हैं ॥ ३२–३३ ॥

शुष्केऽशनिहतेऽपत्रे वल्मीनद्धे सकण्टके।
वृक्षेऽथवाऽश्मभस्मास्थिविट्तुषाङ्गारपांशुषु ॥ ३४ ॥
चैत्यवल्मीकविषमस्थिता दीप्तखरस्वराः।
पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाधकाः ॥ ३५ ॥

शुष्क या बिजली से जले होने से पत्तों से रहित लता चढ़े हुये एवं कांटेदार वृक्ष पर अथवा पत्थर, भस्म, अस्थि, विष्ठा, तुष, कोयला, धूलि, चैत्य, वल्मीक और ऊंचे-नीचे स्थान पर बैठे हुये तथा उग्र कर्कश शब्द करते हुये तथा तेज धूप से दिशाएं दीप्त हों उस समय बोलने वाली पक्षी कार्यसिद्धिकर नहीं होते हैं ॥ ३४–३५ ॥

पुन्नामानः खगा वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः।
दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वश्रृगालयोः।
वामं नकुलचाषाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥ ३६ ॥
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम्।
दर्शनं वा रुतं चापि न गोधाकृकलासयोः ॥ ३७ ॥

पुरुष जाति के पक्षी बाएं तथा स्त्री जाति के पक्षी दाएं शुभकारी होते हैं। कुत्ते और शृगाल (सियार) का दाएं से बाएं होकर निकलना श्रेष्ठ है। नौले और चाष पक्षी का वाम की ओर जाना अधिक प्रशस्त है। खरगोश तथा सर्प का किसी भी ओर निकलना श्रेष्ठ नहीं है। भास पक्षी तथा उल्लू का भी दक्षिण या वाम किसी भी ओर निकलना श्रेष्ठ नहीं है। गोधा तथा गिरगिट का रोगी के घर जाते समय दीखना या उनका बोलना शुभ नहीं है ॥ ३६–३७ ॥

दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम् ।
कुलत्थतिलकार्पासतुषपाषाणभस्मनाम् ॥ ३८ ॥
पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् ।
प्रसन्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्षपैः ॥ ३९ ॥
शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः ।
नेष्यन्ते पतितान्तस्थदीनान्वरिपवस्तथा ॥ ४० ॥
मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिश्चानिलः शुभः ।
खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार निन्दित दूतों के समान अन्य अनिष्ट मनुष्यों के दर्शन भी बुरे हैं। कुलथी, तिल, कपास, तुष, पाषाण, राख इनसे भरे पात्र एवं जलते कोयले, तेल और कीचड से भरे पात्र का दीखना अशुभ है। प्रसन्ना के अतिरिक्त अन्य मद्यों से या रक्तसर्षप से भरा पात्र शुभ नहीं है। रोगी के घर जाते समय रास्ते में मुर्दा, लकड़ियां, सूखे हुये पलाश (टाक) का मिलना श्रेष्ठ नहीं है तथा दुराचारी, चाण्डाल, दीन, अंधे और शत्रुओं का रास्ते में मिलना श्रेष्ठ नहीं है। कोमल, शीतल, अनुकूल तथा सुगन्धित वायु का बहना शुभ होता है तथा रूक्ष, गरम, दुर्गन्धित और प्रतिलोम हवा निन्दित है ॥ ३८-४१ ॥

ग्रन्थ्यर्बुदादिषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः ।
विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च ॥ ४२ ॥
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते ।
एवं व्याधिविशेषेण निमित्तमुपधारयेत् ॥ ४३ ॥
तथैवाकुष्टहाकष्टमाक्रन्दरुदितस्वनाः ।
छर्द्यां वातपुरीषाणां शब्दो वै गर्दभोष्ट्र्योः ॥ ४४ ॥

ग्रन्थि तथा अर्बुद आदि रोगों में छेद वाचक शब्द का बोलना शुभ होता है। विद्रधि, जलोदर और गुल्म रोगों में भेद शब्द का बोलना श्रेष्ठ है। रक्तपित्त और अतिसार में रुद्ध शब्द प्रशस्त होता है। इसी प्रकार विशिष्ट व्याधियों में तदनुकूल विशिष्ट निमित्त का निश्चय करना चाहिये। वैसे ही आकुष्ट (जोर से चिल्लाना), हा कष्ट (हाय हाय शब्द) करना, आक्रन्दन (जोर से रुदन), साधारण रुदन, वात और मल के निकलने के शब्द एवं गदहे और ऊंट का शब्द वमन रोग में प्रशस्त नहीं है ॥ ४२-४४ ॥

विमर्शः—ग्रन्थ्यर्बुदादिषु शुभाशुभशब्दाः—ग्रन्थ्यर्बुदादिषु प्रवर्तमानश्छेद., भेदश्च च स्थिरस्थावरवर्तमानत्वादाऽचलधातुवत्सेनशिवादयः शब्दा अन्यत्रादिवत्त्वाच्च ग्रन्थेः। क्षतक्षतिजात्रोक्षप्रहारच्छेदभेददाहहाऽतिपेषादिशब्दाश्चिकित्साप्रतिषेधाच्च। इन्द्रलुप्तेऽपि यथा पाण्डुरोगे शून्यशब्दः, कासे क्षतशब्दः, श्वासे छिन्न।

प्रतिषिद्धं तथा भग्नं क्षुतं स्खलितमाहतम् ।
दौर्मनस्यञ्च वैद्यस्य यात्रायां न प्रशस्यते ॥ ४५ ॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादवेक्ष्यं च तथाऽऽतुरे ।
प्रतिद्वारं गृहे वाऽस्य पुनरेतन्न गण्यते ॥ ४६ ॥
केशभस्मास्थिकाष्ठाश्मतुषकार्पासकण्टकाः ।
खट्वे ध्वंपादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम् ॥ ४७ ॥
नपुंसकव्यङ्गभग्नमुण्डासिताम्बराः ।

प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेष्यन्ते दर्शनं गताः ॥ ४८ ॥

रोगी को देखने जाते समय किसी के द्वारा वैद्य को प्रतिषिद्ध (मना) करना, शरीर में या किसी भी आस-पास की वस्तु का भग्न होना, छींक होना, हाथ-पैर से कोई वस्तु या आभूषण का गिर जाना, आघात होना तथा किसी के भी मन की क्लुप्तता होना ये भाव शुभ नहीं हैं। रोगी के गृह में प्रवेश करते समय भी उक्त प्रकार के शुभाशुभ लक्षणों का विचार करना चाहिये। रोगी को देखने समय भी ऐसे ही भावों का ध्यान रखें किन्तु प्रवेश करने के मुख्य द्वार के पश्चात् भीतरी अनेक दरवाजों पर इनका विचार रखना आवश्यक नहीं है। केश, भस्म, अस्थि, काष्ठ, पत्थर, तुष, कपास, कांटे, ऊंचे पांव की हुई खाटें, मद्यपी, चरबी, तेल, तिल, घास, नपुंसक, नाना, कर्ण छिन्न होने से विकृताङ्ग व्यक्ति, अस्थ्यादि भग्न व्यक्ति, नंगा, मुंडमुटाया और काले कपडे पहना हुआ व्यक्ति ये वैद्य के रोगी को देखने के लिये प्रस्थान करते समय तथा रोगी के गृह में प्रवेश करते समय दिखाई दें तो शुभ नहीं हैं ॥ ४५-४८ ॥

भाण्डानां सङ्करस्थानां स्थानात् सञ्चरणं तथा ।
निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा ॥ ४९ ॥
वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्यादधोमुखः ।
वैद्यं सम्भाषमाणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा ॥ ५० ॥
प्रमृज्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्टं शिरस्तथा ।
हस्तं चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि चोरसि ॥ ५१ ॥
यो वैद्यमुन्मुखः पृच्छेदुन्मार्ष्टि स्वाङ्गमातुरः ।
न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते ॥ ५२ ॥
भवने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्यः स सिध्यति ।
शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ॥
आतुरस्य ध्रुवंतस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्भिषक् ॥ ५३ ॥

रोग के निवासस्थान में एक स्थान में सङ्कर (सञ्चित) किये हुये पात्रों का गिरना, पृथ्वी का खोदना, किसी वस्तु का उखाड़ना, भङ्ग होना, गिरना या घर से निकल जाना वैद्य वहां जा कर जिस आसन पर बैठे उसका टूट जाना अथवा उस समय रोगी अधोमुख करके सोया हुआ हो, अथवा वह रोगी वैद्य के साथ बातचीत करता हुआ अपने अंग, भित्ति तथा बिछौने को रगड़ता रहे। हाथ, शिर और पीठ को हिलावे, वैद्य के हाथ को खींच कर अपने शिर और छाती पर रखे तथा रोगी अपने मुख को ऊपर या आसमान की ओर करके वैद्य से प्रश्न करे किंवा अपने शरीर को साफ करता हो तथा वैद्य की उस घर में उत्तम सम्भाषण, बैठने को आसन या कुर्सी देना इत्यादि रूप से सत्कार न होता हो तो उस रोगी के रोगकी अच्छा होने रूपी सिद्धि नहीं होती है। जिसके घर में वैद्य का सत्कार होता है वह रोगी ठीक हो जाता है। दूत तथा अन्य भावों के शुभ होने से रोगी का शुभ तथा इनके अशुभ होने से रोगी का अशुभ निश्चित ही होता है इसलिये भिषक् दूतादि की अवश्य परीक्षा करे ॥ ४९-५३ ॥

विमर्शः—सङ्करस्थानात्—सङ्कीर्णत्वेन भाण्डान्यत्रेति सङ्करो भाण्डाधारः, तत्रस्थानां भाण्डानां सञ्चरणं पतनं चरणेऽपि—आतुरस्य

गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा । अतिमात्रममत्राणि दुर्लभ तस्य जीवितम् ॥ प्रवेशे चातुरगृहात्पूर्वोक्तमाङ्गल्यनिर्गम । (अ० सं०) । प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम् । वृषब्राह्मणरत्नान्नदेवताना विनिर्गतिम् ॥ (चरक) ।

स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च ।
सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा ॥५४॥

अब यहां से मरण के सूचक तथा शुभसूचक स्वप्नों को कहते हैं जिन्हें रोगी के मित्र देखते है अथवा रोगी स्वयं देखता है ॥ ५४ ॥

विमर्शः—स्वप्नविचार —नातिप्रसुप्तः पुरुष सफलानफलानपि । इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ (चरक) ।

स्वप्नभेदाः—दृष्ट श्रुतानुभूतञ्च प्रार्थित कल्पितं तथा । भाविक दोषजञ्चैव स्वप्न सप्तविध विदुः ॥ सफलनिष्फलस्वप्नाः—तेष्वाद्या निष्फला पञ्च यथास्वप्रकृतिर्दिवा । विस्मृतो दीर्घहस्वोऽति । (वाग्भट) । दृष्ट प्रथमरात्रे य. स्वप्न· सोऽल्पफलो भवेत । न स्वपेद्य. पुनर्दृष्ट्वा स सद्य स्यान्महाफल ॥ अकल्याणमपि स्वप्न दृष्ट्वा तत्रैव य· पुन । पश्येत् सौम्य शुभाकार तस्य विद्याच्छुभ फलम् ॥ (चरक) ।

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभव्यालगर्दभैः ॥ ५५ ॥
वराहैर्महिषैर्वाऽपि यो याद्याद्दक्षिणामुखः ।
रक्ताम्बरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्द्धजा ॥ ५६ ॥
यं वा कर्षति वृद्धा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ।
अन्तावसायिभिर्यो वाऽऽकृष्यते दक्षिणामुखः ॥ ५७ ॥
परिष्वजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रव्रजितास्तथा ।
मुहुराघ्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥ ५८ ॥
पिवेन्मधु च तैलञ्च यो वा पङ्के ऽवसीदति ।
पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येत् प्रहसेत्तथा ॥ ५९ ॥
निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेच्छिरसि स्रजम् ।
यस्य वंशो नलो वाऽपि तालो वोरसि जायते ॥६०॥
यं वा मत्स्यो ग्रसेद् यो वा जननीं प्रविशेन्नरः ।
पर्वताग्रात् पतेद् यो वा श्वभ्रे वा तमसाऽऽवृते ॥६१॥
ह्रियते स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्नुयात् ।
पराजीयेत बध्येत काकाद्यैर्वाऽभिभूयते ॥ ६२ ॥
पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुषोः ।
यः पश्येद्देवतानां वा प्रकम्पमवनेस्तथा ॥ ६३ ॥
यस्य च्छर्दिर्विरेको वा दशना· प्रपतन्ति वा ।
शाल्मलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिभद्रकम् ॥ ६४ ॥
पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा योऽधिरोहति ।
कार्पासतैलपिण्याकलोहानि लवणं तिलान् ॥ ६५ ॥
लभेताश्नीत वा पक्वमन्नं यश्च पिवेत् सुराम् ।
स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥६६॥

जो पुरुष अपने शरीर में तैल का अभ्यङ्ग कर ऊष्ट्र, हिंसक पशु, गधा, वराह, भैंसा इनके द्वारा दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जावे तथा लाल कपडे पहनी हुई, काले वर्ण की, हंसती हुई, खुले केशवाली तथा नाचती हुई स्त्री जिस पुरुष को बांध कर दक्षिण दिशा की तरफ खींचती हो अथवा जो मनुष्य अन्त्यजों (शूद्रों) के द्वारा दक्षिण दिशा की तरफ खींचा जा रहा है जिस पुरुष को स्वप्न में मरे हुये मनुष्य अथवा संन्यासी आलिङ्गन करे । जो मनुष्य विकराल मुख वाले व्याघ्रादि श्वापदों से सूंघा जा रहा हो । जो मनुष्य शहद या तैल का पान करता है अथवा जो स्वप्न में कीचड़ में फंस जाता है । जोमनुष्य कीचड़ से अपने शरीर को प्रलिप्त कर नाचता है तथा हंसता है । जो वस्त्ररहित होकर शिर पर लाल रंग की माला धारण करता है । अथवा जिसकी छाती पर बांस, नल या तालवृक्ष उत्पन्न होता है, जिस मनुष्य को मच्छ निगल जाता है, जो माता केउदर में प्रविष्ट हो जाता है, जो पर्वतों के अग्रभाग से गिर जाता है या अंधेरे गड्ढे में गिर जाता है । नदी आदि के स्रोत से जो वहा लिया जाता है, जो स्वप्न में मुण्डन करा लेता है । जो हरा दिया जाता है, बांध दिया जाता है अथवा कौआ, गिद्ध आदि से जो आक्रान्त होता है । जो तारकादिकों का पतन देखता है, दीपक और नेत्र विनाश देखता है अथवा देवताओं का नाश और भूकम्प देखता है । जो स्वप्न में वमन या विरेचन करता है, जिसके दांत गिर जाते हैं । जो मनुष्य सेमल, पलाश, यज्ञस्तम्भ, वल्मीक, निम्बवृक्ष, पुष्पित हुआ कचनार और चिता इनमें से किसी पर चढता है । जो स्वप्न में कपास, तैल, खली, लौह, लवण, तिल इनको प्राप्त करता है अथवा खाता है, किंवा जो पके हुये अन्न को खाता है, जो सुरापान करता है ऐसे स्वप्न देखने वाला स्वस्थ पुरुष हो तो रोग को प्राप्त करता है तथा व्याधित हो तो मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ५५-६६ ॥

विमर्शः—अन्तावसायी—निषादस्त्री तु चाण्डालात् पुत्रमन्त्यावसायिनम् । श्मशानगोचर सूते वाह्यानामपि गर्हितम् ॥ (मनु) ।

यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतस्तथा ।
चिन्ताकृतो दिवा दृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥ ६७ ॥

अपनी वातपित्तादि प्रकृति के अनुसार देखा हुआ स्वप्न तथा जिस स्वप्न को देख कर भूल जावें, जो दूसरे स्वप्न से दबा दिया गया हो ऐसा स्वप्न तथा चिन्ता से आया हुआ स्वप्न एवं दिन में जो दृश्य देखें हों वे रात को स्वप्न में आवें अथवा दिन में सोने पर देखा हुआ स्वप्न ये फलदाई नहीं होते हैं ॥ ६७ ॥

ज्वरितानां शुना सख्यं कपिसख्यं तु शोषिणाम् ।
उन्मादे राक्षसैः प्रेतैरपस्मारे प्रवर्तनम् ॥ ६८ ॥
मेहातिसारिणां तोयपानं स्नेहस्य कुष्ठिनाम् ।
गुल्मेषु स्थावरोत्पत्तिः कोष्ठे, मूर्ध्नि शिरोरुजि ॥ ६९ ॥
शष्कुलीभक्षणं छर्द्यामध्वा श्वासपिपासयोः ।
हारिद्र भोजनं वाऽपि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः ॥
रक्तपित्ती पिवेद्यस्तु शोणितं स विनश्यति ॥ ७० ॥

ज्वरग्रस्त की कुत्ते के साथ मैत्री, शोषरोगियों की बन्दर के साथ मैत्री, उन्माद रोग में राक्षसों के साथ मैत्री, अपस्मार रोग में भूतप्रेतों के साथ मैत्री, प्रमेह तथा अतिसार के रोगियों का जल पीना, कुष्ठियों का तैलपान, गुल्मरोगों में कोष्ठ पर तथा शिरोरोग में शिर पर वृक्ष की उत्पत्ति, वमन रोग में पूडी

खाना, श्वास और तृषारोग में मार्ग में चलना, पाण्डुरोगी का हरिद्रायुक्त भोजन तथा रक्तपित्तरोगी का रक्त पान करना इन सबों से रोगी मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ ६८-७० ॥

विमर्श.—स्वाव्रणोत्पत्ति'—लना कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते। स्वप्ने गुरुमस्तमनाय कूपे विशति मानवम् ॥ (चरक)।

स्वप्नानेवविधान् दृष्ट्वा प्रातरुत्थाय यत्नवान् ॥ ७१ ॥
दद्यान्मापांस्तिलांल्लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा।
जह्यापिपे शुभान् मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा ॥७२॥
दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्नाद् ध्यात्वा पुनः शुभम्।
जपेद्वाऽन्यतमं देवं ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ७३ ॥
ना चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वप्नमशोभनम्।
देवताऽऽयतने चैव वसेन्नात्रित्रयं तथा।
विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते ॥ ७४ ॥

उक्त प्रकार के अशुभ स्वप्नों को देखने वाला मनुष्य प्रातःकाल उठकर प्रयत्नपूर्वक ब्राह्मणों को उड़द, तिल, लौह, सुवर्ण इनका दान करे तथा महामृत्युञ्जय आदि शुभ मन्त्रों का अथवा तीन व्याहृतियों वाली गायत्री का जप करे। रात्रि के प्रथम प्रहर में अशुभ स्वप्न देख कर विष्णु आदि स्वेष्ट देवता का ध्यान कर पुनः सो जावे अथवा सावधानी से ब्रह्मचर्य का पालन कर किसी एक वेदमन्त्र का या देवता के मन्त्र का जप करे। अशुभ स्वप्न देख कर किसी को कहना नहीं चाहिये। तीन दिन और रात तक देवता के मन्दिर में निवास करना चाहिये तथा प्रतिदिन ब्राह्मणों का भोजनादि द्वारा पूजन करते रहने से मनुष्य दुःस्वप्न से मुक्त हो जाता है ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम्।
देवान् द्विजान् गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥
समिद्धमग्निं विप्रांश्च निर्मलानि जलानि च।
पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ ७६ ॥
मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेता वासांसि च फलानि च।
लभन्ते धनलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ ७७ ॥
महाप्रासादसफलवृक्षवारणपर्वतान्।
आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ ७८ ॥
नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान्।
तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥ ७९ ॥
उरगो वा जलौको वा भ्रमरो वाऽपि यं दशेत्।
आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभञ्च बुद्धिमान् ॥ ८० ॥
एवंरूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद् व्याधितो नरः।
स दीर्घायुरिति ज्ञेयस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥ ८१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतस्वप्नदर्शनीयो नाम एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

अब इसके अनन्तर प्रशस्त स्वप्नों का वर्णन करते हैं। जो मनुष्य स्वप्न में देवता, द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य), गाय, बैल, अपने जीवित मित्र, राजा प्रज्वलित अग्नि, साधु, प्रसन्न (स्वच्छ) जल इन्हें देखता हो तो उसके रोग नष्ट होकर आरोग्य की प्राप्ति होती है। मांस, मछली, श्वेतमाला, स्वच्छ वस्त्र और फल इन्हें देखने से धन की प्राप्ति तथा रोग का नाश होता है। बड़े बड़े राजमहल, फल वाले वृक्ष, हाथी, पर्वत इनका स्वप्न में आरोहण करने से द्रव्य लाभ होता है तथा रोग का विनाश होता है। क्षुभित जल वाले तथा कलुषित जल वाले नदी, नद और समुद्रों का स्वप्न में तैरना कल्याण लाभ और रोग नाश के लिये होता है। जिस मनुष्य को स्वप्न में सर्प, जोंक या भ्रमर काटता है उस पुरुष को आरोग्य तथा धन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के शुभ स्वप्नों को जो रोगी मनुष्य देखता है वह दीर्घ आयु वाला है तथा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७५-८१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतस्वप्नदर्शनीयो नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—मनःपुरस्सराणि चेन्द्रियाण्यर्थसंग्रहणसमर्थानि भवन्तीति चरकोक्त्या पञ्चेन्द्रियाणां मनःपुरस्सराणां श्रोत्र-स्पर्शन-चक्षु-रसन-घ्राणानामर्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धास्तेषां विप्रतिपत्तिर्हीनातियोगेन विपरीतत्वबोधो विद्यतेऽस्मिन्निति पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिस्तम्।

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ॥ ३ ॥

जिस मनुष्य के शरीर, शील और प्रकृति इनमें सहसा विकार उत्पन्न होना यही संक्षेप से अरिष्ट है। विस्तार से आगे कहता हूं सो सुनो ॥ ३ ॥

विमर्शः—शरीरशीलप्रकृतीनां भावानां विकृतिर्विपरीत्यं यद् भवेत्तदरिष्टं मरणलक्षणमित्यर्थः। प्रकृतिः=सप्तसङ्ख्याका 'सप्त प्रकृतयो दोषाः पृथक् ससर्गेण साम्येन च भवन्ति। दोषवच्च गुणैरपि सत्त्वादिभिः सप्तप्रकृतयो भवन्ति। तथा पुनः सप्तप्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः। दृश्यन्ते हि पुरुषाणां जात्यादिनियतास्ते भावविशेषाः।' इत्यङ्गसङ्ग्रहः।

शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः।
समुद्रपुरमेघानामसम्पत्तौ च निःस्वनान् ॥ ४ ॥
तान् स्वनान्नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत्।
ग्राम्यारण्यस्वनांश्चापि विपरीतान् शृणोति च ॥ ५ ॥
द्विषच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु कुप्यति।
न शृणोति च योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य अनेक प्रकार के सिद्ध, किन्नर और गन्धर्वों के दिव्य शब्द सुनता हो तथा समुद्र, शहर और मेघ इनके शब्द

उपस्थित न होने पर भी सुनना हो अथवा समुद्र, पुर और मेलों के शब्द करने पर भी उन्हें नहीं सुनना हो अथवा अन्य ही प्रकार के शब्द सुनना हो एवं जो ग्रामवासी प्राणियों के शब्दों को जङ्गली प्राणियों के शब्द की तरह सुनता हो तथा जङ्गली प्राणियों के शब्दों को ग्रामवासी प्राणियों के शब्दों के समान सुनता हो, इसी तरह दुश्मनों के शब्दों को अच्छा समझना हो तथा मित्रों के शब्दों पर क्रोध करना हो एवं जिसकी सुनने की शक्ति अकस्मात् नष्ट हो गई हो उसे विज्ञ जन नष्टायु कहते हैं ॥ ४–६ ॥

विमर्शः—रात्र्यन्ते—रात्र्यन्तकाले हि गतायुषो नरा दिनं न गृह्णन्ति सूचयितुमीरितम् ।

यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णञ्च शीतवत् ।
सञ्जातशीतपिडको यश्च दाहेन पीड्यते ॥ ७ ॥
उष्णगात्रोऽतिमात्रञ्च यः शीतेन प्रवेपते ।
प्रहारान्नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥ ८ ॥

जो मनुष्य शीतल वस्तुओं को उष्ण भी समझता हो और उष्ण वस्तुओं को शीत के समान समझता हो एवं जिसकी देह में शीतलता की पिडकाएं हों पर वह दाह से पीड़ित होता हो। जिसका शरीर अधिक उष्ण होने पर भी शीत से कांपता हो एवं शरीराङ्ग पर लगी हुई चोट को तथा अङ्गच्छेदन को भी नहीं जानता हो उसे भी नष्टायु समझना चाहिये ॥ ७–८ ॥

पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते ।
वर्णान्यता वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥ ९ ॥

जो मनुष्य अपने शरीर को धूलि, रेत आदि से व्याप्त न होने पर भी व्याप्त मानता हो तथा जिसके शरीर के रङ्ग में परिवर्तन हो गया हो किंवा शरीर पर रेखाएं उत्पन्न हो गई हों उसे नष्टायु कहते हैं ॥ ९ ॥

स्नातानुलिप्तं यञ्चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः ।
सुगन्धिर्वाऽति योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥१०॥

जिस मनुष्य के स्नान करके चन्दन-कर्पूर आदि का शरीर पर लेपन कर देने पर भी वहां नीली मक्खियां बैठें, अथवा जिसके शरीर पर कोई लेप लगा न होने पर भी उससे सुगन्धि आने लगे, उसे गतायु समझना चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—अत्यर्थसिक्तं कामं कालपक्वस्य मक्षिका अपि स्नातानुलिप्तस्य दृश्यमानानि सर्वत्र ॥ (चरक) । सुगन्धिर्वा—चरक में इसे पुष्पित कहा है । नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् । पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ तमाहुः पुष्पितं वीरा नरं नरगणेश्वराः । न स संवत्सराद्देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ आप्लुतानाप्लुताः काये यस्य गन्धा शुभाशुभाः । व्यत्यासेनाऽनिमित्ताः स्युः स च पुष्पितमुच्यते ॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान् ।
उपयुक्ताः क्रमाद्यस्य रसा दोषाभिवृद्धये ॥ ११ ॥
यस्य दोषाग्निसाम्यञ्च कुर्युर्मिथ्योपयोजिताः ।
यो वा रसान्न संवेत्ति गतासुं तं प्रचक्षते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य खाद्यपदार्थ को सेवन करने पर उनके जो रस हों उनसे विपरीत रस का स्वाद लेता हो तथा उसके रोगहितादि क्रम से प्रयुक्त रस भी दोषों की वृद्धि करते हों एवं मिथ्याक्रम से प्रयुक्त रस दोष तथा अग्नि की समता कर देते हों और जो मनुष्य किसी भी रस को अपनी रसनेन्द्रिय द्वारा जानता नहीं हो उसे नष्टायु ही समझते हैं ॥ ११–१२ ॥

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम् ।
गृह्णीते वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः ॥
यो वा गन्धान्न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत् ॥१३॥

जो मनुष्य सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध जानता हो एवं जो गन्ध हो उससे विपरीत गन्ध को जानता हो तथा दीपक के शान्त होने पर अर्थात् प्रातः काल के समय रोग रहित हो जाय किंवा दीपक बुझाने पर उसकी गन्ध को नहीं जान सकता हो उसे गतायु कहना चाहिये ॥ १३ ॥

द्वन्द्वान्युष्णहिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा ॥
विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य कष्ट देनेवाले शीत-उष्ण द्वन्द्व को, काल की प्रवात-निर्वातादि अवस्था को, दिशाओं को तथा अन्य पदार्थों (द्रव्य-गुण-कर्मादि) को विपरीत रूप में ग्रहण करता है उसे नष्टायु कहते हैं ॥ १४ ॥

दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ॥१५॥
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम् ।
अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिद्गुणान् ॥ १६ ॥
तडित्वतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान् ।
विमानयानप्रासादैर्यश्च सङ्कुलमम्बरम् ॥ १७ ॥
यश्चानिलं मूर्त्तिमन्तमन्तरिक्षञ्च पश्यति ।
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥ १८ ॥
प्रदीप्तमिव लोकञ्च यो वा प्लुतमिवाम्भसा ।
भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥ १९ ॥
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥ २० ॥

जो मनुष्य दिन में नक्षत्रों को चमकते हुये से देखता हो, रात्रि में सूर्य को जलते या प्रकाश करते हुये तथा दिन में चन्द्रमा को प्रकाशित देखता हो एवं जो मेघरहित आकाश में भी इन्द्रधनुष तथा बिजली चमकती हुई देखता हो, जो स्वच्छ आकाश में बिजली के सहित काले मेघों को देखता हो तथा जो आकाश को विमान, रथ और राजमहलों से व्याप्त देखता हो। जो वायु को मूर्तिमान तथा आकाश को भी मूर्तिमान देखता हो। जो पृथ्वी को धूएँ, कुहरे या ओस और कपड़ों से ढकी हुई देखता हो। जो समस्त संसार को विना ग्रीष्मर्तु के भी प्रदीप्त सा देखता हो अथवा जल से संसार को डूबा हुआ सा देखता हो, जो पृथ्वी को रेखाओं से आठ खानों में विभक्त हुई सी देखता हो, जो सप्तर्षियों के तारों से युक्त अरुन्धती नक्षत्र को न देखता हो तथा ध्रुव एवं आकाश गङ्गा को भी नहीं देखता हो उसको निश्चित ही गतायु समझे ॥ १५–२० ॥

विमर्शः—चरके—'सप्तर्षीणां समीपस्था यो न पश्यत्यरुन्धतीम् । संवत्सरान्ते जन्तु स पश्यतीति महत्तमः ।' इति

ज्योत्स्नादर्शोदकतोयेषु छायां यश्च न पश्यति।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥२१॥
श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम्।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥ २२ ॥
यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य चन्द्रिका, शीशे, धूप और जल में अपनी छाया को नहीं देखता हो अथवा एक अङ्ग से रहित, विकृत किंवा दूसरे प्राणियों की सी अपनी छाया को देखे, जैसे-कुत्ते, कौए, कंक, गीध, भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, पिशाच, उरग, नाग अथवा भूत इन जैसी विकृत आकृति देखे। जो धूएं से रहित अग्नि को मोर के कण्ठ के समान नीली देखता हो ऐसे रोगी की मृत्यु होती है तथा स्वस्थ मनुष्य रोग को प्राप्त करता है॥

विमर्शः—छाया को प्रतिच्छाया (Shadow, Image) समझनी चाहिये। प्रतिबिम्बसंस्थाना व्यक्तरूपावयविनी। छाया वा सा प्रतिच्छाया। (चरक)। चक्षुष्कान्—चक्षु स्वाच्छ्यस्थाल्यौ वातकफाविह चक्षुषः। औदकेऽपि दोषवाहुल्यात् पञ्चाहः पाण्डुर्भवेत्।' इति।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां सूत्रस्थाने पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिर्नामत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातश्छायाविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर छायाविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

विमर्शः—छाया को शरीर की कान्ति या (Complexion) कहते हैं प्रभा और वर्ण दोनों के संयोग से शरीर की जो विशेषता होती है वह छाया है। अत एव तु 'छाया वर्णप्रसादजा' इति। अनयोर्भेदोऽप्यङ्गसङ्ग्रहे-'छाया वर्णप्रसादजा च तत्कृते पञ्चभूतात्मिका च। प्रभा तु वर्ण एवोक्तः विशेषाद्यत्कृते देहः प्रभावेव च।' इति। चरके—'नामसी निर्मला नीला सत्त्वेहा सत्त्वमेव च।' इत्यादिना पञ्चविधच्छाया, 'रक्ता पीता सिता श्यामा हरिता पाण्डुरासिता।' इत्यादिना सप्तविधाः प्रभा', 'वर्णाः, वर्णप्रसादाः, अव्यक्तश्च' इत्यादिना चतुर्विधा वर्णाश्च प्रदर्शिताः।

श्याव लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम्।
अभिभवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥ ३ ॥

जिस मनुष्य को काली, लाल, नीली अथवा पीली छाया आक्रान्त करती है वह निश्चय ही नष्टप्राण है॥ ३॥

विमर्श—मृत्यु समीप होने पर प्रभा तथा छाया में भी अशुभदर्शक परिवर्तन होते हैं। वर्ण प्रसन्न तथा। छाया विवर्णे यस्य सर्वोऽपि प्रेत एव सः ॥ नाऽच्छायो नाऽप्रभः कश्चिद्दृश्यश्चिरञ्जीवति हि। मृत्यु शुभाऽशुभौत्पत्तिकाले छायाः प्रभा अपि ॥ (चरक)।

ह्रीरपक्रमते यस्य प्रभाधृतिस्मृतिश्रियः।
अकस्मात्त्यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् ॥ ४ ॥

जिस पुरुष की लज्जा नष्ट हो जाती है किंवा प्रभा, धृति, स्मृति और शोभा ये जिसको सहसा प्राप्त हो जाती हों उसे निश्चय ही गतप्राण समझना चाहिये॥ ४॥

विमर्शः—धृति-निश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिः 'धृतिर्हि नियमात्मिका'। स्मृति—धृतिर्भूतार्थविज्ञानम्। अनुभवसंस्कारसंयोगविशेषात् स्मरणञ्च स्मृतिः। (वै० दर्शन) 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः' (योगसूत्र)।

यस्याधरोष्ठः पतितः क्लिन्नश्चोर्ध्वं तथोत्तरः।
उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥

जिसका नीचे का ओष्ठ गिर (लटक) गया हो तथा ऊर्ध्वोष्ठ ऊपर को चढ़ गया हो अथवा दोनों ओष्ठ जामुन के फल के समान नीले वर्ण के हो गये हों, उसका जीवित रहना दुर्लभ है॥ ५॥

आरक्ता दशना यस्य श्याव वा स्युः पतन्ति वा।
खञ्जनप्रतिभा वाऽपि तं गतायुषमादिशेत् ॥ ६ ॥

जिसके दांत लाल या काले वर्ण के हो जांय अथवा गिर जांय अथवा खञ्जन पक्षी की तरह नीलवर्ण के हो जांय, उसको भी नष्टप्राण कहना चाहिये॥ ६॥

कृष्णा स्तब्धाऽवलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै।
कर्कशा वा भवेद् यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥७॥

जिस मनुष्य की जिह्वा काली, कठोर, अवलिप्त सी, शोथयुक्त तथा कर्कश होती है वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है॥ ७॥

विमर्श—लालास्राव की अल्पता से जिह्वा शुष्क होकर उस पर मैल का एक पर्त चढ़ जाता है उसे (Coated or Plastered tongue) कहते हैं। यह स्थिति प्रायः उदर रोग तथा ज्वरादि में होती है।

कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका।
अवस्फूर्जति मन्दा वा न स जीवति मानवः ॥ ८ ॥

जिस मनुष्य की नासिका टेढ़ी, फटी हुई, शुष्क हो तथा शब्द करती हो या बैठ गई हो वह मनुष्य जीवित नहीं रहता है॥ ८॥

सङ्क्षिप्ते विषमे स्तब्धे रक्ते स्रस्ते च लोचने।
स्यातां वा प्रस्रुते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥ ९ ॥

जिस पुरुष के नेत्र संकुचित, विषम, स्तब्ध (निश्चल), आरक्त हों तथा नीचे को या बाहर को लटके हुये हों अथवा बहते हों वह मनुष्य निश्चय ही गतप्राण है॥ ९॥

केशाः सीमन्तिनो यस्य सङ्क्षिप्ते विनते भ्रुवौ ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् याति मृत्यवे १०

जिस पुरुष के सिर के वालों में सीमन्त (मांग) हो गई हो तथा भौंहें संकुचित और झुक गई हों तथा वह आंखों की पलकों के वालों को नोचता हो वह शीघ्र ही मृत्यु के अधीन हो जाता है ॥ १० ॥

नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः ।
एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणाञ्जहाति सः ॥ ११ ॥

जो मनुष्य मुख में रखे हुये अन्न को गले के नीचे नहीं उतारता हो तथा जो सिर को धारित नहीं करता हो तथा जो मूढात्मा (मोहितात्मा) एक तरफ ही विना पलक गिराये देखता हो वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ता है ॥ ११ ॥

वलवान् दुर्वलो वाऽपि सम्मोहं योऽधिगच्छति ।
उत्थाप्यमानो बहुशस्तं पक्वं भिषगादिशेत् ॥ १२ ॥

जो वलवान् अथवा दुर्वल पुरुष उठाते समय मूर्च्छित हो जाता हो उसे पक्व (मरने वाला) समझना चाहिये ॥ १२ ॥

विमर्शः—उठाते समय गिरने का कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी (Cerebral Anoemia) है जिससे उसे संमोह (Giddiness or fointing) उत्पन्न होता है। यह हृदय की दुर्वलता से होती है। ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितै । निषण्ण भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥

उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुते च यः ।
विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः ॥ १३ ॥

जो मनुष्य सदा उत्तान (सीधा, पीठ के वल) सोता है तथा पांवों को वार वार सिकोड़ता व फैलाता हो वह मनुष्य जीवित नहीं रहता है ॥ १३ ॥

शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नोच्छ्वासश्च यो भवेत् ।
काकोच्छ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ॥१४॥

जिस मनुष्य के पैर, हाथ और श्वास ये ठंढे हों तथा जो छिन्न (टूटते) सांस लेता हो अथवा जो कौए की तरह मुख खोलकर सांस लेता हो उसे धीर वैद्य वर्जित कर दे ॥१४॥

विमर्शः—मनुष्य के नासा से वापस वाहर निकलने वाली हवा गरम होकर निकलती है। शरीरादि की स्वाभाविक उष्णता जीवन का एक लक्षण है। इसका कम होना मृत्यु-सूचक है। छिन्न श्वास को Periodic breathing कहते हैं। यह हृद्रोग, Uraemia, मस्तिष्कगतरक्तस्राव या संन्यास (Apoplexy), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) और (Sun-Stroke) में होती है। इस श्वास की खोज चेन और स्टोकस नामक दो विद्वानों ने की है अतः इसका दूसरा नाम (Cheyne-Stokes respiration) भी है। इसमें कुछ काल के लिये श्वास-प्रश्वासक्रिया वंद हो जाती है, फिर धीरे २ चलने लगती है। फिर वंद हो जाती है, फिर चलती है।

निद्रा न च्छिद्यते यस्य यो वा जागर्ति सर्वदा ।
मुह्येद्वा वक्तुकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ॥ १५ ॥

जिस रोगी की नींद खुलती ही न हो अथवा जो रोगी सदा जागता ही हो अथवा जो रोगी वोलने की चाहना करने पर मूर्च्छित हो जाता हो उसे विज्ञ वैद्य त्याग दे ॥ १५ ॥

उत्तरौष्ठञ्च यो लिह्यादुत्कारांश्च करोति यः ।
प्रेतैर्वा भाषते सार्द्धं प्रेतरूपं तमादिशेत् ॥ १६ ॥

जो रोगी ऊपर के ओष्ठ को चूसता हो तथा उत्कार (डकारें) करता हो अथवा प्रेतों के साथ वात करता हो उसको प्रेतरूप (मृत) ही समझो ॥ १६ ॥

खेभ्यः सरोमकूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते ।
पुरुषस्याविषार्तस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ॥ १७ ॥

जिस मनुष्य के विष खाया हुआ न होने पर भी रोमकूपों से तथा शरीर के अन्य द्वारों से रक्त वहता हो वह शीघ्र ही जीवन को त्यागता है ॥ १७ ॥

विमर्शः—मार्गौ पुनरस्य द्वावूर्ध्वं चाधश्च तत्, ऊर्ध्वं प्रपद्यमान कर्णनासिकानेत्रास्येभ्य, अध प्रपद्यमान मूत्रपुरीषमार्गाभ्या प्रच्यवते तौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्य· खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य (चरक)। यह रक्तपित्त में रिष्ट मिलता है। यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च । वर्त्तते तामसख्येया गतिं तस्याहुरन्तिकीम् ॥ (चरक)। मसूरिका, टाइफस ज्वर, मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर (Cerebrospinal fever), प्लेग, पर्प्युरा (purpura) इन रोगों में यह अवस्था होती है।

वाताष्ठीला तु हृदये यस्योद्ध्वंमनुयायिनी ।
रुजाऽन्नविद्वेषकरी स परासुरसंशयम् ॥ १८ ॥

जिस पुरुष के हृदय के अन्दर वायु की गांठ उत्पन्न होकर ऊपर को चढ़े तथा पीड़ा और अन्न में विद्वेष करती हो वह निश्चय ही गतायु है ॥ १८ ॥

अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति नारीं तु मुखजो गुह्यजो द्वयम् ॥ १९ ॥

किसी अन्य रोगों के उपद्रवरूप में उत्पन्न न होकर स्वतन्त्रतया पावों में उत्पन्न शोथ पुरुष को मार डालता है इसी प्रकार मुख पर उत्पन्न शोथ स्त्री को मार डालता है। गुह्य स्थानों पर उत्पन्न हुआ शोथ स्त्री पुरुष दोनों को मार डालता है ॥ १९ ॥

विमर्शः—अनन्योपद्रवकृत. = नान्योपद्रवकृत इत्यर्थ, श्वासपिपासाऽऽदिशोफोपद्रवैरेव कृत इति निष्कर्ष । शोफोपद्रवा वक्ष्यन्ते—'श्वास पिपासा दौर्बल्य ज्वरश्छर्दिररोचकः । हिक्काऽतिसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि ॥' इति। पादप्रवृत्त स्वयथुर्नृणां य. प्राप्नुयान्मुखम् । स्त्रीणा वक्त्रादधो याति वस्तिजश्च न सिद्ध्यति ॥

अतिसारो ज्वरो हिक्का छर्दिः शूनाण्डमेढ्रता ।
श्वासिनः कासिनो वाऽपि यस्य तं क्षीणमादिशेत् ॥२०॥

अतिसार, ज्वर, हिक्का, वमन, अण्डग्रन्थि तथा मेढ (इन्द्रिय) में शोथ ये उपद्रव श्वास या कास रोगी के उत्पन्न होने पर उसे क्षीण समझना चाहिये ॥ २० ॥

स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का श्वासश्च मानवम् ।
बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयः ॥ २१ ॥

अधिक पसीना का आना, दाह होना तथा जोर की हिक्का

और श्वास ये उपद्रव बलवान् रोगी को भी प्राणों से वियुक्त कर देते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षि निमज्जति।
मुखञ्च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

जिस मनुष्य की जिह्वा काली हो गई हो, बायां नेत्र भीतर घुस गया हो तथा मुख में दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाय तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ २२ ॥

वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणावुभौ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः ॥ २३ ॥

यमराज के राष्ट्र (यमलोक) में जाने वाले पुरुष का मुख आंसुओं से भर जाता है तथा दोनों पावों से पसीना आता है और नेत्र व्याकुल हो जाते हैं ॥ २३ ॥

अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि गुरुकाणि वा।
यस्याकस्मात् स विज्ञेयो गन्ता वैवस्वतालयम् ॥२४॥

जिस मनुष्य के शरीर के अवयव सहसा अधिक मात्रा में हल्के हों जांय अथवा भारी हो जांय वह यमालय में जाने वाला है ॥ २४ ॥

पङ्कमत्स्यवसातैलघृतगन्धांश्च ये नराः।
मृष्टगन्धांश्च ये यान्ति गन्तारस्ते यमालयम् ॥ २५ ॥

जो मनुष्य कीचड, मछली, चरबी, तैल, घृत इनकी गन्धयुक्त या अन्य मिलित गन्धयुक्त हो जाते हों वे यमलोक को जाने वाले होते हैं ॥ २५ ॥

यूका ललाटमायान्ति बलिं नाश्नन्ति वायसाः।
येषां वाऽपि रतिर्नास्ति यातारस्ते यमालयम् ॥ २६ ॥

जिसके ललाट प्रदेश में जुंए आ जाती हैं, जिसकी दी हुई बलि को कौए भी नहीं खाते हों तथा जिनको कहीं भी आराम नहीं मिलता हो वे यमलोक को जाने वाले होते हैं ॥

ज्वरातिसारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः।
प्रक्षीणबलमांसस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥ २७ ॥

जिस पुरुष में परस्पर एक दूसरों के उपद्रव के कारण ज्वर, अतिसार और शोफ रोग उत्पन्न हो गया हो तथा रोगी का बल और मांस क्षीण हो गया हो तो उसकी चिकित्सा करना शक्य नहीं है ॥ २७ ॥

विमर्शः—अन्योन्यावसादिन —ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये। दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय कल्पते। (चरक)।

क्षीणस्य यस्य क्षुत्क्षये हृद्यैर्मिष्टैर्हितैस्तथा।
न शाम्यतोऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २८ ॥

जिस क्षीण हुए मनुष्य की क्षुधा हितकारक तथा हृद्य मिष्टान्नों से शान्त न होती हो तथा प्यास ठंढा जल पीने से भी शान्त न होती हो उसकी मृत्यु उपस्थित समझो ॥ २८ ॥

प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलञ्च दारुणम्।
पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥ २९ ॥

जिस मनुष्य के प्रवाहिका, शिरःशूल, कोष्ठशूल ये दारुण हों तथा प्यास अधिक लगे और सहसा शरीर के बल की हानि हो जाय उसकी मृत्यु उपस्थित मानो ॥ २९ ॥

विषमेणोपचारेण कर्म्मभिश्च पुराकृतैः।
अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत् ॥ ३० ॥

विषम उपचार से, पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों से तथा जीवधारियों की अनित्यता से मनुष्य का जीवन नष्ट होता है ॥

विमर्शः—अष्टाङ्गसंग्रहे मृत्यो कारणानि—मरण प्राणिना दृष्टमायु पुण्योभयक्षयात्। तयोरप्यक्षयाद् दृष्ट विषमापरिहारिणाम् ॥

प्रेता भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च।
मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्ति मानवम् ॥ ३१ ॥
तानि भेषजवीर्य्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया।
तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने छायाविप्रतिपत्तिर्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

प्रेत, भूत, पिशाच, अनेक प्रकार के राक्षस ये निकट मृत्युवाले मनुष्य के पास नित्य ही आते हैं तथा उस मनुष्य को मारने की इच्छा से ओषधियों के वीर्य (प्रभावादिक) को नष्ट कर देते हैं इसीलिये गतायु पुरुषों के लिये प्रयुक्त सब प्रकार की चिकित्सारूपी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने छायाविप्रतिपत्तिर्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर स्वभावविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

स्वभावप्रसिद्धानां शरीरैकदेशानामन्यभावित्वं मरणाय। तद्यथा—शुक्लानां कृष्णत्वं, कृष्णानां शुक्लता, रक्तानामन्यवर्णत्वं, स्थिराणां मृदुत्वं, मृदूनां स्थिरता, चलानामचलत्वम् अचलानां चलता, पृथूनां सङ्क्षिप्तत्वं, सङ्क्षिप्तानां पृथुता, दीर्घाणां ह्रस्वत्वं, ह्रस्वानां दीर्घता, अपतनधर्मिणां पतनधर्मित्वं, पतनधर्मिणामपतनधर्मत्वम्; अकस्माच्च शैत्यौष्ण्यस्नैग्ध्यरौक्ष्यप्रस्तम्भवैवर्ण्यावसादनञ्चाङ्गानाम् ॥ ३ ॥

स्वभाव से प्रसिद्ध शरीर के अवयवों का अन्यथाभाव होना मरण के लिये है। जैसे नेत्र का श्वेत भाग तथा दांत इनका काला पडना, केशादि काले अवयवों का श्वेत होना, जिह्वा, ओष्ठ आदि रक्त वर्ण के अङ्गों का वर्ण विपरीत (नीला, काला) हो जाना, अस्थ्यादि कठिन पदार्थों का मृदु होना तथा त्वचा, मांसादि मुलायम पदार्थों का कठिन होना, जिह्वा,

सन्धि आदि चल अङ्गों का अचल होना या जकड़ जाना तथा अचल अङ्गों का चल होना, पृथु (चौड़े) पदार्थों का संक्षिप्त (संकुचित) होना, जंघा, बाहु आदि लम्बे पदार्थों का छोटा होना तथा छोटे पदार्थों का लम्बा होना, अपतनधर्मी (नख केशादि) पदार्थों का गिरना तथा मूत्र, पुरीषादि पतनधर्मी पदार्थों का अवरोध होना, इसी तरह अकस्मात् ही शरीर के भिन्न अङ्गों का शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, जकडन, विवर्णता और शक्तिरहित होना ॥ ३ ॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः शरीरैकदेशानामवस्रस्तोत्क्षिप्तभ्रान्तावक्षिप्तपतितविमुक्तनिर्गतान्तर्गतगुरुलघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यङ्गप्रादुर्भावो वाऽप्यकस्मात्, सिराणाञ्च दर्शनं ललाटे, नासावंशे वा पिडकोत्पत्तिः, ललाटे प्रभातकाले स्वेदः, नेत्ररोगाद्विना वाऽश्रुप्रवृत्तिः, गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे निलयनं वा कपोतकङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीषवृद्धिरभुञ्जानानां, तत्प्रणाशो भुञ्जानानां वा, स्तनमूलहृदयोरःसु च शूलोत्पत्तयः, मध्ये शून्यत्वमन्तेषु परिम्लायित्वं विपर्ययो वा, तथाऽर्द्धाङ्गे श्वयथुः, शोषोऽङ्गपक्षयोर्वा, नष्टहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्णपुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनखशरीरेषु ॥ ४ ॥

भ्रू, पलक, ओष्ठ आदि शरीर के अङ्गों का अपने स्थानों से नीचे गिरना या ऊँचे उठ (तन) जाना, नेत्रादि का भ्रान्त होना या टेढ़ा हो जाना, सिर, ग्रीवा आदि की धारणशक्ति नष्ट होना, सन्धियों की विमुक्ति होना, जिह्वा-नेत्रादि का बाहर निकलना या भीतर को धस जाना, अङ्गों की गुरुता या लघुता होना, प्रवाल के रङ्ग का चेहरे या अन्य शरीर के भाग पर अकस्मात् व्यङ्ग उत्पन्न होना, ललाट प्रदेश में सिराओं का उभार दिखाई देना, नासा के ऊपर फुन्सियां उत्पन्न होना, प्रातः काल के समय ललाट पर पसीना आना, नेत्रों में किसी प्रकार का रोग न होने पर भी आंसुओं का निकलना, शरीर के उत्तमाङ्ग (सिर) पर गोबर के चूर्ण के समान रज का दिखाई देना अथवा सिर पर कबूतर, कङ्क और कौए आदि का बैठना, भोजन नहीं करने पर भी मूत्र और मल की वृद्धि होना तथा भोजन करते रहने पर भी मूत्र और मल का क्षीण होना, स्तनमूल, हृदय और छाती में शूल उत्पन्न होना, शरीर के मध्य भाग में शोथ उत्पन्न होना और अन्त भाग (हस्तपादादि) पर कृशता अथवा मध्यभाग में पतलापन तथा हस्तपादादि अङ्गों पर मोटापन होना, शरीर के आधे अङ्गों में शोथ उत्पन्न होना, इसी तरह शरीर के एक आध अवयव में अथवा आधे अङ्ग में शुष्कता, स्वर का नष्ट, हीन, विकलत्व और विकृत होना और दन्त, मुख, नख या शरीर के अन्य भागों पर विकृत रंग के पुष्पों का प्रादुर्भाव होना ये सब मरण के दर्शक चिह्न हैं ॥ ४ ॥

यस्य वाऽप्सु कफपुरीषरेतांसि निमज्जन्ति, यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविकृतानि रूपाण्यालोक्यन्ते, स्नेहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च दुर्बलो भक्तद्वेषातिसाराभ्यां पीड्यते, कासमानश्च तृष्णाऽभिभूतः, क्षीणश्छर्दिभक्तद्वेषयुक्तः, सफेनपूयरुधिरोद्गामी हतस्वरः शूलाभिपन्नश्च मनुष्यः, शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी स्रस्तपिण्डिकांसपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाह्णे भुक्तमपराह्णे छर्दयत्यविदग्धमतिसार्यते वा ज्वरकासाभिभूतः स श्वासान्म्रियते ॥ ५ ॥

जिस मनुष्य के कफ, विष्ठा और वीर्य जल में डूबते हों अथवा जिसके दृष्टिमण्डल में भिन्न और विकृत रूप दिखाई देते हों, जिसके केश और अङ्ग स्नेह से अभ्यक्त हुये से प्रतीत होते हों, जो दुर्बल भक्तद्वेष और अतिसार से पीड़ित हो तथा जो खांसता हुआ तृषा से पीडित हो, जो क्षीण होकर वमन और भक्तद्वेष से युक्त हो, जो व्यक्ति फेन के सहित मवाद और रुधिर का वमन करता हो तथा हतस्वर एवं भूल से युक्त हो, जो क्षीण हुआ मनुष्य हस्त, पाद और मुख पर शोथ से पीड़ित हो, अन्न में द्वेष रखता हो तथा जिसके पिण्डिलिकाएँ, कंधे, हाथ और पांव शिथिल हो गये हों एवं ज्वर और कास से आक्रान्त हो। जो व्यक्ति पूर्वाह्ण में खाये हुये भोजन का अपराह्ण में वमन कर देता हो अथवा अध पके अन्न के ही दस्त करता हो एव ज्वर और कास से पीड़ित हो कर वह श्वास से मरता है ॥ ५ ॥

बस्तवद्विलपन् यश्च भूमौ पतति स्रस्तमुष्कः, स्तब्धमेढ्रो भग्नग्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः, प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभिहन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिनत्ति, अधरोष्ठं दशति, उत्तरोष्ठं वा लेढि, आलुञ्चति वा कर्णौ केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्वैद्यांश्च द्वेष्टि, यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा, यस्योल्काऽशनिभ्यामभिहन्यते होरा वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति बकरी के बच्चे की तरह विलाप करता हुआ भूमि पर गिरता है तथा जिसके अण्डकोष गिर गये हों एवं जिसकी इन्द्रियां स्तम्भित हो गई हों, ग्रीवा भग्न हो गई हो, मूत्र नष्ट हो गया हो ऐसा मनुष्य तथा जिसका शरीर स्नान से गीला करने पर पहले हृदय प्रदेश सूखता हो तथा जो लोष्ट (ढेले) को लोष्ट से तथा काष्ट को काष्ट से मारता हो या तृण को तोडता हो, अधरोष्ठ को काटता हो या ऊपर के ओष्ठ को चाटता हो अथवा कानों और केशों का लुञ्चन करता हो तथा देवता, द्विज, गुरु, मित्र और वैद्यों से द्वेष रखता हो तथा जिसके वक्र तथा अनुवक्र ग्रह निन्दित स्थान में स्थित होकर जन्मनक्षत्र को पीड़ित करते हों या जिसका जन्म लग्न उल्का और वज्र से अभिहत हो अथवा जिसके घर, स्त्री, शयन, आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न और अन्य उपकरणों में निन्दित लक्षण और निमित्त की उत्पत्ति हो उस मनुष्य को गतायु समझना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्शः—प्रनष्टमेहन को मूत्राघात (Snppression of urine) समझना चाहिये। प्राग्विशुष्यमाणहृदय —यस्य स्नातानु-

लिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम्। आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमास न जीवति॥ अहर्गतिमेत्य —वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा। तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गति॥ होराशब्देन जन्मराशिर्जन्मनक्षत्र वा गृह्यते।

भवन्ति चात्र—

चकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते।
प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्धतायुषः॥ ७॥

जिसकी ठीक तरह से चिकित्सा करने पर भी रोग बढ़ता हो तथा शरीर का बल और मास क्षीण हो गया हो यह उसकी नष्ट आयु का लक्षण है॥ ७॥

निवर्तते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः।
न चाहारफलं यस्य दृश्यते स विनश्यति॥ ८॥

जिस मनुष्य की महाव्याधि सहसा ही निवर्तित हो जाय तथा भोजन करने का तुष्टि-पुष्टि रूप फल भी न होता हो वह विनष्ट हो जाता है॥ ८॥

विमर्शः—चरके ओषधाहारविज्ञानम्—विज्ञात बहुशः सिद्ध विधिवच्चावचारितम्। न सिद्धयत्यौषध यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम्॥ आहारमुपयुञ्जानो भिषजा रूपकल्पितम्। य फल तस्य नाप्नोति दुर्लभ तस्य जीवितम्॥

एतान्यरिष्टरूपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिषक्।
साध्यासाध्यपरीक्षायां स राज्ञः सम्मतो भवेत्॥ ९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने स्वभावविप्रतिपत्तिर्नाम द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३२॥

इन उपर्युक्त अरिष्ट लक्षणों को जो वैद्य अच्छी प्रकार जानता है वह रोगों की साध्यासाध्यता (Prognosis) की परीक्षा (निर्णय) करने में राजसंमत होता है॥ ९॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने स्वभावविप्रतिपत्तिर्नाम द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३२॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातोऽवारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'अवारणीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

विमर्शः—उपद्रवविशेषजुष्टतया न विद्यते वारण येषा तेऽवारणा-व्याधयस्तानधिकृत्य कृतोऽध्यायोऽवारणीयस्तम्।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवार्यताम्।
रसायनाद्विना वत्स! तान् शृण्वेकमना मम॥ ३॥

जो रोग उपद्रवों से युक्त होने के कारण रसायन के विना अवार्य (असाध्य) हो जाती हैं उन्हे एकचित्त होकर मेरे से सुनो॥ ३॥

विमर्शः—उपद्रव—(१) रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः। (माधव)। (२) उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसज्ञ। (चरक)। (३) य पूर्वोत्पन्न व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसज्ञ। (सुश्रुत)। उपद्रव को (Complication and sequalae) कहते हैं। रसायन से रसायन, तप, जप आदि का ग्रहण होता है। ध्रुवन्तु मरण रिष्टे ब्राह्मणैस्तत्किलामले। रसायनतपोजप्यतत्परैस्तन्निवार्यते।

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्॥ ४॥
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः।
प्राणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमीज्वरैः॥ ५॥
मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः।
वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धिमिच्छता॥ ६॥

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ ये सात तथा आठवां उदर रोग ये आठों महारोग हैं तथा स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य होते हैं। किन्तु जब ये रोग प्राण (बल) क्षय, मांसक्षय, श्वास, तृष्णा, रसरक्तादि धातु शोष, वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, हिक्का इन उपद्रवों से युक्त हो तो सिद्धि चाहनेवाला इनकी चिकित्सा विशेष कर नहीं करे॥

विमर्शः—अष्टावेते महान्तस्तु व्याधयो दुस्तरा सदा।

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम्।
नरं रुजार्त्तमन्तश्च वातव्याधिर्विनाशयेत्॥ ७॥

शोथ से युक्त, सुप्तत्वचा वाले, अस्थ्यादि भग्न, कम्प और आध्मान से पीड़ित तथा वेदना और दुःख से पीड़ित मनुष्य को वातव्याधि नष्ट कर देती है॥ ७॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव वा।
पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम्॥ ८॥

अविपाक, अरुचि आदि यथोक्त उपद्रवों से पीड़ित तथा मूत्रादि का अधिक स्राव करनेवाले एव शराविका, कच्छपिका आदि पिडिकाओं से अत्यधिक पीडित मनुष्य को प्रमेह मार डालता है॥ ८॥

विमर्शः—यथोक्तोपद्रवा यथा अष्टाङ्गसग्रहे—'अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कास सपीनस। उपद्रवा प्रजायन्ते मेहाना कफजन्मनाम्॥ वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरण ज्वर। दाहस्तृष्णाऽम्लको मूर्च्छा विड्भेद पित्तजन्मनाम्॥ वातिकानामुदावर्तकण्ठहृद्ग्रहलोलताः। शूलमुन्निद्रता शोष कास श्वासश्च जायते॥' इति।

प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गञ्च रक्तनेत्रं हतस्वरम्।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम्॥ ९॥

फटे शरीर वाले को, जिसके अङ्ग झरने या गलने लग गये हों, रक्तनेत्र, हतस्वर तथा पञ्चकर्म गुणों से भी अतिक्रान्त ऐसे मनुष्य को कुष्ठ मार डालता है॥ ९॥

विमर्शः—पञ्चकर्मगुणातीत के तीन अर्थ होते हैं। पांचवी अस्थि धातु में स्थित हुये कुष्ठ के नासाभङ्गादि गुण, इन से भी अधिक गुणवाले मनुष्य को कुष्ठ मार डालता है। अधिक गुण

जैसे नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसम्भव । भवेत् स्वरोपघातश्च गण्डिनञ्जनमाश्रिते ॥ कौष्ठ्य गतिक्षयोऽङ्गाना सभेद क्षतसर्पणम् । वस्तुतस्तु अस्थि, मज्जा और शुक्र गत कुष्ठ लक्षण वाला कुष्ठ मनुष्य को मार डालता है । जैसा कि कहा है—मेदोगत भवेत् साध्यमसाध्यमत उत्तरम् । 'पञ्चम नैव चोपक्रमेत्' अन्यच्च-चतुर्थ-कर्मगुणशाल्न याप्यमात्मवत सन्निधानवतश्च । दरहणमते तु—पञ्चम-धात्वस्थिस्थितं कुष्ठ, तत्र कर्माणि संशोधनसशमनाभ्यङ्गगुग्गुलु-शिलाजतुप्रभृतीनि, तेषा गुणाः फलानि नेत्योऽनीतम् । वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन और शोणितावसेचन इन पञ्चकर्म से भी जो रोगी ठीक न हो उसे कुष्ठ मार डालता है ।

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोफातीसारसंयुक्तमर्शोव्याधिर्विनाशयेत् ॥ १० ॥

तृष्णा, अरुचि और शूल से पीडित तथा जिसका रक्त अधिक निकल गया हो और शोफ तथा अतिसार से संयुक्त मनुष्य को अर्श मार डालता है ॥ १० ॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

वायु, मूत्र, मल, कृमि और शुक्र ये जिस मनुष्य के भगन्दर से निकलते हों उसकी चिकित्सा न करें ॥ ११ ॥

प्रशूननाभिवृषणं रुद्धमूत्रं रुगन्वितम् ।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्कराऽन्विता ॥ १२ ॥

जिस रोगी की नाभि और वृषण सूज गये हों, मूत्र रुक गया हो तथा शूल हो रहा हो ऐसे मनुष्य को अश्मरी शीघ्र ही मार डालती है तथा शर्करायुक्त सिकतामेह में उपर्युक्त लक्षण होने से रोगी को मार डालते हैं ॥ १२ ॥

गर्भकोपपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः ।
हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥ १३ ॥

गर्भकोप परासङ्ग, मक्कल्ल शूल, योनि संवरण तथा यथोक्त उपद्रव ये मूढगर्भ में होने पर स्त्री को मार डालते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—गर्भाशयस्य परोऽत्यर्थमासङ्ग. क्रियाहीनता (Uterine inertia), योनिसंवृति (Tonic spasm of uterus or tetanus uteri) यथोक्ताश्चोपद्रवा.—विपरीतेन्द्रियार्थक्षेपकयोनिशूल श्वासकासज्वरमादय ।

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीडितम् ।
विरिक्तं पूर्यमाणञ्च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥ १४ ॥

पार्श्व भङ्ग, अन्न में द्वेष, शोफ, अतिसार से पीडित तथा विरेचन की दवा देने से उदर के खाली होने पर पुनः भर जाता हो इस प्रकार के उदर रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥ १४ ॥

यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा ।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ॥ १५ ॥
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि सङ्घातशूलवान् ।
नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥ १६ ॥
हिक्काश्वासपिपासाऽऽर्त्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ।
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥ १७ ॥
आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च ।
क्षीणशोणितमांसञ्च नरं नाशयति ज्वरः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य मुहुर्मुहुः मूर्च्छित अथवा बेहोश होकर शयन करता है या पडा रहता है एवं जो बाहर से शीत से पीडित और भीतर से दाह से पीडित हो ऐसा मनुष्य ज्वर से मर जाता है । जिसके शरीर के रोंगटे खडे होते हों तथा जिसकी आंखे लाल हों एवं जिसके हृदयप्रदेश में अत्यन्त शूल होता हो तथा सदा मुख से उच्छ्वास करता हो ऐसे मनुष्य को ज्वर मार देता है । हिक्का, श्वास, पिपासा से पीडित तथा जिसका चित्त मूढ हो गया हो, नेत्र विभ्रान्त हो गये हों तथा जो निरन्तर श्वास लेता हो एवं क्षीण हो गया हो ऐसे मनुष्य को ज्वर नष्ट कर देता है जिसके नेत्र अश्रु से भर गये हों, जो अत्यन्त मोह और निद्रा से युक्त होता है तथा जिसका रक्त और मांस क्षीण हो गया हो ऐसे मनुष्य को ज्वर नष्ट कर देता है ॥ १५-१८ ॥

श्वासशूलपिपासाऽऽर्त्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥ १९ ॥

श्वास, शूल और पिपासा से पीडित, क्षीण हुये, ज्वर से पीडित तथा विशेष कर वृद्ध मनुष्य को अतिसार नष्ट कर देता है ॥ १९ ॥

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ २० ॥

जिसके नेत्र सफेद हो गये हों, जो अन्न में द्वेष रखता हो, जो ऊर्ध्वश्वास से पीडित हो एव अत्यन्त कृच्छ्रता से मूत्रत्याग करता हो । ऐसे मनुष्य को राजयक्ष्मा मार डालता है ॥ २० ॥

श्वासशूलपिपासाऽन्नविद्वेषग्रन्थिमूढताः ।
भवन्ति दुर्बलत्वञ्च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः ॥ २१ ॥

श्वास, शूल, पिपासा, अन्नविद्वेष तथा दुर्बलता ये लक्षण मृत्यु प्राप्त करनेवाले गुल्मरोगी के होते हैं ॥ २१ ॥

आध्मातं बद्धनिष्पन्दं छर्दिहिक्कातृडन्वितम् ।
रुजाश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ २२ ॥

आध्मान से युक्त, मूत्रावरोधी, वमन, हिक्का और तृषा से युक्त तथा पीडा और श्वास से युक्त रोगी को अन्तर्विद्रधि नष्ट कर देती है ॥ २२ ॥

पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः ।
पाण्डुसङ्घातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ २३ ॥

जिस मनुष्य के दन्त और नख पाण्डु रङ्ग के हो जांय तथा नेत्र भी पाण्डु हो जांय तथा जो सर्व पदार्थों को पाण्डु ही देखता हो ऐसा पाण्डु रोगी नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
रक्तानाञ्च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥ २४ ॥

जो मनुष्य बार बार खून की उलटी (कै) करता हो तथा जिसके सब नेत्र लाल हो गये हों एवं जो सब दिशाओं को लाल ही देखता हो ऐसा रक्तपित्त का रोगी नष्ट हो जाता है ॥

अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः।
जागरिष्णुरसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥ २५ ॥

जो अपना मुख नीचे को या ऊपर को रखता हो तथा जिस्का मांस और बल क्षीण हो गया हो एवं जो नींद नहीं आने से जागरण करता हो वह निश्चय ही उन्माद से मर जाता है ॥ २५ ॥

बहुशोऽपस्मरन्तन्तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ २६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽवारणीयो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

जो व्यक्ति अनेक वार अपस्मार के वेग से पीडित होता हो तथा जो क्षीण हो गया हो व जिसके भौहें चलायमान होते हों और नेत्रों में विकृति हो गई हो ऐसे मनुष्य को अपस्मार विनष्ट कर देता है ॥ २६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थानेऽवारणीयो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'युक्तसेनीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥

विमर्शः—युक्तसेनीय —युक्ता सग्रामार्थं नियुक्ता सेना यस्य स युक्तसेनो राजा तमधिकृत्य कृतोऽध्यायः।

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥ ३ ॥
विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः।
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥ ४ ॥

शत्रुओं को जीतने की इच्छा वाले तथा सेना से युक्त राजा की रक्षा वैद्य के द्वारा जैसी होनी चाहिये उसका वर्णन किया जाता है। जय की इच्छा रखने वाले अतएव युद्ध के लिये प्रयाण किया हुआ राजा मन्त्रियों सहित विशेषरूप से विष से रक्षित होना चाहिये ॥ ३-४ ॥

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा।
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रवक्ष्यते ॥ ५ ॥

शत्रु राजा के मार्ग, जल, छाया, भोजन, हाथी घोड़ों के घास तथा जलाने की लकडी, एवं कण्डे को विष से दूषित कर देते हैं अतएव वैद्य लक्षणों से उनकी दुष्टि का ज्ञान करके उनका शोधन करे। उनकी दुष्टि के लक्षण तथा चिकित्सा 'कल्पस्थान' में कही जायगी ॥ ५ ॥

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषा आगन्तवः स्मृताः ॥ ६ ॥

अथर्ववेद को जानने वाले एक सौ एक मृत्यु मानते हैं। इनमें से एक काल मृत्यु है तथा शेष सब आगन्तुक हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—कहीं कहीं इस श्लोक के बाद निम्न श्लोक है। विष्वग्वातादिभिर्यद्वद्दीपो वर्त्त्यादिसंयुत । निर्वात्यते क्षणाद्देही तथैवागन्तुमृत्युभि ॥ अकालमृत्यवो यथा—जलमग्निर्विषं शस्त्र स्त्रियो राजकुलानि च। अकालमृत्यवो ह्येते तेभ्यो बिभ्यति पण्डिताः ॥

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्तौ वैद्यपुरोहितौ ॥ ७ ॥

रसविशारद वैद्य तथा मन्त्रविशारद पुरोहित वातादि दोष, अभिघात, अभिचार, अभिशाप, अभिपङ्ग तथा विष इन आगन्तुक कारणों से जो मृत्यु होती है उससे सदा राजा की यत्नपूर्वक रक्षा करे ॥ ७ ॥

ब्रह्मा वेदाङ्गमष्टाङ्गमायुर्वेदमभाषत।
पुरोहितमते तस्माद्वर्तेत भिषगात्मवान् ॥ ८ ॥

ब्रह्मा ने वेदों के अङ्गभूत शल्य, शालाक्यादि आठ अङ्गों वाले आयुर्वेद को कहा है अतएव आत्मज्ञानी वैद्य पुरोहित मतानुसार चिकित्सादि कार्य करे ॥ ८ ॥

सङ्करः सर्ववर्णानां प्रणाशो धर्मकर्मणाम्।
प्रजानामपि चोच्छित्तिर्नृपव्यसनहेतुतः ॥ ९ ॥

राजा के व्यसनी (कुमार्गी) होने से ब्राह्मणादिक सर्व वर्णों का संकर, धर्म तथा यज्ञादि कर्मों का विनाश और प्रजा का क्षय होता है ॥ ९ ॥

विमर्शः—वर्णसंकरहेतु —व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणाञ्च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ (मनु०)। चारों वर्णों का नाश होकर वर्णरहित प्रजा होना, अनुलोम, प्रतिलोम विवाह तथा वर्णविहित कर्म का त्याग वर्णसंकर में हेतु है।

पुरुषाणां नृपाणाञ्च केवलं तुल्यमूर्त्तिता।
आज्ञा त्यागः क्षमा धैर्यं विक्रमश्चाप्यमानुषः ॥ १० ॥
तस्माद्देवमिवाभीक्ष्णं वाङ्मनःकर्मभिः शुभैः।
चिन्तयेन्नृपतिं वैद्यः श्रेयांसीच्छन् विचक्षणः ॥ ११ ॥

साधारण मनुष्य तथा राजाओं में शरीर की समानता होती है किन्तु राजाओं में आज्ञा, दानादि सत्कार्य में धन का त्याग, क्षमा, धीरज और अमानुष अर्थात् दैविक पराक्रम ये विशेष होते हैं इसलिये निरन्तर देवता की तरह शुभ वाणी, मन और कर्म से कल्याण चाहने वाला विचारशाली वैद्य राजा के शरीर-रक्षण की चिन्ता करे ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—नृपवैशिष्ट्यम्—रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभु। इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥ चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती। यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ॥ तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा। बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनु)।

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम्।
भवेत् सन्निहितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः ॥ १२ ॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशः ख्यातिसमुच्छ्रितम्।

उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः ॥ १३ ॥
स्वतन्त्रकुशलोऽन्येषु शास्त्रार्थेष्वबहिष्कृतः।
वैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विद्यपूजितः ॥ १४ ॥

बड़े स्कन्धावार (लश्कर की छावनी या Camp) में राजा के निवास के पास ही सर्व साधनों के सहित वैद्य को सुसज्जित रहना चाहिये। वहां पर पताका की तरह यश और ख्याति से विख्यात ऐसे चिकित्सक के पास विष शल्य और रोगों से पीडित मनुष्य विना मोह (शंका) के उपस्थित होते हैं। अपने तन्त्र अर्थात् वैद्यविद्या में निपुण तथा वैद्यकोपयोगी अन्य (न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष) शास्त्रों में भी आवश्यक ज्ञान रखने वाला ऐसा चिकित्सक राजाओं तथा वैद्यों से सम्मानित होकर पताका की तरह सर्वोपरि सुशोभित होता है ॥ १२-१४ ॥

विमर्शः—स्कन्धार्थं सैन्यार्थमावार.=युद्धार्थमुद्युक्ताना सैन्याना सन्निवेश'। सर्वोपकरणान्वित.—यन्त्र, शस्त्र, क्षारौषध, बन्धन, कुशा तथा सैनिक सेवा सुश्रूषा करने को स्त्रियां (Nurses) भी हों।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥ १५ ॥
गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक्।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥ १६ ॥

वैद्य, रोगी, औषध तथा परिचारक ये चिकित्सा के चार पाद हैं तथा धातु साम्यरूपी या आरोग्यरूपी कर्म की सिद्धि में कारण हैं। अपने अपने गुणों से युक्त रोगी, औषध और परिचारक इन तीन पादों से युक्त चौथा गुणवान् वैद्य बड़ी भारी व्याधि को भी थोड़े समय में ठीक कर देता है ॥ १५-१६ ॥

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥ १७ ॥
वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥ १८ ॥

वैद्य से रहित तीनों पाद गुणयुक्त होने पर भी निरर्थक हो जाते हैं जैसे यज्ञ में अध्वर्यु (उपाध्याय) के विना उद्गाता (सामवेद गायक), होता (ऋग्वेदज्ञ) और ब्रह्मा ये निरर्थक होते हैं। गुणवान् एक ही वैद्य रोगियों को रोगरूपी समुद्र से सदा पार कर देता है जैसे कि जल में फँसी हुई तथा अन्य प्रतितरों (मल्लाहों) से रहित नौका को कुशल कर्णधार तार देता है ॥ १७-१८ ॥

विमर्शः—चिकित्सापादचतुष्टयम्-भिषग् द्रव्याण्यधिष्ठाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेय विकारव्युपशान्तये ॥ वैद्यप्रधानता-विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधान भिषगत्र तु। पक्तौ हि कारण पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानला' ॥ विजेतुर्विजये भूमिश्चमू प्रहरणानि च। आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादा कारणसंज्ञिता' ॥ मृद्दण्डचक्रसूत्राद्या कुम्भकारादृते यथा। न वहन्ति गुण वैद्यादृते पादत्रय तथा ॥

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयङ्कृती।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ १९ ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारद.।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥ २० ॥

वैद्यगुण—जिसने यथार्थरूप से शास्त्र के अर्थ को पढ़ा या समझा हो, स्वयं जिसने प्रथम औषधनिर्माण तथा चिकित्सादि कर्म को देखा हो एवं फिर अपने आप रस-भस्मादि निर्माण व चिकित्सादि कार्य किया हो, जिसका हाथ लघु या हलका हो, एवं शुचि, शूरवीर, सर्व प्रकार की साधन सामग्री सज्ज (तैय्यार) रखता हो, जिसकी बुद्धि प्रत्युत्पन्न अर्थात् सद्यः उचित निर्णय देनेवाली हो, बुद्धिमान्, व्यवसाय करने वाला, सर्व क्रियाओं में विशारद (दक्ष) तथा सत्य और धर्म में तत्पर हो ऐसा मनुष्य भिषक्पाद कहा जाता है ॥ १९-२० ॥

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥२१॥

रोगिगुण—आयुष्मान्, सत्त्ववान्, साध्य, रुपये पैसे वाला, आत्मवान्, आस्तिक तथा वैद्य के कथन को मानने वाला 'व्याधितपाद' कहा जाता है ॥ २१ ॥

विमर्शः—आढ्यो रोगी भिषग्वश्य.। शापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणा स्मृता' ॥

प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ २२ ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये।
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥ २३ ॥

औषधिगुण—अच्छी भूमि में उत्पन्न हुई, अच्छे दिन में उखाड़ी हुई, योग्य मात्रा में दी हुई, मन को प्रसन्न करनेवाली गन्ध, वर्ण तथा रस से युक्त दोषनाशक, ग्लानि नहीं करने वाली, पथ्यादि विपर्यय होने पर भी अन्य विकार नहीं करने वाली, परीक्षा करके योग्य समय पर दी हुई औषध भेषजपाद कही जाती है ॥ २२-२३ ॥

स्निग्धोऽनुरक्तः शुश्रूषुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने युक्तसेनीयो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

परिचारक गुण—स्नेह में स्नेह रखने वाला, रोगी के मल-मूत्र-वमनादि करने पर निन्दा या घृणा नहीं करने वाला, बलशाली, रोगी की रक्षा में तन-मन से लगा हुआ, वैद्य के वाक्य के अनुसार रोगी की सेवा करने वाला तथा अधिक काम करने पर भी नहीं थकने वाला परिचारकपाद कहलाता है ॥

विमर्शः—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचमिति चतुष्कोऽस्य गुण. परिचरे जने ॥ (चरक)। पाश्चात्य देशों में परिचर्या करने के लिये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों (Nurses) का प्रचार अधिक है। उनमें सेवा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है तथा उनसे पुरुष का मन, हृदय आत्मा अधिक प्रफुल्लित होने से रोगनिवृत्ति में अच्छा सहारा मिलता है। वाग्भट तथा चरक के मतानुसार वैद्य, द्रव्य, परिचारक और रोगी इन प्रत्येक के चार चार गुणों को मिलाने से सोलह गुण होने से चिकित्सा को षोडशगुण या षोडशकलायुक्त मानी

है—कारण षोडशगुण सिद्धौ पादचतुष्टयम्। चतुष्पाद षोडशकल भेषजमिति भिषजो भाषन्ते॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने युक्तसेनीयो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३४॥

अथ पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथात आतुरोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'आतुरोपक्रमणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम्। सत्यायुषि व्याध्यूत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत॥ ३॥

रुग्ण की चिकित्सा शुरू करने के पूर्व वैद्य प्रथम उसकी आयु की परीक्षा करे। क्योंकि आयु के शेष होने पर ही रोग, ऋतु, अग्नि, वय, देह, बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, भेषज और देश इनकी परीक्षा करनी चाहिये॥ ३॥

विमर्शः—यह दोषादि प्रकृति के अनुसार दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु का विचार किया गया है। आयु प्रमाणज्ञानोपाया प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीना विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तै। देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुष प्रमाणमायुर्वेदे। श्लेष्मला आयुष्मन्तश्च भवन्ति, पित्तला मध्यायुषो भवन्ति, वातला अल्पायुषश्च भवन्ति। (चरक)। आयु प्रमाणज्ञानप्रयोजनम्—औषध मङ्गल मन्त्रो ह्यन्याश्च विविधा क्रिया। यस्यायुस्तस्य सिद्धयन्ति न सिद्धयन्ति गतायुष॥ (योगरत्नाकर)।

तत्र महापाणिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुं विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजङ्घामेढ्रग्रीवं गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिमनुच्चैर्बद्धस्तनमुपचितमहारोमशकर्णं पश्चान्मस्तिष्कं स्नातानुलिप्तं मूर्द्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरं पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयादीर्घायुः स्वल्वयमिति। तमेकान्तेनोपक्रमेत्। एभिर्लक्षणैर्विपरीतैरल्पायुः, मिश्रैर्मध्यमायुरिति॥ ४॥

दीर्घायुमिश्रायु लक्षण—जिस पुरुष के हाथ, पैर, पसवाड़े, पीठ, स्तनाग्र, दांत, मुख, कंधा और ललाट ये अधिक बड़े हों तथा अंगुलियां, उनके पर्व, श्वास, नेत्र और बाहु ये लम्बे हों एवं भौं, स्तनमध्यभाग तथा छाती विस्तीर्ण हो, जङ्घा, शिश्न और ग्रीवा ये छोटे हों, सत्त्व (मन या स्वभाव या सात्त्विकवृत्ति), स्वर और नाभि ये गहरे हों, जिसके स्तन न अधिक ऊँचे और न अधिक कड़े हों, जिसके कान मांसयुक्त, विस्तीर्ण और लोमयुक्त हों, जिसका मस्तिष्क या खोपड़ी पीछे से अधिक ऊँची हो, स्नान और अनुलेपन करने के पश्चात् मस्तिष्क की तरफ से जिसका शरीर सूखने लगता हो तथा बाद में हृदयप्रदेश सूखता हो ऐसे पुरुष को निश्चय ही दीर्घायु समझना चाहिये तथा उसकी चिकित्सा निःशंक होकर करनी चाहिये। उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण वाले को अल्पायु समझो तथा मिले हुये लक्षणों से मध्यमायु जानना चाहिये॥

भवन्ति चात्र—

गूढसन्धिसिरास्नायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः।
उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते॥ ५॥
गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते।
शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः॥ ६॥

दीर्घायु लक्षण—जिस मनुष्य की सन्धियां, सिरा और स्नायु ये मांस की अधिकता होने से ढके हों, अङ्ग गठीला हो, इन्द्रियां स्थिर हों एवं पैरों से शिर की तरफ उत्तरोत्तर अङ्ग सुडौल हों वह दीर्घायु कहलाता है। जो व्यक्ति गर्भ धारण से लेकर जन्म होने तथा उसके बाद से भी रोगरहित हो तथा जिसका शरीर ज्ञान और विज्ञान ये धीरे धीरे अवस्थानुसार बढ़ रहे हों वह साधारणतया दीर्घायु है॥ ५-६॥

विमर्श.—'चक्र' के अनुसार उत्तरोत्तर सुक्षेत्र का अर्थ—उत्तरोत्तरदीर्घायु. पुरुषकुलजात, क्षेत्र प्रभवस्थानमिह कुलपुरुषा.। जो बच्चे छोटी आयु में बुद्धि आदि में विलक्षण होते हैं वे अक्सर अल्पायु होते हैं यह निश्चित ही है। व्यञ्जनादिशुभा विद्या मेदोमेधादयो यशः। अल्पे वयसि यस्यैतन्न स जीवेत् कदाचन॥

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे।
अधस्तादक्ष्णयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः॥ ७॥
द्वे वा तिस्रोऽधिका वापि पादौ कर्णौ च मांसलौ।
नासाग्रमूर्ध्वञ्च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः॥
यस्य स्युस्तस्य परमायुर्भवति सप्ततिः॥ ८॥

मध्यमायु लक्षण—इसके अनन्तर मध्यम आयु का ज्ञान मेरे से जानो। जिस मनुष्य के नेत्रों के नीचे दो, तीन या अधिक लम्बी तथा साफ रेखायें दिखाई देती हों तथा पांव और कान मासल हों, नासा का अग्रभाग ऊपर की ओर उठा हुआ हो तथा पीठ पर ऊर्ध्वमुखी रेखाएं हों उसकी ज्यादा से ज्यादा सत्तर वर्ष की आयु होती है॥ ७-८॥

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे।
ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्॥ ९॥
तथोरस्यवलीढानि न च स्यात् पृष्ठमायतम्।
ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः॥१०॥
हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदृश्यते।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम्॥ ११॥

अल्पायु लक्षण—इसके अनन्तर हीनायु के लक्षण मेरे से जानो। जिस मनुष्य के अङ्गुलिपर्व छोटे तथा शिश्न दीर्घ हो एवं पर्शुकाएं छाती में अवलीढ (दबी) हों और पीठ चौड़ी न हो। जिसके कान अपने स्वभाविक स्थान से ऊंचे उठे हों तथा नासा भी कुछ ऊंची हो एवं हंसते तथा बोलते दांतों के (मसूडे) दिखाई देते हों और जो विभ्रान्त होकर (आंख घुमाते हुये) देखता हो वह मनुष्य पच्चीस वर्ष तक जीवित रहता है॥ ९-११॥

विमर्शः—विकृत छाती पंखवत् (Alar), चपटी (Flat)

की भांति (Pigeon), कुबड़ी (Reckety), वेलनाकार) आदि रूप की होती है। उक्त प्रकार की छाती वालों में राजयक्ष्मा होने की अधिक सम्भावना रहती है।

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः। तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्थिबाहुशिरसि तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति। तत्र, स्वैरङ्गुलैः पादाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ व्यङ्गुलायते। प्रदेशिन्यास्तु मध्यमाऽनामिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः। चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले। पञ्चचतुरङ्गुलायतविस्तृता पार्ष्णिः। चतुर्दशाङ्गुलायतः पादः। चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजङ्घाजानुमध्यानि। अष्टादशाङ्गुला जङ्घा, जानूपरिष्टाच्च द्वात्रिंशदङ्गुलमेवं पञ्चाशत्। जङ्घायामसमावूरू ॥ १२ ॥

शरीर प्रमाण वर्णन—आयुष्य के ज्ञान के लिये शरीर के अङ्ग और प्रत्यङ्गों के प्रमाण तथा सार इनका वर्णन करते हैं। उनमें शरीर का मध्यभाग (अन्तराधि), दो सक्थि (टाँगें), दो बाहु और शिर ये छै अङ्ग (षडङ्ग) कहलाते हैं तथा उनके अवयव प्रत्यङ्ग कहलाते हैं। उनमें अपने अङ्गुलों से पांव के अङ्गूठे और प्रदेशिनी की लम्बाई दो दो अङ्गुल होती है। प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका और अनामिका से कनिष्ठिका क्रमशः पांचवां भाग कम होती जाती है। प्रपद और पादतल चार अङ्गुल लम्बे और पांच अङ्गुल चौड़े होते हैं। एड़ी पांच अङ्गुल लम्बी और चार अङ्गुल चौड़ी होती है। पांव चौदह अङ्गुल लम्बा होता है। पांव का मध्य, गुल्फ का मध्य, जंघा का मध्य तथा घुटने का मध्य भाग चौदह अङ्गुल परिणाह के होते हैं। जङ्घा अट्ठारह अङ्गुल लम्बी होती है। जानु सन्धि से ऊपर कटिसन्धि तक का भाग बत्तीस अङ्गुल लम्बा होता है। इस तरह जंघा, जानु और ऊपर का भाग मिलकर सबकी लम्बाई पचास अङ्गुल होती है। जंघा के समान प्रमाण के ऊरु अर्थात् अट्ठारह अङ्गुल लम्बे होते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—आयाम, दैर्घ्य, लम्बाई (Length), विस्तार, व्यास, चौड़ाई (Breadh)। परिणाह—परिवर्तुलत्व, घेरा (Circumference)। पाद के तीन विभाग होते हैं। (१) प्रपद—अङ्गुल्यन्तरं पादाग्रम्। (इन्दु)। Part of the foot antarior to the arch। (२) पादतल—पादमध्य (Arch of the foot)। (३) पार्ष्णि, एड़ी, खुड्डिका भाग।

द्व्यङ्गुलानि वृषणचिबुकदशननासापुटभागकर्णमूलनयनान्तराणि। चतुरङ्गुलानि मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्ट्यन्तराणि। द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखाययमणिबन्धप्रकोष्ठस्थौल्यानि। इन्द्रवस्तिपरिणाहांसपीठकूर्परान्तरायामः षोडशाङ्गुलः। चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः। द्वात्रिंशदङ्गुलपरिमाणौ भुजौ। द्वात्रिंशत्परिणाहावूरू। मणिबन्धकूर्परान्तरं षोडशाङ्गुलम्। तलं षट्चतुरङ्गुलायामविस्तारम्। अङ्गुष्ठमूलप्रदेशिनीश्रवणापाङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चाङ्गुले। अर्द्धपञ्चाङ्गुले प्रदेशिन्यनामिके। सार्धत्र्यङ्गुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ ॥ १३ ॥

वृषण (अण्ड ग्रन्थियां), ठोडी, दांत, नासापुट, कर्णमूल और नेत्रों का मध्यभाग ये दो दो अङ्गुल के होते हैं। शिश्न, मुख, नासावंश, कर्ण, ललाट, ग्रीवा और दृष्टिमण्डल के बीच का अन्तर ये सब चार चार अङ्गुल के होते हैं। भग (योनि) विस्तार, शिश्न और नाभि का अन्तर, नाभि और हृदय का अन्तर, हृदय और ग्रीवामूल का अन्तर, दोनों स्तनों के बीच का अन्तर, ठोडी से ललाट के अन्त तक मुख की लम्बाई एवं मणिबन्ध और प्रकोष्ठ का परिणाह (गोलाई) ये प्रत्येक बारह बारह अङ्गुल के होते हैं। इन्द्रवस्ति अर्थात् जंघा के मध्य का परिणाह, स्कन्ध और कोहनी के मध्य का अन्तर ये सोलह अङ्गुल के होते हैं। कोहनी से मध्यमा अङ्गुली के अग्र तक चौबीस अङ्गुल का हस्त होता है। दोनों भुजाएं बत्तीस अङ्गुल की होती हैं। दोनों ऊरु प्रत्येक बत्तीस अङ्गुल के घेरे वाले होते हैं। मणिबन्ध से कोहनी तक की लम्बाई सोलह अङ्गुल की होती है। हथेली चार अङ्गुल चौड़ी और छ अङ्गुल लम्बी होती है। अङ्गुष्ठ के मूलभाग से तर्जनी का अन्तर, कर्ण से नेत्र के बाह्यकोण का अन्तर एवं मध्यमाङ्गुली की लम्बाई प्रत्येक पांच पांच अङ्गुल होती है। प्रदेशिनी तथा अनामिका साढे चार अङ्गुल की एवं अङ्गुष्ठ और कनिष्ठिका साढ़े तीन अङ्गुल के होते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्विंशतिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवम्। त्रिभागाङ्गुलविस्तारा नासापुटमर्य्यादा। नयनत्रिभागपरिणाहा तारका। नवमस्तारकांशो दृष्टिः। केशान्तमस्तकान्तरमेकादशाङ्गुलम्। मस्तकादवटुकेशान्तो दशाङ्गुलः। कर्णावटवन्तरं चतुर्दशाङ्गुलम्। पुरुषोरःप्रमाणविस्तीर्णा स्त्रीश्रोणिः। अष्टादशाङ्गुलविस्तीर्णमुरः। तत्प्रमाणा पुरुषस्य कटी। सविंशमङ्गुलशतं पुरुषायाम इति ॥ १४ ॥

मुख चार अङ्गुल चौड़ा तथा ग्रीवा बीस अङ्गुल चारों ओर से गोल (वर्तुल) होती है। १½ अङ्गुल नासापुट का विस्तार होता है। नेत्र के आयाम का तिहाई कृष्णमण्डल (Cornea) होता है। कृष्णमण्डल का नवमांश दृष्टिमण्डल होता है। केशों के अन्त (शंखप्रदेश) से शिरोमध्यभाग ग्यारह अङ्गुल का होता है। मस्तकमध्यभाग से ग्रीवा पश्चिमभाग का केशान्त प्रदेश दस अङ्गुल का होता है। कर्ण और अवटु का बीच का भाग चौदह अङ्गुल का होता है। मनुष्य की छाती के प्रमाणानुसार विस्तीर्ण स्त्रीश्रोणी होती है। स्त्रियों की छाती अट्ठारह अङ्गुल की होती है तथा उसके बराबर पुरुषों की कटि होती है। इस तरह पुरुष के समस्त शरीर की लम्बाई एक सौ बीस अङ्गुल की होती है ॥ १४ ॥

विमर्शः—तारका—कृष्णमण्डल (Cornea) नेत्रायामत्रिभागन्तु कृष्णमण्डलमुच्यते। दृष्टि, पुतली, (Pupil) यह आंख के परदे (Iris) का छेद है। इसे ॐ माना है। कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदा। आंख का पर्दा मांस तन्तुओं से

बना है। इसमें जो तन्तु चक्र के समान वर्तुलाकार लगे हैं उनके संकोच से पुतली छोटी होती है तथा जो तन्तु पहिये के आरे के समान लगे हैं उनके संकोच से पुतली मोटी हो जाती है। दृश्य की वस्तु की दूरता, समीपता तथा प्रकाश की तीव्रातीव्रता के अनुसार दृष्टिमण्डल के परिमाण में परिवर्तन होता रहता है। सुश्रुत पुरुष की लम्बाई १२० अङ्गुल मानता है किन्तु चरक, अष्टाङ्गसंग्रह, अष्टाङ्गहृदय तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र ने पुरुष की लम्बाई ८४ अङ्गुल ही मानी है। चक्रपाणिदत्त सुश्रुत की भानुमती टीका में सुश्रुत के अङ्गुलिमान को अल्प मानकर चरकादि के साथ होने वाले विरोध का परिहार कर दिया है। डल्हणाचार्य ने पादाग्र पर खड़े हुये और ऊपर हाथ उठाये हुए पुरुष का पादाग्र से हस्ताग्र तक का यह (१२० अङ्गुल) आयाम है। ऐसे विरोध परिहार किया है।

भवन्ति चात्र—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्य्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१५॥

पुरुष पच्चीसवें वर्ष तथा स्त्री सोलहवें वर्ष में समान वीर्य या परिपूर्ण वीर्य हो जाते हैं ऐसा कुशल वैद्य जान लेवे ॥१५॥

विमर्शः—स्त्री और पुरुष जब यौवनावस्था में प्रवेश करते हैं तब स्त्रियों में आर्त्तव और स्त्रीबीज (Ova) एवं पुरुषों में वीर्य का निर्माण प्रारम्भ होता है। साधारणतया स्त्री में १२ वर्ष की आयु तथा पुरुष में १६ वर्ष की आयु मानी है। इस समय दोनों की बीजग्रन्थियों (Testes and overy) में जो अन्तःस्राव बनता है वह रक्त के साथ मिलकर शरीर के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जाकर उन्हें प्रबल और पुष्ट बनाता है। इसके पूर्व कच्ची आयु में मैथुन तथा सन्तानोत्पत्ति करना दोनों की शरीर की वृद्धि में रुकावट डालता है तथा जायमान सन्तति जीवित नहीं रहती या निर्बल और सदा रोगी रहने वाली उत्पन्न होती है। इसके लिये १६ वर्ष की स्त्री तथा २५ वर्ष का पुरुष योग्य माना है। ऊनषोडशवर्षायामप्राप्त पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थ. स विपद्यते ॥ जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ (सुश्रुत)। सोलह वर्ष की स्त्री तथा २० वर्ष का पुरुष यह आयुमर्यादा सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से होनी ही चाहिये।

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्त्तितः।
युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना ॥१६॥
दीर्घमायुरवाप्नोति वित्तञ्च महदृच्छति।
मध्यम मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम् ॥ १७ ॥

इस तरह अपने अपने अङ्गुल प्रमाणों से यथावत् इस देह के प्रमाण का वर्णन कर दिया है। इस प्रमाण से युक्त पुरुष अथवा स्त्री दोनों दीर्घ आयु तथा सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं। मध्यम प्रमाण वाले मध्यम आयु तथा धन प्राप्त करते हैं और हीन प्रमाण वाले हीन (कम) आयु तथा अल्प धन प्राप्त करते हैं ॥ १६-१७ ॥

अथ सारान् वक्ष्यामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्य्यशौचोपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्। स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण। अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रञ्च मज्ज्ञा। महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः। स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायाससहिष्णुं मेदसा। अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितञ्च मांसेन। स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन। सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति येषां। पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति ॥ १८ ॥

अब मनुष्य के सारों का वर्णन करते हैं। स्मृति, भक्ति, प्रज्ञा, शौर्य और शौच (पवित्रता) से युक्त एवं शुभ कार्यों में प्रयत्न करने वाले व्यक्ति को सत्त्वसार जानो। स्निग्ध और गठीला शरीर वाले तथा जिसके अस्थि, दांत और नख श्वेत हों और कामशक्ति तथा प्रजा (सन्तान) अधिक हो उसे शुक्रसार जानो। दुर्बलता से रहित, उत्तम बल वाला, स्निग्ध और गम्भीर स्वर वाला, सौभाग्य लक्षणों से युक्त और बड़े नेत्रों वाला मनुष्य मज्जसार का होता है। जिसका शिर और कन्धा बड़ा हो तथा दांत, हनु, अस्थि और नख, ये दृढ हों उसे अस्थिसार जानो। जिसके मूत्र, स्वेद और स्वर में स्निग्धता हो और शरीर बड़ा हो तथा परिश्रम को सहन करने का सामर्थ्य न हो उसे मेदसार जानना चाहिये। जिसके शरीर में छिद्र न हों तथा अस्थियां और सन्धियां मांस से खूब ढकी हो और मांस बढा हुआ हो उसे माससार युक्त कहते हैं। जिस मनुष्य के नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, पाणितल और पादतल ये चिकने और ताम्र (लाल सुर्ख) हों उसे रक्तसार जानो। जिसकी त्वचा तथा रोम सुप्रसन्न और मुलायम हो वह त्वक्सार युक्त है। इन सारों में पूर्व पूर्व के सार वाले मनुष्यों को आयु तथा सौभाग्य की दृष्टि से प्रधान समझना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्शः—सर्वसारयुक्तपुरुषलक्षण चरके-तत्र सर्वैः सारैरुपेता पुरुषा भवन्त्यतिबला परमगौरवयुक्ताः क्लेशसहा; सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्यया कल्याणाभिनिवेशिन', मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च प्रायो भवन्ति।

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु ॥ १९ ॥

विशेषरूप से शरीर के अङ्ग तथा प्रत्यङ्गों के प्रमाणों और सार की परीक्षा कर के सुनिपुण वैद्य चिकित्सा कर्म में सफलता प्राप्त कर सकता है ॥ १९ ॥

व्याधिविशेषास्तु प्रागभिहिताः। सर्व एवैते त्रिविधाः-साध्या., याप्याः, प्रत्याख्येयाश्च। तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत-किमसावौपसर्गिकः, प्राक्केवलः, अन्यलक्षण इति ॥ २० ॥

व्याधियों की विशेषताओं को पहले प्रथमाध्याय में कह आये हैं। ये सर्वप्रकार की व्याधियां साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय भेद से तीन प्रकार की होती हैं। उनमें से इन की फिर तीन तरह से परीक्षा करनी चाहिये कि यह रोग औपसर्गिक है या प्राक्केवल है अथवा अन्य लक्षण वाली है ॥ २० ॥

तत्र, औपसर्गिको यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यका-

लक्षणतो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः । प्राक्केवलो यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च । अन्यलक्षणो यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूपसंज्ञः ॥ २१ ॥

उनमें से जो प्रथम उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तरकाल में उत्पन्न होता है तथा उसी के साथ मिलता है तथा प्रथम व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है वह औपसर्गिक या उपद्रवसंज्ञक व्याधि है। प्राक्केवल व्याधि वह है जो प्रथम उत्पन्न होकर पूर्वरूपसंज्ञक व्याधि नहीं होती है तथा उपद्रवस्वरूप भी नहीं होती है। अन्यलक्षण व्याधि वह है जो भविष्य में होने वाली व्याधि की सूचना देती है तथा उसी को पूर्वरूप भी कहते हैं ॥ २१ ॥

विमर्शः—औपसर्गिक व्याधि को अनुबन्ध, अप्रधान, परतन्त्र (Secondary) कहते हैं। उपद्रवस्तु खलु रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः। चरक में भी लिखा है—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसञ्ज्ञ । रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते। योऽन्यो विकार स बुधैरुपद्रव इहोदितः ॥ प्राक्केवल, प्रधानः, स्वतन्त्रः, अनुबन्ध्यः (Primary) अन्यलक्षण पूर्वरूपः, Prodrome or Premonitary Stage. डाक्टरी में रोगों के Primary या प्राक्केवल और Secondary या औपद्रविक ऐसे दो ही भेद होते हैं।

तत्र, सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, बलवन्तमुपद्रवं वा । प्राक्केवल यथास्वं प्रतिकुर्वीत । अन्यलक्षणे त्वादिव्याधौ प्रयतेत ॥ २२ ॥

उनमें उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा मूलव्याधि तथा उपद्रव में परस्पर विरोध न हो उस तरह से करनी चाहिये। अथवा बलवान् उपद्रव की चिकित्सा प्रथम करनी चाहिये। प्राक्केवल (प्रधान) व्याधि में यथादोषानुसार उसी की विशेष चिकित्सा करे। अन्यलक्षण व्याधि (पूर्वरूपावस्था) में व्याधि की प्रथमावस्था की चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २२ ॥

विमर्शः—उपद्रव दुर्बल होने पर प्रधान रोग की चिकित्सा करने से उपद्रव अपने आप ठीक हो जाता है। 'तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति' (चरक)। किन्तु उपद्रव के प्रबल होने पर मूलरोग से विरोध न करते हुए प्रथम उसी की चिकित्सा करे। 'त्वरित वा बलवन्तमुपद्रव प्रधानाविरोधेन' (अ० संग्रह) आदिव्याधिः—व्याधेरादि प्रथमावस्था । इति आदिव्याधिः। चिकित्साक्रमः—ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्। पाययेत घृत स्वच्छ ततः स लभते सुखम् ॥ विधिर्मारुतजेष्वेषु पैत्तिकेषु विरेचनम्। मृदु प्रच्छर्दन तद्वत् कफजेषु विधीयते ॥ (सुश्रुत)। पूर्वरूप विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्वविष्यताम् । या क्रिया क्रियते सा च वेदना हन्त्यनागताम् ॥ (चरक)।

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः ।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ २३ ॥

दोषों के (प्रकोप) बिना रोग उत्पन्न नहीं होता है इस लिये लक्षणादि से अनुक्त (अज्ञात) रोग की चिकित्सा दोषों के लक्षणानुसार करनी चाहिये ॥ २३ ॥

विमर्शः—आचार्यों ने होने वाले रोगों के नाम, लक्षण आदि लिखकर भविष्य में नये होने वाले रोगों के नामकरण के विना ही उनकी दोषानुसार चिकित्सा करने की व्यवस्था कर दी है। अधिकतर आज कल भी जब तक रोग का यथार्थ निदान (Diagnosis) नहीं होता है तब तक दोषविज्ञान या प्रकृतिविज्ञान (Pathology) की सहायता से आवस्थिकी या लाक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic treatment) की जाती है।

प्रागभिहिता ऋतवः ॥ २४ ॥

ऋतुओं का वर्णन पहले ऋतुचर्याध्याय में किया गया है ॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् ।
कृत्वा कुर्य्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥
अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया ।
क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति २६
या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।
सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥ २७ ॥

शीत ऋतु में शीत का प्रतिकार और उष्ण (ग्रीष्म) ऋतु में उष्णता का प्रतिकार करके प्राप्त क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिये। योग्य चिकित्सा समय का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। अप्राप्त समय में की हुई चिकित्सा तथा प्राप्त समय के पश्चात् की हुई चिकित्सा, आवश्यकता से हीन (कम) तथा अतिरिक्त (अधिक) या मिथ्या चिकित्सा साध्य रोगों में भी सफल नहीं होती है। जो बढ़े हुये दोष को शान्त करे तथा अन्य रोग को उत्पन्न नहीं करे उसी को यथार्थ क्रिया (चिकित्सा) कहते हैं किन्तु जो मूल रोग को नष्ट करने के साथ साथ अन्य रोग को उत्पन्न करे वह योग्य क्रिया नहीं है ॥ २५-२७ ॥

विमर्शः—योग्य काल के अतिरिक्त तथा न्यूनाधिक क्रिया व्यर्थ होती है। 'न ह्यतिपातितकालमप्राप्तकाल वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिक भवति । (चरक)। अप्राप्तकालोदाहरणम्—भेषज ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् । न तु सग्रहण देय पूर्वमामातिसारिणे। विवध्यमाना प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥ आमच्छेदे मासस्नायुसन्धिव्यापादनमतिमात्रशोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावो भवति । प्राप्तचिकित्सोपेक्षया हानि.—यदा पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा द्वारमलभमान. पूयः स्वाश्रयमवदार्योत्सङ्ग महान्तमवकाशनाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवति। हीनातिरिक्तौषधीदाहरणम्—सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमभिघातयेत् । तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति (चरक)। योग्यक्रिया यथा वाग्भटे—प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः । स चतुर्विधो भवति-दोषानभिपन्न एकः । विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति-विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति ॥ २८ ॥

पहले व्रण प्रश्न नामक २१ वें अध्याय में अन्न को पचाने वाली अग्नि का वर्णन किया गया है, वह चार प्रकार की होती है। वातादि दोषों से रहित एक तथा विकारयुक्त के तीन भेद होते हैं। वात से विषम, पित्त से तीक्ष्ण, कफ से मन्द तथा सर्व दोषों की समानता से चौथी समाग्नि ॥ २८ ॥

विमर्श:—यद्यपि पञ्चमहाभूतों की पांच, रसरक्तादि सात धातुओं की सात और एक जाठराग्नि ऐसे कुल अग्नि के तेरह भेद होते हैं किन्तु विशेषतया जाठराग्नि के चार भेद होते हैं। मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषम समश्चेति चतुर्विध.। कफपित्ताऽनिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनल.॥

तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः। यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा स विषमः। यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः; स एवाभिवर्द्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते। स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसन्तापान् जनयति। यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः॥

उन में से जो उपयुक्त समय पर खाये हुये अन्न को ठीक तरह से पचाती है वह सम अग्नि है तथा यह दोषों के समान मात्रा में होने से होती है। जो कभी कभी ठीक पचाती हो तथा कभी कभी अफरा, शूल, उदावर्त, अतिसार, पेट में भारीपन, आंतों में कूजन और प्रवाहण आदि विकार उत्पन्न करती हो उसे 'विषमाग्नि' कहते हैं। जो अधिक खाये हुये अन्नको भी शीघ्र पचाती हो उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं तथा वही जब अधिक बढ़ जाती है तब उसे अत्यग्नि कहते हैं एवं यह अग्नि बार बार तथा अधिक खाये हुये अन्न को अत्यन्त शीघ्र पचा देती है तथा पाक के अन्त में गले, तालु और ओष्ठ में शोष, दाह तथा सन्ताप आदि उत्पन्न करती है। जो थोडे खाये हुए अन्न को भी उदर और शिर में भारीपन तथा कास, श्वास, प्रसेक (लार टपकना), वमन और अंगों में थकावट आदि विकार उत्पन्न करके अधिक देर में पचाती है उसे मन्दाग्नि कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्श:—अत्यग्नि को भस्मकाग्नि कहते हैं। वर्धमानो भवेत्तीक्ष्णो भस्मकाख्यो महानल.। (वृन्दमाधव)। मुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादय भस्मकसङ्ज्ञकोऽभूत्। (योगरत्नाकर)। डाक्टरी में भस्मकाग्नि आमाशयिकरस की अधिकता (Hyper chlorpydria), मधुमेह, हिस्टीरिया तथा आन्त्रस्थकृमि के कारण होती है तथा भस्मकरोग को बुलिमिआ (Bulimia) अथवा पोलिफेगिआ (Polyphagia) कहते हैं।

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान् ॥३०॥

विषम अग्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्ण अग्नि पित्तजन्य रोगों को और मन्दाग्नि कफजन्य विकारों को उत्पन्न करती है॥

तत्र, समे परिरक्षणं कुर्वीत। विषमे स्निग्धाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत। तीक्ष्णे मधुरस्निग्धशीतैर्विरेकैश्च। एवमेवात्यग्नौ, विशेषेण माहिषैश्च क्षीरदधिसर्पिर्भिः। मन्दे कटुतिक्तकषायैर्वमनैश्च ॥ ३१ ॥

इनमें से समाग्नि की सर्व प्रकार से रक्षा करनी चाहिये। विषमाग्नि में स्निग्ध, अम्ल तथा लवण रस प्रधान विशेष क्रियाओं से प्रतिकार (चिकित्सा) करना चाहिये। तीक्ष्णाग्नि में मधुर, स्निग्ध और शीत खाद्यपेय तथा विरेचन से चिकित्सा करे। इसी तरह अत्यग्नि में भैंस के दुग्ध, दही और घृत से प्रतिकार करना चाहिये। मन्दाग्नि होने पर कटु, तिक्त और कषाय रस द्रव्य तथा वमन से प्रतिकार करना चाहिये ॥३१॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥ ३२ ॥

अन्न को पचाने वाली तथा भोज्य रसों का ग्रहण करने वाली और शरीर को अपने शासन में रखने वाली व ऐश्वर्ययुक्त जाठराग्नि होती है तथा उसका विशेष विवेचन करना सूक्ष्म होने से असम्भव है ॥ ३२ ॥

विमर्श:—ईश्वरः—आयुर्वर्णो बल स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽनय प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुका ॥ शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिर जीवत्यनामय.। रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥

प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः।
ध्मायते पाच्यते चापि स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितैः ३३

अपने अपने स्थानों में रहने वाले प्राण, अपान और समान इन तीन प्रकार की वायुओं से जठराग्नि दीप्त होती है जिससे अन्न का पाचन होता है ॥ ३३ ॥

विमर्श:—जठराग्नि पाचन की दृष्टि से शरीर की ईश्वर है किन्तु वह स्वय प्राण, अपान, समान इन त्रिविध वायु के अधीन होती है। डाक्टरी में भी पचन का Nervous control माना है तथा वात संस्थान की खराबी से पाचन में भी खराबी होते देखा गया है।

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। तेऽपि त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादा, अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति ॥ ३४ ॥

वय (अवस्था) तीन प्रकार की होती है। बाल्य, मध्य और वृद्ध अवस्था। सोलह वर्ष तक बालक संज्ञा मानी गई है। बालक भी तीन प्रकार के होते हैं। दुग्ध पीने वाले, दुग्ध और अन्न दोनों का सेवन करने वाले तथा केवल अन्न का सेवन करने वाले। उनमें एक वर्ष तक की आयु वाले दुग्धपायी, दो वर्ष की आयु वाले दुग्ध और अन्न उभय का सेवन करने वाले तथा दो वर्ष के बाद अन्नसेवी बालक होते हैं ॥ ३४ ॥

विमर्श:—वयः—कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते।

षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र, आविंशतेर्वृद्धि, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्य्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति ॥ ३५ ॥

सोलह वर्ष की आयु से लेकर सत्तर वर्ष की अवस्था पर्यन्त मध्य अवस्था होती है उसके भी वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और हानि ऐसे चार भेद होते हैं। उनमें बीस वर्ष की आयु तक शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के वृद्धि की अवस्था होती है तथा तीस वर्ष तक यौवन एवं चालीस वर्ष तक रस-रक्तादि सर्व धातु, इन्द्रिय, बल और वीर्य इनकी सम्पूर्णता की अवस्था तथा उसके पश्चात् सत्तर वर्ष की आयु तक कुछ २ क्षीणता होने की आयु मानी जाती है ॥ ३५ ॥

विमर्शः—चरक ने शरीर की वृद्धि तीस वर्ष की आयु तक मानी है। विवर्धमानधातुगुणमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्। डाक्टरी में शरीर की वृद्धि की मर्यादा पचीस वर्ष तक की मानी है तथा यह अस्थि वृद्धि के लिये है। मांसादि अन्य धातुओं की वृद्धि इससे अधिक आयु तक भी होती रहती है। चरक ने मध्यमवय सत्तर के बजाय साठ वर्ष की ही मानी है। 'मध्य पुन पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्' ॥

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्य्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥ ३६ ॥

वृद्धावस्था—सत्तर वर्ष के अनन्तर रसरक्तादि धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य और उत्साह ये दिन प्रतिदिन जिसके क्षीण हो रहे हों, चर्म में सलवटें (वली), पलित (बालोंका श्वेत होना) और खालित्य (बालों का गिरना = गञ्जापन) से युक्त एवं कास, श्वास आदि उपद्रवों से आक्रान्त, सर्व प्रकार की क्रियाओं में असमर्थ तथा अभिवृष्टि (मेघ वर्षण) से पुराने मकान की तरह जो गिर रहा हो ऐसे मनुष्य को वृद्ध कहते हैं ॥ ३६ ॥

विमर्शः—चरक ने साठ से सौ वर्ष तक वृद्धावस्था मानी है। अतः परं वायुधातुप्राय क्रमेण जीर्णमुच्यते वर्षशतान्तम्। भारतीय शास्त्रज्ञ तथा फ्लोरेन्स आदि पाश्चात्य विद्वान् मनुष्य की आयुमर्यादा १२५ तक की मानते हैं किन्तु इससे अधिक आयु वाले प्राचीन तथा इस समय में भी मिलते हैं।

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोऽवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः। तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत ॥ ३७ ॥

औषधि मात्रा—हीन या वृद्ध अवस्था को छोड़ कर उत्तरोत्तर वर्धमान वयोवस्थाओं में उत्तरोत्तर औषध की मात्रा भी बढती जाती है। वृद्धावस्था में आद्य (बाल) अवस्था की अपेक्षा रोगों का प्रतीकार करना चाहिये ॥ ३७ ॥

विमर्शः—औषधमात्रावृद्धेः क्रम—बालस्य प्रथमे मासि देया भेषजरत्तिका। अवलेहीकृतैवैव क्षीरक्षौद्रसिताप्लुतै। वर्धयेत्तावदेकैका यावद्भवति वत्सर.। मासैर्वृद्धिस्तदूर्ध्वं स्याद्यावत् षोडशवत्सर ॥ तत स्थिरा भवेत्तावद्यावद्वर्षाणि सप्तति. ॥ (शार्ङ्गधर)। विडङ्गफलमात्रन्तु जातमात्रस्य भेषजम्। एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धितम् ॥ कोलास्थिमात्र क्षीरादेर्दद्याद्भैषज्यकोविद । क्षीरान्नादे कोलमात्रामन्नादे दुम्बरोपमम् ॥ (विश्वामित्र)। सत्तर वर्ष के बाद औषध मात्रा धीरे धीरे कम करनी चाहिये। ततो बालकवन्मात्रा ह्रासनीया शनैः शनै.। (शार्ङ्गधर)। प्रायः वृद्ध और बालकों में कई दृष्टि से समता रहती है। Old age is Second Childhood। २० से ६० वर्ष तक की औषधमात्रा को पूर्णमात्रा (Adult dose) कहा जाता है एक वर्ष से बारह वर्ष तक Young's rule (रोगी की आयु में १२ मिला कर उससे आयु को भाग देने पर जो फल मिलता है वह पूर्णमात्रा का अंश है) के अनुसार अथवा Cowling's rule (रोगी की आयु में एक मिला कर उस सख्या को २४ से भाग देने पर जो फल मिलता है उतनी पूर्णमात्रा है) के अनुसार रोगी को देनी चाहिये। १२ से १६ वर्ष तक $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ और सोलह से बीस वर्ष तक $\frac{3}{4}$ से $\frac{4}{5}$ तक की मात्रा दी जाती है।

भवन्ति चात्र—

बाले विवर्द्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्द्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥ ३८ ॥
अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्य्यात् क्रियां शनैः ॥३९॥

बाल्यावस्था में कफ बढता है तथा मध्यमावस्था में पित्त बढता है और वृद्धावस्था में वायु अधिक बढती है अत एव इन दोषादिकों का तथा वय का विचार कर भेषज की कल्पना करनी चाहिये। अग्निकर्म, क्षारकर्म और विरेचनकर्म बालक और वृद्धों के लिये वर्जित है किन्तु बालक और वृद्धों के रोग अग्नि, क्षार, विरेककर्म से ही साध्य हो तो मृदु ओषधियों के प्रयोग से वह कर्म करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

विमर्श.—मृद्वी क्रिया—बकरी की मीगणी आदि मृदुद्रव्यसंश्रित अग्नि, मृदुक्षार तथा गुलाब के पुष्प, मुनक्का अमलतास के गुद्दे आदि मृदु द्रव्यों का विरेचन देना चाहिये।

देहः स्थूलः कृशो मध्य इति प्रागुपदिष्टः ॥ ४० ॥

स्थूल, कृश और मध्य ऐसे देह के तीन भेद पंद्रहवें अध्याय में कह आये हैं ॥ ४० ॥

कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ।
रक्षणञ्चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥ ४१ ॥

सर्वदा स्थूल देह का कर्षण, कृश देह का बृहण और मध्य देह का संरक्षण निरन्तर करते रहना चाहिये ॥ ४१ ॥

बलमभिहितगुणं, दौर्बल्यञ्च स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम्। यस्माद्बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद्बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥ ४२ ॥

बल के गुणों का वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में हो चुका है। दौर्बल्य का विचार स्वभाव, वातादि दोष तथा वृद्धावस्था आदि से करना चाहिये। चिकित्सा की सर्व क्रियाओं की प्रवृत्ति बलवान् रोगी के लिये ही लाभदायिनी हो सकती है अतः चिकित्सा के अधिकरणों (आधारों) में रोगी का बल ही प्रधान है ॥ ४२ ॥

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः।
तस्मात् स्थिरत्वव्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥ ४३ ॥

कुछ दुर्बल मनुष्य भी बलवान् होते हैं तथा स्थूल आदमी अल्प बल वाले होते है इसलिये देह की स्थिरता (दृढत्व) और व्यायाम से वैद्य बल की तर्कणा (अनुभव) करे ॥ ४३ ॥

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियाऽऽदिस्थानेष्वविक्लवकरम् ॥

सत्त्वगुण व्यसन और अभ्युदय तथा छेद्य-भेद्यादि शस्त्रकर्म के समय मनुष्य को विक्लवित (दुःखी) नहीं होने देता है ॥

विमर्शः—दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह । वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥ ४५ ॥

सत्त्वगुण वाला मनुष्य स्वयं आत्मबल से आत्मा या मन को दृढ कर के शारीरिक तथा मानसिक सर्व प्रकार के दुःखों को सहन करता है। रजोगुणी मनुष्य दूसरों से सहारा मिलने पर दुःखों को सहन करता है किन्तु तामसी मनुष्य किसी तरह से भी दुःख को सहन नहीं कर सकता है ॥ ४५ ॥

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥ ४६ ॥

सात्म्य भाव वे हैं जो देश, काल, जाति, ऋतु, रोग, व्यायाम, जल, दिवाशयन आदि प्रकृति विरुद्ध होने पर भी बाधा पहुचाने वाले नहीं होते हैं ॥ ४६ ॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः ।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥४७॥

जो सेवन किया हुआ मधुर-लवणादि रस, व्यायाम अथवा अन्य पदार्थ जिस के लिये सुखकारी होता है उसे 'सात्म्य' कहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्शः—सात्म्यम्-सह आत्मना भवतीति सात्म्यम् । सात्म्य नाम तत् यदात्मन्युपशेते । सात्म्य नाम तत् यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते । (चरक) । सात्म्यभेद—जातिसात्म्य-सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि । ऋतुसात्म्य स्वस्थवृत्तोक्तम् ऋतुसात्म्यम् । देशसात्म्य-देशानामामयाना च विपरीतगुण गुणै । सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टित चाथमेव च ॥ (चरक) । रोगसात्म्यम्—उपशयो हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिश्चौषधाहारविहारै सुखानुबन्ध । स हि व्याधिसात्म्यसज्ञ । (अ० सं०) । व्यायामसात्म्य—शरीरमन.सुखकरचेष्टा । उदकसात्म्यम् , निद्रासात्म्य—निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा । न तेषा स्वपता दोषो जाग्रताञ्चोपजायते ॥

प्रकृतिं भेषजं चोपरिष्टाद्व्याख्यामः ॥ ४८ ॥

शारीर स्थान के चतुर्थ अध्याय में प्रकृति और सूत्रस्थान के अन्तिम अध्याय में भेषज का वर्णन किया गया है ॥ ४८ ॥

देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति । तत्र, बहूदकनिम्नोन्नतनदीपर्वतवृक्षो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः ॥ ४९ ॥

भूमिभेद—आनूप, जाङ्गल और साधारण ऐसे कर के देश तीन तरह का होता है। उनमें से जहां जल अधिक वर्षता हो या भरा रहता हो या भूमि में खोदने पर पास ही निकलता हो, पृथ्वी अधिक नीची और ऊंची हो, नदी नाले अधिक हों, वर्षा अधिक होती हो, पवन कोमल और शीतल चलता हो, पर्वत और वृक्ष ये अधिक संख्या में तथा बड़े बड़े हों, जहां अधिक सख्य पुरुष और स्त्री कोमल अंग वाले, सुकुमार और हृष्ट पुष्ट शरीर वाले हों और जहां कफ तथा वायु के रोग अधिक होते हों उसे 'आनूपदेश' कहते हैं ॥

आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः । उभयदेशलक्षणः साधारण इति ॥ ५० ॥

जो देश आकाश की तरह ऊंचाई तथा नीचाई से रहित हो कर सम हो, जहां अत्यन्त विरल, छोटे और कांटेदार वृक्ष हों, पानी कम बरसता हो तथा झरने, कूप, बावड़ी आदि में भी पानी कम हो एवं गरम और तेज हवा चलती हो, जहां छोटे छोटे पहाड़ किसी किसी जगह स्थित हों, जहां के मनुष्य अधिकतर दृढ और कृश शरीर वाले हों एवं जहां वायु तथा पित्त के रोग अधिक होते हों उसे 'जाङ्गल देश' कहते हैं। जहां दोनों के लक्षण मिलते हों उसे 'साधारण देश' कहते हैं ॥५०॥

भवन्ति चात्र ।

समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्ममारुताः ।
दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥ ५१ ॥

क्योंकि जहां शीत, वर्षा, गरमी और हवा ये समान रहते हों तथा मनुष्यों के वातादि दोष भी समानावस्था में रहते हों उसे उस कारण से 'समान देश' माना है ॥ ५१ ॥

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः ।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः ॥५२॥
उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम् ।
आहारस्वप्नचेष्टाऽऽदौ तद्देशस्य गुणे सति ॥ ५३ ॥

अपने देश में इकट्ठे हुये दोष अन्य देश में कुपित होनेपर उतने बलवान् नहीं होते हैं जैसे कि जल में रहने वाले जीव स्थल (पृथ्वी) पर बलवान् नहीं होते हैं। आहार, निद्रा और व्यायामादि चेष्टा आदि में उचित रूप से आचरण करने वाले मनुष्य के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोगादिभय नहीं रहता है ॥ ५२-५३ ॥

विमर्श.—ये श्लोक जल-वायुचिकित्सा (Climatic treatment) का वर्णन करते हैं। दोष अन्य स्थान में कुपित होने से अधिक बलवान् नहीं होते हैं जैसे नक्र अपने स्थान (जल) में रह कर हाथी को भी खींच लेता है किन्तु स्थल पर आने से कुत्ते से भी डर जाता है। नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति। स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ आनूपोचित. कफः अन्यस्मिन् विरुद्धगुणदेशे यथा जाङ्गलदेशे कुपित कफो बलवान् न भवति। चिकित्सा की सुकरता या रोगसाध्यता के लिये भी काल, देशादि रोग के समान गुणधर्मी नहीं होना श्रेष्ठ माना है। न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः। (चरक)। देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः। (सुश्रुत)। अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृति पादसम्पदि। (वाग्भट)।

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः ।
सम्पत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥ ५४ ॥

केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात् कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः॥

साध्यासाध्यता—देश, प्रकृति, सात्म्य और ऋतु के विपरीत तथा चिरकाल से नहीं उत्पन्न हुआ (नवीन) एवं भिषक्, औषध आदि की सुसम्पत्ति तथा बल, सत्त्व और आयु से भी समृद्ध केवल (उपद्रवरहित), समान देह और पाचकाग्नि वाले रोगी का रोग अतीव 'सुखसाध्य' होता है किन्तु इन लक्षणों से विपरीत लक्षण वाला रोग 'असाध्य' होता है और मिश्रित लक्षणों वाला रोग 'कृच्छ्र साध्य' होता है॥ ५४–५५॥

विमर्शः—देशविपरीत–जाङ्गल देश में कफरोग, प्रकृति विपरीत–पित्त प्रकृति के मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति, सात्म्यविपरीत–कटुसात्म्य मनुष्य में कफरोग, ऋतु विपरीत–शरद् ऋतु में वातरोग, एवं दूष्य विपरीत रोग 'सुखसाध्य' होते हैं। कहीं कहीं तुल्य दूष्यादिक सुखसाध्यता के जनक होते हैं–ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्व प्रमेहे तुल्यदूष्यता। नवीन रोग भी सुखसाध्य होते हैं किन्तु रक्तगुल्म पुराना होने पर ही सुखसाध्य होता है—रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यस्य लक्षणम्। आयु.सम्पत्तौ–यस्यायुस्तस्य सिद्ध्यन्ति न सिद्ध्यन्ति गतायुषि। समदेहे–सममासप्रमाणस्तु समसहननो नरः। दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते॥ क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसहः। समपक्ता समजरः सममासचयो मतः॥ (चरक)

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो हितः॥ ५६॥

एकक्रिया (वमन, विरेचनादि में से कोई एक अथवा रस-भस्म-घृत-तैलासव-अवलेहादि चिकित्सा में से एक) के द्वारा गुणलाभ (रोग नाश) न होने पर उस क्रिया के वेग के शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया करनी चाहिये किन्तु दोनों क्रियाओं का सहप्रयोग कर साङ्कर्य उत्पन्न करना ठीक नहीं है॥ ५६॥

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि॥ ५७॥

क्रिया के परिवर्तन करने से भी यदि रोग ठीक होने रूपी गुण का लाभ प्रतीत नहीं हो तथा रोग भी अत्यन्त कृच्छ्र साध्य हो और उसमें पूर्व क्रिया शास्त्र और अनुभव प्रमाणों से हितकारी ज्ञात होती हो तो उसी को ही कुछदिन तक प्रारम्भ करनी चाहिये॥ ५७॥

विमर्श—प्रायः सगे सम्बन्धियों के बहकाने से एवं रोग के पुराना होने से २–४ दिन औषध लेने पर लाभ नहीं दीखने से लोग औषधपरिवर्तन में उतावलापन करते हैं इस लिये कम से कम ऐसे रोगों में एक औषध का प्रभाव सात दिन तक अवश्य देखना चाहिये। 'यस्या अपि फल न दृश्यते साऽपि सप्तरात्र प्रतिकर्तव्या।' (डल्हण)

य एवमेनं विधिमेकरूपं
बिभर्त्ति कालादिवशेन धीमान्।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौघान्
छिनत्ति भैषज्यपरश्वधेन॥ ५८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आतुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥

जो बुद्धिमान चिकित्सक ऋत्वग्निसात्म्यादि का ठीक विचार करके उक्त प्रकार की मुख्य विधि को चिकित्सा करते समय शास्त्रानुसार व्यवहार में लाता है वह मृत्यु के पाश (फन्दे) तुल्य ससार के रोगसमूहों को भैषज्यरूपी कुठार से नष्ट कर देता है॥ ५८॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने आतुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'मिश्रक' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १–२॥

मालुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रदारुमहौषधम्।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफजित्॥ ३॥
दूर्वा च नलमूलञ्च मधुकं चन्दनं तथा।
शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत्॥ ४॥
आगन्तुजे रक्तजे च ह्येष एव विधिः स्मृतः।
विधिर्विषघ्नो विषजे पित्तघ्नोऽपि हितस्तथा॥ ५॥
अजगन्धाऽश्वगन्धा च काला सरलया सह।
एकैषिकाऽजशृङ्गी च प्रलेपः श्लेष्मशोफहृत्॥ ६॥
एते वर्गास्त्रयो लोध्रं पथ्या पिण्डीतकानि च।
अनन्ता चेति लेपोऽयं सन्निपातकशोफहृत्॥ ७॥

बिजोरा निम्बू, अरणी, देवदारु, सोंठ, अहिंस्रा, रास्ना इनका प्रलेप 'वातिक शोफ' को नष्ट करता है। दूर्वा, नरसल की जड़, मुलेठी, लालचन्दन तथा अन्य शीतलगण की ओषधियों का लेप 'पैत्तिक शोफ' को नष्ट करता है। 'आगन्तुकशोफ' तथा 'रक्तदुष्टिजन्य शोफ' में भी यही विधि कही गई है। 'विषजन्य शोफ' में विष को नष्ट करने वाली ओषधियों का लेप तथा पित्तनाशक विधि हितकारक होती है। जङ्गली अजवायन, असगन्ध, मजीठ, लाल निशोथ, सफेद निशोथ, अजशृङ्गी (काकडासिंगी या मेढासिङ्गी) इनका लेप 'कफजन्य शोफ' को नष्ट करता है। ये उपर्युक्त तीनों दोषों के लिये प्रयुक्त हुये तीनों वर्गों के द्रव्य तथा पठानी लोध, हरड, मदनफल और अनन्तमूल (सालसा) इनका लेप 'सान्निपातिक शोफ' को नष्ट करता है॥ ३–७॥

विमर्शः—कषायलेपयो प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्। शीतल गण से काकोल्यादि, उत्पलादि और न्यग्रोधादिगण समझें।

स्निग्धाम्ललवणो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः।
पित्ते, चोष्णः कफे क्षारमूत्राढ्यस्तत्प्रशान्तये॥ ८॥

वातिक शोथ में स्निग्ध, अम्ल और लवण युक्त तथा कुछ कुछ गरम लेप लगाना चाहिये। पैत्तिक शोफ में दुग्ध के साथ पीसा हुआ तथा शीत लेप लगाना चाहिये। कफजन्य शोथ में क्षार और गोमूत्र युक्त गरम लेप लगाना चाहिये ॥८॥

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः।
शक्तवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥ ९ ॥

पाचन—शण, मूली और सहजने के बीज, तिल, सरसों, सत्तू, सुराबीज, अलसी तथा अन्य उष्ण पदार्थों का व्रण शोफ में पाचन करता है ॥ ९ ॥

विमर्शः—सक्तु—यवतण्डुलला जादिचूर्णे सक्तु प्रकीर्तितः।

चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः।
कपोतगृध्रकङ्काणां पुरीषाणि च दारणम्।
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम ॥ १० ॥

दारण—बड़ा करञ्ज, भिलावा, दन्ती की जड, चित्रक की छाल, कनेर की जड, कबूतर, गीध और कंक इनकी बीट, इन्हें पीस कर लेप करने से शोथ का दारण होता है अथवा मुष्कक-कुटज-पलाशादि क्षारद्रव्य या केवल क्षार ये अत्यन्त दारण करने वाले हैं ॥ १० ॥

द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मलानि प्रपीडनम्
यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः ॥ ११ ॥

पीडन—पिच्छिल द्रव्यों की छाल या जड और जौ, गेहूँ तथा उडदी इनका चूर्ण ये समास (संक्षेप) से व्रणों के पीडन द्रव्य हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—सेमल, लिसोडा, वैर, नागबला ये पिच्छिल द्रव्य हैं। पीडन द्रव्यों को पीस कर व्रणशोथ पर लेप करने पर जब वह सूखता है तब खिंचाव उत्पन्न होने से पूय बाहर निकलता है। पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यै समन्तात् परिपीटयेत्॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेह पीडनम्प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोष प्रसिच्यते॥

शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥ १२ ॥

'शोधन कषाय'—द्रव्यों में शंखिनी, अंकोठ, मालती, कनेर, सूर्यमुखी तथा आरग्वधादि गण की ओषधियां प्रमुख है॥

विमर्शः—कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, अवचूर्णन और धूपन ऐसे आठ प्रकार से व्रणों का शोधन करते हैं।

अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया।
पूतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥ १३ ॥
कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला।
कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा ॥ १४ ॥
संशोधनीनां वर्त्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत् ॥
एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥ १५ ॥

अजगन्धा, काकडासिङ्गी, इन्द्रवारुणी, कलिहारी, बडा करञ्ज, चित्रक की छाल, पाठा, वायविडंग, बड़ी इलायची, हरेणुका, सोंठ, मरिच, पिप्पली, यवक्षार, सैन्धव सामुद्रादि पांचो लवण, मैनसिल, कासीस, निशोथ, दन्ती, हरताल, फिठकरी, ये 'संशोधन' करने वाली वर्ति के द्रव्य हैं तथा इन्ही द्रव्यों से ही शोधन के लिये कल्क बनाना चाहिये ॥ १३-१५॥

कासीसकटुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिद्रयोः।
पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्यात्तैलघृतानि वै ॥ १६ ॥

कासीस, कुटकी, चमेली की जड और हलदी इनके क्वाथ और कल्क से तैल और घृत पकाकर शोधन के लिये प्रयुक्त करें॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानपि।
जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम्॥
पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि कुर्य्यात् संशोधनं घृतम् ॥१७॥

आक की जड़, त्रिफला, थूहर का दुग्ध, मुष्कक, पलाश आदि श्रेष्ठ क्षार, चमेली की जड़, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, कासीस, कुटकी, एवं पूर्व के श्लोक में कहे हुये अजगन्धादि द्रव्य लेकर कल्क बना के यथाविधि संशोधन घृत सिद्ध कर लेना चाहिये॥

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥ १८ ॥
बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला।
शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१९॥

अपामार्ग, अमलतास, निम्ब की छाल, कडवी तरोई, तिल, बडी कण्टकारी, छोटी कण्टकारी, हरताल, मैनसिल तथा अन्य शोधनवर्ति के द्रव्यों का कल्क बना कर यथाविधि शोधन तैल सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये।
शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वीत शोधनम् ॥ २० ॥

कासीस, सैन्धव लवण, सुराबीज, वचा, हरिद्रा और दारुहरिद्रा तथा अन्य शोधन द्रव्यों को लेकर खांड कूट के शोधन चूर्ण बना लेवें ॥ २० ॥

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च।
रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥ २१ ॥

रसक्रिया शालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधक द्रव्य लेकर व्रणशोधनार्थ रसक्रिया करनी चाहिये ॥ २१ ॥

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणी।
सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥ २२ ॥

धूपनद्रव्य—श्रीवेष्टक, राल, सरल के पेड की छाल, देवदारु तथा अन्य सालसारादि गण की ओषधियों का चूर्ण बना कर उससे 'व्रणधूपन' करना चाहिये ॥ २२ ॥

कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वक्षु साधितम्।
श्रृतं शीतं कषायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥ २३ ॥

रोपण द्रव्य—शीतवीर्य तथा कसैले वृक्षों की छाल से सिद्ध किया हुआ क्वाथ अथवा शीत कषाय व्रणरोपण के लिये श्रेष्ठ है॥

शीतकषायः—द्रव्यादापोथितात्तोये तत्पुनर्निशि सस्थितात्।
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृत ॥

सोमामृताऽश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा।
क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥ २४ ॥

सोम, गिलोय, असगन्ध, काकोल्यादि गण की ओषधियां और वट, पीपल आदि क्षीरीवृक्षों की जटा के प्ररोह (अङ्कुर) इनके कल्क से लिप्त कर रुई या गाज की बनाई हुई बत्तियां व्रण में रखने से उसका रोपण करती हैं ॥ २४ ॥

विमर्श—क्षीरिणो वृक्षाः—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसञ्ज्ञिता । पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः ।
काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२५॥

मजीठ अथवा लज्जालु, सोम, सरलकाष्ठ, श्वेतखदिर, लाल चन्दन और 'काकोल्यादि गण' की ओषधियों का कल्क व्रण-रोपण के लिये श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

पृथक्पर्ण्यात्मगुप्ता च हरिद्रे मालती सिता ।
काकोल्यादिश्च योज्यः स्यात् भिषजा रोपणे घृते ॥२६॥

पृश्निपर्णी, कौंच के बीज, हलदी, दारुहलदी, चमेली, मिश्री तथा 'काकोल्यादिगण' की ओषधियों के द्रव्य रोपण घृत सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त करे ॥ २६ ॥

कालानुसार्व्यागुरुणी हरिद्रे देवदारु च ।
प्रियङ्गवश्च रोध्रश्च तैले योज्यानि रोपणे ॥ २७ ॥

तगर, अगुरु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, देवदारु, फूलप्रियङ्गु, पठानी लोध इन द्रव्यों को रोपण तैल सिद्ध करने में प्रयुक्त करें।

कङ्गुका त्रिफला रोध्रं कासीसं श्रवणाह्वया ।
धवाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपणं चूर्णमिष्यते ॥ २८ ॥
प्रियङ्गुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव च ।
त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते ॥ २९ ॥

कङ्गुधान्य, त्रिफला, पठानी लोध, कासीस, गोरखमुण्डी, धव तथा राल वृक्ष की छाल इनका चूर्ण व्रणरोपण करता है। प्रियङ्गु, राल, पुष्पकासीस, धववृक्ष की छाल इनका चूर्ण व्रण रोपण के लिये श्रेष्ठ है ॥ २८-२९ ॥

त्वक्षु न्यग्रोधवर्गस्य त्रिफलायास्तथैव च ।
रसक्रियां रोपणार्थे विदधीत यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

'न्यग्रोधादिगण' के वृक्षों की छाल तथा त्रिफला इनसे 'द्विव्रणीयोक्त विधि' के अनुसार व्रणरोपणार्थ 'रसक्रिया' करनी चाहिये।

अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला ।
उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः ॥ ३१ ॥

उत्सादन द्रव्य—आंधी झाडा, असगन्ध, मुसली, ब्राह्मी अथवा सूर्यभक्ता तथा काकोल्यादि गण की ओषधियों के द्रव्य व्रण के उत्सादन के लिये उत्तम हैं ॥ ३१ ॥

कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला ।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ॥ ३२ ॥
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ।
व्रणेपूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ॥ ३३ ॥

कासीस, सैन्धव लवण, सुराबीज, पद्मराग, मैनसिल, मुर्गी के अण्डे की छाल (कवच), चमेली के पुष्पों की कलियां, शिरीष और करञ्ज के फल तथा हरतालादि अन्य धातुओं के चूर्ण उत्सन्न (अतिवृद्ध) मांसाङ्कुर वाले व्रणों के अवसादन (नष्ट) करने के लिये 'उत्सादन विधि' में श्रेष्ठ हैं ॥ ३२-३३ ॥

समस्त वर्गमर्द्धं वा यथालाभमथापि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥ ३४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने मिश्रकाध्यायो नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् वैद्य व्रण के विस्रापनादि कर्म के लिये यथोद्दिष्ट समस्त वर्ग की ओषधियाँ या अर्ध ओषध जो भी प्राप्त हो सके उनका प्रयोग करे ॥ ३४ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां मिश्रकाध्यायो नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो भूमिप्रविभागीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'भूमिप्रविभागीय नामक' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने श्रुसुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्श—वर्षागीतोष्णादि महाभूतकार्य की दृष्टि से तथा महाभूत गुणदृष्टि से भूमि की परीक्षा करते हैं जिससे ओषधियों के गुणधर्म, इनकी उत्तमता, हीनता तथा रोगिपरिज्ञान में सहायता होती है। 'तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा' (चरक)

श्वभ्रशर्कराऽश्मविषमवल्मीकश्मशानाघातनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनुपरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृदुं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधार्थं परीक्षेत ॥ ३ ॥

श्वभ्र (खड्डे, बिल), कंकड, पत्थर, निम्नोन्नता, वल्मीक, श्मशान, फांसी देने का स्थान, देवता का स्थान तथा बालू से रहित हो, ऊपर (नोनिया या क्षारयुक्त) न हो, भङ्गुर (फटने वाली) न हो, जिसमें खोदने पर जल ज्यादा दूर (नीचे) न हो, चिकनी हो, दूर्वा, घास आदि उगता रहता हो, जो मुलायम, स्थिर और समतल हो, जो काले, सफेद और रक्तवर्ण की हो उसकी ओषधि को उखाडने के लिये परीक्षा करनी चाहिये

तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसम्बाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यावौषधमाददीतेत्येष भूमिपरीक्षाविशेषः सामान्य ॥४॥

उपर्युक्त लक्षणों वाली भूमि में उत्पन्न हुई औषध भी कृमि के द्वारा नहीं खाई गई हो, विष, शस्त्र, धूप, वायु, अग्नि, जल तथा अन्य बाधाओं से और रास्ते में होने से नष्ट नहीं हुई हो, तथा उत्तम एक रस से युक्त हो, पुष्ट हो, जिसकी जड़ भूमि में गहराई तक गई हुई हो ऐसी औषध को उत्तर की ओर बैठ कर ग्रहण करे। यह साधारणतया औषध और भूमि की विशेष परीक्षा है ॥ ४ ॥

विशेषतस्तु तत्र, अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्याप्राया स्वगुणभूयिष्ठा। स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धसस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽम्बुगुणभूयिष्ठा। नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रवि-

रलाल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहा अग्निगुणभूयिष्ठा। रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुरूक्षकोटराल्परसवृक्षप्राया अनिलगुणभूयिष्ठा। मृद्वी समा स्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥ ५ ॥

विशेषरूप से जो पत्थर वाली, स्थिर, भारी, श्याम अथवा काले रंग की एवं बड़े बड़े पेड़ तथा घास वाली भूमि अपने पार्थिव गुणों से युक्त होती है। जो चिकनी, ठंढी, थोड़ी गहराई पर खोदने से जल वाली तथा जिसमें मुलायम धान्य और घास पैदा होता हो प्रायः कोमल वृक्ष हों और श्वेत वर्ण की मिट्टी हो वह जल के शीतस्निग्धादि प्रचुर गुणों से युक्त होती है। एवं जो अनेक वर्ण की छोटे छोटे पत्थरों वाली, कहीं कहीं छोटे छोटे सफेद रङ्ग के वृक्ष और तृणाङ्कुरों से युक्त हो वह भूमि आग्नेय तत्त्व प्रधान वाली होती है। जो रूक्ष हो, भस्म अथवा गदहे के समान धूसर वर्ण की हो, जिसमें छोटे छोटे और रूक्ष तथा कोटरयुक्त और अल्प रस वाले वृक्षों की बहुलता हो वह वायुगुण प्रधान भूमि होती है। जो मुलायम, समतल, बिल (गड्ढे) युक्त हो तथा जहां रस और जल अल्प होने से प्रकट नहीं होता हो जहां चारों ओर सारहीन बड़े २ वृक्ष हों एवं जहां बड़े २ पर्वत हों और जिसकी मिट्टी श्याम हो वह भूमि आकाशगुण प्रधान होती है ॥ ५ ॥

अत्र केचिदाहुराचार्य्याः—प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्क्षीरसारफलान्यादद्दीतेति। तत्तु न सम्यक्, सौम्यान्नेयत्वाज्जगतः। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते। एतेन रोषं व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

अनेक आचार्यों का कथन है कि प्रावृट् (वर्षा के आदि काल) में वनस्पतियों या ओषधियों की जड़, वर्षा ऋतु में पत्र, शरद् ऋतु में छाल, हेमन्त ऋतु में दुग्ध, वसन्त ऋतु में सार और ग्रीष्म ऋतु में फलों का ग्रहण (सञ्चय) करना चाहिये किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि जगत् सौम्य (जलीय या कफ तत्त्व प्रधान) तथा आग्नेय (अग्नि या पित्त तत्त्व प्रधान) होता है इस लिये सौम्य (शीतवीर्य अथवा जल या कफ गुण प्रधान) ओषधियों को सौम्य (दक्षिणायन सूर्य होने पर) ऋतुओं में तथा अग्नि गुण प्रधान (उष्णवीर्य) ओषधियों को आग्नेय (उत्तरायण सूर्य होने पर) ऋतुओं में ग्रहण करनी चाहिये। इस प्रकार सञ्चय करने से ओषधियां अविकृत गुणोंवाली होती हैं। सौम्य ओषधियों को सौम्य ऋतुओं में ग्रहण की जाय तथा सौम्य भूमि में वे उत्पन्न हुई हों तो वे अत्यन्त मधुर रस वाली, स्निग्ध तथा अतीव शीतवीर्य प्रधान होती हैं। इसी प्रकार आग्नेय ओषधियों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्यादद्दीत; अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि। उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि। आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि। एवं बलवत्तराणि भवन्ति ॥ ७ ॥

✓पृथिवी और जलगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई विरेचक ओषधियों को ग्रहण करना चाहिये। अग्नि, आकाश तथा वायु गुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई वामक ओषधियों का सञ्चय करना चाहिये। उभय गुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई उभय गुण अर्थात् वमन और विरेचन कर्म करने वाली ओषधियों का सञ्चय करना चाहिये। आकाश गुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई संशमन करने वाली ओषधियों का सञ्चय करना चाहिये। इस प्रकार की भूमि से और उचित उक्त समय में सञ्चित की हुई ओषधियां अपने अपने गुणों में अधिक बलवती होती हैं ॥ ७ ॥

सर्वाण्येव चाभिनवान्यन्यत्र मधुघृतगुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः ॥ ८ ॥

✓ सर्व प्रकार के औषध द्रव्य नूतन ही ग्रहण करने चाहिये किन्तु शहद, घृत, गुड, पिप्पली और वायविडङ्ग इन्हें सदा पुराने होने पर ग्रहण करें ॥ ८ ॥

विडङ्गं पिप्पली क्षौद्रं सर्पिश्चाप्यनवं हितम्।
शेषमन्यत्त्वभिनवं गृह्णीयाद्दोषवर्जितम् ॥ ९ ॥

इस विषय में कहा भी है—कि विडङ्ग, पिप्पली, शहद और घृत ये पुराने हितकारी होते हैं किन्तु अन्य द्रव्यों को दोषों से रहित तथा नवीन रूप में ही ग्रहण करे ॥ ९ ॥

विमर्शः—निम्न द्रव्य सदा ताजे या गीले ही ग्रहण करें। गुडूची कुटजो वासा कूष्माण्डश्च शतावरी। अश्वगन्धा सहचरी शङ्खपुष्पी प्रसारिणी ॥ प्रयोक्तव्या सदैवार्द्रा (शार्ङ्गधर)। निम्न द्रव्य सदा गीले तथा योगोक्त प्रमाण में ही ग्रहण करें अर्थात् आर्द्रद्रव्य सदा द्विगुण गृहीत होते हैं किन्तु इन्हें द्विगुण न लें—वासानिम्बपटोलकेतकबलाकूष्माण्डकेन्दीवरी, वर्षाभूकुटजाश्च कन्दसहिताः सा पूतिगन्धामृता। पेन्द्री नागबलाकुरण्टकटुकः क्षत्रामृता सर्वदा, सार्द्रा एव तु न क्वचिद्द्विगुणिता कार्येषु योज्या बुधैः ॥ (भावप्र०)। घनियां, घी पुराना श्रेष्ठ होता है—नवान्येव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिलकर्मसु। विना विडङ्गकृष्णाभ्यां गुडधान्याज्यनागरैः ॥ (शार्ङ्गधर)। पुरानत्वादि.—नवनैः शर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः। एकसंवत्सरे वृत्ते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥ बृंहणार्थं शहद नूतन श्रेष्ठ होता है—बृंहणीयं नवं नव नातिश्लेष्महरं सरम्। निम्नरोगेषु नवं घृतम्—योनिवेदनमेवाद्यं भोज्ये नव्ये श्रमे। वल्लक्षये पाण्डुरोगे ज्ञानलानेत्ररोगयोः ॥ (भावप्र०)। ओषधियों के गुणहीन होने की अवधिः—गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपनामवत्। मासद्वयात्तथा चूर्णं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् ॥ हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरात् परम्। हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाच्छिवात्तथा ॥ (शार्ङ्गधर)।

सर्वाण्येव सक्षीराणि वीर्य्यवन्ति, तेषामसम्पत्तावनतिक्रान्तसंवत्सराण्यादद्दीतेति ॥ १० ॥

क्षीरयुक्त अथवा रसयुक्त होने पर ही सर्व ओषधियां वीर्यवती होती हैं। उनके सम्पत् (गुण) युक्त न होने पर या न मिलने पर एक वर्ष के भीतर की ग्रहण करनी चाहिये ॥

भवन्ति चात्र—

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।
मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥ ११ ॥

इस विषय में कहा भी है कि गो, भैंस और बकरी चराने वाले, जङ्गल में रहने वाले तपस्वी, हरिणादि का शिकार करने वाले तथा कन्द, मूल, फल खाकर जङ्गल में रहने वाले एवं अन्य भी जो वनवासी हों उनसे औषध (जडी, बूटी) का ज्ञान होता है ॥ ११ ॥

विमर्शः—ओषधियों के केवल नाम और स्वरूप मात्र जानने से काम नहीं चलता है किन्तु उनका रोगों में प्रयोग कैसे होता है यह जानना भी अत्यावश्यक है जैसा कि चरक ने कहा है—ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने। न नामज्ञानमात्रेण रूपमात्रेण वा पुनः ॥ ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति। योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते ॥

सर्वावयवसाध्येषु पलाशलवणादिषु।
व्यवस्थितो न कालोऽस्ति तत्र सर्वो विधीयते ॥१२॥

वनस्पतियों के मूल, पत्र, फल आदि सर्व अवयवों से बनाये हुये जो पलाशादिक चार हैं उनके ग्रहण का (सञ्चय करने का) कोई खास व्यवस्थित समय नहीं है। उनके ग्रहण में सर्व समय उपयुक्त है ॥ १२ ॥

गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते।
तस्माद् भूमिस्वभावेन बीजिनः षड्रसायुताः ॥१३॥
अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः।
रस एव स चाव्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद्भवेत् ॥ १४ ॥

गन्ध, वर्ण और मधुरादि षड्रसों से युक्त भूमि भी छ प्रकार की होती है इस लिये भूमि के स्वभाव के कारण वृक्ष भी छ रसों से युक्त होते हैं। जल अव्यक्त रस वाला होता है यह अनेक निश्चयों (प्रमाणों) से निश्चित है तथा वही जल का अव्यक्त रस भूमि के रस से व्यक्त (स्पष्ट) हो जाता है ॥

सर्वलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणा स्मृता।
द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥ १५ ॥

पूर्व में कहे हुये सर्व लक्षणों से युक्त भूमि को साधारण भूमि कहते हैं। जो द्रव्य जैसी भूमि में उत्पन्न होते हैं उन द्रव्यों के गुण विशेषकर उसी भूमि के गुणों के अनुसार होते हैं॥

विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत् ॥ १६ ॥

साधारणतया जो द्रव्य विकृत गन्ध से युक्त न हों तथा जिसके मधुरादि रसों में भी विकार उत्पन्न न हुआ हो वह द्रव्य चाहे नया हो अथवा पुराना हो उसे ग्राह्य ही समझना चाहिये ॥ १६ ॥

जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्।
क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत् ॥ १७ ॥

युवावस्था वाले जङ्गम पशु-पक्षियों का रक्त, रोम और नख आदि ग्रहण करने चाहिये तथा उनके आहार के जीर्ण हो जाने पर दुग्ध, मूत्र और मल औषधार्थ ग्रहण करना चाहिये ॥

विमर्शः—क्षीरादिग्रहे अष्टादसग्रह.-क्षीरं वाप्यथ ग्राह्य विण्मूत्र तच्च नोल्बजान्। वयोबलवता धातुपिच्छश्मश्रुखुरादिकम् ॥

प्लोतमृद्भाण्डफलकशङ्कुविन्यस्तभेषजम्।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ॥ १८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने भूमिप्रविभागीयो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

प्लोत (वस्त्र के खण्ड), मिट्टी के पात्र, काठ के तख्त और खूटियों पर ओषधियां रखी हों तथा पवित्र और प्रशस्त स्थान में भेषजागार (ओषधि शाला) बनवाना चाहिये ॥१८॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने भूमिप्रविभागीयो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यसङ्ग्रहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर द्रव्यसंग्रहणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

समासेन सप्तत्रिंशद् द्रव्यगणा भवन्ति ॥ ३ ॥

संक्षेप से द्रव्यों के सैंतीस गण होते हैं जैसे कि आगे कहते है ॥ ३ ॥

(१) तद्यथा—विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभौ चेति ॥ ४ ॥

विदारीगन्धादिगण में निम्न ओषधियां हैं जैसे—विदारीगन्धा (शालपर्णी), विदारी (भूमिकूष्माण्ड), विश्वदेवा (नागबला या गंगेरन), सहदेवा (पीले फूलों की बला), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), पृथक्पर्णी (पिठवन), शतावर, अनन्तमूल (सालसा), कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), बडी कटेरी, छोटी कटेरी, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपादी (हंसराज), विच्छियाघास, ऋषभी (कौंच के बीज) ॥ ४ ॥

विमर्शः—जीवकर्षभकाभावे गुडूचीवशलोचने। भावमिश्र ने इन दोनों के अभाव में विदारीकन्द लेना लिखा है।

विदारिगन्धाऽऽदिरयं गणः पित्तानिलापहः।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः ॥ ५ ॥

यह उपर्युक्त विदारिगन्धादि गण पित्त और वात को नष्ट करता है तथा राजयक्ष्मा, गुल्म, अङ्गमर्द, ऊर्ध्वश्वास और कास को नष्ट करता है ॥ ५ ॥

(२) आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासी-कुरुण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गेष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुपर्वी चेति ॥ ६ ॥

आरग्वधादिगण में निम्न ओषधियां हैं। अमलतास, मैनफल, गोपघोण्टा (कर्कोटी या सुपारी), कण्टकी (विकङ्कत), कूडा, पाठा, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव, सतवन, निम्ब, कुरुण्टक (सफेद फूलों की झिण्टी,) दासी कुरण्टक (नीले फूलों की झिण्टी, पियावासा), गिलोय, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजङ्घा), नाटा और पूतीकरञ्ज, पटोल, चिरायता, करेला ॥ ६ ॥

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः।
मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः ॥ ७ ॥

यह आरग्वधादिगण कफ और विष को नष्ट करता है तथा प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, वमन और कण्डू का नाशक तथा व्रणों का शोधक है ॥ ७ ॥

(३) वरुणार्त्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थमैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयश्चेति ॥ ८ ॥

वरुणादिगण में निम्न ओषधियां हैं। जैसे-वरुण, आर्त्तगल (नीले फूल का पियावासा), सहजना, लाल सहजना, तर्कारी (जयन्ती), मेढाशिङ्गी, पूतीकरञ्ज, नक्तमाल (करञ्ज), मूर्वा या अक्कोल, अरणी, दोनों प्रकार के कुरण्टक, बिम्बी (कुन्दरू), वसुक (वकपुष्प या आक), वसिर (अपामार्ग या गजपीपल), चित्रक, शतावरी, बिल्व, काकडासिङ्गी, कुश, छोटे और बडे फलों वाली कटेरी ॥ ८ ॥

वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारणः।
विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ॥ ९ ॥

उपर्युक्त वरुणादिगण की ओषधियां कफ और मेद को नष्ट करती हैं तथा शिरःशूल, गुल्म और आभ्यन्तरिक विद्रधि की नाशक है ॥ ९ ॥

(४) वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटवसुकवसिरभल्लूककुरण्टकेन्दीवरकपोतवल्काः श्वदंष्ट्रा चेति ॥ १० ॥

वीरतर्वादिगण में निम्न ओषधियां हैं जैसे-वीरतरु (अर्जुन), दोनों प्रकार के सहचर (पीत-नीलपुष्पवाली पियावासा), कुशा, धंदारु, गुन्द्रा, नरसल, कुश, काश, पाषाणभेद, अरणी, मोरट (मूर्वा), वसुक (वकपुष्प), वसिर (अपामार्ग), भल्लूक (श्योनाक), कुरण्टक (पीले फूल का पियावासा), नील कमल, कपोतवङ्का (ब्राह्मी), गोखरू ॥ १० ॥

वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत्।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः ॥ ११ ॥

यह वीरतर्वादि गण वायु के विकार को नष्ट करता है तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात की पीडा को शान्त करता है ॥ ११ ॥

(५) सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गीतिनिशचन्दनकुचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतीकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकञ्चेति ॥ १२ ॥

'सालसारादिगण' में निम्न ओषधियां हैं जैसे सालवृक्ष, अजकर्ण, खैर, कदर (श्वेत या पूति खैर), कालस्कन्ध (तिन्दुकवृक्ष या तमाल), सुपारी का वृक्ष, भोजपत्र, मेढासिङ्गी, तिनिश (सादन), सिरस, असन, धव, अर्जुन, ताड वृक्ष, शाक (सागौन), नक्तमाल (करञ्ज), पूतिकरञ्ज, अश्वकर्ण (साल वृक्षभेद), अगर, कालीयक (पीत चन्दन) ॥ १२ ॥

सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः।
मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥ १३ ॥

यह 'सालसारादिगण' कुष्ठ को नष्ट करता है तथा प्रमेह और पाण्डुरोग को नष्ट करता है एवं कफ और मेदो धातु का शोषक है ॥ १३ ॥

विमर्शः—कालीयक तु कालीय पीताभ हरिचन्दनम् ॥

(६) रोध्रसाररोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफल्गीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली चेति १४

रोध्रादिगण में निम्न ओषधियां हैं जैसे-लोध, पठानी लोध, ढाक, कुटन्नट (श्योनाक), अशोक, फल्गी (भारङ्गी), कायफल, एलवालुक (नालुका या हरिवालुलक), शल्लकी, जिङ्गण, कदम्ब, साल, और कदली ॥ १४ ॥

एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदःकफहरो गणः।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥ १५ ॥

यह रोध्रादि गण मेद और कफ को नष्ट करता है तथा योनि दोषों का नाशक, अतिसारादि रोगों में मलादि का स्तम्भक, व्रण में हितकारी और विष का नाशक है ॥ १५ ॥

(७) अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्चेति ॥ १६ ॥

'अर्कादिगण' में निम्न ओषधियां होती हैं जैसे आक, अलर्क (सफेद आक), दोनों प्रकार के करञ्ज, नागदन्ती (जमालगोटा), अपामार्ग, भारगी, रास्ना, इन्द्रपुष्पी (लांगली), क्षुद्रश्वेता (सेफन्द, अतीस या विदारीकन्द), महाश्वेता (नीलपुष्प सेफन्द, वन्ध्याककोंटी, श्वेतापराजिता), वृश्चिकाली (मेढासिङ्गी भेद), अलवणा (ज्योतिष्मती) और तापस वृक्ष (इङ्गुदी) ॥ १६ ॥

अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥ १७ ॥

यह 'अर्कादिगण' कफ, मेद और विषों को नष्ट करता है तथा कृमि और कुष्ठ का शामक और विशेषकर व्रणों का शोधक है ॥ १७ ॥

(८) सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकासमर्दत्वकखरपुष्पाविडङ्गकट्फल-

सुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति ॥ १८ ॥

सुरसादिगण' में निम्न ओषधियां होती हैं जैसे—सुरसा (कृष्ण तुलसी), श्वेत तुलसी, फणिज्झक (मरुवक), अर्जक (वर्वरिका), भूस्तृण (रोहिस घास), सुगन्धक (द्रोणपुष्पी), सुमुख (राजिका), कालमालिका (कृष्णार्जक), कसौंदी, त्वक (नकछिंकनी), खरपुष्पा (वनवर्वरिका), वायविडङ्ग, कायफल, सुरसी (कपित्थपत्रा तुलसी या श्वेत निर्गुण्डी), निर्गुण्डी (नीलपुष्पा सम्भालू), कुलाहल (मुण्डिका), उन्दुरुकर्णिका (मूसाकानी), फञ्जी (भारङ्गी) प्राचीवल (काकजंघा), मकोय और विषमुष्टि (राजनिम्ब, वड़ी अल स्नुषा, ककोंटी या कुचला इनमें से कोई एक) ॥ १८ ॥

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥ १९ ॥

यह 'सुरसादिगण' कफ का नाशक, कृमियों का नाशक तथा प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास और कास को नष्ट करता है एवं व्रणों का शोधक है ॥ १९ ॥

(९) मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृत्तकशिशपावञ्जवृत्तास्त्रिफला चेति ॥ २० ॥

'मुष्कादिगण' में मोखा, ढाक, धव, चित्रक, मदन, वृत्तक (कूडा), सीसम, थूहर, हरड, बहेडा, आंवला होते हैं ॥

मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत् ।
मेहार्शःपाण्डुरोगघ्नः शर्करानाशनः परः ॥ २१ ॥

यह 'मुष्ककादिगण' बढ़ी हुई चरबी तथा शुक्र दोषों को नष्ट करता है। इसी तरह प्रमेह, ववासीर, पाण्डुरोग और मूत्रशर्करा (पथरी) का नाशक है ॥ २१ ॥

(१०) पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसाऽतिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥ २२ ॥

'पिप्पल्यादिगण' में पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, कालीमरिच, गजपीपल, हरेणुका, छोटी इलायची, अजमोद, इन्द्रयव, पाठा, जीरा, सरसों, वकायन का फल, हींग, भारंगी, मूर्वा, अतीस, वचा, वायविडङ्ग और कुटकी ये हैं ॥२२॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः ।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥ २३ ॥

यह 'पिप्पल्यादिगण' कफहर्ता तथा प्रतिश्याय, वातविकार, अरुचि इन्हें नष्ट करता है तथा अग्नि का दीपक है, गुल्म और शूल का नाशक है एवं आमदोषों का पाचक है ॥ २३ ॥

(११) एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकभीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरञ्चेति ॥ २४ ॥

'एलादिगण' में छोटी इलायची, तगर, कूठ, जटामांसी, ध्यामक (रोहिसतृण), दालचीनी, पत्र (तमालपत्र या तेजपत्र), नागकेशर, प्रियङ्गु, हरेणुका, व्याघ्रनख, शुक्ति (नखीभेद), चण्डा (चोरक), स्थौणेयक (थुनेर), श्रीवेष्टक, चोच (दालचीनी भेद), चोरक (ग्रन्थिपर्ण), वालुक (खश), गूगल, सर्जरस (राल), तुरुष्क (शिलारस), कुन्दुरु (लोभान), अगुरु, स्पृक्का (सुगन्धित द्रव्य), उशीर (खस), देवदारु, केशर, पुन्नागकेशर (पद्मकेशर) ये द्रव्य हैं॥२४॥

एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः ॥ २५ ॥

यह 'एलादिगण' वात, कफ और विष को नष्ट करता है तथा शरीर के वर्ण को निर्मल करता है एवं कण्डू, पिडका और कोठ को नष्ट करता है ॥ २५ ॥

(१२) वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरञ्चेति ॥ २६ ॥

'वचादिगण' में वचा, नागरमोथा, अतीस, हरड, देवदारु और नागकेशर ये द्रव्य हैं ॥ २६ ॥

(१३) हरिद्रा दारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ॥ २७ ॥

इसी तरह 'हरिद्रादि गण' में हल्दी, दारुहल्दी, कलशी (पृश्निपर्णी), इन्द्रयव और मुलेठी ये द्रव्य हैं ॥ २७ ॥

एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ ।
आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ॥ २८ ॥

ये उपर्युक्त 'वचादिगण' तथा 'हरिद्रादिगण' दुष्ट स्तन्य (दुग्ध) के शोधक, आमातिसार के शामक और विशेष कर आम दोषों के पाचक हैं ॥ २८ ॥

(१४) श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लकरम्यकवकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति ॥२९॥

'श्यामादिगण' में काली निशोथ, महाश्यामा (विधारा), लाल निशोथ, दन्ती, शङ्खिनी (कालमेघ या कालादाना), तिल्वक (लोध्र), कवीला, रम्यक (वकायन), सुपारी, पुत्रश्रेणी (दन्तीभेद), गवाक्षी (इन्द्रायण), अमलतास, नाटा और पूति करञ्ज, गियोय, सातला, छगलान्त्री (वृद्धदारुक भेद), सेहुण्ड, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी, चोक, कंकुष्ठ, उशारे रेवन) ये ओषधियां हैं ॥ २९ ॥

उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः ।
आनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः ॥ ३० ॥

उपर्युक्त यह 'श्यामादिगण' गुल्म और विष को नष्ट करता है तथा आध्मान और उदर रोग में मल का भेदन करता है एवं उदावर्तनाशक है ॥ ३० ॥

(१५) बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकञ्चेति ॥ ३१ ॥

'बृहत्यादिगण' में बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रयव, पाठा और मुलेठी ये द्रव्य हैं ॥ ३१ ॥

पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापहः।
कफारोचकहृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः॥ ३२॥

यह 'बृहत्यादिगण' पाचनीय, पित्त और वात का नाशक एवं कफ, अरुचि, हृदयरोग और मूत्रकृच्छ्र की पीडा को नष्ट करता है॥ ३२॥

(१६) पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति॥ ३३॥

'पटोलादिगण' में पटोल, श्वेत चन्दन, लालचन्दन, मूर्वा, गिलोय, पाठा तथा कुटकी ये द्रव्य हैं॥ ३३॥

पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः।
ज्वरोपशमनो व्रण्यश्छर्दिकण्डूविषापहः॥ ३४॥

यह 'पटोलादिगण' पित्त, कफ और अरुचि को नष्ट करता है, ज्वर का शामक है, व्रण के लिये शोधनादि दृष्टि से हितकारी है और वमन, कण्डू तथा विष को नष्ट करता है॥ ३४॥

(१७) काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहार्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्द्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकञ्चेति ३५

'काकोल्यादिगण' में काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, काकड़ासिंङ्गी, वंशलोचन, पद्मकाठ, प्रपौण्डरीक (श्वेत कमल), ऋद्धि, वृद्धि, द्राक्षा, जीवन्ती और मुलेठी ये हैं॥ ३५॥

काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा॥ ३६॥

यह 'काकोल्यादिगण' पित्त, रक्त और वायु का नाशक, जीवनीय, बृंहणीय, वृष्य है तथा दुग्ध और क्षीण हुये कफ को बढ़ाता है॥ ३६॥

विमर्श—इस गण में अष्टवर्ग की ओषधियों का वर्णन है उनके न मिलने पर निम्न औषध लेना लिखा है। ऋद्धयभावे बला ग्राह्या वृद्ध्यभावे महाबला। मेदाभावे चाश्वगन्धा महामेदे तु शारिवा॥ जीवकर्षभकाभावे गुडूचीवंशलोचने। काकोलीयुगलाभावे निक्षिपेच्च शतावरीम्॥ अष्टवर्गाप्राप्तौ भावप्रकाशमतम्—मेदाजीवककाकोलीवृद्धिद्वन्द्वेऽपि चासति। वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत्॥

(१८) ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसहयहिङ्गूनि तुल्यकञ्चेति॥ ३७॥

'ऊषकादिगण' में ऊषक (क्षारमृत्तिका), सेन्धानमक, शिलाजीत, कासीस और पुष्पकासीस, हींग तथा नील थोथा ये द्रव्य हैं॥ ३७॥

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः॥ ३८॥

यह 'ऊषकादिगण' कफ को नष्ट करता है। मेदो वृद्धि को शोषित करता है तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और गुल्म को नष्ट करता है॥ ३८॥

(१९) सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरञ्चेति॥ ३९॥

'सारिवादिगण' में सारिवा (अनन्तमूल), मुलेठी, चन्दन, लालचन्दन, पद्माख, खंभारी का फल, महुवे के फूल, खस ये द्रव्य हैं॥ ३९॥

सारिवाऽऽदिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः।
पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः॥ ४०॥

यह 'सारिवादिगण' प्यास को नष्ट करता है, रक्तपित्त का नाशक है, पित्तज्वर को शान्त करता है तथा विशेष कर दाह का नाशक है॥ ४०॥

(२०) अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनकेसराणि मधुकञ्चेति॥ ४१॥

'अञ्जनादिगण' में अञ्जन (सौवीराञ्जन, Sulphide of load), रसाञ्जन (स्रोतोञ्जन Antimony sulphide, तथा दारुहरिद्राकाथकृत), नागकेशर, प्रियङ्गु, नीलकमल, उशीर, कमलकेशर और मुलेठी ये द्रव्य हैं॥ ४१॥

अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं तथा॥ ४२॥

यह अञ्जनादि गण रक्तपित्त का नाशक, विष का संशामक तथा शरीर के भीतरी दाह को नष्ट करता है॥ ४२॥

विमर्शः—रसाञ्जन द्विविध, स्रोतोञ्जन कृष्णपाषाणाकृति Antimony Sulphide, धातुद्रव्य, द्वितीयञ्च दारुहरिद्राक्वाथेन कृत कृत्रिम पीतकृष्णद्रव्यम्—दार्वीक्वाथसम क्षीर पाठ पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जन ख्यात नेत्रयो. परम हितम्॥ नलद—वीरणस्य तु मूल स्यादुशीर नलद च तत्।

(२१) परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफलानि त्रिफला चेति॥ ४३॥

'परूषकादिगण' में फालसा, द्राक्षा, कट्फल, दाड़िम, खिरणी, निर्मलीबीज, सागवान का फल तथा त्रिफला ये हैं॥

परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः।
मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः॥ ४४॥

यह 'परूषकादिगण' वात को नष्ट करता है, मूत्र के दोषों का हारक, हृदयहितकारी, प्यास को नष्ट करने वाला तथा रुचिकारक है॥ ४४॥

(२२) प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति॥ ४५॥

'प्रियङ्ग्वादिगण' में प्रियङ्गु, लज्जालु, धाय के फूल, पुन्नाग (तुङ्ग), नागपुष्प (नागकेशर), श्वेत चन्दन, रक्तचन्दन, मोचरस, रसाञ्जन, जलकुम्भी, स्रोतोऽञ्जन, कमलकेशर, मजीठ, शालपर्णी अथवा दुरालभा ये द्रव्य हैं॥ ४५॥

(२३) अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकविल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेसराणि चेति॥ ४६॥

'अम्बष्ठादिगण' में अम्बष्ठा (पाठा), धाय के फूल, लज्जालु, सोनापाठा, मुलेठी, वेलफल की गिरी, पठानीलोध, ढाक, तून और कमलकेशर ये द्रव्य हैं ॥ ४६ ॥

गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥४७॥

उपर्युक्त 'प्रियङ्ग्वादिगण' तथा 'अम्बष्ठादिगण' पक्व अतिसार को नष्ट करते हैं, भग्न अस्थि का सन्धान करते हैं तथा पित्त के विकारों में हितकर और व्रणों का रोपण करते हैं ॥४७॥

(२४) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनककुभाम्रकोशाम्रकचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसाववरोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति ॥ ४८ ॥

'न्यग्रोधादिगण' में वड़, गूलर, पीपल, पाखर, मुलेठी, आम्रातक, अर्जुन, आम, कोशाम्र, चोरक के पत्ते, वडी और छोटी जामुन, चिरोञ्जी वृक्ष, महुआ, कुटकी, वेतस, कदम्ब, बेर, तेन्दु, सल्लकी, लोध्र, सावरलोध, भिलावा, ढाक और नन्दीवृक्ष (पारसपीपल) ये द्रव्य हैं ॥ ४८ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः ।
रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥ ४९ ॥

यह 'न्यग्रोधादिगण' व्रण का हितकारी, सङ्ग्राही, भग्न-अस्थि को जोडने वाला, रक्तपित्त का नाशक, दाह और वृद्ध मेदोधातु का नाशक तथा योनिदोषहारक है ॥ ४९ ॥

(२५) गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पद्मकञ्चेति ॥ ५० ॥

'गुडूच्यादिगण' में गिलोय, नीम, धनियां, चन्दन और पद्माख ये द्रव्य हैं ॥ ५० ॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ।
हृल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥ ५१ ॥

यह 'गुडूच्यादिगण' सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक और दीपन है तथा हृल्लास (जीमिचलाना), अरुचि, वमन, पिपासा और दाह को नष्ट करता है ॥ ५१ ॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकञ्चेति ॥ ५२ ॥

'उत्पलादिगण' में कमल, लाल कमल, श्वेत कमल, नील कमल, श्वेत नीलकमल, पुण्डरीक (अतिश्वेत कमल) और मुलेठी ये द्रव्य हैं ॥ ५२ ॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।
पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥ ५३ ॥

यह 'उत्पलादि गण' शरीर का दाह, रक्तपित्त, पिपासा, विषविकार, हृदय के रोग, वमन और मूर्च्छा को नष्ट करता है ॥

(२७) मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकबिभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टाऽतिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति ॥ ५४ ॥

'मुस्तादिगण' में मोथा, हलदी, दारुहलदी, हरड़, आंवला, वहेडा, कूठ, श्वेत वचा, वचा, पाठा, कटुकी, काकजंघा, अतीस, द्राविड़ी (छोटी इलायची), भिलावा और चित्रक ये द्रव्य हैं ॥

एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः ।
योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥ ५५ ॥

यह 'मुस्तादिगण' नामक औषधवर्ग कफ के रोगों को नष्ट करता है, योनि के दोषों का विनाशक, स्तन्यशोधक तथा आमादि दोषों का पाचक है ॥ ५५ ॥

(२८) हरीतक्यामलकबिभीतकानि त्रिफला ॥५६॥

त्रिफला—हरीतकी, आंवले और वहेड़ा इन्हें 'त्रिफला' कहते हैं ॥ ५६ ॥

विमर्शः—यहां 'त्रिफला' से समान प्रमाण तीनों का लिया है अन्यत्र प्रमाणभिन्नता है—एका हरीतकी योज्या द्वौ च योज्यौ विभीतकौ । चत्वार्यामलकान्याहुस्त्रिफलैषा प्रकीर्तिता ॥ (शार्ङ्गधर)। भावप्रकाश समप्रमाण ग्रहण करता है—पथ्याविभीतधात्रीणां फलैः स्यात् त्रिफला समैः । महती स्वल्पा च त्रिफला पथ्या विभीतकं धात्री महती त्रिफला मता । स्वल्पा काश्मर्यखर्जूरपरूषकफलैर्भवेत् ॥

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥ ५७ ॥

'त्रिफला' कफ और पित्तको नष्ट करती है तथा प्रमेह और कुष्ठ को भी नष्ट करती है एवं नेत्रों के लिये हितकर तथा अग्नि की दीपक और विषमज्वर को नष्ट करती है ॥ ५७ ॥

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५८॥

'त्रिकटु'—छोटी पीपल, काली मरिच और सोंठ इन्हें 'त्रिकटु' कहते हैं ॥ ५८ ॥

त्र्यूषणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।
निहन्यादीपनं गुल्मपीनसाग्न्यल्पतामपि ॥ ५९ ॥

'त्र्यूषण' (त्रिकटु) कफ और मेदोरोगों को नष्ट करता है तथा प्रमेह, कुष्ठ और त्वचा के रोगों को नष्ट करता है एवं अग्नि को दीप्त करता है तथा गुल्म, पीनस और मन्दाग्नि को नष्ट करता है ॥ ५९ ॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति ॥६०॥

'आमलक्यादिगण' में आंवले, हरड, पीपल और चित्रक ये द्रव्य हैं ॥ ६० ॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥ ६१ ॥

यह 'आमलक्यादिगण' सर्वप्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है, नेत्रों के लिये हितकारी है, अग्नि को दीप्त करता है, वृष्य है तथा कफ और अरोचक को नष्ट करता है ॥ ६१ ॥

(३१) त्रपुसीसताम्ररजतकृष्णलोहसुवर्णानि लोहमलश्चेति ॥ ६२ ॥

'त्रप्वादिगण' में त्रपु वंग (Tin), सीसा (Lead), ताम्बा (Copper), चांदी (Silver), कान्तलौह (Iron), सुवर्ण (Gold) और लोहे का किट्ट (मण्डूर) ये द्रव्य हैं ॥६२॥

विमर्शः—उत्तमलोहकिट्टलक्षणम्—शताब्दमुत्तमं कीट मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम्। अधम षष्टिवर्षीय ततो हीन विषोपमम्॥

गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः।
पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा॥ ६३॥

यह 'त्रप्वादिगण' गरदोष तथा क्रिमियों को नष्ट करता है तथा प्यास, विषविकार, हृदय के रोग, पाण्डु और प्रमेह को नष्ट करता है॥ ६३॥

विमर्शः—'गर' से कृत्रिमविष ग्रहण करते हैं। नानाप्राण्यद्भशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणा चाल्पवीर्याणा योगो गर इति स्मृतः॥ (वाग्भट)।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति॥ ६४॥

'लाक्षादिगण' में लाख, अमलतास, कूडा, कनेर, कायफल, हलदी, दारुहलदी, निम्ब, सप्तपर्ण, चमेली और त्रायमाणा ये द्रव्य हैं॥ ६४॥

कषायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्त्तिनाशनः।
कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः॥ ६५॥

यह 'लाक्षादिगण' कषाय, तिक्त और मधुर है तथा कफ और पित्त की वेदना को विनष्ट करता है, कुष्ठ और क्रिमि नाशक एवं दुष्टव्रण का विशोधक है॥ ६५॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः॥ ६६॥

अब इसके अनन्तर पांच प्रकार के पञ्चमूलों का वर्णन करते हैं॥ ६६॥

विमर्शः—'अष्टाङ्गसंग्रह' में मध्यम और जीवन नामक दो पञ्चमूल अधिक वर्णित हैं। बलापुनर्नवैरण्डसप्तपर्णीद्वयेन च। मध्यम कफवातघ्न नातिपित्तकर लघु॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकै स्मृतम्। जीवनाख्यन्तु चक्षुष्य वृष्य पित्तानिलापहम्॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः॥ ६७॥

इन पञ्चमूलों में गोखरू, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, पृश्निपर्णी और विदारीगन्धा (शालपर्णी) यह लघु पञ्चमूल है॥६७॥

कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम्।
वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्द्धनम्॥ ६८॥

'लघु पञ्चमूल' कषाय, तिक्त और मधुर होता है तथा वात को नष्ट करता है, पित्त का शमन करता है, बृंहण है और शरीर के बल को बढाता है॥ ६८॥

(३४) बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मर्य्यश्चेति महत्॥ ६९॥

बिल्व, अरणी, सोनापाठा, पाढल और गम्भारी ये द्रव्य 'बृहत्पञ्चमूल' कहलाते हैं॥ ६९॥

सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम्।
मधुरानुरसञ्चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम्॥ ७०॥

'बृहत्पञ्चमूल' तिक्त होता है, कफ और वात को नष्ट करता है, पाक में लघु होता है, अग्नि का दीपक है तथा अनुरस में मधुर होता है॥ ७०॥

विमर्शः—अनुरस'-व्यक्त शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। विपर्ययेणानुरस'॥ (चरक)। अन्यच्च—अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते॥ (अ० सं०)।

अनयोर्दशमूलमूच्यते॥ ७१॥

उपर्युक्त लघु और महत् पञ्चमूल मिलकर दशमूल कहलाते हैं॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः।
आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः॥ ७२॥

यह दशमूलगण श्वासनाशक, कफ, पित्त और वात का शामक, आमदोषों का पाचक तथा सर्वप्रकार के ज्वरों का नाशक है॥ ७२॥

(३५) विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः॥ ७३॥

'वल्लीपञ्चमूल' में विदारीकन्द, सरिवन, हरिद्रा, गिलोय और मेढासीङ्गी ये द्रव्य हैं तथा इन्हें वल्लीसंज्ञक पञ्चमूल कहते हैं॥ ७३॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः॥ ७४॥

'कण्टकपञ्चमूल' में करौंदा, गोखरू, पियावासा, शतावरी और गृध्रनखी (वदरवृक्ष) ये द्रव्य हैं तथा इन्हें कण्टक संज्ञक पञ्चमूल कहते हैं॥ ७४॥

रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ।
सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ॥ ७५॥

उक्त 'वल्लीपञ्चमूल' तथा 'कण्टकपञ्चमूल' ये दोनों गण रक्तपित्त को नष्ट करते हैं तथा तीनों प्रकार के (वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक) शोथ को नष्ट करते हैं एवं सर्व प्रकार के प्रमेहों के नाशक और शुक्र के दोषों के संहारक होते हैं॥७५॥

(३७) कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञक॥ ७६॥

'तृणपञ्चमूल' में कुश, काश, नरसल, दर्भ और काण्डेक्षुक (सांठा) ये द्रव्य होते हैं तथा इन्हें तृणसंज्ञक पञ्चमूल कहते हैं॥

मूत्रदोषविकारञ्च रक्तपित्तं तथैव च।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत्॥ ७७॥

यह अन्तिम 'तृणपञ्चमूल' दुग्ध के साथ प्रयुक्त करने से मूत्र दोषों को तथा रक्तपित्त को शीघ्र ही नष्ट करता है॥७७॥

विमर्शः—वरकीयतृणपञ्चमूलम्—शरेक्षुदर्भकाशाना शालीना मूलमेव च।

एषां वातहरावाद्यावन्त्यः पित्तविनाशनः।
पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरौ परिकीर्त्तितौ॥ ७८॥

उक्त पांच प्रकार के पञ्चमूलों में से 'आदि' के लघु तथा महत्पञ्चमूल विशेषकर वातनाशक हैं तथा अन्तिम तृणपञ्चमूलक पित्तनाशक है तथा शेष दो वल्ली और कण्टक पञ्चमूल कफ के शामक हैं॥ ७८॥

विमर्शः—वल्लीजपञ्चमूलगुगा—वल्लीजं पञ्चमूलन्तु प्रशस्तं कफनाशनम्। सृष्टमूत्रानिलहरं वृष्यमिन्द्रियबोधनम्॥ कण्टकपञ्चमूलगुणाः—कण्टकाख्यं पञ्चमूलं कफानिलहर परम्। मधुरानुरसञ्चैव पक्वाशयविशोधनम्॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेक्ष्यामः॥ ७९॥

'त्रिवृतादिगण' का अन्य स्थान पर वर्णन करेंगे॥ ७९॥

समासेन गणा ह्येते प्रोक्तास्तेषान्तु विस्तरम्।
चिकित्सितेषु वक्ष्यामि ज्ञात्वा दोषबलाबलम्। ८०॥

संक्षेप से यहां पर उक्त गणों का वर्णन किया है। आगे चिकित्सा स्थान के अध्यायों में दोषों के बलाबल के अनुसार इनका विस्तार से वर्णन करेंगे॥ ८०॥

एभिर्लेपान् कषायांश्च तैलं सर्पींषि पानकान्।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक्॥ ८१॥

मतिमान् वैद्य उक्त गणों में कहे हुये द्रव्यों से यथाविधि लेप, कषाय, तैल, घृत और पानक आदि योग बनाकर जिस रोग में जो उचित हो उसे वहां प्रयुक्त करे॥ ८१॥

धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते।
ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधसङ्ग्रहम्॥ ८२॥

ओषधिरक्षण व्यवस्था—शास्त्र की विधि के अनुसार ओषधियों को उखाड़ कर धूआं, वर्षा, वायु और जल इनसे खराब न होने वाले एवं सर्व ऋतुओं में भी अनुकूल ऐसे मकान में ओषधिसंग्रह (स्थापन) करना चाहिये॥ ८२॥

समीक्ष्य दोषभेदांश्च मिश्रान् भिन्नान् प्रयोजयेत्।
पृथङ्मिश्रान् समस्तान् वा गणं वा व्यस्तसंहतम्॥ ८३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यसङ्ग्रहणीयो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

दोषों के भेदों का भलीभांति विचार करके उनमें दोष मिश्रित हैं अथवा भिन्न (पृथक्) हैं ऐसा ठीक तरह से ज्ञान कर ओषधियों का या उक्त गणों का पृथक् योग, मिश्रित योग अथवा गण की समस्त ओषधियां का प्रयोग करना चाहिये। अथवा गण की एक, दो, तीन या चार ओषधियों को पृथक् या अन्य गण की ओषधियों के साथ संयुक्त कर प्रयोग करना चाहिये॥ ८३॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने द्रव्यसंग्रहणीयो नामाष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातः संशोधनसंशमनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर संशोधन तथा संशमनीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

विमर्शः—संशोधनलक्षण यथा वाग्भटे—यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनञ्च तत्॥ संशमनलक्षणम्—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनम् (वाग्भट)।

मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदारकर्वुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलवन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीविम्बीवचामृगेर्वारुश्चित्रा चेत्यूर्ध्वभागहराणि। तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि। कोविदारादीनां मूलानि॥ ३॥

ऊर्ध्वभाग-दोषहर द्रव्य या वामक द्रव्य—मैनफल, कूडा, देवदाली, कड़वी तुम्बी, धामार्गव (पीतपुष्पा कोशातकी), कृतवेधन (कोपातकी का भेद), श्वेत सरसों, वायविडङ्ग, पीपल, करञ्ज, चक्रमर्द, कचनार, कर्वुदार (लिसोड़ा), निम्ब, असगन्ध, विदुल (वेतस), बन्धुजीवक (गुलदुपहरिया), सफेद वचा, शणपुष्पी (वन्यशण), विम्बी (कुन्दरु), वचा, मृगेर्वारु (इन्द्रवारुणी) और चित्रा (द्रवन्ती) ये द्रव्य वमन द्वारा ऊर्ध्वभाग अर्थात् आमाशय, फेफड़े, श्वासमार्ग, नासामार्ग और शिर इनमें स्थित कफादि दोषों का हरण करने वाले हैं। इन द्रव्यों में से कोविदार से पूर्व ओषधियों के फल तथा कोविदार से चित्रा तक की ओषधियों की जड़ वमनार्थ प्रयुक्त करनी चाहिये॥ ३॥

त्रिवृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरिचित्रकर्किणिहीकुशकाशतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकविभीतकनीलिनीचतुरङ्गुलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि। तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि। तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः। कम्पिल्लकफलरजः। पूगादीनामेरण्डान्तानां फलानि। पूतीकारग्वधयो पत्राणि। शेषाणां क्षीराणीति॥ ४॥

अधोभाग दोषहरद्रव्य अथवा विरेचक द्रव्य—लाल निशोथ, काली निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (सातला सेहुण्ड), शङ्खिनी (यवतिक्ता, कालमेघ), विषाणिका (वृश्चिकाली, मेढासीङ्गी), गवाक्षी (इन्द्रवारुणी), छगलान्त्री (विधारा), स्नुक् (थूहर), स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), चित्रक, किणही (अपामार्ग) कुश, काश, तिल्वक (लोध), कवीला, रम्यक (वकायन या पटोलमूल), पाटला, सुपारी, हरड़, आंवला, बहेडा, नील, चतुरङ्गुल (अमलतास), एरण्ड, पूतिकरञ्ज, महावृक्ष (सेहुण्ड), सप्तपर्ण, आक और ज्योतिष्मती (मालकांगनी), ये ओषधियां विरेचन द्वारा अधोभाग के (वात मल, मूत्रादि) दोषों का हरण करती हैं। इनमें से तिल्वक से पूर्व की ओषधियों की जड़ें लेनी चाहिये तथा तिल्वक से पाटला तक की ओषधियों की छालें लेवें और कम्पिल्लक के फल के ऊपर सञ्चित हुई रज ग्रहण करे तथा सुपारी से लेकर एरण्ड तक के द्रव्यों के फल ग्रहण करे और पूतिक तथा आरग्वध (अमलतास) के पत्र तथा शेष ओषधियों का क्षीर विरेचनादि कार्य में ग्रहण करना चाहिये॥ ४॥

विमर्शः—अमलतास के व्यवहार में फली के गूदे का

विरेचनार्थं अधिक प्रयोग होता है। पत्र का तो क्वचित् प्रयोग है।

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि। एषां स्वरसा इति ॥ ५ ॥

उभयभागदोपहर द्रव्य—कोशातकी, सप्तला, शङ्खिनी, देवदाली, करेला ये द्रव्य वमन तथा विरेचन द्वारा शरीर के ऊर्ध्व और अधोभाग के दोषों का हरण करते हैं। इनका स्वरस कार्य में लेना चाहिये ॥ ५ ॥

पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकस्तीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवेचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसाऽर्जकेङ्गुदीमेषशृङ्गीमातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीशालतालमधुकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि। तत्र, करवीरपूर्वाणां फलानि। करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि। तालीशपूर्वाणां कन्दाः। तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि। इङ्गुदीमेषशृङ्गयोस्त्वचः। मातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीनां पुष्पाणि। शालतालमधूकानां साराः। हिङ्गुलाक्षे निर्य्यासौ। लवणानि पार्थिवविशेषाः। मद्यान्यासुतसंयोगाः। शकृद्रसमूत्रे मलाविति ॥ ६ ॥

शिरोविरेचक द्रव्य—पिप्पली वायविडङ्ग, अपामार्ग, सहजन, श्वेत सरसों, शिरीष, काली मरिच, कनेर, कुन्दरू, अपराजिता, कटभी, वचा, मालकाङ्गनी, करञ्ज, आक, श्वेतपुष्प का आक, लहसुन, अतीस, सोंठ, तालीसपत्र, तमालपत्र, सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसी भेद), इंगुदी, मेढासींङ्गी, बिजौरे का भेद, सुरङ्गी (लाल सहजन), पीलु, जाती (चमेली), साल वृक्ष, तादृवृक्ष, महुआ, लाख, हींग, लवण, मद्य, गोबर का रस और गोमूत्र ये शिरोविरेचक द्रव्य हैं। इनमें से कनेर से पहले कहे हुए द्रव्यों के फल लेवे तथा करवीर से आक तक के द्रव्यों की जड़ें और तालीश के पूर्व के द्रव्यों के कन्द तथा तालीस से अर्जक तक के द्रव्यों के पत्र, इङ्गुदी और मेषशृङ्गी की छाल लेनी चाहिये, मातुलुङ्गी, सुरङ्गी, पीलु और जाति इनके पुष्प लेवे, साल, ताल और महुआ इनके सार भाग को लेवे, हिङ्गु और लाक्षा ये निर्यास (गोंद) के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। लवण पार्थिव (खनिज) विशेष होते हैं। सन्धान करने से मद्य तैयार होते हैं। गोबर का रस और गोमूत्र ये मल हैं ॥ ६ ॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः-तत्र, भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलाऽतिबलार्तगलकच्छुरासल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावासुकवसिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि। विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥ ७ ॥

अब यहां से संशमनीय वर्ग की ओषधियों का वर्णन करते हैं। वात संशमन वर्ग—देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण, मेढासींङ्गी, बला, अतिबला (कंघी), आर्तगल (नीलपियावासा), कौंच के बीज, सल्लकी, कुबेराक्षी (पाटला), वीरतरु (अर्जुन), सहचरा (पियावासा), अरणी, वत्सादनी (गिलोय), पुरण्ड, पाषाणभेद, श्वेत पुष्प का आक, आक, शतावरी, पुनर्नवा, वसुक (मोलसीरी फूल), वसिर (सूर्यावर्त), कचनार (डल्हण मत से धत्तूर), भारंगी, वनकपास, विच्छूटी, पत्तूर (कुचन्दन), बैर, यव, कोल (झड़बेर), कुलथी इत्यादि ओषधियां तथा पूर्वोक्त विदारीगन्धादिगण, आदि के लघु तथा वृहत्पञ्चमूल ये सब संक्षेप से वातसंशामक हैं ॥

चन्दनकुचन्दनह्रीवेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकदलीकन्दलीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥ ८ ॥

पित्तसंशमनवर्ग—श्वेतचन्दन, लालचन्दन, ह्रीवेर (वालक), खस, मजीठ, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, शतावर, गुन्द्रा (तृणभेद), शैवल (काई), कल्हार (श्वेत, नील या लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), उत्पल (किञ्जिल्कनीलकमल), कन्दली (पद्मबीज), दूर्वा, मूर्वा इत्यादि ओषधियां तथा काकोल्यादिगण, सारिवादिगण, अञ्जनादिगण, उत्पलादिगण, न्यग्रोधादिगण और तृणपञ्चमूल ये सब संक्षेप से पित्तसंशामक द्रव्य हैं ॥ ८ ॥

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्य्योदकीर्य्येङ्गुदीसुमनःकाकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुस्ताकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरितिसमासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः॥९॥

कफसंशमन वर्ग—कालेयक (हरिचन्दन या पीतचन्दन), अगर, तिलपर्णी (लाल चन्दन), कुष्ठ, हरिद्रा, शीतशिव कपूर या सेन्धा नमक या सौंफ), सौंफ, सरला (त्रिवृत् या राल का वृक्ष), रास्ना, प्रकीर्य (पूतिकरञ्ज), उदकीर्य (करञ्ज), हींगोट, चमेली, काकादनी (गुक्षा), कलिहारी, हस्तिकर्ण (भूपलाश या रक्तैरण्ड), मुस्तातक, लामज्जक (खसभेद) आदि ओषधियां तथा वल्लीपञ्चमूल, कण्टकपञ्चमूल, पिप्पल्यादिगण, बृहत्यादिगण, मुष्ककादिगण, वचादिगण, सुरसादिगण और आरग्वधादिगण यह संक्षेप से कफ का संशमन करने वाला वर्ग है ॥ ९ ॥

तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात्। तत्र, व्याधिबलादधिकमौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति। अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टभ्य वा पच्यते। पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम्। एवं संशोधानमतिपातयति। हीनमेभ्यो दत्तमकिञ्चित्करं भवति तस्मात्सममेव विदध्यात् ॥ १० ॥

उक्त सर्व प्रकार की ओषधियों को रोग, जठराग्नि और रोगी इनके बल का विचार करके न्यूनाधिक मात्रा में प्रयुक्त

करनी चाहिये। यदि रोग के बल की अपेक्षा अधिक बल वाली ओषधि प्रयुक्त की जाय तो वह ओषधि पूर्व व्याधि को तो नष्ट कर देती है किन्तु अन्य व्याधि को उत्पन्न करती है। जठराग्नि की शक्ति से अधिक मात्रा या बल वाली औषध देने से अजीर्ण उत्पन्न करती है अथवा पेट में शूलादिक उत्पन्न करके देर से हजम होती है। रोगी के बल से अधिक मात्रा या बल वाली प्रयुक्त संशामक औषध ग्लानि, मूर्च्छा और मद उत्पन्न करती है। इस प्रकार से प्रयुक्त संशमन ओषधियां दोषवती होती हैं। संशोधन औषध भी रोग, अग्नि और रोगी के बल से अधिक प्रयुक्त करने पर रोगी को अधिक हानि पहुंचाती है। रोग, अग्नि तथा रोगी की शक्ति की अपेक्षा अल्पमात्रा में दी हुई औषध निष्फल हो जाती है। इस लिये रोग, अग्नि तथा रोगी के बल के अनुसार ही औषध मात्रा की कल्पना करनी चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—विष्टब्धलक्षणम्–विष्टब्धे शूलमाध्मान विविधा वातवेदनाः। मलवातप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽन्नपीडनम् ॥ (अ० सं०)।

भवन्ति चात्र—

रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्दोषदुर्बलः।
तस्मै दद्याद्भिषक् प्राज्ञो दोषप्रच्यावनं मृदु ॥ ११ ॥

संशोधन कर्म से साध्यरोग में यदि रोगी दोषों की उत्कटता से दुर्बल हो गया हो तो उसे मतिमान् वैद्य दोषों को गिराने वाली मृदुवीर्य युक्त रेचक और वामक ओषधियां देवे॥

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतात्र बलं नृणाम्।
अव्याधिदुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥ १२ ॥
स्वयं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम्।
भवेदल्पबलस्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥ १३ ॥

दोष के अपने स्थान से चलायमान न होने पर तथा कोष्ठ के मृदु होने पर रोगी के शारीरिक बल का विचार नहीं करना चाहिये क्योंकि विना व्याधि के (अर्थात् उपवासादि से) दुर्बल हुये रोगी को भी उस समय संशोधन करना हितकारी होता है। जिसके दोष स्वयं अपने स्थान से चलायमान हो गये हों तथा जिसका कोष्ठ मुलायम हो ऐसे अल्प बल वाले रोगी में भी प्रयुक्त संशोधक द्रव्य व्याधिनाशक होता है॥

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते।
बिडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोऽक्षसम्मितः ॥ १४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने संशोधनसंशमनीयो नाम एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

औषध मात्रा—व्याधि, अग्नि तथा रोगी के बल के मध्यम होने पर क्वाथ का प्रमाण एक अञ्जलि (४ पल= १६ तोला) होना चाहिये तथा चूर्ण का प्रमाण एक विडालपदक (१ कर्ष, १ तोलाभर) होना चाहिये एवं कल्क का प्रमाण भी एक अक्ष (एक कर्ष = १ तोला) होना चाहिये ॥ १४ ॥

विमर्शः—मध्य तु मान निर्दिष्ट स्वरसस्य चतुष्पलम् ॥ किन्तु शार्ङ्गधर ने स्वरस का प्रमाण आधा पल ही लिखा है—स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्धं प्रयोजयेत्। व्याध्यादिषु तु मध्येषु ॥ वस्तुतस्तु मात्रा की कोई निश्चित स्थिति नहीं है। मात्रायानास्त्यवस्थानं व्याधि कोष्ठ बल वयः। आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना ॥ (अ० सं०)।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने संशोधनसंशमनीयो नामैकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यरसगुणवीर्य्यविपाकविज्ञानीयमध्याय व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाकविज्ञानीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—द्रव्यादिविज्ञानीय—द्रव्यादीना विशिष्ट ज्ञान तदधिकृत्य कृतोऽध्याय.। डाक्टरी में इसे फार्मेकोलोजी (Pharmacology) कहते है। इस विभाग से ओषधियों की उपयोगिता सिद्ध होती है। जिन ओषधियों की उपयोगिता रस, गुण, वीर्य, विपाकादि से नहीं हो सकती है वैसी स्थिति में चरक तथा वाग्भट ने उनके लिये प्रभाव शब्द का प्रयोग किया है तथा सुश्रुत ने ऐसी ओषधियों को अचिन्तनीय तथा अमीमांस्य कहा है। अर्थात् ये ओषधियां किस तरह अपना कार्य करती हैं यह इनका प्रभाव है ऐसा माना है। द्रव्य-क्षादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसग्रह.। (चरक)। यत्राश्रिता कर्मगुणाः कारण समवायि यत् तद् द्रव्यम् (चरक)। 'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे' (चरक)। ओषधियों की पञ्चमहाभूतात्मक रचना द्रव्य है। डाक्टरी में द्रव्य को ओषधियों का सङ्गठन (Composition of drugs) कह सकते हैं। रस–'रसनाग्राह्यो गुणो रस.' (नैयायिक)। 'रस्यते आस्वाधते इति रस.' रसनार्थो रसः, (चरक)। जिह्वा के अतिरिक्त अन्य स्थानों से भी रस का ज्ञान होता है जैसे कटु या कषाय रस का ज्ञान गला, आमाशय और त्वचा द्वारा। डाक्टरी में यद्यपि इन रसों की कल्पना नहीं है फिर भी व्यवहारतः तिक्त को (Bitter) कषाय को (Astringent) तथा अम्ल को (Acid) कह सकते हैं। वैद्यक में रस और अनुरस दो माने हैं। तत्र व्यक्तो रस स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते। (अ० सं०)। व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। विपर्ययेणानुरस ॥ (चरक)। गुणलक्षणम्—समवायी तु निश्चेष्ट कारण गुण। (चरक)। अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः॥ (कारिकावली)। द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। (वैशेषिकदर्शन)। 'विशेषलक्षणा गुणा.' इति रसवैशेषिकसूत्रम्। गुण—को फार्मेकोलोजिकल एक्शन (Pharmecological action) कहते हैं। अर्थात् ओषधियों का शरीर पर रोगनाशन, स्वास्थ्यरक्षण एवं बलवृद्धिरूपी जो कार्य होता है वह गुण है। यद्यपि गुणों की संख्या अनेक हैं तथापि आयुर्वेद में बीस गुण प्रसिद्ध हैं। गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिरा.। गुणा सप्तदशविशदा विंशति. सविपर्ययाः॥ इन्द्रियार्था व्यवायी च विकासी चाशरे गुणा। (अ० सं०)। चरक मे ४१ गुण माने हैं—सार्था गुर्वादयो बुद्धि.

प्रकाशा शब्दः। गुणाः प्रोक्ता—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पञ्च इन्द्रियार्थ तथा गुरु, मन्दादि बीस सामान्य गुण, बुद्धि पूर्व इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मगुण और परादि दश बुद्धि सङ्ख्या संयोग च। विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिमाणानि च। संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ता. पराश्च.। अर्थ शब्द से मन के अर्थ भी गृहीत होते हैं—चिन्त्य विचार्य-मूह्य ध्येय सङ्कल्प मेव च। अनिर्दिष्टस्तथा ह्येषां नवमो बुद्धिसंज्ञकः। मनोमतोऽथो बुद्धिर्ज्ञा चेत्यष्टावात्म द्रव्यगुणसंग्रहः। (च सू.अ ८)। अथोच्यते—रूप रसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। (वै० द्र०)। वीर्यम्—वीर्यन्तु क्रियते येन या क्रिया सावीर्य कुरुते किञ्चिद्य सर्वा वीर्यकृता क्रिया। येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् (सुश्रुत)। येनेति सेन वा, क्रियते वा, प्रभवो वा, गुर्वादिपरमाणुभिर्वा गुणैर्वा क्रिया पर्णाहारनखमलादिरूप कृत्स्ना क्रियते इत्युपदिश्यते तत्सा क्रियागत रसादि वीर्यम् (चक्रपाणिदत्त) रसविपाकप्रभावविशिष्टे द्रव्यैकदेशस्थिते गुणे वीर्यम्। वीर्य शक्तिरित्यनिर्देश्य सामर्थ्य प्रभव इत्यर्थान्तरम्। अर्थात् जो कार्य द्रव्य, रस, गुण और विपाक द्वारा न हो सकता हो वह वीर्य या प्रभाव द्वारा हो जाता है। वीर्यभेदा—मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णस्थूल वीर्यतश्चैव केचिद्भेदा द्विविधमास्थिताः॥ शीतोष्ण मिति। (च. सू. अ. २६)। गुण और वीर्य में भेद—यद्यपि हरड़ और आंवले दोनों में समान गुण होते हैं किन्तु दोनों के वीर्य में भेद है। हरीतकी उष्णवीर्य तथा आंवले शीतवीर्य होते हैं। विपाक—लवणोत्तिक्त योगाद्यदुपैति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाकइति स्मृतः। (वाग्भट)। विपाकभेदा—त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वादम्ललवणाख्यः। स्वादुः पटुश्च मधुराम्लोऽम्लं पक्वस्य रसः। स्निग्धोष्णगुरुमन्दाद्यैः विपाक प्रायशः कटुः। (अ हृ.सू.अ.९)। ही विपाकविधि मधुर—मधुः कटुकेति। अन्ये प्रतिरस षड्विधं पाक मन्यन्ते तत्र-रसात् बहुगुणात् षड् केचित्तन्त्रान्तरम्। यत् स्वादुर्वातहरस्तत्र न चान्यानि वातिनम्। यानि वैकल्य कटुतां कटुर्पुरीषं न स्निग्धो। यत्तस्य गुणानां न स्यादेव विपर्ययः॥

केचिदाचार्या ब्रुवते-द्रव्यं प्रधानम्। कस्मात्? व्यवस्थितत्वात्. इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा-आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति। नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः; यथा-कलकादिप्रविभागः; स एव सम्पन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति। स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यमावं न गच्छत्यन्ये शेषाणि। पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः। आश्रयत्वाच्च, द्रव्याश्रिता रसादयो भवन्ति। आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा-विदारिगन्धादिमाहृत्य सङ्कलुप्य विपचेदित्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भः। शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्य प्रधानमुपदेशे हि योगानां, यथा-मातुलुङ्गाग्निमन्थौ चेत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते। क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा-तरुणे तरुणा सम्पूर्णे सम्पूर्णा इति। एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते, यथा-महावृक्षक्षीरेणेति। तस्माद् द्रव्यं प्रधानम्। द्रव्यलक्षणन्तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति॥ ३॥

कुछ आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाकों में द्रव्य ही प्रधान है। किस हेतु से द्रव्य प्रधान है? उत्तर नं १-द्रव्य रसगुणादि की अपेक्षा व्यवस्थित (स्थिर या अपरिवर्तन शील) होने से प्रधान है। क्योंकि द्रव्य व्यवस्थित होते हैं, रस, गुण, वीर्यादि स्थिर नहीं होते हैं जैसे कच्चे फल में जो जो अम्लादि रस होते हैं वे पक्व में नहीं रहते हैं क्योंकि उनकी जगह मधुरादि रस बन जाते हैं। नं. २-द्रव्य की प्रधानतासिद्धि में दूसरा हेतु द्रव्यों के नित्य होने का देते हैं। द्रव्य निश्चय ही नित्य होते हैं किन्तु गुण आदि उसमें अनित्य होते हैं। जैसे द्रव्य के कलक आदि विभाग होते हैं किन्तु उसके रसगन्धादि गुण कभी सम्पन्न (अच्छे) और कभी व्यापन्न (विकृत) होते हैं। नं ३-द्रव्य अपनी पार्थिवादि जाति में स्थिर रहने से प्रधान है जैसे कि पार्थिवादि द्रव्य अन्य जलादि जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं एवं शेष जल, तेज आदि द्रव्य भी अन्य जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं। नं ४-पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने से द्रव्य प्रधान है जैसे द्रव्यों को पांचों इन्द्रियों से जान सकते हैं किन्तु रस-गन्धादि गुण एक२ इन्द्रिय से ही जाने जाते हैं। नं ५-आश्रय (आधार) होने से द्रव्य प्रधान है क्योंकि रस, गन्ध आदि द्रव्य को ही आश्रित करके रहते हैं। नं ६-कुटन, आहरण तथा योग का आरम्भ आदि द्रव्य से ही होता है अतः वही प्रधान है जैसे विदारिगन्धादि गण के द्रव्य को लेकर कूट के पकावे। इस तरह का रस, गन्धादि में कार्य नहीं किया जाता है। नं ७-शास्त्र के प्रमाण से भी द्रव्य ही प्रधान है जैसे शास्त्र में किसी भी योग के वर्णन में द्रव्य ही प्रधान माने गये हैं। जैसे 'मातुलुङ्गादि योग' में मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ आदि द्रव्यों के ही नाम लिखे हैं। रसगन्धादिगुणों के नाम से किसी भी योग का उपदेश नहीं किया गया है। नं. ८-द्रव्यों के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुरूप ही रसगन्धादि गुणों की उत्पत्ति का क्रम अपेक्षित होने से द्रव्य ही प्रधान है क्योंकि रस-गन्धादि द्रव्य के क्रम के अनुसार बदलते रहते हैं। जैसे तरुण (अपक्व) द्रव्य में रस-गन्धादि भी तरुण (अपक्व) रहते हैं और सम्पूर्ण (परिपक्व) द्रव्य में रसगन्धादि भी पूर्ण हो जाते हैं। नं. ९-द्रव्यों के एक देश द्वारा साध्य होने से भी द्रव्य प्रधान हैं। द्रव्यों के एक देश से भी व्याधियां ठीक हो जाती हैं, जैसे महावृक्ष (थूहर) के दुग्ध से अनेक गुल्म, शूल, आध्मान, यकृद्वृद्धि आदि रोग ठीक हो जाते हैं, इसलिये उपर्युक्त सर्वकारणों से द्रव्य ही प्रधान है। द्रव्य का लक्षण इस प्रकार का है—जिसमें क्रिया तथा गुण दोनों रहते हों तथा जो समवायी कारण हो उसे 'द्रव्य' कहते हैं॥ ३॥

विमर्श—क्रियागुणवत्—क्रियाश्च गुणाश्च सन्त्यस्मिन्निति। समवायिकारणं यत्समवेत कार्यमुत्पादयते, यथा तन्तवः पटस्य।

नेत्याहुरन्ये। रसास्तु प्रधानम्, कस्मात्? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा-रसायत्त आहार इति, तस्मिंश्च प्राणाः।

उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा-मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति। अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा-मधुरमिति। ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा-किञ्चिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति। तस्माद्रसाः प्रधानम्। रसेषु गुणसंज्ञा। रसलक्षणमन्यत्रोपदेक्ष्यामः॥ ४॥

द्रव्य प्रधान नहीं है ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। उनका मत है कि रस ही प्रधान है। किस कारण से? नं १-आगम प्रमाण से। 'आगम' शास्त्र को कहते हैं। शास्त्र में रसों ही को प्रधान माना है। जैसे रसों के आधीन आहार है तथा आहार के आधीन प्राण हैं। नं २-उपदेश से भी रस प्रधान हैं। रसों का ही उपदेश किया जाता है जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं। नं. ३-अनुमान से भी रस प्रधान है क्योंकि रसों ही के द्वारा द्रव्य का अनुमान होता है जैसे यह द्रव्य मधुर है। नं ४-ऋषियों के वचन से भी रस प्रधान हैं। ऋषियों के वचन वेद हैं। जैसे यज्ञ करने के लिये कुछ मधुर लाओ, यहां पर द्रव्य का निर्देश न कर मधुर रस का ही वेद ने निर्देश किया है इसलिये उपर्युक्त सर्वकारणों से रस ही प्रधान होते हैं। रसों ही की 'गुण' संज्ञा है। रस का लक्षण अन्य स्थान में कहेंगे॥ ४॥

नेत्याहुरन्ये। वीर्य्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्धशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसङ्ग्राहकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनानि वीर्य्यप्राधान्याद्भवन्ति। तच्च वीर्य्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः—शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्, तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च। मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्द्धयति, शीतवीर्यत्वात्। कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवञ्च। तिक्ता काकमाची पित्तं वर्द्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च। कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्द्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्। अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रञ्च। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्॥ ५॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि रस भी प्रधान नहीं है, वीर्य ही प्रधान है। किस कारण से? उत्तर—वीर्य की अधीनता ही से ओषधियों का रोगनाशनादि कार्य होने से जैसे इस शास्त्र में ओषधियों के भिन्न भिन्न कार्य, यथा ऊर्ध्वभाग का वमन द्वारा संशोधन, अधोभाग का विरेचन द्वारा संशोधन, उभय भाग संशोधन, संशमन, संग्राहक, अग्निदीपन, प्रपीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथु (शोथ) हर, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन, प्राणनाशन तथा विषप्रशमन आदि ओषधियों का कर्म वीर्य की प्रधानता से ही होते हैं। यह वीर्य उष्ण और शीत ऐसे दो प्रकार का है क्योंकि समस्त संसार भी आग्नेय और सौम्य (जल) द्विविध तत्त्वों से ही बना है। कुछ लोग वीर्य को आठ प्रकार का मानते हैं जैसे शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण। उक्त द्विविध या अष्टविध वीर्य अपने बल के गुणोत्कर्ष से रस को पराजित करके स्वकार्य करते हैं। जैसे 'बृहत्पञ्चमूल' रस में कषाय तथा अनुरस में तिक्त होता हुआ भी उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है। इसी तरह कषायानुरस कुलत्थ उष्णवीर्य होने से एवं कटुकरस वाला प्याज स्निग्धवीर्य होने से वायु का शमन करता है। इक्षु (गन्ने) का रस मधुर होता हुआ भी शीतवीर्य होने से वायु को बढाता है। कटुक रस वाली पीपल मृदु शीतवीर्य होने से पित्त को शान्त करती है। अम्ल रस युक्त आंवला और लवण रस युक्त सैन्धव नमक शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करते है। तिक्तरस युक्त मकोय उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाती है। इसी प्रकार मत्स्य मधुर रसवती होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को बढ़ाती है। मूली कटु रस वाली होती हुई भी स्निग्धवीर्या होने से कफ को बढ़ाती है। अम्ल रस युक्त कपित्थ रूक्षवीर्य होने से श्लेष्मा को शान्त करता है तद्वत् मधुर रस युक्त मधु (शहद) भी रूक्षवीर्य होने से कफ को शान्त करता है। इस तरह वीर्य के विषय में यह निदर्शनमात्र कहा है॥ ५॥

भवन्ति चात्र—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम्॥ ६॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः॥ ७॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
स्नेहगौरवशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः॥ ८॥
तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति॥ ९॥

इस विषय में अन्य भी कहा है यथा जो रस वात के संशामक है यदि उनमें रूक्षता, लघुता और शीतता हो तो वे वात का शमन नहीं करते हैं। इसी तरह जो रस पित्त के संशामक हैं उनमें यदि तीक्ष्णता, उष्णता और लघुता हो तो वे रस पित्त को शान्त नहीं करते है। जो रस कफशामक है यदि उनमें स्निग्धता, गुरुता और शैत्य हो तो वे कफ का शमन नहीं करते हैं। इस हेतु से वीर्य ही प्रधान है॥ ६-९॥

विमर्शः—रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। तत्राधा मारुत-घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादय कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥ (अष्टाङ्गहृदय)।

नेत्याहुरन्ये। विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्। इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपकानि गुणं दोषं वा जनयन्ति॥१०॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, रस और वीर्य इनमें से

कोई भी प्रधान नहीं है। उनका कथन है कि विपाक ही प्रधान है। किस हेतु से? उत्तर—सब द्रव्यों का योग्य अथवा मिथ्या विपाक होने से, क्योंकि आहारादि रूप में ग्रहण किये (खाये) हुये सर्व द्रव्य सम्यक् अथवा मिथ्या रूप से विपक्व होकर ही गुण या दोषों के उत्पन्न करते हैं॥ १०॥

तत्राहुरन्ये—प्रतिरसं पाक इति। केचित्त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरमम्लं कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्; भूतगुणोपागमाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति। पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्यग्निमान्द्यात्। यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति; श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति॥ ११॥

विपाक के भेदों के विषय में कई अन्य आचार्य कहते हैं कि प्रतिरस पाक होता है अर्थात् मधुरादि रस ६ होने से उनके विपाक के भी ६ भेद होते हैं। कुछ आचार्य मधुर, अम्ल और कटुक ऐसे तीन प्रकार के विपाक मानते हैं किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि पञ्चमहाभूतों के गुणों से और आगम (शास्त्र) से अन्य अम्ल विपाक सिद्ध नहीं होता है। केवल अग्नि की मन्दता होने से पित्त विदग्ध होकर अम्लता को प्राप्त होता है वह विपाक नहीं है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो वैसा लवण-विपाक भी मानना पड़ेगा क्योंकि पित्त की तरह कफ भी विदग्ध होकर लवणता को प्राप्त होता है॥११॥

मधुरो मधुरस्यान्तोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः। दृष्टान्तं चोपदिशन्ति—यथा तावत् क्षीरमुत्तागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्तथा शालियवमुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिदूचुः—अवशवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थिति; तस्मादसिद्धान्त एषः॥ १२॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि मधुर रस का विपाक मधुर और अम्ल रस का विपाक अम्ल इस तरह सभी (छहों) रसों का वही पाक होता है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे दूध (पात्र) में पकता हुआ दूध प्रारम्भ से अन्त तक मधुर ही रहता है इसी तरह चावल, जव और मूंग खेत में बोने पर अङ्कुरित होकर बढ़ने और पकने तक अन्त में भी अपने स्वभाव (स्वरूप) का परित्याग नहीं करते हैं उसी प्रकार रस भी पकने पर अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि इन रसों में जो बलहीन होते हैं वे बलवान् के वश में हो जाते हैं। इस तरह सर्वमत अव्यवस्थित हैं। इसलिये तीन रस मानना अथवा ६ रस मानना कोई सिद्धान्त या शास्त्रसम्मत नहीं है॥ १२॥

आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुरस्यो गुरुः, कटुकस्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यग्नेयोर्बाहुल्याद्गुणानां द्वैविध्यं भवति गुरुत्वाल्पत्वाद् गुरुता लघुता च। पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि। तस्माद् द्विविध एव पाक इति॥ १३॥

आगम (आयुर्वेद शास्त्र) में मधुर और कटु ऐसे दो ही प्रकार के पाक होते हैं। उनमें से मधुर विपाक गुरु होता है और कटु विपाक लघु होता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के गुणों के साधर्म्य से गुरुता और लघुता ऐसे दो भेद होते हैं। इनमें पृथिवी और जल गुरु होते हैं तथा शेष तेज, वायु और आकाश लघु होते हैं इस लिये विपाक भी दो ही प्रकार का होता है॥ १३॥

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते॥ १४॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते॥ १५॥

इस विषय में कहा है कि जिन पच्यमान द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुणों की बहुलता होती है उनमें मधुर पाक होता है और जिन पच्यमान द्रव्यों में तेज, वायु और आकाश के गुणों की बहुलता होती है उनमें कटुविपाक होता है॥१४-१५॥

पृथक्त्वदर्शिनामेव वादिनां वादसङ्ग्रहः।
चतुर्गामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः॥१६॥

पृथक् पृथक् द्रव्य, रस, गुण वीर्य, विपाक का प्राधान्य मानने वाले विवादी आचार्यों के वादविवाद का संग्रह ऊपर दिखा दिया है। इस विषय में विद्वान् मनुष्य रस, गुण, वीर्य और विपाक इन चारों के समुदाय को प्रधानरूप से स्वीकार करते हैं॥ १६॥

तद् द्रव्यमात्मना किञ्चित्किञ्चिद्वीर्य्येण सेवितम्।
किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥ १७॥

वस्तुतः कुछ द्रव्य अपनी आत्मा या द्रव्यात्मक सामर्थ्य से, कुछ वीर्य के सामर्थ्य से, कुछ रस और विपाक के सामर्थ्य से दोषों को नष्ट करते हैं अथवा दोष-प्रकोपण करते हैं॥१७॥

विमर्शः—वास्तव में शरीर पर द्रव्यों का जो रोगनाशनरूपी या रोगवृद्धिरूपी कार्य होता है वह द्रव्य के रस, वीर्य, विपाक इनके मिलित सामर्थ्य से होता है। चरक तथा वाग्भट भी इसी मत को मानते हैं—किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेन च किञ्चन॥ रसवीर्यविपाकानां नष्टे कः कुरुते बलम्? उच्यते—यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्तेन वर्तते। अभिभूयेतरांस्तत्तद् कुरुते कर्म निर्व्रणम्॥ विरुद्धगुणसंयोगे मूढसञ्ज्ञं हि वीर्यते। रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति॥ बलवान्ये रसादीनामिति- रसादिकं बलम्। रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते॥ विशेष- कर्मणाञ्चैव प्रभावस्तत्र च स्मृतः। प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते॥ प्रभावोऽपि द्विविधश्चिन्त्यः प्रभावः पाठाया वेगादौ, अचिन्त्यस्तु मणिकुष्ठौषधीनां धारणे रोगनिवृत्तिः। द्रव्यो- द्रव्यौ रसवीर्यविपाकानां सम्बन्धेऽपि कश्चित् द्रव्यो तु न रेचयति। (चरक)।

पाको नास्ति विना वीर्य्याद्वीर्य्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम्॥१८॥

वीर्य के विना पाक नहीं, रस के विना वीर्य नहीं एवं आधारभूत द्रव्य के विना रस की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये द्रव्य को ही अधिक श्रेष्ठ या प्रधान समझना चाहिये॥ १८॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योऽन्यापेक्षिकं स्मृतम्।
अन्योऽन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद् देहदेहिनोः ॥१९॥
वीर्य्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥ २१ ॥

द्रव्य और रस का जन्म एक दूसरे के आश्रित है जिस तरह देह (शरीर) और देही (आत्मा) का जन्म (आविर्भाव) एक दूसरे के आधीन होता है। इसी तरह वीर्यसंज्ञक आठों गुण भी द्रव्य के ही आश्रित होते है। रसों के अन्दर ये वीर्यसंज्ञक गुण नहीं रह सकते हैं क्योंकि गुण के लक्षण में यह बताया है कि गुण गुण में नहीं रहते हैं। पाञ्चभौतिक इस द्रव्य (शरीर) में औषधीय अथवा आहारोपयोगी द्रव्य ही पकते हैं न कि षड्रस अथवा वीर्यादि अत एव द्रव्य को ही श्रेष्ठ या प्रधान मानना चाहिये तथा शेष अन्य भाव अर्थात् रस, गुण, वीर्य, विपाकादि उस द्रव्य के ही आश्रित हो कर रहते हैं ॥ १९-२१ ॥

विमर्श—वस्तुतो द्रव्येष्वेव गुणा भवन्ति, साहचर्याच्च रसगुणा उच्यन्ते-गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारत ॥ (वाग्भट सू०अ०९) रसों की गुणसंज्ञा है (रसेषु गुणसंज्ञा इति सुश्रुत०) तथा गुण स्वयं निर्गुण होते हैं—अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणा ॥ अत एव जो रसों के शीतादिगुण कहे हैं वे द्रव्य के ही गुण हैं—गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विधाद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायः पृथग्विधः ॥ (च० सू० अ० २६)।

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥ २२ ॥
प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथञ्चन ॥ २३ ॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

अपने स्वभाव से प्रसिद्ध ओषधियों (खदिर, तुवरक, रसाञ्जन, हरिद्रादि कुष्ठनाशक) के विषय में कोई मीमांसा (तर्क वितर्क, यह ऐसी है या नहीं आदि) या चिन्तन नहीं करना चाहिये किन्तु विद्वान् वैद्य उन्हें जैसा आगम (शास्त्र) ने आज्ञा दे रखी है तदनुसार प्रयुक्त करे। जिन ओषधियों के लक्षण और फल प्रत्यक्ष हों तथा जो स्वभाव से ही प्रसिद्ध हों उन ओषधियों को विद्वान् वैद्य किसी भी प्रकार तर्कवितर्क से नहीं परखे। हजारों तर्क वितर्क रूपी हेतुओं से भी अम्बष्ठा (पाठा) आदि ओषधियों का विरेचनकर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है अत एव मतिमान् वैद्य आगम (शास्त्र) में विश्वास करे। हेतु या तर्क से उनका गुणधर्म या प्रयोग न करे॥

विमर्शः—ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की मीमांसा अथवा उपपत्ति उनके पञ्चमहाभूतात्मक सङ्गठन, रस, गुण, वीर्य और विपाक के द्वारा की जाती है किन्तु खदिर, तुवरक, विषमणि आदि द्रव्यों के उपयोग की उपपत्ति उनके रसादि द्वारा ज्ञात न होने पर उन्हें अचिन्त्य या अमीमांस्य मान लिया है किन्तु 'चरक' और 'वाग्भट' ने द्रव्यों के इस अचिन्त्य शक्ति को ही प्रभाव मान लिया है। रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्। (अ० सं० सू० अ० १७) डाक्टरी में ओषधियों के उपयोगों की मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तरीकों से की जा सकती है उन्हें 'मीमांस्य' (Rational) तथा जिनकी मीमांसा न की जा सके उन्हे 'अमीमांस्य' (Emphirical) कहते हैं। जैसे मलेरिया में Quinine, T. B के लिये स्वर्ण अमीमांस्य हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'द्रव्यविशेषविज्ञानीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

तत्र, पृथिव्यग्निजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति इदं-पार्थवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति॥

द्रव्योत्पत्ति—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों तत्त्वों के मिलने से द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इन पांचों के समुदाय में से जिस भूत के गुणों की उत्कृष्टता होती है उसी से वह द्रव्य पहचाना जाता है जैसे यह 'पार्थिव' है, यह 'जलीय' है यह 'तैजस' द्रव्य है यह 'वायव्य' द्रव्य है और यह 'आकाशीय' द्रव्य है ॥ ३ ॥

विमर्शः—कार्यरूपी द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक हैं—इह हि द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक, तस्याधिष्ठान पृथिवी, योनिरुदक, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ ॥ (अ० सं०)। प्रायः प्रत्येक द्रव्य में थोड़ी बहुत मात्रा में 'पञ्चमहाभूत' रहते हैं और जिसमें जिस भूत के गुणों का आधिक्य हो उसका उसी भूत के नाम से व्यपदेश करते हैं—'व्यपदेशस्तु भूयसा'।

तत्र, स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरखरगुरुकठिनगन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवम्। तत् स्थैर्य्यबलगौरवसङ्घातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति ॥ ४ ॥

पार्थिव द्रव्य—इनमें जो स्थूल, सार (दृढता) युक्त, सान्द्र (ठोस), मन्द, स्थिर, गुरु (भारी) तथा कठिन हो तथा गन्ध की जिसमें अधिकता हो एवं कुछ कषाय और प्रायः मधुर रस का आधिक्य हो उसे 'पार्थिव' द्रव्य समझना चाहिये। वह शरीर की स्थिरता, बल, गुरुता, कठिनता और वृद्धि को करता है तथा विशेषकर उसे ऊचा फेंकने पर भी नीचे गिरने (गति करने) का स्वभाव वाला होता है ॥ ४ ॥

विमर्शः—'गुरूदाकर्षण नियम' से पार्थिव पदार्थ नीचे गिरते हैं।

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यम्। तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥५॥

जलीय द्रव्य—ठंडा, गीला या जड, चिकना, मन्द, भारी, फैलने वाला, सान्द्र, मृदु, पिच्छिल, अधिक रसदार, कुछ कषाय, अम्ल और लवण रसों से युक्त तथा अधिक मधुर रस वाला 'जलीय' द्रव्य होता है। जलीय द्रव्य शरीर में स्नेहन, तर्पण, गीला करना, चूर्णादि का पिण्डीकरण (बांधना) और विस्रावण करता है ॥ ५ ॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपगुणबहुलमीषदम्ललवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसम्। तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥ ६ ॥

तैजस द्रव्य—गरम, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खरदरा, लघु और विशद (स्वच्छ) होता है तथा रूपगुणाधिक्ययुक्त, कुछ अम्ल और लवणरसयुक्त किन्तु कटुक रस की अधिकता से युक्त तथा विशेषकर ऊपर को गति करने वाला 'तैजस' पदार्थ होता है। वह दहन, पचन, दारण, तापन, प्रकाशन, प्रभा और वर्ण को करता है ॥ ६ ॥

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयम्। तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥ ७ ॥

वायवीय द्रव्य—जो पदार्थ सूक्ष्म, खर, शिशिर, हलका, विशद, स्पर्शगुण की अधिकता वाला, कुछ तिक्त और विशेषतया कषायरसयुक्त हो वह 'वायवीय' द्रव्य है। वह शरीर में वैशद्य, लाघव, ग्लानि या अवृष्यत्व, रौक्ष्य और मन में अनेक कल्पना करता है ॥ ७ ॥

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयम्। तन्मार्दवशौषिर्य्यलाघवकरमिति।

आकाशीय द्रव्य—जो पदार्थ चिकना, सूक्ष्म, मृदु, व्यवायी, विशद, विविक्त (अवयव रहित), अव्यक्तरस, शब्द गुण की अधिकता से युक्त हो वह 'आकाशीय' द्रव्य है। यह द्रव्य देह में मार्दव, छिद्रता और लघुता करता है ॥ ८ ॥

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्य्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत्कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति ॥

इस प्रमाण से संसार में कोई भी द्रव्य ओषधि से भिन्न नहीं है ऐसा मानकर भिन्न भिन्न युक्तिविशेष और अर्थों (प्रयोजनों) का ठीकातरह से विचार कर प्रयुक्त किये हुये अपने वीर्य और गुणों से युक्त द्रव्य रोगनाशनरूपी कार्य करने में समर्थ होते हैं। वे द्रव्य जब कार्य करते हैं उसे 'काल' कहते हैं, जो कुछ करते हैं वह 'कर्म' है, जिसकी शक्ति या प्रभाव से करते हैं उसे 'वीर्य' कहते हैं, जहां करते हैं उसे 'अधिकरण' (कार्यकरण स्थान) कहते हैं, जिस प्रकार करते हैं वह 'उपाय' है और परिणामरूप से जो कुछ बन जाता है या हो जाता है उसे 'फल' कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यस्ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्। आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्। साङ्ग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्। दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं (तत्समानत्वात्)। लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्। बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्। एवमौषधकर्माण्यनुमानात्साधयेत्॥

उनमें से जो विरेचक द्रव्य हैं उनमें पृथिवी और जल के गुणों की अधिकता रहती है क्योंकि पृथिवी और जल दोनों भारी होते हैं जिससे उनका किसी भी वस्तु को अपने साथ नीचे लेजाने का स्वभाव होता है इसलिये अनुमान से यह कहा जाता है कि विरेचक द्रव्य प्रायः 'अधोगामी गुणभूयिष्ठ' होते हैं। वामक द्रव्य अग्नि और वायु के अधिक गुणों से युक्त होते हैं। अग्नि और वायु दोनों हलके हैं एवं लघु होने से वे दोनों ऊपर को उठते हैं इसलिये वमनद्रव्य भी 'ऊर्ध्वगामीगुणभूयिष्ठ' होते हैं। जिन पदार्थों में उक्त दोनों प्रकार के गुण होते हैं वे ऊर्ध्व और अधः दोनों भागों में गति करते हैं अर्थात् उनसे वमन और विरेचन दोनों कार्य होते हैं। 'आकाशगुणभूयिष्ठद्रव्य' संशमन करता है, 'अनिलगुणभूयिष्ठद्रव्य' संग्राही (दस्त बांधने वाला) होता है क्योंकि वायु शोषणका कार्य करता है। 'अग्निगुणभूयिष्ठ द्रव्य' दीपन कार्य करते हैं क्योंकि ये आग्नेयद्रव्य जठराग्नि के समान होते हैं। अनिल (वायु) और अनल (अग्नि) गुणों की अधिकता वाले द्रव्य लेखन कार्य करते हैं। पृथिवी और जल के अधिक गुणवाले द्रव्य बृंहण कार्य करते हैं। इस प्रकार से ओषधियों के कार्य अनुमान द्वारा सिद्ध होते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—संशमनलक्षणम्—न शोधयति यद्दोषान् समान् नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् तत् सशमनमुच्यते ॥ (शार्ङ्गधर)। सङ्ग्राहिलक्षणम्—आग्नेयगुणभूयिष्ठात्तोयाश्च परिशोष्य यत्। सङ्गृह्णाति मलं यत्तु ग्राही शुण्ठ्यादयो यथा ॥ (भावप्र०)। दीपनलक्षणम्—पचेन्नाम वह्निकृच्च दीपन तथा मिशि.। (शार्ङ्गधर)। लेखनलक्षणम्—धातून् मलान्वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्। लेखन तद्यथा क्षौद्र नीरुष्णं वचा यवा. ॥ (शार्ङ्गधर)। बृंहणलक्षणम्—बृहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृहणम्। (चरक)।

भवन्ति चात्र—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।

भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥११॥
खतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमाप्नोति मारुतः॥ १२॥
आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्य्यते।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्द्धते॥ १३॥
एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम्।
द्विशो वा बहुशो वाऽपि ज्ञात्वा दोषेषु चाचरेत्॥१४॥

पृथिवी, अग्नि और जलीय द्रव्यों से वायु शान्त होती है। पृथिवी, जल और वायु इन तत्त्वप्रधान द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शान्त होता है। आकाश, तेज और वायु इन तत्त्वजन्य द्रव्यों से मनुष्यों का कफ शान्त होता है। आकाश और वायुगुण भूयिष्ठ द्रव्यों से वात वृद्धि को प्राप्त होता है। केवल अग्निगुणप्रधान द्रव्य से पित्त प्रकुपित होता है। पार्थिव और कफ गुण वाले द्रव्यों से कफ बढ़ता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में भिन्न भिन्न तत्त्वों के गुण की अधिकता रहती है उसे भलीभांति समझकर एक दोष, द्विदोष और अनेक दोषों की चिकित्सा में प्रयुक्त करना चाहिये॥ ११-१४॥

तत्र, य इमे गुणा वीर्य्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ,। शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वम्, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम्, क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम्, गुरुलघुविपाकावुक्तगुणौ; तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः; गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः, तेषां मृदुशीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिलविशदौ चक्षुः स्पर्शाभ्यां, स्निग्धरूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनात्; गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च। तत्र तुल्यगुणेषु भूतेषु रसविशेषमुपलक्षयेत्। तद्यथा-मधुरो गुरुश्च पार्थिवः, मधुरः स्निग्धश्चाप्य इति॥ १५॥

द्रव्य में जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद ये अष्ट वीर्यसंज्ञक गुण हैं, उनमें तीक्ष्ण और उष्ण गुण आग्नेय हैं, शीत और पिच्छिल ये जलगुणभूयिष्ठ हैं, स्नेहगुण पृथिवी और जल की अधिकता से, मृदु गुण जल और आकाश की अधिकता से, रूक्षगुण वायु की अधिकता से तथा विशद गुण पृथिवी और पवन तत्त्व की अधिकता से होता है। गुरु और लघु अर्थात् मधुर तथा कटुविपाक के गुण प्रथम कह दिये हैं। इनमें उष्ण और स्निग्ध गुण वातनाशक हैं। शीत, मृदु और पिच्छिल गुण पित्तशामक होते हैं। तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद गुण श्लेष्मनाशक होते हैं। गुरुविपाक वात और पित्त को नष्ट करता है तथा लघुविपाक कफ को नष्ट करता है। इनमें से मृदु, शीत और उष्ण गुण स्पर्शनेन्द्रिय (त्वग्) द्वारा ग्राह्य होते हैं। पिच्छिल और विशद गुण नेत्र तथा स्पर्श से, स्निग्ध और रूक्ष गुण नेत्र द्वारा तथा तीक्ष्णगुण मुख में दुःख के उत्पादन से जाना जाता है। गुरुपाक मल और मूत्र के त्याग से तथा कफ के द्वारा उत्क्लेश होने से जाना जाता है इसी प्रकार लघुविपाक विष्ठा और मूत्र के विबन्ध से तथा वायु के कुपित होने से जाना जाता है। जिन भूतों (पृथिव्यादिक) में गुणों की समानता हो वहां विशिष्ट रस द्वारा प्रयोगादि की कल्पना करनी चाहिये जैसे पार्थिव द्रव्य मधुर और गुरुविपाकी होते हैं तथा जलीय-द्रव्य मधुर एवं स्निग्ध होते हैं॥ १५॥

भवति चात्र—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः॥ १६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यविशेषविज्ञानीयो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४१॥

इस विषय में कहा भी है कि-द्रव्यों में जो ये बीस गुण कहे हैं वे गुण मनुष्यों के शरीरों में भी उसी तरह विद्यमान रहते हैं इसलिये प्राणियों के शरीर में दोष, धातु और मलों की स्थिति, वृद्धि तथा क्षय सेवित द्रव्यों के कारण ही होते हैं॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने द्रव्यविशेषविज्ञानीयो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो रसविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'रसविशेषविज्ञानीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्मादाप्यो रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्॥ ३॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर एक एक गुण की वृद्धि होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण होते हैं। अर्थात् आकाश में शब्द गुण, वायु में शब्द और स्पर्शगुण, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूपगुण, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रसगुण एवं पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचो गुण होते हैं। इस तरह रस जल से उत्पन्न होता है। इन भूतों के परस्पर संसर्ग, परस्पर अनुग्रह तथा परस्पर अनुप्रवेश (एक का दूसरे में प्रवेश) होने से सर्व भूतों में सर्वभूतों का अथवा गुणों का सान्निध्य रहता है परन्तु जिसका उत्कर्ष (बाहुल्य) होता है उसी के नाम से उसका ग्रहण होता है एवं जिसका अपकर्ष (अल्पत्व) रहता है उसका उस नाम से ग्रहण नहीं होता है॥ ३॥

विमर्शः—प्रायः प्रत्येक भूत का उत्कर्षदृष्टि से एक एक मुख्य या नैसर्गिक गुण होता है—महाभूतानि ख वायुरग्निरापः

क्षितिस्तथा। शब्द स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणा ॥ प्रत्येक भूत में अपकर्ष दृष्टि से अन्य भूतों के गुण भी रहते हैं अतएव लिखा है कि 'एकोत्तरपरिवृद्धा' चरक ने भी यही माना है। तेषामेकगुण पूर्वो गुणवृद्धि परे परे। पूर्व पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥

स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते। तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात्कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात्कषाय इति।

तत्र, मधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥ ४ ॥

यह जलीय रस अन्य भूतों के संसर्ग से परिपक्व होकर ६ प्रकार का हो जाता है। जैसे मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। ये रस पुनः परस्पर मिलकर ६३ तिरसठ प्रकार के हो जाते हैं। पट्रसों में पृथिवी और जल के गुणों क बहुलता से मधुर रस, पृथिवी, और अग्नि गुण की बहुलता से अम्लरस, जल और अग्नि के गुण बाहुल्य से लवण रसी, वायु और अग्निगुण बाहुल्य से कटुरस, वायु और आकाशगुण बाहुल्य से तिक्तरस एव पृथिवी तथा पवन के गुण बाहुल्य से कषाय रस होता है। इनमें मधुर, अम्ल और लवण रस वात को नष्ट करते है। मधुर, तिक्त और कषाय रस पित्त को नष्ट करते है एवं कटु, तिक्त तथा कषाय रस कफ को नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—षड्रसगुणा —स्वाद्वम्ललवणा वायु कषायस्वादुतिक्तका। जयन्ति पित्त श्लेष्माण कषायकटुतिक्तका ॥

तत्र, वायु (यो) रात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति।

त एते रसाः स्वयोनिवद्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च ॥

इन में वायु वायु से ही उत्पन्न होता है। पित्त अग्नि से और श्लेष्मा (कफ) सोम अर्थात् जल से उत्पन्न होता है। ये मधुरादि षड्रस स्व (अपने) योनि (उत्पत्ति) करने वाले दोष के वर्द्धक होते हैं तथा अन्ययोनि जो दोष होते हैं उनके शामक होते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—स्वयोनि—कषायरस की योनि वायु, कटुकरस की योनि पित्त, मधुर रस की योनि श्लेष्मा है।

केचिदाहुरप्पोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः-सौम्या आग्नेयाश्च। तत्र मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः। कटवम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीता आग्नेयाश्चोष्णाः ॥ ६ ॥

कुछ आचार्य कहते हैं कि जगत् अग्निरूप और सौम्य (जलीय) रूप होने से रस भी सौम्य और आग्नेय ऐसे दो ही प्रकार के होते हैं। इनमें मधुर, तिक्त और कषाय सौम्य तथा कटु, अम्ल और लवण आग्नेय होते हैं। उनमें मधुर, अम्ल और लवण रस स्निग्ध तथा भारी होते हैं तथा कटु, तिक्त और कषाय रस रूक्ष और लघु होते हैं। सौम्यरस शीत और आग्नेय रस उष्ण होते हैं ॥ ६ ॥

तत्र, शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः। तस्य समानयोनिः कषायो रसः। सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्द्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति ॥ ७ ॥

उनमें शीत, रूक्ष, लघु, विशद और विष्टम्भ गुणों से युक्त लक्षण वाला वायु होता है तथा उसके समान योनि (उत्पत्तिस्थान) वाला कषाय रस है एवं यह कषाय रस शीतल होने से वायु की शीतता को बढ़ाता है तथा अपनी रूक्षता से वायु की रूक्षता को बढ़ाता है, स्वलाघव से वायु के लाघव को बढाता है, स्ववैशद्य से वायु की विशदता को बढ़ाता है और अपने वैष्टम्भ्य गुण से वायु की विष्टम्भता (विवन्धत्व) को बढ़ाता है ॥ ७ ॥

औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तम्। तस्य समानयोनिः कटुको रसः। सोऽस्यौष्ण्यादौष्ण्यं वर्द्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति ॥ ८ ॥

उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता, लघुता और विशदता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला पित्त है तथा इस पित्त के समान योनि वाला कटुरस है। यह रस अपनी उष्णता से पित्त की उष्णता को बढ़ाता है, स्वतीक्ष्णता से पित्त की तीक्ष्णता, स्वरूक्षता से पित्त की रूक्षता, स्वलघुता से पित्त की लघुता और स्ववैशद्य से पित्त की विशदता को बढ़ाता है ॥ ८ ॥

माधुर्य्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा। तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः। सोऽस्य माधुर्य्यान्माधुर्य्यं वर्द्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात्पैच्छिल्यमिति ॥ ९ ॥

माधुर्य, स्नेह, गौरव, शैत्य और पैच्छिल्य इन गुणों के लक्षणों से युक्त कफ होता है तथा उसके समान योनि वाला मधुर रस है। वह मधुर रस अपनी मधुरता से कफ के माधुर्य को बढ़ाता है तथा स्वस्नेह गुण से कफ की स्निग्धता को बढ़ाता है, स्वगौरवगुण से कफ की गुरुता को बढ़ाता है, स्वशैत्य गुण से कफ की शीतता को तथा स्वपैच्छिल्य गुण से कफ की पिच्छिलता को बढ़ाता है ॥ ९ ॥

तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः। स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्य्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद्गौरवमौष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात्पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥ १० ॥

उस कफ का दूसरा अन्य योनि कटुक रस है तथा यह कटु रस कफ के विरुद्ध गुण वाला होने से तथा कटुक होने से कफ की मधुरता को नष्ट करता है तथा यह कटुरस रूक्ष होने से कफ की स्निग्धता को नष्ट करता है एवं लघु होने से कफ

की गुरुता को नष्ट करता है, उष्ण होने से कफ की शीतता को तथा विशद होने से कफ की पिच्छिलता को नष्ट करता है। यह केवल दिग्दर्शन (उदाहरण) मात्र है ॥ १० ॥

विमर्शः—समानयोनि द्रव्य से दोष और धातुओं की वृद्धि तथा विपरीतयोनि द्रव्य से नाश होता है। यह सामान्य नियम है। वृद्धि समानै. सर्वेषा विपरीतैर्विपर्यय. । चरकेऽपि—रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति अभ्यस्यमाना'। एतद्धि व्यवस्थाहेतो. षट्त्वमुपदिश्यते रसाना त्रित्वञ्च दोषाणाम्। (चरक)।

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्द्धयति स मधुरः। यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति श्रद्धाञ्चोत्पादयति सोऽम्लः। यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति मार्दवं चापादयति स लवणः। यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकाञ्च स्रावयति स कटुकः। यो गले चोषमुत्पादयति मुखवैशद्यं जनयति भक्तरुचिं चापादयति हर्षञ्च स तिक्तः। यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं वध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषाय ॥ ११ ॥

अब इसके अनन्तर रसों का लक्षण कहते हैं। रसों में जो शरीर या मन की तुष्टि करता है, आह्लाद देता है, तृप्ति करता है, प्राणों का धारण करता है, मुख में चिपचिपापन पैदा करता है तथा कफ को बढ़ाता है वह मधुररस है एवं जो दन्तों को हर्षित करता है, मुख में लाला का स्राव करता है तथा भोज्यादि पदार्थ अधिक सेवन करने की इच्छा को उत्पन्न करता है वह अम्लरस है। इसी प्रकार जो भोजन में रुचि करता है, कफ को स्रवित करता है एवं शरीर में मृदुता उत्पन्न करता है वह लवण रस है। जो जीभ के अग्रप्रदेश में बाधा या झनझनाहट उत्पन्न करता है, उद्वेग उत्पन्न करता है, शिर को भारीपन से जकड देता है और नासा में सिंघाणक (नासा मल) या पानी का स्राव कराता है वह कटुक रस है। जो गले में चोष (चूषणसमान वेदना) पैदा करता है, मुख में विशदता पैदा करता है, खाने की रुचि और हर्ष उत्पन्न करता है वह तिक्त रस है एवं जो मुख (लाला रस) को सुखाता है, जिह्वा को स्तम्भित कर देता है, कण्ठ का संकोच करता है तथा हृदय को खींचता है तथा पीड़ित करता है वह कषाय रस है ॥

रसगुणानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत्सन्धानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमस्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति, तथाऽर्बुदश्लीपदवस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीन् जनयति ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर अब रसों के गुणों का वर्णन करते हैं। उनमें मधुर रस रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, वीर्य और दुग्ध इनका वर्धक है, नेत्रों के लिये हितकर है, केशों को लाभ पहुँचाता है, शरीर के रङ्ग को बढ़ाता है, बलकारक, भग्न हुए अस्थ्यादि भागों का सन्धान करता है, रक्त और रस को प्रसन्न करता है, बालक, वृद्ध, क्षत और क्षीण हुये मनुष्यों के लिये हित करता है, भ्रमर तथा चींटियों के लिये अत्यन्त प्रिय है एवं तृषा, मूर्च्छा और दाह को शान्त करता है, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इन छ इन्द्रियों को सन्तुष्ट करता है, और अधिक सेवन करने से कृमि और कफ को बढ़ाता है। यह मधुर रस उक्त प्रकार से अच्छे गुण वाला होने पर भी अकेला इसे ही अधिक सेवन किया जाय तो वह कास, श्वास, अलसक (अजीर्ण भेद), वमन, मुख की मधुरता, स्वर का नाश, कृमि रोग और गलगण्ड को पैदा करता है एवं अर्बुद, श्लीपद, वस्ति और गुदा में लेप सा या चिकनापन अथवा भारीपन और अभिष्यन्द (आंख का दूखना) प्रभृति रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

अम्लो जरण' पाचनो दीपनः पवननिग्रहोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिश्शीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसम्मीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षतार्तिहतदग्धदष्टभग्नशूनरुग्णप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति, कण्ठमुरो हृदयञ्चेति ॥ १३ ॥

अम्लरस भोजन का पाचन करने वाला, पाचन, दीपन, वायु का निग्रहकारक, दोषों का अनुलोमक या कार्मिनेटिव (Carminative), कोष में दाहकारक, बाहर से शीत, शरीर का क्लेदक और प्रायः हृदय के लिये हितकर होता है। वह ऐसा उत्तम गुणों वाला होता हुआ भी यदि अकेला ही अधिक मात्रा में सेवित किया जाय तो दन्तहर्ष, नेत्रसंकोच, शरीर में रोमाञ्चकारी, कफ का विलायक और शरीर की शिथिलता को उत्पन्न करता है तथा क्षत, अभिहत, दग्ध, सर्पादिदष्ट, अस्थ्यादिभग्न, शोथयुक्त, रुग्ण, प्रच्युत (स्वस्थानभ्रष्ट), लूतादि से अवमूत्रित, स्पर्शविषादि जन्तुओं के स्पर्श से दूषित, छिन्न, भिन्न, विद्ध और उत्पिष्ट (चूर्णित) आदि स्थानों को पकाता है तथा आग्नेय स्वभाव का होने से कण्ठ, छाती और हृदय में दाह उत्पन्न करता है ॥ १३ ॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृद्दुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखादिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लिकाप्रभृतीनापादयति ॥ १४ ॥

लवणरस दोषों का संशोधक, आमादि का पाचक, संधियों

का विश्लेपक, शरीर का छेदक, शिथिलताजनक, उष्ण, सर्व रसों का विरोधी, मलमूत्रादि मार्गों का विशोधक है तथा सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में मृदुता करने वाला है। वह ऐसा गुणों वाला होने पर भी उसे अकेला ही अधिक मात्रा में सेवित किया जाय तो शरीर में खुजली, कोठ, शोफ, विवर्णता, पुंस्त्व (मर्दानगी) का विनाश, इन्द्रियों के स्वकर्म का नाश, मुख और नेत्र में पाक, रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लिका (हृदय-प्रदाह Heart burn) आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूपशमनः सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलतालवोष्ठशोषदाहसन्तापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति ॥ १५ ॥

कटुकरस दीपन, पाचन, रोचन, दोषसशोधन करता है तथा स्थूलता, आलस्य, कफ, कृमि, विष, कुष्ठ, कण्डू इन्हें शान्त करना है एवं सन्धियों के बन्धनों को ढीला करता है, अनुत्साहकारक या हृदयादि का अवसाद करने वाला, दुग्ध, वीर्य और मेदोधातु का नाशक है। इस प्रकार के गुण वाले अकेले उस कटुक रस को अधिक सेवित किया जाय तो वह भ्रम, मद, गल, तालु और ओष्ठ में शोष, दाह तथा सन्ताप करता है एवं देह के बल का नाश, शरीर में कम्पन, सूई चुभोने की सी पीडा एवं तोडने की सी पीडा को करता है तथा हाथ, पैर, पार्श्व और पीठ आदि स्थानों में वातिक शूल उत्पन्न करता है ॥ १५ ॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ॥ १६ ॥

तिक्तरस कफादि का छेदक, स्वयं स्वादिष्ट न होते हुये भी अन्य भक्ष्य पदार्थों के खाने की रुचि को करने वाला, अग्नि का दीपक, दोषों का शोधक तथा कण्डू, कोठ, तृष्णा और ज्वर का प्रशमन करने वाला, दुग्ध का शोधक, विष्ठा, मूत्र, क्लेद, मेद, वसा और पूय का शोषण करने वाला है। ऐसा गुण वाला होता हुआ भी यदि उसे अकेला ही अधिक मात्रा में सेवित किया जाय तो वह शरीर के अवयवों तथा मन्या (ग्रीवा) में स्तम्भ (जकड़न), आक्षेपक, अर्दित (मुख का लकवा Facial paralysis), शिरःशूल, भ्रम, तोद, भेद, छेद एवं मुख में विरसता पैदा करता है ॥ १६ ॥

कषायः सङ्ग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति। स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडाऽऽस्यशोषोद्राध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥ १७ ॥

कषायरस संग्राही, व्रणादि का रोपक, रक्त या अन्य स्रावों का स्तम्भक, दोषों का शोधक, लेखक, शोषक, पीडक और क्लेद को सुखाने वाला है। ऐसा गुण वाला होता हुआ भी यदि उसे अकेला ही सेवित किया जाय तो हृदय में पीडा, मुख का शोष, उदर में आध्मान, बोलने में कठिनाई, मन्यास्तम्भ, अङ्गों का फड़कन, चुमचुमायमान (Tingling sensation), शरीर में आकुञ्चन और आक्षेप Convulsions) आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १७ ॥

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्टिकयवगोधूममाषशृङ्गाटककसेरुकत्रपुसैर्वारुककर्कारुकालाबुकालिन्दकतकगिलोड्यपियालपुष्करबीजकाश्मर्य्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजादनतालनालिकेरेक्षुविकारबलाऽतिबलाऽऽत्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरकक्षीरमोरटमधूलिकाकूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः ॥ १८ ॥

अब इसके आगे सर्व वर्गों के द्रव्यों का वर्णन करते हैं। जैसे काकोल्यादिगण की ओषधियां तथा दुग्ध, घृत, वसा, मज्जा, साली चावल, साँठी चावल, जौ, गेहूँ, उडदी, सिवाडे, कसेरु, त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककडी), कर्कारुक (खरबूजा), तोबी, कालिन्दक (तरबूज), निर्मली के फल, गिलोय (कन्दविशेष), पियाल (चिरौंजी), पुष्करबीज (कमलबीज), गम्भारी, महुआ, दाख, खजूर (पिण्डखजूर छुहारा), राजादन (खिरनी), तालवृक्ष फल, नारियल, साँठे के विकार जैसे, गुड, चीनी, राब आदि, बला (खिरैंटी), अतिबला (कंघी), कौंच के बीज, विदारी, क्षीरविदारी, गोखरू, क्षीरमोरट (किलाट अथवा सद्यः प्रसूता गौ का सात दिन तक निकलने वाला दुग्ध अथवा ऊख की जड), मधूलिका (मूर्वा), कूष्माण्ड (सफेद पेठा) प्रभृति सक्षेप से मधुरवर्ग के द्रव्य हैं ॥ १८ ॥

दाडिमामलकमातुलुङ्गाम्रातककपित्थकरमर्दबदरकोलप्राचीनामलकतिन्तिडीककोशाम्रकभव्यपारावतवेत्रफललकुचाम्लवेतसदन्तशठदधितक्रसुराशुक्तसौवीरकतुषोदकधान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः ॥ १९ ॥

अम्लवर्ग में दाडिम, आवले, बिजोरा नीबू, आमड़ा, कैथ, करौंदा, बैर, बड़े बैर, प्राचीनामलक (पानी आंवला), इमली, कोशाम्र (आम का भेद), भव्य (कमरख), पारावत (तिन्दुक भेद), वेंत का फल, लकुच (बड़हल), अमलवेंत, दन्तशठ (बड़ा जम्भीरी नीबू), दही, छाछ, सुरा, शुक्त, सौवीरक, (काञ्जी), तुषोदक, धान्याम्ल इत्यादि संक्षेप से ये सब द्रव्य हैं ॥ १९ ॥

विमर्श—सुरा से धान्याम्ल तक मद्य भेद हैं। सुरा—परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरा स्मृता। शुक्तम्—कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्र द्रवेऽभिपूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ तुषाम्बु—तुषाम्बु तन्दितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः। सौवीरं—यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं तन्दितं भवेत्। काञ्जिकं—कुल्माषवान्यमण्डादिसन्धितं काञ्जिकं विदुः ॥

सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमकसामुद्रकपक्वित्रमयवक्षारोपरप्रसूतसुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः ॥

विमर्शः—मदनपुष्पाणान्-मदनफलानान्-अत्र पुष्पशब्दः फले वर्तते, कारणे कार्योपचारात्। (डल्हण)।

मदनशलाटुचूर्णान्येवं वा बकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तान्यभिप्रतप्तानि; मदनशलाटुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम् ॥ ४ ॥

मदन के कच्चे फल के चूर्ण को एक पल प्रमाण में लेकर उक्त प्रकार से अपामार्गादि अनुपान के साथ पिलावे अथवा मौलसिरी, महानिम्ब इनकी छाल के क्वाथ में शहद और नमक मिलाकर गरम करके पिलावे। अथवा मदन के कच्चे फल के चूर्ण से सिद्ध की हुई तिल और चावलों की यवागू पिला कर वमन करना चाहिये ॥ ४ ॥

विमर्शः—उष्णमधुप्रयोग—प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्ण न निवार्यते। अल्पपाकमाश्वेव तयोर्नास्मान्निवर्तते ॥ (वाग्भट)।

निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशमूढावबद्धमृद्गोमयप्रलिप्तानां यवतुषमुद्गमाषशाल्यादिधान्यराशावष्टरात्रोषितक्लिन्नभिन्नानां फलानां फलपिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोषयेत्। तासां दधिमधुपललविमृदितपरिशुष्काणां सुभाजनस्थानामन्तर्नखमुष्टिमुष्णे यष्टीमधुककषाये कोविदारादीनामन्यतमे वा कषाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्तमाशीभिरभिमन्त्रितमुदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेदनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य—

'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानलानिलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥'

विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु। अप्रवर्त्तमाने वा दोषे पिप्पलीवचागौरसर्षपकल्कोन्मिश्रैः सलवणैरुत्तुपाम्बुभिः पुनः पुनः प्रवर्तयेदासम्यग्वान्तलक्षणादिति ॥ ५ ॥

जो मदन के फल भलीभांति पक गये हों, बहुत हरे या पीले न हों उन्हें कुशासे बनाये हुए सम्पुट में रख कर ऊपर से मिट्टी या गोबर पोत कर सुखा के यव-तुष, मूंग, उडदी, चावल आदि धान्यों के ढेर (राशि) में आठ दिनरात रखे। फिर वे फल नरम होकर फूट जावें तब उनके बीजों को निकाल कर धूप में सुखाना चाहिये। पश्चात् इन बीजों को दही, शहद, पल्लव (तिलचूर्ण) के साथ मृदित कर सुखा के एक पात्र या शीशी में भर कर सुरक्षित रख देवें। इस प्रकार बनाये हुये इन बीजों को अन्तर्नखमुष्टि में जितने आसकें उस प्रमाण में लेकर मुलेठी के गरम क्वाथ में अथवा कोविदारादिक संशोधन-संशमनीय एकादश क्वाथों में से किसी एक क्वाथ में मिलाकर रात भर पडा रख के दूसरे दिन प्रातःकाल इसमें शहद तथा सैन्धव लवण मिलाकर निम्नोक्त आशीर्वाद के मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके उत्तर में अथवा पूर्व में मुख कराके बिठाये हुये रोगी को पिलावे। ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, ऋषि, ओषधियों के समूह तथा भूत (प्राणि) समूह तेरी रक्षा करें। जिस तरह ऋषियों के लिये रसायन ओषधियां तथा देवताओं के लिये अमृत एवं उत्तम नागों के लिये सुधा है उसी तरह तेरे लिये यह औषध फलदायी हो। विशेषतया यह योग कफज्वर, प्रतिश्याय और अन्तर्विद्रधि में प्रयुक्त करने योग्य है। यदि इस योग के पिलाने से दमनादिरूपमें दोष पतित न हों तब पीपल, वचा और सफेद सरसों के कल्क में नमक मिलाकर गरम जलके साथ सम्यग्वान्त लक्षण होने तक बार२ पिलावे ॥

विमर्शः—सम्यग्वान्तलक्षणम्—'पित्तान्तमिष्टं वमन तथोर्ध्वम्'

मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्क्वाथपरिभावितं मदनफलकषायेण; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागासृक्पित्तहृदाहयोः; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छातमकेषु। मदनफलमज्जरसं भल्लातकस्नेहवदादाय फाणितीभूतं लेहयेत्। आतपपरिशुष्कं वा तमेव जीवन्तीकषायेण पित्ते कफस्थानगते। मदनफलमज्जकाथं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकषाययोरन्यतरेण सन्तर्पणकफजव्याधिहरं, मदनफलमज्जचूर्णं वा मधुककाश्मर्यद्राक्षाकषायेण। मदनफलविधानमुक्तम् ॥ ६ ॥

मदनफल की मज्जा के चूर्ण को उसी के क्वाथ की भावना दे कर मदनफल के क्वाथ के साथ पिला कर वमन कराना चाहिये। अथवा मदनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध किये हुये दुग्ध की मलाई को शहद में मिला कर खिला के वमन करावे। किंवा मदनफल की मज्जा से सिद्ध किये हुये दुग्ध को पिला कर वमन करावे। अथवा मदनफल की मज्जा से सिद्ध किये हुये दुग्ध में यवागू बना कर अधोभागगत रक्तपित्त और हृदय के दाह में पिलावे। यदि कफ गिरता हो, वमन होती हो तथा मूर्च्छा तथा तमक श्वास होता हो तो इनमें मदनफल की मज्जा से सिद्ध किये हुये दुग्ध का दही जमा के उसका दध्युत्तर (सर=दही के उपर का पानी) अथवा दही पिलाना चाहिये। मिलावें का जैसे तैल निकालते हैं उसी प्रकार मदन फल की मज्जा का रस अथवा तैल निकाल कर उसे पकाके फाणित की तरह गाढा करके चटावे। यदि पित्त कफ के स्थान में चला गया हो तो धूप में सूखे हुये मदनफल की मज्जा के चूर्ण को जीवन्ती क्वाथ के साथ पिलावे।

मदनफल की मज्जा के क्वाथ में पिप्पल्यादि गण की ओषधियों का चूर्ण प्रक्षिप्त कर अथवा मदनफल की मज्जा के चूर्ण को निम्ब तथा रूपिका (आक) इनमें से किसी एक के क्वाथ के साथ मिला कर पिलाने से सन्तर्पणजन्य अथवा कफजन्य रोग नष्ट हो जाते हैं। अथवा मदनफल की मज्जा के चूर्ण को मुलेठी, गम्भारी और द्राक्षा इनके क्वाथ के साथ पिलावे। इस तरह मदनफल के ये इकतीस प्रयोग कहे हैं ॥ ६ ॥

जीमूतककुसुमचूर्णं पूर्ववदेव क्षीरेण, निर्वृत्तेषु क्षीरयवागूं, रोमशेषु सन्तानिकाम्, अरोमशेषु दध्युत्तरं, हरितपाण्डुषु दधि तत्कषायसंसृष्टां वा सुरां, कफारोच-

ककासश्वासपाण्डुरोगयक्ष्मसु। पर्यागतेषु मदनफलमज्जवदुपयोगः।

तद्वदेव कुटजफलविधानम्।

कृतवेधनानामप्येष एव कल्पः।

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववत्। एवं क्षीरेण, कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः ॥ ७ ॥

जीमूतक (देवदाली) के पुष्पों के चूर्ण को पूर्व की तरह अर्थात् अपामार्ग, आक आदि के साथ दुग्ध में मिला कर पिला के वमन कराना चाहिये। अथवा जीमूतक के फलों के निर्वृत अर्थात् छोटे छोटे रूप में उत्पन्न होने पर उनसे दुग्ध पका के अथवा यवागू सिद्ध करके पिलानी चाहिये। जब फल कुछ बडे हो कर रोमश (कठिन) हो जांय तब उन्हें दुग्ध के साथ उबाल कर उस दुग्ध पर आई हुई मलाई (सन्तानिका) को खिलावे। जब फलों के रोम झड़ जावें तब उनके साथ दुग्ध उबाल कर उसका दही बना के उसके ऊपर जो स्वच्छ पानी होता है उसे पिलावे और जब फल हरे और पाण्डु वर्ण के हो जांय तब उनसे दुग्ध पका के उससे जमे हुये दही को खिलावे। अथवा उन फलों से सिद्ध क्वाथ के साथ सुरा मिला कर पिलावें। इस प्रकार ये जीमूतक के ऊपर कहे हुये ६ प्रयोग कफ, अरुचि, कास, श्वास, पाण्डुरोग और राजयक्ष्मा में प्रयुक्त करने से वमन हो कर दोषों का नाश होता है। जीमूतक के फलों के पर्यागत अर्थात् परिपक्व हो जाने पर मदनफल की मज्जा की तरह उनका प्रयोग करना चाहिये। जीमूतक की तरह ही कुटज (कूडे) के फलों का भी विधान (उपयोग) करना चाहिये। कृतवेधन (कड़वी तरोई) का प्रयोग भी कुटजफल के समान होता है। इक्ष्वाकु (कड़वी तुम्बी) के पुष्पों के चूर्ण को भी पहले की तरह दुग्ध के साथ लेना चाहिये। इससे कास, श्वास, वमन और कफ के रोगों में अच्छा उपयोग (लाभ) होता है ॥ ७ ॥

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगः। विशेषस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्मामयेषु वायौ च कफस्थानगते ॥ ८ ॥

धामार्गव (पीले पुष्प की कड़वी तोरी) का भी मदनफल की मज्जा की तरह उपयोग विशेष कर गर (कृत्रिम विष), गुल्म, उदर, कास, श्वास और कफ इन रोगों में तथा कफस्थान में गये हुये वात के संशमन में होता है ॥ ८ ॥

कृतवेधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां बहुशश्चूर्णमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति, तत्त्वनवबद्धदोषेषु यवागूमाकण्ठात्पीतवत्सु च विद्ध्यात्। वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं वा प्रधानतमानि भवन्ति ॥ ९ ॥

कृतवेधन (श्वेतपुष्प वाली कडवी तोरी) के फलों की मज्जा को अन्य वामक द्रव्यों के क्वाथ के साथ अनेक वार भावित कर धोंट के सुखा कर चूर्ण बनावे। फिर उस चूर्ण को उत्पल आदि (कुमुद, पुण्डरीक) पुष्पों पर छिड़क कर या उन पुष्पों में रख के सूंघने से वमन होता है। इस प्रयोग को जिनके दोष बहुत बढ़ गये हों तथा आकण्ठ तक यवागू पी ली हो उनमें प्रयुक्त करना चाहिये। इस तरह वमन, विरेचन और शिरोविरेचन के द्रव्यों को समान गुण वाले अन्य द्रव्यों के क्वाथ से भावित कर प्रयुक्त करने से वे उस कार्य के लिये अत्यन्त प्रधान (गुणकारक) हो जाते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—परिपीतानां=भावितानाम्। वमनद्रव्याणि कषायभावनयैव विशेषेण गुणवन्ति भवन्ति। तदाह चरकः—'भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः। सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद् बहुकर्मकृत्। स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद् द्रव्याणि भावयेत्॥' इति।

भवतश्चात्र—

वमनद्रव्ययोगानां दिगियं सम्प्रकीर्त्तिता।
तान् विभज्य यथाव्याधिकालशक्तिर्विनिश्चयात् ॥१०॥
कषायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान्।
पेयलेह्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत् ॥ ११ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

इस विषय में दो श्लोक हैं—वमन कराने वाले द्रव्यों के योगों का संक्षेप से यहां निर्देश किया गया है। रोग, काल और रोगी की या रोग की शक्ति आदि का निश्चय कर के इन वमन द्रव्यों को विभक्त कर कषाय, स्वरस, कल्क, चूर्ण आदि के रूप में पेय, लेह्य आदि भोज्य द्रव्यों के साथ बुद्धिमान् वैद्य वमनार्थ प्रयुक्त करे ॥ १०–११ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १–२ ॥

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी ॥ ३ ॥
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका।
सुधापयः पयःसूक्ष्ममिति प्राधान्यसङ्ग्रहः ॥ ४ ॥
तेषां विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ५ ॥

विरेचनार्थ प्रयुक्त होने वाले मूलों में लाल रङ्ग का निशोथ का मूल श्रेष्ठ है तथा त्वचाओं में तिल्वक (रोध्र) की त्वचा श्रेष्ठ है एवं विरेचनीय फलों में हरीतकी फल श्रेष्ठ है, तैलों में एरण्ड का तैल, स्वरसों में करेले का स्वरस, विरेचक दुग्धों में थूहर का दुग्ध श्रेष्ठ विरेचक है। इस तरह यह विरेचनीय द्रव्यों में प्रधान द्रव्यों का संग्रह कर दिया है। अब उन द्रव्यों के विधान का यथावत् क्रम से वर्णन करते हैं ॥ ३–५ ॥

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं मूलं महत्त्रैवृतमस्तदोषम्।
चूर्णीकृतं सैन्धवनागराढ्यमम्लैः पिबेन्मारुतरोगजुष्टः॥
इक्षोर्विकारैर्मधुरै रसैस्तत् पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेच्च।
गुडूच्यरिष्टत्रिफलारसेन सव्योपमूत्रं कफजे पिबेत्तत्॥

दूसरी विरेचक ओषधियों के स्वरस से भावित तथा कृमि-विषादि दोषों से रहित बडी निशोथ का मूल लेकर खाण्ड कूट के चूर्ण बना कर इसमें चतुर्थांश सैन्धव लवण और सोंठ का चूर्ण मिला के किसी भी अम्लरस जैसे विजोरे निम्बू या अनार-दाने के स्वरस के साथ वात रोगी सेवन करे। पैत्तिक रोग में ऊख के बने विकार (खाण्ड) के साथ अथवा मधुर रसों के साथ किंवा दुग्ध के साथ उक्त त्रिवृत् के योग को सेवन करे। यदि रोगी कफरोग से पीडित हो तो उक्त निशोथ के चूर्ण को गिलोय, निम्ब और त्रिफला के क्वाथ में सोंठ, मरिच और पीपल का चूर्ण का प्रक्षेप तथा गोमूत्र मिला कर पीवे॥ ६-७॥

त्रिवर्णकव्यूषणयुक्तमेतद् गुडेन लिह्यादनवेन चूर्णम्।
प्रस्थे च तन्मूलरसस्य दत्त्वा तन्मूलकल्कं कुडवप्रमाणम्
कर्षोन्मिते सैन्धवनागरे च
विपाच्य कल्कीकृतमेतदद्यात्।
तत्कल्कभागः समहौषधाद्धः
ससैन्धवो मूत्रयुतश्च पेयः॥ ६॥

इस निशोथ के चूर्ण को कफज रोगों में त्रिवर्णक अर्थात् त्रिजात (दालचीनी, तेजपात और छोटी एला) तथा त्र्यूषण (सोंठ, मरिच और पिप्पली) के चूर्ण के साथ संयुक्त कर पुराने गुड़ के साथ चाटना चाहिये। अथवा निशोथ का स्वरस एक प्रस्थ (दो शराव = १६ पल) ले कर उसमें निशोथ का कल्क एक कुडव (४ पल) भर मिलावे तथा सेन्धा नमक और सोंठ का चूर्ण एक एक कर्ष प्रक्षिप्त कर पकावे। जब कल्क के समान गाढा हो जाय तब सेवन करे। अथवा इस कल्क का एक भाग तथा इसमें आधा भाग सोंठ का चूर्ण मिला के थोडा सेन्धा नमक तथा गोमूत्र मिला कर पान करना चाहिये॥८-९॥

समात्रिवृन्नागरकाऽभयाः स्यु-
र्भागार्द्धकं पूगफलं सुपक्वम्।
विडङ्गसारो मरिचं सदारु
योगः ससिन्धूद्भवमूत्रयुक्तः॥ १०॥

निशोथ, सोंठ और हरड इन तीनों को समान प्रमाण अर्थात् एक २ तोले भर लेवें तथा ठीक पकी हुई सुपारी, वाय-विडङ्ग, मरिच और देवदारु इन्हें आधे आधे भाग (१ तोले) ले कर चूर्ण बना कर ६ माशे भर की मात्रा में सेन्धा नमक मिला कर गोमूत्र के अनुपान से उचित मात्रा (३ माशे से ६ माशे भर) में सेवन करना चाहिये॥ १०॥

विरेचनद्रव्यभवन्तु चूर्णं
रसेन तेषां भिषजा विमृद्य।
तन्मूलसिद्धेन च सर्पिषाऽऽक्तं
सेव्य तदाज्ये गुटिकीकृतञ्च॥ ११॥

त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों के चूर्ण को उन्हीं द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से भावित कर त्रिवृत् की जड़ के कल्क क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुये घृत के साथ गीला करके घोट कर गोली बनावें तथा घृत के साथ ही सेवन करें। गोलियां तीन माशे भर की बनावें। प्रमाण-बच्चों के लिये १ गोली, बडों के लिये २ गोली और क्रूर कोष्ठ वालों के लिये ४ गोली॥ ११॥

गुडे च पाकाभिमुखे निधाय
चूर्णीकृतं सम्यगिदं विपाच्य।
शीतं त्रिजातार्कमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः॥ १२॥

अथवा त्रिवृतादि विरेचक द्रव्यों के इस चूर्ण को चासनी होते हुये गुड़ में मिला कर ठीक तरह से पका के शीतल होने पर उसमें दालचीनी, तेजपात और छोटी इलायची इनका चूर्ण सुगन्धि के लिये मिला कर घोट के एक २ माशे प्रमाण की गुटिकाएं बना लेनी चाहिये। एक से चार गुटिका तक विरेचनार्थ सेवन करावें॥ १२॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं
सिद्धं साद्धं क्वाथभागैश्चतुर्भिः।
आमृद्नीयात् सर्पिषा तच्छृतेन
तत्क्वाथोष्मस्वेदितं सामितञ्च॥ १३॥
पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं तत्
क्षिप्तं पक्वं चावतार्य प्रयत्नात्।
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धाः
कार्यास्त्वेते भक्ष्यकल्पाः समासात्॥ १४॥

त्रिवृतादि विरेचनीयद्रव्यों के चूर्ण का एक भाग तथा विरेचनीय द्रव्यों के क्वाथ का चार भाग ले कर परस्पर मिला के पका कर चूर्ण कर ले। फिर सामित अर्थात् विशिष्टरूप से बनाये हुए श्वेत गेहूं को लेकर त्रिवृतादिद्रव्यों के क्वाथ की उष्मा (भाप) से स्वेदित कर त्रिवृतादि से सिद्ध किये हुये घृत के साथ इन गेहू को मिला कर मर्दन करें तथा फिर चूर्ण के रूप में करके उक्त पकाये हुये त्रिवृतादिचूर्ण में मिला कर पाक को प्राप्त हुई गुड़ की चासनी (फाणित) में मिला कर पकाके उतार लेवें। शीतल होने पर उसमें सुगन्धार्थ दालचीनी, तेजपात और इलायची का चूर्ण प्रक्षिप्त कर हृदय के लिये हितकर गन्ध वाले एक २ तोले के मोदक बना लेना चाहिये॥ १३-१४॥

विमर्शः—सामित = समिता एव सामित, गोधूमचूर्णमित्यर्थः। तदाह राजनिघण्टौ-'गोधूमा धवला धौता. कुट्टिता शोधितास्तत.। प्रोक्षिताश्च विनिष्पिष्टाश्चालिता. समिता. स्मृता॥' इति।

रसेन तेषां परिभाव्य मुद्गान्
यूपः ससिन्धूद्भवसर्पिरिष्टः।
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद्वमनौषधैश्च॥ १५॥

वैरेचनिक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से मूंगों को भावित कर उनका यूष बना के उसमें सैन्धव नमक तथा घृत डाल कर विरेचनार्थ सेवन करावे। इसी प्रकार मसूरादि अन्य द्विदलों को भी वैरेचनिक द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ से भावित कर यूष बना लेना चाहिये। ऐसे ही वामक द्रव्यों के स्वरस या

काय से विदलों को भावित कर यूष बनाना चाहिये ॥ १५ ॥

भित्त्वा द्विधेक्षुं परिलिप्य कल्कै-
स्त्रिभण्डिजातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा ।
पक्वञ्च सम्यक् पुटपाकयुक्त्या
खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम् ॥ १६ ॥

सांठे को बीच से द्विधा (दो भागों में) चीर कर चीरे हुये प्रदेश में कल्क का लेप कर डोरी से बांध कर पुटपाक विधि से पका के शीतल होने पर पित्तरोगी उसे चूसे ॥ १६ ॥

विमर्शः—पुटपाकविधिः—पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्याङ्गारवर्णता । लेपश्च द्व्यङ्गुलं स्थूलं कुर्याद्विडुम्बमात्रकम् ॥ काश्मरीवटजम्ब्वादिपत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ॥ (शार्ङ्गधर) ।

सिताजगन्धात्वक्क्षीरीविदारीत्रिवृतः समाः ।
लिह्यान्मधुघृताभ्यान्तु तृड्दाहज्वरशान्तये ॥ १७ ॥

शर्करा, जङ्गली अजवायन, वंशलोचन, भूमिकूष्माण्ड और निशोथ इन्हें समान प्रमाण में ले कर चूर्णित करके १ माशे से ३ माशे तक की मात्रा में शहद तथा घृत के साथ तृषा, दाह और ज्वर की शान्ति के लिये सेवन करना चाहिये ॥ १७ ॥

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम् ॥ १८ ॥

शर्करा और शहद के साथ निशोथ का चूर्ण मिला कर उस में दालचीनी, तेजपात और कालीमरिचों का चूर्ण चतुर्थांशरूप में मिला कर सुकुमार प्रकृति के लोगों के लिये रेचनार्थ देना चाहिये ॥ १८ ॥

पञ्चेल्लेहं सिताक्षौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।
त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥ १९ ॥

शर्करा १ पल और शहद आधा कुडव (२ पल) ले कर उसमें निशोथ का चूर्ण मिला के अवलेह बनाकर शीत होने पर सेवन करे। यह पित्तनाशक विरेचन है ॥ १९ ॥

त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीर्मधुनाऽऽप्नुयात् ।
सर्वश्लेष्मविकाराणां श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ २० ॥

निशोथ, श्यामा (विधारा), यवक्षार, सोंठ और पीपल इनका चूर्ण बना के मधु के साथ सेवन करे। सर्व प्रकार के कफजन्य विकारों के लिये यह श्रेष्ठ विरेचन है ॥ २० ॥

बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजान् ।
तैलभृष्टान् रसानम्लफलैराप्य साधयेत् ॥ २१ ॥
घनीभूतं त्रिसौगन्ध्यं त्रिवृत्क्षौद्रसमन्वितम् ।
लेह्यमेतत्कफप्रायैः सुकुमारैर्विरेचनम् ॥ २२ ॥

अच्छी तरह से पकी हुई हरड, काश्मरी (गम्भारी), आंवले, अनारदाने और बेर इनको समप्रमाण में ले कर एरण्ड तैल में भून कर बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस में पकाना चाहिये। आसन्नपाकावस्था में अर्थात् गाढा होने पर इसमें दालचीनी, इलायची और तेजपात का चूर्ण एवं निशोथ का चूर्ण तथा शहद मिला कर पाक कर लेवे। कफ जिनका अधिक बढ़ा हो और जो सुकुमार हों उनके द्वारा यह विरेचक लेह्य सेवन करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

नीलीतुल्यं त्वगेलञ्च तैस्त्रिवृत्सितोपला ।
चूर्णं सन्तर्पणं क्षौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत् ॥ २३ ॥

नीली, दालचीनी और छोटी इलायची इन्हें तुल्य प्रमाण में लेवें तथा इन सब के बराबर शर्करा और निशोथ का चूर्ण लेकर शहद और अम्लफलों के रसानुपान के साथ सेवन करने से सन्तर्पण करता है तथा सन्निपात (त्रिदोष) को नष्ट करता है ॥ २३ ॥

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः ।
मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहाः ॥ २४ ॥

निशोथ, विधारा, पीपल और हरड, बहेड़ा, आंवला इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके शहद के साथ एक २ तोले भर के मोदक बना कर सेवन करने से सन्निपात, ऊर्ध्वरक्तपित्त और ज्वर नष्ट होता है ॥ २४ ॥

त्रिवृद्भागास्त्रयः प्रोक्तास्त्रिफला तत्समा तथा ।
क्षारकृष्णाविडङ्गानि सञ्चूर्ण्य मधुसर्पिषा ॥ २५ ॥
लिह्याद् गुडेन गुटिका कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत् ।
कफवातकृतान् गुल्मान् प्लीहोदरहलीमकान् ॥
हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम् ॥ २६ ॥

निशोथ तीन भाग, त्रिफला तीन भाग, यवक्षार एक भाग, पिप्पली एक भाग और वायविडङ्ग एक भाग लेकर चूर्णित करके १ माशे से ४ माशे तक मात्रा में लेकर शहद और घृत के अनुपान से सेवन करे। अथवा गुड के साथ उक्त चूर्ण की गोली बनाकर सेवन करे। यह योग कफ तथा वायु से उत्पन्न गुल्म रोग, प्लीहावृद्धि, उदररोग, हलीमक तथा अन्य रोगों को भी नष्ट करता है। यह उपद्रव रहित विरेचन है ॥ २५-२६ ॥

चूर्णं श्यामात्रिवृन्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा ।
चव्येन्द्रवीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसाम्बुभिः ।
पीतं विरेचनं तद्धि रूक्षाणामपि शस्यते ॥ २७ ॥

श्यामा (काली निशोथ या विधारा), सफेद निशोथ, नीली, कुटकी, नागरमोथा, धमासा, चव्य, इन्द्रयव और त्रिफला इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके घृत, मांसरस और जल किसी भी अनुपान के साथ सेवन करने से विरेचन होता है। यह योग रूक्षप्रकृति वाले मनुष्यों के लिए भी लाभदायक है ॥ २७ ॥

वैरेचनिकनिःक्वाथभागाः शीतास्त्रयो मताः ।
द्वौ फाणितस्य तच्चापि पुनरग्नावधिश्रयेत् ॥ २८ ॥
तत् साधुसिद्धं विज्ञाय शीतं कृत्वा निधापयेत् ।
कलसे कृतसंस्कारे विभज्यर्तू हिमाहिमौ ॥ २९ ॥
मासादूर्ध्वं जातरसं मधुगन्धं वरासवम् ।
पिबेदसावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्वपि ॥ ३० ॥

विरेचन करनेवाले (निशोथादि) द्रव्यों के शीत क्वाथ तीन भाग तथा गुड की राब (काक्व) दो भाग मिलाकर अग्नि पर पकावे। अच्छी प्रकार सिद्ध हुआ जानकर ठंडा करके संस्कारित कलस अथवा काचपात्र या चीनी मिट्टी के पात्र में

रख देवें फिर शीत ऋतु में एक मास तथा उष्ण ऋतु में एक पक्ष तक रखे। जब उसमें उत्तम रस तथा मधु के समान गन्ध आने लगे तब उसका सेवन करना चाहिये। क्षार, मूत्र तथा अन्य आसवों के बनाने की भी यही विधि है ॥२८-३०॥

वैरेचनिकमूलानां क्वाथे मापान् सुभावितान्।
सुधौतांस्तत्कषायेण शालीनाञ्चापि तण्डुलान् ॥३१॥
अवक्षुण्यैकतः पिण्डान् कृत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान्।
शालितण्डुलचूर्णञ्च तत्कषायोष्मसाधितम् ॥ ३२ ॥
तस्य पिष्टस्य भागांस्त्रीन् किण्वभागविमिश्रितान्।
मण्डोदकार्थे क्वाथञ्च दद्यात्तत्सर्वमेकतः ॥ ३३ ॥
निदध्यात्कलसे तान्तु सुरां जातरसां पिबेत्।
एष एव सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्त्तितः ॥ ३४ ॥

वैरेचनिक द्रव्यों की जड़ के क्वाथ में भावित किये हुये उड़दों को तथा अच्छी प्रकार धोये हुये और उन्हीं द्रव्यों के क्वाथ में भावित किये हुये शाली के चावलों को लेकर अच्छी प्रकार दोनों को खांड कूट कर पिण्ड बना के सुखा लेवे। फिर अन्य शाली चावलों का चूर्ण लेकर उक्त विरेचनीय द्रव्यों के क्वाथ की ऊष्मा (भाप) से पकावे फिर इसे उपर्युक्त तथा मापतण्डुलमिलित चूर्ण के तीन भाग तथा किण्व का एक भाग मिलाकर सुरा बनाने के लिये वैरेचनिक द्रव्यों का क्वाथ भी उसी के साथ मिलाकर सबको एक मिट्टी के सुवासित कलसे में भर कर मास भर रख दें। फिर इसमें अच्छा रस उत्पन्न हो जाय या सुरा बन जाय तब विरेचनार्थ पीनी चाहिये। वमन के लिये भी इसी कल्प (विधि) के अनुसार वामक द्रव्यों से सुरा निर्माण कर लेनी चाहिये॥

मूलानि त्रिवृदादीनां प्रथमस्य गणस्य च।
महतः पञ्चमूलस्य मूर्वाशार्ङ्गष्टयोरपि ॥ ३५ ॥
सुधां हैमवतीं चैव त्रिफलाऽतिविषे वचाम्।
संहृत्यैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयोः ॥ ३६ ॥
कुर्यान्निःक्वाथमेकस्मिन्नेकस्मिंश्चूर्णमेव तु।
क्षुण्णांस्तस्मिंस्तु निःक्वाथे भावयेद् बहुशो यवान् ३७
शुष्काणां मृदुभृष्टानां तेषां भागास्त्रयो मताः।
चतुर्थं भागमावाप्य चूर्णानामनुकीर्त्तितम् ॥ ३८ ॥
प्रक्षिप्य कलसे सम्यक् समस्तं तदनन्तरम्।
तेषामेव कषायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥
पूर्ववत्सन्निदध्यात्तु ज्ञेयं सौवीरक हि तत् ॥ ३९ ॥

त्रिवृतादि सशोधनीय गण के द्रव्यों की जड़ें, प्रथम (विदारीगन्धादि) गण के द्रव्यों की जड़, बड़े पञ्चमूल के द्रव्यों की जड तथा मूर्वा, शार्ङ्गष्टा (पूतिकरञ्ज) की जड़, थूहर, उशारे रेवन्द, त्रिफला, अतीस और वचा इन्हें समान प्रमाण में लेकर संयुक्त करके दो भाग कर लेवें। एक भाग का क्वाथ बना लेवें तथा दूसरे भाग का चूर्ण बना लेना चाहिये। फिर ओखली में कूटे हुये यवों को उक्त क्वाथ में कई बार भावित कर सुखा के हल्के रूप में भून लेवें। अब इन भूने यवों का तीन भाग के साथ पूर्व चूर्ण का एक भाग मिलाकर सबको एक मिट्टी के कलसे में डाल कर उसमें त्रिवृतादि द्रव्यों का शीतल क्वाथ मिलाकर पूर्ववत् सन्धान कर देवें। इसे 'सौवीरक' कहते हैं ॥ ३५-३९ ॥

विमर्शः—भावनाप्रकार-दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ विवासयेत्। शुष्कं चूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताहं भावनाविधिः ॥ द्रवेण यावता द्रव्यमेकीभूयार्द्रता व्रजेत्। द्रवप्रमाणं निर्दिष्टं भिषग्भिर्भावनाविधौ ॥ भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथ्यादष्टगुणं जलम्। अष्टांशशोषितं क्वाथो भाव्यानां तेन भावना ॥

पूर्वोक्तं वर्गमाहृत्य द्विधा कृत्वैकमेतयोः ॥ ४० ॥
भागं संक्षुद्य संसृज्य यवैः स्थाल्यामधिश्रयेत्।
अजशृङ्ग्याः कषायेण तमभ्यासिच्य साधयेत् ॥४१॥
सुसिद्धांश्चावताप्यैतानोषधिभ्यो विवेचयेत् ॥
विमृद्य सतुषान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ॥ ४२ ॥
पूर्वोक्तौषधभागस्य चूर्णं दत्त्वा तु पूर्ववत् ॥
तेनैव सह यूषेण कलसे पूर्ववत्क्षिपेत् ॥ ४३ ॥
ज्ञात्वा जातरसञ्चापि तत्तुषोदकमादिशेत्।
तुषाम्बुसौवीरकयोर्विधिरेषः प्रकीर्त्तितः ॥ ४४ ॥
षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्त्तिते।
वैरेचनेषु सर्वेषु त्रिवृन्मूलविधिः स्मृतः ॥ ४५ ॥

'सौवीर सन्धान' में कहे हुये त्रिवृतादि से शार्ङ्गष्टा तक के द्रव्य लेकर उनके दो भाग बना के एक भाग को कूट कर सतुष यवों के साथ सयुक्त कर एक स्थाली (पात्र) में रख कर मेढासिङ्गी का क्वाथ डाल कर पकावें। अच्छी प्रकार से पके हुये यवों को ओषधियों के चूर्ण से पृथक् कर अच्छी प्रकार ओखली में कूट के शेष बचे हुये आधे औषध चूर्ण के साथ मिलाकर इन सब को पूर्ववत् एक कलसे में भर कर जौ के उबले हुये उसी क्वाथ को डालकर मुख बन्द करके धान्यराशि में रख दें। जब उसमें अम्लरस उत्पन्न हो जाय तब उसे 'तुषोदक' कहना चाहिये। इस तरह यह 'तुषाम्बु' तथा 'सौवीरक' बनाने की विधि का वर्णन किया है। प्रायः ये दोनों ६ या ७ रात्रि भर सन्धित रखने से पीने योग्य बन जाते हैं। आसवारिष्ट की तरह मास भर रखने की जरूरत नहीं है। विरेचनीय द्रव्य जैसे-श्यामा, द्रवन्ती, दन्ती, सप्तला आदि के योग निर्माण करने के लिये त्रिवृत् के जो जो योग बनाये हैं उसी प्रकार इनसे भी योग तैय्यार कर लेने चाहिये ॥४०-४५॥

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि विशेषान्मृत्कुशान्तरे।
पिप्पलीक्षौद्रयुक्तानि स्विन्नान्युद्धृत्य शोषयेत् ॥४६॥
ततस्त्रिवृद्विधानेन योजयेच्छ्लेष्मपित्तयोः।
तयोः कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ॥ ४७ ॥
सर्पिश्च पक्वं वीसर्पकफादाहालजीर्जयेत्।
मेहगुल्मानिलश्लेष्मविबन्धांस्तैलमेव च ॥ ४८ ॥

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ को पिप्पली के चूर्ण तथा शहद से लिप्त कर मिट्टी और कुशा से लपेट कर पुटपाक विधि से स्वेदित कर निकाल के सुखा लेवें। फिर त्रिवृत् की तरह श्लेष्मा और पित्त के रोगियों में सेवनार्थ प्रयुक्त करे। इसी तरह दन्ती और द्रवन्ती के कल्क तथा क्वाथ से चक्र तैल (कोल्हू से निकाला तिल तैल) सिद्ध कर लेवें

तथा घृत भी सिद्ध कर लें। यह घृत वीसर्प, कण्डू और अलजी को नष्ट करता है तथा तैल प्रमेह, गुल्म एवं वातजन्य तथा कफजन्य मलावरोध को नष्ट करता है ॥ ४१–४८ ॥

चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसंरोधजा रुजः।
दन्तीद्रवन्तीमरिचकनकाह्वयवासकैः ॥ ४९ ॥
विश्वभेषजमृद्वीकाचित्रकैर्मूत्रभावितम्।
सप्ताहं सर्पिषा चूर्णं योज्यमेतद्विरेचनम् ॥ ५० ॥
जीर्णे सन्तर्पणं क्षौद्रं पित्तश्लेष्मरुजापहम्।
अजीर्णपार्श्वरुक्पाण्डुप्लीहोदरनिबर्हणम् ॥ ५१ ॥

घृत, तैल, वसा और मज्जा यह चार प्रकार का स्नेह मल, वीर्य और वायु इनके अवरोध से उत्पन्न हुई व्याधियों को नष्ट करता है। दन्ती, द्रवन्ती, काली मरिच, कनकाह्वा (नागकेशर), यवासा (दुरालभा), सोंठ, द्राक्षा और चित्रक इन्हें समान प्रमाण में लेकर सात दिन तक गोमूत्र में भावित कर घृत के साथ विरेचनार्थ प्रयुक्त करें। औषध के जीर्ण होने के बाद लाजसक्तु से सन्तर्पण तथा शहद का सेवन करें। यह विरेचक योग पित्त और कफ के रोग, अजीर्ण, पार्श्वपीडा, पाण्डु तथा प्लीहोदर को नष्ट करता है ॥ ४९–५१ ॥

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्युः पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥ ५२ ॥
कृत्वैतान्मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि।
ततः खादेदुष्णतोयसेवी निर्यन्त्रणास्त्विमे ॥
दोषघ्ना ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठनाशनाः ॥ ५३ ॥

पुराना गुड़ आठ पल, हरड़ बीस नग, दन्ती और चित्रक एक २ पल, पिप्पली और निशोथ एक २ कर्ष (तोला) भर लेकर खाण्ड कूट के उक्त गुड़ में मिला कर बराबर के प्रमाण में दस मोदक बनाना चाहिये। इनमें से एक २ मोदक प्रतिदिन दसवें दिन खावे तथा ऊपर से गरम जल पीवे। ये मोदक वातातपादि के परहेज के बिना ही सेवन करने से दोषों के नाशक तथा संग्रहणी, पाण्डुरोग और कुष्ठ को नष्ट करते हैं ॥५२–५३ ॥

व्योषं त्रिजातकं मुस्ता विडङ्गामलके तथा ॥ ५४ ॥
नवैतानि समांशानि त्रिवृद्दष्टगुणानि वै।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतानीह दन्तीभागद्वयं तथा ॥ ५५ ॥
सर्वाणि चूर्णितानीह गालितानि विमिश्रयेत्।
षड्भिश्च शर्कराभागैरीषत्सैन्धवमाक्षिकैः ॥ ५६ ॥
पिण्डितं भक्षयित्वा तु ततः शीताम्बु पाययेत्।
वस्तिरुक्तृड्ज्वरच्छर्दिशोषपाण्डुभ्रमापहम् ॥ ५७ ॥
निर्यन्त्रणमिदं सर्वं विषघ्नन्तु विरेचनम्।
त्रिवृद्दष्टकसंज्ञोऽयं प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥ ५८ ॥
भक्ष्यः क्षीरानुपानो वा पित्तश्लेष्मातुरैर्नरैः।
भक्ष्यरूपसधर्मत्वादाढ्येष्वेव विधीयते ॥ ५९ ॥

सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात, नागरमोथा, वायविडङ्ग और आंवला ये नौ द्रव्य समान भाग अर्थात् इनको एक एक तोले भर लेवे तथा निशोथ आठ तोले भर लेकर सबका महीन चूर्ण कर ले तथा इसमें दन्ती को दो तोले भर मिलाकर सबका महीन कपड़छन चूर्ण करके ६ तोले शक्कर एवं एक तोले भर नमक तथा मधु मिला कर छोटे छोटे (एक २ तोले भर के) लड्डू बना कर सेवन करें। बाद में ठण्डे पानी का अनुपान करे। इस योग से वस्ति के विकार, तृषा, ज्वर, वमन, शरीर की दुर्बलता, पाण्डुरोग तथा भ्रम-रोग नष्ट होते हैं। यह योग भी शीतवातातपादि परहेजों के विना ही सेवन किया जाता है तथा विष का नाशक एवं विरेचक है। यह 'त्रिवृद्दष्ट' सज्ञा वाला योग पित्तके रोगियों के लिये श्रेष्ठ है। कफ और पित्त के रोगों से पीडित मनुष्य इस योग को दुग्धानुपान से सेवन करें। यह भक्ष्य पदार्थों के समान होने से धनाढ्य रोगियों के लिये भी उत्तम है ॥५४–५९॥

तिल्वकस्य त्वचं शुष्कामन्तर्वल्कविवर्जिताम्।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कषायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीयं भावितं तेन भागं शुष्कन्तु भावितम्।
दशमूलीकषायेण त्रिवृद्वत्सम्प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

लोध्र की जड़ के अन्दर की कठिन छाल छोड कर सूखी छाल का चूर्ण करके उसके तीन भाग में से दो भाग लेकर उसी की छाल के क्वाथ से भावित कर पका लेवे। फिर तिल्वक के चूर्ण के शेष तीसरे भाग को उसी के क्वाथ से भावित कर सुखा लेवें। पश्चात् सब चूर्ण को मिला कर दशमूल के क्वाथ से भावित कर सुखा के त्रिवृत् की तरह विरेचनकर्म में प्रयुक्त करें ॥ ६०–६१ ॥

विधानं त्वक्षु निर्दिष्टं फलानामथ वक्ष्यते।
हरीतक्याः फलं त्वस्थिविमुक्तं दोषवर्जितम् ॥ ६२ ॥
योज्यं त्रिवृद्विधानेन सर्वव्याधिनिबर्हणम्।
रसायनं परं मेध्यं दुष्टान्तव्रणशोधनम् ॥ ६३ ॥

अब तक विरेचनीय द्रव्यों की त्वचाओं की विधि का वर्णन किया है। अब विरेचनीय फलों की विधि का वर्णन करते हैं। हरीतकी के निर्दोष तथा अस्थिरहित फल लेकर त्रिवृत् की विधि के अनुसार प्रयुक्त करने से सब रोगों का नाश होता है। ये फल परम रसायन, मेधाके लिये हितकारी तथा दुष्ट और अन्तर्व्रण को शुद्ध करते हैं ॥ ६२–६३ ॥

विमर्श.—प्रशस्तफलानि—आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि। आदित्यपवनच्छायसलिलप्रीणितानि च ॥ यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च ॥ (चरक)। रसायनलक्षणम्—लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम्। यज्जराव्याधिविध्वसि भेषज तद्रसायनम्। स्वस्थस्यौजस्कर यत्तु तद् वृष्य तद्रसायनम् ॥

हरीतकी विडङ्गानि सैन्धवं नागरं त्रिवृत्।
मरिचानि च तत्सर्वं गोमूत्रेण विरेचनम् ॥ ६४ ॥

हरीतकी, वायविडङ्ग, सैन्धव, सोंठ, निशोथ तथा मरिच इनका समप्रमाण चूर्ण बना के गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है ॥ ६४ ॥

हरीतकी भद्रदारु कुष्ठं पूगफलं तथा।
सैन्धवं शृङ्गवेरञ्च गोमूत्रेण विरेचनम् ॥ ६५ ॥

हरड़, देवदारु, कूठ, सुपारी, सैन्धव और सोंठ इन्हें सम-

प्रमाण में चूर्णित कर गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है ॥ ६५ ॥

नीलिनीफलचूर्णञ्च नागराभययोस्तथा।
लिह्याद् गुडेन सलिलं पश्चादुष्णं पिबेन्नरः ॥ ६६ ॥

नीलिनीफल, सोंठ और हरड़ इनके चूर्ण को गुड़ के साथ खाकर उष्ण जल पीने से विरेचन होता है ॥ ६६ ॥

पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम्।
सैन्धवोपहितां सद्य एष योगो विरेचयेत् ॥ ६७ ॥

हरीतकी के चूर्ण में सेन्धालोन मिलाकर पिप्पल्यादिगण के क्वाथानुपान से पीने से सद्य विरेचन होता है ॥ ६७ ॥

हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥ ६८ ॥
वातानुलोमनी वृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी।
सन्तर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥ ६९ ॥

हरड़ के चूर्ण को सोंठ या गुड अथवा सैन्धव लवण के साथ निरन्तर सेवन करने से अग्नि को दीप्त करती है तथा वातकी अनुलोमिनी और वृष्यगुणवती है एवं इन्द्रियों की प्रसादिका है। सन्तर्पण की अधिकता से उत्पन्न हुये रोगों को प्रायः हरड नष्ट कर देती है ॥ ६८-६९ ॥

विमर्शः—वृष्यलक्षणम्—यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु। हर्षणं मनसश्चैव तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥ (चरक)। किन्तु वीर्यक्षयवाले रोगियों में हरीतकी श्रेष्ठ नहीं है—क्षीणिनो रूक्षदुर्बलस्त्रीसक्तविषिक्तांश्च ॥ (चरक)। सन्तर्पणकृतरोगाः—अनेहकं बृंहितकं क्लोठनष्ठीलामत्स्याराः। कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः ॥ तत्रालस्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता। इन्द्रियोपतप्तिः लेष्मा दृष्टेर्मोहः प्रसेकश्च ॥ (चरक)।

शीतमामलकं रूक्षं पित्तमेदःकफापहम्।
विभीतकमनुष्णन्तु कफपित्तनिबर्हणम् ॥ ७० ॥
त्रीण्यम्ललवणकषायाणि सतिक्तमधुराणि च।
त्रिफला सर्वरोगघ्नी त्रिभागघृतमूर्च्छिता ॥ ७१ ॥
वयसः स्थापनं चापि दुर्वान् सन्ततसेविता।
हरीतकीविधानेन फलान्येवं प्रयोजयेत् ॥ ७२ ॥
विरेचनानि सर्वाणि विशेषाच्चतुरङ्गुलान्।
फलं काले समुद्धृत्य सिकतायां निधापयेत् ॥ ७३ ॥
सप्ताहमानपे शुष्कं ततो मज्जानमुद्धरेत्।
तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद्वा प्रपीड्य च ॥ ७४ ॥
तस्योपयोगो बालानां यावद्वर्षाणि द्वादश।
लिह्याद्देरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ॥ ७५ ॥
सुखोदकञ्चानुपिबेदेष योगो विरेचयेत्।
एरण्डतैलं त्रिफलाकाथेन त्रिगुणेन तु ॥ ७६ ॥
युक्तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत्।
बालवृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥ ७७ ॥

आंवला शीत, रूक्ष तथा पित्त, मेद और कफका नाशक है। बहेडा न अधिक उष्ण न ठंडा है तथा कफ और पित्त को नष्ट करता है। ये तीनों अर्थात् हरड, बहेड़ा और आंवला अम्ल, कषाय, तिक्त और मधुर रसवाले होते हैं। त्रिफला त्रिगुण घृतके साथ मिलाकर नित्य सेवन करने से सर्व रोगों को नष्ट करती है तथा आयु की स्थापक है। सर्व प्रकार के विरेचक फलों का उपयोग हरड़ की तरह करे। विशेष कर अमलतास के पके हुये फल (फली) को योग्य समय में लेकर सात दिन तक बालू (रेत) में गाड़ कर रखें। फिर धूप में सुखा कर उनकी गिरी निकाल लेनी चाहिये। फिर इसे जल में उबालके अथवा तिलों की तरह कोल्हू में पीस कर तैल निकालना चाहिये। इस तैल का उपयोग बारह वर्ष तक के बच्चों के लिये होता है। इस तैल को एरण्ड तैल, कुष्ठ तथा त्रिकटु के साथ मिलाकर चाटना चाहिये पश्चात् कुछ उष्ण जल का अनुपान करना चाहिये। यह प्रयोग रेचन करता है। इसी तरह एरण्ड के तैल को त्रिगुण त्रिफला क्वाथ के साथ किंवा दुग्ध के साथ या मांसरस के साथ मिला कर बालक, वृद्ध, क्षत से क्षीण हुये मनुष्य और सुकुमार प्रकृति के मनुष्यों में प्रयुक्त करने से विरेचन करता है ॥ ७०-७७ ॥

फलानां विधिरुद्दिष्टः क्षीराणां शृणु सुश्रुत!।
विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौवं परं मतम् ॥ ७८ ॥
अज्ञप्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्म्मविभ्रमात्।
विजानता प्रयुक्तन्तु महान्तमपि सञ्चयम् ॥
भिनत्त्याशैव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ॥७९॥

हे सुश्रुत! इस तरह मैंने विरेचक फलों के सेवन की विधि कह दी है अब विरेचक दुग्धों की सेवन विधि सुनो। तीक्ष्ण विरेचनों में थूहर का दुग्ध सबसे उत्तम विरेचक है किन्तु अज्ञ के द्वारा प्रयुक्त करने से एवं कर्म में विभ्रम होने से यह विष की तरह मार देता है किन्तु ज्ञानवान् चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त यह स्नुहीदुग्ध दोषों के बड़े भारी सञ्चय को शीघ्र ही भेदन कर देता है तथा दुस्तर रोगों को भी नष्ट कर देता है ॥

विमर्शः—स्नुहावृक्षभेदाः—द्विविधः स तरुर्यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः। क्षुद्रादिः कण्टकैस्तैः प्रवरो बहुकण्टकः ॥ तं विनाह्यहरेत् क्षीरं शस्त्रेण तरिमान् सिक्तम्। द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक)।

महत्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्योश्चैकशः पृथक् ॥ ८० ॥
कषायैः समभागं तु तदङ्गारैर्विशोषितम्।
अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसम्मितम् ॥ ८१ ॥

बृहत्पञ्चमूल, छोटी कटेरी तथा बड़ी कटेरी इनके अलग अलग बने क्वाथों को समान प्रमाण में लेकर मिला देवें तथा सबको एक पात्र में भर कर के बृहत्यादि सात क्वाथों को पृथक् पृथक् जिस प्रमाण में लिये हों उनमें से एक क्वाथ के बराबर प्रमाण में थूहर का दुग्ध मिला कर तेज अङ्गारों पर पका के शोषित (गाढा) कर लेवें। इस योग को एक कोल (कर्ष) के प्रमाण में लेकर काञ्जी, मस्तु या सुरा के साथ त्रिवृत् की तरह प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ८०-८१ ॥

महावृक्षपयःपीतैर्यवागूत्तण्डुलैः कृता।
पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥ ८२ ॥
लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुहीक्षीरपयोघृतैः।

भाविता‌स्तु स्नुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥
चूर्णं काम्पिल्लकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम् ॥ ८३ ॥

थूहर के दुग्ध की भावना दिये हुये चावलों से बनाई हुई यवागू अथवा इस दुग्ध में भावित गोधूम (गेहूं) से गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका (लप्सी), किंवा थूहर का दुग्ध, शक्कर और घी इनका यथाविधि बनाया हुआ अवलेह, किंवा थूहर के दुग्ध से भावित तथा लवणमिश्रित पीपल अथवा थूहर के दुग्ध में भावित कर बनाई हुई कम्पिल्लक (कम्बीले) की गुटिका इनमें से किसी एक योग का सेवन करने से सद्यः विरेचन होता है ॥ ८२-८३ ॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ।
मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम् ॥ ८४ ॥
कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ।
आघ्रायावृत्य वा सम्यङ् मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥ ८५ ॥
क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्त्तितैः ।
अवेक्ष्य सम्यग्रोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥ ८६ ॥

सप्तला (सेकाकाई), शङ्खिनी, दन्ती, निशोथ और अमलतास की गिरी इन्हें समान प्रमाण में लेकर सात दिन तक गोमूत्र के साथ भावित कर घोंट के सुखा लेवें। फिर सात दिन थूहर के दुग्ध में भावित कर घोंट के सुखा कर चूर्ण कर लेवें। फिर इस चूर्ण को किसी माला पर अथवा रुमाल (वस्त्र) पर छिड़क कर सूंघने से या धोती (वस्त्र) पर छिड़क कर सूंघने से मुलायम कोष्ठ वाले को विरेचन हो जाता है। इस तरह विरेचनीय द्रव्यों के क्षीर, छाल, फल और मूलों (जड़ों) की कही हुई विधियों का रोगादिकों का ठीक विचार कर यथावत् प्रयोग करना चाहिये ॥ ८४-८६ ॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥ ८७ ॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्याञ्च मोदकं वा गुडेन वा ।
भक्ष्येष्वेषोपरीहारमेतच्छ्रेष्ठविरेचनम् ॥ ८८ ॥
गुल्मान् प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद् व्यपोहति ॥ ८९ ॥

निशोथ तीन शाण, त्रिफला की छाल तीन शाण, विडङ्ग, पिप्पली और यवक्षार ये मिला कर तीन शाण लेकर सब का चूर्ण बना के घृत और शहद के साथ तीन माशे से ६ माशे तक के प्रमाण में सेवन करे। अथवा गुड के साथ तीन तीन माशे भर के मोदक बनाकर सेवन करे। यह सर्व प्रकार के पथ्य से रहित श्रेष्ठ विरेचन है। यह योग सर्व प्रकार के गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरोचक तथा कफ और वात से उत्पन्न अन्य रोगों को नष्ट करता है ॥ ८७-८९ ॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।
भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु विरेचनान्यत्र मतिर्विदध्यात् ॥

इस अध्याय में कहे हुये घृत, तैल, दुग्ध, मद्य, मूत्र, स्वरस, मोदक आदि भक्ष्य पदार्थ, चावल, यवागू आदि अन्न पदार्थ और अवलेह इनमें से जो योग्य हो उसके साथ प्रधान मति वैद्य विरेचन का प्रयोग करे ॥ ९० ॥

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः
शृतश्च शीतश्च तथैव फाण्टम् ।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां
यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः ॥ ९१ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

थूहर आदि वृक्ष का दुग्ध, अन्य रेचक द्रव्यों के स्वरस, कल्क, शृत कषाय, शीतकषाय और फाण्ट ये भेषज के ६ प्रकार के कल्प (विधान) होते हैं तथा ये उत्तरोत्तर हल्के होते हैं। क्षीर सब से गुरु तथा फाण्ट सबसे लघु है ॥ ९१ ॥

विमर्शः—क्षीरं=दुग्धम्, रसः=स्वरसः, अस्य लक्षणम्—'आर्द्रात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्भवः। यन्निष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते' ॥ आर्द्रद्रव्याभावे—कुडव चूर्णित द्रव्य प्रक्षिप्तं द्विगुणे जले। अहोरात्र स्थित तस्माद् भवेत्स्वरस उच्यते ॥' इति। कल्कः=पिष्टद्रव्यपिण्डः, एतल्लक्षणम्—'द्रव्यमात्र शिलापिष्ट शुष्क वा जलमिश्रितम्। तदेव सरिभिः पूर्वैः कल्क इत्यभिधीयते' ॥ कषायः=क्वाथः, अस्य शृतकषायशीतकषायभेदेन द्विविधः। द्वयोर्लक्षणम्—'यद्धौ तु क्वथित द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः। उपोषितं निशायां तु तोयस्थं शीतमुच्यते' ॥ फाण्टः=कषायभेदः, यथा—कल्किनद्रव्यपलं चतुष्पले उष्णतोये क्षिप्त्वा क्षणकालं शरावावृतं सस्थाप्याथ मृदितं वस्त्रपूतं च फाण्टं इत्युच्यते। अस्यैतल्लक्षणम्—'चूर्णमुष्णेन सम्पृक्तं तत्फाण्टमभिधीयते।' इति। ४ कल्पाः=प्रकाराः।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो द्रवद्रव्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'द्रवद्रव्यविधि' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा था ॥ १-२ ॥

पानीयमान्तरिक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननं श्रमक्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमञ्च ॥ ३ ॥

अन्तरिक्ष (आकाश) से गिरनेवाला जल अव्यक्त रस या अत्यल्प किंवा ईषद् व्यक्त रस युक्त, अमृत के समान जीवन के लिये उपयोगी, तृप्तिकारक, शरीरधारक, आश्वासजनक तथा थकावट, ग्लानि, प्यास, मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा, दाह को शान्त करने वाला तथा निश्चयरूपेण सर्वावस्था में अत्यन्त पथ्य होता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—क्लमलक्षणम्—योऽनायासश्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ तन्द्रा लक्षणम्—इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत् ॥ एकान्ततः पथ्यतमञ्च—जलों में

आन्तरिक्ष जल श्रेष्ठ है ऐसा चरक ने भी कहा है—'आन्तरिक्षमुदकानाम्' इस जल में चूना तथा मेग्नेशियम के लवण नहीं होने से अत्यन्त मृदु (Soft) तथा आन्त्रिकज्वर, विसूचिका आदि रोगोत्पादक जीवाणुओं से रहित होने से स्वास्थ्य के लिये श्रेष्ठ है।

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिदविकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥ ४ ॥

वही आन्तरिक्ष (आकाशीय) जल पृथ्वी पर गिर कर मधुरादि षड्रसों में से किसी एक रस को प्राप्त कर लेता है तथा स्थानविशेष से नदी, नद, सरोवर, तालाब, बावड़ी, कूप, चुण्टी (बिना बंधा कूंआ), पर्वतादि से नीचे गिरने वाला झरना, पृथ्वी को फोड़ कर जल निकलने वाला स्थान (उद्भिद), बालू के गढे (विकिर), केदार (खेत में बांध कर रोका हुआ) और पल्वल (पत्तों से आच्छन्न आनूप देशस्थ छोटे तालाब) आदि स्थानविशेषों में अवस्थित रहता है ॥ ४ ॥

विमर्शः—वैज्ञानिक लोग जल को यौगिक मानते हैं तथा वह हैड्रोजन गैस के दो परमाणु तथा ओक्सिजन गैस के एक परमाणु के संयोग से जल का एक अणु बना है (H_2O) अतः इस दृष्टि से आकाश तथा पृथ्वी पर का जल एक ही है किन्तु पृथ्वी पर के जल में अनेक पदार्थ घुल जाने से वह आन्तरिक्ष जल से भिन्न गुणों वाला हो जाता है। जैसा कि चरक ने भी लिखा है—

जलमेकविध सर्वं पतत्यैन्द्र नभस्तलात्। तत्पततत्पतितञ्चैव देश कालानपेक्षते ॥ खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पृष्ट कालानुसारिभिः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्न महीगुणैः ॥ शीत शुचि शिव मृष्ट विमल लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदक भ्रष्ट पात्रमपेक्षते ॥ वर्षा जल का सङ्गठन—एक लिटर (९०) तोले पानी में २५ सी० सी० (२ तोला) वायवीय पदार्थ जैसे ६४% नायट्रोजन, ३४% आक्सीजन, २% कार्बन डायाक्साइड होता है। जहां कल कारखाने अधिक हों उनसे निकले कज्जली, धूलि वर्षा जल में मिल जाते हैं। वर्षारम्भ का जल वायुमण्डल अशुद्ध रहने से अपेय माना गया है। अनार्त्तवञ्च यद्दिव्यमार्त्तवं प्रथमञ्च यत्। लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसश्लेषदूषितम् ॥ न पिबेत्। (वाग्भट)।

तत्र, लोहितकपिलपाण्डुपीतनीलशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासङ्ख्यमुदकानि सम्भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥ ५ ॥

उनमें लाल, कपिल, पाण्डु, नील, पीत और श्वेत भूमि प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय रस वाला पानी यथाक्रम से होता है, ऐसा जल में रसोत्पत्ति के विषय में कई आचार्यों का मत है ॥ ५ ॥

विमर्शः—चरक तथा अष्टाङ्गसंग्रह का मत—श्वेते कषाय भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्। कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ॥ कटु पर्वतविस्तारे मधुर कृष्णमृत्तिके ॥

तत्तु न सम्यक्। तत्र पृथिव्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण। तत्र, स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणञ्च। अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरम्। तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं च। वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्। आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः; तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्। तत्पेयमान्तरिक्षालाभे ॥ ६ ॥

धन्वन्तरि का मत है कि उक्त कई आचार्यों का मत ठीक नहीं है। क्योंकि उत्कर्ष (आधिक्य) तथा अपकर्ष (अल्पता) रूप से जो पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों का परस्पर प्रवेश (सम्मेलन) होता है उससे ही जल में मधुरादि रसों का भेद हुआ करता है। इनमें जहां पृथिवी के गुण अधिक हों ऐसे भूप्रदेश के जल में अम्ल या लवण रस वाला जल होता है। जल के अधिक गुण वाले भूप्रदेश के जल में मधुर रस, तेज के अधिक गुणवाले भूप्रदेश के जल में कटु और तिक्त रस, वायु के अधिक गुणवाले भूप्रदेश के जल में कषाय रस तथा आकाश के अधिक गुण वाले भूप्रदेश के जल में अव्यक्त रस वाला जल होता है। क्योंकि आकाश स्वयं अव्यक्त है। तथा यही अव्यक्त रस वाला जल प्रधान है। आन्तरिक्ष जल के अभाव में इसी अव्यक्त रस वाले जल को पीना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्रान्तरिक्षं चतुर्विधम्। तद्यथा—धारं, कारं, तौषारं, हैममिति। तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्। तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति। तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति। तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिण्डमकुथितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्त्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यम्; वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम्। सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्भवति। गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपाददीताश्वयुजे मासि। शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युतमथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णे राजते मृन्मये वा पात्रे निदध्यात्। तत्सर्वकालमुपयुञ्जीत, तस्यालाभे भौमम्। तच्चाकाशगुणबहुलम्। तत् पुनः सप्तविधम्। तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्रवणम्, औद्भिदं, चौण्ट्यमिति ॥ ७ ॥

आकाश से गिरता हुआ जल चार प्रकार का होता है। धार, कार, तौषार और हैम। इनमें जो धारा रूप में बरसता है वह प्रधान है क्योंकि वह हल्का होता है। फिर इस धारा जल के दो भेद होते हैं, गाङ्ग और सामुद्र। प्रायः आश्विन के मास में जो बरसता है वह गाङ्ग है। इन गाङ्ग और सामुद्र जल की परीक्षा करनी चाहिये। पानी बरसने के समय अकुथित (सड़ानरहित) तथा अविदग्ध (वर्णविकृतिरहित) ऐसा पके हुये शालिचावलों का पिण्ड बना के उसे चांदी के पात्र में रख कर खुले आंगन में रख देवे। वह बरसते पानी में एक मूहूर्त्त (४८ मिनट) रखे रहने पर यदि वैसा ही अविकृत बना रहे तो जानो कि गाङ्ग जल बरस रहा है और यदि उस शालिचावल पिण्ड का रङ्ग बदल जाय तथा कोथ उत्पन्न हो जाय तो जानो कि सामुद्रजल बरस रहा है

उसे पीने के कार्य में नहीं ग्रहण करना चाहिये। किन्तु आश्विन मास में बरसने वाला सामुद्र जल भी गाङ्ग के समान दोष-रहित होने से पीने योग्य होता है। उभयप्रकारक जल में गाङ्ग जल प्रधान है। उसे आश्विन के मास में एकत्रित करना चाहिये। पवित्र तथा श्वेत वस्त्र को खुले मैदान में फैला कर उसके एक प्रदेश से चुआ कर शुद्ध पात्र में भर लेवे अथवा पक्के मकान की साफ छत से गिरा हुआ अथवा अन्य पवित्र पात्रों में प्रथम सञ्चित कर फिर सोने, चांदी या मिट्टी के बडे पात्रों में रखना चाहिये। इस प्रकार से गृहीत तथा सुरक्षित जल को बारहों मास पीने के कार्य में लेना चाहिये। गाङ्ग जल के नहीं मिलने पर भौम जल कार्य में लेवे किन्तु भौम जल भी आकाश गुण अधिक भूमि का होना चाहिये। भौम जल सात प्रकार का होता है जैसे कुएं का, नदी का, तालाब का, तडाग का, झरने का, पृथ्वी को फोड़कर निकला हुआ (सोते का) और चुण्टी (बिना बन्धे हुये) का जल ॥ ७ ॥

विमर्शः—धाराभि. पततीति धारम्। उक्त च-'धाराभिः पतितं तोय गृहीतं स्फीतवाससा। शिलाया वसुधायां वा धौताया पतितं च यत्॥ सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके काचनिर्मिते। भाजने मृन्मये वाऽपि स्थापित धारमुच्यते॥' इति। कार=वर्षोपलोद्भवम्। 'करो वर्षोपले' इति मेदिनी। तौषारम्=आन्तरिक्षजलनिचयजातम्'। हैम=स्फटिकशिलाशकलसदृशहिमोद्भवम्।

चरक में आन्तरिक्ष जल के गाङ्ग और सामुद्र ऐसे भेद नहीं किये हैं। हारीतसंहितोक्तसामुद्रजललक्षणम्-आविल समल नीलं घन पीतमथापि वा। सक्षारं पिच्छिलञ्चैव सामुद्र तन्निगद्यते॥ वर्तमान में मकान की छतों के वर्षा जल को इकट्ठा करने के यन्त्र होते हैं जिन्हें Robert's or gibb's rain water separator कहते हैं। ये शुद्ध पानी ही ग्रहण करते हैं।

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत, महागुणत्वात्। शरदि सर्वं, प्रसन्नत्वात्। हेमन्ते सारसं ताडागं वा; वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा; ग्रीष्मेऽप्येवम्; प्रावृषि चौण्ट्यमनभिवृष्टं सर्वत्रेति॥ ८॥

इनमें से वर्षा काल में आन्तरिक्ष अथवा औद्भिद जल को अधिक गुणयुक्त होने से सेवन करना चाहिये। शरद् ऋतु में सर्व प्रकार के जलों को सेवन कर सकते हैं क्यों कि अगस्त्योदय से सब जल प्रसन्न (निर्मल) हो जाते हैं। हेमन्त ऋतु में सरोवर या तालाब का पानी पीना चाहिये। वसन्त ऋतु में कुंये अथवा झरने का पानी पीना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में भी यही जल पेय है। प्रावृट् ऋतु में चुण्टी (अबद्ध कूप) का तथा वर्षा के जल से अदूषित कोई भी जल पी सकते हैं॥ ८॥

विमर्शः—चरके-शरदि हंसोदकस्य सर्वश्रेष्ठता-दिवा सूर्यांशुसन्तप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्। कालेन पक्व निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्॥ हंसोदकमिति ख्यात शारद विमल शुचि। स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम्॥ दूषितवर्षाजलपान निषिद्धम्-बलाहकाद्या. समदा कीटा लूताश्च खेचराः। तद्विषोत्सर्गससर्गादग्राह्यं तत्तदा जलम्॥

कीटमूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम्।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम्॥ ९॥

थोऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्वाऽपि नवं जलम्।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु॥१०॥

विषैले कीडों के मूत्र, मल, अण्डे तथा सडे गले किसी भी प्राणी के मुर्दों से दूषित एवं घास, वृक्षों के पत्ते तथा उत्कर (कूडा) से युक्त, कलुषित और विषयुक्त ऐसे वर्षा के पानी में जो व्यक्ति स्नान करता है अथवा उस वर्षा के नवीन जल को पीता है वह शीघ्र ही फोड़े, फुन्सी आदि बाह्य स्वग्रोग तथा अतिसार, कृमि आदि आभ्यन्तरिक रोगों को प्राप्त करता है॥

विमर्शः—कण्डूकुष्ठादिकान् बाह्यरोगान्, कफगुल्मोदरामयाद्याभ्यन्तररोगान्। तदुक्तम्-'स्नानेन त्वग्भवान् रोगान् कण्डूकुष्ठविसर्पकृत्। पानेन कफगुल्माना कृमीणा वरसम्भवान्। करोति विविधान् रोगान्' इति।

डाक्टरी में वनस्पतिज, खनिज या पार्थिव और प्राणिज ऐसी जल में तीन अशुद्धियां मानी हैं। वानस्पतिक अशुद्धि से अतिसार, खनिज अशुद्धि से मलावरोध, अग्निमान्द्य, अतिसार और गलगण्ड (Goitre) एवं प्राणिज अशुद्धि से Typhoid, (आन्त्रिक ज्वर) तथा अनेक प्रकार के कृमियों के रोग होते हैं। निम्न कृमि महत्त्व के हैं। Round worm (गण्डूपदकृमि), Thread worm (सूत्रकृमि), Tape worm (चपटे कृमि), Hook worm (अङ्कुशमुख कृमि), Whip worm (प्रतोदकृमि), और Guinea worm (स्नायुक कृमि=नेहरुआ) आदि।

तत्र यत् पङ्कशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टञ्च तद्व्यापन्नमिति विद्यात्। तस्य स्पर्शरूपरसगन्धवीर्यविपाकदोषाः षट् सम्भवन्ति। तत्र, खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः; पङ्कसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः; व्यक्तरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः; यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः; यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति। त एते आन्तरिक्षे न सन्ति॥ ११॥

उक्त भौम जलों में जो जल कीचड़, शैवाल (काई), हटतृण (जलकुम्भी) और कमल के पत्ते इनसे व्याप्त हो, तथा जो चन्द्र और सूर्य की किरणों से और वायु से स्पृष्ट नहीं होता हो तथा जिसमें गन्ध आती हो। नील-पीत-हरितादिवर्ण युक्त हो और अव्यक्त रस न हो कर अम्ल, लवणादि रस युक्त हो गया हो उसे व्यापन्न (विकृत) समझना चाहिये। उस पानी के स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वीर्य और विपाक ये छ दोष होते हैं। उनमें तीक्ष्णस्पर्शता, पिच्छिलता, उष्णता और दन्तों को झकझना ये स्पर्श दोष हैं। कीचड, बालू, काई अथवा विविधवर्णता ये रूपदोष हैं। षड्सों में से किसी भी रस का पीते समय ज्ञान होना रस दोष है। खराब गन्ध आना गन्ध दोष है। जिस जल के पीने से प्यास अधिक लगे, शरीर में भारीपन प्रतीत हो, उदरादि या शरीर के किसी भाग में शूल चले तथा कफ अधिक गिरने लगे तो वीर्य दोष, समझना चाहिये। जिसके पीने से देर से हाजमा हो तथा उदर में मलादिक का विष्टम्भ हो उसे विपाक दोष कहते हैं। उपर्युक्त

प्रकार के दोष आन्तरिक्ष जल में नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

व्यापन्नस्य चाग्निकथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनञ्च कर्त्तव्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति ॥

दूषित जल शोधन—विकृत जल को अग्नि पर उबालना, सूर्य की धूप से खूब तपाना, तपे हुये लोहे के पिण्ड, बालू तथा मिट्टी या ईंट के पिण्डों को उस पानी में बुझाने से उसका प्रसादन (शोधन) हो जाता है एवं उस पानी को नागकेशर, चम्पा के पुष्प, कमल, पाटला (केतकी) आदि पुष्पों से अधिवासित (सुगन्धित) करना चाहिये ॥ १२ ॥

विमर्शः—जल को उबालने से उसमें स्थित सर्व विकारी जीवाणु तथा कृमि नष्ट हो जाते हैं तथा उसमें विलीन हुये अमोनिया आदि गैस उड़ जाते हैं खटिका तथा अन्य पदार्थ तली में अवचिप्त हो जाते हैं। सूर्य किरणों से भी जीवाणु नाशन होता है तथा नदी, तालाब, सरोवर आदि के जलों का शोधन सूर्य किरणों से ही होता है। तप्तायःपिण्डादिनिर्वापण का प्रयोग तृषा-शान्त्यर्थं रोगावस्था में करते हैं। तृषि जल मृद्मृष्टलोष्टोद्भवम्। (वाग्भट)। वर्तमान जलशोधन पद्धतियां—(१) भौतिक विधि में जल का तिर्यक् पातन (Distillation), उत्क्वथन तथा Ultra-Violet-ray's का प्रक्षेप। (२) रासायनिक विधि—में प्रक्षेपण (Precipitation) जैसे चूना, फिटकरी आदि जन्तुनाशनार्थं पोटेसियम परमैंगनेट, नीलतुत्थ, क्लोरिन गैस आदि। (३) यांत्रिक निधारक (Mechanical-filtration।

सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥ १३ ॥
व्यापन्नं वर्जयेन्नित्यं तोयं यच्चाप्यनार्तवम्।
दोषसञ्जननं ह्येतन्नाददीताहितन्तु तत् ॥ १४ ॥
व्यापन्नं सलिलं यस्तु पिबतीहाप्रसाधितम्।
श्वयथुं पाण्डुरोगञ्च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥ १५ ॥
श्वासकासप्रतिश्यायशूलगुल्मोदराणि च।
अन्यान् वा विषमान् रोगान् प्राप्नुयादचिरेण सः॥१६॥

सोने, चांदी, ताम्र, कांसा और मणि से बने पात्र अथवा मिट्टी से बने पात्र में पुष्पाधिवासित जल को रख कर पीना चाहिये। अच्छी ऋतु के विकृत जल को तथा बेमौसम में बरसे हुये जल को नहीं पीना चाहिये क्यों कि ऐसा जल दोषों को उत्पन्न करता है अतएव अहितकर होने से वर्जित है। जो व्यक्ति विकृत जल को शोधन किये बिना पीता है वह शोथ, पाण्डुरोग, त्वचा के रोग, अजीर्ण, श्वास, कास, प्रतिश्याय, शूल, गुल्म, उदर तथा विभिन्न प्रकार के विषम रोगों को शीघ्र ही प्राप्त करता है ॥ १३-१६ ॥

तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति। तद्यथा—कतकगोमेदकविसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति ॥ १७ ॥

कलुषित हुये जल को शुद्ध करने के लिये सात वस्तुएं हैं। जैसे निर्मली के फल, गोमेदमणि, कमल नाल, शैवालमूल, वस्त्र से छानना, मुक्ताप्रक्षेप तथा स्फटिक प्रक्षेप ॥ १७ ॥

विमर्शः—कतकफल जल के मलों को नीचे बैठा देता है। वस्त्र से छानने पर अपद्रव्य तथा जन्तु रहित हो जाता है। 'वनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम्' ॥ (अ० सं०)। 'वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्' (मनु)।

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति। तद्यथा—फलकं, त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयः, उदकमञ्चिका, शिक्यञ्चेति ॥ १८ ॥

जल पात्र रखने के पांच साधन हैं। जैसे फलक (सिम्बलादि का तखत), त्र्यष्टक या त्रिपादिका (Trypot), मूंज का घेरा (अङ्गणे या इण्डवे), उदकमञ्चिका और शिक्य (छींका) ॥ १८ ॥

विमर्शः—निक्षिप्यते स्थाप्यतेऽत्रेति निक्षेपणमासनम् ॥

सप्तशीतीकरणानि भवन्ति तद्यथाः—प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणं, यष्टिकाभ्रामणं, व्यजनं वस्त्रोद्धरणं, वालुकाप्रक्षेपणं, शिक्यावलम्बनञ्चेति ॥ १९ ॥

उबले हुये जल को ठण्डा करने की सात विधियां हैं। वायु में जल पात्र को रखना, जलपात्र पर वाह्य पृष्ठ की ओर ठण्डे पानी की धार छोड़ना, लकड़ी से पानी को हिलाना, पंखे से हवा करना, शीतल जल से भींगा कपड़ा रखना, जल में रेत छोड़ना या रेत में जलपात्र को गाडना तथा जलपात्र को छींके पर रखना ॥ १९ ॥

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ॥ २० ॥

जो जल गन्धरहित, मधुरादिरस जिसमें व्यक्त न हो, तृषा को मिटाने वाला, शुद्ध, शीतल, स्वच्छ, हलका तथा हृदय या मन में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला जल अच्छे गुणों वाला कहा जाता है ॥ २० ॥

तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, लघूदकत्वात्। पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्। दक्षिणाभिमुखा नाऽतिदोषलाः, साधारणत्वात्। तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगञ्च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पथ्या बलारोग्यकर्य इति ॥ २१ ॥

जो नदियां पश्चिमाभिमुख बहती हैं उनका जल हलका होने से वे पथ्यकर हैं। जो नदियां पूर्वाभिमुख बहती हैं उनका जल भारी होने से वे प्रशस्त नहीं हैं। जो नदियां दक्षिणाभिमुख बहती हैं वे साधारण होने से अधिक दोषकारक नहीं हैं। जो नदियां सह्यपर्वत से निकलती हैं उनका जल कुष्ठ रोग पैदा करता है। विन्ध्य पर्वत से निकली नदियों का पानी कुष्ठ और पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है। मलयाचल से निकली नदियों का पानी कृमिरोग, महेन्द्र से निकली नदियों का पानी श्लीपद रोग, हिमालय से निकली नदियों का पानी हृदयरोग, शोथ शिरोरोग, श्लीपद तथा गलगण्ड रोग पैदा करता है। अन्वती

(उज्जयिनी) प्रदेश से पूर्व तथा पश्चिम को बहने वाली नदियों का जल अर्श पैदा करता है। पारियात्र से निकली हुई नदियों का पानी पथ्यकारक, बलदायक और नीरोगता को करता है २१

विमर्शः—नदीजलों के विषय में वाग्भट तथा चरक का भिन्न मत है—पश्चिमोदधिगा. शीघ्रवहा याश्चामलोदका । पथ्या. तमासाक्ता नद्यो विपरीतास्त्वतोऽन्यथा ॥ उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदका. । हिमवन्मलयोद्भूता. पथ्यास्ता एव च स्थिराः । कृमिश्लीपदकृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ॥

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः ।
गुर्व्यः शैवालसंच्छन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥ २२ ॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः ।
लघ्व्यः समधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः ॥ २३ ॥

जिन नदियों का पानी तेज बहता है तथा जो निर्मल जल वाली होती हैं उन्हें या उनके जलको लघु जानो तथा जो काई, सिवार से आच्छन्न हों एवं मैली तथा मन्द गतियुक्त होती हैं उन्हें तथा उनके जल को भारी जानो। बहुधा मरुस्थल की नदियां तथा उनका पानी तिक्त, लवण, कुछ कषाय और मधुर रस युक्त एवं पाक में लघु तथा बलवृद्धि के लिये हितकारक होता है ॥ २२-२३ ॥

तत्र सर्वेषां भौमानां ग्रहणं प्रत्यूषसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यञ्चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुण इति॥

सर्व प्रकार के भूमिजलों को सूर्योदय के पूर्व (उषाकाल) ग्रहण करना चाहिये। प्रातः काल के जल में निर्मलता और शीतलता अधिक रहती है और ये ही जल के श्रेष्ठ गुण माने गये हैं ॥ २४ ॥

दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः ।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥ २५ ॥
गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ॥ २६ ॥

जो जल दिन में सूर्य की किरणों से तथा रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से स्पृष्ट होता हो एवं रूक्षता से रहित हो तथा अभिष्यन्द (क्लेद) नहीं करता हो वह गगनाम्बु (आन्तरिक्ष) के तुल्य गुणों वाला होता है। अच्छे पात्र में इकट्ठा किया हुआ आन्तरिक्ष जल त्रिदोषनाशक, बलवर्द्धक, रसायन और मेधा (धारणाशक्ति) वर्द्धक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे पात्र में जल को सञ्चित किया जाय वैसे गुण या दोष उसमें उत्पन्न हो जाते हैं अतएव जल के गुणदोष पात्रापेक्षी होते हैं। अष्ट पात्रमपेक्षते ॥ २५-२६ ॥

विमर्शः—अनभिष्यन्दी—हृदयस्थान्ननिर्यासवाहिस्रोतोमुखानि यत् । मुक्त लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते ॥ वैशद्यात् कफहृत्वात्तान्येव विवृणोति यत् । तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्य द्रव्यविशारदै॰ ॥ रसायनलक्षणम्-लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् । (चरक)।

रक्तोन्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम् ।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ॥ २७ ॥

चन्द्रकान्त मणि (Moon stone) का जल रक्त (निशाचर या कृमि) का नाशक, शीतल, हृदय को आह्लाद देने वाला, ज्वर, दाह तथा विषों का नाशक, पित्तघ्न और निर्मल होता है ॥ २७ ॥

विमर्शः—'द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त'। (भवभूतिः)

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये ।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते ॥ २८ ॥

शीतल जल मूर्च्छा, पित्त के रोग, उष्ण (ग्रीष्म) काल, शरीर में दाह, विषावस्था, रक्तविकार, मदात्यय, भ्रम, क्लम, तमकश्वास, वमन की इच्छा तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में प्रशस्त होता है ॥ २८ ॥

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ॥ २९ ॥
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धे नवज्वरे ।
हिक्कायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥ ३० ॥

पार्श्वशूल, प्रतिश्याय, वातरोग, गले की जकडाहट, आध्मान, स्तिमित (आम) कोष्ठ में, वमन-विरेचनादि द्वारा सद्यः शुद्ध हुये में, नवज्वर में, हिक्का और घृत-तैलादि स्नेह पान करने पर शीतल जल का पीना वर्जित है ॥ २९-३० ॥

नादेयं वातलं रूक्षं दीपनं लघु लेखनम् ।
तदभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कफावहम् ॥ ३१ ॥
तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायं मधुरं लघु ।
ताडागं वातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च ॥ ३२ ॥
वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षारं कटु पित्तलम् ।
सक्षारं पित्तलं कौपं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु ॥ ३३ ॥
चौण्ड्यमग्निकरं रूक्षं मधुरं कफकृन्न च ।
कफघ्नं दीपनं हृद्यं लघु प्रस्रवणोद्भवम् ॥ ३४ ॥
मधुरं पित्तशमनमविदाह्यौद्भिदं स्मृतम् ।
वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नं लघु दीपनम् ॥ ३५ ॥
कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् ।
तद्वत्पाल्वलमुद्दिष्टं विशेषाद्दोषलं तु तत् ॥ ३६ ॥
सामुद्रमुदकं विस्रं लवणं सर्वदोषकृत् ।
अनेकदोषमानूपं वार्यभिष्यन्दि गर्हितम् ॥ ३७ ॥
एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यन्तु जाङ्गलम् ।
पाकेऽविदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्द्धनम् ॥ ३८ ॥
दीपनं स्वादु शीतञ्च तोयं साधारणं लघु ।
कफमेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ ३९ ॥
श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा ।
यत् काथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु ॥ ४० ॥
चतुर्भागावशेषन्तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम् ।
न च पर्युषितं देयं कदाचिद्वारि जानता ॥ ४१ ॥
अम्लीभूतं कफोत्क्लेशि न हितं तत् पिपासवे ।
मद्यपानात्समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा ॥ ४२ ॥
सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते ।

दाहातीसारपित्तासृङ्मूर्च्छामद्यविषार्त्तिषु ॥ ४३ ॥
श्रृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च।
स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥ ४४ ॥
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं गुरु।
अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके क्षयथौ क्षये ॥ ४५ ॥
मन्देऽग्नावुदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा।
व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥ ४६ ॥

इति जलवर्गः।

नदी का जल वातजनक, रूक्ष, अग्निदीपक, पचने में हलका और लेखन होता है किन्तु वह गाढा और मधुररसयुक्त हो तो अभिष्यन्दि, भारी और कफकारक होता है। सरोवर जल—प्यास को नष्ट करने वाला, बलवर्द्धक, कषाय और मधुर रसयुक्त तथा लघु होता है। तडागजल—वातजनक, स्वादु, कसैला और पाक होने पर कटु होता है। वावडीजल—वातनाशक, कफहारक, खारा, कटु और पित्तवर्द्धक होता है। कूपजल—खारा, पित्तजनक, कफहारक, अग्निदीपक और लघु होता है। चुण्डीजल—अग्निवर्द्धक, रूक्ष, मधुर होने पर भी कफ नहीं बढाने वाला होता है। झरने का जल—कफ नाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये लाभकारी और लघु होता है। औद्भिद जल—स्वाद में मधुर, पित्तशामक और अविदाहि होता है। रेत से निकाला (विकिर) जल—कटु, क्षारयुक्त, श्लेष्मनाशक, हलका और अग्निदीपक होता है। केदारजल—मधुर, पाक में गुरु तथा दोषवर्द्धक होता है। ऐसे ही गुणों वाला पाल्वल (पत्तों के ढेर वाले गढे का) जल होता है किन्तु विशेषतया यह अधिक दोषकारक होता है। समुद्र जल—आमगन्धी, खारा तथा सर्वप्रकार के दोषों का करने वाला होता है। आनूप जल—अनेक दोषों से युक्त, अभिष्यन्दि तथा उपयोग करने में निन्दित है। जाङ्गल देश का जल उक्त दोषों से रहित तथा प्रशस्त होता है। साधारण देश का जल विपाक में अविदाहि, प्यास को बुझाने वाला, प्रशस्त, मन को आह्लादित करने वाला, अग्नि का दीपक, स्वादु, शीतल और हलका होता है। उष्ण जल—कफ, मेदोरोग, वातरोग, आमदोष का नाशक, अग्नि का दीपक, वस्ति का शोधक, श्वास, कास और ज्वर का नाशक तथा सदा पथ्यकारक होता है। जो क्वथित किया (औटाया) हुआ जल वेगरहित, फेनरहित, मलरहित, हलका तथा उबलकर चौथाई रहा हो वह जल गुणयुक्त होता है। स्वास्थ्य के ज्ञान रखने वाले वैद्य या परिचारक को चाहिये कि रोगी अथवा स्वस्थ पुरुष को पीने के लिये रात का वासी जल कभी भी नहीं देना चाहिये। क्योंकि वह जल अम्लतायुक्त तथा कफ का उत्क्लेशकारक होता है अतएव तृषातुर के लिये हितकर नहीं है। अधिक मद्यपान से उत्पन्न रोगों में, पित्त के रोगों में तथा सन्निपात के रोग में श्रृतशीत (उबाल कर ठंढा किया हुआ) जल प्रशस्त होता है। दाह, अतिसार, पित्त और रक्त के रोग, मूर्च्छा, मद्य और विष के रोग, तृष्णा, वमन और भ्रम इन रोगों में श्रृतशीत जल उत्तम होता है। नारिकेल का पानी—स्निग्ध, मधुर, शीतल, हृदय के लिये हितकर, अग्नि का दीपक, वस्ति का शोधक, वृष्य, पित्त के रोग तथा प्यास को नष्ट करनेवाला और गुरु होता है। अरुचि, प्रतिश्याय, लार का टपकना, शोथ, क्षय, मन्दाग्नि, उदर रोग, कुष्ठ, ज्वर, नेत्र के रोग, व्रण और मधुमेह में पानी कम पीना चाहिये ॥ ३१-४६ ॥

इति जलवर्गः।

अथ क्षीरवर्गः।

गव्यमाजं तथा चौष्ट्रमाविकं माहिषञ्च यत्।
अश्वायाश्चैव नार्याश्च करेणूनाञ्च यत्पयः ॥ ४७ ॥

क्षीरवर्ग—में गाय, बकरी, ऊंटनी, भेडी, भैंस, घोडी, औरत तथा हस्तिनी का दुग्ध उपयोग में आता है ॥ ४७ ॥

विमर्शः—रासायनिक विश्लेषण करने पर गधी का दुग्ध स्त्री के दुग्ध के समान तत्त्वों वाला होने से आजकल बच्चों को पिलाने के लिये बहुत दिया जाता है।

तत्त्वनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु।
मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥ ४८ ॥

उपर्युक्त अष्ट प्रकार का दुग्ध अनेक प्रकार की ओषधियों के रस का सारभाग है अत एव मनुष्यों के प्राणों का धारण करने वाला, भारी, मधुर, गाढा, शीतल, चिकना, श्लक्ष्ण, कुछ विरेचक और मृदु होता है इन्हीं अष्टगुणों के कारण दुग्ध सर्व प्राणियों के लिये सात्म्य होता है ॥ ४८ ॥

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्। वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धम्। जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृद्रस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्त्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भस्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं सन्धानमास्थापनं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्द्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानाञ्च पथ्यतमम् ॥ ४९ ॥

जन्म से ही दुग्ध सेवन करने का अभ्यास होने से मनुष्यों के लिये सर्व प्रकार के दुग्ध सेवन के लिये निषिद्ध नहीं हैं। वात, पित्त, रक्त तथा मानस रोगों में भी दुग्ध विरुद्ध नहीं होता है तथा जीर्णज्वर, कास, श्वास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदररोग, मूर्च्छा, भ्रम, मदात्यय या मद, दाह, तृषा, हृद्रोग, मूत्ररोग, पाण्डु, ग्रहणी, अर्श, शूल, उदावर्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्तपित्त, श्रम तथा क्लम इन रोगों को दुग्ध नष्ट करता है। दुग्ध पाप का नाशक, बल्य, वृष्य, वाजीकरण, रसायन, मेधावर्धक, भग्न अस्थि को जोड़ने वाला, निरूहण वस्ति के लिये उपयोगी, आयु को यथाप्रमाण स्थिर रखने वाला, आयु बढाने वाला, जीवनीय, शरीरपुष्टिकारक, वमनोपग, विरेचक, ओज के तुल्यगुण होने

से उसका वर्द्धक तथा बालक, वृद्ध तथा क्षतक्षीणों के लिये तथा भूख, स्त्रीसंसर्ग और व्यायाम से कर्शित (क्षीण) हुये मनुष्यों के लिये अत्यन्त पथ्य होता है ॥ ४९ ॥

विमर्शः—१ जीर्णज्वरलक्षणमाह—'त्रिसप्ताहव्यतीतस्तु ज्वरो यस्तनुतां गतः। प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥' इति। २ पाप्मापहं=कार्पासजाद्यपहरणजन्यपापक्षयकरम्। तथा चैकादशाध्याये मनुः—'कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च। पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥' इति। वृष्यम्—यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु। हर्षणं मनसश्चैव तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥ वाजीकरणम्—येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवच्छतमेति नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ (चरक)। बाल्यावस्था में प्रथम २-३ वर्ष तक दुग्ध जीवन का खास आधार है। संसार में दुग्ध के समान अन्य कोई खाद्य द्रव्य नहीं है। जन्म से मृत्युपर्यन्त किसी भी दशा में दुग्ध निषिद्ध नहीं है। शरीर-वर्धन के लिये जितने उपादान आवश्यक हैं वे सब दुग्ध में मौजूद रहते हैं। अत एव दुग्ध को पूर्णाहार माना गया है। दुग्ध में प्रोटीन, वसा या चरबी, दुग्धशर्करा (Cactoze), चूना, सोडियम, पोटेशियम, मेग्नेशियम, लोह, गन्धक, फास्फरस, आयोडीन एवं सर्व वीटामीन विशेषतया ए० डी० ई० होते हैं। ताजी हरी घास खानेवाले तथा सूर्य प्रकाश में घूमनेवाले पशुओं के दुग्ध में ये वीटामीन अधिक होते हैं। दुग्ध पचने में हलका, पौष्टिक, आन्त्रस्थ जीवाणु तथा उनके विषों का नाशक है।

अल्पाभिष्यन्दि गोक्षीरं स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम् ॥ ५० ॥

गाय का दुग्ध—अल्प अभिष्यन्दकारक, स्निग्ध, गुरु, रसायन, रक्तपित्तहारक, शीत, रस और पाक में मधुर, जीवनीय तथा वातपित्तनाशक है ॥ ५० ॥

गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम्।
दीपनं लघु सङ्ग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत् ॥ ५१ ॥
अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात्।
नात्यम्बुपानाद्व्यायामात्सर्वव्याधिहरं पयः ॥ ५२ ॥

बकरी का दुग्ध—गाय के दुग्ध के समान गुणोंवाला किन्तु विशेषतया शोष (राजयक्ष्मा) के रोगियों के लिये हितकारक एवं अग्निदीपक, पचने में हलका, अतिसार में दस्त को बांधनेवाला तथा श्वास, कास और रक्तपित्त का नाशक है। बकरियों का शरीर स्वभावतः छोटा होता है तथा वे कटु और तिक्त रस वाले वृक्ष तथा वनस्पतियों के पत्ते खाती हैं एवं अधिक जल नहीं पीती हैं तथा सारे दिन इधर-उधर भ्रमण रूपी व्यायाम करती रहती हैं अत एव उनका दुग्ध सर्वरोगों का नाशक है ॥ ५१-५२ ॥

रूक्षोष्णं लवणं किञ्चिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु।
शोफगुल्मोदरार्शोघ्नं कृमिकुष्ठविषापहम् ॥ ५३ ॥

ऊंटनी का दुग्ध—रूक्ष, उष्ण, स्वाद में कुछ लावणिक (खारा), मधुर और लघु होता है तथा शोथ, गुल्म, उदररोग, अर्श, कृमिरोग, कुष्ठ तथा विष का नाशक है ॥ ५३ ॥

आविकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम्।
पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसम्भवे ॥ ५४ ॥

भेडी का दुग्ध—मधुर, स्निग्ध, गुरु, पित्त और कफ का वर्द्धक होता है एवं केवल वातप्रकोप तथा वातकास में पथ्य (हितकारी) होता है ॥ ५४ ॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्।
निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥ ५५ ॥

भैंस का दुग्ध—अत्यन्त अभिष्यन्दकारक, मधुर, पाचकाग्नि को मन्द करनेवाला, निद्राजनक, शीतल तथा गौ के दुग्ध की अपेक्षा अधिक स्निग्ध तथा भारी होता है ॥ ५५ ॥

उष्णमैकशफं बल्यं शाखावातहरं पयः।
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु ॥ ५६ ॥

एक शफवाले जानवर जैसे घोड़ी, गदही इनका दुग्ध उष्णप्रकृतिक, बलवर्द्धक, शाखा (हस्त तथा पाद) की वायु का नाशक, मधुर तथा अम्लरस युक्त, रूक्ष, अनुरस में लवण तथा लघु होता है ॥ ५६ ॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्।
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम् ॥ ५७ ॥

स्त्री का दुग्ध—रस में मधुर, अनुरस में कषाय, शीतप्रकृतिक, नस्य तथा आश्च्योतन कर्म में हितकारक, जीवन शक्ति युक्त, लघु और पाचकाग्निदीपक होता है ॥ ५७ ॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कषायानुरसं गुरु।
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम् ॥ ५८ ॥

हस्तिनी का दुग्ध—मधुर, वृष्य, अनुरस में कषाय, भारी, स्निग्ध, शरीर की स्थिरता को करनेवाला, शीतप्रकृतिक, नेत्रों के लिये हितकारी तथा बलवर्द्धक होता है ॥ ५८ ॥

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा ॥ ५९ ॥
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात्।
वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम् ॥ ६० ॥

बहुधा प्रातःकाल में निकाला हुआ दुग्ध गुरु, विष्टम्भकारक और शीतल होता है क्योंकि रात्रि के सोम (चन्द्र) गुण प्रधान होने से तथा जानवरों के चलने-फिरने रूपी व्यायाम के न होने से प्रभातकालीन दुग्ध उक्त गुर्वादि गुणों वाला होता है किन्तु दिन में पशुओं के सूर्य की धूप में चरने से, व्यायाम और वात का सेवन होने से सन्ध्या समय का दुग्ध वात का अनुलोमक (नाशक), थकावट को दूर करनेवाला और नेत्रों के लिये हितकर होता है ॥ ५९-६० ॥

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्त्तितम् ॥६१॥
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै श्रृतम्।
वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥ ६२ ॥

कच्चा दुग्ध प्रायः अभिष्यन्द (क्लेद) कारक और पचने में भारी होता है किन्तु उसी को उबाल लेने (गरम करने) से अत्यन्त हलका और अभिष्यन्द नहीं करने वाला

होजाता है। स्त्रियों के दुग्ध को छोड़कर सर्व प्रकार के दुग्धों को गरम कर के पीना चाहिये क्योंकि स्त्री का दुग्ध कच्चा ही पीने से हित करता है ॥ ६१-६२ ॥

धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा।
तदेवातिश्रृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते ॥ ६३ ॥

धारोष्ण दुग्ध अमृत के समान गुणकारी होता है किन्तु इसके विपरीत अर्थात् बहुत देर से निकालकर रखा हुआ विष के समान हो जाता है। यदि उसी धारोष्ण दुग्ध को अधिक औटाकर शीत कर के पिया जाय तो बृंहण कार्य करता है ॥ ६३ ॥

विमर्शः—'धारोष्णममृतोपमम्' धारोष्ण दुग्ध न मिले तो उसे उबालकर ही पीना चाहिये। कुछ काल तक निकाल कर रखे हुये कच्चे दुग्ध में वायुमण्डल की खराब गैसें, धूलिकण तथा सूक्ष्म जीवाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। उबाले हुये दुग्ध का जलांश कम हो जाता है। दुग्धशर्करा का कुछ अंश जल जाता है। प्रोटीन विघटित हो जाते हैं। सेन्द्रिय फोस्फरस निरिन्द्रिय रूप में हो जाता है। चूने और मेग्नेशियम के लवण अवक्षिप्त हो जाते हैं तथा दुग्ध के फर्मेण्ट तथा जीवद्रव्य (Vitamins) के कुछ भागों का नाश हो जाता है अतः निशेष गुणों की दृष्टि से धारोष्ण अधिक श्रेष्ठ होता है किन्तु कच्चे दुग्ध को पीने की अपेक्षा उबाला हुआ पीने से गुण कम कर सकता है किन्तु कच्चे दुग्ध की तरह भयङ्कर रोग नहीं कर सकता है।

अनिष्टगन्धमम्लञ्च विवर्णं विरसञ्च यत्।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ॥ ६४ ॥

इति क्षीरवर्गः।

जिस दुग्ध में खराब गन्ध आती हो, जो दुग्ध खट्टा हो गया हो, जिस दुग्ध का वर्ण विकृत हो गया हो तथा स्वाद भी खराब हो गया हो और जो स्वाद में लवण हो एवं जिसमें गांठे पड गई हों (फट गया हो) ऐसे दुग्ध को पीने के लिये वर्जित करना चाहिये ॥ ६४ ॥

विमर्शः—शुद्ध दुग्धपरीक्षा—काच के ग्लास में रखने से अपारदर्शक, श्वेतवर्ण, दुग्ध पात्र के तल में कोई अवक्षेप न हो, स्वाद में मधुर, किसी प्रकार की गन्ध से रहित, कुछ देर तक रखने से उस पर मलाई आती हो जिसका प्रमाण १२ प्रतिशत हो, उसके गुरुता (Sp Gravity) १०२७ से १०३४ हो, तो उसे शुद्ध या उत्तम दुग्ध जानो। गुरुता का मापन (Lactometes) से होता है जिससे केवल पानी की मिलावट का ज्ञान हो जाता है किन्तु उसमें चीनी या आरारोट का चूर्ण मिला दें तो पता नहीं चलता। दुग्धदुष्टि-हेतु—रुग्ण पशु, स्तनों को पानी से साफ न करना, हाथों की अशुद्धि, निकाल कर बिना ढके बहुत देर तक रखना, उसमें खराब पानी या चीनी मिलाना आदि।

इति क्षीरवर्गः।

अथ दधिवर्गः—

दधि तु मधुरमम्लमत्यम्लञ्चेति; तत्कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यञ्च ॥ ६५ ॥

दही बहुधा मधुर, अम्ल और अधिक अम्ल इस तरह तीन प्रकार का होता है। दही अनुरस में कषाय, स्निग्ध और उष्णवीर्य होता है तथा पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरोचक, मूत्रकृच्छ्र तथा शरीर की कृशता को नष्ट करता है। वृष्यगुण-युक्त, प्राणशक्ति को बढानेवाला तथा पूजनादि कार्यों में माङ्गलिक माना गया है ॥ ६५ ॥

विमर्शः—दही के वैज्ञानिकों ने निम्न गुण माने हैं। (१) दही के क्षीराम्लजीवाणु विसूचिकादि जीवाणुओं को नष्ट करते हैं। (२) दही आन्त्र में मल की सड़न को रोकता है। 'मेचनीकाफ' नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रतिदिन दही सेवन करने से आन्त्रस्थ जीवाणु तथा उनका विष नष्ट होकर वृद्धावस्था देर से आती है। (३) पचन संस्थान के अनेक विकार जैसे-मन्दाग्नि, सङ्ग्रहणी में दही या तक्र अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। प्राचीन मुनियों ने दही तथा तक्र की बहुत महिमा लिखी है। (१) 'तक्र शक्रस्य दुर्लभम्'। (२) न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः। यथा सुराणाममृत हिताय तथा नराणा भुवि तक्रमाहु॥ लेक्टिक एसिड बनानेवाले जीवाणुओं की क्रिया दुग्ध पर होने से दही बनता है। ये जीवाणु दुग्ध में अभिपङ्क (Fermentation) उत्पन्न कर के दुग्धशर्करा को लेक्टिक एसिड में परिवर्तित कर देते हैं। इस अम्ल से दुग्ध की चरबी (मेद या स्नेहांश) और प्रोटीन जमकर दही बन जाता है।

महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्द्धनम्।
कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम्।
विदाहि सृष्टविण्मूत्रं मन्दजातं त्रिदोषकृत् ॥ ६६ ॥

मीठा दही अत्यन्त अभिष्यन्द (क्लेद) कारक तथा कफ और मेदोधातु का वर्द्धक होता है। खट्टा दही कफ और पित्त को करता है तथा अधिक खट्टा दही रक्त को दूषित करता है। मन्दजात अर्थात् ठीक ठीक न जमा हुआ दही शरीर में विदाह करनेवाला तथा विष्ठा और मूत्र को पैदा करनेवाला या उनका निःसारक एवं त्रिदोषकारक होता है ॥

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्द्धनम्।
वातापहं पवित्रञ्च दधि गव्यं रुचिप्रदम् ॥ ६७ ॥

गाय का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, अग्निदीपक, बलवर्द्धक, वात का नाशक, पवित्र और रुचिकारक होता है ॥

दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम्।
दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् ॥ ६८ ॥

बकरी का दही—कफ और पित्त को नष्ट करनेवाला, पचने में हलका, वात और क्षय रोग का नाशक तथा अर्श, श्वास और कास में हितकर तथा पाचकाग्नि का दीपक होता है॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम्।
बलासवर्द्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम् ॥ ६९ ॥

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात और पित्त का शामक, कफ का वर्द्धक तथा विशेष कर स्निग्ध होता है ॥

विपाके कटु सक्षारं गुरु भेद्यौष्ट्रिकं दधि ।
वातमर्शांसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च ॥ ७० ॥

ऊंटनी का दही—विपाक में कटु, क्षारयुक्त, भारी तथा विरेचक होता है एवं वात, अर्श, कुष्ठ, कृमि और उदर रोगों को नष्ट करता है ॥ ७० ॥

कोपनं कफवातानां दुर्नाम्नां चाविकं दधि ।
रसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्दि दोषलम् ॥ ७१ ॥

भेड का दही—कफ, वात और अर्श का प्रकोप करता है तथा रस और पाक में मधुर होता है एवं अत्यन्त अभिष्यन्दी तथा दोषवर्द्धक होता है ॥ ७१ ॥

दीपनीयमचक्षुष्यं वाडवं दधि वातलम् ।
रूक्षमुष्णं कषायञ्च कफमूत्रापहञ्च तत् ॥ ७२ ॥

घोड़ी का दही—अग्नि का दीपन, नेत्रों के लिये अहितकर, वातवर्द्धक, रूक्ष, उष्ण, कषाय तथा कफ और मूत्र के दोषों को नष्ट करता है ॥ ७२ ॥

स्निग्धं विपाके मधुरं बल्यं सन्तर्पणं गुरु ।
चक्षुष्यमग्र्यं दोषघ्नं दधि नार्या गुणोत्तरम् ॥ ७३ ॥

स्त्री का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलवर्द्धक, तृप्तिकारक, भारी, नेत्रों के लिये अत्यन्त हितकर, दोषनाशक तथा गुणों में उत्कृष्ट होता है ॥ ७३ ॥

लघु पाके बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ।
कषायानुरसं नाग्न्या दधि वर्चोविवर्द्धनम् ॥ ७४ ॥

हस्तिनी का दही—पाक में लघु, कफनाशक, उष्णवीर्य, पाचनशक्ति का नाशक, अनुरस में कषाय तथा मल का वर्द्धक होता है ॥ ७४ ॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ।
विज्ञेयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥ ७५ ॥

उक्त श्लोकों में गो आदि प्राणियों के जो पृथक् पृथक् दही वर्णित किये गये हैं उन सब में गाय का दही ही गुणों की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है ॥ ७५ ॥

वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ।
कुर्याद् भक्ताभिलाषञ्च दधि यत् सुपरिस्रुतम् ॥ ७६ ॥

कपड़े में बांधकर अच्छी प्रकार परिस्रुत किया हुआ दही वातनाशक, कफकारक, स्निग्ध और शरीर की पुष्टि (बृंहण) करनेवाला होता है तथा यह दही पित्त को अधिक नहीं बढाता है एवं भोजन में इच्छा उत्पन्न करता है ॥ ७६ ॥

श्रृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ।
वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्द्धनम् ॥ ७७ ॥

अच्छी प्रकार उबाले हुये दुग्ध से जो दही बनता है वह अधिक गुणकारी, वात तथा पित्त का नाशक, रुचिकारक एवं शरीर की धातुओं, अग्नि तथा बलको बढाता है ॥ ७७ ॥

दध्नः सरो गुरुर्वृष्यो विज्ञेयोऽनिलनाशनः ।
वह्नेर्विधमनश्चापि कफशुक्रविवर्द्धनः ॥ ७८ ॥

दही के ऊपर का भाग (सर) पचने में भारी, वृष्य, वात का नाशक, पाचकाग्नि का नाशक तथा कफ और शुक्र को बढाता है ॥ ७८ ॥

विमर्शः—सर =स्नेहबहुल उपरितनाश । तथा च भावप्रकाशे—'दध्नस्तूपरि यो भागो घनः स्नेहसमन्वित । स लोके सर इत्युक्तो दध्नो मण्डस्तु मस्विति' ॥

दधि त्वसारं रूक्षञ्च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् ।
दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ॥ ७९ ॥

जिसमें से मक्खन या क्रीम निकाल लिया गया हो ऐसे दुग्ध का जमाया हुआ दही रूक्ष, ग्राही, विष्टम्भी, वातजनक, अग्निदीपक, पचने में अत्यन्त हलका, कषायरस युक्त और रुचिप्रद होता है ॥ ७९ ॥

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥ ८० ॥

शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं में प्रायः दही अधिक खाना ठीक नहीं है तथा हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतुओं में दही का सेवन श्रेष्ठ होता है ॥ ८० ॥

विमर्शः—रोगविशेषेण दधिनिषेधमाह चरकः—'रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत् । न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ॥ नामुद्गशूप नाक्षौद्र नोष्ण नामलकैर्विना । ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान् । प्राप्नुयात् कामला चोग्रा विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥' इति ।

तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ।
अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ॥ ८१ ॥
प्रह्लादनं प्रीणनञ्च भिनत्त्याशु मलञ्च तत् ।
बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥ ८२ ॥

दही का पानी (मस्तु) तृष्णा और क्लम को नष्ट करता है, पचने में लघु, स्रोतसों का विशोधक तथा अम्ल, कषाय और मधुर होता है । यह वृष्य नहीं है तथा कफ और वात को नष्ट करता है । आत्मा, मन और इन्द्रियों को आह्लादित करता है तथा तृप्त करता है मल का शीघ्र भेदन करता है, शीघ्र शरीर के बल को बढाता है और भोजन में रुचि करता है ॥ ८१-८२ ॥

विमर्शः—मस्तु=द्विगुणवारियुत दधि । राजनिघण्टौ—'तक्र त्रिभागदधिसयुतमम्बु धीरैरुक्त दधि द्विगुणवारियुत तु मस्तु' इति ।

स्वाद्वम्लमत्यम्लकमन्दजातं तथा श्रृतक्षीरभवं सरञ्च ।
असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन् वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में मीठा, खट्टा, अधिक खट्टा, मन्द, उबाले हुये दुग्ध का, सारयुक्त तथा असारयुक्त ऐसे सात प्रकार का

दही और उसके गुण कहे हैं इसी तरह दही के मस्तु के भी गुण कहे हैं ॥ ८३ ॥

इति दधिवर्गः।

अथ तक्रवर्गः—

तक्रं मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यञ्च।

तक्र (मट्ठा, छाछ) मधुर, अम्ल, अनुरस में कषाय, वीर्य में उष्ण, हलकी तथा पाचकाग्नि को दीप्त करती है एवं गर (कृत्रिम विष), शोफ, अतिसार, सङ्ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श, प्लीहावृद्धि, गुल्मरोग, अरोचक, विषम ज्वर, तृष्णा, वमन, लार का टपकना, शूल, मेदोवृद्धि, कफरोग तथा वातरोग नाशक है। पाक में मधुर, हृदय के लिये हितकारी, मूत्रकृच्छ्र, अधिक स्नेह सेवनजन्य व्यापत्तियों को नष्ट करती है एवं वृष्य नहीं है ॥ ८४ ॥

विमर्शः—स्नेहव्यापद —तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता। कुष्ठानि कण्डू पाण्डुत्व शोफार्शस्यरुचिस्तथा॥ जठर ग्रहणीदोषा स्तैमित्य वाक्यनिग्रहः। शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्॥ (चरक)।

मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्द्धोदकं च यत्।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे।
यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते ॥ ८५ ॥

मन्थन कर के जिसमें से स्नेह (मक्खन) निकाल लिया गया हो और दही से आधा पानी जिसमें मिला हुआ हो, जो न अधिक गाढी और न अधिक पतली हो तथा जो रस में मधुर, अम्ल और कषाय हो उसे 'तक्र' कहते हैं किन्तु जिस दही में से मक्खन न निकाला गया हो तथा पानी भी नहीं डाला गया हो और केवल मन्थनी से विलयन (घोल) बना दिया हो उसे 'घोल' कहते हैं ॥ ८५ ॥

विमर्शः—नन्वान्तरे तक्रस्य त्रैविध्यमाह-'रूक्षमर्द्धोद्धृतस्नेह यनश्चानुद्धृत घृतम्। तक्र दोषाग्निबलवित्तिविध तत्प्रयोजयेत्'॥ अपि च घोलमथिततक्रोदश्चिच्छ्चिक्केतिनामभेदेन तद्भेदा उक्ता निघण्टौ-'घोलन्तु मथित तक्रमुदश्चिच्छ्चिक्काऽपि च। ससार निर्जल घोल मथित त्वसरोदकम्॥ तक्र पादजल प्रोक्तमुदश्चित्त्वर्द्धवारिकम्। च्छ्चिका सारहीना स्यात्स्वच्छा प्रचुरवारिका॥' इति।

नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले।
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥ ८६ ॥

क्षत, गरमी का समय, दुर्बल मनुष्य, मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तपित्त इनमें तक्र का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥८६॥

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च।
मार्गावरोधे दुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते ॥ ८७ ॥

शीतकाल, अग्निमान्द्य, कफजन्यरोग, स्रोतसों के मार्गावरोध में तथा वायु की दुष्टि में तक्र प्रशस्त मानी गई है॥८७॥

तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनञ्च; अम्लं वातघ्नं पित्तकरञ्च ॥ ८८ ॥

मधुर तक्र कफ का प्रकोप करती है और पित्त का शमन करती है। अम्ल तक्र वात को नष्ट करती है तथा पित्त को बढाती है ॥ ८८ ॥

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं, स्वादु पित्ते सशर्करम्।
पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम् ॥ ८९ ॥

वात के प्रकोप में सैन्धवलवणयुक्त अम्लतक्र, पित्त के प्रकोप में शर्करायुक्त स्वादुतक्र तथा कफ के प्रकोप में सोंठ, मरिच, पिप्पली तथा यवक्षार इनका चूर्ण मिलाकर तक्र पीनी चाहिये ॥ ८९ ॥

ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका।
तक्राल्लघुतरो मण्डः कूर्चिकादधितक्रजः ॥ ९० ॥

तक्रकूर्चिका ग्राहिणी (कब्ज करनेवाली), वातकारक, रूक्ष और दुर्जर होती है। कूर्चिकाभूत दही और तक्र से बनाया हुआ मण्ड तक्र से अधिक लघु होता है ॥ ९० ॥

विमर्शः—दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूत घनद्रवभाग क्षीर कूर्चिका। उपरितनः स्वच्छो भागो मण्ड। कथम्भूत- कूर्चिकादधितक्रज- कूर्चिकाभूत यद्धि तक्र च ताभ्या जात इत्यर्थ। तदाह निघण्टौ-'दध्ना सह च यत्पक्व क्षीरं सा दधिकूर्चिका। तक्रेण पक्व यत्क्षीर सा भवेत्तक्रकूर्चिका॥' इति।

गुरुः किलाटोऽनिलहा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः।
मधुरौ बृंहणौ वृष्यौ तद्वत्पीयूषमोरटौ ॥ ९१ ॥

किलाट पचने में भारी, वातनाशक, पुंस्त्व तथा निद्रा लानेवाला होता है। इसी प्रकार पीयूष और मोरट स्वाद में मधुर, बृंहणकारक और वृष्य होते हैं ॥ ९१ ॥

विमर्शः—किलाट =कूर्चिकीभूतदुग्धस्य पिण्ड। तदुक्तम्- 'नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्ट प्रोक्त किलाटक' इति। 'क्षीर' सद्यः प्रसूताया पीयूषमिति सञ्चितम्। सप्तरात्रात्परं क्षीरमप्रसन्नस्तु मोरट'॥ सप्ताहात्परतो यावत्प्रसन्नता न गच्छति तावन्मोरट इत्यर्थ।

नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं सङ्ग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहं, चिरोत्थितं गुरु कफमेदोविवर्द्धनं बलकरं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते ॥ ९२ ॥

नवनीत—(नवनीत नवोद्धृतम्) दही से ताजा निकाला हुआ मक्खन पचने में हलका, शरीर को सुकुमार बनानेवाला, रस में मधुर, कषाय और कुछ खट्टा, शीतप्रकृतिक, मेधावर्द्धक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकारी, दस्त को बांधनेवाला, पित्त और वात का नाशक, वृष्य, दाह नहीं करनेवाला, राजयक्ष्मा, कास, व्रण, व्यवाय-शोक-चार्द्धक्यादिजन्य शोष, अर्श और अर्दित नाशक है। निकालकर रखा हुआ अर्थात् पुराना मक्खन पचने में भारी, कफ और मेदा को बढानेवाला, बलवर्द्धक, बृंहण, शोषनाशक तथा अधिकतया बालकों के लिये प्रशस्त होता है ॥ ९२ ॥

क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्ययुक्तमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं सङ्ग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनञ्च ॥ ९३ ॥

कच्चे दुग्ध से निकाला हुआ मक्खन अतीव स्निग्ध और मधुर तथा अधिक शीतल, शरीर को सुकुमार बनानेवाला, नेत्रों के लिये हितकारी, ग्राही, रक्तपित्त तथा नेत्ररोगों को हरनेवाला एवं शरीर, इन्द्रियां और मन को प्रसन्न करता है ॥

सन्तानिका पुनर्वातघ्नी तर्पणी बल्या वृष्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च ॥

सन्तानिका—(दूध के ऊपर की मलाई) वातनाशिका, तृप्तिकारिणी, बल के लिये हितकर, वृष्य, स्निग्ध, रुचिवर्द्धक, स्वाद और पाक में मधुर, रक्तपित्त का प्रसादन (संशमन) करनेवाली तथा पचने में भारी होती है ॥ ९४ ॥

विकल्प एष दध्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः ।
विकल्पानवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत् ॥ ९५ ॥

इति तक्रवर्गः ।

दही तक्र आदि का जो यह विकल्प (भेद) वर्णित किया गया है वे दधि-तक्रादि गौ के श्रेष्ठ होते हैं। एवं जो शेष प्राणियों के दूध, दधि और तक्र के भेद हैं उनके गुणधर्म उनके दुग्ध के वीर्य (गुण) से ही जान लेवें ॥ ९५ ॥

इति तक्रवर्गः ।

अथ घृतवर्गः—

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्द्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नञ्च ॥ ९६ ॥

घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, अल्पक्लेदकारक, शरीर में स्नेहन करनेवाला तथा उदावर्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह और वात तथा पित्त को शान्त करनेवाला, पाचकाग्नि का दीपक है एवं स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सौकुमार्य, ओज, तेज और बल इन सबको बढाता है तथा आयुवर्द्धक, वृष्य, मेध्य, वयःस्थापक, पचने में भारी, नेत्रों के लिये हितकर, कफ को बढानेवाला, पाप तथा अलक्ष्मी (दरिद्रता या कुरूपता) का नाशक, विषों को नष्ट करनेवाला एवं राक्षसों (या सूक्ष्म जीवाणुओं) का नाशक है ॥ ९६ ॥

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम् ।
चक्षुष्यमग्र्यं बल्यञ्च गव्यं सर्पिर्गुणोत्तरम् ॥ ९७ ॥

गोघृत—विपाक में मधुर, शीतप्रकृतिक, वात, पित्त और विष का नाशक, नेत्रों के लिये हितकारी, बलवर्द्धक तथा अन्य प्राणियों के घृत के गुणों की अपेक्षा गोघृत सर्वोत्तम गुण युक्त होता है ॥ ९७ ॥

आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम् ।
कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥ ९८ ॥

अजाघृत—अग्नि का दीपक, नेत्रों के लिये हितकारी और बलवर्द्धक है तथा कास, श्वास और क्षय में भी पथ्य है। यह पाक में लघु होता है ॥ ९८ ॥

मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम् ।
वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं घृतम् ॥ ९९ ॥

माहिषघृत—मधुर, रक्तपित्तनाशक, पाक में भारी, कफवर्द्धक, वायु और पित्त को शान्त करने वाला तथा शीतल है ॥

औष्ट्रं कटु घृतं पाके शोफक्रिमिविषापहम् ।
दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ १०० ॥

ऊंटनी का घी—विपाक में कटु, शोफ, क्रिमि और विष का नाशक, अग्नि का दीपक, कफ-वात का नाशक एवं कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोगों को नष्ट करता है ॥ १०० ॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् ।
कफेऽनिले योनिदोषे शोषे कम्पे च तद्धितम् ॥ १०१ ॥

भेड़ी का घी—पचने में लघु होता है तथा पित्त का प्रकोप नहीं करता है एवं कफविकार, वातविकार, योनि दोष, शोष और कम्प में हितकारी है ॥ १०१ ॥

पाके लघूष्णवीर्यञ्च कषायं कफनाशनम् ।
दीपनं बद्धमूत्रञ्च विद्यादैकशफं घृतम् ॥ १०२ ॥

एक शफ (खुर) वाले प्राणी जैसे घोड़ी, गदही आदि इनका घी पचने में हलका, उष्णवीर्य, स्वाद में कषाय, कफ का नाशक, अग्नि का दीपक तथा मूत्र को कम करता है ॥ १०२ ॥

चक्षुष्यमग्र्यं स्त्रीणान्तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् ।
वृद्धिं करोति देहाग्न्योर्लघुपाकं विषापहम् ॥ १०३ ॥

स्त्रीघृत—नेत्र रोगों के लिये अधिक हितकारी और अमृत के समान गुणकारी होता है। देह और पाचकाग्नि की वृद्धि करता है, पचने में हलका होता है एवं विषों का नाशक है ॥

कषायं बद्धविण्मूत्रं तिक्तमग्निकरं लघु ।
हन्ति कारेणवं सर्पिः कफकुष्ठविषक्रिमीन् ॥ १०४ ॥

करेणु (हस्तिनी) का घी कषाय रस, विष्ठा और मूत्र को बांधने वाला, तिक्त, पाचकाग्नि का वर्द्धक, पचने में हलका होता है तथा कफ, कुष्ठ, विष और क्रिमि रोगों को नष्ट करता है ॥ १०४ ॥

क्षीरघृतं पुनः सङ्ग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रशमनं नेत्ररोगहितञ्च ॥ १०५ ॥

क्षीरघृत अर्थात् कच्चे दुग्ध से निकाले हुये मक्खन से बनाया हुआ घी ग्राही होता है तथा रक्तपित्त, भ्रम और मूर्च्छा को शान्त करता है एवं नेत्र रोगों के लिये हितकारी है ॥१०५॥

सर्पिर्मण्डस्तु मधुरः सरो योनिश्रोत्रार्त्तिशिरसां शूलघ्नो बस्तिनस्यात्तिप्रपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०६ ॥

घी के ऊपर जमा हुआ स्वच्छ भाग रस में मधुर, दस्तावर एवं योनि, कर्ण, नेत्र तथा शिर के शूल को नष्ट करने वाला होता है तथा वस्ति, नस्य और नेत्रपूरण कार्य में हितकारी कहा गया है ॥ १०६ ॥

सर्पिः पुराणं सरं कटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०७ ॥

पुराना घी कुछ दस्तावर, विपाक में कटु, त्रिदोषों का नाशक, मूर्च्छा, मद, उन्माद, उदर रोग, ज्वर, गर (कृत्रिम-विष), शोष, अपस्मार, योनिरोग या योनिशूल, कर्ण के रोग या शूल, नेत्र के रोग या शूल और शिर के शूल को नष्ट करता है। कायाग्नि को दीप्त करता है तथा वस्ति, नस्य और नेत्र-पूरण में प्रयुक्त होता है ॥ १०७ ॥

भवति चात्र—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत्।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ १०८ ॥
(एकादशशतब्दैव वत्सरानुषितं घृतम्।
रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम् ॥ १०९ ॥
पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः।
बल्यं पवित्रं मेध्यञ्च विशेषात्तिमिरापहम् ॥ ११० ॥
सर्वभूतहरञ्चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥ १११ ॥)

इति घृतवर्गः।

पुराना घी—तिमिर, श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रहपीडा तथा अपस्मार का नाशक है। (ग्यारह वर्ष से ले कर शत (सौ) वर्ष का पुराना घृत 'कुम्भ-सर्पि' कहलाता है तथा वह राक्षसों (कृमि, जीवाणु, भूत प्रेतादि) को नष्ट करता है। सौ वर्ष के बाद का घी 'महासर्पि' कहलाता है। यह महाघृत वातरोग वाले या वातप्रकृति मनुष्यों द्वारा पीना चाहिये एवं यह कफ को नष्ट करता है, बलवर्द्धक, पवित्र और मेध्य है। विशेषतया तिमिर रोग को नष्ट करता है। सर्व प्रकार के भूतों (क्रिमि तथा जीवाणुओं) को नष्ट करने में प्रशस्त है) ॥ १०८-१११ ॥

विमर्शः—पुराण घृत के विषय में अनेक मत हैं। (१) वर्षा-दूर्ध्वं भवेदाज्य पुराणम्। (भाव प्र०)। (२) सर्पि पुराण विज्ञेय दशवर्षस्थितन्तु यत्। (योगरत्नाकर)। अन्यच्च—पुराणं दशवर्षं स्यात्प्रपुराणमतः परम्। कुम्भघृत कालः—(१) कौम्भ दशाब्दिकम्। (चरके चक्रपाणिः)। (२) शतवर्षस्थित यत्तु कुम्भसर्पिस्तदुच्यते। (योगरत्नाकर)। (३) हारीतसंहिता का मत है-कि जैसे जैसे घी पुराना होता है वैसे २ उसमें गुण की वृद्धि होती रहती है-यथा यथा जरा याति गुणवत्स्यात्तथा तथा।

इति घृतवर्गः।

अथ तैलवर्गः—

तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिल-बलासक्षयकरं क्रिमिघ्नमशितपित्तजननं योनिशिरःकर्ण-शूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनञ्च, तथा छिन्नभिन्नविद्धो-त्पिष्टच्युतमथितक्षतपिच्चितभग्नस्फुटितक्षाराग्निदग्धवि-श्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्नमृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु च परि-षेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

तिलों का तैल आग्नेय, उष्ण, तीक्ष्ण, मधुर विपाक में भी मधुर, बृंहणकारक, इन्द्रियों, मन और आत्मा की तृप्ति करने वाला, व्यवायि अर्थात् शीघ्र शरीर में व्याप्त होने वाला, सूक्ष्म, विशद, पचने में भारी, दस्तावर, विकासि, वृष्य, त्वचा का प्रसादक, दोषों या शरीर का शोधक तथा मेधा, मृदुता, मांस की स्थिरता, वर्ण और बल को करने वाला, नेत्रों के लिये हितकारी, मूत्र का अवरोध करने वाला, लेखक, अनुरस में तिक्त और कषाय, आमदोषों का पाचक, वायु और कफ को नष्ट करने वाला, क्रिमिनाशक, खाने के बाद पित्त का जनक, योनि, शिर और कर्ण के शूल को शान्त करने वाला, गर्भाशय के दोषों का शोधक एवं छिन्न, भिन्न, विद्ध, उत्पिष्ट, च्युत, मथित, क्षत, पिच्चित, भग्न, स्फुटित, क्षार तथा अग्नि से दग्ध, विश्लिष्ट, दारित, अभिहत, दुर्भग्न, अहिंस्र तथा हिंस्र पशुओं से दष्ट प्रभृति दशाओं में परिषेक, अभ्यङ्ग तथा अवगाहन के लिये 'तिल तैल' प्रशस्त होता है ॥ ११२ ॥

विमर्शः—तैलमिति। यद्यपि तैलशब्देन तिलेषु भवं तैल तिल-तैलमभिप्रेतम्, तथाऽपि वर्गेऽस्मिन्नेरण्डतैलादीनामपि वक्तव्यतया 'तिलादिस्निग्धवस्तूना स्नेहस्तैलमुदाहृत' इति पारिभाषिकं तैलमत्राभिप्रेतम्। आग्नेयम्=अग्निगुणबहुलम्। 'व्यवायी व्याऽखिल देह व्याप्य पाकाय कल्पते' इति वक्ष्यमाणलक्षण व्यवायि। विकासि= सर्वशरीरानुप्रवेशेन धातुसन्धिबन्धनविमोचकम्।

तद्बस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥ ११३ ॥

इस तिल तैल को वस्तिकर्म, पान, नस्य, कर्ण और नेत्र के पूरण, अनेक प्रकार के खाद्य तथा पेय पदार्थों के संस्कार तथा वात की शान्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ११३ ॥

एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वय स्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृति-बलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरञ्च ॥ ११४ ॥

एरण्ड का तैल—मधुर, उष्ण, तीक्ष्ण, अग्नि का दीपक, रस में कटु, अनुरस में कषाय, सूक्ष्म, स्रोतोविशोधक, त्वचा के लिये हितकारी, वृष्य, विपाक में मधुर, आयु का स्थापक, योनि तथा शुक्र के दोषों का शोधक, शरीर की नीरोगता, मेधा, कान्ति, स्मृति और बल को करने वाला, वायु और कफ का नाशक एवं शरीर के मलाशय, मूत्राशय आदि अधोभागों के दोषों को हरने वाला कहा गया है ॥ ११४ ॥

विमर्शः—एरण्डतैल सुकुमार कोष्ठ के मनुष्य, छोटे बच्चे, गर्भिणी स्त्री तथा वृद्धों के लिये विरेचनादि में प्रयुक्त करने पर अमृत सा कार्य करता है।

निम्बातसीकुसुम्भमूलकजीमूतकवृक्षककृतवेधनार्कक्रम्पिल्लकहस्तिकर्णप्रथ्वीकापीलुकरञ्जेङ्गुदीशिग्रुसर्षपसुवर्चलाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगहराणि चेति ॥ ११५ ॥

नीम, अलसी, कुसुम्भ, मूली, देवदाली, कुटज, कोशातकी, आक, कबीला, हस्तिकर्ण (लाल पूरण्ड या पलाश), काला जीरा, पीलु, करञ्ज, इङ्गुदी, सहजन फली, सरसों, सूर्यावर्त, विडङ्ग, मालकांगनी इनके फल अथवा बीजों के तैल तीक्ष्ण, पचने में हलके, उष्णवीर्य, रस और विपाक में कटु, मृदु विरेचक हैं तथा वायु, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह तथा शिर के रोगों को नष्ट करते हैं ॥ ११५ ॥

वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं बलापहम् ।
कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥ ११६ ॥
कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु ।
कफमेदोऽनिलहरं लेखनं कटु दीपनम् ॥ ११७ ॥
कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु ।
कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम् ॥ ११८ ॥
विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषकृत् ।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च ॥ ११९ ॥

उक्त तैलों में अलसी का (क्षौम) तैल वातनाशक, मधुर, बलनाशक, विपाक में कटु, नेत्रों के लिये अहितकारी, स्निग्ध, उष्ण, भारी और पित्तकारक होता है। सरसों का तैल कृमि, कण्डू और कुष्ठ को नष्ट करता है, पचने में हलका होता है, कफ, मेद और वात रोगों का नाशक है तथा लेखक, कटु और अग्नि का दीपक है। हिंगोट तैल-कृमिनाशक, कुछ तिक्त एवं हलका होता है, कुष्ठ तथा कृमि रोगों को नष्ट करता है तथा दर्शनशक्ति, वीर्य और शरीर के बल को नष्ट करता है। कुसुम्भ तैल विपाक में कटु, सर्व दोषों का जनक, रक्तपित्त को बढाने वाला, तीक्ष्ण, नेत्रों के लिये हानिकारी तथा शरीर में विदाह उत्पन्न करता है ॥ ११६-११९ ॥

किराततिक्तकातिमुक्तकविभीतकनालिकेरकोलाक्षोडजीवन्तीप्रियालकर्बुदारसूर्यवल्लीत्रपुसैर्वारुककर्कारुकूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टविण्मूत्राण्यग्निसादनानि चेति ॥ १२० ॥

चिरायता, माधवीलता फल, बहेडे की गिरी, नारियलगिरी, बेर, अखरोट, जीवन्ती, चिरोञ्जी, कचनार, अर्कपुष्पी, खीरा, एर्वारुक (खीराभेद), कर्कारुक, कोहडा आदि के फलों के तैल रस और पाक में मधुर वायु और पित्त के प्रशामक, शीतवीर्य, अभिष्यन्दी, मूत्र लाने वाले तथा पाचकाग्नि के नाशक होते हैं ॥ १२० ॥

मधुककाश्मर्यपलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि ॥ १२१ ॥

महुआ, गम्भारी और पलाश (ढाक) के बीजों के तैल मधुर, कषाय तथा कफ और पित्त के प्रशामक होते हैं ॥१२१॥

तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिप्रशमनेउभयतोभागदोषहरे च॥

तुवरक तथा भिलावें के तैल उष्ण, मधुर और कषाय, अनुरस में तिक्त एवं वात, कफ, कुष्ठ, मेदोवृद्धि, प्रमेह और कृमि रोगों के प्रशामक तथा उभय (ऊर्ध्व और अधः) भाग के दोषों के नाशक होते हैं ॥ १२२ ॥

विमर्शः—तुवरकनामौषधिः, एतत्परिचयस्तु—'पत्रैस्तु केशराकारैः कलायसदृशैः फलैः । वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरजः ॥' इति तन्त्रान्तरीयः । आजकल गलित कुष्ठ (Leprosy) में तुवरक तैल का प्रयोग अधिक करते हैं।

सरलदेवदारुगण्डीरशिंशपागुरुसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च॥१२३॥

सरल, देवदार, गण्डीर, शीशम और अगुरु इनके सार भाग के निकाले हुये स्नेह तिक्त, कटु और कषाय होते हैं। दुष्टव्रण का शोधन करते हैं तथा कृमि, कफ, कुष्ठ और वात रोगों को नष्ट करते हैं ॥ १२३ ॥

तुम्बीकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीश्यामासप्तलानीलिकाक्रम्पिल्लकशङ्खिनीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अधोभागदोषहराः कृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च ॥ १२४ ॥

कडवी तोम्बी, कोशाम्र, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला, नीलिका, कम्पिल्लक और शङ्खिनी के तैल, कटु और कषाय रसयुक्त होते हैं तथा अधोभाग के मल, मूत्र, वातादि दोषों का हरण करते हैं एवं कृमि, कफ, कुष्ठ और वातनाशक तथा दुष्टव्रणशोधक होते हैं ॥ १२४ ॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोषप्रशमनमीषत्तिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं रसायनञ्च ॥ १२५ ॥

यवतिक्ता (कालमेघ) का तैल सब दोषों का प्रशमन करता है, कुछ तिक्त होता है, अग्नि का दीपन करता है, दोषों का लेखन, मेधा के लिये हितकर, पथ्य और रसायन गुण युक्त होता है ॥ १२५ ॥

एकैपिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माभिवर्द्धनं च ॥ १२६ ॥

एकैपिका (कृष्णत्रिवृत् फल) तैल स्वाद में मधुर, अति शीतप्रकृतिक, पित्त का हारक, वात का प्रकोपक एवं कफवर्द्धक होता है ॥ १२६ ॥

सहकारतैलमीषत्तिक्तमतिसुगन्धि वातकफहरं रूक्षं मधुरकषायं रसवन्नातिपित्तकरञ्च ॥ १२७ ॥

आम्रफल की गुठली का तैल अथवा आम के मौर (पुष्पाङ्कुर) या पत्तों का तैल कुछ तिक्त किन्तु अधिक सुगन्धिवाला, वात और कफ का नाशक, रूक्ष, मधुर और कषाय होता है तथा रस की भांति अधिक पित्तकारक नहीं होता है ॥ १२७ ॥

फलोद्भवानि तैलानि यान्युक्तानीह कानिचित् ।
गुणान् कर्म च विज्ञाय फलानीव विनिर्दिशेत् ॥१२८॥

यावन्तः स्थावराः स्नेहाः समासात् परिकीर्त्तिताः।
सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः॥ १२९॥
सर्वेभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते।
निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि॥ १३०॥

जिन जिन फलों के कुछ तैलों का वर्णन यहां नहीं किया गया है उन तैलों के गुणकर्म उनके फलों के समान ही समझना चाहिये। जो जो स्थावर स्नेह यहां सक्षिप्त रूप से वर्णित किये गये हैं वे सब तिलतैल के सामान्यगुणों से युक्त होते हैं अतः वे सब स्नेह वातनाशक हैं। सर्व प्रकार के तैलों की अपेक्षा तिलों का तैल प्रशस्त है। यद्यपि तैल संज्ञा तिलों से निकले स्नेहरूपी द्रव की ही है तथापि उन तिलातिरिक्त वानस्पतिक स्नेहों से भी तिलतैल के समान निष्पत्ति (कार्य सिद्धि) होने से तथा तिलतैल के गुणों के समान ही उन में गुण होने से उनमें भी तैलत्व का आरोप किया गया है॥

विमर्शः—चरक ने स्नेहों की दो योनि मानी है—स्नेहाना द्विविधा योनिः सौम्य! स्थावरजङ्गमा। तैलगुणाश्चरके—नैल सयोगसस्काराद् सर्वरोगापह परम्। तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमा॥ आसन्नातिबला सख्ये दैत्याधिपतय पुरा॥ निष्पत्ति का अर्थ तैलनिष्कासन-समानता किया है जैसे—तिले यथा तैल निष्पद्यते चूर्णीकरणयन्त्रादिना तथा सर्षपादावपि स्नेहापकर्षणात्। भवति च समाननिष्पत्तिकतया तच्छब्दता। (शिवदाससेनः)।

ग्राम्यानूपौदकानाञ्च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः। जाङ्गलैकशफक्रव्यादादीनां लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नाः। प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः। तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च॥ १३१॥

इति तैलवर्गः।

गौ, अश्व, उष्ट्र आदि ग्राम्य, महिषादि आनूप तथा मत्स्यादि औदक प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा भारी, उष्णप्रकृतिक, रस में मधुर तथा वातनाशक है तथा जंगल में घूमने वाले प्राणी, एक खुरवाले प्राणी तथा हिंस्रक प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा लघु, शीतल, कषाय तथा रक्तपित्तहारक होती है। कपोत, पारावतादि प्रतुद और लाव-तित्तिरादि विष्किर प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा कफनाशक होती है। घृत, तैल, वसा, मेदा और मज्जा ये यथोत्तर अधिक भारी एवं वातनाशनार्थ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं॥ १३१॥

विमर्शः—घृत तैल वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विध। यहां मेद को और बढ़ाकर पांच स्नेह कर दिये हैं। तैल को Oil, वसा को Fat, मेद को Red Marrow, मज्जा को Yellow Marrow कहते हैं। स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वन्यन्तराश्रिता। अथेतरेषु सर्वेषु सरक्त मेद उच्यते॥ स्नेह द्रव्यों का निर्माण ग्लिसीन और फेटि एसिड के संयोग से होता है। जिसमें फेटि एसिड निम्न श्रेणी के हों उन्हें रासायनिक भाषा में तैल कहते हैं अत एव तैल पतले होते हैं। जिन में उच्चश्रेणी के फेटि एसिड हो उन्हें वसा कहते हैं जिससे वह गाढ़ी होती है।

इति तैलवर्गः।

अथ मधुवर्गः—

मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं सन्धानं शोधनं रोपणं सङ्ग्राहि चक्षुष्य प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारि पित्तश्लेष्ममेदोमेहहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनञ्च। तत्तु लघुत्वात्कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात्कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम्॥ १३२॥

मधु (शहद Honey) रस में मधुर, अनुरस में कषाय, रूक्ष, शीत, अग्निदीपक, वर्ण बढानेवाला, बलवर्द्धक, पचने में हलका, सुकुमारताकारक, लेखन, हृदय के लिये हितकर, वाजीकरण, भग्नास्थिसन्धानकारक, दोषशोधक, व्रणरोपक, संग्राहि, नेत्रों के लिये हितकर, प्रसादक, शरीर के सूक्ष्म स्रोतसों (मार्गों) में प्रवेश करने वाला, पित्त, कफ, मेदोवृद्धि, प्रमेह, हिक्का, श्वास, कास, अतिसार, वमन, तृष्णा, कृमि और विष का प्रशमन करने वाला, हृदयाह्लादकारी, तथा त्रिदोष का शामक है। वह शहद लघु होने से कफ को नष्ट करता है तथा पिच्छिल, मधुर और कषाय रस होने से वात और पित्त को नष्ट करता है॥ १३२॥

विमर्श—मधु में द्राक्षाशर्करा या ग्लूकोज ७५% प्रतिशत होता है एवं इक्षुशर्करा, लेव्यूलोज, प्रोटीड्स, गोंद, मोम, रञ्जन द्रव्य, फोर्मिक एसिड, सुगन्धिद्रव्य, लोहा, चूना, फोस्फरस, विटामिन्स, Diastatic ferment, जल और पुष्पों के पराग होते हैं। इसी तरह शरीर के उपयोगी सभी उपादान मधु में हैं। अग्निमान्द्य, ज्वर, वमन, तृषा, अम्लावस्था, विषमावस्था, मधुमेह, हृदयदौर्बल्य, हृदयावसाद (Collapse) में मधु अत्यन्त लाभकारी है। मधु की शर्करा (Glucose) का पाश्चात्यविज्ञान में बहुत आदर और उपयोग हो रहा है।

पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च।
आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः॥ १३३॥

मधु के भेद—पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक, छात्र, आर्घ्य, औद्दालक और दाल ये मधु की आठ जातियां होती हैं॥१३३॥

विमर्शः—चरक ने केवल मधु की चार जातियां ही मानी हैं। माक्षिक भ्रामर क्षौद्र पौत्तिक मधुजातय। भावप्रकाशे पौत्तिकाद्यष्टजातिमधुलक्षणानि यथा—पौत्तिकम्—'महत्य पिङ्गला यास्तु माक्षिका पुत्तिका स्मृता' तद्भव सर्पिषा तुल्य मधु पौत्तिकम्। भ्रामरम्—'किञ्चित्सूक्ष्मै प्रसिद्धेभ्य. षट्पदेभ्योऽलिभिश्चितम्। निर्मल स्फटिकाभ यत्तन्मधु भ्रामर स्मृतम्॥' इति। क्षौद्रम्—'मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्माः क्षुद्राख्यास्तत्कृत मधु। मुनिभि क्षौद्रमित्युक्त तद्वर्णात्कपिल भवेत्॥' इति। माक्षिकम्—'मक्षिका. पिङ्गवर्णास्तु महत्यो मधुमक्षिका'। ताभि. कृत तैलवर्ण माक्षिक परिकीर्तितम्॥' इति। छात्रम्—'वरटाः कपिलाः पीता. प्रायो हिमवतो वने। कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्ज छात्र मधु स्मृतम्॥' इति। आर्घ्यम्—'तीक्ष्णतुण्डास्तु या. पीतवर्णा. षट्पदसन्निभाः। अर्घ्यास्ता माक्षिका ज्ञेया आर्घ्यं तत्कृतमुच्यते॥' इति। औद्दालकम्—'प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिला. स्वल्पकीटकाः। कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तस्मादौद्दालक मधु॥'

इति। दालम्—'इन्द्रनीलदलाकाराः सूक्ष्मा या मक्षिकाः शुभाः। वृक्षकोटरमध्यस्थास्तज्जं दालमुदाहृतम्॥' इति।

विशेषात्पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात्।
वातासृक्पित्तकृच्छ्रेदि विदाहि मदकृन्मधु॥ १३४॥
पैच्छिल्यात् स्वादुभूयस्त्वाद् भ्रामरं गुरुसंज्ञितम्।
क्षौद्रं विशेषतो ज्ञेयं शीतलं लघु लेखनम्॥ १३५॥
तस्माल्लघुतरं रूक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम्।
श्वासादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद्विशेषतः॥ १३६॥
स्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छिलं रक्तपित्तजित्।
श्वित्रमेहकृमिघ्नं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम्॥ १३७॥
आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम्।
कषायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत्॥ १३८॥
औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम्।
कषायमुष्णमम्लञ्च पित्तकृत् कटुपाकि च।
छर्दिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्भवम्॥ १३९॥

पौत्तिक मधु—सविष मक्षिकाओं से या विषैले पुष्पों के रस से बनने के कारण विशेषतया रूक्ष तथा उष्ण होता है एवं वायु, रक्त और पित्त को बढाता है तथा मेदोग्रन्थि आदि का छेदन करता है। यह मधु विदाह तथा मद जनक भी है। भ्रामरमधु—पिच्छिल होने से तथा अधिक मधुर होने से भारी होता है। क्षौद्रमधु—विशेषकर शीतल, लघु और लेखन होता है। माक्षिक मधु—क्षौद्र मधु से भी हलका, रूक्ष तथा सब से श्रेष्ठ है एवं श्वास-कासादि रोगों में विशेष कर प्रशस्त है। छात्रमधु—विपाक में मधुर, पचने में भारी, शीतल तथा पिच्छिल होता है एवं रक्तपित्त, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह, कृमि इनको नष्ट करता है एवं अन्य की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ माना गया है। आर्घ्यमधु—नेत्रों के लिये अतीव लाभकारी, कफ और पित्त का नाशक, रस में कषाय, विपाक में कटु, बलकारक, तिक्त एवं कुछ वातकारी होता है। औद्दालकमधु—रुचिवर्द्धक, स्वरहितकारी एवं कुष्ठ तथा विष का नाशक है। दालमधु—कषाय, उष्ण, अम्ल, पित्तकारी, विपाक में कटु, वमन तथा प्रमेह का शामक और रूक्ष होता है॥१३४-१३९॥

विमर्शः—विदाहिलक्षणम्—द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्। पित्तप्रकोप विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि॥

बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम्॥ १४०॥
मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम्।
दोषत्रयहरं पक्कामममम्लं त्रिदोषकृत्॥ १४१॥

नवीन मधु—बृंहणकारी, अधिक कफ नाश नहीं करने वाला, कुछ दस्तावर होता है। पुराना मधु शरीर की बढी हुई मेदोधातु तथा स्थौल्य को नष्ट करने वाला, ग्राहि और अति लेखक होता है। पक्कमधु—त्रिदोषों का नाशक होता है तथा आम (कच्चे छत्ते को तोड कर निकाला हुआ) मधु खट्टा होता है एवं त्रिदोषों को करता है॥ १४०-१४१॥

विमर्शः—मधुनः पुराणताकालः—मधुनः शर्करायाश्च गुटस्यापि विशेषतः। एकसंवत्सरेऽतीते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः॥ (भावप्रकाश)॥

तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून्।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु॥ १४२॥

इस मधु को अनेक योगों के साथ प्रयुक्त करने से अनेक प्रकार के रोगों को नष्ट करता है एवं अनेक द्रव्यों (पत्र, पुष्प) से उत्पन्न होने से परं योगवाही है॥ १४२॥

तत्तु नानाद्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्परसानां सविषमक्षिकासम्भवत्वाच्चानुष्णोपचारम्॥१४३॥

वह मधु अनेक प्रकार के द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य और विपाक की दृष्टि से परस्पर विरुद्ध ऐसे विविध पुष्पों के रस से उत्पन्न होने से तथा विषैली मक्षिकाओं द्वारा उत्पन्न होने से उष्णोपचार या उष्ण अवस्था के साथ संसर्ग रखने के योग्य नहीं है॥ १४३॥

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु।
उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम्॥१४४॥
तत्सौकुमार्याच्च तथैव शैत्यान्नानौषधीनां रससम्भवाच्च।
उष्णैर्विरुध्येत विशेषतश्च तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि॥

मधु अपनी उत्पत्ति में विषसंसर्गजन्य होने से उष्ण अवस्थाओं के साथ विरुद्ध पड़ता है जैसे अग्नि या सूर्य के ताप से पीडित मनुष्य को उष्ण द्रव्यों के साथ उष्ण समय (शरद्, ग्रीष्म व मध्याह्न) में सेवन कराने से विष की तरह मार डालता है। मधु सुकुमार होने से, शीतल होने से और अनेक प्रकार की ओषधियों के (पुष्प) रस से उत्पन्न होने से उष्ण द्रव्यों के साथ विरुद्ध पड़ता है तथा विशेष कर आन्तरिक्ष जल के साथ भी विरुद्ध पड़ता है॥ १४४-१४५॥

उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम्।
अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत्॥ १४६॥

वमन क्रियाओं के उष्ण जलादि द्रव्यों के साथ प्रयुक्त मधु पाक न होने से तथा शरीर में नहीं ठहरने से विरुद्ध नहीं होता है॥ १४६॥

मध्वामात्परतस्त्वन्यदामं कष्टं न विद्यते।
विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम्॥ १४७॥

मधु के अति सेवन से उत्पन्न आमावस्था अर्थात् अजीर्णावस्था से बढ़ कर अन्य पदार्थों की अजीर्णावस्था कष्टदायिनी नहीं होती है क्योंकि आमादस्थानाशार्थ सर्व प्रकार के उपक्रम (स्वेदन, उष्णपदार्थ सेवन) मधु के विरुद्ध होने से विष की तरह (वह मधु की आमावस्था) मनुष्य को मार डालती है॥

इति मधुवर्गः।

अथेक्षुवर्गः—

इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमनाः कृमिकफकराश्चेति॥

सभी इक्षु रस और विपाक में मधुर, पचने में भारी, शीत, स्निग्ध, बलकारक, वृष्य, मूत्र लाने वाले, रक्तपित्त के प्रशामक तथा कृमि और कफ को उत्पन्न करने वाले होते हैं॥

ते चानेकविधाः। तद्यथा—

पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः श्वेतपोरकः।
कान्तारस्तापसेक्षुश्च काष्ठेक्षुः सूचिपत्रकः॥ १४८॥
नैपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत्।
इत्येता जातयः स्थौल्याद् गुणान् वक्ष्यन्त्यतः परम्॥

वे इक्षु अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे-पौण्ड्रक, भीरुक, वंशक, श्वेतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्रक, नीलपोर और कोशकृत् ये स्थूल रूप से गन्ने की जातियाँ हैं। अब इसके अनन्तर इनके गुणों का वर्णन करते हैं॥ १४९-१५०॥

गुरुशीतो मधुरः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरः।
अविदाही गुरुर्वृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा॥ १५१॥
आभ्यां तुल्यगुणः किञ्चित्सक्षारो वंशको मतः।
वंशच्छ्वेतपोरस्तु किञ्चिदुष्णः स गतहा॥ १५२॥
कान्तारतापसेक्षू वंशकानुगतौ मतौ।
एवंगुणस्तु काष्ठेक्षुः स तु वातप्रकोपणः॥ १५३॥
सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो दीर्घपत्रकः।
गतलाः कफपित्तघ्नाः सक्षारगुण विदाहिनः॥ १५४॥
कोशकरो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः॥ १५५॥

पौण्ड्रक तथा भीरुक नामक गन्ने दृढ़, मधुर, स्निग्ध, पुष्टिकारक, कफकारक, दस्तावर, अविदाही, गुरु और वृष्य होते हैं। वंशक गन्ना इन दोनों के समान गुणों वाला किन्तु कुछ खारा होता है। श्वेतपोरक वंशक के समान गुणवाला तथा कुछ उष्ण और वातनाशक होता है। कान्तार तथा तापसेक्षु वंशक के समान ही गुणों वाले हैं। इसी प्रकार काष्ठेक्षु इन्हीं के सदृश गुणों वाला किन्तु वात का प्रकोपण करता है। सूचीपत्र, नीलपोर, नैपाल और दीर्घपत्रक वातवर्द्धक, कफ पित्तनाशक, कषाय रसयुक्त और विदाह उत्पन्न करते हैं। कोशकृत् गुरु, शीतल तथा रक्तपित्त और क्षय के नष्ट करता है॥ १५१-१५५॥

अग्रे च मधुरो मूले मध्ये मधुर एव तु।
अग्रेक्षुषु विजेय इक्षूणां लवणो रसः॥ १५६॥

सांठ मूल (जड़) की तरफ अत्यन्त मीठा होता है, मध्य में साधारण मीठा होता है एवं अग्रभाग तथा ग्रन्थियों में स्वल्प लवण रस वाला होता है॥ १५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिबर्हणः।
वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिर्पीडितो रसः॥ १५७॥

दाँतों से छील कर दबा के निकाला हुआ सांठे का रस दाह नहीं करने वाला, कफवर्द्धक, वात और पित्त का नाशक, मुख के तृप्त करने वाला एवं वृष्य होता है॥ १५७॥

गुरुरविदाही विष्टम्भी यन्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः।
पक्को गुरुः सरः स्निग्धः सर्वाङ्गैः कफगतलुत्॥ १५८॥

चरखी (कोल्हू) से निकाला हुआ गन्ने का रस पचने में भारी, विदाहजनक, विष्टम्भ (कब्ज) कारक होता है। अग्नि पर पकाया हुआ गन्ने का रस भारी, स्वल्परेचक, स्निग्ध, तीक्ष्ण तथा कफ और वात को नष्ट करता है॥ १५८॥

विमर्श—'त्रिभाहि द्रव्यगुरुत्वारम्भं कुर्वाणा गुरुम्। इति दाढ्यं च जनयन्ति गच्छति दीर्घिराव॥' इति, तद् विरुद्धयति वाग्भट—'मूलाग्रमध्यगुरुतादिनिर्दोषत्वमस्कृतात्। किञ्चिच्छेदं विकृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः। विदाही गुरु विष्टम्भी तेनासौ' इति।

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृच्च॥

फाणित (राब) पाक में भारी, मधुर रसयुक्त, अभिष्यन्दकारक, बृंहण, अवृष्यतथा त्रिदोषकारक होता है॥१५९॥

गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्ररक्तशोधनो नातिपित्तजिद्वातघ्नो मेदःकृकरो बल्यो वृष्यश्च॥

गुड क्षारयुक्त तथा मधुर होता है और अधिक ठण्डा नहीं होता है एवं स्निग्ध, मूत्र और रक्त का शोधक, पित्त का अधिक शमन नहीं करने वाला, वातनाशक, मेदोवृद्धि, कृमि और कफ करने वाला तथा बलवर्द्धक और वृष्य होता है॥ १६०॥

पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः।
स पुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः॥ १६१॥

शुद्ध गुड पित्तनाशक, मधुर, वातनाशक, रक्तप्रसादक होता है तथा वही एक वर्ष का पुराना अधिक गुणकारी तथा अत्यन्त पथ्यकारक होता है॥ १६१॥

मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनाश्च॥ १६२॥

गुड से मत्स्यण्डिका, मत्स्यण्डिका से खाण्ड और खाण्ड से शर्करा उत्तरोत्तर साफ होती है तथा उत्तरोत्तर शीत, स्निग्ध, अधिक गुरु, अधिक मधुर, वृष्य, रक्तपित्त को प्रशमन करने वाली तथा तृप्तिनाशक होती है॥ १६२॥

विमर्श—'इक्षो रसोऽतः सम्भवो यतः किञ्चिद् द्रवान्वितः। मन्दं यद् स्यन्दते तस्मात्तन्मत्स्यण्डी निगद्यते।' इति। पाकोत्तरकर्म सम्बन्धेन विशुद्धा गुडजाता मत्स्यण्डिका, ततः खण्डस्ततः शर्करा उत्तरोत्तरं विमलजाता वैशद्यौष्ण्यमात्रया उत्तरोत्तरं शैत्यादिप्रकर्षगुणभाजो भवन्तीत्यर्थः।

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वञ्च तथा तथा॥ १६३॥

इन पदार्थों की जितनी ही अधिक निर्मलता होती है उतनी ही अधिक मधुरता, स्निग्धता, गुरुता, शीतता और मल मूत्रादि सारक गुण बढ़ने जाते हैं॥ १६३॥

यो यो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः।
तेन तेनैव निर्देश्यस्तेषां विस्रावगो गुणः॥ १६४॥

मत्स्यण्डिका, खण्ड तथा शर्करा का जो जो अपना निजी गुण होता है वही गुण उनके विस्रावण (स्रवित रस या शर्बतों) में समझना चाहिये॥ १६४॥

सारतिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा।
तथा तथा गुणवती विज्ञेया शर्करा बुधैः॥ १६५॥

जैसे जैसे शर्करा साफ होकर सारूप में मलरहित और क्षाररहित होती जाती है वैसे वैसे उसके गुण भी बढ़ते जाते हैं ऐसा विज्ञानों को समझ लेना चाहिये ॥ १६५ ॥

मधुशर्करा पुनरुद्दर्शनीसारकरी रुक्षा छेदनी प्रसादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च ॥ १६३ ॥

मधुशर्करा वमन और अतिसार को नष्ट करती है तथा रूक्ष, छेदनी, दोष या शरीर को प्रसन्न करने वाली, रस में कषाय तथा मधुर एवं विपाक में भी मधुर होती है ॥ १६६ ॥

यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्मारी सरा चेति ॥ १६७ ॥

यवास के क्षार से निकाली हुई शर्करा (गुरुवीज) मीठी, कसैली, अनुरस में तिक्त तथा कफ को नष्ट करने वाली और मृदु विरेचक होती है ॥ १६७ ॥

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रशोषनाः ।
रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्मिमूर्च्छाक्षयापहाः ॥ १६८ ॥

जितनी भी शर्कराएं कही गई हैं वे सब दाह को शान्त करने वाली रक्तपित्त को नष्ट करने वाली तथा वमन, मूर्च्छा और तृषा को नष्ट करती हैं ॥ १६८ ॥

ऋक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत् ।
कफघ्नं मधुरं पाके कषायं बस्तिदूषणम् ॥ १६९ ॥

महुवे के फूलों से बनाया हुआ फाणित रूक्ष होता है, वात और पित्त को करता है, कफ का नाशक तथा विपाक में मधुर और कषाय एवं बस्ति (Bladder) को दूषित करता है ॥

इक्षुवर्गः ।

अथ मद्यवर्गः—

सर्वं पित्तकरं मद्यमम्लं रोचनदीपनम् ।
भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनम् ॥ १७० ॥
पाके लघु विशदमुष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम् ।
विकासि सृष्टविण्मूत्रं शृणु तस्य विशेषणम् ॥ १७१ ॥

सर्व प्रकारके मद्य पित्तजनक, अम्लरसयुक्त, रोचक, अग्निदीपक, विरेचक, कफ और वात के नाशक, हृदय के लिये हितकारी, मूत्राशय की शुद्धि करने वाले, पचने में हलके, दाहजनक, गरम, तीक्ष्ण, ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजक, विकासि (सन्धिबन्धविमोचक), विष्ठा और मूत्र को साफ लाने वाले होते हैं। अब इनके विशेष भेदों को सुनो ॥ १७०-१७१ ॥

विमर्श—पैष्टिक, माक्षिक और गौड ये तीन मद्यके तीन भेद हैं। मद्य में लवण को छोड़ शेष पांच रस होते हैं जिनमें अम्ल प्रधान होता है—मद्यस्याम्लरसभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः। मधुरश्च कषायश्च तिक्तः षष्ठश्च पञ्चमः ॥ गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तेनातुरैरभिमुखैः । सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥ (चरक) इन्द्रियबोधनः—प्रहर्षण प्रीतिकरः पानात्मगुणदर्शकः। वातकोपप्रशमाना कषायाम्ल प्रकर्षणः ॥ (चरक)। मद्य के खास द्रव्य तथा उसमें पड़ने वाले प्रक्षेपद्रव्य एवं मद्य में उत्पन्न होने वाले अल्कोहोल (Alcohol) की मात्रा पर उनके गुण निर्भर करते हैं।

भार्गिकमविशदित्वान्मधुरान्वयतस्तथा ।
रक्तपित्तेऽपि सततं बुधैर्न प्रतिषिध्यते ॥ १७२ ॥
मधुरं तद्धि रूक्षञ्च कषायानुरसं लघु ।
लघुपाकि सरं शोषविषमज्वरनाशनम् ॥ १७३ ॥

भार्गी से बना मद्य—अविशदि और मधुर रस प्रधान होने से रक्तपित्त में भी विज्ञान् वैद्य इसका निषेध नहीं करते हैं। यह मद्य मधुर, रूक्ष, अनुरस में कषाय, हलका, विपाक में भी हलका, मृदुविरेचक तथा शोष और विषमज्वर को नष्ट करता है ॥ १७२-१७३ ॥

गार्द्धीकाल्पान्तरं किञ्चित् सार्जूरं वातकोपनम् ।
तदेव विशदं रुच्यं कफघ्नं कर्शनं लघु ॥
कषायमधुरं हृद्यं सुगन्धीन्द्रियबोधनम् ॥ १७४ ॥

गार्द्धमद्य—प्राणनिर्मित मद्य की अपेक्षा कुछ कम गुणों वाला, कुछ वात का प्रकोपक, विशद, रुचिकारक, कफनाशक, कृशता करने वाला, हलका, कषाय तथा मधुर रस से युक्त, हृद्य, सुगन्धित और इन्द्रियबोधक है ॥ १७४ ॥

कासार्शोग्रहणीदोषमूत्राघातानिलापहा ।
स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा संग्रहणीदीपनी ॥ १७५ ॥

सुरा—काम, अर्श, संग्रहणी, मूत्राघात तथा वातविकार को नष्ट करती है तथा दुग्ध और रक्त की क्षीणता में हितकर, शरीर-पुष्टिकर एवं पाचकाग्निदीपक होती है ॥ १७५ ॥

छर्द्यरोचकहृत्कुक्षितोदशूलप्रमर्दनी ।
प्रसन्ना कफवातार्शोविबन्धानाहनाशनी ॥ १७६ ॥

प्रसन्ना (सुरामण्ड)—वमन, अरुचि, हृदय तथा कुक्षि में सूई चुभोने की सी पीडा, शूल, कफ, वात, अर्श, मलविबन्ध तथा आफरा को नष्ट करती है ॥ १७६ ॥

कासार्शोग्रहणीश्वासप्रतिश्यायविनाशनी ।
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्तमांसकरी सुरा ॥ १७७ ॥

श्वेत वर्ण की सुरा—कास, अर्श, सङ्ग्रहणी, श्वास, प्रतिश्याय इन्हें नष्ट करती है तथा मूत्र, कफ, दुग्ध, रक्त और मांस को बढ़ाती है ॥ १७७ ॥

पित्तलाऽल्पकफा रूक्षा यवैर्वातप्रकोपणी ॥ १७८ ॥
विष्टम्भिनी सुरा गुर्वी श्लेष्मला तु मधूलिका ।
रूक्षा नातिकफा वृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता १७९

यव की सुरा—पित्तजनक, अल्प कफजनक, रूक्ष तथा वातप्रकोपक होती है। मधूलिका-विष्टम्भ करने वाली, भारी तथा कफ बढाती है। बहेडे की सुरा-रूक्ष, अधिक कफ नहीं करने वाली, वृष्य तथा पाचक होती है ॥ १७८-१७९ ॥

विमर्शः—स्वल्पगोधूमो मध्यदेशे पीशीकेति ख्याता, मर्कटहस्तेति वा तत्फलकिण्व मधूलकमिति टीकाकृतः । मधूकफलसम्भूतसुरा मधूलिकेति सुश्रुतार्थसन्दीपनम् ।

त्रिदोषो भेदवृष्यश्च कोहलो वदनप्रियः ।

ग्राह्यण्णो जगलः पक्का रूक्षस्तृट्कफशोफहृत् ॥१८०॥
हृद्यः प्रवाहिकाऽऽटोपदुर्नामानिलशोपहृत्।
वकसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी वातकोपनः॥
दीपनः सृष्टविण्मूत्रो विशदोऽल्पमदो गुरुः॥ १८१॥

जौ के सक्तु से बनाया हुआ कोहल-त्रिदोषजनक, भेदी, अवृष्य तथा रुचिकारक होता है। जगल (मद्य के नीचे का भाग)-ग्राही, उष्ण, पाचक, रूक्ष, तृषानाशक, कफनाशक, शोथनाशक, हृदय के लिये हितकारी तथा प्रवाहिका, आटोप अर्श, वातरोग तथा शोप को नष्ट करता है। वकस (सुरा-कल्क)-निःसार हो जाने से विष्टम्भकारक, वातप्रकोपक, अग्नि-दीपक, विष्ठा और मूत्र का उत्पादक व सारक, विशद, अल्प मद करने वाला तथा भारी होता है॥ १८०-१८१॥

कषायो मधुरः सीधुर्गौडः पाचनदीपनः।
शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो वस्तिशोधनः॥१८२॥
वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः।
तद्वत् पक्वरसः सीधुर्बलवर्णकरः सरः॥ १८३॥
शोफघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः।
कर्शनः शीतरसिकः व्रणशूदरनाशनः॥ १८४॥
वर्णकृज्जरणः स्वर्यो विबन्धघ्नोऽर्शसां हितः।
आक्षिकः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः सङ्ग्राहको लघुः १८५
कषायमधुरः सीधुः पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनः।
जाम्बवो वद्धनिष्यन्दस्तुवरो वातकोपनः॥ १८६॥

गुड से बनाई हुई सीधु (मद्य)-कषाय, मधुर, पाचन तथा दीपन होती है। शर्करा से बनी सीधु-मधुर, रुचिकारक, दीपक, मूत्रशोधक, वातनाशक, पाक में मधुर, हृदय के लिये हितकर तथा इन्द्रियों की प्रबोधक है। उसी प्रकार गन्ने के पके रस की बनी सीधु—बलवर्द्धक, वर्णवर्द्धक, मृदुविरेचक, शोथनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिकारक, कफ तथा अर्श रोग को नष्ट करने वाली होती है। गन्ने के कच्चे रस की बनी सीधु-शरीर को दुर्बल करने वाली, शोथ और उदर रोग नाशक, वर्णवर्द्धक, पाचक, स्वरहितकारी, विबन्धनाशक और अर्श में हितकर होती है। बहेड़े की बनी सीधु-पाण्डुरोग नाशक, व्रणों के लिये हितकारी, संग्राहक, पचने में हलकी, कषाय और मधुर रसयुक्त, पित्तनाशक तथा रक्तप्रसादक होती है। जामुन की सीधु-मूत्र की मात्रा को कम करने वाली, कषाय और वात-प्रकोपक होती है॥ १८२-१८६॥

तीक्ष्णः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत्॥ १८७॥
मुखप्रियः स्थिरमदो विज्ञेयोऽनिलनाशनः।
लघुर्मध्वासवश्छेदी मेहकुष्ठविषापहः॥ १८८॥
तिक्तः कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकृत्।
तीक्ष्णः कषायो मदकृद् दुर्नामकफगुल्महृत्॥१८९॥
कृमिमेदोऽनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः।
बल्यः पित्तहरो वर्ण्यो हृद्यश्चेक्षुरसासवः॥ १९०॥

सुरासव—तीक्ष्ण, हृद्य, मूत्रजनक, कफ और वात का नाशक, मुख को अच्छा लगने वाला, स्थिर मदकारी और वात नाशक होता है। मध्वासव-हलका, दोषों का छेदक, मेह, कुष्ठ तथा विषनाशक, तिक्त, कषाय, शोफनाशक, तीक्ष्ण, मधुर तथा वायु को उत्पन्न नहीं करने वाला होता है। मैरेयमद्य—तीक्ष्ण, कषाय, मदकारक होता है तथा अर्श, कफ, गुल्म, कृमि, मेदोवृद्धि और वात को नष्ट करता है एवं मधुर तथा गुरु होता है। गन्ने के रस से बनाया हुआ आसव बलवर्द्धक, पित्तनाशक, वर्णवर्द्धक और हृद्य होता है॥ १८७-१९०॥

विमर्शः—मैरेयः-आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र मीलने। सन्धान तद्विज्ञानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम्॥

सीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाह्यग्निबलप्रदः।
रूक्षः कषायकफघ्नो वातपित्तप्रकोपणः॥
निर्दिशेद्रसतश्चान्यान् कन्दमूलफलासवान्॥ १९१॥

महुवे के पुष्पों से बनाया हुआ आसव—विदाही और शरीर की पाचकाग्नि तथा बल को बढाता है। रस में रूक्ष तथा कषाय एवं कफनाशक तथा वातपित्तप्रकोपक होता है। इनके अतिरिक्त अन्य कन्द, मूल और फलों से बनाये हुये आसवों के गुण उन कन्दादियों के रसों के गुणानुसार समझना चाहिये॥ १९१॥

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम्।
अनिष्टगन्धि विरसमहृद्यञ्च विदाहि च॥ १९२॥

नवीन मद्य-अभिष्यन्द (क्लेद) कारक, गुरु, वातादिकों का प्रकोपक, खराब गन्धवाला, विकृत रसयुक्त, मन या हृदय को अप्रिय लगनेवाला तथा विदाह जनक होता है॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु कृमिनाशनम्।
स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम्॥ १९३॥

पुराना मद्य—सुगन्धयुक्त, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिप्रिय, कृमिनाशक, स्रोतसों को खोलनेवाला, लघु तथा वात और कफ को नष्ट करता है॥ १९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः।
बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः॥ १९४॥
दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्तविरोधनः।
शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णार्शसां हितः॥ १९५॥

अरिष्ट—अनेक द्रव्यों के संयोग से तथा संस्कार होने से आसवापेक्षया गुणों में अधिक होता है तथा अनेक रोगों को नष्ट करनेवाला, अनेक दोषों का प्रशामक, अग्निदीपक, कफ-वातनाशक, मृदुविरेचक, पित्त को कुछ कम करनेवाला, तथा शूल, आध्मान, उदररोग, प्लीहावृद्धि, ज्वर, अजीर्ण और अर्श इन रोगों में हितकारी होता है॥ १९४-१९५॥

पिप्पल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः।
चिकित्सितेषु वक्ष्यन्तेऽरिष्टा रोगहराः पृथक्॥१९६॥
अरिष्टासवसीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत्।
बुद्ध्या यथास्व संस्कारमवेक्ष्य कुशलो भिषक्॥१९७॥

पिप्पल्यादि गण की ओषधियों से बनाया हुआ अरिष्ट गुल्म तथा कफरोगों को नष्ट करता है। भिन्न भिन्न रोगों को नष्ट करनेवाले अरिष्टों का वर्णन चिकित्सा स्थान में करेंगे। कुशल वैद्य नाना प्रकार के अरिष्ट, आसव और सीधु के भिन्न-

भिन्न गुण तथा कर्मों का वर्णन अपनी बुद्धि के अनुसार उनके द्रव्य तथा संस्कारों को देखकर करे ॥ १९६-१९७ ॥

सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धं विरसं कृमिलं गुरु ।
अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् ॥ १९८ ॥
अल्पौषधं पर्युषितमत्यच्छं पिच्छिलञ्च यत् ।
तद्वर्ज्यं सर्वदा मद्यं किञ्चिच्छेषं च तद्भवेत् ॥ १९९ ॥

सदोष मद्य—जो मद्य गाढा हो गया हो, विदाहकारक हो तथा जिसमें से खराब गन्ध आती हो, जिसका रस विकृत हो गया हो, जिसमें कीडे पड़ गये हों एवं पचने में भारी, अहृद्य, तीक्ष्ण, उष्ण, खराब पात्र में रखा हुआ, शास्त्रोक्त औषध प्रमाण से कम प्रमाण में बना हुआ, बासी, जलके समान अधिक स्वच्छ तथा चिपचिपा और पात्र के शेषभाग (तले) में बचा हुआ ऐसे मद्य को सर्वथा वर्जित कर देना चाहिये ॥ १९८-१९९ ॥

तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु ।
कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्जरञ्च विशेषतः ॥ २०० ॥
पित्तप्रकोपि बहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च ।
अहृद्यं फेनिलं पूति कृमिलं विरसं च यत् ॥ २०१ ॥
तथा पर्युषितञ्चापि विद्यादनिलकोपनम् ।
सर्वदोषैरुपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ २०२ ॥

इनमें से जिसमें औषध सम्भार (मात्रा) कम हो ऐसा मद्य तथा ताजा, चिपचिपा और भारी कफप्रकोपक होता है तथा वह विशेष कर दुर्जर होता है। जो मद्य घन, तीक्ष्ण, उष्ण तथा विदाहजनक होता है वह पित्तप्रकोपक होता है तथा जो मद्य अहृद्य, स्वच्छ, पिच्छिल, कृमियुक्त, विरस तथा बासी होता है वह वातप्रकोपक है, एवं सर्वदोषों से युक्त मद्य त्रिदोषप्रकोपक होता है ॥ २००-२०२ ॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवातजित् ।
रुच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदावहम् ॥ २०३ ॥

जो मद्य चिरकाल का (पुराना) हो, जिसमें रस उत्पन्न हो गया हो वह पाचकाग्नि का दीपक, कफ और वात का नाशक, रुचि बढाने वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, सुगन्धयुक्त तथा मद (नशे) को उत्पन्न करने वाला होता है। उसीका सेवन करना चाहिये ॥ २०३ ॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यतः ।
सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तैक्ष्ण्याच्च विकासित्वाच्च वह्निना ॥
समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम् ।
विक्षोभ्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात् ॥२०४॥

रस और वीर्य के कारण अनेक प्रकार का मद्य अपने सूक्ष्म, उष्ण, तीक्ष्ण और विकासि गुणों से जठराग्नि के साथ मिलकर हृदय में जाके वहां से धमनियों द्वारा ऊपर (मस्तिष्क की तरफ) आकर इन्द्रियां और चित्त को प्रक्षुभित करके शीघ्र ही मनुष्य को मदयुक्त कर देता है ॥ २०४-२०५ ॥

विमर्शः—मदकी तीन अवस्थाएं होती हैं—त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिम । पूर्वं वीर्यरतिप्रीतिहर्षभाष्यातिवर्द्धनम् ॥ प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियारतथा । विसंज्ञ पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुण ॥ (१) हर्षणावस्था (Stage of excitement), (२) प्रलापावस्था (Stage of delirium) (३) विसंज्ञावस्था (Stage of marcosis)

चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पानतो जायते मदः ।
अचिराद्वातिके दृष्टः पैत्तिके शीघ्रमेव तु ॥ २०६ ॥

कफ प्रकृति वाले मनुष्य को मद्यसेवन का मद (नशा) देर से आता है। वात प्रकृति वाले मनुष्य को कुछ ही देर से तथा पित्तप्रकृतिवाले मनुष्य को शीघ्र ही मद्यपान का नशा आ जाता है ॥ २०६ ॥

सात्त्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमण्डनलालसः ।
गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मदः ॥ २०७ ॥
राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाहसम् ।
कलहं सानुबन्धं तु करोति पुरुषे मदः ॥ २०८ ॥
अशौचनिद्रामात्सर्यागम्यागमनलोलताः ।
असत्यभाषणञ्चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥ २०९ ॥

सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य में उत्पन्न मद (नशा) पवित्रता, चतुरता, हर्ष तथा शरीर को अलङ्कृत करने की इच्छा पैदा करता है एवं गायन, अध्ययन, कीर्तिक कार्य तथा सम्भोग करने में उत्साह उत्पन्न करता है। राजसप्रकृति के मनुष्य में उत्पन्न मद दुःख उठाने का कार्य करना, आत्मघात करने की इच्छा, साहस के कार्य तथा निरन्तर झगडा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। तामस प्रकृति के मनुष्य में उत्पन्न मद अपवित्र कार्य, निद्रा, मात्सर्य, अगम्या स्त्रियों के साथ सम्भोग करने की लोलुपता तथा असत्य भाषण करने में प्रवृत्त करता है ॥ २०७-२०९ ॥

विमर्शः—प्रायः मद्यप्रकृतिदर्शक होता है अतः चोरी तथा हत्या करने वालों से यथार्थ बात जानने के लिये उन्हें मद्यपान कराते हैं। चरक ने कहा है कि—सत्त्वसम्बोधक हर्षं मोहप्रकृतिदर्शकम् । हुताशः सर्वसत्त्वाना मद्य तूभयकारकम् ॥ प्रधानावरमध्याना रूपाणा व्यक्तिदर्शकः । यथाग्निरेव सत्त्वाना मद्य प्रकृतिदर्शकम् ॥ (चरकः)। अन्यच्च—मदेन करणानान्तु भावान्यत्वे कृते सति । निगूढमपि भाव स्व प्रकाशीकुरुतेऽवश ॥ (सुश्रुतः)। साहसकर्माणि—मनुष्यमारण स्तेय परदाराभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतञ्चैव साहस पञ्चधा स्मृतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैस्वर्य्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुक्रिमिहरं लघु ॥ २१० ॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।
तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनञ्च विशेषतः ॥ २११ ॥

शुक्त—रक्तपित्तकारक, दोषों या धातुओं का छेदक, भोजन का पाचक, स्वर को विकृत करने वाला, आमादिदोषों का पाचक एवं कफ, पाण्डु और कृमियों का नाशक तथा हलका, तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रजनक, हृद्य, कफनाशक और विपाक में कटु होता है। शुक्त सन्धान द्वारा कन्दादिक से साधित शुक्त भी उपर्युक्त शुक्त के सदृश ही गुणों वाले होते हैं किन्तु विशेष कर रुचिवर्द्धक होते हैं ॥ २१०-२११ ॥

विमर्शः—शुक्तलक्षणम्-यन्मस्त्वादि शुक्तौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम्। धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च।
यथापूर्वं गुरुतराण्यभिष्यन्दकराणि च॥ २१२॥

गुड़ से बनाये हुये शुक्त, ऊख के रस से बनाये हुये शुक्त तथा शहद से बनाये हुये शुक्त यथापूर्व गुरुतर तथा अभिष्यन्दकारक होते हैं॥ २१२॥

विमर्शः—गुडोद्भवानि शुक्तानि गौटानि-'गुडाम्बुना सनैलेन सन्धानं काञ्जिकं तु यत्। कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते॥' इति इक्षुरसादिकृतानि रसशुक्तानि गुटशुक्तवत्सन्धेयानि। मधुशुक्तानि-'जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम्। मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत्। त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम्॥' इति। 'मधशुक्तानि' इति पाठान्तरम्। तत्र तल्लक्षणम्-सर्वं मद्य पञ्चरसं कालान्तरवशाद्यदा। त्यक्त्वाऽन्यरसमम्लत्वं याति शुक्तं तदुच्यते॥' इति। यथापूर्वं सर्वापेक्षया गौडं शुक्तं गुरु अभिष्यन्दकरं चेति भावः।

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा॥ २१३॥

तुषोदक—पाचकाग्निदीपक है एवं हृद्य तथा हृदय रोग, पाण्डुरोग और कृमिरोग को नष्ट करता है। सौवीरक—सङ्ग्रहणी तथा अर्श को नष्ट करता है और दस्तावर होता है॥ २१३॥

विमर्शः—तुषाम्बुलक्षणम्-तुषाम्बुसधित ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः। सौवीरलक्षणम्—यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सन्धितं भवेत्॥ (शार्ङ्गधरः)। गोधूमैरपि सौवीरमाचार्या केचिदूचिरे।

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम्।
स्पर्शात्पानात्तु पवनकफतृष्णाहरं लघु॥ २१४॥
तैक्ष्ण्याच्च निर्हरेदाशु कफं गण्डूषधारणात्।
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोपक्लमापहम्॥ २१५॥
दीपनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च।
समुद्रमाश्रितानाञ्च जनानां सात्म्यमुच्यते॥ २१६॥

धान्याम्ल (काञ्जी) धान्य (शालि, कोदो) से बनी होने के कारण जीवन के लिये हितकर, स्पर्श करने से दाहनाशक तथा पान करने से वायु, कफ और तृष्णा का नाशक और लघु है। तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफ को निकालती है। काञ्जी के गण्डूष धारण करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, मल, शुष्कता और क्लम को नष्ट करती है। एवं यह काञ्जी पाचकाग्निदीपक, पाचक, दस्तावर, आस्थापन वस्तियों में हितकर तथा समुद्र के तट पर रहने वाले मनुष्यों के लिये सात्म्य (अनुकूल) होती है॥ २१४-२१६॥

विमर्श.—धान्याम्ललक्षणम्-धान्याम्लं शालिचूर्णैश्च कोद्रवादिकृतञ्च यत्।

इति मद्यवर्गः।

अथ मूत्रवर्गः—

अथ मूत्राणि गोमहिषाजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्शउदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः॥ २१७॥

अब मूत्रों का विवेचन करते हैं—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, घोडा, गदहा और ऊंट इनके मूत्र साधारणतया तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त तथा अनुरस में लवण होते हैं और हलके, शरीर (मलों) की शुद्धि करने वाले एवं कफ, वायु, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरुचि और पाण्डु इन रोगों को नष्ट करते हैं तथा हृद्य और पाचकाग्नि के दीपक होते हैं। ये इन सब के सामान्य गुण होते हैं॥ २१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु।
शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम्॥ २१८॥
अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम्।
पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम्॥ २१९॥

सर्व प्रकार के मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण तथा अनुरस में लवण, हलके, शरीर या मलों के शोधक, कफवातनाशक, कृमि, मेद और विषों के नाशक, अर्श, उदर तथा गुल्म के नाशक, शोथ, अरुचि और पाण्डु रोग के नाशक, दस्तावर, हृद्य, अग्नि के दीपक तथा आमदोषों के पाचक होते हैं॥ २१८-२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम्।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफवातजित्॥ २२०॥
शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत्॥ २२१॥

गाय का मूत्र—कटु, तीक्ष्ण और उष्ण होता है तथा क्षारयुक्त होने से वातवर्द्धक नहीं होता है एवं यह लघु, अग्निदीपक, मेध्य, पित्तजनक तथा कफवात का नाशक होता है। शूल, गुल्म, उदररोग, आनाह, विरेचनकर्म, आस्थापनवस्ति एवं मूत्र के प्रयोग से ठीक होने वाले रोगों में गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये॥ २२०-२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु।
आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम्॥२२२॥

भैंस का मूत्र—अर्श, उदररोग, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, वमनविरेचनादि के ठीक न होने से उत्पन्न अशुद्धावस्था तथा आनाह, शोफ, गुल्म और पाण्डुरोग में प्रयुक्त होता है॥ २२२॥

कासश्वासापहं शोफकासलापाण्डुरोगनुत्।
कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम्॥ २२३॥

बकरी का मूत्र—कास, श्वास, शोफ, कामला, पाण्डु इन रोगों को नष्ट करता है तथा कटु और तिक्तरसयुक्त होता है और कुछ वायु को कुपित करता है॥ २२३॥

कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।
सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् ॥ २२४ ॥

भेड़ी का मूत्र—कास, प्लीहावृद्धि, उदररोग, श्वास, शोष, विबन्ध में हितकारी है तथा यह क्षारयुक्त, तिक्त, कटु, उष्ण और वातनाशक होता है २२४ ॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेत्तोविकारनुत् ।
आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिदद्रुषु शस्यते ॥ २२५ ॥

घोड़ी का मूत्र—अग्निदीपक, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण होता है। तथा वायु, चित्त (मन) के विकार और कफ को नष्ट करता है एवं कृमिरोग तथा दद्रु में प्रशस्त है ॥ २२५ ॥

सतिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।
तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हस्तिनी का मूत्र—तिक्त तथा लवण रस युक्त होता है, एवं दस्तावर, वातनाशक पित्तप्रकोपक तथा तीक्ष्ण होता है। इसे क्षार कर्म और किलास (श्वेत) कुष्ठ में प्रयुक्त करना चाहिये ॥ २२६ ॥

गरचेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणिरोगनुत् ।
दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् ॥ २२७ ॥

गदही का मूत्र गरविष तथा उन्मादादि चित्तविकारों को नष्ट करता है, तीक्ष्ण होता है, सङ्ग्रहणी के विकारों को नष्ट करता है तथा अग्नि का दीपक एवं कृमि, वात और कफ को नष्ट करता है ॥ २२७ ॥

शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतक्रिमिनाशनम् ।
अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं मानुषं च विषापहम् ॥ २२८ ॥

ऊंटनी का मूत्र—शोथ, कुष्ठ, उदर रोग, उन्माद, मारुत (वात) विकार, कृमिरोग और अर्श को नष्ट करता है। मनुष्य का मूत्र—विषनाशक होता है ॥ २२८ ॥

विमर्शः—प्रायः सर्वत्र स्त्री जाति के प्राणियों का मूत्र व्यवहार में आता है किन्तु कुछ आचार्यों ने अष्टमूत्रों में चार पुरुष प्राणी तथा चार स्त्री प्राणियों के मूत्र के लेने का निर्देश करते हैं। खरेभोष्ट्रतुरङ्गाणा पुसा मूत्र प्रशस्यते। गोऽजाविमहीषीणाञ्च स्त्रीणा मूत्र इति मतम् ॥

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्त्तितानि तु ।
कालदेशविभागज्ञो नृपतेर्दातुमर्हति ॥ २२९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस तरह इस अध्याय में संक्षेप से सब द्रवद्रव्यों का वर्णन किया है। शीतोष्णादि काल तथा आनूप-जाङ्गलादि देश के विभाग को जानने वाला वैद्य इन्हें राजा के लिये भी प्रयुक्त कर सकता है ॥ २२९ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'अन्नपानविधि' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

धन्वन्तरिमभिवाद्य सुश्रुत उवाच—प्रागभिहितः प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च । स षट्सु रसेष्वायत्तः । रसाः पुनर्द्रव्याश्रयिणः । द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयवृद्धी दोषाणां साम्यञ्च । ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः । आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च । तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यम् । तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्यानेकविधविकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथग्द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकप्रभावकर्माणीच्छामि ज्ञातुं, न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिषजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिग्रहणञ्च कर्तुं समर्थाः । आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यस्मात्तस्मादन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवानित्युक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः-अथ खलु वत्स सुश्रुत ! यथाप्रश्नमुच्यमानमुपधारयस्व ॥ ३ ॥

प्रथम धन्वन्तरि भगवान् का अभिवादन करके सुश्रुत ने प्रश्न किया कि-'आपने पूर्व के अध्याय में प्राणियों के जीवन का मूल (प्रधान) कारण अन्न है तथा उनके शरीर के बल वर्ण और ओज का भी मूल कारण अन्न है तथा वह अन्न छ रसों के आधीन है तथा रस द्रव्यों के आश्रित हैं। वातादि दोषों की क्षय, वृद्धि और समानता द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य तथा विपाक के कारण होती रहती है। ब्रह्म आदि लोक की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश (प्रलय) का कारण भी आहार ही माना गया है एवं आहार ही से प्राणियों के शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता होती रहती है तथा आहार की विषमता से अस्वास्थ्य (रोग) उत्पन्न होता है। अब मैं मोदकादि अशित, उदकादि पीत, मध्वादि लेह्य तथा लड्डू आदि खादित (भक्ष्य) ऐसे चार प्रकार के तथा अनेक द्रव्यों से बने हुये, अनेक खाद्य के भेदों में विभक्त तथा विविध प्रभाव वाले उस आहार के द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्म को पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं क्योंकि इनके विना जाने वैद्य स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का संरक्षण तथा रोगी के रोग निग्रह (विनाश) करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। चूंकि आहार के आधीन ही संसार में सर्व प्राणी हैं इस कारण से अन्नपान-विधि का ही उपदेश करो' ऐसा सुश्रुत से निवेदन करने पर भगवान् धन्वन्तरि कहने लगे कि हे वत्स सुश्रुत ! जैसा तूने प्रश्न किया है उसी के अनुसार मैं जो कहता हूं उसे तुम धारण (श्रवण) करो ॥ ३ ॥

अथ शालिवर्गः ।

तत्र, लोहितशालिकलमकर्दमकपाण्डुकसुगन्धक-

शकुनाहृतपुष्पाण्डकपुण्डरीकमहाशालिशीतभीरुकरोध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहायनकदूपकमहादूषकप्रभृतयः शालयः ॥ ४ ॥

उनमें लालशालि, कलम, कर्दमक, पाण्डुक, सुगन्धक (वासुमती), शकुनाहृत, पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरुक, रोध्रपुष्पक, दीर्घशूक, काञ्चनक, महिष, महाशूक, हायनक, दूषक, महादूषक इत्यादि ये शालि के भेद होते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—ये हेमन्त में पकने वाले धान्य हैं। शकुनाहृत द्वीपान्तरात् समानीतो गरुडेन महात्मना। शकुनाहृत स शालि स्याद् गरुडापरनामक।

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः।
पित्तघ्नाल्पानिलकफाः स्निग्धा बद्धाल्पवर्चसः ॥ ५ ॥

शालि चावल-रस में मधुर, वीर्य में शीत, पचने में लघु बलदायक, पित्तनाशक, अल्पवात-कफ के प्रकोपक, स्निग्ध तथा मल को अल्प और बद्ध करने वाले होते हैं ॥ ५ ॥

तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः।
चक्षुष्यो वर्णबलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृषापहः ॥ ६ ॥
व्रण्यो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविषापहः।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः ॥ ७ ॥

उक्त शालि चावलों में लाल शालि-अच्छा होता है तथा वह दोषनाशक, शुक्र तथा मूत्र को बढ़ाने वाला, नेत्रों के लिये हितकारी, बल और वर्ण को करने वाला, स्वर के लिये हितकर, हृद्य, तृषानाशक, व्रण में लाभकारी, ज्वरनाशक, सर्व प्रकार के दोष तथा विषों को नष्ट करने वाला होता है। इस रक्तशालि के बाद में कहे हुये जो अन्य शालि हैं वे उत्तरोत्तर गुणों में निकृष्ट हैं ॥ ६-७ ॥

षष्टिकाङ्गुकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलकासनपुष्पकमहाषष्टिकचूर्णककुरवककेदारप्रभृतयः षष्टिकाः ॥ ८ ॥

षष्टिक भेद—षष्टिक, कङ्गुक, मुकुन्दक, पीतक, प्रमोदक, काकलक, असनपुष्पक, महाषष्टिक, चूर्णक, कुरवक, केदारक आदि षष्टिक के भेद होते हैं ॥ ८ ॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः।
शालीनाञ्च गुणैस्तुल्या बृंहणाः कफशुक्रलाः ॥ ९ ॥

ये साठी चावल-रस और विपाक में मधुर, वात तथा पित्त के शामक, गुणों में शालि चावलों के तुल्य तथा बृंहण एवं कफ और वीर्य को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—साठी चावल ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं।

षष्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
मृदुः स्निग्धश्लिदोषघ्नः स्थैर्यकृद् बलवर्द्धनः ॥ १० ॥
विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः।
शेषास्त्वल्पान्तरगुणाः षष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥ ११ ॥

साठी चावलों में षष्टिक-अच्छा होता है तथा अनुरस में कषाय, पचने में लघु, मृदु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, शरीर को स्थिर करने वाला, बलवर्द्धक, विपाक में मधुर, मलादि को बांधने वाला तथा अन्य गुणों में रक्त शालि के सदृश होता है। षष्टिवर्ग के अन्य चावल क्रम से यथोत्तर हीनगुण वाले होते हैं ॥ १०-११ ॥

कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावाक्षकत्वरितककुक्कुटाण्डकपारावतकपाटलप्रभृतयो व्रीहयः ॥ १२ ॥

व्रीहि धान्य भेद—कृष्णव्रीहि, शालामुख, जतुमुख, नन्दिमुख, लावाक्षक, त्वरितक, कुक्कुटाण्डक, पारावतक, पाटल प्रभृति व्रीहि होते हैं ॥ १२ ॥

कषायमधुराः पाके मधुरा वीर्यतोऽहिमाः।
अल्पाभिष्यन्दिनस्तुल्याः षष्टिकैर्बद्धवर्चसः ॥ १३ ॥
कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशो व्रीहयोऽपरे ॥ १४ ॥

व्रीहिधान्य-रस में कषाय तथा मधुर, विपाक में मधुर, वीर्य में उष्ण, स्वल्प क्लेदकारक, षष्टि चावलों के समान गुण वाले तथा मल को बांधने वाले होते हैं। इन व्रीहिधान्यों में कृष्णव्रीहि-श्रेष्ठ होता है तथा वह अनुरस में कषाय एवं पचने में हलका होता है। कृष्ण व्रीहि से शेष सब व्रीहि यथोत्तर कम गुण वाले होते हैं ॥ १३-१४ ॥

दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः।
कषाया बद्धविण्मूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥ १५ ॥

दग्ध भूमि में उत्पन्न हुये शालि चावल-पाक में लघु होते हैं तथा रस में कषाय एवं विष्टा और मूत्र को बांधने वाले, रूक्ष तथा कफ को नष्ट करते हैं ॥ १५ ॥

स्थलजाः कफपित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः।
किञ्चित्सतिक्तमधुराः पवनानलवर्द्धनाः ॥ १६ ॥
कैदारा मधुरा वृष्या बल्याः पित्तनिबर्हणाः।
ईषत्कषायाल्पमला गुरवः कफशुक्रलाः ॥ १७ ॥

जाङ्गल देश में पैदा होने वाले शालि चावल-कफ और वात के नाशक, कषाय, स्वल्प कटु, तिक्त और मधुर तथा वायु और पाचकाग्नि के वर्द्धक होते हैं। कैदार (जल बहुल भूमि में होने वाले) शालि चावल-मधुर, वृष्य, बलवर्द्धक, पित्तनाशक, कुछ कषाय, स्वल्प मलोत्पादक, पचने में भारी तथा कफ और वीर्य को पैदा करने वाले होते हैं ॥ १६-१७ ॥

रोप्यातिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः।
अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्द्धनाः ॥ १८ ॥
शालयश्छिन्नरूढा ये रूक्षास्ते बद्धवर्चसः।
तिक्ताः कषायाः पित्तघ्ना लघुपाकाः कफापहाः ॥ १९ ॥

रोप्य (एक वार उखाड़ कर अन्य भूमि में रोपे या लगाये हुये) तथा अतिरोप्य (कई वार एक स्थान से उखाड़ कर अन्य स्थान में लगाये हुये) शालि चावल-लघु, जल्दी पचने वाले, गुणों में श्रेष्ठ, दाह नहीं करने वाले, दोषहारक, बलवर्द्धक तथा मूत्र को अधिक पैदा करने वाले होते हैं। पौधे को एक वार काट देने पर फिर से बढ़ा होता है उसके

चावल रूक्ष, मल को बांधने वाले, स्निग्ध, कषाय, पित्तनाशक, पाक में हल्के तथा कफनाशक होते हैं ॥ १८-१९ ॥

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हिताहितः ।
तद्वत् क्षुधान्यमुद्गादिमाषादीनाञ्च वक्ष्यते ॥ २० ॥

हित तथा अहित को करने वाला ऐसा यह षष्टिक और शालि धान्य वर्ग विस्तार से कह दिया है इसी प्रकार अब क्षुधान्य (क्षुद्रधान्य) मुद्गादि और माषादि के गुण दोषों का का वर्णन किया जायगा ॥ २० ॥

विमर्श—हेमन्त ऋतु में होने वाले शालि और वर्षा ऋतु में होने वाले व्रीहि कहलाते हैं। [illegible] (भावप्रकाश.)। षष्टिको व्रीहिः स्मृतः (चरकः)। [illegible] (चक्रदत्त)। चावल-प्राप्तिस्थान—बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास, बर्मा तथा कुछ उत्तर प्रदेश में चावल अधिक होते हैं तथा वहां के लोग चावल ही अधिक खाते हैं। चावलों में पिष्टमय पदार्थ (Carbohydrate, अत्यधिक तथा Protein, Fat और खनिज पदार्थ अल्पमात्रा में होते हैं। चावलों के ऊपरी पर्त में खनिज, प्रोटीन तथा Vitamin B होता है। मशीनों से साफ किये हुये, जल में अधिक धोये हुये तथा उबालने पर माड फेंके हुये चावलों के प्रोटीन, खनिज तथा विटामिन नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार के चावल तथा खराब चावल खाने से Beri Beri रोग उत्पन्न होता है।

अथ क्षुधान्यवर्गः—

कोरदूषककक्यामाकनीवारशान्तनुवरकोद्दालकप्रियङ्गु-मधूलिकानान्दीमुखीकुरुविन्दगवेधुकवरुकतोद(य)पर्णी-मुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः क्षुधान्यविशेषाः ॥ २१ ॥

कोदो, श्यामाक, नीवार, शान्तनु, वरक, उद्दालक, प्रियङ्गु, मधूलिका, नान्दीमुखी, कुरुविन्द, गवेधुक, वरक, तोद(य)पर्णी, मुकुन्दक, वेणुयव आदि क्षुधान्य होते हैं ॥ २१ ॥

विमर्श—चरक ने क्षुधान्य को शालि के साथ शूकधान्य वर्ग में रखा है।

उष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः ।
श्लेष्मघ्ना बद्धनिष्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः ॥ २२ ॥

ये क्षुधान्य-उष्ण, कषाय, मधुर, रूक्ष, विपाक में कटु, कफनाशक, मूत्र की मात्रा को अल्प करने वाले तथा वात और पित्त के प्रकोपक होते हैं ॥ २२ ॥

कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः ।
कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः ॥ २३ ॥

इनमें से कोदो, नीवार, श्यामाक और शान्तनु ये रस में कषाय, मधुर तथा ठण्डे होते हैं एवं पित्तनाशक कहे गये हैं ॥ २३ ॥

कृष्णा रक्ताश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः ।
यथोत्तरं प्रधानाः स्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः ॥ २४ ॥

कृष्ण, रक्त, पीत तथा श्वेत ऐसे चार प्रकार की प्रियङ्गु होती है तथा ये यथोत्तर गुणों में श्रेष्ठ होती हैं एवं रूक्ष और कफनाशक हैं ॥ २४ ॥

मधूली मधुरा शीता स्निग्धा नान्दीमुखी तथा ।
विशोषी तत्र भूयिष्ठं वरुकः समुकुन्दकः ॥ २५ ॥

मधूली और नान्दीमुखी-मधुर, शीत तथा स्निग्ध होती है एवं वरक और मुकुन्दक-शरीर के जलीयांश का अधिक शोषण करने वाले माने जाते हैं ॥ २५ ॥

रूक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्योष्णाः कटुपाकिनः ।
बद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः ॥ २६ ॥

इति क्षुधान्यवर्गः ।

वेणुयव रूक्ष, वीर्य में उष्ण, विपाक में कटु, मूत्र को कम करने वाले, कफनाशक, कषाय और वातप्रकोपक होते हैं ॥२६॥

अथ मुद्गादिवर्गः ।

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसतीनत्रि-पुटकहरेण्वाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥ २७ ॥

मुद्ग, वनमुद्ग, कलाय (मटर), मकुष्ठ (मोठ), मसूर, मङ्गल्य (मसूरभेद), चना, सतीन (मटरभेद), त्रिपुटक (खेसारी), हरेणु (मटरभेद), आढकी (रहर, तूर) प्रभृति वैदल (द्विदली) हैं ॥ २७ ॥

कषायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः ।
बद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥ २८ ॥
नात्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः ।
प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥ २९ ॥

ये वैदलवर्ग के धान्य-कषाय, मधुर, शीत, विपाक में कटु, वातकारक, मूत्र तथा मल को बांधने वाले तथा पित्त और कफ के नाशक हैं। इनमें मूग-अधिक वातकारक नहीं होती हैं तथा दर्शन शक्ति को बढ़ाती हैं। इनमें भी हरे रङ्ग की मूंग प्रधान होती है। जंगली मूग-गुणों में हरी मूंगों के ही समान कही गई है ॥ २८-२९ ॥

विपाके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः ।
मकुष्टकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥ ३० ॥

मसूर-विपाक में मधुर तथा मल को गाढा करते हैं। मकुष्टक (मोठ)-कृमिकारक होते हैं तथा कलाय (मटर)-अत्यन्त वातकारक होते हैं ॥ ३० ॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।
वातलाः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥ ३१ ॥
कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।
त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥ ३२ ॥

अरहर (तूर)-कफ और पित्त को नष्ट करती है तथा वायु का अधिक प्रकोप नहीं करती है चने-वातवर्द्धक, शीत, मधुर, कषाय तथा विरूक्षक हैं और कफ, शोणित, पित्त और पुंस्त्व (सम्भोग शक्ति) को नष्ट करते हैं। यदि इन्हीं को

घृत के साथ संयुक्त कर सेवन किये जाय तो परम त्रिदोषशामक होते हैं ॥ ३१-३२ ॥

हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्चसः।
ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥ ३३ ॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर हैं)-मलको बांधने वाले हैं। मूंग और मसूर के सिवाय अन्य बंदल आध्मान उत्पन्न करते हैं ॥ ३३ ॥

माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः
स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः।
सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषा-
द्बलप्रद शुक्रकफावहश्च ॥ ३४ ॥

माष (उड़द)-भारी, मल और मूत्र का प्रवर्तक, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, मधुर, वातनाशक, इन्द्रियादि को तृप्त करने वाला, स्त्रियों में विशेषतया दुग्धवर्द्धक, बलदायक तथा शुक्र और कफ को उत्पन्न करने वाला है ॥ ३४ ॥

कषायभावान्न पुरीषभेदी
न मूत्रलो नैव कफस्य कर्त्ता।
स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः
सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥ ३५ ॥

अलसान्द्र अर्थात् राजमाष-कषाय होने से मल का भेदन नहीं करने वाला तथा मूत्रल और कफकारक भी नहीं होता है एवं विपाक और रस में मधुर, इन्द्रियों को तृप्त करने वाला एवं दुग्धवर्द्धक तथा रुचिदायक होता है ॥ ३५ ॥

माषैः समानं फलमात्मगुप्त-
मुक्तञ्च काकाण्डफलं तथैव।
आरण्यमाषा गुणतः प्रदिष्टा
रूक्षाः कषाया अविदाहिनश्च ॥ ३६ ॥

आत्मगुप्ता (कौंच) के बीज-उड़द के समान ही गुणकारक होते हैं तथा काकाण्ड (बड़ी शिम्बी) के फल भी इसी तरह गुणकारी होते हैं। जङ्गली उड़द-रूक्ष, कषाय तथा अविदाही होते हैं ॥ ३६ ॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कषायः
कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः।
शुक्राश्मरीगुल्मनियूदनश्च
साङ्ग्राहिकः पीनसकासहारी ॥ ३७ ॥
आनाहमेदोगुदकीलहिक्का-
श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च।
कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो
विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥ ३८ ॥

कुलथी-वीर्य में उष्ण, रस में कषाय, विपाक में कटु होती है तथा कफ और वात को नष्ट करती है एवं शुक्राश्मरी और गुल्म की नाशक है और संग्राही, पीनस (दुष्टप्रतिश्याय) तथा कास नाशक है। वनकुलत्थ-आनाह, मेदोवृद्धि, गुदकील या अर्श, हिक्का और श्वास को नष्ट करने वाला, रक्तपित्तकारक, कफनाशक, नेत्ररोगहर विशेषकर होता है ॥ ३७-३८ ॥

ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः
साङ्ग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः।
तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः
स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥ ३९ ॥
दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र-
स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च।
तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो
मध्यः सितो हीनतरास्तथान्ये ॥ ४० ॥

तिल-कुछ कषाय, मधुर, तिक्त, संग्राही, पित्तजनक, उष्ण, विपाक में मधुर, बलवर्द्धक, स्निग्ध तथा व्रण पर लेप करने के लिये पथ्य होता है एवं दांतों के लिये हितकर, अग्निदीपक, बुद्धिवर्द्धक, मूत्र की मात्रा कम करने वाला, त्वचा तथा केशों के लिये हितकारी, वातनाशक और गुरु है। सर्व प्रकार के तिलों में काले तिल अच्छे होते हैं, श्वेत तिल मध्यम होते हैं तथा अन्य रङ्गविरङ्गे निकृष्ट होते हैं ॥ ३९-४० ॥

यवः कषायो मधुरो हिमश्च
कटुर्विपाके कफपित्तहारी।
व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं
प्रबद्धमूत्रो बहुवातवर्चाः ॥ ४१ ॥
स्थैर्याग्निमेधास्वरवर्णकृच्च
सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च।
मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरुक्षः
प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥
एभिर्गुणैर्हीनतरैस्तु किञ्चिद्
विद्याद् यवेभ्योऽतियवानशेषैः ॥ ४२ ॥

जौ-कषाय, मधुर, शीतल, विपाक में कटु तथा कफ और पित्त का नाशक, व्रणों में तिल के समान सदा पथ्य, मूत्र कम करने वाला, वात और विष्ठा को बढ़ाने वाला, स्थैर्यजनक, पाचकाग्निदीपक, बुद्धिवर्द्धक, कण्ठ स्वर को अच्छा करने वाला, वर्ण का वर्द्धक, पिच्छिल, मोटे आदमी को दुबला करने वाला होता है एवं मेदोरोग, वातरोग और तृषा को नष्ट करने वाला, अतिरुक्ष और रक्त तथा पित्त का प्रसादक होता है। अतियव-उपर्युक्त सर्व गुणों से कुछ निकृष्ट होते हैं ॥ ४१-४२ ॥

विमर्श-'तिलवद्यवकल्कन्तु कोचिदाहुर्मनीषिणः' (चरकः)। यवों के निम्न खाद्य बनते हैं-शक्तून् विलेपीं कुल्माष जलञ्चापि शृतं पिबेत्। आयुर्वेद में यवों को मूत्रनिरोधक माना है-'यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही' किन्तु डाक्टरी में यवों को मूत्रल माना है। इन से स्कांच बार्ली, पोर्ट बार्ली, पर्ल बार्ली, पेटेण्ट बार्ली बनाते हैं। इस तरह यवयूष (Barley water) सर्व प्रकार के ज्वर, पूयमेह (गोनोरिया), उष्णवात आदि मूत्रविकारों में बहुत लाभ करता है। जौ से ही माल्ट बनाते हैं। जो कि पचने में हलका तथा शक्तिवर्द्धक होता है। इस तरह के कई पेटेण्ट खाद्य आजकल बिकते हैं। काडलिवर के तेल के साथ माल्ट को मिला कर टी० बी० आदि रोगों में देते हैं। मधुमेह में जौ से अच्छा लाभ होता है।

गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च
बल्यः स्थिरः शुक्ररुचिप्रदश्च ।
स्निग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता
सन्धानकृत् श्लेष्मकरः सरश्च ॥ ४३ ॥

गेहूं—मधुर, भारी, बलदायक, स्थैर्यकारक, शुक्र और रुचि का वर्द्धक, स्निग्ध, अतिशीत, वात तथा पित्त का शामक, भग्नास्थि का संयोजक, कफकर तथा दस्तावर होता है ॥४३॥

रूक्षः कषायो विषशोषशुक्र
बलासदृष्टिक्षयकृद् विदाही ।
कटुर्विपाके मधुरस्तु शिम्बः
प्रभिन्नविण्मारुतपित्तलश्च ॥ ४४ ॥

शिम्बीवर्ग के अन्न-रूक्ष, कषाय, विष, शोष, शुक्र, कफ और दर्शनशक्ति का क्षय करते हैं तथा विदाहकारक, विपाक में कटु, मधुर, विष्टा के भेदक और वात तथा पित्त के वर्द्धक होते हैं ॥

सितासिताः पीतकरक्तवर्णा
भवन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्बाः ।
यथोदितास्ते गुणतः प्रधाना
ज्ञेयाः कटूष्णा रसपाकयोश्च ॥ ४५ ॥

श्वेत, कृष्ण, पीत और रक्त ऐसे अनेक प्रकार के वर्ण के शिम्बी होते हैं। वे यथोदित क्रम से श्रेष्ठ होते हैं एवं रस तथा विपाक में कटु और उष्ण होते हैं ॥ ४५ ॥

सहाद्वयं मूलकजाश्च शिम्बाः
कुशिम्बिवल्लीप्रभवास्तु शिम्बाः ।
ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च
बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च ॥ ४६ ॥

मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मूलकशिम्बी, कुशिम्बी, वल्ली-शिम्बी (कौंच के बीज) ये विपाक और रस में मधुर तथा बलदायक और पित्तनाशक होती हैं ॥ ४६ ॥

विदाहवन्तश्च भृशं विरूक्षा
विष्टभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ।
रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च
सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिम्बाः ॥ ४७ ॥

विदल (मुद्गादि) की शिम्बी-अधिक दाहकारी, अधिक रूक्ष, विष्टम्भ करनेवाली, वातवर्द्धक, रुचिदायक तथा पचने में भारी होती हैं ॥ ४७ ॥

कटुर्विपाके कटुकः कफघ्नो
विदाहिभावादहितः कुसुम्भः ।
उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी
पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके ॥ ४८ ॥

कुसुम्भ-विपाक और रस में कटु, कफनाशक तथा विदाहकारक होने से अहितकर होता है। अलसी—उष्ण, मधुर, वातनाशक, पित्तवर्द्धक तथा विपाक में कटु होती है ॥

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः
सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपी ।
तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न-
स्तथागुणश्चासितसर्षपोऽपि ॥ ४९ ॥

श्वेत सरसों-विपाक तथा रस में कटु तथा रक्तपित्त को कुपित करने वाली, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष एवं कफ और वायु की नाशक होती है। काली सरसों भी इन्हीं गुणों से युक्त होती है ॥ ४९ ॥

अनार्तवं व्याधिहतमपर्यागतमेव च ।
अभूमिजं नवञ्चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥ ५० ॥
नवं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम् ।
विदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम् ॥ ५१ ॥

अग्राह्य धान्य—वे मौसम में पैदा हुआ, फसल में होने वाले किसी रोग से हतवीर्य, अपरिपक्व, खराब भूमि में उत्पन्न और नूतन धान्य गुणकर नहीं होता है। नूतन धान्य-अभिष्यन्द (क्लेद) कारक होता है तथा एक वर्ष का पुराना-लघु होता है। विरूढ (अङ्कुरित) धान्य-विदाहकारक, पचने में भारी, विष्टम्भकारक तथा नेत्रों को दूषित करता है ॥

विमर्शः—वर्षोषित सर्वधान्य गौरव परिमुञ्चति। न तु त्यजति वीर्यं स्वं क्रमान्मुञ्चत्यतः परम् ॥ एतेषु यवगोधूमतिलमाषा नवा हिताः। पुराणा विरसा रूक्षा न तथा गुणकारिण ॥ (भावप्र०)।

शाल्यादेः सर्षपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः ।
कालप्रमाणसंस्कारमात्राः सम्परिकीर्त्तिताः ॥ ५२ ॥

शालि से ले कर सर्षप तक अनेक प्रकार के धान्यों का समय, प्रमाण, संस्कार और मात्रा का अल्परूप में विवेचन कर दिया गया है ॥ ५२ ॥

विमर्शः—भावप्रकाशोक्ता धान्यवर्गाः—शालिधान्य व्रीहि-धान्य शूकधान्य तृतीयकम्। शिम्बीधान्य क्षुद्रधान्यमित्युक्त धान्य-पञ्चकम् ॥ चरक तथा वाग्भट ने केवल शूकधान्य और शिम्बी-धान्य ऐसे दो ही भेद किये हैं। शूकवर्ग में चावल, गेहूं, मकई, जौ, बाजरा, ज्वार आदि हैं। शिम्बी या वैदलवर्ग में मूंग, उड़द, अरहर, मसूर, चना, मटर आदि आते हैं। भारत, चीन, जापान, ब्रह्मदेश में चावल का सेवन ज्यादा है। यूरोप में गेहूं ज्यादा खाते हैं। इटली, अमेरिका में मकई का सेवन अधिक है। शूकवर्ग के धान्यों में कार्बोहाईड्रेट ज्यादा तथा प्रोटीन और फैट कम होता है। दालों में प्रोटीन अधिक होती है किन्तु मांस की प्रोटीन की तरह सुपाच्य कम होती है।

अथ मांसवर्गः—

अथोर्ध्वं मांसवर्गानुपदेक्ष्यामः । तद्यथा—जले-शयाः, आनूपाः, ग्राम्याः, क्रव्यभुजः, एकशफाः, जाङ्गला-श्चेति षण्मांसवर्गाः। एतेषां वर्गाणामुत्तरोत्तरं प्रधान-तमः। ते पुनर्द्विविधा—जाङ्गला आनूपाश्चेति । तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः । तद्यथा-जद्बालाः, विष्किराः, प्रसृताः, गुहाशयाः, प्रसहाः, पर्णमृगाः, ग्राम्याश्चेति । तेषां जद्बालविष्किरौ प्रधानतमौ ॥ ५३ ॥

अब इसके अनन्तर मांसवर्ग का विवेचन करते हैं। जैसे जल में रहने वाले जीव, जल बहुल प्रदेश में रहने वाले जीव, ग्रामों में रहने वाले गो, बकरी आदि जीव, मांस खाने वाले

जीव जैसे गुहाशय (शेर आदि) तथा प्रसह, घोडे आदि एक शफ वाले जीव और जाङ्गल ऐसे ६ मांसवर्ग हैं तथा इन में उत्तरोत्तर वर्ग गुणों में अधिक प्रधान है। स्थानभेद से इनके दो विभाग कर दिये हैं। एक जाङ्गल तथा दूसरा आनूप। इन में जाङ्गल वर्ग के आठ भेद हैं जैसे—जङ्घाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, विलेशय और ग्राम्य। इनमें जङ्घाल तथा विष्किर अधिक श्रेष्ठवर्ग है।

विमर्शः—जलेशया—मत्स्यादय, आनूपा=जलप्रायप्रदेशवासिनो महिषादय, ग्राम्या=ग्रामवासिनश्छागादय, क्रव्यभुजः=आममांसाशिनो गृध्रादय, एकशफा=खरादय, तदुक्तं भागवते—'खरोऽश्वोऽश्वतरो गौर शरभश्चमरी तथा। एते चैकशफा' इति। जाङ्गला=हरिणादय। जङ्घा वेगवत्य सन्त्येषामिति जङ्घाला, विकीर्य भक्षयन्तीति विष्किरा, चञ्च्या प्रतुद्य भक्षयन्तीति प्रतुदा, गुहाया शेरते इति गुहाशया, स्व भक्ष्य प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहा, पर्णे मृगयन्त इति पर्णमृगा, तदुक्तम्—'वनौकोवृक्षमार्जारवृक्षमर्कटिकादय। एते पर्णमृगा प्रोक्ता' इति। विले शेरत इति विलेशया, ग्रामे वा ग्राम्या।

तावेणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रापृषतचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्घाला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्ष्णा हृद्या बस्तिशोधनाश्च ॥ ५४ ॥

काला हरिण, श्वेतहरिण, नीलाण्ड हरिण, कुरङ्ग (चौकड़िया मृग), कराल (कस्तूरी) मृग, कृतमाल मृग, शरभ, श्वदंष्ट्रा, पृषत (पृष्ठ पर चित्र विचित्र बिन्दुवाला) मृग, चारुष्कर, मृगमातृका (हरिणी) आदि ये जंघाल वर्ग के मृग हैं। इनका मांस कषाय, मधुर, लघु, वातपित्तनाशक, तीक्ष्ण, हृद्य और वस्तिशोधक होता है ॥ ५४ ॥

कषायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा।
सङ्ग्राही रोचनो बल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥ ५५ ॥

इन में से एण मृग-कषाय, मधुर और हृद्य होता है तथा पित्त, रक्त तथा कफ के रोगों को नष्ट करता है एवं संग्राही, रोचक बलकारक और ज्वरनाशक होता है ॥ ५५ ॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः।
शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥ ५६ ॥

सुगन्धि (ताम्र) हरिण-रस और विपाक में मधुर, वातादि दोषनाशक, पाचकाग्निदीपक, शीतल, विष्ठा तथा मूत्र को बांधने वाला और पचने में हलका होता है ॥ ५६ ॥

एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते।
यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥

काले मृग को 'एण' तथा ताम्रवर्ण के मृग को 'हरिण' कहते हैं तथा जो न काला हो तथा न ताम्र हो उसे 'कुरङ्ग' कहते हैं॥

शीताऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्कारुचिप्रणुत् ॥ ५८ ॥

हरिणी—शीतवीर्य होती है तथा रक्तपित्त का शमन करती है एवं सन्निपात, क्षय, श्वास, कास, हिक्का और अरुचि को नष्ट करती है ॥ ५८ ॥

लावतित्तिरिकपिञ्जलवर्त्तीरवर्त्तिकावर्त्तकनप्तृकावार्तीकचकोरकलविङ्कमयूरक्रकरोपचक्रकुक्कुटसारङ्गशतपत्रकुतित्तिरिकुरुवाहकयवालकप्रभृतयस्त्र्याहला विष्किराः॥

लघवः शीतमधुराः कषायाः दोषनाशनाः ॥ ६० ॥

विष्किरवर्ग—लाव (बटेर), तीतर, गौर तीतर, कपिञ्जल, वर्तीर; वर्तिका, वर्तक, नप्तृका, वार्तीक, चकोर, कलविङ्क, मयूर, क्रकर, उपचक्र (चकोर), कुक्कुट (मुर्गा), सारङ्ग (पपीहा), शतपत्रक, कुतित्तिरि, कुरुवाहक, यवालक प्रभृति दो पंजे तथा तीसरी चोंच से भूमि को कुरेदते हैं। ये लघु, शीतवीर्य, मधुर, कषाय और दोषनाशक हैं ॥ ५९-६० ॥

विमर्शः—लावभेदाः—गौरिक पाशुलश्चैव पौण्ड्रको दर्मरस्तथा। लावश्चतुर्विध प्रोक्तस्तित्तिरिर्द्विविध स्मृतः। त्र्याहलाः—त्रिभिश्चरणयुगलचञ्चुभिराहलन्ति विलिखन्ति भूमिमिति त्र्याहलाः।

सङ्ग्राही दीपनश्चैव कषायमधुरो लघुः।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते च पूजितः ॥ ६१ ॥

बटेर—दस्त बांधने वाला, अग्निदीपक, कषाय, मधुर, लघु, विपाक में कटु तथा सन्निपात में उत्तम है ॥ ६१ ॥

ईषद्गुरूष्णमधुरो वृष्यो मेधाऽग्निवर्द्धनः।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥ ६२ ॥

तीतर—कुछ भारी, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधा तथा अग्निवर्द्धक, सर्वदोषनाशक, संग्राही तथा शरीर के वर्ण को प्रसन्न करता है ॥ ६२ ॥

रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः।
कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते।
हिक्काश्वासानिलहरो विशेषाद्गौरतित्तिरिः ॥ ६३ ॥

कपिञ्जल—रक्तपित्त का नाशक, शीतल तथा लघु होता है एवं कफ से उत्पन्न रोग तथा मन्दवात में श्रेष्ठ हैं। गौर तित्तिर-हिक्का, श्वास और वात को विशेषरूप से नष्ट करताहै॥

वातपित्तहरा वृष्या मेधाऽग्निबलवर्द्धनाः।
लघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः ॥ ६४ ॥

क्रकर—वातपित्तनाशक, वृष्य, मेधा, अग्नि तथा बल का वर्द्धक, पचने में लघु तथा हृद्य होते हैं। उपचक्र भी गुणों में क्रकर के समान है ॥ ६४ ॥

कषायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ हितः।
मयूरः स्वरमेधाऽग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् ॥ ६५ ॥

मयूर—कषाय, मधुर और लवण है तथा त्वचा, केश और अरोचक में हितकारी है एवं स्वर, बुद्धि, जठराग्नि, नेत्र और कर्ण इन्हें दृढ़ करता है ॥ ६५ ॥

स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः।
बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद् ग्राम्यो गुरुस्तु सः।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥ ६६ ॥

जङ्गल का मुर्गा—स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, स्वेद, स्वर तथा बल देने वाला और बृंहण होता है। ग्राम्य मुर्गा भी वन्य के समान ही गुणों में होता है किन्तु वह पचने में

भारी एवं वात रोग, क्षय, वमन और विषम ज्वर को नष्ट करता है ॥ ६६ ॥

विमर्शः—दुग्ध के अतिरिक्त खाद्य द्रव्यों में अण्डे के समान अन्य पौष्टिक द्रव्य नहीं है। अधिकतर मुर्गी के अण्डे, किन्तु कहीं कहीं वत्तक तथा समुद्री पक्षी या अन्य पक्षियों के अण्डे भी खाये जाते हैं। कार्बोहैड्रेट के सिवाय अण्डे में प्रोटीन, फेट, केल्सियम, फोस्फरस, लोहा, पुटेशियम ये तत्त्व होते हैं तथा इनका पाचन और शोषण शीघ्र होता है। मुर्गी का एक अण्डा आधा पाव दुग्ध के समान है। अण्डे से किसी प्रकार के संक्रामक या अन्य रोग नहीं होते हैं। चरकोक्त अण्ड-गुणाः—मार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि। चटकानाञ्च यानि स्युरण्डानि च हितानि च॥ रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च। मधुराण्यविपाकीनि सद्योबलकराणि च॥

(च. सू. अ. २७)

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिककुलिङ्गगृहकुलिङ्गगोदवेडकडिण्डिमाणवकशतपत्रकमातृनिन्दकभेदाशिशुकसारिकावल्गुलीगिरिशालटवान्नदूपकसुगृहीखञ्जरीटहारीतदात्यूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥ ६७ ॥

प्रतुदवर्ग—कपोत (जङ्गली कबूतर), पारावत (शहर का कबूतर), भृङ्गराज (भंवरा), परभृत (कोकिल), कोयष्टिक (टिटहरी), कुलिङ्ग (चटक), गृहकुलिङ्ग (घर की चिडिया या चिडा), गोदवेडक (गोनर्द पक्षी), डिण्डिमाणवक, शतपत्रक, मातृनिन्दक, भेदाशी, शुक (तोता), सारिका (मैना), वल्गुली, गिरिशा, लटवा, अन्नदूपक, सुगृही, खञ्जरीट, हारीत, दात्यूह प्रभृति प्रतुदवर्ग के पक्षी हैं॥

कषायमधुरा रूक्षाः फलाहारा मरुत्कराः।
पित्तश्लेष्महराः शीता बद्धमूत्राल्पवर्चसः॥ ६८॥

प्रतुद वर्ग के पक्षी—कषाय, मधुर, रूक्ष, स्वयं फल खाने वाले, वातजनक, पित्त और श्लेष्म के नाशक, शीतवीर्य तथा मूत्र को बंद करने वाले एवं अल्प मलोत्पादक हैं॥ ६८॥

सर्वदोषकरस्तेषां भेदाशी मलदूषकः।
कषायस्वादुलवणो गुरुः काणकपोतकः॥ ६९॥
रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च।
विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः॥ ७०॥
कुलिङ्गो मधुरः स्निग्धः कफशुक्रविवर्द्धनः।
रक्तपित्तहरो वेश्मकुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः॥ ७१॥

इनमें भेदाशी पक्षी—वातपित्तादि सर्वदोषों को उत्पन्न करता है तथा मलों को दूषित करता है। काणकपोत (जङ्गली कबूतर)-रस में कषाय, स्वादु, लवण तथा पाक में भारी होता है तथा पारावत पक्षी-रक्तपित्त का शामक, रस में कषाय, स्पर्श में पिच्छिल, विपाक में मधुर तथा पचने में भारी होता है। कुलिङ्ग-मधुर, स्निग्ध, कफ और शुक्र का वर्द्धक तथा रक्तपित्तनाशक है एवं घर का कुलिङ्गपक्षी-शुक्र को अधिक मात्रा में बढ़ाता है॥ ६९-७१॥

सिंहव्याघ्रवृकतरक्षुद्वीपिमार्जारशृगालमृगेर्वारुकप्रभृतयो गुहाशयाः॥ ७२॥

गुहाशय वर्ग—में सिंह, व्याघ्र, भेडिया, तरक्षु, रीछ, चीता, मार्जार, शृगाल, मृग, एर्वारुक प्रभृति होते हैं जो पर्वत तथा जङ्गलों की गुफाओं में रहते हैं॥ ७२॥

मधुरा गुरवः स्निग्धा बल्या मारुतनाशनाः।
उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम्॥ ७३॥

गुहाशय प्राणी—मधुर, भारी, स्निग्ध, बलवर्द्धक, वात के नाशक उष्णवीर्य होते हैं तथा नेत्र रोग और गुह्य प्रदेश के विकार अर्थात् इन्द्रियशैथिल्य में वसाभ्यङ्ग, गर्भाशय या गुदभ्रंश में इनकी वसा का उपयोग करने से हितकारी होते हैं॥

काककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रप्रभृतयः प्रसहाः॥ ७४॥

प्रहस वर्ग—में कौआ, कङ्क, कुरर, चाष, भास, शशघाती, उल्लू, चिल्लि (चील), श्येन (बाज), गीध प्रभृति बलपूर्वक छीन के खाने वाले हैं॥ ७४॥

विमर्शः—कङ्कपरिचयः—कङ्कः स्यात् कङ्कमालाख्यो बाणपत्रार्द्धपक्षक। लोहपृष्ठो दीर्घपाद पश्चार्धपाण्डुवर्णभाक्॥ शशघाती को Golden-Eagle कहते हैं। ये नर-मादा दोनों मिलकर खरगोश को चतुराई से मारते हैं। एक बिल के पास छिप जाता है दूसरा दूर जाकर शोर मचाता है जिससे शश बिल से निकलता है और बाहर बैठा उसे मार डालता है।

एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः।
रसवीर्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः॥ ७५॥

ये कौए आदि प्रसह वर्ग के प्राणी रस, वीर्य तथा विपाक में सिंहादिक के समान होते हैं किन्तु विशेष कर शोष (T. B राजयक्ष्मा) के रोगी के लिये हितकारी हैं॥ ७५॥

मद्गुमूषिकवृक्षशायिकावकुशपूतिघासवानरप्रभृतयः पर्णमृगाः॥ ७६॥

पर्णमृग वर्ग—में मद्गु (वृक्ष का सर्प), मूषिक, वृक्षशायिका (गिलहरी), अवकुश, पूतिघास (वृक्ष का बिलाव) तथा बन्दर प्रभृति पर्णमृग है॥ ७६॥

मधुरा गुरवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च कासार्शःश्वासनाशनाः॥ ७७॥

ये पर्णमृग—मधुर, गुरु, वृष्य, नेत्ररोगों में हितकारी, राजयक्ष्मा में लाभकारी तथा मूत्र और मल को प्रवृत्त करने वाले एवं कास, अर्श और श्वास रोगों को नष्ट करते हैं॥७७॥

श्वाविच्छल्यकगोधाशशवृषदंशलोपाकलोमशकर्णकदलीमृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहाबभ्रुप्रभृतयो बिलेशयाः॥ ७८॥

बिलेशय वर्ग—में श्वावित् (सहेड़ी), शल्यक, गोधा, शशक, वृषदंश (गांव की बिल्ली), लोपाक (लोमड़ी), लोमशकर्ण (बडा बिल्ला), कदली, मृगप्रियक (गोनस), अजगर, सर्प, मूषिक (चूहा), नेवला, महाबभ्रु (बड़ा नेवला) आदि जानवर बिलों में शयन करने (रहने) वाले हैं॥७८॥

वर्चोमूत्रं संहतं कुर्युरेते
वीर्ये चोष्णाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः।

वातं घ्न्युः श्लेष्मपित्ते च कुर्युः
स्निग्धाः कासश्वासकार्श्यापहाश्च ॥ ७६ ॥

ये विलेशयवर्ग के प्राणी विष्ठा तथा मूत्र को गाढा करते हैं तथा वीर्य में उष्ण होते हैं तथा पर्णमृग की तरह विपाक में मधुर, वातनाशक तथा कफ और पित्तकारक, स्निग्ध एवं कास, श्वास और कृशता को नष्ट करते हैं ॥ ७९ ॥

कषायमधुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः।
नातिशीतलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥ ८० ॥

इन विलेशयों में शश (खरगोश) का मांस-कषाय, मधुर, पित्त और कफ का नाशक होता है एवं अतिशीत वीर्य न होने से वात के प्रकोप तथा प्रशमन करने में साधारण होता है ॥ ८० ॥

गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका स्मृता।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्द्धनी ॥ ८१ ॥

गोधा—विपाक में मधुर, रस में कषाय तथा कटु, वात और पित्त को शान्त करने वाली, शरीरपुष्टिकारक और बलवर्द्धक होती है ॥ ८१ ॥

शल्यकः स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विषापहः।
प्रियको मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥ ८२ ॥
दुर्नामानिलदोषघ्नाः कृमिदूषीविषापहाः।
चक्षुष्या मधुराः पाके सर्पा मेधाऽग्निवर्द्धनाः ॥ ८३ ॥
दर्वीकरा दीपकाश्च तेपूक्ताः कटुपाकिनः।
मधुराश्चातिचक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥ ८४ ॥

शल्यक—रस में मधुर, पित्तशामक, लघु, शीत और विषनाशक होता है। प्रियक-वातरोगों में पथ्य तथा अजगर (सर्प)-अर्शरोग में हितकर है। सर्प-अर्श, वातविकार, कृमिरोग तथा दूषीविष को नष्ट करते हैं तथा नेत्र के लिये हितकर, विपाक में मधुर तथा मेधा और पाचकाग्नि के वर्द्धक होते हैं। दर्वीकर सर्प तथा दीपक (राजिमन्त) सर्प-विपाक में कटु, रस में मधुर, नेत्रों के लिये अधिक हितकारी एवं विष्ठा, मूत्र और वायु को प्रवृत्त करने वाले होते हैं ॥८२-८४॥

विमर्शः—दूषीविषलक्षणम्—दूषित देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम्॥ अन्यच्च—जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हृतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ॥

अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रवस्तोरभ्रमेदःपुच्छकप्रभृतयो ग्राम्याः ॥

ग्राम्यवर्ग में—घोड़ा, अश्वतर (खच्चर), गो, गदहा, उष्ट्र, बकरा, उरभ्र (मेढा), मेदःपुच्छ (दुम्बा) प्रभृति ग्राम निवासी होने से 'ग्राम्य' कहलाते हैं ॥ ८५ ॥

ग्राम्या वातहराः सर्वे बृंहणाः कफपित्तलाः।
मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्द्धनाः ॥ ८६ ॥

ग्राम्य पशु वातनाशक, बलवर्द्धक, कफ और पित्त करने वाले रस और विपाक में मधुर तथा अग्निदीपक और बलवर्द्धक होते हैं ॥ ८६ ॥

नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥ ८७ ॥

छगल (बकरा)—अधिक ठंढा नहीं होता है किन्तु पचने में भारी, स्निग्ध, अल्प पित्त तथा अल्प कफ करने वाला एवं अभिष्यन्द नहीं करने वाला तथा पीनसरोगनाशक होता है ॥ ८७ ॥

बृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मावहं गुरु।
मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्रसदृशं गुणैः ॥ ८८ ॥

मेढे का मांस—बृंहण, पित्त तथा कफ का जनक एवं पचने में भारी होता है। मेदःपुच्छ (एड़के) का मांस वृष्य तथा मेढे के समानगुणकारक होता है ॥ ८८ ॥

श्वासकासप्रतिश्यायविषमज्वरनाशनम्।
श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥ ८९ ॥
औरभ्रवत्सलवणं मांसमेकशफोद्भवम्।
अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥ ९० ॥
दूरे जनान्तनिलया दूरे पानीयगोचराः।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥
अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥ ९२ ॥

गो का मांस—श्वास, कास, प्रतिश्याय और विषमज्वर को नष्ट करता है। श्रम करने वाले तथा अत्यग्नि (भस्मक रोग) वालों के लिये हितकारी, पवित्र और वातनाशक होता है। एक खुर वाले प्राणियों (घोड़े आदि) का मांस-उरभ्र के समान गुणकारक तथा कुछ लावणिक रसयुक्त होता है। इस तरह यह जाङ्गल प्राणियों का वर्ग-अल्प अभिष्यन्द (क्लेद) कारक होता है। जो मृग (पशु) तथा विहङ्ग (पक्षी) मनुष्यों के निवास तथा जलाशयों से दूर रहते हैं वे अल्प अभिष्यन्दकारक होते हैं तथा जो मृग और पक्षी बस्ती के अतिनिकट रहते हों एवं जलाशयों के भी समीप में रहते हों वे या उनका मांस अत्यन्त अभिष्यन्द (क्लेद) कारक होता है ॥ ८९-९२ ॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधः। तद्यथा-कूलचराः, प्लवाः, कोषस्थाः, पादिनः, मत्स्याश्चेति ॥ ९३ ॥

आनूप अर्थात् सजल प्रदेश में रहने वाले प्राणियों का वर्ग पांच प्रकार का होता है। जैसे जल के किनारे (तट) पर घूमने वाले कूलचर, पानी पर तैरने वाले प्लव, शंख सीप आदि कोश बनाकर उसमें रहने वाले कोशस्थ, पैरों वाले (मेढकादि), पादिन मछलियां ॥ ९३ ॥

विमर्शः—अनुगता आपो यत्रेत्यनूपो जलप्रायो देशस्तत्र भवा आनूपास्तेषां वर्गः। कूले नद्यादितटे चरन्ति भक्षयन्ति भ्रमन्ति चेति कूलचराः, प्लवन्ते पानीये तरन्तीति प्लवाः, कोषः शङ्खादीनां सम्पुटस्तत्र तिष्ठन्तीति कोषस्थाः, पादिनः=पादवन्तः कच्छपादयः।

तत्र, गजगवयमहिषरुरुचमरसृमररोहितवराहखड्गिगोकर्णकालपुच्छकोद्रीन्यङ्कुकरण्यगवयप्रभृतयः कूलचराः पशवः ॥ ९४ ॥

इनमें से कूलचर प्राणी जैसे-हाथी, नील गाय, भैंसा, रुरुमृग, चमर (चमर वाली वनगाय), सूमर (महाशूकर), रोहित, वराह (सूकर), खड्गी (गैंडा), गोकर्ण, कालपुच्छक, उद्र (उदविलाव), न्यङ्कु (मृग), जङ्गली गवय आदि कूलचर प्राणी हैं ॥ ९४ ॥

विमर्शः—रुरुः=शरदि शृङ्गत्यागी मृगभेदः। तल्लक्षणम्—'विकटबहुविषाणः शम्बराकारदेहः सलिलनटचरत्वाच्छम्बरेभ्यो विचित्रः। त्यजति शरदि शृङ्गं रौत्यतोऽसौ रुरुः स्यात् पृथुलमृगविशेष प्रायशश्चेदिदेशे।' इति। कालपुच्छकः=कृष्णपुच्छको मृगभेदः, 'रूपैरेणसमः कालपुच्छो मुनिभिरीरितः' इति तल्लक्षणम्।

वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः।
शीतला बलिनः स्निग्धा मूत्रलाः कफवर्द्धनाः ॥ ९५ ॥

ये कूलचर प्राणी—वातपित्तनाशक, वृष्य, रस तथा विपाक में मधुर, शीतवीर्य, बलवर्द्धक, स्निग्ध, मूत्रल और कफवर्द्धक होते हैं ॥ ९५ ॥

विरूक्षणो लेखनश्च वीर्योष्णः पित्तदूषणः।
स्वाद्वम्ललवणस्तेषां गजः श्लेष्मानिलापहः ॥ ९६ ॥
गवयाख्य तु मांसं हि स्निग्धं मधुरकासजित्।
विपाके मधुरं चापि व्यवायस्य तु वर्द्धनम् ॥ ९७ ॥
स्निग्धोष्णमधुरो वृष्यो महिषस्तर्पणो गुरुः।
निद्रापुंस्त्वबलस्तन्यवर्द्धनो मांसदार्ढ्यकृत् ॥ ९८ ॥

इनमें हाथी का मांस—विरूक्षण, लेखन, उष्णवीर्य, पित्तदूषक, मधुर, अम्ल, लवण तथा कफ और वात का नाशक होता है। गवय का मांस-स्निग्ध, मधुर, कासनाशक, विपाक में मधुर तथा सम्भोग शक्ति का वर्द्धक होता है। भैंस का मांस-स्निग्ध, उष्ण, मधुर, वृष्य, तर्पक, पचने में भारी एवं निद्रा, पुरुष (संभोग) शक्ति, बल और दुग्ध का वर्द्धक है एवं मांस को दृढ करता है ॥ ९६-९८ ॥

रुरोर्मांसं समधुरं कषायानुरसं स्मृतम्।
वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्द्धनम् ॥ ९९ ॥
तथा चमरमांसन्तु स्निग्धं मधुरकासजित्।
विपाके मधुरं चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥ १०० ॥
सूमरस्य तु मांसञ्च कषायानुरसं स्मृतम्।
वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्द्धनम् ॥ १०१ ॥
स्वेदनं बृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरु।
श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्द्धनम् ॥ १०२ ॥
कफघ्नं खड्गिपिशितं कषायमनिलापहम्।
पित्र्यं पवित्रमायुष्यं बद्धमूत्रं विरूक्षणम् ॥ १०३ ॥
गोकर्णमांसं मधुरं स्निग्धं मृदु कफावहम्।
विपाके मधुरञ्चापि रक्तपित्तविनाशनम् ॥ १०४ ॥

रुरु का मांस—सुमधुर, अनुरस में कषाय, वात तथा पित्त का नाशक, पचने में भारी एवं शुक्र का वर्द्धक होता है। इसी तरह चमर का मांस-स्निग्ध, मधुर, कासनाशक, विपाक में मधुर और वात तथा पित्त का नाशक होता है। सूमर का मांस-कषायानुरस, वात और पित्त का शामक, पचने में भारी तथा शुक्रवर्द्धक होता है। वराह का मांस-स्वेदजनक, शरीर को पुष्ट करने वाला, वृष्य, शीतल, तृप्तिकारक, पचने में भारी, श्रम और वात का नाशक, स्निग्ध एवं बलवर्द्धक होता है। गैंडे का मांस-कफनाशक, कषाय, वातनाशक, पितरों के श्राद्ध में हितकारी पवित्र, आमवर्धक, मूत्रसंग्राहक तथा विशेषकर रूक्ष होता है। गोकर्ण का मांस-मधुर, स्निग्ध मृदु, कफवर्द्धक, विपाक में मधुर तथा रक्तपित्त का नाशक होता है ॥ ९९-१०४ ॥

हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुररकादम्बकारण्डवजीवञ्जीवकबकबलाकापुण्डरीकप्लवशरारीमुखनन्दीमुखमद्गूत्क्रोशकाचाक्षमल्लिकाक्षशुक्लाक्षपुष्करशायिकाकोनालकाम्बुकुक्कुटिकामेघरावश्वेतवारलप्रभृतयः प्लवाः सङ्घातचारिणः ॥ १०५ ॥

प्लव अर्थात् तैरने वाले प्राणी-जैसे हंस, सारस, क्रौञ्च, चकवा-चकवी, कुरर, कादम्ब (कलहंस), कारण्डव (शुक्लहंस), जीवञ्जीवक, बगुला, बलाका, पुण्डरीक, प्लव, शरारीमुख, नान्दीमुख, मद्गु, उत्क्रोश (कुरर भेद), काचाक्ष, मल्लिकाक्ष, शुक्लाक्ष, पुष्करशायिका, कोनालक, अम्बुकुक्कुटिका (जलकूकडी), मेघराव तथा श्वेतवारल आदि प्लववर्ग के प्राणी हैं तथा ये सघ बना कर जल पर तैरते हैं ॥१०५॥

विमर्श-जीवञ्जीवकः—दृष्ट एव चास्मिंस्तु ' 'म्रियते जीवञ्जीवको ग्लायति वेति (अ० सं०)।

जीव जीवयतीति बाहुलकात् खच्; जीवञ्जीवक =यो विषदर्शनमात्रेण ग्लायति म्रियते वा स पक्षिविशेषः। राजानोऽन्नादौ विषसत्तापरिज्ञानायैन पालयन्ति स्म। जीवञ्जीवकश्चकोर इति शब्दार्थचिन्तामणिः। नन्दीमुख =भाटीभेदः। अस्य लक्षणम्—'स्थूला कठोरा वृत्ता च यस्याश्चञ्चूः परिस्थिता। गुटिका चक्षुसदृशी ज्ञेया नन्दीमुखीति सा॥' इति।

रक्तपित्तहराः शीताः स्निग्धा वृष्या मरुज्जितः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च मधुरा रसपाकयोः ॥ १०६ ॥

ये प्लववर्ग के प्राणी-रक्तपित्तनाशक, शीतवीर्य, स्निग्ध, वृष्य, वातनाशक, मूत्र और पुरीष के उत्पादक या प्रवर्तक तथा रस और विपाक में मधुर होते हैं ॥ १०६ ॥

गुरूष्णमधुरः स्निग्धः स्वरवर्णबलप्रदः।
बृंहणः शुक्रलस्तेषां हंसो वातविकारनुत् ॥ १०७ ॥

इनमें से हंस-पचने में भारी, उष्णवीर्य, मधुर, स्निग्ध होता है तथा स्वर, वर्ण और बल को बढाता है एवं बृंहण, शुक्रजनक और वातविकारनाशक होता है ॥ १०७ ॥

शङ्खशङ्खनखशुक्तिशम्बूकभल्लूकप्रभृतयः कोपस्थाः ॥
कूर्मकुम्भीरकर्कटकृष्णकर्कटशिशुमारप्रभृतयः पादिनः ॥

कोशस्थवर्ग में शङ्ख, शङ्खनख (क्षुद्रशङ्ख), शुक्ति, शम्बूक (घोंघे), भल्लूक (कौड़ी) आदि कोशस्थ प्राणी हैं तथा पादिनवर्ग में कच्छप, कुम्भीर (घड़ियाल), केंकड़ा, काला केकड़ा और शिशुमार (नाक) प्रभृति पांव वाले या पांव से चलने वाले प्राणी हैं ॥ १०८-१०९ ॥

शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धाहिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्द्धनाः॥
कृष्णकर्कटकस्तेषां वल्यः कोष्णोऽनिलापहः।
शुक्लः सन्धानकृत् सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा॥१११॥

साधारणतया ये शङ्खकूर्मादि जन्तु-रस तथा विपाक में मधुर, वातनाशक, शीतल, स्निग्ध, पित्तविकार में हितकारी, वर्च (मल) वर्द्धक, तथा कफवर्द्धक होते हैं। इनमें काला केकड़ा-बलवर्द्धक, कुछ गरम तथा वातनाशक है। श्वेतकेकड़ा-भग्नास्थि का संयोजक, विष्ठा और मूत्र को पैदा करने वाला तथा वात और पित्तनाशक होता है॥ ११०-१११॥

मत्स्यास्तु द्विविधाः-नादेयाः सामुद्राश्च॥ ११२॥

मत्स्य—नदी में होने वाले नादेय तथा समुद्र में होने वाले सामुद्र ऐसे दो प्रकार के होते हैं॥ ११२॥

तत्र नादेयाः—रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिगो-मत्स्यकृष्णमत्स्यवागुज्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयो नादेयाः॥

उनमें नादेय मत्स्य-रोहित, पाठीन. पाटला, राजीव, वर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य, वागुज्जार, मुरल, सहस्रदंष्ट्र आदि नदी-मत्स्य हैं॥ ११३॥

विमर्शः—कृष्णमत्स्य = 'सिं-गी' इति ख्यात। तदुक्तम्—'कृष्ण-मत्स्यस्तु शकली बहुकण्टकसंयुत। कषायवर्णो रक्ताक्ष कथितो मत्स्यवेदिभिः॥'

नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः।
रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः॥११४॥

नदी के मत्स्य-मधुर, पचने में भारी, वात को नष्ट करने वाले तथा रक्तपित्तवर्द्धक, उष्णवीर्य, वृष्य, स्निग्ध तथा स्वल्प मलोत्पादक होते हैं॥ ११४॥

कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः।
रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः॥ ११५॥

रोहितमत्स्य-शष्प (घास) तथा शवाल को खाता है एवं अनुरस में कषाय, वातनाशक तथा अधिक पित्त नहीं कुपित करने वाला होता है॥ ११५॥

विमर्शः—चरक तथा वाग्भट सर्व मत्स्यों में रोहित को श्रेष्ठ मानते हैं 'रोहितो मत्स्यानाम्' (चरकः)। लावरोहितगो-धेणा स्वे स्वे वर्ग वरा परम्। (वाग्भटः)।

पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ॥
मुरलो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा॥ ११६॥

पाठीन मत्स्य-कफकारक, वृष्य, निद्राजनक है तथा मांसा-हारी होने से रक्तपित्त को दूषित करता है तथा कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है एवं मुरल मत्स्य-बलवर्द्धक, वृष्य तथा दुग्ध और कफ को बढाता है॥ ११६॥

सरस्तडागसम्भूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः।
महाह्रदेषु बलिनः, स्वल्पेऽम्भस्यबलाः स्मृताः॥११७॥

सरोवर तथा तालाब में उत्पन्न होने वाले मत्स्य-स्निग्ध तथा मधुर रसयुक्त होते हैं। महाह्रद (बडे भारी जलाशय) में होने वाली मछलियां-बलवान् तथा छोटे जलाशय में उत्पन्न-अल्पबलयुक्त होती हैं॥ ११७॥

तिमितिमिङ्गिलकुलिशपाकमत्स्यनिरुलरुनन्दिवार-लकमकरगर्गरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः॥

समुद्री मत्स्यों में तिमि, तिमिङ्गल, कुलिश, पाकमत्स्य, निरुलरु, नन्दिवारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन तथा राजीव प्रभृति मत्स्य समुद्र में रहते हैं॥ ११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः।
उष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः॥११९॥
बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः।
समुद्रजेभ्यो नादेया बृंहणत्वाद् गुणोत्तराः॥ १२०॥
तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चौण्ट्यकौप्यौ गुणोत्तरौ।
स्निग्धत्वात् स्वादुपाकत्वात्तयोर्वाप्या गुणाधिकाः १२१

समुद्री मत्स्य-पचने में भारी, स्निग्ध, मधुर, अधिक पित्त नहीं बढाने वाले, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, मलवर्द्धक तथा कफ को बढाते हैं। समुद्री मत्स्य अपने से छोटी छोटी मछ-लियों को खाते हैं। अत एव मांसभक्षी होने से विशेषकर बलवर्द्धक होते हैं। समुद्र में रहने वाले मत्स्यों की अपेक्षा नदी के मत्स्य बृंहण होने से गुणों में अधिक प्रधान होते हैं। नादेय मत्स्यों में भी चुंटी और कूप के मत्स्य वातनाशक होने से गुणों में अधिक होते हैं तथा इनसे भी वापी के मत्स्य स्निग्ध तथा स्वादुपाकी होने से गुणों में अधिक श्रेष्ठ होते हैं॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः।
सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु॥ १२२॥

नदियों में उत्पन्न मत्स्य-पूंछ तथा मुख की सहायता से चलते रहते हैं इसलिये मध्य शरीर में भारी होते हैं तथा सरोवर और तालाब के मत्स्यों का शिर लघु होता है॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात् तस्मादुत्सोदपानजाः।
किञ्चिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरवस्तु ते॥ १२३॥
अधस्ताद् गुरवो ज्ञेया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः।
उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम्॥ १२४॥

उत्सोदपान (पर्वत के झरने) में होने वाले मत्स्य अधिक दूर तक विचरण नहीं करने से कुछ शिरःप्रदेश को छोडकर शेषाङ्ग में अधिक भारी होते है। सरोवर में होने वाले मत्स्य अधःप्रदेश में भारी होते है तथा छाती के सहारे चलने से उनके पूर्व अङ्ग लघु होते हैं॥ १२३-१२४॥

विमर्शः—मत्स्य खाने का रिवाज भारत में अधिकतर विहार, बङ्गाल, पञ्जाब, सिन्ध, काश्मीर तथा कुछ उत्तरप्रदेश (यू० पी०) में है। यह एक पौष्टिक खाद्य है। इसमें प्रोटीन अधिक तथा चरबी कार्बोहायड्रेट व खनिज पदार्थ अत्यल्प होते हैं। जिन देशों में चावल अधिक खाया जाता है वहां के लोग चावल के साथ मत्स्य खाते हैं जिससे प्रोटीन की कमी की पूर्ति हो जाती है। जो मछली मोटी होती है उसमें चरबी अधिक होने से अधिक शक्ति उत्पन्न करती है Cod

तथा Halibut आदि मत्स्यों के यकृत् में Vitamin A तथा D अधिक मात्रा में होते हैं अत एव उन मत्स्यों के यकृत् के तैलों का आजकल जीव द्रव्य ए तथा डी की कमी की पूर्ति के लिये चिकित्सा में अधिक प्रयोग हो रहा है। सड़ी गली तथा डिब्बे की मछली खाने से वमन, अतिसार आदि रोग हो जाते हैं। आयुर्वेद में मत्स्य सेवन को कुष्ठोत्पत्ति होने में एक कारण मानते हैं। डाक्टर मूर भी खराब मत्स्य का सेवन कुष्ठोत्पत्ति में एक सहायक कारण है ऐसा मानते हैं किन्तु वे कुष्ठजीवाणु का शरीर संसर्ग विना मत्स्य को सहायक कारण भी नहीं मानते।

इत्यानूपो महाभिष्यन्दिमांसवर्गो व्याख्यातः ॥१२५॥

इस प्रकार यह अत्यन्त अभिष्यन्द करने वाला आनूपदेशवर्ति-प्राणियों के मांसवर्ग का विवेचन किया गया है॥१२५॥

विमर्शः—महाभिष्यन्दि=दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदकारीत्यर्थः। तदुक्तम्—'हृदयस्थान्ननिर्यासवाहिस्रोतोमुखानि यत्। मुक्त लिम्पति पिच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते॥ वैशद्यात्कफहन्तृत्वात्तान्येव विवृणोति यत्। तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्य द्रव्यविशारदैः॥ इति।

तत्र शुष्कपूतिव्याधितविषसर्पहतदिग्धविद्धजीर्णकृशबालानामसात्म्यचारिणां च मांसान्यभक्ष्याणि, यस्माद्विगतव्यापन्नापहतपरिणतालपासम्पूर्णवीर्यत्वादोषकराणि भवन्ति; एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति॥ १२६॥

जाङ्गल तथा आनूप देश के प्राणियों के मांसों में जो मांस सूखा, सड़ा-गला, दुर्गन्धयुक्त हो तथा रोगों से ग्रस्त, विषहत, सर्पभक्षित, विषादि से दिग्ध (लिप्त), शस्त्रादि से विद्ध एवं जीर्ण (बुड्ढे), दुर्बल, बालक, खराब आहार खाने वाले ऐसे पशु-पक्षियों का मांस नहीं खाना चाहिये क्योंकि शुष्क होने से विगत रस, पूति तथा व्याधित होने से व्यापन्न (नष्ट) वीर्य तथा विषसर्पहत, दिग्धविद्ध होने से अपहत (नष्ट) वीर्य एवं जीर्ण होने से परिणतवीर्य तथा कृश और बाल होने से उसका मांस अल्प एवं असम्पूर्ण वीर्य वाला होकर दोषोत्पादक होता है इस लिये उक्त प्रकार से दूषित प्राणियों से अतिरिक्त प्राणियों का मांस उपादेय (ग्राह्य) होता है॥ १२६॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं प्रकीर्त्तितम्।
विषव्याधिहतं मृत्युं बालं छर्दिञ्च कोपयेत्॥ १२७॥
कासश्वासकरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम्।
क्लिन्नमुत्क्लेशजननं कृतं वातप्रकोपणम्॥ १२८॥

शुष्कमांस-अरुचिजनक, प्रतिश्यायकारक तथा भारी होता है। विष तथा रोग से मरे प्राणियों का मांस-मृत्युजनक होता है। बाल प्राणी का मांस-वमन करता है। वृद्ध प्राणी का मांस-कास और श्वास करता है। रोगग्रस्त प्राणियों का मांस-त्रिदोष का प्रकोप करता है। सड़ा गला मांस-उत्क्लेश करता है तथा दुर्बल प्राणी का मांस-वायु का प्रकोप करता है॥

विमर्शः—सेवनीयमांसलक्षणम्—सद्योहत वयःस्थञ्च शुद्ध सुरभि शस्यते। (अ० सं०)। अपि च—मुहूर्त्तात्तदुपादेयं प्रहरदशवर्जितम्। उष्णदेश तथा उष्णकाल में मांस को अधिक देर तक रखने से उसमें वेसीलस पुण्टरीटीडस आदि पूयोत्पादक जीवाणु प्रविष्ट होकर विष पैदा करते हैं। प्राणियों में राजयक्ष्मा, न्यूमोनिया, प्लेग, एक्टिनो मायकोसिस, पुन्ध्राक्स, कृमिरोग होते हैं अत एव मांस ग्रहण करते समय ऐसा प्राणियों का मांस हो तो वर्जित करें। मांस को उबालने से उसमें के रोगोत्पादक जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरेष्वल्पशरीराः, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः। एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः प्रधानतमाः॥

चतुष्पद प्राणियों में स्त्रियों का मांस, पक्षियों में पुरुष जाति का मांस, हाथी, गवय इत्यादि बड़े प्राणियों में छोटे प्राणियों का मांस तथा अल्प शरीर वाले प्राणियों में बड़े शरीर वाले का मांस अधिक प्रधान होता है। इस प्रकार एक जाति (वर्ग) के बड़े शरीर वाले प्राणियों की अपेक्षा कृश शरीर वाले प्राणियों का मांस अधिक श्रेष्ठ होता है॥१२६॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः। तथा—रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषूत्तरोत्तरा गुरुतरास्तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिर पादकरकटीपृष्ठचर्मकालेयकयकृदन्त्राणि॥ १३०॥

अब स्थान आदि के अनुसार मांस के गुरु तथा लघु होने का वर्णन किया जाता है। जैसे रक्त से वीर्य तक की धातुएं उत्तरोत्तर अधिक भारी होती हैं एव सक्थि (टांगे), स्कन्ध, हृदयविभाग, सिर, पाद, हस्त, कटि, पीठ, चर्म, कालेयक (वृक्क), यकृत् और आन्त्र ये भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक भारी होते हैं॥ १३०॥

शिरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः।
गुरुपूर्वं विजानीयाद्धातवस्तु यथोत्तरम्॥ १३१॥

स्त्री और पुरुष दोनों जाति के पक्षियों में शिर, स्कन्ध, कटी, पीठ, और सक्थि इनमें से पूर्व पूर्व के गुरु होते हैं किन्तु रक्तादि धातुएं उत्तरोत्तर भारी होती हैं॥ १३१॥

सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम्॥ १३२॥
उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम्।
पक्षोत्क्षेपात्समो दिष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम्॥१३३॥

प्रायः सर्व प्रकार के प्राणियों के देह में मध्यभाग भारी होता है। पुरुषों का पूर्व भाग (वक्ष) और स्त्रियों का अधोभाग (कटि) भारी होता है। पक्षियों का उर (छाती) तथा ग्रीवा विशेषतया भारी होते हैं तथा पक्षों के ऊचा नीचा क्षेपण करने से मध्यभाग समान होता है॥ १३२-१३३॥

अतीव रूक्षं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम्।
बृंहणं मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम्॥
मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं धान्यचारिणाम्॥१३४॥

फल खाने वाले पक्षियों का मांस-अत्यन्त रूक्ष होता है तथा मांस खाने पक्षियों का मांस-अत्यन्त बृंहण होता है। मछलियां खाने वाले पक्षियों का मांस-पित्तकारक होता है

तथा धान्य खाने वाले पक्षियों का वातनाशक होता है ॥१३४॥

जलजानूपजा ग्राम्याः क्रव्यादैकशफास्तथा।
प्रसहा बिलवासाश्च ये च जङ्गालसंज्ञिताः ॥ १३५ ॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव लघवः स्युर्यथोत्तरम्।
अल्पाभिष्यन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥ १३६ ॥

जल में होने वाले, आनूप देश में होने वाले, ग्रामीण, मांसभक्षी, एक खुर वाले, प्रसह, बिल में रहने वाले तथा जङ्गाल एवं प्रतुद, विष्किर ये उत्तरोत्तर पचने में हलके होते हैं तथा अल्प अभिष्यन्दकारक होते हैं एवं यथापूर्व अधिकाधिक भारी तथा अधिक अभिष्यन्द उत्पन्न करते हैं ॥

प्रमाणाधिकास्तु स्वजातौ चाल्पसारा गुरवश्च। सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यो ये प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्त्तिनस्तानाददीत। प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥ १३७ ॥

जो प्राणी अपनी जाति के निश्चित प्रमाण से अधिक प्रमाण वाले या मोटे होते हैं वे अल्पबलयुक्त तथा भारी होते हैं। सर्व प्रकार के प्राणियों के सारे शरीर में से यकृत् के पास में जो शिरा, स्नायु, मांसादि अधिक प्रधान भाग होते हैं, उन्हें खाने के लिये ग्रहण करना चाहिये। उन प्रधान अङ्गों के अभाव में मध्यम आयु वाले प्राणी का ताजा तथा अक्लिष्ट (बिना सड़ा गला) मांस ग्रहण करना चाहिये ॥ १३७ ॥

भवति चात्र—

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥१३८॥

इस विषय में कहा है कि जिस प्राणी का मांस ग्रहण करना हो उसके विषय में चर अर्थात् उस प्राणी का आहार और विहार (चर-गतिभक्षणयोः), उस प्राणी के शरीर के अवयव, उसका स्वभाव, रस-रक्तादि धातु, उसकी चेष्टाएं तथा लिङ्ग, प्रमाण, संस्कार (घृत या तैल में पकाना रूपी संस्कार) तथा मात्रा ये सब परीक्षणीय हैं ॥ १३८ ॥

इति मांसवर्गः।

अथ फलवर्गः—

अत ऊर्ध्वं फलान्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—दाडिमामलकबदरकोलकर्कन्धुसौवीरसिञ्चितिकाफलकपित्थमातुलुङ्गाम्राम्रातककरमर्दप्रियालनारङ्गजम्बीरलकुचभव्यपारावतवेत्रफलप्राचीनामलकतिन्तिडीकनीपकोशाम्राम्लीकाप्रभृतीनि ॥ १३९ ॥

अब इसके अनन्तर फलों का उपदेश करते हैं। जैसे दाडिम, आंवले, बैर, कोल (झाडी के बेर), कर्कन्धु (छोटे बेर), सौवीर (बदरभेद), सिञ्चितिका (बेर भेद), कैथ, बिजौरा, निम्बू, आम, आम्रातक, करौंदा, चिरौंजी, नारङ्गी, जम्बीरी नीम्बू, बड़हल, भव्य (कमरख), पारावत, वेत्रफल, प्राचीनामलक (पानी आंवला), इमली, नीप (कदम्ब), कोशाम्र, अम्लीका (इमली भेद) प्रभृति फलवर्ग में आते हैं ॥

अम्लानि रसतः पाके गुरूण्युष्णानि वीर्यतः।
पित्तलान्यनिलघ्नानि कफोत्क्लेशकराणि च ॥१४०॥

ये उक्त फल रस में अम्ल, विपाक में गुरु, वीर्य में उष्ण, पित्तकारक, वायुनाशक तथा कफ का उत्क्लेश करने वाले होते हैं ॥ १४० ॥

कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम्।
दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम् ॥ १४१ ॥
द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च।
त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥ १४२ ॥

इनमें दाडिम—कषायानुरस, अधिक पित्त नहीं करने वाला, अग्निदीपक, रुचिकारक, हृदय के लिये हितकारी तथा मल को बांधने वाला होता है। मधुर तथा खट्टा ऐसे दाडिम दो प्रकार का होता है। मधुर दाडिम-त्रिदोषनाशक तथा अम्ल दाडिम-वात और कफ को नष्ट करता है ॥ १४१-१४२ ॥

अम्लं समधुरं तिक्तं कषाय कटुकं सरम्।
चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम् ॥ १४३ ॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१४४॥

आंवले का फल-खट्टा, मीठा, तिक्त, कषाय, कटु, दस्तावर, चक्षु के लिये हितकर, सर्व दोषों का नाशक और वृष्य होता है। यह खट्टा होने से वात को नष्ट करता है, मधुर और शीत होने से पित्त को नष्ट करता है तथा रूक्ष और कषाय होने से कफ को नष्ट करता है एवं सर्वफलों में श्रेष्ठ फल है ॥ १४३-१४४ ॥

कर्कन्धुकोलबदरमामं पित्तकफावहम्।
पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं समधुरं सरम् ॥ १४५ ॥
पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु।
सौवीरं बदरं स्निग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥ १४६ ॥

कर्कन्धु, कोल और बदर ये कच्चे होने से पित्त और कफ वर्द्धक होते हैं तथा पक जाने पर पित्त और वात रोग को नष्ट करते हैं एवं स्निग्ध, मधुर तथा दस्तावर होते हैं। पुराने (सूखे हुये) बैर-तृषाशामक, श्रम (थकावट) को दूर करने वाले, अग्निदीपक तथा पचने में लघु होते हैं। सौवीर जाति के बैर-स्निग्ध, मधुर और वात तथा पित्त के नाशक होते हैं ॥

कषायं स्वादु सङ्ग्राहि शीतं सिञ्चितिकाफलम्।
आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम् ॥ १४७ ॥
कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु।
श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥ १४८ ॥

सिञ्चितिका फल (सेव)—कषाय, मधुर, दस्त बांधने वाला तथा शीतल होता है। कच्चा कैथ-स्वर को हानि पहुँचाने वाला, कफनाशक, दस्त बांधने वाला और वातवर्द्धक होता है तथा पका हुआ कपित्थ फल-कफ और वात को नष्ट करने वाला, मधुर, अम्ल, भारी, श्वासनाशक, कासनाशक, अरुचिनाशक, तृष्णाशामक तथा कण्ठ साफ करने वाला होता है ॥ १४७-१४८ ॥

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा ॥१४६॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्।
मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥ १५० ॥
दीपनं लघु सङ्ग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केसरम्।
शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥
अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते ॥ १५१ ॥

विजौरा निम्बू-लघु, अम्ल, अग्निदीपक तथा हृद्य होता है तथा उसकी त्वचा (छिलका)—तिक्त, पचने में भारी एवं वात, कृमि और कफ को नष्ट करती है। उसका गूदा-मधुर, शीतल, पचने में भारी, स्निग्ध, वात तथा पित्त का शामक, वृद्धिवर्द्धक तथा शूल, वात, वमन, कफ और अरुचि का नाशक है। उसका केसर-पाचकाग्निदीपक, लघु, संग्राही तथा गुल्म और अर्श का नाशक है। उसका रस-शूल, अपचन, विबन्ध, अग्निमान्द्य, कफ तथा वात के रोग एवं अरोचक में विशेष रूप से प्रयुक्त होता है ॥ १४९-१५१ ॥

पित्तानिलकरं बालं पित्तलं वृद्धकेसरम्।
हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम् ॥ १५२ ॥
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु।
पित्ताविरोधि सम्पक्वमाम्रं शुक्रविवर्द्धनम् ॥ १५३ ॥

आम्रगुण—बाल अर्थात् कच्चा आम्रफल जिसमें गुठली न पडी हो-पित्त तथा वायु को पदा करता है। वृद्धकेसर अर्थात् जिसमें गुठली हो गई हो-पित्त उत्पन्न करता है। पका हुआ आम्रफल-हृद्य, वर्णकारक, रुचिवर्द्धक तथा रक्त, मांस और बल को बढाने वाला, अनुरस में कषाय, रस में मधुर, वातनाशक, बलवर्द्धक, पचने में भारी, पित्त का विरोध (विशेष वर्द्धन) न करने वाला तथा शुक्रवर्द्धक होता है ॥ १५२-१५३॥

बृंहणं मधुरं बल्यं गुरु विष्टम्भ जीर्यते।
आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्द्धनम् ॥ १५४ ॥
त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम्।
अम्लं तृष्णापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम् ॥ १५५ ॥
वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम्।
हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् ॥१५६॥
पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
पारावतं समधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ॥ १५७ ॥
गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा।
वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ॥ १५८ ॥
ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं सम्पक्वं कफवातनुत्।
तस्मादल्पान्तरगुणं कोशाम्रफलमुच्यते ॥ १५९ ॥
अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद्भेदि तु केवलम्।
अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ॥ १६० ॥
वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु।
तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ॥ १६१ ॥
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत्।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥ १६२ ॥

आम्रातक फल (अम्बाडा)—बृंहण, मधुर, बलवर्द्धक, पचने में भारी, आंतों में विष्टम्भ (वायु, तोद शूल) हो कर पचने वाला तथा वृष्य, स्निग्ध और कफवर्द्धक होता है। लकुच फल (बडहल)-त्रिदोषजनक, विष्टम्भकारक और वीर्यनाशक होता है। करौंदा-अम्ल, तृषानाशक, रुचिवर्द्धक और पित्तकारक होता है। पियाल (चिरौंजीफल)-वात तथा पित्त का नाशक, वृष्य, पचने में भारी तथा शीतल होता है। भव्य (कमरख)—हृदय के लिये हितकर, मधुर, कषाय, अम्ल, मुख का शोधक, पित्त तथा कफ का नाशक, दस्त बांधने वाला, पचने में भारी, विष्टम्भकारक और शीतल होता है। पारावत-मधुर, रुचिकारक तथा अत्यग्नि (भस्मक रोग) तथा वात का नाशक होता है। नीप (कदम्ब) फल-कृत्रिमविष का नाशक होता है तथा पानी आंवला भी इसी के समान गुण कारक होता है। तिन्तिडी का कच्चा फल-वातनाशक, पित्त तथा कफ को करने वाला होता है तथा पका हुआ-ग्राही, उष्णवीर्य, दीपन तथा रुचिवर्द्धक होता है कफ और वात को नष्ट करता है। कोशाम्रफल-इससे कुछ कम गुणों वाला होता है। अम्लीका (इमली) का पका हुआ फल-गुणों में तिन्तिडीफल के समान ही होता है परन्तु भेदक (दस्तावर) होता है। नारङ्गफल (सन्तरा)-अम्ल, मधुर, हृद्य, विशद, भोजन में रुचि बढाने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी होता है। जम्बीर (नीबू)-तृषा, शूल, कफ, जी मिचलाना, वमन, श्वास, वात, कफ और मलविबन्ध को नष्ट करने वाला, पचने में भारी तथा पित्तजनक होता है। ऐरावत तथा दन्तशठ (गोदडा नीबू)-खट्टा तथा रक्तपित्तजनक होता है ॥१५४-१६२॥

विमर्श—इन दाडिमादि वर्ग के फलों में साइट्रिक, टार्टरिक, मेलिक, आक्जेलिक अम्लों के होने से खट्टापन तथा टेनिन, गैलिन आदि अम्लों के होने से कसैलापन होता है। इन फलों में विटामिन सी० खास होता है। जो कि स्कर्वी रोग का प्रतिबन्धक है। ये फल भोजन को पचाते हैं। इनका सेवन अत्यावश्यक है।

क्षीरवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलतिन्दुकबकुलधन्वनाश्मन्तकाश्वकर्णफल्गुपरूपकगाङ्गेरुकीपुष्करवर्तिबिल्वविम्बीप्रभृतीनि ॥ १६३ ॥

कषायरसाधिक्य वाले फल—जैसे न्यग्रोध, उदुम्बर, पीपल, पाखर और वेतस इन क्षीरवृक्षों के फल तथा जामुन, राजादन (खिरणी), तोदन, शीतफल, तिन्दुक, बकुल (मौलसिरी), धामन, अश्मन्तक, अश्वकर्ण, फल्गु (अञ्जीर), फालसा, गंगोठ (नागवला), पुष्करवर्ति, विल्व, बिम्बी प्रभृति हैं ॥ १६३ ॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च।
सङ्ग्राहकाणि रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥ १६४ ॥

उक्त न्यग्रोधादि के फल-शीतल, कफपित्तनाशक, ग्राही, रूक्ष, कषाय और मधुर होते हैं ॥ १६४ ॥

क्षीरवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
कषायं मधुरं साम्लं नातिमारुतकोपनम् ॥ १६५ ॥
अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित्।

स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥ १६६ ॥
कषायं मधुरं रूक्षं तोदनं कफवातजित्।
अम्लोष्णं लघु सङ्ग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्द्धनम् १६७
आमं कषायं सङ्ग्राहि तिन्दुकं वातकोपनम्।
विपाके गुरु सम्पक्वं मधुरं कफपित्तजित् ॥ १६८ ॥
मधुरं च कषायं च स्निग्धं सङ्ग्राहि बाकुलम्।
स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥ १६९ ॥
सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्।
तद्वद् गाङ्गेरुकं विद्यादश्मन्तकफलानि च ॥ १७० ॥

क्षीरी वृक्षों के फल-गुरु, विष्टम्भकारक, शीतल, कषाय, मधुर तथा अम्ल होते हैं तथा वायु का अधिक प्रकोप नहीं करते हैं। जामुनफल-अत्यन्त वातकारक, दस्त को बांधने वाला तथा कफ और पित्त को नष्ट करता है। राजादन (खिरनी) का फल-स्निग्ध, मधुर, कषाय और भारी होता है। तोदनफल-कषाय, मधुर, रूक्ष, कफवातशामक, अम्ल, उष्ण, लघु, ग्राही, स्निग्ध, पित्तजनक तथा अग्निवर्द्धक है। कच्चा तिन्दुकफल-कसैला, ग्राही तथा वातप्रकोपक होता है और पका हुआ-विपाक में गुरु, मधुर, कफ तथा पित्त का नाशक होता है। बकुल का फल—मधुर, कषाय, स्निग्ध, संग्राही, दांतों को दृढ करने वाला तथा विशद होता है। धामन फल-कषाय, शीत, मधुर तथा कफ और पित्त का नाशक होता है। धामन फल के गुणानुरूप ही गाङ्गेरुक तथा अश्मन्तक फलों के गुण जानो ॥ १६७-१७० ॥

विमर्श.—भारत में प्राचीन काल से जामुन की गुठली का प्रयोग मधुमेह तथा बहुमूत्र में करते हैं। वर्तमान विज्ञान ने जामुन के बीज में जम्बूलाइन (Tombuline) नामक एक ग्लूकोसाइड प्राप्त किया है जो कि मधुमेह में शर्करा तथा मूत्र राशि को कम करता है। अब डाक्टर भी जामुन की गुठली का सत्त्व मधुमेह में तथा बिल्व इक्सट्रेक्ट का अतिसार में प्रयोग करने लग गये हैं।

विष्टम्भि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पणं गुरु।
अत्यम्लमीषन्मधुरं कषायानुरसं लघु ॥ १७१ ॥
वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम्।
तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम् ॥ १७२ ॥
विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम्।
पौष्करं स्वादु विष्टम्भि बल्यं कफकरं गुरु ॥ १७३ ॥

फल्गु (अंजीर) फल-विष्टम्भकारक, मधुर, स्निग्ध, तृप्तिकर तथा पचने में भारी होता है। कच्चा परूषक (फालसा)-अत्यन्त खट्टा, कुछ मीठा, अनुरस में कषाय, पचने में हलका, वातनाशक तथा पित्तजनक होता है। वही फालसा पक जाने पर-मधुर, वातपित्तनाशक, विपाक में मधुर, शीतल तथा रक्तपित्तप्रसादक होता है। पौष्कर (तालाब में होने वाले सिंघाडे या कमल के फल)-रस में मधुर, विष्टम्भजनक, बलवर्द्धक, कफकारक और गुरु होते हैं ॥ १७१-१७३ ॥

कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं सङ्ग्राहि दीपनम्।
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ॥ १७४ ॥
विद्यात् तदेव सम्पक्वं मधुरानुरसं गुरु।
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥ १७५ ॥

कच्चा बिल्व फल-कफ और वात का नाशक, तीक्ष्ण, स्निग्ध, संग्राही, अग्निदीपक, कटु, तिक्त और कषाय तथा उष्ण होता है किन्तु वही पक जाने पर-अनुरस में मधुर, पचने में भारी, विदाहजनक, विष्टम्भकारक, दोषजनक तथा दुर्गन्धित वायु पैदा करता है ॥ १७४-१७५ ॥

बिम्बीफलं साश्वकर्णं स्तन्यकृत् कफपित्तजित्।
तृड्दाहज्वरपित्तासृक्कासश्वासक्षयापहम् ॥ १७६ ॥

बिम्बीफल (कुन्दरु) तथा अश्वकर्ण-दुग्धवर्द्धक, कफ और पित्त को नष्ट करने वाले तथा तृषा, दाह, ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास और क्षय को नष्ट करते हैं ॥ १७६ ॥

तालनालिकेरपनसमौचप्रभृतीनि ॥ १७७ ॥
स्वादुपाकरसान्याहुर्वातपित्तहराणि च।
बलप्रदानि स्निग्धानि बृंहणानि हिमानि च ॥१७८॥

ताल, नारियल, कटहल, मोचा (केला) आदि फल-रस और विपाक में मधुर, वातपित्तनाशक, बलदायक, स्निग्ध, बृंहण तथा शीतल होते हैं ॥ १७७-१७८ ॥

फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरु पित्तजित्।
तद्बीजं स्वादुपाकं च मूत्रलं वातपित्तजित् ॥ १७९ ॥
नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्।
बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं वस्तिशोधनम् ॥ १८० ॥
पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु।
मौचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीलम्।
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥ १८१ ॥

इनमें ताल का फल-मधुर रस वाला, पचने में भारी और पित्तनाशक होता है। उसका बीज-विपाक में मधुर, मूत्रजनक तथा वात-पित्तनाशक है। नारियल का फल-पचने में भारी, स्निग्ध, पित्तनाशक, मधुर, शीतल, बल और मांस का वर्द्धक, हृद्य, बृंहण तथा वस्ति (मूत्राशय) का शोधक होता है। पनस (कटहल) फल-कसैला, स्निग्ध, स्वादुरसयुक्त तथा पचने में भारी होता है। केवल रस में मधुर और कषाय होता है तथा अधिक शीतल नहीं होता है एवं रक्तपित्त नाशक, वृष्य, रुचिजनक, कफकारक तथा भारी होता है ॥

विमर्श:—तालवर्ग के फलों में-स्टार्च, शर्करा अधिक मात्रा में तथा अल्पमात्रा में फेट, प्रोटीन एवं जीवद्रव्य भी होते हैं। नारिकेल फल क्षय रोग में अमेरिका तथा भारत में प्रयुक्त होता है। बृंहण गुरु शीतलम्। दाहक्षतक्षयहर रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ (वाग्भटः)। केले में-शर्करा, फेट, प्रोटीन, चूना, क्षार, लौह, फास्फोरिक एसिड तथा विटासिन बी० और सी० होते हैं। अतिसार, प्रवाहिका में केला सङ्ग्राही पथ्य है।

द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरमधूकपुष्पप्रभृतीनि ॥ १८२ ॥
रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च।
तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥ १८३ ॥
रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा।
हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम्

केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ॥ १८४ ॥
क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु ।
रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत् ॥ १८५ ॥
बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु ।
वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥ १८६ ॥

द्राक्षा, गम्भारी, खर्जूर, महुवे के पुष्प तथा फल प्रभृति-रक्तपित्तनाशक, गुरु और मधुर होते हैं। इनमें से द्राक्षा-दस्तावर, स्वर को बढ़ाने वाली, मधुर, स्निग्ध, शीतल है तथा रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, तृष्णा, दाह तथा क्षय को नष्ट करती है। गम्भारी फल-हृद्य, मूत्रावरोधनाशक, रक्तपित्त और वातरोग का नाशक, केशों के लिये हितकारी, रसायन तथा बुद्धिवर्द्धक होता है। खजूर (छुहारा तथा पिण्डखजूर)-क्षत और क्षय का नाशक, हृद्य, शीतल, तृप्तिकारक, गुरु तथा रस और विपाक में मधुर होता है। महुवे के पुष्प-जो कि सूखने पर मुनक्के से (फलोपम) हो जाते हैं-बलवर्द्धक होते हैं एवं हृदय के लिये अहितकारी और पचने में भारी होते हैं तथा महुवे के फल-वात और पित्त के शामक होते हैं ॥ १८२-१८६ ॥

वातामाक्षोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचकोरुमाणप्रभृतीनि ॥ १८७ ॥

बादाम, अखरोट, अभिषुक (काजू), निचुल (चिलगोजा), पिचु, निकोचक (पिस्ता), उरुमाण (नासपाती) प्रभृति शुष्क मेवे वर्ग के फल हैं ॥ १८७ ॥

पित्तश्लेष्महराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च ।
बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च ॥ १८८ ॥

ये मेवे—पित्त और कफ के नाशक, स्निग्ध, उष्ण, गुरु, बृंहण, वातनाशक, बलवर्द्धक तथा मधुर होते हैं ॥ १८८ ॥

विमर्शः—इन मेवों में १५-२० प्रतिशत प्रोटीन, ५०-६० फेट, ९-१२ प्रतिशत कार्बोहाईड्रेट, ३-५ प्रतिशत सेल्यूलोज, १ प्रतिशत खनिजक्षार तथा ४-५ प्रतिशत जलीयांश होता है। इनमें कार्बोहाइड्रेट कम होने से मधुमेही के लिये हितकारी तथा फेट और प्रोटीन अधिक होने से मांसवद् बृंहण हैं।

कषायं कफपित्तघ्नं किञ्चित्तिक्तं रुचिप्रदम् ।
हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥ १८९ ॥
वसिरं शीतपाक्यं च सारुष्करनिबन्धनम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं शीतलं वातकोपनम् ।
विपाके मधुरं चापि रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ १९० ॥

हरफा रेवडी के फल-कषाय, कफपित्तनाशक, कुछ तिक्त, रुचिदायक, हृद्य, सुगन्धयुक्त और विशद होते है। वसिर (सूर्यभक्ता) के फल, शीतपाक्य (बला के फल) और अरुष्कर (भल्लातक फल) या उसका निबन्धन (डंठल)-विष्टम्भजनक, पचने में कठिन, रूक्ष, शीतल, वातप्रकोपक, विपाक में मधुर तथा रक्तपित्तशामक होते हैं ॥ १८९-१९० ॥

विमर्शः—लवलीफलपरिचयः-घनस्निग्धा हरिताशुपुप्रन्नाट-सदृक्फला । सुगन्धिमूला लवली पाण्डुकोमलवल्कला ॥

शीतं कषायं मधुरं टङ्क मारुतकृद् गुरु ।
स्निग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातश्लेष्मघ्नमैङ्गुदम् ॥ १९१ ॥
शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम् ।
गुरु श्लेष्मातकफलं कफकृन्मधुरं हिमम् ॥ १९२ ॥
करीराक्षिकपीलूनि तृणशून्यफलानि च ।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च ॥ १९३ ॥
तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च ।
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित् ॥ १९४ ॥

टङ्क (नीलकपित्थ)—शीतल, कषाय, मधुर, वातवर्द्धक और भारी होता है। इङ्गुदीफल-स्निग्ध, उष्ण, कटु, मधुर और वातकफ-नाशक होता है। शमी का फल-भारी, मधुर, रूक्ष, उष्ण तथा केशनाशक होता है। लिसोड़ा फल-भारी, कफकारक, मधुर और शीतल है। करीर, आक्षिक, पीलु और तृणशून्य (मल्लिका) के फल-मधुर, तिक्त, कटु, उष्ण तथा कफ और वात के नाशक होते हैं। उनमें से पीलुफल-रस में कटु, पित्तजनक, दस्तावर, विपाक में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, रस में कटु, स्नेहांशयुक्त तथा कफ और वात के नाशक होते हैं ॥

आरुष्करं तौवरकं कषायं कटुपाकि च ॥ १९५ ॥
उष्णं क्रिमिज्वरानाहमेहोदावर्त्तनाशनम् ।
कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकि तथैव च ॥ १९६ ॥
करञ्जकिंशुकारिष्टफलं जन्तुप्रमेहनुत् ।
अङ्कोलस्य फलं विस्रं गुरुश्लेष्महरं हिमम् ॥ १९७ ॥
रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।
तिक्तमौषद्विषहितं विडङ्गं कृमिनाशनम् ॥ १९८ ॥

तौवरक फल—आरुष्कर (व्रणकारक), कषाय, विपाक में कटु, उष्णवीर्य तथा कृमि, ज्वर, आनाह, प्रमेह तथा उदावर्त का नाशक होता है। करञ्ज, ढाक (पलास) और नीम के फल-कृमि, प्रमेह, कुष्ठ, गुल्म, उदर तथा अर्श के नाशक एवं विपाक में कटु होते हैं। वायविडङ्ग-रूक्ष, उष्ण, विपाक में कटु, पचने में हलकी, वात तथा कफ की शामक, कुछ तिक्त, विषज रोगों में हितकारी तथा कृमिनाशक होती है ॥१९५-१९८॥

विमर्शः—तुवरक का विशेष प्रयोग कुष्ठ में, पलाशबीजों का गोलकृमि (Round worm) तथा विडङ्ग का प्रयोग चपटे कृमि (Tape worm) में आयुर्वेद तथा डाक्टरी दोनों में करते हैं।

व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।
कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम् ॥ १९९ ॥
भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यकृमिनाशनम् ।
चक्षुष्यं स्वादुपाक्यात्तं कषायं कफपित्तजित् ॥२००॥

अभया (हरड़) फल—व्रण में हितकारी, उष्ण, दस्तावर, मेधाहितकर, दोषनाशक, शोफ और कुष्ठ का नाशक, कषाय, अग्निदीपक, अम्ल तथा नेत्रों के लिये हितकारी है। आत्त (बहेड़ा का) फल-दस्तावर, लघु, रूक्ष, उष्ण, स्वर को विकृत करने वाला, कृमिनाशक, नेत्रहितकारी, विपाक में मधुर, कषाय एवं कफ तथा पित्त को नष्ट करता है ॥ १९९-२०० ॥

कफपित्तहरं रूक्षं वक्त्रक्लेदमलापहम्।
कषायमीषन्मधुरं किञ्चित् पूगफलं सरम् ॥ २०१ ॥
जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम्।
कक्कोलकं लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम् ॥ २०२ ॥
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्।
सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघुलेखनः ॥ २०३ ॥
तृष्णायां मुखशोषे च वैरस्ये चापि पूजितः।
लताकस्तूरिका तद्वच्छीता वस्तिविशोधनी ॥ २०४ ॥

पूगफल (सुपारी)—कफ और पित्त का नाशक, रूक्ष, मुख का क्लेद तथा मल का नाशक, रस में कषाय तथा कुछ मधुर और दस्तावर होता है। जातीकोश (जावित्री), कर्पूर, जायफल, लताकस्तूरी फल, कक्कोलक (क्यूबेब आफिसिनेलिस्) तथा लवङ्ग—ये तिक्त (कडवे), कटु (चरपरे), कफनाशक, पचने में लघु, तृषानाशक, मुख की विलग्नता तथा दुर्गन्ध को नष्ट करनेवाले हैं। इनमें कर्पूर—कडवा, सुगन्धि, शीतल, लघु तथा लेखन होता है तथा तृषा, मुख की खुश्की एवं अरुचि में लाभकारी है। इसी प्रकार लताकस्तूरी—कर्पूर के समान गुणकारी तथा शीतल एवं वस्तिशोधक होती है॥ २०१-२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः।
बैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः ॥ २०५ ॥
कषायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः।
तृष्णाच्छर्द्यनिलघ्नश्च तद्वदामलकस्य च ॥ २०६ ॥
बीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाम्रसम्भवः।
स्वादुपाकोऽग्निबलकृत् स्निग्धः पित्तानिलापहः ॥२०७॥
यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम्।
तस्य तस्यैव वीर्येण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥ २०८ ॥

प्रियालमज्जा (चिरौंजी)—मधुर, वृष्य तथा वातपित्तनाशक होती है। बहेडे फल की मज्जा—मदकारक तथा वातकफनाशक होती है। कोल (बदरी फल) की मज्जा—कषाय, मधुर, पित्तनाशक, तृषाशामक, वमननाशक तथा वातहर होती है। आंवले के फल की मज्जा भी कोलमज्जा के समान गुण वाली होती है। बीजपूर तथा शम्याक (अमलतासफली) की मज्जा तथा कोशाम्र मज्जा—विपाक में मधुर, पाचकाग्नि तथा बलकी वर्द्धक, स्निग्ध एवं पित्त तथा वात की नाशक होती है। जिस जिस फल का जैसा जैसा वीर्य होता है उसी के अनुरूप उसकी मज्जा को भी जानो॥ २०५-२०८॥

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्।
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम्।
ग्राह्युष्णं दीपनं तद्धि कषायकटुतिक्तकम् ॥ २०९ ॥
व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम्।
वर्जनीयं फलं सर्वमपर्याप्तमेव च ॥ २१० ॥

इति फलवर्गः।

बिल्वफल को छोड़ कर अन्य सब फलों में पके हुये फल प्रशस्त गुणयुक्त होते हैं किन्तु बिल्वफल कच्चा ही गुण युक्त होता है। कच्चा बिल्वफल—कब्ज (विबन्ध) करने वाला, उष्ण, दीपन, कषाय, कटु और तिक्त रस युक्त होता है। जो फल रोगयुक्त, कृमिव्याप्त, अधिक पका (सड़ा गला) हुआ, बिना मौसम के लगा हुआ और बिना पका हुआ हो ऐसे सर्व प्रकार के फलों को त्याग देना चाहिये॥ २०९-२१०॥

विमर्शः—वर्जितफलानि—हिमानिलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम्। जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्त्तवम्॥ (वाग्भटः)।

अथ शाकवर्गः।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः। तत्र पुष्पफलालाबुकालिन्दकप्रभृतीनि॥ २११॥

अब इसके अनन्तर विविध प्रकार की शाकों का वर्णन करते हैं। उनमें पुष्पफल (कोहडा), अलाबु (लौकी या तुम्बी), कालिन्दक (तरबूज) प्रभृति का शाक॥ २११॥

पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥ २१२ ॥

उक्त शाक-पित्तनाशक, वातकारक, किञ्चित्कफकारक, मूत्र और मल को पैदा करने वाली तथा रस और विपाक में मधुर होती है॥ २१२॥

पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं मध्यं कफावहम्।
शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥ २१३ ॥
सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्।
दृष्टिशुक्रक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥ २१४ ॥
अलाबुर्भिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला।
तिक्तालाबुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥ २१५ ॥

इनमें कच्चा कूष्माण्ड-पित्तनाशक, मध्य (अधपका) कूष्माण्ड-कफकारक तथा शुक्ल या पका हुआ कूष्माण्ड-पचने में हलका, उष्ण, क्षारयुक्त, अग्निदीपक तथा वस्ति का शोधक (मूत्रल) होता है एवं सर्व दोषों का नाशक, हृदय के लिये हितकारी तथा चित्त के विकार (मानस रोग जैसे उन्माद, अपस्मार, संन्यास, मूर्च्छा) वालों के लिये परम पथ्य है। कालिन्द (तरबूज)—दृष्टि तथा शुक्र का नाशक एवं वात और कफ का जनक है। अलाबु—दस्तावर, रूक्ष, पचने में भारी तथा अधिक शीतल होती है। कडवी तुम्बी—हृदय के लिये अहितकर, वमनकारक तथा वात और पित्त को नष्ट करती है॥ २१३-२१५॥

त्रपुसैर्वारुकर्कारुकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि॥ २१६॥

त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कर्कारुक (ककड़ी भेद), शीर्णवृन्त प्रभृति भी फलशाक हैं॥ २१६॥

स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥ २१७ ॥
बालं सुनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम्।
तत्पाण्डुकफकृज्जीर्णमम्लं वातकफापहम् ॥ २१८ ॥
एर्वारुकं सकर्कारु सम्पक्वं कफवातकृत्।
सक्षारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥ २१९ ॥

सचारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम्।
भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्ठीलनुल्लघु ॥ २२० ॥

ये फलशाक-स्वादु, तिक्त(कड़वे), कफ तथा वात के जनक मूत्र और मलको उत्पन्न या प्रवर्तित करने वाले तथा रक्तपित्त-नाशक होते हैं। इनमें कच्ची नीली ककड़ी-पित्तनाशक होती है तथा ठीक तरह से पकी हुई श्वेत ककडी-कफ करने वाली तथा अधिक पकी हुई (जीर्ण)-खट्टी होती है तथा वात और कफ को नष्ट करती है। पूर्वारुक तथा कर्कारु अधिक पकने पर-कफ और वात को करती हैं तथा क्षारयुक्त, मधुर, रुचिवर्द्धक, अग्निदीपक और अधिक पित्तवर्द्धक नहीं होती हैं। शीर्णवृन्त (ककडी)—क्षारयुक्त, मधुर, कफनाशक, दस्तावर, अग्नि-दीपक, हृद्य एवं अफारा तथा अष्ठीला वृद्धि (Enlargement of Prostate) को नष्ट करती है तथा पचने में लघु होती है॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुरुजम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्तृणसुगन्धककासमर्दककालमालकुठेरकक्षवकखरपुष्पशिग्रुमधुशिग्रुफणिज्झकसर्षपराजिकाकुलाहलावगुत्थगण्डीरतिलपर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनपलाण्डुकलायप्रभृतीनि ॥ २२१ ॥

पिप्पली, मरिच, सोंठ, अदरख, हींग, जीरा, कुस्तुम्बुरु (धनियां), जम्बीरी नीबू, सुमुख (बन तुलसी), सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसी भेद), भूस्तृण (रोहिष), सुगन्धक (गन्धतृण), कसौंदी, कालमाल (काली तुलसी), कुठेरक (तुलसी भेद), क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्प (मरुवक), सहजना, लालसहजना, फणिज्झक (मरुआ), सरसों, राई, कुलाहल, अवगुत्थ (लाल चिरमू), गण्डीर (सूरण), तिलपर्णिका (लाल चन्दन या चोरक), पुनर्नवा, चीता, मूली, लहसुन, प्याज और कलाय (मटर) ये सब शाक बनाने को तथा इनमें बहुत से (धनियां, जीरा, हींग आदि) द्रव्य शाकों के संस्कार (छौंकने) के काम में आते हैं॥

कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च।
कृतान्नेपूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥ २२२ ॥

ये पिप्पल्यादि द्रव्य-रस में कटु, उष्णप्रकृतिक, रुचि-वर्द्धक, वात तथा कफ को नष्ट करने वाले होते हैं तथा इनमें से कई द्रव्यों का कृतान्न अर्थात् शाक या अन्य अन्न के खाद्य पेय पदार्थ बनाने में संस्कार करने के लिये (मसाले के रूप में) प्रयुक्त होते हैं॥ २२२ ॥

तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी २२३
स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च।
कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित् ॥ २२४ ॥
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मरिचं सितम्।
गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः ॥ २२५ ॥
नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु।
वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ॥ २२६ ॥
कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत्।
कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ॥ २२७ ॥
लघूष्णं पाचनं हिङ्गु दीपनं कफवातजित्।
कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलाजीर्णविबन्धनुत् ॥२२८॥
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्द्धनम्।
कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ॥ २२९ ॥
कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका।
भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता ॥ २३० ॥
आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्।
सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशनी।
दोषघ्नी कटुका किञ्चित् तिक्ता स्रोतोविशोधनी॥२३१॥

इनमें गीली पिप्पली-पचने में भारी, रस में मधुर, शीत-वीर्य तथा कफवर्द्धक होती है। सूखी पीपल-कफ और वात को नष्ट करने वाली, वृष्य तथा पित्त की अविरोधिनी होती है। गीली काली मरिच-विपाक में मधुर, गुरु तथा कफ का स्राव कराने वाली होती है। सूखी काली मरिच-कटु, उष्ण, लघु, अवृष्य तथा कफ और वात को नष्ट करती है। श्वेत मरिच (सहजन के बीज)—वीर्य में न तो अधिक उष्ण होती है तथा न शीत एवं अन्य मरिचों की अपेक्षा अधिक गुण-कारी एवं नेत्रों के लिये हितकारी होती है। शुण्ठी-कफ तथा वात को नष्ट करने वाली, विपाक में मधुर, कटु, वृष्य, उष्ण, रुचिकारक, हृद्य, स्निग्ध, लघु तथा पाचकाग्निदीपक होती है। अदरख-कफ और वात का नाशक, स्वर के लिये हितकारी तथा विबन्ध, आफरा और उदरशूल को नष्ट करता है एवं कटु, उष्ण, रोचक, हृद्य तथा वृष्य होता है। हींग-हलकी, उष्ण, पाचन, दीपन, कफ तथा वात का नाशक, कटु, स्निग्ध, दस्तावर तथा तीक्ष्ण होती है एवं शूल, अजीर्ण और विबन्ध को नष्ट करती है। श्वेत तथा काला ये दोनों जीरे-तीक्ष्ण, उष्ण, विपाक में कटु, रुचिजनक, पित्तवर्द्धक, अग्निदीपक, कटु, वात-कफनाशक, और अच्छी गन्ध से युक्त होते हैं। कारवी (सूक्ष्म जीरा) करवी (सूक्ष्म कृष्ण जीरक) तथा उपकुञ्चिका (काली जीरी), या कलौंजी ये तीनों जीरे के समान ही गुण वाले होते है। हरा धनियां-अनेक प्रकार के भक्ष्य-(मोदकादि), व्यञ्जन (शाकादि) और भोज्य (अन्न यवागू, दाल आदि) पदार्थों में अनेक प्रकार से प्रयुक्त करने पर उनमें स्वादुता, सुगन्धिता और हृदयप्रियता उत्पन्न करता है। वह धनिया सूखने पर विपाक में मधुर तथा स्निग्ध, तृषा और दाह को नष्ट करने वाला, दोषनाशक, कटु, कुछ तिक्त (कड़वा) तथा स्रोतसों का शोधक होता है॥

जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः कृमिवातकफापहः॥ २३२ ॥
सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवैशद्यकारकः।
कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः॥ २३३ ॥
पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः।
तद्वत्तु सुमुखो ज्ञेयो विशेषाद् गरनाशनः॥ २३४ ॥
कफघ्ना लघवो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णाः पित्तवर्द्धनाः।
कटुपाकरसाश्चैव सुरसार्जकभूस्तृणाः॥ २३५ ॥

जम्बीरी नीबू—पाचक, तीक्ष्ण तथा कृमि वात और कफका

नाशक, सुगन्धयुक्त, अग्निदीपक, रुचिजनक एवं मुख को साफ करता है। सुरसा (तुलसी)-कफ, वात, विष, श्वास, कास तथा दुर्गन्ध की नाशक, पित्तकारक तथा पार्श्वशूलनाशक होती है। सुमुख भी तुलसी के समान ही है किन्तु विशेषकर गर विष को नष्ट करती है। सुरसा, अर्जक तथा भूस्तृण ये-कफनाशक पचने में हलके, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तवर्द्धक तथा रस और विपाक में कटु होते हैं॥ २३२-२३५॥

मधुरः कफवातघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः।
विशेषतः पित्तहरः सतिक्तः कासमर्दकः॥ २३६॥
कटुः सक्षारमधुरः शिग्रुस्तिक्तोऽथ पिच्छिलः।
मधुशिग्रुः सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुः॥२३७॥
विदाहि वर्द्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेगनाम च॥ २३८॥
चित्रकस्तिलपर्णी च कफशोफहरे लघू।
वर्षाभूः कफवातघ्नी हिता शोफोदरार्शसाम्॥२३९॥

कासमर्द (कसोंदी)-मधुर, कफ-वातनाशक, पाचक, कण्ठशोधक, विशेषकर पित्तहारक तथा कटु रसयुक्त होता है। शोभाञ्जन-कटु, क्षारयुक्त, मधुर, तिक्त और पिच्छिल होता है। लाल सहजन-दुस्तावर, तिक्त, शोफनाशक, अग्निदीपक और कटु होता है। सरसों का शाक, गाण्डीर और वेगनाम ये-विदाहकारक, मल तथा मूत्र के अवरोधक, रूक्ष, तीक्ष्ण उष्ण और त्रिदोषजनक होते हैं। चित्रक तथा तिलपर्णी-कफ और शोफ को नष्ट करती है। पचने में हलकी होती है। पुनर्नवा-कफ और वात को नष्ट करती है तथा शोफ, उदर रोग और अर्श रोग में लाभदायक होती है॥२३६-२३९॥

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका॥ २४०॥
महत्तद् गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत्।
तदेव स्नेहसिद्धं तु पित्तनुत् कफवातजित्॥ २४१॥
त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु।
विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात्॥ २४२॥

मूल कपोतिका (छोटी मूली)-कटु, तिक्त, हृद्य, रुचिकारक, अग्निदीपक, सर्वदोषनाशक, लघु तथा कण्ठ शुद्ध करती है। अग्नि पर नहीं पकाई हुई बड़ी मूली-विष्टम्भकारक, तीक्ष्ण और त्रिदोषजनक होती है। उसी मूली को तैल या घृत द्वारा अग्नि पर पकाने पर पित्त को नष्ट करने वाली तथा कफ और वात को नष्ट करती है। सूखी मूली-त्रिदोषशामक, विषदोषनाशक और लघु होती है। मूली के सिवाय अन्य सब सूखे शाक-विष्टम्भकारक तथा वातजनक होते हैं॥

पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः।
तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ
फलं निहन्यात् कफमारुतौ च॥ २४३॥

शाकों के अथवा मूली के या किसी के भी पुष्प, पत्र और फल ये यथोत्तर एक दूसरे से पचने में भारी होते हैं। उनमें से पुष्प-कफ तथा पित्त का नाश करते हैं और फल-कफ और वात को नष्ट करते हैं॥ २४३॥

विमर्शः-यहां पर पुष्प, पत्र, फल ये प्रकरण वश से मूली के ही ग्रहण करना अधिक प्रशस्त है। राजनिघण्टु में लिखित मूलक-पुष्पादि गुण 'मूलपुष्पं कफपित्तघ्नं तत्फलं कफवातजित्' भी यहां इस श्लोक में मूली के ही पुष्प-पत्रादि के गुणों का सङ्केत करते हैं।

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च
गुरुः सरः स्वादुरसश्च वल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षु-
र्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः॥ २४४॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल-
विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु-
समीरणश्वासकफांश्च हन्ति॥ २४५॥

रसोन (लहसुन)-स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, पिच्छिल, भारी, दुस्तावर, रस में मधुर, बलवर्द्धक, वृष्य होता है तथा मेधा, स्वर, वर्ण तथा नेत्र के लिये हितकारी और टूटी अस्थि का सन्धान करता है तथा हृद्रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, विबन्ध, गुल्म, अरुचि, कास, शोफ, अर्श, कुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमि, वातरोग, श्वास और कफ के रोगों को नष्ट करता है॥ २४४-२४५॥

विमर्शः-पित्तावृत तथा रक्तावृत वात के सिवाय अन्य सब वात रोगों में रसोन(१) उत्तम माना गया है। पित्तरक्तविनिर्मुक्तमस्तावरणावृते। शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं रसोनात् परम्॥ (वाग्भट.)। पाश्चात्य चिकित्सक रसोन को टिंचर या सीरप के रूप में श्वास, कास, यक्ष्मा तथा फुप्फुसविद्रधि आदि फेफड़े के विकारों में प्रयुक्त करते हैं।

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च
तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च।
बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित्
पलाण्डुरग्निं च विवर्द्धयेत्तु॥ २४६॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकर्त्ता
वल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः
स पिच्छिल क्षीरपलाण्डुरुक्तः॥ २४७॥

पलाण्डु (प्याज)-ज्यादा उष्णवीर्य नहीं होता है। वात को नष्ट करता है एवं कटु, तीक्ष्ण, गुरु, अधिक कफ नहीं करने वाला, बलवर्द्धक, कुछ पित्तकारक और अग्नि को बढ़ाता

(१) रसोन=एकरसविरहित पञ्चरसो लशुन इत्यर्थः। तदुक्त भावप्रकाशे-'पञ्चभिश्च रसैर्युक्त रसेनाम्लेन वर्जित। तस्मादसोन इत्युक्तो द्रव्याणा गुणवेदिभिः॥ कटुकश्चापि मूलेषु तिक्त पत्रेषु संस्थित। नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवण स्मृत॥ बीजे तु मधुर प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः।'

है। शीरपला'दु-स्निग्ध, रुचिकारक, रस-रक्तादि धातुओं को दृढ (स्थिर) बनाने वाला, बलवर्द्धक, मेधा, कफ और शरीर-पुष्टि का जनक, मधुर, गुरु, रक्तपित्त में प्रशस्त तथा पिच्छिल होता है ॥ २४६-२४७ ॥

कलायशाकं पित्तघ्नं कफघ्नं वातलं गुरु ।
कषायानुरसं चैव विपाके मधुरं च तत् ॥ २४८ ॥

मटर का शाक—पित्त-कफनाशक, वातकारक, गुरु, अनुरस में कषाय तथा विपाक में मधुर है ॥ २४८ ॥

चुच्चूयूथिकातरुणीजीवन्तीविम्बीतिकानन्दीभल्लातकच्छगलान्त्रीवृत्तादनीफल्गुशालमलीशेलुवनस्पतिप्रसवशाकर्बुदारकोविदारप्रभृतीनि ॥ २४९ ॥

चुच्चू, जूही, तरुणी (सेवती गुलाब), जीवन्ती, कुन्दर, नन्दी, भल्लातक, छगलान्त्री (विधारा), वृत्तादनी (बंदा), फल्गु (भारंगी), सेमल, शेलु (लिसोड़ा), वनस्पतियों के प्रसव अर्थात् कोमल पत्र, अग, कर्बुदार (श्वेत कचनार), कोविदार (रक्तकचनार) प्रभृति होते हैं ॥ २४९ ॥

कषायस्वादुतिक्तानि रक्तपित्तहराणि च ।
कफघ्न्यनिलं कुर्युः सङ्ग्राहीणि लघूनि च ॥ २५० ॥

ये उक्त चुच्चू-यूथिकादि शाक—कषाय, स्वादु और तिक्त होती हैं तथा रक्तपित्त को नष्ट करती हैं एवं कफनाशक हैं। वातवर्द्धक हैं तथा दस्त को बांधने वाली और लघु होती हैं ॥

लघुः पाके च जन्तुघ्नः पिच्छिलो व्रणिनां हितः ।
कषायमधुरो ग्राही चुच्चूस्तेषां त्रिदोषहा ॥ २५१ ॥
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता ।
वृत्तादनी वातहरा फल्गी त्वल्पबला मता ॥ २५२ ॥
क्षीरवृक्षोत्पलादीनां कषायाः पल्लवाः स्मृताः ।
शीताः सङ्ग्राहिणः शस्ता रक्तपित्तातिसारिणाम् ॥२५३॥

इनमें चुच्चूशाक-विपाक में लघु, कृमिनाशक, पिच्छिल, व्रणी पुरुषों के लिये लाभकारी, कषाय, मधुर, दस्त बांधने वाली तथा त्रिदोषनाशक होती है। जीवन्ती शाक-नेत्रों के लिये हितकारी तथा सर्वदोषनाशक है। वृत्तादनी (बांदा)-वातनाशक तथा फल्गी शाक-स्वल्प बलकारक होती है। पीपल, वट आदि दुग्ध वाले वृक्ष तथा कमल आदि के पत्ते-रस में कसैले, शीत, सङ्ग्राही तथा रक्तपित्त और अतिसार के रोगियों के लिये श्रेष्ठ होते हैं ॥ २५१-२५३ ॥

पुनर्नवावरुणार्कोरुबूकवत्सादनीबिल्वशाकप्रभृतीनि ॥

सांठी, वरुण, अरणी, उरुबूक (पुरण्ड), वत्सादनी (गिलोय) तथा बिल्वशाक इत्यादि ॥ २५४ ॥

उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातश्लेष्मशमनानि च ।
तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोफनाशनम् ॥ २५५ ॥

ये शाकें—उष्ण, मधुर, तिक्त (कड़वी) तथा वातनाशक होती हैं। इनमें पुनर्नवा का शाक-विशेषतया शोथनाशन के लिये श्रेष्ठ है ॥ २५५ ॥

विमर्श—पुनर्नवा पर वैज्ञानिक अन्वेषण होकर सिद्ध हुआ कि इसका वृक्क पर प्रभाव होने से मूत्र-प्रवृत्ति अधिक होकर शरीर में सञ्चित विष नष्ट होते हैं। जिससे शोथ भी नष्ट हो जाता है।

तण्डुलीयकोपोदिकाऽश्ववलाचिल्लीपालङ्क्यावास्तूकप्रभृतीनि ॥ २५६ ॥

चौलाई, पोईशाक, अश्ववला (मेथी), चिल्ली (बथुआ भेद), पालक, वास्तूक (बथुआ) प्रभृति शाकें होती हैं ॥ २५६ ॥

सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ।
मन्दवातकफघ्न्यहृद्य रक्तपित्तहराणि च ॥ २५७ ॥

ये शाकें-मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति करने वाली, क्षारयुक्त, मधुर, वात तथा कफ स्वल्प करने वाली तथा रक्तपित्तनाशक होती हैं ॥ २५७ ॥

मधुरो रसपाकाभ्यां रक्तपित्तमदापहः ।
तेषां शीततमो रूक्षस्तण्डुलीयो विषापहः ॥ २५८ ॥
स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा ।
उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरी हिमा ॥२५९॥
कटुर्विपाके कृमिहा मेधाग्निबलवर्द्धनः ।
सक्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तूको रोचनः सरः ॥ २६० ॥
चिल्ली वास्तूकवज्ज्ञेया पालङ्क्या तण्डुलीयवत् ।
वातकृद् वर्द्धविण्मूत्रा रूक्षा पित्तकफे हिता ।
शाकमाश्ववलं रूक्षं वर्द्धविण्मूत्रमारुतम् ॥ २६१ ॥

इनमें तण्डुलीयक (चौलाई) शाक-रस तथा विपाक में मधुर, रक्तपित्त तथा मद का नाशक, रूक्ष एवं विषनाशक होती है। पोई का शाक-विपाक और रस में मधुर, वृष्य, वात, पित्त तथा मद का नाशक, दस्तावर, स्निग्ध, बलवर्द्धक, कफकारक और ठंडी होती है। वास्तूक शाक-विपाक में कटु (चरपरी), कृमिनाशक, मेधा, अग्नि तथा बल को बढ़ाने वाली, क्षारयुक्त, सर्वदोषनाशक, रुचिवर्द्धक और दस्तावर होती है। चिल्ली की शाक भी गुणों में बथुए के समान होती है तथा पालक शाक चौलाई की तरह गुण करती है किन्तु वातजनक, विष्ठा और मूत्र को बांधने वाली, रूक्ष तथा पित्त और कफ के रोगों में हितकारी होती है। आश्ववल (मेथी की) शाक-रूक्ष है तथा मल, मूत्र और वायु का निरोध करती है ॥

मण्डूकपर्णीसप्तलासुनिषण्णकसुवर्चलापिप्पलीगुडूचीगोजिह्वाकाकमाचीप्रपुन्नाडावल्गुजसतीनबृहतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताकुकारवेल्लककटुकिकाकेवुकोरुबूकपर्पटकिरातितिक्तकर्कोटकारिष्टकोशातकीवेत्रकरीराटरूषकार्कपुष्पीप्रभृतीनि ॥ २६२ ॥

मण्डूकपर्णी, सप्तला, सुनिषण्णक (चौपतिया), सुवर्चला (हुलहुल), पीपल, गिलोय, गोजिह्वा (वनगोभी), मकोय, प्रपुन्नाड (चक्रमर्द), अवल्गुज (वाकुची), सतीन (मटरभेद), बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, पटोल, बैंगन, करेला, कुटकी, केवुक, उरुबूक (रक्तैरण्ड), पित्तपापड़ा, चिरायता, ककोड़ा, नीम, तरोई, बेंत की कोंपल, अडूसा, अर्क पुष्पी प्रभृति शाकें हैं ॥ २६२ ॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च ।
कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ॥ २६३ ॥

साधारणतया ये शाकें—रक्तपित्तनाशक, हृद्य तथा लघु होती हैं और कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, श्वास, कास और अरोचक को नष्ट करती हैं ॥ २६३ ॥

कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा।
लघ्वी मण्डूकपर्णी तु तद्वद् गोजिह्विका मता ॥ २६४ ॥
अविदाही त्रिदोषघ्नः सङ्ग्राही सुनिषण्णकः।
अवल्गुजः कटुः पाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥ २६५ ॥
ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम्।
नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम् ॥ २६६ ॥
कण्डुकुष्ठकृमिघ्नानि कफवातहराणि च।
फलानि बृहतीनां तु कटुतिक्तलघूनि च ॥ २६७ ॥
कफपित्तहरं व्रण्यमुष्णं तिक्तमवातलम्।
पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम् ॥ २६८ ॥

मण्डूकपर्णी का शाक-कषाय, पित्तरोग में लाभकर, विपाक और रस में मधुर, शीतल तथा हलकी होती है। गोजिह्वा (गाजुंआ) का शाक भी गुणों में मण्डूकपर्णी के समान होती है। सुनिषण्णकशाक-दाह नहीं करने वाली, त्रिदोषनाशक तथा दस्त बांधती है। वाकुची शाक-विपाक में कटु, रस में तिक्त तथा पित्त और कफ को नष्ट करती है। सतीन (मटर) शाक-कुछ तिक्त, त्रिदोषनाशक तथा कटु होती है तथा न अधिक उष्ण और न अधिक ठंढी एवं कुष्ठनाशक होती है। मकोय का शाक-भी गुणों में इसी के समान है। बडी तथा छोटी कटेरी के फल-कण्डु, कुष्ठ, कृमि, कफ तथा वात को नष्ट करने वाले तथा कटु, तिक्त और लघु होते हैं। पटोल पत्र-कफ और पित्त का नाशक, व्रण के लिये हितकर, उष्ण, तिक्त, वात नहीं करने वाले, विपाक में कटु, वृष्य, रुचिकारक तथा अग्निदीपक होते हैं ॥ २६४-२६८ ॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ॥
वार्ताकं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सक्षारपित्तलम्।
तद्वत् कर्कोटकं विद्यात् कारवेल्लकमेव च ॥ २६९ ॥
आटरूषकवेत्राग्रगुडूचीनिम्बपर्पटाः।
किराततिक्तसहितास्तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥ २७० ॥
कफापहं शाकमुक्तं वरुणग्रपुनाडयोः।
रूक्षं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥ २७१ ॥
दीपनं कालशाकं तु गरदोषहरं कटु।
कौसुम्भं मधुरं रूक्षमुष्णं श्लेष्महरं लघु ॥ २७२ ॥
वातलं नालिकाशाकं पित्तघ्नं मधुरं च तत्।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता।
उष्णा कषायमधुरा चाङ्गेरी चाग्निदीपनी ॥ २७३ ॥

वैंगन—कफ-वातनाशक, तिक्त, रोचक, कटु, लघु और अग्निदीपक होता है। पक्व वैंगन-कुछ क्षारयुक्त तथा पित्तजनक होता है। ककोडे तथा करेले भी वैंगन के समान ही होते हैं। अडूसा, वेंत के अग्रभाग, गिलोय, नीम, पित्तपापडा और चिरायता-ये रस में तिक्त (कड़वे) हैं तथा पित्त और कफ को नष्ट करते हैं। वरुण तथा पुनर्नवा की शाक-कफनाशक, रूक्ष, हलका, शीतल तथा वातपित्त-प्रकोपक होती है। कालशाक-अग्निदीपक, गरदोषनाशक तथा कटु होती है। कुसुम्भशाक-मधुर, रूक्ष, उष्ण, कफनाशक और लघु होती है। नाडीशाक-वातजनक, पित्तनाशक तथा मधुर होती है। चाङ्गेरी शाक-ग्रहणी तथा अर्श की नाशक, अम्ल वात तथा कफ के लिये हितकारी, उष्ण, कषाय, मधुर और अग्निदीपक होती है ॥ २६९-२७३ ॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चलाडुडुरककुतुम्बककुठिञ्जरकुन्तलिकाकुरण्टिकाप्रभृतयः ॥२७४॥

लोणिका, जातुक (श्वेत शालपर्णी), त्रिपर्णिका (बनकापासी या दुधिका), पत्तूर, जीवक, सुवर्चला, डुडुरक, कुतुम्बक, कुठिञ्जर, कुन्तलिका (नील पियावांसा), कुरंटिका (पीला पियावांसा) प्रभृति शाक होती हैं ॥ २७४ ॥

स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः।
लवणानुरसा रूक्षाः सक्षारा वातलाः सराः ॥ २७५ ॥

ये शाक-रस और विपाक में मधुर, शीतल, कफनाशक, अधिक पित्त नहीं बढाने वाली, अनुरस में लवण, रूक्ष, क्षार युक्त, वातकारक तथा दस्तावर होती हैं ॥ २७५ ॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका कषाया सकुरण्टिका।
सङ्ग्राहि शीतलं चापि लघु दोषापहं तथा।
राजक्षवकशाक तु शटीशाक च तद्विधम् ॥ २७६ ॥
स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिमन्थजम्।
भेदनं मधुरं रूक्षं कलायमतिवातलम् ॥ २७७ ॥
स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम्।
शोफघ्नमुष्णवीर्यं च पत्र पूतिकरञ्जजम् ॥ २७८ ॥
ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्ण कटु पित्तप्रकोपणम्।
सुगन्धि विशदं तिक्तं स्वर्यं वातकफापहम् ॥ २७९ ॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम्।
वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविशोधनम् ॥ २८० ॥

इनमें कुन्तलिका-मधुर तथा तिक्त है। कुरण्टिका-कसैली होती है। राजक्षवकशाक-दस्त बांधने वाली, शीतल, लघु तथा त्रिदोषनाशक होती है। शटीशाक-इसी के समान है। हरिमन्थ (चने) की शाक-रस और विपाक में मधुर तथा पचने में कठोर होती है। मटरशाक-दस्तावर, मधुर, रूक्ष तथा वायु को अधिक बढाती है। पूतिकरञ्जपत्रशाक-दस्तावर, विपाक में कटु, लघु, वातकफनाशक, शोथहर तथा वीर्य में उष्ण होती है। पान-तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, पित्तप्रकोपक, विशद, तिक्त, स्वरहितकारी, वातकफनाशक, दस्तावर, विपाक में कटु, कषाय एवं पाचकाग्निदीपक होता है तथा मुख की खुजली मल, क्लेद और दौर्गन्ध्य को नष्ट करता है ॥ २७६-२८० ॥

अथ पुष्पवर्गः—

कोविदारशणशाल्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च। वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि २८१

कचनार, शण और सेमल के पुष्प-स्वाद में मधुर तथा विपाक में भी मधुर और रक्तपित्तनाशक होते हैं। अडूसा और

अगस्त्य के पुष्प-तिक्त, विपाक में कटु तथा क्षय और कास नाशक होते हैं ॥ २८१ ॥

आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते ॥

अगस्त्य के पुष्प-न अधिक उष्ण तथा न अधिक ठण्ढे होते हैं तथा नक्तान्ध्य (रतौंधी Night blindness) वाले के लिये प्रशस्त होते हैं ॥ २८२ ॥

करीरमधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि वातहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥ २८३ ॥

करीलतथा लाल सहजने के पुष्प-विपाकमें कटु, वातहारक तथा मलमूत्र के प्रवर्तक होते हैं ॥ २८३ ॥

रक्तवृक्षस्य निम्बस्य मुष्ककार्कासनस्य च ।
कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठघ्नं कुटजस्य च ॥ २८४ ॥
सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम् ।
मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ह्लादि शीतलम् ।
तस्मादल्पान्तरगुणे विद्यात् कुवलयोत्पले ॥ २८५ ॥

रक्तवृक्ष (वन्धूक), नीम, मुष्कक (मोखा), आक, असन तथा कुटज के पुष्प-कफपित्तनाशक और कुष्ठघ्न होते हैं। कमल-तिक्त, मधुर, शीतल तथा कफ और पित्त को नष्ट करने वाला है। कुमुद-मधुर, पिच्छिल, स्निग्ध, आह्लादजनक तथा ठंडा होता है। कुवलय तथा उत्पल कुमुद से गुणों में कुछ अल्प होते हैं ॥ २८४-२८५ ॥

सिन्धुवारं विजानीयाद्धितं पित्तविनाशनम् ।
मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने ॥२८६॥
सुगन्धि विशदं हृद्यं वाकुलं पाटलानि च ।
श्लेष्मपित्तविषघ्नं तु नागं तद्वच्च कुङ्कुमम् ॥ २८७ ॥
चम्पकं रक्तपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम् ।
किंशुकं कफपित्तघ्नं तद्वदेव कुरण्टकम् ॥ २८८ ॥
मधुशिग्रुकरीराणि कटुश्लेष्महराणि च ।
यथावृक्षं विजानीयात् पुष्पं वृक्षोचितं तथा ॥ २८९ ॥

सिन्धुवार (निर्गुण्डी) के पुष्प-ठण्ढे तथा पित्तविनाशक होते हैं। मालती (चमेली) और मल्लिका के पुष्प-तिक्त होते हैं एवं सुगन्धियुक्त होने से पित्त नष्ट करते हैं। वकुल (मौलसिरी) और पाटला के पुष्प-सुगन्धयुक्त, विशद और हृद्य होते हैं। नाग (चम्पे के पुष्प अथवा नागकेशर)-कफ-पित्त-नाशक तथा विषनाशक होते हैं। नाग के अनुसार ही केशर के गुण होते हैं। चम्पे के पुष्प-रक्तपित्तनाशक, समशीतोष्ण और कफनाशक होते हैं। पलासपुष्प-कफ और पित्त को नष्ट करते हैं। कुरण्टक के फूल भी इन्हीं के समान गुणकारी होते हैं। लाल सहजन की कोंपलें-कटु होती हैं तथा कफ को नष्ट करती हैं। अब जिन वृक्षों के पुष्पों के गुणधर्म का यहां उल्लेख नहीं किया गया है उन्हें उनके वृक्षों के गुणों के अनुसार समझना चाहिये तथा अन्य जो कांटे, पत्र, अवरोह आदि होते हैं उनके गुण भी उनके वृक्षों के समान जाने ॥ २८६-२८९ ॥

क्षवककुलेव(च)रवंशकरीरप्रभृतीनि कफहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥ २९० ॥

क्षवक (छत्रक), कुलेवर तथा वंश-करीर प्रभृति-कफनाशक एवं मल और मूत्र के प्रवर्तक हैं ॥ २९० ॥

विष्यन्दि वातलं नातिपित्तश्लेष्मकरं च तत् ॥२९१॥
वेणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः ।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः ॥ २९२ ॥

इनमें से क्षवक-कृमिजनक, विपाक में मधुर, पिच्छिल, कफादि का स्राव करने वाला, वातजनक तथा अधिक पित्त और कफ को नहीं करने वाला है। बांस के अङ्कुर-कफवर्द्धक, रस और विपाक में मधुर, विदाहजनक, वातकारक, कषाय तथा रूक्ष होते हैं ॥ २९१-२९२ ॥

उद्भिदानि पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजानि । तत्र पलालजातं मधुरं मधुरविपाकं रूक्षं दोषप्रशमनं च । इक्षुजं मधुरं कषायानुरसं कटुकं शीतलं च । तद्वदेवोष्णं कारीषं कषायं वातकोपनं च । वेणुजातं कषायं वातकोपनं च । भूमिजं गुरु नातिवातलं भूमितश्चास्यानुरसः ॥ २९३ ॥

भूमि या अन्य वस्तु को फोड़ कर पैदा होने वाले (उद्भिद) निम्न हैं। जैसे पलाल (पुआल), इक्षु के छोंतरे (रस निकालने पर शेष छिलके), करीष (सूखा गोबर), बांस और पृथिवी इन्हें फोड़कर या इनके ढेर में पैदा होने वाले छत्रकादि का ग्रहण होता है। पलाल में उत्पन्न क्षुप-रस और विपाक में मधुर, रूक्ष तथा दोषशामक होते हैं। इक्षु के कचरे में उत्पन्न छत्रकादि क्षुप-मधुर, अनुरस में कषाय, कटु और शीतल होते हैं। करीष (गोबर) में उत्पन्न होने वाले क्षुप (छत्रक)-इक्षुजन्य छत्रक के तुल्य गुणों में होता है किन्तु उष्ण, कषाय और वातल होता है। बांस की लकडी में उत्पन्न छत्रक-कषाय तथा वातकोपक होता है। पृथ्वी फोड कर उत्पन्न हुआ छत्रक-पचने में भारी, अधिक वायु नहीं करने वाला तथा भूमि के अनुसार इसके अनुरस एवं गुण होते हैं ॥

पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि ॥ २९४ ॥

पिण्याक (सरसों-अलसी आदि की खल), तिलकल्क या तिलों की खल, स्थूणिका (तिलकल्क से बने बड़े) तथा सूखी शाकें सर्व दोषों को प्रकुपित करते हैं ॥ २९४ ॥

विष्टम्भिनः स्मृता सर्वे वटका वातकोपनाः ।
सिण्डाकी वातला सार्द्रा रुचिष्याऽनलदीपनी ॥२९५॥

सर्व प्रकार के वटक (बडे)-विष्टम्भजनक तथा वायु को कुपित करते हैं और मूली, आलू आदि से बनी पकोड़ी (सिण्डाकी)-वातजनक होती है तथा आर्द्र अर्थात् ताजी पकोडी-रुचिकारक और अग्नि को दीप्त करती है ॥ २९५ ॥

विड्भेदि गुरु रूक्षञ्च प्रायो विष्टम्भि दुर्जरम् ।
सकषायं च सर्वं हि स्वादु शाकमुदाहृतम् ॥ २९६ ॥

सर्व प्रकार के शाक-दस्तावर, पचने में भारी, रूक्ष, प्रायः विष्टम्भकारक, दुर्जर तथा कुछ कषाय रसयुक्त होते हैं ॥२९६॥

पुष्पं पत्रं फलं नालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ॥ २९७ ॥

पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द ये शाक उत्तरोत्तर एक दूसरे से गुरु होते हैं ॥ २९७ ॥

कर्कशं परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेशजम्।
वर्जयेत् पत्रशाकं तद् यदकालविरोहि च ॥ २९८ ॥

जो शाक कर्कश, जीर्ण (पुराना), कीडों से खाया हुआ, अपवित्र भूमि में उत्पन्न तथा वे मौसम में पैदा हुआ हो उसे वर्जित कर देना चाहिये ॥ २९८ ॥

विमर्शः—यद्यपि कुछ प्राचीन ग्रन्थों में शाकों की निन्दा की है 'शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगा' तथापि शाक निम्न गुणयुक्त होती हैं। प्रायः शाकों में प्रोटीन तथा मेद-अत्यल्प होते हैं। इनमें खनिज क्षार होते हैं जो कि शरीर में उत्पन्न अम्लों को निर्वीर्य कर रक्त की क्षारीयता बनाये रखते हैं। रक्तक्षारीयता के अल्प होने से अम्लरक्तता (Acidosis) रोग हो जाता है। शाकों का (Cellulose) आन्त्रगति को बढ़ा कर मल प्रवृत्ति करता है अतः शाक विबन्धनाशक होती हैं। पोटेशियम के लवण शाकों में होने से मूत्रल होते है अतः शाक अश्मरी में हितकर हैं। शाकों में विटामीन सी० अधिक होता है। इनमें कार्बोहैड्रेट कम होने से मधुमेही को दे सकते हैं। शाकों से अन्न की रुचि बढ़ती है।

अथ कन्दवर्गः।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरी बिसमृणालशृङ्गाटककशेरुकपिण्डालुकमध्वालुकहस्त्यालुककाष्ठालुकरक्तालुकेन्दीवरोत्पलकन्दप्रभृतीनि ॥२९९॥

अब इसके अनन्तर कन्दों का वर्णन करते हैं। विदारीकन्द, शतावर, बिस (पद्मजड), मृणाल (कमलनाल), सिंघाडा, कशेरु, पिण्डालु, मध्वालु, हस्त्यालु, काष्ठालुक, शृङ्गालुक, रक्तालुक, इन्दीवर (नील कमल), उत्पल (श्वेत या लाल कमल) प्रभृति के कन्द होते हैं ॥ २९९ ॥

रक्तपित्तहराण्याहुः शीतानि मधुराणि च।
गुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च ॥ ३०० ॥

ये कन्द-रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, पचने में भारी, वीर्य को अधिक बढ़ाने वाले तथा दुग्धवृद्धिकारक होते हैं ॥

मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः।
विदारीकन्दो बल्यस्तु पित्तवातहरश्च सः ॥ ३०१ ॥
वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी।
महती चैव हृद्या च मेधाग्निबलवर्द्धिनी ॥ ३०२ ॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी।
कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवाङ्कुराः स्मृताः ॥ ३०३ ॥

इनमें विदारीकन्द-मधुर, बृंहण, वृष्य, शीत, स्वरहितकारी, अतिमूत्रजनक, बलवर्द्धक तथा पित्त और वात का नाशक होता है। शतावर-वात और पित्त की नाशक, वृष्य, मधुर और तिक्त होती है। बड़ी शतावर-हृदय के लिये हितकर, मेधा, पाचकाग्नि तथा बल को बढ़ानेवाली, संग्रहणी तथा अर्श की नाशक, वृष्य, शीतल तथा रसायन होती है। शतावर के अङ्कुर-कफ और पित्त के नाशक तथा तिक्त होते हैं ॥

अविदाहि बिसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥ ३०४ ॥
गुरू विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ।
पिण्डालुकं कफकरं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ ३०५ ॥
सुरेन्द्रकन्दः श्लेष्मघ्नो विपाके कटु पित्तकृत्।
वेणोः करीरा गुरवः कफमारुतकोपनाः ॥ ३०६ ॥

बिस-विदाह नहीं करने वाला, रक्तपित्त का प्रसादक, विष्टम्भकारक, पचने में कठिन, रूक्ष, स्वादरहित तथा वातजनक होता है। सिंघाड़े तथा कशेरु-पचने में भारी, विष्टम्भकारक और ठण्डे होते हैं। पिण्डालुक-कफजनक, भारी तथा वातपित्त का प्रकोपक होता है। सुरेन्द्रकन्द (जङ्गली सूरण)-कफनाशक, विपाक में कटु तथा पित्तकारक होता है। बांस के करीर-भारी तथा कफ और वायु के प्रकोपक होते हैं ॥

स्थूलसूरणमाणकप्रभृतयः कन्दा ईषत्कषायाः कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च ३०७

स्थूलकन्द, सूरणकन्द, माणकन्द, प्रभृति कन्द-कुछ कषाय, कटु, रूक्ष, विष्टम्भकारक, पचने में भारी, कफ और वायु को बढ़ाने वाले तथा पित्तनाशक होते हैं ॥ ३०७ ॥

माणकं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्त्तितम्।
स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः सूरणो गुदकीलहा ॥ ३०८ ॥

माणकन्द-मधुर, शीतल और गुरु होता है तथा स्थूलकन्द-ज्यादा उष्ण नहीं होता है तथा सूरणकन्द अर्श को नष्ट करता है ॥ ३०८ ॥

कुमुदोत्पलपद्मानां कन्दा मारुतकोपनाः।
कषायाः पित्तशमना विपाके मधुरा हिमाः ॥ ३०९ ॥
वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः।
मेहकुष्ठक्रिमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः ॥ ३१० ॥

कुमुद, उत्पल और पद्म इनके कन्द-वात को प्रकुपित करने वाले, रस में कषाय, पित्त के शामक, विपाक में मधुर और शीतल होते हैं। वाराहकन्द-कफ का नाशक, रस तथा विपाक में कटु होता है एवं प्रमेह, कुष्ठ और कृमियों का नाशक, बलवर्द्धक, वृष्य तथा रसायन होता है ॥ ३०९-३१० ॥

तालनारिकेलखर्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्जानः ॥३११॥
स्वादुपाकरसानाहू रक्तपित्तहरांस्तथा।
शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥ ३१२ ॥

ताड़, नारियल तथा खजूर प्रभृति वृक्षों के सिर की मज्जा (गिरी)-रस और विपाक में मधुर, रक्तपित्तनाशक, वीर्य को बढ़ाने वाली, वातनाशक तथा कफवृद्धिकारक होती है ॥

बालं ह्यनार्त्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम्।
कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ् न रोहति ॥३१३॥

जो कन्द कच्चा (बाल) हो, बेमोसम का हो, अधिक पुराना हो गया हो, किसी रोग से युक्त एवं कीड़ों से खाया हुआ हो तथा जिसे बोने पर ठीक न उग सकता हो, उसे वर्जित कर देना चाहिये ॥ ३१३ ॥

विमर्शः—प्रायः वनस्पतियां इन कन्दों तथा मूलों में अपने

पोषणार्थ पोषण पदार्थों को जमा करती हैं जिससे ये कन्द बड़े तथा मनुष्यों के पोषण के लिये भी उपयोगी होते हैं। इनमें स्टार्च अधिक, खनिज अल्प तथा प्रोटीन और फैट अत्यल्प होते हैं। इनमें सेल्यूलोज होने से दस्त साफ लाने का गुण होता है।

अथ लवणानि—

सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकौद्भिदप्रभृतीनि लवणानि यथोत्तरमुष्णानि वातहराणि कफपित्तकराणि यथापूर्वं स्निग्धानि स्वादूनि सृष्टमूत्रपुरीषाणि चेति ॥

लवणों में सेन्धा, समुद्री, विड, सौंचर, रोमक, औद्भिद प्रभृति होते हैं। ये यथोत्तर उष्ण, वातनाशक, कफपित्तकारक होते हैं तथा यथापूर्व स्निग्ध, स्वादु और मल तथा मूत्र के उत्पादक व प्रवर्तक होते हैं ॥ ३१४ ॥

विमर्शः—सिन्धु देश की खानों से सैन्धव निकलता है। इसे (Rock salt) कहते हैं। समुद्र के पानी को सूर्य किरणों से सुखा कर बनाया सामुद्र, विड या काला नमक कहते हैं। इसे कृत्रिम तौर से बनाते हैं। खाने का नमक ८२ भाग, आंवला १ भाग, बहेड़ा १ भाग, सज्जीखार १ भाग ले के सबको एकत्र जला के बनाते हैं। सौवर्चल या कालालोन। रोमक—यह राजस्थान की सांभर झील के पानी से बनाया जाता है। औद्भिद को सज्जीमिट्टी या रेहानमक भी कहते हैं। नमक को रासायनिक भाषा में सोडियम क्लोराइड तथा इसका सूत्र (Na cl) अंग्रेजी में कामन साल्ट भी कहते हैं।

चक्षुष्यं सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धं समधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम् ॥ ३१५ ॥
सामुद्रं मधुरं पाके नात्युष्णमविदाहि च।
भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलघ्नं नातिपित्तलम् ॥३१६॥
सक्षारं दीपनं सूक्ष्मं शूलहृद्रोगनाशनम्।
रोचनं तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम् ॥ ३१७ ॥
लघु सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु।
गुल्मशूलविबन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम् ॥ ३१८ ॥
रौमकं तीक्ष्णमत्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च।
वातघ्नं लघु विष्यन्दि सूक्ष्मं विड्भेदि मूत्रलम् ॥३१९॥
लघु तीक्ष्णोष्णमुत्क्लेदि सूक्ष्मं वातानुलोमनम्।
सतिक्तं कटु सक्षारं विद्यात्लवणमौद्भिदम् ॥ ३२० ॥
कफवातक्रिमिहरं लेखनं पित्तकोपनम्।
दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकाह्वयम् ॥ ३२१ ॥
ऊषसूतं बालुकैलं शैलमूलाकरोद्भवम्।
लवणं कटुकं छेदि विहितं कटु चोच्यते ॥ ३२२ ॥

सैन्धव लवण नेत्रों के लिये हितकारी, हृद्य, रुचिवर्द्धक, पचने में लघु, पाचकाग्नि का दीपक, स्निग्ध, मधुर, वृष्य, शीत और दोषनाशक तथा सर्व लवणों में उत्तम (सैन्धव लवणानाम्) माना गया है। समुद्री लवण—विपाक में मधुर, अधिक उष्ण नहीं, दाह नहीं करने वाला, दस्तावर, कुछ स्निग्ध, शूलनाशक तथा विशेष पित्तवर्द्धक नहीं होता है। विडलवण—क्षारयुक्त, अग्निदीपक, रुच, शूल तथा हृदय-रोग का नाशक, रुचिजनक, तीक्ष्ण, उष्ण तथा वात का अनुलोमन करता है। सौवर्चल लवण—विपाक में लघु, उष्णवीर्य, विशद, कटु, गुल्म, शूल और विबन्ध का नाशक, हृद्य, सुगन्धयुक्त तथा रुचिवर्द्धक होता है। रोमक लवण—तीक्ष्ण; अधिक गरम, प्रथम शरीर में फैल कर पश्चात् पाक में परिणत होने वाला, विपाक में कटु, वातनाशक, लघु, विष्यन्दनशील, सूक्ष्म, दस्त लाने वाला तथा मूत्रजनक होता है। औद्भिदलवण—लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, क्लेदकारक, सूक्ष्म, वानुलोमक, तिक्त, कटु और क्षारयुक्त होता है। गुटिकालवण—कफवातनाशक, कृमिहर, लेखक, पित्तजनक, अग्निदीपक, पाचक और दस्तावर होता है। ऊषसूत (खारी मिट्टी से बनाया हुआ लवण), बालुकैल (रेगिस्तान के बालुकाप्रदेश से बनाया लवण), शैलमूलाकरोद्भव (पर्वतों की जड़ की आकर (खानों) से बनाया हुआ लवण) ये सब लवण—कटु, छेदक तथा विपाक में भी कटु होते हैं ॥ ३१५-३२२ ॥

यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोपक्षारपाकिमटङ्कणक्षारप्रभृतयः ॥

यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, ऊषक्षार, पाकिमक्षार; टंकण क्षार प्रभृति क्षार हैं ॥ ३२३ ॥

गुल्मार्शोग्रहणीदोषप्रतिश्यायविनाशनाः।
क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥ ३२४ ॥

उक्त क्षार—गुल्म, अर्श, संग्रहणी तथा प्रतिश्याय को नष्ट करते हैं एवं सर्व क्षार—पाचक, रक्तपित्तकारक तथा दस्तावर होते हैं ॥ ३२४ ॥

विमर्शः—यवक्षार को भाण्डक्षार तथा दारु लवण भी कहते हैं। पाकिमक्षार को शुद्ध शोरा या कलमी शोरा कहते हैं। टंकण को सुहागा तथा अंग्रेजी में Borax कहते हैं।

ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शोगुल्मप्लीहविनाशनौ ॥ ३२५ ॥
उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी चोषक्षारो बलापहः।
मेदोघ्नः पाकिमः क्षारस्तेषां वस्तिविशोधनः ॥३२६॥
विरूक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मघ्नः पित्तदूषणः।
अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णष्टङ्कणः क्षार उच्यते ॥ ३२७ ॥

सज्जी खार तथा यवक्षार—अग्नि के समान तीक्ष्ण होते हैं तथा शुक्र, कफ, विबन्ध, अर्श, गुल्म और प्लीहा वृद्धि को नष्ट करते हैं। ऊषक्षार—गरम, वातनाशक, क्लेदकारक तथा बलनाशक होता है। पाकिमक्षार—मेदोनाशक तथा मूत्रल होता है। टंकण क्षार—रूक्ष, वातकारक, कफनाशक, पित्तदूषक, पाचकाग्नि को तेज करने वाला तथा तीक्ष्ण होता है ॥

सुवर्णं स्वादु हृद्यञ्च बृंहणीयं रसायनम्।
दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनम् ॥ ३२८ ॥
रूप्यमम्लं सरं शीतं सस्नेहं पित्तवातनुत्।
ताम्रं कषायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम् ॥ ३२९ ॥
सतिक्तं लेखनं कांस्यं चक्षुष्यं कफवातजित्।
वातकृच्छीतलं लोहं तृष्णापित्तकफापहम् ॥ ३३० ॥

कटु क्रिमिघ्नं लवणं त्रपुसीसं विलेखनम्।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादयः ॥ ३३१ ॥
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः ॥ ३३२ ॥

सुवर्ण—मधुर, हृद्य, बृंहण, रसायन, त्रिदोषनाशक, शीत, नेत्रहितकारी तथा विषनाशक होता है। चांदी—अम्ल, सारक, शीत, स्निग्ध, पित्त तथा वात की नाशक होती है। ताम्र—कषाय, मधुर, लेखन, शीतल और दस्तावर होता है। कांसा—तिक्त, लेखन, नेत्रों के लिये हितकारी तथा कफ-वातनाशक होता है। लौह—वातकारक, शीतल, तृषाहर और पित्त तथा कफ का नाशक होता है। रांगा और सीसा—कटु, कृमिनाशक, लवण और लेखक होते हैं। मोती, प्रवाल, हीरा, वैदूर्य, स्फटिक प्रभृति मणियां—नेत्रों के लिये हितकारी, शीतल, लेखन, विषनाशक, पवित्र धारण करने लायक होती हैं तथा पाप, अलक्ष्मी और दोषों को नष्ट करती हैं ॥३२८-३३२॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव शाकेषु चानुक्तमिहाप्रमेयात्।
आस्वादतो भूतगुणैश्च मत्वा तदादिशेद् द्रव्यमनल्पबुद्धिः॥

संसार के अन्दर पदार्थ अप्रमेय (असंख्य, गिनने अयोग्य) होते हैं इस लिये धान्य, मांस, फल और शाकों की दृष्टि से जो यहां वर्णित नहीं किये गये हैं उन्हें चख कर रसानुसार तथा द्रव्य को आरम्भ करने वाले पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के गुणानुसार अनल्प (बहु) बुद्धि वैद्य उन द्रव्यों के गुणों को जान लेवे ॥ ३३३ ॥

षष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः।
मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः॥ ३३४ ॥
लावतित्तिरिसारङ्गकुरङ्गैणकपिञ्जलाः।
मयूरवर्मिकूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह ॥ ३३५ ॥
दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूषकम्।
राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते ॥ ३३६ ॥
सतीनो वास्तुकश्चुक्रचूचिल्लीमूलकपोतिकाः।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते ॥ ३३७ ॥
गव्य क्षीरं घृतं श्रेष्ठं, सैन्धवं लवणेषु च।
धात्री दाडिममम्लेषु पिप्पली नागर कटौ ॥ ३३८ ॥
तिक्ते पटोलवार्त्ताके मधुरे घृतमुच्यते।
क्षौद्रं, पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम् ॥ ३३९ ॥
शर्करेक्षुविकारेषु पाने मध्वासवौ तथा।
परिसंवत्सरं धान्यं, मांसं वयसि मध्यमे ॥ ३४० ॥
अपर्युषितमन्नं तु संस्कृतं मात्रया शुभम्।
फलं पर्याप्तं, शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ॥ ३४१ ॥

धान्यों में-सांठी चावल, जौ, गेहूं, रक्तशालि, मूंग, अरहर, और मसूर श्रेष्ठ होते हैं। मांस वर्ग में-लाव, तीतर, सारङ्ग पक्षी, कुरङ्ग (श्वेत हरिण), एण (कृष्ण हरिण), कपिञ्जल, मोर, वर्मि (मछली) और कच्छप श्रेष्ठ होते हैं। फल वर्ग में-अनार, आंवला, दाख, खजूर, फालसा, खिरणी और बिजोरा नीबू श्रेष्ठ होते हैं। शाक वर्ग में-सतीन (मटर), बथुआ, चुच्चू, चिल्ली, कोमल मूली, मण्डूकपर्णी और जीवन्ती श्रेष्ठ होती है। दुग्धों तथा घृतों में-गौ का दुग्ध तथा घृत श्रेष्ठ होता है। लवणों में-सेन्धा नमक श्रेष्ठ होता है। अम्ल (खट्टे) पदार्थों में-आंवला और अनार श्रेष्ठ होते हैं। कटु (चरपरे) पदार्थों में-पीपल और सोंठ श्रेष्ठ होती है। तिक्त पदार्थों में परवल और बैंगन श्रेष्ठ हैं। मधुर पदार्थों में-घृत और शहद श्रेष्ठ होता है। कषाय द्रव्यों में-सुपारी तथा फालसे श्रेष्ठ हैं। ऊख (गन्ने) के बने पदार्थों में शर्करा श्रेष्ठ होती है। पीने के द्रव्यों में मधु (शहद) तथा द्राक्षासव श्रेष्ठ होते हैं। एक साल का पुराना धान्य (चावल) तथा मध्यम (युवा, प्रौढ) आयु के पशु-पक्षी का मांस श्रेष्ठ होता है। अपर्युषित (ताजा) तथा मसाले डाल कर संस्कृत किया हुआ एवं उचित मात्रा में सेवित एवं पथ्यकर अन्न श्रेष्ठ होता है। फलों में पके हुये फल तथा शाकों में अशुष्क (हरी) तरुण और ताजी शाकें श्रेष्ठ होती हैं ॥ ३३४-३४१ ॥

अथ कृतान्नवर्गः।

अतः परं प्रवक्ष्यामि कृतान्नगुणविस्तरम्।
लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः ॥ ३४२ ॥
वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः।
स्वेदाग्निजननी लघ्वी दीपनी बस्तिशोधनी ॥३४३॥
क्षुत्तृट्श्रमग्लानिहरी पेया वातानुलोमनी।
विलेपी तर्पणी हृद्या ग्राहिणी बलवर्द्धनी ॥ ३४४ ॥
पथ्या स्वादुरसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तृषापहा।
बस्तिसंशोधनी वृष्या ज्वरातीसारयोर्हिता ॥ ३४५ ॥
हृद्या सन्तर्पणी वृष्या बृंहणी बलवर्द्धनी।
शाकमांसफलैर्युक्ता विलेप्यम्ला च दुर्जरा ॥ ३४६ ॥

अब इसके अनन्तर कृतान्न (सिद्ध किये हुये) वर्ग के गुणों का विस्तृत वर्णन करते हैं। विरेचन-वमनादि से शुद्ध हुये मनुष्यों के लिये पिप्पली तथा शुण्ठी के चूर्ण के प्रक्षेप से युक्त लाजमण्ड-पथ्य, पाचक, दीपक, वातानुलोमक तथा हृद्य होता है। पेया—स्वेद तथा पाचकाग्नि की जनक, लघु, दीपक तथा मूत्रविशोधक होती है एवं भूख, प्यास, थकावट और मन की ग्लानि की नाशक तथा वातानुलोमक होती है। विलेपी-तृप्तिजनक, हृद्य, दस्त को बांधने वाली, बलवर्द्धक, पथ्य, मधुर रसयुक्त, हलकी, अग्निदीपक तथा क्षुधा और प्यास की नाशक, बस्ति की शोधक, वृष्य तथा ज्वर और अतिसार में हितकर है। शाक, मांस तथा फलों से युक्त उक्त मण्डादि यवागू पचने में कठिन होती है ॥ ३४२-३४६ ॥

विमर्शः—पिप्पलीनागरायुतः—षडङ्ग परिभाषा से या कल्क-विधि से मिलित १ कर्ष पीपल और सोंठ लेकर १ प्रस्थ जल में पकावें। अर्द्धशृत होने पर छानकर उसी द्रव से पेयादि बनावें। यथा—यदप्यु शृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्र ततो द्रव्य साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्य-पाने पेयादिसंविधौ। अन्यत्र—कर्षार्द्धं वा कणाशुण्ठयो कल्कद्रव्यस्य वा पलम्। विनीय पाचयेद्युक्तया वारिप्रस्थेन चापराम् ॥

सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
विलेपी बहुसिक्था स्याद् यवागूर्विरलद्रवा ॥ ३४७ ॥

चावलों के सिक्थ (कणों) से रहित मण्ड होता है। पेया सिक्थ (तण्डुल कण) युक्त होती है तथा विलेपी-यवागू अधिक सिक्थ से युक्त एवं अल्प द्रव (गाढी) होती है ॥ ३४७ ॥

विमर्शः—चावलों से प्रायः मण्ड, पेया, विलेपी और यवागू, ऐसे चार पदार्थ तैयार होते हैं। ऐसी विचार धारा सी पड गई, जिससे यवागू मण्डादि से भिन्न होती है ऐसी प्रथा पड़ी हुई है। अन्नं पञ्चगुणे साध्य विलेपी तु चतुर्गुणे। मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥ किन्तु चरक तथा वाग्भट ने यवागू को मण्डादि से पृथक् न मान कर मण्ड, पेया और विलेपी को यवागू के ही तीन भेद माने हैं। वाग्भट ने कृतान्न या ओदन के मण्ड, पेया और विलेपी ये ही तीन भेद लिखे हैं। यवागू का नाम भी नहीं है। 'मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम् ॥ मण्डादिपरिभाषा—जले चतुर्दशपले तण्डुलानां चतुःपलम्। विपचेत् स्रावयेन्मण्डं स भक्तो मधुरो लघुः ॥ नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः। लाजैर्वा तण्डुलैर्धृष्टैर्लाजमण्डः प्रकीर्तितः ॥ (शार्ङ्ग)। मण्डभेदाः—मण्डस्तु त्रिविधो ज्ञेय एकद्वित्रिपरिस्रुतः। लाजैर्भृष्टैरभृष्टैश्च तण्डुलैः परिसंस्कृतः ॥ पेया—चतुर्दशगुणे नीरे रक्तशाल्यादिभिः कृता। द्रवाधिका स्वल्पसिक्था पेया प्रोक्ता भिषग्वरैः ॥ (भावप्र०)। विलेपी—चतुर्गुणाम्बुसंसिद्धा विलेपी घनसिक्थका। पृथग्द्रवेण रहिता ख्याता शिथिलभक्तिका ॥

विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः।
कफपित्तकरी बल्या कृशराऽनिलनाशनी ॥ ३४८ ॥

दुग्ध में पकाया हुआ ओदन (खीर)-विष्टम्भकारक, बलवर्द्धक, मेदा तथा कफ को बढाने वाला तथा गुरु होता है। तिल, चावल, उड़द और मूंग की बनी खिचड़ी (कृशरा)-कफ और पित्त को करने वाली, बलवर्द्धक तथा वातनाशक होती है ॥ ३४८ ॥

धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोज्ञः सुरभिः समः।
स्विन्नः सुप्रस्रुतस्तूष्णो विशदस्त्वोदनो लघुः ॥ ३४९ ॥
अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः।
लघुः सुगन्धिः कफहा विज्ञेयो भृष्टतण्डुलः ॥ ३५० ॥
स्नेहैर्मांसैः फलैः कन्दैर्वैदलाम्लैश्च संयुताः।
गुरवो बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः ॥ ३५१ ॥

प्रथम धोकर विमल और शुद्ध करके सुगन्धित चावलों का ठीक पका हुआ तथा मांड निकाला हुआ एवं गरम तथा विशद (चिकनाई रहित) ओदन (भात) लघु होता है किन्तु बिना धोये हुये चावलों का भात जिसमें से मांड न निकाला हो तथा जिसे अच्छा स्विन्न न किया (उबाला) हो एवं जो ठंडा हो गया हो ऐसा ओदन (भात) पचने में भारी होता है। भाड़ में भूने हुये अथवा तुषसहित पका के कूट कर निकाले हुये (भुजिया) चावलों का भात पचने में हलका, सुगन्धयुक्त तथा कफहर होता है। घृतादि स्नेह, मांसरस, फल, कन्द, मूंग आदि की दाल, अम्ल पदार्थ तथा दुग्ध इनके साथ पकाये हुए चावल पचने में भारी, बृंहण तथा बलकर होते हैं ॥ ३४९-३५१ ॥

सुस्विन्नो निस्तुषो भृष्ट ईषत्सूपो लघुर्हितः ॥ ३५२ ॥
स्विन्नं निष्पीडितं शाकं हितं स्यात् स्नेहसंस्कृतम्।
अस्विन्नं स्नेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ॥ ३५३ ॥

तुषों से रहित तथा कुछ भून कर पश्चात् स्विन्न (उबाल) कर बनाई हुई दाल पचने में हलकी तथा हितकर होती है। प्रथम स्विन्न कर पश्चात् निचोड़ के घृतादि स्नेह तथा मसालों से संस्कृत (छौंक) कर बनाई हुई शाक हितकारी होती है किन्तु बिना उबाली, बिना निचोडी और घृतादि संस्कार रहित शाकें अहितकर होती हैं ॥ ३५२-३५३ ॥

विमर्शः—चावलों का मांड तथा शाकों को पका के निचोड़ कर उनका रस फेंकना आधुनिक विज्ञान-दृष्टि से अहितकर है। ऐसा करने से इन पदार्थों के खनिज पदार्थ, प्रोटीन और विटामिन निकल जाते हैं जिससे निर्बलता तथा रोग होते हैं। हां रुग्ण मनुष्यों की मन्दाग्नि की दृष्टि से ऐसा करना किसी तरह कुछ अंश में ठीक है परन्तु स्वस्थ के लिये ऐसा न करें।

मांसं स्वभावतो वृष्यं स्नेहनं बलवर्द्धनम् ॥ ३५४ ॥
स्नेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह।
सिद्धं मांसं हितं बल्यं रोचनं बृंहणं गुरु ॥ ३५५ ॥
तदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम्।
विद्यात्पित्तकफोद्रेकि बलमांसाग्निवर्द्धनम् ॥ ३५६ ॥
परिशुष्कं स्थिरं स्निग्धं हर्षणं प्रीणनं गुरु।
रोचनं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवर्द्धनम् ॥ ३५७ ॥

मांस—स्वभाव से ही वृष्य, स्नेहकारक तथा बलवर्द्धक होता है फिर उसे तैल-घृत आदि स्निग्ध पदार्थ, तक्रादि गोरस, काञ्जी धान्याम्ल, दाडिमादि फलाम्ल तथा मरिचादि कटु पदार्थों के साथ सिद्ध या संस्कृत कर देने से वह मांस हितकर, बलवर्द्धक, रुचिजनक, बृंहण और गुरुपाकी हो जाता है। वही मांस दही, छाछ आदि गोरस के मिलाने से तथा हिङ्गु-मरिचादि सुगन्धित द्रव्यों से सस्कृत कर देने से पित्त और कफ का प्रकोपक तथा शरीर के बल, मांस और पाचकाग्नि का वर्द्धक हो जाता है। सूखा हुआ मांस-शरीर की स्थिरता का जनक, स्निग्ध, हर्षकर, तृप्तिकर, पचने में भारी, रोचक, बलकर, बुद्धिवर्द्धक, अग्निदीपक तथा ओज और शुक्र का वर्द्धक होता है ॥ ३५४-३५७ ॥

विमर्शः—मांस के साथ दुग्ध सेवन वर्जित होने से गोरस से दधि-तक्रादि ही लेवें। शाकाम्लपलपिण्याककुलत्थलवणामिषैः। करीरदधिमाषैश्च प्रायः क्षीर विरुद्धयते ॥ तथा 'गोरसो दधि तक्रञ्चे'ति हेमकोषः। परिशुष्क मांस—सिक्त बहुघृते भृष्ट मुहुरुष्णाम्बुना मृदु। जीरकाद्यैर्घनं मासं परिशुष्कं तदुच्यते ॥

तदेवोल्लुप्तपिष्टत्वादुल्लुप्तमिति पाचकाः।
परिशुष्कगुणैर्युक्तं वह्नौ पक्वमतो लघु ॥ ३५८ ॥
तदेव शूलिकाप्रोतमङ्गारपरिपाचितम्।
ज्ञेयं गुरुतरं किञ्चित् प्रदिग्धं गुरुपाकतः ॥ ३५९ ॥
उल्लुप्तं भर्जितं पिष्टं प्रतप्तं कन्दुपाचितम्।
परिशुष्कं प्रदग्धं च शूल्यं यच्चान्यदीदृशम् ॥ ३६० ॥

मांसं यत्तैलसिद्धं तद्वीर्योष्णं पित्तकृद् गुरु।
लघ्वग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं दृष्टिप्रसादनम् ॥ ३६१ ॥
अनुष्णवीर्यं पित्तघ्नं मनोज्ञं घृतसाधितम् ॥ ३६२ ॥

उस सूखे मांस को प्रथम खूब कूट कर (उल्लुप्तमतिचिक्कण पश्चात्पिष्ट तस्य भाव उल्लुप्तपिष्टत्वम्) पश्चात् खूब पीस कर पिष्ट सा बनाने से सूपकार उसे 'उल्लुस' कहते हैं तथा यह परिशुष्क मांस के गुणों वाला हो जाता है। इसी को वह्नि में पका लेने से उससे भी लघु हो जाता है। इसी मांस को शूलिक (लोह-शलाका) पर लगा कर कोयले की अग्नि पर पका लेने से कुछ भारी हो जाता है। इसी को स्नेहधान्याम्ल तक्रादि से प्रदिग्ध कर देने पर विपाक में गुरु हो जाता है। उल्लुस, भर्जित, पिष्ट, प्रतप्त, कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध, शूल्य तथा इसी प्रकार से बनाया अन्यविध मांस एवं जो तैल में सिद्ध किया हुआ हो वह मांस-उष्णवीर्य, पित्तजनक और गुरु होता है तथा घृत से साधित मांस पचने में लघु, पाचकाग्नि-दीपक, हृद्य, रोचक, दृष्टिप्रसादक, अनुष्णवीर्य, पित्तनाशक और मनोज्ञ (चित्तप्रिय) होता है ॥३५८-३६२॥

विमर्शः—भर्जितादीना लक्षणम्—'भर्जितं स्याद् घृतादौ तु पिष्ट्वा यत्साधितं पुनः। अपूपादिकृतं पिष्टं दधिदाडिमसौरभैः। सिद्धं साज्यैस्तथाऽजाजीसामुद्रमरिचैरपि। अङ्गारादिषु यत्पक्वं प्रतप्तं तदुदाहृतम्॥ पिशितं सौरभैर्लिप्तं कन्दुपक्वं मधुप्रभम्। राजिकाफल्कलिप्तं च कन्दुपाचितमुच्यते॥' परिशुष्कमुक्तम्। 'तदेव गोरसादानं प्रदिग्धमिति विश्रुतम्' इति परिशुष्कलक्षणस्याग्रे बोध्यम्। 'छिन्नपूदके परिक्षिप्तं शूले निष्पीडितं ततः। सिक्त्वा सिक्त्वाऽम्बुधाराभिर्विधूमेऽग्नौ प्रतापयेत्॥ फलाम्लेनापि यत्पक्वं शूल्यं तत्सौरभान्वितम्॥' इति।

प्रीणनः प्राणजननः श्वासकासक्षयापहः ॥ ३६३ ॥
वातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः।
स्मृत्योजःस्वरहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसाम् ॥ ३६४ ॥
भग्नविश्लिष्टसन्धीनां कृशानामल्परेतसाम्।
आप्यायनः संहननः शुक्रदो बलवर्द्धनः।
स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोषनाशनः ॥ ३६५ ॥

मांसरस—तृप्तिकारक, प्राणजनक, श्वास, कास, क्षय, वात, पित्त और थकावट का नाशक तथा हृद्य होता है एवं स्मृति, ओज तथा स्वर से हीन, ज्वर से क्षीण, क्षतयुक्त छातीवाले, अस्थिभग्न तथा सन्धिविश्लेषयुक्त, दुर्बल, अल्पवीर्य वाले ऐसे मनुष्यों के लिये हितकर तथा आप्यायन (न्यूनता का पूरक), संहनन (शरीर-दार्ढ्यकारक), वीर्यजनक तथा बलवर्द्धक होता है। उसी मांसरस में दाडिम (अनार) का रस मिला कर कटुकादि तथा सुगन्धित द्रव्यों (मसालों) से संस्कृत कर दिया जाय तो वृष्य तथा दोषनाशक हो जाते है ३६३-३६५

प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम्।
क्षुत्तृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरवः स्वादुशीतलः ॥ ३६६ ॥

सौरव (शोरवा)-सर्व प्राणियों के लिये तृप्तिकारक तथा विशेषकर मुखशोषियों के लिये हितकर, क्षुधा और प्यास को नष्ट करने वाला, उत्तम स्वादु और शीतल होता है ॥ ३६६ ॥

विमर्शः—शोरवा-कफघ्न, दीपन तथा हृद्य होता है। यह उबले हुये मांस का संस्कृत किया हुआ स्वच्छ रस होता है। अल्प रक्त वाले तथा क्षय के रोगियों में अच्छा लाभ करता है।

यन्मांसमुद्धृतरसं न तत् पुष्टिबलावहम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥ ३६७ ॥

जिस मांस को उबाल कर रस निकाल लिया हो वह पुष्टि और बल देने वाला नहीं होता है तथा विष्टम्भकारक, पचने में कठोर, रूक्ष, रसहीन तथा वातवर्द्धक होता है ॥३६७॥

दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः खानिष्कस्तु परं गुरुः ॥३६८॥

खानिष्क (पीसा हुआ सूखा मांस)-दीप्त अग्निवालों के लिये सदा पथ्यकारक तथा पचने में भारी होता है ॥ ३६८ ॥

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्।
पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम् ॥ ३६९ ॥
ऐकध्यं पाचयेत्सम्यग् वेसवार इति स्मृतः।
वेसवारो गुरुः स्निग्धो बल्यो वातरुजापहः ॥३७०॥

वेसवार—मांस को निरस्थि (अस्थिरहित) करके उबाल कर पुनः पत्थर (सील) पर पीस कर उसमें पीपल, सोंठ, काली मरिच, गुड तथा घृत उचित प्रमाण में मिला कर एक पात्र में ठीक तरह से पका लेवे। इसे 'वेसवार' कहते हैं। वेसवार-पचने में भारी, स्निग्ध, बलवर्द्धक तथा वात रोगों को नष्ट करता है ॥ ३६९-३७० ॥

विमर्शः—वेसवारलक्षणम्—'अनस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसयुक्तं वेसवार इति स्मृतं'॥ आत्रेयस्तु-'चित्रकं पिप्पलीमूलं पिप्पलीचव्यनागरम्। धान्याकं रजनीश्वेततण्डुलाश्च समाशकाः। वेसवार इति ख्यातः शाकादिषु नियोजयेत्॥' इति।

कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां व्रणिनामपि।
ज्ञेयः पथ्यतमश्चैव मुद्गयूषः कृताकृतः ॥ ३७१ ॥

कृत (मसालों द्वारा संस्कृत) तथा अकृत (असंस्कृत) मुद्गयूष-कफनाशक, अग्निदीपक तथा हृद्य होता है एवं वमन-विरेचनादि से शुद्ध हुये मनुष्य तथा व्रणियों के लिये अत्यन्त पथ्य होता है ॥ ३७१ ॥

विमर्शः—यूषः—अष्टादशगुणे नीरे शिम्बीधान्यस्य तनोः रसः। विरलाम्लो घनः किञ्चित् पेयादो यूष उच्यते ॥ (भाव प्र०)।

स तु दाडिममृद्वीकायुक्तः स्याद्रागखाडवः।
रुचिष्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृत् ॥३७२॥

मुद्गयूष में अनार का रस तथा पीसे हुये मुनक्के का रस या कल्क मिला दिया जाय तो उसे 'रागषाडव' कहते हैं। यह रोचक, पाक में लघु तथा वातादि दोषों का परस्पर अविरोधी होता है ॥ ३७२ ॥

विमर्शः—अन्योऽपि रागखाडवः—आममात्र त्वचाहीन द्विखिन्नं खण्डित तत। 'सुपक्वं च समुत्तार्यं मरिचैलेन्दुवासितम्। स्थापितं लिग्धमृद्भाण्डे रागखाडवसंज्ञितः'॥ अपि च-'कथितं तु गुडोपेतं सदाडिमफलं नवम्। तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागखाडवः॥' इति बोध्यः।

मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः।

कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शस्यते ॥ ३७३ ॥
मृद्वीकादाडिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलार्दिते ।
रोचनो दीपनो हृद्यो लघुपाक्युपदिश्यते ॥ ३७४ ॥

मसूर, मूंग, गेहूँ और कुलथी इनका पृथक् पृथक् बनाया हुआ लवणयुक्त यूष-कफ तथा पित्त का अविरोधी तथा वातव्याधि में श्रेष्ठ होता है। इन्हीं यूषों में यदि किसमिस का रस या कल्क तथा अनार का रस मिला दिया जाय तो वात रोगों से अर्दित (पीडित) रोगी के लिये हितकर होता है तथा रोचक, अग्निदीपक, हृद्य और पचने में हलका होता है ॥

पटोलनिम्बयूषौ तु कफमेदोविशोषिणौ ।
पित्तघ्नौ दीपनौ हृद्यौ कृमिकुष्ठज्वरापहौ ॥ ३७५ ॥

पटोल तथा निम्ब का यूष-कफ और मेदा का शोषण करते हैं तथा पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकारी एवं कृमि, कुष्ठ तथा ज्वर के नाशक हैं ॥ ३७५ ॥

श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान् ।
हन्ति मूलकयूषस्तु कफमेदोगलामयान् ॥ ३७६ ॥

मूली का यूष—श्वास, कास, प्रतिश्याय, लालादि का स्राव, अरुचि, ज्वर, कफरोग, मेदोरोग तथा गले के रोगों को नष्ट करता है ॥ ३७६ ॥

कुलत्थयूषोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः ।
तूणीप्रतूणीकासार्शोगुल्मोदावर्त्तनाशनः ॥ ३७७ ॥

कुलथी का यूष—वातनाशक, श्वास तथा पीनस रोग का नाशक एवं तूणी, प्रतितूणी, कास, अर्श, गुल्म तथा उदावर्त्त का नाशक है ॥ ३७७ ॥

विमर्शः—तूणी प्रतूणी च वातरोगे । तत्र तूणी-प्रतूणी-लक्षणं वक्ष्यति निदाने-'अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता । भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूणीत्युपदिश्यते । गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी । वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूणीति सा स्मृता ॥' इति ।

दाडिमामलकैर्यूषो हृद्यः संशमनो लघुः ॥ ३७८ ॥
प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नः पित्तवातजित् ।
मुद्गामलकयूषस्तु ग्राही पित्तकफे हितः ॥ ३७९ ॥
यवकोलकुलत्थानां यूषः कण्ठ्योऽनिलापहः ।
सर्वधान्यकृतस्तद्वद् बृंहणः प्राणवर्द्धनः ॥ ३८० ॥

अनार तथा आंवलों के साथ बनाया हुआ मुद्गादि का यूष—हृद्य, दोषों का संशामक, पचने में हलका, प्राण तथा पाचकाग्नि का जनक एवं मूर्च्छा, मेदोरोग, पित्तरोग तथा वातरोगनाशक होता है। मूग—आंवले का यूष—दस्त को बांधने वाला तथा पित्त और कफ के रोग में हितकारी होता है। जौ, कोल (बदर) तथा कुलथी इनका संयुक्त या पृथक् पृथक् बनाया हुआ यूष—कण्ठ के लिये हितकारी तथा वातरोगों का नाशक है। उसी प्रकार सर्व प्रकार के धान्यों से बनाया हुआ यूष-बृंहण तथा प्राण शक्ति का वर्द्धक होता है ॥

खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ ।
बल्यः कफानिलौ हन्ति दाडिमाम्लोऽग्निदीपनः ॥ ३८१ ॥
दध्यम्लः कफकृद्बल्यः स्निग्धो वातहरो गुरुः ।
तक्राम्लः पित्तकृत् प्रोक्तो विपरक्तप्रदूषणः ॥ ३८२ ॥

खड और काम्बलिक यूष—हृद्य तथा वात और कफ के रोगों में हितकर होते हैं। दाडिम के रस से खट्टा किया हुआ यूष—बलवर्द्धक तथा कफ और वात का नाशक होता है तथा अग्नि को दीप्त करता है। दही से खट्टा किया हुआ यूष—कफकारक, बलवर्द्धक, स्निग्ध, वात का नाशक तथा पचने में भारी होता है। छाछ से खट्टा किया हुआ यूष—पित्त का जनक तथा विष और रक्त का प्रकोपक होता है ॥ ३८१-३८२ ॥

विमर्शः—खटकाम्बलिकौ यूषविशेषौ । तत्र खडो द्विविधः-सतक्रशमीधान्यः सतक्रशाकश्च । तदुक्तम्-'सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि सद्ग्राहकाणि खलानि' इति । टलयोरभेदात् 'खल' 'खट' इति पर्यायौ । सतक्रशाकस्तु—'कपित्थतक्राचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकै । सुपक्व खडयूषोऽयमथ काम्बलिकोऽपरः । दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वित' ॥ नल —'तिल सुस्निग्धित कृत्वा पिष्टं क्षीरे त्र्यहोषितम् । पटे पूत पचेद्धीमानार्द्रकावापिते घृते ॥ मरिचाजाजिसामुद्रैर्युक्तस्त्रिलखडो भवेत्' । 'दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृत । पुनः सौवर्चलाजाजीबीजपूरकसौरभै । सयोज्यमथितः स्वच्छ एव काम्बलिको भवेत् ॥' इति ।

खडाः खडयवाग्वश्च पाडवाः पानकानि च ।
एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ॥३८३॥
अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ॥ ३८४ ॥

खडयूष, खडयवागू, पाडव, पानक प्रभृति पेय पदार्थ वैद्य के कथनानुसार बनाये जाते हैं। इन सबको यदि स्नेह तथा लवण और कटुक (सोंठ, मरिचादि मसालों) के विना बनाये जांय तो उन्हें 'अकृत' कहते हैं तथा लवण, स्नेह और कटुक से संस्कृत कर बनाये जांय तो 'कृत' कहलाते हैं ॥

खडा' पूर्वोक्तलक्षणा, खटयूषसिद्धा यवाग्वः खडयवाग्व, पाडवा.=मधुराम्लद्रव्यकृता', तल्लक्षणम्—'स्पष्टाम्लमधुरोऽस्पष्टकषायलवणोषणाः । अतिक्ता' पाडवाः कोलकुलत्थवदरैः कृताः ॥' इति कोलकपित्थवदरैरिति पाठान्तरम् । पानकानि=द्राक्षाऽम्लिकाऽऽदिकृतानि पेयानि, तल्लक्षणम्—'द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्य. सपरूषका' । तुल्याशै कल्पित पूत शीत कर्पूरवासितम् ॥ पानक पञ्चसाराख्य दाहतृष्णानिवर्तकम् । त्रिजातमरिचार्धंस्तु सस्कृता. पानकास्तथा ॥' इति ।

अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरन्वितं च यत् ।
यथोत्तर लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ॥ ३८५ ॥

गोरस (दही, छाछ), धान्याम्ल (काञ्जी) तथा फलाम्ल इनके साथ मिलाया हुआ तथा मसालों से संस्कृत तथा असंस्कृत मांसरस यथोत्तर पचने में हलका तथा हितकारी होता है ॥ ३८५ ॥

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।
तिलपिण्याकविकृति शुष्कशाक विरूढकम् ॥ ३८६ ॥
सिण्डाकी च गुरूणि स्युः कफपित्तकराणि च ।
तद्वच्च वटकान्याहुर्विदाहीनि गुरूणि च ॥ ३८७ ॥

दही का पानी तथा अन्य खटाई से सिद्ध किया हुआ यूष 'काम्बलिक' कहलाता है। तिलों की खल के बने अनेक पदार्थ, शुष्कशाक, अधिक अङ्कुरित धान्य और सिण्डाकी—ये सब पचने में भारी तथा कफ और पित्त को पैदा करते हैं। वटक (बड़े) भी सिण्डाकी के समान ही होते हैं। किन्तु विशेषतया विदाहजनक और गुरु होते हैं ॥ ३८६-३८७ ॥

लघवो बृंहणा वृष्या हृद्या रोचनदीपनाः।
तृष्णामूर्च्छाभ्रमच्छर्दिश्रमघ्ना रागषाडवाः ॥ ३८८ ॥
रसाला बृंहणी बल्या स्निग्धा वृष्या च रोचनी।
स्नेहनं गुडसंयुक्तं हृद्यं दध्यनिलापहम् ॥ ३८९ ॥

रागषाडव—पचने में लघु, बलजनक, वृष्य, हृद्य, रोचक, पाचकाग्निदीपक होते हैं तथा प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, वमन और थकावट को नष्ट करते हैं। रसाला—बृंहणी, बलकरी, स्निग्ध, वृष्य तथा रुचिकरी होती है। गुड मिश्रित दही—शरीर में स्नेहन करने वाला, हृद्य तथा वातनाशक होता है॥३८८-३८९॥

विमर्शः—राग.-'सितारुचकसिन्धूत्थै सवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृत ॥' इति। रसाला=शिखरिणी, तल्लक्षणम्—'सचतुर्जातकाजाजिससितार्द्रकनागरम्। रसाला स्याच्छिखरिणी सघृष्ट ससर दधि' ॥ अपि च—'अर्धाढक सुचिरपर्युषितस्य दध्नः-खण्टस्य षोटशपलानि शशिप्रभस्य। सर्पि.पल मधुपल मरिचं द्विकर्षं-शुण्ठया पलार्धमपि चार्धपल विडस्य ॥ सूक्ष्मे पटे सुविमले मृदुपाणिघृष्टा कर्पूरधूलिसुरभीकृतमात्रसस्था। एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला इति'।

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते ॥ ३९० ॥
मन्थः सद्योबलकरः पिपासाश्रमनाशनः।
साम्लस्नेहगुडो मूत्रकृच्छ्रोदावर्त्तनाशनः ॥ ३९१ ॥
शर्करेक्षुरसद्राक्षायुक्तः पित्तविकारनुत्।
द्राक्षामधूकसंयुक्तः कफरोगनिबर्हणः।
वर्गत्रयेणोपहितो मलदोषानुलोमनः ॥ ३९२ ॥

घृत मिलाये हुये तथा ठंढे पानी से भिगोये (साने) हुये, न अधिक पतले तथा न अधिक गाढ़े ऐसे सत्तुओं को 'मन्थ' कहते हैं। मन्थ—तुरन्त बलवर्द्धक एवं पिपासा तथा थकान का नाशक होता है। खटाई, स्नेह तथा गुड़ से युक्त मंथ—मूत्रकृच्छ्र और उदावर्त्त को नष्ट करता है। शर्करा, ऊख का रस तथा द्राक्षा से युक्त मन्थ—पित्तविकार को नष्ट करता है। द्राक्षा तथा महुए के पुष्पों से युक्त मन्थ-कफरोग को नष्ट करता है। इन तीनों (साम्ल स्नेह गुड शर्करेक्षुरस-द्राक्षा, द्राक्षा, मधूक) से युक्त मंथ—मल तथा दोषों का अनुलोमन करता है ॥ ३९०-३९२ ॥

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम् ॥ ३९३ ॥
तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः।
साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ॥३९४॥
मार्द्वीक तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम्।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥ ३९५ ॥
द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मात्रां च सर्वतः।
पानकानां यथायोगं गुरुलाघवमादिशेत् ॥ ३९६ ॥

इति कृतान्नवर्गः।

गुड से बनाया हुआ पानक खटाई युक्त हो अथवा खटाई रहित हो—पचने में भारी तथा मूत्रजनक होता है। उसी गुड़ के पानक में खण्ड (मिश्री), किसमिस, शक्कर, अम्लद्रव्य तथा मरिचादि तीक्ष्ण द्रव्य और हिम (कर्पूर) मिला देने पर दोषरहित (निरत्यय) हो जाता है। मृद्वीका (किसमिस, मुनक्का या अङ्गूर) का पानक—थकावट को दूर करने वाला तथा मूर्च्छा, दाह और तृषा का नाशक होता है। फालसे तथा बेरों का पानक—हृद्य तथा विष्टम्भजनक होता है। भिन्न भिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग तथा संस्कारों का विचार कर पानकों की मात्रा तथा यथायोग्य गुरु और लघु का ज्ञान करना चाहिये ॥ ३९३-३९६ ॥

अथ भक्ष्यवर्ग.।

वक्ष्याम्यतः परं भक्ष्यान् रसवीर्यविपाकतः ॥ ३९७ ॥

अब इसके अनन्तर रस, वीर्य और विपाक की दृष्टि से लड्डू आदि भक्ष्य पदार्थों का वर्णन करते हैं ॥ ३९७ ॥

भक्ष्याः क्षीरकृता बल्या वृष्या हृद्याः सुगन्धिनः।
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ॥ ३९८ ॥
तेषां प्राणकरा हृद्या घृतपूराः कफावहाः।
वातपित्तहरा वृष्या गुरवो रक्तमांसलाः ॥ ३९९ ॥

क्षीर (दुग्ध) से बनाये हुये (खोये के लड्डू) पदार्थ—बलवर्द्धक, वृष्य, हृद्य, सुगन्धित, दाह नहीं करने वाले, शरीरपुष्टिकर, पाचकाग्निदीपक तथा पित्तनाशक होते हैं। इनमें से घृतपूर (घेवर)—प्राणशक्ति (वायटेलिटी) को बढ़ाने वाले, हृद्य, कफजनक, वातपित्तनाशक, वृष्य, पचने में भारी तथा रक्त और मांस के वर्द्धक होते हैं ॥ ३९८-३९९ ॥

विमर्शः—घृतपूरा.='घेवर' इति ख्याता। तल्लक्षणम्—'मर्दिता समिता क्षीरनारिकेरसितादिभिः। अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते' ॥ समिता=गोधूमचूर्णम्। प्रकारान्तरम्—गोधूमचूर्णं सूक्ष्मं च स्वच्छ तस्मिन् घृत क्षिपेत्। यावत्तत् पिण्डता गच्छेत् पश्चादुष्णे विमर्दयेत्। फेनयित्वा द्रवीभूते तत पात्रे घृत न्यसेत्। सशब्दे सुपूते तप्ते तस्य धारामपासृजेत्। यावच्च व्याप्य तत्पात्र प्रसरेद् घृतपूरक'। यत्किञ्चित्ताम्रता याते खण्डपङ्के निमज्जयेत्॥'इति।

बृंहणा गौडिका भक्ष्या गुरवोऽनिलनाशनाः।
अदाहिनः पित्तहराः शुक्रलाः कफवर्द्धनाः ॥ ४०० ॥

गुड से बनाये हुए भक्ष्य (मालपुए, गुलगुले आदि) पदार्थ—बृंहण, पचने में भारी, वातनाशक, अविदाही, पित्तनाशक तथा शुक्र और कफ के वर्द्धक होते हैं ॥ ४०० ॥

मधुमस्तकसंयावाः पूपा ये ते विशेषतः।
गुरवो बृंहणाश्चैव मोदकास्तु सुदुर्जराः ॥ ४०१ ॥

मधुमस्तक (मधुशीर्षक), संयाव (हलुवा) तथा पूप (मालपुए)—ये पदार्थ विशेषतया पचने में भारी तथा बृंहण

होते हैं एवं मोदक (बेसन, आटे, मूंग के लड्डू)—पचने में कठिन होते हैं ॥ ४०१ ॥

विमर्शः—'समिता वेष्टिता मध्ये मधु दत्त्वा शृता घृते। मधुमस्तकमुद्दिष्टम्'। अपि च—'मधुनैलघृतैर्मध्ये वेष्टिताः समिताश्च याः। मधुमस्तकमुद्दिष्टं तस्याख्या परिमार्जनम्॥' इति। मधुमस्तका एव मधुशीर्षका उच्यन्ते इति डल्हणः। तत्र मधुशीर्षकलक्षणमाह नलः—विमर्द्य समिताचूर्णं मृदुपाक गुडान्वितम्। घृतावगाहे गुडिका वृत्तां पक्वां सकेशरान्॥ सौगन्धिकाधिवासा च कुर्यात्पूपलिका बुधः। स एव खण्डसयाव सिताम्रानमपूरित। मातुलुङ्गत्वचा चैव वेष्टितो मधुशीर्षक॥' इति। संयाव—सयावस्तु घृतक्षीरगुडगोधूमपाकजः'। 'समिता घृतदुग्धेन मोदयित्वा सुशोभनाम्। पचेद् घृतोत्तरे खण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः। सयावोऽसौ युनश्चूर्णैः खण्डैलामरिचार्द्रकैः॥' इति।

रोचनो दीपनः स्वर्यः पित्तघ्नः पवनापहः।
गुरुर्मृष्टतमश्चैव सट्टकः प्राणवर्द्धनः॥ ४०२॥

सट्टक (श्रीखण्ड समान पदार्थ)—रोचक, दीपक, स्वरवर्द्धक, पित्तशामक, वातनाशक, पचने में भारी, अत्यन्त मीठा (मृष्टतम) और प्राणशक्तिका वर्द्धक होता है॥ ४०२॥

विमर्शः—सट्टकलक्षणम्-लवणव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। पक्वं दाडिमसंयुक्त चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्॥ सट्टक पाचका आहुः।

हृद्यः सुगन्धिर्मधुरः स्निग्धः कफकरो गुरुः।
वातापहस्तृप्तिकरो बल्यो विष्यन्दनः स्मृतः॥ ४०३॥

विष्यन्दन—हृद्य, सुगन्धित, मधुर, स्निग्ध, कफजनक, पचने में भारी, वातनाशक, तृप्तिकारक तथा बलवर्द्धक होता है॥ ४०३॥

विमर्शः—विष्यन्दनपरिचयः—आमगोधूमचूर्णञ्च सर्पि क्षीरगुडान्वितम्। नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः॥

बृंहणा वातपित्तघ्ना भक्ष्या बल्यास्तु सामिताः।
हृद्याः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकादयः॥ ४०४॥

सामित (गेहूं के पिष्ट के बने सर्व पदार्थ)—शरीर पुष्टिकर, वातपित्तनाशक, बलवर्द्धक, हृद्य तथा अतीव पथ्यकारक होते हैं। उनमें फेनक (फीणी) आदि पदार्थ अधिक हलके होते हैं॥ ४०४॥

विमर्शः—फेनका—'विमर्द्य विमलां शुक्ला समिता नातिशर्कराम्। सवेष्टनाय गर्भार्थं खरपाकं घृते पचेत्। फेनक फेनसङ्काशं सम्पूर्णशशिसन्निभम्॥' इति।

मुद्गादिवेसवाराणां पूर्णा विष्टम्भिनो मताः।
वेसवारैः सपिशितैः सम्पूर्णा गुरुबृंहणाः॥ ४०५॥

मुद्गादि वेसवार से भरे हुये सामित—विष्टम्भजनक होते हैं। मांसादि वेसवार से भरे हुये सामित—भारी तथा शरीर को पुष्ट करती है॥ ४०५॥

पाललाः श्लेष्मजननाः, शष्कुल्यः कफपित्तलाः।
वीर्योष्णाः पैष्टिका भक्ष्याः कफपित्तप्रकोपणाः।
विदाहिनो नातिबला गुरवश्च विशेषतः॥ ४०६॥

पलल (तिल चूर्ण) से बने हुये पदार्थ (पलल)—कफजनक होते हैं तथा शष्कुली (पूडियां)—कफ और पित्त उत्पन्न करती हैं। पिष्टक (तण्डुल चूर्ण) से बने पदार्थ (पैष्टिक)—उष्णवीर्य, कफपित्तप्रकोपक, विदाहकारक, अधिक बल नहीं देने वाले तथा विशेषकर पचने में भारी होते हैं॥४०६॥

वैदला लघवो भक्ष्याः कषायाः सृष्टमारुताः॥४०७॥
विष्टम्भिनः पित्तसमाः श्लेष्मघ्ना भिन्नवर्चसः।
बल्या वृष्यास्तु गुरवो विज्ञेया मापसाधिताः॥४०८॥

दालों (द्विदल धान्यों) के भक्ष्य पदार्थ—पचने में हलके, रस में कषाय, वातजनक, विष्टम्भकारक, पित्त को समान रखने वाले, कफनाशक तथा मल का भेदन करने वाले होते हैं। माष (उड़द) से बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—बलवर्द्धक, वृष्य और पचने में भारी होते हैं॥ ४०७-४०८॥

कूर्चिकाविकृता भक्ष्या गुरवो नातिपित्तलाः।
विरूढककृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तलाः॥४०९॥
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः।
हृद्याः सुगन्धिनो भक्ष्या लघवो घृतपाचिताः॥४१०॥
वातपित्तहरा बल्या वर्णदृष्टिप्रसादनाः।
विदाहिनस्तैलकृता गुरवः कटुपाकिनः॥ ४११॥

कूर्चिका (दुग्ध के फटे हुए घन भाग) से बने हुये (गुलाब जामुन, रसगुल्ले आदि) पदार्थ—पचने में भारी तथा अधिक पित्तजनक नहीं होते हैं। विरूढ (अङ्कुरित) धान्यों को पीसकर उनसे बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—पचने में भारी, वातपित्तवर्द्धक, विदाह तथा उत्क्लेश पैदा करने वाले, रूक्ष तथा दृष्टिदूषक होते हैं। घी में बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—हृद्य, सुगन्धित, पचने में हलके, वातपित्तनाशक, बलवर्द्धक तथा शरीर के रंग और दृष्टि के प्रसादक होते हैं। तैल से बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—विदाहजनक, पचने में भारी, विपाक में कटु तथा गरम होते हैं एवं वायुनाशक तथा दृष्टिदूषक, पित्तजनक तथा त्वचा के दूषक होते हैं॥ ४०९-४११॥

उष्णा मारुतदृष्टिघ्नाः पित्तलास्त्वक्प्रदूषणाः॥ ४१२॥
फलमांसेक्षुविकृतितिलमापोपसंस्कृताः।
भक्ष्या बल्याश्च गुरवो बृंहणा हृदयप्रियाः॥ ४१३॥
कपालाङ्गारपक्वास्तु लघवो वातकोपनाः।
सुपक्वास्तनवश्चैव भूयिष्ठं लघवो मताः॥ ४१४॥

फलवर्ग, मांसवर्ग, इक्षुविकार तथा तिल, माष (उड़द) आदि डाल कर बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—बलजनक, पचने में भारी, शरीर—पुष्टिकर तथा हृदय को प्रिय लगने वाले होते हैं। कपाल (मिट्टी के ठीकरे) या तवे पर बनाये हुये पदार्थ—पचने में लघु तथा वायुकोपक होते हैं। यदि ये ही पदार्थ खूब पके हुये तथा पापड़ के समान पतले हों तो पचने में अत्यन्त हलके होते हैं॥ ४१३-४१४॥

सकिलाटादयो भक्ष्या गुरवः कफवर्द्धनाः।
कुल्माषा वातला रूक्षा गुरवो भिन्नवर्चसः॥ ४१५॥

किलाट आदि से बनाये हुये भक्ष्य पदार्थ—पचने में भारी

तथा कफवर्द्धक होते हैं। कुल्माष—वायुकारक, रूक्ष, गुरु तथा मल के प्रवर्तक होते हैं ॥ ४१५ ॥

विमर्शः—किलाटलक्षणम्—नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः। कुल्मापलक्षणम्—अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा अन्ये च चणकादयः। कुल्माषा इति कथ्यन्ते।

उदावर्त्तहरो वाट्यः कासपीनसमेहनुत्।
धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः ॥ ४१६ ॥

भूने हुये यवादि से बनाया हुआ वाट्य—उदावर्त, कास, पीनस तथा प्रमेह को नष्ट करता है। धान (भूने हुये जौ) तथा उलुम्ब (अग्निपक्व चने=होरा)—पचने में हलके तथा कफ और मेदोवृद्धि का शोषण करते हैं ॥ ४१६ ॥

सक्तवो बृंहणा वृष्यास्तृष्णापित्तकफापहाः।
पीताः सद्यो बलकरा भेदिनः पवनापहाः ॥ ४१७ ॥
गुर्वी पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वी सैव विपर्ययात्।
सक्तूनामाशु जीर्येत मृदुत्वादवलेहिका ॥ ४१८ ॥

पानी में एक दिन भिंगो कर सुखा के ओखली में खाण्ड कूट भाड़ में भुनाये हुये जौ, गेहूं, चने को चक्की में पीस कर बनाये हुये सत्तू—शरीर-पुष्टिकर और वृष्य होते हैं तथा प्यास, पित्त और कफ को नष्ट करते हैं। इन्हें पानी में घोल कर लवण-मरिच मिला के अथवा शर्करा मिला के पीने से तुरन्त बल को बढ़ाते हैं, कुछ दस्तावर होते हैं तथा वायु को नष्ट करते है। सक्तु की अत्यन्त कठिन पिण्डी—पचने में भारी तथा मुलायम पिण्डी—लघु होती है। सक्तू का अवलेह—मुलायम होने से शीघ्र ही हजम हो जाता है ॥ ४१७-४१८ ॥

लाजाश्छर्द्यतिसारघ्ना दीपनाः कफनाशनाः।
बल्याः कषायमधुरा लघवस्तृण्मलापहाः ॥ ४१९ ॥
तृट्छर्दिदाहघर्मार्त्तिनुदस्तत्सक्तवो मताः।
रक्तपित्तहराश्चैव दाहज्वरविनाशनाः ॥ ४२० ॥

धान की खीलें वमन तथा अतिसार को नष्ट करती हैं, पाचकाग्नि को दीप्त करती हैं, कफ को नष्ट करती हैं, बल बढ़ाती हैं, रस में कषाय तथा मधुर होती है पचने में हलकी तथा तृषाशामक और मलनाशक होती हैं। लाजों का सत्तू—तृषा, वमन, दाह तथा घर्म (धूप) की अर्ति (पीड़ा=लू लगना) को नष्ट करता है तथा रक्तपित्त, दाह और ज्वर को नष्ट करता है ॥ ४१९-४२० ॥

पृथुका गुरवः स्निग्धा बृंहणाः कफवर्द्धनाः।
बल्याः सक्षीरभावात्तु वातघ्ना भिन्नवर्चसः ॥ ४२१ ॥

चिउड़े—पचने में भारी, स्निग्ध, बृंहण, कफवर्द्धक तथा बलवर्द्धक होते हैं। उन्हें दुग्ध में भिंगो कर शर्करा मिला के खाने से वे वातनाशक तथा दस्तावर होते हैं ॥ ४२१ ॥

सन्धानकृत्पिष्टमामं ताण्डुलं कृमिमेहनुत्।
सुदुर्जरः स्वादुरसो बृंहणस्तण्डुलो नवः।
सन्धानकृन्मेहहरः पुराणस्तण्डुलः स्मृतः ॥ ४२२ ॥

कच्चे चावलों का आटा—भग्नसंधानकर तथा कृमि और प्रमेह को नष्ट करता है। नूतन चावल—पचने में कठोर, रस में मधुर होते हैं तथा पुराने चावल—बृंहण, भग्न-संधानकारक और प्रमेहनाशक होते हैं ॥ ४२२ ॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेक्ष्य तु।
यथाकारणमासाद्य भोक्तॄणां छन्दतोऽपि वा।
भक्ष्यादयः प्रकल्प्याः स्युस्तदा सुनिपुणो भिषक्।
द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेक्ष्य तु।
अनेकद्रव्ययोनित्वाच्छास्त्रतस्तान् विनिर्दिशेत् ॥४२३॥

इति भक्ष्यवर्गः।

अनेक प्रकार के भक्ष्यादि द्रव्यों के संयोग, घृत तैल तथा मसालों से संस्कार तथा अनेक रूप में बनाये हुये विकार (खाद्यपेयादि पदार्थ) किंवा विकार अर्थात् रोग इन्हे भलीभांति देखकर तथा रोग या नीरोग आदि अवस्था या दोषप्रकोप का भी विचार कर तथा भोक्ताओं की इच्छा का भी ध्यान रख के उन अनेक द्रव्यों की योनि (उत्पत्ति) भिन्न-भिन्न होने से शास्त्र के अनुसार ही उनके गुण दोषों तथा सेवन करने के तरीकों का वर्णन करना चाहिये ॥ ४२३ ॥

अतः सर्वानुपानान्युपदेक्ष्यामः।
अम्लेन केचिद्विहता मनुष्या-
माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति।
तथाऽम्लयोगे मधुरेण तृप्ता-
स्तेषां यथेष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥ ४२४ ॥

अब इसके अनन्तर सर्व अनुपानों का वर्णन करते हैं। अधिक खट्टे पदार्थों के खाने से उद्वेजित हुये मनुष्यों को माधुर्य (मीठे) पदार्थों का सेवन कराने से प्रसन्न हो जाते हैं उसी तरह अधिक मधुर पदार्थों से अतितृप्त या घबड़ाये हुए मनुष्यों को अम्लपदार्थ खिलाने से प्रसन्न हो जाते हैं। इसी तरह उन मनुष्यों के लिये एक दूसरे से विभिन्न षड् रसों का पथ्यरूप में प्रयोग करना शास्त्रकार कहते हैं ॥४२४ ॥

शीतोष्णतोयासवमद्ययूष-
फलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम्।
यस्यानुपानं तु हितं भवेद्य-
त्तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत् ॥ ४२५ ॥
व्याधिं च कालं च विभाव्य धीरै-
र्द्रव्याणि भोज्यानि च तानि तानि।
सर्वानुपानेषु वरं वदन्ति-
मेध्यं यदम्भः शुचिभाजनस्थम् ॥ ४२६ ॥
लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं
तोयात्मकाः सर्वरसाश्च दृष्टाः।
संक्षेप एषोऽभिहितोऽनुपाने-
ष्वतः परं विस्तरतो विधास्ये ॥ ४२७ ॥

शीतल जल, उष्ण जल, आसव, मद्य, यूष, फलाम्ल, धान्याम्ल (कांजी), दुग्ध, मांसरस इनमें से जिसके लिये

जो अनुपान उपयुक्त हो उसके लिये उस अनुपान को यथा-प्रमाण से देना चाहिये। धीर (विद्वान्) वैद्य रोग, समय, औषध द्रव्य, भिन्न भिन्न प्रकार के भोज्य द्रव्य इन सबका विचार करके उन भोज्यों का सेवन करावे। सर्व प्रकार के अनुपानों में अच्छे पवित्र पात्र में रखा हुआ आकाशीय (आन्तरिक्ष) जल श्रेष्ठ अनुपान है। बहुधा जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त यह आन्तरिक्ष जल प्रशस्त अनुपान है क्योंकि अन्य प्रकार के दाडिमादि रस भी जल स्वरूप ही होते हैं। इस प्रकार अनुपानों के विषय में यह संक्षेप से कहा है, इसके अनन्तर विस्तृत वर्णन करेंगे॥ ४२५-४२७॥

विमर्श—अनुपानगुण—दोषवद् गुरु वा मुक्तमतिमात्रमथापि वा। यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्य्यति॥

उष्णोदकानुपानं तु स्नेहानामथ शस्यते।
ऋते भल्लातकस्नेहात् स्नेहात्तैवरकात्तथा॥४२८॥
अनुपानं वदन्त्येके तैले यूषाम्लकाञ्जिकम्।
शीतोदकं माक्षिकस्य पिष्टान्नस्य च सर्वशः॥४२९॥
दधिपायसमद्यार्त्तिविषजुष्टे तथैव च।
केचित् पिष्टमयस्याहुरनुपानं सुखोदकम्॥ ४३०॥

भल्लातक तैल तथा तुवरक तैल को छोड़ कर अन्य [सर्व प्रकार के स्नेहों के सेवन के पश्चात् उष्ण जल का अनुपान करना प्रशस्त है। कुछ आचार्य कहते हैं कि तैलों के सेवन में यूष तथा अम्ल कांजी का अनुपान करना चाहिये। शहद तथा पिष्टान्न के भक्ष्य के सेवन के पश्चात् शीतल [जल का अनुपान करना चाहिये। दही तथा दुग्ध, से बने पदार्थों (पायस=क्षीर) के सेवन के पश्चात् तथा मद्य की पीड़ा (मदात्यय) तथा विष खा लेने पर तथा पिष्ट के बने हुये पदार्थों के सेवन के पश्चात् सुखोदक (मन्दोष्ण जल) पीना चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं॥ ४२८-४३०॥

पयो मांसरसो वाऽपि शालिमुद्गादिभोजिनाम्।
युद्धाध्वातपसन्तापविषमद्यरुजासु च॥ ४३१॥
माषादेरनुपानं तु धान्याम्लं दधिमस्तु वा।
मद्ये मद्योचितानां तु सर्वमांसेषु पूजितम्॥ ४३२॥
अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते।
क्षीरं घर्माध्वभाष्यस्त्रीक्लान्तानामृतोपमम्॥४३३॥
सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम्।
निरामयानां चित्रं तु भुक्तमध्ये प्रकीर्त्तितम्॥४३४॥
स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं, कफे रूक्षोष्णमिष्यते।
अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम्॥ ४३५॥
हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा।
अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विषार्त्तिषु॥ ४३६॥

शालि चावल तथा मुद्गादि खाने वालों के लिये तथा युद्ध और रास्ते चलने से थके हुये मनुष्यों के लिये एवं धूप, अग्निसन्ताप, विष और मद्य से पीडित पुरुषों को दुग्ध अथवा मांसरस का अनुपान कराना चाहिये। उडदी आदि गरिष्ठ-पदार्थों के खाने पर काञ्जी अथवा दही के ऊपर का पानी (मस्तु) का अनुपान करना चाहिये। मद्यपान के अभ्यासियों को मांस खाने पर मद्य का ही अनुपान श्रेष्ठ होता है किन्तु जो मद्यपान न करते हों उन्हें मांससेवन पर जल अथवा फलाम्ल (खट्टे फलों का रस) का अनुपान करावे। धूप, मार्ग में चलने, अधिक भाषण देने तथा अधिक स्त्री-सम्भोग से क्लान्त (थके हुये या मुर्झाये हुए) मनुष्यों को दुग्ध का अनुपान अमृत के समान हितकारी होता है। दुर्बल पुरुषों के लिये सुरा तथा स्थूलों के लिये शहद मिश्रित पानी का अनुपान श्रेष्ठ होता है। निरामय (स्वस्थ) मनुष्यों को भोजन के मध्य (बीच) में चित्र अर्थात् स्निग्धरूक्षोष्ण-मधुरादि अनेकविध अनुपान कराना चाहिये। वात रोग में स्निग्ध तथा उष्ण अनुपान, कफप्रकृति या कफ रोगों में रूक्ष तथा उष्ण अनुपान एवं पित्त प्रकृति या पित्त के रोगियों में मधुर और शीतल पदार्थों का अनुपान प्रशस्त होता है। रक्तपित्त के रोगियों में दुग्ध तथा सांठे के रस का अनुपान तथा विष खाये हुये मनुष्यों को आक, शेलु (लिसोड़ा) और शिरस इनके आसवों का अनुपान हितकारी होता है॥ ४३१-४३६॥

अतः परं तु वर्गाणामनुपानं पृथक् पृथक्।
प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्येण सर्वेषामेव मे शृणु॥ ४३७॥

अब इसके अनन्तर पूर्वोक्त शाल्यादि वर्ग के पदार्थों के पृथक् पृथक् अनुपान क्रम से कहता हूँ सो सुनो॥ ४३७॥

तत्र पूर्वसस्यजातीनां वदराम्लं, वैदलानां धान्याम्लं, जङ्गालानां धन्वजानां च पिप्पल्यासवः, विष्किराणां कोलबदरासवः, प्रतुदानां क्षीरवृक्षासवः, गुहाशयानां खर्जूरनालिकेरासवः, प्रसहानामश्वगन्धाऽऽसवः, पर्णमृगाणां कृष्णगन्धासवः, बिलेशयानां फलसारासवः, एकशफानां त्रिफलाऽऽसवः, अनेकशफानां खदिरासवः, कूलचराणां शृङ्गाटककशेरुकासवः, कोशवासिनां पादिनां च स एव, प्लवानामिक्षुरसासवः, नादेयानां मत्स्यानां मृणालासवः, सामुद्राणां तु मातुलुङ्गासवः, अम्लानां फलानां पद्मोत्पलकन्दासवः, कषायाणां दाडिमवेत्रासवः, मधुराणां त्रिकटुकयुक्तः खण्डासवः, तालफलादीनां धान्याम्लम्, कटुकानां दूर्वानलवेत्रासवः, पिप्पल्यादीनां श्वदंष्ट्रावसुकासवः, कूष्माण्डादीनां दार्वीकरीरासवः, चुच्चुप्रभृतीनां लोध्रासवः, जीवन्त्यादीनां त्रिफलाऽऽसवः, कुसुम्भशाकस्य स एव, मण्डूकपर्ण्यादीनां महापञ्चमूलासवः, तालमस्तकादीनामम्लफलासवः, सैन्धवादीनां सुरासव आरनालं च, तोयं वा सर्वत्रेति॥ ४३८॥

उनमें पूर्व कहे अन्नसमूह जैसे शूकधान्य, क्षुधान्य तथा शमीधान्यों का अनुपान, वदराम्ल तथा कलाय-मुद्गादि द्विदल धान्यों पर धान्याम्ल (कांजी) का अनुपान करना चाहिये। जङ्गाल (एणादि) तथा धन्व (मरुस्थल) देश में उत्पन्न (वर्त्तकादि) के मांस पर पिप्पल्यासव, विष्किरों के मांस पर कोल तथा बदर का आसव, प्रतुद के मांस पर वट, गूलर आदि क्षीरी वृक्षों की छाल आदि से बने हुये आसव, गुहा में सोने वाले (शेर, चीता) प्राणियों के मांस पर खर्जूरासव तथा

नारिकेलासव, प्रसह प्राणियों के मांसरस पर अश्वगन्धासव, पर्णमृगों (वन्दरादि) के मांस पर कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन) का आसव, बिल में सोने वाले प्राणियों के मांस पर मृद्वीकादि फल तथा शालसारादि के सार का आसव, घोडे आदि एकशफ के प्राणियों के मांस पर त्रिफलासव, अनेक शफ (खुर) वाले प्राणियों के मांस पर खदिरासव, जलाशयों के कूल (तटों) पर घूमने वाले प्राणियों के मांस पर सिंघाडे तथा कशेरुक से बने हुये आसव, कोशवासी तथा पादिनों के मांस पर भी शृङ्गाटक-कशेरुकासव, जल में तैरने वाले के मांस पर इक्षुरसासव, नदी के मत्स्यों के मांस पर मृणालासव, समुद्री मत्स्यों के मांस पर मातुलुङ्गासव, खट्टे फलों के खाने पर पद्मोत्पलकन्दासव, कषायफलों के खाने पर दाडिमवेत्रासव, मधुरफलों के खाने पर त्रिकटुचूर्णयुक्त खण्डासव, तालफलादिकों के खाने पर धान्याम्ल (काञ्जी), कटुफलों के खाने पर दूर्वानलवेत्रासव, पिप्पल्यादिकों के खाने पर श्वदंष्ट्रावसुकासव, कूष्माण्डादि के खाने पर दार्वी (दारुहरिद्रा) और करीरफल का बना आसव, चुच्चुप्रभृति शाकों के खाने पर लोध्रासव, जीवन्त्यादिशाकों का त्रिफलासव, कुसुम्भशाक का भी त्रिफलासव, मण्डूकपर्ण्यादि का बृहत्पञ्चमूलासव, तालमस्तकादि का अम्लफलासव, सैन्धवादि लवणों के लिये सुरासव तथा काञ्जी का अनुपान उत्तम होता है। अथवा उक्त सर्व वर्गों के लिये जल का अनुपान श्रेष्ठ है ॥ ४३८ ॥

भवन्ति चात्र—

सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम् ।
सात्म्यं यस्य तु यत्तोयं तत् तस्मै हितमुच्यते ॥४३९॥
उष्णं वाते कफे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम् ॥४४०॥

इस विषय में कहा है कि सर्व अनुपानों में माहेन्द्र अर्थात् आन्तरिक्ष जल उत्तम अनुपान है। अथवा जिस व्यक्ति के लिये नदी, कूप, तालाब आदि का जो भी जल सात्म्य (अभ्यस्त या हितकारी) हो वह उसके लिये अनुपान में पिलाना उत्तम है। वात और कफ की प्रकृति या रोगों में उष्ण जल तथा पित्त प्रकृति या पित्त के रोग एवं रक्त के रोगों में शीतल जल का अनुपान हितकर होता है ॥ ४३९-४४० ॥

दोषवद् गुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा ।
यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्यति ॥ ४४१ ॥

दोषयुक्त, भारी, किंवा अधिक मात्रा में खाया हुआ भोजन उचित यथोक्त अनुपान से सुखपूर्वक पच जाता है ॥ ४४१ ॥

रोचनं बृंहणं वृष्यं दोषसङ्घातभेदनम् ।
तर्पणं मार्दवकरं श्रमक्लमहरं सुखम् ॥ ४४२ ॥
दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ।
बल्यं वर्णकरं सम्यगनुपानं सदोच्यते ॥ ४४३ ॥

अनुपान गुण—ठीक तरह से विचार कर प्रयुक्त किया हुआ अनुपान-रोचक, शरीरपुष्टिकर, वृष्य, दोषों के समूह का नाशक, तृप्तिकारक, मृदुता करने वाला, थकावट तथा क्लम का नाशक, सुखकारक, पाचकाग्नि-दीपक, दोषों का शामक, प्यास का नाशक, बल तथा वर्ण को बढ़ाने वाला होता है ॥ ४४२-४४३ ॥

तदादौ कर्शयेत्पीतं स्थापयेन्मध्यसेवितम् ।
पश्चात्पीत बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥ ४४४ ॥

भोजन के पूर्व किया हुआ अनुपान शरीर को दुबला करता है। भोजन के मध्य में किया हुआ अनुपान शरीर को उसी अवस्था में स्थिर रखता है एवं भोजन के पश्चात् किया हुआ अनुपान शरीर को पुष्ट करता है अतएव विचार कर अनुपान का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४४४ ॥

स्थिरतां गतमक्लिन्नमन्नमद्रवपायिनाम् ।
भवत्याबाधजननमनुपानमतः पिबेत् ॥ ४४५ ॥

जो मनुष्य भोजन के किसी भी योग्य समय में अनुपान नहीं करते हैं उनका अन्न आमाशय में स्थिर हो जाता है तथा क्लिन्न (गीला) नहीं होता है जिससे वह अन्न उदर में बाधा उत्पन्न करता है इस लिये भोजन के पश्चात् अनुपान अवश्य करना चाहिये ॥ ४४५ ॥

विमर्शः—वाग्भटोऽपि भोजने जलपाननिषेधमाह—भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम् । अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वञ्चामाशयात् कफम् ॥ मध्ये मध्याङ्गता साम्य धातूना जरण सुराम् । (अ सं.) । समस्थूलकृशा भक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपा.' (वाग्भटः) ।

न पिबेच्छ्वासकासार्त्तो रोगे चाप्यूर्ध्वजत्रुगे ।
क्षतोरस्कः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ॥ ४४६ ॥
पीत्वाऽध्वभाष्याध्ययनगेयस्वप्नान्न शीलयेत् ।
प्रदूष्यामाशयं तद्धि तस्य कण्ठोरसि स्थितम् ॥
स्यन्दाग्निसादच्छर्यादीनामयाञ्जनयेद् बहून् ॥४४७॥

श्वास तथा कास पीडित, ऊर्ध्व जत्रु (मुख, नासा, नेत्र, कर्ण, शिर) के रोग, जिसकी छाती या फेफड़ों में क्षत (व्रण) हो, लाला तथा सेडा का स्राव होता हो, स्वरभङ्ग वाले-ऐसे मनुष्यों को अनुपान नहीं कराना चाहिये। अनुपान करने के पश्चात् मार्ग में चलना, जोर से भाषण देना, पढ़ना, गाना और सोना नहीं चाहिये। ऐसा करने से अनुपान आमाशय को दूषित कर कण्ठ तथा उर प्रदेश में स्थित होकर लालास्राव, अग्निमान्द्य और वमनादि अनेक रोगों को पैदा करता है ॥ ४४६-४४७ ॥

गुरुलाघवचिन्तेयं स्वभावं नातिवर्त्तते ।
तथा संस्कारमात्रान्नकालांश्चाप्युत्तरोत्तरम् ॥ ४४८ ॥

भक्ष्यादि पदार्थों के गुरु और लघु का विचार-उस पदार्थ या खाने वाले के स्वभाव एवं उस भक्ष्य के संस्कार, मात्रा, अन्न के प्रकार तथा समय इन सब पर निर्भर करता है ॥४४८॥

विमर्शः—उत्तरोत्तरम्=स्वभावात्संस्कार संस्कारान्मात्रा मात्रातोऽन्नम् अन्नात्काल गुरुलाघवचिन्ता नातिवर्तते नातिक्रामतीत्यर्थः । 'नातिवर्तते' इति क्रियापदमनुकृष्य संस्कारादावन्वयात् संस्कार नातिवर्तते, मात्रा नातिवर्तते, अन्न नातिवर्तते, काल नातिवर्तते इति बोध्यम् । संस्कार नातिवर्तते, यथा स्वभावाद् गुरोरपि व्रीहेर्लाजा-लघव , लघोरपि शाले संस्कारात् पिष्ट गुरु । आत्रेयोऽपि—'गुरूणा लाघव विद्यात्संस्कारात्तविपर्ययम् । व्रीहेर्लाजा यथा च स्यु सक्तूना सिद्धपिण्टका ॥' इति ।

मन्दकर्मानलारोग्याः सुकुमाराः सुखोचिताः ।

जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्त्यते ॥४४६॥
बलिनः खरभक्ष्या ये ये च दीप्ताग्नयो नराः ।
कर्मनित्याश्च ये तेषां नावश्यं परिकीर्त्यते ॥ ४५० ॥

इति सर्वानुपानवर्गः ।

जो विशेष कर्म (परिश्रम-कार्य) नहीं करते हैं, जिनकी पाचकाग्नि मन्द हो, जिनका आरोग्य (स्वास्थ्य) ठीक न हो जो सुकुमार तथा आराम के अभ्यासी हों उन प्राणियों के लिये भक्ष्यादि पदार्थों के गुरु-लाघव का विचार किया जाता है किन्तु जो बलवान् हों, जो खर (चने, मकई, ज्वार आदि दुर्जर) पदार्थ खाते हों तथा जिनकी अग्नि प्रदीप्त हो और जो रात-दिन परिश्रम का कार्य करते हों उनके लिये द्रव्यों के गुरु-लाघव के विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥

अथाहारविधिं वत्स ! विस्तरेणाखिलं शृणु ।
आप्तान्वितमसङ्कीर्णं शुचि कार्यं महानसम् ॥ ४५१ ॥
तत्राप्तैर्गुणसम्पन्नमन्नं भक्ष्यं सुसंस्कृतम् ।
शुचौ देशे सुसंगुप्तं समुपस्थापयेद् भिषक् ॥ ४५२ ॥
विपन्नैरगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः ।
सिद्धैर्मन्त्रैर्हृतविषं सिद्धमन्नं निवेदयेत् ॥ ४५३ ॥

हे वत्स ! अब सम्पूर्ण आहार-विधि को विस्तार से कहता हूं सो सुनो। महानस (रसोई घर)-हित चाहने वाले नौकरों से युक्त, सङ्कीर्णता (स्थानतंगी) से रहित तथा पवित्र होना चाहिये। उस रसोई घर में हितकारी रसोइयों द्वारा अच्छी प्रकार से संस्कृत (सिद्ध) किया हुआ एवं गुणों से युक्त भोजन को महानस वैद्य पवित्र स्थान में छिपा कर सुरक्षित रखे। फिर विषनाशक ओषधियों से छुआ कर जलयुक्त पंखे से प्रोक्षित कर तथा सिद्ध मन्त्रों से भोजन के विष-प्रभाव को नष्ट कर सिद्ध हुये अन्न को राजा या अन्य गृहबन्धुओं को परोसना चाहिये ॥ ४५१-४५३ ॥

वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्नमाहारस्योपकल्पनाम् ।
घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते ॥ ४५४ ॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वै दलेषु च ।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥ ४५५ ॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत् ।
कट्वराणि खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत् ॥४५६॥
दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुश्रुतं पयः ।
पानीयं पानकं मद्यं मृन्मयेषु प्रदापयेत् ॥ ४५७ ॥
काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च ।
दद्याद्वैदूर्यपात्रेषु रागपाडवसट्टकान् ॥ ४५८ ॥
पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे ।
सूदः सूपौदनं दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥ ४५९ ॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च ।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥ ४६० ॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः ।
खडान् यूपांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥४६१॥
सर्वान् गुडविकारांश्च रागपाडवसट्टकान् ।
पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः ॥४६२॥
एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम् ।
भोक्तारं विजने रम्ये निःसम्पाते शुभे शुचौ ॥४६३॥
सुगन्धपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ॥ ४६४ ॥

अब इसके अनन्तर आहार की सम्पूर्ण उपकल्पना अर्थात् परोसने आदि विधि का वर्णन करता हूं। घृत-कृष्ण लोह के पात्र में परोसना चाहिये। पेय पदार्थ-चांदी के पात्र में, फल तथा सर्व प्रकार के भक्ष्य पदार्थ-ढाक, केला आदि के पत्रों पर परोसना चाहिये। सूखे तथा दही छाछ से प्रदिग्ध पदार्थ-सुवर्ण के पात्र में परोसे। द्रवपदार्थ तथा मांस-फलादि रस-चांदी के पात्र में देवें। कट्वर (तक्र) तथा खडयूपों को पत्थर की कटोरियों में परोसे। अच्छी प्रकार उबाल कर ठीक रूप से शीतल किया हुआ जल-ताम्बे के पात्र में भर कर देना चाहिये। अथवा पानी, पानक और मद्यों को मिट्टी के बने हुये कटोरों में भरकर देवें। अथवा शीतल और शुभ्र काच और स्फटिक के पात्रों में पानी, पानक और मद्य भर कर देवे एवं राग पाडव और सट्टक को वैडूर्य के विचित्र पात्रों में रख कर परोसे। सामने के निर्मल तथा चौड़े और मनोहर पात्र (कटोरी) में सूप (दाल) तथा थाली में चावल तथा चटनी, रायता आदि सुसस्कृत लेह्य पदार्थ परोसे। फल, सर्व प्रकार के भक्ष्य तथा अन्य सूखे (पापड़ फली) पदार्थ-भोजन करने वाले के दक्षिण पार्श्व में रखने चाहिये। अधिक द्रव पदार्थ, मांसादि रस, पीने का पानी, पानक (पना), दुग्ध, खड, यूप और अन्य पेय पदार्थों को भोक्ता के वामपार्श्व में रखे। गुड के बने हुये सर्व प्रकार के पदार्थ, रागपाडव और सट्टक इन्हें भोक्ता के सम्मुख तथा अन्य दायें-बायें रखे पदार्थों के मध्य में बुद्धिमान परोसने वाला परोसे। इस प्रकार बुद्धिमान वैद्य अथवा पर्यवेक्षक (रसोइया) भोजन की परोसकारी करके भोक्ता को एक तरफ, रमणीक, बाधारहित, शुभ्र, पवित्र, सुगन्धित पुष्पों से रचित समान प्रदेश में बिठाकर भोजन करावे ॥ ४५४-४६४ ॥

विमर्श.—परिशुष्कमांसम्-सिक्त बहुघृते भृष्ट मुद्गसूपान्वना मृदु। जीरकाद्यैर्घन मांस परिशुष्क तदुच्यते ॥ प्रदिग्धमांसं—तदेव गोरसादाम प्रदिग्धमिति विश्रुतम्। कट्वरलक्षणम्-सौवीराम्लमथात्यम्ल काञ्जिक कट्वर विदु । अन्ये तु तदर्धोभाग तक्र वा ह्रस्वलता गतम्। सस्नेह दधिज तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्। रागः—सिताऽरुचकसिन्दूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥ सट्टकम्—लवङ्ग व्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। दाडिमबीजसयुक्त चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्। सट्टकन्तु प्रमोदास्य नलादिभिरुदाहृतम् ॥

विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ।
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम् ॥ ४६५ ॥

स्वाभीष्ट कल्पनाविधि से बनाया हुआ तथा पथ्यकर और अनुकूल रसादियों से युक्त, मनोज्ञ, पवित्र, न अधिक उष्ण तथा तुरन्त का बना भोजन हितकर होता है ॥ ४६५ ॥

पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ।
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ॥४६६॥

भोजन विधि—भोजन में प्रथम मधुर पदार्थों का सेवन करना चाहिये। मध्य में अम्ल तथा लवण रस वाले पदार्थ खाने चाहिये। अन्त में शेष कटु-तिक्तादि रसों वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ ४६६ ॥

विमर्शः—पक्वाशयादिगत वातशान्त्यर्थं प्रथम मधुर रस, पित्ताशयगत पित्त तथा अग्न्याशयस्थ अग्निदीप्त्यर्थं मध्य में अम्ल, लवण रस और भोजन के अनन्तर उत्पन्न होने वाले कफ के शमनार्थं अन्त में कटु-तिक्तोपणादि रसप्रधान द्रव्यों के सेवन का विधान किया गया है।

आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान्।
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम् ४६७

बुद्धिमान् भोक्ता भोजन में प्रथम दाडिमादि फलों का सेवन करे उसके पश्चात् पेय पदार्थ तथा उनके बाद अन्त में विविध भोज्य और भक्ष्य पदार्थों का सेवन करे ॥ ४६७ ॥

घनं पूर्वं समश्नीयात् केचिदाहुर्विपर्ययम् ॥ ४६८ ॥
आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते।
निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ॥ ४६९ ॥
मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च।
पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुक्ते कदाचन ॥४७०॥

भोजन में प्रथम घन पदार्थों का सेवन करना चाहिये। कई आचार्य इसके विपरीत भोजन के प्रथम द्रव पदार्थों के सेवन का उपदेश करते हैं। भोजन के आदि (प्रथम), भोजन के अन्त तथा भोजन के मध्य में किसी प्रकार की बाधा न करने वाला तथा सर्वदोषनाशक तथा फलों में श्रेष्ठ आंवले के फलों को या उसके चूर्ण को सेवन करना मनुष्यों के लिये प्रशस्त है। मृणाल (कमल नाल), बिस (भिस या कमलतन्तु), कन्द तथा इक्षु (सांठे) प्रभृति पदार्थों का उपयोग सदा भोजन के पूर्व करना चाहिये। वैद्य इन पदार्थों का सेवन भोजन के पश्चात् न करावे ॥४६८-४७०॥

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः।
काले सात्म्य लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम्।
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयाद् मात्रावद्विदितागमः ॥४७१॥

सुखपूर्वक उच्चासन पर बैठ कर, देह को समावस्था में (सीधी) रख कर एवं अन्न सेवन में चित्त लगाता हुआ स्वास्थ्यशास्त्र के नियमों को जानने वाला बुभुक्षित (क्षुधी) मनुष्य योग्य समय में सात्म्य (अभ्यस्त तथा स्वहितकर), पचने में हलका, घृतादि से स्निग्ध, उष्ण तथा द्रवप्रधान ऐसा भोजन मात्रापूर्वक न अधिक धीरे और न अधिक जल्दी किन्तु आहिस्ते आहिस्ते ठीक चबा कर भोजन करे ॥ ४७१ ॥

विमर्शः—अन्यत्र भोजनविधिर्यथा—'अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत' इति। काले = नित्यगे आवस्थिके च द्विविधे काले, तत्र नित्यग—'याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्। याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद् बलक्षय ॥' इति। आवस्थिक—क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च। काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥' इति। सात्म्य हितकारि, लघु, स्निग्ध, क्षिप्र नातिद्रुत नातिविलम्बितम्, तथा चात्रेयः—'नातिद्रुतमश्नीयात् तथा नातिविलम्बितमश्नीयात्' इति। उष्ण द्रवोत्तर द्रवप्रधानम्, बुभुक्षित. भोजनकाले बुभुक्षित, अकाले बुभुक्षानिषेधं स्वयमेव वक्ष्यति—'भवत्यकालेऽपि तदा बुभुक्षा या मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति'। मात्रावत्, न त्वमात्रावत्; अन्यथाऽशुभ स्यात्। तदुक्त चरके—'त्रिविध कुक्षी स्थापयेदन्नाशशमाहारमुपयुञ्जान, तथथा—एकमवकाशाश मूर्त्तानामाहारविकाराणामेक द्रवाणामेक पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्, एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारज किञ्चिदशुभ प्राप्नोति'। अपीडन भवेत्कुक्षे पार्श्वयोरविपाटनम्। अन्नेन हृदयावाधो जठरस्य तु गौरवम्॥ प्रीणन चक्षुरादीनां शमन क्षुत्पिपासयोः। उच्छ्वासश्वासहास्यादिकथासु सुखवर्तनम्। सुखेन परिणाम स्यादन्ने भुक्ते दिवा निशि'॥

काले भुक्तं प्रीणयति सात्म्यमन्नं न बाधते।
लघु शीघ्रं व्रजेत् पाकं स्निग्धोष्णं बलवर्द्धिदम् ॥४७२॥
क्षिप्रं भुक्त समं पाकं यात्यदोषं द्रवोत्तरम्।
सुखं जीर्यति मात्रावद्धातुसाम्यं करोति च ॥ ४७३ ॥

योग्य समय में किया हुआ भोजन—देह, इन्द्रियां तथा आत्मा और मन को तृप्त करता है। सात्म्य अन्न चाहे कैसा भी हो वह मनुष्य को बाधा नहीं पहुँचाता है। हलका भोजन शीघ्र ही पच जाता है। तथा स्निग्ध और उष्ण भोजन शरीर के बल तथा पाचकाग्नि को बढ़ाता है। न जल्दी तथा न धीरे-धीरे उचित रीति से चबा कर खाया हुआ भोजन समानरूप से पच जाता है। द्रवप्रधान भोजन अदोष (दोषों को न बढ़ाता हुआ) आमाशयादि में चला जाता है या पच जाता है, मात्रापूर्वक खाया हुआ भोजन सुखपूर्वक पच जाता है तथा रस-रक्तादि धातुओं को समान रखता है ॥ ४७२-४७३ ॥

अतीवायतयामास्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः।
तेषु तत् प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रातरेव तु ॥ ४७४ ॥
येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः।
तेषु तत्कालविहितमपराह्णे प्रशस्यते ॥ ४७५ ॥
रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः।
कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम् ॥ ४७६ ॥

हेमन्त-शिशिरादि जिन ऋतुओं में अधिक लम्बे आयाम (प्रहर) वाली रात्रियां होती हैं उन ऋतुओं में तत्काल-बलप्रवृत्त दोषों के प्रतीकार के अनुसार स्निग्ध और उष्ण भोजन प्रातःकाल ही कर लेना चाहिये तथा जिन ऋतुओं (ग्रीष्म तथा प्रावृट्) में दिन अत्यन्त लम्बे (मोटे) हैं उनमें उस काल के अनुसार द्रव, लघु तथा शीतल भोजन अपराह्ण में खाना चाहिये। जिन ऋतुओं (शरद् और वसन्त) में रात्रि और दिन समान होते हैं उन ऋतुओं में अहोरात्र का समान भाग (विभाजन) करके मध्याह्न में भोजन कर लेना चाहिये ॥

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा।
अप्राप्तकाले भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ॥ ४७७ ॥
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति।
अतीतकाले भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ॥ ४७८ ॥
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न काङ्क्षति।

हीनमात्रमसन्तोषं करोति च बलक्षयम् ॥ ४७९ ॥
आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्।
तस्मात् सुसंस्कृतं युक्त्या दोषैरेतैर्विवर्जितम् ॥४८०॥
यथोक्तगुणसम्पन्नमुपसेवेत भोजनम्।
विभज्य दोषकालादीन् कालयोरुभयोरपि ॥ ४८१ ॥

अप्राप्त काल तथा अतीत काल में भोजन भी नहीं करना चाहिये एवं हीन मात्रा में तथा अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये। अप्राप्त काल में भोजन करने वाला मनुष्य शरीर के हल्के नहीं होने से भिन्न-भिन्न अजीर्ण, विसूचिकादि रोगों को प्राप्त करता है अथवा कभी कभी मृत्यु तक को प्राप्त करता है। अतीत काल में भोजन करने वाले का अन्न वायु-वृद्धि से पाचकाग्नि के नष्ट होने के कारण कष्ट से पचता है तथा दूसरे (रात्रि के) समय भोजन करने की इच्छा नहीं होती। अल्पमात्रा में किया हुआ भोजन असन्तोष (अतृप्ति) करता है तथा शरीर के बल को भी क्षीण करता है। अधिक मात्रा में किया हुआ भोजन-आलस्य, भारीपन, आटोप तथा अग्निमान्द्य इन्हें अधिक करता है इसलिये उत्तम विधि से संस्कृत किया हुआ तथा युक्तिपूर्वक और उपर्युक्त दोषों से रहित एवं शास्त्रीय अन्नके गुणों से सम्पन्न एवं दोष तथा काला-दिकों का विभाग करके दोनों समय भोजन करना चाहिये॥

विमर्शः—अधिकभोजने मनुरपि दोषमाह-'अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्। अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥' इति। 'सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिनोदितम्। नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥'

अचोक्षं दुष्टमुत्सृष्टं पाषाणतृणलोष्टवत्।
द्विष्टं व्युषितमस्वाद्वु पूति चान्नं विवर्जयेत् ॥ ४८२ ॥
चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः।
अशान्तमुपदग्धं च तथा स्वाद्वु न लक्ष्यते ॥ ४८३ ॥

निन्दितान्न—अचोक्ष (अपवित्र), विषादि से दुष्ट, खाकर शेष छोड़ा हुआ (झूंठन), पाषाण, तृण तथा मिट्टी के लोष्ट (ढेले) से व्याप्त, द्विष्ट (चित्त विपरीत), व्युषित (रात का बासी), बेस्वाद, दुर्गन्धित, ऐसे को वर्जित कर देना चाहिये एवं जो बहुत समय से बनाकर रखा हुआ हो, स्थिर (सख्त), ठण्डा, फिर से गरम किया हुआ, अशान्त (अधिक गरम), जला हुआ तथा जो स्वाद्वु नहीं लगता हो उसे भी वर्जित कर देना चाहिये॥ ४८२-४८३॥

यद्यत् स्वादुतरं तत्तद्विद्यादुत्तरोत्तरम्।
प्रक्षालयेद्द्विरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ॥ ४८४ ॥
विशुद्धरसने तस्मै रोचतेऽन्नमपूर्ववत्।
स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनातितर्पितम् ॥ ४८५ ॥
न तथा स्वादयेदन्यत्तस्मात् प्रक्षाल्यमन्तरा।
सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखम् ॥ ४८६ ॥
स्वादु सञ्जनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम्।
भुक्त्वाऽपि यन् प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम् ४८७

भोक्ता को जो जो भक्ष्य पदार्थ अधिक स्वादु हो उन्हें उत्तरोत्तर परोसने चाहिये। अर्थात् प्रथम कम स्वाद की, उसके बाद अधिक स्वाद की और उसके भी बाद और अधिक स्वाद की वस्तु दे। भोजन करते समय एक प्रकार की या रसवाली वस्तु खा लेने के बाद तथा दूसरे रस की वस्तु खाने के पूर्व मुख को जल के द्वारा कुरला करके साफ कर लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से मुख तथा रसना साफ हो जाती है जिससे बाद में खाया हुआ अन्न पूर्व से भी अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगता है। प्रथम खाये हुये स्वादु पदार्थ से अधिक तर्पित जिह्वा दूसरे पदार्थ से वैसी तर्पित नहीं हो सकती इसलिये दोनों के मध्य में मुख का प्रक्षालन कर लेना आवश्यक है। स्वादु अन्न-मन की प्रसन्नता, शरीर का बल, पुष्टि, उत्साह, हर्ष और सुख को उत्पन्न करता है तथा अस्वादु अन्न इससे विपरीत होता है। पूरा भोजन करने के बाद भी जिस पदार्थ को खाने की इच्छा होती हो उसे स्वादु भोजन कहते हैं॥ ४८४-४८७॥

अशितश्चोदकं युक्त्या भुञ्जानश्चान्तरा पिबेत् ॥४८८॥
दन्तान्तरगतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः।
कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम् ॥ ४८९ ॥

भोजन कर लेने पर तथा भोजन के मध्य में युक्तिपूर्वक स्वल्प मात्रा में जल पीना चाहिये। दांतों के बीच में घुसे हुये अन्न को किसी चांदी या ताम्र की पतली शलाका से या नीम के तिनके से धीरे धीरे निकाल लेना चाहिये। यदि इसे न निकाला जाय तो मुख में दुर्गन्ध पैदा कर देता है॥४८८-४८९॥

विमर्शः—भोजन के पूर्व या अन्त में जल पीने से पाचक रस दुर्बल हो जाते हैं अतः मध्य में थोड़ा सा जल आवश्यकता हो तो पीना चाहिये। अच्छा हो कि भोजन के एक दो या तीन घण्टे के बाद थोड़ा थोड़ा जल पिया करे। भोजनान्ते विषं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्। अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्न निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥ (भावप्र०)। दांतों में फँसे अन्न को न निकालने से वहां सड़न होने लगती है। मुख से बदबू आने लगती है। दांतों की जड़ खराब होकर उस पर शर्करा (Terter) जमने लगती है तथा मसूड़ों में पूयजनक जीवाणु अपना निवास करके दन्तवेष्ट (Pyorrhoea) नामक रोग पैदा कर देता है जिससे धीरे धीरे दांत भी गिरने लगते हैं। इसका पूय तथा जीवाणु विष थोड़ा थोड़ा लाला के साथ या खाद्य-पेय के साथ आमाशय में जाता है जिससे मन्दाग्नि रोग हो जाता है और खून में भी पूय व विष के मिलते रहने से हलका सा ज्वर रहने लगता है तथा दिन-प्रतिदिन स्वास्थ्य गिरने लगता है अतएव भोजन के बाद अन्नकणों को निकाल कर ठीक तरह से जल द्वारा मुख साफ कर लेना चाहिये। वाग्भट तो भोजन के बाद भी दन्तधावन करना बताते हैं—आचम्य चोक्त्वा च मुहूर्तं कषायकटुतिक्तकम्। भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्।

जीर्णेऽन्ने वर्द्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि तस्माद् भुक्तेरितं कफम् ॥४९०॥
धूमेनापोह्य हृद्यैर्वा कषायकटुतिक्तकैः।
पूगकङ्कोलकर्पूरलवङ्गसुमनःफलैः ॥ ४९१ ॥
कटुतिक्तकषायैर्वा मुखवैशद्यकारकैः।
ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धैर्वा विचक्षणः ॥ ४९२ ॥

अन्न के पच जाने पर वायु बढ़ती है तथा विदग्धावस्था (पाकावस्था) में पित्त बढ़ता है एवं भोजन करने के बाद ही कफ बढ़ता है इस लिये भोजन के बाद उत्पन्न हुये या उत्पन्न होने वाले कफ को धूम-पान के द्वारा अथवा कषाय, कटु (चरपरे), तिक्त (कडवे) जैसे-सुपारी, कंकोल, कपूर, लौंग जायफल (जावित्री, इलायची, दालचीनी) आदि द्रव्य पदार्थों के सेवन द्वारा किंवा ताम्बूल पत्र के साथ दूसरे सुगन्धित कटु, तिक्त, कषाय तथा मुख को स्वच्छ करने वाले द्रव्यों से विचक्षण (बुद्धिमान्) मनुष्य उसे (कफ को) नष्ट करे॥

विमर्शः—आयुर्वेद का धूमपान औषधों से बनता है अतः उसका प्रयोग ठीक है किन्तु वर्तमान में जो बीड़ी, सिगरेट आदि का प्रचार अत्यधिक बढ़ गया है वह देश के लिये तथा स्वास्थ्य के लिये घातक है। तमाखू में निकोटीन नामक सञ्चारी विष होता है वह धीरे २ शरीर में जमा होकर भयङ्कर नुकसान पहुंचाता है। धूम्रपान से फेफडे के रोग-कास, श्वास, उरःक्षत तथा क्षय सरीखे धन और प्राणों के नाशक रोग पैदा होते हैं अत एव इसे सर्वथा वर्जित करना चाहिये।

भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥ ४९३॥
शब्दरूपरसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥ ४९४॥
शब्दरूपरसाः स्पर्शा गन्धाश्चापि जुगुप्सिताः।
अशुच्यन्नं तथा भुक्तमतिहास्यं च वामयेत्॥४९५॥
शयनं चासनं वाऽपि नेच्छेद्वाऽपि द्रवोत्तरम्।
नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम्॥४९६॥

भोजन करने के बाद जब तक अन्न का क्लम (भारीपन) न गया हो तब तक ५-१० मिनिट राजा के समान अर्थात् सीधा सोना, शिर और कमर करके बैठना चाहिये। इसके अनन्तर सौ पांवडे इतस्ततः भ्रमण कर वापस आके वामपार्श्व से अर्थात् बांई करवट लेट जाना चाहिये। भोजन किया हुआ मनुष्य मन को प्रिय लगने वाले गायन या बच्चों के कर्णप्रिय शब्द, अच्छे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सेवन करे जिससे उसका खाया हुआ अन्न भली प्रकार से आमाशयादि में रहता है तथा ठीक पचता है। मन को अप्रिय लगने वाले शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध, खराब तथा ज्यादा मात्रा में खाया हुआ अन्न एवं भोजन के समय या पश्चात् अधिक हँसना-ये अन्न का वमन करा देते हैं। भोजन के अनन्तर अधिक देर तक सोना, बैठना, अधिक पतली वस्तु का पीना, अग्नि और धूप का सेवन, पानी में तैरना, जोर से चलना तथा घोड़े आदि पर बैठना-ये सब वर्जित करना चाहिये॥

विमर्श.—भोजन के अनन्तर कम से कम एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) अवश्य आराम करना चाहिये। व्यायामञ्च व्यवायञ्च धावनं यानमेव च। युद्धं गीतञ्च पाठञ्च मुहूर्त्तं मुक्तवाँस्त्यजेत्॥ भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चङ्क्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावत॥ (योग र०)। आयुर्वेद के ये उक्त वाक्य अक्षरशः सत्य व पूर्ण वैज्ञानिक है। भोजन के बाद शारीरिक तथा मानसिक आराम अत्यावश्यक है; कहा भी है—Sit a while after binner। पाचन के समय और आमाशयादि पाचनसंस्थान की तरफ पाचक रसों के अधिक स्राव कराने के लिये रक्तसञ्चार अधिक आरम्भ हो जाता है तथा त्वचा मस्तिष्क की तरफ रक्त कम जाता है जिससे ठण्ड लगना तथा तन्द्रादि लक्षण होते हैं। यदि भोजन के बाद श्रम किया जाय तो रक्त उन अङ्गों में अधिक जाने लगेगा और पाचन ठीक न होगा। भोजन के अनन्तर दौड़ना, व्यायाम करना, मैथुन करना प्राणघातक हैं। 'मृत्युर्धावति धावत.'।

न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन।
शाकावरान्नभूयिष्ठमम्लं च न समाचरेत्॥
एकैकशः समस्तान् वा नाभ्यश्नीयाद्रसान् सदा॥४९७॥

सदा एक ही प्रकार के रस के सेवन में आसक्त नहीं होना चाहिये तथा अधिक शाक, अवर (कुत्सित) अन्न और अम्ल पदार्थ अधिक मात्रा में नहीं खाने चाहिये। एक एक अथवा समस्त रसों को भी अधिक प्रमाण में सदा सेवन नहीं करने चाहिये॥ ४९७॥

प्राग्भुक्ते त्वविविक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत्।
पूर्वभुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम्॥४९८॥
मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः।
पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्राया वा बुभुक्षितः॥ ४९९॥
द्विगुणं च पिबेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति।
पेयलेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्याद्यथोत्तरम्॥ ५००॥
गुरूणामर्द्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते॥ ५०१॥

पूर्व या प्रातःकाल के प्रथम भोजन के पश्चात् जब तक पाचकाग्नि शुद्ध या तीक्ष्ण न हो जाय दुबारा संध्या को अन्न नहीं देना चाहिये क्योंकि पूर्व का खाया हुआ अन्न विदग्ध (अधपचा) होने पर दुबारा भोजन करने वाला मनुष्य अपनी पाचकाग्नि को नष्ट करता है। मात्रा से भारी अर्थात् अधिक प्रमाण में और द्रव्य की दृष्टि से भारी आहार को वर्जित कर देना चाहिये। पिष्टान्न या गरिष्ठ पदार्थ नहीं खाने चाहिये अथवा क्षुधा पीडित मनुष्य मात्रापूर्वक ही उन्हें सेवन करे तथा उन्हें खाने पर द्विगुण जलपान करे। ऐसा करने से वे पिष्टान्न (गरिष्ठ पदार्थ) सुख से पच जाते हैं। पेय, लेह्य (मधु, श्रीखण्ड), अद्य (खाद्य जैसे चावल) तथा भक्ष्य (लड्डू, चने आदि) ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से भारी होते, हैं। जो पदार्थ भारी होते हैं उन्हें आधी तृप्ति तक सेवन करना चाहिये तथा जो लघु होते हों उन्हे पूर्ण तृप्ति तक की मात्रा में खा सकते हैं॥ ४९८-५०१॥

विमर्शः—गुरु पिष्टमय द्रव्य तण्डुलान् पृथुकानपि। न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रा खादेद् बुभुक्षितः॥ द्रव्यापेक्षया च त्रिभाग-सौहित्यमर्धसौहित्य वा गुरूणामुपदिश्यते (चरकः)।

द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते।
द्रवाद्यमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते॥ ५०२॥
विशुष्कमन्नमभ्यस्त न पाकं साधु गच्छति।
पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति॥ ५०३॥
स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्वौ वा यस्य तिष्ठति।

विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥ ५०४ ॥
शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् ॥ ५०५ ॥

द्रव जिसमें अधिक हो ऐसे पदार्थ तथा केवल द्रव पदार्थों को प्रमाण (मात्रा) से गुरु (अधिक) रूप में नहीं सेवन करने चाहिये किन्तु द्रव की आढ्यता (अधिकता) से युक्त सूखे पदार्थ अच्छी प्रकार से पचते हैं। केवल विशुष्क अन्न का सेवन करने से वह ठीक रूप से नहीं पचता है। पिण्ड रूप में किया हुआ तथा द्रवादि से गीला नहीं किया हुआ अन्न सेवन करने से विदाह को प्राप्त हो जाता है। अन्नवाहक स्रोतस (Stomach) में तथा पित्त के स्थान (निर्माणदृष्टि से यकृत् Liver तथा सञ्चय-दृष्टि से Gall Bladder और कार्यकारण-दृष्टि से ग्रहणी (Deodenum) में जब पित्त रुक जाता है उस दशा में खाया हुआ विदाही अन्न तथा अविदाही अन्न दोनों विदग्ध हो जाते हैं। शुष्कभोजन, विरुद्ध भोजन तथा विष्टम्भ (कब्ज, शूल, आनाह) करने वाला भोजन जाठराग्नि को नष्ट कर देता है ॥ ५०२-५०५ ॥

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥५०६॥

कफ की दुष्टि से आमाजीर्ण, पित्त की दुष्टि से विदग्धाजीर्ण तथा वात की दुष्टि से विष्टब्धाजीर्ण होता है। कई आचार्य एक चौथा रसशेषाजीर्ण भी मानते हैं ॥ ५०६ ॥

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा
सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्त-
मन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥ ५०७ ॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन
लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमान-
मन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥ ५०८ ॥

अधिक जल पीने से, विषम अशन (भोजन) करने से, अधारणीय वेगों के धारण करने से, सोने में अनियमितता करने से, योग्य समय में तथा लघु भोजन करने पर भी वह ठीक तरह से नहीं पचता है। ईर्ष्या, भय तथा क्रोध से व्याप्त, लोभी तथा रोग और दीनता से युक्त एवं मात्सर्य युक्त पुरुष के द्वारा सेवन किया हुआ अन्न ठीक तरह से नहीं पचता है ॥ ५०७-५०८ ॥

माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं
विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम् ।
किञ्चिद्विपक्वं भृशतोदशूलं
विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम् ॥ ५०९ ॥
उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा
न जायते हृद्गुरुता च यस्य ।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं
चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥५१०॥

कफ के प्रभाव से माधुर्य को प्राप्त अन्न आमाजीर्ण-संज्ञक, पित्त के कारण अम्लता को प्राप्त अन्न विदग्धाजीर्ण-संज्ञक एवं जब वायु के कारण कुछ पका हुआ तथा पेट में अत्यन्त सूई चुभोने की सी पीड़ा और शूल होताहै तथा वात का अवरोध हो जाता है या वायु खुल कर नहीं सरती है तब उसे विष्टब्धाजीर्ण संज्ञक कहते हैं। डकार के शुद्ध होने पर भी भोजन करने की आकांक्षा न होती हो तथा हृदय में जब भारीपन एवं मुख में पानी, थूक या लार भरी रहती हो तब उसे चतुर्थ रसशेषाजीर्ण कहते हैं ॥ ५०९-५१० ॥

विमर्शः—आमाद्यजीर्णलक्षणानि—तत्रामे गुरुतोल्लेद शोथौ गण्डाक्षिकूटयो । उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ विष्टब्धे शूलमाध्मान विविधा वातवेदना । मलवातप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः । उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते । रसशेषोऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे ॥ (अ सं.) । अजीर्णभेदाः—'माधवकर' ने अजीर्ण के ६ भेद लिखे हैं—आम विदग्ध विष्टब्ध कफपित्तानिलैस्त्रिभिः । अजीर्ण केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥ अजीर्ण पञ्चम केचिन्निर्दोष दिनपाकि च । वदन्ति षष्ठ चाजीर्ण प्राकृत प्रतिवासरम् ॥

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ ५११ ॥

मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, लालादिस्राव, अङ्गों का टूटना या उनकी निर्बलता या ग्लानि तथा भ्रम ये अजीर्ण के उपद्रव होते हैं। कभी कभी अजीर्ण से मृत्यु भी हो जाती है ॥५११॥

तत्रामे लङ्घनं कार्यं विदग्धे वमनं हितम् ।
विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे शयीत च ॥ ५१२ ॥

अजीर्णचिकित्सा सूत्र—आमाजीर्ण में लंघन, विदग्धाजीर्ण में वमन, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन और रसशेषाजीर्ण में शयन हितकारी होता है ॥ ५१२ ॥

वामयेदाशु तं तस्मादुष्णेन लवणाम्बुना ।
कार्यं चानशनं तावद्यावन्न प्रकृतिं भजेत् ॥ ५१३ ॥
लघुकायमतश्चैनं लङ्घनैः समुपाचरेत् ।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥ ५१४ ॥

अजीर्ण के रोगी को शीघ्र ही उष्णजल में लवण मिला कर वमन कराना चाहिये तथा जब तक अजीर्ण ठीक न होकर प्रकृतिस्थ न हो जाय तब तक अनशन या लंघन करना चाहिये। इस तरह काया के हलकी होने तक और रोगी के दोषदृष्टि से एवं प्राण (जीवन) दृष्टि से प्रकृतिस्थ होने तक लंघन द्वारा उपचार करना चाहिये ॥ ५१३-५१४ ॥

हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम् ।
बहु स्तोकमकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम् ॥ ५१५ ॥
अजीर्णे भुज्यते यत्त तदध्यशनमुच्यते ।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून् व्याधीन् करोति वा ॥५१६॥

हित तथा अहितकर दोनों प्रकार के पदार्थ संयुक्तकर भोजन करना 'समशन' कहलाता है तथा कभी अधिक मात्रा में या कभी अल्पमात्रा में और वे समय में भोजन करना 'विषमाशन' कहलाताहै। पूर्व खाये भोजन के ठीक तरह से न पचने पर फिर दुबारा जो भोजन कर लिया जाता है उसे

'अध्यशन' कहते हैं। ये तीनों प्रकार के भोजन शीघ्र ही मनुष्य को मार डालते हैं अथवा अनेक प्रकार के (विसूचिका, अलसक, विलम्बिकादि) रोग उत्पन्न करते हैं ॥ ५१५-५१६ ॥

अन्नं विदग्धं हि नरस्य शीघ्रं
शीताम्बुना वै परिपाकमेति।
तद्धस्य शैत्येन निहन्ति पित्त-
माक्लेदिभावाच्च नयत्यधस्तात् ॥ ५१७ ॥

पित्त की दुष्टि से मनुष्य का विदग्ध हुआ अन्न शीतल जल के पान से शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है कारण कि वह शीतल जल अपने शैत्यभाव से प्रकुपित पित्त को नष्ट कर देता है तथा अपने आर्द्रभाव से उसे नीचे दस्त के द्वारा निकाल देता है ॥ ५१७ ॥

विदह्यते यस्य तु भुक्तमात्रे
दह्येत हृत्कोष्ठगलं च यस्य।
द्राक्षाऽभयां माक्षिकसम्प्रयुक्तां
लीढ्वाऽभयां वा स सुखं लभेत ॥ ५१८ ॥

जिस मनुष्य के भोजन के बाद ही हृदय, कण्ठ और गले में जलन होने लग जाय उसे मुनक्का तथा हरड़ के चूर्ण को शहद के साथ चटाने से अथवा केवल हरड़ के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से वह सुख को प्राप्त करता है ॥ ५१८ ॥

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का
स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले।
प्रातः स शुण्ठीमभयामशङ्को
भुञ्जीत सम्प्राश्य हितं हितार्थी ॥ ५१९ ॥
स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं
लीनं न तेजःपथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा
सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति ॥ ५२० ॥

बलवान् तथा स्निग्ध शरीर वाले जिस मनुष्य को भोजन के समय अजीर्ण की शङ्का हो जाय तब वह निज हितार्थ सोंठ के चूर्ण के सहित हरड़ के चूर्ण को शङ्कारहित होकर सेवन करके हितकर भोजन कर लेवे। जब दोषों से विबद्ध हुआ थोड़ा सा भोजन का आमांश अन्नादिवाहक स्रोतसों में लीन होकर पित्त के मार्ग को नहीं रोकता है तब अजीर्ण होने पर भी भूख लगी रहती है किन्तु वह झूठी भूख उस मन्द बुद्धि वाले मनुष्य को विष के समान मार डालती है ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥ ५२१ ॥

अब इसके अनन्तर द्रव्य में रहने वाले गुणों के कर्म का विस्तार से वर्णन करते हैं। नाना द्रव्यों के आश्रित गुणों का ज्ञान उनके कर्म से ही अनुमेय (ज्ञेय) होता है ॥ ५२१ ॥

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः ॥ ५२२ ॥
स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥ ५२३ ॥
पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥ ५२४ ॥
दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो, मृदुरन्यथा।
साटोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः ॥ ५२५ ॥
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादीस्तान्निबोध मे ॥५२६॥

द्रव्याश्रित शीत गुण-उष्णता से पीड़ित मनुष्यों को सुख पहुचाने वाला, स्तम्भक तथा मूर्च्छा, तृष्णा, स्वेद और दाह को नष्ट करता है किन्तु उष्ण गुण-शीतगुणों से विपरीत होता है और विशेषकर पाचक होता है। स्निग्ध गुण-शरीर में स्निग्धता तथा मृदुता का जनक एवं देह के बल और वर्ण को बढ़ाता है। रूक्षगुण-स्निग्ध के विपरीत होता है परन्तु वह विशेषकर अतिसारादि में स्तम्भन कार्य करता है तथा खर-स्पर्शयुक्त होता है। पिच्छिलगुण-जीवन शक्ति का वर्द्धक, बलजनक, भग्नास्थियों का संधान करने वाला कफ-कारक और भारी होता है। विशद गुण-इससे विपरीत होता है तथा क्लेद का शोषण करने वाला एवं व्रण का रोपक होता है। तीक्ष्ण गुण-दाह, पाक और व्रणादि से स्राव कराता है किन्तु मृदुगुण-इससे विपरीत होता है। गुरु गुण-साद (ग्लानि), उपलेप (देह में मलवृद्धि) तथा बल को बढ़ाता है तथा शरीर, इन्द्रियां, मन और आत्मा को तृप्त करने वाला तथा देह का पोषक होता है किन्तु लघुगुण-इसके विपरीत लेखन करने वाला एवं व्रण का रोपक होता है। इस तरह आदि के दशगुण उनके विशिष्ट कर्मों के अनुसार कह दिये हैं। अब द्रवादि अन्य दश गुणों का वर्णन करता हूं उन्हें सुनो ॥ ५२२-५२६ ॥

विमर्शः—द्रवादीन् = द्रवसान्द्रश्लक्ष्णकर्कशसुगन्धदुर्गन्धसरमन्द-व्यवायिविकास्याशुकारिसूक्ष्मगुणान्।

द्रवः प्रक्लेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः।
श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा ॥५२७॥
सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः।
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद् घृल्लासारुचिकारकः ॥ ५२८ ॥
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो, मन्दो यात्राकरः स्मृतः।
व्यवायी चाखिल देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥ ५२९ ॥
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्।
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ॥ ५३०॥
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।
गुणा विंशतिरित्येवं यथावत्परिकीर्त्तिताः ॥ ५३१ ॥

द्रवगुण-शरीर में क्लेद करने वाला है। सान्द्रगुण-देह को स्थूल करने वाला तथा बन्धन (उपचय) कारक है। श्लक्ष्णगुण-पिच्छिल के समान होता है तथा कर्कशगुण-विशद के समान होता है। सुगन्धगुण-सुख का जनक, सूक्ष्म, रोचक, तथा मृदु होता है। दुर्गन्धगुण-इसके विपरीत होता है तथा हृल्लास और अरुचिकारक होता है। सरगुण-वातादि का अनुलोमक

होता है तथा मन्दगुण-देह की यात्रा को करने वाला है। व्यवायी गुण-प्रथम समस्त शरीर में व्याप्त होकर पश्चात् परिपक्व होता है। विकासीगुण-अपक्वावस्था में ही समग्र शरीर में फैलकर मद्य तथा विष के समान शरीर की धातुओं को तथा सन्धिबन्धनों को शिथिल करता है। आशुकारी गुण-जल में डाले हुये तैल की तरह अपनी शीघ्रगति से समस्त शरीर में फैलता है। सूक्ष्मगुण-अपनी सूक्ष्मता से शरीर के सूक्ष्म स्रोतसों में प्रविष्ट करता है। इस तरह इन बीस गुणों का यथावत् वर्णन कर दिया है ॥ ५२७-५३१ ॥

विमर्शः—यद्यपि गणना के नाम से सुश्रुत बीस गुणों का नाम लेता है किन्तु इन अन्तिम द्रवादि गुण दश न होकर बारह हैं अतएव असली सुश्रुत का पाठ अन्य ही होना चाहिये था। वाग्भट भी बीस गुण ही मानता है जैसे—गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः। गुणाः सूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ चरक ने भी बीस गुण लिखे हैं यथा— विंशतिगुणो गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात् ॥ श्रीभावमिश्रः-'सुश्रुते तु गुणा एते विंशतिस्तान् ब्रुवे शृणु। गुरुर्लघु स्निग्धरूक्षौ तीक्ष्णः श्लक्ष्णः स्थिरः सरः ॥ पिच्छिलो विशदः शीत उष्णश्च मृदुकर्कशौ। स्थूल सूक्ष्मो द्रव शुष्क आशुर्मन्द. स्मृता गुणा.॥' इति। 'पूर्व व्याप्याखिल कार्यं ततः पाक च गच्छति। व्यवायि तथथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम् ॥' इति। 'सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत्करोति विकासि तत्। विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवा ॥' इति।

सम्प्रवक्ष्याम्यतश्चोर्ध्वमाहारगतिनिश्चयम् ॥ ५३२ ॥

अब इसके अनन्तर आहार की गति के निश्चय के विषय में वर्णन करता हूँ ॥ ५३२ ॥

विमर्शः—आहार की गति या परिवर्तन फूड मेटाबोलिज्म (Food metabolism) है। शरीर में एनाबोलिज्म (Anabolism) या रचनात्मक क्रिया तथा केटाबोलिज्म (Katabolism) या विनाशात्मक क्रिया करके दो कार्य होते रहते हैं। ये दोनों क्रियाएँ साथ साथ चलती रहती हैं। प्रथम क्रिया से सेवित-खाद्य द्रव्यों के रस-रक्तादि बन कर शरीर की वृद्धि, क्षतिपूर्ति और रक्षा होती है। द्वितीय क्रिया से शारीरिक धातुओं में Co_2 गैस, जल, अमोनिया यूरिया आदि अनुपयोगी त्याज्य पदार्थ बन कर स्वेद, मूत्र और प्रश्वास बाहर निकलते हैं।

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्द्धयेत् ॥५३३॥

पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों से बने हुये देह में गया हुआ पाञ्चभौतिक आहार पाचक पित्त या अग्नि (पाचक रसों) द्वारा ठीक तरह से पक्व होकर अपने अपने गुण वाले शारीरिक अङ्ग या धातुओं को बढ़ाता है ॥ ५३३ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद देह को पञ्चभूतनिर्मित मानता है। पाश्चात्यविज्ञान समस्त पदार्थों को नव्वे तत्त्वों (Elements) से बना मानते हैं जिनमें से शरीर में २५ मूल तत्त्व पाये जाते हैं। आक्सिजन, कार्बन, हैड्रोजन, नैट्रोजन, फोस्फोरस, चूना, गन्धक, क्लोरीन, सोडियम, लोह, पुटेशियम, मेग्नेशियम तथा फ्लोरिन ये मुख्य है। देह में प्रोटीन, फैट, कार्बो हैड्रेट, साल्ट और जल ये पांच मुख्य हैं तथा देह-पोषणार्थ भोजन में भी ये पञ्च तत्त्व अवश्य होने चाहिये। आयुर्वेद आहार को पाञ्चभौतिक मानता है किन्तु डाक्टरी इन्हीं प्रोटीनादि पांच तथा विटामिन से युक्त आहार को मानते हैं। चरके अन्नपरिपाकक्रियावर्णनम्-अन्नमादानकर्मा तु प्राण कोष्ठ प्रकर्षति। तद् द्रवैर्भिन्नसघात स्नेहेन मृदुता गतम् ॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्य पवनेन तु। काले मुक्त सम सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ एव रसमलायान्नमाशयस्थमध. स्थित। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्तु तण्डुलम् ॥ अन्नस्य भुक्तमात्रस्य पड्रसस्य प्रपाकतः। मधुरात्प्राक् कफोऽझाद् फेनभूत उदीर्यते ॥ परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावत। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायु स्थात्कट्टभावत ॥ अन्नमिष्ट द्युपकृतमिष्टैर्गन्धादिभि. पृथक्। देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥ भौमाप्याग्नेयवायव्या पञ्चोष्माणः सनाभसा'। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥ यथास्व स्वञ्च पुष्यन्ति देहद्रव्यगुणा पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषाश्च कृत्स्नश ॥ सप्तभिर्दैहधातारो द्विविधाश्च पुनः पुन'। यथास्वमग्निभि पाक यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ (च. ग्रहणीचिकित्सा)। डाक्टरी में आहार के कार्बो हैड्रेट का पाचन मुख के लालारस से तथा वहां से आमाशय में जाने पर आमाशयिक रस (Gastric juice) द्वारा पाचन तथा वहां से ग्रहणी में जाने पर भोजन के फैट, प्रोटीन तथा कार्बो हैड्रेटस का पाचन यकृत् तथा पित्ताशय से आये हुये पित्त (Bile), अग्न्याशय (Pancrease) से आये हुये अग्निरस (Panoratio juice) एवं आन्त्रिक रस (सकस इण्टेटिकस) के द्वारा होता है। इस प्रकार सम्यक् पचे हुये भोजन का द्रवांश या रसांश ग्रहणी से आगे क्षुद्रान्त्र में पहुंचता है। क्षुद्रान्त्र की दीवारों में लगी हुई रसाङ्कुरिकाएं (Villi) फेट के पाचन से बने हुये सारभूत रसांश का शोषण कर रस प्रपा (Cisterna chyle) में जाता है तथा वहां से रसकुल्या में और रसकुल्या से अक्षका धरा सिरा (Subclavian vein) के रक्त में मिल जाता है। पचे भोजन के प्रोटीन तथा शर्करा जातीय पदार्थ के सूक्ष्मरसांश प्रतिहारिणी सिरा की सूक्ष्म शाखा द्वारा प्रथम यकृत् में तथा वहां से अधरा महासिरा में होते हुये हृदय के दक्षिणालिन्द में पहुच जाते हैं। रसों से बचे हुये शेष स्थूल भाग वृहदन्त्र में घूमते हुये मल के रूप में गुद द्वारा बाहर निकल जाते हैं।

अविदग्धः कफं पित्तं विदग्धः पवनं पुनः।
सम्यग्विपक्वो निस्सार आहारः परिबृंहयेत् ॥ ५३४ ॥

अविदग्ध (मधुरावस्था को प्राप्त) आहार कफ को बढ़ाता है। विदग्ध (अम्लावस्था को प्राप्त) आहार पित्त को बढ़ाता है तथा ठीक तरह से पकने पर (रसादि के शोषण से बचा हुआ) निःसार (मल या किट्टरूपी) आहार वायु को बढ़ाता है ॥ ५३४ ॥

विमर्शः—'आहार के प्रथम कफ बनाने का तात्पर्य लाला रस को उत्तेजित करना तथा विदग्धावस्था में पित्त बनाने का तात्पर्य Bile को उत्तेजित करना एवं पाकानन्तर वृहदन्त्र में जाकर वायु बनाने का तात्पर्य वहां सडन से Gases बनती हैं' ऐसे समन्वय समझना चाहिये।

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥५३५॥

पचे हुये आहार का मल-विष्ठा और मूत्र हैं तथा सार-भाग रस कहलाता है। यह रस व्यान वायु से प्रेरित होकर शरीर की समस्त रस-रक्तादि धातुओं को तृप्त करता रहता है॥

विमर्शः—सारमलमूत्रनिर्माणगमनवर्णनं शार्ङ्गधरे यथा—आहारस्य रस सार सारहीनो मलद्रव'। सिराभिस्तज्जल नीत वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्॥ तत् किट्ट च मल ज्ञेय तिष्ठेत्पक्वाशये च तत्। बलित्रितयमार्गेण यात्यपानेन नोदितम्॥' इति। अन्यच्च—तत्राच्छ किट्टमन्नस्य मूत्र विद्याद् घन शकृत् (वाग्भटः)। इस तरह आयुर्वेद मूत्र को मल की तरह आंत्र में बनना मानते हैं तथा आन्त्र से सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा यह मूत्र बस्ति में पहुंचता है तथा वृक्क का कार्य चरबी को पुष्ट करने (बनाने) का मानता है। 'वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदस' किन्तु डाक्टरी मत से वृक्क के सेल वृक्कीयधमनी द्वारा वृक्क में गये हुये रक्त से यूरिआ, यूरिक एसिड तथा त्याज्य जलीयांश को पृथक् कर देते हैं तथा ये पदार्थ दो गविनियों (Uretors) द्वारा मूत्राशय में पहुच कर मूत्र संज्ञा को प्राप्त होते हैं। वस्तुतस्तु वेद में यह वर्णन स्पष्ट मिलता है जिसे गुरुवर्य गणनाथसेन जी ने प्रत्यक्ष शारीर में स्पष्ट लिखा है। यदान्त्रेषु गविन्योर्यद् यद्वस्तावधिसश्रितम्। मूत्रमेव तदुच्यता वह्निर्वालौनिसज्ञकम्॥ व्यान वायु हृदयस्थ प्राणवायु का ही एक भेद है। 'व्यानो हृदि स्थित' (वाग्भटः) रस तथा रस-संवहन (Blood ceroulation) का कार्य करती है। 'रससव-नोयत' (सुश्रुतः)

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मला॥५३६॥

सप्तधातुओं की उनमें रहने वाली सात अग्नियों से पाक होने पर उनसे क्रमशः बनने वाले मल जैसे-रस का कफ, रक्त का पित्त, मांस का कर्णनासादिस्रोतसस्थित मल, मेद का स्वेद, अस्थि का नख तथा रोम तथा मज्जा का नेत्र मल और त्वचा का स्नेहांश ये इन धातुओं के मल होते हैं॥५३६॥

विमर्श—वाग्भट ने ओज को शुक्र का मल बतलाया है। कफ पित्त मल खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षि त्वग्विशामोजो धातूना क्रमशो मला॥ परन्तु अष्टाङ्गसग्रहकार ने ओज को शुक्र का मल न मानकर सार माना है 'शुक्रस्य सारमोज अत्यन्तशुद्धतयाऽस्य मलाभाव॥ सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने भी शुद्ध सोने को तपाने से जैसे उसमें से मल नहीं बनता है तद्वत् शुक्र के पाक होने पर उससे स्थूल भाग शुक्र तथा उसका स्नेह भाग ओज होता है। अर्थात् ओज को शुक्र का मल न मान कर स्नेह माना है—स्वाग्निभि पच्यमानेषु मल षट्सु रसादिषु। न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मल॥

दिवा विबुद्धे हृदये जाग्रतः पुण्डरीकवत्।
अन्नमक्लिन्नधातुत्वादजीर्णेऽपि हितं निशि॥ ५३७॥
हृदि सम्मीलिते रात्रौ प्रसुप्तस्य विशेषतः।
क्लिन्नविस्रस्तधातुत्वादजीर्णे न हितं दिवा॥ ५३८॥

दिन में जागते हुये मनुष्य का हृदय कमल के समान विकसित रहता है इस लिये धातुओं में क्लेद न होने से रात्रि (सायङ्काल) के समय अजीर्ण होने पर भी अन्न का सेवन करना हितकर ही होता है किन्तु रात्रि में विशेष कर सोये हुये मनुष्य के हृदय के सम्मीलित (अल्प कार्य कर) हुये रहने से एवं धातुओं के क्लेदयुक्त तथा शिथिल हुई रहने से अजीर्ण हो जाने पर दूसरे दिन प्रातः काल भोजन करना हितकर नहीं है॥ ५३७-५३८॥

विमर्शः—चरक में यह विषय अच्छे रूप से समझाया है। प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशी न दुष्यति। दिवा प्रबुध्यतेऽर्कण हृदय पुण्डरीकवत्॥ तस्मिन् विबुद्धे स्रोतासि स्फुटत्व यान्ति सर्वश'। व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतस॥ न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनाऽस्य धातव'। अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्य-त्तेषु न दुष्यति॥ अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम्। रात्रौ तु हृदये म्लाने सवृतेष्वयनेषु च॥ यान्ति कोष्ठे च विच्छिद्य सवृते देहधातव। क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्त प्रदुष्यति॥ विदग्धेषु पय-स्वन्यत्पयस्तेष्विवार्पितम्। नैशेष्माहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान्॥ तस्मादन्यत् समश्नीयात् पालयिष्यन् बलायुषी। (च० ग्रहणी-चिकित्सा)।

इमं विधिं योऽनुमतं महामुने-
र्नृपर्षिमुख्यस्य पठेद्धि यत्नतः।
स भूमिपालाय विधातुमौषध
महात्मनां चार्हति सूरिसत्तमः॥ ५३९॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४६॥

राजा तथा ऋषियों में प्रधान महामुनि भगवान् धन्वन्तरि द्वारा मानी हुई इस आहारविधि को जो यत्नपूर्वक पढ़ता है वह विद्वानों में श्रेष्ठ वैद्य राजा तथा अन्य श्रेष्ठ महात्माओं की चिकित्सा करने में योग्य होता है॥ ५३९॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४६॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम्

अथ निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'वातव्याधिनिदान' का वर्णन करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

विमर्शः—'रोगादौ परीक्षेत' इत्युक्तेर्हेतुलक्षणप्रतिपादकं निदानस्थानमारभ्यते—अथेति 'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥' इत्युक्त्वा दोषेषु वातस्य प्राधान्यात् प्रथमं वातव्याधिनिदानमधिकरोति । वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिराक्षेपकादिस्तस्य निदानं वातव्याधिनिदानम् । निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानं विप्रकृष्टसन्निकृष्टभेदेन व्याध्युत्पत्तिहेतुभूतनित्यर्थं । विप्रकृष्टं—विरुद्धाहारादि, सन्निकृष्टं—वातादि । अपि च—'नि निश्चयनिषेधयोः' इति वरुचेरुपसर्गद्वयेण निशब्दस्य निश्चयार्थकत्वाद् व्याधिकरणं निदानमित्यर्थः । रोगाणां निदानं पञ्चविधमित्याह माधवकरः—'निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा । सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः । निदानमाहुः पर्यायैः प्रायेण येन लक्ष्यते ॥ इति । शार्ङ्गधरे वातव्याधेरशीतिर्भेदा उक्ताः—'अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिता' इति । चत्वारिंशच्च पैत्तिकाः । विंशतिः श्लेष्मजाः प्रोक्ताः । निदान शब्द के दो अर्थ होते हैं । प्रथम रोगों के कारण Cause को निदान कहते हैं तथा द्वितीय अर्थ रोगों के निर्णय करने के तरीकों (उपायों) को निदान (Diagnosis) कहते हैं ।

धन्वन्तरिं धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम् ।
चरणावुपसङ्गृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥ ३ ॥
वायोः प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च कोपनैः ।
स्थानं कर्म च रोगांश्च वद नो वदतां वर ! ॥ ४ ॥

धर्म मानने वाले या जानने वालों में श्रेष्ठ तथा समुद्र-मथन के समय अमृत-कलश हस्त में लेकर उत्पन्न हुये धन्वन्तरि भगवान् को महर्षि सुश्रुत उनके चरण छूकर प्रश्न करने लगे। हे भाषण देने वालों में श्रेष्ठ भगवन् ! आप प्राकृतिक वायु के तथा अनेक कारणों से कुपित हुये वायु के स्थान, कर्म तथा रोगों को मेरे लिये कहो ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—समुद्रमन्थनसमये अमृतेन सह उद्भव उत्पत्तिर्यस्य तत् । जैसा कि विष्णुपुराण में लिखा है—मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम् । ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय ! तरसाऽसुरैः । ततो धन्वन्तरिर्देव श्वेताम्बरधरः स्वयम् । विभ्रत्कमण्डलुं, पूर्णममृतस्य समुत्थितः ॥ जैसे यहां वातरोग-वर्णनार्थ अध्याय लिखा है उसी प्रकार पित्त तथा कफ के रोगों के लिये अध्याय क्यों नहीं लिखा इसका उत्तर विजयरक्षितजी मधुकोष में देते हैं यथा—'एव व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ ? उच्यते—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाश्वेवात्ययकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं न तु कफपित्तव्याध्यभिधानम् । अत एव चरक-सुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो न तु पित्तकफ रोगाध्यायः ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः ।
स्वयम्भूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥ ५ ॥
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ६ ॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम् ।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ॥७॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥ ८ ॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः ।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥ ९ ॥

सुश्रुत के वचन को सुनकर वैद्यों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि कहने लगे कि-यह वायु अपने कार्य में स्वतन्त्र होने से, नित्य होने से तथा सर्वत्र व्याप्त होकर रहने से आकाश की तरह स्वयम्भू तथा भगवान् अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्य-गुणयुक्त है। यह सब प्राणियों को चैतन्य (प्राणवायु) देने की दृष्टि से उन सबकी आत्मा है तथा उन सबों से नमस्कृत है। स्थावर तथा जङ्गम भूतों की स्थिति (रक्षा), उत्पत्ति तथा विनाश में भी यही कारण है। यह अव्यक्त (अदृश्य = रूपरहित) होते हुये भी व्यक्त कार्य करता है तथा यह रूक्ष, शीत, लघु और खर गुणों से युक्त है तथा तिर्यग् (टेढा) चलने वाला, शब्द-स्पर्श रूपी द्विगुणों से युक्त, त्रिगुणात्मक होते हुये भी रजोगुण की प्रधानता वाला, अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न, दोष, धातु तथा मलों का इतस्ततः-सञ्चरण कराने वाला, रक्त पित्त-कफजन्य अन्य सब रोगों में राजा (प्रधान), आशु (शीघ्र) ही अच्छा-बुरा कार्य करने वाला, सदैव गतियुक्त तथा विशेष रूप से पक्वाशय (बृहदन्त्र) तथा गुदा में (विकृत रूप से) रहने वाला है। धन्वन्तरि कहते हैं कि अब शरीर में विचरण (प्रसर) करते हुये वायु के लक्षणों को मेरे से सुनो ॥ ५-९ ॥

विमर्शः—द्विगुणः = स्पर्शशब्दद्वितयगुणयुक्तः । तथा च मनु-'परस्परानुप्रवेशादारयन्ति परस्परम् । गुण पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥' इति । अपि च—'महाभूतानि खं वायु रग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे । पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥' इति । रजोबहुल = त्रिगुणत्वेऽपि प्रवर्तकत्वाद्रज प्रधानः । साङ्ख्ये—'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः' इति । दोषाणां नेता—पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ।

वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेववत् ॥ (शार्ङ्गधरः)। रोगसमूहराट्—विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात्। स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद्दोषाणा प्रबलोऽनिल ॥ शाखागता' कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषा न तु कश्चिदन्यो वायो पर जन्मनि हेतुरस्ति ॥ (चरक-सिद्धि० अ० १)

दोषधात्वग्निसमतां सम्प्राप्ति विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥ १० ॥

अकुपितवातकार्य—अकुपित वात-दोष, धातु तथा अग्नि की समता रखने वाला, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांच विषयों में मन को चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ संयुक्त कराने वाला तथा शरीर की श्वासप्रश्वास, पाचन-रक्तसञ्चरणादि क्रियाओं तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों की वचनादि क्रियाओं को ठीक ठीक रूप से करने वाला है ॥ १० ॥

विमर्शः—चरकोक्तवातकर्माणि-'वायुस्तन्त्रयन्त्रधर., प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचाना, नियन्ता प्रणेता च मनस', सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियाणामभिवोटा, सर्वशरीरधातुव्यूहकर, सन्धानकर' शरीरस्य, प्रवर्तको वाच, प्रकृति शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूल, हर्षोत्साहयोर्योनि., समीरणोऽग्ने, दोषसशोषण, क्षेप्ता बहिर्मलाना, स्थूलाणुस्रोतसा भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपित'। (च. सू. अ. १२)। इस तरह यह निर्विवाद है कि जो कार्य Nervous System का है वही कार्य वात का है। Brain या मस्तिष्क इसका मुख्य केन्द्र है। यहीं से शरीराङ्गों को चेष्टावह (Motor nerves) सूत्र द्वारा आज्ञाएं जाती है तथा समस्त शरीर से सांवेदनी सूत्र (Sensory nerves) द्वारा यहां ही समाचार प्राप्त होते हैं। वास्तव में आयुर्वेदिक वात मस्तिष्क से समस्त शरीर में इन्हीं सूत्रों में शक्ति के रूप में दौड़ता रहता है जैसे बिजली घर (Power house) से बिजली ठोस तारों में होकर सारे नगर में जाकर बत्तियों को जलाती हैं इस लिये Brain (मस्तिष्क या शिर) को मानव राजधानी का राजा या शासक (King or Ruler) कह सकते हैं—प्राणा प्राणभृता यत्र श्रिता सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गाना शिर इत्यभिधीयते ॥ (चरकः)।

यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः ॥ ११ ॥
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥१२॥

जिस तरह 'व्रणप्रश्नाध्याय-सूत्रस्थान' में नाम, स्थान तथा क्रियाओं के कारण अग्नि (पित्त) के पाचकरञ्जकालोचकभ्राजकसाधक रूप से पांच भेद किये गये हैं उसी तरह एक प्रकार का वायु-नाम, स्थान, क्रिया तथा रोगों के कारण पांच प्रकार का होता है। प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान ये पांच प्रकार के वायु अपने अपने विशिष्ट स्थानों में स्थित होकर किंवा अपनी स्वाभाविक स्वरूप (साम्यावस्था) में रहकर आत्मा या प्राणियों के देह को धारण करती है ॥११-१२॥

विमर्श—प्राणेति। प्राणनिति प्रागयतीति वा प्राण, उद्ध्वंमनिनीत्युदान, भुक्तपीतं समं नयतीति समानः, वीर्यवत्कर्म कुर्वन् विगृह्य वाऽनितीति व्यान, मूत्रपुरीषाद्यपनयन्नवोऽनितीत्यपानः। शार्ङ्गधरे सुश्रुतातिरिक्त क्रमो दृश्यते। तथथा—'अपानः स्यात्समानश्च प्राणोदानौ तथैव च। व्यानश्चेति समीरस्य नामान्युक्तान्यनुक्रमात् ॥' इति। 'हृदि प्राणो गुदेऽपान समानो नाभिसस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यान सर्वशरीरग' ॥' इति। हृदि उर स्थाने एषा क्रमशो व्यापाराः—'अन्नप्रवेशन मूत्राद्युत्सर्गोऽन्नविपाचनम्। भाषणादिनिमेषादि तद्व्यापारा क्रमादमी ॥' इति।

वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ॥१३॥

प्राणवायु—मुख में विचरण करने वाली प्राणवायु है तथा वह देह को धारण करती है। अन्न को शरीर के अन्दर आमाशय, ग्रहणी आदि स्थानों में पहुँचाती है तथा प्राणों का अवलम्बन (धारण) करती है मिथ्या आहार-विहारादि से कुपित हुई यह वायु प्रायः हिक्का, श्वास आदि रोगों को उत्पन्न करती है ॥ १३ ॥

विमर्शः—वातस्य स्थानमेतद् विस्तरतो बोद्धव्यम्। सङ्क्षेपतस्तु व्रणप्रश्ने 'वात श्रोणिगुदसश्रय' इत्युक्तम्। वक्त्रसञ्चारित्वमस्योपलक्षणम्। तेन मूर्धोर कण्ठनासिका अपि 'प्राणस्य स्थानमिति उल्लेख। तथा चाष्टाङ्गसङ्ग्रहे—'तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रिय. ॥' इति। शार्ङ्गधर में प्राण वायु का वर्णन—नाभिस्थ प्राणपवन स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्वहिर्विनिर्याति पातु विष्णुपदामृतम् ॥ पीत्वा चाम्बरपीयूष पुनरायाति वेगत.। प्रीणयन्देहमखिल जीवयज्जठरानलम् ॥ प्रत्यक्ष में यह होता है कि सारे शरीर की तोड़फोड़ निर्माण रूपी हलचलों से बनी हुई दूषित वायु (Co_2) सिरागत रक्त के साथ २ हृदय में आकर वहाँ से वापस धमनियों द्वारा फेंफड़ों में चली जाती है तथा फेफड़ों से श्वास-पथद्वारा बाहर निकल जाती है एवं बाहर की शुद्ध वायु जिसमें ओक्सिजन होने से प्राणवायु-विष्णुपद (आकाश) का अमृत या अम्बर (आकाश) का पीयूष कहलाती है, श्वास मार्ग (Tracoea) द्वारा फेंफड़ों में आती है और रक्त में मिलकर उसे शुद्ध (लाल सुर्ख) बना देती है। अतएव मैंने 'नाभिस्थ प्राणपवन' की जगह 'देहस्थो दूषितो वायु' एवं 'कण्ठाद्बहिर्याति' की जगह 'फुफ्फुसाभ्या बहिर्याति' ऐसा परिवर्तन किया है। उपनिषदि प्राणवातवर्णनम्—'कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत। यथा सैन्धवोऽश्वः शङ्कुमुत्पाट्य धावति तद्वत्प्राणो रुद्ध सन् सर्वान् वायून्नुत्पाट्य प्रयाणकाले धावति॥

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥ १४ ॥
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्त्तते।
ऊर्ध्वजत्रुगतात् रोगान् करोति च विशेषतः ॥ १५ ॥

उदान वायु-सर्व वातों में श्रेष्ठ उदान वायु वह है जो ऊपर को गति करती हो तथा इसी उदान वायु से भाषण, गायन आदि विशेष कार्य होते हैं तथा यही कुपित होकर जत्रु (Clavicle bone) के ऊपर नेत्र, नासा, मुख, कर्ण, शिर आदि में रोगों को उत्पन्न करती है ॥ १४-१५ ॥

विमर्शः—ऊर्ध्वशब्देन नाभ्युरःकण्ठादीना भाषितगीतादावादिशब्देन प्रवलादीना च परिग्रह । तदुक्त चरके—'उदानस्य पुन स्थानं नाभ्युरःकण्ठ एव च । वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नौजोवलवर्णादि कर्म च॥' इति । वाग्भटे—'उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलाश्चरेत ।' इति ।

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् ॥ १६ ॥

समान वायु—आमाशय (Stomach) तथा पक्वाशय (बृहदन्त्र Large Intestine) में गति करनेवाली समान नामक वायु अन्नपाक से उत्पन्न विशेष पदार्थों (रस, दोष, मूत्रों) को पृथक् पृथक् करती है तथा विकृत होने पर गुल्म, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोगों को पैदा करती है ॥ १६ ॥

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ १७ ॥
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥ १८ ॥

व्यान वायु—सारे शरीर में भ्रमण करनेवाली व्यान वायु रस के संवहन (Cerculation) में तत्पर रहती है तथा स्वेद और रक्त का विस्रावण करती है एवं गति, अपक्षेपण, उत्क्षेपण, निमेष, उन्मेष इन पांचों कर्मों का सम्पादन करती है तथा क्रुद्ध होने पर प्रायः सारे देह में होनेवाले रोगों को उत्पन्न करती है ॥ १७–१८ ॥

विमर्शः—वाग्भट ने व्यान का स्थान हृदय माना है—'व्यानो हृदि स्थितः' (वाग्भटः) । रस-संवहन से (Blood cerculation) या (Lymph cerculaton) दोनों का बोध होता है । रक्तस्रावण—रक्त का स्राव करना अर्थात् रक्त जब धमनियों से केशिकाओं (Capillares) में पहुँचता है तो उनकी दीवारें अत्यन्त पतली होने से उनमें से रक्त, रस, प्राण वायु तथा अन्य पोषकतत्त्व स्रवित होकर भिन्न भिन्न शारीरिक अङ्गों को तृप्त करते रहते हैं इसलिये कहा है कि—'स (रस·) तु व्यानेन विक्षिप्त· सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्' ।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः ॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ॥१९॥

अपान वायु—पक्वाशय में रहती हुई योग्य समय में मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ तथा आर्तव को अधोमार्ग की ओर प्रेरित कर निकालती है तथा कुपित होने पर वस्ति और गुदा में भयङ्कर रोगों को उत्पन्न करती है ॥ १९ ॥

शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ।
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्युरसंशयम् ॥ २० ॥

व्यान तथा अपान वायु के प्रकोप से शुक्र दोष तथा प्रमेह उत्पन्न होता है तथा उक्त पांचों वात एक समय में कुपित हो जाने पर निश्चय ही सारे शरीर को नष्ट कर देते हैं ॥ २० ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ।
बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ॥ २१ ॥

अब इसके अनन्तर अनेक स्थानों में जाकर विविध प्रकार से कुपित होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है उन्हें कहता हूँ ॥ २१ ॥

वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ॥ २२ ॥
मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ।
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ॥ २३ ॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः ॥ २४ ॥

आमाशय में क्रुद्ध हुई वायु वमनादि अनेक रोगों को करती है तथा मोह, मूर्च्छा, पिपासा, हृदय की जकड़ाहट और पार्श्ववेदना को पैदा करती है । पक्वाशय में जाकर आन्त्रकूजन, नाभिप्रदेश के इधर-उधर शूल (Colic pain), मूत्र तथा मल के निकलने में कठिनाई, आफरा तथा त्रिकस्थान में पीडा करती है । श्रोत्र (कर्ण) आदि इन्द्रियों में कुपित वायु उनके कार्य का नाश कर देती है ॥ २२–२४ ॥

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमुचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२५॥
व्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।
तथा मेदः श्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान् २६
कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराऽऽकुञ्चनपूरणम् ।
स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥ २७ ॥
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।
अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२८॥
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृतिः शुक्रगेऽनिले ॥ २९ ॥
हस्तपादशिरोधातूंस्तथा सञ्चरति क्रमात् ।
व्याप्नुयाद्वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम् ॥
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सर्वगः ॥ ३० ॥

त्वचा में कुपित वात-शरीर के रङ्ग का नाश, शरीर में फड़कन, रूक्षता, सुप्ति, चुमचुमाहट (Tingling), सूई चुभोने की सी पीडा, त्वचा का फटना तथा परिपोट रोग को पैदा करती है । रक्त में कुपित हुई वात-अनेक व्रण उत्पन्न करती है तथा मांसगत कुपित वात-मांस में गांठें और शूल पैदा करती है । मेदोधातु में कुपित हुई वात-मन्द पीड़ा वाली तथा व्रणरहित गांठों को उत्पन्न करती है । सिरागत कुपित वात-सिराओं में शूल तथा सिराओं का आकुञ्चन (कुटिलता = varicosity of veins) तथा सिराविस्तृति (Phlebetasis) पैदा करती है । स्नायुगत कुपित वात-शरीर का स्तम्भ (जकड़ाहट) और शरीर में कम्प तथा शूल एवं आक्षेप (Spasms) पैदा करती है । सन्धिगत कुपित वात-सन्धिनाश, सन्धियों में शूल और शोफ पैदा करती है । अस्थिगत कुपित वात-अस्थिशोष (Osteoporosis), अस्थिभेद तथा अस्थिशूल पैदा करती है । मज्जागत कुपित वात-सर्वदा होनेवाली पीड़ा तथा मज्जा का शोष पैदा करती है एवं शुक्र में कुपित हुई वात-शुक्र की अप्रवृत्ति (रुकावट) अथवा अधिक प्रवृत्ति करती है । मनुष्य की सारी देह में कुपित हुई वात-हस्त, पाद, सिर तथा रस-रक्तादि धातुओं में सञ्चार

करती है तथा बाद में सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है जिससे शरीर का स्तम्भ (जकडाहट = Stiffness), आक्षेप (Convulsions), सुप्ति या स्पर्शज्ञाननाश, शोथ और शूल पैदा होते हैं ॥ २५-३० ॥

विमर्शः—नाधवनिदाने शुक्रगतकुपितवातलक्षणम्-क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा । विकृतिजनयेच्चापि शुक्रस्थ कुपितोऽनिल ॥

स्थानेष्वुक्तेषु सम्मिश्रः सम्मिश्राः कुरुते रुजः ।
कुर्यादवयवप्राप्तो मारुतस्त्वमितान् गदान् ॥ ३१ ॥

उक्त स्थानों में पित्तादि के साथ संयुक्त हुआ कुपित वात-पित्तादिलक्षणयुक्त रोगों को उत्पन्न करता है तथा शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों में कुपित हुआ वात-उन (अङ्गों) में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है ॥ ३१ ॥

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्यौ पित्तसमन्विते ॥ ३२ ॥
शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ।
सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता ॥ ३३ ॥
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते ।
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ॥ ३४ ॥
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते ।
उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः ॥ ३५ ॥
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते ।
समाने पित्तसयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ॥ ३६ ॥
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते ।
अपाने पित्तसयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः ॥ ३७ ॥
अधः कायगुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते ।
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ॥ ३८ ॥
गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम् ।
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टाः स्तम्भस्तथैव च ॥ ३९ ॥

जब वात कुपित होकर पित्त के साथ मिल जाता है तब-शरीर में दाह, सन्ताप और मूर्च्छा ये पित्तदोषयुक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा कफ के साथ मिलने पर शरीर में शैत्य, शोथ और गुरुता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। रक्त के साथ मिश्रित कुपित वात-शरीर में सुई चुभोने की सी पीडा, स्पर्श में द्वेष, अङ्गों में सुप्तता तथा पित्त के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। प्राणवायु के पित्त के साथ मिश्रित होने पर-वमन तथा दाह उत्पन्न होता है तथा कफ के साथ मिल जानेपर-दुर्बलता, अङ्गों में पीडा, तन्द्रा और विवर्णता ये लक्षण प्रगट होते हैं। उदान वायु के पित्तयुक्त होनेपर-मूर्च्छा, दाह, भ्रम और क्लम ये लक्षण उत्पन्न होते हैं एवं कफ के साथ सयुक्त होनेपर-पसीना न आना, शरीर में हर्ष (रोंगटे खडे होना), अग्निमांद्य, शीत लगना तथा जकडाहट ये लक्षण प्रगट होते हैं। समानवायु के पित्तसयुक्त होनेपर-पसीना आना, जलन होना, शरीर का उष्ण होना तथा मूर्च्छा ये लक्षण पैदा होते हैं तथा उसी के कफावृत होने पर-मल और मूत्र में कफ (Mucus) की अधिकता तथा रोमहर्ष उत्पन्न होता है। अपान वायु के पित्तसंयुक्त होनेपर-दाह, शरीर का गरम होना तथा स्त्रियों में रक्तप्रदर उत्पन्न हो जाता है एवं उसी के कफावृत होनेपर-नीचे के शरीर के अङ्गों में भारीपन पैदा हो जाता है। व्यानवायु के पित्तावृत्त होनेपर-दाह, गात्र में विक्षेपण तथा क्लम ये लक्षण पैदा होते हैं एवं उसके कफावृत होनेपर-शरीर के सारे अङ्गों में भारीपन, अस्थियों की सन्धियों में जकडन तथा हस्त-पादादि अङ्गों की चेष्टा का स्तम्भ ये लक्षण पैदा होते हैं ॥ ३२-३९ ॥

विमर्शः—प्रकुपित वात का अन्न, पित्त तथा कफादि के साथ संसर्ग होने को आवरण कहते हैं। अष्टाङ्गसङ्ग्रह में इस के बाइस भेद लिखे है—'इति द्वाविंशतिविध वायोरावरण विदुः' (अ० सं०)। एवं द्वाभ्या दोषाभ्या, रक्तादिभिः षड्भिः धातुभिः, अन्नेन, मूत्रेण, विशा, सर्वधातुभिः, पुनः प्राणादिपञ्चकस्य पित्तेन, तद्वत् कफेन, इति द्वाविंशतिविध वायोरावरणमुक्तम्। (इन्दुः)। वाग्भट ने वायु के अनेक आवरण माने हैं—वायोरावरणज्ञातो बहुभेद प्रवक्ष्यते। लिङ्ग पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूल भ्रमस्तम ॥असृग्दारयतीति—असृग्दरः=रक्तप्रदर Metrorrhagia, रक्त प्रमाणमुल्क्रम्य गर्भाशयगता सिरा । रजोवहा समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रज ॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावादिमानता। तस्मादसृग्दर प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदा ॥ असृग्दरलक्षण—तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि। असृग्दर विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥ असृग्दरो भवेत् सर्व साङ्गमर्द सवेदनम् ॥

प्रायशः सुकुमाराणा मिथ्याऽऽहारविहारिणाम् ।
शोकाच्च प्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥ ४० ॥
ऋतुसात्म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात् ।
अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥ ४१ ॥

वातरक्तरोगकारण—प्रायः सुकुमार प्रकृतिवाले तथा मिथ्या आहार और विहार करनेवाले पुरुषों के तथा शोक से एवं स्त्री-सम्भोग, मद्यपान तथा व्यायाम इनके अधिक सेवन से ऋतु के विपरीत तथा सात्म्य के विपरीत आहार-विहार करने से स्नेहादिकों के अनुचित प्रयोग करने से, व्यवाय (स्त्रीभोग) न करनेवाले तथा स्थूल मनुष्य में वातरक्त का प्रकोप होता है

विमर्शः—वातरक्त को (Gout) कहते हैं। चरक ने इसे 'आढ्यरोग' कहा है क्योंकि स्थूल तथा सुखियों में अधिक होता है। अष्टाङ्गसङ्ग्रहकारने-आढ्यरोग, खुड, वातबलास, वातशोणित तदाहुर्नामभि.। मुख्य कारण-मद्य-मांस का अति सेवन, व्यायाम का अभाव, शोक, क्रोध, चिन्ता आदि मानसिक विकार हैं। वातरक्तकारणानि यथा-मिथ्याहारविहारिणाम् । लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः । क्लिन्नशुष्कामूलानूपमासपिण्याकमूलकै ॥ (चरकः) भजता विधिहीनञ्च स्वप्नजागरमैथुनम्। (अ.सं.)।

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः
कोपं यातः कारणैः सेवितैः स्वैः ।
तीक्ष्णोष्णाम्लक्षारशाकादिभोज्यैः
सन्तापाद्यैर्भूयसा सेवितैश्च ॥ ४२ ॥
क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च
वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः ।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायु-
रत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ॥ ४३ ॥

तत् संप्रक्तं वायुना दूषितेन
तत्रावल्याद्रुच्यते वातरक्तम्।
तद्वत् पित्तं दूषितेनासृजाऽऽक्तं
श्लेष्मा दुष्टो दूषितेनासृजाऽऽक्तः ॥ ४४ ॥

सम्प्राप्ति—हाथी, घोड़ा, ऊंट पर बैठकर चलने से तथा अन्य शीत, रूक्षादि कारणों से वायु कुपित हो जाती है एवं तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल, क्षार, शाक आदि भोज्य पदार्थों के सेवन से एवं सन्तापादि के अधिक सेवन से शीघ्र ही रक्त दूषित हो जाता है तथा वह दूषित रक्त शीघ्र सञ्चरण करनेवाले वायु के मार्ग का अवरोध कर देता है। इस तरह रक्त द्वारा मार्ग का निरोध होने से अत्यर्थ क्रुद्ध होकर अत्यन्त उद्रिक्त (दूषित) हुये रक्त को शीघ्र ही दूषित कर देता है। इस तरह से दूषित वायु से मिला हुआ वह रक्त वायु की प्रबलता होने के कारण वातरक्त कहलाता है। इसी तरह दूषित पित्त वात द्वारा दूषित रक्त के साथ संयुक्त होकर तथा दूषित कफ-वात द्वारा दूषित रक्त के साथ संयुक्त होकर वातरक्त ही कहलाता है ॥ ४२-४४ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में भी वातरक्त रोगी के रक्त का Uric Acid तथा यूरेटस की मात्रा बढ जाने से रक्त दूषित हो जाता है। ये दोनों पदार्थ सोडियम बाइ यूरेटस के रूप में पृथक् होकर अस्थि, सधि, संधिकला, बन्धन, स्नायु, त्वचा आदि में सञ्चित होने लगता है।

स्पर्शोद्विग्नो तोदभेदप्रशोष-
स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ।
पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेता-
मत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदू च ॥ ४५ ॥
कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ
पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते।
सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः
स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति ॥ ४६ ॥

वायु और रक्त की दुष्टि की प्रधानता से दोनों पावों में स्पर्श की तीव्र असहिष्णुता, सुई द्वारा चुभोने की सी वेदना, त्वचा के फटने की सी पीडा एवं शुष्कता तथा स्पर्शज्ञान की कमी प्रतीत होती है। पित्त तथा रक्त की दुष्टि की प्रधानता से होने वाले वातरक्त में दोनों पांव तेज दाह, अधिक गरमी, लाल रङ्ग, सूजन तथा पिलपिलेपन से युक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार कफ की दुष्टि से युक्त वातरक्त में दोनों पांव खुजली से युक्त, श्वेत, ठण्ढे, शोथयुक्त, मोटे तथा स्तब्ध (कडे=कठोर) हो जाते हैं। सर्व दोषों से दूषित वातरक्त में विविध दोष अपने अपने लक्षण (रूप) पावों में प्रगट करते हैं ॥ ४५-४६ ॥

विमर्शः—उक्त स्थानिक लक्षणों के सिवाय निम्न सार्वदेहिक लक्षण भी होते हैं जैसे—ज्वर १०१°-१०२° तक, तृषा, जी मिचलाना आदि। रोग पैर के अङ्गूठे की सन्धि, कभी २ गुल्फ सन्धि, जानुसन्धि, मणिबन्ध सन्धियों में भी विकृति होती है। पीड़ा दिन में कम रात में अधिक होती है। मूत्र में यूरिक एसिड तथा यूरेट्स की राशि अधिक मिलती है।

प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ।
वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वौपसमन्वितौ ॥ ४७ ॥

पूर्वरूप में दोनों पांव शिथिल, स्वेदयुक्त, शीतल तथा कभी २ विपर्यय युक्त होते हैं तथा उनमें विवर्णता, सूई चुभोने की सी पीडा, सुसता, भारीपन और रोप (दाह) होता है ॥ ४७ ॥

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति ॥ ४८ ॥

यह रोग बहुधा पांवों के अथवा हाथों के मूल (अंगुलियां, तल या गुल्फ मणिबन्ध) का आश्रय लेकर क्रुद्ध होकर चूहे के विष के समान सारे देह में फैल जाता है ॥ ४८ ॥

विमर्शः—चरक तथा अष्टाङ्गसंग्रह में उत्तान (Acute) और गम्भीर (Chronic) ऐसे वातरक्त के दो प्रकार लिखे हैं—चतुर्मासाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः। कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवेत्॥ (अ. सं.)। इस रोग की उत्तम चिकित्सा न होने से कुछ दिन, मास या वर्ष बाद दौरे आया करते हैं जिसके परिणाम में मनुष्य लंगडा हो जाता है तथा अंगुलियां टेढी हो जाती हैं।

आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः॥
शोणितं तदसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ॥ ४९ ॥

जिस वातरक्त में जानुपर्यन्त स्फुटन हो जाय तथा त्वचा-मांसादि विदीर्ण होकर उनसे रक्त, लसीका, पूय आदि का स्राव निकलने लगे तथा प्राण और मांसक्षय के उपद्रवों से युक्त हो उस वातरक्त को असाध्य समझना चाहिये एवं एक वर्ष पुराना होने पर याप्य समझना चाहिये॥

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः॥ ५० ॥
तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः।
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः॥ ५१ ॥

जब कुपित वात शरीर की सब धमनियों में प्रविष्ट होता है तब बार बार आक्षेप होने लगता है। इस तरह बार बार आक्षेप के दौरे आने से इस रोग को आक्षेपक कहते हैं॥

विमर्श—आक्षेपक को कन्वल्शन्स (Convulsions) कहते हैं। यह स्वयं खास बीमारी न होकर मस्तिष्क की खराबी का एक लक्षण है जो अन्य रोगों के लक्षण रूप में होता है। जैसे—अपस्मार (मृगी=इपिलेप्सी), अपतन्त्रक (योपापस्मार=Hysteria), मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्क में होनेवाला रक्तस्राव और अन्तः शल्य (Embolism), मस्तिष्कावरण शोथ, मूत्रविषमयता (Ureamia) धनुःस्तम्भ (Tetanus) तथा बच्चों के दन्तोद्भेद तथा उदर कृमि आदि में होता है। इसके साथ हाथ-पांवों का टेढ़ा होना, बतीसी बन्द होना, आँखें फाड़ फाड कर देखना, नेत्र पुतली को इधर उधर फेरना आदि भी होते हैं।

सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा।
कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥ ५२ ॥
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः।
हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्रान्निषेवते ॥ ५३ ॥

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः।
अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्ग्रीवागलसंश्रितः॥ ५४॥
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्।
विष्टब्धवाक्‌ स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्॥ ५५॥
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः।
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली॥ ५६॥
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च।
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वङ्क्षणःकट्यूरुभञ्जनम्॥ ५७॥

अपतानक—जो कुपित वात रोगी को बीच बीच में गिराता है वह अपतानक है। यदि कफ से युक्त वायु उन धमनियों में अवस्थित रहती है तथा देह को दण्डे के समान स्तम्भित कर (जकड) देती है तब उसे दण्डापतानक कहते हैं तथा वह कृच्छ्रसाध्य है। यदि वातप्रकोप के कारण हनुसन्धि जकड जाय तथा अन्न का सेवन बड़े कष्ट से हो तो उसे हनुग्रह कहते हैं। जो कुपित वात मनुष्य को धनुष के समान टेढा कर देता है उसे धनुःस्तम्भ कहते हैं। जब बलवान् कुपित वात अङ्गुलि, गुल्फ, उदर, हृदय, वक्ष तथा गले में संश्रित होकर सिरा तथा स्नायुओं के प्रतान (समूह) को आक्षेपित करती है उस समय रोगी के नेत्र विष्टब्ध (निश्चल) हो जाते हैं, हनु स्तब्ध हो जाती है, पार्श्व भग्न हो जाता है तथा कफ का वमन करता हुआ रोगी भीतर (वक्ष) की ओर धनुष की तरह नम जाता है तब उसे अन्तरायाम कहते हैं। यही प्रकुपित वायु जब शरीर के बाह्य स्नायु समूह में स्थित होती है तब शरीर बाहर की ओर झुक जाता है उसे बाह्यायाम कहते हैं। यदि इसमें वक्ष, कटि तथा ऊरु का भञ्जन (टूटना) हो जाय तब उसे विद्वान् वैद्य असाध्य कहते हैं॥ ५२-५७॥

विमर्शः—अपतानक को (Tetanus) कहते हैं। इसी के भेद दण्डापतानक (Orthotonos), धनुस्तम्भ, अन्तरायाम (Emprosthotonos), बाह्यायाम (Opisthotonos) पार्श्वायाम (Pleurothotonos) आदि होते हैं। हनुग्रह को (Lock Jaw or Trismus) कहते हैं। अपतानक का कारण—इसका प्रधान कारण बैसीलस टिटेनी (B. Tetani) जीवाणु है तथा घोड़ा की लीद गोबर तथा जमीन के ऊपर धूलि में रहता है। जीवाणु का प्रवेश प्रायः क्षत से ही होता है। अर्थात् क्षत में धूलि, मिट्टी, गोबर आदि के जाने से जीवाणु भी साथ-साथ चला जाता है। खेतों पर, सड़क पर जो क्षत होते हैं उनमें जीवाणु जाने की सम्भावना अधिक रहती है। कभी-कभी प्रसव या गर्भपातजन्य क्षत से तथा बालकों के नालच्छेदन क्षत से नवजात अपतानक (Tetanus Neoniatorum) तथा कर्णच्छेदन क्षत से और अभिघात से अभिघातज अपतानक (Traumatic Tetanus) होता है। बिना आघात के उत्पन्न अपतानक को अनभिघातज (Idiopathic) कहते हैं। उत्पत्ति—क्षत द्वारा जीवाणु प्रविष्ट होकर अपनी संख्या को बढ़ाते हैं तथा विष पैदा करते हैं जिसका असर (Nerves), सुषुम्ना तथा मस्तिष्क पर होता है और चेष्टावह वातसूत्र (Motor Nerves) द्वारा शरीर पेशियों का सङ्कोच करता है। आक्षेप के दौरे हवा के झोंके तथा साधारण छूने से ही होने लगते हैं। पेशीसंकोच से रोगी को असह्य वेदना होती है। स्वेद अधिक निकलता है। खाना, पीना, सांस लेना सभी में कठिनाई होती है।

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्॥ ५८॥

कुपित कफ तथा पित्त से युक्त वायु अथवा केवल कुपित वात आघातजन्य चौथे आक्षेपक रोग को उत्पन्न करता है॥

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः।
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः॥ ५९॥

गर्भपात से उत्पन्न रक्त के अधिक स्राव से उत्पन्न तथा आघात (चोट) से उत्पन्न अपतानक रोग ठीक नहीं होता है॥

अधोगमाः सतिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहगाः।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते॥ ६०॥
तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः॥ ६१॥
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम्।
ततः पतत्यसून् वाऽपि जहात्यनिलपीडितः॥ ६२॥
शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम्॥ ६३॥

जब अत्यधिक प्रकुपित वायु नीचे जाने वाली, टेढी जाने वाली, और ऊपर सिर की ओर जाने वाली धमनियों में प्राप्त होता है तब दोनों में से किसी एक पक्ष (शरीर का भाग) के सन्धि बन्धनों को (अपने गति केन्द्रों से) पृथक कर उस पक्ष का घात (विनाश) कर देती है। इस रोग को भिषग्वर (श्रेष्ठ वैद्य) पक्षाघात कहते हैं। जिस मनुष्य का सम्पूर्ण आधा शरीर कार्य रहित तथा अचेतन (संवेदना रहित) हो जाता है वह वात से पीडित रोगी बिछोने पर गिर जाता है अथवा रोग के बढने पर रोगी मर जाता है। केवल वातप्रकोप से जो पक्षाघात होता है वह कृच्छ्रसाध्य होता है। जो पित्तादि अन्य दोषों से युक्त वात से पक्षाघात होता है वह साध्य होता है एवं जो रक्तादि धातु के क्षय से पक्षाघात होता है वह असाध्य है॥ ६०-६३॥

विमर्शः—पक्षाघात को पक्षवध, पक्षघात, अर्द्धाङ्ग वायु और हेमिप्लेजिया (Hemiplegia) कहते हैं। जब हस्तपाद आदि किसी एक अङ्ग का घात होता है उसे एकाङ्ग रोग मोनोप्लेजिया (Monoplegia) कहते हैं। पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलवत्। एकाङ्गरोगं तं विद्यात्॥ (चरक)। सर्वाङ्ग रोग को डायप्लीजिया (Diplegia) कहते हैं। हेतु—अक्सर फिरङ्ग, हृदयरोग, वृक्करोग, वातरक्त, सीसविष, धमनीदार्ढ्य, मस्तिष्क के अर्बुद, मद्य का अतिसेवन आदि कारण है। मस्तिष्क के दाहिने भाग का सम्बन्ध शरीर के वामाङ्गों से है तथा वामभाग का सम्बन्ध शरीर के दक्षिणाङ्गों से है। एवं मस्तिष्क के जिस भाग में विकृति होती है शरीर का उससे दूसरा अङ्ग वातयुक्त होता है। मस्तिष्क से जो वातसूत्र निकलते हैं तथा अङ्गों को जाते हैं उनका संबन्ध

मस्तिष्क से टूट जाने से उनमें इच्छानुसार गति नहीं होती तथा उसी की संवेदना मस्तिष्क तक नहीं पहुंचती, यही पक्षाघात है।

वायुरूर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शङ्खौ च पीडयत्यङ्गान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः॥ ६४॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः॥६५॥
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः॥ ६६॥

अपतन्त्रक—कुपित वायु ऊपर की ओर जाकर हृदय, सिर तथा शङ्ख प्रदेश में प्रवेश करती है तथा उन अङ्गों को पीडित करती है एवं उन्हें आक्षिप्त करती है नमा देती है जिससे रोगी नेत्र बन्द कर लेता है, चेष्टारहित हो जाता है किंवा स्तब्धाक्ष (निश्चल नेत्र) होकर कबूतर के समान कूजन करता है। कभी श्वास-गति को बन्द कर लेता है अथवा कष्ट से श्वास लेता है एवं चेतना-रहित हो जाता है। जब हृदय वातवेग से रहित होता है तब स्वस्थ हो जाता है और वातवेग से युक्त होता है तब फिर अस्वस्थ हो जाता है। यह अपतन्त्रक रोग कफयुक्त वात से उत्पन्न होता है॥६४-६६॥

विमर्शः—अपतन्त्रक को हिस्टेरिया (Hysteria) कहते हैं तथा स्त्री पुरुष दोनों को होता है। योपापस्मार गलत नाम है। वाग्भट ने अपतन्त्रक तथा अपतानक रोग को एक ही माना है। कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः। स एव चापतानाख्यः। चरक ने भी दोनों को माना है—वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्। (च. सि. ९) माधवकर भी दोनों में अभेद मानते हैं।

दिवास्वप्नासनस्थानविकृतोर्ध्वनिरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः॥ ६७॥

मन्यास्तम्भ—दिन में शयन करने से, ऊँची-नीची शय्या तथा तकिये पर गरदन रखने से टेढे या ऊपर की ओर देखने से वही कुपित वात कफ से आवृत होकर मन्यास्तम्भ कर देता है॥ ६७॥

विमर्शः—मन्यास्तम्भ को Torticolis कहते हैं। यह ग्रीवापश्चात् सिरा या उरःकर्णमूलिका (Sterno mastoid) के सङ्कोच से होता है। इसके वातज, आमवातज (Rheumatic), जन्मज Congenital तथा आक्षेपयुक्त (Spasmodic) ऐसे चार भेद होते हैं।

गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये।
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि च॥ ६८॥
हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनादपि।
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः॥ ६९॥
अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्त्तते॥ ७०॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम्।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना॥ ७१॥
यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम्।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः।
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः॥ ७२॥
क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्तं सक्तभाषिणः।
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च॥ ७३॥

अर्दित—गर्भवती स्त्री, सूतिका, बालक, वृद्ध और क्षीण पुरुषों में रक्त का क्षय होने से एवं जोर से बोलने से, अत्यन्त कठिन पदार्थों को खाने से, हंसने तथा जंभाई लेने से, बोझा उठाने से तथा विषम स्थान में सोने से सिर, नासिका, ओष्ठ, चिबुक (ठोढी), ललाट तथा नेत्र-सन्धियों में प्रकुपित वायु स्थित होकर वायु मुख को पीडित करके अर्दित रोग उत्पन्न करती है तथा इस रोग में मुख का आधा हिस्सा टेढा हो जाता है और गरदन भी टेढी हो जाती है, सिर काँपता है, बोलने में रुकावट होती है तथा नेत्र, कान, नासा आदि में भी विकृति उत्पन्न होती है तथा जिस पार्श्व में यह रोग होता है उस तरफ की ग्रीवा, ठोढी और दांतों में वेदना होती है। इसके पूर्वरूप में रोंगटे खड़े होना, कम्पन, नेत्रों का आविल (आंसूयुक्त) होना, वायु का ऊपर को वेग (डकारें आदि) होना, त्वचा में सुन्नता तथा सूई चुभोने की सी पीड़ा होना, मन्या और हनु की जकड़ाहट आदि लक्षण होते हैं। रोगों को जानने में विशारद (चतुर) वैद्य इस प्रकार के रोग को अर्दित कहते हैं। क्षीण हुये, नेत्रों को खोलने तथा बन्द करने की क्रिया से रहित, प्रसक्त (निरन्तर) अस्पष्ट बोलने वाले पुरुष का तथा गाढ (भयङ्कर) रूप में उत्पन्न एवं तीन वर्ष का पुराना तथा कम्पन लक्षण से युक्त पुरुष का अर्दित रोग भी ठीक नहीं होता है॥ ६८-७३॥

विमर्श.—अर्दित को Facial palsy Bell's Paralysis कहते हैं। मस्तिष्क से निकलने वाली सातवीं मौखिकी नाड़ी (Facial nerve) के घात होने से यह रोग पैदा होता है। ये नाड़ियां दो होती हैं। जिधर की नाडी का घात हो उधर के मुख-पार्श्व की विकृति होती है। अष्टाङ्ग-सङ्ग्रह ने इसे 'एकायाम' कहा है तथा लोक में 'लकवा' भी कहते हैं। चरक में इसे मुखार्धघातयुक्त पक्षाघात या मुखार्धघात कहा है 'अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्। पक्षाघात, रोहिणी (Diphtheria), प्रसूतज्वर, जलसंत्रास, पसीने में ठंढी हवा लगना आदि कई कारणों से होता है।

पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता ७४

गृध्रसी—एडी तथा प्रत्येक पादाङ्गुलियों की कण्डरा जब वात से प्रकुपित होती हैं तथा टाग के प्रसारण (सकोच-विस्तार गति) को रोक देती है तब उसे गृध्रसी रोग कहते हैं॥ ७४॥

विमर्शः—गृध्रसी को सियाटिका (Sciatica) कहते हैं। सियाटिका नाडी नितम्ब से पैर तक जाती है तथा उसमें वातरक्त, मधुमेह, पसीने में ठंढी हवा लगना, आघात, मोच आदि कारणों से विकृति होने पर पीडा नितम्ब से गुल्फसन्धि तक होती है तथा चरकादि ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्। गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥ (च. वातव्याधि चि.)

तलं प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता ॥ ७५ ॥

विश्वाची—बाहुपृष्ठ से लेकर हस्ततल की प्रत्येक अङ्गुलियों की कण्डराएं जब प्रकुपित वात से युक्त हो जाती हैं तब बाहु के सकोच-विस्तार रूपी कर्म का क्षय हो जाता है उसे विश्वाची रोग कहते हैं ॥ ७५ ॥

विमर्श—यह रोग Brachial Nerve तथा Brachial plexus की विकृति से होता है अतः इसे Brachial paralysis or erb's paralysis, or Mono plegia Brachialis कहते हैं।

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः।
शिरःक्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकमूर्धवत् ॥ ७६ ॥

क्रोष्टुकशीर्ष—जानु सन्धि में वात और रक्त की विकृति से उत्पन्न भयङ्कर पीडाकारी, शृगाल के सिर के समान मोटा जो शोथ उत्पन्न होता है उसे क्रोष्टुकशीर्ष कहते हैं ॥ ७६ ॥

विमर्शः—क्रोष्टुकशीर्ष को Hydrops (हाइड्रोप्स) या Inflammed Knee (इन्फ्लेम्ड नी) कहते हैं। यह पूयमेह, उपदंश, आमवात, आघात आदि कारणों से होता है।

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः, पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ॥७७॥

खञ्ज तथा पङ्गु—प्रकुपित वायु कटि प्रदेश में स्थित होकर सक्थि (टाङ्ग) की कण्डरा (सिरा स्नायु तथा नाडी Nerve) को आक्षिप्त (चलायमान) कर देती है तब मनुष्य खञ्ज (लंगड़ा चलने वाला) हो जाता है तथा दोनों टांगों की कण्डरा, सिरा, स्नायु और नाडियों के वध होने से पङ्गु (लूला) हो जाता है ॥ ७७ ॥

विमर्शः—खञ्ज को Mono plegia cruralis तथा पङ्गु को Diplegia कहते हैं।

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥ ७८ ॥

कलायखञ्ज—जो मनुष्य चलने के प्रारम्भ में कांपता है तथा लंगड़ाता हुआ चलता है तथा जिसके पादसन्धियों के बन्धन ढीले पड़ गये हों उसे कलायखञ्ज कहते हैं ॥ ७८ ॥

विमर्शः—कलायखञ्ज को लेथेरिज्म (Lathyrism) कहते हैं। पहले इस रोग की उत्पत्ति में कलाय जाति की एक विशेष दाल का सेवन कारण माना जाता था किन्तु अब आंकटा (अंकरी Vicia sativa) नामक दाल के सेवन से होता है।

न्यस्ते तु विषमं पादे रुजः कुर्य्यात्समीरणः।
वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुडकाश्रितः ॥ ७९ ॥

वातकण्टक—खुडक (एढी) में स्थित वात विषम (ऊंची-नीची) भूमि पर पांव रखने से उसमें वेदना करती है उसे वातकण्टक रोग कहते हैं ॥ ७९ ॥

विमर्शः—वातकण्टक को स्प्रेन एङ्किल (Sprain Ankle) कहते हैं।

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः।
विशेषतश्चक्रमणात्पाददाहं तमादिशेत् ॥ ८० ॥

पाददाह—पित्त तथा रक्त मिश्रित वायु विशेषकर चलने के समय में दोनों पावों में दाह उत्पन्न करती है उसे पाददाह कहते हैं ॥ ८० ॥

हृष्यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत्।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपजः ॥ ८१ ॥

पादहर्ष—कफ और वायु के प्रकोप के कारण जिस मनुष्य के दोनों पांव हर्ष (झनझनाहट) से युक्त होते हों तथा स्पर्शज्ञान से रहित हो जाते हों उसे पादहर्ष कहते हैं ॥८१॥

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम्।
सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम् ॥ ८२ ॥

अवबाहुक—अंस (स्कन्ध) प्रदेश में स्थित वायु अंससन्धि के बन्धनों को शोषित कर अंसशोष रोग तथा वहीं पर स्थित होके स्कन्ध प्रदेश की सिराओं का सङ्कोचन करके अवबाहुक नामक रोग को पैदा करती है ॥ ८२ ॥

विमर्श—कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ केवल अवबाहुक रोग वर्णन परक ही किया है। असमूलस्थितो वायुः सिराः सङ्कोच्य तत्रगाः। बाहुप्रदन्दिनहरं जनयत्यवबाहुकम् ॥ (अ. सं) परन्तु ये अंसशोष और अवबाहुक दो रोग हैं अतः उनका अर्थ ठीक नहीं है।

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥८३॥

बाधिर्य—जब शब्द वहन करने वाले स्रोतस (अकुहिक नर्व) में शुद्ध (केवल) वात अथवा कफान्वित वात अवस्थित होता है तब उससे बाधिर्य रोग की उत्पत्ति होती है॥८३॥

विमर्शः—बाधिर्य को डीफनेस (Deafness) कहते हैं। प्रथम कई मास तक कान बहता है जिससे वहां के Nerve का घात हो जाने से बाधिर्य हो जाता है। इसके सिवाय उपदंश, टायफायड, स्मालपॉक्स (शीतला) आदि रोगों में भी बाधिर्य हो जाता है।

हनुशङ्खशिरोग्रीवं यस्य भिन्दन्निवानिलः।
कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

कर्णशूल—जिस मनुष्य के हनुसन्धि, शङ्खप्रदेश, सिर और ग्रीवा को भेदन करती हुई वायु कानों में शूल पैदा करती है उसे कर्णशूल कहते हैं ॥ ८४ ॥

विमर्शः—कर्णशूल को ओटेल्जिया (Otalgia) कहते हैं।

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनीः।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान् ॥ ८५ ॥

मूकमिन्मिनगद्गदत्व—कफ के सहित वायु शब्द को वहन करने वाली धमनियों का अवरोध करके मनुष्यों को भाषणादि क्रियाहीन कर मूक (गूंगा), मिन्मिन (अनुनासिक स्वर वाला) तथा गद्गद (तुतला) रोगों को पैदा करती है ॥ ८५ ॥

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ॥ ८६ ॥

गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥ ८७ ॥

तूनी, प्रतितूनी—वर्च (मल) के आशय तथा मूत्राशय से उत्पन्न पीडा नीचे को जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय को फोड़ती हुई सी पीड़ा करती हो उसे तूनी कहते हैं। यदि गुदा और मूत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुई वही पीड़ा जब उलटी (ऊपर को) फैल कर वेग से पक्वाशय में जाती है तब उसे प्रतितूनी कहते हैं ॥ ८६-८७ ॥

विमर्शः—तूनी को वृक्कशूल (Renal colic) तथा प्रतितूनी को आन्त्रशूल (Intestinal colic) आन्त्र कहा जा सकता है।

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ।
आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम् ॥ ८८ ॥

आध्मान—प्रकुपित अधो वायु के निरोध से भयङ्कर रूप में उत्पन्न हुये आटोप (गुड़गुड़ शब्द) के सहित अत्यधिक पीड़ायुक्त अत्यन्त फूले हुये (मशक सदृश) उदर को आध्मान कहते हैं ॥ ८८ ॥

विमर्शः—आध्मान को टिम्पेनाइटिस (Tympanites) या मिटियोरिज्म (Meteorism) कहते हैं। यह आन्त्र में वायु (Gas) के सञ्चय से होता है। आटोपः—आटोपो गुडगुटाशब्द प्रीक्तो जठरसम्भवः। (भाव प्र०)।

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥८९॥

प्रत्याध्मान—यदि कफ वायु के कारण आध्मान की उत्पत्ति आमाशय से प्रारम्भ हो तथा पार्श्व और हृदय में पीड़ा उत्पन्न न करे अथवा मतान्तर से करे तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं ॥ ८९ ॥

विमर्शः—प्रत्याध्मान को गेस्ट्रो टिम्पेनाइटिज (Gastro tympanites) कहते हैं।

अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम् ।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥ ९० ॥
एनामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ९१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वातव्याधिनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वाताष्ठीला—अष्ठीला के समान मोटी (ठोस), ऊपर को फैली हुई तथा ऊँची उठी हुई तथा बहिर्मार्ग का अवरोध करने वाली ग्रन्थि को वाताष्ठीला जाननी चाहिये तथा वही ग्रन्थि यदि पीड़ाकर एवं वात, विष्ठा और मूत्र का निरोध करने वाली और उदर में तिरछी उत्पन्न हुई हो तो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं ॥ ९०-९१ ॥

विमर्शः—अष्ठीलेति। अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेषश्च नेज्जटः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौहमाण्डीति गयदासः, चरक तथा वाग्भट ने इन दोनों का उल्लेख नहीं किया है। अष्ठीला को (Prostatic enlargement) कहते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायां वातव्याधिनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातोऽर्शसां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर अर्शोनिदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—अर्श—अरिवत्प्राणान् शृणातीत्यर्श। अरिवत् प्राणिनो मासकीलने निविशन्ति यत् अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥ (वाग्भटः) 'अर्शासीत्यधिमांसविकारा' (चरकः) गुदनासादिकी त्वचा के मांस में उत्पन्न हुए विकार को अर्श कहते हैं। दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥ (माधवः) साधारण किसी भी अङ्ग में हुये अर्श को पोलिपस (Polypus) कहते हैं, गुदा में उत्पन्न हुये अर्श के अङ्कुरों को हीमोराइड्स या पाइल्स (Haemorrhoids or Piles) कहते हैं। डाक्टरी में इन्हें मांसाङ्कुर न मान कर गुदा की सिराओं के अग्रभाग में रक्तसञ्चय होकर वे फूल जाते हैं उन्हीं को अर्श कहते हैं।

षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति ॥ ३ ॥

वात, पित्त, कफ, रक्त, इनका सन्निपात तथा सहज ऐसे ६ प्रकार के अर्श होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि च' (अ० सं०)। सहज अर्श को आदिबल प्रवृत्त या कुलज अर्श भी कहते हैं। 'तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वया' कुष्ठार्शप्रभृतयः' डाक्टरी में अर्श की कुलजप्रवृत्ति नहीं मानते हैं। वाग्भट तथा चरक ने शुष्क और स्रावी भेद से अर्श के दो भेद किए हैं। 'शुष्कस्राविविभेदाच्च' (वाग्भटः) इनमें वात तथा कफ की अधिकता वाले शुष्क तथा रक्त और पित्त की अधिकता वाले स्रावी कहे जाते हैं। वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः। प्रास्रावीणि तथार्शांसि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥ (च० चि०)। डाक्टरी में बाह्य (External) तथा आन्तरिक (Internal) ऐसे अर्श के दो भेद किये हैं। शुष्क या बाह्यार्श (External piles)—ये गुदौष्ठ के बाहर पहिये के आरे की भांति चारों ओर रहते हैं। प्रत्येक मस्से के मध्य में एक सिरा होती है उसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु होते हैं जो त्वचा से ढके रहते हैं। ये अर्श सूखे रहते हैं अतः इन्हें शुष्कार्श कहते हैं। जब ये रगड़ से, शीतस्पर्श एवं अधिक बैठक, तीव्र मलावरोध आदि कारणों से प्रकुपित व शोथयुक्त हो जाते हैं तब रोगी को चलने-फिरने में कष्ट होता है। परिस्रावी या आन्तरिक या रक्तार्श (Internal piles or bleeding piles) ये गुदौष्ठ के भीतर तथा मध्य में अधिक सिराओं से युक्त होते हैं तथा चारों ओर सौत्रिकतन्तु होते हैं तथा सबसे ऊपर

श्लैष्मिक कला का आवरण चढा रहता है। प्रारम्भ में कोमल तथा बाद में रगड आदि से कठोर हो जाते हैं। शौच करते समय ये बाहर भी आ जाते हैं तथा इनसे श्लेष्मा (Mucus) और रक्त का स्राव होना है।

तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्री-प्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठ्यानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति, विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्टवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥ ४ ॥

पूर्व में कहे हुये प्रकोपक कारणों से एवं विरुद्ध भोजन, अध्यशन (भुक्तस्योपरि भोजनम्), स्त्री के साथ सम्भोग, उकडा आसन लगा कर बैठना, घोडे, बैल और ऊंट की पीठ पर सवारी करना और अधारणीय वेगों के धारण करने से असंयमी पुरुषों के प्रकुपित हुये वातादि दोष अकेले, दो दो मिलकर, समस्त दोष मिलकर या रक्त के सहित अनेक प्रकार से प्रसृत होकर शरीर की प्रधान धमनियों का आश्रय लेके उनके द्वारा नीचे जाकर गुद में आके गुदा की वलियों को दूषित करके उनमें मांस के अङ्कुर उत्पन्न करते हैं। मन्दाग्नि वाले मनुष्य में यह रोग विशेष रूप से उत्पन्न होता है। तथा ये मांसाङ्कुर (मस्से) तृण, काष्ठ, पत्थर, ढेला, वस्त्र इत्यादि की रगड़ से अथवा शीतल पानी के अधिक स्पर्श से परिवृद्धि को प्राप्त होते हैं उन्हीं को अर्श कहा जाता है ॥ ४ ॥

✓ विमर्शः—उत्कटुकासन-'गुदार्श्विसमायोग प्राहुरुत्कटुकासनम्' । अर्शोहेतु.—प्रधान रूप से चिरकालिक विबन्ध के कारण दस्त जाते समय प्रवाहण करने से एवं मूत्राश्मरी, अष्ठीलावृद्धि, यकृद्दाल्युदर, जलोदर तथा स्त्रियों में गर्भावस्था, गर्भाशय के अर्बुद आदि से अर्श उत्पन्न होता है। सम्प्राप्ति—मलाशय की सिराओं की विकृति है। मलाशय की सिराएं लम्बाई की ओर होती हैं तथा उनमें कपाट नहीं होते हैं अतः प्रवाहणादि कारणों से इनमें रक्त भर जाता है तथा ये सिराएं फूल कर मस्से बन जाते हैं।

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्द्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्द्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति ॥ ५ ॥

✓ गुदवर्णन—शरीर में स्थूलान्त्र के आखिरी भाग के साथ सयुक्त अर्धयुक्त पांच (५॥) अङ्गुल अथवा अर्धाङ्गुलरहित पांच (४॥) अङ्गुल गुदा होती है। उसमें डेढ-डेढ अङ्गुल के अन्तर पर प्रवाहणी, विसर्जनी तथा सवरणी नाम की तीन वलियां होती हैं ॥ ५ ॥

चतुरङ्गुलायताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः।
शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः ॥ ६ ॥
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्त्तिताः।
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्द्धो गुदौष्ठः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे ॥ ८ ॥

उक्त तीनों वलियां मिलकर चार अङ्गुल लम्बी, एक अङ्गुल टेढी उभरी हुई एवं शङ्ख के आवर्त्त की तरह एक के ऊपर एक रहती हैं। इनका रङ्ग हाथी के तालु के समान कुछ काला-लाल होता है। रोम प्रान्तों से गुदौष्ठ डेढ यव ऊपर होता है तथा प्रथम संवरणीवली गुदौष्ठ से एक अङ्गुल दूर होती है ॥ ६ ८ ॥

विमर्शः—अर्धपञ्चाङ्गुलम्—अर्द्धहीन पञ्चाङ्गुलमर्द्धपञ्चाङ्गुल सार्द्धचतुरङ्गुलप्रमाणमित्यर्थ। वलय.=गुदावयवभूतास्त्वक्सङ्कोचा', तिस्र अध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूता सार्धैकाङ्गुलान्तरिता, मलस्याधः पीटनात्प्रथमा प्रवाहिणी, गुदविस्फारणेन मलविसर्जनाद् द्वितीया विसर्जनी, गुदसङ्कोचन्याख्यपेशीद्वयकृता चक्राकारा वलिस्तु सवरणी नाम। आसामवस्थितिक्रममाहाष्टाङ्गहृदये-'वलय. प्रवाहणी तासामन्तर्मध्ये विसर्जनी। बाह्या सवरणी तस्या गुदोष्ठो बहिरङ्गुले॥' इति। यवाध्यर्धं.=सार्धो यवः, अङ्गुलस्य त्रियवप्रमाणत्वात्सार्धाङ्गुलपरिमितो देश इत्यर्थ। भोजेऽप्युक्तम्-'रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धं गुदोष्ठ परिचक्षते। गुदोष्ठादङ्गुल चैव प्रथमा ता वलि विदु। सार्धैकाङ्गुलमानेन अन्ये च परिकीर्तिते॥' इति। प्रत्यक्ष शारीर में इस साढे चार अङ्गुल लम्बे गुद के निम्न भाग किये हैं—गुदौष्ठ (Anus) गुदनलिका (Anal canal) और मलाशय (Rectum) का आखिरी इञ्च भर हिस्सा वलियों को छल्ले, झुर्रियां या सलवटें (Transverse folds called Houston's valves) कहते हैं। गुदौष्ठ से तीसरी वली तक गुदनलिका की लम्बाई चार अङ्गुल होती है तथा इस चार अङ्गुल के स्थान में जो सिराएं होती हैं उन्हीं में अर्श होता है।

तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात्पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुदारवाहुल्यमच्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोगग्रहणीदोषशोषाणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ॥ ९ ॥

✓ अर्शः पूर्वरूप—उत्पन्न होने वाले अर्श के पूर्वरूप की अवस्था में भोजन करने में अनिच्छा, कठिनाई से अन्न का पचना, खट्टी डकारें आना, जलन, पेट में अफारा होना, प्यास लगना, टांगों में थकावट, पेट में गुड़गुड़ शब्द होना, शरीर की कृशता, डकारें अधिक आना, आंखों में सूजन, आंतों में कूजन, गुद में कैंची से कतरने की सी पीडा होना तथा पाण्डु, सङ्ग्रहणी तथा उदर रोग होने की शङ्का होना, एवं कास, श्वास, बलहानि, भ्रम, तन्द्रा, निद्रा तथा अन्य इन्द्रियों की दुर्बलता आदि लक्षण होते हैं ॥ ९ ॥

जातेष्वेतान्येव लक्षणानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति ॥ १० ॥

अर्श के उत्पन्न होने पर ये ही उक्त लक्षण अधिक स्पष्टरूप से प्रगट हो जाते हैं ॥ १० ॥

तत्र मारुतात्परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति। तैरुपद्रुतः सशूलं संहतमुपवेश्यते, कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति,

गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥

वातार्श—वायु की अधिकता से अर्श (मस्से) सूखे, लाल, काले-नीले, बीच में से नीचे-ऊंचे तथा कदम्ब के फूल के समान या वनकार्पास के फूल सदृश, अथवा नाडी (नालिका) के सदृश किंवा पुष्प के मुकुल के समान किंवा सूई के मुख के समान तीखी नोक वाले होते हैं। इनसे पीडित मनुष्य शूल के साथ रूक्ष मल का त्याग करता है तथा उस मनुष्य की कटि, पृष्ठ, पार्श्व, मेढ्, गुदा और नाभि के स्थानों में पीडा होती है तथा उन्हीं से गुल्म, अष्ठीला तथा प्लीहा वृद्धि रोग उत्पन्न होते हैं एवं उस पुरुष की त्वचा, नख, नेत्र, दन्त, मुख, मूत्र और मल ये काले हो जाते हैं ॥ ११ ॥

पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्-प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति। तैरुपद्रुतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥ १२ ॥

पित्तार्श—अग्रभाग में नीले, पतले, फैलने वाले, कुछ पीलेपन से युक्त, यकृत् के समान चमकते हुये एवं तोते की जीभ के समान आकृति वाले, बीच में यव के सदृश मोटे, जलौका के मुख के समान स्वरूप के तथा क्लेद (स्राव) युक्त होते हैं। इनसे पीडित मनुष्य दाह तथा रक्त युक्त दस्तें करता है तथा ज्वर, दाह, पिपासा और मूर्च्छा ये उपद्रव होते हैं एवं उस पुरुष की त्वचा, नख, नेत्र, दन्त, मुख, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥ १२ ॥

श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति। तैरुपद्रुतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥ १३ ॥

श्लेष्मार्श—श्वेत, मूलभाग में मोटे, कठिन, गोल, चिकने, वर्ण में पाण्डु तथा करीर (मरुस्थल द्रुम) फल और कटहल की गुठली एवं द्राक्षा के स्वरूप के होते है एवं न तो फूटते हैं और न रक्तादि का स्रवण करते हैं एवं उनमें खुजली अधिक चलती है। श्लैष्मिक अर्श से पीडित मनुष्य कफयुक्त, मांस के धावन के समान अधिक मात्रा में मल का उत्सर्ग करता है तथा अर्श के ही कारण शरीर में शोथ, शीतज्वर, अरुचि, मन्दाग्नि तथा सिर में भारीपन ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं उस मनुष्य की त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मूत्र और मल श्वेत वर्ण के हो जाते हैं ॥ १३ ॥

रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढपुरीषप्रपीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति ॥१४॥

रक्तार्श—वट के अङ्कुर, मूंगा तथा गुञ्जा फल के समान लाल वर्ण के तथा पित्त के लक्षणों से युक्त होते हैं। जब मनुष्य बड़ी सख्ती से मल त्याग करता है तब उसके मल की रगड़ से पीडित (घर्षित) हो कर अत्यधिक मात्रा में दूषित रक्त का सहसा स्राव करते हैं। उस रक्तस्रुति या रक्तार्श के अधिक बढने पर रक्त के अधिक स्रवण रूपी अतियोग से उत्पन्न उपद्रव होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्श—उपद्रवा शोणितवर्णनीये प्रागुक्ता.—'तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरप्रादुर्भाव धातुक्षयमाक्षेपक पक्षाघातमेकाङ्गविकार तृष्णादाहौ हिक्का कास श्वासं पाण्डुरोग मरण चापादयति' इति।

स्थानिक उपद्रवों में मलाशय शोथ (Proctitis), गुद विद्रधि (Rectal abscess), भगन्दर (Anal fistula), गुदचर (Anal fissure), गुद का केन्सर (Cancer) ये मुख्य हैं अत एव अर्श की चिकित्सा में देरी नहीं करनी चाहिये। तेषा प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षण.। तान्याशु हि गुद वद्ध्वा कुर्याद्बद्धगुदोदरम् ॥ (चरकः)।

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ॥ १५ ॥

सन्निपातज अर्श सर्व दोषों के लक्षणों से युक्त होते हैं॥१५॥

विमर्शः—चरक ने सभी अर्शों को सान्निपातिक माना है—पञ्चात्मा मारुत· पित्त कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुद जाना समुद्भवे ॥ अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभि·। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेष कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥ (च. चि. अ. १४)।

सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्त्तव्यम्। विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि। तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निप्राणः परमलसश्च तथा घ्राणशिरोऽक्षिनासाश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ॥ १६ ॥

सहजार्श—ये गर्भाधान के समय माता के दुष्ट रक्त (Ova) तथा पिता के दुष्ट वीर्य (Spermetozoa) के कारण उत्पन्न होते हैं। इन सहजार्शों में भी दोषों के अनुसार ही प्रसाधन (भेद) करना चाहिये अथवा दोषों के अनुसार ही प्रसाधन (चिकित्सा) की जानी चाहिये। ये अर्श विशेषतया कठिनता से दिखाई देने वाले, स्पर्श में कठोर, वर्ण में पाण्डु, दारुण (दुःखदायी) तथा अन्तर्मुख (या अन्तर्वली में) होते हैं। इनसे पीड़ित मनुष्य दुर्बल, अल्प भोजन करने वाला, शरीर पर सिराओं के उभार से युक्त, कम सन्तान वाला, क्षीणवीर्य, दुर्बल स्वर, क्रोधी, अल्प पाचकाग्नि युक्त तथा नासा, शिर, नेत्र और कानों के रोग से पीडित एवं निरन्तर आन्त्र में कूजू शब्द, तथा आटोप (गुड़गुड़ाहट), होना तथा हृदय पर भारीपन, अरुचि आदि लक्षणों से पीड़ित रहता है ॥ १६ ॥

विमर्शः—सहजार्श को Congenital piles कहते है।

डाक्टरी में सहजार्श नहीं माना है। अन्तर्विद्रधिवद् दुःखेन दृश्यन्ते इति दुर्दर्शनानि। हाराणचन्द्रस्तु-दुर्दर्शनान्यन्तर्निर्वर्त्तमानानि भयङ्कराणि, 'सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि च' इत्यात्रेय इत्याह।

भवति चात्र-

बाह्यमध्यवलिस्थानां प्रतिकुर्याद्भिषग्वरः।
अन्तर्वलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥ १७ ॥

इस विषय में कहा है कि जो अर्श बाह्य (संवरणी वली-जो कि Sphincterani नामक दो पेशियों से बनी है) वली तथा मध्यम (विसर्जनी) वली में होते हैं उनका प्रतीकार (चिकित्सा) करना चाहिये तथा जो अन्तर्वली (प्रवाहणी) में हों उनकी चिकित्सा (निषेध करके या असाध्य कह कर) करनी चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्शः—असाध्य रोग की चिकित्सा करने से वदनामी होती है—अर्थविद्यायशोहानिमुपक्लेशमसद्ग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्य समुपाचरेत् ॥ (च.)। चरके असाध्यार्शोलक्षणानि यथा—हस्ते पादे मुखे नाभ्या गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूल च यस्यामाध्योऽर्शसो हि स ॥ हृत्पार्श्वशूल सम्मोहश्छर्दिरुक्षस्य रुग्ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥' इति। अर्श के भयङ्कर होने पर गुदपाक हो के रक्त में विषके मिलने से विषमयता (Toxaemia) तथा पूय के मिलने से पूयमयता (Pyaemia) हो कर अनेक उपद्रव होने से असाध्यता होती है। आधुनिक शस्त्र कर्म से अर्श की असाध्यता अधिकतर नहीं रही है।

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य काण्डं जनयन्ति, ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्त्युपपन्नन्ति च पुंस्त्वम्। योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति, ते तु योनिमुपपन्नन्त्यार्तवं च ॥ १८ ॥

लिङ्गार्श—प्रकुपित हुये वातादि दोष मेढ्र (लिङ्ग) में जा कर वहां के मांस तथा रक्त को दूषित कर उसमें प्रथम खुजली पैदा करते हैं। खुजलाने से वहां क्षत (व्रण=Ulcer) बन जाता है तथा उस क्षत में कूर्च के आकार के शिश्न की सुपारी (मणि) पर या चर्म के ऊपर दूषित मांस के अङ्कुर पैदा होते हैं तथा उनसे लसदार रक्तका स्राव होता है तथा अधिक बढ़ कर वे अङ्कुर लिङ्ग तथा पुंस्त्व को नष्ट कर देते हैं तथा स्त्री के योनि में कुपित हुये वातादि दोष वहां के मांस तथा रक्त को दूषित कर कोमल, दुर्गन्ध युक्त, चिपचिपे रक्त का स्राव करने वाले तथा छत्र के आकार के अङ्कुर उत्पन्न करते हैं। ये अङ्कुर योनि तथा आर्त्तव का विनाश कर देते हैं ॥ १८ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में अर्श (Piles) का स्थान गुदा ही माना है तथा लिङ्गादि पर होने वाली अङ्कुर स्वरूप की विकृति का समावेश पेपिलोमा (Papilloma), वार्ट (Wart), कण्डिलोमा (Condyloma), ग्रेन्युलोमा (Granuloma) तथा पॉलिपस (Polypus) इन रोगों में हो सकता है। वाग्भट ने इन्हें लिङ्गार्श कहा है। आयुर्वेद में गुदा के अतिरिक्त मेढ्र, नाभि आदि स्थानों में भी अर्श होना लिखा है। मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि च। गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥

नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डूपदमुखसदृशान् करीराञ्जनयन्ति। त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति। तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदना स्रावो दर्शननाशश्च, घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च। वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति ॥ १९ ॥

नाभि में प्राप्त हुये वातादि दोष कोमल, दुर्गन्धित, चिपचिपे, गण्डूपद (केंचुएं) के मुख के आकार के करीरों (अङ्कुरों) को पैदा करते हैं। वे ही वातादि दोष शरीर के ऊर्द्ध्व भाग में आकर कर्ण, नेत्र, नासा और मुख इन स्थानों में अर्श उत्पन्न करते हैं। कर्णजन्य अर्श होने पर बहरापन, शूल तथा पूतिकर्णता ये रोग उत्पन्न होते हैं। नेत्र में अर्श होने पर वर्त्म की गति में बाधा, पीडा, स्राव तथा दर्शन-शक्ति का नाश ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। नासा में अर्श उत्पन्न होने पर प्रतिश्याय (जुकाम), अधिक छींके आना, कठिनता से सांस लेना, नासा-दौर्गन्ध्य, अनुनासिक वाक्यों का उच्चारण और शिर में पीडा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुख में कण्ठ, ओष्ठ तथा तालु इनमें से किसी एक अङ्ग पर अर्श उत्पन्न होने से गद्गद (अस्पष्ट) वाक्य का उच्चारण, रस का ठीक ज्ञान न होना तथा अन्य मुखरोग उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्त्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥ २० ॥

✓चर्मकील—प्रकुपित व्यान वायु कफ के साथ संयुक्त होकर त्वचा के बाह्य प्रदेश पर स्थित तथा कील के समान अर्श उत्पन्न करता है उस अर्श को चर्मकील कहते हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माण करोत्यर्शस्त्वचो बहि। कीलोपम स्थिरतर चर्मकीलन्तु तद्विदु ॥ (माधव नि.)।

भवन्ति चात्र—

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते।
श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रन्थित्वं च विनिर्दिशेत् ॥ २१ ॥
पित्तशोणितजं रौक्ष्यं कृष्णत्वं शुक्लता तथा।
समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम् ॥ २२ ॥

वात दोष की अधिकता होने से उन चर्मकीलों में सूई चुभोने की सी पीडा होती है तथा कफ दोष की अधिकता से उनका कफ के समान श्वेत रङ्ग तथा ग्रन्थि समान आकार का होता है। पित्त और रक्त की दुष्टि से उनमें कालापन तथा

लालिमा होती है एवं कफ से स्निग्धता तथा वायु से तीव्र परुषता भी होती है ॥ २१-२२ ॥

विमर्शः—वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता । श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥ (अ. सं.)।

अर्शसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यतस्तु यत् ।
तत्सर्वं प्राग्विनिर्दिष्टात्साधयेद्भिषजां वरः ॥ २३ ॥

श्रेष्ठ वैद्य मेढ्र, नाभि, नासा आदि स्थानों में उत्पन्न अर्श के जो लक्षण संक्षेप में कहे हैं उन्हें व्यास (विस्तार) से कहे हुये अर्श के लक्षणों के अनुसार दोषादि की कल्पना से समझकर चिकित्सा द्वारा ठीक करे ॥ २३ ॥

अर्शस्सु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥२४॥

द्वन्द्वजार्श – जब अर्श में दो दो दोषों के मिले हुये लक्षण दिखाई दें तब उन्हें संसर्गज अर्श या द्वन्द्वज अर्श समझना चाहिये तथा यह संसर्ग (वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातरक्त, पित्तरक्त और कफरक्त भेद से) छः प्रकार का होता है ॥ २४ ॥

त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत् ।
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ॥२५॥
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।
सन्निपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ॥ २६ ॥

जो अर्श त्रिदोष युक्त हों किन्तु दोषों के लक्षण अल्प या तीव्र न हों उन्हें याप्य अर्श कहते हैं। जो अर्श दो दोषों से उत्पन्न तथा गुदनलिका की द्वितीय (विसर्जनी) वली में होते हैं तथा एक वर्ष से अधिक पुराने हो गये हों उन्हें कृच्छ्रसाध्य अर्श कहते हैं। सन्निपात (त्रिदोष-संयोग) से उत्पन्न तथा सहज अर्श असाध्य होने से चिकित्सा दृष्टि से वर्जित हैं ॥ २५-२६ ॥

विमर्शः—सुखसाध्यार्शसो लक्षणम्—वाह्यायान्तु वलौ जातान्येकदोषोल्वणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ (अ. सं.)

सर्वाः स्युर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः ।
तैस्तु प्रतिहतो वायुरपानः सन्निवर्तते ॥ २७ ॥
ततो व्यानेन सङ्गम्य ज्योतिर्मूढ्नाति देहिनाम् ॥२८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽर्शोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

जिन मनुष्यों की तीनों वलियां अर्श से पीड़ित हो गई हों उनकी नीचे से अर्श के अङ्कुरों द्वारा प्रतिहत (निरुद्ध) अपान वायु ऊपर की ओर चलकर फिर व्यान वायु के साथ मिल के मनुष्यों की ज्योति (पाचकाग्नि) का नाश कर देती है॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायामर्शोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातोऽश्मरीणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर अश्मरी रोग के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा था ॥

विमर्शः—अश्मरातीति,अश्मरी अर्थात् जिसकी पत्थर सी रचना हो उसे अश्मरी कहते हैं ।

चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः । तद्यथा—श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति ॥ ३ ॥

श्लेष्मा का आश्रय करके उत्पन्न होने वाली अश्मरियां चार प्रकार की होती हैं जैसे कफ से, वायु से, पित्त से और शुक्र से ॥ ३ ॥

विमर्शः—श्लेष्माधिष्ठानाः-श्लेष्मोपादानकारणाः, श्लेष्माणमुपादाय भवन्तीत्यर्थं (डल्हणः)। डाक्टरी में भी प्रमाणित हो गया है कि प्रायः अश्मरियां शुष्क श्लेष्मा (Mucus) को केन्द्र (Nucleus) बना कर पैदा होती हैं। क्वचित् जीवाणु तथा रक्त के थक्के को भी आश्रय करके उसके चारों ओर मूत्रस्थ खनिजों के कणों के स्तर जम कर अश्मरी बनती है।

तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसम्पृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीं जनयति ॥ ४ ॥

अश्मरी कारण—वमन-विरेचनादि पञ्चकर्मों द्वारा शरीर का संशोधन न करने से एवं मिथ्या आहार-विहार रूपी कुपथ्य करने से प्रकुपित हुआ श्लेष्मा मूत्र के साथ मिल कर वस्ति में प्रवेश करके अश्मरी को उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥

विमर्शः—उक्त कारणों के सिवाय नैट्रोजन युक्त गरिष्ठ पदार्थ, मद्य, चाय तथा मिष्टान्नों का अधिक सेवन तथा क्षारयुक्त पदार्थ, नमक, साग सब्जी, दुग्ध इनका अल्प सेवन, अधिक देर तक मूत्र के वेग को रोकना, कडी धूप में रहने से, पसीने द्वारा अधिक रक्त के जलीयांश के निकल जाने से तथा अधिक खटिकांशयुक्त जल के पीने से अश्मरी रोग पैदा होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में तथा शीत देशों की अपेक्षा उष्ण देशों में यह रोग अधिक होता है।

तासां पूर्वरूपाणि—वस्तिपीडारोचकौ मूत्रकृच्छ्रं वस्तिशिरोमुष्कशेफसां वेदना ज्वरः कृच्छ्रावसादौ वस्तिगन्धित्वं मूत्रस्येति ॥ ५ ॥

अश्मरी के पूर्वरूप में वस्ति में पीड़ा, भोजन में अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, वस्तिशिर (Internal Urethral orifice), मुष्क (अण्ड ग्रन्थियां Testicles), और लिङ्ग में पीड़ा, मूत्रकृच्छ्र होने से ज्वर तथा हृदयादि का अवसाद (दुर्बलता), एवं मूत्र में बकरे की गन्ध आना ये लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

यथास्ववेदनावर्णं दुष्टं सान्द्रमथाविलम् ।
पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः ॥ ६ ॥

अश्मरी के पूर्वरूप में मनुष्य वातादि दोषों के अनुसार वेदना तथा रङ्गयुक्त, दूषित, गाढा तथा,कलुषित मूत्र कठिनता से त्यागता है ॥ ६ ॥

अथ जातासु नाभिवस्तिसेवनीमेहनेष्वन्यतमस्मिन् मेहती वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाशमत्याविलं ससिकतं विसृजति। धावनलङ्घनप्लवनपृष्ठ्यानोष्णाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति ॥ ७ ॥

✓अश्मरियों के उत्पन्न हो जाने पर मूत्रत्याग करते समय नाभि, वस्ति सेवनी और मेहन (लिङ्ग) इनमें से किसी एक में पीड़ा, मूत्र की धार के मूत्र त्यागते समय बीच में रुक जाना, मूत्र के साथ रक्त का आना, मूत्र का इधर-उधर विकिरण (गिरना या धार का टेढा गिरना), गोमेदमणि के समान स्वच्छ मूत्र का आना एवं मूत्र के साथ सिकता (शर्करा Gravel) का त्यागना ये सामान्य लक्षण होते हैं। दौडने, किसी नाले खाल को लांघने, तैरने, घोडे या ऊंट के पीठ पर सवारी करने और मार्ग में चलने से अश्मरी रोगी को पीड़ा होती है ॥ ७ ॥

विमर्शः—अश्मरी मूत्र में अटक जाती है जिससे मूत्ररोध तथा वस्ति की रगड लग कर वस्त्यादि के छिल जाने से सरुधिर मूत्र त्याग होता है। वाग्भटोक्तसामान्यलक्षणं—सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीवस्तिमूर्धसु। विशीर्णवारं मूत्र स्यात्तया मार्गे निरोधिते ॥ तद्व्यपायात् सुख मेहेदच्छ गोमेदकोपमम्। तत्सक्षोभात् क्षते सास्रमाघातात्तिलग्भवेत् ॥

तत्र, श्लेष्माश्मरी श्लेष्मलमन्नमभ्यवहरतोऽत्यर्थमुपलिप्याधः परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दाल्यते भिद्यते निस्तुद्यत इव च बस्तिर्गुरुः शीतश्च भवति। अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधूकपुष्पवर्णा वा भवति; तां श्लैष्मिकीमिति विद्यात् ॥ ८ ॥

✓कफाश्मरी—अत्यधिक कफजनक भोजन करनेवाले मनुष्य का कफ संघातक रूप में होकर तथा यथोक्त वृद्धि को प्राप्त हो के वस्तिमुख में स्थित होकर मूत्र निकलने के स्रोत (मार्ग) का निरोध कर देता है। इस तरह रुके हुये मूत्र के प्रत्याघात से वस्ति फटी सी, विशीर्ण और व्यथित सी व सूई चुभोने की पीडा सी एवं भारी और शीत होती है। अश्मरी का रङ्ग सफेद, स्पर्श में चिकनी, आकार में बड़ी तथा मुर्गे के अण्डे या महुए के फूल के समान स्वरूप वाली होती है उसे कफजन्य अश्मरी जाननी चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्श—श्लेष्माश्मरी, अमोनियम मेग्नेशियम, फास्फेट, और चूने के फास्फेट के सञ्चय से बनी होने के कारण इसको Phosphatic Calculus कह सकते है।

पित्तयुक्तस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातादूष्यते चूष्यते दह्यते पच्यत इव वस्तिरुष्णवातश्च भवति। अश्मरी चात्र सरक्ता पीतावभासा कृष्णा मल्लातकास्थिप्रतिमा मधुवर्णा वा भवति; तां पैत्तिकीमिति विद्यात् ॥ ९ ॥

✓पित्ताश्मरी—पित्त के सहित कफ संघात (कडेपन) को प्राप्त कर यथोक्त रूप से बढ के वस्ति के मुख में स्थित होकर मूत्र-स्रोत को रोक देता है। उस रोगी के रुके हुये मूत्र के प्रतिघात से वस्ति प्रदेश झुलसने सा, तपने सा, जलने सा और पकने सा प्रतीत होता है तथा उष्णवात भी हो जाता है। इस प्रकार की पथरी लाल, पीली, काली, भिलावें की गुठली के समान अथवा शहद के रंग सी होती है उसे पित्त जन्य अश्मरी जानो ॥ ९ ॥

विमर्शः—पित्ताश्मरी शुद्ध यूरिक एसिड अथवा अमोनियम यूरेट की होने से Uric Acid Calculus हो सकती है। जलांश की कमी होने से मूत्र तेजाब सा हो जाता है। उष्णवात—यह मूत्राघात का एक भेद है इसके निम्न लक्षण हैं—'व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलावृतम्। वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहन् स्रावयेदथ ॥ मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा। कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ॥'

वातयुतस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीव्रा वेदना भवति, तथाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति नाभिं पीडयति मेढ्रं मृद्नाति पायुं स्पृशति विशीर्यते विदहति वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण चास्य मेहतो निःसरन्ति। अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति; तां वातिकीमिति विद्यात् ॥ १० ॥

✓वाताश्मरी—वातयुक्त कफ संघात के रूप में होकर यथोक्त रूप से बढ के वस्ति के मुख में स्थित होकर मूत्र-मार्ग को रोक देता है तथा उस एकट्ठे हुये मूत्र के प्रतिघात से तीव्र वेदना होती है तथा वेदना से अधिक पीडित होकर दांतों को खाता है, नाभि को दबाता है, शिश्न को मसलता है, गुदा को छूता है, जोर से चिल्लाता है, परितप्त होता है एवं वायु, मूत्र और मल बड़ी कठिनता से मेहन (प्रवाहण) करने से निकलते हैं। अश्मरी का रंग सांवला, स्पर्श में कठोर, टेढ़ी-मेढ़ी, खुरदरी, कदम्ब के फूल के समान कांटों सरीखी रचना से युक्त होती है। उसे वातजन्य अश्मरी कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—यह अश्मरी आक्जेलेट ऑफ् लाइम केल्क्यूलस (Oxalate of lime Calculus) के समान है।

प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति। तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वादनुपचितमांसत्वाच्च वस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति, महतां तु शुक्राश्मरी शुक्रनिमित्ता भवति, ॥ ११ ॥

बहुधा उपर्युक्त तीनों प्रकार की अश्मरियां दिन में शयन, समशन (हिताहित भोजन), अध्यशन (भोजन पर भोजन), शीत, स्निग्ध, गुरु, मधुर ऐसे आहार में रुचि रखने से तथा विशेष करके बालकों में होती हैं क्योंकि उन बच्चों की वस्ति तथा शरीर छोटा होने से एवं उनमें वस्ति के मांस का

उपचय अधिक न होने से पैदा होती हैं तथा उन अश्मरियों को यन्त्र द्वारा आसानी से पकड सकते हैं और निकाल सकते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—बच्चों में शुक्र इतनी छोटी आयु में नहीं बनता है अतः शुक्राश्मरी उनमें होना संशयित है।

मैथुनाभिघातादतिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छद्वि मार्गगमनादनिलोऽभितः सङ्गृह्य मेढ्रवृषणयोरन्तरे संहरति, संहृत्य चोपशोषयति। सा मूत्रमार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्रं वस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वथथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते; तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् ॥ १२ ॥

शुक्राश्मरी—बडे मनुष्यों में शुक्र के कारण शुक्राश्मरी होती है। कारण—अधिक वर्ष या मास तक शुक्र (वेग) को रोकने से अथवा अधिक स्त्री-संयोग करने से स्वस्थान से चलित शुक्र बाहर न निकल कर उलटा गमन करता है तब वायु उसे पकड कर मेढ् (शिश्न) तथा वृषण (अण्ड तथा कोष) के बीच में एकत्रित करती है तथा एकत्रित कर सुखा देती है। इस तरह बनी हुई वह शुक्राश्मरी मूत्र के मार्ग को रोक देती है जिससे मूत्रकृच्छ्र, वस्ति में पीड़ा तथा वृषणों में शोथ पैदा होता है एवं दबाने पर वह अश्मरी उन्हीं स्थानों में लीन हो जाती है। इस तरह से उत्पन्न शुक्राश्मरी (सेमीनल या स्पर्मेटिक कांक्रीशन्स, स्पर्मोलिथ Seminal or Spermatic Concretions, Spermolith) कहते हैं ॥ १२ ॥

भवन्ति चात्र—

शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्।
अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना ॥ १३ ॥
पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः।
सा भिन्नमूर्त्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते ॥ १४ ॥
हृत्पीडा सक्थिसदनं कुक्षिशूलः सवेपथुः।
तृष्णोर्ध्वगोऽनिलः काश्यं दौर्बल्यं-पाण्डुगात्रता ॥१५॥
अरोचकाविपाकौ तु शर्करार्त्ते भवन्ति च।
मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १६ ॥
दौर्बल्यं सदनं काश्यं कुक्षिशूलमरोचकम्।
पाण्डुत्वमुष्णवातश्च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ १७ ॥

शर्करामेह (Passing of gravel), सिकतामेह (Brickdust deposit) तथा भस्ममेह (Phosphaturia) ये अश्मरी के कारण ही पैदा होते हैं। शर्करा के अश्मरी के समान ही स्वरूप और लक्षण होते हैं किन्तु अश्मरी छोटी हो तथा वायु अनुकूल हो तो मूत्र के साथ बाहर निकल जाती है तथा वही अश्मरी वायु से विदीर्ण होकर मूत्र के साथ बाहर निकलती है उसे शर्करा कहते हैं। शर्करा लक्षण—हृदय में पीडा, टांगों में दर्द, उदर में शूल, शरीर में कम्पन, प्यास, डकारें (ऊर्ध्ववात) आना, शरीर में कालापन, दुर्बलता, पाण्डुवर्णता, अरुचि और भोजन का ठीक पचन नहीं होना ये लक्षण शर्करा रोगी के होते हैं। वस्ति से बाहर निकलने के लिये मूत्र मार्ग में प्रवृत्त हुई वह शर्करा जब वहां अटक जाती है तब दुर्बलता, सदन (पीड़ा), कृशता, उदरशूल, अरुचि, देह की पाण्डुता, उष्णवात, तृष्णा, हृदय में पीडा और वमन इन लक्षणों को पैदा करती है ॥ १३-१७ ॥

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदबङ्क्षणशेफसाम्।
एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः ॥ १८ ॥
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः।
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम् ॥ १९ ॥
एकसम्बन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवरस्थिताः।
मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥ २० ॥

वस्तिवर्णन—नाभि, पृष्ठ, कटी, वृषण, गुदा, वंक्षण और लिङ्ग इनके बीच में एक द्वार वाली पतले चर्म से बनी हुई, नीचे को मुख की हुई वस्ति होती है। वस्ति स्वरूप में तोम्बी के समान होती है तथा शिरा और स्नायुओं से घिरी हुई है। वस्ति, वस्तिशिर, पौरुषग्रन्थि, वृषण (अण्डग्रन्थियां) और गुदा ये गुदास्थि विवर के आश्रित तथा परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित रहते है। वस्ति का दूसरा नाम मूत्राशय (मूत्रसञ्चय होने का स्थान) है तथा इसी को किट्ट (मल) रूपी मूत्र का आशय होने से मलाधार भी कहते हैं। यह प्राणों का आयतन तथा श्रेष्ठ है ॥ १८-२० ॥

विमर्शः—वस्ति को ब्लेडर (Bladder) कहते हैं। यह एक थैली है जो वस्तिगह्वर (Pelvic cavity) में विटपसन्धि के पीछे रहती है तथा इस में वृक्कों से छन कर गविनियों (Ureters) द्वारा मूत्र बूंद बूंद के रूप में आकर इकट्ठा होता है। पुरुषों में वस्ति के पीछे दो शुक्राशय (Seminal, Vesicle) और उनके पीछे बृहदन्त्र का अन्तिम भाग या मलाशय (Rectum) तथा स्त्रियों में मूत्राशय के पीछे गर्भाशय (Uterus) तथा गर्भाशय के पीछे मलाशय रहता है। मूत्राशय की दीवार स्वतन्त्र मांसीय सूत्रों से बनी होती है। भीतरी पृष्ठ पर श्लैष्मिक झिल्ली (Mucus membran) लगी रहती है। मूत्र से खाली रहने पर यह तिकोना सा तथा भर जाने पर गोलाकार हो जाता है तथा वस्तिगह्वर से कुछ ऊपर उठ कर उदर की अगली दीवार के पीछे आ लगता है। यहां पर जो एकद्वार लिखा है वह मूत्रप्रसेक (Urethra) का अभ्यन्तरीय द्वार (Internal Urethral orifice) है। इस के सिवाय वस्ति के ऊर्ध्व या पार्श्व भाग में दोनों गविनियां आकर खुलती हैं अतः दो छिद्र वे भी होते हैं। पौरुष को गणनाथ सेनजी ने Prostate gland माना है—पौरुष तु वस्तिमूलस्थो ग्रन्थिविशेष प्रत्यक्षदृष्ट स्यादिति प्रतीतिः शारीरविदाम्। न चात्र डल्हनोक्त-'पौरुष मेढ्रम्' इत्यर्थं सङ्गच्छते, पौरुषस्येह गुदास्थिविवरस्थितत्वाभिधानात्। वृषण भी गुदास्थि विवर में नहीं होते हैं। यद्यपि वृषणौ न गुदास्थिविवरस्थौ तथापि गर्भावस्थानकाले बालस्य श्रोणिविवरान्तरेव तयोरवस्थानात् तथाऽभिधान सङ्गच्छते। प्राणायतन—वस्ति मर्म होने के कारण प्राणायतन है—'मर्माणि तेषु स्वभावत एव प्राणास्तिष्ठन्ति'।

पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ २१ ॥

सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।
नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात्॥ २२॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।
आमुखात्सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते घटः॥
घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते॥ २३॥

पक्वाशय में स्थित जो मूत्रवाहक नाडियां हैं वे सदा वस्ति को मूत्र द्वारा तर्पित करती रहती हैं जैसे नदियां अपने जल से समुद्र को तर्पित (पूर्ण) करती रहती हैं। इन नाड़ियों के हजारों मुख हैं जो कि सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते हैं। आमाशय एवं पक्वाशय के भीतरी भाग से नाड़ियों के द्वारा लाये गये मूत्र के क्षरण (निष्यन्द) से जागते हुये तथा सोते हुये मनुष्य की वस्ति पूरित होती रहती है जिस तरह मुख पर्यन्त पानी में रखा हुआ नूतन मिट्टी का घड़ा अपने आस पास के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा रिस रिस कर जल से भर जाता है उसी तरह वस्ति अपने चारों ओर बने हुये सूक्ष्म छिद्रों द्वारा मूत्र से भरती रहती है॥

विमर्शः—आयुर्वेद के मत से मूत्रोत्पत्ति आमाशय तथा पक्वाशय में होती है तथा वहां से मूत्र सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा वस्ति में पहुचता रहता है। आयुर्वेद के मत से आहार के पचने पर दो भाग होते हैं प्रसाद भाग या सारभाग को रस कहते हैं तथा दूसरा किट्टभाग या मलभाग होता है। इस किट्ट भाग से ही मल और त्र बनते हैं। यह कार्य आमाशय तथा पक्वाशय में पाचकपित्त और समान वायु करता है। जैसे लिखा भी है—'आहारप्रसादाख्यो रस. किट्टञ्च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषा' पुष्यन्ति (चरकः)। 'किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् (च०)। विण्मूत्रमाहारमल. सार. प्रागीरितो रस। (सुश्रुत') 'तच्चाहृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्नपान पचति, विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि'। (सुश्रुतः)। परन्तु आधुनिक विज्ञानने मूत्रोत्पत्ति इस प्रकार से नहीं मानी है। औदरिक वृहद् धमनी (Abdominal Aorta) की दो शाखाएं (वृक्कीय धमनियां Renal Arteries) दोनों वृक्कों में जाती हैं तथा वहां पर उनकी अनेक सूक्ष्म शाखाएं (केशिकाएं=Capilariese) हो कर वृक्कस्थ नालियों के आस पास फैल जाती हैं तथा वृक्कस्थ नालियां अपने विशिष्ट प्रभाव से रक्त से निकम्मे किट्टरूप या मलरूप भाग (यूरिया, यूरिक अम्ल, सेन्द्रिय organic तथा निरिन्द्रिय Inorganic घन पदार्थ) तथा त्याज्य जल को पृथक् कर लेती है इसे मूत्र कहते हैं तथा यह मूत्र वृक्कस्थ नालियों द्वारा ही बनी हुई गविनियों (Ureters) द्वारा बूंद बूंद के रूप में वस्ति में आता रहता है। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में वृक्क का स्थान, स्वरूप और संख्या का ठीक वर्णन है किन्तु मूत्रोत्पत्ति के साथ कोई सम्बन्ध न मान कर मेदोधातु की पुष्टि करने का इन का कार्य माना है। 'वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जघन्यस्य मेदस' इस में कोई सन्देह नहीं की वृक्क के चारों ओर फेट बहुत रहती है किन्तु उस से वृक्कों का क्या सम्बन्ध है आधुनिक विज्ञान अभी जान नहीं सका है। सम्भव है भविष्य में आयुर्वेद का जो फेट के साथ सम्बन्ध है वह आधुनिक विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित हो जायगा। अथर्व वेद के 'यदान्त्रेषु गविन्योर्यद्वस्तावधिसश्रितम्। एवाते मूत्रम्' इस वाक्य से तथा सायणभाष्य के 'आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गविन्यौ' इस व्याख्यान से वृक्कों की आन्त्रसदृश आन्तरिक रचना मान लेने से वृक्क (Kidney), गविनियां (Ureters) और वस्ति (Bladder) इनका परस्पर सम्बन्ध व कार्य स्पष्ट हो जाता है। वर्तमान विज्ञान ने जो भी अन्वेषण किया है वह आयुर्वेद तथा वेदों से बाहर नहीं है अतः संसार में सब पैथियों के मार्गदर्शक आयुर्वेद तथा वेद के सिवाय अन्य नहीं है यह गौरव की बात है। वस्तुतस्तु—मूत्र के अन्दर जो यूरिया आदि मल रहते हैं उनका निर्माण वृक्कों में नहीं होता है। वृक्क तो केवल छनने का कार्य करते हैं। आमाशय तथा पक्वाशय (पच्यमानाशय=ग्रहणी=डियोडिनम) में आहार के पाचन में जो तोड़-फोड़ होती है उसी वक्त मूत्र के मल भाग भी बन जाते है तथा उनका वहन रस और रक्त के साथ साथ हजारों नालियों (अन्त्रस्थरसाङ्कुरिकाओं धमनी केशिकाओं) में होता रहता है तथा अन्त में वृक्क में वे मलभाग आकर छन कर मूत्राशय में जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म (आस्तिक) बुद्धि द्वारा गम्भीर विचार करने पर आयुर्वेद की मूत्र-निर्माण-कल्पना भी नित्य हो सकती है उसे मेरे गुरुवर्य श्री घाणेकरजी ने जो आयुर्वेद का प्रमाद कहा है यह ठीक नहीं प्रतीत होता है। यह निश्चित है कि वस्ति में मूत्र गविनियों द्वारा ही केवल दो छिद्रों से प्रविष्ट होता है। जिस प्रकार पानी में रखे हुये नवीन घट का हजारों पार्श्वस्थ सूक्ष्म छिद्रों से जल पूरण होता है उसी प्रकार वस्ति मूत्र से पूरित नहीं होती है। यह तो संस्कृत के कवियों की आलङ्कारिक कल्पना मात्र है जिस में तथ्य तथा अतथ्य दोनों होता है।

एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा।
मूत्रयुक्त उपस्नेहात् प्रविश्य कुरुतेऽश्मरीम्॥ २४॥

जिस तरह मूत्र वस्ति में प्रवेश करता है उसी तरह उसके साथ वात, पित्त और कफ भी प्रविष्ट होकर उपस्नेह या तलछट से अश्मरी रोग को पैदा करते हैं॥ २४॥

अप्सु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे।
कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसम्भवस्तथा॥ २५॥

जिस प्रकार नये घडे में अति स्वच्छ पानी भरने पर भी कुछ समय के पश्चात् उस में कीचड अवक्षेप (Precipitate) के रूप में एकत्रित हो जाता है वैसे ही वस्तिस्थ स्वच्छ मूत्र में भी कुछ काल के पश्चात् अश्मरी पैदा हो जाती है॥२५॥

विमर्श.—प्रायः विशुद्ध जल (H_2O) में कोई पदार्थ घुले नहीं रहते हैं किन्तु पृथ्वी पर पड़ने से उस में कई भार और लवण घुल जाते हैं किन्तु विलायक शक्ति से अधिक लवण वारादि के जल में घुलने से कुछ काल बाद पात्रतल में अवक्षेप हो जाता है उसी तरह वृक्कस्थ नालियों के द्वारा मूत्र में यूरिक एसिड, यूरेटस्, आक्जेलेटस्, फास्फेटस् आदि लवण अधिक प्रमाण में त्यक्त होते है तब मूत्र के जल में इनका पूर्ण विलयन न होकर कुछ अंश सूक्ष्म स्फटिक (Crystal) के स्वरूप में वृक्क, गविनियों के प्रारम्भिक भाग

और वस्ति में अवस्थित होकर उसके चारों ओर इन्हीं लक्षणों के कण धीरे धीरे सङ्गठित होते रहते हैं जिस से अश्मरी बन जाती है। कभी कभी सूखा श्लेष्मा (Mucus), जमे रक्त का थक्का और कृमियों के अण्डे के केन्द्र बना कर उक्त लक्षण सञ्चित होकर अश्मरी बनाते हैं।

संहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः ।
तद्वदस्रं वस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः ॥ २६ ॥

जिस प्रकार हवा और विद्युत् की अग्नि आकाश के जल को बांध कर ओले बनाती है उसी प्रकार वायु के सहित अग्नि (पित्त) वस्ति में मूत्र के साथ आये हुये कफ को बांध कर अश्मरी बना देती है ॥ २६ ॥

मारुते प्रकृतौ वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्त्तते ।
विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥ २७ ॥
मूत्रघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च ।
मूत्रदोषाश्च ये कैचिद्वस्तावेव भवन्ति हि ॥ २८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽश्मरीनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वात के प्रकृतिस्थ होने से वस्ति में मूत्र ठीक तरह से प्रवर्तित होता है तथा वात के विरुद्ध (प्रतिलोम) होने पर अश्मरी, मूत्राघात आदि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। मूत्राघात, प्रमेह, शुक्रदोष तथा अनेक प्रकार के मूत्रदोष वस्ति ही में उत्पन्न होते हैं ॥ २७-२८ ॥

विमर्शः—मूढ़ वातमूत्रकृच्छ्रमूत्रौकसादाः—१—मूत्रकृच्छ्रं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रमतिदुःखः । मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान् कृच्छ्रमल्पमल्पमिति । (मधुकोषः) २—मूत्रकृच्छ्रं मूत्रं कृच्छ्रेण वहति मूत्रयते मूत्रं शीर्यते प्रतिहन्यते वा । (चक्रपाणिः) मू० ३—मूत्रकृच्छ्रं दुःखेन मूत्रवृत्तिः मूत्राघातो मूत्रावरोधः (डल्हणः) ४—मूत्रकृच्छ्रविनिर्दिष्टान्येव मूत्राघातानाहुः । (वाग्भटः) मूत्रकृच्छ्र को डिसूरिया (Dysuria), मूत्रावरोध को रिटेन्शन आफ यूरिन (Retention of urin) तथा मूत्रशोध (मूत्र के न बनने को सप्रेशन ऑफ् यूरिन (Suppression of urine) कहते हैं। मूत्रकृच्छ्र का कारण वृक्कों की खराबी, मूत्रावरोध द्वार पर अश्मरी के अटकने से, पौरुषग्रन्थिवृद्धि या शोफ से तथा मूत्रद्वार-सङ्कोचकपेशीसङ्कोचन से होता है ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायामश्मरीनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो भगन्दरगां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर भगन्दर रोग के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राव्यशम्बूकावर्त्तोन्मार्गिणो यथासङ्ख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति ॥ ३ ॥

वायु, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तुक इन कारणों से क्रमशः शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शम्बूक तथा उन्मार्गी ये पांच भगन्दर होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—वाग्भट ने भगन्दर के आठ भेद लिखे हैं—दोषैः पृथक्त्रिभिः सर्वैरागन्तोः सोऽष्टधा स्मृतः । मूलोक्त पांच तथा छठा परिस्रावी—वातपित्तात्परिस्रावी परिक्षिप्य गुदं गतिः । जायते परितस्तत्र प्राकारं परिखेव च । परिस्रावी को हार्स शू फिस्चुला (Horse shoe fistula) कह सकते हैं। सातवें को ऋजु—भगन्दर—ऋजुर्वातकफादस्यां गुदो गत्वा विदार्यते । आठवें को अर्शो भगन्दर 'कनिष्ठे तु पुनर्मांसं दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः । अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान् भवेत् ॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नस्य वलेरुत्थं मुहुर्मुहुः । स्रवत्यजस्रं गतिभिरनर्शोभगन्दरः ॥ (अ. सं) शतपोनक भगन्दर को मल्टिपल फिस्चुली (Multiple fistulae) कहते हैं। डाक्टरी में भगन्दर के तीन भेद किये गये हैं। द्विमुखी या पूर्ण भगन्दर (Complete Fistula) इसका एक मुख मलाशय के भीतर और दूसरा मलद्वार के पास चर्म पर होता है। बाह्य अन्ध भगन्दर (External blind Fistula) इसका केवल एक ही छिद्र चर्म पर खुलता है। इस भगन्दर का मलाशय से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। अन्तर्मुखी या आन्तरिक अन्ध भगन्दर इसका छिद्र चर्म पर नहीं होता है, वह केवल भीतर की ओर मलाशय में खुलता है तथा उसमें उत्पन्न पूय भी मलाशय में ही जाती है अतः मल के साथ पूय आती है। सुश्रुत में बहिर्मुख को पराचीन तथा अन्तर्मुख को अर्वाचीन नाम से कहा है। 'भगन्दरं तमीक्षेत पराचीन (बहिर्मुख) मर्वाचीनमन्तर्मुखम् ।'

(भग. चि.)

ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते । अपक्वाः पिडकाः, पक्वास्तु भगन्दराः ॥ ४ ॥

ये भगन्दर भग, गुदा, वस्ति इन स्थानों का दारण करने से भगन्दर कहे जाते हैं। जब तक ये अपक्व होते हैं तब तक पिडका कहलाते हैं तथा पक्व कर फूट जाने पर भगन्दर कहलाते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—भगवदारयन्तीति भगन्दरास्तेषाम् । भगशब्दो गुदाबुपलक्षणम् । उक्तमपि भोजेन—'भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च भगवदारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः ।' इति । न गुदन्दरो न वस्तिन्दरश्च उच्यते । पिडिका के पक्व होकर फूटने पर भगन्दर संज्ञा होती है जैसा कि कहा है—गुदस्य दक्षकुक्षे क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत् । स्त्रिया भगन्दरो ज्ञेयः । (माधवनि०) । वाग्भटेऽपि—अपक्वां पिडकामाहुः पाकप्राप्तं भगन्दरम् । भगन्दर को Fistula-in-ano कहते हैं।

तेषान्तु पूर्वरूपाणि—कटीकपालवेदना कण्डूदाहः शोफश्च गुदस्य भवति ॥ ५ ॥

भगन्दर पूर्वरूप—कटि की अस्थियों में पीड़ा तथा गुदा में खुजली, दाह और सूजन ये पूर्वरूप के लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

तत्रापथ्यसेविनां वायुः प्रकुपितः सन्निवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिडकां जनयति, साऽस्य तोदादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, मूत्राशयाभ्याशगतत्वाच्च व्रणः प्रच्छिन्नः शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते, तानि च छिद्राण्यजस्रमच्छं फेनानुविद्धमधिकमास्रावं स्रवन्ति, व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव निस्तुद्यते, गुदं चावदीर्यते, उपेक्षिते च वातमूत्रपुरीषरेतसामप्यागमश्च तैरेव छिद्रैर्भवति। त भगन्दरं शतपोनकमित्याचक्षते ॥ ६ ॥

शतपोनक—मिथ्या आहार तथा विहार सेवन करने वाले पुरुष में प्रकुपित वात स्वकार्य से निवृत्त एवं स्थिर (निश्चल) होकर गुदा के चारों ओर एक या दो अङ्गुल स्थान के मांस और रक्त को दूषित करके लाल वर्ण की पिडका को पैदा करता है तथा यह पिडका उस पुरुष के गुदादि प्रदेश में सूई चुभोने की सी पीड़ा आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है तथा उसकी चिकित्सा न करने से पाक को प्राप्त हो जाती है। इस पिडका के फूटने से जायमान व्रण मूत्राशय के पास में होने से गीला रहता हुआ चलनी के समान छोटे छोटे छिद्रों से पूर्ण हो जाता है। अर्थात् उसमें छोटे छोटे व्रण बन जाते हैं तथा वे छिद्र निरन्तर स्वच्छ तथा झागदार स्राव अधिक मात्रा में बहाते रहते हैं तथा वह व्रण ताडन, भेदन, छेदन और सूचीवेधन की सी पीडा से युक्त रहता है और गुदा अवदीर्ण (विदार युक्त) हो जाती है। इसकी उपेक्षा (चिकित्सा न) करने से उन चलनी समान छिद्रों से वात, मूत्र, मल तथा वीर्य का आगमन (स्राव) होता है। इस प्रकार के भगन्दर को शतपोनक कहते हैं ॥ ६ ॥

पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववदवस्थितं रक्तां तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रग्रीवाकारां पिडकां जनयति, साऽस्य चोपादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्चाग्निक्षाराभ्यामिव दह्यते दुर्गन्धमुष्णमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति। तं भगन्दरमुष्ट्रग्रीवमित्याचक्षते ॥ ७ ॥

उष्ट्रग्रीव—प्रकुपित पित्त वात के द्वारा नीचे की ओर प्रेरित हो के पूर्ववत् उस स्थान में अवस्थित हो के लाल रङ्ग की, पतली तथा उभरी हुई उष्ट्रग्रीवा के स्वरूप की पिडका उत्पन्न करता है तथा वह पिडका गुदादि स्थान में दाह आदि पित्त के अनुरूप वेदना-विशेषों को उत्पन्न करता है तथा उस पिडका को बढाने (शान्त होने) की चिकित्सा न करने से वह पाक को प्राप्त होती है तथा उसके फूटने से बना हुआ व्रण अग्नि और क्षार लगाने के समान दाह युक्त होता है एवं दुर्गन्धित उष्ण स्राव त्यागता है तथा इस व्रण की भी उपेक्षा कर देने से रोग बढ़ जाता है जिससे वह व्रण वात, मूत्र और वीर्य का स्राव त्यागता है। इस प्रकार के भगन्दर को उष्ट्रग्रीव भगन्दर कहते हैं ॥ ७ ॥

श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्ववदवस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां जनयति, साऽस्य कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च कठिनः संरम्भी कण्डूप्रायः पिच्छिलमजस्रमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरं परिस्राविणमित्याचक्षते ॥ ८ ॥

परिस्रावी—मिथ्या आहार-विहारादि से प्रकुपित कफ वात द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर पूर्ववत् गुदा के चारों ओर एक या दो अङ्गुल के स्थान में अवस्थित हो के कुछ श्वेत वर्ण की, स्थिर (कठिन) और खुजली युक्त पिडका को पैदा करता है तथा वह पिडका उस रोगी के गुदादि स्थान में कण्डू आदि कफानुरूप वेदना विशेष को उत्पन्न करती है तथा लेपादि द्वारा प्रतीकार न करने पर पाक को प्राप्त हो जाती है तथा इससे उत्पन्न व्रण स्पर्श में कठोर, सरम्भराहट युक्त और खुजली युक्त तथा निरन्तर चिकने स्राव का उत्सर्ग करता है तथा उस व्रण की शोधन-रोपणादि रूप चिकित्सा न करने से वात, मूत्र, मल और वीर्य का स्राव होता है। इस प्रकार के भगन्दर को परिस्रावी कहते हैं ॥ ८ ॥

वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति, साऽस्य तोददाहकण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्त्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः; तं भगन्दरं शम्बूकावर्त्तमित्याचक्षते ॥ ९ ॥

शम्बूकावर्त—मिथ्या आहार-विहारादि से कुपित वात प्रकुपित हुये पित्त और कफ को चारों ओर से ग्रहण करके नीचे जाकर पूर्व के समान गुदादि अङ्गों में अवस्थान करते हुये पैर के अङ्गूठे के प्रमाण की सर्व लक्षणों से युक्त पिडका को उत्पन्न करता है। वह पिडका इस रोगी के उस गुदादि प्रदेश में सूई चुभोने की सी पीडा, दाह, कण्डू आदि विशिष्ट वेदनाओं को उत्पन्न करती है तथा पिडका की चिकित्सा न करने से पाक को प्राप्त होती है तथा इसके फूटने से उत्पन्न व्रण अनेक प्रकार के रङ्ग वाले स्राव को बहाता है तथा जल के अधिक पूर (बाढ) के समान या शङ्ख के आवर्त्त (भंवर) के समान विशिष्ट पीडाओं को पैदा करता है। ऐसे को शम्बूकावर्त भगन्दर कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—पूर्णनद्या आवर्तवत् शम्बूकावर्तवत्, अथवा पूर्णनद्या शम्बूकावर्तवद् वेदनाविशेषाः समुत्तिष्ठन्ति प्रवर्तन्ते। तदुक्तं भोजेन—'नदीना परिपूर्णाना शम्बूकावर्तका यथा। समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिता ॥' इति।

मूढेन मांसलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्तेन सहाभ्यवहृतं यदाऽवगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाधः प्रेरितमसम्यगागत गुदं क्षिणोति तत्र क्षतनिमित्तः कोथ उपजायते, तस्मिंश्च क्षते पूयरुधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलप्रक्षिप्तायां क्रिमयः सञ्जायन्ते, ते भक्षयन्तो गुदमने-

कथा पार्श्वतो दारयन्ति; तस्य तैर्मार्गैः कृमिकृतैर्वात-पुरीषरेतांस्यभिनिःसरन्ति; तं भगन्दरमुन्मार्गिणमित्याचक्षते ॥ १० ॥

उन्मार्गी-भगन्दर—मांस खाने का लालची मूढ पुरुष अन्न के साथ अस्थि शल्य को निगल जाता है तथा वह शल्य जब कठिन मल के साथ मिलकर अपान वायु से नीचे की ओर प्रेरित होकर टेढा-मेढा आकर गुदा को चोट पहुंचाता है तथा वहां व्रण बन जाने से कोथ (सडान) उत्पन्न होता है तथा उस पूय और रक्त से पूर्ण मांस के कोथ में जल से छिन्न (कीचड युक्त) हुई भूमि में जैसे कीडे पड जाते हैं वैसे कीडे पड जाते हैं तथा वे कीडे गुदा के मांस को खाते हुये उसे अगल-बगल से विदीर्ण (नष्ट) कर देते हैं। उस पुरुष के उन कृमियों के द्वारा किये हुये मार्ग से वात, मूत्र, मल और वीर्य निकलते रहते हैं। ऐसे को उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं ॥ १० ॥

भवन्ति चात्र—

उत्पद्यतेऽन्यत्क् शोफात् क्षिप्रं चाप्युपशाम्यति ।
पाय्वन्तदेशे पिडका सा ज्ञेयाऽन्या भगन्दरात् ॥११॥

गुदा के आखिरी हिस्से में स्वल्प पीडा तथा शोथ युक्त पिडका उत्पन्न होती है तथा जल्दी ही शान्त भी हो (बैठ) जाती है वह भगन्दर से अतिरिक्त पिडका होती है ॥ ११ ॥

पायोः स्याद् द्व्यङ्गुले देशे गूढमूला सरुग्ज्वरा ।
भागन्दरी तु विज्ञेया पिडकाऽतो विपर्ययात् ॥ १२ ॥

गुदा के दो अङ्गुल दूर वाले प्रदेश में उत्पन्न होने वाली, गहरे मूल की तथा पीडा और ज्वर से युक्त तथा पूर्व में कही हुई पिडका से विपरीत लक्षणों वाली भगन्दर पैदा करने वाली पिडका है ॥ १२ ॥

यानयानान्मलोत्सर्गात् कण्डूरुग्दाहशोफवान् ।
पायुर्भवेद्रुजः कट्यां पूर्वरूपं भगन्दरे ॥ १३ ॥

भगन्दर पूर्वरूप—किसी सवारी (यान) पर यान (आरोहण) करने से, मल का त्याग करने से गुदा में खुजली, पीडा, जलन तथा सूजन का होना एवं कमर में दर्द होना ये भगन्दर के पूर्वरूप हैं ॥ १३ ॥

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च भगन्दरः ॥ १४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भगन्दरनिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

साध्यासाध्यता—प्रायः सर्व प्रकार के भगन्दर घोर कष्टदायक तथा कृच्छ्रसाध्य होते हैं किन्तु उनमें त्रिदोषजन्य भगन्दर तथा क्षतज भगन्दर असाध्य होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—असाध्यता-वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च । भगन्दरात् प्रवर्तन्ते तमाशुहरम् ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषायां निदानस्थाने भगन्दरनिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर कुष्ठ के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१-२॥

विमर्शः—कुष्ठ परिभाषा—कुथ्यात्मकमिति कुष्ठम् । कुत्सितं स्थितीति कुष्ठम् । तथा च नन्वान्तरे—कालेनोपेक्षिता यस्मात् सर्वं कुथ्यति तद्यतः । (अ सं.) । इस प्रकार कण्डु आदि क्षुद्र रोग तथा कुष्ठादि महारोगों का इसमें समावेश होता है। साधारणतया कुष्ठ को त्वग्दोष भी कहते हैं—तानक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति तत्र त्वग्दोषी दिवास्वप्नं व्यवायञ्च परिहरेत् । त्वचा के रोगों को Diseases of the skin or Dermatoses कहते हैं। ऐसे कुष्ठ के महाकुष्ठ या गलकुष्ठ (Leprosy) और क्षुद्र कुष्ठ दो वर्ग किये गये हैं। क्षुद्र कुष्ठ में त्वचा के अनेक रोगों का समावेश होता है। श्वेत कुष्ठ को श्वित्र, किलास या सिध्म (Lenco derma) कहते हैं।

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाद् गुरुविरुद्धासात्म्याजीर्णाहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायामाभ्यधर्मसेविनो ग्राम्यानूपौदकमांसानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जत्यप्सूष्माभितप्तः सहसा छर्दिर्वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः सम्प्रतिपद्य समुदूधूय बाह्यं मार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति, यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निःसरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं प्रतिपद्य धातूनभिदूषयति ॥ ३ ॥

मिथ्या आहार-विहार करने वाले तथा विशेषकर गरिष्ठ विरुद्ध और असात्म्य भोजन एवं अजीर्ण के बाद तथा अहितकारी भोजन करने वाले तथा घृत-तैलादि स्नेहपान तथा वमन के पश्चात् व्यायाम और मैथुन करने वाले एवं ग्राम्य, आनूप तथा जलीय प्राणियों के मांस को निरन्तर दुग्ध के साथ सेवन करने वाले तथा जो धूप में घूमने या काम करने से तप्त हुए हों और सहसा ठण्डे पानी में प्रविष्ट हो जांय तथा जो वमन के वेग को रोकता है ऐसे मनुष्य की बढी हुई वायु प्रकुपित हुये पित्त और कफ को लेकर तिर्यक् जाने वाली सिराओं में जाके उनमें व्याप्त होकर उन्हें दूषित करके शरीर के बाह्य मार्ग (रक्त, लसीका, त्वचा और मांस) को चारों ओर से घेर लेते हैं। फिर विक्षिप्त हुआ दोष जहां जहां सञ्चार करता है उस उस स्थान पर मण्डल (चकत्ते) पैदा करता है। इस तरह देह की त्वचा में गया हुआ दोष वहां बढ कर प्रतीकार न करने से यथाक्रमानुसार रक्त-मांसादि धातुओं को दूषित करता हुआ शरीर के भीतरी अङ्गों में अवस्थित रहता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—बाह्यरोगमार्ग—'तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च स बाह्यो रोगमार्गः' (चरकः) । कुष्ठकारण—चरक ने निम्न कारण अधिक माने हैं जैसे—नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्।

मांसमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्। व्यवायाध्यजीर्णऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा। विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्॥ आदि। डाक्टरी में गलित कुष्ठ का प्रधान कारण बेसीलस लेप्री (B leproe) है तथा आयुर्वेदोक्त सब कारण डाक्टरी मत से सहायक कोटि में हो सकते हैं। आयुर्वेद कुष्ठ को कुलज मानता है किन्तु डाक्टरी मत से कुष्ठी माता-पिता से उत्पन्न बालक को यदि उनसे उसी वक्त पृथक् कर दिया जाय तो वह कुष्ठी नहीं हो सकता किन्तु उसमें कुष्ठोत्पत्ति की अनुकूलता (Predisposition) होने से कुष्ठी के साथ संसर्ग होने पर अन्य की अपेक्षा जल्दी कुष्ठ से आक्रान्त हो सकता है। चरक ने वात, पित्त तथा कफ इन त्रिदोष तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका इनके एक साथ दूषित होने पर कुष्ठ का उत्पन्न होना माना है। माधव ने भी लिखा है कि—मातापितृजौ दुष्टस्त्वग्रक्त मांसमस्तु च। दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रह। चरक ने दूषित दोषों को कुछ काल तक त्वचा में अवस्थित रह कर फिर त्वगादि को दूषित करके कुष्ठ उत्पन्न करते हैं ऐसा माना है जैसे—दोषा प्रकुपिता स्थानमधिगम्य तिष्ठन्तस्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति। इसको रोग-सम्प्राप्ति-काल या सञ्चय-काल (Incubation period) कहते हैं। यह समय दो से दस वर्ष तक भी हो सकता है ऐसा वर्तमान विज्ञान ने माना है। चरकोक्तकुष्ठसम्प्राप्ति—त्रयो दोषा यदापित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृता, दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्चतुर्धा दोषोपधानविकृता इति। एतत् सप्तानां सप्तधातुकमेऽप्यतमाजनन कुष्ठानाम्। (च० नि०)।

तस्य पूर्वरूपाणि-त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति॥ ४॥

कुष्ठ पूर्वरूप—त्वचा का पारुष्य (कठोरता), सहसा रोंगटे खड़े होना, शरीर में खुजली चलना, अधिक पसीना आना अथवा बिल्कुल पसीना न आना, शरीराङ्गों की सुप्ति, उत्पन्न हुये व्रण का (चिकित्सा करने पर भी) फैलना तथा खून का कृष्ण वर्ण होना ये पूर्वरूप के लक्षण हैं॥ ४॥

विमर्श—चरक ने कुष्ठ की सम्प्राप्ति में निम्न लक्षण अधिक माने हैं। 'अतिश्लक्ष्णता, वैवर्ण्य, परिदाह, परिदर्ष, ऊष्मायण, गौरवं, पक्वदग्धदष्टभग्नक्षतोपस्पर्शितेष्वनिमात्र वेदना, स्वप्नानामपि च व्रणानां दुष्टिरसरोहणञ्चेति।

तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि; एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति। तत्र महाकुष्ठान्यरुणौदुम्बरऋष्यजिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति। क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभं पामा रकसा चेति॥

कुष्ठ भेद—सात महाकुष्ठ होते हैं तथा ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ होते हैं इस तरह कुष्ठ के अट्ठारह भेद होते हैं॥ ५॥

विमर्शः—चरक ने कुष्ठों के सात, आठ तथा अनेक भेद लिखकर केवल सात महाकुष्ठों का ही वर्णन किया है—'स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽसंख्येयविधो वा भवति'। 'तेषां विकल्पविकारसंख्यानेऽनिप्रसङ्गमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेक्ष्यामः' डाक्टरी में ग्रन्थिक (Nodular), चातिक (Neural) तथा दोनों मिलित (Mixed) ऐसे तीन भेद माने हैं।

इनमें अरुण, औदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल, काकणक, पुण्डरीक और दद्रु ये सात महाकुष्ठ होते हैं तथा स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एककुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विचर्चिका, किटिभ, पामा और रकसा ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ होते हैं॥ ५॥

सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि च भवन्तिः, उत्सन्नतस्तु दोषप्रहणमभिभवात्॥ ६॥

सर्व प्रकार के कुष्ठ वातयुक्त, पित्तयुक्त, कफयुक्त तथा क्रिमियुक्त होते हैं किन्तु उन त्रिदोषों में जो दोष बलवान् होता है उसके उत्सन्न (प्राबल्य) से दुर्बल दोष का अभिभव (तिरस्कार) होने से उस बलवान् दोष का ग्रहण होता है॥६॥

विमर्श—कुष्ठ सदा दोषत्रय-प्रकोपजन्य ही होता है जैसा कि चरक में भी लिखा है 'न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्। सक्रिमीणि—आयुर्वेद भी अणुजन्तु (सूक्ष्म जीवाणु) 'एकजा जन्तवोऽणवः' तथा कृमि को मानता है जैसा कि इसी ग्रन्थ के उत्तर तन्त्र में भी लिखा है—केशादाद्याः स्वदृश्यास्ते। इति। पाश्चात्य-विज्ञान ने जीवाणु तथा कृमियों के विषय में अनेक अनुसन्धान किये हैं उनसे भी लाभ उठाना चाहिये। दोषग्रहण—द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽस्त्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः॥ सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः। (वाग्भटः) 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इन कारणों से कुष्ठ त्रिदोषज होने पर भी आगे 'वातेनारुणम्' आदि लिखना सङ्गत होता है।

तत्र वातेनारुणं, पित्तेनौदुम्बरर्ष्यजिह्वकपालकाकणकानि, श्लेष्मणा पुण्डरीकं दद्रुकुष्ठं चेति। तेषां तु महत्त्वं क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वं चेति॥ ७॥

वात की अधिकता से अरुण, पित्ताधिक्य से औदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल और काकणक तथा श्लेष्मा के आधिक्य से पुण्डरीक और दद्रुकुष्ठ होते हैं। इन कुष्ठों के धातुओं में प्रवेश करने से उनकी गम्भीरता, कार्यक्षमता तथा असाध्यता उत्तरोत्तर अधिक होती है॥ ७॥

विमर्शः—महत्त्वं चैषां शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहनबहुदोषजत्वक्रियाभूयस्त्वयोगात्।

तत्र, वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोदभेदस्वापयुक्तान्यरुणानि। पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृतिवर्णान्यौदुम्बराणि, ऋष्यजिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋष्यजिह्वानि, कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि, काकणन्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्तकृष्णानि काकणकानि, तेषां चतुर्णामप्योषचोषपरिदाहधूमायनानि क्षिप्रोत्थानप्रपाकभेदित्वानि क्रिमिजन्म च सामान्यानि

लिङ्गानि; पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पौण्डरीकाणि श्लेष्मणा, अतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति, च दद्रुकुष्ठानि; तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता कण्डूश्चिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि॥८॥

उन दोषों में वात की अधिकता होने से लालिमा की आभा लिये हुये, पतले, फैलने वाले तथा सूई चुभोने की सी पीडा एवं भेद और स्पर्श ज्ञान के अभाव से युक्त अरुण नामक कुष्ठ होते हैं। पित्त की अधिकता से पके हुये गूलर फल के आकार तथा रङ्ग के अनुसार औदुम्बर कुष्ठ होते हैं। तथा ऋष्य (हरिण भेद) की जिह्वा के समान खुरदरे ऋष्यजिह्व कुष्ठ होते हैं। काले कपाल (ठीकरे) के समान कपालकुष्ठ तथा काकणन्तिका (गुञ्जा) फल के समान अत्यन्त रक्त तथा कुछ काले काकणक कुष्ठ होते हैं। इन चारों कुष्ठों के ओप, चोप, परिदाह, धूमायन, शीघ्र उत्पत्ति, शीघ्रपाक तथा विदारण और इनमें कृमियों का उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण होते हैं। कफ की अधिकता से कमल के पत्ते के समान श्वेत रंग के पुण्डरीक कुष्ठ होते हैं। अलसी के पुष्प के समान वर्ण (नीलकृष्ण) वाले अथवा ताम्र वर्ण के तथा फलने वाले एवं पिडकाओं से युक्त दद्रुकुष्ठ होते हैं। इन दोनों कफजन्य कुष्ठों के उभार, मण्डलाकार चकत्ते, खुजली तथा देरी से रोग का प्रगट होना ये सामान्य लक्षण होते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—पुण्डरीककुष्ठलक्षणम्—'सश्वेन रक्तपर्यन्तं पुण्टरीकदलोपमम्। सोत्सेध च सराग च पुण्डरीक तदुच्यते॥' इति। डल्हण = 'दद्रुकुष्ठ द्विविध सितमसित च। असितस्य महोपक्रमसाध्यत्वादनुवन्धित्वप्रकर्षाच्च महाकुष्ठेषु मध्ये सुश्रुते पाठः। सितदद्रुकुष्ठस्य सुखसाध्यत्वादुत्तरोत्तरधात्वनुप्रवेशाभावात्तथाऽत्यर्थपीडारहितत्वाच्च चरके क्षुद्रकुष्ठेष मध्ये पाठ इत्यदोषः' इति। दद्रु को रिंग वर्म या टिनिया (Ring worm or tinea) कहते हैं।

क्षुद्रकुष्ठान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—
स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि
स्थूलारुषि स्युः कठिनान्यरूंषि।
त्वक्कोचभेदस्वपनाङ्गसादाः
कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति॥ ९॥
कृष्णारुणं येन भवेच्छरीरं
तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम्।
स्युर्येन कण्डूव्यथनौपचोपा-
स्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति॥ १०॥
विसर्पवत् सर्पति सर्वतो य-
स्त्वग्रक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम्।
मूर्च्छाविदाहारतितोदपाकान्
कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः॥ ११॥
शनैः शरीरे पिडकाः स्रवत्यः
सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः।
कण्डूवन्वितं श्वेतमपायि सिध्म
विद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाये॥ १२॥

अब इसके अनन्तर क्षुद्र कुष्ठों का वर्णन करते हैं। जैसे स्थूलारुष्क कुष्ठ में शरीर के विशेषकर हस्त तथा पाद की सन्धियों में मोटे तथा अत्यन्त भयङ्कर और कठिन व्रण होते हैं तथा महाकुष्ठ में त्वक्सङ्कोच, त्वचा में दरारें पडना, त्वचा की सुप्ति और अङ्गों में ग्लानि ये लक्षण पैदा होते है। जिससे शरीर का वर्ण कुछ काला और लाल पड जाय; उसे एककुष्ठ कहते हैं। जिससे हस्त तथा पाद तलों में खुजली, वेदना, दाह तथा चोप हो उसे चर्मदल कहते हैं। जो रोग त्वचा, रक्त और मांस को दूषित करके मूर्च्छा, दाह, बेचैनी, सूई चुभोने की सी पीडा तथा पाक को करता हुआ विसर्प के समान चारों और फैलता हो उसे विसर्प कुष्ठ (Erysipelas) कहते हैं तथा जो स्राव बहाने वाली पिडकाएँ धीरे-धीरे शरीर में फैलती हों उस रोग को परिसर्प कुष्ठ कहते हैं तथा जो रोग शरीर के ऊर्ध्व भाग अर्थात् हस्त, छाती, मुख, ललाट आदि स्थानों में प्रथम खुजली करके श्वेत रंग के चकत्ते बना देवें तथा जिनमें कोई पीडा न हो तथा चर्म की या रोग की तह पतली हो उसे सिध्म कहते हैं॥ ९-१२॥

विमर्शः—चरकोक्तसिध्मलक्षणं—श्वेत ताम्रं तनु च यद्रजोघृष्ट विमुञ्चति। अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्म प्रायेण चोरसि॥ सिध्म को टिरियासिस वर्सिकलर (Pityriasis versicolor) कहते हैं। इसका हेतु माइक्रो स्पोरन फरफर नामक कृमि है।

राज्योऽतिकण्डवर्त्तिरुजः सरूक्षा
भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्।
कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना
विपादिका पादगतेयमेव॥ १३॥

विचर्चिका रोग में शरीर के हस्त-पाद आदि अङ्गों में चर्म पर फटने सी रेखाएँ पड जाना, अधिक खुजली चलना, अधिक पीडा होना तथा रूक्षता ये लक्षण होते हैं। जब विचर्चिका केवल पाँवों पर होती है तथा खुजली, दाह और पीडा हो तो उसे विपादिका कहते हैं॥ १३॥

विमर्शः—विचर्चिका को पेम्फिगस (Pemphigus) या हेगेडस (Rhagades) कहते है। विपादिका को विवाई चिल्लेन (Chilblain) कहते है।

यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु
तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं वदन्ति।
सास्रावकण्डूपरिदाहकाभिः
पामाऽणुकाभिः पिडकाभिरूह्या॥ १४॥
स्फोटैः सदाहैरति सैव कच्छूः
स्फिक्पाणिपादप्रभवैर्निरूप्या।
कण्ड्वन्विता या पिडका शरीरे
संस्रावहीना रकसोच्यते सा॥ १५॥

जिसमें से स्राव बहता हो तथा जो गोल हो, ठोस हो तथा तीव्र कण्डुयुक्त हो एवं स्पर्श में चिकना तथा वर्ण में काला हो उसे किटिभ कहते हैं तथा जो स्राव, कण्डु और दाह युक्त छोटी-छोटी पिडकाओं से युक्त हो उस रोग को पामा (छाजन या एक्जिमा Eczema) कहते हैं तथा वही पामा कूल्हे, हाथ और पाँव इन स्थानों पर दाहयुक्त फोड़ों से

युक्त हो तब उसे कक्षू (खुजली वा स्केबीज Scabies) कहते हैं एवं स्रावरहित तथा कण्डुयुक्त पिडकाएँ सारे शरीर में हो जाय तो उसे रकसा (Dry Eczema) कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

अरुः ससिध्मं रकसा महच्च
यच्चैककुष्ठं कफजान्यमूनि ।
वायोः प्रकोपात्परिसर्पसेकं
शेषाणि पित्तप्रभवाणि विद्यात् ॥ १६ ॥

अरुष्क, सिध्म, रकसा, महाकुष्ठ तथा एककुष्ठ ये कफ की अधिकता से होनेवाले कुष्ठ हैं। वायु के प्रकोप से केवल एक परिसर्प कुष्ठ उत्पन्न होता है शेष विसर्प, किटिभ, विचर्चिका, पामा और चर्मदल पित्त की बहुलता से उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

किलासमपि कुष्ठविकल्प एव; तच्चिविधम्-वातेन पित्तेन श्लेष्मणा चेति । 'कुष्ठकिलासयोरन्तरं-त्वग्गतमेव किलासमपरिस्रावि च । तद्वातेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च, पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च । तेषु सम्बद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धं च ॥१७॥

किलास भी कुष्ठ का ही एक भेद तथा यह वात से, पित्त से और कफ से ऐसे तीन प्रकार का होता है। कुष्ठ और किलास का भेद यह है कि किलास केवल त्वचागत ही रोग होता है तथा यह स्रावरहित होता है। यह किलास वात से मण्डलयुक्त, अरुण, स्पर्श में कठिन तथा त्वचा और वहाँ के केशों का नाशक होता है। पित्त से कमलपत्र के समान तथा दाहयुक्त होता है। कफ से श्वेत, स्पर्श में स्निग्ध, स्थूल और कण्डूयुक्त होता है। इन तीनों प्रकारों में जिसके मण्डल (चकत्ते) परस्पर मिले हुये हों तथा जो 'अन्तस्थान अर्थात् ओष्ठ, पाणि-पाद तथा गुह्यस्थान में उत्पन्न हुआ हो तथा जिसके बाल लाल हो गये हों एवं जो अग्नि से जल जाने पर उत्पन्न हुआ हो ऐसा किलास असाध्य होता है ॥ १७ ॥

विमर्शः—किलास को श्वित्र तथा लोक में सफेद दाग एवं डाक्टरी में ल्यूकोडर्मा (Leucoderma) कहते हैं। भेद—यह दोषज तथा व्रणज ऐसे दो प्रकार का होता है—श्वित्रन्तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा। तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ (भोज०)। भालुकिना धातुभेदेन किलासस्य संज्ञान्तरं दर्शितम्-वातात् तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम्। मेदःश्रितमवेच्छित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम् ॥ चरकेऽपि-दारुणं वात्तं श्वित्रं किलासं नामभिर्लिभिः। किलास कारण—वर्चांस्यतीव्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणञ्च । पापक्रिया पूर्वकृतञ्च कर्म हेतु, किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥ (चरक)। वर्तमान विज्ञान ने इस रोग का कारण अभी तक अज्ञात ही लिखा है 'The etiology is quite unknown' कुष्ठकिलास भेद.—प्रपच्य धातून् व्याप्यान्त सर्वान् सङ्क्षेप चावहेत्। सत्वेदक्षेदम्कोथात् कृमीन् सृजन्ति दारुणान् ॥ लोमवक्त्रान्नाखमनीतस्तास्थीनि वै क्रमात्। भञ्जनेत्, श्वित्रमस्माच्च कुष्ठवाग्भुदाहृतम् ॥ (अ० सं०)। अस्मात्कारणाच्छित्रं वात्तं कुष्ठशब्देनोच्यते। क्लेदकृम्याद्यभावात् सत्यपि त्वग्रोगत्वम्। (इन्दुः)। अन्यत्रापि—त्वग्गतञ्च यदत्रापि तत्किलास प्रकीर्तितम्। यदा त्वमांसमिश्रं तत्तदा सृजनवगाहते। हित्वा किलाससंज्ञां च कुष्ठसंज्ञां लभेत्तदा ॥ (विश्वामित्रः)। १. इन उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि किलास त्वचागत रोग है अतएव इसे बाह्य कुष्ठ नाम भी दिया है तथा कुष्ठ रक्त-मांस-मेदोऽस्थि आदि गम्भीर धातुओं में होने वाला रोग है। २. किलास से किसी प्रकार का स्राव नहीं निकलता है किन्तु कुष्ठ में आभ्यन्तरीय धातुएँ गलगलकर स्रावरूप से झरती रहती हैं। ३. कुष्ठ वेसिलस लेप्री नामक जीवाणु से उत्पन्न होता है किन्तु किलास जीवाणुजन्य न होकर त्वचा के ऊपरी पर्त में रहने वाले मेल्यानिन (Melanin) नामक रङ्ग के अभाव से होता है। यह रङ्ग त्वचा को रङ्गीन रखता है तथा धूप से शरीर की रक्षा करता है। जो लोग उष्ण प्रदेशों में रहते हैं तथा गरमी में काम करते हैं उनमें इस रङ्ग की अधिकता हो जाने से वे लोग काले हो जाते हैं। किलास में त्वचा का यह रङ्ग जाता रहता है जिससे वह रङ्गहीन स्थान सफेद हो जाता है। ४ कुष्ठ के स्थान में सुन्नता रहती है किन्तु किलास के स्थान में वहाँ के वातसूत्रों में कोई विकृति न होने से स्पर्शज्ञान ज्यों का त्यों रहता है किन्तु त्वचा की मृदुता अवश्य जाती रहती है। ५. कुष्ठ फैलने वाला औपसर्गिक (Infective) रोग है किन्तु किलास औपसर्गिक न होने से रोगी से घृणा करना उचित नहीं है। परिध्वंसि=रोमापहारि। तदुक्तम्—'सदाहं रोमविध्वंसि' इति। अन्ते जातम्=ओष्ठपाणिपादगुह्योत्पन्नमित्यर्थः। तदुक्तमष्टाङ्गसङ्ग्रहे-'गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्। वर्जनीयं विशेषेण किलासं मिडिमिच्छता ॥' इति। तलमत्र पादतलमिति विजयरक्षितः। रक्तरोम=शुक्लरोम, असाध्यलक्षणे चरकेण—'यच्छुक्लरोमबहुलं यत्सल्पं परस्परम्। यच्च वर्षगणोपेतं तच्छ्वित्रं नैव सिद्धयति ॥' इति।

कुष्ठेषु तु त्वक्सङ्कोचस्त्वापस्वेदशोफभेदकौण्यस्वरोपघाता वातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्णनासाभङ्गाचिरागसत्त्वोत्पत्तयः पित्तेन, कण्डूवर्णभेदशोफास्रावगौरवाणि श्लेष्मणा।
तत्राढ्यबलप्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम् ॥ १८ ॥

कुष्ठों में वायु की अधिकता से त्वचा का सङ्कोच, सुन्नता, स्वेद का अभाव या आधिक्य, शोथ, त्वगादि का भेद (दारण), कौण्य (हस्त-पाद की विकलता), स्वरभङ्ग ये लक्षण होते हैं तथा पित्त की अधिकता से पाक, भेदन, अङ्गुलियों का गल कर गिर (झड) जाना, कान और नासिका का गल जाना, नेत्रों में लाली तथा स्राव (कृमि आदि जीवों) की उत्पत्ति ये लक्षण होते हैं एवं कफ की अधिकता से त्वचा में कण्डू, वर्णभिन्नता, शोथ, स्राव तथा भारीपन ये लक्षण होते हैं। इन कुष्ठों में से जो आढ्य बल (माता-पितृ दोष) से प्रवृत्त (उत्पन्न) हुआ पौण्डरीक और काकणक कुष्ठ असाध्य होते हैं ॥ १८ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में कुष्ठ के तीन भेद किये गये हैं यहां पर कुष्ठ का जो वातिक भेद किया गया है उसे नर्व लेप्रोसी (Nerve Leprosy) कह सकते हैं। इसमें जीवाणु शरीर के विविध वातसूत्रों को आक्रान्त करते हैं जिससे सुप्ति, सरसराहट, कौण्य आदि लक्षण होते हैं। २ ग्रन्थिक कुष्ठ (Nodular Leprosy) इसमें शरीर की त्वचा में छोटी छोटी गाठें लाल धब्बे बन जाते हैं तथा त्वचा मोटी पड़ जाती हैं।

ग्रन्थियां फूट कर व्रण बन जाती हैं। अंगुलियां, मुख, कर्ण, नासा में होने से वे गलते जाते हैं। यह पित्तकफज कुष्ठ हो सकता है। ३. मिश्र (Mixed) प्रकार ही अधिक मिलता है। 'न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्' (चरकः)। असाध्यकुष्ठलक्षणम्—अस्याश्चैवावस्थायामुद्रवा· कुष्ठिनं स्पृशन्ति तथथा प्रस्रवणमङ्गभेद., पतनान्यङ्गावयवाना, तृष्णाज्वरातिसारदाह-दौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च, तद्विधमसाध्य विद्यात्। (च. नि)। निदाने साध्यासाध्यविचारः—साध्य त्वग्रक्तमांसस्थ वातश्लेष्माधिकञ्च यत्। मेदसि द्वन्द्वजं याप्य वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम्॥ कृमिपूयोद्गमन्दाग्निसयुक्तं यत्त्रिदोषजम्। प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गञ्च रक्तनेत्रं हतस्वरम्॥ पञ्चकर्मगुणातीत कुष्ठ एतैर्हि मानवम्॥

भवन्ति चात्र—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृष्टिविवर्द्धितैः॥ १९॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः॥ २०॥

जिस तरह उत्पन्न हुई वनस्पति (वृक्ष) काल की अधिकता से तथा वृष्टि से बढ़ कर जड़ों के द्वारा भूमि के भीतर जम (फैल) जाती है उसी प्रकार से प्रथम त्वचा में उत्पन्न हुआ कुष्ठ चिकित्सा नहीं करने से कुछ समय के पश्चात् क्रम से रक्त-मांसादि धातुओं में व्याप्त हो जाता है॥ १९-२०॥

विमर्शः—कुष्ठ किसी भी प्रकार का हो किन्तु उसकी सर्वप्रथम उत्पत्ति त्वचा से ही सुप्ति, मण्डलोत्पत्ति और वर्णभेद के रूप में प्रारम्भ होती है—सर्वकुष्ठेषु प्रथमं त्वच्यवस्थं वैकृतं भवति विशेषेण, पश्चाद्वैशेषिकी दुष्टि· कालप्रकर्षाद्रक्तादिषु भवति। (चक्रपाणिः)।

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते।
वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते॥ २१॥
त्वक्स्त्रावो रोमहर्षश्च स्वेदस्याभिप्रवर्त्तनम्।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते॥ २२॥
बाहुल्यं वक्त्रशोफश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते॥ २३॥
दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ क्रिमयस्तथा।
गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदःसमाश्रिते॥ २४॥
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च क्रिमिसम्भवः।
भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते॥ २५॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सम्भेदः क्षतसर्पणम्।
शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च॥ २६॥

त्वगादिगत कुष्ठ लक्षण—त्वचा में कुष्ठ के उत्पन्न होने पर स्पर्शहानि, स्वेद आना, कुछ कण्डू, विवर्णता तथा रूक्षता ये लक्षण होते हैं। कुष्ठ के रक्त में होने से त्वचा में सुप्तता, रोमहर्ष, पसीने का अधिक आना, खुजली चलना तथा दुर्गन्धित पूय का निकलना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुष्ठ के मांसधातु में होने से शरीर में मोटापन, मुखशोष, कर्कशता, शरीर पर पिडकोत्पत्ति, सूई चुभोने की सी पीड़ा, त्वचा में या शरीर में दरारें पड़ना और स्थिरता ये लक्षण पैदा होते हैं। मेदोधातु में कुष्ठ के आश्रित होने पर शरीर में दुर्गन्धि तथा मलवृद्धि, पूय, कीडे पडना, शरीराङ्गों का भेदन (विदारण) होना ये लक्षण होते हैं। अस्थि तथा मज्जा में कुष्ठ के उपस्थित होने पर नासाभङ्ग, नेत्रों में लाली, व्रण में कृमियों की उत्पत्ति तथा स्वरभङ्ग ये लक्षण होते हैं। शुक्र स्थान में कुष्ठ के संश्रित होने पर कौण्य (अङ्गुलिवैकल्य), चलनक्रियानाश, अङ्गों में पीडा अथवा भेद (विदार), क्षत (व्रण) का फैलना तथा पूर्व में कहे हुये लक्षण होते हैं २१-२६

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्॥ २७॥

अनुवंशपरम्परा—कुष्ठ दोष से स्त्री के शोणित (अन्तरार्तव=(Ova) तथा पुरुष के शुक्र (कीट) के दूषित होने पर उनसे जो सन्तान पैदा होती है वह कुष्ठप्रकृतिक होती है॥

विमर्श—पुरुष के वीर्य (शुक्रकीट) में कुष्ठ होने से वह पण्ड तथा स्त्री के बीजग्रन्थि (Ovary) या अण्ड (Ova) पर कुष्ठ प्रभाव होने से वह वन्ध्या हो जाती है—यदा स्त्रीपुसयो· कुष्ठिनोर्बीजमुपहत स्यात्तदा तयो प्रजा नोत्पद्यते इति डल्हण.। दुष्ट शुक्रमार्तव वा सर्वथा बीजत्वानुपघातादपत्यजनकं, परन्तु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यमिति विजयरक्षित। किन्तु इन अङ्गों पर प्रभाव न हो तो कुष्ठी माता-पिता के सन्तान हो सकती है। जातमात्र सन्तान कुष्ठी नहीं हो सकती है किन्तु उन माता-पिता के सम्पर्क में रहने से बच्चों में कुष्ठ होता है। यदि जन्मते ही बच्चे पृथक् कर दिये जांय तो उनमें रोग नहीं हो सकता। 'नैवं नहि प्रमेहिना जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति किं तर्हि कालवशेन, दुष्टेरभिव्यक्त्या तथा कुष्ठिजातस्य कुष्ठम् (मधुकोपव्याख्या)।

कुष्ठमात्मवतः साध्यं त्वग्रक्तपिशिताश्रितम्।
मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम्॥ २८॥

आत्मवान् (जितेन्द्रिय) मनुष्य के त्वचा, रक्त और मांस में उत्पन्न कुष्ठ साध्य होता है तथा मेदोधातु में चले जाने पर याप्य होता है तथा इनसे उत्तर (आगे) की धातुओं (अस्थि, मज्जा और शुक्र) में जाने पर असाध्य हो जाता है॥ २८॥

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्॥ २९॥

कुष्ठहेतु—ब्राह्मण, स्त्री और सज्जन (साधु, महात्मा) पुरुषों की हत्या एवं दूसरे के धन को अपहरण आदि कर्मों से इस पापजन्य कुष्ठ रोग की उत्पत्ति होती है॥ २९॥

म्रियते यदि कुष्ठेन पुनर्जातेऽपि गच्छति।
नातः कष्टतरो रोगो यथा कुष्ठं प्रकीर्त्तितम्॥ ३०॥

यदि कोई कुष्ठ रोगी मर जाता है तब वह दूसरे जन्म में भी कुष्ठ रोग से ग्रस्त होता है इस लिये जैसा यह कुष्ठ खराब रोग कहा गया है वैसा दूसरा कष्टदायी कोई रोग नहीं है॥३०॥

आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम्।
ओषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात्॥
यस्तेन मुच्यते जन्तुः स पुण्यां गतिमाप्नुयात्॥ ३१॥

कुष्ठमोक्षोपायफल—जो व्यक्ति उचित तथा पथ्यकर आहार और विहार में महान् श्रद्धा करके उसका सेवन करने से तथा विशिष्ट ओषधियों और तपश्चर्या के सेवन करने से इस कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है॥३१॥

विमर्श—कुष्ठ रोग दुष्ट कर्म तथा दोष जन्य व्याधि है जैसा कि कहा है—यथाशास्त्रं विनिर्गातो यथाविधि चिकित्सित। न शमं याति यो व्याधि स ज्ञेय कर्मजो बुधैः॥ अन्यच्च—कर्मजा व्याधय केचिद्दोषजा सन्ति चापरे। कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये। (उ तं. अ. ४०)। अतः इस लिये इसकी चिकित्सा भी कर्म तथा दोष दोनों को नष्ट करने वाली होनी चाहिये—'कर्मदोषक्षयकृता तेषां सिद्धिर्विधीयते'। अन्यच्च—कर्मक्षयात् कर्मकृता दोषजा स्वस्थमेव हि। कर्मदोषोद्भवा याति कर्मदोषक्षयात् क्षयम्॥ इसी लिये कुष्ठ की तपश्चरण द्वारा कर्म जय एवं तुवरक, खदिर, रसमाणिक्यादि द्वारा दोषक्षयकारक चिकित्सा लिखी है।

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात्।
सहशय्याऽऽसनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ ३२॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च सङ्क्रामन्ति नरान्नरम्॥ ३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने कुष्ठनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

औपसर्गिक-रोगप्रसरण-हेतु—रोगग्रस्त स्त्री का स्वस्थ पुरुष के तथा रोगग्रस्त पुरुष का स्वस्थ स्त्री के साथ मैथुन करने से (कुष्ठ, उपदंश, पूयमेह), शरीर के संस्पर्श से (कुष्ठ, शीतला), श्वास में श्वास मिलाने से (राजयक्ष्मा, न्यूमोनिया, रोहिणी, कुक्कुर खांसी), सहभोजन से (मोतीझरा, अतिसार, हैजा), साथ में सोने से (कुष्ठ, शीतला), रोगी के वस्त्र, माला तथा लगाये हुये चन्दन इनके सेवन से कुष्ठ, (कुष्ठ, चेचक) ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा), नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को संक्रान्त होते हैं॥ ३२-३३॥

विमर्श—अनुलेपन का अर्थ धारण है—उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्। उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च। (मनुः)। औपसर्गिक रोगों को छूत की बीमारियां या संक्रामक (Infections) रोग कहते हैं। मसूरिकाश्च रोगान्ते ग्रन्थिवीसर्प एव च। उपद्रवाश्च कुष्ठस्य औपसर्गिकसंज्ञका॥ अन्यच्च—स्पर्शनिश्वासभोजनशय्यासनाद्यासेवनात् प्रायशो गदाः। सर्वे सञ्चारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः॥ (अ० सं०)। कुष्ठज्वरोपदंशाश्च मूत्रोन्मादश्च गुल्मवत्। औपसर्गिका रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ (भाव प्र०)। अन्यच्च—त्वग्क्षिरोगान्मसूरिकाज्वरमक्ष्णमसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद् दानात् संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ (उत्तर)। 'तत्र नासास्रवानुगतेन वायुना श्वासक उपद्रवितव्यः, त्वगिन्द्रियगतेन त्वग्मसूरिकादयः' इति डल्हण। पुनश्च—जतूकाचार्योऽपि लिखति-'अन्नार्कं शरीराणि व्रणमुखेन अन्नरसादिद्वारेण वा प्रविष्टा' डाक्टरी में रोग फैलने या प्रवेश के त्वचा, श्वासपथ और मुख ये तीन प्रधान मार्ग हैं। त्वचा से उपदंश, फिरङ्ग, पूयमेह, धनुर्वात, विसर्प, जलसंत्रास तथा मसूरिका। श्वासपथ से न्यूमोनिया, राजयक्ष्मा, एनफ्लुएञ्जा, कुक्कुरखांसी, रोहिणी, रोमान्तिका, फुप्फुस प्लेग। मुख (खाद्य-पेय) द्वारा—हैजा, मोतीझरा, डिसेण्टरी (अतिसार), आदि। कीटदंश से जैसे पिस्सू के काटने से प्लेग, मच्छर काटने से मलेरिया, श्लीपद, पीतज्वर तथा डेंग्यूफीवर, मत्कुण तथा जुओं के काटने से टायफस फीवर आदि। यह कीटदंश त्वग्मार्ग के अन्तर्गत ही है। कुष्ठ का प्रसार मैथुन से, सहशयन से, उसके वस्त्र-पात्र के इस्तेमाल करने से, उसकी सेवा करने के कारण सम्पर्क में आने से त्वचा में रगड हो कर क्षत से जीवाणु अन्य मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हैं। कुष्ठी के नासास्राव, उसके व्रणों के स्राव या पूय में रोग के जीवाणु होते हैं। अच्छा हो कि कुष्ठियों को अलग आश्रम बना के वहां रख दिया जाय। प्रायः मन्दिरों के बाहर एवं पवित्र नदियों (गंगा, यमुना, सरयू) के तटों पर तथा धार्मिक कुम्भादि मेलों पर कुष्ठी भोजन-वस्त्रादि मांगने के लिये इकट्ठे होते हैं। यदि इन्हें एक स्थान में बसा कर वस्त्र-भोजन का प्रबन्ध कर दें तो कुष्ठ रोग के फैलने को रोका जा सकता है। भारत में आसाम, बिहार, युक्तप्रान्त, पञ्जाब, काठियावाड़, मध्यप्रान्त, राजपूताना आदि प्रान्तों में कुष्ठभवन बने हैं। उन्हीं में सर्व कुष्ठियों को भेज देने का प्रबन्ध राज्य तथा जनता की ओर से होना कानून न आवश्यक है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां कुष्ठनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर प्रमेह-निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

विमर्श—प्रकर्षेण मेहतीति वा प्रकर्षेण मेहनमिति प्रमेहः। प्रमेह को Anomlies of urinary secretion कहते हैं।

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेद्यद्रव्यान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति॥

प्रमेह कारण—दिन में शयन करने वाले, व्यायाम न करने वाले तथा आलस्ययुक्त पुरुष को एवं शीतल, स्निग्ध, मधुर मेदोवर्द्धक तथा अधिक पतले अन्न और पान का सेवन करने वाले मनुष्य को प्रमेह होगा ऐसा जान लेना चाहिये॥ ३॥

विमर्श—पुरुषमिति कथनेन स्त्रीणां प्रमेहा न भवन्ति। तथा च तन्त्रान्तरे—'रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। सर्वे शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥' इति, एतत्तु न युक्तम्, सर्वतन्त्राप्रसिद्धेः प्रत्यक्षविरोधाच्चेति डल्हण। प्रमेहस्य चरकोक्तं निदानं यथा—यश्च कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रसञ्जननः सर्वः स निदानविशेषः। बहुद्रवश्लेष्मा दोषविशेषः। बहवश्च मेदो मांसं च शरीरक्लेदः शुक्रं शोणितं च वसा मज्जा लसीका रसश्चौज इत्यस्य दूष्यविशेषः। अन्यच्च—आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि। नवान्नपानं गुडवैकृतञ्च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥ (माधवः)।

तस्य चैवंप्रवृत्तस्यापरिपक्वा एव वातपित्तश्लेष्माणो

यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्यावोगत्वा बस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्मिमते तदा प्रमेहान् जनयन्ति ॥ ४ ॥

सम्प्राप्ति—ऊपर में कहे हुये प्रमेहजनक आहार-विहार का सेवन करने वाले मनुष्य के अपरिपक्व (आम) वात, पित्त और कफ जब मेदोधातु के साथ संयुक्त होकर मूत्रवाहक स्रोतसों (वृक्क, गर्विनियां और बस्ति) का अनुसरण कर नीचे की ओर जा के बस्ति के मुख को घेर कर वहीं स्थिति कर देते हैं तब प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—निर्मिमते—निःसरन्ति, अन्ये तु विनिर्मिमन्त इति पठित्वा तत्रैव स्थितिं कुर्वन्ति इति व्याख्यानयन्ति। अपरे अतिद्रवत्वं यान्ति इत्याहुः। (नि० सं०) न्यायचन्द्रिकायाञ्च—विनिर्मिमन्ते प्रतिबध्नन्ति, तत्रैवास्थां कुर्वन्तीति यावत्। एतेन स्थानसंश्रय उक्तः।

तेषां तु पूर्वरूपाणि-हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥ ५ ॥

पूर्वरूप—प्रमेहों की पूर्वरूपावस्था में रोगी के हस्ततल तथा पादतल में दाह, अङ्गों में चिकनाई, चिपचिपापन तथा भारीपन, मूत्र में मधुर तथा श्वेत होना, एवं तन्द्रा, साद (थकावट), पिपासा, शरीर पर दौर्गन्ध्य, श्वास की अधिकता तथा तालु, गला, जिह्वा और दांतों में मल की उत्पत्ति, केशों का जटिलीभाव (परस्पर गुथ जाना) एवं नाखूनों की वृद्धि आदि लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—तन्त्रादीना मलाक्ष्यं प्राग्रूप पाणिपादयो। दाहश्चिक्कणा देहे तृट् स्वाद्वास्यञ्च जानते ॥ (माधवः)।

तत्राविलप्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहाः ॥ ६ ॥

सामान्य लक्षण—कलुषित तथा अधिक मूत्र का निकलना यह लक्षण सर्व प्रकार के प्रमेहों में होता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—'सामान्य लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता' (वाग्भट.)।

सर्व एव सर्वदोषसमुत्थाः सह पिडकाभिः ॥ ७ ॥

प्रमेहपिडकाएँ तथा सर्व प्रकार के प्रमेह सर्व दोषों (त्रिदोष) से उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—प्रमेह बीस होते हैं तथा वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं एवं मेदोधातु, रक्त, शुक्रादि दूष्य होते हैं। कफः सपित्त पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः। मज्जा रसौजः पिशितञ्च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥ (माधवः)।

तत्र, कफादुदकेक्षुवालिकासुरासिकताशनैर्लवणपिष्टसान्द्रशुक्रफेनमेहा दश साध्याः, दोषदूष्याणां समक्रियत्वात् ॥ ८ ॥

इनमें कफ से उदकमेह, इक्षुमेह, सुरामेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, लवणमेह, पिष्टमेह, सान्द्रमेह, शुक्रमेह और फेनमेह ये दश प्रमेह उत्पन्न होते हैं तथा इनमें दोष और दूष्यों की चिकित्सा समान होने से ये साध्य होते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—सुश्रुत की तरह चरक तथा वाग्भट ने भी कफजन्य प्रमेह दश ही माने हैं किन्तु उन्होंने उनके कहीं-कहीं नाम बदल दिये हैं। जैसे चरक में सान्द्रप्रसादमेह, शुक्रमेह, शीतमेह और लालामेह एवं वाग्भट में लवणमेह और फेनमेह की जगह शीतमेह और लालामेह नाम दिये हैं। कफजमेह साध्य हैं क्योंकि दोष (कफ) तथा दूष्य (मेदो-मज्जा) दोनों ही रूक्ष तथा उष्ण होते हैं और कटु तिक्त और कषाय से शान्त होते हैं अतः चिकित्सा समान है तथा प्रमेहों में दोष तथा दूष्यों का तुल्य होना सुखसाध्यता का लक्षण भी माना है—यदरे तुल्यदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥ चरक ने भी लिखा है कि 'ते दश प्रमेहाः साध्याः। समानगुणमेदस्थानकत्वात्, कफस्य प्राधान्यात्, समक्रियत्वाच्च' कफके श्वेत, शीत, मूर्त, पिच्छिल, अच्छ, स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्र, प्रसाद, मन्द ये गुण होते हैं तथा इन्हीं गुणों में से एक या अनेक गुण परस्पर तरतम भेद से मिलकर दश प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं जैसे—तत्र श्वेनाच्छशीतैर्गुर्वमन्दकमेह, मधुरशीताभ्यामिक्षुमेह., सान्द्रपिच्छिलाभ्यां सान्द्रमेह., अच्छेन पित्तानुरागिणा सुरामेहः, शुक्लेन पिष्टमेहः, श्वेतस्निग्धाभ्यां शुक्रमेहः, सान्द्रमूर्ताभ्यां सिकतामेह., गुरुमधुरशीतैः शीतमेह, सान्द्रमूर्ताभ्यां शनैर्मेह., पिच्छिलेन लालामेह.। दशाधिककफजमेहशङ्कानिरसन—'ननु यथा दशभिर्गुणैर्दश मेहान् करोति तथा संसर्गविकल्पान्तरेणान्यानपि कुतो न करोतीति नाशङ्कनीय, भावस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अदृष्टकल्पनायाश्चानर्हत्वात्। (मधुकोषव्याख्या)।

पित्तान्नीलहरिद्राऽम्लक्षारमञ्जिष्ठाशोणितमेहाः षड् याप्याः, दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वात् ॥ ९ ॥

पित्तजप्रमेह—पित्त से नीलमेह, हरिद्रामेह, अम्लमेह, क्षारमेह, मञ्जिष्ठामेह तथा रक्तमेह ये छ प्रमेह उत्पन्न होते हैं तथा दोष और दूष्यों की क्रिया (चिकित्सा) विषम (परस्पर प्रतिकूल) होने से याप्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—दोषोऽत्र पित्त दूष्या मेद प्रभृतयस्तेषाम्, विषमक्रियत्वात्=पित्तमेदसो परस्पर विरुद्धक्रियत्वात्, पित्तस्य यद् मधुरशीतादि पथ्य, तन्मेदसोऽपथ्य, मेदसो यत्कटुकादि पथ्य, तत् पित्तस्यापथ्यमिति भाव। चरके याप्यत्वस्य हेत्वन्तरमपि दर्शितम्—'सर्व एव ते याप्या संसृष्टदोषमेदस्थानकत्वात्' इति। चरक और वाग्भट ने अम्लमेह के स्थान पर कालमेह (Brown and black urins or carboluria) कहते हैं। मूत्र में कालापन के कई कारण हैं जैसे पुरानी कामला Indican uria, Melanuria, Alkaptonuria, आदि मूत्ररोगों में मूत्र का रङ्ग काला हो जाता है।

वातात्सर्पिर्वसाक्षौद्रहस्तिमेहाश्चत्वारोऽसाध्यतमाः, महात्ययिकत्वात् ॥ १० ॥

वातजप्रमेह—वातप्रकोप से सर्पिर्मेह, वसामेह, क्षौद्रमेह तथा हस्तिमेह ये चार प्रमेह उत्पन्न होते हैं तथा ये धातुओं का अधिक विनाश करने से अत्यन्त असाध्य हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—महात्ययिकत्वात्=आप्यायनार्हप्रचुरतरमज्जप्रभृतिसारतरधातुक्षयकत्वात्। 'विरुद्धोपक्रमत्वाच्च' इति, अत्रापि सम्बध्यते। तदुक्तं चरके—'श्रमाश्चतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षते भिषजः, महात्ययिकत्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति' इति। तेनात्र यद्यपि स्निग्धादि

पथ्य, तन्मेदसोऽपथ्यमित्यादिस्तदर्थो बोध्य। मधुर रस और स्निग्ध गुण दोनों वातशामक हैं परन्तु दोनों ही दूष्य मेद को बढाते हैं अत यहां भी विषम क्रिया होने से वातजप्रमेह असाध्य होते हैं।

तत्र, वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा श्लेष्मप्रमेहाञ्जनयति, वातकफशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो वायुर्वातप्रमेहान्॥ ११॥

इन में वायु, पित्त और मेद से युक्त कफ पूर्वोक्त उदकमेहादि दश कफप्रमेहों को पैदा करता है वात, कफ ये दोष तथा रक्त और मेदो धातु पूर्वोक्त इन दूष्यों के साथ मिलकर पित्त पूर्वोक्त नीलमेहादि छ प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार कफ,पित्त इन दोषों तथा वसा, मज्जा और मेद इन दूष्यों से युक्त वायु पूर्वोक्त चार वातप्रमेहों को उत्पन्न करता है॥ ११॥

तत्र, श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति। इक्षुरसतुल्यमिक्षुबालिकामेही। सुरामेही सुरातुल्यम्। सरुजं सिकताऽनुविद्धं सिकतामेही। शनैः सकफं मूत्रं शनैर्मेही। विशदं लवणतुल्यं लवणमेही। हृष्टरोमा पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही। आविलं सान्द्रं सान्द्रमेही। शुक्रतुल्यं शुक्रमेही। स्तोकं स्तोकं सफेनं फेनमेही मेहति॥ १२॥

कफजप्रमेहलक्षण—उदकमेह वाला व्यक्ति श्वेत, वेदनारहित तथा जल के समान मूत्र का त्याग करता है। इक्षुमेह वाला व्यक्ति ऊख के रस के समान मूत्र त्यागता है। सुरामेह वाला व्यक्ति सुरा के समान (लाल-पीला जलन युक्त) मूत्र त्यागता है। सिकतामेह वाला व्यक्ति पीड़ा के सहित तथा कफ से बनी छोटी छोटी बालुका (रेत) के कणों से युक्त मूत्र त्यागता है। शनैर्मेह वाला व्यक्ति धीरे धीरे तथा कफमिश्रित व चिकना मूत्र त्यागता है। लवणमेहग्रस्त व्यक्ति स्वच्छ तथा नमक के (घोल के) समान मूत्र त्यागता है। पिष्टमेहग्रस्त व्यक्ति रोमाञ्चयुक्त हो के पिष्टरस (जल में घोले हुए आटे) के समान मूत्र त्यागता है। सान्द्रमेहग्रस्त व्यक्ति कलुषित (गन्दला) तथा गाढा मूत्र त्यागता है। शुक्रमेहग्रस्त व्यक्ति शुक्र के समान मूत्र त्यागता है। फेनमेह से ग्रस्त व्यक्ति थोड़ा थोड़ा तथा फेन (झाग) युक्त मूत्र त्यागता है॥ १२॥

विमर्शः—उदकमेहलक्षणम्-अच्छ बहु सित शीत निर्गन्धमुदकोपमम्। मेहत्युदकमेहेन किञ्चिदाविलपिच्छिलम्॥ इसे बहुमूत्रमेह (Polyuria) कह सकते हैं। इस के दो भेद हैं। (१) स्थायी उदकमेह—वृक्कशोथ एवं धमनीदार्ढ्य से होता है तथा पिटयूईटरी (Pituitary) ग्रन्थि की खराबी से होता है इसे डायबेटिज इन्सीपीडस (Diabetes insipidus) कहते हैं। (२) अस्थायी उदकमेह चाय, कोको तथा द्रवपदार्थों के अधिक सेवन एवं भय तथा मानसिक उत्तेजना से होता है। इक्षुमेहलक्षणम्—इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुर चेक्षुमेहतः। इस में मूत्र में शर्करा आती है अतः इसे ग्लायकोसूरिया (Glycosuria) कहते हैं। वृक्क की शर्करावन्धन मर्यादा के अल्प होने से होनेवाले इक्षुमेह को (Renal glycosuria) कहते हैं। (३) सुरामेह—फास्फेट यूरिया हो सकता है। गन्ध की दृष्टि से (Acetonuria) हो सकता है। सिकतामेह को (Passing of gravel) कह सकते हैं। 'मूर्त्तांणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान्' पथरी के टूटने पर उसके छोटे २ कण मूत्र में आते हैं। शनैर्मेह—मन्देन मूत्रेण शनै प्रमेह.। पिष्टमेह—के लक्षण वाला मूत्र अल्ब्यूमिन, पूय, अथवा काईल मूत्र में आने से होता है। श्लीपद के कारण मूत्र में काईल आता है इसे कायल्यूरिया (Chylnria) कहते हैं। सान्द्रमेह—'यस्य पर्युषित मूत्र सान्द्रीभवति भाजने' (चरकः)। मूत्र में फायब्रिन या पीव के आने से ऐसा होता है। शुक्रमेह—शुक्रसदृश मूत्र का रंग हो तो अल्ब्यूमिन्यूरिया (Albuminuria) तथा शुक्रमिश्र मूत्र आता हो तो स्पर्मेटयूरिया (Spermaturia) कहना चाहिये। वृक्करोग, पाण्डुरोग, यकृद्दाल्युदर, सगर्भावस्था आदि के कारण मूत्र में अल्ब्यूमिन आता है। फेनमेह को न्यूमाटयूरिया (Pneumaturia) कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं पित्तनिमित्तान् वक्ष्यामः-सफेनमच्छं नीलं नीलमेही मेहति। सदाहं हरिद्राऽऽभं हरिद्रामेही। अम्लरसगन्धमम्लमेही। क्षुतक्षारप्रतिमं क्षारमेही। मञ्जिष्ठोदकप्रकाशं मञ्जिष्ठामेही। शोणितप्रकाशं शोणितमेही मेहति॥ १३॥

पित्तप्रमेहलक्षण—अब इस के अनन्तर पित्त के कारण होने वाले प्रमेहों को कहते हैं। नीलमेहग्रस्त व्यक्ति फेनयुक्त, निर्मल तथा नीले रंग का मूत्र त्यागता है। हरिद्रामेहग्रस्त व्यक्ति जलन के सहित हलदी के रंग कासा मूत्र त्यागता है। अम्लमेहग्रस्त व्यक्ति अम्लरस एवं अम्लगन्धयुक्त मूत्र त्यागता है। क्षारमेहग्रस्त व्यक्ति क्षुतक्षार या क्षारोदक के समान मूत्र त्यागता है। मञ्जिष्ठामेहग्रस्त व्यक्ति मजीठ के क्वाथ के समान वर्ण का मूत्र त्यागता है तथा शोणितमेही शोणित (रक्त) के समान मूत्र त्यागता है॥ १३॥

विमर्शः—नीलमेह को इण्डिकन्यूरिया (Indican uria) कहते हैं क्यों कि इस में रोगी के मूत्र में अन्त्रगत अल्ब्यूमिन की सड़ान से उत्पन्न इण्डिकन आता रहता है।

मञ्जिष्ठामेह को कोल्यूरिया (Choluria) कहते हैं। मूत्र में पित्त का विलीरुबिन (Bilirubin) रंग आने से मञ्जिष्ठोदक समान पीत मूत्र हो जाता है। कामला में ऐसा प्रमेह होता है। मूत्र में युरोबिलीन की राशि अधिक हो ने से भी पीत वर्ण हो जाता है और उसे यूरोबिलीन्यूरिया (Urobilinuria) कहते हैं। अम्लमेह मूत्र में यूरिकाम्ल तथा थूरेट्स अधिक आने से होता है तथा इसे लिथ्यूरिया (Lithura) कहते हैं। क्षारमेह को (Alkalinuria) कहते हैं। इस का कारण मूत्रवेग का रोकना, प्रोस्टेट वृद्धि, मूत्रमार्ग-सङ्कोच, फास्फेट की अधिकता तथा जीर्ण वस्तिशोथ है। 'गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत्' हारिद्रमेह को हीमोग्लोबिन्यूरिया (Haemoglobinuria) कहते हैं तथा रक्तमेह को हीमाटयूरिया

(Haematuria) कहते हैं। वृक्कार्बुद वृक्काश्मरी, मलेरिया, हीमोफ़ायलिया, पर्प्यूरा, स्कर्वी आदि में ऐसा होता है।

अत ऊर्ध्वं वातनिमित्तान् वक्ष्यामः—सर्पिःप्रकाशं सर्पिर्मेही मेहति। वसाप्रकाशं वसामेही। क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही। मत्तमातङ्गवदनुप्रबन्धं हस्तिमेही मेहति॥१४॥

अब इस के अनन्तर वात के कारण उत्पन्न होने वाले प्रमेहों का वर्णन करते हैं। सर्पिर्मेही घृत के समान मूत्र त्यागता है। वसामेही वसा (फेट) के सदृश मूत्र त्यागता है। क्षौद्रमेही शहद के समान रस और रंग का मूत्र त्यागता है। हस्तिमेही मतवाले हस्ती की तरह निरन्तर मूत्र त्यागता है॥ १४॥

विमर्शः—सर्पिर्मेह तथा वसामेह को Pyuria अथवा Lipuria कह सकते हैं। क्षौद्रमेह को मधुमेह या डायाबेटिज मेलिटस (Diabetes Mellitus) कहते हैं। मूत्र में मधु या Glucose की उपस्थिति ही मधुमेह है। शालिपिष्टमय पदार्थ शरीर में जाकर पाचन द्वारा (Glucose) में बदल जाते हैं। रक्त में जब शर्करा की राशि अधिक हो जाती है तब यह रोग होता है तथा प्रधानतया अग्न्याशय के लैंगरहैंसद्वीप में बनने वाले इन्स्यूलीन के न बनने से यह रोग होता है। इन्स्यूलीन पेशियों को शर्करा का खर्च करने तथा यकृत् को उस का सञ्चय करने में मदद देता है किन्तु इस के न बनने से रक्तस्थ शर्करा का स्वाभाविक प्रमाण अधिक होकर मूत्र द्वारा बाहर निकलने लगती है। हस्तिमेह को फाल्स इन्कण्टिनेन्स ऑफ् यूरिन कह सकते हैं। हस्ती मत्त इवाजस्र मूत्र वेगविवर्जिनम्। सलसीक विदद्धञ्च हस्तिमेही प्रमेहति॥ (वाग्भटः)। इसका कारण सुषुम्नास्थित मूत्रकेन्द्रघात, बस्तिघात, अश्मरी, प्रोस्टेटग्रन्थिवृद्धि आदि है।

मक्षिकोपसर्पणमालस्यं मांसोपचयः प्रतिश्यायः शैथिल्यारोचकाविपाकाः कफप्रसेकच्छर्दिनिद्राकासश्वासाश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः, वृषणयोरवदरणं बस्तिभेदो मेढ्रतोदो हृदि शूलमम्लीकाज्वरातीसारारोचका वमथुः परिधूमायनं दाहो मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं चेति पैत्तिकानाम्। हृद्ग्रहो लौल्यमनिद्रा स्तम्भः कम्पः शूलं बद्धपुरीषत्वं चेति वातजानाम्। एवमेते विंशतिः प्रमेहाः सोपद्रवा व्याख्याताः॥ १५॥

प्रमेहोपद्रव—मक्षिकाओं का प्रमेही पर तथा उस के मूत्र पर बैठना, आलस्य, स्थूलता, प्रतिश्याय, अङ्गशैथिल्य, अरुचि, अपचन, कफस्राव, वमन, निद्राधिक्य, कास, श्वास ये श्लेष्मज प्रमेहों के उपद्रव हैं। दोनों वृषणों (अण्डकोषों) का फटना, बस्ति का फटना, लिङ्ग में सूई चुभोने की सी पीड़ा, हृच्छूल, अम्लिका (खट्टी डकारें आना), ज्वर, अतिसार, अरोचक, वमन, डकार में धूआं आना, दाह, मूर्च्छा, प्यास, निद्रानाश, पाण्डु रोग, एवं मल, मूत्र तथा आंखों इन में पीलापन होना आदि पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। हृदय की जकड़ाहट, हरएक रस चखने की लालसा, अनिद्रा, शरीर का स्तम्भ (अकड़ जाना), शरीर में कम्पन, शूल, गाढा दस्त आना ये वातजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। इस तरह इन बीस प्रकार के प्रमेहों तथा इन के उपद्रवों का वर्णन कर दिया गया है॥ १५॥

विमर्शः—मक्षिकोपसर्पणमनेन शरीरे मूत्रे च मक्षिकाभिसरणं बोद्धव्य तदुक्त चरके—'षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्। सोपद्रवा.—चरकोक्तोपद्रवा यथा—उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणा तृष्णाऽतीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाका. पूतिमासपिटकाऽलजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद्भवन्ति।

तत्र, वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडका जायन्ते। तद्यथा—शरावि का, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका, विद्रधिका चेति॥

प्रमेहपिडका वर्णन—वसा तथा मेदोधातु से व्याप्त शरीर वाले एवं प्रकुपित वातादि तीनों दोषों से आक्रान्त धातुवाले प्रमेही के शरीर में दश पिडकाएं उत्पन्न होती हैं। उन के नाम—शरावि का, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका तथा विद्रधि॥ १६॥

विमर्शः—प्रमेहपिडकाओं को कार्बङ्किल (Carbuncle) कहते हैं। इनका मुख्य कारण मधुमेह, इक्षुमेह तथा वसामेह है। उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका सप्त दारुणा.। मासलेष्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु॥ विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः॥ (चरकः)। चरक ने इनके सात भेद माने हैं। कई छोटी छोटी फुन्सियां आपस में मिलकर एक चालनी के समान छेदों वाला व्रण बन जाता है। तथा उससे पूय निकलता है और उसमें स्टैफिलोकोकस पायोजीनस आरस जीवाणु होते हैं। इसके स्थान ग्रीवा के पीछे, पीठ, स्कन्ध, ओष्ठ, चेहरा और नितम्ब होते हैं।

शरावमात्रा तद्रूपा निम्नमध्या शरावि का।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सार्षपी॥ १७॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता॥ १८॥
महती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता।
महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडका सा तु पुत्रिणी॥ १९॥
मसूरसमसंस्थाना ज्ञेया सा तु मसूरिका।
रक्ता सिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत्॥ २०॥
विदारीकन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका।
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका बुधैः॥ २१॥

पिडका लक्षण—शराव (सकोरा या तश्तरी) के समान तथा वैसी आकार वाली एवं मध्यभाग में दबी हुई शरावि का होती है। श्वेत सरसों की आकृति और प्रमाण वाली सर्षपिका, दाहयुक्त एवं कच्छपपृष्ठ स्वरूप की कच्छपिका, मांसजाल से घिरी हुई तथा तीव्र दाहयुक्त जालिनी, नीले वर्ण की तथा आकार में बड़ी विनता, आकार में बडी किन्तु छोटी छोटी फुन्सियों से युक्त पिडका पुत्रिणी, मसूर के समान आकृति वाली मसूरिका एवं लाल, काली, फुन्सियों से व्याप्त तथा दारुण दुःखदायिनी अलजी और विदारीकन्द की तरह गोल तथा कठिन विदारिका एवं विद्रधि के लक्षणों वाली विद्वानों द्वारा विद्रधिका कही जाती है॥ १७-२१॥

विमर्शः—कच्छपिकालक्षणम्—अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा। श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडका कच्छपी मता॥ जालिनीलक्षणम्—स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी॥ (चरकः)। अन्यत्रापि—परस्परानुसम्बन्धात् पिडका चैकदेशजा। पित्तोत्कटा दाहवती मृशरुग्जालिनी मता॥ सर्षपिकालक्षणम्—सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत्। अलजीलक्षणम्—दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा। विसर्पत्यनिशं दु खाद्दहत्यग्निरिवालजी॥ (चरकः)।

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तत्कृताः ॥२२॥

जिन दोषों से जो प्रमेह उत्पन्न हुये हों उन्हीं दोषों से इन प्रमेहपिडकाओं को पैदा हुई जाननी चाहिये॥ २२॥

विमर्शः—चरक ने सात के अतिरिक्त भी पिडकाएं मानी है तथा उनकी भी दोषानुसार चिकित्सा कही है—तथान्या पिडकाः सन्ति रक्तपीतासितारुणाः। पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः॥ मृद्वयश्च कठिनाश्चान्या स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाऽपराः। मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पमूला महारुजः॥ ता बुद्ध्या मानसादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः। ब्रूयादुपचरेच्चाशु प्रागुपद्रवदर्शनात्॥

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्धयेत्॥ २३॥

असाध्य पिडकाएं—कृश मनुष्य के गुदा, हृदय, शिर, स्कन्ध, पीठ तथा मर्मस्थान में उत्पन्न एवं उपद्रवों से युक्त पिडकाओं की चिकित्सा न करें॥ २३॥

विमर्शः—चरकोक्तपिडकोपद्रवा—तृट्कासमाससङ्कोचमोहहिक्कामदज्वराः। विसर्पमर्मसरोधाः पिटकानामुपद्रवाः॥

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जवसायुतः।
अधः प्रक्रमते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः॥ २४॥

असाध्यवातजप्रमेह—वायु सारे शरीर को निचोड कर मेद, मज्जा और वसा के साथ नीचे वस्ति प्रदेश की तरफ जा कर प्रमेह उत्पन्न करती है तथा मूत्र के साथ इन धातुओं को उत्सर्गित करता है अतएव वातज प्रमेह असाध्य होते हैं॥२४॥

विमर्शः—अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी इन्हें इसी तरह असाध्य माना है—'वायुर्वसादीन् धातून् शरीरस्य परमसारभूतान् वस्तिमाकृष्य मूत्रेण सह विसृजति, तस्माद्वातजा असाध्याः। क्षीणेषु धातुषु महात्मतया विरूढोपक्रमत्वाच्च'। जातप्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्यरोग स हि बीजदोषात्। ये चापि केचित्कफजा विकारा भवन्ति ताश्चापि वदन्त्यसाध्यान्॥ (भावप्र०)।

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते।
किञ्चिच्चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत्॥ २५॥
कृत्स्नान्यर्द्धानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे।
प्रवृद्धमूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत्॥ २६॥

जिस मनुष्य में प्रमेह के पूर्वरूप के लक्षण दिखाई देने लगे तथा मूत्र की राशि भी कुछ अधिक हो जाय उसे प्रमेही समझना चाहिये। जिस मनुष्य में प्रमेह के पूर्वरूप के पूरे या आधे लक्षण दिखाई देने लगें तथा मूत्र की मात्रा भी अत्यधिक बढ जाय उसे प्रमेही समझना चाहिये॥ २५-२६॥

विमर्शः—पूर्व में दन्तादीनां मलाढ्यत्वम्, एवं पाणि-पाददाह ये प्रमेह के पूर्वरूप के लक्षण एवं प्रभूताविलमूत्रता इस सामान्य लक्षण से प्रमेह का होना ज्ञात होता है इसी तरह प्रमेह के पूर्वरूप-लक्षणों (हस्तपाद-दाहादि) के विना केवल मूत्र का हारिद्र वर्ण मात्र होने से प्रमेह नहीं समझना चाहिये। हारिद्रवर्णं रुधिरञ्च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः। यो मूत्रयेत्तु न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥ (च० प्रमेहचि०)।

पिडकापीडितं गाढमुपसृष्टमुपद्रवैः।
मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्त्तितः॥ २७॥

असाध्य मधुमेह लक्षण—प्रमेहपिडकाओं से अत्यधिक पीडित तथा पूर्वोक्त उपद्रवों से युक्त प्रमेही को मधुमेहग्रस्त कहा जाता है तथा वह असाध्य होता है॥ २७॥

स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति।
आसनाद् वृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति॥२८॥

मधुमेही चलने से खडे रहना, खडे रहने से बैठना और बैठने से लेटना तथा लेटने से निद्रा लेना अधिक अच्छा मानता है॥

यथा हि वर्णानां पञ्चानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण शबलबभ्रुकपिलकपोतमेचकादीनां वर्णानामनेकेषामुत्पत्तिर्भवति, एवमेव दोषधातुमलाहारविशेषेणोत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण प्रमेहाणां नानाकरणं भवति॥ २९॥

जिस तरह श्वेत, हरा, काला, पीला और लाल इन पांच रंगों को हीनाधिक मात्रा में मिला कर किये गये संयोग विशेष से शबल (कर्बुर=चितकबरा), बभ्रु (पिङ्गलवर्ण), कपिल, कपोत (कबूतर सा) और मेचक (श्याम) आदि अनेक वर्णों (रंग=Colours) की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार वातादि दोष, रक्तादिधातु, विण्मूत्रस्वेदादिमल तथा खाद्यपेयादि आहार इनके हीनाधिक संयोग विशेष से प्रमेहों के भी अनेक भेद उत्पन्न होते हैं॥ २९॥

भवति चात्र—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥ ३०॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने प्रमेहनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सर्व प्रकार के प्रमेहों की प्रारम्भावस्था में चिकित्सा न करने से वे मधुमेह का रूप धारण कर लेते हैं तथा इस अवस्था में असाध्य हो जाते हैं॥ ३०॥

विमर्शः—प्रमेह मधुमेह में कैसे परिवर्तित होते हैं यह चरक में बताया है—तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति। यदा वस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते। वाग्भट ने मधुमेह का स्वरूप तथा सर्व प्रमेहों को मधुमेह से ही माना है—मधुर यच्च मेहेषु प्रायो मधिव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः। किन्तु डाक्टरीमत से सर्व प्रमेह भिन्न भिन्न कारणादि से होने से मधुमेह में परिवर्तित नहीं हो सकते।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां प्रमेहनिदान नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो उदराणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर उदर रोगों के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

विमर्श—उदर (Abdomine) शब्द से रोग के स्थान का तथा रोग के खास लक्षण उत्सेध का ज्ञान होता है यह उदर शब्द की विशेषता है। जैसा कि कहा है—तात्स्यतद्धर्मनाम्याच्च तत्समीपतयाऽपि च। तत्साहचर्याच्च शब्दानां वृत्तिरेषा चतुर्विधा ॥

उदरोत्सेधकारण—नं० १ मेदोवृद्धि—मेद का सञ्चय होने से उदर फूलता है। अन्य स्थानों में भी मेदोवृद्धि के लक्षण होते हैं—'चलस्फिगुदरस्तनः'।

नं० २ वात—के आंतों में सञ्चय होने से भी उदरोत्सेध होता है। पेट पर अङ्गुलिताडन करने से ढोल सदृश निनाद (प्रतिध्वनि) सुनाई देता है। 'आहतोध्मान्तदृतिशब्दवद्'।

नं० ३ जल—उदरावरण की गुहा में जल के सञ्चित होने से भी उदरोत्सेध होता है।

नं० ४ मल—के सञ्चय से जीर्णविबन्ध होने पर उदरोत्सेध होता है। साथ में सिर दर्द, मन्दाग्नि, आध्मान आदि लक्षण होते हैं।

नं० ५ यकृत्, प्लीहा, वस्ति, गर्भाशय इनके बढ़ने से या इनमें अर्बुद आदि होने से भी उदरोत्सेध होता है।

नं० ६ दुष्ट घातकव्रण या केन्सर (Cancer)—उदर के आवरण में इस व्रण के होने से पर भी उदरोत्सेध होता है। उदररोगों के निदान में इतनी अवस्थाओं का विचार करना आवश्यक है।

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो
राजर्षिरिन्द्रप्रतिमोऽभवद्यः ।
ब्रह्मर्षिपुत्रं विनयोपपन्नं
शिष्यं शुभं सुश्रुतमन्वशात् सः ॥ ३ ॥

धर्म जानने वालों में श्रेष्ठ एवं ज्ञानैश्वर्यादि में ऋषियों के राजा तथा आयुर्वेद के ज्ञान में इन्द्र के समान ऐसे धन्वन्तरि भगवान् का अवतार हुआ था तथा इन धन्वन्तरि ने विनयोपपन्न तथा शिष्यरूप से उपस्थित ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत को उदरादि रोगों के विषय में उपदेश दिया ॥ ३ ॥

पृथक्समस्तैरपि चेह दोषैः
प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।
आगन्तुकं सप्तममष्टमञ्च
दकोदरञ्चेति वदन्ति तानि ॥ ४ ॥

उदररोग भेद—वातोदर, पित्तोदर तथा कफोदर ऐसे पृथक् पृथक् दोषों से तीन तथा तीनों दोषों से मिलित चौथा सन्निपातोदर, पांचवां प्लीहोदर, छठां बद्धगुदोदर, सातवां आगन्तुक क्षतोदर एवं आठवां दकोदर (जलोदर) ऐसे आठ उदररोग कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहवद्धक्षतोदकैः। सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ। (माधवः)। प्लीहोदर में ही यकृद्दाल्युदर का समावेश है। वामभाग में प्लीहोदर तथा दक्षिण भाग में यकृद्दाल्युदर होता है। सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं नदेव ॥ (माधवः)।

सुदुर्बलाग्नेरहिताशनस्य
संशुष्कपूत्यन्ननिषेवणाद्वा ।
स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तो-
र्वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः ।
गुल्माकृतिव्यक्षितलक्षणानि
कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ॥ ५ ॥

उदररोग कारण—दुर्बल-पाचकाग्नि मनुष्य के मिथ्या आहार करने से तथा सूखे और सडे-गले वासी अन्न के सेवन करने से स्नेहन, स्वेदन तथा वमनादि पञ्चकर्मों के मिथ्यारूप से प्रयोग करने से प्रकुपित वातादि दोष कोष्ठ (उदर) में जाकर गुल्म (गोले) के समान आकृति के तथा स्पष्ट लक्षणयुक्त भयङ्कर उदर रोगों को पैदा करते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—प्रायः उदर तथा सर्व रोगों का कारण अजीर्ण और मलिन अन्न सेवन हैं—रोगा सर्वेऽपि जायन्ते सुतरामुदराणि च । अजीर्णान्नमलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात् ॥ चरकोक्त उदररोगहेतुः—अतिसञ्चितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥

कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो
निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ।
त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ताद्
विवर्द्धमानो जठरं करोति ॥ ६ ॥

उदररोग सम्प्राप्ति—दूषित हुआ अन्न का सारभूत रसभाग वायु के वेग से प्रेरित होके आहार के पाक के प्रधानाधारभूत कोष्ठ (ग्रहणी = Deodinum) से जैसे नूतन मृत्तिकावट के सूक्ष्म छिद्रों से स्नेह भाग बाहर स्रवित होता हुआ दिखाई देता है उसी तरह बाहर (उदरगुहा में) निकल कर उदर की त्वचा को चारों ओर से उन्नत करके धीरे धीरे बढता हुआ उदर रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—रुद्धा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषा स्रोतांसि सञ्चिताः। प्राणान्व्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्। (माधवः)। स्रोतसां दूषणादामात् संशोषादतिपूरणात्। बाह्या सिराः प्राप्य तदा कफासृक्पित्तानि संदूषयतीह वायुः ॥ तैर्वर्द्धमानः स यदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति। (चरकः)। नीरोगावस्था में अन्न रस जो कि रक्त के साथ मिला हुआ होता है स्रोतसों (केशिकाओं) की पतली दीवारों से चू चू कर शरीरावों का पोषण करके पुनः लसीकावाहिनियों द्वारा रक्त में मिल जाता है। रोगावस्था में उन स्रोतसों की दीवारों की स्रवणक्षमता अधिक हो जाती है जिससे रक्त से रस का अधिक स्रवण होकर उन स्थानों में उत्सेध या शोथ उत्पन्न होता है। इस तरह लसीकावाहिनियों से लसीका (Lymph) अथवा रक्तवाहिनियों से रक्तरस (Plasma) जिन जिन अवकाश युक्त स्थानों में इकट्ठा होता है. उनके नाम भिन्न भिन्न रख दिये हैं जैसे

उदर में जलोदर (Ascites), छाती में जलोरस (Hydrothorax), फुफ्फुसावरण में उरस्तोय (प्लूरिसी Pleurisy), मस्तिष्क गुहाओं में जलमस्तिष्क (Hydrocephlus), वृषण में जलवृषण (Hydrocele), हृदयावरण में (Hydroperi Cardium) आदि नाम रखे गये हैं।

तत्पूर्वरूपं वलवर्णकाङ्क्षा-
वलीविनाशो जठरे हि राज्यः।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो
वस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः ॥ ७ ॥

उदररोग पूर्वरूप—उदर रोगों की पूर्वावस्था में वल, वर्ण भोजनादि आकांक्षा और उदर त्वचा की साधारण वलियों (सलवटों) का नाश, पेट पर नीली रेखाएं निकल आना, भोजन के पचने या न पचने का ज्ञान नहीं होना, गले में दाह, वस्ति (मूत्राशय) में पीडा तथा पावों में सूजन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—श्रीयते वलत. श्वश्चर्म्मवसित्यत्रेऽपि चेष्टिते। (अ० सं०)। 'जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च' (चरकः)। जठराग्नि से यहां Enlarged Superficial veins का ग्रहण करना चाहिये।

सङ्गृह्य पार्श्वोदरपृष्ठनाभी
र्यद्वर्द्धते कृष्णसिरावनद्धम्।
सशूलमानाहवदुग्रशब्दं
सतोदभेदं पवनात्मकं तत् ॥ ८ ॥

वातोदर—में पार्श्व, उदर, पीठ तथा नाभि का आश्रय लेकर काली सिराओं के उभारसहित तथा शूल, आनाह, उग्र शब्द एवं सूई चुभोने की सी पीडा तथा भेदने की सी पीडासहित उदर की वृद्धि होती है। इन लक्षणों के हानि से उसे वातोदर कहते हैं ॥ ८ ॥

यच्चोपतृष्णाज्वरदाहयुक्तं
पीतं सिरा भान्ति च यत्र पीताः।
पीताक्षिविण्मूत्रनखाननस्य
पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धिः ॥ ९ ॥

पित्तोदर में चोप, तृष्णा, ज्वर, दाह से युक्त तथा पीला उदर हो जाता है एवं जिस पर पीली सिराओं का भान होता हो तथा जिसके नेत्र, विष्ठा, मूत्र, नख और मुख पीले रङ्ग के प्रतीत होते हों तथा जल्दी ही जिसका आविर्भाव हुआ हो उसे पित्तोदर कहते हैं ॥ ९ ॥

यच्छ्वीतलं शुक्लसिराऽवनद्धं
गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य।
स्निग्धं महच्छ्लोफयुतं ससादं
कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि ॥ १० ॥

कफोदर में उदर स्पर्श में ठंढा, श्वेत सिराओं से व्याप्त, भारी तथा स्थिर (कड़ा) होता है तथा उन मनुष्यों के नख और मुख भी श्वेत हो जाते हैं। उदर पर चिकनाई, महान् शोथ तथा अवसाद (अंग ग्लानि) के लक्षण दिखाई देते हैं तथा रोग की वृद्धि या प्रकटन देर से होता है। ऐसे लक्षणों के होने पर उसे कफोदर कहते हैं ॥ १० ॥

स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्र-
विडार्त्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च
दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥ ११ ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः
कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम्।
तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु
विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥ १२ ॥
स चातुरो मूर्च्छति सम्प्रसक्तं
पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च।
प्रकीर्त्तितं दूष्युदरं तु घोरं
प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ १३ ॥

सन्निपातोदर—असाधुओं (दुष्टों) का सा वर्ताव करने वाली स्त्रियां नख, रोम, मूत्र, विष्ठा, रज से युक्त अन्न या पेय पदार्थ खिला देती हैं तथा दुश्मन गर (संयोगज कृत्रिम) विष दे देते हैं उससे एवं दूषित पानी और दूषीविष के सेवन करने से शीघ्र ही रक्त तथा वातादि दोष कुपित होकर भयङ्कर त्रिदोषलक्षणयुक्त उदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं। यह उदर रोग शीत और वायु से तथा अधिक मेघाच्छादित दिन में विशेषरूप से कुपित होता है तथा जलन पैदा करता है इस तरह इस सन्निपातोदर से पीड़ित रोगी वार वार मूर्च्छित हो जाता है तथा पाण्डु और दुर्वल हो जाता है, प्यास से सूखता है इस तरह इस भयङ्कर दूष्योदर का वर्णन किया है। अव आगे प्लीहोदर का वर्णन मुझसे सुनो ॥११-१३॥

विमर्शः—स्त्रियः-स्त्रीग्रहणमत्रोपलक्षण तेनान्येऽपि सन्निहिता अविवेकिनो ग्राह्या इति डल्हण। अष्टाङ्गसग्रहे गरविषलक्षण यथा—'नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणा चाल्पवीर्याणा योगो गर इति स्मृत। कृत्रिम गरसज्ञ तु क्रियते विविधौषधै। जीर्ण विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषित वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीन विष हि दूषीविषतामुपैति॥' दूषीविषकारणानि चरके-दुर्वलाग्नेरपथ्याम—विरोधिगुरुभोजनै। भेलसहितायामपि-समश्नतः सर्वरसान् मिथ्याहारविहारिण.। तथा नानावेदनाधमुदर सान्निपातिकम्। क्षीणा दूष्योदरं नाम जायते सान्निपातिकम्॥त्रिदोषकोपनैस्तैस्तै. क्षीदत्तैश्च रजोमलैः। (अं० सं०)। दूष्योदरपरिभाषा—रक्त दूष्य दूषयित्वा भवतीति दूष्योदर किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति। (श्रीकण्ठदत्तो मधुकोषे)।

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति
प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १४ ॥

प्लीहोदर—विदाहकारक तथा अभिष्यन्दी वस्तुओं के अधिक खाने वाले मनुष्य का रक्त और कफ प्रवलरूप से कुपित होकर निरन्तर प्लीहा को वढ़ाते रहते हैं इसी को तज्ज्ञ वैद्य प्लीहोदर कहते हैं। प्लीहा वामपार्श्व में वढ़ती है तथा इसके वढ़ने से रोगी विशेष रूप से ग्लानियुक्त रहता है तथा मन्दज्वर, मन्दाग्नि, कफ और पित्त के लक्षणों वाले उपद्रवों

से युक्त, क्षीणबल और अधिक पाण्डु वर्ण का हो जाता है॥

विमर्शः—'विदाहिद्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत्पाकं गच्छति तच्चिरात्॥ 'पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहा सिरा। धत्ते यद् गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥' इति। प्लीहा उदरवामपार्श्वस्थस्तस्य क्रमेणाभिवृद्धिम्। 'तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते, स चोपेक्षित क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिप्य नुदरमभिनिर्वर्तयति' इति चरकः।

प्लीहावृद्धि (Chronic enlargement of the spleen) के मुख्य कारण-जीवाणुओं से होने वाले रोग जैसे पुराना मलेरिया, काला अजार, हजकीन्स रोग तथा फिरङ्ग, सिरोसिस ऑफ् दी लिवर (Cirrhosis of the Liver), प्लीहा के अर्बुद, रक्तके रोग जैसे-श्वेत कणवृद्धि (Leukaemia), प्लैहिक पाण्डुरोग (Splenic anaemia) तथा दुष्टपाण्डुरोग (Pernicious anaemia) आदि। इन रोगों के सिवाय रक्त के दूषित हो जाने से रक्त में रोगों के जीवाणुओं के प्रविष्ट होने से प्लीहा का कार्य भी बढ़ जाता है तथा इस बढे हुये कार्य को पूर्ण करने के लिये प्लीहा की भी धीरे धीरे वृद्धि हो जाती है।

वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः॥ १५॥*
सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे
ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव॥ १६॥

यकृद्दाल्युदर—सव्य (वाम) से इतर (दक्षिण) पार्श्व में यकृत् के प्रदुष्ट होने से उसी को यकृद्दाल्युदर कहते हैं॥१६॥

विमर्शः—यकृद्दालयति भेदयतीति यकृद्दाल्युदरम्। इसे Enlargement of the liver or enlarged liver कहते हैं। आयुर्वेद में प्लीहोदर को ही यकृद्दाल्युदर कहा है जैसे—'तदेव प्लीहोदरं यकृद्दाल्युदरं ज्ञेयम् क्व ज्ञेयमित्याह-यकृति कालखण्डेकिंभूते प्रदुष्टे' इति टल्हणः। भावप्रकाशेऽपि—प्लीहोदरस्यैव भेदो यकृद्दाल्युदरं तथा। चरकेऽपि-तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठरेणावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात्। डाक्टरी में भी प्लीहावृद्धि के कारणभूत रोगों में बाद में यकृत् भी बढ़ता देखा गया है।

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग् वा।
सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः
क्रमेण नाड्यामिव सङ्करो हि॥ १७॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
तच्चोदरं विट्समगन्धिकं च॥ १८॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदो विभाव्य-
स्ततः परिस्राव्युदरं निबोध॥ १९॥

* इसकी भाषा पूर्व के श्लोक १४ के साथ है।

बद्धगुदोदर—जिस मनुष्य की आंत चिपचिपे अन्न, बाल अथवा छोटे छोटे अश्म (पत्थर कंकर) से व्याप्त हो गई हो तथा जैसे नाली में धीरे धीरे कूड़ा कर्कट (संकर) इकट्ठा होता रहता है वैसे ही उस आंत में वातादि दोषों के साथ साथ मल सञ्चित होता रहता है। इस तरह उस मनुष्य की गुदा में मल का निरोध हो जाता है तथा थोडी थोड़ी मात्रा में बड़ी कठिनाई से निकलता है एवं हृदय और नाभि के मध्य में उदर (आंतें) फूलता है तथा दस्त के समान बदबूदार वमन होता है। इन लक्षणों से बद्धगुद का निदान करना चाहिये। इसके बाद परिस्रावी उदर का लक्षण सुनो॥१७-१९॥

विमर्शः—चरके बद्धगुदोदरवर्णन यथा—'पक्वमवाले सहान्नेन मुक्तेर्बद्धायने गुदे। उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसम्मूर्च्छनेन वा। अपानो मार्गसरोधाद् धात्वग्नि कुपितोऽनिल। वर्चः पित्तकरान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं तत॥'

डाक्टरी में बद्धगुदोदर को (Pelvi-rectal constipation) कहते हैं। आन्त्रमार्ग में अवरोध होने के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। अवरोध निम्न कारणों से होता है—(१) बालाश्मादि तथा कठिन मल (Due to hard and bulky faeces)। (२) मलाशय या गुदभाग का संकोच (Stricture of the Rectum or Anus)। (३) स्फिंक्टर एनाई नामक मांसपेशी सङ्कोच (Spasm of the sphincter ani or entero-spasm)। (४) अर्श (Haemorrhoids)। (५) आन्त्रदौर्बल्य (Due to weakness of the intestine)। (६) तात्कालिक आन्त्रिकावरोध (Acute Intestinal obstruction) ये ही कारण चरक के उक्त पक्वमवालैः सहान्नेन से कहे गये हैं।

शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं
भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा।
तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः॥ २०॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धि
र्निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च।
एतत् परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं
दकोदरं कीर्तयतो निबोध॥ २१॥

परिस्राव्युदर—अन्न के साथ खाया मत्स्यकण्टकादिरूपी शल्य अथवा टेढा आया हुआ शल्य आन्त्र का भेदन कर देता है तथा उस भिन्न आंत से जल के समान रंग रूपवाला स्रवित (चुआ) हुवा स्राव पुनः गुदा से बाहर चूता (निकलता) है तथा कुछ स्राव के उदर गुहा में चले जाने से नाभि के नीचे उदर फूल जाता है तथा सूई चुभोने की सी तीव्र पीड़ा होती है एवं उदर में दाह होता है। इसको परिस्रावी उदर कहते हैं। अब आगे दकोदर का वर्णन करता हूं सो सुनो॥ २०-२१॥

विमर्शः—मधुकोष व्याख्या में लिखा है कि विलोम (टेढा) आया हुआ शल्य आन्त्रभेदक होता है सीधा नहीं होता—विलोमेनागतमन्त्र भिनत्ति, ऋज्वागत हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम्। अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्र भिद्यते (मधुकोषः)। चरकेऽपि—शर्करातृणलोष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः। भिद्येतान्त्र यदा

मुक्तैर्जम्भयाऽत्यशनेन वा॥ आन्त्रच्छेद का कुछ स्राव आन्त्र ही में जाने से वह गुदमार्ग से बाहर निकलता है तथा शेष स्राव आन्त्र के बाहर उदर गुहा (Abdominal cavity) में स्रवता है जो नाभि के नीचे के हिस्से में इकट्ठा होकर उदर की वृद्धि करता है। यही भाव अष्टाङ्गसंग्रह में लिखा है—शेष चापूर्य जठर जठर घोरमावहेत्। पर्धते तदधो नाभे। परिस्रावी उदर को छिद्रोदर या स्रतोदर भी कहते हैं—छिद्रोदरमिति प्राहु परिस्रावीति चापरे। (अ० सं०)। डाक्टरी मत से यह आन्त्रछेदज उदरावरणशोथ (Peritonitis due to perforation of the bowel) है।

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा
वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः॥ २२॥
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य
स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि।
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु
दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति॥ २३॥
स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि
भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा हृतिः क्षुभ्यति कम्पते च
शब्दायते चापि दकोदरं तत्॥ २४॥

दकोदर—जिसने स्नेहपान किया हो, अनुवासनवस्ति ली हो, वमन किया हो, विरेचन लिया हो अथवा निरूहण वस्ति ली हो और उसके बाद तुरन्त ही शीतल जल पीले तो उसके जलवाहक स्रोतस दूषित हो जाने से जलोदर हो जाता है। अथवा उन स्रोतसों के स्नेह द्वारा उपलिप्त होने पर शीतल जल पी लेने से भी पहले के परिस्राव्युदर की भांति आन्त्र से या जलवाहक स्रोतसों से रस चू चू कर उदरगुहा में सञ्चित हो के जलोदर हो जाता है। जलोदर में ऊपर से पेट चिकना, आकार में बडा, भीतरी जल के दबाव से नाभि का गर्त नष्ट होकर सपाट होना अथवा नाभि का उलट कर बाहर की ओर हो जाना तथा उदर अत्यधिक उठा हुआ प्रतीत होना ये लक्षण होते हैं तथा इनके सिवाय जैसे जल से पूर्ण भरी हुई मशक क्षुभित होती है, कम्पन करती है तथा शब्द करती है उसी तरह उदर भी क्षुभित होता है, हिलता है, गति करता है तथा शब्द करता है, इसको दकोदर कहते हैं॥ २२-२४॥

विमर्शः—जलोदर या दकोदर को एसाइटिस (Ascites) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति के डाक्टरी में ६ कारण हैं। (नं० १) यकृद्वृद्धि के कारण प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) के रक्तपरिभ्रमण में बाधा। (नं० २) हृदय के रोग जैसे भाईट्रल स्टिनोसिस आदि। (नं० ३) वृक्क के विकार—Chronic and acute nephritis (नं० ४) उदरावरण शोथ (Peritonitis)। (नं० ५) रक्त के रोग। (नं० ६) रसप्रवाह का ठीक न होना। इन कारणों के अनुसार जलोदर भी ६ प्रकार का होता है। प्रतिहारिणी सिरावरोधजन्य जलोदर में अग्निमान्द्य, यकृत्प्लीहा वृद्धि, हृद्रोगज में हृत्कम्पन तथा पादशोथ, वृक्कविकृतिजन्य में समस्त शरीर तथा विशेषरूप से अक्षिपलक के नीचे और पावों पर शोथ तथा मूत्र में कास्ट मिलना आदि लक्षण मिलते हैं। जलोदर के निदान (Diagnosis) के लिये तीन परीक्षायें हैं जैसे—(१) कम्पनपरीक्षा (Fluctuation test) उदर पर अङ्गुलियों द्वारा आघात करने से उदर थलथलाता या कांपता है। (२) क्षोभपरीक्षा (Percussion test)—एक पार्श्व में हाथ रख कर दूसरे पार्श्व पर हस्त से आघात करने पर भीतरी जल में उत्पन्न क्षोभ पूर्व हस्त को प्रतीत होगा। (३) शब्द परीक्षा (Percussion) जल पूर्ण मशक पर आघात करने की भांति उदर पर आघात करने से मन्द Dull) शब्द सुनाई देता है। 'नोदपूर्णवृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेषपु' ऐसा अष्टाङ्गसंग्रह में भी लिखा है।

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोफः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः।
दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि॥ २५॥

लक्षण—आध्मान, चलने में असमर्थता, दुर्बलता, मन्दाग्नि, शोथ, अगों की ग्लानि, अधोवात तथा मल में रुकावट, दाह और प्यास ये सामान्य लक्षण सर्व प्रकार के उदर रोगों में होते हैं॥ २५॥

अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु।
सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत्॥ २६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने उदरनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

सर्व प्रकार के उदर रोग अधिक समय बीतने पर सलिलभाव (जलोदरता) को प्राप्त हो जाते हैं उस अवस्था में उन की चिकित्सा वर्जित है॥ २६॥

विमर्शः—असाध्योदरलक्षणानि-जन्मनैवोदर सर्व प्रायः कृच्छ्रतम मतम्। बलिनस्तदजातास्तु यत्नसाध्य नवोत्थितम्॥ पक्षाद्बद्धगुद तूर्ध्वं सर्व जातोदक तथा। प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्र चोदर नृणाम्॥ शूनाक्ष कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्। बलमांसितमासाग्निपरिक्षीणञ्च वर्जयेत्॥ पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफानीसारपीडितम्। विरिक्त चाप्युदरिण पूर्यमाण विवर्जयेत्॥ (भावप्रकाशः)

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायामुदरनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो मूढगर्भनिदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर मूढगर्भ निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥१-२॥

ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनशोकातिचारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रद्वोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्वन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः॥

स्त्री-सम्भोग, तांगा, रथ आदि यान तथा ऊंट, अश्व आदि वाहन पर सवारी, मार्ग में चलना, पांव के फिसलने से गिर पडना, ऊंचे से गिरना, भीड़ मे दबना, जोर से दौडना, उदर पर चोट लगना, ऊंचे-नीचे बिस्तरे पर सोना, ऊकडे बैठना, अधिक उपवास करना, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, अत्यधिक रूक्ष, कटु, तिक्त रस वाले द्रव्यों का खाना, शोक करना, क्षारों का अधिक सेवन, मरोड के साथ दस्तें लगना, वमन और विरेचन, झूलना, अजीर्ण, गर्भ गिराने वाले द्रव्यों का सेवन करना आदि कारणों से गर्भ अपने बन्धन (गर्भाशय सम्बन्ध) से छूट जाता है जैसे कि लकडी या पत्थर की चोट से फल अपने वृन्त (डण्ठल) के बन्धन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—बन्धनान्मुच्यते-बध्यतेऽनेनेति बन्धनम् । अर्थात् गर्भ गर्भाशय में चारों ओर से बंधा हुआसा रहता है। हाराण चन्द्रजी ने बन्धन का अर्थ नाभिनाडीबन्ध (Umbilical Cord) किया है परन्तु गर्भ फल मूढगर्भ में भी अपने नाभिनाडीबन्ध से पृथक् नहीं होता है। अतः बन्धनान्मुच्यते का अर्थ गर्भशय्या से पृथक् होना करना ही श्रेष्ठ है।

स विमुक्तबन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः कोष्ठसङ्क्षोभमापादयति, तस्या जठरसङ्क्षोभाद्वायुरपानो मूढः पार्श्ववस्तिशीर्षोदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं च्यावयति तरुण शोणितस्रावेण। तमेव कदाचिद्विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसम्मोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

उक्त कारणवश बन्धनों (गर्भशय्या सम्बन्ध) से युक्त हुआ गर्भ गर्भाशय से निकल कर माता के यकृत्, प्लीहा और आन्त्र जो कि गर्भवृद्धिजन्य दबाव से ऊपर उठ गये थे इनके साथ या इनके विवर (अन्तराल=अवकाश) से नीचे की ओर गिरता हुआ कोष्ठ (उदर) में संक्षोभ उत्पन्न करता है। उस स्त्री के जठर के प्रक्षोभ से अपान वायु मूढ (क्रियाहीन) हो कर पार्श्व, वस्ति, शीर्ष, उदर और योनि में शूल, आनाह तथा मूत्र की रुकावट इनमें से किसी एक रोग (उपद्रव) को उत्पन्न कर रक्तस्राव के साथ तरुण गर्भ को गिरा देती है। वही गर्भ कुछ काल बाद बढ कर अनुचित तरीके से अवतरित होकर अपत्यपथ (योनिनलिका) में आकर बाहर न निकले और अपानवायु के वैगुण्य से मूर्च्छित हो जाता है तब उसे मूढगर्भ कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—'च्यावयति तरुणं' से गर्भस्राव (Abortion) का वर्णन है क्योंकि इसमें गर्भ अयोग्य तरीके से आने पर भी रक्तस्राव के साथ निकल जाता है रुकता नहीं किन्तु कुछ मास के पश्चात् स्थिर शरीर होने पर गर्भपात होता है वही अयोग्य रीति से आने पर मूढगर्भ होता है। चार मास तक गर्भस्राव तथा बाद में छठे मास तक गर्भपात होता है। आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद् गर्भविद्रवः। तत स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ मूढगर्भ पांच मास से प्रसवकाल (नवम-दशम आदि) तक कभी भी अयोग्य रीति से आने पर गर्भाशयग्रीवा में अटक जाने से होता है। सर्वावयवसम्पूर्णा मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥ मूढगर्भ को माल प्रेजेण्टेशन ऑफ् दी फीटस (Mal-presentation of the Foetus) अथवा Abnormal delivery कहते हैं। डॉक्टरी में इसका कारण अभी तक जाना नहीं गया है—The cause of abnormal presentation is not easy to ditermine and in many cases no satisfactory reason can be given (Ten, T. Midwifery)। गर्भाशय में गर्भस्थितिः—आमुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियः ।। स योनिं शिरसा याति स्वभावात्प्रसवन्प्रति ॥ (सु० शा० ५)। 'गर्भस्तु मातुः पृष्ठाभिमुखः ऊर्ध्वशिरा सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ। स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः, विकृति पुनरतोऽन्यथा। (च० शा० अ० ६)। गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुखो ललाटे कृताञ्जलिः सङ्कुचिताङ्गो गर्भकोष्ठे दक्षिणपार्श्वमाश्रित्यावतिष्ठते पुमान्, वामे स्त्री, मध्ये नपुंसकस्य। (अ० सं० शा० २) गर्भ का शिर आगे को वक्ष पर झुका रहता है, रीढ आगे की ओर मुडी रहती है। दोनों जांघें उदर पर और टांगें जांघों पर मुड़ी रहती हैं। दोनों भुजाएं छाती पर एक दूसरे पर मुड़ी रहती हैं। प्रसूति समय के कुछ मास पूर्व उसका सिर नीचे हो जाता है तथा नितम्ब ऊपर हो जाते हैं तथा सिर के बल ही जन्म लेता है अर्थात् प्रथम सिर, पश्चात् ग्रीवा, कन्धे, ऊर्ध्व शाखाएं, उदर, नितम्ब तथा नीचे की शाखाएं इस क्रम से बाहर निकलता है। इस तरह शीर्षाग्र के द्वारा जन्म लेना Vertex presentation) स्वाभाविक तथा सरल प्रकार है अन्य अङ्गों से जन्म लेना विकृति या मूढगर्भ कहा जाता है। कारण—अपत्यमार्ग की विकृति-जैसे सकुचित वस्तिगुहा (Contracted Pelvis), गर्भाशय के अर्बुद, गर्भ की अस्वाभाविक स्थिति, तथा गर्भ की अनेक विकृतियां जैसे युग्मगर्भ (Twins), जलशीर्ष (Hydro cephalus)।

ततः स कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति। तत्र, ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः। निःसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी प्रतिखुरः। यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः। यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् स परिघः। इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते ॥ ५ ॥

मूढगर्भ भेद—अपान वायु की विगुणता से कील, प्रतिखुर, बीजक और परिघ ये मूढगर्भ के चार भेद होते है। इनमें जो गर्भ हस्त, सिर और पांव को ऊपर रखकर योनि मार्ग को कील की तरह अवरुद्ध कर देता है उसे कील कहते हैं। जिस गर्भ के हाथ, पैर तथा सिर निकल जायँ किन्तु शरीर के मध्यभाग से योनि को रोक देता है उसे प्रतिखुर कहते हैं। जिस गर्भ का एक हाथ और शिर बाहर निकल आवे उसे बीजक कहते हैं। जो गर्भ परिघ (आगल) की तरह (Transvers Position से) आकर योनिमुख को रोक लेता है उसे परिघ कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार का मूढगर्भ होता है ऐसा कई एक आचार्य मानते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—कील को माधवकर ने संकीलक नाम से कहा है—तेषूर्ध्वबाहुचरणौ शिरसा च योनिं सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कील ॥ भोजोऽपि—ऊर्ध्वबाहुशिरः पादो रुन्ध्याद्योनिमु

न्तु य । प्रतिकीलोपमस्थित्या म च कीलकबन्धिन ॥ यह चेष्ट वेक एण्ड साइड प्रेजेण्टेशन (Chest, back and side presentation) है। प्रतिसुर को Presentation of the head with two hands and two legs कहते हैं। 'दृश्यै सुरैः प्रतिसुर स हि कायसङ्गी' (माधवः)। दृश्यैरन्यपादशिरोभि प्रतिसुर । सुरसाधर्म्यात् । सुरशब्देन हस्तपादावुच्येते ॥ (विजयरक्षितः)। अथवान्यार्श्वगो वाऽपि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा । यो निःसृत्य मुखं योनेर्गच्छेत्प्रतिसुरस्तु स ॥ बीजक (Head presentation with one or two hands prolapsing)—'गच्छेद मुजद्वयशिरा स च बीजकाख्य' (माधव·)। अन्यच्च-योनिद्वारात्तु निर्गच्छेद्यश्चक सशिरोभुजः । तमाहुर्बीजक नाम मूढगर्भचिकित्सका ॥ (भोजः)। परिघ (Transverse presentation) 'योनौ स्थित. स परिघ परिघेण तुल्य ' (माधवः)। योनिमावृत्य वस्तिस्थ परिघो गोपुर यथा। तथाऽन्तर्गर्भमायान्त विद्यात् परिघसञ्ज्ञितम् ॥ (भोजः)।

तत्तु न सम्यक्; कस्मात्? स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्रतिपद्यते तदा सङ्ख्या हीयते ॥ ६ ॥

उपर्युक्त चतुर्विध भेद ठीक नहीं है क्योंकि जब विगुण (विलोम) अपानवात से पीडित वह गर्भ अपत्यमार्ग में अनेक प्रकार से जाता है तब संख्या (चतुष्टय प्रकार) की निश्चिति नहीं रह सकती है ॥ ६ ॥

विमर्शः—असंख्य होते हुए भी मूढगर्भ का सङ्कलन तीन वर्गों में विभक्त है। 'स्वभावगता अपि त्रय सङ्गा भवन्ति—शिरसो विगुणवातमर्योनिवनस्य वा (सुश्रुतः)। समासतस्तु त्रिविधा गतिरुद्दिष्टा, तिर्यङ् न्युब्जा च। (अ० सं०)। शिरोगति या न्युब्जगति को Caphalic presentation अंसगति या तिर्यग् गति को Shoulder, or Transverse presentation, जघनगति या ऊर्ध्वगति को Pelvic presentation कह सकते हैं।

तत्र, कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते। कश्चिदासुग्नैकसक्थिरेकेन। कश्चिदासुग्नसक्थिशरीरः स्फिदंशेन तिर्यगागतः। कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते। अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना। कश्चिदासुग्नशिरा बाहुद्वयेन। कश्चिदासुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः। कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम्। इत्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा समासेन ॥ ७ ॥

मूढगर्भभेद—(१) इनमें कोई गर्भ दोनों टांगों से योनिमुख में आता है। (२) कोई गर्भ एक टांग को संकुचित करके एक ही टांग से योनिमुख में उतरता है। (३) कोई गर्भ टांगों और शरीर को टेढा करके स्फिग् (नितम्ब या कूला) भाग से तिरछे रूप में आता है। (४) कोई छाती, पार्श्व, और पृष्ठ इनमें से किसी एक हिस्से से आकर योनिद्वार को अवरुद्ध करके स्थित हो जाता है। (५) कोई गर्भ शिर को अन्दर या पार्श्व की ओर झुकाकर एक बाहु से आता है। (६) कोई गर्भ शिर को टेढा करके दोनों बाहुओं से आता है। (७) कोई मध्यभाग को टेढा करके हाथ, पैर और सिर से आता है। (८) कोई एक टांग से पायु को दबा कर दूसरी टांग से योनिमुख की ओर आता है। इस तरह संक्षेप से ये आठ प्रकार की मूढगर्भ की गतियां कही गई हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—सुश्रुत की इन अष्टविधगतियों को निम्न रूप से समझनी चाहिये—(१) स्फिक्पादोदय (Full breech presentation with inpection)। (२) पादोदय या जानूदय (Footling or Knee presentation)। (३) स्फिगुदय (Frank breech presentation)। (४) पार्श्वावतरण (Transverse presentation)। (५) अंशहस्तस्कन्धोदय (Transverse presentation with prolapse of the hand)। (६) जटिलोदय तथा (७) जटिलोदयप्रतिसुर (Complex or Compound presentations)। (८) पादजानूदयौ (Foot and knee presentations)। वाग्भट ने सातवें तथा आठवें मूढगर्भ को विष्कम्भ नाम से लिखा है—इत्यष्टावशिरोभिन्नयौ योनिं मुखं प्रपद्यते। पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च ॥ विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः। माधवनिदाने अष्टविधगतिवर्णन यथा—'भुग्नोऽनिलेन विगुणेन तत स गर्भ सस्थानतोऽन्यं बहुधा समुपैति योनिम्। द्वार निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित् कश्चिच्छरीरपरिवर्तनदुर्बलत्वात् । एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन निर्गतो भवति कश्चिदथाऽभुग्नोऽन्य । पार्श्वापवृत्तशिरसेति तथैव कश्चित्तिर्यग्गतिरिय सपरा चतुर्थी ॥

तत्र, द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त आठ मूढगर्भ के प्रकारों में से अन्तिम दो प्रकार असाध्य होते हैं तथा शेष में भी यदि स्त्री इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ हो गई हो तथा आक्षेप, योनिभ्रंश, योनिसवरण (योनिसकोच), मक्कल्ल, श्वास, कास और भ्रम ये लक्षण हों तो उनकी चिकित्सा न करे ॥ ८ ॥

विमर्श—विपरीतेन्द्रियार्थौ —वैपरीत्येन हीनानियोगेनानुभूता. शब्दादयोऽर्था, । स्वस्थेभ्यो विकृत यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंश्रयम्। आक्षेपेतानिमित्तेन लक्षण मरणस्य तत् ॥ (चरकः)।

गर्भाक्षेप रोग को eclampsia कह सकते हैं। गर्भवती के छठे माह के बाद से प्रसव समय तक तथा उसके पांच दिन तक होता रहता है। लक्षण—धनुःस्तम्भ के समान दौरे आते हैं। इसमें शिर तथा मुख की पेशियों का संकोच, आंखों का फिरना, नासाकम्प, दांत बन्द करना, सांस में रुकावट तथा शरीर का टेढा होना आदि लक्षण होते हैं। प्रतिदिन कई बार दौरे आते हैं। दस से अधिक दौरों का आना रोग की कृच्छ्रसाध्यता का सूचक है। योनिसंवरण (Stenosis and Atresia of the Cervix or vagina) या गर्भाशय-सङ्कोच या आक्षेप (Tetanus uteri or Cloric spasm of the uterus)। तन्त्रान्तरीययोनिसंवरणवर्णनं यथा—'वातलान्यन्नपानानि व्यायामं प्रजागरम्। अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य सवृतिम्। कुरुते रुद्धमार्गत्वात्पुनरुन्नर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्धयाशयद्वार पीडयन् गर्भमस्थितम्। निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते। वद्धा संरुद्धवया नाशयत्याशु गर्भिणीम्। योनिसवरण विद्याद् व्याधिमेन सुदारुणम् ॥ अन्तकप्रतिम घोरं नारमेत चिकित्सितम्। मक्कल्ल (Complete

tonic or Tetanic contraction of the uterus) मूढगर्भ को बाहर निकालने के लिये गर्भाशय में होने वाले प्रबल सङ्कोचनों के कारण यह मक्कल्ल नामक तीव्रशूल होता है। यद्यपि सुश्रुत के १० वें अध्याय में 'प्रजातायाश्च नार्या' अर्थात् 'प्रजाता स्त्री के गर्भाशय में अपरा का कुछ हिस्सा रह जाने से अथवा क्षुतरक्त जम जाने से होता है' ऐसा लिखा है तथा माधवनिदान मधुकोष-व्याख्या में भी 'मक्कल्लो रक्तमारुतज शूलविशेष' लिखा है तथापि अप्रजाता में भी होता है (प्रजातायाञ्चेत्यत्र चकारादप्रजाताया अपीति डल्हण)। गर्भाशय में प्रसवोत्तर होनेवाली वेदना या शूल (मक्कल्ल) को After pains कह सकते हैं। आन्त्रगतवायु तथा मूत्रसंग से होने वाली प्रसवोत्तरवेदना को False apler pains कहना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में मक्कल्ल को मर्कल नाम से लिखा है। मूढगर्भे अन्यासाध्यलक्षणानि—गर्भकोपपरीसङ्गो मक्कल्लो योनिसवृतिः। हन्यात् स्त्रिय मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवा ॥ (सु. सू. ३३)।

भवन्ति चात्र—

कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद् यथा फलम्।
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥ ९ ॥
एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीविबन्धनात्।
गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥ १० ॥

जिस तरह समय के परिणाम के कारण पक्व फल अपने वृन्त (डण्ठल) से मुक्त हो के गिर जाता है उसी प्रकार कालपरिणाम तथा स्वभाव से गर्भाशयस्थ गर्भ अपने बन्धनों से पृथक् होकर जन्म ग्रहण करता है। विना काल पूरा हुये फल तथा गर्भ दोनों अपने अपने स्थानों से गिर नहीं सकते हैं यह ध्रुव (निश्चय) जानो ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—वृन्त से फल के गिरने में काल-परिणाम तथा परिपाक इन दो कारणों के सिवाय पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण भी तीसरा कारण है जो फल को अपनी ओर खिंचता रहता है—आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थ गुरु स्वाभिमुख स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव भाति। इसे पृथ्वी की आकर्षणशक्ति (Force of gravitation) कहते हैं। गर्भाशय में गर्भ की स्थिति गर्भशय्या तथा नाभिनाडी पर निर्भर है। नाभिनाडी का सम्बन्ध अपरा से तथा अपरा गर्भाशय की भीतरी दीवाल से लगी रहती है तथा गर्भाशय अपनी रक्तवाहिनियों द्वारा उस स्त्री के हृदय से सम्बन्धित रहता है। अस्य नाभ्या प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तस्या मातृहृदय, ततो मातृहृदयादाहाररसो धमनीभि स्यन्दमानोऽपरामुपैति। ततः क्रमाद्गर्भि, ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमान प्रसादवाहुल्याद्बलादिपुष्टिकर सम्पद्यते ॥ (अ सं.)।

प्रसव के समय अपरा गर्भाशय से अलग होने लगती है तथा गर्भाशय का तीव्र सङ्कोच गर्भ को बाहर निकालता है। कारण—(१) गर्भाशयग्रीवाविस्तार, (२) अपरा का गर्भाशय से विच्छेद न होना, (३) कार्बन डायोक्साइड गैस की वृद्धि रक्त में अन्तिम दिनों में होती है जिससे nerves तथा मस्तिष्क केन्द्र उत्तेजित हो के गर्भाशय-सङ्कोच करते हैं। (४) मासिकधर्म के समय की हलचल-अर्थात् मासिकधर्म गर्भस्थिति में रुका रहने पर भी उसके होने की प्रतिमास की अवधि का समय कुछ हलचल करता है। (५) गर्भोत्पत्ति कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो nerves तथा मस्तिष्क केन्द्र पर प्रभाव डाल के गर्भाशय का सङ्कोच कराते हैं। ये सब नियत समय पर क्यों होते है इसका कुछ उत्तर नहीं है केवल 'स्वभावेन नान्यथा' यही उत्तर हो सकता है।

कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्।
पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद्गर्भविच्युतिः ॥ ११ ॥

गर्भविच्युति—जिस प्रकार कृमि, वात (का झोंका) और आघात इन कारणों से वही फल अकाल में विना पके ही गिर जाता है उसी तरह कृमि (जीवाणु) जन्य रोगों से मिथ्या आहारविहारजन्य प्रकुपित वात से एवं उदर पर आघात तथा चिन्ता-शोकादि मानसिक आघातों से गर्भ अपने स्थान से गिर जाता है ॥ ११ ॥

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद् गर्भविच्युतिः।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ १२ ॥

गर्भस्राव तथा गर्भपात—गर्भधारण दिन से चतुर्थ मास तक गर्भ के नष्ट होने को गर्भस्राव (Abortion) कहते हैं तथा उसके बाद पांचवें और छठे मास में स्थिर (हस्तपादादि अङ्गों से युक्त तथा घन) शरीर के नष्ट होने को गर्भपात (Miscarriage) कहते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में अपरा के पूर्ण बनने तक गर्भस्राव कहते हैं। भोज तीन मास तक गर्भस्राव मानता है—'आतृतीयात्ततो मासाद् गर्भ स्रवति शोणितम्'। मतान्तर—अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पात, सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद्विप्रसव.।

प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥ १३ ॥

असाध्यमूढगर्भलक्षण—जो स्त्री शिर को अधिक हिलाती हो या पटकती हो, जिसके हस्तपादादि अङ्ग शीतल हो गये हों, जो बेहोश होने से स्वाङ्गरक्षण में असमर्थ होने से निरपत्रपा (लज्जारहित) सी मालूम पडे तथा जिसकी नसें (सिराएं Vein तथा धमनियां Arteriese) नीली और उभरी हुई दीखती हों वह गर्भ को मार डालती है तथा वह मृत बालक उसको मार डालता है ॥ १३ ॥

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ ॥ १४ ॥

अन्तर्मृतगर्भलक्षण—उदर में गर्भ (हृदय) का स्पन्दन नहीं होना, आवी (प्रसवपीड़ा) का विनाश, चेहरे तथा शरीर पर श्यावता (कालापन) लिये पाण्डुवर्णता, श्वास में बदबू आना तथा वस्ति, गर्भाशय एवं उदरादि में शूल ये अन्तर्मृतगर्भ के लक्षण हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—चरके अन्तर्मृतगर्भलिङ्गानि यथा—यदा स्रोऽन्तर्मृतो गर्भे शून्यो वस्तिरिवातत। उत्क्षिप्यन्त इवाङ्गानि मूत्रवस्तिश्च भिद्यते ॥ क्लोमप्लीहा यकृच्चैव फुप्फुस हृदय तथा। गर्भेण पीडित पित्तादूर्ध्वं प्रक्रामति स्त्रिय ॥ सा स्रवते मुहूर्त्तांच कृच्छ्रश्वासा च जायते। पूतिगन्धस्तथा स्वेदो जिह्वा तालु च शुष्यति ॥ वेपते भ्राम्यति तथा जीवितञ्चोपरुध्यते। एतैर्लिङ्गै विजानीयान्मृत गर्भं चिकित्सकः ॥

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः॥ १५॥

गर्भमृत्युकारण—माता के शोकादि मानसिक एवं आघातादि आगन्तुक कारणजन्य दुःखों (उपतापों) से अधिक पीडित तथा माता के ज्वरादि रोगों से पीडित गर्भ कुक्षि में ही मर जाता है॥ १५॥

विमर्श—डाक्टरों में गर्भ की अन्तर्मृत्यु के निम्न कारण माने हैं—(१) माता के रोग—फिरङ्ग, वृक्क में सूजन, गर्भाक्षेप (Eclampsia), तेज बुखार, राजयक्ष्मा, पाण्डुरोगादि। (२) पिता के रोग—फिरङ्ग, सीसविष, राजयक्ष्मा। (३) गर्भ के विकार—अपरा, (Placenta), गर्भावरण तथा नाभिनाडी इनमें ठीक तरह से रक्तसञ्चार न होना, (४) आघात—गर्भवती के उदर पर चोट।

वस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद्भिषक्॥ १६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मूढगर्भनिदानं नाम अष्टमोऽध्यायः।

गला घोंट कर मारे हुए बस्त (बकरे) के समान मारी (मरी) हुई स्त्री की कुक्षि यदि स्पन्दन करती हो तो उसी समय तत्काल उस कुक्षि का उत्पाटन (भेदन) कर उस जीवित बच्चे को निकाल लेना चाहिये॥ १६॥

विमर्श—आचार्यों ने इस श्लोक के भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। डल्हण मत—बस्तमारविपन्नायाः। एतेन श्रीवामोटनेनासुतमर्दनेन मातुरेव विपत्तिर्न गर्भस्य किंत्वर्थः। वाग्भट ने—'बस्तमारविपन्नायाः' के स्थान में 'बस्तिद्वारे विपन्नायाः' ऐसा पाठान्तर माना है तथा अरुणदत्त टीका में लिखते हैं—गर्भिण्या मृतायाः यदि कुक्षिः प्रस्पन्दते तत्र चलति; तत्र प्रदेशे? बस्तिद्वारे; कदा? जन्मकाले गर्भप्रसवोन्मुखे काले, तदा कुशलो वैद्य शीघ्रं कुक्षिमस्तकनाडनन्तरं पाटयित्वा शिशुं बालमुद्धरेत्। हाराणचन्द्र भी 'बस्तिद्वारे विपन्नायाः' ऐसा ही पाठान्तर मानते हैं किन्तु भिन्नाशय वाला अर्थ करते हैं यथा—जन्मकाले उत्पन्ने प्रसवकाले विपन्नाया मृतायाः यदि कुक्षिः प्रस्पन्दते, तर्हि तत्क्षणाद् बस्तिद्वारे बस्तिं द्वारञ्च पाटयित्वा भिषक् तं गर्भमुद्धरेत् इति व्याख्यानयति। अर्थात् 'बस्तिद्वारे' इसे द्वितीया द्विवचन कर्म माना है। वाग्भट ने 'बस्तेर्द्वारस्तस्मिन् बस्तिद्वारे' सप्तम्येक वचन माना है। वागेश्वर जी ने इसका तात्पर्यार्थ किया है कि प्रसव के समय अपत्यमार्ग या कटि तंग होने से जीवित गर्भ अटक जाता है तब उसे अपत्यमार्ग से न निकाल कर पेट में चीरा (Cæsarean section) लगा के निकाल लेना चाहिये। इन्होंने 'विपन्ना' का अर्थ 'मृता' न करके मृतसमान यातना भोगने वाली जीवित स्त्री किया है क्योंकि इन्होंने गर्भ की मृत्यु न होकर माताकी मृत्यु होना असम्भव माना है। मृतगर्भ को न निकालने से या निकालते समय अपत्यमार्ग के दूषित (Septic) हो जाने से कालान्तर में मृत्यु हो सकती है ऐसा माना है। यह वागेश्वरजी का मत डाक्टरी-सम्मत तथा प्रत्यक्ष है। मृतगर्भ हो तो उसे तुरन्त निकालना चाहिये—नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डित। मरणाद्यस्य कर्तव्यं छेदनन्तं विजानता॥ मृते चोत्तानायां सक्थिन्यानागतमनुलोममेवाच्छेत्। जीवित गर्भ हो तो उसे निम्न उपायों से निकाले—जीवति गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत। निर्हृतेऽनन्तरं च्यवनान् मन्त्रानुस्मृत्वा ओषधानि च विदध्याद् यथोक्तानि। शस्त्रदारुणनिषेधः—सचेतनञ्च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। दार्यमाणो हि जननीमात्मानञ्चैव घातयेत्। अपि तु कुक्षिनाडनद्वारा जीवन्तं गर्भं निर्हरेत्।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां मूढगर्भनिदानं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो विद्रधीनां निदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर यहां से विद्रधियों के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १-२॥

सर्वामरगुरुः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिपः।
शिष्यायोवाच निखिलमिदं विद्रधिलक्षणम्॥ ३॥

सर्व देवताओं के गुरु, शोभा से युक्त, आयुर्वेदोपदेश के निमित्त काशिराज के कुल में भूमिपालक के रूप में अवतीर्ण हुये भगवान् धन्वन्तरि ने शिष्य सुश्रुत के लिये वक्ष्यमाण सम्पूर्ण विद्रधिलक्षणों को कहा॥ ३॥

विमर्श—निमित्तान्तरभूमिप तस्मात्त्वं पृथिवीं याहि काशीनध्ये नृपो भव। प्रतीकाराय रोगाणामायुर्वेदं प्रकाशय॥ (भागवतम्)

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥ ४॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम्।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा विज्ञेयः स च षड्विधः॥ ५॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा।
एषामपि हि तेषान्तु लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते॥ ६॥

विद्रधि सम्प्राप्ति—मिथ्याहारविहारों से अत्यन्त (भृशं) कुपित (उच्छ्रित) हुये वातादि दोष प्रथम त्वचा, रक्त, मांस और मेदोधातु को दूषित करके अस्थि के अन्दर आश्रित होकर धीरे धीरे भयङ्कर शोथ उत्पन्न करते हैं। जब यह शोथ महामूल (अस्थ्यादि गम्भीर धातु-समाश्रित), पीडायुक्त, गोल अथवा आयत (दीर्घ, फैला हुआ) हो जाता है तब विद्वान् उसे विद्रधि कहते हैं। पृथक्-पृथक् दोषों से तीन तथा तीनों मिलित दोषों से एक, क्षत से एक तथा रक्त से एक ऐसे वह विद्रधि छः प्रकार की होती है। अब उन छहों के लक्षण कहे जाते हैं॥ ४-६॥

विद्रधिः—'विद्रधीनीति विद्रधिः तथा च चरकः—नृपैः शत्रुभिर्यथा मध्येशीघ्रमुत्कीर्य इव दह्यते। स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते॥ दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते। ततः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते॥ विद्रधि को एब्सीस (Abscess) कहते हैं। यह शोथ की पकावस्था है। आमावस्था में इसे शोथ या Inflamation ही कहेंगे। वाह्य तथा आभ्यन्तरभेद से दो

प्रकार की होती है यथा—विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा। (चरकः)।

कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः॥ ७॥

वातिक विद्रधि—रंग में काली, कुछ लाल, कठोर, अधिक पीड़ाकर, अनेक प्रकार से उठने तथा पकने वाली होती है॥७॥

पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसम्भवः॥ ८॥

पैत्तिक विद्रधि—पके हुए गूलर फल के समान, कुछ श्याव, ज्वर और दाहयुक्त तथा जल्दी उठने और पकने वाली होती है॥ ८॥

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धोऽल्पवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थितः॥ ९॥

कफजविद्रधि—शराव के समान फैली हुई, पाण्डु, शीत, कड़ी, अल्पपीडाकर, देर से उठने तथा पकने वाली और कण्डुयुक्त होती है॥ ९॥

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः॥ १०॥

इन विद्रधियों का स्राव क्रम से वातिक का पतला या थोड़ा, पैत्तिक का पीला और श्लैष्मिक का श्वेत होता है॥१०॥

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान्।
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः॥ ११॥

सान्निपातिक विद्रधि—अनेक प्रकार के रंग, पीडा और स्राव वाली, घाटाल (उभरी हुई), टेढी-मेढी, बडी तथा विषमरूप से पकने वाली होती है॥ ११॥

विमर्श—घाटा कृत्तादिकेवोच्छ्रितपार्श्वोऽस्यास्तीति घाटालः।

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यसेविनः।
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत्॥ १२॥
ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः।
एष विद्रधिरागन्तुः पित्तविद्रधिलक्षणः॥ १३॥

आगन्तुक विद्रधि—काष्ठ, लोष्ट, पाषाण आदि से चोट लगने पर या क्षत होने पर तथा मिथ्या आहार-विहार सेवन करने वाले की वायु से प्रेरित क्षत की उष्णता रक्तसहित पित्तको कुपित कर देती है जिससे ज्वर, प्यास तथा दाह उत्पन्न होता है। यह पित्तज विद्रधि के लक्षणों वाली आगन्तुक विद्रधि है।

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः।
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते॥ १४॥

रक्तजविद्रधि—काले फोडे-फुन्सियों से युक्त, श्याव, तीव्र दाह, पीडा तथा ज्वर वाली एवं पित्तज विद्रधि के लक्षणों से युक्त रक्तजविद्रधि होती है॥ १४॥

उक्ता विद्रधयो ह्येते तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः।
आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते॥ १५॥

असाध्य विद्रधि—ये छ प्रकार की विद्रधियां कह दी हैं इनमें सान्निपातिक विद्रधि असाध्य होती है। अब इसके अनन्तर आभ्यन्तरिक विद्रधियों का वर्णन करते हैं॥ १५॥

गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कसंसृष्टभोजनात्।
अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः॥ १६॥
पृथक् सम्भूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम्।
वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्॥ १७॥

अन्तर्विद्रधिवर्णन—गरिष्ठ, असात्म्य, विरुद्ध, शुष्क तथा पथ्यापथ्य मिलित भोजन से एवं अधिक स्त्रीसम्भोग, व्यायाम और अधारणीय वेगों के रोकने से तथा दाहजनक पदार्थों के खाने से अलग अलग या मिले हुये कुपित दोष गुल्म (गोले) के स्वरूप की और वल्मीक के समान ऊंची उठी हुई अन्तर्विद्रधि को पैदा करते हैं॥ १६-१७॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रहे बाह्यान्तर्विद्रधिस्वरूपम्-'बाह्योऽत्र तत्र तत्राङ्गे दारुणो ग्रथितोन्नतः। आन्तरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवद्घनः॥ वल्मीकवत्समुच्छ्रायी शीघ्रवात्यग्निशस्त्रवत्'।

गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा।
वृक्कयोर्यकृति प्लीहि हृदये क्लोम्नि वा तथा॥ १८॥

यह अन्तर्विद्रधि गुदा, वस्तिमुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क, यकृत्, प्लीहा, हृदय तथा क्लोम में होती है॥ १८॥

विमर्श—चरक ने भी अन्तर्विद्रधि के ये ही स्थान माने हैं। वाग्भट ने इन स्थानों में बाह्य विद्रधि होना भी लिखा है। वस्तुतस्तु चरकोक्त बाह्य रोगमार्गों में उत्पन्न बाह्यविद्रधि तथा मध्यम और आभ्यन्तरीय रोगमार्गों में उत्पन्न अन्तर्विद्रधि माननी चाहिये। अथवा त्वचा, मांस, स्नायु में उत्पन्न बाह्य तथा अन्तः शरीर में उत्पन्न अन्तर्विद्रधि हो सकती है—बाह्यास्त्वक्स्नायुमांसोत्थाः कण्डरामा महारुजः। अन्तः शरीरे मांसासृक् प्रदूषन्ति यदा मलाः॥ तदा सञ्जायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थ सुदारुणः॥ (च. सू १७)। निम्न विद्रधियां आभ्यन्तरिक विद्रधियां हैं—यकृत् विद्रधि (Liver abscess), प्लीहविद्रधि (Splenic abscess), सपूय हृदयशोथ (Purulent pericarditis), वृक्कविद्रधि (Perinephritic abscess), Lumber abscess, गुदविद्रधि (Ischio-rectal abscess), Prostatic abscess, दक्षिण वङ्क्षणविद्रधि (Appendicular abscess), वंक्षणविद्रधि (Psoas abscess Subphrenic abscess, peritonsillar abscess, lung abscess, Brain abscess क्लोम—शब्द को भिन्न भिन्न विद्वानों ने प्रसनिका (Pharynx), पित्ताशय (Gall bladder), अग्न्याशय (Pancreas), श्वासनलिकाएं (Bronchi), रसप्रपा (Cysterna Chyli), आदि अर्थों में माना है किन्तु क्लोम से पित्ताशय का ग्रहण करना अधिक प्रमाणों से सिद्ध है। क्लोम च यकृच्च, क्लोम कालखण्डा (यकृता) दधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं पित्तकमिति प्रसिद्धम्। (डल्हण)। तिलन्तु शोणितकिट्टप्रभवं दक्षिणाश्रितं यकृत्समीपे क्लोमसंज्ञकं भवति। (शार्ङ्गधर टीका)। अपरस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम निष्ठति। जलवाहिसिरामूलं तृष्णाच्छादनकृन्मतम्॥' इति। बाह्योर्द्वयोर्नाभ्यधो वङ्क्षणाभ्यधो हृदय तत्पार्श्वे क्लोम पिपासास्थानमिति वैद्याः। आदि। विशेष वर्णन घाणेकर जी की सुश्रुत टीका शा. अ ९ में पे. नं. ११२ देखें।

तेषां लिङ्गानि जानीयाद्बाह्यविद्रधिलक्षणैः।

आमपक्वैषणीयाच्च पक्वापक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १६ ॥

इन अन्तर्विद्रधियों के दोषज लक्षण बाह्यविद्रधिलक्षणों के दोषज लक्षणों के अनुसार ही जानने चाहिये तथा इनके पक्व और अपक्व के लक्षण आमपक्वैषणीय नामक सूत्र स्थान के १७ वें अध्याय से जान लेने चाहिये ॥ १६ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ॥ २० ॥

अब इन विद्रधियों के अधिष्ठान-विशेष के अनुसार जो विशिष्ट लक्षण होते हैं उन्हें सुनो ॥ २० ॥

गुदे वातनिरोधस्तु वर्त्मो कृच्छ्रात्पमूत्रता ।
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥२१॥
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ।
वृक्क्योः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्युच्छ्वासावरोधनम् ॥२२॥
सर्वाङ्गग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुणः ।
श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ॥२३॥

गुदा के अन्दर विद्रधि होने से वात (तथा मल) का अवरोध, वस्ति में होने से मूत्रत्याग में कठिनाई तथा मूत्र की अल्पता, नाभि में होने से हिक्का तथा आटोप, कुक्षि में हो तो वायु का प्रकोप, वंक्षण में हो तो कमर और पीठ की तीव्र जकड़न, वृक्कों में होने से पार्श्वसङ्कोच, प्लीहा में होने से श्वास में रुकावट, हृदय में होने से सारे शरीर में तीव्र जकड़न तथा हृदय में दारुण शूल, यकृत् में हो तो श्वास और प्यास तथा क्लोम में विद्रधि होने से श्वास के सिवाय प्यास अधिक लगना ये लक्षण होते हैं ॥ २१-२३ ॥

विमर्शः—चरकोक्तविशिष्टलक्षणानि—'वस्तिजाया कृच्छ्रमूत्रवर्चस्त्वं, कुक्षिजाया कुक्षिगार्श्वान्त्रशूलं, वङ्क्षणजाया सक्थिसादः, वृक्कजायां पृष्ठकटिग्रहः, तत्र प्रधानमर्मजाया (हृन्मजाया) विद्रध्या हृद्ग्रहननमकस्मान्मोहः कासश्वासौ, क्लोमजाया पिपासामुखशोषगलग्रहौ । (च. सू. अ. १७)। हाराणचन्द्र जी ने अपनी सुश्रुत में 'वृक्कयो' के स्थान में 'वुक्कयो' ऐसा पाठान्तर मान कर उसका अर्थ हृदयावरण किया है। 'वुक्कौ नाम द्वे हृदयावरणे'।

आमो वा यदि वा पक्वो महान् वा यदि वेतरः ।
सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥ २४ ॥

साध्यासाध्यलक्षण—मर्मस्थान में उत्पन्न विद्रधि चाहे आम (कच्ची) हो या पक्व हो, बड़ी हो या छोटी हो सब कष्टसाध्य होती हैं ॥ २४ ॥

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
जीवत्यधो निःसृतेषु सृतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ २५ ॥
हृन्नाभिवस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु वाह्यतः ।
जीवेत्कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ २६ ॥

स्रावनिर्गममार्ग—नाभि से ऊपर अर्थात् यकृत् क्लोम-प्लीहाग्रहणी, आमाशय, हृदय आदि में होने वाली विद्रधियां पकने पर ऊपर की ओर जा कर मुख-नासादि से झरती हैं किन्तु नाभि से नीचे वृक्क-बस्ति-वंक्षण गुदा में हो कर पकने वाली विद्रधियां नीचे के गुदा और मूत्र मार्ग से झरती हैं। इनमें नीचे की ओर स्रुत होने वाली विद्रधियों में मनुष्य ठीक हो जाता है किन्तु ऊपर मुखादि से स्रुत होने वाली विद्रधियों में जीवित नहीं रह सकता है। हृदय, नाभि और वस्ति को छोड़ कर अन्य स्थानों में होने वाली विद्रधियां यदि भाग्यवश बाहरी त्वचा में विदीर्ण हो (फूट) जाती हैं तब मनुष्य कदाचित् जीवित रह सकता है किन्तु इतर अर्थात् हृदय, नाभि और वस्ति की विद्रधियों में (चाहे वे बाहर भी फूटें तो भी) मनुष्य कभी भी जीवित नहीं रह सकता ॥ २५-२६ ॥

विमर्शः—चरक ने नाभिज विद्रधि का स्रवण उभयमार्ग से माना है—'पक्वप्रभिन्नाश्चोर्ध्वजानुषु मुखात् स्राव स्रवन्ति, अधोजानुषु गुदात्, उभयतस्तु नाभिजानु' (च० सू० अ० १७) तथा यही भाव हारीत के भी हैं—ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नरणा प्रवर्ततेऽसृक्सहितोऽपि पूयः। अध प्रभिन्नेषु च पायुमार्गाद् द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु ॥ (हारीतः)। माधव ने विद्रधियों को निम्न उपद्रव होने पर असाध्य मानी है—आध्मात वद्धनिष्यन्द हृद्दिहिक्कातृषान्वितम्। रुजाश्वाससमायुक्त विद्रधिर्नाशयेन्नरम्। विद्रधीनां भोजोक्तसाध्यासाध्यविचारः—'असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः। सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व तु वस्तिज। त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो मर्मसमीपजः। अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः॥' इति।

क्षीणामप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥ २७ ॥
अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम् ।
रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥ २८ ॥
सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ सम्प्रपच्यते ॥ २९ ॥

रक्तविद्रधि—अप्रजात अर्थात् गर्भस्राव और गर्भपात होने पर तथा प्रजात अर्थात् योग्य समय पर प्रसव होने पर जो स्त्रियां अहितकर आहार-विहार करती हैं उससे उनके दाह तथा ज्वर को करने वाली घोर (भयङ्कर) रक्तविद्रधि होती है तथा योग्यरूप से प्रसव होने पर भी जिन स्त्रियों के शरीर (गर्भाशय) से अशुद्ध रक्त पूर्ण रूप से नहीं निकलता है तब वह रक्त कुक्षि (गर्भाशय) में मक्कल्लसंज्ञक रक्तविद्रधि पैदा करता है। यदि मक्कल्ल विद्रधि सात दिन में शान्त न हो तो फिर पक जाती है ॥ २७-२९ ॥

विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधिगुल्मयोः ।
तुल्यदोषसमुत्थानाद्विद्रधेर्गुल्मकस्य च ।
कस्मान्न पच्यते गुल्मो विद्रधिः पाकमेति च ॥ ३० ॥

अब इसके अनन्तर विद्रधि और गुल्म के भेद (विशेषता) को स्पष्ट रूप से कहता हूं। विद्रधि और गुल्म दोनों समान दोषों से उत्पन्न होते हैं फिर क्या कारण है कि गुल्म पकता नहीं है तथा विद्रधि पकती है ॥ ३० ॥

न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धनः ।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ ३१ ॥

गुल्मविद्रधिभेद—(१) गुल्मों का निबन्ध (मांस-रक्तादि दूष्यों का मूल या बन्धन) नहीं होता है किन्तु विद्रधि निबन्धसहित होती है। (२) गुल्म में वातादिदोष स्वयं गुल्म (गोले) के स्वरूप में हो जाते हैं किन्तु विद्रधि मांस और रक्त में बनती है अर्थात् मांस और रक्त स्वयं पक कर

दशमोऽध्यायः।

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर विसर्प, नाडी तथा स्तन रोग के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम्।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥ ३ ॥

मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुये वातादि दोष त्वचा, (तथा लसीका), मांस और रक्त में जाकर सर्व अङ्गों में फैलने वाले, किसी एक जगह स्थित नहीं रहने वाले, अपने अपने वातादि दोषों के लक्षणों से युक्त, विस्तृत तथा अल्प उभार वाले शोथ को शीघ्र पैदा करते हैं। सारे शरीर में चारों ओर विसर्पित होने (फैलने) के कारण उसे विसर्प कहते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श.—विसर्प के दूष्यों में लसीका का पाठ होने से त्वग् रूपी आश्रय ग्रहण से त्वगाश्रित लसीका भी गृहीत होती है जैसा कि माधवकर ने कहा है—रक्त लसीका त्वङ् मास दूष्य दोषास्त्रयो मला'। विसर्पाणा समुत्पत्तौ विज्ञेया सप्त धातव। विसर्प शरीर के बाहर अन्दर सभी तरफ फैलता है अतः इसे सर्वाङ्गसारी कहा है—बहि श्रित श्रितश्चान्तस्था चोभयसश्रित। विसर्पो बलमेतेषा ज्ञेय गुरु यथोत्तरम्॥ इहास्थितम्—इह उत्पत्ति-स्थाने अस्थितमस्थिरम। दूसरे स्थान पर आक्रमण करते समय पूर्व स्थान को छोड देता है यह इसमें विशेषता है। विसर्प-संज्ञा—विविध सर्पति यतो विसर्पस्तेन सज्ञित। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वत परिसर्पणात्॥ डाक्टरी में इसे इरिसीपेलस (Erysipelas) कहते हैं। इस रोग का प्रधान कारण Streptococus erysipelatis है जो कि क्षत द्वारा त्वचा में प्रविष्ट हो के रोग को पैदा करता है ऐसे को क्षतज विसर्प (Tramatic) कहते हैं तथा क्षत के सूक्ष्म होने पर उसका ज्ञान न होते हुए भी विसर्प उत्पन्न हो उसे दोषज या Idiopathic विसर्प कहते हैं। सहायक कारण—हृद्रोग तथा यकृत् के रोग, मद्य का अतिपान, सील तथा गन्दे मकानों में रहने से तथा मासूरिक और आन्त्रिक ज्वर में उपद्रव के रूप में होता है। जीवाणु प्रथम त्वचा, वहां से लसीका में जाकर चारों ओर फैलते हैं जिससे उस स्थान में सूजन, लालिमा और दाह होता है। कुछ जीवाणु तथा उनके विष के रक्त में प्रविष्ट होने से ज्वर, बैचैनी आदि सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं।

वातात्मकोऽसितमृदुः परुषोऽङ्गमर्द-
सम्भेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः।
गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा-
द्युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः ॥ ४ ॥

वातिक विसर्प—कृष्ण काला, मुलायम तथा खुरदरा होता है तथा अङ्गों में वेदना, फूटनी, सूई चुभोने की सी पीड़ा तथा वातज्वर के लक्षणों से युक्त होता है किन्तु जब लसीका, रक्त तथा मांसादिकों के अधिक दूषित होने से वही विसर्प विषम गण्डों (विस्फोटों) से युक्त होता है तब वह चिकित्सा दृष्टि से वर्जनीय है ॥ ४ ॥

विमर्श.—गण्डै.—अग्निदग्धदेशसदृशै. स्फोटैर्युक्त इति सम्बन्धस्तदुक्तम्—"अग्निदग्ध इव स्फोटै शीघ्रगत्वाद् द्रुत सच। मर्मानुसारी वीसर्प स्याद्वातोऽतिबलस्तत॥"

पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाक-
स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः।
दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात्
स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥ ५ ॥

पित्तात्मक विसर्प—शीघ्र फैलने वाला एवं ज्वर, दाह, पाक तथा अनेक प्रकार के फोडे फुन्सियों से युक्त तथा रक्त के समान लालवर्ण सा होता है। किन्तु जब दोषों के अधिक बढ़ने से मांस तथा सिराएं नष्ट होकर कृष्णाञ्जन के समान कर्दम (कीचड) से युक्त होता है तब वह चिकित्सा से ठीक नहीं होता है ॥ ५ ॥

श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः
स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डुः।
सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः
पक्को न सिध्यति च मांससिराप्रणाशात् ॥ ६ ॥

श्लेष्मात्मक विसर्प—धीरे धीरे फैलता है, जल्दी पकता नहीं है तथा चिकना, श्वेतशोथयुक्त, अल्प पीडादायी किन्तु तीव्र कण्डु वाला होता है तथा सर्वात्मक या सान्निपातिक विसर्प—तीनों दोषों के रूप (कृष्ण-पीत-सित) और वेदनाओं (तोद, दाह, कण्डु) से युक्त एवं गम्भीर धातुगत होता है तथा पक जाने पर मांस और सिराओं का विनाश कर देने से ठीक नहीं होता है ॥ ६ ॥

सद्यः क्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं
रक्तञ्च दोषबहुलस्य करोति शोफम्।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं
स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥ ७ ॥

क्षतजन्य विसर्प—बढ़े हुए दोषों से युक्त मनुष्य के पित्त और रक्त सद्यःक्षत से उत्पन्न हुये व्रण में जाकर शोफ पैदा करते हैं जो कि कुछ श्याव (काला), रक्तवर्ण, तीव्रज्वर, दाह और पाक से युक्त एवं कुलत्थी के स्वरूप के काले फोड़ों से युक्त होता है ॥ ७ ॥

विमर्श.—सद्य.क्षत व्रण—शस्त्रप्रहार, शस्त्रकर्म, प्रसव के समय, नाभिनालच्छेदन के समय तथा मसूरिका का टीका लगाने पर आदि अनेक प्रकार से सद्यःक्षत होता है और सावधानी या सफाई न करने से इस समय विसर्पजनक जीवाणु प्रवेश हो सकते हैं। भोज ने क्षतज विसर्प का निम्न वर्णन किया है—शस्त्रप्रहारैस्तैस्तैस्तु व्याडदन्तनखैरपि। क्षते-वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिन.॥ रक्त पित्तञ्च बहुल व्रणमाशु प्रपद्यते। कुरुतस्ते समेते तु व्रणशोथ सुदारुणम्॥ आचित तनुवि-

स्फोटैः कृष्णैः पीतकसन्निभैः । पित्तविसर्पवल्लिङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत्॥ चरक ने विसर्प के सात भेद माने हैं उनमें क्षतजविसर्प का वर्णन स्वतन्त्र नहीं आता है—'सप्त विसर्पा इति, वातपित्तकफाग्निकर्दमग्रन्थिसन्निपातजाख्याः.' किन्तु विसर्प के निदान लिखने में क्षत का उल्लेख अवश्य किया है—अत्याहारादिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात्। क्षयवन्यप्रपतनाद् दष्टादन्ननखक्षतात्॥ डाक्टरी में सभी विसर्प क्षतज ही होते हैं। चरकोक्त अग्नि, कर्दम तथा ग्रन्थिक विसर्पों का वर्णन सुश्रुत में नहीं है तो भी वे प्रायः वातादिदोषज ही होते हैं—आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः। यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः॥ अग्निविसर्पलक्षणम्—वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः। परस्परं लब्धबलं दहद् गात्रं विसर्पति॥ तदुग्रतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते। अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते॥ (चरक)। इसका समावेश सुश्रुत के वातजविसर्प में करना चाहिये। कर्दमविसर्पलक्षणम्—गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा सृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते। पक्वबच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः॥ शूयन्वी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्॥ (अ० सं०)। यह त्वचा तथा उपत्वचा में गम्भीर पाक होने से होता है। अतः इसे Cellulo-cutaneous arysipelas कह सकते हैं। यह सुश्रुत के पित्तजविसर्प में समाविष्ट हो सकता है। ग्रन्थिविसर्पलक्षणम्—दूषयित्वा दोषाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम्। ग्रन्थीना कुरुते माला सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम्॥ (अ० सं०)। अयत्र ग्रन्थिविसर्पः सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पठ्यते। ऐसा मधुकोष व्याख्या में लिखा है। किन्तु इन दोनों में ग्रन्थियों के सिवाय अन्य तुल्यता नहीं है अतएव चिन्त्य है।

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गौ
सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः॥८॥

साध्यासाध्यविचारः—वात, कफ और पित्त से उत्पन्न विसर्प योग्य चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं किन्तु त्रिदोषज एवं क्षतजन्य विसर्प असाध्य हैं। पूर्व में कहे लक्षणों से युक्त पैत्तिक तथा वातिक एवं मर्म स्थानों में उत्पन्न हुये सर्व प्रकार के विसर्प कृच्छ्रसाध्य होते हैं॥ ८॥

विमर्शः—भोजमतेन साध्यासाध्यता—वर्ज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपातात्तु यो भवेत्। भिषजा जानता त्याज्यः सर्व एव तु मर्मजाः॥ चरके साध्यासाध्यता—बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम्॥ यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्। यस्य चोपद्रवा कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः॥ विसर्पोपद्रवा—ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवा॥ मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), अन्तर्हृदयावरणशोथ (endocarditis) जीवाणुमयता (Septicaemia), तथा विषमयता (Toximia) होने पर विसर्प असाध्य होता है।

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥ ९॥

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरित्यतश्च
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।
दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
सम्मूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या॥१०॥

अनुचित (शास्त्रविपरीत) कर्म करने वाला वैद्य पके हुये शोफ को भी अपक्व समझ कर उपेक्षा कर देता है अथवा जो वैद्य अधिक पूय वाले व्रण की उपेक्षा कर देता है तब वह पूय पूर्वविहित स्थानों को विदीर्ण करके भीतर की ओर गम्भीर स्थानों (आशयों या धातुओं) में प्रवेश करता है। इस तरह इस पूय के भीतर की ओर अधिक मात्रा में गमन करने से गति संज्ञा तथा नाड़ी अर्थात् नाली में जल बहने की तरह पूय के बहने से नाडी कहलाता है। नाडीभेद-वातादि पृथक् पृथक् दोषों से तीन तथा सन्निपात से एक एवं दो दो दोषों से तीन एवं शल्य के कारण एक ऐसे नाडी के आठ भेद होते हैं॥ ९-१०॥

विमर्शः—नाडी को सायनस (Sinus) या फिस्चुला (Fistula) कह सकते हैं। सायनस उसे कहते हैं जिसका एक मुख बाह्य त्वचा पर खुलता हो तथा दूसरा मुख पाकस्थान से सम्बन्धित हो। दो पाकस्थानों को मिलाने वाली नाडी भी सायनस होती है। फिस्चुला उसे कहते हैं जिसकी नाडी दो आशयों को या आशय और बाह्यत्वचा को मिलाती हो तथा सहज (Congenital) या जन्मोत्तर (Acquired) हो जैसे भगन्दर वस्ति और योनि को मिलाने वाली नाडी (Vesico vaginal Fistula) तथा वस्तिमलाशय नाडी (Recto-Vesical Fistula) आदि। नाडीव्रणकारण—(१) पाकस्थान में शस्त्रकर्म के समय सूत्र, रेशम, हड्डी का टुकडा रह जाने से, (२) पूय का पूर्ण निर्हरण न होने से, (३) व्रणयुक्त अंग को विश्राम (Rest) न मिलने से, (४) क्षयजव्रण (Tubercular ulcer) से, (५) रोगी के दुर्बल होने से, (६) व्रण के आस-पास तान्तवधातु (Fibrous tissue) अधिक होने से तथा (७) बाह्यत्वचा के सेल व्रणमुख के भीतर उत्पन्न होने से एवं (८) मूत्र, मल और पूय का व्रण के साथ सम्पर्क होने से नाडीव्रण बनता है।

भेद—कुछ आचार्यों ने नाडी के पांच भेद होते हैं ऐसे व्याख्यान इस श्लोक का किया है। अन्ये तु—त्रिभिर्दोषैः पृथक् तिस्रः, एकशः सम्मूर्च्छितैरन्या सान्निपातिकी, शल्यनिमित्ता च पञ्चमीति पञ्चैव नाड्य इत्येव व्याख्यामाहुः।

तत्रानिलात्परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम्।
तृट्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु पित्तात्॥ ११॥
ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
रात्रिस्तुतिः स्तिमितरुक्कठिना सकण्डूः।
दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन
तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्॥ १२॥

वात से उत्पन्न नाडी स्पर्श में कठोर, सूक्ष्म मुख वाली तथा शूलयुक्त होती है एवं रात्रि के समय फेनयुक्त स्राव

आयम्यते व्यथ्यत एति तोदं
प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम्।
कृष्णोऽमृदुर्बस्तिरिवातताश्च
भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ ४ ॥

वातिक ग्रन्थि—खींच कर लम्बी सी होती है, पीडा देती है, सूई सी चुभती है, खींच कर फेंकी सी जाती है, कर्तन या छेदन होने सी तथा भेद को प्राप्त होती है एवं वर्ण में काली, स्पर्श में कडी तथा द्रव सी भरी वस्ति (मशक) के समान तनी हुई होती है तथा फूटने पर स्वच्छ स्राव बहाती है ॥ ४ ॥

विमर्शः—डल्हण ने अस्र का अर्थ रक्त किया है परन्तु स्राव अर्थ ही उपयुक्त है।

दन्दह्यते धूप्यति चोपवांश्च
पाप्यच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ता-
द्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥ ५ ॥

पैत्तिक ग्रन्थि—अत्यन्त दाह करती है, धूआं सा निकालती है या सन्ताप करती है, पकती है, जलती हुई सी प्रतीत होती है एवं वर्ण में लाल या पीली होती है तथा फूटने पर अत्यन्त उष्ण स्राव बहाती है ॥ ५ ॥

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः
पाषाणवत्संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्
भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ ६ ॥

कफज ग्रन्थि—स्पर्श में शीत, प्राकृतिक वर्णयुक्त अथवा ईषद्विकृत वर्णयुक्त, अल्प वेदना वाली, अधिक कण्डुयुक्त, पाषाण के समान कडी तथा देर से बढने वाली होती है तथा फूटने पर श्वेत और गाढा पूय बहाती है ॥ ६ ॥

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः
स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डूः।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने
पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥ ७ ॥

मेदोग्रन्थि—शरीर की वृद्धि के साथ बढती है तथा शरीर के क्षय के साथ घटती है एवं स्पर्श में स्निग्ध, आकार में बडी, स्वल्प पीडा तथा अधिक कण्डुकारिणी होती है तथा फूटने पर तिलकी खली और घृत के समान मेद का स्राव बहाती है ॥७॥

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तै-
राक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम्।
सम्पीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि
ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥ ८ ॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो-
भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च।
अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ ९ ॥

सिराज ग्रन्थि—भिन्न भिन्न प्रकार के व्यायाम के कारण बलहीन पुरुष की प्रकुपित वायु सिराओं के समूह को आक्षिप्त करके सिकोड कर तथा सुप्त के शीघ्र ही उठी हुई तथा गोलाकृति की ग्रन्थि पैदा करती है इसे सिराज ग्रन्थि कहते हैं। यदि यह ग्रन्थि पीडायुक्त और चल हो तो कृच्छ्रसाध्य होती है और यदि वही पीडारहित, अचल, महान् तथा मर्म प्रदेश पर उत्पन्न हो तो वर्जित (असाध्य) समझनी चाहिये ॥

विमर्शः—सिराजग्रन्थि एन्यूरिज्म (Aneurism) कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं। (१) पूर्णविस्फार (Fusiform) तथा अपूर्ण विस्फार (Saculated aneurism)। कारण—रक्तवाहिनियों की दीवाल का कमजोर होना भी एक कारण है। यह धमनियों में, धमनी और सिराओं में तथा आघातजन्य (Trammatic) ऐसे तीन प्रकार से होता है। वस्तुतस्तु गांठदार अनेक रोग हो सकते हैं—'स ग्रन्थिर्ग्रथनात् स्मृतः' (अ० स०)। चरक ने मांसग्रन्थि रोग भी माना है 'ग्रन्थिर्मेहामांसभवः'। अष्टाङ्गसंग्रह ने ग्रन्थिरोग नौ प्रकार का माना है—दोषासृङ्मांसमेदोऽस्थिसिराव्रणभवा नव। मांसग्रन्थिलक्षण—मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत्। स्निग्धं महान्तं कठिनं सिरानद्धं कफाकृतिम्॥ रक्तग्रन्थिलक्षणम्—दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु। सिरामांसाश्रं सश्रित्य स स्रावः पित्तलक्षणः॥ अस्थिग्रन्थिलक्षणम्—अस्थिभङ्गाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत्। सोऽस्थिग्रन्थिः॥ व्रणग्रन्थिलक्षणम्—अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः। स्नाद्रे वा वन्यरहिते गात्रेऽस्माभिहतेऽथवा॥ वातात्मकस्तु दुष्टः सशोफः ग्रथितो व्रणम्। कुर्यात् सदाहः कण्डूमान् व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः॥ भोज ने ग्रन्थि के पांच भेद माने हैं—पञ्चैतान्रुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलास्त्यजेत्। कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च सन्धिषु॥

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धि-
मन्यागलेषूपचितं तु मेदः।
ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा
स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति ॥ १० ॥
तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रै-
र्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः।
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं
चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥ ११ ॥
कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः
स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये।
मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष
सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ॥ १२ ॥

अपची वर्णन—हन्वस्थि, कक्षा, अक्षकास्थि तथा बाहु इनकी सन्धियोंमें एवं मन्या और गला इन प्रदेशों में सञ्चित हुआ कफ और मेद (चरबी) ग्रन्थि रोग को पैदा करते हैं। यह ग्रन्थि स्थिर, गोल, चौडी, चिकनी तथा अल्प पीडा युक्त होती है। इस प्रकार आंवले की अस्थि के आकार की अनेक ग्रन्थियों के उत्पन्न होने से अथवा मछलियों के अण्डों के जाल (समूह) के सदृश अन्य छोटी छोटी तथा त्वचा के समान वर्ण की अनेक ग्रन्थियों के उपचित होने से तथा चय (सञ्चय) के प्रकर्ष (आधिक्य) के कारण इन्हें अपची कहा

जाता है। ये ग्रन्थियां खुजली से युक्त एवं अल्प वेदना वाली होती हैं तथा फूटने पर स्राव बहाती हैं। इस तरह कुछ ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं तथा कुछ नई निकल आती हैं। इस तरह मेद तथा कफ के कारण उत्पन्न हुआ यह रोग अत्यन्त दुःसाध्य होता है तथा कई वर्षों तक बना रहता है॥

विमर्शः—भोज ने प्रथम कक्षा-वंक्षणादि स्थानों में अपची होना लिखा है तथा वही माला के रूप में होती है तब उसे गण्डमाला कहा है। 'वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्। जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्। कुर्वन्ति ग्रथितास्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः। तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षः कक्षामन्याः गलाश्रिताः॥ व्यामिश्रदोषजातस्य कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता। तासां वातोदरा रूक्षा वातवेदनयाऽन्विता॥ क्षिप्रपाकसमुत्थाना दाहयुक्ता तु पैत्तिकी। गूढा वा पाककठिना कफात्स्निग्धाऽल्परुक्करा॥ मेदोऽधिका श्लैष्मिकी च विशेषादतिमार्दवा। अपची कण्ठमन्यासु कक्षावङ्क्षणसन्धिषु॥ तां तु मालाकृतिं विद्यात् कण्ठहृद्धनुसन्धिषु। गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्॥' चरक ने गले के पार्श्व में एक ग्रन्थि का होना गलगण्ड तथा अनेक गण्डों के होने से गण्डमाला का होना लिखा है। यथा—मेद कफाच्छोणितसञ्चयोत्थो गण्डस्य (गलस्य) पार्श्वे गलगण्ड एकः। स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैर्दीप्तानले यूनि बलान्विते च। साध्या स्मृता पीनसपार्श्वमूलकासज्वरच्छर्दियुतास्वसाध्या। भावप्रकाश ने कक्षांसमन्यागलवंक्षण में प्रथम गण्डमाला होना लिखा है तथा उनके पक कर फूट के बहने पर अपची नाम रखा है यथा—कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षासमन्यागलवङ्क्षणेषु। मेद कफाभ्या चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥ ते ग्रन्थय केचिदवाप्तपाका स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये। कालानुबन्ध चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति केचित्॥ इस तरह भोज ने प्रथम अपची और बाद में उसी से गण्डमाला, चरक ने गलपार्श्व में गलगण्ड तथा अनेक गण्डों को गण्डमाला और भावप्रकाश ने प्रथम गण्डमाला तथा उनके पक के फूट कर बहने पर अपची नाम दिया है। डाक्टरी मत से अपची को Chronic tuberculous lymphadenitis या स्क्रोफुला (Scrofula) कहते हैं। इसका प्रधान कारण क्षय का जीवाणु माना गया है। इस रोग में शरीर की लसीकाग्रन्थियां (Lymphatic glands) विकृत होकर बढने लगती हैं, पकती हैं और फूट कर पूय बहाती हैं फिर नई पकती फूटती हैं ऐसे वर्षों तक यह रोग पिण्ड नहीं छोडता है अत एव वाग्भटकार ने दूर्वा का उपयुक्त उदाहरण दिया है। यथा—'गण्डमालापची चेय दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक्'-दूर्ववत् क्षयवृद्धियुक्ता दूर्वाप्रतानवदत्यन्ताभावो न भवतीत्यर्थः। (इन्दुः)। जब राजयक्ष्मा के लक्षण अधिक बढ जाते हैं तब यह असाध्य हो जाता है—पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्वसाध्या (चरकः)। केवल गले की ग्रन्थियों के बढने को कण्ठमाला या गण्डमाला कहते हैं। चरक ने गले के पार्श्व में उत्पन्न गण्ड के ही अनेक होने पर गण्डमाला कहा यह ठीक है परन्तु जो गले के मध्य में गलगण्ड रोग होता है वह भिन्न है उसे ग्वाइटर (Goiter) कहते हैं। निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले। महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्ड तमादिशेत्॥ (भाव प्र०)।

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः
सम्मूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्॥ १३॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं
तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।
वातेन पित्तेन कफेन चापि
रक्तेन मांसेन च मेदसा च॥ १४॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि
ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति॥ १५॥

अर्बुदनिदान—शरीर के किसी भी प्रदेश में बढे हुये वातादि दोष मांस को दूषित कर के गोल, स्थिर, अल्पपीडा युक्त, बडा, गम्भीर धातुओं में फैला हुआ, धीरे धीरे बढने वाला, कभी भी नहीं पकने वाला और मांस के उपचय (वृद्धि) से युक्त ऐसे शोफ को पैदा करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् इस शोफ रोग को अर्बुद कहते हैं। यह वात से, पित्त से, कफ से, मांस से और मेद से उत्पन्न होता है तथा ग्रन्थि के समान इसके लक्षण होते हैं॥ १३-१५॥

विमर्शः—अर्बुद को ट्यूमर (Tumour) या नियोप्लाज्म (Neoplasm) कहते हैं। इन श्लोकों में अर्बुद का स्वरूप या परिभाषा, अर्बुद के कारण तथा भेदों का वर्णन किया गया है। अर्बुद की आधुनिक परिभाषा या व्याख्या—शरीर की किसी भी धातु में उसकी अत्यन्त वृद्धि से अर्बुद हो सकते हैं। यह एक प्रकार की स्थानिक अतिवृद्धि होती है जिसका शरीर में कोई विशेष कार्य नहीं होता है और न कोई अन्त ही होता है। उनकी वृद्धि भी शरीर की वृद्धि पर निर्भर नहीं करती। वह व्रणशोथ से भिन्न होता है क्योंकि व्रणशोथ का अन्त पाक में होता है। वातिक संस्थान का जिस पर कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता है उसे अर्बुद कहते हैं। कारण-अभी तक पूर्णतया किसी वास्तविक कारण का पता नहीं लगा है। सम्भव है कई प्रकार की दशाएं या कारणकलाप मिलकर अर्बुद उत्पन्न करते हों। कुछ विद्वानों का मत है कि कभी कभी भ्रूणावस्था की धातुओं के कुछ भाग उसी दशा में रह जाते हैं उनका विकास नहीं होता है अत एव उनमें वृद्धि करने की अत्यन्त क्षमता होती है। जब किसी कारण ये उत्तेजित हो जाते हैं तब इनकी अतिवृद्धि के कारण अर्बुद उत्पन्न होता है। 'तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिण' पैतृक प्रभाव अर्बुद को कहां तक उत्पन्न कर सकता है इसमें सन्देह है किन्तु ऐसे परिवार देखने में आते हैं जिनमें कैंसर या अन्य अर्बुद अधिक व्यक्तियों को आक्रान्त करते हैं। इसी प्रकार कुछ सामान्य अर्बुद भी एक ही परिवार की कई सन्ततियों में निरन्तर उत्पन्न होते देखे गये हैं। व्यवसाय से इसकी उत्पत्ति का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। बहुत से रोगियों में अर्बुद किसी आघात के पश्चात् उत्पन्न होते देखे गये हैं (मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे)। ओष्ठ, जिह्वा, स्तन, आमाशय गर्भाशय ग्रीवा तथा त्वचा के अर्बुद इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। कुछ विद्वानों ने विशेष प्रकार के पराश्रयियों को संक्रामक रोगों की तरह अर्बुदोत्पत्ति में कारण माना है किन्तु अन्वेषण तथा प्रयोगों से उनकी धारणा का समर्थन नहीं हुआ है।

अर्बुदों के भेद—शरीर पर प्रभाव की दृष्टि से इनके दो

भेद होते हैं। (१) सामान्य (Simple) या सौम्य जिनके कारण मृत्यु होने का भय नहीं रहता है। (२) घातक (Malignent) जिनके कारण जीवन का नाश या मृत्यु होती है।

सामान्य अर्बुद में निम्न गुण होते हैं—(१) प्रायः एक अर्बुद होता है अधिक (अध्यर्बुद या द्विरर्बुद) कम होते हैं। (२) इनकी वृद्धि धीरे धीरे होती है (चिरवृद्धि)। (३) एक कोष से परिवेष्टित होते हैं। जिससे छेदन करने पर समग्र निकाले जा सकते हैं अत एव छेदन के बाद पुनरुत्पत्ति होने का भय नहीं रहता है। (४) इनमें बहुधा व्रणोत्पत्ति और रक्तस्राव नहीं होता है। किसी किसी में दबाव के कारण ऊपर का चर्म क्षत हो जाता है तब व्रण बनते हैं। (५) शरीर पर बुरा प्रभाव नहीं डालते हैं किन्तु मर्मस्थान पर दबाव पडने से बुरा प्रभाव हो सकता है जैसे स्वरयंत्र में उत्पन्न हुये सामान्य अर्बुद की वृद्धि से श्वासावरोध (Asphixia) होकर मृत्यु हो सकती है। (६) इनकी सूक्ष्म रचना आसपास की धातुओं की रचना से बहुत कुछ समान होती है।

घातक अर्बुद—(१) इनकी सामान्य अर्बुदों की अपेक्षा शीघ्र वृद्धि होती है। (२) इनकी सीमा परिमित न होने से चारों ओर की धातुओं में फैले रहते हैं। कभी कभी इनका विस्तार अत्यन्त दूरवर्ती अङ्गों में हो जाता है। (३) इनमें छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति होने की अत्यन्त प्रवृत्ति होती है क्यों कि दूर दूर तक फैले हुये होने से सशेष दोष रह जाते हैं—सशेषदोषाणि हि शोथर्बुदानि करोति नान्यानि पुनर्भवन्ति। तस्माद्-शेषाणि समुद्धरेत् हृद्यु सशेषाणि यथा हि नहि ॥ (४) इस पर कोई आवरण नहीं होता है। (५) यद्यपि इनकी संख्या एक होती है किन्तु दूरवर्त्ती अङ्गों में गौण अर्बुद या द्विरर्बुद या अध्यर्बुद (Metastatic growths or secondary deposits) करने की प्रवृत्ति होती है। जिससे ये असाध्य हो जाते हैं-'द्विरर्बुदं तच्च सर्वदसाध्यम्' (६) चर्म को आक्रान्त कर उसमें व्रण बन जाता है जिससे रक्तस्राव हो कर पाण्डु रोग, अवसाद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं—रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वा-त्पाण्डुसर्वदर्बुदपीडितस्तु। (७) इनसे एक प्रकार का विष उत्पन्न हो कर रक्त द्वारा शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे रोगी कृश और दुर्बल हो जाता है। शरीर की भिन्न २ धातुओं में उत्पन्न होने के अनुसार भेद—संयोजक धातु से उत्पन्न सामान्य अर्बुद जैसे—वस्यार्बुद (Lipoma), पीतार्बुद (Zenthoma), कार्टिलेजार्बुद (Chondroma), अस्थ्यर्बुद (Osteoma), मज्जार्बुद (Myeloma), मांसार्बुद (Myoma), सौत्रार्बुद (Fibroma), श्लेष्मार्बुद (Myxoma) मिश्रार्बुद (Glioma), नाड्यर्बुद (Neuroma), दन्तार्बुद (Odontoma), त्वगट्टरार्बुद (Papilloma),

संयोजक धातु से उत्पन्न घातक अर्बुद—सार्कोमा (Sarcoma) यह अर्बुद अन्त्यावरण, अस्थि, मज्जा और चर्म में प्राय उत्पन्न होता है। इनमें रक्तसञ्चार की अधिकता के कारण रक्तस्राव की आशङ्का रहती है। अर्बुद के कोषाणु या छोटे छोटे भाग अर्बुद से पृथक् हो कर सिराओं द्वारा दूरवर्त्ती अङ्गों में पहुँच कर वहां गौण वृद्धि प्रारम्भ कर देते हैं। सार्कोमा के भेद-Small round celled, large round celled आदि सेल के अनुसार तथा Fibro sarcoma, ostleo sarcoma, myo sarcoma आदि धातु की अधिकता के उदाहरण हैं। कुछ का नामकरण उनके रंग के अनुसार भी होता है। उपकला से उत्पन्न अर्बुद—(१) सामान्यार्बुद जैसे अङ्कुरार्बुद और ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma)। (२) घातक अर्बुद जैसे कैंसर या कार्सिनोमा (Cancer or carcinoma)—यह बाह्य तथा श्लैष्मिक त्वचा में प्रायः उत्पन्न होता है। होठ, जिह्वा, मुख, अन्नप्रणाली, जठर, आन्त्र, मलाशय, स्त्रियों में गर्भाशय और स्तन, पुरुषों में अण्डीलाग्रन्थि तथा शिश्न इसके प्रधान स्थान हैं। प्रायः यह रोग ४० वर्ष की आयु के बाद होता है। इस अर्बुद के पृष्ठ पर कभी कभी गोभी के फूल के समान अङ्कुर उठ आते हैं (मांसाङ्कुरैराचितम्) तब इसे Fungating cancer कहते हैं। कभी २ कुछ काल के पश्चात् इसमें व्रण भी बन जाता है जिससे स्राव बहता रहता है 'स्रवत्यजस्रं रुधिरम्'। पूयोत्पादक जीवाणुओं के प्रवेश से यह स्राव अत्यन्त दुर्गन्धित भी हो सकता है। गर्भाशय, गुदा आदि आन्तरिक अङ्गों के केन्सर में रक्तस्राव भी होता रहता है। अन्नप्रणाली में होने से भोजन निगलने में बाधा, आमाशय में होने से पाचननाश तथा वमन होता है तथा साथ में रक्त भी निकलता है। रक्त-क्षयादि कारणों से रोगी दिन-प्रतिदिन क्षीण या शुष्क होता जाता है। यह रोग यूरोप तथा अमेरिका में अधिक होता है। वहां के निवासी मांसाहार अधिक करते हैं अतः यह हो सकता है 'एतद्भक्तेन्नासपरायणस्य'। अनेक प्रयोगों से सिद्ध हो गया है कि यह संक्रामक नहीं होता है। शस्त्रकर्म के समय अर्बुद शुद्ध-तौलियों से ढका रहे तथा छेदन के पश्चात् तौलियों से टके हुये अङ्ग को दूर हटा दिया जाय। चाकू के अर्बुद के सम्पर्क में आने पर उसके द्वारा अर्बुद के कोषाणुओं का दूसरे स्थानों में पहुंचना और गौण वृद्धि उत्पन्न करना सम्भव है। केन्सर चार प्रकार का होता है। (१) एपिथिलियोमा (Apithelioma) (२) Spheroidal-celled cancer, (३) Columnar cancer, (४) Coloid cancer,

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु
सम्पीड्य सङ्कोच्य गतस्तु पाकम्।
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं
मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धिम् ॥ १६ ॥
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्ट-
मसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात्।
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ॥ १७ ॥

रक्तार्बुद—मिथ्या आहार-विहार से दुष्ट हुए वातादि दोष रक्त तथा सिराओं को संपीड़ित तथा सङ्कुचित करके पाक को प्राप्त हो कर स्रावयुक्त तथा मांस के अङ्कुरों से व्याप्त एवं शीघ्र वृद्धि से युक्त मांसपिण्ड को उत्सेध युक्त कर देते हैं तथा उससे निरन्तर दूषित रक्त बहता है। यह रक्तार्बुद असाध्य होता है। अर्बुद रोग से पीड़ित व्यक्ति रक्तक्षयरूपी उपद्रव से पीड़ित होने से वर्ण में पाण्डु (श्वेत रक्त पीत) हो जाता है॥

विमर्शः—'गतस्तु पाकम्' इसके स्थान में 'गतस्त्वपाकम्' ऐसा अन्यत्र पाठान्तर उत्तम है क्यों कि अर्बुदों में पाक नहीं होता है।

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण-
मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्॥ १८॥
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढ-
मेतद्भवेन्मांसपरायणस्य।
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं
साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्तु॥ १९॥
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं
स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम्॥ २०॥

मांसार्बुद—मुष्टिप्रहार आदि से शरीर प्रदेश पर आघात पहुंचने पर वहां का मांस दूषित हो कर स्वल्प पीड़ाकारी, स्पर्श में चिकना, स्वाभाविक वर्णयुक्त, नहीं पकने वाला, पत्थर के समान कड़ा तथा अप्रचाल्य (स्थिर) शोफ पैदा होता है। जो व्यक्ति मांस खाने में अधिक तत्पर रहता है तथा जिसका मांस दूषित हो जाता है उसके देह में यह मांसार्बुद रोग पैदा होता है तथा यह असाध्य होता है तथा साध्य अर्बुदों में इतने को वर्जित कर देना चाहिये—जो बहुत बढ़ता हो, जो मर्म-स्थान पर पैदा हुआ हो तथा जो नासा या रस-रक्तादिवह स्रोतस या अन्नवह महास्रोतस में उत्पन्न हुआ हो एवं जो अचाल्य (स्थिर) हो॥ १८-२०॥

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद् द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम्॥ २१॥

अध्यर्बुद तथा द्विरर्बुद लक्षण—पूर्व में उत्पन्न हुये अर्बुद के स्थान में या उसके सन्निकट जो दूसरा अर्बुद उत्पन्न होता है उसे अर्बुदज्ञ विद्वान् वैद्य अध्यर्बुद कहते हैं। जो प्रारम्भ ही में दो संख्या में अर्बुद पैदा हुये हों अथवा क्रम से एक के बाद दूसरा अर्बुद पैदा हुआ हो उसको द्विरर्बुद कहते हैं तथा ये दोनों असाध्य होते हैं॥ २१॥

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वा-
न्मेदोऽधिकत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां
सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु॥ २२॥

अर्बुदों में कफ की अधिकता होने से तथा मेद की विशेष अधिकता होने से एवं दोषों की स्थिरता होने से तथा ग्रन्थि रूप (कठिन) होने से स्वाभाविक तौर पर सभी प्रकार के ही अर्बुद पकते नहीं है॥ २२॥

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ
मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः
समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥ २३॥

गलगण्डनिदानादि वर्णन—वायु और कफ गले में बढ़ कर मन्या और मेद का आश्रय करके क्रमशः अपने अपने लक्षणों से युक्त गण्ड रोग को उत्पन्न करते हैं उसे गलगण्ड कहते हैं॥ २३॥

विमर्शः—क्रमश इत्यनेन शनैरेव वर्धन दर्शयति, वातकफमेदासि पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव गलगण्डा., पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात् चातुर्थिकज्वरवत्॥ (मधुकोषः)। भोजोक्तगलगण्डलक्षणम्—महान्तं शोथमल्प वा हनुमन्यागलाश्रयम्। लम्बन्त मुष्कवद् दृष्ट्वा गलगण्ड विनिर्दिशेत्॥ इसे घेघा या ग्वाइटर (Goiter) कहते हैं। यह गले की थायराईड (Thyroid) ग्रन्थि के बढ़ने से होता है। यह ग्रन्थि बाल्यावस्था में शरीर की वृद्धि तथा आहार-परिवर्तन का नियन्त्रण करती है। यह ग्रन्थि खाद्य-पेय द्रव्यों से (Iodine) को ग्रहण कर थाईरोक्सिन (Thyroxine) बनाती है तथा यह रक्त में मिल कर उक्त शरीरकार्य करता रहता है। थाइरोक्सिन की कमी से शरीर मोटा तथा अधिकता से दुबला हो जाता है। एक वहि नेत्रगलगण्ड (Exophthalmic goiter) भी होता है जिसमें रोगी की आंखें बाहर निकल आती हैं, पलकें बन्द नहीं कर सकता है, हृदय गति १२० से १५० तक हो जाती है, ग्रीवा की धमनियां दूर से ही फड़कती हुई दिखाई देती हैं, हाथ कांपते हैं। रोगी चिड़चिड़ा हो जाता है।

तोदान्वितः कृष्णसिराऽवनद्धः
कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
मेदोऽन्वितश्चोपचितश्च काला-
द्भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च॥ २४॥
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्धपाको
यदृच्छया पाकमियात् कदाचित्।
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः॥ २५॥

वातिक गलगण्ड लक्षण—सूई चुभाने की पीडा से युक्त, काली सिराओं से व्याप्त, वर्ण में काला या अरुण वातिक गलगण्ड होता है। कुछ काल के पश्चात् बढ़ जाने पर चरबी से युक्त हो जाने से स्पर्श में अत्यन्त चिकना तथा वेदनारहित हो जाता है। एवं कठोरता युक्त, देर से वृद्धि और नहीं पकने वाला होता है। कभी कभी अदृष्टवश या आगन्तुक कारणों से पाक को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार के गलगण्ड से पीडित मनुष्य के मुख की विरसता तथा तालु और गले में शोष ये लक्षण होते हैं॥ २४-२५॥

स्थिरः सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डुः
शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु।
चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च
प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित्॥ २६॥
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः॥ २७॥

कफजगलगण्ड लक्षण—कफ से उत्पन्न गलगण्ड स्थिर, त्वचा के समान वर्ण का, अल्प पीड़ा वाला, तेज खुजली से युक्त, स्पर्श में शीत, आकार में बड़ा, देर से बढ़ने वाला तथा देर से ही पकता है एवं पकने के समय कुछ पीड़ा होती है तथा

उस मनुष्य का मुख मीठा हो जाता है और उसके तालु प्रदेश तथा गले में लेप सा बना रहता है ॥ २६-२७ ॥

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो
मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डुः ॥ २८ ॥
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो
देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-
र्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥ २९ ॥

मेदोजन्य गलगण्ड लक्षण—यह स्पर्श में चिकना और मुलायम, वर्ण में पाण्डु, बुरी गन्ध वाला, पीडारहित तथा अधिक खुजली वाला होता है तथा गले में तोम्बी के समान लटकता है, मूलभाग में पतला होता है तथा शरीर के अनुसार ही घटता और बढता है। इससे पीडित मनुष्य का मुख चिपचिपा सा रहता है। तथा उसके गले में सदा अस्पष्ट शब्द होता रहता है ॥ २८-२९ ॥

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं
संवत्सरातीतमरोचकार्तम्।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डिनं तं
भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत्तु ॥ ३० ॥

असाध्यगलगण्ड लक्षण—कष्ट से सास लेते हुये, मृदु या दुर्बल सारे शरीर वाले, एक वर्ष से ज्यादा पुराने, अरोचक से पीडित, क्षीण हुये एवं भिन्नस्वर वाले गलगण्ड के रोगी को वैद्य वर्जित कर दे ॥ ३० ॥

विमर्श—गलगण्ड के बढने से श्वासप्रणाली (Trachea) पर दबाव पडने से श्वासकृच्छ्र, अन्नप्रणाली पर दबाव पडने से भोजन निगलने में कठिनता, नर्व पर दबाव पडने से स्वरभंग, रक्तवाहिनियों पर दबाव पडने से गलसिराओं का फूलना (कृष्णसिरावनद्धः) तथा मस्तिष्कगत रक्तसंवहन में कमी होने से भ्रमादि लक्षण होते हैं। यह रोग प्रायः घातक नहीं होता है। हां कभी कभी जब कैंसर या श्वासावरोध होता है तब घातक होता है।

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने गलगण्डगण्डमालाऽपच्यर्बुदनिदानं नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

गलगण्डसामान्य लक्षण—जिस मनुष्य के गले में शोथ निबद्ध (मर्यादित) हो कर मुष्क (वृषण) के समान लटकता है चाहे वह आकार में बडा हो या छोटा उसे गलगण्ड कहते हैं ॥ ३१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां गलगण्डगण्डमालाऽपच्यर्बुदनिदान नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदानां निदानं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर वृद्धि, उपदंश तथा श्लीपद के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

तत्रादौ वृद्धिनिदानम्—

वातपित्तश्लेष्मशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ताः सप्त वृद्धयः। तासां मूत्रान्त्रनिमित्ते वृद्धी वातसमुत्थे केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतमः ॥ ३ ॥

वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मूत्र तथा आन्त्र के कारण वृद्धि रोग सात प्रकार का होता है। इनमें से मूत्रजन्य तथा आन्त्रजन्य वृद्धि वात के कारण होता है केवल दोनों की उत्पत्ति में प्रधान कारण अन्यतम अर्थात् मूत्रवृद्धि में मूत्र का बढना तथा आन्त्रवृद्धि में आन्त्र का आकार में वृद्धि न होकर स्वस्थान से आगे के स्थान में बढना (उतरना या खसकना) है ॥ ३ ॥

अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशवाहिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोशयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

✓उदरगुहा (Abdominal cavity) के नीचे के विभाग में अर्थात् श्रोणिगुहा (Pelvic cavity) में प्रकुपित हुआ वातादि त्रिदोषों में से कोई भी एक (वात) दोष फल (वृषण) तथा उसके कोष में जाने वाली धमनी में जाकर फल तथा कोष की वृद्धि करता है उसे वृद्धि कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—अण्ड की वृद्धि या शोथ को Orchitis कहते हैं तथा वृषणवृद्धि को Scrotal swelling कहते हैं। चरक ने वृद्धि को व्रण लिखा है—व्रणोऽनिलाद्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ॥ मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनञ्च शोथम् ॥ (च. चि १२)।

तासां भविष्यतीनां पूर्वरूपाणि-वस्तिकटीमुष्कमेढ्रेषु वेदना मारुतनिग्रहः फलकोशशोफश्चेति ॥ ५ ॥

✓वृद्धि पूर्वरूप—उन होने वाली वृद्धियों के पूर्वरूप में वस्ति, कटी, मुष्क और लिङ्ग में पीडा, अधोवात का निरोध तथा फल और कोष में शोथ ये लक्षण होते हैं ॥ ५ ॥

तत्रानिलपरिपूर्णो वस्तिमिवाततां परुषामनिमित्तानिलरुजं वातवृद्धिमाचक्षते। पक्वोडुम्बरसङ्काशां ज्वरदाहोष्मवतीं चाशुसमुत्थानपाकां पित्तवृद्धिम्। कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डूमतीं श्लेष्मवृद्धिम् ॥

✓इन वृद्धियों में जो वात से भरी हुई मशक की तरह प्रतीत होती हो, स्पर्श में कठोर हो तथा बिना कारण ही पीडाकारक हो उसे वातजन्य वृद्धि कहते हैं। जो पके हुये गूलर के फल के समान वर्ण की तथा ज्वर, दाह और उष्णता से युक्त हो एवं शीघ्र ही पैदा होने वाली तथा पकने वाली हो उसे पित्तजन्य वृद्धि कहते हैं। जो स्पर्श में कठिन, अल्प

पीडा वाली, शीतल तथा कण्डुयुक्त हो उसे कफजन्य वृद्धि कहते हैं ॥ ६ ॥

कृष्णस्फोटावृतां पित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिम्। मृदुस्निग्धां कण्डूमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकाशां मेदोवृद्धिम् ॥ ७ ॥

रक्त-मेदो वृद्धि लक्षण—जो काले फोडे फुन्सियों तथा पित्त की वृद्धि के लक्षणों से युक्त हो उसे रक्तवृद्धि कहते हैं एवं जो स्पर्श में मृदु, स्निग्ध, कण्डूयुक्त, अल्पपीडा वाली तथा ताल फल के समान आकार की हो उसे मेदोवृद्धि कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्श—रक्त वृद्धि को हीमाटोसील (Haematocele) कहते हैं। यह रोग आघात से, मूत्रज वृद्धि का पानी निकालने से या वृषण में वातज अर्बुद के होने से वृषण कोश में रक्त का सञ्चय होकर होती है। मेदोवृद्धि को वृषण का श्लीपद (Elephantiasis of the scrotum) कहते हैं।

मूत्रसन्धारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बुपूर्ण इतिरिव क्षुभ्यति मूत्रकृच्छ्रं वेदनां वृषणयोः स्वयथुं कोशयोश्चापादयति, तां मूत्रवृद्धिं विद्यात् ॥ ८ ॥

मूत्रज वृद्धि लक्षण—मूत्र के वेग को रोकने से मूत्रवृद्धि रोग होता है। वह चलते हुये मनुष्य के जलपूर्ण मशक की तरह क्षुभित होती है या डप-डप या थल-थल शब्द करती है एवं मूत्रकृच्छ्र, वृषण में पीडा तथा वृषणकोष में सूजन उत्पन्न करती है उसे मूत्रवृद्धि जाननी चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्श—अण्डकोष तथा वृषण रज्जु में तरल द्रव्य जो पूय नहीं होता, सञ्चित होने को मूत्रवृद्धि या हाइड्रोसील (Hydrocele) कहते हैं। इसके उत्पन्न होने में मूत्रसन्धारण का या मूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह तरल लसीका होता है और जिस प्रकार जलोदर में लसीका-वाहिनियों से चूकर लसीका इकट्ठी होती है उसी तरह वृषण कोष की लसीकावाहिनियों से चूकर लसीका कोश में सञ्चित होती है। कारण—पूर्णरूप से वास्तविक कारण का पता नहीं लगा है। विहार, यू० पी० की तरफ अधिक होता है। कुछ रोगियों में फिरङ्ग या सिफलिस तथा चङ्क के साथ एवं जीर्ण वृषण प्रकोप के साथ यह रोग मिलता है। कभी कभी चोट लगने के पश्चात् भी यह हो जाता है। लक्षण—द्रव के सञ्चित होने से अण्डकोष का आकार बडा होकर गोल या अण्डे के समान दीखता है। अधिक द्रव के बढनेसे बड़े नारियल तथा बड़ी एरण्ड ककडी सा भी दिखाई देने लगता है। टटोलने से वृषणग्रन्थि पीछे की ओर प्रतीत होती है तथा कोष के ऊपर की ओर वृषण रज्जु को प्रतीत किया जा सकता है। इसकी एक मुख्य परीक्षा यह है कि रोगी को अंधेरे कमरे में ले जाकर वृषणवृद्धि के एक पार्श्व में टार्च या प्रकाश डालने से या मोमबत्ती जलाने से दूसरी ओर हल्का प्रकाश दिखाई देगा तथा कोष के भीतर की वस्तु चमकती हुई लाल दिखाई देगी। भीतरी वृषण ग्रन्थि भी दिखाई देगी। रोग के पुराने होने पर यह प्रकाश परीक्षा (Light transillumination) नहीं मिलेगी। दूसरी परीक्षा कम्पन की है जो एक तरफ अङ्गुलि द्वारा हल्का आघात करने से दूसरी ओर कंपन दिखाई देता है। कभी कभी अधिक वृद्धि होने से कोष के त्वचा के भीतर शिश्न के चले जाने से मूत्र वृषण-त्वचा पर होकर बहता है जिससे खुजली उत्पन्न होती है एवं वृषणरज्जु में तनाव होने से पीडा प्रतीत होती है। सापेक्ष निदान में हर्निया तथा अन्य अर्बुदों से पृथक् करना जरूरी है। दाबने से यह उदर में नहीं समाता तथा रोगी के खांसने पर उसमें सरसराहट सी प्रतीति भी नहीं होती है। हर्निया तथा अर्बुदों में कोष द्वारा प्रकाश परीक्षा नहीं मिलती है।

रोग के भेद-अण्डवेष्टन जलातिवृद्धि (Vaginal hydrocele), इसके निम्न भेद हैं। (१) तरुणजलातिवृद्धि (Acute hydrocele) (२) सहज जलातिवृद्धि (Congenital hydrocele), (३) शैशवीय जलातिवृद्धि (Infantile hydrocele), (४) द्विकोषीय जलातिवृद्धि (Bilocular hydrocele), (५) जातोत्तर-जलातिवृद्धि (Aquired hydrocele)। आवेष्टित जलाति वृद्धि (Encysted hydrocele), (६) उपाण्डीय जलाति वृद्धि (Hydrocele of epididymis), वृषणरज्जुगत जलातिवृद्धि आदि।

भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरतिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्येतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो वस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति, सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते, तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥ ९ ॥

आन्त्रवृद्धि—बोझ उठाने से, अधिक बलवान् के साथ लड़ने से एवं वृक्ष से गिर पड़ने आदि विशेष परिश्रम के कारण अत्यन्त बढी हुई तथा प्रकुपित हुई वायु स्थूलान्त्र तथा क्षुद्रान्त्र के एक भाग को संकुचित करके नीचे की ओर जाकर वंक्षण सन्धि का आश्रय करके ग्रन्थिरूप से स्थित होकर चिकित्सा नहीं करने से तथा कुछ समय बीतने पर फलकोष में जाकर मुष्क (अण्डग्रन्थि) को शोथयुक्त कर देती है। इस तरह यह शोथ आध्मानयुक्त तथा वस्ति के समान फूला हुआ होता है। इस शोथ को दबाने से शब्द करता हुआ ऊपर की ओर उदर में चला जाता है तथा दबाव छोड देने पर पुनः फलकोष में आकर फूलने का सा हो जाता है। इसको असाध्य आन्त्रवृद्धि रोग कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—इतरस्य चेति। क्षुद्रान्त्रावयव वदा। (अ० सं०), विगुणीकृत्येति सङ्कुचीकृत्य, द्विगुणीकृत्येति पाठान्तरे तु सङ्कोचेन द्विगुणीकृत्येति (मधुकोषकारः)। वस्तुतस्तु न तो आन्त्र में वृद्धि और न संकोच होता है तथा न आन्त्र द्विगुणी ही होती है किन्तु आन्त्र अपने स्थान से मार्ग मिलने पर नीचे की ओर उतर जाती है अत एव अष्टाङ्गसंग्रहकार ने यही भाव स्पष्ट लिख दिया है 'स्वनिवेशादधो नयेत्'। डाक्टरी में इस रोग को हर्निया (Hernia) कहते हैं। न केवल आंत किन्तु कोई भी अङ्ग अपने स्थान को छोड कर किसी मार्ग द्वारा अन्य स्थान में चला जाता है उसे Hernia कहते हैं। इस तरह मस्तिष्क, फुफ्फुस, आंत्र आदि की हर्निया होती हैं जैसे उदर की पूर्वभित्ति में उत्पन्न पूर्वी हर्निया (Ventral hernia) एवं

कटिपार्श्व हर्निया (Lumbar hernia). महाप्राचीरा का हर्निया (Diaphragmatic hernia) नाभिहर्निया (Umbical hernia) आदि होते हैं। किन्तु आन्त्र की हर्निया अधिक होती है अत एव इसका नाम आन्त्रवृद्धि पड गया है। रोगी के खासने या किसी प्रकार के बल करने से आंतों या आंतों का कुछ भाग अण्डकोष, ऊरु तथा नाभि इन तीन में से किसी एक में उतर जाता है। नाभि की हर्निया अधिकतर बच्चों में होती है। अन्त्रियों का कुछ भाग नाभि के छिद्र द्वारा चर्म के नीचे पहुंच जाता है जिससे उदर के ऊपर एक फूला हुआ सा उभार दीखने लगता है जिसे हाथ द्वारा दबाने से गड़गड शब्द करता हुआ उदर में चला जाता है। कारण-प्रायः हर्निया के सहज तथा जन्मोत्तर ऐसे दो मुख्य कारण होते हैं—

(१) सहज कारणों में अण्डग्रन्थि का उदरगुहा से देरी में वृषण में उतरना, उदर से वृषण तक के मार्ग का पूर्णरूप से बन्द न होना, उदरप्राचीर-मांसपेशीदौर्बल्य, आन्त्रनिबन्धिनी की अधिक लम्बाई आदि तथा नाभिहर्निया में नाभिछिद्र का बन्द न होना आदि प्रधान हैं।

(२) जन्मोत्तर कारण-उदरपेशियों की दुर्बलता, उदरशस्त्रकर्म के पश्चात् वहां की व्रणदग्धु या रोहित धातु के दृढ न होने से या उदर पर आघात होने से एवं बोझ उठाने, तीव्र पुराना विबन्ध, मलमूत्रादि के उत्सर्ग में जोर का कुन्थन, तीव्र कास आदि प्रधान हैं। आन्त्र का हर्निया भी कई प्रकार का होता है। आयुर्वेद मत से निम्न भेद हो सकते हैं—

(१) वंक्षणी आन्त्रवृद्धि (Inguinal hernia)—इसमें आन्त्र वंक्षणमुरङ्ग (Inguinal canal) में होती हुई फलकोष की ओर जाती है जैसा कि भोज ने भी लिखा है—अन्त्र द्विधा नाभ्यादेः अन्त्रोर्नयति वङ्क्षणम्। (२) अप्राप्तफलकोषवृद्धि या अपूर्ण आन्त्रवृद्धि (Incomplete hernia or bubonocele) अप्राप्तफलकोषायां नातिवृद्धिरुजो हितः॥ (३) कोषप्राप्तवृद्धि या पूर्ण आन्त्रवृद्धि (Complete hernia)—'कोषप्राप्तान्तु वर्जयेत्' इसमें आन्त्र वंक्षणीछिद्र में से होकर अण्डग्रन्थि के ऊपर तक पहुंच जाती है। ऐसे हर्निया के मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) जब अन्त्रियां वंक्षणी नलिका में होकर अण्डकोष में पहुंचती हैं तब उसे वंक्षणी हर्निया (Inguinal hernia) कहते हैं। इसके वक्र और ऋजु ऐसे दो मुख्य भेद होते हैं—वक्रवंक्षणी हर्निया (Oblique inguinal hernia) के भी निम्न भेद होते हैं—१-जातोत्तर वक्रवंक्षणी हर्निया (Acquired oblique inguinal hernia) २-सहज वक्रवंक्षणीहर्निया (Congenital oblique inguinal hernia) ३-आवेष्टित हर्निया (Infantile or encysted hernia) वंक्षणीहर्निया के दूसरे भेद को ऋजुवंक्षणी हर्निया (Direct inguinal hernia) कहते हैं।

(२) जब अन्त्रियां और्वीनलिका (Femoral canal) में होकर जिसके द्वारा और्वी धमनी और सिरा ऊरु प्रान्त के ऊपरी भाग में पहुंचती हैं तब और्वी हर्निया (Femoral hernia) कहलाता है। यह अधिकतर स्त्रियों में होता है। इसका कारण श्रोणि का अधिक चौडा होना मालूम होता है जिससे नलिका की चौड़ाई भी बढ़ जाती है। और्वी नलिका के तीन भाग होते हैं। बाहरी भाग में और्वी धमनी, बीच के भाग में और्वी सिरा तथा तीसरा भीतर की ओर स्थित खाली भाग है जो कि ऊपर की ओर भी कुछ वसामय धातु से बन्द रहता है, नीचे ऊरु की ओर इसमें एक अण्डाकार छिद्र रहता है जिस पर चालनी आवरणी ढकी रहती है। जब हर्निया ऊरु में उतरती है तो वह नलिका के इसी भाग में होती हुई आती है।

(३) नाभिहर्निया—इसमें नाभिच्छिद्र द्वारा आन्त्रावयव बाहर निकल आते हैं तथा नाभिप्रदेश में उत्सेध उत्पन्न करते हैं। नाल काटने के बाद नाभिपाक होने से यदि नाभि दुर्बल हो गई हो तो शिशुओं और बालकों में यह रोग दिखाई देता है जो युवावस्था तक स्वयं ठीक हो जाता है। सुश्रुत ने इसे तुण्डिकसंज्ञा से लिखा है तथा चरक में आयानव्यायामोत्तुण्डिता लिखा है। नाल काटने की खराबी इस में कारण माना है।

हर्निया की रचना—जिस समय अन्त्रियां अण्डकोष अथवा ऊरु में उतरती हैं उस समय उन्हें ढकी रखने वाली परिविस्तृत कला के एक भाग को भी अपने साथ नीचे को खींच लाती हैं जो इन्हें यहां भी ढके रखता है वह हर्निया का कोष (Sack) कहलाता है तथा इसके भीतर जो अङ्ग होते हैं उन्हें उसके अवयव कहते हैं जो कि निम्न होते हैं—आन्त्र का कुछ भाग, आन्त्रिककला (Mesentry), उण्डुक (Coecum), उण्डुकपुच्छ, मूत्राशय तथा कभी कभी डिम्बग्रन्थि तथा डिम्बप्रणाली भी मिलते हैं। हर्निया की विकृत दशाएं—जब हर्निया में कोई विकार जैसे उसमें शोथ, अवरोध होते हैं तभी रोगी चिकित्सक के पास आते हैं। जब तक हर्निया स्वयं ही उदर के भीतर लौट जाती है तब तक रोगी केवल एक पेटी (Truss) को लगाकर या कम कर लंगोट बांध के काम चलाते रहते हैं। दीर्घकालिक हर्निया में रोगी स्वयं ही उसे दबाकर उदर के भीतर कर देता है, नहीं दबने पर ही चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है। निम्नविकृत दशाएं होती हैं—

(१) अवरुद्ध हर्निया (Strangulated Hernia) होने पर पीडा, स्तब्धता, मूर्च्छा, नाडीमन्द, शीतस्वेद, आध्मान, वमन आदि तथा अन्त में कोथ होकर मृत्यु।

(२) शोथयुक्त हर्निया (Inflamed Hernia)—अभिघात से या कर्षण के समय अन्त्रियों को क्षति पहुंचने से होता है। स्वरूप मलनिःसरण, मितली, वमन, ज्वर, हर्निया स्थान तनाव युक्त, लाल, उष्ण और स्पर्शासह्य होता है। अवरुद्ध हर्निया में ज्वर नहीं होता है तथा आंत में अवरोध होने से मल वमन के साथ निकलता है तथा खांसने से सरसराहट नहीं होती है। इसमें ज्वर होता है, थोड़ा थोड़ा मल निकलते रहने से वमन में मल नहीं निकलता तथा खांसने से सरसराहट होती है।

(३) अकर्षणीय हर्निया (Irreducible Hernia)—उसे कहते हैं जब कर्षण द्वारा हर्निया के अवयवों को उदर में नहीं लौटाया जा सकता है। इसका कारण प्रायः कोष तथा अवयवों का जुड़ जाना होता है। हर्निया के जीर्ण होने पर तथा अनुचित पेटी के उपयोग से यह उत्पन्न होता है।

(४) बन्धित हर्निया (Obstructed Hernia)—जिसमें हर्निया के कोष के भीतर स्थित अन्त्रियों द्वारा मल आगे नहीं जा सकता है वहीं रुक जाता है। यह दशा बृहदन्त्र में होती है तथा नाभिहर्निया में पाई जाती है। कारण—पाचन

का विकार है, कोपस्थ आन्त्रभाग में अपक्व भोजन का अवशेष तथा शुष्क मल के टुकडे सञ्चित होकर इसे पैदा करते हैं। वमन, उदरशूल आदि लक्षण होते हैं।

साध्यासाध्य रोगनिर्णय—(Diagnosis)—निम्न दशाओं में वृषणवृद्धि हो जाया करती है।

(१) आन्त्रवृद्धि, (२) मूत्रवृद्धि, (३) रक्तवृद्धि, (४) मेदोवृद्धि, (५) सिरावृद्धि, (६) अण्डशोथ, (७) उपाण्डशोथ, (८) अण्ड के अर्बुद। आन्त्रवृद्धि में खांसने पर आंत का ऊपर नीचे जाना, दबाने पर उदर में समा जाना, प्रधान लक्षण है। मूत्रवृद्धि में तरङ्ग प्रतीति, प्रकाशपरीक्षा मिलना प्रधान लक्षण है। रक्तजवृद्धि में वृषण पर चोट लगने का इतिहास, मेदोवृद्धि में वृषण की त्वचा मोटी तथा कर्कश एवं श्लीपद ज्वरादि लक्षणों का इतिहास, सिरावृद्धि में बाईं ओर की सिराओं का फूलना तथा झोले में भरे केंचुओं का सा स्पर्श प्रतीत होना तथा यह युवावस्था में हस्तमैथुन करने से होता है। अण्ड-उपाण्डादिशोथों में आघात का इतिहास तथा फिरङ्ग या राजयक्ष्मा के अन्य लक्षण मिलना फिरङ्गजन्य वृद्धि में केवल वृषणग्रन्थि का बढ़ना, पीडा न होना तथा सवेदना (ज्ञान) का नाश होना एवं राजयक्ष्माजन्य वृद्धि वृषण, उपवृषण और रज्जु में भी विकृति होना, वृषण का सावेदनिक ज्ञान रहना एवं अर्बुदजन्य वृषणवृद्धि केवल एक तरफ की ग्रन्थि में रोगारम्भ होना, धीरे धीरे रोग का बढ़ना, पीडा होना, वृषण की लसीका-ग्रन्थियों का फूलना आदि प्रधान लक्षण होते हैं। इस तरह वृषणवृद्धि में उक्त प्रधान लक्षणों की सहायता से तथा अन्य अपने अपने सार्वदैहिक लक्षणों का भलीभांति विचार कर रोगनिर्णय करना चाहिये। 'रोगमादौ परीक्षेत'। 'व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानम्'। सर्वतः सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्। ततोऽध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्॥ (चरकः)। First diagnosis then treatment.

उपदंशनिदानम्

तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्य्याद्वा तथाऽतिब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां सङ्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्ष्यसलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशनविषशुक्रनिपातनाद्बन्धनाद्वस्ताभिघाताच्चतुष्पदीगमनादचौक्ष्यसलिलप्रक्षालनादवपीडनाच्छुक्रमूत्रवेगविधारणान्मैथुनान्ते वाऽप्रक्षालनादिभिर्मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते॥१०॥

अधिक मैथुन से, अधिक ब्रह्मचर्य से एवं अधिक दिनों तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण की हुई, चिरकाल से स्वभर्तृ आदि से त्यागी हुई, रजोधर्म से युक्त, बड़े रोमवाली, रूखे लोमवाली, सङ्कीर्ण (अधिक) रोमवाली, योनि में रोम जिसके हों, अल्प या सङ्कुचित योनिद्वार वाली, महा (विस्तृत) योनिद्वार वाली, प्रिय न लगने वाली, मैथुन कराने की अनिच्छा वाली, खराब जल से जिसने योनि प्रक्षालित की हो अथवा जिसकी योनि प्रक्षालित न की हो, योनिरोगों से व्याप्त, स्वभाव से ही जिसकी योनि दुष्ट हो किंवा जिसकी योनि विकृत या दूषित हो ऐसी स्त्री के साथ अत्यधिक मैथुन करने वाले मनुष्य के तथा नख (करज), दांत (दशन), विष और शुक्र के लगने से, लिङ्ग को बाँधने से, हस्तमैथुन के समय आघात लगने से, चतुष्पद वाली पशु जाति की स्त्री के साथ मैथुन करने से, खराब जल से लिङ्ग को धोने से तथा उसका पीडन करने से, शुक्र और मूत्र के वेग को रोकने से तथा मैथुन के अन्त में शिश्न को नहीं धोने आदि अनेक कारणों से प्रकुपित हुये वातादि दोष क्षत (व्रणयुक्त) या अक्षत हुये शिश्न में आकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुये रोग को उपदंश कहते हैं॥ १०॥

विमर्शः—अष्टाङ्गसंग्रह में स्त्रीसम्भोग से निवृत्त का सहसा मैथुन करने को उपदंश में कारण माना है—स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा'। वियोनिहस्तजद्वान्तरमिति डल्हण, या विकृतयोनि (Malformation of the vagina)। विष शूकश्चेति पृथक् किंवा विषयुक्त शुक्र तथा चाष्टाङ्गसंग्रहेऽपि—विषवच्छूकपातनैः। शूक. सजन्तुजलमलः, लिङ्गवृद्धिकरयोगो वेति टल्हण। ऊपरजलेषु बाहुल्येन दृश्यमानो जन्तुतुल्याकृति कश्चिदोषधिविशेष शूक। ते च शूका सविषनिर्विषभेदाद् द्विविधास्तत्र विषवन्तो रोगकारिणस्तथा चोक्तमपि-कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि तु। पातिनानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषत॥ (इन्दुः) वात्स्यायनोक्तकामसूत्रे तु—एवं वृक्षजाना जन्तूना शूकरुपलिप्त लिङ्ग दशरात्र तैलेन मृदित'''स यावज्जीव शूकजो नाम शोफो विटानाम्॥

स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा च॥११॥

यह उपदंश पांच प्रकार का होता है। तीनों दोषों से पृथक् पृथक् तीन, तीनों दोषों के मिलने से चौथा तथा रक्तदुष्टि से पांचवा उपदंश होता है॥ ११॥

तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्तब्धमेढ्रता परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः। पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पक्वोडुम्बरसङ्काशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाश्च। श्लैष्मिके श्वयथुः कण्डूमान् कठिनः स्निग्धः श्लेष्मवेदनाश्च। रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसृक्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं ज्वरदाहौ शोषश्च याप्यश्चैव कदाचित्। सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनमवदरणं च शेफसः कृमिप्रादुर्भावो मरणं चेति॥ १२॥

वातिक उपदंश में कर्कशता, त्वचा में दरारें पड़ना, शिश्न में स्तब्धता (कर्कशता, कठोरता या सुन्नता), रूक्ष शोथ तथा अनेक प्रकार की वातिक पीड़ाएँ होती हैं। पैत्तिक उपदंश में ज्वर, शिश्न में सूजन तथा पके हुये गूलरफल के समान उसका रङ्ग, तीव्र जलन, शीघ्र पाक तथा पैत्तिक (क्षोप-चोषादि) वेदनाएँ होती हैं। श्लैष्मिक उपदंश होने पर शिश्न में शोथ, खुजली, कठोरता, स्निग्धता तथा कफ की वेदनाएँ होती हैं। रक्तजन्य उपदंश में कृष्णवर्ण के स्फोट (फोड़ों) की उत्पत्ति, अत्यधिक रक्त का स्राव, एवं उपर्युक्त पित्तलक्षण तथा ज्वर, दाह तथा मुखशोष ये लक्षण होते हैं एवं कभी-कभी याप्य

भी होता है। सर्व दोषजन्य उपदंश में वातादि सर्व दोषों के लक्षणों का दिखाई देना, शिश्न में दरारें पडना, उसमें कृमियों की उत्पत्ति तथा अन्त में मृत्यु तक होना ये लक्षण होते हैं॥१२॥

विमर्शः—कुछ रोग ऐसे हैं जो कुप्रसङ्ग या मैथुनजन्य (वीनिरियल डिसीजिज Venereal Diseases) कहलाते हैं जैसे उपदंश, फिरङ्ग, पूयमेह या सूजाक, गुह्यवंक्षणीय कर्णार्बुद, वद मुख्य हैं।

(१) उपदंश को सॉफ्ट शॅकर (Soft chancre) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति का कारण ड्यूक्रे बेसीलस (Ducre's Bacillus) नामक जीवाणु है। उपदंशपीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से दूसरे से सातवें दिन के बीच में शिश्न के अग्रचर्म के नीचे मुण्डिका और उसके पीछे की धाई पर स्फोट उत्पन्न होकर कुछ समय में गल के पीडायुक्त व्रण में परिवर्तित हो जाता है। जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अङ्गों पर यह व्रण नहीं होता है। कभी-कभी इस व्रण के साथ फिरङ्ग रोग का व्रण भी उत्पन्न हो जाता है तथा साथ ही ऊरुप्रान्त की लसीका ग्रन्थियां भी बढ जाती है। यह व्रण स्पर्श में मृदु होता है इसीलिये सॉफ्ट शंकर कहा है। इससे कुछ दिनों तक गाढ़ा, पीला तथा रक्तयुक्त पूय बहता रहता है। जिन स्थानों पर इसका स्राव लग जाय वहीं व्रण उत्पन्न हो सकता है। यह स्त्री तथा पुरुष दोनों को होता है—तन्त्रान्तरे विशेष -'मेढ्रसन्धी व्रणा. केचित् केचित् सर्वाश्रया स्मृता। कुलत्थाकृतय केचित् केचिन्मुद्गदलोपमा॥ रजादाहपरीताश्च तृष्णामोहसमन्विता.। शीघ्र केचिद्विसर्पन्ति शनै केचित्तथाऽपरे॥ स्त्रीणा च पुसां जायन्ते उपदंशा सुदारुणा। इस रोग के उत्पन्न होते ही चिकित्सा न करने से शोथ, क्रिमि, दाह, पाक और विशीर्णशिश्न होकर पुरुष की मृत्यु तक हो जाती है—सञ्जातमात्रे न करोति मूढ क्रिया नरो या विषये प्रसक्त.। कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन॥ (माधव नि०)। यही रोग चरक चि० अ० ३० में ध्वजभङ्गकृत क्लैब्य के नाम से वर्णित है।

(२) फिरङ्ग को गरमी या आतशक (Syphylis) कहते हैं। भावप्रकाश ने ही इसका सर्वप्रथम वर्णन निम्न रूप से किया है—फिरङ्गसञ्ज्ञक देशे (पोर्तुगाल) वाहुल्येनैव यद्भवेत्। तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदै॥ गन्धरोग फिरङ्गोऽय जायते देहिना ध्रुवम्। फिरङ्गिणोऽङ्गससर्गात् फिरङ्गिण्या प्रसङ्गत॥ व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र सङ्क्रम। भवेत्तल्लक्षयेद्वैद्यो लक्षणैर्भिषजा वर॥ फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्यो ह्याभ्यन्तरस्तथा। बहिरन्तर्भवश्चापि तेषा लिङ्गानि च ब्रुवे॥ तत्र बाह्य. फिरङ्ग स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्। स्फुटितो व्रणवद्वेध सुखसाध्योऽपि स स्मृत॥ मन्दिरभाभ्यन्तर स स्यादामगत इव व्यथाम्। शोथञ्च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधै स्मृत॥ कार्श्य बलक्षयो नासाभ्यङ्गो वर्द्धश्च मन्दता। अस्थिशोथोऽस्थिवक्रत्व फिरङ्गोपद्रवा अमी॥ बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निम्नवद्रण। आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्य स्याच्यवनामय॥ बहिरन्तर्भवो जीर्ण क्षीणस्योपद्रवैर्युत। व्याधो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनय पुरा॥ फिरङ्ग रोगपीडित व्यक्ति के साथ सम्भोग करने से यह रोग उत्पन्न होता है। इसका कारण ट्रिपोनिमा पालीडम् (Treponema pallidum) नामक पेचदार जीवाणु है जो बालों की रगड़ से या मैथुनजन्य-घर्षण से जननेन्द्रियों की श्लेष्मल त्वचा में उत्पन्न हुये क्षत के द्वारा प्रविष्ट हो जाता है। रोग की प्रथमावस्था में यह जीवाणु व्रण में उपस्थित रहता है। कभी-कभी यह रोग केवल रोगी के सम्पर्क से भी उत्पन्न हो जाता है। व्रण की परीक्षा करने से संक्रामक लोशन द्वारा हाथ ठीक न धोने से चिकित्सकों की अङ्गुलियों, ओष्ठ, स्तन और जिह्वा पर व्रण उत्पन्न होते देखे गये हैं। परिचारिकाएँ भी रोगग्रस्त हो सकती हैं। इस रोग के लक्षणों को चार अवस्थाओं में विभक्त करते हैं।

प्रथमावस्था—सम्भोग के दूसरे या तीसरे सप्ताह में केवल शिश्न पर या शिश्न के अग्रचर्म के भीतर की ओर पीछे की धाई के पास अथवा नीचे की ओर सीवन पर तथा मूत्र-दण्डिका (Urethra) में छिद्र के ओष्ठों के भीतर तथा स्त्रियों में वृहद्भगोष्ठ के भीतरी अङ्ग पर एक छोटा सा दाना पड जाता है जो धीरे-धीरे बढ़ कर फूट जाता है और व्रण बन जाता है। स्पर्श में यह कठिन होता है अतएव इसे कठिन व्रण (Hard chancre हार्ड शॅकर) भी कहते हैं। इस व्रण से केवल लसीका का स्राव होता है जिसमें रोग के जीवाणु होते हैं। व्रण वेदना, पूय और रक्तस्राव रहित होता है। व्रण होने के एक या दो सप्ताह पश्चात् वंक्षण की लसीका-ग्रन्थियां फूलती हैं।

द्वितीयावस्था—में रोग का विष सारे शरीर में रक्त द्वारा फैल जाता है ओष्ठ, जीभ, तालु, कपोल के भीतरी भाग और गले के दोनों ओर की श्लेष्मल कला पर छाले पड़ जाते हैं जो गोल या अर्धचन्द्राकार, बिल्कुल साफ कटे हुये किनारे वाले होते हैं। ग्रीवा, कोहनी तथा कक्षा की लसीकाग्रन्थियां भी फूलती है। ज्वर, सिर तथा जोड़ों में पीडा और रक्ताल्पता आदि सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं।

तृतीयावस्था—प्रथम व्रण बनने के छ माह बाद तथा दो तीन वर्ष बाद में भी प्रारम्भ होती है। त्वचा, उपत्वचा, लसीकाग्रन्थियां, मांसपेशियां, अस्थ्यावरण, मस्तिष्कावरण, यकृत्, प्लीहा, वृषणग्रन्थि आदि अंगों में गांठदार और चपटी ग्रन्थियां बनने लगती हैं जिन्हे गमा (Gumma) कहते हैं। धीरे धीरे इनमें सडान होकर फूट के धूसर वर्ण का पूय बहता है। नासा में गमा होने से वह बैठ जाती है, तालु में होने से वहां छिद्र बन जाता है, मस्तिष्क तथा सुषुम्ना में होने से पक्षाघात, पङ्गुता आदि विकार होते हैं, कान में होने से श्रवण शक्ति तथा आंख में होने से दर्शनशक्ति नष्ट हो जाती है। जिह्वा पर होने से वह फट जाती है।

चतुर्थावस्था—इस अवस्था में फिरङ्ग विष का आक्रमण प्रथमाक्रमण के बाद तीन महीने के भीतर या पचीस तीस वर्ष बाद भी हो सकता है इसमें मस्तिष्क संस्थान पर विशेष प्रभाव होने से यदि प्रारम्भ में उचित चिकित्सा न कीजाय तो General paralysis of the insane (पागलपन) तथा Locomotor ataxia or tabes dorsalis (लड़खड़ा कर चलना) यह अवस्था उत्पन्न होती है। यह भयङ्कर व्याधि है जो इससे पीड़ित व्यक्ति के होने वाली सन्तान को भी कष्ट पहुचाती है। डा० श्री वाणेकर जी ने अपनी सुश्रुत टीका में कुष्ठ के श्लोकों का निम्नरूप से परिवर्तन कर इसकी कुलज-प्रवृत्तिका एक उत्तम फोटो सा खींच कर वर्णन कर दिया है—शुक्रस्थानगते दोषे स्वदारापत्यबाधक। योनिस्थानगते दोषे स्वभर्त्रपत्यबाधक॥ फिरङ्गदोषात् स्त्रीपुसोर्दुष्टशोणितशुक्रयो। यदपत्य तयोर्जात ज्ञेय तच्च फिरङ्गितम्॥

उपदंश-फिरङ्ग-पार्थक्यदर्शककोष्ठक—

उपदंश व्रण	फिरङ्गव्रण
१—सम्भोग के बाद तीसरे दिन दाने पैदा होते हैं।	१—तीसरे सप्ताह में दाना पैदा होता है।
२—अनेक दाने जो कि मृदु तथा पीडायुक्त।	२—एक दाना जो कि कठोर तथा पीडा रहित।
३—सदाहव्रण से पूय-रक्त-लसीका स्राव।	३—निर्दाह व्रण से केवल लसीकास्राव।
४—व्रण और की लसीका ग्रन्थियां बढती हैं, पकती हैं, फूटती हैं।	४—दोनों ओर की लसीकाग्रन्थियां फूलती हैं किन्तु न पकती हैं और न पीडाकर होती हैं।
५—स्रावपरीक्षा में डथ्रूके वेसीलस मिलना है।	५—ट्रिपानिमा पालीडा मिलता है।
६—स्राव का अन्यत्र प्रवेश होने से समान व्रणोत्पत्ति।	६—प्रायः व्रणोत्पत्ति नहीं होती है।
७—स्थानिक धातुनाश के सिवाय सार्वदैहिक लक्षण नहीं होते।	७—स्थानिक विकृति न होकर सार्वदैहिक लक्षण भयङ्कर होते हैं।
८—विसंक्रामक विलयन से साफ करके आयडोफार्म छिडकना। केवल स्थानिक चिकित्सा से ही लाभ हो जाता है। पेनिसीलिन के इंजेक्शन लगा सकते हैं।	८—नियो साल्वर्सन के ६ इंजेक्शन प्रति सप्ताह एक लगाने से तथा केलोमल मरहम व्रण पर लगाने से लाभ होता है।

२—औपसर्गिक पूयमेह, सूजाक (गनोरिया Gonorrhea) इसको उण्ववात समझना भूल है। यह Gonococcus नामक जीवाणु के मैथुन के समय मूत्रमार्ग में प्रवेश कर शोथ पैदा करने से उत्पन्न होता है। मैथुन के २ से ८ दिन के अन्दर शिश्नमणि फूली हुई तथा लाल दिखाई देती है। मूत्र में दाह तथा मूत्रकृच्छ्रता होती है तथा मूत्रमार्ग से रक्तयुक्त पूय का स्राव होता है। उचित चिकित्सा न करने पर पन्द्रह बीस दिन में रोग की तीव्रता कम होकर वह पुराना हो जाता है तथा जीवाणु अन्दर की ओर कौपरग्रन्थि, अण्डीग्रन्थि, वस्ति, वीर्याशय में जाकर वहां शोथ उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जीवाणु रक्त द्वारा सन्धियों में पहुच कर आमवात (गठिया) तथा हृदय में शोथ पैदा करते हैं। स्रावदूषित हस्त के आंखों, नासा और गुदा में लगने से वहां भी शोथ होता है। स्त्रियों में रोग के जीवाणु पूर्व से प्रारम्भ होकर पीछे योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी, डिम्बग्रन्थि तथा उदर में जाकर शोथ पैदा करते हैं। ऐसे स्त्रियों से पैदा होते समय बच्चे की आंखों में पूय के लगने से नवजात नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia Neonatorum) उत्पन्न होकर बालक अन्धा हो जाता है। इससे बालक की आंखों को बचाने के लिये प्रसव के पूर्व उस स्त्री की योनि को विसंक्रामक लोशन से साफ कर लेवें तथा जन्म के बाद बच्चे की आंखें पोंछ कर उनमें २% Silver Nitrate विलयन की एक २ बूंद एक एक आंख में टपका देनी चाहिये। पूयमेह से पुरुष नपुंसक तथा स्त्रियां वन्ध्या तक हो जाती हैं। यह रोग कुब्ज प्रायः नहीं होता है।

(४) लिङ्गार्श—जायन्ते कुपितैर्दोषैर्गुह्यास्रक्पिशिताश्रयाः। अन्तर्बहिर्वा मेढ्रस्य कण्डुला मांसकीलका ॥ पिच्छिलास्रस्रवा योनौ तद्वच्च च्यवसन्निभा। तेऽर्शांस्युपेक्षया घ्नन्ति मेढ्रपुंस्त्वभगार्तवम् ॥ यह रोग गुह्यवंक्षणीय कर्णार्बुद (Granuloma genito inguinale) के साथ मिलता हुआ है।

(५) वट (Climatic bubo, lympho-granuloma) यह भी मैथुनजन्य व्याधि है। इसमें केवल जंघाओं की ग्रन्थियों में शोथ तथा पाक होता है और अन्त में वे पक कर फूट के बहती हैं। जननेन्द्रिय पर कोई दाना या व्रण पैदा नहीं होता है। वंक्षणरोग के लक्षण इससे मिलते-जुलते हैं।

अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनाच्चिरेण गतः। करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणमन्धिषु ॥ ज्वरशूलान्नसादास्त्र तं वङ्क्षणमिति निर्दिशेत् ॥

श्लीपदनिदानम्

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं श्लीपदमित्याचक्षते। तत् त्रिविधं—वातपित्तकफनिमित्तमिति ॥ १३ ॥

मिथ्या आहार-विहार से कुपित हुये वात-पित्तादि दोष नीचे की ओर जाकर वंक्षण, ऊरु, जानु तथा जंघा इन स्थानों में अवस्थित होकर कुछ समय पश्चात् पांव का आश्रय करके धीरे धीरे उसमें सूजन उत्पन्न करते हैं, उस शोफ को श्लीपद कहते हैं। वह श्लीपद वात, पित्त और कफ के कारण तीन प्रकार का होता है ॥ १३ ॥

विमर्श—इस रोग में पांव शिला के समान हो जाते हैं अत एव इसका नाम श्लीपद रखा गया है—'शिलावत् पदमिति श्लीपदम्'। 'शनैः शनैर्वर्धन शोफः श्लीपद तत्प्रचक्षते'। (अ० संग्रह)। यः सज्वरो वङ्क्षणजो गृध्राणि शोथो नृणा पादगतः क्रमेण। तच्छ्लीपद स्यात्करकर्णनेत्र-शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहु ॥ (माधवनिदानम्)। श्लीपद को हिन्दी में फीलपांव, हाथीपांव तथा डाक्टरी में इलिफेन्टियासिस (Elephantiasis) अथवा फायलेरियासिस (Filariasis) कहते हैं। यह श्लीपदकृमि (Filaria) के उपसर्ग से होने वाला रोग है जो क्यूलेक्स फेटिजिन्स मच्छर के काटने से होता है तथा जिसमें कृमि के अवस्थान करने से शरीर के विविध अङ्गों के लसीकाप्रवाह (Lymph circulation) में बाधा उत्पन्न होकर अनेक उपद्रव पैदा होते हैं। प्रायः ये कृमि मच्छरी में निवास करते है तथा उसके काटने से या मच्छर के पानी में मर जाने से उसमें स्थित कृमि जल पीते समय मनुष्य के अन्नमार्ग द्वारा या उस पानी में स्नान करते समय या कपडा धोते समय या मलोत्सर्ग के बाद उस पानी से अंग धोते समय या उस पानी में चलते समय ये कृमि उस मनुष्य की त्वचा में छेद करके शरीर में प्रवेश करते हैं। इसीलिये जलभूयिष्ठ स्थानों में यह रोग अधिक होता है—श्लीपद जायते तच्च देशेऽनूपे भृश श्रमात्। (अ० सं०)। पुराणोदकभूयिष्ठा सर्वर्तुषु च शीतलाः। ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि

विशेषन ॥ (सुश्रुतः)। भारतवर्ष में बंगाल, उड़ीसा, त्रावणकोर, कोचीन और मलाबार में अधिक होता है। बिहार तथा यू० पी० में मध्यम मात्रा में होता है तथा सिन्ध, राजस्थान, काश्मीर और मध्यभारत में प्रायः नहीं होता है। शरीर में उक्तमार्गों से प्रवेश के बाद इनका मुख्य निवास लसीका-ग्रन्थियों, लसीकावाहिनियों तथा रसकुल्या में होता है। यहां स्त्रीकृमि असंख्य बच्चे पैदा करती है जो रसरक्त-वाहिनियों में भ्रमण करते रहते हैं। ये कृमि सन्ध्या के समय से त्वचा के रक्त में उपस्थित होने लगते हैं जो मध्यरात्रि तक प्रचुर मात्रा में हो जाते हैं पुनः कम होकर दिन में फेफड़े, वृक्क तथा रक्त-वाहिनियों में चले जाते हैं। जब इन कृमियों की अधिकता के कारण जिस स्थान का लसीकाप्रवाह बन्द होता है तब वहां लसीका-सञ्चय होकर वह स्थान दुर्बल (जीवाणु प्रतिरोध-शक्तिहीन) हो जाता है जिससे वहां स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टेफिलोकोकाय का उपसर्ग होकर शोथ होने लगता है जिससे वहां का चर्म कठिन और मोटा हो जाता है। कृमिविष के कारण ज्वर, वमन, शीतपित्त तथा असह्यता आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। श्लीपद के दौरे बार बार नियत समय पर आया करते हैं उस समय वंक्षण, वृषण, पांव आदि जहां भी विकृति हो वहां शोथ भी बढता रहता है। इस तरह बार बार के दौरों से वह स्थान मोटा पड़ता जाता है। उदर की रसायनियों में कृमि के होने से वहां उदरगुहा में रससञ्चय होकर जलोदर, बस्ति में आने पर पिष्टमेह, आन्त्र में आने पर अतिसार आदि उपद्रव भी होते रहते हैं।

तत्र, वातजं खरं कृष्णं परुषमनिमित्तानिलरुजं परिस्फुटति च बहुशः। पित्तजं तु पीतावभासमीषन्मृदुज्वरदाहप्रायं च। श्लेष्मजं तु श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितं च १४

वातजादि-श्लीपद-लक्षण—वातजन्य श्लीपद जिस अङ्ग में उत्पन्न होता है वह अङ्ग स्पर्श में खुरदरा, वर्ण में काला, कठिन, बिना कारण ही वेदनायुक्त तथा अनेक दरारों से युक्त हो जाता है। पित्तजन्य श्लीपद में वह स्थान देखने में पीला सा, कुछ मुलायम तथा ज्वर और दाहयुक्त होता है। श्लेष्मा से उत्पन्न श्लीपद में वह स्थान श्वेत, चिकना सा, मन्द पीडायुक्त, भारी ग्रन्थिल तथा कण्टकों (अङ्कुरों) से व्याप्त होता है ॥ १४ ॥

तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकजातं प्रसृतमिति वर्जनीयानि ॥ १५ ॥

असाध्य लक्षण—जो श्लीपद एक वर्ष का पुराना हो गया हो, वल्मीक के समान अनेक शिखरादि से युक्त हो तथा प्रसृत (फैलने वाला या स्रावयुक्त) हो वह वर्जनीय है ॥१५॥

विमर्श—प्रसृत से यहां त्वचा विदीर्ण होने पर लसीका स्राव होने लगता है अतएव स्रावयुक्त अर्थ ही ठीक है। सपरिस्रुति (अ० स०)। पिच्छिलजलस्रवणमितीन्दुः।

भवन्ति चात्र—

त्रीण्यप्येतानि जानीया-
च्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च
यस्मान्नास्ति विना कफात्॥ १६ ॥

यद्यपि ऊपर वात, पित्त तथा कफ से तीन प्रकार के श्लीपद कह आये हैं किन्तु ये तीनों कफ की अधिकता होने ही से उत्पन्न होते हैं क्योंकि कफ के बिना अङ्ग में भारीपन तथा मोटापन हो नहीं सकता है ॥ १६ ॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः॥ १७॥

जिन देशों में गर्त, तालाब आदि में पुराना पानी भरा रहता है तथा जो देश सभी ऋतुओं में शीतल ही रहते हों उनमें विशेष रूप से श्लीपद रोग हुआ करते हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—पुराणोदकभूयिष्ठ अनूप देश होता है। वहां जल भरा ही रहता है जैसा कि मधुकोष व्याख्या में भी लिखा है—अनूपदेशे सलिल पतित बहूदक निम्नतया न शोषमुपयाति। चरक मत से अनूपदेश नदी-समुद्र-समीपवर्त्ती माना है—सरित्समुद्रपर्यन्तप्राय'। ऐसे देश में मच्छर तथा उनके अण्डे अधिक हुआ करते हैं अतः वहां यह रोग ज्यादा होता है।

पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम्।
कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः॥ १८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वृद्धयुपदंशश्लीपदनिदानं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

श्लीपद स्थान—यह रोग जैसे पैरों में होता है उसी तरह मनुष्यों के हाथों में भी उत्पन्न होता है तथा कई श्लीपद रोग के विद्वान इस रोग को कर्ण, नेत्र, नासिका तथा ओष्ठों में भी होना मानते हैं ॥ १८ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां निदानस्थाने वृद्धयुपदंशश्लीपदनिदानं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातः क्षुद्ररोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर क्षुद्र रोगों के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१-२॥

समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगाः भवन्ति। तद्यथा—अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीकम्, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभः, जालगर्दभः, कक्षा, विस्फोटकः, अग्निरोहिणी, चिप्पं, कुनखः, अनुशयी, विदारिका, शर्कराऽर्बुदम्, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदरम्, अलसेन्द्रलुप्तौ, दारुणकः, अरुंषिका, पलितं, मसूरिका, यौवनपिडका, पद्मिनीकण्टको, जतुमणिः, मशकः, चर्मकीलः, तिलकालकः, न्यच्छं, व्यङ्गः, परिवर्त्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकशः, सन्निरुद्धगुदः, अहिपूतनं, वृषणकच्छूः, गुदभ्रंशश्चेति॥ ३॥

संक्षेप से क्षुद्र रोग चव्वालीस होते हैं जैसे—अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीक, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभ, जालगर्दभ, कक्षा, विस्फोटक, अग्निरोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुद, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदर, अलस, इन्द्रलुप्त, दारुणक, अरुंषिका, पलित, मसूरिका, यौवनपिडका, पद्मिनीकण्टक, जतुमणि, मशक, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, परिवर्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अर्हिपूतन, वृषणकच्छू तथा गुदभ्रंश ॥ ३ ॥

विमर्शः—संख्यादृष्टि से वाग्भट ३६, तथा माधवकर ने ४३ क्षुद्ररोग माने हैं। इसी तरह भोजने भी मूषिकाकर्णमुष्ककोशफलार्श प्रभृति अधिक क्षुद्ररोग लिखे हैं। वाग्भट ने निम्न क्षुद्ररोग अधिक माने हैं—(१) गर्दभी—नाग्रामेव च गर्दभी मण्डला विपुलोत्सन्ना सरागपिटिकाचिता॥ (२) गन्धनामा—पित्ताद्भवन्ति पिटिकाः सूक्ष्मा लाजोपमा घना.। तादृशी महता त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता ॥ (३) राजिका—घर्मस्वेदपरीतेऽङ्ग पिटिका सरुजो घना. ॥ राजिकावर्णसंस्थानप्रमाणा राजिकाह्वया ॥ (४) प्रसुप्तिः—वायुनोदीरित. श्लेष्मा त्वच प्राप्य विशुष्यति। ततस्त्वग्जायते पाण्डु क्रमेण च विचेतना॥ अल्पकण्डूरविक्लेदा सा प्रसुप्ति प्रसुप्तिनः ॥ (५) इरिवेल्लिका—त्रिलिङ्गा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका माधवनिदानेऽपि—पिडिकामुत्तमाङ्गस्था वृत्तामुग्ररुजान्वराम्। सर्वोत्मिका सर्वलिङ्गा जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥ (६) उत्कोठ, (७) कोठ—असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः। मण्डलान्यतिकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च। उत्कोठ सोऽनुवद्धस्तु कोठ इत्यभिधीयते ॥ यह अर्टिकेरिया (Urticaria) हो सकता है। उत्कोठ को डाक्टरीमें अलर्जी (Allergy) का एक लक्षण माना है। यह खटिकको कमी, क्विनाइन, संखिया आदि के सेवन, उदरस्थ कृमि तथा मानसिक उत्तेजनाजनक परिस्थिति इन कारणों से उत्पन्न होता है। इस रोग में विभिन्न स्थानों पर मण्डल (Wheals) उत्पन्न होते हैं तथा शीघ्र उत्पत्ति और पुनः अदर्शन इनका मुख्य लक्षण है। वह स्थान रक्तवर्ण या गुलाबी वर्ण का तथा उत्सेधयुक्त हो जाता है। कुछ खुजली चलती है। वरटीदष्टकण्डुमाल्लोहितोऽल्पकफपित्तात्। क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते जनैः ॥ (भालुकितन्त्रे)

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा ग्रन्थिसन्निभा।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ॥ ४ ॥

अजगल्लिका—स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण वाली, गांठ युक्त, वेदनारहित, मूंग के प्रमाण की, कफ और वात से उत्पन्न होने वाली बालकों की पिडिका को कहते हैं ॥ ४ ॥

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ ५ ॥

यवप्रख्या—जौ के समान आकार वाली, स्पर्श में अधिक कठिन, गांठदार तथा मांस में होने वाली कफ और वात से उत्पन्न पिडिका को कहते हैं ॥ ५ ॥

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥ ६ ॥

अन्धालजी—कठिन, मुखरहित, ऊंची उठी हुई, मण्डल युक्त या गोल तथा जिसमें पूय कम हो एवं कफ और वात से उत्पन्न पिडिका को अन्धालजी कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—वाग्भट ने इसको अलजी नाम से तथा माधवकर और भोज ने इसे अन्त्रालजी नाम से लिखा है—श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायु पिडका परिमण्डलाम् दुष्टौ जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसङ्काशां विद्यादन्त्रालजीन्तु ताम् ॥

विवृतास्यां महादाहां पक्वोडुम्बरसन्निभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥७॥

विवृता—जिसका मुख चौड़ा हो, जिसमें अत्यधिक जलन होती हो तथा पके हुये गूलर के फल के समान वर्ण वाली एवं चारों ओर जिसके मण्डल हो या जो गोल हो एवं पित्त से उत्पन्न हुई पिडका को विवृता कहते हैं ॥ ७ ॥

ग्रन्थयः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोन्नताः।
कफानिलाभ्यामुद्भूतां विद्यात्तां कच्छपीमिति ॥८॥

कच्छपी—कफ और वायु के प्रकोप से उत्पन्न, कच्छप के समान मध्य में ऊंची उठी हुई, पांच या छः भयङ्कर पीड़ा देने वाली ग्रन्थियों को कच्छपी कहते हैं ॥ ८ ॥

पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि।
ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते ॥ ९ ॥
तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृतः।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥ १० ॥

कफ, पित्त तथा वात से हस्त और पादतल में, सन्धियों, ग्रीवा और जत्रु (हसली) के ऊपर वल्मीक के स्वरूप की धीरे धीरे बढी हुई गांठ जो कि सूई चुभोने की सी पीड़ा, क्लेद (स्राव), दाह और खुजली से युक्त व्रणों से व्याप्त हो ऐसी व्याधि को वल्मीक कहते हैं ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—माधवोक्तविशिष्ट वल्मीक-लक्षण—मुखैरनेकैः स्रुतितोदवह्निर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः। वल्मीकमाहुर्भिषजो विकार निष्प्रत्यनीकं चिरज विशेषात् ॥ वल्मीक का साम्य Actinomycosis and mycetoma or madura foot इन रोगों के साथ हो सकता है।

पद्मपुष्करवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्।
इन्द्रवृद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ ११ ॥

इन्द्रवृद्धा-वर्णन—वात तथा पित्त के प्रकोप से उत्पन्न तथा कमल की कर्णिका के आकार की भांति छोटी छोटी फुन्सियों से व्याप्त ऐसी पिडिकाएं जिसमें हों उसे इन्द्रवृद्धा जानो ॥११॥

कर्णोपरि समन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक्।
शालूकवत्पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् ॥१२॥

पनसिका-वर्णन—दोनों कानों पर या उनके चारों ओर अथवा पीठ पर शालूक (कमलकन्द) की आकृति की तथा तीव्रपीड़ा वाली एवं कफ और वायु से उत्पन्न पिडिका को पनसिका जानो ॥ १२ ॥

हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम्।
पाषाणगर्दभं विद्याद्वलासपवनात्मकम् ॥ १३ ॥

पाषाणगर्दभ-वर्णन—कफ तथा वायु के प्रकोप से हनुसन्धि

प्रदेश में उत्पन्न, अल्पपीड़ा वाले स्थिर (कठिन) शोथ को पाषाणगर्दभ जानो ॥ १३ ॥

विमर्श—पाषाणवत् कठिन्यात्पाषाणगर्दभः। (मधुकोषः) यह कर्णमूलिकलालाग्रन्थि (Parotid gland) के अर्बुदों जैसे एडिनोमा (Adenoma), फाईब्रोमा (Fibroma), इण्डोथिलियोमा (Endothelioma) में से कोई एक हो सकता है। इसको कर्णमूलिक शोथ अथवा कर्णफेर (Epidemic parotitis or mumps) मानना अनुचित है क्यों कि पाषाणगर्दभ में ज्वर नहीं होता किन्तु कर्णफेर में ज्वर होता है, पाषाणगर्दभ एक तरफ पीडारहित, स्पर्श में कठिन तथा धीरे-धीरे बढने वाला होता है किन्तु कर्णफेर या मम्प्स् दोनों तरफ, स्पर्श में मुलायम तथा शीघ्र बढने वाला होता है।

विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः।
अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः॥ १४ ॥

जालगर्दभ वर्णन—पित्त की प्रबलता से उत्पन्न तथा विसर्प के समान फैलने वाला एवं दाह और ज्वर युक्त कुछ पाक युक्त शोथ को जालगर्दभ जानना चाहिये ॥ १४ ॥

विमर्श—जालगर्दभ में वात-रक्त मन्द होते हैं तथा पित्त प्रबल होता है जैसा कि चरक ने भी लिखा है—मन्दास्तु पित्तप्रबला प्रदुष्टा दोषा मुनीन्द्रैर्तनुरक्तपाकम्। (चरक)। भोज ने इसे विसर्प माना है—'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः। व्याप्य रक्तं तनु शोथमपाकं प्रबलवेदनम्॥ विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम्। विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्॥

बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत्॥ १५ ॥

कक्षावर्णन—पित्त के प्रकोप से बाहु, पार्श्व, अंस (स्कन्धप्रदेश) तथा कक्षा (Axilla) इन स्थानों में उत्पन्न तथा वेदनायुक्त कृष्ण स्फोट को कक्षा समझनी चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्श—क्षुद्र पुस्तकों में १५ वें श्लोक के पश्चात्—पिडिकामुक्तमात्रस्थां वृत्तामुग्रज्वराम्। सर्वात्मिका सर्वलिङ्गा जानीयादिन्द्रविल्लिकाम्॥ ऐसा अधिक पाठान्तर है किन्तु क्षुद्ररोगोक्त रोगगणना में इन्द्रविल्लिका का पाठ सुश्रुत में न होने से यहां मूल में उसे नहीं माना है। कक्षारोग का हर्पिस झोस्टर (Herpes zoster) के साथ मिलान हो सकता है। चरक ने—'यशोपचीनप्रभवा' प्रभूता पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः' तथा अष्टांगसंग्रहकार ने—कक्ष्येति कक्षासन्धिषु प्रायो देशेषु सानिलात्। पित्ताद्भवन्ति पिटिका सूक्ष्मा लाजोपमा घनाः॥ कक्षा को वातपित्तजन्य मानी है। सुश्रुतीय कक्षा के लक्षण वाग्भट तथा माधव की गन्धनामा से मिलते हैं जैसे—एकामेवविधां दृष्ट्वा पिटिकां स्फोटसन्निभाम्। त्वग्गता पित्तकोपेन गन्धनामा प्रचक्षते॥

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्ततः।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति॥ १६ ॥

विस्फोटक—रक्त तथा पित्त के प्रकोप से शरीर के किसी एक प्रदेश पर अथवा सारे शरीर पर अग्नि के जलने से जैसे स्फोट (फफोले) उत्पन्न हो जांय तथा ज्वर भी हो तब उन्हें विस्फोट कहते हैं ॥ १६ ॥

विमर्श—विस्फोटक रोग को बुलस इरप्शन (Bullous eruptions) किंवा पेम्फीगस (Pemphigus) कह सकते हैं। माधवोक्त विस्फोटकवर्णन यथा—कटूष्णतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनानपेक्ष्य। तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषा पवनादयस्तु॥ त्वचमाश्रित्य ते रक्तमासाम्बूनि प्रदूष्य च। घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वाङ्गव्यापिनः सरुजान्॥

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः॥ १७ ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम्।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः॥ १८ ॥

अग्निरोहिणी—कक्षा प्रदेश में मांस को विदीर्ण करने वाले तथा प्रदीप्त अग्नि के समान अन्तर्दाह और ज्वरकारक स्फोट उत्पन्न होते हैं। ये स्फोट सात दिन में, या दस दिन में अथवा एक पक्ष में मनुष्य को मार देते हैं। इस प्रकार सन्निपात से उत्पन्न उस असाध्य रोग को अग्निरोहिणी जानो॥

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्॥१९॥
तदेव क्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि॥२०॥

चिप्प—पित्त और वात नखमांस में अधिष्ठान करके पीडा, जलन और पाक उत्पन्न करते हैं उसे चिप्प रोग कहते हैं तथा उसी को क्षतरोग और उपनख भी कहते हैं ॥१९-२०॥

विमर्श—चिप्प को ओनिक्रिया पस्लेण्टा (onychia purulenta) कह सकते हैं। नखमांस (Nail-matrix) में क्षतादि होने से स्ट्रेप्टो स्टेफिलोकोकाय का उपसर्ग हो कर शोथ और पाक होता है। चरकोक्त क्षतरोगवर्णन—रोगः क्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मासान्नदूषी मृदुशीघ्रपाकः॥ यह पारोनिकिया अथवा व्हिटलो (Paronychia or whitlow) है।

अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः।
भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम्॥ २१ ॥

कुनखवर्णन—चोट लगने से प्रदुष्ट हुआ नख रूक्ष, काला और कठिन (खुरदरा) हो जाता है उसे कुनख (onychogryphosis) जानो तथा उसी को कुलीन भी कहते हैं ॥२१॥

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम्।
कफादन्तःप्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक्॥ २२ ॥

अनुशयी—कफ के प्रकोप से गहरी धातुओं में उत्पन्न, स्वल्प शोथयुक्त, त्वचा के समान वर्ण की शरीर के ऊर्ध्वप्रदेश में स्थित एवं भीतरी भाग में पकने वाली पिटिका को वैद्य अनुशयी जाने ॥ २२ ॥

विदारीकन्दवद् वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्॥ २३ ॥

विदारिका—वात-पित्तादि सर्व दोषों से उत्पन्न अतएव सभी दोषों के लक्षणों से युक्त तथा विदारीकन्द के समान गोल और कक्षा एवं वंक्षण की सन्धि में स्थित लालरंग की पिडिका को विदारिका जानो ॥ २३ ॥

विमर्श—यह कक्षा वंक्षण प्रदेश की लसीका-ग्रन्थियों का शोथ है। चरक ने इसे वात-कफजन्य मानी है—ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या। विदारिका सा कफमारुताभ्याम्।

प्राप्य मांससिरास्नायुः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।
ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥२४॥
स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ।
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् पुनः ॥ २५ ॥
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।
स्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥ २६ ॥

शर्करार्बुद-कफ, मेद और वात ये मांस, सिरा और स्नायु में प्रविष्ट हो कर गांठ पदा करते हैं फिर वह गांठ फूट कर शहद, घृत और वसा (चरबी) के सदृश अत्यधिक मात्रा में स्राव बहाती है। इस प्रकार उस विदीर्ण हुई ग्रन्थि में वायु विवृद्ध हो कर मांस को सुखा के ग्रन्थियुक्त शर्करा को उत्पन्न कर देती है फिर उसकी सिराएं दुर्गन्धित एवं अत्यधिक क्लिन्न और अनेक प्रकार के रंग का स्राव अकस्मात् बहाती हैं उसे शर्करार्बुद जानो ॥ २४-२६ ॥

विमर्शः—भोजोक्त शर्करार्बुद—तमेव भिन्न दुर्गन्धं घृतमेदोनिभ सिरा. । स्रवन्ति स्रावमनिश तदा स्याच्छर्करार्बुदम् ॥ शर्करार्बुद का साम्य Cook's peculiar tumour के साथ हो सकता है।

पामाविचर्च्यौ कुष्ठेषु रकसा च प्रकीर्त्तिता ॥ २७ ॥

पामा, विचर्चिका तथा रकसा इनका कुष्ठ रोग में वर्णन कर दिया है ॥ २७ ॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।
पादयोः कुरुते दारी सरुजां तलसंश्रिताम् ॥ २८ ॥

पाददारी—जो मनुष्य सदा घूमता-फिरता है उसके अत्यन्त रूक्ष हुये दोनों पावों में तलवों के आसपास किनारों पर (एड़ी में) वायु पीडाजनक दरारें कर देता है उसे पाददारी (विवाई या विपादिका Rhagades) कहते हैं ॥ २८ ॥

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम् ॥ २९ ॥
सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा ।
कोलमात्रः सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु सः ॥ ३० ॥

कदर—चलते-फिरते समय शर्करा (रेत, कंकड़, पत्थर) आदि से वार-वार चोट या टक्कर खाने पर अथवा कांटे आदि से क्षत होने पर मेद तथा रक्त का अनुसरण करते हुये कुपित दोषों से मनुष्यों के पांव में जो कीलयुक्त तथा स्पर्श में कठिन एवं चारों ओर से निम्न किन्तु मध्यभाग में उन्नत (उठी) हुई तथा बेर के स्वरूप की पीडादायक गांठ उत्पन्न होती है और फूटने या काटने पर जिससे स्राव बहता है उसे कदर कहते हैं॥

विमर्शः—भोज ने इस कदर का मांसकील नाम रखा है तथा हाथ और पांव दोनों में होना लिखा है—हस्तयो पादयोश्चापि गम्भीरानुगत खरम् । मासकील जनयत कुपितौ कफमारुतौ ॥ मशल्यमिव तं देश मन्यते तेन पीडित । शर्करा कदर केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम् ॥ कदर को कॉर्न (Corn) कहते है। किसी भी स्थान पर अधिक दबाव पड़ने से वहा की त्वचा की सेलों में वृद्धि हो कर यह पैदा होता है।

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विनिर्दिशेत् ॥ ३१ ॥

अलस—वर्षा ऋतु में अथवा जहां पानी सदा बहता हो ऐसे स्थानों में खराब कीचड का अत्यधिक सम्पर्क होने से जब पावों की अङ्गुलियों के बीच के स्थानों (अङ्गुल्यन्तर) में क्लेद (चिपचिपापन), खुजली, जलन और पीड़ा होने लगती है, तब उसे अलस (चिल्ब्लेन Chilblain) कहते हैं ॥ ३१ ॥

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥ ३२ ॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते ॥ ३३ ॥

खालित्य—वात के साथ मिला हुआ पित्त रोमकूपों में जा कर बालों को गिरा देता है तथा इसके अनन्तर रक्त के साथ मिला हुआ कफ रोमकूपों (छिद्रों) को बन्द कर देता है जिस से उस स्थान में दूसरे बाल पैदा नहीं होते हैं इसी को इन्द्रलुप्त, खालित्य तथा रुज्या कहा जाता है ॥ ३२-३३ ॥

विमर्श—इन्द्रलुप्त को गंज (अलोपेसिया (Alopecia) कहते हैं। सुश्रुत ने इन्द्रलुप्त, खालित्य तथा रुज्या को एक ही रोग माना है किन्तु वाग्भट ने बालों का सहसा गिरना इन्द्रलुप्त और धीरे धीरे गिरना खालित्य माना है—खलतेरपि जन्मैव शातन तत्र तु क्रमात् । (अ० सं०)। रुज्या को वाग्भट में रुढया तथा माधव ने रुह्या तथा वाग्भट ने इसका चाच पर्याय भी लिखा है। 'तदिन्द्रलुप्त रुढया च प्राहुश्चाचेति चापरे' किन्तु कार्तिक ने दाढी-मूछ का गिरना इन्द्रलुप्त, शिर के बालों का गिरना खालित्य और सर्व देह के बालों का गिरना रुह्या माना है। मधुकोषटीकाया कार्तिकस्त्वाह—इन्द्रलुप्त श्मश्रुणि भवति खालित्य शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे-इति। आगमस्त्वत्र नास्ति। खलतिरोग स्त्रियों में नहीं होता है—अत्यन्तसुकुमाराङ्ग्यो रजो दुष्ट स्रवन्ति च। अव्यायामरता यस्मात्तस्मान्न खलति स्त्रियाम् ॥

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥ ३४ ॥

दारुणक—कफ तथा वायु के प्रकोप से केशों का स्थान स्पर्श में कठिन (दारुण), कण्डुयुक्त, रूक्ष तथा दरारों (चर्म में तेढें या चीरे से पडने सी रचना) से युक्त हो जाता है तब उसे दारुणक जानो ॥ ३४ ॥

विमर्श—दारुणक का साम्य Seborrhoea capitis or Pityriasis capitis के साथ हो सकता है। शिरःकपाल में इस रोग के अधिकतर होने से अष्टाङ्गसंग्रह मे इसका समावेश शिरोरोगों में किया गया है—कण्डुकेशच्युतिस्त्वापरीष्यकृत स्फुटन त्वच । सूक्ष्मदम कफवाताभ्या विद्याद्दारुणकन्तु तम् ॥ विदेह ने इस रोग मे पित्त और रक्त का भी सम्बन्ध या कारण माना है—यदत्र पटलाभास सरुजस्क शिरस्त्वचि । परुष जायते जन्तोस्तस्य रूप विशेषतः ॥ तोदै समन्वित वातात् सकण्डूगौरव कफात् । सपिपास सदाहार्तिरागं पित्तात्तजं तथा ॥' इत्यत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्तिं तु रक्तात्, अर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवतीति श्रीकण्ठः।

अरुंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदानि मूर्धनि।
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंपिकाम् ॥ ३५ ॥

अरुंपिका—कफ, रक्त तथा कृमि इनके प्रकोप के कारण मनुष्यों के शिर में अनेक छोटे छोटे मुखवाली तथा अत्यधिक स्रावयुक्त पिटिकाएं हो जाती हैं उन्हें अरुंपिका (एजिमा आफ दी फेस एण्ड स्काल्प Eczema of the face and scalp) जानो ॥ ३५ ॥

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ ३६ ॥

पलित—क्रोध, चिन्ता तथा श्रम से पैदा हुई शरीर की उष्णता तथा पित्त शिर में जाकर बालों को पका देते हैं उससे पलित (बालों का सफेद होना) रोग होता है ॥ ३६ ॥

विमर्शः—चरक ने पलित रोगोत्पत्ति में वातादि को भी कारण माना है—तेजोऽनिलाभ्यां सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्याद् पलितं नरस्य। किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरित्प्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम् ॥ किन्तु सुश्रुत ने व्यपदेशस्तु भूयसा' इस नियम के अनुसार पित्त को ही इसमें प्रधान माना अतः अन्य दोष का निर्देश नहीं किया ऐसे कोई भी रोग बिना त्रिदोष के या एक दोष से होते नहीं 'न रोगोऽस्त्येकदोषज'।

दाहज्वररुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः।
गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः ॥ ३७ ॥

मसूरिका—सारे शरीर में तथा मुंह और गले के भीतर पीलापन लिये हुए ताम्र (रक्त) वर्ण के स्फोट जो कि शरीर के भीतर दाह, ज्वर और पीडा के जनक हों उन्हें मसूरिका जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

विमर्शः—मसूरिका-मसूर के समान आकार तथा वर्ण की पिटिकाएं इस रोग में होती हैं अतएव इसका नाम मसूरिका पड़ा है—मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्सदृशा पिटिका घना (अ० सं०)। चरक ने भी ऐसा ही माना है—या सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिका पित्तकफात् प्रदिष्टा। इस रोग को लोक में माता या चेचक तथा शास्त्र में शीतला, मसूरिका या वसन्त रोग कहा है एवं डाक्टरी में इसे स्माल पाक्स (Small pox) अथवा वेरिओला (Variola) कहते हैं। सुश्रुत, चरक, वाग्भट ग्रन्थों में इसे क्षुद्ररोगों में रख कर संक्षेप से लिखा है जिससे उनके समय में इस का वर्तमान सा प्रकोप नहीं होता रहा होगा ऐसा जान सकते हैं। संहिता ग्रन्थों के बाद माधवकर ने मसूरिका नाम से तथा भावप्रकाशकार ने अपने अपने ग्रन्थों में इसका स्वतन्त्र तथा विस्तृत वर्णन किया है किन्तु अन्य टीका ग्रंथों में दिये हुए प्राचीन विस्तृत वर्णनों से भी स्पष्ट है कि यह रोग सुश्रुतादि के पूर्व ही से भयङ्कर रूप में होता रहा था—माधव तथा उत्तर का निम्न वर्णन है—पित्तं शोणितसंसृष्टं त्वचं दूषयते यदा। करोति पिटिका घोरा सर्वगात्रेषु देहिनाम्॥ तिलसर्षपमाषाणां निष्पावाणां तथैव च। तुल्यप्रमाणसंस्थाना ज्वरदाहसमन्विताः॥ विद्यान्मसूरिकामेता पिटिका रक्तपित्तजाः॥ अष्टौ भेदा'—मसूरिका सर्षपिका अजका कोद्रवस्तथा। कङ्कुविस्फोटकोऽग्नी विसर्पो चाष्टमो स्मृतः॥ सोपकण्ठज्वरा ताम्रा बहुनामाकुलैर्मसूरिकाम्। सर्षपाकृतिभिर्विद्यात् दाहपाकसमन्विताम्॥ रक्ताभमुखा तु माध्या विज्ञेया सर्षपिका बुधैः। कलायसदृशा गात्र शाखापर्वास्थिशोफिनीम्॥ दाहक्लेदव्रणामूत्रुजका श्लेष्मपित्तजाम्। कोद्रव कोद्रवाकार रक्तपित्तसमुद्भवम्॥ कङ्कोस्तण्डुलसङ्काशैर्निरन्तरविसर्पिभिः। स्फोटैः श्लेष्मसमुद्भूतैरापूर्णं कङ्कुरिष्यते॥ अग्निदग्धंरिव स्फोटैः सङ्कीर्णं कफरक्तजं। निर्विपाको विसर्पस्तु विस्फोटक इति स्मृत॥ अपाकं विरलं शुष्कं जायते मृत्युसन्निभम्। विसर्पवत् सर्पति सर्वगात्रे शोफान्विता च ज्वरदाहयुक्ता। विसर्पिणी कायसमानवर्णा कोलोपकल्पा कफरक्तजास्तु। भरद्वाजोक्तनवभेदा—पृथग्दोषससर्गसन्निपातरक्तविषदुष्टप्रसवाग्राणज्ञत्वभेदेनास्या नवविधत्वमाख्यातवान् भरद्वाज। वृद्धकाश्यपोक्तषड्भेदा—पृथग्दोषसन्निपातरक्तागन्तुजत्वभेदेन षड्विधत्वमाह वृद्धकाश्यपः। माधवकर ने वात, पित्त, रक्त, कफ तथा सर्वदोषज एवं द्वन्द्वज भेद लिखे हैं तथा त्वचा (या त्वगाश्रितरूप) रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सप्तधातुओं के आधार भेद से दोषज मसूरिका के सात भेद किये हैं 'दोषभिश्रास्तु सप्तेता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः' भावप्रकाश में मसूरिका तथा शीतला भिन्न २ मानी है। दोषानुसार वातज, पित्तज, रक्तज, कफज और सर्व (त्रि) दोषज ऐसे पांच भेद तथा रसादि-शुक्रान्त आश्रय भेद से सात प्रकार की मसूरिका मानी है। मसूरिका ही जब शीतला नामक देवी से आक्रान्त हो जाय तो उसे शीतला कहते हैं। 'देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्येव हि शीतला' इसको डाक्टरी में चिकन पाक्स या वेरिसेला (Chicken pox or varicella) कहते हैं। भावप्रकाश ने इसके सात भेद माने हैं (१) बृहती-शीतला—ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत्। सप्ताहाद्विंशरत्येव सप्ताहात् पूर्णता व्रजेत् ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यन्ति स्खलति स्वयम्॥ (२) कोद्रव शीतला, (३) पाणिसहा, (४) सर्षपिका, (५) राजिकाकृति, (६) बहुस्फोटा, (७) चर्मजा—एकस्फोटा च कृष्णा च वीद्रव्या चर्मजाऽभिधा। गुरुवर्य स्व० श्रीगणनाथसेन जी ने इसके तीन ही भेद माने हैं—मसूरिकाणां वैविध्यं पूर्वैर्यद्यपि कीर्तितम् प्राधान्याल्लाघवाच्चेह वक्ष्यन्ते तु त्रिधैव ताः॥ तत्राद्या बृहती नाम द्वितीया लघुनामिका। रोमान्तिका तृतीया च त्रिधा भिन्ना मसूरिका। (सि० नि०)। निदान (कारण)—कटूष्णलवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः। दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः। क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः। जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन संहताः॥ इति निदानभावप्रकाशौ। श्रीगणनाथसेनश्च—भूवायुजलदोषादेर्भवन्त्यागन्तुहेतवः। संक्रामिण्यो विशेषेण निदाघादौ मधौ च ताः॥ (सि० नि०)। इस रोग का कारण निष्यन्दन शील जीवाणु माना गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस रोग के जीवाणु सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से देखे जा सकते हैं किन्तु अभी तक इस विषय में निश्चित निर्णय नहीं हुआ है। सहायक कारण—टीका या पूर्व आक्रमण से जिसकी रक्षा न हुई हो ऐसा समस्त संसार का प्रत्येक व्यक्ति किसी भी आयु में इसका शिकार बन सकता है तथापि यह बाल्यावस्था में जन्म से चार वर्ष की आयु तक अधिक होता है। एक बार आक्रमण होकर मुक्त हो जाने पर शरीर में स्थायी क्षमता हो जाने से दुबारा होने की सम्भावना प्रायः नहीं होती है। अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष इस रोग का मुख्य केन्द्र है। British India being the most important focus of the disease in the world medical annul 1934 यह एक भयङ्कर औपसर्गिक रोग है जो घर में एक बच्चे

को होने पर उसके संसर्ग से तथा पूय और खुरण्ड के सूक्ष्म-कणों से दूषित वायु से दूसरे बच्चों को भी हो जाता है तथा धीरे धीरे उस घर, मोहल्ले या गांव के समस्त बिना टीका लगाये बच्चों को हो जाता है। रोगप्रसार—रोग का विष रोगी की त्वचा में, श्लेष्मलत्वचा में, मुख-नासा के स्रावों में, विस्फोटों के पीव में, खुरण्ड में, मलमूत्रादि में अर्थात् शरीर के प्रत्येक स्राव और त्याज्यपदार्थों में होता है जो कपड़ों, तौलियों, रुमाल, बर्तन इनमें लगकर तथा मक्खियों, चींटियों द्वारा एवं इनसे दूषित वायु द्वारा स्वस्थ बच्चों में फैल कर रोग पैदा करता है। जैसा कि उरभ्र ने भी लिखा है—चक्षिरोगापस्मार-राजयक्ष्ममसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद् दानात् सक्रामन्ति नरान्नरम्॥ समय—प्रायः जनवरी से जून (वसन्त, ग्रीष्म) तक में अधिक होता है। भारत में प्रतिवर्ष ५०००० के लगभग मनुष्यों की इस रोग से मृत्यु होती है। प्रत्येक ५-६ वर्ष के बाद इसका अधिक व्यापक तथा घातक आक्रमण होता है। बचने के उपाय—तीन है। (१) मसूरिका से एक बार पीड़ित होना। (२) मसूरिकाकरण (Variolation)—अर्थात् मसूरिका विस्फोटों की लसीका लेकर स्वस्थ बच्चे की त्वचा में प्रवेश करके मसूरिका पैदा कर क्षमता उत्पन्न करना। ऐसा प्राचीनकाल में भी होता था—मनुस्तन्यमसूरी वा नराणा च मसूरिका। उज्जल बाहुमूला च शस्त्रान्तेन गृहीतवान्। बाहुमूले च शस्त्रेण रक्तोत्पत्तिकरेण च। तज्जल रक्तमिश्रित स्फोटकज्वरसम्भवम्॥ (३) टीका लगाकर (Vaccination) कृत्रिम क्षमता उत्पन्न करके रोग से बचना। इसका असर प्रायः सदा के लिये हो जाता है किन्तु प्रथम टीका के ६-७ वर्ष बाद पुनष्टीकाकरण (Re vaccination) आवश्यक है। ऐसा करने से जर्मनी, हालेण्ड तथा यूरोप के देशों से मसूरिका की पूर्ण निकासी हुई है।

पूर्वरूप—ज्ञात. पूर्वं ज्वर कण्डूर्नाभिभ्रूोरचिभ्रम। त्वचि शोथ सर्वेषर्ण्यो नेत्ररागश्च प्रायश॥ (सि. निदान)। ज्वरादयशोपाङ्गविमर्दकासनिष्ठलथत्वारुचिरोमहर्षा.। शिरोऽतिनेत्रामयपीनसाश्च मसूरिकाणा प्रभवन्ति चाग्रे॥ (उरभ्रः)। शीत लगना, १०४° तक ज्वर (ततो ज्वर. स्यादतिघोरलिङ्ग.), प्रलाप, बच्चों को चौंकना या आक्षेप, वमन, शिरःशूल आदि होते हैं। विस्फोटदर्शन—आक्रमण के बाद तीसरे या चौथे दिन मसूरिका के विस्फोट निकलने लगते हैं। प्रथम शिर पर, कनपटी पर और मणिबन्ध पर होता है पश्चात् २४ घण्टों के भीतर पैरों तक सारे शरीर में फैल जाते हैं। नीचे के अङ्गों में कम तथा मध्याङ्गों में कुछ अधिक तथा चेहरे पर सब से ज्यादा होते हैं। बाह्य त्वचा के समान ही गाल, गला, नासा, नेत्र, स्वरयन्त्र तथा स्त्रियों में योनि आदि की अन्तस्त्वचा पर भी दाने होते हैं। पूर्ण दाने निकलने पर ज्वर तथा अन्य लक्षण हलके हो जाते हैं। प्रायः भीतर प्रविष्ट विष बाहर दानों के रूप में निकलता है। दोषा विष तच्च बहि क्षिपन्ति। तृतीये तु दिने प्राप्ते ज्वरो व्रजति लाघवम्। पिडकाश्च प्रदृश्यन्ते गम्भीरास्त्वगधः स्थिता॥ केशान्तेषु ललाटे च तथा च मणिबन्धयोः। समुद्भूय प्रसर्पन्ति मुखेऽङ्गेषु च ताः क्रमात्॥ (सि. नि)। प्रथमावस्था में दाने छोटे मटर के बराबर तथा स्पर्श में कड़े एवं त्वचा के नीचे छुरें निविष्ट हुये हों ऐसे दिखाई देते हैं किन्तु दो-तीन दिनके पश्चात् इनमें पानी भरने लगता है जिससे ये अधिक बड़े या उभरे हुये हो जाते है तथा मध्य में नाभि की तरह निम्न होते हैं। दो तीन दिन में पानी से पूरे भर जाते हैं पानीदार द्वितीयावस्था है। फिर इसके बाद पूय-जनक जीवाणुओं के उपसर्ग होने से इन में पीव पड़ कर पीले हो जाते हैं तथा निम्नमध्यता मिट कर गोल हो जाते हैं। साथ २ त्वचा में शोथ भी हो जाता है, पुनः ज्वर का वेग बढ जाता है, रोगी को कष्ट तथा बेचैनी रहती है। पीव पड़ने से कुछ बदबू भी आने लगती है। 'शीतले ज्वरदग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च' खाने, पीने, बोलने, छींकने तथा देखने में भी कष्ट होता है। यह तृतीयावस्था है। चतुर्थावस्था शुष्कीभवन की है जो उद्गम से नौवें दिन से प्रारम्भ होती है। इसमें जिस क्रम से दाने निकले हैं उसी क्रम से अर्थात् माथे से नीचे की ओर सूखने लगते है। ज्वर तथा अन्य लक्षण भी कम हो जाते हैं। एक सप्ताह में पूर्णरूप से सूख कर खुरण्ड बन कर गिरते हैं तथा उनके स्थान में दाग दिखाई देने लगते हैं। संक्षेप में यह है—कि स्फोटोद्गम के प्रथम तीन दिन तक गांठदार, तीसरे से पांचवें दिन तक पानीदार, पांचवें से नौवें दिन तक पूयदार एवं नौवें से सतरहवें दिन तक शुष्क होते हैं। सप्ताहान्नि सरत्येव सप्ताहात् पूयता व्रजेत्। ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम्। अथ षष्ठे तु दिवसे प्रपूर्यन्ते जलेन ता। अष्टमेऽह्नि च पूयेन वर्द्धते च ज्वरस्तत॥ शनकर्हीयते चापि विपे प्रलघुता गते। प्रायशो द्वादशाहेन शुष्यन्ति पिडकाश्च ताः॥ विशीर्यन्ते च पक्षेण त्रिसप्ताहैस्तु नेरुजम्। यावज्जीवञ्च लक्ष्माणि तिष्ठन्ति प्रायशस्त्वचि॥ (सि नि.)।

भेद—(१) सौम्य (Variola minor)—में सभी लक्षण हल्के होते हैं। विस्फोट कम निकलते हैं। द्वितीयक ज्वर भी नहीं होता है। बच्चे खेलते-कूदते रहते हैं।

(२) असंमीलित (Disorete)—यह तीव्र स्वरूप का है तथा उक्त वर्णन इसी का है।

(३) सम्मीलित (Confluent)—यह द्वितीय से अधिक तीव्र है। इसमें दाने अधिक और प्रथम अलग २ होते हैं किन्तु आगे जा कर मिल जाने से मुख तथा हाथ-पांवों पर विद्रधि सी बन जाती है। (स्फोटाना मेलनादेषा बहुस्फोटाऽपि जायते, भावप्रकाशः)। जिससे रोगी पहचाना भी नहीं जा सकता है। ज्वर तेज होता है, प्रलाप तथा आक्षेप, प्यास, तेज नाडी, गले की ग्रन्थियों में शोथ आदि उपद्रव होते हैं। द्वितीय सप्ताहान्त में विषमयता, जीवाणुमयता या हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। भाग्य या दैव-शक्ति प्रबल होने पर जीता है किन्तु १-३ माह में जा कर रोगी पूर्ण स्वस्थ होता है।

(४) कृष्णमसूरिका (Black small POX)—यह भयङ्कर स्वरूप की मसूरिका जिन्हें टीका नहीं लगाया हो उन्हें युवावस्था में होती है।

(५) रक्तस्रावी मसूरिका—यह भी भयङ्कर है। इसमें द्रवावस्था या पाकावस्था में विस्फोटों में खून आ जाता है तथा मल, मूत्र, वमन के साथ एव नासा से भी रक्त का स्राव होता है—मुखेन प्रस्रवेद्रक्त तथा घ्राणेन चक्षुषा। (माधवनि०)।

(६) मृदुल मसूरिका, (७) अप्रगल्भ मसूरिका, (८) क्षुद्र या लघु मसूरिका, (९) गाभिकी मसूरिका (Foetal small pox) आदि भेद होते है।

उपद्रव—विसर्प, उपत्वचाशोथ (Cellulitis), कर्णशोथ नेत्राभिष्यन्द, व्रण शुक्ल, ग्रीवाकक्षालसीकाग्रन्थिशोथ पाक

कास, न्युमोनिया, हृदयशोथ, पक्षाघात, मूकता, स्मृतिनाश, बाधिर्य, प्रवाहिका, स्त्रियों में गर्भस्रावादि। साध्यासाध्यता—यह अत्यन्त औपसर्गिक, वातज, वैरूप्य तथा वैकल्य करने वाला रोग है। टीका न लगाने से २०-३५ प्रतिशत मृत्यु होती है। त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजा श्लेष्मजास्तथा। श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिका॥ असाध्या सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्। प्रवालसदृशा काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमा॥ लौहगालसमा काश्चित्तण्डुलप्रतिमा। कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्र सुदारुणः॥ प्रलापश्चाग्निमूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिपूर्णता। मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा श्रोत्रेण चक्षुषा॥ कण्ठे धुर्धुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम्। मसूरिकाभिभूतो यो मूर्द्धं श्रोत्रेण निःश्वसेत्॥ स मृत्युं त्यजति प्राणांस्तृतीयं वायुदूषितः। मसूरिकाणां शीर्षं स्यात् कूर्परे मणिबन्धके। तथाऽसृक्फलके चापि दुश्चिकित्स्या सुदारुणा॥ (माधवनिदानम्)। विवाहकन्यानिरजाऽतिमात्रस्तृगाऽतिहिक्काऽतिविकासमोहैः। युक्ता निहन्त्यासु मसूरिकाख्यमुल्वं च बाह्यं किलत्रिभा च॥ (उत्रः)। काश्चिद्विनाऽपि यत्नेन सिध्यन्त्यासु मसूरिकाः। दृष्टाः कृच्छ्रतराः काश्चित् काश्चित् सिध्यन्ति वा न वा॥ काश्चिन्नैव तु सिध्यन्ति साध्यमानाः प्रयत्नतः॥ (भावप्रकाशः)। न मसूरीणां तस्य पापरोगस्य विद्यते। (शीतलास्तोत्रम्)।

(२) लघुमसूरिका, मोतिया शीतला (Chiken Pox) कारण अज्ञात है। इसमें ज्वरादि-लक्षण सौम्य होते हैं, विस्फोट चौबीस घण्टे के भीतर निकल आते हैं, कई दिन तक भी निकलते रहते हैं। इसके शरीर पर दाग भी नहीं बनते हैं। विरला कतिचिद्यस्य पिडका श्लेष्मसम्भवाः। ज्वरः स्वल्पश्च तस्यासौ ज्ञेया लघुमसूरिका॥

(३) रोमान्तिका—खसरा (मीजल्स Measles)—यह भी एक बच्चों का स्वतन्त्र विस्फोटक ज्वर है जिसमें शीतपूर्वज्वर, अरोचक, वमन, नासास्राव, छींके आना, प्रतिश्याय, कास, आंखों की सुर्खी, गाल के भीतर कोपलिक के दाग (नीलापन लिये सफेद बच्चे) ये प्रधान लक्षण होते हैं। इस रोग का वास्तविक कारण भी अज्ञात है किन्तु कुछ लोग निष्यन्दनशील जीवाणु मानते हैं जो रोगी के रक्त में, नासा, मुख तथा श्वसन-संस्थान के स्राव में होते हैं। प्राय. आयुर्वेद में इसे मसूरिका का ही एक प्रकार माना है किन्तु इन दोनों में दोष तथा विस्फोटों के अनुसार भेद है—उद्भ्रमतो पिडका शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः। कण्डूयुता ताम्रचि सप्रतेक रोगान्विता पित्तकृतात् प्रदिष्टः॥ (चरक चि. अ. १३)। रोमकूपोन्नतिसमा रागिणः कफपित्तजाः। कासारोचकसंयुक्ता रोमान्ती ज्वरपूर्विका॥ (माधवनि०)।

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः।
जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिका॥ ३८॥

मुखदूषिका—कफ, वात और रक्त के कारण युवा मनुष्यों के मुख पर सेमल के कांटे के समान पिडकाएं उत्पन्न होती हैं उन्हें मुखदूषिका कहते हैं॥ ३८॥

विमर्श—मुखकान्तिहारकत्वेन मुखदूषिका 'मुहांसा' इत्युच्यन्ते लोके। इसे यौवनपिडका तथा डाक्टरी में एक्ने वल्गेरिस (Acne Vulgaris) कहते हैं। 'मेदोगर्भा मुखे यूना तान्याहुः मुखदूषिकां' इस अष्टाङ्गसंग्रह के वर्णनानुसार मुख की त्वचा के मेदपिण्डद्वार बन्द हो जाते हैं जिससे उन पिडिकाओं में मेद भर जाती है तथा एक्नी बेसीलस का उपसर्ग होने से पाक होकर वे फूटती हैं।

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम्।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम्॥ ३९॥

पद्मिनीकण्टक—कफ और वात से उत्पन्न तथा कमलिनी के कांटों के समान कांटों से भरा हुआ तथा गोल, कण्डुयुक्त एवं पाण्डुरंग के मण्डल को पद्मिनीकण्टक कहते हैं॥ ३९॥

विमर्श—यह त्वचा का सौम्य अर्बुद (Tumour) हो सकता है तथा इसे पेपिलोमा ऑफ् दी स्किन (Papilloma of the skin) कहते हैं।

नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः॥ ४०॥

जतुमणि—कफ और रक्त के कारण उत्पन्न, वेदना रहित, चारों ओर समान उभरा हुआ मण्डल जो कि सहज (जन्मजात), कुछ लाल और श्लक्ष्ण होता है उसे जतुमणि कहते हैं॥ ४०॥

विमर्श—त्वचा पर मेलानिन (Melanin) नामक रंग के जम जाने से जो तिल या मस्सा जन्मजात होता है उसे जतुमणि (Congenital mole) कहते हैं। तत्रोक्तलक्षणम्—कृष्णा स्निग्धो जतुमणिर्मेदो वातोत्तरस्त्वचि। अन्ये त्वपरे रक्ते लक्षणे रक्तमिश्रमण्वराः॥

अवेदनं स्थिरश्चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते।
मापवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं वदेत्॥ ४१॥

मषक—मनुष्य के भिन्न २ अङ्गों पर वात के कारण उत्पन्न तथा पीडारहित, स्थिर एवं उडदी के समान काले रंग के उभार या चिह्न दिखाई देते हों तो उन्हें मषक (Elevated mole) कहते हैं॥ ४१॥

विमर्श—मषकनिरुक्तौ माषशब्दात् 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन्, नैरुक्त्येन च विधिना ह्रस्वत्वम्। मोलोक्तमषकलक्षणम्—वातेरिते त्वचि यदा दुष्यते कफमेदसी। श्लक्ष्णं मृदु सवर्णञ्च तुल्यतो मषकं वदेत्॥ यह Elevated mole है।

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
वातपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्तिलकालकान्॥४२॥

तिलकालक—वायु, पित्त और कफ के उद्रेक से काले रंग के, तिल के समान आकृति के, वेदनारहित तथा समान जो शरीर पर चिह्न होते हैं उन्हें तिलकालक कहते हैं॥४२॥

विमर्श—तिलकालक को तिल (None elevated mole) कहते हैं। 'वातपित्तकफोद्रेकात्' की जगह 'वातपित्तकफोच्छ्रायात्' ऐसा पाठान्तर है। तिलकलक्षणमन्यत्र—मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमन्वितः। चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः॥

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम्।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥ ४३॥

न्यच्छ—शरीर के किसी भाग पर बड़ा या छोटा, श्याम या सफेद तथा पीडारहित और सहज (जन्मजात) जो चिह्न होता है उसे न्यच्छ कहते हैं॥ ४३॥

विमर्श—न्यच्छ को लाञ्छन कहा जाता है—न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते । भोजोक्त लक्षणं यथा—रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा । जनयेन्मण्डलं कृष्ण श्याव वा न्यच्छमादिशेत् ॥

समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्त्तितम् ॥ ४४ ॥

चर्मकील—समुत्थान (सम्प्राप्ति) तथा निदान की दृष्टि से अर्शोनिदान में चर्मकील का वर्णन कर दिया गया है ॥४४॥

विमर्श—वाग्भट ने चर्मकील को मपक का ही एक भेद माना है—मषेभ्यस्तून्नततराश्चर्मकीलान् सितासितान् ।

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ॥ ४५ ॥
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ।
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥ ४६ ॥

व्यङ्ग—क्रोध तथा परिश्रम से प्रकुपित वात पित्त के साथ संयुक्त होकर मुखप्रदेश में आकर अकस्मात् मण्डल उत्पन्न करता है जो कि पीडारहित, अल्प तथा श्याव वर्ण का होता है उसे व्यङ्ग कहते हैं ॥ ४५-४६ ॥

कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत् ॥ ४७ ॥

नीलिका—व्यङ्ग के समान ही लक्षणों वाला किन्तु वर्ण में काला हो और मुख के अतिरिक्त अन्य अवयवों पर मण्डल हो उसे नीलिका कहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्श—माधवकर ने इसे मुख पर भी होना माना है—कृष्णमेवगुण गात्रे मुखे वा नीलिका विदुः । किन्तु वाग्भट ने भी मुख से अन्यत्र होने वाले मण्डल को ही नीलिका कहा है—श्यामलं मण्डलं व्यङ्ग वक्त्रादन्यत्र नीलिका । (अ० सं०) । डाक्टरी मत से व्यङ्ग, न्यच्छ और नीलिका ये एक ही प्रकार के विकार के भिन्न २ नाम हैं। छोटी धमनियों, सिराओं तथा केशिकाओं का त्वचा में गुच्छ बनने से यह रोग होता है तथा इसे Capillary angiomata or Naevi कहा जाता है।

मर्दनात् पीडनाच्चापि तथैवात्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥ ४८ ॥
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रतिनिवर्त्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४९ ॥
सवेदनः सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित् ।
मारुतागन्तुसम्भूतां विद्यात्तां परिवर्त्तिकाम् ॥ ५० ॥
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥५१॥

परिवर्तिका—हस्तादि द्वारा मर्दन करने से, अधिक दबाने से तथा मैथुन के समय झगडा-फसाद होने के कारण अधिक चोट लगने से सर्व-शरीर-सञ्चारी व्यान वायु जब लिङ्ग के चर्म में प्रविष्ट होती है तब वायु से आक्रान्त हुआ वह चर्म ऊपर की ओर चढ़ जाता है तथा मणि (सुपारी) के नीचे ग्रन्थि रूप में हो कर लटकता है। कभी कभी उसमें पीड़ा, दाह और पाक भी होता है । इस प्रकार वायु तथा अभिघात आदि आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुये इस रोग को परिवर्तिका कहते हैं। यदि इस रोग में खुजली चलना तथा कठिनता प्रतीत हो तो उसे कफजन्य परिवर्तिका समझनी चाहिये ॥ ४८-५१ ॥

विमर्श—भोजोक्तपरिवर्तिका लक्षण—मणेरधो मेढ्रचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत् । सशूलतोददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना ॥ परिवर्तिका को पेराफाईमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं। आघातादि द्वारा चर्म के ऊपर चढ जाने पर चर्म तथा शिश्न मणि में शोथ हो जाता है जिससे वह नीचे सुपारी पर नहीं उतर सकती है। शोथहर तथा जीवाणुनाशक चिकित्सा न करने से व्रणोत्पत्ति हो कर दोनों परस्पर जुड़ जाते हैं तथा कभी कभी इन्द्रिय में सड़न (Putrefection भी होने लगती है।

अल्पीयः खां यदा हर्षाद् बालां गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्त्तिते बलात् ॥ ५२ ॥
मर्दनात्पीडनाद्वाऽपि शुक्रवेगविघाततः ।
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ॥ ५३ ॥

अवपाटिका—जब कोई मनुष्य अल्प योनिच्छिद्र वाली वाला (अल्पवयस्का) स्त्री के साथ हर्ष (संरम्भ या वेग) पूर्वक सम्भोग (बलात्कार) करता है उससे अथवा तिला लगाते समय या हस्त-मैथुन करते समय हाथ के अभिघात (चोट) से चर्म के ऊपर चढ जाने पर किंवा शिश्न के मर्दन और पीडन से एवं उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से यदि उस मनुष्य का चर्म फट जाता है तब उसे अवपाटिका रोग जानो॥

विमर्श:—अल्पीयोऽल्पतर ख योनिमुख यस्याः सा ताम् । अवपाटिका को Tear in the prepuce कहते हैं।

वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम् ।
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ॥ ५४ ॥
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम् ।
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न च विदीर्यते ॥ ५५ ॥
निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसम्भवम् ॥ ५६ ॥

निरुद्धप्रकश—इसी प्रकार यदि वात से दूषित शिश्नचर्म मणि को पूर्णरूप से ढक देता है एवं चर्म से ढकी हुई वह मणि मूत्र निकलने के स्रोतस् (मार्ग) को अवरुद्ध कर देती है तथा मूत्रमार्ग के निरुद्ध होने पर पीड़ा के बिना ही मूत्र मन्द धार के रूप मे निकलता है किन्तु मणि खुलती नहीं है इस तरह वात-प्रकोप से उत्पन्न तथा कुछ पीडा देने वाला निरुद्धप्रकश रोग होता है ॥ ५४-५६ ॥

विमर्श:—निरुद्धप्रकाशत्वान्निरुद्धप्रकशः । (मधुकोषः)। चर्मद्वारा मणि ढक जाने से उस पर प्रकाश पड़ना निरुद्ध (बन्द) हो जाता है। वाग्भट ने मणि का विकास निरुद्ध होने से इसका निरुद्धमणि नाम रखा है—मणेर्विकासरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः । डाक्टरी में इसको फायमोसिस (Phimosis) कहा है। इसके जन्मजात तथा जन्मोत्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं। जन्मजात का कारण गर्भवृद्धिदोष है। जन्मोत्तर बच्चों में शिश्नचर्म के बार बार खुजाने तथा पकड कर खींचने से युवाओं के पूयमेह होने से तथा वृद्धों में वस्तिगत अश्मरी, मूत्रामार्गसङ्कोच एवं अष्ठीलावृद्धि के कारण खुजाने और मसलने से उत्पन्न होता है।

वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः ।
निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ५७ ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥ ५८ ॥

सन्निरुद्धगुद—अपान वात तथा मल-मूत्र के वेगों को

रोकने से कुपित वात गुदा में जाकर महास्रोत का अवरोध करके उसके नीचे का (गुद) मार्ग सङ्कुचित (छोटा) कर देती है, इस तरह मार्ग के छोटा होने से उस मनुष्य का मल कठिनता से बाहर निकलता है। इस प्रकार उत्पन्न हुये सुदुस्तर (कष्टसाध्य) इस रोग को सन्निरुद्धगुद जानो॥

विमर्शः—इस रोग को Stricture of the rectum कहते हैं। गुदा में व्रण होकर उनके स्थान पर सङ्कोच होने से यह रोग पैदा होता है। इसमें प्रथम विबन्ध पश्चात् क्रमशः विबन्ध और पतले दस्त होते हैं। यदि मल कड़ा तथा फीते के समान लम्बा और चपटा निकले एवं साथ में आंव तथा खून भी हो तो इसका निदान (निर्णय) पक्का हो जाता है।

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्नस्याम्नाय्यमानस्य कण्डूः रक्तकफोद्भवा॥ ५९॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्॥ ६०॥

अहिपूतन—मल तथा मूत्र से युक्त अपान (गुदा) के पानी द्वारा नहीं धोने पर तथा पसीना होने के बाद प्रायः मन्दोष्ण जल से स्नान नहीं कराने वाले बच्चे के रक्त और कफ के कारण गुदा में कण्डू उत्पन्न होती है तथा उसे खुजाने से स्फोट उत्पन्न होकर उनसे स्राव बहता है। इस तरह व्रणों से युक्त एवं भयङ्कर स्वरूप के इस रोग को अहिपूतन जानो॥

विमर्शः—अहिपूतन को Infantile erythema of Jacquet or Napkin rash or sore buttocks कहते हैं तथा मल, मूत्र और स्वेद से गुदा के सदा गीली और गन्दी रहने से होता है। दुष्टस्तन्यपान से भी होता है ऐसा भोज का मत है—दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च। कण्डूदाहरुजाबद्धि पिटकैश्च समाचिता॥ सम्भवन्ति यथादोषं दारुणा ह्यहिपूतना॥ अष्टाङ्गहृदय में इसे मतान्तर से मातृकादोष, ग्रहरु, गुदकन्द आदि लिखा है—केचित्तु मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम्। ग्रहान्गुदकुन्दञ्च केचिच्च तमनामिकम्॥ लक्षण—स तेन सलिलोपममच्छं विच्छिन्नमाम दुर्गन्धि नानावर्णवेदन फेनिलमतिसार्यते। (अ० सं०)।

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः।
प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात् स कण्डूं जनयेत्तदा॥ ६१॥
तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम्॥ ६२॥

वृषणकच्छू—स्नान तथा उबटन नहीं करने वाले बच्चे के वृषण प्रान्त में जमा हुआ मल जब पसीने से गीला होता है तब वह खुजली उत्पन्न करता है और वहां खुजलाने से शीघ्र ही स्फोट (फुन्सिया) निकल आते हैं और उन से स्राव भी बहता है। इस प्रकार कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुये इस रोग को वृषणकच्छू (Eczema of the scrotum) कहते हैं॥ ६१-६२॥

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रूक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत्॥ ६३॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने क्षुद्ररोगनिदानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

गुदभ्रंश—रूक्ष तथा दुर्बल शरीर वाले मनुष्य के प्रवाहण (कुन्थन) तथा अतिसार से गुद बाहर निकल आती है उसे गुदभ्रंश कहते हैं॥ ६३॥

विमर्शः—गुदभ्रंश को प्रोलेप्सस रेक्टाई (Prolapsus recti) कहते है। इस के पूर्ण तथा अपूर्ण ऐसे दो भेद होते हैं। पूर्णगुदभ्रंश बच्चों को अधिकतर होता है तथा इस में गुदा की समग्र भित्ति बाहर निकल आती है। अपूर्णगुदभ्रंश अधिकतया युवकों में होता है तथा इसमें गुदा की केवल श्लेष्मल त्वचा मलद्वार से बाहर निकलती है।

इत्यायुर्वेददत्तत्वसन्दीपिकाभाषाटीकायां क्षुद्ररोगनिदानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथातः शूकदोषनिदानं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर शूकदोषनिदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥१-२॥

विमर्शः—शूक अर्थात् कोई खास औषध किंवा वात्स्यायनोक्त लिङ्गवृद्धिकारक योग उन के मिथ्या प्रयोग से उत्पन्न दोषों (रोगों) का वर्णन करते हैं। यहां पर दोष शब्द रोग अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि चरक ने भी लिखा है—'दोषा ह्यपि रोगशब्द लभन्ते'। लिङ्गवृद्धिकरयोग'—भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदग्धं मतिमान् सह सन्धवेन। एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्टमालेपन महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे॥ स्थूल महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफ करोत्यभिमत नहि सशयोऽस्ति॥ जल-शूकादि से रहित प्रशस्त तैलादि से शूकदोष नहीं होते हैं—यथा—अश्वगन्धावरीकुष्ठमासीसिंहीफलान्वितम्। चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैल विपाचयेत्। स्तनलिङ्गकर्णपालीवर्धन ब्रह्मणादिदम्॥

लिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ च व्याधयो जायन्ते। तद्यथा—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भीका, अलजी, मृदितं, सम्मूढपिडका, अवमन्थः, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोनकः, त्वक्पाकः, शोणितार्बुदं, मांसार्बुदं, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति॥ ३॥

शूकदोषजरोग—लिङ्ग की वृद्धि या स्थूलता चाहने वाले तथा शास्त्रीय क्रम से विपरीत योगों में प्रवृत्त हुये मनुष्यों के शूक दोष के कारण अट्ठारह व्याधियां उत्पन्न होती हैं, वे रोग ये हैं जैसे—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथित, कुम्भीका, अलजी, मृदित, संमूढपिडका, अवमन्थ, पुष्करिका, स्पर्शहानि, उत्तमा, शतपोनक, त्वक्पाक, शोणितार्बुद, मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि तथा तिलकालक॥ ३॥

गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भगहेतुका।
पिडका कफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः॥ ४॥

सर्षपिका—असम्यक् रूप से प्रयुक्त शूकों के प्रयोग के कारण कफ और रक्त से उत्पन्न तथा श्वेत सरसों के समान आकृति की पिडिका को सर्षपिका जाननी चाहिये॥ ४॥

विमर्श.—कहीं कहीं 'शूकदुर्भगहेतुका' ऐसा पाठान्तर है जिस का अर्थ 'शूक तथा निकृष्ट भग (दूषित योनि) हेतुक' करना चाहिये।

कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्य प्रकोपतः।
शूकैस्तु विषसम्भुग्नैः पिडकाऽष्ठीलिका भवेत् ॥ ५ ॥

अष्ठीलिका—विषम (अप्रशस्त) तथा भल्लातकास्थिरूप विष से सम्भुग्न (युक्त) शूकों के अन्त (प्रयोग) से वायुका प्रकोप होकर कठिन पिडिका उत्पन्न होती है उसे अष्ठीलिका कहते हैं ॥५॥

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद् ग्रथितं तत् कफोत्थितम्।
कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ॥६॥
अलजीलक्षणैर्युक्तामलजीं च वितर्कयेत्।
मृदितं पीडितं यत्तु संरुद्धं वायुकोपतः ॥ ७ ॥
पाणिभ्यां भृशसम्मूढे सम्मूढपिडका भवेत् ॥ ८ ॥

ग्रथितादिवर्णन—वात्स्यायनोक्त विषयुक्त तिलों के लेप से लिङ्ग शूक से भरे हुये सा निरन्तर प्रतीत हो तो उसे कफजन्य ग्रथित रोग कहते हैं। तथा रक्त और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न एवं जामुन की गुठली के समान वर्ण तथा आकृति की अशुभ पिडिका को कुम्भीका कहते हैं एवं प्रमेहपिडका में वर्णित अलजी के लक्षणों से युक्त पिडिका को अलजी कहते हैं तथा शूकपात (शूकयुक्त औषध लगाने) के पश्चात् वायु के प्रकुपित होने से प्रथम इन्द्रिय में संरुद्ध (सरसराहट) होती है जिस से वह व्यक्ति उसे हस्तादि-द्वारा पीडित करता है उस से मृदित रोग उत्पन्न होता है। इसी तरह शूकपात के पश्चात् हाथों से शिश्न को अत्यधिक मसलने पर संमूढपिडका रोग होता है ॥ ६-८ ॥

दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः।
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥ ९ ॥

अवमन्थ—शिश्नपर कफ और रक्त के प्रकोप से अनेक बडी बडी पिडकाएं उत्पन्न होकर मध्य में से विदीर्ण हो जाती हैं तथा जिन में वेदना और रोमहर्ष होता है वह अवमन्थ रोग है॥

पित्तशोणितसम्भूता पिडका पिडकाचिता।
पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ॥ १० ॥

पुष्करिका—शिश्न पर पित्त और रक्त के प्रकोप से अनेक छोटी छोटी पिडकाओं से घिरी हुई तथा कमल की कर्णिका के आकार की जो पिडका होती है उसे पुष्करिका कहते हैं ॥१०॥

जनयेत् स्पर्शहानिं तु शोणितं शूकदूषितम् ॥ ११ ॥

स्पर्शहानि—रोग में शिश्नगत रक्त शूक (लिङ्गवृद्धिकर योग) से दूषित हो कर वहां के स्पर्श ज्ञान को हानि (नुकसान) पहुंचाता है ॥ ११ ॥

मुद्गमाषोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा।
उत्तमैषा तु विज्ञेया शूकाजीर्णनिमित्तजा ॥ १२ ॥

उत्तमा—शिश्न पर बार-बार शूक के प्रयोग करने से तथा अजीर्ण के कारण रक्तपित्त की दुष्टि से पैदा होने वाली मूंग तथा उड़दी के आकार की एवं रक्तवर्ण की जो पिडिका होती है उसे उत्तमा जाननी चाहिये ॥ १२ ॥

छिद्रैरणुमुखैर्वस्तु चितं यस्य समन्ततः।
वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥ १३ ॥

शतपोनक—मिथ्याप्रयुक्त शूकदोष से जिस मनुष्य का वस्तु (शिश्न) सूचममुख वाले अनेक छिद्रों से चारों ओर व्याप्त हो जाय तब उस वातरक्तजन्य रोग को शतपोनक रोग जानना चाहिये ॥ १३ ॥

पित्तरक्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान्।
कृष्णैः स्फोटैः सरक्तैश्च पिडकाभिश्च पीडितम् ॥१४॥
यस्य बस्तिरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम्।
मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससम्भवम् ॥ १५ ॥
शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः।
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥ १६ ॥
विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥ १७ ॥

त्वक्पाकादि वर्णन—जिस मनुष्य के शिश्न की त्वचा में पित्त और रक्त की दुष्टि से पाक उत्पन्न हो जाय तथा ज्वर और दाहकारक हो तो उसे त्वक्पाक जानना चाहिये तथा जिसका शिश्न लाल और काले स्फोटों और पिडकाओं से पीडित हो तथा वस्ति प्रदेश में भयङ्कर पीड़ा हो उसे शोणितार्बुद जानना चाहिये एवं शिश्न के मांस की दुष्टि से मांसजन्य अर्बुद समझना चाहिये। इसी तरह जिस मनुष्य के शिश्न का मांस गल कर शीर्ण (नष्ट) होता हो तथा जिसके सर्व प्रकार की वेदना हो रही हो उसे वैद्य सर्वदोषोत्पन्न मांसपाक हुआ जाने तथा सन्निपात (त्रिदोष) ही के कारण विद्रधिनिदानोक्त नानावर्ण वेदना और स्राव इन लक्षणों से युक्त जो हो उसे विद्रधि जाननी चाहिये ॥ १४-१७ ॥

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि च।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥ १८ ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः।
सन्निपातसमुत्थानं तं विद्यात्तिलकालकम् ॥ १९ ॥

तिलकालक—काले वर्ण के या चित्र-विचित्र वर्ण के अथवा भल्लातकादि विषयुक्त शूकों (लिङ्गवृद्धिकर योगों) के शिश्न पर पात (प्रयोग) करने से वे शीघ्र ही निरवशेष (सम्पूर्ण) मेढ्र (शिश्न) को पका देते हैं तथा जिस मनुष्य के शिश्न के मांस काले (तिल समान) होते हुये गल कर नष्ट होने लग जाते हैं ऐसे रोग को सन्निपातजन्य तिलकालक जानो ॥१८-१९॥

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥२०॥

असाध्यता—शूकदोषों में जो मांसार्बुद, मांसपाक और विद्रधि एवं तिलकालक कहे गये हैं वे साध्य नहीं होते हैं ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने शूकदोषनिदानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

अथातो भग्नानां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर भग्ननिदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १-२ ॥

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भग्नमुपदिशन्ति ॥ ३ ॥

भग्न-कारण—कहीं से गिरना, किसी से अङ्ग का दबना, लाठी या शस्त्र का प्रहार, हस्त-पादादि अङ्गको खींचना तथा व्याल (सिंहादि हिंस्रक) तथा हरिणादि अहिंस्रक पशुओं के दन्त-नख से काटना या फाड देना आदि अनेक प्रकार के आघात-विशेषों से अस्थियों में अनेक प्रकार का भग्न होता है॥

विमर्श—भग्न शब्द का अर्थ टूटना है अतः इसका उपयोग केवल अस्थिभग्न (Fracture) के लिये ही होना चाहिये किन्तु सुश्रुत, चरक तथा वाग्भट में इसके अस्थिभग्न और सन्धिमुक्त (Dislocation) दो भेद करके दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है। डाक्टरी में अस्थिभग्न (Fracture) तथा सन्धिविश्लेष या सन्धिच्युति (Dislocation) ये दोनों स्वतन्त्र पृथक् २ रोग माने हैं। सन्धिविश्लेष में प्रायः अस्थि का भग्न कम या नहीं होता, अपि तु वह सन्धि-स्थान से कुछ हट जाती है। वाग्भट ने भग्न के स्थान में भङ्ग शब्द का प्रयोग किया है और उसके दो भेद माने हैं—सन्धिभङ्ग तथा असन्धिभङ्ग जैसे—पतनघातादिभिर्द्वेधा भङ्गोऽस्थ्नां सन्ध्यसन्धिगतः। भावप्रकाश ने भी दो भेद माने हैं-'भग्नं नमाभाद् द्विविधं वृत्ताद्' काण्डे च सन्धावपि' (वाग्भट उ० अ० २७)। भग्नपरिभाषा—अस्थि के किसी स्थान पर टूट जाने को अस्थिभग्न (Fracture) कहते हैं। कारण—साधारणतया चोट लगने से अस्थि का भग्न होता है किन्तु कभी कभी अस्थि रोगग्रस्त होने पर थोडे ही भार से टूट जाती है। बहुधा जहां चोट लगती है उसी स्थान पर अस्थि टूटती है परन्तु देखा जाता है कि अस्थि के दोनों प्रान्तों पर दबने से बीच में से टूट जाती है। पेड़ से गिरने पर जहां चोट लगती है उससे कुछ दूरी पर अस्थि टूटती है। पेशी-कण्डराओं के कर्षण से भी सूक्ष्म अस्थियां टूट जाती हैं, जैसे जान्वस्थि (Patella) का भग्न इसी प्रकार का होता है। पतनपीडनादि भग्नके प्रधान या तात्कालिक कारण हैं तथा आयु, लिङ्ग, रोग, व्यवसाय, सन्धियों तथा अस्थियों के विकार सहायक या गौण कारण हैं। बाल्यावस्था में अस्थियां अधिक मुलायम होने से केवल मुड़ जाती हैं, टूटती कम हैं। २० से ४० वर्ष की आयु में अस्थियां कठोर हो जाती हैं तथा मनुष्य अधिक उद्यमी एवं धनार्जन के लिये या मनोविनोद के लिये प्रायः आपत्तिजनक कार्यों को भी कर बैठते हैं अतः भग्न अधिक हुआ करते हैं। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में भग्न अधिक होते हैं। अस्थिक्षय (Bone T B or Caries of bone), अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिभङ्गुरता, पक्षाघात (Paralysis), फिरङ्ग आदि रोग भी भग्न की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देते हैं। पैतृकभग्नप्रवृत्ति (Fragilitas ossium) जो माता-पिता से बच्चों में आती है भग्न होने में कारण होती है।

तत्तु भङ्गजातमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं च ॥ ४ ॥

भग्नभेद—यह अनेक प्रकार का भग्न विश्लेषात्मक (तात्त्विक या सूक्ष्म) दृष्टि से विचार करने पर दो ही प्रकार का होता है जैसे सन्धिमुक्त तथा काण्डभग्न ॥ ४ ॥

विमर्शः—सन्धिमुक्त को सन्धिच्युत या सन्धिभंग या सन्धिविश्लेष (Dislocation) कहते हैं तथा काण्डभग्न को असन्धिभग्न (Fracture) कहते हैं। काण्डशब्दार्थ—पूर्वापरसञ्छिन्नोऽस्थ्यवयवः काण्ड, (गात्र या Body) तयोरेवास्थिकाण्डयोर्मध्यसन्धानं सन्धिः (Joint) (न्या० चं०)। काण्डे सन्धिपर्यन्ते एकखण्डे (भाव प्र०)।

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्त्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्य्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम् ॥

सन्धिमुक्तभेद—उनमें सन्धिमुक्त के उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित, अवक्षिप्त, अतिक्षिप्त और तिर्यक्क्षिप्त ऐसे ६ भेद होते हैं॥

विमर्शः—उत्पिष्ट में अस्थिसन्धि के विश्लेष के साथ-साथ उसका चूर्ण या पेषण भी हो जाता है इसे Fracture dislocation कहते हैं। विश्लिष्ट में अस्थि का स्वल्पविश्लेष होता है इसकी Subluxation or incomplete dislocation कहते हैं। विवर्तित में अस्थि दक्षिण या वाम में सरक जाती है इसको Lateral displacement कहते हैं। अवक्षिप्त में अस्थि नीचे सरक जाती है इसे Downward displacement कहते हैं। अतिक्षिप्त में मांस तथा रक्तवाहिनियां भी विशीर्ण हो जाती हैं इसको Complicated dislocation कहते हैं एवं तिर्यक्क्षिप्त में सन्धि टेढी हो जाती है। यह Complete dislocation है। मधुकोषव्याख्या में भग्न के दो भेद माने हैं—द्विविधं हि भग्नं व्रणमव्रणञ्च। सव्रण सन्धिविश्लेष Open dislocation तथा अव्रण सन्धिविश्लेष Closed dislocation कहते हैं।

तत्र प्रसारणाकुञ्चनविवर्त्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्रुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्षणमुक्तम् ॥ ६ ॥

लक्षण—सन्धिमुक्त होने पर अङ्गके प्रसारण, सङ्कोचन, इधर-उधर हिलाने (विवर्तन) तथा आक्षेपण करनेमें असमर्थता हो जाती है, तीव्र पीड़ा होती है तथा रोगी किसी भी वस्तु के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता है ये सामान्य लक्षण कहे गये हैं ॥

विमर्शः—अङ्ग केआकार का विकृत हो जाना या विषमाङ्गता (Deformity) सन्धिविश्लेष का सबसे बडा लक्षण है। सन्धि में सम्मिलित अस्थियों के भाग अपने स्थान से हट कर अन्य अस्वाभाविक स्थिति में पहुंच जाते हैं इससे अस्थि के पूर्व स्थान में गढा तथा दूसरे स्थान में उभार हो जाता है। परीक्षा के समय विश्लेषित सन्धि की दूसरी ओर की स्वस्थ सन्धि के साथ तुलना कर रोगनिर्णय करना चाहिये। अङ्ग की गति परिमित या वह अकर्मण्य हो जाता है तथा रोगी को स्वल्प स्तब्धता, वेदना और शोथ ये अधिक लक्षण होते हैं।

विशेषेणोत्पिष्टे सन्धावुभयतः शोफो वेदनाप्राद्भुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्राद्भुर्भवन्ति। विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धिविक्रिया च। विवर्त्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमाद्विषमाङ्गता वेदना च। अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च। अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च। तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना चेति ॥ ७ ॥

उत्पिष्टादि लक्षण—उत्पिष्ट होने पर विशेष कर सन्धि के दोनों पार्श्वों में शोथ तथा वेदना होती है और ये वेदनाएं अनेक प्रकार की तथा रात्रि में विशेषरूपसे होती हैं। विश्लिष्ट में अल्प शोथ, निरन्तर वेदना तथा सन्धि के स्वरूप और कार्य में विकृति होती है। विवर्तित में सन्धि के एक पार्श्व में सरक जाने से उस अङ्ग (स्थान) की विषमता तथा वेदना

होती है। अवक्षिप्त में सन्धि का विश्लेष तथा तीव्र पीड़ा होती है। अतिक्षिप्त में सन्धि बनाने में भाग लेने वाली दोनों अस्थियां दूर दूर हो जाती हैं तथा वेदना होती है। तिर्यक्क्षिप्त में एक अस्थि एक पार्श्व में सरक जाती है तथा अत्यधिक वेदना होती है ॥ ७ ॥

काण्डभग्नमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः-कर्कटकम्, अश्वकर्णं, चूर्णितं, पिच्चितम्, अस्थिच्छल्लितं, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अतिपातितं, वक्रं, छिन्नं, पाटितं, स्फुटितमिति द्वादशविधम् ॥ ८ ॥

अब इसके अनन्तर काण्डभग्न का वर्णन करते हैं। इसके कर्कटक, अश्वकर्ण, चूर्णित, पिच्चित, अस्थिच्छल्लित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित और स्फुटित ऐसे बारह भेद होते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—तन्त्रान्तर में काण्डभग्न के अनेक भेद माने गये हैं—'भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम्' (मा० नि०)

डाक्टरी में भग्न (Fracture) के मुख्य दो भेद किये गये हैं। (१) साधारण (Simple fracture) तथा (२) संयुक्तभग्न (Compound fracture)। साधारण भग्न में केवल भीतर की अस्थि टूट जाती है। मांस तथा चर्म भिन्न नहीं होते हैं जिससे बाहरी वायु भग्न अस्थि तक नहीं जा सकती है। सयुक्तभग्न में चर्म, पेशी तथा श्लैष्मिक कला आदि छिन्न हो जाते हैं जिससे रक्त-प्रवाह होता है तथा वायु टूटी अस्थि तक प्रविष्ट हो जाती है तथा जीवाणुओं के भी प्रविष्ट हो जाने से शोथ, ज्वरादि लक्षण भी होते हैं। भग्न के पूर्ण (Complete) तथा अपूर्ण (Incomplete) ऐसे भी दो भेद किये गये हैं। पूर्णभग्न (Complete fracture) के भी कई भेद होते है। (१) अनुप्रस्थ भग्न (Transverse fracture) में अस्थि आघात के स्थान ही पर पूर्णरूप में टूट जाती है। (२) तिर्यग्भग्न (Oblique fracture) में भग्न की रेखा टेढ़ी होती है। (३) अनुदैर्घ्यभग्न (Longitudinal fracture) में अस्थि का भग्न लम्बाई की ओर होता है। अस्थि का एक पतला लम्बा टुकड़ा टूट कर पृथक् हो जाता है। बन्दूक की गोली से ऐसा भग्न होता है। (४) अनुवेल्लित भग्न (Spiral fracture) में भग्न की रेखा लहरदार या चक्रदार होती है। यह भग्न लम्बी अस्थियों में होता है। (५) अवशीर्णभग्न (Comminuted fracture) में अस्थि कई छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती है। (६) अन्तराविष्ट भग्न (Impacted fracture) में अस्थि का टूटा हुआ एक भाग दूसरे में प्रविष्ट हो जाता है। (७) बहुभग्न (Multiple fracture) में अस्थि अनेक स्थानों पर टूट जाती है। अपूर्णभग्न में पूरी अस्थि नहीं टूटती है, केवल लम्बाई की ओर से उसका कुछ भाग टूट जाता है। बालकों में ऐसे भग्न हुआ करते हैं। इन्हें नवशाखाभग्न (Green stick fracture) कहते हैं। अवनतभग्न (Depressed fracture) कपाल की अस्थियों में होते हैं। रन्ध्रित भग्न—(Fissured fracture) में अस्थि में दरारें पड़ जाती हैं।

स्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्त्तनस्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम् ॥ ९ ॥

काण्डभग्न लक्षण—सूजन का आधिक्य, अङ्ग के स्पन्दन, विवर्तन (इधर-उधर हिलाने) और स्पर्श करने में भी असह्यता, उसे कुछ दबाने या रगड़ने पर शब्द (Crepitus) का सुनाई देना, भग्नाङ्ग का शिथिल होना, अनेक प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति, ऊंची-नीची किसी भी अवस्था में उस अङ्ग को रखने पर भी सुख मालूम न होना, ये संक्षेप से काण्डभग्न के लक्षण कहे गये हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में स्थानिक तथा सार्वदैहिक ऐसे भग्न के लक्षणों के दो भाग किये हैं। स्थानिक लक्षण-(१) पीड़ा (Pain)-अभिघात के स्थान पर वातसूत्र (Nerve) आदि के क्षत होने से पीड़ा होती है। (२) भग्न के स्थान पर आघात के चिह्न, चर्म का छिलना, मांसपेशी-सूत्रों का टूटना तथा शोथ होता है। (३) अङ्गविकृति—(Diformity) भग्न भाग स्वस्थान से दूर होकर पूर्व स्थान में गढा तथा अन्यत्र उभार हो जाता है। (४) कर्महीनता (Loss of function)। (५) अस्वाभाविक अस्थिरता या स्रस्ताङ्गता (Preternatural mobility)-भग्न के दोनों ओर से अङ्ग को पकड़ कर हिलाने से दोनों विश्लिष्ट भाग स्वतन्त्र दिशा में हिलेंगे किन्तु इस परीक्षा के करने से अक्षत वातसूत्र तथा रक्तवाहिनियों के टूटने का भय रहता है अत एव यह परीक्षा न करें। (६) भग्नध्वनि (Crepitus) अवपीड्यमाने शब्दः, अङ्ग को हिलाने से दोनों टुकड़े परस्पर रगड़ खाते हैं। यह परीक्षा भी प्रायः न करें। (७) भग्न से अङ्ग की लम्बाई कम हो जाती है।

सार्वदैहिक लक्षण या उपद्रव—(१) स्तब्धता (Shock)-प्रबल आघात या मर्म स्थान के आघात से गाढ़ी स्तब्धता होती है। (२) भग्नज्वर (Fracture fever)-प्रायः दूसरे, तीसरे या किसी किसी में चौथे दिन ज्वर हो जाता है तथा दो-तीन दिन बाद चला भी जाता है। भग्न के जीवाणु द्वारा दूषित (Septic) न होने पर यह १००° तक तथा Septic होने पर अधिक हो जाता है। (३) वसारक्तावरोध (Fat embolism)-वसामय धातु के फटने से वसाकण पृथक् होकर रक्त द्वारा फेफड़े तथा मस्तिष्क में पहुंच जाते हैं। फुफ्फुस में वसाकण अधिक जाने से श्वासावरोध तथा मस्तिष्क में अधिक जाने से मूर्च्छा उत्पन्न होती है। (४) सकम्पोन्माद (Delirium-tremens)—मद्यपी तथा दुर्बल में यह दशा उत्पन्न होती है। निद्राल्पता, उन्मादाभास, भयानक स्वप्न आना जिससे शय्या से कूद जाना, सर्वाङ्गकम्पन तथा उन्मादावस्था के बाद अवसन्नता तथा सन्न्यास हो रोगी का प्राणान्त हो जाता है। (५) रक्तप्रवाह—कम होता है, (६) धमनियों के क्षत होने से उस स्थान में रक्त जम कर निर्जीवाङ्गत्व हो जाता है। (७) वातसूत्र क्षत हो जाते हैं या आरोहण के समय सन्धान वस्तु के बीच में आजाने से उस अगकी सञ्ज्ञा-शक्ति या सञ्चालन-शक्ति नष्ट हो जाती है। (८) मासपेशीहानि सयुक्तभग्न में अधिक होती है। (९) सन्धिहानि—में आवरण शोथ तथा अस्थिशोथ होता है। (१०) सन्धिच्युति—अस्थिभग्न में कभी २ सन्धि भी च्युत हो जाती है। निष्कर्ष-उक्त लक्षणों से भग्न का वास्तविक स्थान तथा अचूक निदान न हो सके तो X Ray चित्र लेना चाहिये। भग्नस्थान के चित्र में अस्थि

के दोनों टुकडों के बीच में अन्तराल दिखाई देता है किन्तु भग्न भाग के अन्तराविष्ट होने पर यह अन्तराल नहीं दिखाई देता है इसका भी ध्यान रख कर वहां लक्षणों से निदान करे।

विशेषतस्तु सम्मूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकं स्पृश्यमानं शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्, पिच्चितं पृथुतां गतमनल्पशोफम्, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छल्लितम्, वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्, अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्, अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नम्, पाटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलं विस्फुटीकृतं स्फुटितमिति ॥ १० ॥

काण्डभग्नादिविशेष लक्षण—अधिकतर दोनों ओर उठा हुआ तथा मध्य में भग्न (टूटा) हुआ तथा ग्रन्थि के समान उन्नत जो हो उसे कर्कटभग्न कहते हैं। घोडे के कान की तरह ऊंचा उठा हुआ अश्वकर्ण भग्न होता है। अस्थि को स्पर्श करने पर शब्द सुनाई दे तो उसे चूर्णित जानो, जिसमें शोफ अधिक हो तथा आकार में चौड़ा हो उसे पिच्चित तथा जिस में अस्थि एक तरफ नीची तथा दूसरी तरफ ऊंची उठ जाय उसे अस्थिच्छल्लित एवं जो हिलाने से कम्पन करे उसे काण्डभग्न तथा जिसमें टूटा हुआ अस्थि का अवयव अस्थि के भीतर ही घुस कर मज्जा को बाहर निकाल दे उसे मज्जानुगतभग्न तथा जिसमें पूरी अस्थि टूट जाय उसे अतिपातितभग्न एवं जो अस्थि वक्र हो जाय पर टूटे नहीं उसे वक्रभग्न और एक तरफ से अवशेष (टूटे नहीं) तथा दूसरी तरफ से टूट जाय उसे छिन्नभग्न तथा जिसमें छोटी-छोटी बहुत सी दरारें हों जाय तथा पीडा हो उसे पाटित तथा जो धान्य के शूकों से पूर्ण हुआ सा प्रतीत हो और पीडाकारक तथा अधिक फटा हुआ हो उसे स्फुटित भग्न कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्श—१-कर्कटकभग्न २-अश्वकर्ण भग्न को Oblique fracture कहते हैं। ३-चूर्णित भग्न को Comminuted fracture कहते हैं। ४-पिच्चितभग्न को Complicated fracture कहते हैं। इसमें रक्तवाहिनियां, वातसूत्र और पेशियां भी विदीर्ण हो जाती है। ५-अस्थिच्छल्लित को Longitudinal fracture कहते हैं। एषा अस्थिच्छल्लिका पार्श्वगतस्तोकास्थिविश्लेषाद्भवति। (मधुकोषः)। ६-काण्डभग्न को व्यत्यस्त या अनुप्रस्थ Transverse fracture कहते हैं। ७-मज्जानुगत को अन्तराविष्ट Impacted fracture कहते हैं। ८-अतिपातितभग्न को पूर्णभग्न Complete fracture कहते हैं। ९-वक्रभग्न को Green stick fracture कहते हैं। इसमें अस्थि मुलायम होने से टूटती नहीं है किन्तु टेढी हो जाती है। यह बच्चों में होता है। १०-छिन्नभग्न को Incomplete अपूर्ण भग्न कहते हैं। ११-पाटित भग्न को Depressed fractura कहते हैं। १२-स्फुटित को Fissured fracture स्नेहित भग्न कहते हैं।

तेषु चूर्णितच्छिन्नातिपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि, कृशवृद्धबालानां क्षतक्षीणकुष्ठश्वासिनां सन्न्युपगतं चेति ॥ ११ ॥

कृच्छ्रसाध्यभग्न—उक्त भग्नों में चूर्णित, छिन्न, अतिपातित तथा मज्जानुगत कृच्छ्रसाध्य होते हैं एवं कमजोर, बूढे, बालक क्षतक्षीण, कुष्ठरोगी तथा श्वास के रोगी के भग्न और सन्धियों के पास में होने वाले भग्न भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च। उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिद्ध्यति ॥ (मा० नि०)। उपद्रवों में स्तब्धता (Sho C K), भग्नज्वर, वसारक्तावरोध, सकम्प उन्माद, रक्तप्रवाह, धमनी, नाडी, मांसपेशीक्षत, जीवाणुमयता आदि प्रधान हैं।

भवन्ति चात्र—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेत्तच्चिकित्सकः ॥ १२ ॥

असाध्यभग्न—कपालास्थियां (Flat Bones) अथवा कपाल (खोपडी Scull) के भिन्न भग्न तथा कटि के भिन्न भग्न होने पर एवं सन्धिमुक्त तथा सन्धिच्युत और जघन सन्धि के उत्पिष्ट भग्न की चिकित्सक चिकित्सा न करे ॥१२॥

असंश्लिष्टं कपालं तु ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं स्तनान्तरे शङ्खे पृष्ठे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१३॥

शिरःकपाल की सन्धियों के पृथक् होने पर या केवल ललाटप्रदेश की पूर्विकास्थि (Frontal Bone) के चूर्णित हो जाने पर, छिवा दोनों स्तनों के मध्य में तथा शङ्खप्रदेश और पृष्ठप्रदेश, मूर्ध (शिर के मध्य भाग) में भग्न होने पर वर्जित कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्श—भालुकि ने भी कहा है कि 'शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्टे भग्नं मरणाय'।

आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिरथापि वा।
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद् दुर्निबन्धनात् ॥१४॥
सङ्क्षोभाद्वाऽपि यद् गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥१५॥

जो अस्थि तथा सन्धि भग्न होने के पूर्व ही में खराब हो या जन्म से ही खराब हो तथा जिस टूटी हुई अस्थि को सम्यग्यमित (ठीक सन्धित) करने पर भी अनुचित रखनेसे, अनुचित बन्धन बांधने से एवं भग्न को हिलाने से विकृति हो जाती है, ऐसे रोगी की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ॥

विमर्श—आदितो यच्च दुर्जातम्—भग्न के पूर्व में यदि अस्थि के रोग जैसे-अस्थिवक्रता, अस्थिभङ्गुरता, अस्थिमृदुता और अस्थि के अर्बुद हों तथा अस्थि के समीप धमनीग्रन्थि (Aneurism) हो तथा फिरङ्ग के कारण जो अस्थि गल गई हो तथा पक्षाघात के होने के बाद अस्थि भग्न हुई हो तो वैसे रोगी असाध्य होते हैं। दुर्न्यासात्-दुःस्थापनात् अर्थात् भग्नाङ्ग को योग्यस्थिति (Correct position) में न रखने से, दुर्निबन्धनात्-कुशातूलिकादिबन्धनवस्तुभिर्दृढतयाऽबन्धनात् अर्थात् कुशा (Splint), रुई आदि योग्य उपकरणों से भग्नाङ्ग को भलीभांति न बांधने से। कुशाद्रव्य—मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वच। वंशसर्जवटानाञ्च कुशार्थमुपसंहरेत्॥ विक्रिया गच्छेत्—उक्त प्रकार से भग्नास्थि का ठीक मिलान न करने पर या दुर्बन्धन, संक्षोभ आदि कारणों से ठीक मिलाई हुई अस्थि भी योग्य स्थान से हट कर सन्धित हो जाती है। प्रायः सन्धान के बाद भग्नस्थान की अस्थि में नई धातु बनती है। प्रारम्भ में यह धातु मुलायम होती है अतएव दुर्बन्धन, दुर्न्यास तथा संक्षोभ से इसमें बिगाड (विकृति) हो जाता है। जब अस्थि के भिन्न भागों

का सन्धान ठीक नहीं होता है तो दोनों भागों के बीच में अवकाश रह जाता है अथवा एक भाग दूसरे पर चढ जाता इससे आकृतिघ्न हो जाता है इसे कुसंयोजन (Mal union) कहते हैं। अस्थियों का न जुड़ना—(१) उचित सन्धान न होना, (२) अस्थि-भागों के बीच में पेशियों, रक्तवाहिनियों का आ जाना, (३) अङ्ग को विश्राम न मिलना, (४) अस्थिरोग, (५) रोगी की शारीरिक दशा का क्षीण होना, (६) दुर्न्यास, (७) दुर्निबन्धन, (८) धमनी के टूट जाने से अस्थि को रक्त न मिलना आदि हैं। आजकल सर्वसाधन-सम्पन्न अस्पतालों में भग्न के रोगी को रखने से कुसंयोजन का भय बहुत कम हो जाता है। इसके लिये अनेक प्रकार की बुशाए (Splints) तथा चांदी के तार, धातु की पट्टियां, लकड़ी या हस्तिदन्त की कीलें, पेच, गुटियां होती हैं। धातु-निर्मित वस्तुओं का कम प्रयोग करें। चांदी के तार उत्तम होते हैं। संयोजन के पूर्व एक्स्रे से भग्न का चित्र लेना भी आवश्यक है।

मध्यस्य वयसोऽवस्थास्तिस्रो याः परिकीर्त्तिताः।
तत्र स्थिरो भवेज्जन्तुरुपक्रान्तो विजानता ॥ १६ ॥

मध्यमायु की जो तीन अवस्थाएं बाल, युवा तथा प्रगल्भ या प्रौढ कही गई हैं। उनमें विद्यमान मनुष्य का भग्न विज्ञ वैद्य द्वारा चिकित्सा करने से स्थिर (ठीक) हो जाता है ॥१६॥

विमर्श—तत्रभवान् पुनर्वसु ने भग्नों के भेदा—'वृद्धिबालान सम्पूर्णा स्थानिनि, तरुणास्थीन्यसम्पूर्णा बाल, विद्यमानसन्धिबन्धनं पुनः प्रायेणानस्थिसन्धिसमाविशद्वर्षमुपदिशेत्' कहा। षोडशसप्तदशवर्षयोरन्तरे मध्य वय, तरुण विद्यमानो वृद्धिबालान सम्पूर्णा स्थानिनि। त्रयस्त्रिंशतेर्ऊर्द्धं, त्रयस्त्रिंशतो यौवनम्, अचत्वारिंशतः सर्वधातुसम्पूर्णेन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णा अत ऊर्द्धमोपक्रमिकानिर्वर्त्तयन्तीति। (सु० सू० अ० ३५)। 'प्रथमे वयसि यत्र भग्न मुक्तमादिशेत्॥ ४० से ७० तक कृच्छ्रसाध्य तथा ७० के पश्चात् आयु-दृष्टि से भग्नों को असाध्य समझो।

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु।
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥ १७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भग्ननिदानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

तरुणास्थियां—आघात से नम जाती हैं, नलकास्थियां टूट जाती हैं, कपालास्थियां विदीर्ण हो जाती हैं तथा रुचकास्थियां और वलयास्थियां फूट जाती हैं ॥ १७ ॥

विमर्श—तरुणास्थियों को Cartilage कहते हैं। इनमें लचक होती है नासा, कर्ण, उपपर्णुकाएं तथा गर्भावस्था और बाल्यावस्था में भी अनेक अस्थियां कार्टिलेज के समान ही मुलायम होती हैं अत एव ऐसी अस्थियों पर आघात लगने से वे नम जाती हैं टूटती नहीं अतः इस प्रकार के भग्न को वक्र या नवजात भग्न Green stick fracture कहते हैं। हाथ-पैर आदि की नलकास्थियों को Long Bones कहते हैं। कपालास्थियों को Flat Bones कहते हैं, दन्तों को रुचकास्थियां तथा वलयास्थियों को Short and erregular Bones कहते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायां भग्ननिदानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः।

अथातो मुखरोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर मुख में होने वाले रोगों के निदान का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा था ॥ १-२ ॥

मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु। तत्रायतनानि—ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालु, कण्ठः, सर्वाणि चेति ॥ ३ ॥

मुख रोग संख्या में पैंसठ होते हैं तथा वे सात स्थानों में उत्पन्न होते हैं। उनमें निम्न सात आयतन हैं, जैसे—दोनों ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, कण्ठ तथा समग्र मुख है ॥ ३ ॥

विमर्श—मुखपरिभाषा—ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च। गण्डौ मुखादि सकलं समग्रं मुखमुच्यते॥ (भाव प्र०)। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने मुखरोगों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है। भोजमत से ६७ मुखरोग होते हैं—दन्तोष्ठगतौष्ठयोश्च मूलेषु दश षट् च। नव तालुनि जिह्वाया पञ्चसप्तदशास्यजा॥ कण्ठे त्रयः सर्वसंस्थ एकषष्टिश्चतु परा॥ चरक ने ६१ मुखरोग माने हैं—सन्धानदूष्यादृतिनामभेदाश्चैते चतुःषष्टिविधा भवन्ति (च चि अ. २६)। शार्ङ्गधर ने ७४ मुखरोग माने हैं—चतुःसप्ततिसंख्याका मुखरोगास्त्वयोदिताः। भावप्रकाश ने ६७ मुखरोग माने हैं—स्युष्ठयोष्ठयोर्दन्तमूले तु दश षट् तथा। दन्तेष्वष्टौ च जिह्वाया पञ्च स्युर्नव तालुनि॥ कण्ठे सप्तदश प्रोक्तास्त्रयः सर्वेषु च स्मृता। एव मुखामया सर्वे सप्तषष्टिर्मता बुधैः॥ वाग्भट ने ७५ मुखरोग माने हैं—गण्डे सर्वत्र चैवोक्ता पञ्चसप्ततिरामया। तथा गण्ड को मुख का अवयव मान कर सात के स्थान पर आठ आयतन माने हैं।

तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायाम्, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेषु ॥ ४ ॥

उनमें से दोनों ओष्ठों में आठ, दन्तमूलों (मसूढ़ों) में पन्द्रह, दांतों में आठ, जिह्वा में पांच, तालु में नौ, कण्ठ में सत्तरह तथा सकल मुख में तीन ॥ ४ ॥

तत्रौष्ठप्रकोपा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांसमेदोऽभिघातनिमित्ताः ॥ ५ ॥

ओष्ठ के रोग—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, मांस मेद तथा आघात इनके कारण आठ होते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—वाग्भट ने इन रोगों के अतिरिक्त ओष्ठ के तीन रोग अधिक माने हैं जिससे उनकी संख्या ग्यारह हो जाती है। (१) तत्र खण्डोष्ठ इत्युक्तो गतेनोष्ठो द्विधा कृत। खण्डोष्ठ का साम्य हेयर लिप से (Hare lip) किया जाता है। (२) ओष्ठार्बुद—खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्। यह इपिथिलियोमा (Epithelioma) है। (३) जलार्बुद—जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम्। यह एक प्रकार से म्यूकससिस्ट (Mucuscyst) है।

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः ॥ ६ ॥

वातप्रकोप से ओष्ठ स्पर्श में खुरदरे, कठिन, स्तब्ध (सुन्न) तथा वर्ण में काले एवं तीव्र पीड़ा तथा विदीर्णयुक्त हो जाते हैं एवं इनकी त्वचा भी उखड़ जाती है। इसे (Cracked chapped lips) कहते हैं॥ ६ ॥

आचितौ पिडकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम्।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥ ७ ॥

पित्त-प्रकोप से ओष्ठ सरसों के प्रमाण की अनेक पिड़काओं से आचित (युक्त) तथा दाह, पाक और स्रावयुक्त एवं वर्ण में नील तथा पीत दिखाई देते हैं ॥ ७ ॥

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरवेदनौ।
कण्डूमन्तौ कफाच्छ्लौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥८॥

कफ के प्रकोप से ओष्ठ स्वसमान वर्णवाली पिडकाओं से युक्त तथा वेदनारहित, कण्डुयुक्त, शोथयुक्त, चिपचिपे, ठण्डे और भारी होते हैं ॥ ८ ॥

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥ ९ ॥

सन्निपात (त्रिदोष-प्रकोप) से ओष्ठ कभी काले, कभी पीले और कभी श्वेत दिखाई देते हैं तथा विविध प्रकार की पिड़काओं से युक्त होते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श.—पित्त, कफ तथा त्रिदोष से उत्पन्न ओष्ठप्रकोप का साम्य Herpes labialis के साथ हो सकता है।

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ १० ॥

रक्तप्रकोप से ओष्ठ खर्जूरफल (छुहारा या पिण्डखजूर) के समान रङ्गवाली पिड़काओं से व्याप्त होते हैं तथा रक्त बहाते हैं और देखने में रक्त के समान सुर्ख होते हैं ॥ १० ॥

मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सूक्तस्योभयतो मुखात् ॥११॥

मांसदुष्ट ओष्ठ भारी, मोटे मांस के पिण्ड के समान उठे (उभरे) हुये होते हैं एवं मुख के उभयपार्श्व में उत्पन्न व्रणों में कृमि पड़ जाते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श:—यह ओष्ठ का Epithelioma हो सकता है।

मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू।
अच्छस्फटिकसङ्काशमास्रावं स्रवतो गुरू ॥ १२ ॥

मेदोदुष्टि से ओष्ठ घृतमण्ड के समान रङ्गवाले, कण्डुयुक्त, स्थिर तथा मुलायम होते हैं एवं स्वच्छ स्फटिक के समान स्राव बहाते हैं और भारी होते हैं ॥ १२ ॥

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः।
ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ॥१३॥

अभिघात से ओष्ठ क्षतज (रुधिर) के समान रंगवाले तथा विदीर्ण, छिन्न, गांठदार और कण्डुयुक्त होते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श:—अभिघातजन्य ओष्ठप्रकोप में आघात के बाद कफ तथा रक्त का सम्बन्ध हो जाता है जैसा कि भोज ने कहा है—क्षतावभिहतौ वाऽपि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ। भवत. सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषितौ ॥

दन्तमूलगतास्तु-शीतादः, दन्तपुप्पुटकः, दन्तवेष्टकः, शौषिरः, महाशौषिरः, परिदरः, उपकुशः, दन्तवैदर्भः, वर्द्धनः, अधिमासः, नाड्यः पञ्चेति ॥ १४ ॥

दन्तमूल में होनेवाले रोग—जैसे-शीताद, दन्तपुप्पुटक, दन्तवेष्टक, शौषिर, महाशौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ, वर्धन, अधिमांस तथा पांच प्रकार के नाडीरोग, ऐसे मिलकर पन्द्रह होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्श.—वाग्भट ने दन्तवेष्ट तथा परिदर को नहीं माना है जिससे उनके मत से दन्तमूल में १३ रोग ही होते हैं। वर्धन को दन्तरोगों में गिना है। दन्तविद्रधि (एल्विओलर एब्सेस Alveolar abscess) एक पृथक् मानी है—दन्तमासे मलै. सान्नैर्वाह्यान्त.स्रयथुर्गुरु.। सरुग्दाहः स्रवेद्भिन्नः पूयान्न दन्तविद्रधि. ॥ (अ. सं.)। शार्ङ्गधर ने भी दन्तमूल रोग १३ ही माने हैं—तथा त्रयोदशमिता दन्तमूलामयाः स्मृता.।

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्त्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि क्लेदीनि मृदूनि च ॥ १५ ॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसम्भवः ॥१६॥

शीताद—जिस मनुष्य के दन्तवेष्टों (मसूड़ों) से विना कारण सहसा रक्तस्राव होने लगता है एवं जिसके दन्तमांस (मसूड़े) दुर्गन्धयुक्त, काले, क्लेदयुक्त तथा मृदु (ढीले या पिलपिले) हो जाते हैं। तथा उन मसूड़ों का मांस गल कर गिरने लगता है एवं जिनमें पाक हो जाता है उसे कफ-रक्त से उत्पन्न हुई शीताद नामक व्याधि कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

विमर्श.—शीताद को Bleeding or Spongy gums कहते हैं। मुख साफ न रखने से या कोई वस्तु खाने के बाद कुल्ला न करने पर मसूड़ों और दांतों के बीच में अन्नादि के लगे रह जाने से तथा अशुद्ध पारद के योग-सेवन एवं स्कर्वी नामक रोग इसकी उत्पत्ति में कारण होते हैं।

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य स्रयथुः सरुजो महान्।
दन्तपुप्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः ॥ १७ ॥

दन्तपुप्पुटक—कफ और रक्त की खराबी से जिस मनुष्य के दो दांत या तीन दांतों के मूल (मसूड़ों) में पीडादायक महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है उसे दन्तपुप्पुटक रोग जानना चाहिये ॥१७॥

विमर्श:—दन्तविद्रधि की अपेक्षा मसूड़ों में कभी-कभी छोटी-छोटी फुन्सियां हो जाती हैं जो कि मसूड़े को छेद कर फूट जाती हैं और उनसे पूय निकल जाता है इसे गम्बोइल (Gumboil) कहते हैं।

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसम्भवः ॥ १८ ॥

दन्तवेष्ट—जिस मनुष्य के दांत (तथा मसूड़े) पीव और रक्त बहाते हों और हिलते हों उसे दूषित रक्तजन्य दन्तवेष्ट रोग जानना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्श:—यह पायरिया एल्वियोलेरिस (Pyorrhoea alveolaris) अथवा सप्युरेटिव जिञ्जिवाइटिस (Suppurative gingivitis) रोग है।

स्रयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः।
लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः ॥१९॥

शौषिर—कफ और रक्त की खराबी से जिस मनुष्य के दन्तमूलों में पीडादायक, लाला बहाने वाला तथा कण्डुयुक्त शोथ होता है उसे शौषिर रोग जानना चाहिये ॥ १९ ॥

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते।
दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते ॥ २० ॥
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः ॥ २१ ॥

महाशौषिर—जिस मनुष्य के दांत मसूड़ों को छोड़ देते हैं अर्थात् हिलने लग जाते हैं तथा तालु फट जाता है एवं मुख

में पीड़ा होती रहती है वह सर्वदोष (सन्निपात) जन्य महाशौषिर नामक रोग है ॥ २०-२१ ॥

विमर्श—यह भी पायरिया का उग्ररूप ही है। इसका पूय रक्त में मिलकर पूयमयता तथा विषमयता दोनों हो जाती हैं। अतः एव भोज ने इससे सात दिन ही में मृत्यु होना लिखा है—विदृद्धनिर्गं दन्तांसक्लोदमपि वारयेत्। महाशौषिर इत्येष सप्तरात्रादिदन्तमूल॥ सप्तरात्रान्तरक्तात् सूयुग्विरुतिः। (भ.सं.)। महाशौषिर—गैंग्रीनस स्टोमेटायटिस (Gangrenous stomatitis) या कैंक्रम ओरिस (Cancrum oris) है। इसमें मसूड़े पर या कपोल के अन्तः प्रदेश में व्रणोत्पन्न होकर तालु तथा जिह्वा आदि स्थलों में भी फैल जाता है। इसमें ज्वर तेज होता है। रोगी की शीघ्र (दश दिन के भीतर) मृत्यु भी हो जाती है।

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् स्रवति चाप्यसृक्।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥ २२ ॥

परिदर—जिस रोग में दन्तमांस (मसूड़े) गलते हों तथा थूकने से बार-बार खून आता हो वह पित्त, रक्त तथा कफ से उत्पन्न हुई परिदर नामक व्याधि है ॥ २२ ॥

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च।
आवेष्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ॥ २३ ॥
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते।
यस्मिन्नुपक्रुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः ॥ २४ ॥

उपक्रुश—जिस मनुष्य के वेष्ट (मसूड़ों) में दाह तथा पाक हो, मसूड़े से दांत ढीले होकर हिलते हों, परस्पर दांतों को रगड़ने से या उन्हें दबाने से खून निकलता हो, मन्द पीड़ा होती हो तथा रक्त निकल जाने के बाद मसूड़े फूल जाते हों मुख दुर्गन्धित हो जाता हो वह पित्त तथा रक्त से उत्पन्न उपक्रुश नामक रोग है ॥ २३-२४ ॥

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्।
भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः ॥२५॥

वैदर्भ—दन्तमूल में रगड़ने से अत्यधिक संरम्भ (सरसराहट, शोथ, लालिमा) होती है तथा दन्तपंक्ति हिलती है। इसे अभिघातजन्य वैदर्भ रोग कहते हैं ॥ २५ ॥

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
वर्द्धनः स मतो व्याधिर्जाति नक्तं च प्रशाम्यति ॥२६॥

वर्धन—वातप्रकोप के कारण अत्यधिक पीड़ाकारक अधिक दांत पैदा होता है उसे वर्धन रोग कहते हैं। इसमें दन्तोद्गम के पश्चात् वेदना स्वयं शान्त हो जाती है ॥ २६ ॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रह में वर्धन को अधिदन्त तथा कलवर्धन लिखा है—दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः कलवर्धनः। यह एक्स्ट्रा टूथ (Extra tooth) है। कुछ टीकाकारों ने इसे अकलडाढ (विस्डम टूथ (Wisdom tooth) माना है परन्तु इसके उखाड़ने तथा अग्नि-अवचारण करने का उपदेश (उद्धृत्याग्निकृदन्तु तदोऽग्निभ्यवचारयेत्) शास्त्रों में होने से अकलडाढ नहीं है। अकलडाढ तो दन्तपंक्ति ही में की आखिरी डाढ है अतः उसे अधिक भी नहीं कह सकते।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्छोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो ज्ञेयः सोऽधिमांसकः ॥२७॥

अधिमांस—हनुसन्धि के पास हनु के अन्तिम दंत में महान् शोथ होता है तथा उसमें तीव्र पीड़ा और लालास्राव होता है। यह कफजन्य अधिमांस रोग है ॥ २७ ॥

विमर्श—यह इम्पेक्टेड विस्डम टूथ (Impacted wisdom tooth) है तथा इस पर मसूड़े का कुछ मांस चढ़ जाता है तथा चर्वणादि के समय कुचल जाने से हनुसन्धि तथा कान में वेदना तथा ग्रास उतारने में कष्ट होता है। अष्टाङ्गसंग्रह में इसके ये लक्षण स्पष्ट लिखे हैं—हनुकर्णजाकरः। प्रतिदन्तस्य वृद्धिम् ॥

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ २८ ॥

दन्तनाडियां—दांतों की जड़ों (मसूड़ों) में उत्पन्न यथाशास्त्रोक्त पांच प्रकार के दन्तनाडी रोग होते हैं ॥ २८ ॥

विमर्श—दशमाध्यायोक्तनाडीनिदाने वातपित्तकफसन्निपातागन्तुरूपैरिताः प्रोक्ताः पञ्च नाडीभेदा दन्तनामेऽपि भवन्तीतिज्ञेयाः। प्रायः दन्तोद्गूखल तथा मसूड़ों में गहरी विद्रधियां बन जाती हैं जिनमें पूय बनकर बाहर नाडी-द्वारा निकलता रहता है।

दन्तगतास्तु-दालनः, क्रिमिदन्तको, दन्तहर्षो, भञ्जनकः, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनुमोक्षश्चेति ॥

दन्तगत रोग—दालन, क्रिमिदन्त, दन्तहर्ष, भञ्जनक, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तक और हनुमोक्ष ये आठ दन्तरोग होते हैं॥

विमर्श—शार्ङ्गधर ने दन्तरोग दस माने हैं—दन्तरोगा दशास्मृताः। इस तरह कराल तथा दन्तचाल ये दो रोग अधिक माने हैं—करालदन्तचालयोरप्यत्र प्रवर्त्तने-'अतः अत्र. प्रकुपितो वायुर्दन्तसमाश्रितः। करालान् विकृतान् दन्तान् करोति न संशयः।' इति, 'चालश्चलत्वदृष्टिभ्यां दन्तैर्भक्षणादधिकत्वयैः'। वाग्भट ने भी दन्तरोग दस माने हैं—जैसे कराल-करालस्तु करालानां दशनानां समुद्भवः—दन्तचाल आदि। दन्तभेदलक्षण—दन्तभेदे दिनास्तोदभेदरक्तस्फुटनान्विताः।

दाल्यन्ते बहुधा दन्ता यस्मिन्नीषद्रुगन्विताः।
दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः ॥ ३० ॥

दालन—जिसमें दांत अनेक प्रकार से फट जाते हैं। तथा तीव्र पीड़ा होती हो वह सदागति (वात) के कारण उत्पन्न दालन रोग है ॥ ३० ॥

विमर्श—दालन को टूथ एक (Tooth ache) अथवा ओडोन्टोडाईनिया (Odontodynia) कहते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में इसे शीतदन्त लिखा है—वातादुपाश्रिता दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः। दाल्यन्त इव शूलेन शीतादो दालनश्च सः ॥

कृष्णरिछद्री चलः स्रावी ससंरम्भी महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः कृमिदन्तकः ॥ ३१ ॥

कृमिदन्त—वात के कारण जो दांत प्रथम काला हो, फिर उसमें छिद्र हो जाय, पश्चात् हिलने लगे और फिर उससे स्राव निकले तथा शोथ और भयङ्कर पीड़ा हो तथा कभी २ विना कारण के ही पीड़ा हो उसे कृमिदन्त समझना चाहिये ॥

विमर्श—दांतों में अन्नादि के फस कर सड़ने से उत्पन्न अम्ल की क्रिया से वे गलकर पोले हो जाते हैं तथा उनमें कीड़े भी पड़ जाते हैं। कैल्सियम तथा विटामीन डी की अल्पता से भी यह रोग पैदा होता है, इसे डेण्टल केरिज (Dental caries) कहते हैं।

दशनाः शीतमुष्णं च सहन्ते स्पर्शनं न च।
यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यान् समीरणात् ॥३२॥

दन्तहर्ष—जिस मनुष्य के दांत शीत तथा उष्ण स्पर्श को या केवल स्पर्श को ही सहन नहीं कर सकते हों उसे वातजन्य दन्तहर्ष रोग जानो ॥ ३२ ॥

विमर्शः—माधव ने इसे पित्त-मारुतकोपजन्य माना है। 'पित्तमारुतकोपेन' इसमें दन्तगत वातसूत्र खुले हो जाते हैं जिससे किसी भी स्पर्श से हर्ष होता है। यह ओडोण्टायटिस (Odontitis) है।

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक्।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥ ३३ ॥

भञ्जनक—जिसमें वक्त्र (मुख) वक्र (टेढा) हो जाय तथा दांतों का भङ्ग (त्रोटन) हो जाय और तेज पीडा हो उसे कफ वातजन्य भञ्जनक नामक रोग जानो ॥ ३३ ॥

शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै।
सा दन्तानां गुणघ्नी तु विज्ञेया दन्तशर्करा ॥ ३४ ॥

दन्तशर्करा—जिस मनुष्य के दांतों पर शर्करा (महीन बालूरेत) के समान मल जम जाता है वह दन्तों के दृढ तथा शुक्लरूप सौन्दर्यादि गुण को नष्ट करने वाली दन्तशर्करा (Tarter) व्याधि है ॥ ३४ ॥

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ ३५ ॥

कपालिका—जब दांतों पर पूर्वोक्त जमी हुई शर्करा के साथ दन्तवल्क (दन्त-कवच) उतरने लगता है, तब उसी शर्कराको दन्तनाशिनी कपालिका कहते हैं ॥ ३५ ॥

विमर्शः—दांतों के ऊपर एक अतिदृढ तथा श्वेत आवरण चढा रहता है उसे दन्तवल्क या दन्तकवच (इनेमल Inamel) कहते हैं। मनुष्य अतिकठिन पदार्थों को इसी की सहायता से चबाता है। मुख की ठीक तरह से शुद्धि न रखने से इस पर मैला जम जाता है और वह जब अधिक हो जाता है तब लोहे पर लगे हुये मोर्चे के समान उतर कर पृथक् हो जाता है।

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ॥३६॥

श्यावदन्तक—जो दांत रक्त तथा पित्त के प्रकोप से अशेष (पूर्ण) रूप में दग्ध होकर श्याव (धूमिल) अथवा नीला हो जाता है वह श्यावदन्तक रोग कहलाता है ॥ ३६ ॥

वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥ ३७ ॥

हनुमोक्ष—उच्चभाषण, हसन, जृम्भण आदि भिन्न-भिन्न भावों के कारण कुपित हुये वात से हनुसन्धि विसहत (स्वस्थान-स्रस्त) हो जाती है तथा इसमें अर्दित (मुख के लकवे) के समान लक्षण होते हैं। इसको हनुमोक्ष जानना चाहिये ॥३७॥

विमर्शः—यद्यपि चरक तथा अष्टांगसग्रह में हनुमोक्ष का वातरोगों के अन्दर हनुस्रंस के नाम से हनुग्रह के साथ लिखकर वर्णन किया है किन्तु सुश्रुत ने दन्तस्थान-सामीप्य अर्थात् दांतों का आधार हन्वस्थि के होने से तथा दन्तपीडाकर होने से हनु के होने वाले मोक्ष को भी दन्तरोग में मान लिया है। वास्तव में यह दन्तरोग नहीं है। भावप्रकाश ने भी इसे वातरोगों में लिखा है। माधवनिदान में भी इस रोग को वातरोगाधिकार में हनुस्रंस के नाम से लिखा है—जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघातत। कुपितो हनुमूलस्थ स्रसयित्वाऽनिलो हनू ॥ करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ॥ हनुग्रहः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम्। तन्त्रान्तरीयवर्णनं—भाराभिघाताज्जृम्भतोश्च हनुसन्धिर्विमुच्यते। निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितुं तत्र गच्छति ॥ तं कृच्छ्रमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत् ॥ हनुमोक्ष या हनुस्रंस डिस्लोकेशन ऑफ् दि लोअर झा (Dislocation of the lower jaw) है तथा हनुग्रह को लाक झा (Lock jaw) अथवा ट्रिस्मस (Trismus) कहते हैं। हनुस्रंस या हनुमोक्ष—कारण-हनुसन्धि-बन्धनों के ढीले होने से तथा हंसते या जृम्भा लेते समय अधिक मुख खोलने से किंवा खुले मुख पर आघात होने से, किंवा दन्तोत्पाटन के समय अधोहन्विका पर ज्यादा जोर पड़ने से हनुमुण्ड हनुखात के अर्बुद पर से फिसलता हुआ उसके आगे पहुच जाता है। हनुकुन्त पर लगी हुई संकोचपेशियां भी अस्थि को आगे की ओर खींचती हैं। लक्षण—(१) रोगी का मुख खुला रह जाता है, चिबुक नीचे को दब जाती है, कपोल पर कर्णमूल के आगे एक गढा और उसके आगे एक उभार दिखाई देता है—करोति विवृतास्यत्वम्। (२) रोगी चर्वण तथा भाषण नहीं कर सकता है—हनुस्रंस स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम्। (अ सं.)। हनुग्रह—इसमें मुख बन्द हो जाता है—अथवा संवृतास्यताम्। इस रोग का कारण मुख की पेशियों का सङ्कुचित हो जाना है।

जिह्वागतास्तु—कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः, अलासः, उपजिह्विका चेति ॥ ३८ ॥

जिह्वारोग—वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों से तीन प्रकार के कण्टक, चौथा अलास तथा पांचवां उपजिह्विका ऐसे जिह्वा में ५ रोग होते हैं ॥ ३८ ॥

विमर्शः—वाग्भट जिह्वा में ६ रोग मानता है। शार्ङ्गधर ने भी जिह्वारोग ६ माने है। अधिजिह्वा अधिक माना है। सुश्रुत ने अधिजिह्वा को कण्ठरोगों में लिखा है।

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा।
पित्तेन पीता परिदह्यते च चिता सरक्तैरपि कण्टकाश्च ॥
कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोद्भवैः शाल्मलिकण्टकाभैः।

त्रिविधजिह्वाकण्टक—वायु के प्रकोप से जिह्वा फट जाती है, सुप्त या रसज्ञान-रहित तथा शाक (सागवान) के पत्र के समान खुरदरी हो जाती है। पित्तप्रकोप से वर्ण में पीली, दाहयुक्त तथा लालवर्ण के कण्टकों (अङ्कुरों) से व्याप्त हो जाती है। कफ के प्रकोप से भारी, मोटी और सेमल के कांटों के समान मासाङ्कुरों से व्याप्त हो जाती है ॥ ३९ ॥

विमर्श—ये तीनों प्रकार के जिह्वाकण्टक रोग जीर्णजिह्वाशोथ (Chronic Superficial Glossitis) से समता रखते हैं। वातजजिह्वाकण्टक Cracked या Fissured tongue, पित्तज जिह्वाकण्टक Red glazed tongue तथा कफजजिह्वाकण्टक को Ichthyosis कहते हैं। डाक्टरी में जिह्वारोग (Glossitis) के वर्णन कई प्रकार से हैं। (१) Acute superficial type यह सारे मुखपाक से होता है। (२) Acute parenchymatous type. यह पारदसेवन, आघात, दुष्टव्रण तथा पूयजनक जीवाणु (Strepto cocous pyogenes) के सक्रमण से होता है। इसी तरह जीर्ण प्रकार (Chronic type) भी होते हैं जिनके मुख्य कारण फिरङ्ग की तृतीयावस्था, अधिक धूम्रपान, दन्त-रोगों के उपसर्ग या रगड, तेज मद्यों का सेवन, अधिक मिर्च मसालेदार शाकादि सेवन होता है। कभी-कभी ये जिह्वाशोथ घातकार्बुद (Epethelioma) में परिणत हो जाते हैं।

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥

अलास—जिह्वा के तल (नीचे के) भाग में कफ और रक्त के कारण गम्भीर शोथ उत्पन्न होता है, उसे अलास कहते हैं तथा यह बढ़कर जिह्वा को जकड देता है तथा जिह्वा के मूलभाग में तीव्र पाक हो जाता है ॥ ४० ॥

विमर्शः—अलास त्रिदोषजन्य तथा असाध्य होता है। अत्र कफरक्तयो. प्राधान्य, जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यस्ति, तृश पाकेन पित्तमप्यस्ति, अत एव त्रिदोषत्वेनासाध्यत्वमपि दुरुपक्रमत्वात्। (डल्हणः)। डा० श्रीघाणेकरजी ने इसे Sublingual abscess माना है। वाग्भट में मत्स्यगन्धी तथा मांसनाशक इसकी दो विशेषताएँ लिखी हैं—कफपित्ताढ्यः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः। मत्स्यगन्धिमर्मवेत् पक्वः सोऽलसो मासघातन ॥ (अ.उ २१)। इससे इसक जिह्वा का घातक अर्बुद (Carcinoma) समझ सकते हैं।

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥

उपजिह्विका—कफ और रक्त के प्रकोप से होने वाला, जिह्वा के अग्रभाग के समान स्वरूप का तथा जिह्वा को ऊपर उठा कर उत्पन्न हुआ शोथ जिससे लार टपकती हो, तथा जो कण्डु और दाह से युक्त हो उसे उपजिह्विका कहते हैं ॥ ४१ ॥

विमर्शः—चरक ने इस रोग को केवल कफजन्य माना है—यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते। आशु सजनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥ (च. अ. सू. १८)। वाग्भट में इसी को अधिजिह्वा कहा है—'अधिजिह्व. सरुक्कण्डूवाक्याहारविवातकृत्' डाक्टरी में इसको रेन्यूला (Ranula) कहते हैं। इसमें यहां की लसीकावाहिनियों में अवरोध उत्पन्न होने से जिह्वा के नीचे शोथ उत्पन्न होकर एक ग्रन्थि का रूप हो जाता है जिससे जिह्वा ऊंची उठ जाती है। यह स्थानान्तरित हो जाती है।

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुपः, मांसकच्छपः, अर्बुदं, मांसङ्घातः, तालुपुप्पुटः, तालुशोपः, तालुपाक इति ॥ ४२ ॥

तालुगत रोग—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुप, मांसकच्छप, अर्बुद, मांससंघात, तालुपुप्पुट, तालुशोप और तालुपाक ऐसे तालु में नौ रोग होते हैं ॥ ४२ ॥

विमर्शः—भावप्रकाश ने भी सुश्रुतानुसार तालुरोग ९ ही माने हैं। वाग्भट ने तालु में ८ रोग माने हैं। शार्ङ्गधर ने भी ८ ही माने हैं—तथाऽष्टौ तालुजा गदा । अध्रुप नहीं माना है।

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो
दीर्घः शोफो ध्मातवस्तिप्रकाशः।
तृष्णाकासश्वासकृत्सम्प्रदिष्टो
व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥ ४३ ॥

गलशुण्डिका—कफ और रक्त के प्रकोप के कारण तालुमूल से उत्पन्न होकर विवृद्ध हुआ तथा फूली हुई वस्ति (या मशक) के स्वरूप का और तृष्णा, कास तथा श्वास को करने वाले रोग को वैद्य कण्ठशुण्डी नाम से कहते हैं ॥ ४३ ॥

विमर्श.—गलशुण्डी या कण्ठशुण्डी (Elongated uvula)—कारण-पुरानी खांसी या वात कास के कारण होता है। लेटते समय गलशुण्डी गले के पिछले भाग को छूती है जिससे क्षोभ (Irritation) उत्पन्न हो जाने से खांसी अधिक चलती है। इसमें वमन भी हो जाता है—'कण्ठोपरोधवृट्कासवमिकृद् गलशुण्डिका' (अ स.)।

शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।
शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे
रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराढ्यः ॥ ४४ ॥

तुण्डिकेरी—पूर्व में कहे हुये कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न तथा सूई चुभोने की सी पीडा, दाह और पाक से युक्त स्थूल शोथ तुण्डिकेरी कहा जाता है। अध्रुप—तालुप्रदेश में रक्त की दुष्टि से उत्पन्न तथा तीव्र पीडा और ज्वर से युक्त एवं लाल रंग का कठिन शोथ अध्रुप जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

विमर्शः—तुण्डिकेरी शब्द का अर्थ वनकार्पासीफल है तथा इस रोग का स्वरूप इसी के समान होता है अत एव इसे भी तुण्डिकेरी कह दिया है। अष्टाङ्ग में इसको कार्पासीफलसन्निभ नाम से ही लिखा है—हनुसन्ध्याश्रित कण्ठे कार्पासीफलसन्निभ । पिच्छिलो मन्दरक् शोफ कठिनस्तुण्डिकेरिका॥ वाग्भट में इसे कण्ठरोगों में लिखा है। तुण्डिकेरी का साम्य Enlarged tonsil or Tonsillitis के साथ हो सकता है। इसकी उत्पत्ति में विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं का उपसर्ग कारण होता है। अध्रुप को तालुप्रकोप (Palatitis) कह सकते हैं।

कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा-
ऽरक्तो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात्।
पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ ४५ ॥

कच्छप—कफ के प्रकोप से उत्पन्न तथा कछुए की भांति ऊपर को उठा हुआ, पीडारहित तथा धीरे-धीरे बढ़ने वाला कच्छप रोग होता है। अर्बुद रक्त की दुष्टि से तालु के मध्य में कमल के समान आकार वाले तथा पूर्वोक्त अर्बुद के लक्षणों से युक्त रोग को अबुद जानो ॥ ४५ ॥

विमर्शः—कच्छप-इसकी कृच्छ्रसाध्यता, दीर्घकालीन वृद्धि और छेदन-चिकित्सा का विचार करने से यह एक प्रकार का घातक अर्बुद है, इसे Adenoma of the palate अथवा तालु का सार्कोमा (Sarcoma) कह सकते हैं। अर्बुद—भोजोक्त लक्षणम्-उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका। पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थान तत्तालव्वर्बुदसन्निभम् ॥ यह एक प्रकार का तालु का Cancer है।

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च
तालव्यन्तःस्थं मांससङ्घातमाहुः।
नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्या-
न्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥ ४६ ॥

मांससंघात—कफ के प्रकोप से तालु के अन्तःप्रदेश में दूषित हुये मांस को जो कि पीडारहित हो मांससंघात कहते हैं। तालुपुप्पुट—मेदायुक्त कफ के प्रकोप से तालुप्रदेश में पीडारहित, स्थिर तथा कोल (बदर) के प्रमाण का पुप्पुट रोग होता है॥

विमर्श—मांससंघात के लक्षण Fibroma (सौम्य अर्बुद) के समान हैं। तालुपुप्पुट को Epulis of the palate कह सकते हैं॥ यह तालु में होने वाला सद्रव ग्रन्थिरूप (Cystic swelling) है।

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालु
श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात्।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥ ४७ ॥

तालुशोप—पित्तसहित वात के प्रकोप से तालुप्रदेश में अत्यन्त शोप (खुश्की) होता है तथा वह विदीर्ण भी हो जाता है एवं श्वास का कष्ट होता है। इसे तालुशोप कहते हैं। तालुपाक—प्रकुपित पित्त तालुप्रदेश में अत्यन्त भयङ्कर पाक उत्पन्न करता है, इसको तालुपाक रोग कहते हैं ॥ ४७ ॥

विमर्शः—तालुशोप-भोज ने केवल वात से तालुशोप होना लिखा है—'तालुशोषो भवेद्वातात्' वाग्भट ने—वातपित्तज्वराया-सैस्तालुशोषस्तदाह्वयः। तालुपाक का साम्य Ulceration of the palate से हो सकता है। इसके चार भेद होते हैं। (१) Simple या साधारण, (२) फिरङ्गजन्य (Syphilitic) फिरङ्ग की द्वितीयावस्था में दोनों तालु में अनेक व्रण बन जाते हैं तथा तृतीयावस्था में गया का रूप होकर फूट के Ulcer (छिद्र) बन जाता है। (३) चर्मकीलजन्य (Lupoidal) तालुपाक—यह प्रायः बच्चों में होता है। (४) वातकार्बुद (Epithelioma) के कारण भी तालुपाक हो सकता है।

कण्ठगतास्तु-रोहिण्यः पञ्च, कण्ठशालूकम्, अधिजिह्वो, वलयो, वलास, एकवृन्दो, वृन्दः, शतघ्नी, गिलायुः, गलविद्रधिः, गलौघः, स्वरघ्नो, मासतानो, विदारी चेति ॥ ४८ ॥

कण्ठगतरोग—पांच प्रकार की रोहिणी, कण्ठशालूक, अधिजिह्व, वलय, वलास, एकवृन्द, वृन्द, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधि, गलौघ, स्वरघ्न, मांसतान और विदारी ऐसे सत्तरह होते हैं॥

विमर्शः—शार्ङ्गधर ने कण्ठरोगों को गलरोग नाम से लिखा है तथा इन्हें १८ माना है—गलरोगास्तथा ख्याता अष्टादशमिता बुधैः। रक्तजरोहिणी की जगह मेदोजरोहिणी मानी है। वाग्भट तथा भावप्रकाश ने भी १८ प्रकार के कण्ठरोग माने हैं।

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्
सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी ॥ ४९ ॥

रोहिणी—वात, पित्त और कफ ये पृथक् पृथक् तथा तीनों मिलकर एवं रक्त ये प्रकुपित होकर गले में मांस को दूषित करके गले के मार्ग में रुकावट करने वाले जिन अङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं उसे प्राणनाशक रोहिणी नामक रोग कहते हैं।

विमर्शः—चरक ने रोहिणी को त्रिदोषजन्य मानी है तथा जिह्वामूल में प्रकुपित दोषों का अवस्थान माना है और कुशल वैद्य द्वारा चिकित्सा न करने से तीन रात में ही प्राणहारक होती है ऐसा लिखा है—वातपित्तकफा यस्य युगपत् कुपिताश्रय। जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्त. समुच्छिता ॥ जनयन्ति भृश शोथ वेदनाश्च पृथग्विधा। तं शीघ्रकारिण रोग रोहिणीति विनिर्दिशेत् ॥ त्रिरात्र परम तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्। कुशलेन त्वनुक्रान्त. क्षिप्र सम्पद्यते सुखी ॥ (च० सू० अ० १८)। रोहिणी को डिफ्थीरिया (Diphtheria) अथवा Diphtherial inflamation of the throat कहते हैं। इसका प्रधान कारण डिफ्थीरिया बेसीलस (Diphtheria Bacillus) नामक दण्डाकार जीवाणु है। इस रोग में गले के भीतर एक झिल्ली बनती है जो स्वरयन्त्र तथा नासा में फैल कर श्वासावरोध करती है। यह झिल्ली अन्ननिका, नासिका, स्वरयन्त्र, श्वासमार्ग, हृदय, आमाशय, फेफड़े तथा चक्षु, योनि, भग आदि स्थानों पर भी बन सकती है। इस झिल्ली में रोग के जीवाणु होते हैं जो बोलने, छींकने तथा खांसने के समय थूक तथा झिल्ली के सूक्ष्म कणों के साथ बाहर आते हैं और पास में बैठे हुये मनुष्यों के गले में वायु के साथ प्रविष्ट होकर रोग पैदा करते हैं। रोहिणी रोग बच्चों में ज्यादा होता है। प्रायः रुग्ण बच्चे के इस्तेमाल में आये हुए पेन्सिल, रुमाल, तौलिया, गिलास आदि से स्वस्थ बच्चों में फैलती है। लक्षण—ज्वर तीव्र, प्रायः १०४', नाडी तेज, हृदय दुर्बल होता है। बोलने में असमर्थ, श्वासकृच्छ्रता आदि।

जिह्वां समन्ताद् भृशवेदना ये
मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् ॥ ५० ॥

वातरोहिणी—जिह्वा के चारों ओर, अधिक पीड़ाकारक, कण्ठावरोधक तथा वात के भयङ्कर उपद्रवों से युक्त जो मांसाङ्कुर उत्पन्न होते हैं उसे वातजन्य रोहिणी कहते हैं ॥५०॥

विमर्श—वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता—वातात्मका उपद्रवाः कम्पविनामरतम्भादयस्तैर्निश्चयमनुगता। (मधुकोषः)। रोहिणी त्रिदोषज ही होती है किन्तु यहां 'यत्पदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से उसके भेद किये हैं। उपद्रव—(Complications)—श्वासावरोध या हृदयावसाद प्रधान मारक उपद्रव हैं। भाग्य से बच जाने पर तालु और अन्ननिका की पेशियों का घात होने से स्वर अनुनासिक हो जाता है तथा ग्रासादि के निगलने में कष्ट होता है। नेत्र की पेशियों का घात होने से भेंगापन (द्विधादृष्टि) हो जाती है किसी किसी में पक्षाघात (Hemiplegia) तथा पङ्गुता (Paraplegia) भी हो जाती है।

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा स्यात्।
स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसम्भवा वै

पित्तकफज रोहिणी—शीघ्र पैदा होने वाली, शीघ्र ही दाह और पाक करने वाली तथा तीव्रज्वर से युक्त रोहिणी पित्त से उत्पन्न होती है। श्वासमार्ग आदि स्रोतसों का अवरोध करने वाली, मन्दपाक से युक्त, भारी तथा अधिक नहीं फैलने वाली कफज रोहिणी होती है ॥ ५१ ॥

गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या
त्रिदोषलिङ्गा त्रयसम्भवा स्यात्।
स्फोटाचिता पित्तसमानलिङ्गाऽ-
साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम् ॥ ५२ ॥

त्रिदोषज तथा रक्तज रोहिणी—जिसमें भयङ्कर पाक हो या गहरी धातुओं में पाक हो, जिसका वेग औषधादि से रोकना असम्भव हो, तीनों दोषों के लक्षण जिसमें हों वह सन्निपातजन्य रोहिणी होती है। गले में स्फोट (फुन्सियां) हों तथा पित्त के शेष शीघ्र दाह-पाकादि लक्षण जिसमें हों उसे रुधिर (रक्त) जन्य रोहिणी कहते हैं तथा यह असाध्य होती है ॥ ५२ ॥

विमर्शः—डाक्टरी में रोहिणी के स्थानानुसार अनेक भेद किये गये हैं। (१) गलतोरणिकागत रोहिणी (Faucial) (२) स्वरयन्त्रगतरोहिणी, (३) अनुनासिक रोहिणी, (४) कर्ण-

रोहिणी, (२) नेत्रकलागत रोहिणी (Conjuctival) (३) योनिगत रोहिणी, (४) अगोलपट्ट रोहिणी। त्रिदोषज रोहिणी सद्योमारक होती है—सन्निपातोल्बणा हन्ति व्यङ्गाच्छ्लेष्मसमुद्भवा। पक्वाशय त्रिमर्मगता सद्यादुष्णोत्थिता। (सुश्रुतः)। चरक ने आखिरी मर्यादा तीन रात की लिखी है—त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्। वातात् पित्तात् कफात् त्रिभ्यो रुग्णेष्वेषु हतेषु। अन्ये सर्वे गदाः सद्यो नश्यन्ति क्रियां विना॥ (चरकः)। प्रतिविष (Antitoxin), ट्रेकोश के इञ्जेक्शन, श्वासावरोध में प्रणालिका—भेदन (Tracheotomy) Penicillin के सुवह—शाम इञ्जेक्शन, सल्फाड्राईड आदि के प्रयोगों से इसकी असाध्यता बहुत कुछ कम हो गई है अतः इस चिकित्सा का लाभ लेना चाहिये।

कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति॥

कण्ठशालूक—कोल (बड़े बदरीफल) की गुठली के स्वरूप की गले में कफ के कारण उत्पन्न हुई तथा कण्टक अथवा शूक के समान, खर, स्थिर और शस्त्रप्रयोग से साध्य ग्रन्थि को कण्ठशालूक कहते हैं॥ ५३॥

विमर्श—शालूक का अर्थ कमलकन्द होता है। कण्ठ में शालूक (एडिनोइडस Adenoides) कहते हैं। इस रोग से गले में काटे या शूक के समान प्रतीत होता है—'शूककण्टकवत् कण्ठे' (अ० सं०)। 'ग्रीवः कण्ठोत्थः शोफः कोलवद् अतिमात्रः'। (अ० सं०)। यह विकार गले के नासापश्चिम भाग में होता है जिससे नासामार्ग का अवरोध होता है—इसी लिये शालूक शब्द का प्रयोग किया है—'शालूको नासागोधन' इसमें रोगी त्रुटि के साथ मुख से सांस लेता है। 'अन्तर्गले दुर्दुरिकाविन्द्र शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि' (च० चि० अ० १३)। यह रोग प्रायः बच्चों में होता है। तीव्रप्रतिश्याय, नासास्राव (Nasal catarrh), रोहिणी, रोमान्तिका आदि के कारण होता है। लक्षण—श्वासमार्ग बन्द होने से मुख खोल कर श्वास लेना, सोते समय त्रुटि से सांस लेना, भोजन में कष्ट, अधिक देर तक मुख खुला रखने से उसकी V के आकार की आकृति हो जाना, मन्दज्वर आदि लक्षण होते हैं।

जिह्वाग्रूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्ज्य आगतपाकमेनम्॥

अधिजिह्व—रक्तमिश्रित कफ की दुष्टि के कारण जिह्वामूल के ऊपर, जिह्वा के अग्रभाग के आकार का शोथ अधिजिह्व रोग है। संक्रमण से पाक हो जाने पर इसकी चिकित्सा न करे॥५४॥

विमर्श—अष्टाङ्गसंग्रहोक्त लक्षण—अधिजिह्वः सकफरक्तदूषणाव्याहारविघातकृत्। चरक तथा वाग्भट में जिह्वोपरिशोथ को 'उपजिह्वा' तथा नीचे होने वाले शोथ को 'अधिजिह्वा' लिखा है—'जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफाद्वसाद्यधिजिह्विका च' (च० चि० अ० १२)। डाक्टरी में जिह्वा के ऊपर होने वाले इस प्रकार के शोथ को Epiglottitis कह सकते हैं।

बलास एवायतमुन्नतं च शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिकारवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति॥

वलय—कफ ही प्रकुपित होकर अन्नमार्ग को रोक कर गले में विस्तृत तथा ऊंचा शोथ उत्पन्न करता है इसको सर्व प्रकार से प्रतीकार नहीं करने योग्य अतः पूर्व विवर्जनीय वलय रोग कहते हैं॥ ५५॥

विमर्श—अन्नगतिः-अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा सोऽन्नगतिरन्नवहमार्गः, अन्नस्य प्रवेशो वा। (सुश्रुतः)। वलय का साम्य चरक चि० अ० १२ में वर्णित विडालिका से है—गलस्य मन्ये चिबुके गले च महारुजः श्वसनोच्छ्वासरोधः। शोफो मृगार्क्षेन्दु विडालिका स्याद्वन्द्वात् गले वेष्टयतीव कण्ठम्॥ वाग्भटने गलौघ तथा वलय को एक ही रोग माना है—'वलयं नातिरुक् शोफस्तद्वदेवाग्नतोन्नतः'।

गले तु शोफं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्।
मर्माच्छिदं दुस्तरमेतदार्द्रवलाससंज्ञं निपुणा विकारम्॥

वलास—कफ तथा वायु विवृद्ध होकर गले में श्वास तथा वेदनायुक्त शोथ उत्पन्न करते हैं, निपुण वैद्य इसको मर्मवाती तथा दुश्चिकित्स्य वलास रोग कहते हैं॥ ५६॥

वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः कण्डूयन्वितोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्वलासक्षतजप्रसूतः॥

एकवृन्द—वलास (कफ) तथा क्षतज (रक्त) के प्रकोप से गले में उत्पन्न गोल, उन्नत, दाहयुक्त, कण्डुयुक्त, पाकरहित, मुलायम तथा भारी शोथ को नाम से एकवृन्द रोग कहते हैं॥ ५७॥

समुन्नतं वृत्तमसन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्विद्यात् सतोदं पवनान्वितं तु॥

वृन्द—अधिक उठा हुआ, गोल, अधिक दाहयुक्त तथा तीव्रज्वर-युक्त शोथ को वृन्द कहते। इसे पित्त तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुआ जानो। यदि इसमें सूई चुभोने की सी पीडा हो तो वायु तथा रक्त से उत्पन्न हुआ जानो॥ ५८॥

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या

शतघ्नी—त्रिदोषप्रकोप के कारण घनस्वरूप की वर्ति जो कि कण्ठ (मार्ग) को रोकती हो तथा अत्यधिक मांसाङ्कुरों से युक्त हो एवं अनेक प्रकार की पीड़ा तथा उच्छ्राय (उन्नतता) को पैदा करनेवाली तथा शतघ्नी के समान ग्रन्थि दिखाई देती हो उसे असाध्य शतघ्नी कहते हैं॥ ५९॥

विमर्श—अयःकण्टकसञ्चिता शतघ्नी महती शिला। तत्तुल्यव्याधि को शतघ्नी कह सकते हैं। भोजोक्तवर्णन—सानपित्तकफा दुष्टा मांसाङ्कुरसमाचिताम्। मध्यकण्ठे च या वर्तिं जनयन्ति सुदुःखिताः॥ शस्त्रेणैव गले विद्धा शतघ्न्येव न सिद्ध्यति॥

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्त्तिः
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः॥ ६०॥

गिलायु—कफ तथा रक्त के प्रकोप से गले के भीतर उत्पन्न आंवले की गुठली के बराबर तथा स्थिर, स्वल्प पीड़ायुक्त और जैसे भोजन का टुकड़ा गले में अटका हुआ हो ऐसा प्रतीत होनेवाली ग्रन्थि शस्त्रकर्म से साध्य गिलायु है॥ ६०॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः।
स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य॥

गलविद्रधि—सर्वदोषों के प्रकोप से सम्पूर्ण गले को व्याप्तकर उत्पन्न शोथ जिस में सर्वदोषों की पीडाएं प्रतीत

हों वह सर्वदोषजन्य गलविद्रधि रोग है तथा त्रिदोषजन्य विद्रधि के समान लक्षणों से युक्त होता है ॥ ६१ ॥

विमर्शः—गलविद्रधि के लक्षण (Pharyngeal abscess अथवा Pentonsilor abscess) से मिलते हैं।

शोफो महानन्नजलाग्रोधी तीव्रज्वरो वातगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ॥

गलौघ—रक्तसहित कफ के प्रकोप से गले में उत्पन्न महान शोथ जो कि अन्न तथा जल की गति को रोक देता हो, तीव्रज्वर से युक्त हो तथा कण्ठदेशस्थ उदान वायु के सञ्चार (गति) का भी विनाश कर दे उसे गलौघ रोग कहते हैं ॥६२॥

योऽतिप्रतान्यत्र श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः।

स्वरघ्न—जो मनुष्य अत्यन्त कष्ट के साथ निरन्तर (प्रसक्त) सास लेता हो तथा स्वर भिन्न हो गया हो तथा जिसका कण्ठ शुष्क और विमुक्त सा प्रतीत हो तथा वायु के मार्ग (स्रोतस) कफ से लिप्त हो गये हों उस के श्वसन (वात) के प्रकोप से उत्पन्न स्वरघ्न रोग जानना चाहिये ॥६३॥

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः॥

मांसतान—सर्व दोषों के प्रकोप के कारण गले में फैलने वाला, अतिकष्टदायक शोथ जो कि क्रमशः बढकर गले में अवरोध उत्पन्न कर देता है तथा जो बाहर से नीचे लटकता हुआ दिखाई दे उसे प्राणनाशक मांसतान कहते हैं ॥ ६४ ॥

सदाहतोदं श्वयथुं सरक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमासम् ।
पित्तेन विद्याद्बहने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते॥

विदारी—पित्त के प्रकोप से मुख में गले के भीतर दाह तथा चुभोने की सी पीड़ा से युक्त तथा लालवर्ण एवं दुर्गन्धित तथा विदीर्ण (छिन्न-भिन्न) मांस जिस में हो जाय ऐसे शोथ को विदारी जानो। जिस पार्श्व से मनुष्य अधिक सोता हो उसी पार्श्व की तरफ गले में यह रोग होता है ॥ ६५ ॥

विमर्श-विदारीको (Gangrenous stomatitis अथवा cancru moris of Noma) कह सकते हैं इसमें नीर्जीवाङ्गता हो जाती है।

सर्वसररोगः ।

सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ताः ॥ ६६ ॥

सर्वसररोग—वात, पित्त, कफ और रक्त के कारण सर्वसर रोग होते हैं ॥ ६६ ॥

विमर्श.—सर्वसर-(१) मुखगतौष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्वं भवेत्। (मधुकोषः)। (२) सर्वस्मिन् मुखे ये भवन्ति ते सर्वसराः। सर्वमुखेऽस्मिन् सरन्तीति सर्वसराः। (शार्ङ्गधरे आढमल्लः)।

सम्पूर्ण मुख में व्याप्त होकर होनेवाले रोगों को सर्वसर रोग कहते हैं। यह एक प्रकार से मुखपाक (Stomatitis) है जो कई कारणों से उत्पन्न होता है। भेद—सुश्रुत ने इस अध्याय के पूर्व में इनकी सख्या तीन लिखी है। कुछ लोग यहां वात, पित्त, कफ और रक्त ऐसे चार कारणों से इसे चार प्रकार का मानते हैं किन्तु मूल ग्रन्थ तथा डल्हण तीन ही होना मानते हैं—'रक्तेन पित्तोदित एक एव' (सुश्रुतः)। सर्वसरा. किन्तु त्रय-एव। (डल्हणः)। शार्ङ्गधर ने सर्वसर रोगों को मुखान्तसम्भव-रोग नाम से आठ भेद माने हैं—मुखान्तसम्भवा रोगा अष्टौ ख्याता महर्षिभि । मुखपाको भवेद्वातात्पित्तात्तद्वत्कफादपि ॥ रक्ताच्च सन्निपाताच्च पूत्यास्योदूर्ध्वगुदादपि । अर्बुदञ्चेति । वाग्भट ने इस के पांच भेद माने हैं किन्तु पूतिमुख, उदूर्ध्वगुद का भी वर्णन किया है। भावप्रकाश ने सुश्रुत की तरह तीन ही भेद माने हैं—पृथग्दोषैस्त्रयो रोगाः समस्तमुखजाः स्मृताः ॥ डाक्टरी में मुखपाक के मुख्य निम्न भेद होते हैं—(१) स्रावी (Catarrhal), (२) निर्जीवाङ्गजन्य (Gangrenous), (३) पारद सेवनजन्य मुखपाक, (४) फिरङ्गजन्य मुखपाक (Syphilitic) तथा मन्दाग्नि, यकृत् की खराबी, आन्त्र की खराबी, सग्रहणी आदि रोगों के कारण भी मुखपाक हो जाता है।

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्व्याप्तं यस्यार्चितं सर्वसरः स वातात्।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्व्याप्तं यस्यार्चितं चापि स पित्तकोपात् ॥

वातजमुखपाक—जिस मनुष्य का सारा मुख पीडायुक्त स्फोट (व्रणों) से व्याप्त हो जाता है वह वातजसर्वसर रोग है। पित्तजमुखपाक—जिसका सारा मुख दाहयुक्त, लाल तथा पीले रग के स्फोट (व्रणों) से व्याप्त हो जाता है, वह पित्तप्रकोपजन्य सर्वसर रोग है ॥ ६७ ॥

कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णैर्व्याप्तं यस्यार्चितं चापि स वै कफेन ।
रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः॥

कफजमुखपाक—जिस मनुष्य का सारा मुख कण्डुयुक्त, अल्पपीडादायक तथा समान वर्ण के स्फोटों (व्रणों) से व्याप्त हो जाता है, वह कफ से उत्पन्न सर्वसर रोग है। रक्त की खराबी से पृथक् रोग न होकर जो पैत्तिक सर्वसर रोग कहा है, वही मुखपाकसज्ञक सर्वसर रोग है ॥ ६८ ॥

विमर्श.—पित्तोदित—मुखस्य पित्तजे पाके दाहौषौ तिक्तवक्त्रता । क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणास्तद्वच्च रक्तजे॥ (अ० सं०)।

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मुखरोगनिदानं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहिताया साहित्यायुर्वेदाचार्य-साहित्यरत्न-काव्यपुराणतीर्थादिलब्धानेकपदवीकेन, अनेकायुर्वेदग्रन्थसम्पादकेन इन्दौरनगरीयश्रीराजकुमारसिंहाऽऽयुर्वेदकालेजस्य रामगढस्थाऽऽयुर्वेदमहाविद्यालयस्य गुरुकुलकागडी (हरद्वार) स्थाऽऽयुर्वेदकालेजस्य च भूतपूर्वाध्यक्षेण, जयपुरीयदिगम्बरजैनसंस्कृतकालेजीयाऽऽयुर्वेदविभागस्याध्यक्षेण, मेदपाटदेश (मेवाड़) वासिना, श्रीकृष्णतनुजेन गुर्जरगौडेन श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रिणा विरचितायामायुर्वेद-तत्त्वसन्दीपिकाभाषायां निदानस्थाने मुखरोगनिदानं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

समाप्तश्चेदं निदानस्थानम् ।

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५६

महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता

सुश्रुतसंहिता

'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' हिन्दीव्याख्या-वैज्ञानिकविमर्शोपेता

(शारीरस्थानम्)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी.
मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी.
संवत् २०१७

(पुनर्मुद्रणादिका सर्वेऽधिकारा प्रकाशकाधीना.)

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
(INDIA)
1960

॥ श्रीः ॥

सुश्रुतसंहिता

शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्याम ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

निदान स्थान समाप्त होने के बाद सर्व प्राणियों की चिन्ता के लिए शारीर स्थान की व्याख्या करेंगे, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—'अथ—' यह शब्द मङ्गलवाचक और कल्याण-प्रद होने से प्रत्येक स्थान के प्रारम्भ में ही नहीं किन्तु प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में भी दिया जाता है। 'अथ' शब्द का अर्थ उसके बाद भी होता है। निदान स्थान समाप्त होने के पश्चात् सर्व-जो भूत स्थावर जङ्गमात्मक अथवा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इत्यादि जो पञ्चमहाभूत हैं, उनके लक्षण तथा कार्य जिस शारीरस्थान में वर्णित होंगे उसकी व्याख्या भगवान् धन्वन्तरि के निर्देश के अनुसार महर्षि सुश्रुत इस अध्याय में करते हैं। इस अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त (Creation Theory) बताए गये हैं।

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षण-मष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठान समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥ ३ ॥

सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम—अव्यक्त सब भूतों का कारण है किन्तु स्वयं अकारण है अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं है। और सत्त्व, रज, तम गुण वाला तथा अष्टप्रकृत्यात्मक है। अव्यक्त ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जैसे समुद्र जलीय वस्तुओं का आधार है, उसी प्रकार यही एक बहुत से जीवों का आधार है ॥ ३ ॥

विमर्शः—सृष्टि का क्रम अव्यक्त से आरम्भ होता है। यही सब भूतों का प्रधान कारण है। इसे ही मूलप्रकृति कहते हैं, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। यह सब भूतों का, जीवों का कारण है किन्तु इसका कोई भी कारण नहीं है। यह किसी का कार्य रूप भी नहीं है। सांख्यकारिका में 'मूल-प्रकृतिरविकृतिः' ऐसा वर्णन है। इसमें सत्त्व, रज, तम गुण रहते हैं। 'शिलापुत्रक' न्याय से इस स्वयम् अव्यक्त को लेकर अष्टप्रकृति होती हैं। अष्टप्रकृति में अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चभूतों का समावेश है। किसी ने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य हीनता और अनैश्वर्य इनको आठ प्रकृति माना है। दूसरों के मत से मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चमहाभूत आठ प्रकृति है। जैसे—समुद्र सब जलीय वस्तुओं का विषय होता है वैसे ही यह अव्यक्त भी यावत् प्राणिमात्र के शरीर का विषय है। सब प्राणी इससे ही उत्पन्न होते और इसी में विलीन होते हैं।

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥ ४ ॥

महान् और अहङ्कार की उत्पत्ति—उस अव्यक्त से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। जो कि अव्यक्त स्वरूप अर्थात् सत्त्व, रज, तम रूप है। उस प्रकार के महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वह भी सत्त्व, रज, तम गुणात्मक है। अहङ्कार वैकारिक, तैजस और भूतादि इस प्रकार से तीन भागों में विभक्त होता है ॥ ४ ॥

विमर्शः—महत् यह बुद्धितत्त्व। इसकी उत्पत्ति अव्यक्त से होती है। यह बुद्धितत्त्व भी सत्त्वादि गुणत्रयात्मक है। इस बुद्धितत्त्व से अभिमान स्वरूप अहङ्कार पैदा होता है। वह सात्त्विक किंवा वैकारिक, राजस या तैजस और भूतादि या तामस स्वरूप होता है।

तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते ॥ ५ ॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति—वैकारिक अहङ्कार से, तैजस अहङ्कार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जो कि सात्त्विक-स्वरूप होती हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—अहङ्कार के तीन प्रकार ऊपर बताये हुवे हैं। वे सात्त्विक, राजस और तामस या वैकारिक, तैजस और भूतादि हैं। उनमें से पहिले दो अहकार सात्त्विक और राजस या वैकारिक और तैजस हैं। इनसे ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। ये इन्द्रियाँ तैजस और सात्त्विक गुण वाली हैं क्योंकि वैकारिक अहकार जो सात्त्विक स्वरूप है उससे इनकी प्राधान्य से उत्पत्ति होती है। तैजस अहंकार गौण स्वरूप होने से उसके गुणों का निर्देश नहीं किया है क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह शास्त्र का न्याय है।

तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ॥ ६ ॥

इन्द्रियों के प्रकार—इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं। कर्ण, चर्म, नेत्र, जीभ, नासिका, वाणी, हाथ, लिंग, गुदा, पैर और मन। इनमें से पहली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियात्मक है ॥ ६ ॥

विमर्श.—इन्द्रियों के भेद ज्ञानेन्द्रियात्मक, कर्मेन्द्रियात्मक और उभयात्मक किये हैं। उनमें से चार ज्ञानेन्द्रियाँ गर्दन की ऊपरी भाग में और चर्म सर्व शरीर व्यापी है। चार कर्मेन्द्रियाँ तो गर्दन के नीचे रहती हैं परन्तु वाणी जो पाँचवी कर्मेन्द्रिय है, वह गर्दन के ऊपर है। इनका वर्गीकरण ज्ञान और कर्म द्वारा किया है, स्थानानुसार नहीं। मन तो ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कार्य करता है इस लिये वह उभयात्मक है।

भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः, तेभ्यो भूतानि-व्योमानिलानलजललोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥ ७ ॥

तन्मात्रा, विशेष और भूतों की उत्पत्ति—भूतादि अहङ्कार से तैजस अहकार की सहायता से भूतादि अहङ्कार स्वरूप पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा ये पाँच तन्मात्राएं हैं। इन तन्मात्राओं के विशेष गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये हैं। इनसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार २४ तत्त्वों की व्याख्या बतायी गई है ॥ ७ ॥

विमर्श—एकादश इन्द्रियाँ, अव्यक्त, महान् तथा अहंकार निरूपण के बाद 'तन्मात्रा' का वर्णन किया जाता है। यह तन्मात्रा क्या वस्तु है? यह शका उत्पन्न होती है। इसका उत्तर यह है कि—जब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अनुद्भूत रहते हैं और बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जाते, तब उन्हें 'तन्मात्रा' कहते हैं जो कि योगियों को ही प्रत्यक्ष होते हैं। इन सामान्य तन्मात्राओं से विशेष या भेदक गुण उद्भूत होते हैं। वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। विशेष की व्याख्या निम्न प्रकार की है—जैसी तन्मात्रा की व्याख्या—'अनुद्भूतस्वभावानि बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि शब्दादीन्येव तन्मात्राणि'—यह है, उसी प्रकार विशेष की व्याख्या—'अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशिष्यन्त इति विशेषाः'। तात्पर्य यह है कि तन्मात्राओं का ज्ञान केवल योगियों को ही होता है और विशेषों का ज्ञान उद्भूत होने से सब लोगों को होता है। तन्मात्राओं से पचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। उनमें भी यह नियम है कि पूर्व-पूर्व की तन्मात्रायें आगे आगे की सहायता करती हुई वायु, तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति करती हैं। जैसे शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति; शब्द और स्पर्श तन्मात्रा से वायु का प्रादुर्भाव; शब्द, स्पर्श और रूप से तेज का उद्भव और शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रा से जल तत्त्व तथा पांचों के ऐक्य से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। ऐसा क्रम है। इस प्रकार अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियां, पांच तन्मात्रायें और पांच महाभूत, इन २४ तत्त्वों और २५ वाँ पुरुष इनसे इस जगत् का प्रादुर्भाव होता है। चरक के मत से 'मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी'। इस प्रकार २४ तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि—सुश्रुत साख्यशास्त्र का और चरक वेदान्त का अनुकरण करता है।

तत्र-बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः, कर्मेन्द्रियाणां यथासंख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥ ८ ॥

इन्द्रियों के विषय—इनमें से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, घ्राणेन्द्रिय और त्वचासे यथाक्रम ग्रहण होता है। कर्मेन्द्रियों से पूर्वकर्मानुसार बोलना, ग्रहण करना, विषय भोग करना, मल-त्याग और घूमना-फिरना कार्य किये जाते हैं ॥ ८ ॥

विमर्श.—इन्द्रियों के भेद कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों से किये हैं। अब उनके विषय बताते हैं। वे इन्द्रियां क्या काम करती हैं, इनका वर्णन निम्नलिखित यह है—

इन्द्रियाँ—

	ज्ञानेन्द्रियाँ—
नाम	कार्य
१ श्रोत्र	१ शब्दग्रहण
२ त्वक्	२ स्पर्शग्रहण
३ चक्षु	३ रूपग्रहण
४ जिह्वा	४ रसग्रहण
५ घ्राण	५ गन्धग्रहण
	कर्मेन्द्रियाँ—
नाम	कार्य
६ वाक् (वाणी)	६ वचन (बोलना)
७ हस्त (हाथ)	७ आदान (ग्रहण करना और देना)
८ उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)	८ आनन्द (विषयोपभोग करना)
९ पायु (गुदद्वार)	९ विसर्ग (मलत्याग)
१० पाद (पैर)	१० विहरण (घूमना फिरना)

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विषयों का विवरण हो चुका है।

अव्यक्त महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः ॥ ९ ॥

प्रकृति और विकृति—अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रा यह आठ प्रकृति हैं और शेष सोलह तत्त्व विकार हैं।

विमर्शः—सांख्यकारिका में अव्यक्त को प्रकृति माना है और महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्रा इनको विकृति के साथ-साथ प्रकृति भी माना है क्योंकि ये अन्य तत्त्वों को उत्पन्न भी करते हैं। अत एव वे प्रकृति और विकृति दोनों हैं। शेष ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत विकृति हैं। ये किसी तत्त्व को उत्पन्न नहीं करती हैं। यथा—मूलप्रकृतिर विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। शेषा. षोडश विकाराः.....' (सां. का.) ॥ ९ ॥

स्व स्वञ्चेषां विषयोऽधिभूत, स्वयमध्यात्मम्, अधिदैवतम्-अथ बुद्धेर्ब्रह्मा, अहङ्कारस्येश्वरः, मनस-श्चन्द्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयो-रिन्द्रः, पाद्योर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थ-स्येति ॥ १० ॥

एक समान तेरह तत्त्वों का विवरण—इनका अपना अपना विषय आधिभौतिक है। स्वयम् आध्यात्मिक हैं। अधिदैवत निम्न प्रकार से है। जैसे बुद्धि का देवता ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशायें, चर्म का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का जल, नासिका का पृथ्वी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु, पायु (गुदा) का मित्र और उपस्थ (शिश्न) का प्रजापति देवता है ॥ १० ॥

विमर्श.—चतुर्विंशति तत्त्वोंमें से केवल तेरह तत्त्व लेकर उनका विषय आधिभौतिक बताया जाता है किन्तु वे स्वय आध्यात्मिक हैं। इनके देवता भी भिन्न हैं। अब यहाँ यह शङ्का उठती है कि चतुर्विंशति तत्त्वों में से अव्यक्त, पञ्चतन्मात्रा और पञ्च महाभूतों को क्यों छोड़ दिया? वे आध्यात्मिक हैं या नहीं? इनका भी न वर्णन ही किया तथा न इनके देवता भी बताये। उत्तर—चतुर्विंशति तत्त्वों में से बुद्धि, अहङ्कार और एकादश इन्द्रियाँ प्रकाशक होने से उनका विवरण किया है। वे किस देवता की सहायता से प्रकाशक होती हैं, यह बताने के लिये उनके देवता बताये हैं। किस जगह रहकर प्रकाशक होती हैं यह बताने के लिये उनका विषय बतलाया है। बुद्ध्यादि शरीर में रहकर आत्मा के लिये उपयुक्त होने से आध्यात्मिक माने गये हैं। शेष तत्त्वों के प्रकाशक न होने के कारण उनका विषय नहीं बताया गया है। उनके बिना आत्मा को विषयों का ज्ञान होने से वे आध्यात्मिक नहीं माने गये हैं। वेदान्त शास्त्र में भी बुद्धि को अध्यात्म माना है और उसका देवता ब्रह्मा माना है। अभिप्राय यह है कि विश्वरूप विष्णु के जिन भागों से जो देवता उत्पन्न हुये हैं वे देवता उस अङ्ग के देवता माने जाते हैं। अहङ्कार का देवता रुद्र, मन के देवता चन्द्रमा 'चन्द्रमा मनसो जात.' इत्यादि।

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधा-नस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादीश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥ ११ ॥

जीवात्मा—ये सब चौबीस तत्त्व जड हैं। पुरुष यह पच्चीसवाँ तत्त्व है। महदादि विकारगण कार्य से तथा मूल प्रकृति रूप कारण से मिलता हुआ ज्ञान करने वाला है। मूल में कार्यकारण सयुक्त इस जगह 'कार्यकरणसयुक्त' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ देहरूप कार्य से और इन्द्रियरूप कारण से मिलता हुआ जीवात्मा चैतन्य को उत्पन्न करता है। यद्यपि प्रकृति अचेतन है तो भी पुरुष के मोक्ष के लिये उसकी प्रवृत्ति होती है। जैसे दुग्ध स्वयम् अचेतन होने पर भी बच्चे के लिये चैतन्य होकर बाहर निकलता है। उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष की चिन्ता होने से प्रकृति अचेतन होने पर भी चैतन्यता को प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

विमर्श.—चौबीस तत्त्वों के विचार करने के बाद अब पच्चीसवाँ तत्त्व 'जीव' का वर्णन करते हैं। यह जीवात्मा चैतन्य शक्ति वाला है। बाकी का चौबीस तत्त्वों का वर्ग अचेतन, क्रियाहीन है। उनमें चेतना इसी पच्चीसवें तत्त्व द्वारा होती है। अव्यक्त अर्थात् प्रकृति में चेतना का जो अनुभव होता है वह जीवात्मा के मोक्ष के लिये है। जैसा कि दूध में चैतन्य, द्रवण या सरण मालूम होता है वह बच्चों के लिए होता है उसी प्रकार प्रकृति में जो चैतन्य मालूम होता है वह पुरुष को, जीवात्मा को मुक्ति देने के लिये होता है। क्षीरादि में 'आदि' शब्द से शुक्र का भी उदाहरण बताते हैं। जैसे—शुक्र स्वयम् अचेतन है तो भी अति सुन्दर कामिनी के साथ प्रसङ्ग में उसमें गति आती है। उसी प्रकार प्रकृति भी चैतन्य बनती है।

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयो. सावर्म्यवैधर्म्ये व्याख्या-स्यामः 'तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभा-वप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यपरौ ('अनपरौ' पाठः), उभौ च सर्वगताविति ॥ १२ ॥

एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रस-वधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेत-नावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थ-धर्माणश्चेति ॥ १३ ॥

प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य और वैधर्म्य—इसके बाद प्रकृति और पुरुष, इनके सावर्म्य और वैधर्म्य बताये जायेंगे। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। अन्तरहित हैं। निराकार हैं। निरन्तर रहने वाले हैं। दोनों ही अपर हैं अर्थात् इनके परे (पूर्व) कोई भी नहीं है। 'अपरौ' इस जगह 'अनपरौ' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ 'न विद्यतेऽपरो याभ्यां तावनपरौ' ऐसा विग्रह करके प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही महदादिकों से परे हैं। दोनों ही सर्वत्र व्यापक हैं। अब दोनों की असमानतायें बताते हैं। प्रकृति एक है, चैतन्य रहित है, सत्त्व, रजतमो, गुणात्मक (त्रिगुणात्मक) है, बीजधर्मिणी है, इसका अर्थ यह है कि जैसे वृक्ष बीज में रहता है उसी प्रकार यह भी संसाररूपी वृक्ष का बीज स्वरूप है। इसी से फिर संसार उत्पन्न होता है सत्त्व, रज और तम जब समान अवस्थाओं में

रहते हैं तब सब महत्, अहंकार आदि विकारों के लिये बीजस्वरूप में रहने वाली है। गर्ग नामक आचार्य के मत में संहारकाल में भूत, इन्द्रिय, पंचतन्मात्रा, अहङ्कार, महदादिकों के लिए आधारभूत होने से बीजधर्मिणी कहलाती है। और वह प्रसवधर्मिणी है, इसका अर्थ यह है कि जब बीजधर्मिणी प्रकृति उत्पन्न करने वाले व्यापक पुरुष के साथ मिलकर अपनी साम्यावस्था को छोड़ती है तब महत्, अहङ्कार इत्यादि क्रमानुसार स्थावर जगमात्मक जगत् का निर्माण करती है, इसलिये उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। प्रकृति का एक और भी गुण बताया गया है, जिसे 'अमध्यस्थधर्मिणी' कहते हैं। मध्यस्थ को सुख और दुःख का अनुभव नहीं होता है, इस प्रकृति को सुख-दुःख का अनुभव होने से अमध्यस्थधर्मिणी कहते हैं। पुरुष प्रकृति से निम्न लिखित प्रकार से पृथक् है—पुरुष अनेक हैं, चैतन्य युक्त हैं, सत्त्व, रज, तम, गुणों से रहित है। बीजधर्म वाले नहीं हैं। यह 'प्रसवधर्मी' भी नहीं और मध्यस्थधर्मी है।

विमर्श—अब पुरुष और प्रकृति के साधर्म्य (समानता Comparison) और वैधर्म्य (विषमता Contrast) बताते हैं।

समानता (Comparison)—

प्रकृति	पुरुष
१ अनादि।	१ अनादि।
२ अन्तरहित है।	२ इनका अन्त नहीं है।
३ निराकार।	३ आकार से रहित।
४ नित्य है।	४ निरन्तर है।
५ इनके पर अर्थात् पहिले कोई नहीं है।	५ सबसे पूर्व यही है।

'अनपरौ' इस पाठसे इनके 'अपर' कोई नहीं है। यही सबसे 'पर' (प्रथम) है।

६ व्यापक है।	६ सर्वत्र विद्यमान है।

दोनों की विषमता Contrast (असमानता)—

प्रकृति	पुरुष
१ एक है।	१ अनन्त, अनेक है।
२ जड है। चेतना रहित है।	२ अचेतन नहीं है। चैतन्ययुक्त है।
३ त्रिगुणात्मक है।	३ त्रिगुणातीत है।
४ बीजधर्मवाली है।	४ बीजधर्म से रहित है।
५ प्रसवधर्मी है।	५ प्रसवधर्म से शून्य है।
६ सुख दुःख को भोगने वाली है।	६ सुख दुःख से शून्य है।

सांख्यकारिका १९ में पुरुष के विषय में दिया है कि—'तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च' ॥ १२-१३ ॥

तत्र कारणानुरूप कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति, तद्ग्रहणत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥१४॥

पुरुष के विषय में अन्य मत—कारण के अनुसार कार्य हुआ करता है, इसलिये प्रकृति जो कारण-स्वरूप है उसके अनुसार ही यह सर्व महान्, अहंकारादि विशेष कार्य भी त्रिगुणात्मक होते हैं। उसी प्रकार पुरुष को भी सत्त्व, रज, तमोगुणात्मक मानना चाहिये। निर्गुण नहीं, ऐसा कई विद्वानों का कथन है ॥ १४ ॥

विमर्शः—यह मत स्वयं सुश्रुताचार्य का नहीं है इसलिये उपेक्षाबुद्धिपूर्वक एकीय मत बताते हैं। जहाँ जहाँ 'एके' ऐसा दिया रहता है उसका अभिप्राय यही रहता है, वह मत इनको मान्य नहीं है। उस मत का उद्धरण इसलिये किया जाता है कि पाठकगण यथार्थ विचार कर सकें। पुरुष में जो सत्त्वादि गुणोंका आरोप किया है वह भ्रमात्मक है क्योंकि मध्यस्थ होने पर उसे जो जो सुख दुःख का ज्ञान होता है वह प्रकृति के संसर्ग से है। उसके लिये तीन दृष्टान्त बताए हैं। पहिला स्फटिक और जपाकुसुम। दूसरा चन्द्रमा और जल। तीसरा आकाश और सूर्यकी अरुण प्रभा। जैसे स्फटिक स्वच्छ होने पर भी उसका रंग, जपाकुसुम के संसर्ग में आनेसे जपाकुसुम के अनुसार लाल दीखता है। दूसरा उदाहरण—जैसे आकाशस्थ चन्द्रमा स्थिर होने पर भी जल में चंचल दीखता है। तीसरा उदाहरण—आकाश नीलवर्ण होने पर भी सायंकालीन सूर्य की रक्तवर्ण प्रभासे लाल रंग का दीखता है। वास्तव में न तो स्फटिक लाल रंग का है। चन्द्रमा स्वयं चंचल है ऐसा भी नहीं। आकाश लाल वर्ण है यह भी असत्य है, उसी प्रकार पुरुष भी निर्गुण होने पर भी उसमें प्रकृति के संसर्गसे सत्त्वादि गुणोंका आरोप किया जाता है वास्तव में वह निर्गुण है। पुरुष और प्रकृति निकट होने के कारण प्रकृति के गुण पुरुष में दीखते हैं, जैसा मलिन दर्पण में अपना मुख मलिन सा मालूम होता है उसी प्रकार प्रकृति के साथ रहने से प्रकृति के गुण धर्म पुरुष में भासमान होते हैं। इस प्रकार पुरुष त्रिगुणात्मक नहीं है यह बता कर अब वैद्यक शास्त्र के मत से जगत् के उपादान कारण का वर्णन करते हैं। अभी तक सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष का विवरण किया गया है। किन्तु वैद्यक शास्त्र के उपयुक्त कौनसी वस्तु है यह बताने के लिये निम्न श्लोक दिया जाता है। यहाँ यह भी शङ्का उपस्थित होती है कि प्रकृति और पुरुष का वर्णन करते करते फिर इकट्ठा उनका विवरण छोड़ कर जगत् के उपादान कारणों का क्यों विचार हो रहा है? उत्तर में यह कहना पड़ता है कि वैद्यक में वे ही फलप्रद मालूम होते हैं इस लिये लिखा है। वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥ १५ ॥

पृथुदर्शिनः, अर्थात् विशाल बुद्धि वाले लोग जगत् का कारण स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा (योगायोग), नियति (दैव, भाग्य या पूर्वजन्मार्जित धर्माधर्म) तथा परिणाम को कारण समझते हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—उपर्युक्त ६ वस्तुयें जगत् का कारण होती हैं ऐसा विशाल विचार वाले लोग मानते हैं। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग निर्माण होने में स्वभाव ही कारण है। 'अङ्ग-प्रत्यङ्ग-निर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते' उसी प्रकार—'सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वस्रसम्भवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावतः' ॥ शरीर का बनना, दांतों की उत्पत्ति तथा गिरना, हाथों में बाल का न आना, स्वभावतः होता है। स्वभाववादी लोक ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार—'कः कण्ट-

कानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे, स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥' कण्टकों की तीक्ष्णता, पशु पक्षियों की चित्र-विचित्रता, ईख में माधुर्य, गोल मरीच में कटुता स्वभावतः होती है। इस प्रकार स्वभाव को जगत् का कारण मानने वाले लोग समझते हैं। इसी प्रकार ईश्वर को भी कारण बताते हैं। ईश्वर ही पृथ्वी, पर्वत, पेड, जन्तु, स्वर्ग और नरकों के लिये कारण है। कहा भी है—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन' सुखदु खयोः। ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा' ॥ इति। अभिप्राय यह है कि प्राणी ज्ञानरहित रहता है उसको अपने सुख दु:ख का विचार नहीं रहता। उसका नरक या स्वर्ग को प्राप्त होना ईश्वर की प्रेरणा से ही होता है अर्थात् जगत् का कारण ईश्वर ही है। काल भी उसी प्रकार जगत् का कारण है। वही जगत् में क्रान्ति करता है। विश्व की उत्पत्ति और नाश करना काल के अधीन है। काल चक्र के फेर में स्थावर-जंगम आदि को पडना ही पडता है। कालचक्र का सम्बन्ध प्राणिमात्रों तथा जड़ जीवों से अविच्छिन्न है। दोषों का संचय, प्रकोप और शान्ति काल के ही अधीन है। शैत्य और औष्ण्य काल का लक्षण है। जैसा कि—'महाभूतविशेषांस्तु शीतोष्णद्वयभेदतः। काल इत्यध्यवस्यन्ति'। इसी प्रकार यदृच्छा अर्थात् योगा योग को भी कारण मानते हैं। किसी प्रकार से अचानक कार्य का होना यदृच्छा है। जैसा कि—'यदृच्छया चोपगतानि पाक पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः'। उसी प्रकार 'तृणारणिनिमित्तो वह्निरिति।' वास्तव में न तो घास में या अरणी (काष्ठविशेष) में अग्नि है। मगर दोनों के संघर्ष से अग्नि की उत्पत्ति होती है इसमें कारण योगायोग (यदृच्छा) ही है। नियति या भाग्य को भी कारण बताते हैं। पूर्वजन्मार्जित पापपुण्यों का ही फल मिलता है। कोई-कोई व्याधि दोषजन्य न होते हुए कर्मजन्य होती है। जैसे—कुष्ठ रोग ब्राह्मण, स्त्री, सज्जन लोगों का वध करने से, दूसरों के धनादि हरण करना इत्यादि पाप कर्मों से उत्पन्न होता है। इसमें भाग्य या दैव ही कारण है। इसके बाद परिणामवादियों का कहना है कि सबका कारण परिणाम है, क्योंकि प्रधान ही महदहङ्कारादि रूपों में परिणत होकर सबों का कारण होता है। उसी प्रकार—'जाठराग्नेस्तु संयोगाद्यदुक्तेन रसान्तरम्। रसानां परिपाकान्ते स विपाक इति स्मृत'।' जठराग्नि के साथ मिलकर जो दूसरा रस पैदा होता है वह विपाक कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि एक रस का गुण बदलकर उसका परिणाम अन्त में विपाक स्वरूप होता है। उसी प्रकार 'सम्यक् परिणतस्याहारस्य सारो रस' अच्छी तरह से परिणत हुए, आहार का सार रस है। जगत् इस प्रकार परिणततापर या परिणामपर ही का कार्य होता है, और भी देखिए—'एवं बालानामपि वयः परिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति' शुक्र की उत्पत्ति के लिये भी उम्र का परिणाम ही कारण है। इस प्रकार ये छः मत आयुर्वेद शास्त्र को मान्य हैं, क्योंकि आयुर्वेद में सर्व तत्त्वों का संग्रह है और वह अच्छे मतों का ग्रहण करने वाला भी है। यद्यपि ये छः भी त्रिगुणात्मक प्रकृति में अन्तर्भूत होते हैं तो भी उनकी उस समय स्वभाव आदि के स्वरूप में अभिव्यक्ति होने से नाम दिये गए हैं। हाराणचन्द्र जी पृथुदर्शी का अर्थ मोटे विचार करने वाले (नतु सूक्ष्म विचार वाले) करते हैं। यह समझते हैं कि स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा और नियति तथा परिणाम सब प्रकृति हैं अर्थात् वे जगत् के उसी प्रकार उपादन कारण हैं जैसे मिट्टी पेड़ का उपादान कारण है।

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥ १६ ॥

स्थावर-जङ्गम भूतग्रामों के लक्षण —तन्मयानि माने पोलापन, चाञ्चल्य, उष्णता, द्रवत्व, खरत्व, स्वभावादि गुणों की विशेषता से व्याप्त जो प्रकृति उनके परिणाम युक्त, भूत जो आकाशादि, तद्गुणान्येव सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, युक्त समझना चाहिये। इस प्रकार आकाशादि पञ्चमहाभूत और प्रकृति के गुण वाले अर्थात् सत्त्व, रज, तमोगुणात्मक सम्पूर्ण भूतग्राम-स्थावर जङ्गमात्मक-उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

विमर्श.—स्थावर जङ्गमात्मक सर्वभूतसमूह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश के गुणों से युक्त तथा सत्त्व, रज, तमोगुणात्मक उत्पन्न हुआ है। जैसे सम्पूर्ण प्राणिमात्र कठिन, शीत, उष्ण, चलत्व, सौषिरत्व गुणों से युक्त है उसी प्रकार प्रकृति के गुणों से सत्त्वादि युक्त हैं अर्थात् भूतमात्र में प्रकृति के गुण तथा पञ्चमहाभूतों के गुण भरे हुए हैं।

तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्साम्प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते १७

भूत ही चिकित्सोपयोगी है—भूतग्राम चिकित्साके लिये उपयोगी हैं। भूतों से अन्य जो अव्यक्त आदि हैं वे चिकित्सा के लिये कोई उपयोगी नहीं हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—चिकित्सा के लिये 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष.' यही उपयुक्त है। वह पुरुष स्थावर-वृक्षादि रहे या जंगम-मनुष्य, पशु, पक्ष्यादि स्वरूप रहे उसकी ही चिकित्सा की जाती है, केवल पचमहाभूतोंसे भी चिकित्साका कोई प्रयोजन नहीं है या पञ्चमहाभूतविरहित जीवात्मा से भी कोई प्रयोजन नहीं है। जहां पञ्चमहाभूत और जीवात्मा का एकत्र सम्बन्ध हो वही पुरुष चिकित्सा के उपयुक्त है।

यतोऽभिहित 'तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्त.'
भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः १८

इस भूतग्राम का चिकित्सा के लिए प्रयोजन क्यों है? यह बताने के लिए लिखते हैं। उस भूतग्राम की उत्पत्ति के लिये भूतादि द्रव्यसमूह है। इन्द्रिया भी भौतिक हैं और इन्द्रियार्थ भी भौतिक है। इस प्रकार भूतों की चिन्ता रखने से प्राणिमात्र, इन्द्रियाँ और इन्द्रियार्थ सबका विचार होता है। अत एव लिखा है कि 'भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते' ॥ १८ ॥

विमर्श.—उस भूतग्राम का स्थावर जगमात्मक प्राणिमात्र का भूतादि अर्थात् पञ्चमहाभूत आदि कारण है। उसी प्रकार इन्द्रियां भी पञ्चमहाभूतों से ही उत्पन्न हुई हैं लिखा भी है कि इन्द्रियों के पञ्चमहाभूतात्मक होने पर भी—

'ख श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्' उसी प्रकार इन्द्रियार्थ भी भौतिक माने गये हैं। लिखा भी है —शब्दो वेहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्त्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः।

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१९॥

अपनी भौतिक इन्द्रियों से अपने भौतिक इन्द्रियार्थ का ग्रहण—अपनी अपनी इन्द्रियों से अपने अपने अर्थ को मनुष्य ग्रहण करता है। क्योंकि वे इन्द्रियार्थ और इन्द्रियां एक से ही उत्पन्न हुई होती हैं, दूसरे से उत्पन्न हुई इन्द्रियां दूसरों के अर्थ को कदापि ग्रहण नहीं करती हैं ॥ १९ ॥

विमर्श.—आकाश से उत्पन्न हुई श्रोत्रेन्द्रियां आकाश से ही उत्पन्न होने वाले शब्दरूप इन्द्रियार्थ को ग्रहण करती हैं। वे न तो रूप को ग्रहण करती हैं, और न शब्द श्रोत्रेन्द्रिय-को छोड़कर नेत्र का आश्रय करता है। इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों की तथा पञ्च इन्द्रियार्थों की स्थिति है। तुल्ययोनि होने से अपने अपने भूतों से आश्रित रहने वाली इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों का ही ग्रहण करती हैं। एक भूत से उत्पन्न हुई इन्द्रिया दूसरे भूतों से उत्पन्न होने वाले इन्द्रियार्थ को कदापि ग्रहण नहीं करती हैं।

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च। असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति ॥ २० ॥

आत्मा की नित्यमत से भिन्नता—आयुर्वेदशास्त्र में नित्य क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा को सर्वगत नहीं मानते। आत्माको असर्वगत मानने पर भी पुरुष को नित्य मानने के लिए हेतु बताते हैं ॥ २० ॥

विमर्श—सांख्यशास्त्र में सर्वगत आत्मा होने से उसे नित्य समझते हैं। वैद्यक शास्त्र में असर्वगत होने पर भी नित्य ही मानते हैं। उसे यदि नित्य न मानेंगे तो जन्मपरम्परा मानना असम्भव हो जायगा। एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ही नहीं होगा। उसी प्रकार बाल्यावस्था में प्राप्त हुआ सुख वृद्धावस्थामें प्रतिकूल रहेगा। सत्तावान् रहकर जो कारणहीन होगा वह भी नित्य माना जाता है। आत्मा की सत्ता का ज्ञान होता है किन्तु उसे कारणहीन होने से नित्य मानना चाहिये। भोजने लिखा है—'शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गते.। देहाद् देहान्तर यानि क्रिमिवच्छाश्वतोऽव्यय.। नित्य इत्युच्यते सद्भिः सत्त्वकारणवान् यत.'।

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम्। त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष' इति। स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साऽधिकृतः ॥ २१ ॥

आत्मा के नित्यत्व में हेतु—आयुर्वेदशास्त्र के सिद्धान्तों में पुरुष नित्य है और सर्वत्र व्याप्त नहीं है। अपने पापपुण्यों के अनुसार, शुभाशुभ कार्यों के कारण, आत्मा पशु-पक्षियों में, मनुष्य वर्ग में तथा देवयोनि में प्रवेश करती है। आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न होते हुवे भी अनुमान प्रमाण द्वारा ज्ञात होती है। अत्यन्त सूक्ष्म-छोटे प्रमाण वाली होती है। चेतनायुक्त, निरन्तर रहने वाली ('नित्य') और शुक्र तथा रक्त का संयोग होने पर भी व्यक्त होती है। उस पुरुष को षड् धात्वात्मक पुरुष बताने के लिए कहा है, जहा पञ्चमहाभूत और आत्मा का संयोग हो। केवल पञ्चमहाभूत रहने से शरीर में चैतन्य का भान नहीं होता है उसी प्रकार उसमें जाड्य की प्रतीति भी होती है। यही कर्मपुरुष चिकित्सा के लिये उपयुक्त है। चरकसंहिता में लिखा है—सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुमांश्चेतन तच्च तच्चाधिकरण स्मृतम्। वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः २१

विमर्श.—इस गद्य में आत्मा का नित्यत्व बताकर उस का भिन्न भिन्न योनि में क्यों प्रवेश होता है? वह भी बताया है। आत्मा तो प्रत्यक्ष नहीं दीखता है। इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं होती है। जिस कारण से शरीर में चैतन्य है उसी कारण से यह सिद्ध होता है कि पञ्चमहाभूत के अतिरिक्त कोई ऐसा पदार्थ है जो कि चैतन्य पैदा करता है, वही चैतन्य गुण वाला आत्मा है। आत्मायुक्त पञ्चमहाभूतात्मक शरीर को ही चिकित्सा के लिये उपयुक्त कर्म पुरुष मानते हैं। चरक संहिता में मन, आत्मा और शरीर इसको पुरुष मानते हैं। सुश्रुत संहिता में पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को पुरुष कहते हैं।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥ २२ ॥

आत्मा के गुण—उस आत्मा (कर्म पुरुष) के गुण-सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु का धारण करना, अपान वायु छोड़ना, आँख खोलना, आँख मूँद लेना, बुद्धि, मनः सकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय (निश्चयात्मिका बुद्धि) और विषयोपलब्धि (इन्द्रिय द्वारा विषयज्ञान) ये गुण आत्मा के या कर्म पुरुष के हैं ॥ २२ ॥

विमर्श:—कर्म पुरुष के गुण बताते हैं—मन के अनुकूल होने वाला 'सुख' है। उसके विरुद्ध 'दुःख', किसी वस्तु की अभिलाषा यह 'इच्छा' है। अप्रीति होना 'द्वेष' है। कार्य करने के लिये उद्योग करना 'उत्साह' है। मुख में सचार करने वाली वायु 'प्राण वायु' है। पक्वाशय में रहकर नीचे की ओर जाने वाली 'अपान' वायु है। 'उन्मेष' आँख का खोलना और 'निमेष' आँख का बन्द करना। निश्चयात्मिका 'बुद्धि', मन का कर्म 'सकल्प' है। तर्क वितर्क करके वस्तु का निश्चय करना विचारणा है। 'स्मृति' अर्थात् प्रथम अनुभव-किये हुए अर्थ का स्मरण करना, 'विज्ञान' अर्थात् शिल्प शास्त्रादिकों का ज्ञान रखना, 'अध्यवसाय' निश्चयपूर्वक काम करने का उद्योग करना, विषय जो शब्दादि उनकी उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति (विषयों का ज्ञान होना)। इस प्रकार कर्मपुरुष के १६ गुण हैं, इन्हें 'कला' भी कहते हैं।

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं सविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्य ज्ञान बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिपन्नश्च ॥ २३ ॥

सात्विक मन के गुण—सात्विक मन के लक्षण-अक्रूरता,

संविभागरुचिता (अन्न वस्त्र का सम्यग् वितरण), सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहना, सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धैर्य, अनभिपङ्ग अर्थात् निरिच्छापूर्वक अच्छे कार्यों को करना ॥ २३ ॥

विमर्श—सात्त्विक मन के बारह गुण बताये हैं। जो उच्च प्रकार के हैं धार्मिकता, सत्यता, दूसरों के जीवन की रक्षा करना, फल की उपेक्षा करते हुए कार्य करना, धैर्य रखना, स्मृति और मेधा अर्थात् ग्रन्थों के धारण करने की शक्ति इत्यादि प्रायः अच्छे गुणों का समूह सात्त्विक मन में रहता है।

राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च।

राजस मन के गुण—दुःखबाहुल्य, घूमने का स्वभाव, अधीरता, अहंकार, असत्यभाषण, क्रूरता, ढोंग, मान, आनन्द, विषयसम्बन्धी इच्छा और क्रोध ये राजसगुण हैं ॥ २४ ॥

विमर्शः—रजोगुण से होने वाले लक्षण प्रायः दुर्गुणयुक्त होते हैं। उसमें सौख्य का अंश बहुत ही न्यून रहता है। दुःख की मात्रा अधिक होती है और छल-कपट, अहकार, काम, क्रोध इत्यादि दुर्गुण पर्याप्त रहते हैं।

तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥ २५ ॥

तामस मन के गुण—खेद करना, वेदादि को न मानना, धर्म के विरुद्ध आचरण करना, बुद्धि का उपयोग न करना, ज्ञान न होना, दुष्ट बुद्धि रहना, काम करने की इच्छा न होना, नींद लेने की आदत रहना इत्यादि ये तामस गुण हैं ॥ २५ ॥

विमर्शः—तामस गुण प्रायः सत्त्व गुणों के विरुद्ध तथा राजस गुणों से भी निम्न कोटि के होते हैं। इसमें प्रायः निद्रा का विकार अधिक मालूम होता है जिससे बुद्धि को भी निद्रा आने लगती है। सदसद्-विवेक नष्ट हो जाता है। आलस्य की बहुलता हो जाती है।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च। वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दन लघुता च। तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्य शौर्यञ्च। आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्य स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्त्तसमूहो गुरुता चेति ॥

पञ्चमहाभूतों के गुण—आकाश के गुण—शब्द, शब्द की इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, सब छिद्रों का समूह अर्थात् पोलापन और एक पदार्थ को दूसरों से अलग करना ये सब आकाश के गुण हैं। वायु के गुण—स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय अर्थात् चर्म (त्वचा), सम्पूर्ण चेष्टायें करना, सब शरीरों का गतियुक्त होना या हिलना-डोलना आदि और हलकापन ये वायु के गुण है। तेज के गुण—रूप, रूपेन्द्रिय चक्षु अर्थात् आँख, वर्ण, उष्णता, तेजस्विता, जठराग्नि से परिपाक होना, असह्यता, तीक्ष्णता और शूरता ये गुण तेज के हैं। जल के गुण—रस, जिह्वेन्द्रिय, सब द्रव पदार्थों का समूह, गुरुता, शैत्य, स्नेह, वीर्य ये जलसम्बन्धी धर्म हैं। पृथ्वी के गुण—गन्ध, गन्धेन्द्रिय-घ्राण, सम्पूर्ण ठोस-भारदार पदार्थों का समूह और गुरुता, ये गुण पृथ्वी सम्बन्धी हैं ॥ २६ ॥

विमर्शः—अब पञ्च महाभूतों के गुणों का निर्देश करते हैं—प्रत्येक भूतों के धर्मों का विवेचन करने से किस द्रव्य से किन भूतों का सम्बन्ध है, जानना उपयुक्त होता है। यहाँ अदृश्य भूत से प्रारम्भ करते हुये दृश्य भूत के धर्म अन्त में बताते हैं। आकाश के गुण (धर्म)—शब्द, कर्णेन्द्रिय, शारीरिक तथा इतर सम्पूर्ण छिद्र स्थानों का समूह, शरीरगत शिरा, स्नायु, अस्थि, पेशी इनका स्वजातीय पदार्थों से पार्थक्य करना, इत्यादि। गयी के मत से विविक्तता के स्थान में विरिक्तता यह पाठ है। विरिक्तता का अर्थ शरीरगत पदार्थों का नाश या रिक्तता करते रहता है। वायु के गुण (धर्म)—आकाश का तो ज्ञान होता ही नहीं, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय से ज्ञात होने वाले तथापि अदृश्य ऐसे वायु के धर्म स्पर्श करना, चर्मगोचर होना, विनीत होना, उद्दण्ड होना इत्यादि सम्पूर्ण क्रिया करना, या शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का समुदाय तथा सम्पूर्ण शरीरों का चलन वलन करना और लाघवता ये वायु के गुण हैं। तेज के गुण (धर्म)—यह आकाश तथा वायु से अधिक दृग्गोचर होने वाला है, इस लिये अब उसके गुण धर्म बताते हैं—रूप को देखना, सौन्दर्य तथा नेत्रेन्द्रिय का आश्रय करना, गौर वर्ण, उष्णता, तेजस्विता, आहारगत भोज्य, लेह्य, पेय, चोष्य पदार्थों का जठराग्नि द्वारा पाचन करना, क्रोध, शीघ्र कार्य करना और शौर्य ये तेज के गुण है। जलीय गुण (धर्म)—जल के दृश्य और स्पर्शवेद्य होने से तेज के बाद उसके गुण धर्म बताते हैं। यह रसों का आधार है, जिह्वेन्द्रिय से ज्ञात होता है, सम्पूर्ण आर्द्र पदार्थों का सग्रह स्थान है, भारी है, शीतलता युक्त है, इसमें स्नेह रहता है और बीज को ग्रहण करता है। (रेत का अर्थ 'शुक्र तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इसके अनुसार बीजात्मक भी है।) पृथ्वी के गुण (धर्म)—गन्ध, गन्धेन्द्रिय-घ्राण, सर्वमूर्त्तपदार्थ (ठोस), गुरुता जो कफ-पित्तादि, मांस-मज्जादि धातुओं तथा मल में वर्त्तमान है; पृथ्वी के गुण (धर्म) हैं।

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति ॥ २७ ॥

आकाशादि भूतों में रहने वाले सात्त्विकादि गुण—आकाश यह सत्त्व गुणों की अधिकतायुक्त है। वायु रजोगुणाधिक्य वाला है। अग्नि सत्त्व और रजोगुणाधिक्य वाला है, जल सात्त्विक और तमोगुण की विशेषता से युक्त है। और पृथ्वी तमोगुणबाहुल्य वाली है ॥ २७ ॥

विमर्शः—आकाश में प्रकाशकत्व गुण होने के कारण वह सत्त्व गुणों की अधिकता रखता है। वायु में चाञ्चल्य होने से वह रजोगुणाधिक्य वाला है। अग्नि या तेज प्रकाशक तथा चञ्चल होने से वह सत्त्व और रजो गुण वाला है। जल यह स्वच्छ होने से, प्रकाशक होने से, गुरुत्व गुण वाला होने से और आच्छादन करने वाला होने से सत्त्व और तमोगुणात्मक

है। पृथ्वी अत्यन्त आवरण करने वाली होने से तमोगुणबाहुल्य वाली है। इस प्रकार सत्त्व गुण आकाश, अग्नि और जल में है और रजोगुण वायु और अग्नि में है। तथा तमोगुण जल और पृथ्वी में है। इस प्रकार तीनों गुणों की प्रधानता से महाभूतों के साथ निर्देश किया गया है।

श्लोकौ चात्र भवत'—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ २८ ॥

उपसंहार के लिये दो श्लोक देते हैं—ये जो आकाशादि पञ्च महाभूतों के गुण हैं वे अपने महाभूत में रहते हुये भी दूसरे महाभूतों में रहते हैं। किन्तु अपने महाभूत में स्पष्टता के साथ रहने के कारण उस महाभूत का गुण कहा जाता है। और अपने महाभूत के अतिरिक्त दूसरे महाभूत में अव्यक्त रूप से रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। किंवा गन्ध आदि गुण अपने अपने द्रव्य में व्यक्त होते हैं। अर्थात् अपने द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों में उनका अनुप्रवेश रहता है प्रधानतया अपने द्रव्य में उस द्रव्य का ही गुण होता है। किसी के मत से एक भूत में अन्य भूतों का सम्बन्ध होता है। जैसे—आकाश में अन्य चार महाभूतों का अनुप्रवेश है। इसी प्रकार एक एक भूत का अन्य अन्य भूतों के साथ अनुप्रवेश रहता है ॥ २८ ॥

विमर्शः—आकाश, वायु आदि पञ्चमहाभूतों के गुण उनसे भिन्न। क्रमतः प्राप्त भूतों में मिलते हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि एक भूत का प्रवेश दूसरे भूतों में मिलता है। जैसे कि वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण मिलते हैं। शब्द तो आकाश का गुण है परन्तु वायु में आकाश के प्रविष्ट होने के कारण उसमें शब्द और निज गुण स्पर्श भी वर्त्तमान रहता है। उसी प्रकार तेज में आकाश और वायु दोनों ही रहते हैं इसलिये तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीनों गुणों का समूह रहता है। इस प्रकार जल में आकाश, वायु और तेज तीनों रहते हैं। इस कारण उसमें उसका निजका गुण जो रस है उसे लेकर शेष के शब्द, स्पर्श और रूप भी उसमें रहते हैं। इस प्रकार पञ्च महाभूतों का परस्पर अनुप्रवेश होने से 'अनुप्रविष्टानि' कहा है। उपर्युक्त 'अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि' मत से भिन्न भी मत प्रचलित है। इस मत में आकाश में भी पृथ्वी का सूक्ष्म भाग मानते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मतया जल और तेज के साथ वायु का भी आकाश में सचार होने से आकाश में चारों महाभूतों का समावेश बताया है। जैसे आकाश में वायु है उसी तरह वायु में भी आकाश सर्वत्र व्याप्त होने से विद्यमान है। तेज और जल भी वायु में विद्यमान है क्योंकि 'अनुष्णशीतस्पर्शोऽयं द्रव्यञ्चैवायुरिष्यते। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्'। इस कथन के अनुसार वायु में रहने वाले शीतत्व और अनुष्णत्व गुण जल और तेज का सम्बन्ध बताते हैं। पृथ्वी भी सूक्ष्म रूप से उसमें विद्यमान है। तथा तेज में आकाश सर्वत्र व्यापी होने से विद्यमान है। वायु तो प्रेरणा करने से तेज में रहता ही है। जल तत्त्व से तो तेज की उत्पत्ति ही होती है 'अद्भ्योऽग्निरित्युक्तत्वात्' धूमादि रूप से तेज में पृथ्वी भी है। जलीय द्रव्यों में आकाश व्यापक होने से वर्त्तमान है। जल में तरंग बुद्बुदादि को उत्पन्न करने वाला वायु भी विद्यमान रहता है। जल से अग्नि की उत्पत्ति होने से वह भी उसमें वर्त्तमान है। कहा भी है। 'अद्भ्योऽग्निः' इति। जल में अणुरूप से पृथ्वी भी है। पृथ्वी में भी आकाश, वायु, अग्नि, जल ये हैं। क्योंकि भूमि का विभाग करते समय पाँच प्रकार की भूमि बताई है। इसी प्रकार आकाशादि महाभूतों का परस्पर महाभूतों में अनुप्रवेश बताया है। इस पर यह शङ्का होती है कि अलग अलग भूतों के गुणों का वर्णन किस प्रकार युक्ति सगत है। क्योंकि एक भूत से दूसरे भूतों का सम्बन्ध तो है ही इसका उत्तर उन द्रव्यों में व्यक्त लक्षणों के अनुसार पृथ्वी आदि का दिग्दर्शन किया है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥ २९ ॥
इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥

संक्षेप में आठ प्रकृति, सोलह विकार तथा आयुर्वेद के मतानुसार एव सांख्य शास्त्र के अनुसार आत्मा का वर्णन किया है ॥ २९ ॥

विमर्श—इस प्रथम अध्याय में अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा ये आठ प्रकृति हैं और श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, (लिङ्ग), पायु (गुद) और मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पञ्च महाभूत, इस प्रकार सोलह विकार और पचीसवाँ आत्मा ये पचीस तत्त्व स्वतन्त्र नाम आयुर्वेद में और परतन्त्र नाम सांख्य शास्त्र में बताये हुये हैं। चरक के मतानुसार चौबीस तत्त्व हैं। उनमें पुरुषों का अन्तर्भाव अव्यक्त में होता है। सुश्रुत सांख्य का मार्ग स्वीकार करते हुये २५ पचीस तत्त्वों का उपादान करता है। और चरक-सांख्य और वेदान्त के बीच का मार्ग स्वीकार करते हुये २४ चौबीस तत्त्व को मानता है।

इति शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

शारीरे प्रश्नाः—

(१) आयुर्वेदे पुरा शारीरविद्या सुविदिताऽऽसीदिति मत चारक सौश्रुतवचनपुरस्सरै स्थापयन्तु।
(२) 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' अस्मिन्विषये निबन्धो लेख्यः।
(३) आयुर्वेदीय-शारीरं चिकित्साऽर्थं पर्याप्त न वा ?
(४) किं तावच्छारीरम् ? तज्ज्ञानस्य च किं प्रयोजनम् ?

शारीरक्रियाविज्ञाने प्रश्नाः—

(१) चरक-सुश्रुतमतेन शरीरनिर्मापका भावा. प्रदर्शनीयाः।
(२) प्रकृतिपुरुषयो. साधर्म्यंवैधर्म्यञ्च लेखनीयम्।
(३) स्वभावमीश्वर काल यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणाम च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥
अस्य पद्यस्य विशदतया व्याख्या कर्त्तव्या।
(४) अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्त लक्षणमिष्यते ॥
अस्य श्लोकस्य विस्तारपूर्वक व्याख्या विधेया ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शुक्रशोणितशुद्धि नाम शारीरं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् शुक्र और शोणित (आर्त्तव) शुद्धि नाम का शारीर स्थान सम्बन्धी अध्याय बतायेंगे। जैसा भगवान् धन्वन्तरि महाराज ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—प्रथम अध्याय समाप्त होने के पश्चात् शुक्र का स्वरूप, उसके दोष और उन दोषों का निराकरण इत्यादि शुक्रसम्बन्धी विचार तथा आर्त्तव का लक्षण, उसके दोष, उनका निराकरण इत्यादि आर्त्तव का विचार किया जायगा। ऐसा भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं। इस अध्याय में गर्भधारण प्रक्रिया (Reproduction theory) बतायी गई है।

वात-पित्त-श्लेष्म-शोणित-कुणपगन्धि-ग्रन्थि-पूति-पूय-क्षीण-मूत्र-पुरीष-रेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥ ३ ॥

शुक्र के दोष— वातदोष से दूषित शुक्र, पित्त से विकृत, कफ से व्याप्त, रक्त से युक्त, मुर्दों की गन्ध वाला, गांठ युक्त, सड़ी गन्ध वाला, पूययुक्त, प्रमाण में कम, मूत्र के समान गन्धवाला या मूत्रयुक्त, मल के समान दुर्गन्धवाला, वीर्य प्रजोत्पादन में अर्थात् सन्तति उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—वीर्य के दोष ग्यारह होते हैं। सुश्रुत के मतानुसार चार दोषों से चार प्रकार की वीर्य की विकृति और कुछ गन्ध के अनुसार चार विकृतियाँ तथा तीन विकृतियाँ दार्शनिक बताई हैं। इन विकृतियों का परिणाम यह होता है कि पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता है। कुणपगन्धि में वीर्य-कीट नष्ट हुये रहते हैं इसलिये वे स्त्री-डिम्ब से मिलकर सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते। उसी प्रकार ग्रन्थियुक्त होने पर वह रज-डिम्ब के साथ मिल नहीं सकते या शुक्र का उत्सर्ग ठीक नहीं होता है, दुर्गन्ध वाला शुक्र स्वयं ही दूषित रहने से बेकार रहता है। पूयगन्ध वाला शुक्र (Gonorrhea) पूय प्रमेह या तत्सम व्याधियों से युक्त होता है। इसी प्रकार क्षीण वीर्य के जीवाणु क्षीण रहते हैं तथा मूत्र और मल के गन्ध वाले निरुपयोगी होते हैं। उपर्युक्त वीर्य के प्रकारों में से कोई तो साध्य रहते हैं कोई कृच्छ्रसाध्य और कोई असाध्य रहते हैं। जिनका निर्देश आगे किया है।

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीण प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणप ग्रन्थि-पूति-पूय-क्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः, मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्याः (साध्यमन्यच्च) इति॥

वीर्यदोष के लक्षण—उपर्युक्त वीर्यदोषों में से वात से दूषित वीर्य वायु के रंग वाला और तज्जन्य वेदना से युक्त रहता है। पित्त से दूषित वीर्य में पित्त का रंग और तज्जन्य पीड़ा होती है। कफ से दूषित वीर्य में उसका वर्ण और वेदना रहती है, रक्त से दूषित वीर्य में मुर्दों की गन्ध और वीर्य का बाहुल्य रहता है। कफ और वात से दूषित वीर्य गांठदार होता है। पित्त और कफ से दूषित वीर्य सड़ी गन्ध वाला और पूय के समान रहता है। पित्त और वायु से वीर्य क्षीण होता है और सूत्रस्थान १५ वें अध्याय में बताये हुये मेढ़ में वेदना होना, अण्डकोष में सवेदना, विषय-संभोग में देर से वीर्य का पतन होना और सम्भोग के समय पतन में थोड़ा सा रक्त और अल्प शुक्र दिखाई देना ये सब लक्षण होते हैं। सन्निपात से वीर्य में मूत्र और मल की दुर्गन्ध आती है। उनमें कुणपगन्धि, ग्रन्थियुक्त, दुर्गन्धि, पूययुक्त, वीर्य की अल्पता, ये दोष कष्टसाध्य हैं। मूत्र-मल के समान गन्ध वाला वीर्य असाध्य है। इनके अतिरिक्त शेष वीर्यदोष साध्य हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—वात दोष से लाल, काला इत्यादि वर्ण का शुक्र होता है। उसी प्रकार तोदन, भेदन इत्यादि वेदना भी वायु से होती है। वायु तो वर्णहीन है तब वह शुक्र में वर्ण परिवर्त्तन कैसे करता है? उत्तर यह है कि—वायु तो कुपित होकर दूष्य को दूषित करता है इसलिए दूष्य में वर्ण का परिवर्त्तन होता है नतु वायु में। पित्त से दूषित शुक्र में पीले, नीले इत्यादि रग आते हैं और ओष, चोष इत्यादि अनेक प्रकार की वेदना भी पित्त से दूषित शुक्र में होती है। कफ से दूषित शुक्र में श्वेतवर्ण और कण्डू आदि वेदना होती है। रक्त से दूषित शुक्र शवगन्धि और प्रमाण में अधिक होता है। कफ और वायु से दूषित शुक्र गाँठदार होता है। पित्त और कफ से दूषित शुक्र सड़ी हुई गन्ध वाला और पूय के समान रहता है। पित्त और वायु से दूषित शुक्र क्षीण और वेदनायुक्त होता है। सन्निपात से मूत्र और पुरीष गन्ध वाला होता है। उनमें शव के गन्ध वाला, गांठदार, सडी हुई गन्ध वाला और पूययुक्त तथा क्षीण शुक्र कष्ट-साध्य होता है। चिकित्सा करने पर भी अच्छा न होने वाला वीर्य, मूत्र और मल के गन्ध वाला होता है। इनके अतिरिक्त वात, पित्त और कफ से दूषित वीर्य साध्य रहता है।

आर्त्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्ण-वेदनाऽऽदिभिर्विज्ञेयम्। तेषु कुणपग्रन्थि पूति-पूय-क्षीण-मूत्र-पुरीषप्रकाशमसाध्यं साध्यमन्यच्चेति ॥ ५ ॥

आर्त्तव की साध्यासाध्यता—आर्त्तव भी तीनों दोषों से तीन प्रकार का, रक्त दोष से चतुर्थ प्रकार का, द्वन्द्वात्मक वातकफ, वातपित्त और पित्त कफ से तथा त्रिदोष से युक्त प्रजोत्पादन में योग्य नहीं होता है। उनकी परीक्षा दोषों के वर्ण से तथा वेदनाओं से करनी चाहिये। इन आर्त्तवों के प्रकारों में से कुणपगन्धि, ग्रन्थि, पूति, पूय, क्षीण तथा मूत्र और मल के गन्धों से युक्त आर्त्तव असाध्य समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त शेष साध्य समझना चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्शः—आर्त्तवों का और शुक्र का साम्य होने से, शुक्र के समान आर्त्तव के भी दोष समझना चाहिये। इसमें भी शुक्र की तरह साध्यासाध्यता होती है। शुक्र और आर्त्तवों के विकार कष्टसाध्य, असाध्य या साध्य होते हैं, किन्तु वे याप्य नहीं

होते। व्याधि के स्वभाव के कारण ऐसा होता है। आर्त्तव क्षय के लक्षण 'यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च' ऐसे हैं। उसमें योग्य काल में आर्त्तव नहीं आता है या आने पर भी उसकी मात्रा कम रहती है और योनि में पीड़ा होती है।

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः॥ ६॥

इनसे से पहले तीन शुक्रदोष स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और निरूह तथा अनुवासन वस्तिओं से, विशेष क्रियाओं के द्वारा तथा उत्तरवस्तिओं से शुक्रदोषों को जीतना चाहिये॥ ६॥

विमर्शः—जो साध्य शुक्र दोष हैं उनको पञ्चकर्म द्वारा हितकर, वाजीकरण ओषधियों से, रक्तपित्तहर प्रयोगों से, जीवनीयघृत, च्यवनप्राश, शिलाजतु आदि के प्रयोगों से हरण करना चाहिये। वातिक शुक्रदोष में निरूह और अनुवासन उपयुक्त है। पैत्तिक दोषयुक्त शुक्र में अभयामलक रसायन हितकर है। उसी प्रकार कफ से दूषित शुक्र में त्रिफला रसायन उत्तम है। इसके अतिरिक्त उत्तरवस्ति का प्राधान्य होने से उसका अलग निर्देश किया है। वह भी शुक्रदोषों में उपयुक्त है। यद्यपि पञ्चकर्म में वस्ति का विधान है तो भी उत्तरवस्ति का चिकित्सा में प्राधान्य बताने के लिए स्वतन्त्र नाम निर्देश किया है।

पाययेत्तु नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम्।
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम्॥ ७॥

कुणपगन्धि वीर्य की चिकित्सा—वध मुर्दों की गन्ध वाले वीर्य के लिये धाय के फूल, खैर को लकड़ी, अनार और अर्जुन की छाल द्वारा साधित या शालसारादिगण से साधित घी का प्रयोग करे॥ ७॥

विमर्शः—अब वीर्य के कष्टसाध्य विकारों पर उपाय बताते हैं—प्रथम शव की गन्ध वाला वीर्य ठीक करने के लिये धाय के फूल से, खैर की लकड़ी से और अनार तथा अर्जुन की छाल से सिद्ध किया हुआ घृत लेना चाहिये। इस घृत में १ सेर कल्क, चार सेर घी और सोलह सेर जल रहना चाहिये। मात्रा में यह घी आधा तोला रहना चाहिये। दूसरा घृत शालसारादि गण से सिद्ध किया हुआ लेना चाहिये। यहाँ गण के नाम का निर्देश किया है, इसलिये यही गण घृत बनाते समय क्वाथ और कल्क दोनों में लेना चाहिये। यह घी बनाने के लिये क्वाथ्य द्रव्य ८ सेर, जल ६४ सेर, अवशिष्ट १६ सेर कषाय, ओषधि कल्क १ सेर, जल १६ सेर और ४ सेर घृत लेकर घी शेष रहने तक पकाना और जब फेन की शान्ति हो तब और मध्यम पाक होने पर निकाल लेना चाहिये। इस घृत की भी मात्रा छः मासे समझनी चाहिये।

ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं पालाशे वापि भस्मनि॥८॥

ग्रन्थिभूत शुक्र की चिकित्सा—ग्रन्थिभूत वीर्य में शटी (कचूर) या पाठभेद से अश्मभित् अर्थात् पाषाणभेद से घी बनाकर या पलाशक्षार से घी बनाना चाहिये ('शटीसिद्ध' की जगह 'अश्मभिस्सिद्धम्' पाठान्तर है।)॥ ८॥

विमर्शः—कचूर या पाषाणभेद से बनाये जाने वाले घृत में कल्क और क्वाथ दोनों देना चाहिये और पलाश क्षार में केवल भस्मोदक दिया जाता है।

परूपकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम्॥ ९॥

पूयदोष युक्त शुक्र की चिकित्सा—परूपक गण से और वटादि गण से साधित घृत पूयाख्य शुक्रदोषमें देना चाहिये॥

विमर्श—पूय के समान निकलने वाला शुक्र ठीक करने के लिये परूपकादिगण और वटादि गण से सिद्ध किया हुआ घृत देना चाहिये। घृत बनाने के लिये दोनों गणों का कल्क और काढ़ा का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि यहां गणों का निर्देश 'आदि' पदसे किया है। परूपकादि गण में आठ औषधियां हैं। वे ये हैं—१ परूपक (फालसा), २ द्राक्षा (काली मुनक्का), ३ कट्फल (कायफल), ४ दाडिम (अनार) ५ राजादन (खिरनी), ६ कतकफल (निर्मली), ७ शाकफल (सागवान का फल) और 'त्रिफला' परूपकादि गण, सुश्रुत सूत्रस्थान ३८ वें अध्याय में दिया है यथा परूपक-द्राक्षा-कट्फल दाडिम राजादन कतका फल शाकफलानि त्रिफला चेति। वटादि गण में २४ औषधियाँ हैं। वे १ न्यग्रोध (वट), २ उदुम्बर (गूलर), ३ अश्वत्थ (पीपल), ४ प्लक्ष (पाकर), ५ मधुक (मुलेठी), ६ कपीतन (आम्रातक), ७ कुकुभ (अर्जुन), ८ आम्र, ९ कोशाम्र, १० चीरकपत्र (लाक्षा वृक्ष), ११ जम्बूद्वय (जामुन और राजजामुन), १२ प्रियाल (चिरौंजी), १३ मधूक (महुवा), १४ रोहिणी (कट्फला), १५ वञ्जुल (वेंत), १६ कदम्ब (कदम), १७ बदरी (बेर), १८ तिन्दुकी (तेन्दु), १९ सल्लकी (सलाई-सर्ज भेद), २० रोध्र (लोध), २१ सावर रोध्र (शावर लोध्र), २२ भल्लातक (भिलावा), २३ पलाश (ढाक) और २४ नन्दी-वृक्ष। यह भी गण सुश्रुत सूत्रस्थान ३८ वें अध्याय में दिया है।

प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि॥ १०॥

क्षीणरेतस की चिकित्सा—वीर्य क्षीण रहने पर स्वयोनि वर्धन द्रव्य से सूत्रस्थान के दोषादिविज्ञानीय नामक अध्याय में लिखे हुए और चिकित्सा स्थान के 'क्षीणबलीय' नामक २६ वें अध्याय में कहे जाने वाले कार्य करना चाहिये॥१०॥

विमर्शः—शुक्र क्षीण रहने पर शुक्र बढाने वाले द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। उसी प्रकार वाजीकरण प्रयोग करके शुक्र की वृद्धि करना चाहिये, उसके प्रयोग चिकित्सा स्थान में क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सित अध्याय में दिये हैं। वे प्रशस्त गुण वाले हैं और अमोघ वीर्यवर्धक हैं।

विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः॥ ११॥

(स्नेहादिश्च क्रमः कार्यः षट्स्वेतासु विजानता-इत्यधिकः क्वचिदुपलभ्यते पाठः।)

पुरीषगन्धि शुक्र चिकित्सा—पुरीषगन्धि शुक्र में चित्रक, खस और हींग से बनाया हुआ घी प्रयोग करना चाहिये। शेष पाठ का अर्थ—ऊपर निर्दिष्ट छः शुक्रविकारों में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचनादि क्रम रखना चाहिये॥ ११॥

विमर्शः—यहां विट् शब्द मल और मूत्र वाचक है। यद्यपि पुरीषगन्धि और मूत्रगन्धि वीर्य असाध्य माना गया है तो भी मल और मूत्र का दुर्गन्ध दुःखदायक होने से उसका निराकरण करने के लिए उपरि निर्दिष्ट वृत बताया है क्योंकि असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकता है। अधिक पाठ में ६ दुः वीर्यदोषों का उपाय स्वेदनादि बताया है। यहां विट् शब्द से मल और मूत्र गन्ध वाले ऐसा अर्थ निकालने पर ही कुणपगन्धि, ग्रन्थिभूत वीर्य, पूयप्रख्य, कीटरेतस और मल तथा मूत्र गन्ध वाले ये छः प्रकार होते हैं।

स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम्।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरवस्तिना ॥ १३ ॥

सामान्यचिकित्सा—स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहवस्ति और अनुवासन यह शुक्रदोष वालों को देने के बाद उत्तर-वस्ति देना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्शः—शुक्र दोषों की अलग अलग चिकित्सा कहने के बाद सामान्य चिकित्सा सूत्र बताते हैं। यहां यह ध्यान रखें कि पञ्चकर्मों में स्वेदन क्रिया नहीं दी गयी है। क्योंकि शुक्र यह सौम्य गुणवाला और स्वेदन यह उष्ण गुण वाला होने से विरोध न हो इसलिए स्वेदन का विधान नहीं बताया है और यह चिकित्सा भी छः वीर्य दोषों की है। वे दोष कुणपगन्धि, ग्रन्थिभूत, पूयप्रख्य, कीटरेतस, मल और मूत्रगन्धि, ये हैं। सब शुक्र दोष लेने से 'उक्तव्यतिरिक्तशुक्रदोषांश्चौत्र स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्' इस उक्ति के साथ विरोध होगा। अतः पूर्व तीनों दोषों से व्याप्त शुक्र के तीन विकारों को छोड़ कर बाकीके छः शुक्र दोषों का सम्बन्ध लेना ठीक है। उत्तरवस्ति पुरुषों को लिङ्ग द्वारा और स्त्रियों को योनिमार्ग से दी जाती है।

स्फटिकाभं ध्रुवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ॥ १४ ॥

शुद्ध शुक्रका लक्षण—स्फटिक के समान स्वच्छ, पतला, स्निग्ध (चिकना), मीठा और मधु के समान गन्ध वाला शुक्र होता है यह मत सुश्रुत का है। दूसरों के मतों से विशुद्ध वीर्य तिल-तेल के समान या मधु के वर्ण का होता है॥

विमर्शः—शुद्ध शुक्र का लक्षण इसी जगह बताने का प्रयोजन स्पष्ट ही होगा कि 'वात-पित्त-श्लेष्म-शोणित-कुणपगन्धि-ग्रन्थि-भूत-पूय-कीट-मूत्र-पुरीष-रेतसः प्रजोत्पादने समर्था न भवन्ति' इस वाक्य में कहे हुये दोषों का कैसे निराकरण करना चाहिये। यह बताने के बाद शुद्ध शुक्र समझना जरूरी हो जाता है, इसलिये उसका लक्षण दिया है। शुक्र के लक्षण में श्वेतत्व, द्रवत्व (liquid in from), स्निग्धत्व, मधुरत्व और मधुगन्धित्व दिया है। मधुरत्व की परीक्षा लिट्मस नामके परीक्षोपयोगी पत्र से की जाती है। इसमें क्षार या अम्ल के धर्म नहीं मिलेंगे। क्षार और अम्ल पदार्थ एकत्र होने से मधुरत्व प्राप्त होता है यह तो नित्य दही और नमक के प्रयोग से मालूम होता है और क्षार से दग्ध हुये स्थान की चिकित्सा अम्लपदार्थ के प्रयोग से की जाती है। परिणाम यह होता है कि उस जगह मधुरता आने से जैसे अग्नि की शान्ति जलद्वारा होती है उसी प्रकार क्षारदग्ध की शान्ति अम्ल द्रव्य से होती है। कहा भी है 'अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णत्वगो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति। माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरग्निरिवाप्लुतः॥' बहुत से आचार्यों के मत से शुद्ध शुक्र तैल और मधु के वर्ण का होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार के मतों का समन्वय परिणामों से स्पष्ट होगा। सफेद शुक्र का परिणाम गौरवर्ण की संतान के लिये है, तैल वर्ण के शुक्र से काला रङ्ग होता है, यथा—'तत्र शुक्ले शुक्रे घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्'। वृद्धसंग्रह के मतानुसार वीर्य का लक्षण—'तत् सौम्यं, स्निग्धं, गुरु, शुक्लं, मधुगन्धि, मधुरं, पिच्छिलं, बहलं, घृततैलक्षौद्रान्यतमवर्णं च शुक्रं गर्भाधानयोग्यं भवति'। चरक के मत में शुद्ध शुक्र का वर्णन निम्नप्रकार से है:—स्निग्धं वर्णं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च। रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्॥ इंग्लिश ग्रन्थों में इसका वर्णन ऐसा है—The semen is liquid in form, viscid, neutral in reaction or alkaline. The odour of it though compared With other things still it has own peculiar smell इसका अभिप्राय यह है कि वीर्य पिच्छिल रहता है, पतला होता है, क्षारीय प्रतिक्रिया या निष्क्रिय होता है। इसकी गन्ध स्वतन्त्र होती है जिसका अनुभव इसकी गन्धसे ही होता है। जिसकी तुलना दूसरी चीजोंसे नहीं की जा सकती है।

विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ॥ १५ ॥

आर्तव चिकित्सा—आर्तव शुद्धि के लिए उत्तरबस्ति तक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्शः—आर्तवशुद्धि के लिये भी शुक्रशुद्धि के समान यथादोष वमनविरेचनादि पञ्चकर्म करना चाहिये। जिस प्रकार का दोष हो उस प्रकार का पञ्चकर्मों में से कर्म करना चाहिये किन्तु उत्तरबस्ति सब प्रकार के आर्तव दोषों में देना चाहिये। उसी प्रकार वातहर द्रव्य मिलाकर उनका क्वाथ बनाकर निरूहबस्ति और स्नेह मिलाकर स्निग्ध बस्ति देना चाहिये।

स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु।
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च॥१६॥

स्नेहन स्वेदनादिकों से शुद्ध की हुई स्त्रियों की योनि में वात, पित्त, कफ और रक्त से दूषित आर्तवों की पीड़ा के लिये कल्क रखे, पिचु (Gauze) धारण करे और दोषों के अनुकूल हितकर प्रक्षालनों (Lotions) का उपयोग करना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्शः—यहां आर्तव शब्द से ही अर्थापत्ति से स्त्रियों का ग्रहण होता है तो भी स्त्रियों का निर्देश इसलिये किया है कि युवतियों का बोध हो। कुणपगन्धि और अल्पशुक्रत्व रक्त से उत्पन्न होनेवाले शुक्रदोष पुरुषों में बताये हैं, उसी प्रकार रक्त से उत्पन्न होने वाला कुणपगन्धित्व का ग्रहण इस जगह नहीं कर सकते हैं क्योंकि कुणपगन्धि असाध्य होता है। इसलिये कुणपगन्धि से विस्रगन्धि तात्पर्य है। कल्कोंका वर्णन योनिव्यापत् में दिया है।

ग्रन्थिभूते पिचुं पाठां न्यूषणं वृक्षकाणि च ॥ १७ ॥

ग्रन्थिभूत आर्तवकी चिकित्सा—ग्रन्थियुक्त आर्तव में पढ़ा,

त्र्यूषण-सोंठ, मरिच और पीपल तथा वृक्षक (मोखा) इनका क्वाथ पीना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्श—यहाँ क्वाथ्य द्रव्य दो तोला, जल सोलह गुणा और अवशिष्ट आठ तोला रहने पर उतार कर पिलाना चाहिये॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्त्तवे ।
पिबेद्भद्रश्रियः काथं चन्दनकाथमेव च ॥ १७ ॥

दुर्गन्ध युक्त आर्त्तव के लिये—दुर्गन्धयुक्त, पूतिगन्धवाला, मज्जा के समान आर्त्तव होने पर सफेद चन्दन या रक्तचन्दन का कषाय देना चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्श—यहाँ 'तथा' पदसे मूत्र पुरीष का गन्ध समझना चाहिये। 'भद्रश्रियः' यहाँ 'भद्रश्रियं' ऐसा भी पाठ है। भद्रश्री का अर्थ 'गोपीचन्दन' ऐसा महाराष्ट्र भाषा में होता है। वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। वह तो केवल सफेद वर्ण का वैष्णवपन्थीय लोगों के चन्दन के लिये होता है। उसमें दुर्गन्ध हरण करने की ताकत नहीं होती है।

शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम् ।
दोषाणां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्त्तवार्त्तिषु ॥
अन्नं शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥ १८ ॥

वातादिदुष्ट आर्त्तवों की चिकित्सा—शुक्र दोष हरण करने वाली ओषधियों का आर्त्तव दोषों में भी प्रयोग करना चाहिये। इसमें शालिधान्य, जौ, मद्य, मांस तथा पित्तवर्धक हितकर है॥

विमर्शः—आर्त्तव के दोषों का शुक्र दोषों के समान स्नेहन स्वेदादिकों द्वारा निराकरण करना चाहिये। 'दोषाणाम्' इस जगह 'योगाना' भी पाठ है। वे योग रसायन, वाजीकरण इत्यादि मूत्रदोष प्रतिषेधके लिये लिखे हुये समझना चाहिये।

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ १९ ॥
('यद्वाऽप्सु न विरज्यते' पाठभेदः।)

शुद्ध आर्त्तव का लक्षण—आर्त्तव-दोष-निराकरण विधि बताने के बाद शुद्ध आर्त्तव का लक्षण बताते हैं—शुद्ध आर्त्तव खरगोश के रक्त के समान काला सा लाल होता है या लाक्षा रस के तुल्य होता है। इसी प्रकार जिसको धोने से कपड़ा पर दाग न रहे ऐसा आर्त्तव प्रशंसनीय होता है। पाठ भेद के अनुसार-जो पानी में घुल न सके ॥ १९ ॥

विमर्श—आधुनिक दृष्टि से २८ दिन के बाद प्रायः गर्भाशय से निकलने वाला रक्तस्राव 'आर्त्तव' होता है। यह प्रायः ४ से ८ दिन तक भी रहता है। इसकी मात्रा ४ (चार) से १० (दस) औंस भी होती है। अर्थात् १० तोला से लेकर २५ तोला तक होता है। यह आयु के बारह वर्ष या उसके उपरान्त आरम्भ होता है। और ४० या ४८ साल तक रहता है। किन्तु सगर्भावस्था में और दुग्धपानावस्था में बन्द रहता है। वृद्ध वाग्भट ने लिखा है कि—'आर्त्तवं पुनः शशरुधिरलाक्षारसोपमं धौतं च विरज्यमानं शुद्धमाहुः' इनका मत सुश्रुत के मत से मिलता है। व्यवहार में दोनों प्रकार के आर्त्तव मिलते हैं। प्रथम जो कपडा में लगा धोने से छूट सके। जैसे शुक्र का धब्बा नहीं छूटता है उसी प्रकार आर्त्तव का भी धब्बा नहीं छूटना चाहिये। चरकसंहिता में इसका ऊहापोह किया ही नहीं। इनके मत के अनुसार—'गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम्। इन्द्रगोपकसङ्काशमार्त्तवं शुद्धमेव तत्॥ मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चराग्रानुबन्धि च। नैवातिबहुलास्थल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्' ॥ यह लक्षण है। अर्थात् जो गुञ्जाफल (घुघुची), लाल कमल या अलता (लाक्षारस) अथवा वीरबहूटी के समान वर्ण वाला हो उसे 'शुद्ध आर्त्तव' समझना चाहिये। और महीने के बाद निकलने वाला, पिच्छिलता से रहित, जलन और पीड़ा से शून्य, पाँच दिन रहने वाला तथा जो परिमाण में अत्यधिक और अतिन्यून न हो उसे शुद्ध समझना चाहिये। आर्त्तव काल समाप्त होने के बाद स्त्रीडिम्ब शुक्र-कीटाणु के साथ मिलने के लिये उत्सुक होता है। इसीलिये यह काल गर्भाधान के लिये योग्य माना गया है।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि ।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥ २० ॥

असृग्दर का लक्षण—वही आर्त्तव अतिमैथुन के कारण, ऋतुकाल से भिन्न समय में होने वाला और उक्त आर्त्तव से भिन्न लक्षण वाला होने से 'असृग्दर' या 'रक्तप्रदर' कहा जाता है ॥ २० ॥

विमर्शः—'अतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्' इस जगह 'उक्त लक्षणलक्षितम्' ऐसा पाठ है। इसका अर्थ 'शशासृक्प्रतिमम्' इस प्रकार का लक्षण चाहिये न कि रक्तपित्त के गुण वाला। प्रायः रक्तपित्त और असृग्दर ये दोनों विकार एक दूसरे से भ्रम उत्पन्न करने वाले होते हैं। 'अतिप्रसङ्गेन' इसका अर्थ-'बहुत समय तक, अत्यधिक मात्रा में' ऐसा भी होता है। कम मात्रा में होने वाला आर्त्तव यदि ऋतुभिन्न काल में आवे तो भी उसे 'असृग्दर' समझना चाहिये न कि रक्तपित्त।

रक्तपित्त और असृग्दर का भेदः—

असृग्दर-	रक्तपित्त-
१ नियत क्रम से आने वाला।	१ अनियत क्रमसे आने वाला।
२ योनिमार्ग से ही आता है।	२ गुदामार्ग और मूत्रमार्ग से भी आता है।
३ गन्ध रहित।	३ दुर्गन्ध युक्त।
४ इन्द्रगोपकसङ्काश।	४ नीला, पीला, हरे वर्ण का।
५ कम दिन रहने वाला।	५ बहुत दिन रहने वाला।
६ अधिक पतला भी नहीं और ज्यादा गाढ़ा भी नहीं।	६ गाढ़ा न होने वाला।
७ पिपीलिका और मक्षिकाओं को प्रिय।	७ पिपीलिका और मक्खियों को अप्रिय।

असृग्दरो भवेत् सर्वैः साङ्गमर्दैः सवेदनैः ।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृपा
(मदस्तृपा 'पा०')
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२१॥

असृग्दर का लक्षण—सम्पूर्ण रक्तप्रदर में अङ्ग में पीड़ा और वेदना होती है। उसी के अधिक बढ़ने पर दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा (fits-आंखोंके सामने अधेरा), तम, तृषा (प्यास), वदन में उष्णता का अनुभव, प्रलाप, पाण्डुता (Anaemia), तन्द्रा और वात के दूसरे विकार (वातज रोग) उत्पन्न होते हैं ॥

विमर्शः—यहां सामान्य रक्तप्रदर के और अतिवृद्ध रक्त-

प्रदर के लक्षण बताये हैं। तन्द्रा-यह निद्रा का भेद है—'निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्'। वातज रोग आक्षेप आदि समझना चाहिये। असृग्दर की अधिक वृद्धि होने से तीनों दोषों का सम्बन्ध दिखाई देता है परन्तु सामान्य असृग्दर में केवल एक ही दोष का वर्णन है।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक्।
रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥ २२ ॥

अल्पोपद्रव रक्तप्रदर की चिकित्सा—हितकर आहार-विहार का सेवन करने वाली, तरुणी, थोड़े उपद्रव वाली स्त्री को रक्तपित्त की चिकित्साविधि से यथावत् औषधि दे ॥ २२ ॥

विमर्श.—आयु में न तो बाला रहे न प्रौढा और न वृद्धा हो किन्तु षोडशवर्ष से ३० वर्ष की हो तथा उसका आहार-विहार रोग को बढ़ाने वाला न होता हो, प्रदर के लक्षण बढ़े हुये न हों तो, रक्तपित्त में जो हितकर आहार-विहार हों उन्हें कराकर चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तपित्त के विकार में वासा (अडूसा) का प्रयोग करना चाहिये। यथा-'वासाया विद्यमानत्वे आशाया जीवितस्य च। रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति'।

दोषैरावृतमार्गत्वादार्त्तवं नश्यति स्त्रियः।
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः।
पाने मूत्रमुदश्वित्च दधि शुक्तं च भोजने ॥ २३ ॥

नष्टार्त्तव का कारण और चिकित्सा—जब वात और कफ दोषों से आर्त्तववाहिनी शिराओं का मार्ग रुक जाय तो नष्टार्त्तव होता है। उसके लिये भोजनार्थ मछली, कुलथी, खट्टे पदार्थ, तिल, उड़द, मद्य, गोमूत्र, छाछ, दही और सिरका देना चाहिये ॥ २३ ॥

विमर्शः—यहाँ 'दोषैः' पद से वात और कफ या द्वन्द्वज से सम्बन्ध है। पित्त का सम्बन्ध होने से आर्त्तव की अति प्रवृत्ति होती है। मत्स्य, कुलत्थ इत्यादि पदार्थ भी वात और कफ-दोषहर हैं। वे पित्तदोष का हरण नहीं करते। इससे भी यह सिद्ध होता है कि नष्टार्त्तव के लिये वात और कफ ये ही दो दोष कारण होते हैं। उदश्वित् (छाछ) में आधा पानी दही में मिलाया हुआ रहता है। 'नश्यति' ऐसा कहने से 'आर्त्तव बिलकुल नष्ट हो जाता है ऐसा नहीं किन्तु निकलता हुआ दीखता नहीं' इतना ही उसका अभिप्राय है।

क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम्।
तथाऽप्यत्र विधानव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥ २४ ॥

क्षीणार्त्तव की चिकित्सा—क्षीणार्त्तव के लक्षण तथा चिकित्सा पूर्व (सूत्रस्थान-दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय) में दिया है। तथापि नष्टार्त्तव के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये॥

विमर्शः—क्षीणार्त्तव के निम्न लक्षण होते हैं और उसकी चिकित्सा भी दी जाती है—'आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। तत्र संशोधनमाग्नेयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः।' आर्त्तव का क्षय होने से योग्य काल में आर्त्तव का दर्शन नहीं होता है या कम आर्त्तव होता है और योनि में वेदना होती है। उस समय संशोधन और आग्नेय द्रव्यों का विधिपूर्वक उपयोग करना हितकर है।

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्त्तवा च ॥ २५ ॥

इस प्रकार शुद्ध शुक्र और शुद्ध आर्त्तव होता है ॥ २५ ॥

विमर्शः—यहाँ 'शुद्धार्त्तवा च' इसके बाद 'भवति' का अध्याहार करना चाहिये। इस प्रकार के पुरुष और स्त्री प्रजोत्पादन के लिये समर्थ होते हैं। जैसे—उत्तम क्षेत्र और बीज अनुकूल ऋतु और जल के सम्पर्क से अङ्कुर उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार शुद्ध शुक्र वाला पुरुष और शुद्ध आर्त्तव वाली स्त्री उत्तम सन्तान उत्पन्न कर सकती है।

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। किं कारणं? दिवा स्वपन्त्या स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्त्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनाद्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः; अवलेखनात् खलति, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ॥ २६ ॥

ऋतुकाल में वर्ज्य—ऋतुकाल में पहले दिन से ही ब्रह्मचारिणी होकर, दिन में सोना, आंख में अञ्जन करना, रोना, स्नान, चन्दन आदि का शरीर पर अनुलेपन, तेल का अभ्यङ्ग, नखों का काटना, दौड़ना, हँसना, बोलना, बहुत ऊँचे शब्द का सुनना, अवलेखन (सिर में कंघी करना), वायुसेवन करना इत्यादि कर्मों को त्याग देना चाहिये। क्योंकि दिनमें सोने से बच्चा निद्रालु, अञ्जन करने से अन्धा, रोने से विकृतदृष्टि वाला, स्नान या उबटन करने से दुःखी, तैलमर्दन से कोढी, नखों को काटने से बुरे नखवाला, दौड़ने से बच्चा चञ्चल होता है। हँसने से दांत, ओष्ठ, तालु और जिह्वा ये सब काले होते हैं, अधिक बोलने से बच्चा बकवादी होता है, उच्च शब्द सुनने से बधिर, केशसमार्जन से खल्वाट (गंजा), वायु सेवन और परिश्रम से गर्भस्थित बालक उन्मत्त होता है। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट बातें छोड़ देनी चाहिये ॥ २६ ॥

विमर्श—ऋतुकाल गर्भधारण योग्य काल को कहते हैं। वृद्ध वाग्भट ने लिखा है कि—'ऋतुस्तु दृष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति, षोडशरात्रमित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्त्तवायामासमपि के चित्। तद्वददृष्टार्त्तवोऽप्यस्तीत्यपरे' ऋतुकाल आर्त्तव के बाद बारह दिन का होता है। किसी के मत में (१६) सोलह दिन है। कोई कहते हैं कि—योनि, गर्भाशय और आर्त्तव शुद्ध हो तो एक महीने तक भी हो सकता है। उसी प्रकार कतिपय स्थितियों में अदृष्ट आर्त्तव होने को भी ऋतुकाल मानते हैं।

दर्भसस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं, त्र्यहं च भर्त्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्त्तारं दर्शयेत् ॥ २७ ॥

ऋतुकाल के नियम—दर्भ (कुश) के बिछोने पर सोने

वाली, हाथ, मृत्पात्र या पत्तों पर हविष्यान्न भोजन करने वाली स्त्री को तीन दिन तक पति से अलग रखना चाहिये। तत्पश्चात् चौथे दिन स्नान द्वारा शुद्ध होकर अच्छे कपडे पहिना कर, आभूषणादि द्वारा विभूषित तथा मङ्गलपाठ और स्वस्तिवाचन कराकर पति का दर्शन कराना चाहिये॥

विमर्शः—चारपाई पर न सोवे तथा घी, दूध और भात का सेवन करे। बाद शुद्धा याने पुराना शोणित निकलने के बाद स्नान किये हुई ऐसी स्त्री को पति का दर्शन कराना चाहिये। कहा भी है—'नवे ऋतौ (तनौ 'पा०') च सक्षाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा सङ्गम्यते तदा' इति।

तत् कस्य हेतोः ?
पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्त्तारं दर्शयेदतः॥ २८॥

इस प्रकार करने का फल—पहिले पति का दर्शन कराना चाहिये ऐसा क्यों ऋतुस्नाता स्त्री प्रथम जिस प्रकार के पुरुष को देखेगी वैसे ही सन्तान को जन्म देती है इसलिये पहले उसे पति का ही दर्शन कराना चाहिये॥ २८॥

विमर्शः—इस श्लोक में पति ही पतिव्रता स्त्री का आराध्य देव होता है। इसलिये उसकी भी इच्छा पतिदर्शन के लिये रहती है, और पति के गुणावगुण स्त्री को प्यारे रहने से उसी प्रकार की सन्तान की इच्छा उसके हृदय में रहती है, अतः उसके ही पति का दर्शन करवाना चाहिये।

ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं ह्येनमारभेत विचक्षणः॥ २९॥

तत्पश्चात् सन्तान के लिये हितकर कर्म करे—इसके बाद उपाध्याय से पुत्र के लिये हितकर कर्म करना चाहिये। और उस कार्य की समाप्ति होने के उपरान्त निम्नलिखित कार्य पति को करना चाहिये॥ २९॥

विमर्श—पतिदर्शन के अनन्तर उपाध्याय से पुत्र संतानोत्पत्ति के लिये मङ्गलपाठ, स्वस्तिवाचन, यज्ञकर्म इत्यादि कराना चाहिये। पुत्रीयविधान निम्न लिखित प्रकार से होता है:—यदि यजमान ब्राह्मण हो तो उसे सफेद और अव्यङ्ग कपड़ा पहनाकर मृगचर्म पर बैठावे, राजा हो तो व्याघ्र के चर्म पर बैठावे, वैश्य को रुरु के चर्म पर और शूद्र हो तो बकरे के आसन पर बैठावे। चार हाथ का स्थण्डिल (चबूतरा) बनाकर गोबर से लीपे, उसपर कुश से उल्लेखन करे, स्थण्डिल के चारो ओर बास के काष्ठों को फैलावे, दक्षिण की ओर ब्रह्मा की स्थापना करे, श्वेत पुष्प, गन्ध, बलियों से पूजा करे, अग्नि लावे, पलाश की समिधा से अग्नि का संस्कार करे, अग्नि के सामने मन्त्रौषधि से भरा हुआ जल का पात्र रखे, मन में पुत्र के जन्म की आशा रखते हुए महाव्याहृति से घी का हवन करना चाहिये। पति के साथ स्त्री अग्नि के पश्चिम दिशा में और ऋत्विज के दक्षिण दिशा में बैठे। इसके बाद प्रजापति को उद्देश्य करके इच्छित कार्य सम्पादन करने के लिये मन से पुत्रोत्पत्ति के लिये काम्य इष्टि का विधान करे। विष्णु दम्पति के लिए सतान दें, ब्रह्मा उसके स्वरूप की रचना करें। तदनन्तर स्थालीपाक बनाकर तीन बार हवन करे। तत्पश्चात् मन्त्रयुक्त जलपात्र यजमान को देना चाहिये। पत्नी को दक्षिण पैर से प्रारम्भ करते हुए प्रदक्षिणा करना चाहिये। ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराना चाहिये। पति के साथ स्त्री को शेषघृत का प्राशन करना चाहिये। प्रथम पुरुष को घी देवे तत्पश्चात् स्त्री स्वयम् अवशिष्ट घृत का पान करे।

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकाम॥ ३०॥

हवन के बाद का कर्त्तव्य—पुत्रीयविधान करने के पश्चात् सायंकाल में जो पुरुष एक मास तक ब्रह्मचारी रहा हो और घृत द्वारा स्निग्ध हुआ हो, वह दूध और घी-से शालि चावलों को खाकर, एक महीना से ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली स्त्री को तैल से स्निग्ध कराके, तेल और उड़द की मात्रा जिसमें अधिक हो ऐसा आहार खिला कर, साम, दाम इत्यादि मीठी-मीठी बातों से आश्वासन देकर, पुत्र की इच्छा करने वाले पुरुष को चौथी, छठीं, आठवीं, दशवीं और बारहवीं रात्रि में सम्भोग करना चाहिये॥ ३०॥

विमर्शः—पुरुष को घृत से स्निग्ध कराके और स्त्री को तेल से तदनन्तर पुरुष को घृत, दुग्ध युक्त और स्त्री को तैल, उड़द आदि मिश्रित अन्न देकर, सामान्य पुत्र-जनन काल जो ऋतुकाल है उन दिनों में पुत्र की इच्छा वाले को ४, ६, ८, १०, १२ वीं रात्रि में सम्भोग करना और पुत्री की आशा रखने वालों को ५, ७, ९, ११ वीं रात्रि में गमन करना चाहिये।

एवपूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै॥ ३१॥

उत्तरोत्तर की रात्रियों में गमन करने से लाभ—उक्त रात्रियों में सम्भोग करने पर उत्तरोत्तर आयुष्य, आरोग्य, पौरुष, प्रजा, सौभाग्य, ऐश्वर्य और बल की अधिकाधिक प्राप्ति होती है॥

विमर्शः—ऋतुकाल के चौथे दिन की अपेक्षा छठी रात, छठी से आठवीं, आठवीं से दसवीं और उससे बारहवीं रात अच्छी होती है। इस लिये उत्तरोत्तर दिनों में स्त्री गमन करना चाहिये।

अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्या नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः। त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः॥ ३२॥

पुत्री पैदा होने के लिये दिन—पुत्री की इच्छा करने वाले आदमी को पञ्चमी, सप्तमी, नवमी या एकादशी रात्रि में गमन करना चाहिये। त्रयोदशी से लेकर शेष सब रात्रियों को निषिद्ध समझना चाहिये॥ ३२॥

विमर्शः—पुत्र के दिन से अतिरिक्त दिन पुत्री के लिये है। विषम (odd) नम्बर पुत्री के लिये और सम (even) नम्बर पुत्र के लिये है। इसमें भी उत्तरोत्तर दिन शुभफलप्रद समझने चाहिये। शेष सोलह दिन तक या किसी के मत से तीस दिन तक अशुभ दिन समझने चाहिये।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो

विमुच्यते ('प्राणैः' पा०) । द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा, तृतीयेऽप्येवमसम्पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति । चतुर्थे तु सम्पूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति । न च प्रवर्त्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्त्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेतद् द्रष्टव्यम् । तस्मान्नियमवर्ती त्रिरात्रं परिहरेत् । अतः परं मासादुपेयात् ॥ ३३ ॥

ऋतुमती के साथ संभोग करने से दोष'—ऋतुकाल के चार दिनों में से पहले दिन में मैथुन करने से पुरुष की आयुष्य का नाश होता है । उसी समय यदि गर्भ रहेगा भी तो वह पैदा होते ही मरता है । दूसरे दिन में मैथुन करने से जन्मतः ही सन्तान मरता है या प्रसूतिगृह में ही अर्थात् दस दिन के भीतर मरता है । तीसरे दिन में भी मैथुन करने से द्वितीय दिन के समान मृत्यु को प्राप्त होता है । चौथे दिन में संभोग करने से बच्चा संपूर्ण अङ्गयुक्त होकर दीर्घायु होता है । यदि आर्त्तव होता ही रहे तो शुक्र (बीज) पड़ने से भी फलप्रद नहीं होता है, जैसे नदी के प्रवाह में डाला हुआ तैरने वाला पदार्थ ऊपर को न जाता हुआ वापिस चला आता है । उसी प्रकार आर्त्तवस्राव वाली स्त्रियों में शुक्र के कीटाणु बाहर फेके जाते हैं । इस लिये नियम का पालन कराते हुए स्त्री को अलग रखना चाहिये । तदुपरान्त मासिकधर्म समाप्त होने पर मैथुन कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

विमर्शः—ऋतुकाल के तीन दिनों तक मैथुन से प्रजाहानि होने के कारण चौथे दिन गमन करना उचित है । अनेक स्त्रियों में आर्त्तव स्राव ८ दिन भी होता है । इस लिये स्राव के दिनों को छोड़ कर बाद में मैथुन करना चाहिये । चार दिन के पहिले गमन करने से गर्भ रहने पर भी गर्भ का स्राव होता है । एक मास के बाद यदि पुनः ऋतु प्राप्त न हो तो गर्भ रहा ऐसा समझ कर फिर से गमन नहीं करना चाहिये ।

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणा-वटशुङ्ग सहदेवा-विश्वदेवानामन्यतमां क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै ('वामे दुहितृकामायै' अधिकः पाठः क्वचित्पुस्तके) न च तान्निष्ठीवेत् ॥

पुत्र की इच्छा रखने वालों के लिये प्रयोग'—जब गर्भ रह जाय तो लक्ष्मणा, वटपत्र के नवीन अङ्कुर, सहदेवी (पीत पुष्पा-कधी), विश्वदेवा (गगेरन), इनमें से किसी एक को दूध के साथ पीस कर पुत्र की इच्छा वाली स्त्री के दाहिने नासापुट में तीन चार बूंद डालना चाहिये । वह उसे न थूके । कन्या की इच्छा वाली स्त्री के वाम नासापुट में देना चाहिये ॥

विमर्शः—लक्ष्मणा की परीक्षा उसके लक्षण से होती है—'पुत्रकाकाररक्तालपविन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा । लक्ष्मणा पुत्र-जननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत्' इसकी जड़ का आकार गोल लम्बा सा होता है । इसकी पत्ती लाल और छोटे छोटे बिन्दुओं से व्याप्त रहती है । बकरी के अंग की गन्ध सदृश इसकी गन्ध होती है । इस प्रकार वनस्पति की परीक्षा कराके, फल-पुष्प वाली लक्ष्मणा को शरद् ऋतु में शनिवार के दिन रात के आखीर समय के काल में वनस्पति के चारों ओर खैर की खूंटी गाड़े तथा दूसरे दिन हस्त, मूल, या पुष्य नक्षत्र में सूर्य आने से मन्त्रपूर्वक उस वनस्पति को उखाड़ना चाहिये । 'लब्धगर्भायाश्च' इस जगह चकार से 'अलब्धगर्भा' का बोध होता है । गर्भ प्राप्त होने के पूर्व भी नस्य देकर पाँच दिन तक दूध भात खिलाना चाहिये । उसके बाद ग्राम्य धर्म का सेवन करे । गर्भ रहने पर उसे स्थिर करने के लिये और स्थिर गर्भ होने के बाद पुत्रप्राप्ति के लिये नस्य देना चाहिये ।

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः ।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥ ३५ ॥

गर्भ और अङ्कुर का साम्यः—अनुकूल ऋतु, हल जुता हुआ क्षेत्र, वर्षाकाल का जल या केवल जल और बीज इनकी सामग्री से जिस प्रकार अङ्कुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार ऋतु काल, शुद्धगर्भाशय, आहार रस और शुक्र-शोणित के एकत्र सहवास होने से गर्भ की प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

विमर्शः—इन चारों पदार्थों के एकत्र सहवास होने से और उनका विधिपूर्वक उपयोग करने से गर्भ की उत्पत्ति होती है । इनमें से एक या दो या तीनों के रहने पर भी गर्भोत्पत्ति नहीं होती है । उसी विधि का पालन करते हुए एकत्र होना चाहिये । नहीं तो खारी क्षेत्र है, दूषित बीज है, अति वृष्टि, अनावृष्टि से युक्त वर्षा काल है और विकृत ऋतु है । इनमें एक के भी रहने पर जैसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार गर्भ भी चारों पदार्थों के शुद्ध रहने पर ही उत्पन्न होता है ।

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः ।
(महासत्त्वाश्चिरायुषः 'पा०')
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक गर्भधारण का फल—इस प्रकार विधिवत् उत्पन्न होने वाले सत्पुत्र, सौन्दर्यवान, बलवान, दीर्घायु, पिता के ऋण को चुकाने वाले और माता पिता को सौख्य देने वाले होते हैं ॥ ३६ ॥

विमर्शः—सुन्दर और गठीले शरीर वाले, रजोगुण और तमोगुण से विहीन, आरोग्य वाले और पिता के ऋण को चुकाने वाले (सन्तति को पैदा करने वाले) ऐसे सन्तान होते हैं ।

तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ॥

वर्णोत्पत्ति के कारण—बालकों का वर्ण तेजो धातु से उत्पन्न होता है । वह तेज जब गर्भोत्पत्ति में जलधातुप्राय होता है, (जलीयांश के आधिक्य से युक्त होता है) तो गर्भ गौर वर्ण का होता है । यदि वही तेजो धातु पृथ्वी धातु के आधिक्य से युक्त होता है तो गर्भ कृष्ण वर्ण का उत्पन्न होता है । पृथ्वी और आकाश धातु के आधिक्य से कृष्ण-श्याम तथा जल और आकाश धातु की अधिकता से गौर श्याम वर्ण होता है । कई आचार्यों का मत है कि—जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है उसी वर्ण की सन्तान पैदा होती है ॥ ३७ ॥

विमर्श—यह तेजो धातु जब गर्भाधान काल में अन्य धातुओं के साथ मिलती है तो भिन्न भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार का आहार गर्भिणी को मिलेगा उसी प्रकार के आहार के वर्ण की सन्तान होती है। इस तत्त्व के अनुसार, व्यवहार में भी सवेरे घी और हल्दी युक्त खिचड़ी देने की प्रथा है। शरीर के रक्षक पदार्थ (pigments) शीत या उष्ण स्पर्श के अनुसार शरीर का वर्ण बदल देते हैं। शीत काल में, शीत प्रदेशों में शरीर का वर्ण गौर होता है और वही वर्ण उष्ण काल में, उष्णप्रदेशों में कृष्ण होता है। निम्न लिखित कोष्टक (Table) शुक्र के वर्ण के अनुसार, प्रदेशानुकूल, पञ्चमहाभूतों के सम्बन्ध से और भोजन द्रव्यों के अनुसार बनाया है—

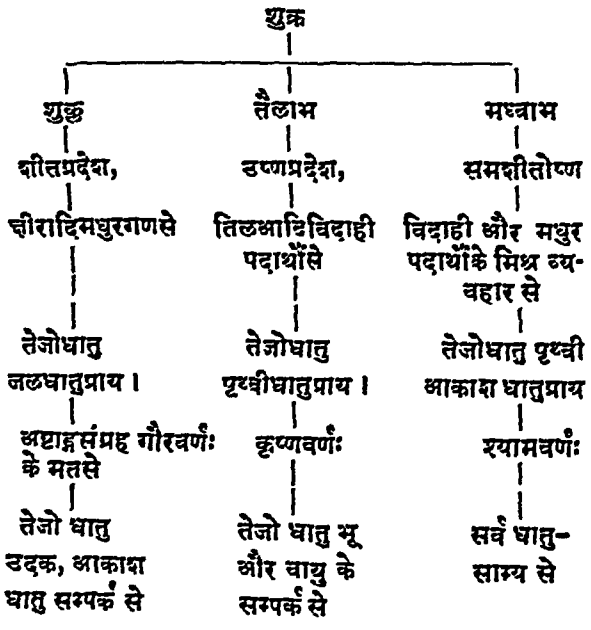

तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥ ३८ ॥

तेजोधातु का नेत्र के ऊपर परिणाम—जब तेजोधातु दृष्टि-भाग में नहीं पहुँचता तो गर्भ जन्म से अन्ध होता है, जब वह तेजो धातु रक्त के साथ मिलता है, तो लाल आंख करता है, पित्त से सम्बन्धित होने से पीली आंख वाला, कफ से युक्त होने से श्वेत आंख वाला और वात से अनुगत होने पर तिरछे आंख वाला गर्भ पैदा होता है ॥ ३८ ॥

विमर्श:—चतुर्थ मास में पूर्व कर्म के कारण यदि तेजो धातु चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्त नहीं होता है तो बालक जन्मतः अन्धा होता है। Syphalis का असर होने पर भी गर्भों के नेत्र में विकृति होती है। क्योंकि Syphalis में शरीर तेजो-धातु विकृत रहता है।

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते।
विसर्पत्यार्त्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥ ३९ ॥

स्त्रियों का आर्त्तव शुक्र के साथ कैसे मिलता है—जिस प्रकार अग्नि के ऊपर रखा हुआ घी का गोला पिघलता है। उसी प्रकार स्त्रियों का नूतन आर्त्तव जो कि गाढ़ा रहता है वह पुरुषों के साथ समागम करने से द्रवित होकर गर्भोत्पत्ति के लिये शुक्र के समागम में प्रयुक्त होता है ॥ ३९ ॥

विमर्श:—आर्त्तव-यह दो प्रकार का माना जाता है। पुराना आर्त्तव तीन दिन से लेकर आठ दिन भी कभी कभी बहता है। नया आर्त्तव थोड़ा होता है। और वह गाढ़ा बन कर रहता है। अब यह शङ्का पैदा होती है कि गाढ़ा आर्त्तव शुक्र से कैसे मिलेगा? इसलिये घृत का और अग्नि का दृष्टान्त देते हुये बताते हैं कि—वह नया आर्त्तव पुरुष के समागम से पिघलता है और वही शुक्र के साथ मिलकर गर्भोत्पत्ति कर देता है। जिस प्रकार नूतन आर्त्तव का क्षरण होता है उसी प्रकार स्त्रियों के शुक्र का भी क्षरण होता है किन्तु वह गर्भोत्पत्ति के लिये अनुपयुक्त होने से उसका विचार नहीं किया गया है। स्त्रीशुक्र विचार—वृद्धवाग्भट में लिखा है—'योपि तोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥ (अ० सं० शा० १ अ०) अब यहां यह शङ्का नहीं रहती है कि स्त्रियोंको शुक्र नहीं होता किन्तु उसका विचार कम किया जाता है। यदि स्त्रियों में शुक्र ही न मानेंगे तो षड्धात्वात्मक स्त्री-शरीर मानना पड़ेगा। स्त्रियोंका शरीर अल्प बलवाला होने में भी 'अल्प-शुक्रत्वादल्पबलत्वं स्त्रीणाम्' ऐसा वचन मिलता है। और 'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते' ऐसा भी वर्णन है। इनसे भी सिद्ध होता है कि दो स्त्रियां जब किसी भी प्रकार से आपस में मैथुन कर लेती हैं तो वहां अस्थिविरहित सन्तान पैदा होती है। उपर्युक्त विधानों से यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों में वीर्य होता है किन्तु गर्भ के लिये उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। गर्भोत्पत्ति के लिये तो शुक्र और शोणित की आवश्यकता है। 'ध्रुवं चर्तुणां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः' ऐसा सुश्रुत का वचन है। चरक में भी 'शुक्र-शोणित-जीव-संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसञ्ज्ञा भवति' ऐसा लिखा है। इनसे यह सिद्ध होता है कि गर्भ के लिये स्त्री के शोणित की आवश्यकता है न तु शुक्र की। इस लिये उसका (स्त्री-शुक्र का) वर्णन नहीं है। आधुनिक दृष्टि से डिम्बग्रन्थि (ovary) से डिम्ब (ovum) निकलकर, शुक्राणु (spermatozoa) के साथ मिलता है और इनके योग से गर्भ उत्पन्न होता है। यहां-'स्त्री से आर्त्तव निकलता है' ऐसा नहीं समझते आर्त्तव होता तो उसका वर्ण लाल होने से दृग्गोचर होता। वह जब कि दृग्गोचर नहीं होता है तो उसे मानना ही क्यों? इसी प्रकार स्त्रियों के शरीर में न तो testis (अण्डकोष) है जहां शुक्र का सञ्चय होता है। न तो शुक्रमार्ग (vasa-differentia) है, न तो शुक्रग्रन्थियां (seminal vesicles) हैं, न तो पौरुषग्रन्थि (prostate glands) जिससे होकर शुक्र निकलता है। इनसे यह निश्चय होता है कि शुक्र नाम का पदार्थ स्त्रियों के शरीर में रहता ही नहीं। मैथुन के समय सफेद और चिबचिबा पदार्थ योनि में दीखता है वह क्या है? वही तो शुक्र है। ऐसा कहने पर इसका उत्तर यह मिलता है कि वह तो योनिद्वार में रहने वाली ग्रन्थियों का स्राव है जिससे योनि की झिल्लियों में रगड़ न बैठे। इसी स्राव को साधारण लोगों के समान शुक्र नहीं समझना चाहिये।

आयुर्वेदीय मतसे सिद्ध होता है कि स्त्रियों के शरीर में शुक्र रहता है क्योंकि पुरुष के वीर्य के समान काम करने वाली वस्तु स्त्रियों में भी होना आवश्यक है, अतः स्त्रियोंमें शुक्र होता है यह सिद्धान्त दृढ है ॥ ३९ ॥ *

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरस्सरौ ॥ ४० ॥

दो गर्भों की उत्पत्ति.—अधर्म के कारण वायु द्वारा बीज का गर्भाशय में विभाग होने से दो गर्भों का प्रादुर्भाव (गर्भ-स्थान में) होता है । उन्हें 'यमौ' ऐसा कहते हैं ॥ ४० ॥

विमर्श.—'यमौ' नाम (दो) जीवों की उत्पत्ति अधर्म के कारण होती है ऐसा श्रुति स्मृति में भी उल्लेख है । इसके लिये प्रायश्चित्त का भी विधान है ।

आधुनिक मत से दो शुक्राणु जब दो डिम्बों के साथ मिलकर गर्भाशय (uterus) में प्रविष्ट होते हैं तो उनमें दो गर्भ बढने लगते हैं । इनको 'यम' कहते हैं । इनमें यह विशेषता रहती है कि-पीछे से होने वाला बच्चा बडा समझा जाता है । क्योंकि उसका गर्भ में प्रवेश प्रथम रहता है । इसलिये उसको पीछे से बाहर आना पडता है । वास्तव में वही पहिले गर्भाशय में आता है इस कारण वही बडा माना जाता है ॥ ४० ॥

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥४१॥

नपुसकों के प्रकार में आसेक्य नपुंसक—माता-पिता के अत्यल्प शुक्र के कारण 'आसेक्य' नामक नपुंसक पैदा होता है । वह जब दूसरों का शुक्रपान करता है—तब उसके लिङ्ग में चेतना प्राप्त होती है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ४१ ॥

विमर्श.—इसका दूसरा नाम 'मुखयोनि पुरुष' भी है । वह अपने मुख में दूसरों से मैथुन करवाता है और मुख में शुक्र आने पर जब वह उसका स्वाद लेता है तब उसके ध्वज का उत्थान होता है ॥ ४१ ॥

य पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसञ्ज्ञितः ।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥४२॥

सौगन्धिक नपुसक—जो दूषित योनि में पैदा होता है वह सौगन्धिक नामक नपुंसक है । उसको योनि और लिङ्ग की सुगन्धि आने से मैथुन में बलप्राप्ति होती है ॥४२॥

सौगन्धिक नपुंसक का 'नासायोनि' ऐसा भी नाम है । क्योंकि नासा ही उसे मैथुन में प्रविष्ट करने के लिये कारण है ॥ ४२ ॥

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्त्तते ।
कुम्भीकः स तु विज्ञेयः ..... ॥ ४३ ॥

कुम्भीक नपुसक—जो मनुष्य दूसरे पुरुष से अपने गुद-द्वार में मैथुन कराने के बाद स्त्रियोंका सेवन करता है उसे कुम्भीक कहते हैं ॥ ४३ ॥

विमर्श.—इसका दूसरा नाम 'गुदयोनि' है । कोई लोक इस श्लोक का ऐसा अर्थ लगाते हैं कि-जो आदमी प्रथम स्त्री के गुदद्वार पर शिथिल लिङ्ग से प्रयोग करता है तत्-पश्चात् उसमें उत्थापन होता है तब फिर स्त्री का उपभोग करता है उसे 'कुम्भीक' कहते हैं ॥ ४३ ॥

....ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥
दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्त्तते ।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः..... ॥ ४४ ॥

ईर्ष्यक नपुसक का लक्षण:—अब ईर्ष्यक नामक अन्य नपुंसक के लक्षणों को सुनो, दूसरों को मैथुन करता हुआ देख कर जो मनुष्य मैथुन में प्रविष्ट होता है उसे ईर्ष्यक कहते हैं ॥ ४४ ॥

विमर्श:—इसे 'इक्ष्योनि' इस नाम से भी सम्बोधित करते हैं । चरक में इसका कारण बताया है । 'ईर्ष्याऽभिभूता-वपि मन्दहर्षावीर्ष्याह्यस्यापि वदन्ति हेतुम्' ॥ च० शा० अ० २ ॥ ४४ ॥

.....षण्डकं शृणु पञ्चमम् ॥
यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्त्तते ।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः ॥ ४५ ॥

षण्डका लक्षण:- पांचवें षण्ड नामक नपुंसक के लक्षण सुनो । स्त्री के ऋतुकाल में जो मनुष्य मोहवश से स्त्री के सदृश स्वयं नीचे होकर मैथुन करता है । और बाद में यदि स्त्री को सन्तान पुत्र हो तो वह स्त्रियों के समान चेष्टा करने वाला और उसी के आकार का होता है उसे षण्ड कहते हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श:—जब षण्ड पैदा होकर तारुण्य को प्राप्त होता है तो वह अपने मेढ्र में दूसरे पुरुष से वीर्यस्राव करवाता है । स्त्री के समान स्वयम् उत्तान होकर पडता है । स्त्री के चेष्टा के समान चेष्टा भी करता है । इसको नरषण्ड कहते हैं ॥ ४५ ॥

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्त्तेताङ्गना यदि ।
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४६॥

नारीषण्ड —यदि स्त्री, पुरुष के समान रतिकाल में पति को नीचे सुलाकर स्वयम् ऊपर होती हुई मैथुन करेगी और उसी से यदि कन्या पैदा हो तो वह पुरुष के समान दूसरी स्त्री को नीचे लिटाती हुई स्वयं ऊपर रहती है और मनुष्य के समान मैथुन-चेष्टा करती है ॥ ४६ ॥

विमर्श:—नर के समान चेष्टा करने वाली स्त्री को नारी-षण्ड कहते हैं । दोनों के भी स्त्री होने से एक का शुक्र दूसरे में किसी प्रकार जाता है जिससे वहां अनस्थि (कोमल अस्थि वाली) सन्तान पैदा होती है ॥ ४६ ॥

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।
सरेतस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्डसंज्ञितः ॥ ४७ ॥

नपुसकों की परिगणना—आसेक्य (मुंह में वीर्य लेनेवाला), सुगन्धी (योनि और लिङ्ग की सुगन्ध लेने वाला), कुम्भीक (गुद में मैथुन कराने वाला) और ईर्ष्यक (दूसरों का मैथुन देखकर उत्तेजित होने वाला) ये चार नपुंसक होने पर भी इनको शुक्र रहता है । जिनको शुक्र होता ही नहीं उसे षण्ड कहते हैं ॥ ४७ ॥

* अन्तः स्राव (Internal Secration or a type of Hormons)

विमर्श—नपुंसक दो प्रकार के होते हैं, उनमें से शुक्र वाले नपुंसक सन्तान उत्पन्न करते हैं किन्तु उनको उत्तेजित होने के लिये उपाय करना पडता है। जिनको शुक्र रहता ही नहीं उन्हें पण्ड कहते हैं। पण्ड सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहते हैं ॥ ४७ ॥

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः।
हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥४८॥

शुक्र होने पर पण्ड क्यों—मुख में वीर्य लेना, सुगन्ध लेना इत्यादि प्रकारों से उनकी शुक्र को वहन करने वाली शिरायें हर्ष के कारण उत्तेजित होती हैं जिसके कारण इन्द्रिय उत्तेजित होती है ॥ ४८ ॥

विमर्श—चरक के मत से पण्ड नर के समान नारी भी पण्ड होती है। उन स्त्रियों को भी उत्तेजना पैदा करने के लिये प्रकारान्तरों का अवलम्बन करना पड़ता है ॥ ४८ ॥

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥ ४९ ॥

शुभाशुभ कार्यों का परिणाम—दम्पति जिस प्रकार के आहार और व्यवहार तथा चेष्टाओं से युक्त होकर समागम करते हैं उसी प्रकार उनका पुत्र भी होता है ॥ ४९ ॥

विमर्श—संभोग के समय कायिक, वाचिक और मानसिक भावों का परिणाम सन्तान के ऊपर पडता है। यदि वे शुभ हों तो सन्तान अच्छी होती है। उनमें भिन्नता होगी तो सन्तान में भी दोषों का उद्रेक होगा ॥ ४९ ॥

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥५०॥

अनस्थि गर्भ—जब दो नारी कामाभिभूत होकर किसी प्रकार से मैथुन करें तो एक दूसरे का वीर्य परस्पर में जाता हुआ गर्भ को धारण करता है, किन्तु वह गर्भ कोमलास्थि युक्त होता है ॥ ५० ॥

विमर्श—इस श्लोक में शुक्र और शोणित से गर्भोत्पत्ति होती है—ऐसा क्रम होने पर भी उसका निर्देश नहीं किया। इसमें विशेषता तो स्त्रियों में वीर्य या शुक्र होने की है। इसलिये उसका निर्देश किया है। शोणितों का तो क्षरण होना यह विशेष बात नहीं है। इसलिये उसका उल्लेख नहीं है। 'अनस्थि' इसका अर्थ 'ईषदर्थे नञ्' से 'कोमलास्थि' ऐसा होता है। उस गर्भ में माता के गुण रहते हैं। पिता का प्राधान्यतः गुण जो अस्थिमयता, उसका अभाव ही रहता है ॥ ५० ॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्।
आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥ ५१ ॥

स्वप्न में मैथुन से गर्भ—जो ऋतुप्राप्ता स्त्री स्वप्न में मैथुन का उपयोग करती है। उसके आर्त्तव को वायु लेकर गर्भाशय में गर्भ को पैदा करती है ॥ ५१ ॥

विमर्श—यह श्लोक जेज्जटाचार्य ने नहीं दिया है। उनके मत में ऐसा गर्भ होना असम्भव सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार आगे का भी श्लोक उन्होंने नहीं दिया है ॥ ५२ ॥

मासि मासि विवर्द्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कलल जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ ५२ ॥

कलल का वर्णन—इस प्रकार स्वप्न में पैदा हुआ गर्भ हर एक मास में बढ़ता है। मगर वह मांस का गोला मात्र रहता है उसमें केश, मूछ, दाढ़ी, लोम, नख, दांत, सिरा, स्नायु, धमनी, वीर्य इत्यादि पिता के गुण नहीं होते हैं ॥५२॥

विमर्श—यह भी श्लोक जेज्जटाचार्य को संमत नहीं है ॥ ५२ ॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम् ॥ ५३ ॥

विकृत गर्भ—सर्प, बिच्छू, कोहडा, आदि के सदृश विकृत आकृति वाले जो गर्भ स्त्रियों को होते हैं उन सबों को पापकर्मों का फल समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

विमर्श—विकृत गर्भ-स्त्रियों के गर्भाशय में विकृति होने से, डिम्ब दूषित होने से तथा शुक्र कीटाणु सदोष होने से गर्भों में विचित्र आकृतियां पायी जाती हैं ॥ ५३ ॥

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव वा ॥५४॥

दोहद की पूर्त्ति न होने से—वायु के प्रकोप से या दोहद की पूर्ति न होने से बालक कुबडा, लला, लङ्गडा, गूंगा या मिन्मिन (अव्यक्त शब्द उच्चारण करने वाला) होता है ॥५४॥

विमर्श—दोहदों का परिपूरण ठीक न होने से बालकों के सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं हो सकते हैं। इसलिये गर्भिणी की दोहद-पूर्त्ति करनी चाहिये इससे अन्नरस यथेच्छ बनता है जिससे माता और गर्भ का पोषण ठीक तरह से होता है। दोहद का वर्णन सुश्रुत शारीरस्थान ३ रे अध्याय में श्लोक १९ से श्लोक २८ तक बडा सुन्दर है ॥ ५४ ॥

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

विकृत सन्तति उत्पन्न होने के कारण—माता-पिता की नास्तिकता के कारण, पिछले जन्म के कुकर्मों से, वात-पित्तादिकों के प्रकोप से गर्भ विकृत होता है ॥ ५५ ॥

विमर्श—गर्भ की विकृति में जैसे उसके पूर्व जन्म के कर्म कारण होते हैं वैसे ही माता-पिताओं का परलोक में विश्वास न होना, देवता को न मानना इत्यादिकों से भी और शारीरिक दोषों से भी गर्भ में विकृति पैदा होती है ॥ ५५ ॥

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥ ५६ ॥

गर्भ की मलोत्सर्ग क्रिया—गर्भस्थ बालक में मल थोडा होने से, वायु कम होने से और पक्वाशय छोटा होने से मल, मूत्र और अपान वायु की प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ५६ ॥

विमर्श—गर्भ के पोषण क्रम के साथ उसकी मलोत्सर्ग-क्रिया का (excretion) होना भी उचित है। वह होता ही है किन्तु राशि में स्वल्प होने से वह गर्भाशय में रुक जाता है। अतः स्पष्टतया मालूम नहीं होता ॥ ५६ ॥

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥ ५७ ॥

गर्भ रोता क्यों नहीं ?—मुख जरायु से ढका होने से,

गले में कफ रहने से, वायु का मार्ग खुला न होने से गर्भस्थ बालक नहीं रोता है ॥ ५७ ॥

विमर्शः—घोषजनक मार्ग में मुख (Buccal cavity), गला (Pharynxs) और स्वरयन्त्र (Larynxs) आते हैं। आवाज निकलने के लिये घोषजनक वायु की प्रवृत्ति भी होनी चाहिये ? वह न होने से और स्वरमार्ग बन्द होने से बच्चों का रोना नहीं मालूम होता है ॥ ५७ ॥

निःश्वासोच्छ्वास सङ्क्षोभ-स्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति ।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वास सङ्क्षोभस्वप्नसम्भवान् ॥५८॥

गर्भ के लिये व्यवहार—माता का श्वास लेना, श्वास छोडना, सङ्क्षोभ (घूमने-फिरने से श्रम) और नींद लेना इत्यादि से ही बच्चों के सब व्यवहार होते हैं ॥ ५८ ॥

विमर्श—माता के व्यवहार से गर्भका व्यवहार हो जाता है। जैसे माता का श्वासोच्छ्वास का परिणाम गर्भ को प्राप्त होता है, वैसे माता के आराम और परिश्रम का भी फल गर्भको माता के द्वारा ही प्राप्त होता है।

गर्भ की श्वास-प्रणाली बन्द होने से वह स्वतन्त्रतया श्वास-प्रश्वास नहीं करता उसी प्रकार माता के रक्तद्वारा पोषण से गर्भका पोषण हो जाता है। इसके लिये foetal Cercalation देखना चाहिये। वह इस प्रकार है।

गर्भ में अधोमहाशिरा (Inferior Vena-Cava) से विशुद्ध रक्त दक्षिण अलिंद (Right auricle) में जाता है। तत्पश्चात् ऊर्ध्वमहाशिराओं से अशुद्ध रक्त दहिने अलिंद (Right auricle) को आता है वहां से दहिने निलय (Right Ventricle) को जाता है। वहा से फुफ्फुसीय धमनी (Pulmonary artery) द्वारा फुफ्फुस को न जाते हुये बीच में ही सेतु धमनी (Ductus arteriosus) से मिलकर तोरणी महाधमनी (Aotic arc) में खुलती है बाद औदरीय महाधमनी (Abdominal aorta) अधः-श्रोणिका साधारणी (Illiac artery) और हर एक अन्तः और बाह्य अधःश्रोणिका (hypogastric artery) में जाता है।

जन्म होने पर बच्चा रोने लगता है, जिससे फुफ्फुस (lungs) काम करने लगते है और जिससे फुफ्फुसीय रक्त भ्रमण (Pulmonary circulation) आरम्भ होता है। दूसरी भिन्नता यह होती है कि जाम्बवविवर या शुक्तिच्छिद्र (foramine ovalis) बन्द हो जाता है जिससे दक्षिण अलिन्द का रक्त वाम अलिंद (left auricle) के साथ नहीं मिलता है ॥ ५८ ॥

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।
तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥ ५८ ॥

स्वाभाविक कार्य—शरीर की रचना होना, दांतों का गिरना और पैदा होना, हाथ-पैरों के तल भागों में बालों का न होना सब स्वाभाविक है। इनके लिये ऐसा क्यों होता है ऐसा पूछने से 'स्वभाव' यही उसका उत्तर है ॥ ५८ ॥

विमर्श.—शारीरिक रचना, सौन्दर्य या कुरूपता, यह आदमी के हाथ की बात नहीं है। उसी प्रकार (Temperary) अस्थायी और स्थायी (Permanant) दांतों का होना यह भी अपने आधीन नहीं है। उसी प्रकार हाथ-पैरों में बालों का न होना यह भी स्वभाव से ही होता है ॥ ५८ ॥

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः ।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥ ५९ ॥

सत्त्वभूयिष्ठों का उत्पत्ति में कारण—पूर्व जन्म में रात-दिन शास्त्रों का मनन करने से पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले और सत्त्वगुणों से युक्त शरीर वाले होते हैं ॥ ५९ ॥

विमर्श.—पहिले जन्म में रात-दिन शास्त्रों का अभ्यास करने से मन सत्त्व गुणों से युक्त होता है, वह रजोगुण तथा तमोगुण से रहित हो जाता है। जिससे पिछले जन्म का भी अच्छी तरह से स्मरण होता है। यह सात्त्विक और विशुद्ध बुद्धिका निर्देशक है जो अच्छे भावों का विचार करने पर पैदा होता है ॥ ५९ ॥

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥ ६० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ।

कर्मानुसार जन्म की और अभ्यासानुसार गुणों की प्राप्ति—पूर्व जन्म में किये हुए कर्म के अनुसार पुनर्जन्म प्राप्त होता है और पूर्व देह में संस्कारित गुणों का प्रादुर्भाव इस जन्म में होता है ॥ ६० ॥

विमर्शः—कोई आदमी कुबड़ा, कोई लंगड़ा, कोई लूला, कोई मूक इस प्रकार कोई कुरूप तो कोई सुन्दर होता है। इसमें पूर्व जन्म के कर्म ही कारण है। उसी प्रकार किसी को कोई विद्या अथवा गुण अति शीघ्र प्राप्त होते हैं। इसका कारण पूर्वजन्म का संस्कार ही माना जाता है ॥ ६० ॥

इति शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

शारीरे प्रश्नाः—

(Anatomy)

(१) शुद्धमदोषयो. शुक्रार्त्तवयोर्लक्षणपुरस्सर चिकित्साक्रमो देय.। स्त्रीणा शुक्रमस्ति न वा।

(२) नपुसकस्य प्रकारा लक्षणानि च लेख्यानि।

(३) गर्भस्य मलोत्सर्ग-श्वसन-रक्तसवाहन-पोषणप्रकाराश्च वर्णनीया.।

(४) असृग्दररक्तपित्तयोर्भेदः प्रदर्शनीय ।

शारीरक्रियाविज्ञाने प्रश्नाः (Physiology)—

(१) पुसवनप्रयोग विशदतया विलिख्य, 'ध्रुव चतुर्णा सांनिध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः' अस्य पद्यस्य व्याख्यां विधाय, अलब्धगर्भायै पुसवनस्य फल किमपि भवति न वेति लेखनीयम्।

(२) शारीरवर्णानां प्रभवे कारणानि लेख्यानि।

(३) पुत्रोत्पत्तौ स्त्रीजन्मनि च कारणानि प्रदर्शनीयानि।

(४) यदि चेत् स्वभावत एवाङ्गानि जायन्ते, तर्हि विकृत-शरीरनिर्माणे को हेतु ।

तृतीयोऽध्यायः

अथातो गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः। तथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १॥

तत्पश्चात् गर्भावक्रान्ति (गर्भका उत्पत्तिक्रम) शारीर को कहते हैं। जैसा कि धन्वन्तरि ने कहा है॥ १॥

विमर्शः—शुद्ध शुक्र और शोणित का लक्षण बताने के पश्चात् और उनके सयोग के उपरान्त जब उसके साथ जीवात्मा की प्राप्ति होती है, तब उसकी 'गर्भ' संज्ञा होती है। उस गर्भ की अवक्रान्ति याने अवतरण-उत्पत्तिक्रम-जिस शारीर में है ऐसे शारीर का वर्णन करते है। इसमें (Foetal Development) बताया है॥ १॥

सौम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात् (परस्परानुग्रहात्) परस्परानुप्रवेशाच्च॥ २॥

शुक्र और आर्त्तवों का वर्णन—शुक्र सोमगुणयुक्त है। आर्त्तव अग्निगुणयुक्त है। इतर भूतों का उसके साथ थोड़ा-सा सम्पर्क है। क्योंकि भूत एक दूसरे के उपकार करने वाले होते है या आपस में एक दूसरे पर कृपा रखते है। अर्थात् अग्नि तत्त्व जल से बुझाया नही जाता। उसी प्रकार पृथ्वी तत्त्व का सर्वथा नाश अग्नि तत्त्व नहीं करता है। एक महाभूत का दूसरे महाभूतों में अंशतः प्रवेश भी रहता है॥ २॥

विमर्श.—गर्भ का मूल शुक्रार्त्तव होने से उनके स्वरूपों का वर्णन करते है। यद्यपि सब पदार्थ पाञ्चभौतिक हैं तथापि सोम और अग्नि गुण की विशेषता के कारण उनका निर्देश किया है। जो पार्थिव द्रव्य रहता है उनमें पृथ्वी तत्त्व के अतिरिक्त और चार महाभूतों का अनुबन्ध है। पीछे भी शा० अ० १ में कहा है 'अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्'। इसके अनुसार पीछे ही इसका वर्णन कर चुके है॥ २॥

तत्र स्त्रीपुसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन, ततोऽग्नीषोमसयोगात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते। क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्रष्टा धाता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्पृष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्याऽवतिष्ठते॥ ३॥

गर्भ की उत्पत्ति और उसके पर्याय—स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध से वायु शारीरिक तेज को बढाता है। तत्पश्चात् वह तेज वायु के साथ मिलकर स्थान से च्युत जो वीर्य है उसे योनि में ले जाता है, वहां आर्त्तव से वह वीर्य मिलकर अग्नि और सोम के साथ गर्भाशय को प्राप्त होता है। वहां-क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्रष्टा, धाता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्पृष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाची शब्दों से जो कोई भी हो वह कहा जाता है। दैववशात् अक्षय, अव्यय और अचिन्त्य ऐसा वह आत्मा पञ्चमहाभूतों के साथ मिलकर सात्त्विक, राजस, तामस, दैव और आसुर तथा अन्य दूसरे भावों से मिलता हुआ, वायु से प्रेर्यमाण ऐसा गर्भाशय में प्रविष्ट होकर रहता है॥ ३॥

विमर्शः—इस गद्य में शुक्र की च्युति कैसी होती है और वह आर्त्तव को साथ लेकर गर्भाशय को प्राप्त होकर वहां गर्भ की स्थिति कैसे पैदा करता है? यह बताया है। गर्भ, कर्म पुरुष से साथ ही भौतिक लिङ्ग शरीर से भी युक्त होता है। वह प्रकृतिस्थित आत्मा सत्त्व-रज-तम गुणों से युक्त, दैविक या आसुरी भावों को लेकर मन को प्राप्त करता हुआ, दुर्बोध वस्तु स्वरूप गर्भाशय में रहता है। उसके सार्थक नाम भी बताये है॥ ३॥

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्त्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुसकमिति॥ ४॥

लिङ्ग-भेद में कारण—संभोग में यदि शुक्र की अधिकता हुई तो पुत्र पैदा होता है, रज के आधिक्य से कन्या और दोनों के समान होने से नपुंसक पैदा होता है॥ ४॥

विमर्शः—अब यह शका पैदा होती है कि शरीर में आर्त्तव चार अञ्जलि है और शुक्र तो प्रसृतिमात्र ही है। इससे तो हर समय आर्त्तव-बाहुल्यात् स्त्री ही उत्पन्न होना चाहिये। उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि यहां पर शरीर स्थित प्रमाण नहीं लेना चाहिये। किन्तु गर्भाशय में जिसकी अधिकता होगी, उससे जानना चाहिये। दोनों में जिसकी अधिकता होगी, उसके प्रभाव से सन्तानोत्पत्ति होगी। उसका प्रमाण मैथुन के समय होने वाले हर्ष पर निर्भर करता है।

यदि ऐसा ही है तो विधिपूर्वक ऋतुकाल में गमन करना, पुंसवन संस्कार करना, अच्छे कर्म करना, पुत्र के लिये ४, ६, ८, १०, १२, दिन पर गमन सब व्यर्थ ही है।

अच्छे कर्म करने पर अच्छे पुत्र प्राप्त होते है। पुत्र की उत्पत्ति शुक्रबाहुल्यात् होने पर भी हर एक शुभ कर्मों के परिणाम सत्पुत्रों की उत्पत्ति का कारण होते हैं। कहा भी है। 'एवं जाता रूपवन्तः सत्त्वन्तश्चिरायुषः। भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्रा पुत्रिणे हिताः'॥ ४॥

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्त्तवः। अदृष्टार्त्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते॥ ५॥

ऋतुकाल—ऋतुकाल आर्त्तव बंद होने के उपरान्त बारह दिन का माना जाता है। कई आचार्यों के मत से अदृष्टार्त्तवा स्त्री को भी ऋतुकाल होता है। वह उसके लक्षणों से जानना चाहिये॥ ५॥

विमर्शः—पहिले तीन दिन और अन्त का सोलहवां दिन, इसमें गर्भाशय का मुख बद होने से गर्भोत्पत्ति नहीं होती है। कई आचार्यों का कहना है कि-'पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्' इत्यादि लक्षणों से ऋतुमती को जानना चाहिये। क्योंकि कई स्त्रियों में मासिक धर्म का अभाव होते हुये भी संतानोत्पत्ति होती है। ऋतुकाल में डिम्ब (ovul) शुक्राणु के संयोग के लिये उत्सुक रहता है। और गर्भाशय भी उनकी

स्थिति तथा वृद्धि-हेतु व्यवस्था करता है। ऐसे समय मे गर्भाशय पुराने आर्त्तव के बाहर निकल जाने से शुद्ध हो जाता है। कई स्त्रियों में गर्भाशय के ऊपर दबाव के कारण या अन्य कारणों से आर्त्तव भी नही दीखता है, तो भी सतानोत्पत्ति होती है। सदुग्धावस्था (Lactation period) में भी 'अदृष्टार्त्तव' में गर्भ रहता है। ऐसा व्यवहार में दीखता है॥५॥

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुच्यक्षिमूर्धजाम्॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचाम्।
हर्षोत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति॥ ६॥

ऋतुमती स्त्री के लक्षण—ऋतुमती स्त्री का चेहरा फूला हुआ मालूम होता है। प्रसन्नता होती है। आत्मा अर्थात् देह एवं मुख और दांत अत्यन्त क्लेदयुक्त रहते है। पुरुष को चाहती है। मीठी बातचीत करने वाली होती है। उसकी कोख, आंख और बाल शिथिल होते हैं। बाहु, स्तन, श्रोणि-प्रदेश, नाभि, ऊरु, जघन तथा स्फिक् (नितम्ब) इनमें स्फुरण होता है रतिकार्य में हर्ष और उत्कण्ठा मालूम होती है। ऐसे लक्षण वाली स्त्री को ऋतुमती समझना चाहिये।

विमर्शः—ऋतुमती स्त्री मदनोत्सुका होती हुई नाना प्रकार की शृङ्गार-चेष्टा करती हुई कामवासना से पीडित होती है। इसलिये कुछ शारीरिक संस्कार छूटने से दांत, मुख, क्लेदयुक्त होते हैं। बाल भी बिखरे हुए होते हैं। अङ्गों का स्फुरण सकी मदनोत्तेजिता अवस्था का सूचक है॥ ६॥

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥ ७॥

ऋतुकाल से भिन्न काल में योनि का सकोच— जैसे दिन बीतने पर कमल सिकुड जाता है, उसी प्रकार ऋतुकाल बीतने पर स्त्रियों की योनि का द्वार बन्द हो जाता है॥ ७॥

विमर्श—योनि के संकोच से गर्भाशय तक वीर्य पहुच नहीं सकता है। जैसे भौंरा कमल के बन्द होने पर भीतर नहीं पहुँच सकता है।

ऋतुकाल समाप्त होना—इसक नाम डिम्ब (ovul) का पक्व (mature) होने का समय बीतना है। ऋतुकाल में स्त्री डिम्ब (ovul) के साथ शुक्राणु (Sperm) गर्भाशय में प्रविष्ट होता है मगर ऋतुकाल बीत जाने पर डिम्ब (mature ovul) के अभाव में यदि किसी प्रकार शुक्र का गर्भाशय में प्रवेश भी हो गया तो भी गर्भधारणा नहीं हो सकती॥७॥

मासेनोपचितं काले धमनीभ्या तदार्त्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्ध च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ ८॥

मासिक धर्म—काल याने द्वादश वर्ष के ऊपर और ५० या ६० साल के पूर्व समय में, एक मास के सञ्चित आर्त्तव को धमनियों द्वारा वायु योनि के द्वार की ओर ले जाता है। वह आर्त्तव थोडा सा काला और विशिष्ट गन्ध वाला होता है॥ ८॥

विमर्श—आर्त्तव काल के रक्त का वर्णन और निकलने के लिये कारण बताया है। यह आर्त्तव काल, देश, आचार, विचार, खाद्य-पेय और सङ्गति पर निर्भर करता है। ठण्डे प्रदेश में, सात्त्विक विचार और सात्त्विक आचरणों से, सात्त्विक आहारों से तथा सत्सङ्ग से बहुत देर के बाद मासिक धर्म की प्रवृत्ति होती है। वही स्त्री गरम प्रदेश में रहने से, गरम पदार्थ और मद्य-मांस सेवन करने से और बुरी सङ्गति में रहने से शीघ्र ही ऋतुमती होती है॥ ८॥

तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्त्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ ९॥

रजोनिवृत्ति काल—आर्त्तव बारह वर्ष की अवस्था से शुरू होता है और वृद्धावस्था से शरीर शिथिल होने से ५० वर्ष की आयु में रुक जाता है॥ ९॥

विमर्शः—५० वर्ष की अवस्था रजोनिवृत्ति की (Meno pause) है। इस समय नाना प्रकारकी व्याधियोंसे स्त्रियोंका शरीर भरा रहता है। कई स्त्रियों में यह स्थिति ५० वर्ष उम्र के पश्चात् भी ७।८ साल तक जाती है। ऐसी अवस्था शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। इसी अवस्था तक प्रायः गर्भधारण की शक्ति स्त्रियों में रहती है। तत्पश्चात् वह नष्ट हो जाती है। आर्त्तव एकाएक नहीं रुकता है। बल्कि धीरे-धीरे, बीच-बीच में रुकते-रुकते बन्द होता है। जैसा कि एकाध महीने मे मासिक धर्म हुआ फिर २-४ महीने तक के लिये रुक गया और फिर आरम्भ हुआ। इस प्रकार वह धीरे-धीरे रुकता है॥ ९॥

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला।
पुष्यकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रिय व्रजेत्॥ १०॥

कन्या या पुत्र का उत्पत्ति काल- सन्तान की इच्छा करने वाले लोगों को पवित्र होकर ऋतुकाल में युग्म दिनों में (सम दिनों में जैसे—चौथे, छठे, आठवें, बारहवें) तथा अयुग्म दिनों (विषमसंख्यक दिनों में जैसे ५, ७, ९, ११ वें) में गमन करना चाहिये। सम दिनों में गमन करने से पुत्र होता है और विषम दिनों मे कन्या पैदा होती है॥ १०॥

विमर्शः—यहां यह शङ्का पैदा होती है कि शुक्रबाहुल्य से पुत्र और आर्त्तवबाहुल्य से कन्या—ऐसा भेद तो पूर्व में ही बताया गया अब दिनों का झगडा क्यों है?

इसका उत्तर यह है कि स्त्रियों के शरीर में सम दिनों में रज कम होता है और विषम दिनों में उसकी वृद्धि होती है। सम दिनों में संयोग से पुत्र उत्पन्न होता है। और विषम दिनों में कन्या की उत्पत्ति होती है। भोज ने भी कहा है—

'अयुग्मे स्त्री पुमान् युग्मे सन्ध्ययोस्तु नपुंसकम्।
शुक्राधिकत्वात् पुरुष. प्रमदा रजसोऽधिकात्।
शुक्रशोणितयोः साम्यात्तृतीया प्रकृतिर्भवेत्'॥

अर्थात् सम दिनों में पुत्र, विषम दिनों में कन्या और सन्धि काल में नपुंसक पैदा होते हैं। क्योंकि युग्म दिनों में शुक्र की अधिकता होती है, विषम दिनों में रज की और शुक्र की समानता होने से नपुसक पैदा होते हैं॥ १०॥

तत्र सद्यो गृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणञ्च योनेः॥ ११॥

सद्योगर्भधारण के चिह्न- गर्भधारण के निम्न लिखित

लक्षण होते हैं—श्रम (थकावट), ग्लानि (निष्क्रियता), पिपासा (प्यास), सक्थिसदन (पैर में शिथिलता), शुक्र और शोणित की रुकावट और योनि का स्फुरण होना ये लक्षण होते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—गर्भ धारण हुआ या नहीं ? यह जानना बहुत कठिन होता है। कुछ लोग मासिक स्राव रुकने से गर्भ धारण हुआ समझते हैं। किन्तु यह तो पाण्डु रोग से, पेट में गुल्म रहने से भी रुकता है। इसलिये यह भी चिह्न ठीक नहीं है। ठीक चिह्न बच्चों के हृदय की धड़कन और उसका चाञ्चल्य है। किन्तु वह पांचवें महीने में मालूम होता है ॥११॥

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा ।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः समील्यन्ते विशेषतः ॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् ।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥ १२ ॥

गृहीतगर्भा के उत्तरकालिक चिह्न—स्तनों के मुख काले होते हैं। रोएं खड़े होते हैं। आंखों के बाल चिटकने लगते हैं। कोई भी कारण न होते हुवे भी वमन होता है। सुगन्धि से भी त्रस्त होती है। मुख से लार (Sliva) स्राव होता है। हाथ-पैर शिथिल होते हैं। ये लक्षण गर्भिणी में होते हैं ॥ १२ ॥

विमर्श—गर्भ रहने पर विविध अङ्गों में होने वाले परिवर्त्तन निम्नप्रकारके होते हैं—

१—उदर या गर्भाशय-'गर्भो जठराभिवृद्धिम्' गर्भ से पेट की वृद्धि होती है।

२—योनि-'आर्तवादर्शनम् । योन्याश्च चाटालत्वम् ॥' आर्तव नहीं आता है और योनि (गर्भाशय) में चाटालत्व (स्फुरण होना या वृद्धि होना)।

३—योनि से स्राव होना न कि गर्भाशय से। क्योंकि मृतगर्भा के लक्षण में योनि का स्राव नहीं होना है। ऐसा चरक भगवान् ने शा० ८ वें अध्याय में बनाया है। उससे सिद्ध होता है कि जीवित गर्भ में योनि का स्राव होता है

४—स्तन—

'स्तनयोः स्तन्यमोष्ठस्तनमण्डलयोः कार्ष्ण्यमत्यर्थम्' ॥
च० शा० ४ अ०।

'तस्माद्गर्भिण्य पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति' ॥
सु० शा० २ अ० ॥

स्तनों में दुग्ध का प्रादुर्भाव होता है। ओष्ठ और स्तनमण्डल (Areola) कृष्ण वर्ण को प्राप्त होते हैं। गर्भाशय से आर्त्तव का स्राव रुकने से गर्भिणी के स्तन पुष्ट और उन्नत (ऊंचे) होते हैं।

५—त्वचा 'रोमराज्युद्गमः ॥ सु० शा० ३ अ० ॥
'तनः कण्डूः प्रजायते । कण्डूमूला किटिभावासिः'।
च० शा० ८ अ०।

त्वचा पर रोयें खड़े होते हैं और उसमें खुजली आती है। खुजली के कारण किटिभ (Striæ gravidorum) पैदा होता है अर्थात् चर्म पर सफेद लकीरें पैदा होती हैं।

६—वर्णहानि और शिथिलता लक्षित होती है।

७—नारी सदयान (Morning sickness) 'आस्यस्रवणम् अनन्नाभिलाषा, छर्दिः, अरोचकत्वम्, अम्लकामना दौहृदश्चेति'। मुख से पानी आता है, अन्न से रुचि हटती है, वमन होता है, और खट्टे पदार्थों के ऊपर इच्छा होती है।

८—मूत्राशय और मलाशय-'अभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिः, मूत्रं प्रसिच्यते'। सु० शा० १० अ०। बार बार शौच होता है और मूत्र भी आने लगता है।

९—सामान्य परिवर्त्तन—'गुरुगात्रत्वं, चक्षुषो ग्लानिः, ईषत् श्वयथुः पादयोः, कार्श्यं, बलवर्णहानिरतिशयेन क्लान्तिश्च ॥ च० शा० ९ अ०।

हाथ-पैरों में गुरुता मालूम होती है, आंखों में ग्लानि, पैरों में सूजन, कृशता, शारीरिक शक्ति और कान्ति की कमी होती है और थकावट भी मालूम होती है।

इन लक्षणों से समझ लेना चाहिये कि स्त्री गर्भवती हो गई। आधुनिक मत से तीन प्रकार के लक्षण होते हैं—

(क) काल्पनिक चिह्न (Presumptive signs)
(ख) सम्भवनीय चिह्न (Probable signs)
(ग) निश्चयात्मक लक्षण (Positive signs)

(क) काल्पनिक चिह्नों में—१-मासिक धर्म का बन्द होना, २-जी मचलाना, कै होना, ३-स्तनों का परिवर्त्तन, ४-स्तनों में दुग्ध आना, ५-पेट का बढ़ा होना, ६-पेट में हलचल मालूम होना, ७-योनि की श्लेष्मल त्वचा का रङ्ग बदलना, ८-मानसिक विचारों में भिन्नता इत्यादि।

(१) मासिक स्राव रुकने के लिये गर्भ के अतिरिक्त रजोऽदर्शन (Ammenorrhea, मासिक रुकना, युवा स्त्री का पाण्डुरोग (Chlorosis), राजयक्ष्मा, मधुमेह और रजोनिवृत्ति (Menopause) ये कारण होते हैं। उसी प्रकार कुछ स्त्रियों में मासिक धर्म का स्राव होते हुए भी गर्भोत्पत्ति होती है। इसलिये मासिक धर्म का रुकना ये गर्भोत्पत्ति के काल्पनिक चिह्न हैं, निश्चित नहीं।

(२) कै होना, जी मचलाना-यह तो शारीरिक विकृति और अजीर्णजन्य भी हो सकता है।

(३) स्तनों में परिवर्त्तन होना-यह भी रक्षित कणों में परिवर्त्तन होने से होता है।

(४) स्तनों में दुग्ध का आना तो प्रथम गर्भ में सम्भवनीय लक्षण है। और बार बार होने वाले प्रसूति में तो यह त्रास लक्षण नहीं हो सकता है।

(५) पेट बड़ा होना-पेट में अर्बुद (Tumour) होने के कारण भी होता है।

(६) पेट में हलचल-पेट में वायु होने के कारण भी होता है।

(७) योनि की श्लेष्मल त्वचा का रंग बदलना-यह परिवर्त्तन रक्तप्रवाह की रुकावट से होता है और इस रुकावट के लिये अर्बुद (Tumour) भी कारण होता है।

(८) मानसिक विचारों में भिन्नता-मामूली रोगों से, भय से या आपत्ति से भी हो सकती है।

(ख) सम्भवनीय चिह्न (Probable signs)—

(१) गर्भाशय वृद्धि (Enlargement of uterus) (२) गर्भाशय का रुक रुककर स्पंदन। (३) हिगर का लक्षण

(Higer's signs) (४) अन्तःस्थ और वहिःस्थ परीक्षा (५) गर्भाशय की ध्वनि।

(१) गर्भाशय वृद्धि-गर्भ रहने पर समान, जल्द और एक क्रम से होती है। परन्तु रुग्णावस्था में वह रुक-रुककर और धीरे-धीरे तथा क्रमहीनता से युक्त होती है।

गर्भाशय की वृद्धि का मासानुसार निर्देश—

महीना	गर्भाशय का आकार
२ रे महीने के आखीर।	अण्डे के आकार का
३ रे ,, ,,	वडे सन्तरे का आकार
४ थे ,, ,,	भगास्थि
,, ,,	(Symphysis
,, ,,	pubis) के ऊपर ३ इञ्च
५ वे ,, ,,	नाभि के नीचे १ इञ्च
६ ठें महीना में	नाभि
,, ,,	के ऊपर १ इञ्च
७ वें ८ वें और ९ वें महीना में	६ महीना के उपरान्त नाभि के ऊपर हर एक महीना में १ इञ्च वढ़ता है।
१० वें महीना में	८ वें महीना के तुल्य क्योंकि उस समय गर्भाशय नीचे आता है।

(२) गर्भाशय का रुक-रुक कर स्पन्दन—यह तीसरे महीने से प्रतीत होने लगता है। ५ से १० मिनट के पश्चात् लहर सी मालूम होती है।

(३) हिगर का चिह्न—इसमें योनि में दो अङ्गुलियां डालकर देखना पड़ता है। जिससे भीतर का भाग कडा और स्पञ्ज के समान मालूम होता है।

(४) अन्तःस्थ और वहिःस्थ परीक्षा—वाहर से दवाने से एक कडा गोला सा प्रतीत होता है। भीतर अङ्गुली डालकर वच्चे के माथा को ऊपर ढकेलने से फिर वह उसी जगह पर आता है।

(५) गर्भाशय-ध्वनि—यह रक्तवाहिनियां वढ़ने से प्रतीत होती है। परन्तु ऐसी ध्वनि गुल्म 'ट्यूमर' की वजह से भी प्रतीत हो सकती है।

(ग) निश्चयात्मक चिह्न (Positive Signs)—

(१) वालक के हृदय का स्पन्दन, (२) गर्भनाल का स्पन्दन (Funne suffle), (३) भ्रूण के भागों का प्रत्यक्षीकरण, (४) भ्रूण-स्पन्दन, (५) 'एक्स-रे' ('X' Ray) (६) रासायनिक परीक्षा Zondac and Ascheim's reaction—

वालक के हृदय का स्पन्दन.—नाभि और पुरोध्वं कूट को मिलाने के लिये एक लकीर खीचे और उसका मध्य विन्दु निकाले तो उस स्थान पर वालक के हृदय का स्पन्दन उसके जीवित होने से प्रतीत होता है।

(२) कभी-कभी गर्भनाल का स्पन्दन मालूम होता है, यह धोखे का लक्षण है।

(३) योनि द्वारा अन्तःस्थ परीक्षा करने से वालक के अङ्गों का ज्ञान होता है।

(४) भ्रूण स्पन्दन—यह चौथे महीने के उपरान्त और पञ्चम महीने के प्रारम्भ में प्रतीत होता है।

(५) 'एक्स' किरण 'X' Ray से फोटो खींचना।

(६) और एक परीक्षा होती है जिसमें मूपिका में गर्भिणी के मूत्र की सुई (Injection) लगाते हैं और तत्पश्चात् उसे काट कर वीजकोप (Ovary) की परीक्षा करते है। यह निश्चित परीक्षा है। इसमें १४ दिन के गर्भिणी की भी परीक्षा होती है॥ १२॥

तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममपतर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोक यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैवान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत॥ १३॥

गर्भधारण के वाद वर्जनीय.—गर्भ रहने पर मैथुन, कसरत, अपतर्पण (लंघनादि-दुवले करने वाले प्रयोग), अतिकर्शन (ज्यादा कृश करने वाले), दिवास्वप्न (दिन में सोना), रात में जागना, यानारोहण (गाडी, घोडा, सायकल, मोटर और रेल पर चढ़ना), स्नेहन, स्वेदनादि क्रिया का सेवन, शोणितमोक्षण (शरीर से खून निकालना) और वेगविधारण (वमन-विरेचनादि त्रयोदश वेगों को रोकना) इत्यादि कर्म नहीं करना चाहिये॥ १३॥

विमर्शः—गर्भ-स्थापना होने पर मैथुन करने से गर्भ को पीडा होती है। व्यायाम से गर्भ की स्थिति में परिवर्त्तन होता है। लङ्घन और कृशता करने वाले कार्यों से गर्भ के शरीर की वृद्धि नहीं होती है। दिन में सोने से 'दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते। प्रतिश्यायादथो कासः कासात्सक्षायते क्षयः। क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते' प्रतिश्याय आदि रोगों का प्रादुर्भाव होता है। रात्रि में जागने से प्रकृति खराव होती है। शोक से वायु विकृत होती है। यान-रोहण से एक तो शरीर को झटके लगते हैं। इस यान के वेग के कारण श्वासयन्त्रों में ज्यादा हवा भर जाती है। भय से खून ज्यादा जल्द दौड़ने लगता है। वैठने से गर्भ पर भार पड़ता है और नीचे से गर्भ को आश्रय नहीं मिलता है। स्नेहन, स्वेदनादि पञ्चकर्मों में से अष्टम महीने में आस्थापन-अनुवासन देने का विधान है। उसी प्रकार 'वातविण्मूत्रजृम्भाऽश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्रा''। इन त्रयोदश वेगों को धारण करने से उदावर्त्त होता है। इस लिये उपर्युक्त वस्तुओं का सेवन न करे॥ १३॥

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥१४॥

निषिद्ध सेवन से परिणाम—ऊपर लिखित वस्तुओं के सेवन करने से दोष प्रकुपित होकर गर्भिणी के अङ्गों को दूषित वनाता है और उसके जो अङ्ग दूषित होते हैं वे ही गर्भस्थ शिशु के भी दूषित होते है॥ १४॥

विमर्शः—इस लिये उपरि निर्दिष्ट चीजों का सेवन करना

चाहिये। उनके सेवन से गर्भस्थित बालक पर वैसा ही परिणाम होगा। इसलिये गर्भिणी की रक्षा सावधानीपूर्वक करने से गर्भ की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥ १४ ॥

तत्र प्रथमे मासि कलल जायते।

द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः सञ्जायते यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति।

तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्त्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति।

चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति। द्विहृदयां च नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते, दौर्हृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत्। लब्धदौर्हृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥ १५ ॥

गर्भ का चार मास तक वृद्धिक्रम.—शुक्र और शोणित के संयोग से पहिले महीने में गर्भ कलल (सिद्धवारप्रख्य) अर्थात् बुद्बुदाकार होता है ॥

दूसरे महीने में शीत (श्लेष्मा), उष्मा (पित्त) और अनिल (वायु) इनसे पञ्चमहाभूतों का समूह गाढा बनता है यदि वह समूह पिण्डाकृति—गोल रहे तो पुत्र उत्पन्न होता है। पेशी (दीर्घाकृति) अधिक लम्बी और कम चौडी ऐसी हो तो कन्या और अर्बुद (गोला Tumour) के परिमाण की हो तो नपुंसक होता है। तीसरे महीने में दो हाथ, दो पैर और शिर ऐसे पांच अवयवों के पांच पिण्ड होते हैं और ग्रीवा, छाती, पृष्ठ तथा उदर ये अङ्ग और ठोडी, नासिका, कान, अङ्गुली, पुडी इत्यादि प्रत्यङ्गों का विभाग अस्पष्टतया मालूम होता है।

चौथे महीने में सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विभाग खूब स्पष्ट हो जाते हैं। और गर्भ का हृदय स्पष्ट होने से चेतना धातु व्यक्त होता है। क्योंकि हृदय चेतना धातु का स्थान (आश्रय) है। इसीलिये इन्द्रियार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनकी अभिलाषा चौथे महीने में होती है। दो हृदय होने से गर्भिणी को दौर्हृदिनी कहते हैं। दौर्हृद (गर्भिणी की इच्छापूर्त्ति) की अवहेलना करने से स्त्री-कुबडा, कुणि (लूला), खञ्ज (लङ्गडा), जड, वामन (नाटा), विकृताक्ष (टेढी आँख वाला), अनक्ष (अन्धा) पुत्र पैदा करती है। इस लिये वह जो जो चाहे उसको उस देना चाहिये। उसकी इच्छापूर्त्ति करने से स्त्री वीर्यवान् (पराक्रमी) और चिरायु (दीर्घायु) पुत्र पैदा करती है ॥ १५ ॥

विमर्श—इस गद्य में चार २ मास तक में होने वाले परिवर्त्तन बताये हैं। द्वितीय महीने में पुत्र या कन्या की पहचान होती है। आधुनिक मत से हृदयस्पन्दन से कन्या या पुत्र की परीक्षा करते हैं वह पञ्चम मास के बाद होती है। हृदय का स्पन्दन यदि १४० प्रति मिनिट हो या उससे अधिक हो तो स्त्री और उससे कम होने से पुरुष उत्पन्न होता है। स्त्रियों का अधिक डरपोक होना उनके हृदय की गति का कारण है। इस प्रकार से उनका उष्णतामान Temperature भी पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा होता है। दोहद की पूर्त्ति न होने से मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य बिगड जाता है। जिसका परिणाम सन्तान के ऊपर भी फलीभूत होता है ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत् ॥ १६ ॥
सा प्राप्तदौर्हृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्।
अलब्धदौर्हृदा गर्भं लभेतात्मनि वा भयम् ॥ १७ ॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौर्हृदे वै विमानना।
प्रजायेत सुतस्यार्त्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥ १८ ॥

पद्यों में दौर्हृदों का परिणाम—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनमें से जो भी गर्भिणी स्त्री चाहती हो, गर्भ को पीडा न हो इसलिये उसे लाकर वैद्य को देना चाहिये।

दौर्हृद की प्राप्ति होनेसे गर्भिणी सद्गुणी पुत्र को पैदा करती है। यदि दौर्हृद प्राप्त न हो तो स्वयं या पुत्र पीडित होता है।

गर्भावस्था के समय जिन इन्द्रियार्थों की पूर्त्ति न होगी गर्भ की उन इन्द्रियों में पीडा या दोष उत्पन्न हो जाता है।

विमर्श—दौर्हृद की पूर्त्ति न होने से गर्भ को तो भय होना ही है किन्तु स्त्री को भी भय रहता है। कान से मनोहर शब्द सुनना, आंखों से अच्छे-अच्छे पदार्थों का देखना, जिह्वा से रुचिप्रद भोजन का स्वाद लेना, नाक से सुगन्धियुक्त द्रव्यों को सूंघना और स्पर्शसुख का अनुभव करना इत्यादि कार्यों की पूर्ति करने से अव्यङ्ग पुत्र होता है। और गर्भिणी प्रसन्न रहती है, जिससे दीर्घायु सन्तति पैदा होती है ॥ १६-१८ ॥

राजसन्दर्शने यस्या दौर्हृदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ १९ ॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौर्हृदात्।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ २० ॥
आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ २१ ॥
दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते ॥ २२ ॥
गोधामांसाशने पुत्रंसुपुप्सुं धावनात्मकम्(धारणात्मकम्)
गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा ॥ २३ ॥
माहिषे दौर्हृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसयुतम्।
वराहमांसान् स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत्सुतम् ॥ २४ ॥
मार्गोद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम्।
सुमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात् ॥ २५ ॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौर्हृदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥ २६ ॥

दौर्हृद से भावी सन्तान के गुणों की पहचान—जिस स्त्री को राजा के दर्शन का दौर्हृद (अभिलाषा) होता है, वह स्त्री धनवान् और भाग्यवान् पुत्र को उत्पन्न करती है।

दुकूल (शेला या शाल), पट्ट (जरीका वस्त्र), कौशेय (कोसा), भूषण (अलङ्कार) इनमें दौर्हृद होने से अलङ्कार-प्रिय और ललित (शृङ्गार-चेष्टा से युक्त) पुत्र होता है।

देवताओं की प्रतिमा (मूर्त्ति) में दोहद होने से पार्षदोपम (देवानुचर-तुल्य) पुत्र उत्पन्न होता है।

तपस्वी लोगों के आश्रमों में इच्छा होने से धर्मशील और जितेन्द्रिय पुत्र उत्पन्न करती है। हिंसक जाति के जीवों के दर्शन में इच्छा होने से हिंसाशील (दुष्ट प्रकृति वाला) पुत्र उत्पन्न करती है।

गोधा (गोह) के मांस खाने की इच्छा होने से निद्रालु तथा दौडने वाला पुत्र होता है (पाठभेद के अनुसार धारणात्मकं=हृदयगृहीतवस्तूनाममोचकम् । जिस वस्तु के पीछे लगेगा उसको हस्तगत कर लेने वाला। गोह जिस प्रकार वस्तु को चिपक कर पकड लेती है। उस प्रकार यह भी दृढ हठ करनेवाला होता है)।

गो शब्द इन्द्रियों का वाचक है अर्थात् बकरा, भेडा वगैरः इन्द्रिय वाले जानवरों का मांस खाने की इच्छा होनेसे बलवान् और सर्व दुःखों को सहन करने वाले पुत्र को उत्पन्न करती है।

भैंस का मांस खाने की इच्छा रखने से वीर (पराक्रमी), लाल आंख वाला तथा वदन पर केश होने वाले पुत्र को, उसी प्रकार शूकर का मास खाने की इच्छा रखने से सोनेवाले और शूर पुत्र को उत्पन्न करती है।

हरिण का मांस खाने की इच्छा रखने से उद्योगी, वेगवान और नित्य वनचर (जङ्गल में घूमने वाला) ऐसे पुत्र को उत्पन्न करती है।

सृमर (महाशूकरः, अन्ये महाश्वाकारश्चमरानूकः) गोसदृश वनगाय या गवय के मास खानेकी इच्छा होने से विन्नमनस (खिन्न प्रकृति का) और तीतर के मांस खाने की इच्छा रखने से डरपोक (या पाठान्तर से 'नित्यं शीलं च तैत्तिरात्' इस वचन के अनुसार हर समय शील सम्पन्न) पुत्र को उत्पन्न करती है।

अनुक्त दौर्हृद का संग्रह बताते हैं-जिन चीजों का वर्णन नहीं दिया है ऐसे वस्तुओं का ध्यान (इच्छा) करने से उनके शरीर के समान उन्हीं के आचार और विचार वाला पुत्र पैदा होता है ॥ १९-२६ ॥

विमर्श —दौर्हृद होने में कारण गर्भिणी के नित्य आचार-विचार है। ये दौर्हृद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के व्यक्ति में विभाजित मालूम होते हैं। ब्राह्मणों का जप, तप, आश्रम, देवता-विषयक प्रेम होता है। क्षत्रियों का वीरता में और राजैश्वर्य में प्रेम होता है। वैश्य-कपडा, लत्ता, भूषण आदि का ध्यान रखते हैं। और शूद्र-मांस, मद्य इत्यादि के खान-पान में लोलुप होते हैं। जिसका पूर्व कर्म के अनुसार जिस वर्ण में प्रेम होगा वैसा ही सन्तान पैदा होती है।

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्।
यथा तथा दैवयोगाद्दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥ २७ ॥

दौर्हृदों में कारण—पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार गर्भ में पैदा होने पर जैसा उसका भवितव्य होता है दैवयोग से मन में उसी प्रकार के दौर्हृद की आकांक्षा उत्पन्न होती है ॥ २७ ॥

विमर्शः—दैव और कर्म इनकी संगति बराबर चलती आती है। कर्म के ऊपर दैव निर्भर करता है और दैव के अनुसार कर्म चलते हैं। ये दोनों गाडी के चक्र है। जिस प्रकार पक्षी बिना पंख के उड नहीं सकते वैसे ही प्राणियों के जीवन में कर्म और दैव ये दो पंखों के समान है। तो भी उसमें शुभ कर्म करते रहने से दैव की अनुकूलता प्राप्त होती है। इस लिये कर्म-योग का प्राधान्य रहना चाहिये।

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतर भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वाद् नैर्ऋतभागत्वाच्च ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्। नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥ २८ ॥

गर्भ का पञ्चम महीने से वृद्धिक्रम—पांचवे महीने में मन अधिक प्रबुद्ध एवं सचेत होता है। षष्ठ महीने में बुद्धि प्राप्त होती है। सातवें महीने में सब अङ्ग प्रत्यङ्गों की अभिव्यक्ति भलीभांति होती है। अर्थात् चार शाखा, शिर और कोष्ठ यह छः अङ्ग और प्रत्यङ्ग-ग्रीवा, मूर्धा वगैर. स्पष्ट हो जाते है। आठवें महीने में ओज चंचल रहता है। इस महीने में बालक पैदा होने पर नैर्ऋत के भाग के कारण तथा ओज धातु क्षीण रहने से जीता नहीं। इस कारण नैर्ऋत को बलि देना चाहिये जो कि मास और भात का रहता है। नवम, दशम, ग्यारह या बारह महीने में बालक पैदा होने से जीवित रहता है। इसके बाद यदि प्रसव न हो तो वह विकारी गर्भ समझा जाता है ॥ २८ ॥

विमर्श —बालक के आयु का निर्णय प्रायः करना पडता है, इसलिये किस महीने में कौन सा भाग बनता है, यह समझ लेना आवश्यक है। आठवें मास में आयुर्वेद के मत से न बचने का कारण कुमारतन्त्र में दिया है यथा—'नैर्ऋताय भागश्च बालेषु रुद्रेण दत्त.' उसी प्रकार 'स्थिरीभवति ओजः' यह भी पाठ 'अस्थिरीभवत्योज' इस जगह है और उसीके पास 'निरोजस्त्वात्' ऐसा भी पाठ है। यहाँ निरोज का अर्थ 'क्षीण ओज' लेना चाहिये। तब सगति बैठती है। चरक के मत में आठवें महीने का भी बालक जीवित रह सकता है। यदि प्रसूति के समय ओज बालक में रहे। चरक के मत से गर्भ-प्रसूति-काल दशम महीने के अन्त तक है। आधुनिक मत से सात महीने के बाद पुत्र जीवित रह सकता है। आठवें महीने में शरीर के ऊपर का स्तर (Epidermic layer) पूरा बनता नहीं। इसलिये बालक का शरीर वृद्ध मनुष्य के समान वलीयुक्त होता है। उसका पालन-पोषण भी कठिन हो जाता है।

बालक का उत्पत्तिक्रम—

पहिले दो सप्ताह में बुदबुद के आकार का होता है।

तीसरे सप्ताह में हाथ, पैर और पेट का भाग तथा Nural canal बनता है।

चौथे सप्ताह में आंख, कान, नाक, बनते हैं। ५ मिली-मिटर उसकी लम्बाई होती है।

दूसरे महीने में एक इञ्च के लगभग लम्बाई होती है, और मनुष्य की आकृति आती है।

तीसरे महीने में तीन इञ्च बढता है, हड्डी बनने की क्रिया प्रारम्भ होती है। प्रथम मृदु अस्थि (Cartiledge) बनती है तदनन्तर उसमें खटिका (Calcium) संग्रह होने लगते हैं।

चौथे महीने में ८-९ इञ्च के लगभग बढता है।
पांचवे „ १२ „ „ „ „ है।
छठे „ १४ „ „ „ „ है।

सातवे महीने में वह स्वतन्त्रतया जीवन व्यतीत करता है। प्राण वायु (Oxygen) सेवन करता है, हिलता-डुलता है, बाह्य उष्णता का असर उस पर पडता है।

आठवें महीने में उसके शरीर का ऊपरी स्तर (Epidermic) बहुत थोडा बनता है। इसलिये वृद्ध पुरुष के समान उसका शरीर झुर्रीदार दीखता है।

नवें महीने में वृद्धावस्था के समान रहने वाले लक्षण दूर हो जाते हैं। दशम महीने में वह २० बीस इञ्च बढ़ता है, ५ से ७ पौंड उसका वजन होता है, चर्म मुलायम और चिकना होता है। अङ्गुली, नख और अङ्गुष्ठ मजें के बनते हैं।

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असञ्जाताङ्ग-प्रत्यङ्गविभागं तु गर्भं निषेकात् ('असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्ग-प्रविभागमानिषेकात्' पाठभेदः) प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥ २९ ॥

गर्भ का पोषण प्रकार—माताके रसवहा नाडीमें गर्भ की नाडी लगी हुई रहती है। वह नाडी माता के आहार-रसके वीर्य को गर्भ के लिये पहुँचाती है। उसी उपस्नेह से गर्भ की वृद्धि होती है।

अब यहां यह शका होती है कि जब तक गर्भनाडी बहती ही नहीं तब तक गर्भ का पोषण कैसे होता रहता है? इसलिये बताते हैं कि गर्भोत्पत्ति के लिये जब शुक्र का निषेक (गर्भाशय में पतन होना) होता है तब वे शुक्र-कीटाणु शोणित डिम्ब के साथ मिलकर गर्भ को पैदा करने लगते हैं। इस गर्भ का पोषण होना आवश्यक है जो कि अब अङ्ग-प्रत्यङ्गों से हीन होता है। ऐसी अवस्था में (गर्भ-नाडी न रहते हुये भी) केदार-कुल्या के अनुसार तिरछे जाने वाली सर्व शरीर के अवयवों का अनुसरण करने वाली, रसों को ले जाने वाली धमनियों का स्पष्टपसार गर्भ को जीवन रस देता है ॥ २९ ॥

विमर्शः—गर्भनाडी होने के पहिले गर्भाशय की धमनियों द्वारा गर्भ का पोषण होता है पश्चात् गर्भनाडी से पोषण होता है। जैसे तडाग के किनारे के वृक्षों के लिये तडाग का जल अप्रत्यक्ष रूपसे वृद्धि का कारण होता है वैसे ही गर्भ का भी पोषण अप्रत्यक्षतया धमनियों द्वारा होता है।

गर्भ का पोषणक्रम (Nutrition of the ovum) एक स्वतन्त्र वृत्ति और दूसरी परतन्त्रवृत्ति होती है। स्वतन्त्र-वृत्ति वह है कि जब तक अण्ड के स्वरूप में गर्भ रहता है तब तक वह स्वकीय शरीर में रहने वाले योल्क (Yolk) भाग पर जीवन चलाता है। पश्चात अपरा का आश्रय लेकर के वह माता के शोणित से अपना जीवन-क्रम चलाता है यह परतन्त्र वृत्ति जीवन-क्रम हुआ है।

चरक में शारीर स्थान छठे अध्याय २३ वे गद्य में गर्भ का पोषणक्रम दिया है, जिसका भावार्थ निम्नलिखित है।

भूख-प्यासहीन गर्भ माता के आश्रय से तथा उसके उपस्नेह और उपस्वेद से बढ़ता है। उपस्नेह रोमकूपों के मार्गों से बल और वर्ण उत्पन्न करता है। वह उपस्नेह माता का पोषण करता है, गर्भ की वृद्धि करता है और स्तन्य (दुग्ध) भी बढ़ाता है।

गर्भस्य खलु सम्भवतः पूर्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनक, शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम्।
हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्।
नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः।
पाणिपादमिति मार्कण्डेयः,
तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य।
मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः,
तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसम्भवस्य ॥

तत्तु न सम्यक् सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च। तद्यथा—चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथग्दृश्यन्ते कालप्रकर्षात्। तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्, तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां काल प्रव्यक्ततां करोति, एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ॥ ३० ॥

गर्भोत्पत्तिक्रम – शौनक मुनि का मत है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ का प्रथम शिर उत्पन्न होता है। क्योंकि प्रधान इन्द्रिय कान, नाक, चक्षु, जिह्वा इत्यादि का निवास स्थान शिर ही है।

कृतवीर्य मुनि का मत है कि बुद्धि और मनका स्थान हृदय है और उसकी प्रथम उत्पत्ति होती है।

पाराशर्य मुनि का कहना है कि प्रथम नाभि उत्पन्न होती है क्योंकि उसी से प्राणी के शरीर की वृद्धि होती है।

मार्कण्डेय मुनिका कथन है कि प्रथम हाथ और पैर पैदा होते हैं। क्योंकि गर्भ की चेष्टा उन पर निर्भर करती है।

सुभूति गौतम कहते है कि मध्यशरीर प्रथम उत्पन्न होता है क्योंकि सब गात्रों की उत्पत्ति का सम्बन्ध उसी से है।

भगवान् धन्वन्तरि का कहना है कि, ऊपर के मत ठीक नहीं है क्योंकि एकसमयावच्छेद से अङ्ग और प्रत्यङ्ग उत्पन्न होते है। गर्भ छोटा होने से जैसे बांस का अङ्कुर या आम्र के फल की किस प्रकार वृद्धि होती है इसका पता नहीं लगता वैसे ही गर्भ की वृद्धि का पता नहीं चलता है। जैसा आम का फल पकने पर उसमें केशर, मास (गूदा), अस्थि (गुठली), मज्जा (गुठली के भीतर का भाग), ये सब कुछ काल के बाद अलग-अलग दीखते है किन्तु वे ही भाग नये आम्र-फलों मे छोटे होने से नही मिलते। केशर, गुठली इनको काल (समय) ही व्यक्त करता है। इसी प्रकार बांस के अङ्कुरों की वृद्धि जाननी चाहिये। गर्भ छोटा होने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग रहने पर भी छोटे होने के कारण उनका साक्षात्कार नहीं होता है। उनका साक्षात्कार समय से ही होता है ॥ ३० ॥

विमर्श.—शरीर के सब अङ्ग महत्त्व रखते है। इसी लिये उनकी उत्पत्ति एकसमयावच्छेद से ही होती है। आकृति छोटी होने से उसका ज्ञान होना कठिन है।

तत्र गर्भस्य पितृज मातृज-रसजा-त्मज सत्त्वज-सात्म्यजानि शरीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः।

गर्भस्य, केश-श्मश्रु-लोमा-स्थि-नख-दन्त-सिरा-स्नायु-धमनी-रेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि।

मांस-शोणित-मेदो-मज्ज-हृन्नाभि-यकृत्-प्लीहान्त्र-गुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि।

शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि।

इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखं दुःखादिकं चात्मजानि।

सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः।

वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि ॥३१॥

गर्भ के पितृजादि लक्षण—अब गर्भ के पितृज (पिता-सम्बन्धी), मातृज (माता-सम्बन्धी), रसज (रस से उत्पन्न), आत्मज (आत्मा-सम्बन्धी), सत्त्वज (मन-सम्बन्धी), सात्म्यज (प्रकृति-सात्म्य से होने वाले), शारीरिक लक्षण कहते है—

पिता से—गर्भ के केश (Hairs), श्मश्रु (दाढी, मूंछ), लोम (छोटे-छोटे बाल), अस्थि (हड्डी), नख (Nails), दन्त (Teeth), शिरा (Veins), स्नायु (संहत्यर्थे Ligaments और व्यक्त्यर्थे Fibrous tissue), धमनी (Arteries), रेतः (वीर्य Semen) इत्यादि स्थिर भाग होते है?

माता से—मास (Mascles के उत्पादक भाग), शोणित (खून Blood), मेद (Fat चर्बी), मज्जा (Marrow), हृत् (हृदय, Heart), नाभि (ढोंढी, Umbilicus), यकृत् (जिगर-Liver), प्लीहा (Spleen-तिल्ली), अन्त्र (आंतडी, Intestines) तथा गुद (मलद्वार Rectum) इत्यादि मृदु-भाग माता से उत्पन्न होते है।

रससे उत्पन्न होने वाले—शरीर की पुष्टि, बल (शक्ति), वर्ण (कान्ति), स्थिर (शरीर की विद्यमानता Persistance), हानि (ह्रास Decay) ये है।

आत्मा से उत्पन्न होने वाले—एकादश इन्द्रियां, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, सुख, दुःख इत्यादि है।

सत्त्व से उत्पन्न होने वाले लक्षण आगे जाकर बतावेंगे।

सात्म्य से उत्पन्न होने वाले वीर्य (पराक्रम), आरोग्य (Helth, स्वास्थ्य), बल (शक्ति, Strength), वर्ण (कान्ति), मेधा-धारणात्मक बुद्धि (Retentive power) ये सब सात्म्य हैं ॥ ३१ ॥

विमर्शः—सत्त्व से उत्पन्न होने वाले 'चरक.'—भक्तिः, शीलं, शौचं, द्वेषः, स्मृतिः, मोह-त्यागो-मात्सर्य-भयं-क्रोध-स्तन्द्रो-त्साह-स्तैक्ष्ण्य-मार्दवं-गाम्भीर्य-मनवस्थितत्व-मित्येवमादयश्चान्ये।

भक्तिः (श्रद्धा करना), शीलम् (उत्कृष्ट वर्त्तन), शौचम् (पावित्र्य), द्वेषः (ईर्ष्या करना), स्मृतिः (स्मरण करना), मोहः (सन्देह होना), त्यागः (औदार्य), मात्सर्यम् (मत्सर करना), शौर्यम् (शूरता), भयम् (भीरुता), क्रोधः (गुस्सा), तन्द्रा (निद्रा का प्रकार), उत्साहः (काम करने की इच्छा), तैक्ष्ण्यम् (तेज रहना), मार्दवम् (मृदुता), गाम्भीर्यम् (खूब सोचना), अनवस्थितत्वम् (चाञ्चल्य) इत्यादि और भी उस प्रकार के अन्य गुण समझना चाहिये।

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति, दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वं च सक्थ्युत्कर्षति, बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति, स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव, प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्याम्, यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्। यस्या मध्ये निम्न द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति ॥ ३२ ॥

गर्भालिङ्गनिश्चिति – तत्र (वाक्यालङ्कारे) जिस स्त्री के दहिने स्तन में प्रथमतः दुग्ध दीखेगा, दाहिनी आंख बडी होगी, प्रथम दाहिनी जघा बड़ी होगी, विशेष करके पुरुषवाचक पदार्थों में दौर्हृद होता है, स्वप्न में कमल, उत्पल (श्वेत कमल), कुमुद (कमल का भेद), आम्रातक (लसोडा) इत्यादि पुरुष-वाचक पदार्थों का दर्शन होता है, जिसका चेहरा और कान्ति प्रसन्नता के प्रदर्शक हों वह पुत्र को पैदा करेगी, ऐसा समझना चाहिये। इनके विपरीत लक्षण वाले चिह्न होने से कन्या उत्पन्न करेगी, ऐसा समझना चाहिये। जिसके दोनों कुक्षियां ऊची हों, आगे उदर (पेट) निकला हो, और पूर्वकथित लक्षण (पुरुष जन्म के तथा स्त्री होने के चिह्न) हो तो समझना चाहिये कि नपुंसक पैदा होगा।

जिसका मध्य भाग निम्न (गहरा) द्रोणीभूत (द्रोण के समान) हो तो समझना चाहिये कि जोडी (Twins) पैदा होगी ॥ ३२ ॥

विमर्श.—द्वन्द्व (Twins, मिले बालक) के लिए जिस स्त्री की रोमावली गहरी हुई हो वह दो सन्तान उत्पन्न

करेगी ऐसा समझना चाहिये 'रोमराजी भवेन्निम्ना यस्या सा सूयते यमौ' इति।

चरक के शारीर स्थान के २ अध्याय में कन्या पैदा होने के लक्षण दिये हैं। उसके विरुद्ध पुत्र उत्पन्न होने के समझना चाहिये। यथा—

सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्री स्वप्नपानाशनलीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते॥
पुंस्त्वतो लिङ्गविपर्ययेण व्यामिश्रलिङ्गां प्रकृतिं तृतीयाम्॥

भवन्ति चात्र—

देवता ब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥३३॥

सद्गुणी बालक के जन्म में कारण—देवताओं की पूजा करने वाले, ब्राह्मणों की सेवा करने वाले, शुद्ध तथा हितकर आचरण करने में तत्पर, ऐसे माता-पिता सद्गुणी बालकों को पैदा करते हैं। इससे विपरीत गुणवाले निर्गुणी बालकों को उत्पन्न करते हैं॥ ३३॥

विमर्श—कायिक, वाचिक और मानसिक अच्छे कर्म का फल अच्छा ही होता है इसलिए दम्पति शुद्ध आचरण वाले हों तो अच्छी सन्तान पैदा होती है।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग-निर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्ग-प्रत्यङ्ग-निर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः॥३४॥

इति सुश्रुतसंहिताया शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धि-शारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः।

विशेष अङ्ग-प्रत्यङ्गों में कारण—अङ्ग और प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति स्वाभाविक तरह से होती है किन्तु उनमें उत्कृष्टता और निकृष्टता जो आती है वह गर्भ के धर्म या अधर्म के कारण आती है॥

विमर्श—पीछे 'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा'। इत्यादि श्लोक के अनुसार स्वभाव से ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति होती है। उनके ऊपर धर्माधर्म का असर पड़ता है-इसलिए सदैव सन्मार्ग पर चलना सर्वोत्कृष्ट है।

इति शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः।

शारीरे प्रश्नाः—

(Anatomy)

(१) किंलिङ्गानि कानि?
(२) किन्तु खलु गर्भस्य वृद्धिकरम्।
(३) गर्भनाडीनिर्माणं प्राग् गर्भस्य पोषणक्रमः कथं भवति?
(४) गर्भस्य किं-किं-लक्षणानि कानि?
(५) गर्भस्य किं पूर्वरूपमवगन्तव्यम्। कश्च निर्वृत्तिप्रकारः।

शारीरक्रियाविज्ञाने प्रश्नाः (Physiology)—

(१) गर्भस्य मातृ-पितृ रसना रक्त-सत्त्वज-मात्म्यजान भावान् वर्णयन्तु।
(२) निर्गतोऽपि जीवात्मा कथं योनौ प्रजायते।

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो गर्भव्याकरणं नाम शारीरं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

विषय.—अब गर्भव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करेंगे।

जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि से कथन किया गया है॥१-२॥

विमर्श.—गर्भावक्रान्ति के पश्चात् गर्भ का व्याकरण (विवरण) जिसमें है ऐसा शारीर स्थान का वर्णन करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है। इसमें भी (Development of the foetus) गर्भ के अङ्ग बढ़ने की प्रक्रिया दी गयी है।

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः॥ ३॥

प्राण.—अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, पञ्च इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) और भूतात्मा (जीवात्मा) ये प्राण हैं॥ ३॥

विमर्श.—ऊपर दिये हुये बारह प्राण हैं। प्रथम तो शरीर का वर्णन करना रहा किन्तु आधेय रूप प्राणों का वर्णन-देह की स्थिति उनके अधीन होने से करते हैं। आहार का पाचन करना, रस बनाना इत्यादि कर्मों द्वारा अग्नि—शरीर का रक्षण करता है। सोम-ओज इत्यादि सौम्य धातुओं का पोषण करके शरीर का रक्षण करता है। वायु-उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा शरीर की रक्षा करता है। सत्त्व, रज और तम ये जीवात्मा तथा मन के ऊपर असर डालकर उसके जीवन के कारण होते हैं। चक्षु-जिह्वा आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियां रूप-रस आदिकों के ग्रहण द्वारा शरीर को जीवित रखते हैं। उसी प्रकार भूतात्मा (कर्मपुरुष) शरीर को चेतना देने वाला होता है। इस लिये ये सब प्राण हैं।

तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्या-(क्वचित् 'शुक्रशोणितस्य' पाठो न विद्यते)-भिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो-(षट् त्वचः 'पा०') भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्वान् वर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति। सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना।

द्वितीया लोहिता नाम व्रीहिषोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना।

तृतीया श्वेता नाम व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना।

चतुर्थी ताम्रा नाम व्रीहेरष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना।

पञ्चमी वेदिनी नाम व्रीहिपञ्चभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना।

षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना।

सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना।

यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मासलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु च, यतो वक्ष्यत्युदरेषु 'व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्' (चि० अ० १४) इति ॥ ४ ॥

त्वचाओं का वर्णन– इस प्रकार भूतात्माधिष्ठित शुक्र और शोणित के पक्व होने पर, जिस प्रकार दूध पर मलाई आती है उसी प्रकार सात त्वचाओं के स्तर बनते हैं। उनमें से पहिली अवभासिनी नामक त्वचा होती है जो सब वर्णों को प्रकट करती है और पांच प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। वह चावल के अठारहवें भाग के समान मोटी होती है, इसी त्वचा में सिध्म, पद्मकण्टक आदि रोग होते हैं।

दूसरी त्वचा लोहिता नाम की है। वह चावल के सोलहवें भाग के बराबर मोटी रहती है। इसमें तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग (वांग या छाई) रोग रहते हैं।

तीसरी त्वचा श्वेता है। वह चावल के बारहवें भाग के तुल्य मोटी रहती है। उसमें चर्मदल, अजगल्लिका और मशक (मस्सा) का स्थान होता है।

चौथी त्वचा ताम्रा नाम की है। वह चावल के आठवें भाग के बराबर मोटी होती है। उसमें नाना प्रकार के किलास और कुष्ठ रोग होते हैं।

पांचवीं वेदिनी नाम की त्वचा है। इसमें चावल के पञ्चमांश भाग के बराबर मोटाई होती है। इसमें कुष्ठ और विसर्प होते हैं।

षष्ठी रोहिणी त्वचा है। यह चावल के बराबर मोटी रहती है। इसी में ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड विकार होते हैं।

सातवीं मांसधरा है। वह दो चावल के बराबर मोटाई में है। इसी में भगन्दर (Fistula), विद्रधि (Abscess), बवासीर (Piles) रोग होते हैं।

यह जो प्रमाण बताया है, सो मांसल स्थानों में समझना चाहिये क्योंकि आगे चि० अ० १४ में लिखा है कि व्रीहिमुखेन (व्रीहिमुख नामक यन्त्र से) अङ्गुठे की मोटाई के प्रमाण में गहरा छेद करना चाहिये। ऐसा न समझे कि उपरि निर्दिष्ट प्रमाण ललाट या छोटी-छोटी अँगुलियों में का है ॥४॥

विमर्श.—ये जो सप्त त्वचाएँ (Layers of skin) बतायी हैं। उनमें ऊपर से लेते हुए नीचे भाग के नाम बताते हुए उनमें होने वाले रोग बताये हैं।

अवभासिनी पाच प्रकार की छाया बनाती है। छाया और प्रभा इनमें थोडासा अन्तर है। छाया समीप से देखी जाती है और प्रभा दूर से प्रकाशित होती है। प्रभा को कान्ति कहते हैं और छाया को वर्ण कहते हैं। इन त्वचाओं के प्रमाण में व्रीहि नाम का धान्य बताया है वह 'यव' है। कोई उसका चावल भी अर्थ बताते हैं। यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यव ले या चावल, वह तो कभी प्रमाण में छोटा और कभी प्रमाण में मोटा मिलेगा तो उसमें कौन सा प्रमाण ठीक होगा ? यह शङ्का ठीक है किन्तु शरीर भी तो सब लोगों का एकसा नहीं रहता है। वह भी तो भिन्न–भिन्न प्रकारों का होता है, या ऐसा कर सकते हैं कि–व्रीहि पद से उत्तम परिपक्व यव लेवे और शरीर अच्छे तरुण पुरुष का लेवे तो सङ्गति ठीक होगी। चतुर्थ और पञ्चम स्तरों में कुष्ठ (Skin disease) होता है। पञ्चम स्तर में विसर्प (Erysipelas) भी रहता है। रोहिणी नाम छठी त्वचा में ग्रन्थि (Tumour) अपची, अर्बुद, (Malignant Tumour), श्लीपद (Elephantiasis), गलगण्ड (Goitre) विकार होते हैं।

सप्तम त्वचा में भगन्दर (Fistula in Ano), विद्रधि (Abscess) और अर्श (Piles) होते हैं।

जिस कारण व्रीहिमुख (Trochor and Canula) से उदर में छेद करने को लिखा है अतः उपरि निर्दिष्ट प्रमाण मासल स्थानों में समझना चाहिये।

चरक के मत में छः त्वचायें हैं—

(१) उदकधरा। (२) असृग्धरा।

(३) सिध्म (Cloasme), किलास (Leucoderma) जिसमें ये रहते हैं वह तृतीय त्वचा है।

(४) चौथी त्वचा में दद्रु (Ring worm) और कुष्ठ (Skin Disease) रहता है।

(५) पञ्चमी त्वचा में अलजी और विद्रधि (Abscess) होती है। (६) षष्ठी त्वचा फटने से अन्ध के माफिक चारों ओर अन्धकार होता है। इसी त्वचा में काले और लाल ढग की, बडे मूल वाली और चिकित्सा करने में कठिन ऐसी फुन्सियां होती हैं।

आधुनिक मत से त्वचा दो प्रकार की है Epidermis और Dermis (बाह्य और अन्तः त्वचा) यद्यपि ये दो प्रकार की त्वचाये मालूम होती हैं तो भी इनमें भी, बाह्य त्वचा में 'पांच' और अन्तः त्वचा में दो स्तर मिलते हैं। कुल ये भी सात स्तर होते हैं।

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः ॥५॥

कला वर्णन—कलायें भी सात होती हैं, वे धातु और आशयों के मर्यादा-स्थान पर होती हैं ॥ ५ ॥

विमर्श.—यहाँ यह शका अवश्य होती है कि आशय तो नियत स्थान पर है और कला तो सब शरीर पर है। फिर यह कला का वर्णन किस प्रकार संगतियुक्त है। इसलिये यहां आशय शब्द का अर्थ अवस्थान प्रदेश (मर्यादाभाग) है। इससे यह सिद्ध होता है कि रस-रक्तादि के मर्यादा भागों को कला कहते हैं। इन्हें ही आधुनिक काल में Mucous membrane, epithelium और synovial membrane कहते हैं। इसे cell कहना अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि cell से टिसु बनते हैं, उसी प्रकार कलारस ही धातु बनाता है। वही कफ पित्तादिकों की उत्पत्ति करता है।

भवतश्चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुर्मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥ ६ ॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥७॥

कला-स्वरूप—जैसे लकडी काटने से सार का दर्शन होता है उसी प्रकार मांस को काटने पर धातु का दर्शन होता है। वही रस और रक्त रूपी द्रव्य है।

स्नायुओं से ढके हुए और जरायु (झिल्ली) से व्याप्त तथा कफ से वेष्टित भागों को कलाभाग कहते हैं ॥ ६-७ ॥

विमर्श—यह वर्णन Mucous membrane, epithelium और synovial membrane से मिलता है। ये दो श्लोक कलाओं का स्वरूप बताते हैं। 'वृद्ध वाग्भट' में कला का स्वरूप इस प्रकार है। यथा.—'यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते स यथास्वमूष्मभिर्विपक्व स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषो-(रसविशेषो पा०)-ऽल्पत्वात् कला संज्ञां' 'अ० सं० शा० अ० ५।'

तासा प्रथमा मांसधरा नाम, यस्यां मांसगताना ('मांसे' वा) शिरास्नायुधमनी-स्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥ ८ ॥

प्रथम कला—उन सात कलाओं में से प्रथम मांसधरा नामक कला है, जिसमें शिरा, स्नायु, धमनी और स्रोतसों की शाखाएँ होती हैं ॥ ८ ॥

विमर्श:—प्रथम रसधरा कला का स्वरूप कहना रहा किन्तु उसका अन्तर्भाव पुरीषधरा में होता है। इस मांसधरा में शिराओं (Veins), स्नायुओं (Ligaments या Nerves), धमनियों (Arteries) और स्रोतसों (Tissues) की शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं।

यथा बिसमृणालानि विवर्द्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिराऽऽदयः ॥९॥

ऊपर के प्रतानों के लिये दृष्टान्त—भूमि पर पङ्क (कीचड) और जल में रहने वाले बिस तन्तु, मृणाल, (कमलनाल) जैसे चारों ओर बढते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श:—ऐसा विचार अवश्य होता है कि प्रथम रस, रक्त, मांस इत्यादि धातुओं का क्रम होते हुये भी प्रथम मांसधरा कला का वर्णन क्यों किया? प्रथम तो रसधरा का वर्णन तदनन्तर रक्तधरा का वर्णन उसके पश्चात् मांसधरा का वर्णन करना उचित था किन्तु यहा मांसधरा का वर्णन किया है इसका कारण यह है कि मांसधरा आधार है और रक्तधरा उसके ऊपर रहने वाली है इसलिये प्रथम मांसधरा कला का वर्णन किया है।

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहोश्च भवति (स्रवति पा०) ॥ १० ॥

रक्तधरा कला—दूसरी रक्तधरा नामक कला है। यह मांस के भीतर से जाती है, इसमें रक्त का संवहन होता है। यह रक्तधरा कला विशेषतया शिराओं में, यकृत् में और प्लीहा में होती है ॥ १० ॥

विमर्श—यकृत् और प्लीहा (Liver and spleen) उसी प्रकार 'सिरासु' इस जगह 'स्रोत-सु' ऐसा पाठ मानने से—यकृत्, प्लीहा और स्रोतस् इन तीन स्थानों में रक्त को बनाने वाले तत्त्व रहते हैं। जिनमें रक्त बनकर मास के भीतर से वहन करने लगता है।

वृक्षाद्यथाऽभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमास्रवेत्।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणित संप्रसिच्यते ॥ ११ ॥

मांस से रक्त कैसे निकलता है इसका प्रमाण—दुग्ध वाले वृक्षों से आघात करने पर जैसे दुग्ध आता है। उसी प्रकार काटे हुये मांस से खून टपकने लगता है ॥ ११ ॥

विमर्श.—रक्तधरा कला है, इसमें क्या प्रमाण है? इस लिये दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं कि—मांस काटने पर रक्त निकलने से रक्तधरा कला है, यह सिद्ध होता है।

तृतीया मेदोधरा; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च महत्सु च मज्जा भवति ॥ १२ ॥

मेदोधरा कला—तीसरी मेदोधरा कला है। यह सर्वप्राणिमात्रों के उदर में और छोटी-छोटी हड्डियों में रहती है। बडी हड्डियों में मज्जा रहती है ॥ १२ ॥

विमर्श.—मज्जा (Bonemarrow) और पेट के चर्म के नीचे भाग में रहने वाली चर्बी 'मेदोधरा' कला है। 'अष्टाङ्गसंग्रह' में और भी थोडा अधिक वर्णन है 'तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यं च' वही मेदोधरा कला मस्तक में, कपालों (Skulls) के भीतर मस्तुलुङ्ग मस्तिष्काख्य है। मेदोधरा कला में वसा का भी अन्तर्भाव होता है।

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ॥
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता ॥१३॥

पूर्वोक्त मेद का स्पष्टीकरण—विशेष करके स्थूल हड्डियों के भीतर मज्जा रहती है। इनके (स्थूल हड्डियों के) अतिरिक्त इतर (सूक्ष्म) सब हड्डियों में रक्त के साथ मेद रहता है। शुद्ध मांस का जो स्नेह रहता है, वह 'वसा' नाम से कहा जाता है ॥ १३ ॥

विमर्श:—वसा, मज्जा और मेद तीनों पदार्थ 'मेदोधरा' कला के अन्तर्गत आते हैं। उनका परस्पर भेद निम्न प्रकार से है—

मज्जा	मेद	वसा
(१) स्थूल अस्थियों में रहती है।	(१) सूक्ष्म हड्डियों में रहता है।	(१) शुद्ध मांस का जो स्नेह है, वह वसा है।

चतुर्थी श्लेष्मधरा, सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥१४॥

श्लेष्मधरा कला का वर्णन—प्राणियों की सर्व सन्धियों में रहने वाली कला 'श्लेष्मधरा' है ॥ १४ ॥

विमर्श.—यह श्लेष्मधरा (synovial fiuid) बनाने वाली कला है।

भवति चात्र—
स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्त्तते।
सन्धयः साधु वर्त्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥१५॥

श्लेष्मधरा कला का कार्य—जिस प्रकार अक्ष (चक्र में घूमने वाला दण्ड, महाराष्ट्र भाषामें अचकूड या धुरा) के ऊपर तेल छोडने से गाडी का चक्र (पहिया) अच्छी तरह घूमता है। उसी प्रकार श्लेष्मा से युक्त सन्धियाँ भी अच्छी तरह घूमती हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—श्लेष्मल द्रव (Synovial fluid) यह तेल के सदृश सन्धियों के भीतर रहता है जिस से सन्धिया आपस में रगड़ नहीं खाती और एक दूसरे पर अच्छी तरह घूम सकती है।

पञ्चमी पुरीषधरा नाम, याऽन्तः कोष्ठे मलम विविभजते पक्वाशयस्था ॥ १६ ॥

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥ १७ ॥

पुरीषधरा कला का वर्णन— पांचवीं कला का नाम पुरीषधरा है। जो कोष्ठ में रहकर पक्वाशय का आश्रय करती हुई मल का विभजन (पृथक्करण) करती है।

यकृत के पास कोष्ठ और आंतों का आश्रय करती हुई, उण्डुक में रहने वाले मल को विभक्त करने वाली कला 'मलधरा' है ॥ १६-१७ ॥

विमर्शः—पांचवी कला 'पुरीषधरा' है इसे बृहदन्त्र (Large intestine) कहते हैं। किन्तु श्लोक का वर्णन लघु अन्त्र और बृहद् अन्त्र दोनों को बताने वाला है। यहां यकृत् से आरम्भ होने वाला लघ्वन्त्र (small intestine) है और आगे उण्डुकस्थ (उण्डुक पर रहने वाला) बृहदन्त्र (Large intestine), इस प्रकार दोनों अंतड़ियां आती हैं। आधुनिक मत से बृहद् अन्त्र (large intestine) और (Various parts of colon) यह है।

प्राचीन मतों में गयी, चरक, सुश्रुत और वृद्ध वाग्भट के मत से बृहदन्त्र ही नहीं किन्तु आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस आदि को भी कोष्ठ कहते हैं। अर्थात इनमें से मल को पृथक् करने वाली पुरीषधरा कला है।

षष्ठी पित्तधरा या चतुर्विधमन्नपानमाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥ १८ ॥

पित्तधरा कला.—छठी 'पित्तधरा' नामक कला है जो अशित, खाद्य, पेय, लेह्य, यह जो चार प्रकार का अन्न है उसको आमाशय से निकलते हुए पक्वाशय की ओर जाते हुए धारण करती है। यही पित्तधरा कला है ॥ १८ ॥

विमर्श—आधुनिक मत से यह Duodenum है। यहां पर ही पाचक रसों के एकत्र होने का केन्द्र है। इसे ग्रहणी नाम से प्राचीन लोग सम्बोधित करते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में दिया है कि—'षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था, सा ह्यन्तरन्यधिष्ठानतयाऽऽमपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति' अ० सं० शा० अ० ५।

अशितं खादितं पीत लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥ १९ ॥

ऊपर का अर्थ श्लोक में—भोजन किया हुआ, खाया तथा पान किया हुआ, लीढ (चाटा हुआ) यह चार प्रकार का भुक्त पदार्थ मनुष्यों के पेट में पित्त के तेज से शोषित किया गया यथासमय जीर्ण हो जाता है ॥ १९ ॥

विमर्श.—इस जगह 'यथाकाल' ऐसा लिखने से तीक्ष्णाग्नि, विषमाग्नि, मन्दाग्नि, मध्यमाग्नि के अनुसार और मात्रा द्रव्य, गुरु द्रव्य, लघु मात्रा, अतिकाल में ली हुई मात्रा, काल के पूर्व ली हुई मात्रा का बोध होता है ॥ १९ ॥

सप्तमी शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥

शुक्रधरा कलाः—सातवीं शुक्रधरा कला है जो सम्पूर्ण प्राणियों के अखिल शरीर में व्याप्त रहती है ॥ २० ॥

विमर्श.—शरीर में शुक्र (Seminal fluid) को सञ्चित करने वाली यह कला है। यद्यपि आधुनिक मत से शुक्र का सर्वशरीर-व्यापकत्व सिद्ध नहीं है तथा शुक्रधरा कला भी प्रत्यक्ष नहीं है। यदि शुक्र से तात्पर्य अण्डकोष के अन्तःस्राव से हो तो शुक्रधरा कला का अर्थ रक्तवाहिनीगत श्लेष्मकला (Indothelium) किया जा सकता है।

यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा।
शरीरेषु तथा शुक्र नृणां विद्याद्विपश्चितः ॥ २१ ॥

शुक्रव्यापकता के दृष्टान्त—जैसे दूध में घी सर्वत्र रहता है। ऊख (गन्ना) में जिस प्रकार गुड़ रहता है, उसी प्रकार पुरुषों के शरीर में शुक्र रहता है ॥ २१ ॥

विमर्श.—जिस प्रकार दूध के वर्ण से घी का अनुमान होता है, ईख की पुष्टि से उसके मिठास का पता चलता है उसी प्रकार मनुष्य (मानव) शरीर देखने से उसके भीतर के शुक्र का पता चलता है। जिस प्रकार दूध के मथने से घी निकलता है उसी प्रकार अण्डकोष (Testicle) में सञ्चित हुआ शुक्र मैथुन से दृश्य होता है।

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे[1] बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥ २२ ॥

शुक्रमार्ग— बस्ति द्वार के भी नीचे दो अङ्गुल दक्षिण (दाहिने) और (पाठभेद के अनुसार बायें तर्फ) मूत्र-वहन मार्ग से पुरुष का शुक्र निकलता है ॥ २२ ॥

विमर्श.—पुरुष में मूत्रमार्ग और शुक्रमार्ग एक ही होता है। बाहर निकलने के लिए भिन्न मार्ग नहीं है। बस्ति के दोनों ओर दो शुक्राशय (Seminal vesicles) रहते हैं जिनसे शुक्र मेढ्रस्रोत (urathral canal) में जाता है।

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्र प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् सम्प्रवर्त्तते ॥२३॥

हर्षजन्य शुक्रप्रादुर्भाव— प्रसन्न मन होकर स्त्री-प्रसंग करने वाले पुरुष के सर्व शरीर में रहने वाला शुक्र हर्ष के कारण प्रवृत्त होता है ॥ २३ ॥

विमर्श.—शुक्र तो शरीर में अदृश्य रहता है तो उसके प्रत्यक्ष होने का कारण क्या है? इसलिए बताते हैं कि प्रसन्नतापूर्वक स्त्रीप्रसङ्ग करने से शुक्र का प्रत्यक्षीकरण होता है।

गृहीतगर्भाणामार्त्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुद्ध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्त्तवं न दृश्यते, ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते, शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद्गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति ॥ २४ ॥

१—वामे 'प्रत्यक्ष शा०'।

गर्भवती स्त्री के आर्तव न दीखने तथा पुष्ट स्तन और अपरा बनने में कारण—गर्भवती स्त्रियों में आर्त्तववह स्रोतों के मार्ग गर्भ के कारण रुक जाते हैं, इसलिए गर्भवती स्त्रियों का आर्त्तव दीखता नहीं, किन्तु वह रुका हुआ आर्त्तव नीचे न जाते हुए ऊपर की ओर (गर्भाशय में) एकत्र होता है जिसे 'अपरा' कहते हैं, शेष रुका हुआ आर्त्तव स्तनों को प्राप्त होता है जिससे गर्भिणी के स्तन पुष्ट और उन्नत हो जाते हैं ॥ २४ ॥

विमर्श.—अपरा का दूसरा नाम 'अमरा' भी है। इसे Placenta कहते हैं। इसके ऊपर एक पतली झिल्ली (Membrane) होती है। इसी झिल्ली के भीतर 'अपरा' के समीप बच्चा रहता है। वह देखने में अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है।

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः, शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥ २५ ॥

यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस और उण्डुक की उत्पत्ति – गर्भ के यकृत् और प्लीहा रक्त (खून) से पैदा होते हैं। फेफड़ा—यह रक्त के फेन से उत्पन्न होता है। रुधिर के मल से 'उण्डुक' पैदा होता है ॥ २५ ॥

विमर्श —यकृत्, प्लीहा के सदृश क्लोम भी शोणित से उत्पन्न होता है। वृद्ध वाग्भट ने लिखा है—'रक्तादनिलयुक्तात् कालीयकम्' अ० स० शा० अ० ५। फुप्फुस की उत्पत्ति बताते हुवे 'फुप्फुसौ' यह द्विवचन न देने का तात्पर्य यह है कि जातिवाचक शब्द के लिये एकवचन देने की प्रथा है। उण्डुक (पोट्टलक. Appendix) यह रक्त के किट्ट से उत्पन्न होता है।

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः ।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुद बस्तिश्च देहिन. ॥२६॥

आन्त्र, गुद और बस्तियों की उत्पत्ति – रक्त और कफ का जो उत्तम सार भाग है उसको पित्त से पचाते समय वायु भी उधर दौडती है। जिससे प्राणिओं की अतडी, गुदद्वार और वस्ति उत्पन्न होती है ॥ २६ ॥

विमर्श—शीसा फूकने वाले जिस प्रकार शीसे को फूक कर शीशी, बोतल बनाते हैं उसी प्रकार पोले अवयवों के निर्माणमें वायु कारण होता है।

उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ।
कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ॥ २७ ॥

जिह्वा की उत्पत्ति —उदर (पेट) में पच्यमान (पचने वाले) कफ, रक्त और मास सत्व से जिह्वा उत्पन्न होती है। जैसे—धौंकने पर सुवर्ण का सार भाग शेष रहता है। वैसे ही जिह्वा भी कफ, रक्त और मास का सार होती है ॥२७॥

विमर्श —'उदरे पच्यमानानाम्' इस जगह 'गयी' के मतानुसार ('हृदये पच्यमानानाम्' यह पाठ है। जिह्वा (Tongue) की उत्पत्ति साररूप है।

यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ।
अनुप्रविश्य पिशित पेशीर्विभजते तथा ॥ २८ ॥

स्रोतसों का विदारण और पेशियों का बनना —जैसे समुचित उष्णता से युक्त होती हुई वायु स्रोतों को विदीर्ण करती है, उन्हे बढाती है। उसी प्रकार वही वायु मांस को प्राप्त होकर पेशियों के रूप में उसे विभक्त करती है ॥ २८ ॥

विमर्श—यहा वायु स्रोतों (Tract = मार्ग) को कैसे विदीर्ण करती है, यह बताया है और (Muscles) पेशी बनने की क्रिया दी गई है। किसी के मत में पेशी आच्छादन (Covering) है। उदाहरणार्थ fascia, sheath और Serous membrane हैं। हृदयपेशी (Pericardium), सिरा पेशी (membranous coverings of Veins), अस्थिपेशी (Peri-ostium)।

मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात् ।
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः ॥
आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसम्भवम् ॥ २९ ॥

स्नायु और आशयों की उत्पत्ति—सिरा मेद का स्नेह लेकर स्नायुत्व को प्राप्त होती है। सिरा और स्नायु इनमें अन्तर यह है कि सिराओं का पाक मृदु रहता है और स्नायुओं का पाक उनसे (सिराओं से) खर (कठिन) रहता है। बारम्बार रहने का अभ्यास करते-करते (वायु) आशयों की उत्पत्ति करती है। लिखा भी है—'स वायुर्मांसपेशीषु आशय्य आ समन्तात निवासं कृत्वा हृदयाशयाना सम्भवमुत्पत्तिं करोति' ॥ २९ ॥

विमर्श —सिरा (Veins) और स्नायु (Ligaments) तथा आशय इनकी उत्पत्ति बतायी है। स्नायु किसी मत से muscles भी कहलाते हैं। जैसे प्रतानवती स्नायु, सुषिरा स्नायु, वृत्ता इत्यादि। उसी प्रकार स्नायुओं के कार्य भी 'उत्क्षेपणापक्षेपण' इत्यादि है। डल्हण में लिखा भी है 'क्रियास्वशक्तिरिति'। स्नायु को muscles मानने पर ligiments कौन से हैं, यह प्रश्न रह जाता है। सन्धिबन्धन यही ligiments है।

रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ, मांसासृक्कफमेदःप्रसादाद् वृषणौ, शोणितकफप्रसादज हृदय, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहा, तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च; तद्विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति ॥३०॥

वृक्क, वृषण और हृदय की उत्पत्ति—रक्त और मेद के सार से वृक्क (गुर्दे) बनते हैं। मास, रक्त, कफ और मेद इनके सार से वृषण (अण्ड) बनते हैं। रक्त और कफ के सार से हृदय बनता है। जिसके आधार से प्राणवहा धमनिया रहती हैं। उसके नीचे बाई ओर प्लीहा और फुफ्फुस है। दक्षिण (दहिने) ओर यकृत् (जिगर) और क्लोम है। हृदय-यह विशेष करके चेतनास्थान है। इसलिये तम से जब हृदय आच्छादित होता है तो सब प्राणिलोग सो जाते हैं ॥३०॥

विमर्श —इस गद्यमें वृक्क (Kidney) वृषण (Testicles), हृदय (Heart) की उत्पत्ति बतायी है। हृदय के बाईं ओर फुफ्फुस बताया है, दाहिनी ओर नहीं, इसका कारण यह है कि हृदय स्पष्टतया उस (फुफ्फुस) पर

teres) बनती है और सेतुशिरा (Ductus venosus) से शिरावन्धनिका (ligament venosum of liver) बनती है।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते, तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनववोधिनी, स प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहः सु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामनिलवहुलानां मनःशरीराभितापिनां च नैव सा वैकारिणी भवति ॥ ३२ ॥

निद्रा—निद्रा-यह विष्णु की माया स्वरूप है और इसे पापिनी भी कहते हैं। क्योंकि वह सब शुभ कर्मों के व्यापार का नाश करती है। जब तमोगुण-बाहुल्ययुक्त कफ, संज्ञावह स्रोतों को प्राप्त होता है तब तामसी निद्रा होती है जो ज्ञान नहीं होने देती है, वह प्रलय काल में आती है। तमोगुणयुक्त प्राणियों को दिन में और रात में निद्रा प्राप्त होती है। रजोगुण युक्त प्राणियों को 'अनिमित्तमनियतकालम्' कभी रात में कभी दिन में निद्रा प्राप्त होती है। उनके निद्रा का समय निश्चित नहीं होता है क्योंकि रजोगुण चञ्चल प्रकृति वाला होता है। सत्त्वभूयिष्ठ लोगों को अर्द्धरात्रि में निद्रा प्राप्त होती है। जिनका कफ क्षीण हो गया हो और वायु बढ गया हो मन और शरीर में पीड़ा होती हो तो उन्हें निद्रा आती ही नहीं, उसे वैकारिकी निद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

विमर्श.—निद्रा तीन प्रकार की होती है। एक तामसी दूसरी स्वाभाविकी और तीसरी वैकारिकी। तामसी निद्रा प्रलयकाल में प्राप्त होती है। स्वाभाविकी निद्रा मनुष्य की प्रकृति के अनुसार कभी रात-दिन, कभी बेवक्त और कभी अर्धरात्रि में आती है। वैकारिकी निद्रा मन और शरीर कष्ट में रहने से आती ही नहीं। वैकारिकी निद्रा का कारण कफ घटना और वायु बढ़ना है। ये दोष लङ्घन और श्रमसे वैकारिकी निद्रा के अनुसार कहीं घटते और बढते हैं। बहुतों को श्रम से और लघन से निद्रा आती है। उसका कारण यह होता है कि मन के क्लान्त (थकने के) होने के बाद कर्मात्मा भी श्रान्त होता है, तब विषयों से उसकी वासना हट जाती है जिससे निद्रा आती है। अष्टाङ्ग-संग्रह के मत के अनुसार निद्रा सात प्रकार की होती है। यथा—

'कालस्वभावामयचित्तदेहखेदैः कफागन्तुतमोभवा च।
निद्रा विभर्त्ति प्रथमा शरीरं पाप्मान्तगा व्याधिनिमित्तमन्या।

(१) कालस्वभावजन्य निद्रा (२) आमय (रोग) जन्य निद्रा (३) चित्तखेदजन्य निद्रा (४) देहखेदजन्य निद्रा (५) कफजन्य निद्रा (६) आगन्तु निद्रा (७) तमोभवनिद्रा। इन निद्राओं में से प्रथम निद्रा शरीर की उपस्तम्भ स्वरूप होती है, शेष ६ निद्राएँ पापस्वरूप (विकार युक्त) होती हैं।

भवन्ति चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥ ३३ ॥
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥ ३४ ॥

निद्रा का पक्ष में विषयः—हे सुश्रुत! व्यक्ति का चेतना स्थान हृदय है। जब वह तमोगुण से व्याप्त होता है तो प्राणियों को निद्रा प्राप्त होती है। निद्रा का कारण तमोगुण है और जगने का कारण सत्त्व है। निद्रा में स्वभाव ही प्रधान कारण है। उसके लिये दूसरे हेतुओं की आवश्यकता नहीं है, नहीं तो सत्त्वभूयिष्ट गुण वाला विचारा जागते २ ही रह जाता। इसलिये बताते हैं प्राणी को नींद आना स्वभावतः ही है ॥ ३३-३४ ॥

विमर्श.—निद्रा आने के लिये हृदय के ऊपर तम का प्रादुर्भाव करना पडता है। इसलिये तमोगुण विशिष्ट महिषी का दूध और उसमें महिषी का ही 'घी' डाल कर देते हैं। जिससे हृदय तमोगुण से व्याप्त होता है और पर्य्याप्त निद्रा आती है। इस जगह यह भी ध्यान रखना चाहिये कि महिषी का दूध और घी दोनों कफवर्धक हैं। इसलिये जहा कफ से विकार उत्पन्न होता हो और अग्नि मन्द हो ऐसे स्थानों में न दे या सारासार विचार करके दे।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥ ३५ ॥

निद्रा तो बोध नहीं होने देती फिर स्वप्न-दर्शन कैसे होता है—सोते हुए व्यक्ति का स्वामी भूतात्मा होता है। वही रजोयुक्त मन से पूर्वदेह में अनुभव किये हुए अच्छे या बुरे अर्थों को ग्रहण करता है ॥ ३५ ॥

विमर्श.—निद्रा में तो बाह्य विषयों के अभाव में स्वप्न में देखना कैसे होता है? उसमें हेतु स्मृति है। नये पदार्थों की कल्पना होना असम्भव होता है। स्मृति में वे ही पदार्थ आते हैं जो कि देखे या सुने गये हों, अन्य नहीं, आत्मा जब तमोगुण से व्याप्त होता है तब जीवात्मा ही स्वतः आवरण युक्त हो जाता है। किन्तु रजोगुण युक्त मन के होने से निद्रा में भी स्वप्न की प्रतीति होती है।

कारणानां तु वैकल्ये (वैगुण्ये 'पा') तमसाऽभिप्रवर्धिते। अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥ ३६ ॥

निर्विकार भूतात्मा की निद्रा में कारणता—तम से जब इन्द्रियों की विकलता बढ़ जाती है तो न सोने वाला भूतात्मा भी सोया, ऐसा कहते हैं ॥ ३६ ॥

विमर्श.—जिस प्रकार इन्द्रियों के विकल होने पर बाह्येन्द्रियों से रूप-रसादिकों का प्रत्यक्ष नहीं होता उसी प्रकार 'मन' के विकल होने से सुख-दुःख का भान नहीं होता है। इस प्रकार दोनों की विकलता के कारण भूतात्मा सोया ऐसा समझा जाता है।

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बाल-वृद्ध-स्त्री-कर्शित-क्षत-क्षीण-मद्य-नित्ययान-वाहना-ध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्त-क्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्त्तं

दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम् । रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्द्धमिष्यते दिवास्वपनम् । विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम, तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कास-श्वास-प्रतिश्याय-शिरोगौरवाङ्गमर्दा-रोचक-ज्वरा-ग्निदौर्बल्यानि भवन्ति, रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति ॥ ३७ ॥

निद्रा के नियम तथा उनके परिपालन न करने के दोष.—सभी ऋतुओं में दिवानिद्रा (दिन का सोना) वर्ज्य है। बाल, वृद्ध (बुड्ढे लोग), स्त्रियों के कारण दुबले हुए ऐसे (कामासक्त), क्षत (व्रणों से पीडित), क्षीण (दुबले), नित्य मद्य पीने वाले, यान (गाड़ी) और वाहन (घोटा ऊँट) आदि से श्रमित, अध्वकर्म (मार्ग चलना), इनसे श्रान्त और भोजन न करने वाले, मेद, स्वेद, कफ, रस, रक्त की क्षीणता वालों को दिन में थोडा सोना निषिद्ध नहीं है। रात में जागने वालों के लिये जितनी देर तक रात में जगा हो उससे आधे समय तक दिनमें सोना इष्ट है। दिन में सोना विकृति है। उससे अधर्म और सब दोषों (वात, पित्त, कफ) का प्रकोप होता है। उनके प्रकोप से खांसी, श्वास (दमा), प्रतिश्याय (जुखाम), शिरोगौरव (माथा भारी होना), अङ्गमर्द (वदन में पीडा), अरुचि, ज्वर, अग्निमान्द्य ये विकार उत्पन्न होते हैं। रातमें भी जगनेसे वात, पित्त, दोषों से होने वाले ही विकार होते हैं ॥ ३७ ॥

विमर्शः—रातमें जागने वालों को दिन के आधा काल क्यों सोना चाहिये ? अधिक ज्यादा सोने में सर्व दोष प्रकुपित होते हैं। दिन में सोने से रक्त भी बिगडता है। दिनमें सोना यद्यपि अधर्म है तो भी ग्रीष्म ऋतु में शरीर-रक्षाके निमित्त सोना अधर्म नहीं माना जाता है ॥

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मित चरेत् ॥ ३८ ॥
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः ।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम् ॥ ३९ ॥
(निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा ।)
दिवा रात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः ।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते ॥ ४० ॥

निद्रा के विषय में सप्तद श्लोक—उपरि निर्दिष्ट कारणों से जागना नहीं चाहिये और दिन का सोना छोडना चाहिये। ये दोनों भी दोषोंको उत्पन्न करने वाले हैं, यह समझकर विद्वान् पुरुष को चाहिये कि उचित प्रमाण में नींद ले।

ऐसा करने का फल.—वह पुरुष नीरोग होता है, प्रसन्न मन वाला, शक्ति और कान्तियुक्त, वृष (पराक्रमी), बहुत मोटा नहीं या बहुत पतला नहीं ऐसा अर्थात् मध्यम शरीर वाला, धनवान् होता हुआ सौ साल तक जीता है।

'निद्रा सात्म्यीकृता' इत्यादि अर्ध श्लोक बहुत सी पुस्तकों में नहीं मिलता है। जिन लोगोंने रात्रि-जागरण और दिन का शयन अभ्यस्त किया हो, जो रात दिन जागने या सोने में अभ्यस्त हों (यहां यथासंख्य अन्वय करने से ऊपर) के पादसे द्विरुक्ति होती है इसलिये रातदिन ऐसा इकट्ठा अर्थ लेना ठीक होता है। ऐसे लोगोंको सोने से या जागने से कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३८-४० ॥

विमर्शः—अभ्यास करते-करते सात्म्य हो जानेसे सदोष पदार्थों से भी दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि ।
सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति ॥ ४१ ॥

निद्रा-नाशके कारण—वायु से, पित्त से, मनके सन्ताप से, शारीरिक क्षीणता से या चोट से निद्रा-नाश उत्पन्न होता है। उपरि निर्दिष्ट कारणों के विरुद्ध चिकित्सा करने से निद्रा-नाश की शान्ति होती है ॥ ४१ ॥

विमर्श.—यहां कफसे निद्रानाश होता है ऐसा नहीं लिखा-यह ख्याल रहे।

निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम् ।
गात्रस्योद्वर्त्तनं चैव हित संवाहनानि च ॥ ४२ ॥
शालि-गोधूम-पिष्टान्न-भक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः ।
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ ४३ ॥
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च ।
द्राक्षा-सितेक्षु-द्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि ॥ ४४ ॥
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथान्यान्यपि बुद्धिमान् ॥ ४५ ॥

निद्रानाश हरण करने के उपायः—निद्रा के नाश होनेपर शरीर में तैलकी मालिश करना चाहिये, माथेपर तैल लगाना चाहिये, हाथ, पैर और वदन पर उबटन लगाना चाहिये, उसी प्रकार सवाहन (हाथ-पैर दबाना) इत्यादि करना चाहिये।

इक्षु (ईख के बनाये हुए पदार्थ जैसे चीनी, गुड, खांड, मिश्री आदि, शालि चावल, गेहूँ तथा पिष्ट इत्यादि पदार्थों का सेवन करना चाहिये। दूध, मांसरस इत्यादिकों से स्निग्ध (चिकनाहट वाला) और मधुर (मीठा) भोजन करना चाहिये। बिल में रहने वाले (चूहा इत्यादि) तथा विष्किर (मुर्गा-जो बिखेर कर खाने वाले) ऐसे जीवों का मांस खाना चाहिये उसी प्रकार द्राक्षा (अङ्गूर या मुनक्का), सिता (मिश्री), इक्षु (ईख, गन्ना) तथा ईख से बने हुये पदार्थों जैसे चीनी, मिश्री, खाड, शिरका, गुड इत्यादि सेवन से निद्रा प्राप्त होती है।

सोने के लिये बिछौना, आसन तथा सवारियां (मोटर, रेल, टांगा) इत्यादि मृदु (कोमल) और मनोहर होने चाहिये। इनका उपयोग निद्रा-नाश पर करना चाहिये। उसी प्रकार बुद्धिमान् वैद्यको अन्य वस्तुओं का जैसे वस्त्रों की निर्मलता, फूल, इत्र, धूप की सुगन्ध देना, मन्द-मन्द प्रकाश रखना, सुरक्षित स्थान में निवास करना, मृदु भाषण करना या गान-वाद्य की मञ्जुल ध्वनि का कर्णगोचर होना, या अच्छे समाचार-पत्रादि वगैरः श्रवण करना, इनका निद्रा का नाश होने पर उपयोग करना चाहिये ॥ ४२-४५ ॥

विमर्श.—निद्रा लाने के उपायों में निम्न लिखित प्रकार से वर्गीकरण हो जाता हैः—

(१) वातजन्य निद्रानाश में मालिश, हाथ पैर दबाना इत्यादि शारीरिक क्रिया

(२) पित्तज निद्रानाश में मधुरान्न पान-पान

(३) सामान्य निद्रानाश में आसन, शयन स्वच्छ और कोमल रहना

(४) मनोहारी सुगन्धि और चित्ताकर्षक गान-वाद्य का श्रवण

(५) स्थान की स्वच्छता, स्वच्छन्द वायु

(६) मन्द प्रकाश और सुरक्षित स्थान

(७) निद्राप्रद औषध

निद्राऽतियोगे वमनं हित संशोधनानि च।
लङ्घन रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥ ४६ ॥

अतिनिद्रा की चिकित्सा—यदि अति निद्रा आती हो तो वमन (के), सशोधन (विरेचन, आस्थापनों द्वारा) देना चाहिये। लंघन (भोजन न देना), रक्तमोक्षण (खून निकालना), उसी प्रकार मन को सन्तप्त करने वाली वस्तुओं से निद्रा का नाश होता है ॥ ४६ ॥

विमर्श—यहां सशोधन में वमन का अन्तर्भाव ही है किन्तु उसके विशेष उपादान का तात्पर्य निद्रानाश में उसकी विशेषता से है।

कफ-मेदो-विषार्त्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।
दिवास्वप्नश्च तृट्-शूल-हिक्काऽजीर्णा-तिसारिणाम् ॥४७॥

रात्रिजागरण और दिवास्वप्न किसके लिये लाभप्रद है कफ के विकारों में, मेदो रोग में, विष से पीडित अवस्था में, रात में जागना हितकर होता है, और दिन में सोना-तृट् (तृषा) रोग में, शूल (पेट में पीडा होना), हिक्का (हिचकी), अजीर्ण (अपच) और अतिसार (दस्त ज्यादा होना) आदि रोगों में हितकर है ॥ ४७ ॥

विमर्श—पुष्टि से उत्पन्न होने वाले विकारों में रात में जागने से रूक्षता उत्पन्न होती है जिससे शरीर कृश होता है। कृश करने वाले विकारों में दिन में सोने से स्निग्धता प्राप्त होकर कृशता का हरण होता है। विषजन्य विकारों में सोना न चाहिये क्योंकि सोने से विष का प्रभाव अधिक होता है।

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्राऽऽर्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥४८॥

तन्द्रा का लक्षण—इन्द्रियार्थ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) का ज्ञान न होना, गौरव (शरीर की गुरुता), जृम्भण (जम्भाई), क्लम (थकावट) और निद्रा से पीडित व्यक्ति के सदृश जिस की चेष्टा होती है उसको तन्द्रा समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

विमर्श—निद्रा और तन्द्रा में भिन्नता।

निद्रा—

(१) नियत काल तक।
(२) जगाने से उठता है।
(३) जगाने पर इन्द्रियार्थों का ज्ञान होता है।
(४) आखों की कान्ति स्वच्छ रहती है
(५) थकावट हरण होती है।

तन्द्रा—

(१) अनियत काल तक।
(२) जगाने पर भी नहीं उठता।
(३) जगाने पर भी इन्द्रियार्थों का ज्ञान नहीं होता है।
(४) कान्ति निर्मल नहीं रहती है।
(५) थकावट बढती है।

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः।
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इतिसञ्ज्ञितः ॥ ४९ ॥

जृम्भा का लक्षण—मनुष्य विवृतानन (मुख खोलते हुवे), एक हवा का श्वास लेकर, उद्वेष्टन् (वदन में पीडा सा मालूम करता हुआ), जिस श्वास को, आंख में अश्रु लाते हुवे छोडता है उसे जृम्भ (जम्भाई) कहते हैं ॥ ४९ ॥

विमर्श—जम्भाई की यह सुन्दर व्याख्या बताई है। छींक की भी व्याख्या बहुत से लोग निम्न प्रकार से करते हैं। यथा—

'प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथि स्थितौ।
नस्तः प्रवर्त्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत्' ॥

प्राण और उदान वायु समान होकर शिरोरन्ध्रगामी होते हुये नाक से शब्द करते हैं, उसे क्षवथु (छींक) कहते हैं।

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ ५० ॥

क्लम का लक्षण—जो अनायास (श्रम विना) शरीरमें प्रवृद्ध श्रम (विशेष परिश्रम) करता हो, जिसमें श्वास (दमा) न आता हो, इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श इत्यादि) में विघ्न उत्पन्न करता हो उसे 'क्लम' कहते हैं ॥ ५० ॥

विमर्श—श्रम और क्लम में भिन्नता-

श्रम—

(१) परिश्रमजन्य
(२) श्रमसे श्वास बढ़ता है
(३) शब्द, स्पर्श इत्यादिकों का ज्ञान रहता है।
(४) शरीर को प्रसन्न रखने वाला।

क्लम—

(१) विना परिश्रम।
(२) क्लम से श्वास नहीं बढ़ता।
(३) इन्द्रियार्थ का ज्ञान नहीं रहता।
(४) ग्लानि उत्पन्न करने वाला।

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥ ५१ ॥

आलस्यका लक्षण—सुखकर स्पर्शों का अनुभव करना, दुःखकर वस्तुओं को दूर करने में इच्छुक, शक्ति होने पर भी काम करने में उत्साह न रहना। उसे आलस्य कहते हैं ॥५१॥

विमर्श—क्लम और आलस्य में अन्तर

क्लम—

(१) काम करने में शक्ति नहीं लगती है।
(२) सुख के लिये लोलुप न होना।
(३) दुःख में भी द्वेष न होना।
(४) इन्द्रियार्थों का ज्ञान न होना।

आलस्य—

(१) शक्ति रहते हुये भी काम नहीं करना।

(२) सुख की इच्छा।

(३) दुःख में द्वेष।

(४) इन्द्रियार्थों का ज्ञान रहना।

उत्क्लिश्यान्न न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेश विनिर्दिशेत् ॥५२॥

उत्क्लेश का लक्षण—मुख में पानी आने से (लालास्राव से) और थूक से प्रेरित हुआ अन्न उत्क्लिश्य (वमन के समान पीडा देकर) हृदय को दुःख देता है और स्वयं बाहर नहीं निकलता उसे उत्क्लेश कहते हैं ॥ ५२ ॥

विमर्शः—यह जी मचलना (Vomiting sensation) कहलाता है।

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टन भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५३॥

ग्लानि का लक्षण—इसमें तन्द्रा के अतिरिक्त मुख मीठा २ मालूम होता है। हृदय में सिकुडन, भ्रम (चक्कर), अन्न की इच्छा न होना इत्यादि लक्षणों से 'ग्लानि' समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

विमर्श.—इसमें तन्द्रा के साथ और भी मस्तिष्कजन्य लक्षण, हृदय को दुःखदायक और आमाशय की विकृति के लक्षण होते हैं।

आर्द्रचर्मावनद्ध वा यो गात्रमभिमन्यते।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ५४ ॥

गौरव का लक्षण—जो व्यक्ति गीले चर्म के लपेटने के समान अपने अवयवों को समझता हो तथा जिसका माथा अत्यन्त भारी हुआ हो उसे 'गौरव' कहते हैं ॥ ५४ ॥

विमर्श.—ऊपर के पक्तियों में 'वा' का अर्थ विकल्प न समझकर 'इव' (तुल्य) समझना चाहिये। उसी प्रकार यहां गात्रगौरव और शिरोगौरव के लक्षण बताये हैं।

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ ५५ ॥

मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा और निद्रा के लक्षणः—मूर्च्छा-पित्तदोष और तमोगुण से होती है। भ्रम-रजोगुण, पित्त और वायु दोष से होता है। तन्द्रा-वात, कफ और तमोगुण से होती है। निद्रा-कफ और तमोगुण से उत्पन्न होती है ॥ ५५ ॥

विमर्श.—मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा और निद्रा में मनोदोष-तम और रज दोनों और शारीरिक तीनों दोषों में से यथासम्भव दो या तीन मिलकर मूर्च्छा, भ्रम इत्यादि उत्पन्न करते हैं।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥ ५६ ॥

गर्भ की वृद्धि—गर्भ की वृद्धि अन्नरस से और वायु के आध्मान (पूरण) से होती है ॥ ५६ ॥

विमर्श.—पीछे भी 'मातुस्तु खलु रसवहायां नाडयां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा' ऐसा वर्णन है। यहां रस अर्थात् माता का अन्नरस ग्रहण करना चाहिये। उसी प्रकार आध्मान शब्द का अर्थ स्रोतों का परिपूरण होता है। इसी प्रकार रस और मारुताध्मान के कारण गर्भ की वृद्धि होती है।

भवतश्चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिः स्थान ध्रुवं स्मृतम्।
तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ ५७ ॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥ ५८ ॥

श्लोकबद्ध गर्भवृद्धि—गर्भ के नाभि के अन्तरेण (मध्य भाग में) निश्चय से ज्योतिःस्थान (अग्निस्थान) है। वायु उसी स्थान को फूकता है, जिससे गर्भ का देह बढता है। वायु उष्णता के साथ मिलकर ऊपर, नीचे और तिरछा जाता हुआ किसी प्रकार गर्भ के स्रोतों को फैलाता है ॥ ५७-५८ ॥

विमर्श.—तृतीय अध्याय ३४ वें गद्य में गर्भ के पोषण का विचार किया है। यहां स्रोतों की वृद्धि किस प्रकार होती है, बताई गई है।

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन (कथंचन पा०)।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥ ५९ ॥

न बढने वाले अङ्ग—भगवान् धन्वन्तरि का मत है कि मनुष्यों की दृष्टि और लोमकूप (बाल निकलने के छिद्र) कभी भी (पाठभेद के अनुसार किसी भी प्रकार से) निश्चय से नहीं बढते हैं ॥ ५९ ॥

विमर्शः—सब शरीर की वृद्धि होती है तो भी दृष्टि और रोमकूप भी क्यों नहीं बढते? इसमें कारण-वे ध्रुव हैं, निश्चित हैं, वे घट बढ नहीं सकते।

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥ ६० ॥

नित्य बढने वाले अङ्ग—शरीर क्षीण होने पर भी नख और केश ये दोनों अपनी प्रकृति के कारण निरन्तर बढते हैं, ऐसी स्थिति है ॥ ६० ॥

विमर्श.—नख और केश बारम्बार काटने पर भी बढते हैं। इसमें उन वस्तुओं का स्वभाव ही कारण है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर स्वभाव है।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथग् द्विशैः समस्तैश्च ॥ ६१ ॥

प्रकृति के भेद—तीन दोषों से तीन प्रकृति और दो २ दोषों से तीन और एक सान्निपातिक कुल मिलाकर सात प्रकृतिया है ॥ ६१ ॥

विमर्श.—सदोष होने पर भी इसे प्रकृति ही कहते हैं, विकृति नहीं। क्योंकि विकृति दुःख देने वाली होती है और प्रकृति विशेष दुःख नहीं देती है। इसलिये सदोष होते भी इनको प्रकृति ही कहते हैं।

शुक्रशोणितसयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥ ६२ ॥

प्रकृति बननेमें कारण—शुक्र और आर्त्तव का संयोग होते समय जो दोष (वात, पित्त, कफ) प्रबल होता है। उससे प्रकृति बनती है। उस प्रकृति का लक्षण मुझसे सुनो ॥ ६२ ॥

विमर्शः—धन्वन्तरि महाराज सुश्रुत को प्रकृति के लक्षण बताते हैं।

तत्र वातप्रकृतिः—प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽतिरूक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी (क्राथीति पाठान्तरे 'हिंसाशीलः') दन्तनखखादी च भवति ॥ ६३ ॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः
कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा
वियति च गच्छति सभ्रमेण सुप्तः ॥६४॥
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धमारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः॥६५॥

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखुभ्रुशुना तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्त्तिता नराः ॥ ६६ ॥

वातप्रकृति के लक्षण—वातप्रकृति के लक्षणः—प्रजागरूक (अत्यन्त जागने वाला), शीतद्वेषी-ठण्डे पदार्थों से अनिच्छा रखने वाला), दुर्भग (कुरूप), स्तेन (चोरी करने वाला), मत्सरी (दूसरों का द्वेष करने वाला), अनार्य (दुष्ट प्रकृति वाला), गान्धर्वचित्त (गान-वाद्य में ध्यान देने वाला), फटे हाथ-पैर वाला, अतिरूक्ष श्मश्रु (कडी दाढी, मूछ), नख और बाल वाला, क्रोधी (गुस्सा करने वाला), दन्त और नखों को खाने वाला, ऐसा पुरुष वातप्रकृति वाला है।

धैर्यरहित, दृढ मैत्री न रखने वाला, कृतघ्न, कृश होने से रूक्ष शरीर वाला, शरीर पर रक्तवाहिनी नाडी दृग्गोचर होने वाला, बकवादी, शीघ्रगामी, घूमने वाला, चञ्चल चित्त वाला, निद्रा में आकाश में गमन करने वाला होता है।

जिसकी मति अस्थिर है, चञ्चल दृष्टि वाला, जिसके पास रत्न, पैसा और मित्र कम होते हैं। असम्बद्ध वार्त्तालाप करने वाला, पुरुष वात प्रकृति वाला होता है।

बकरी, गोमायु (शृगाल), खरगोश, मूसा, ऊट, कुत्ता, स्यार, कौआ, गदहा इनके शील वाला अर्थात् इनके समान गुणवाला होता है ॥ ६३-६६ ॥

विमर्श—वातिक पुरुष के लक्षण नव विभागों में विभक्त किये है। नींद का विचार, स्वप्न, शरीर का दृश्य, न दीखने वाले गुण (Symptoms), शील (स्वभाव), नखों का विचार, धन, बोलना (बकवाद करना) और आत्मशक्ति, ये नौ विभाग हैं।

पित्तप्रकृतिः-स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनख-नयन-तालु-जिह्वौष्ठ-पाणि-पादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुग् उष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति ॥ ६७ ॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनक-पलाश-कर्णिकारान्
सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥ ६८ ॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥ ६९ ॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥ ७० ॥

पित्तप्रकृति के लक्षण—पित्तप्रकृति के व्यक्ति को पसीना आता है, बदन में दुर्गन्धि आती है। अङ्ग पीला और शिथिल होता है। नाखून, आंख, तालु, जिह्वा, ओष्ठ (होंठ), पाणितल (हाथ), पादतल (पैर) ताम्रवर्ण के होते हैं। शरीर विकृत होता है। वली, पलित (केश सफेद होना), खालित्य (खल्वाट) इनसे युक्त होता है। बहुत खानेवाला, उष्ण चीजों से द्वेष रखने वाला और शीघ्र कुपित होने वाला और शीघ्र शान्त होने वाला, मध्यम शक्तिवाला और मध्यम आयुष्य वाला होता है। मेधावी (बुद्धिमान्), निपुणमति (तेज बुद्धि वाला), विगृह्य वक्ता (दूसरों का खण्डन करके मण्डन करने वाला), तेजस्वी, समिति (युद्ध) में जिसका पराक्रम सहन नहीं किया जाता ऐसा होता है। नींद में कनक (सुवर्ण), पलाश (टाक), कर्णिकार (कनेर), हुताश (अग्नि), विद्युत् (बिजली), उल्का (ताराओं की स्थान-भ्रष्टता) इन वस्तुओं को देखता है।

डर से नम्र नहीं होता है, उद्धत लोगों के लिये कठिन (उग्र), नम्र लोगों के लिये सान्त्वना (शान्ति) करने में दक्ष, व्यथितास्यगति (बोलने में जिसे कष्ट हो), क्योंकि उसे मुखपाक हरवख्त होता रहता है, ऐसा आदमी पित्त प्रकृति वाला होता है।

सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, मार्जार (बिल्ली), वानर (बन्दर, Monkey), व्याघ्र (शेर), ऋक्ष (रीछ), नकुल (नेवला) इनके समान प्रकृति वाले पित्त प्रकृति के होते हैं ॥ ६७-७० ॥

विमर्श—पित्त प्रकृति वाले के गुणों का 'नौ' भागों में वर्गीकरण सामान्यतः किया है। (१) शरीर का रङ्ग, (२) बालों की स्थिति (३) स्वभाव (४) बुद्धि (५) पराक्रम (६) स्वप्न में देखना (७) मुखपाक इत्यादि रोग (८) जानवरों की प्रकृति से मिलना (९) मध्यम आयु इत्यादि।

श्लेष्मप्रकृतिस्तु-दूर्वेन्दीवर-निस्त्रिंशाद्यरिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृष्टवैरश्च भवति ॥ ७१ ॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७२॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।

क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलास-प्रकृतिर्मनुष्यः ॥ ७३ ॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिर-मित्र-धनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु ।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ॥ ७४ ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्य-हंस-समानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥ ७५ ॥

कफ प्रकृति के लक्षण—कफ प्रकृति वाला मनुष्य दूध, इन्दीवर (कमल), निस्त्रिंश (तरवार), आर्द्रारिष्ट (ताजे नीम के पत्ते), शरकाण्ड (शरकण्डी) इनमें से किसी एक वस्तु के वर्ण के समान वर्ण वाला होता है। सुन्दर शरीर वाला, प्रियदर्शन, मीठी वस्तुओं का खाने वाला, कृतज्ञ (उपकार को जानने वाला), धृतिमान् (धैर्यशील), सहिष्णु (सहनशील), अलोलुप (निरिच्छ), शक्तिवाला और बहुत देर में ग्रहण करने वाला तथा पूर्ण शत्रुता रखने वाला होता है।

उसकी आंखें सफेद होती हैं, केश मजबूत, टेढ़े, और भ्रमर की नाईं (समान) नील होते हैं। वह सम्पन्न और उसके शब्द मेघ, मृदङ्ग, सिंहसदृश गम्भीर होते हैं। स्वप्न में कमलों के साथ हंस, चक्रवाक और सुन्दर जलाशयों को देखता है।

नेत्रप्रदेश लाल होते हैं। शरीर गठीला होता है। कान्ति स्निग्ध होती है। सत्त्व गुण से युक्त होता है। कष्ट को सहन करने वाला, बड़े लोगों को मनानेवाला मनुष्य कफ प्रकृतिवाला होता है।

शास्त्र में उसकी मति दृढ होती है (निःसन्देह शास्त्र का ज्ञान होता है), उसके मित्र और धन स्थिर रहते हैं। बहुत देर तक सोचने के बाद बहुत देता है। अच्छी तरह सोचकर पदों को, वाक्यों को कहने वाला और हर समय गुरु लोगों का मान करने वाला होता है।

ब्रह्मा, रुद्र (शंकर), वरुण देवताओंके, सिंह, अश्व (घोड़ा) गज (हाथी), वृष (बैल) जानवरों के; और गरुड, राजहंस पक्षियों के समान शक्ति वाला होता है ॥ ७१-७५ ॥

विमर्शः—कफप्रकृति के लक्षणों का भी वर्गीकरण 'नौ' भागों में होता है। वे चक्षु बाल, ध्वनि, स्वप्न, शारीरिक शान्ति, शास्त्र-प्रवेश, शील, भाव-भक्ति तथा छवि के अनुसार लक्षण होते हैं।

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः ।
ज्ञात्वा संसर्गजो वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥ ७६ ॥

द्विदोषज और त्रिदोषज प्रकृति—वैद्य को दो या तीन प्रकृतियों के लक्षण के अनुसार संसर्गज प्रकृति का समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

विमर्श.—द्विदोषज और सान्निपातिक भी प्रकृति होती है।

प्रकोपो वाऽन्यथा भावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥ ७७ ॥

प्रकृति स्थिर रहती है—स्वभाव से ही प्रकृति का कोप या अन्यथाभाव (प्रकृति के दोष के कारण रोगोत्पत्ति) या प्रकृति का ह्रास नहीं होता है। ये सब तब होते हैं जब आयुष्य की अन्तिम अवस्था होती है ॥ ७७ ॥

विमर्शः—अरिष्टसूचक लक्षण जब होने लगते हैं तब प्रकृति में विकृति दीखने लगती है। नहीं तो प्रकृति के दोषों से कोई विशेष दुःख नहीं होता है।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते ।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥ ७८ ॥

प्रकृति बाधक न होने में दृष्टान्त—जिस प्रकार विष में पैदा हुआ कीड़ा विष से नहीं मरता है। उसी प्रकार प्रकृति भी मनुष्य को विशेष बाधा देने में समर्थ नहीं होती है ॥७८॥

इस पद्य में 'नञ्' यह 'ईषदर्थ' में आता है। यद्यपि प्रकृतिस्थ दोष अधिक दुःख नहीं देते तो भी 'वातलाद्याः सदाऽऽतुराः' च० सू० अ० ७ और 'समधातुः प्रशस्यते' ऐसा वर्णन है। इससे यह मालूम होता है कि प्रकृतिस्थ दोष थोड़ा दुःख अवश्य देते हैं। इसलिये समधातु वाला पुरुष अधिक अच्छा होता है।

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्त्तितास्तास्तु तिस्रः ।
स्थिर-विपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥ ७९ ॥

अन्य आचार्य का मत —किसी आचार्य के मत में पुरुषों की प्रकृति पंचमहाभूतों से पांच प्रकार की होती है। उनमें से पवन (वायु), दहन (अग्नितत्त्व) और तोय (जल-कफ) इनकी तीन प्रकृति बतायी है, पृथ्वी सम्बन्धी शरीर स्थिर (मजबूत) और विपुल (बडा) एवं क्षमाशील होता है। नाभस (आकाशीय) शरीर पवित्र, दीर्घायु और बडे बडे छिद्रों से युक्त होता है ॥ ७९ ॥

विमर्शः—किसी के मत से वातिक, पैत्तिक और कफज यह तीन प्रकार की प्रकृति है। दूसरों के मत से पांच भूतों से-पांच प्रकार की। तीसरे के मत से इकतीस प्रकार की प्रकृति होती है। वह ३१ प्रकार निम्न प्रकार की है—

पांच भूतों से पांच प्रकार की प्रकृति—दो-दो भूतों से १० प्रकृति, तीन-तीन भूतों से १० प्रकृति, चार-चार भूतों से ५ प्रकृति, पांच भूतों से १ प्रकृति।

वैशेषिक सूत्र के—मतसे तीन दोषों से 'सात' प्रकारकी और तीन सत्त्वादि गुणोंसे 'सात' महाप्रकृतियां बनती हैं।

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम् ।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥ ८० ॥
माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्र कायलक्षणम् ॥ ८१ ॥
शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता ।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥ ८२ ॥
मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसञ्चयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौवेरं कायलक्षणम् ॥ ८३ ॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्य-वादित्र-कामिता ।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥ ८४ ॥
प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्शुचिः ।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥ ८५ ॥
जपव्रतब्रह्मचर्य-होमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः
सप्तैते सात्त्विकाः काया—····· ॥ ८६ ॥

सत्त्वकाय के लक्षण—ब्राह्मकाय के लक्षण.—पवित्रता, आस्तिकता (वेद में विश्वास रखना), वेदों का अभ्यास करना, गुरुपूजन, अतिथिसत्कार (मेहमानदारी) और इज्या (यज्ञ करना) ये ब्रह्मकाय के लक्षण हैं।

माहेन्द्र काय के लक्षणः—बडप्पन, शूरता, शासन, शास्त्रों की निरन्तर आलोचना, भृत्यों (नोकर-चाकरों) का पोषण ये माहेन्द्र काय के लक्षण हैं।

वारुण काय के लक्षण.—शीत सेवन करना, सहनशीलता, पैङ्गल्य (आंखों का पीत वर्ण होना), हरिकेशता (बालों की कपिलता), मीठा बोलना ये वरुण-सम्बन्धी काय के लक्षण हैं।

कौबेर काय के लक्षण.—मध्यस्थता, सहिष्णुत्व (सहनशीलता), अर्थस्यागमसञ्चयौ (पैसा लाना और रखना), महाप्रसवशक्तित्वं (प्रजोत्पादन करना) कौबेर काय के लक्षण हैं।

गान्धर्व काय के लक्षण—चदन और माला में प्रीति, नाच और वाद्यों में इच्छा, घूमने की इच्छा, गान्धर्व शरीर के लक्षण हैं।

याम्य काय के लक्षण—प्राप्तकारी (प्रसङ्गपर जो काम पडे सो करने वाला), दृढ काम करने वाला, निर्भय, स्मरण शक्ति वाला, पवित्र, राग, मोह, मद, मत्सर इससे रहित याम्य (यमसम्बन्धी) शरीर के लक्षण जानना चाहिये।

ऋषि काय के लक्षण—जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम, अध्ययन ये सब करने वाला, ज्ञान-विज्ञान से युक्त पुरुष को ऋषिसत्त्व समझना चाहिये ॥ ८०-८६ ॥

विमर्शः—ये सात सात्त्विक काय के लक्षण हैं। सात्त्विक काय (शरीर) या चित्त के लक्षण बताए हैं। इनमें सौम्य प्रकृति, देव, धर्म पर निष्ठा या भक्ति रहती है।

··· ··· ··· ···राजसांस्तु निबोध मे ।
ऐश्वर्यवन्त रौद्रं च शूर चण्डमसूयकम् ।
एकाशिनं चौदरिक (औपधिक 'पा०')
मासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥ ८७ ॥
तीक्ष्णमायासिन भीरु चण्ड मायाऽन्वितं तथा ।
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥ ८८ ॥
प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुन कायलक्षणम् ॥ ८९ ॥
एकान्तग्राहिता रौद्र (रौद्र्य 'पा०') मसूया धर्मबाह्यता ।
भृशमात्मस्तवश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥ ९० ॥
उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्य पैशाचं कायलक्षणम् ॥ ९१ ॥
असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ।
लोलुपं चाप्यदातार प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ।
पडेते राजसाः काया— ····· ॥ ९२ ॥

राजस 'काय' के लक्षण—राजस काय छः होते हैं। उनके लक्षणः—

आसुर काय के लक्षणः—ऐश्वर्यवान् (धन, धान्यसंपन्न), रौद्र (भयंकर भीतिप्रद), शूर, चण्ड (अतिक्रोधी), असूयक (दूसरों के गुणों में दोषारोप करने वाला), अकेला खाने वाला, औदरिक (पेटू) पाटभेद का अर्थ-औपधिक (कपटी) मनुष्य आसुर कायवाला होता है।

सर्पसत्त्व के लक्षण—तीक्ष्ण, आयासी (दुःख देने वाला), भीरु (डरपोक), चण्ड (क्रोधी), मायान्वित (छलयुक्त), विहार में चाचल्य और आहार में भी शीघ्रता करने वाला मनुष्य सर्पसत्त्व वाला होता है।

शाकुन काय के लक्षण—अत्यन्त कामासक्त, निरन्तर खाने वाला, अमर्षण (सहन न करने वाला), अनवस्थायी (चञ्चल चित्त वाला) पक्षिसम्बन्धी शरीर के लक्षण हैं।

राक्षस काय के लक्षण—एक ओर (चुप्पे से) खाने वाला, भीषण, असूया (गुणों में दोषारोप), धर्मबाह्यता (अधर्माचरण), खूब अपनी स्तुति करना राक्षस काय के लक्षण हैं।

पैशाच काय के लक्षण—असविभाग (दूसरों को न देखकर खाना), आलसी, दुःखी, असूयक (दूसरों की निन्दा करने वाला), लोलुप (लोभी), अदाता (दान न करने वाला), इन लक्षणों से युक्त पुरुष प्रेतसत्त्व होता है ॥ ८७-९२ ॥

विमर्शः—इस प्रकार छ राजस काय (शरीर) के लक्षण बताये हैं।

····· तामसांस्तु निबोध मे ।
दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥ ९३ ॥
अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥ ९४ ॥
एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥ ९५ ॥
इत्येते त्रिविधाः काया प्रोक्ता वै तामसास्तथा ॥
कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥ ९६ ॥

तामस काय के लक्षण—(धन्वन्तरि) तामस काय के लक्षण सुनाते हैं।

पशुकाय के लक्षण—अज्ञान का दूषित होना, मन्दता (कार्य में शैथिल्य), स्वप्न में नित्य मैथुन देखना, निराकरण करने की इच्छा ये पाशव (पशुसम्बन्धी) गुण है।

मत्स्यसत्त्व के लक्षण—चित्त स्थिर न रहना, मूर्खता, डरपोक रहना, जल की इच्छा करना, एक दूसरे के साथ झगडना ये मत्स्यसत्त्व के लक्षण हैं।

वानस्पत्य सत्त्व के लक्षण—एक ही जगह पर रहने की इच्छा करना, केवल आहार में प्रेम रखना, सात्त्विकगुण धर्म, काम और अर्थ इनसे रहित होना ये वानस्पत्य सत्त्व के लक्षण हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के तामस गुण वाले काय बनाते हैं॥ ९३-९६॥

विमर्श—तामस गुण वाले तीन काय बनाये हैं। सब मिलकर (सात्त्विक ७, राजस ६ और तामस ३) १६ काय के प्रकार हैं।

महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृताः।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत्॥९७॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरण-
शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

—⊙—

सारांश—सत्त्व, रज और तम से की हुई ये महा-प्रकृतियां लक्षणों से बताई गई हैं। वैद्यों को इनको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये॥ ९७॥

विमर्श—चिकित्सा के लिये इन कायों की आवश्यकता होती है। इसलिये इनके ऊपर ध्यान देना चाहिये।

इति शारीरस्थाने गर्भव्याकरणशारीरं नाम चतुर्थोऽध्याय।

—⊙—

शारीरं प्रश्ना—

(१) सौश्रुतवर्गीयमन्नं पुरस्कृत्य त्वग्वर्णनं कार्यम्।
(२) कतिविधाः कलास्त्वाद्या नामानि स्थानानि च वर्णयन्तु।
(३) गर्भस्रावयवाः कुत्र कथ्यन्ते।
(४) रक्तक्रमक्रियां तन्त्रतः प्राक् पश्चाच्च वर्णयन्तु।

शारीरक्रियाविज्ञाने प्रश्नाः—

(१) कति प्राणाः के च ते?
(२) कतिविधा निद्राः? तमसश्च हेतवः के? तत्प्रतीकारोपायाश्च के?
(३) स्नायवः स्नायोश्च भेदक-रूपाणि कानि?
(४) कतिविधाः प्रकृतयः कायस्य रूपाणि च कानि?

—⊙—

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः शारीरसंख्याव्याकरणंशारीरं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

गर्भव्याकरण शारीर कहने के अनन्तर शारीरसंख्याव्याकरण नामक शारीर कहेंगे।

ऐसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्श—गर्भ-व्याकरण में गर्भ की वृद्धि (Development of the foetus) अथवा गर्भ-विज्ञान (Embryology) कह चुके। गर्भ के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति होने के पश्चात उसे शरीर संज्ञा प्राप्त होती है। अब शरीर के अवयवों की संख्या करना आवश्यक है। इस लिये ऐसा शारीर कहेंगे जिसमें शरीर के अवयवों की संख्या का विवरण है।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्त-पाद-जिह्वा-घ्राण-कर्ण-नितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीर' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति॥ ३॥

शरीर-संज्ञा—गर्भाशय में रहने वाले शुक्र-कीटाणु और शोणित-डिम्ब जब आत्मा, प्रधानादि अष्ट प्रकृति और सोलह विकारों से मिलते हैं तो 'गर्भ' कहा जाता है। चेतनायुक्त उस गर्भ को वायु विभक्त करता है, तेज उसको पकाता है, जल उसको गीला करता है, पृथ्वी उसको संगठित करती है, आकाश उसको बढ़ाता है। इसी प्रकार बढ़ा हुआ गर्भ जब हाथ, पैर, जिह्वा, नासिका, कर्ण (कान), नितम्ब (चूतड़) इत्यादि अङ्गों से युक्त होता है तो 'शरीर' संज्ञा को प्राप्त होता है। वह 'षडङ्ग' अङ्गों वाला जैसे-शाखायें चार (दो हाथ, दो पांव), मध्य (धड़) पांचवां और छठां सिर 'शरीर' कहलाता है॥ ३॥

विमर्श—इस गद्य में योगियों की दृष्टि से पचीस तत्त्वात्मक राशि पुरुष बनाया गया है। वैद्यों की दृष्टि से उसके छः अङ्ग हैं। आत्मा शरीर में चेतनता उत्पन्न करके उसे सड़ने से बचाती है। वायु उसको दोष, धातु, मल, अङ्ग, प्रत्यङ्गों में विभक्त करती है। तेज उस गर्भ का पाचन करता हुआ रूपान्तर करता है। जल उसको गीला करता है। पृथिवी उसको पुनः गाढा करती है। वायु और अग्नि से बनाए हुये स्रोतसों को आकाश फुलाता है जिससे नीचे, ऊपर, तिरछा यथासम्भव बढता हुआ शरीर बन जाता है॥३॥

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते। मस्तको-दर-पृष्ठ-नाभि-ललाट-नासा-चिबुक-बस्ति ग्रीवा इत्येता एकैकाः, कर्ण-नेत्र-भ्रू-शङ्खा-स-गण्ड-कक्ष-स्तन-वङ्क्षण-वृषण-पार्श्व-स्फिग्-जानु-कूर्पर-बाहू-रु-प्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि। एष—प्रत्यङ्गविभाग उक्तः॥ ४॥

प्रत्यङ्ग-विभाग—इसके पश्चात् प्रत्यङ्ग कहे जाते हैं—मस्तक (माथा), उदर (पेट), पृष्ठ (पीठ), नाभि (ढोढी) ललाट (भाल प्रदेश), नासा (नाक), चिबुक (ठुड्डी), बस्ति (मूत्राशय), ग्रीवा (गर्दन) ये प्रत्येकशः एक २ हैं। कान, आंख, भौंह, शंख, अंस (कन्धे), गण्ड (कनपटी), कक्ष (कांख), स्तन, वृषण (अण्ड), पार्श्व (बगल), स्फिग् (चूतड़), जानु (घुटने), कूर्पर (कहुनी), बाहु (हस्त), उरु (जांघ) आदि दो २, बीस अङ्गुलियां और स्रोतस् इनका वर्णन आगे होगा। यह प्रत्यङ्गों का वर्गीकरण किया गया है॥ ४॥

विमर्श—'बाहूरुप्रभृतय' इसमें प्रभृति शब्द से ओष्ठ, मुष्कणी और कुकुन्दरों का ग्रहण होता है।

तस्य पुनः मुख्यानि-त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा-जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः

स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि (योगवाहीनि 'पा०') स्रोतांसि च ॥ ५ ॥

भीतरी अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन.—उन अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पुनः गिनती करते हैं। यथाः-त्वचायें, कलायें, धातु, मल, दोष, यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आशय, अँतडियां, दो वृक्क, स्रोतस्, कण्डरा, जाल, कूर्च, रज्जु, सीवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियां, सन्धियां, स्नायुयें, मासपेशियां, मर्म, शिरायें, धमनियाँ और योगवह स्रोत ॥ ५ ॥

विमर्शः—प्राण, उदक, अन्न आदि वहन करने वाले योगवह स्रोत है।

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे संधिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सघाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यत्राणि चेति समासः ॥ ६ ॥

अन्तस्थ अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सख्या'—सात त्वचायें, सात कलायें, सात आशय, सात धातुयें, सात सौ शिरायें, पांच सौ पेशियां, नौ सौ स्नायुयें, तीन सौ हड्डियां, दो सौ दस सन्धियाँ, एक सौ सात मर्म, चौबीस धमनियां, तीन दोष, तीन मल, नौ स्रोत, सोलह कण्डरायें, सोलह जालक, छः कूर्च, चार रज्जुयें, सात सेवनियां, चौदह संघात, चौदह सीमन्त, बाईस योगवह स्रोत और दो आंतें। इस प्रकार संक्षेप में परिगणन है ॥ ६ ॥

विमर्श.—त्वचा (skins), कला (membranes), आशय, धातु (Tissues), स्नायु, मांसपेशी (ligaments or muscles), अस्थि (bones), सन्धि (joints), मर्म (Vital Weak Spots), धमनी (Arteries), दोष, मल (excretions) और स्रोत (tracts) etc।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वम्—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यत्कृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ ७ ॥

और भी परिगणन—अब इनका विस्तार से वर्णन किया जाता है—त्वचाओं का वर्णन हो चुका है। कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फेफडा, उण्डुक, हृदय और गुर्दों का भी वर्णन हो चुका है ॥ ७ ॥

विमर्शः—सुश्रुत शारीरस्थान—चतुर्थ अध्याय (गर्भव्याकरण में) इनका वर्णन हो चुका है।

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥ ८ ॥

आशयों का वर्णन—वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय ये सात आशय पुरुषों और स्त्रियों में समान होते हैं किन्तु स्त्रियों में एक आशय अधिक होता है जिसका नाम गर्भाशय है ॥ ८ ॥

विमर्शः—चतुर्थ अध्यायके १९ वें श्लोक में आशय की निरुक्ति दी गई है। आशय शब्द का अर्थ केवल अधिष्ठान मात्र है। दोष, दूष्य और मल यथासम्भव आशयों में निवास करते हैं। आशयों की स्थिति वाग्भट में निम्न प्रकार की बतायी गई है। यथा 'रक्तस्याधः क्रमात् परे। कफामपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च क्रमात्। गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरा' वा० शा० अ० ३ ॥ प्रथम रक्ताशय है, पश्चात् क्रमतः कफाशय, आमाशय (Stamach), पित्ताशय (Gall bladder), पक्वाशय (Ducdenum and Intestine) वाताशय, उण्डुक (ceacun) मूत्राशय, (Bladder) और आठवां गर्भाशय (uterus) केवल स्त्रियों में ही रहता है ॥ ८ ॥

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥ ९ ॥

अन्त्रों की दीर्घता—पुरुषों की अँतडी साढ़े तीन व्याम लम्बी होती है। स्त्रियों की पुरुषों की अपेक्षा आधा व्याम कम अर्थात् तीन व्याम होती है ॥ ९ ॥

विमर्श.—व्याम का प्रमाण दोनों हाथ फैलाकर लिया जाता है। एक हाथ के बीच की अङ्गुली के अन्त से आरम्भ करते हुए दूसरे हाथ की अङ्गुली के अन्त तक की लम्बाई 'व्याम' होती है। आधुनिक मत से वह अन्तर पुरुषों में लघ्वन्त्र का २२ फूट छ इञ्च और स्त्रियों में २३ फूट ६ इञ्च का होता है तथा वृहदन्त्र (Large intestine) ५ फूट होता है।

श्रवण-नयन-वदन-घ्राण-गुद-मेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणां पराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च ॥१०॥

स्रोतसों का वर्णन.—दो कान, दो आंख, एक मुख, दो नासिका छिद्र, गुद और एक मेढ् (लिंग या स्त्रियों में मूत्रवह स्रोत) ये कुल 'नौ' बहिर्मुख स्रोत स्त्री और पुरुषों में होते हैं। परन्तु स्त्रियों में तीन अधिक स्रोत होते हैं, दो स्तनों में और एक रजोवह स्रोत ॥ १० ॥

विमर्शः—इस जगह बहिर्मुख स्रोत बताये हैं। अन्तर्मुख स्रोतों का वर्णन धमनीव्याकरण नामक (नवम) अध्याय में करेंगे। आर्त्तवह स्रोत यह स्मरातपत्र के नीचे रहता है। स्मरातपत्र यह भग के ऊपरी भाग में रहता है। कहा भी है—

विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्।
सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारणम्' ॥

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्त-ग्रीवा-पृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखा अग्रप्ररोहाः, ग्रीवा-हृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणि-पृष्ठ-निबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बम् (नितम्बं 'पा'), ऊरुवङ्क्षोंऽसपिण्डादिगतानां च मूर्धा ॥ ११ ॥

कण्डराओं का वर्णनः—कण्डराएं सोलह हैं। उनमें से चार दोनों पैरों में, चार हाथों में, उतनी ही गर्दन में और उसी प्रकार पीठ में भी चार रहती हैं। हाथ और पैरों में रहने वाली कण्डराओं के अग्र प्ररोह (अङ्कुर) स्वरूप 'नख' हैं। गर्दन, हृदय इनके साथ लगी हुई और नीचे जाने वाली (कण्डराओं का) अग्र प्ररोह मेढ्र (शिश्न) है। नितम्ब और पृष्ठ के साथ लगी हुई और नीचे जाने वाली कण्डराओं का अग्रप्ररोह विम्ब है। उर से आरम्भ करते हुए वक्षःस्थल, अंस-पिण्डक इत्यादियों का अग्रप्ररोह मूर्धा (शिर) है ॥११॥

विमर्शः—कण्डराएं (Tendons) कुल मिलकर सोलह हैं। वे चार भागों में विभक्त हैं। उनके अङ्कुर स्वरूप नख, मेढ्र (लिंग-Penis), विम्ब (नितम्ब Gluteal region) और मूर्धा (शिर Head) हैं।

मांस-सिरा-स्नायव-स्थि-जालानि प्रत्येकं चत्वारि, तानि मणिबन्ध-गुल्फ-संश्रितानि परस्पर-निबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् ॥ १२ ॥

जालों का वर्णन—मांस, शिरा, स्नायु और अस्थि, इनमें से प्रत्येक के चार जाल होते हैं। वे मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ में आश्रित हैं। वे एक दूसरों से बंधे हुए हैं, एक में सटे हैं, तथा परस्पर गवाक्षित (छिद्रित) हैं। इन जालों द्वारा यह शरीर गवाक्षित हुआ है ॥ १२ ॥

विमर्शः—इन जालों के (Networks) द्वारा शरीर गवाक्षित (Spongy) बनता है। जैसे जाले के सूत्र एक दूसरे से मिलते-जुलते हुए 'जाला' बनाते हैं उसी प्रकार शारीरिक मांस, शिरा, अस्थि और सन्धियों के लिये ये जाल बनाये हैं। वे जालसूत्र मणिबन्ध (Wrist) और गुल्फ पर आश्रय करते हुये स्थित हैं।

षट् कूर्चाः-ते हस्त-पाद-ग्रीवा-मेढ्रेषु; हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः ॥ १३ ॥

कूर्चों का वर्णन—कूर्च छः होते हैं। दो हाथों में, दो पैरों में, एक ग्रीवा में और एक मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) में, इस प्रकार कुल छः कूर्च होते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—कूर्च, खुरचनी के सदृश होते हैं। वे जालकों से निकलने वाले अङ्कुरों से बनते हैं।

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥ १४ ॥

मांसरज्जुओं का वर्णन—चार बड़ी-बड़ी मांसरज्जुयें हैं। वे पृष्ठवंश के दोनों ओर पेशियों के बांधने के लिये होती हैं। दो मांसरज्जुयें बाहर होती हैं और दो भीतर की ओर होती हैं ॥ १४ ॥

विमर्श—गर्ग के मत में आठ मांसरज्जुयें हैं। वे पृष्ठवंश के दोनों ओर चार चार रहती हैं।

सप्त सेवन्यः, शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका, ताः परिहर्त्तव्याः शस्त्रेण ॥ १५ ॥

सीवनियों—सीवन सात हैं। मस्तक पर पांच, जिह्वातल में एक और मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के नीचे एक। इस प्रकार सब मिलकर सात सीवन हैं। शस्त्रकर्म करने के समय उनको बचाना चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्श—सीवन (Sutures) हैं। वे मस्तक की हड्डियों पर स्पष्टतया कंघी के दांतों के परस्पर फंसाने के समान बैठाये हुए दीखते हैं। उसी प्रकार जिह्वा और मूत्रेन्द्रिय के नीचे भागों में सीवन के तुल्य सीवनियां दृष्टिगोचर होती हैं। ये शस्त्र से कटने पर शीघ्र नहीं जुड़ती ॥

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः-तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥ १६ ॥

संघात—हड्डियों के संघात (दृढ जोड़) चौदह होते हैं। उनमें से गुल्फ, जानु (घुटना) और वङ्क्षण प्रदेश में एक २ मिलकर तीन होते हैं। इसी प्रकार दूसरे पैर और दोनों हाथों में समझना चाहिये। त्रिक और सिर की हड्डियों में एक २ संघात है। इस प्रकार चौदह संघात हैं ॥

विमर्शः—संघातः—ये (Joint) हैं। उपरि निर्दिष्ट स्थानों में प्रायः वे बहुत दृढ़ अवस्थाओं में मिलते हैं। ये संघात (Joints) दो दो या तीन-तीन हड्डियों से बनते हैं। वे Ankle, knee (घुटना) और कटि प्रदेश में विशेषतः रहते हैं। और Pelvis (त्रिक) तथा शिर (Skull) में एक रहते हैं।

चतुर्दशैव सीमन्ताः, ते चास्थिसंघातवद्गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः, ये ह्युक्ताः संघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम् ॥ १७ ॥

सीमन्त—सीमन्त भी १४ ही हैं। अस्थिसंघात के समान सीमन्तों की गणना करना चाहिये, उन्हीं से अस्थिसंघात युक्त होते हैं। किसी के मत से १८ सीमन्त हैं ॥ १७ ॥

विमर्श—वृद्ध वाग्भट के मत से शिरःकपाल में पाँच सीमन्त होते हैं। इसलिए उनके मत से अठारह सीमन्त होते हैं। दूसरों के मत से एक श्रोणिकाण्ड के ऊपर, एक वक्ष के ऊपर, एक उदर और उर के सन्धान में, एक अंसकूट के ऊपर, इन सबों को मिलाकर अठारह होते हैं। भोज ने सीमन्तों की व्याख्या 'संघाता. सीवित्रा वस्तु सीमन्तांस्तान् प्रचक्ष्महे' इस प्रकार की है।

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वैद्यवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥

अस्थियों की संख्या—वैद्यवादी (अग्निवेश आदि) हड्डियों की संख्या ३६० मानते हैं। परन्तु शल्यतन्त्र में तीन सौ हड्डियां मानते हैं। उनमें से एक सौ बीस हड्डियां शाखाओं में रहती हैं। एक सौ सत्रह श्रोणि, पार्श्व-(बगल), पृष्ठ (पीठ), उर (छाती) इनके ऊपर रहती हैं। ग्रीवा (गरदन) के ऊपर त्रिषष्ट हड्डियां होती हैं। इस प्रकार १२०+११७+६३=३०० सब मिलाकर कुल तीन सौ हड्डियां होती हैं ॥ १८ ॥

विमर्श.—चरक के मतानुसार ३६० हड्डियां।
सुश्रुत ,, ,, ३०० ,,
आधुनिक मतानुसार ३०६ ,,

प्राचीनों के मत मे ज्यादा हड्डियां होने के कारणः-
(१) किसी जगह प्रतिसंस्कर्ता की भूल।
(२) तरुणास्थि और दातों की परिगणना करना।
(३) बाल्यावस्था में हड्डी न मिलने से भिन्न प्रतीत होना।
(४) स्थालक, अर्बुद और उदूखल इनको भिन्न समझना। आधुनिक मत में दांत और तरुणास्थि को छोड देते है।

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पाष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूरावितिं त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ॥ १९ ॥

शाखागत अस्थियों का परिगणन—पैर की प्रत्येक अङ्गुलि में तीन तीन हड्डियां है। इस प्रकार पन्द्रह हड्डियां होती है। तल, कूर्च, गुल्फ देश की दस अस्थिया हैं। एक पार्ष्णि देश में, दो जंघा में, एक जानु (घुटना) मे, एक ऊरु प्रदेश मे। इस प्रकार एक टाग मे तीस अस्थियां होती हैं। इसी प्रकार दूसरी टाग और बाहुओं (भुजाओं) की अस्थिया समझनी चाहिये।

विमर्शः—प्रत्यक्ष देखने से और हाराणचन्द्र के मतानुसार उपर्युक्त पाठ मे थोडा-सा फरक दीखता है।

पांव की अङ्गुलियों और अङ्गुष्ठों में मिलाकर चौदह हड्डियां होती हैं। तल, कूर्च और गुल्फ में ग्यारह हड्डिया होती है, (तल प्रदेश मे पाच, कूर्च मे ३ और गुल्फ प्रदेश मे ३)। अन्य शेष हड्डियों के बारे मे दोनों के मतों में समानता है।

जानु मे जान्वस्थि के समान बाहु में कूर्परास्थि नही होती है तो भी बाहु के कूर्च देश मे एक अस्थि अधिक होती है, इस प्रकार हाथों की और पैरों की हड्डिया समान होती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषा गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेक पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येव, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे असफलके ('द्वे अक्षकसंज्ञे' इति पा०) ॥ २० ॥

श्रोणि, पार्श्व, वक्ष स्थल और स्कन्ध प्रदेश की अस्थियाँ—श्रोणि प्रदेश मे पाच हड्डियां रहती है। चार तो गुदा, भग (योनि), और दोनों नितम्बों की अस्थियों को मिलाकर होती है, पाचवी त्रिक प्रदेश मे आश्रित रहती है। पार्श्व मे छत्तीस हड्डिया एक तरफ होती हैं, दूसरे पार्श्व मे भी इसी प्रकार समझना चाहिये। तीस हड्डिया पृष्ठ में, आठ उर (छाती) में, दो असफलकास्थि होती है। (यहां अक्षकसंज्ञे-अक्षक नाम की दो हड्डियां ऐसा भी पाठ है) ॥ २० ॥

विमर्श.—हाराणचन्द्र के मत मे श्रोणि में पाच (सुश्रुत के समान), पार्श्व में ४८ इन्हें पर्शुकास्थि (Ribs) कहते है। इनमें एक तरफ १२ तरुणास्थिया (Cartilages) और उतनी ही अस्थिया होती है। इस प्रकार दोनों ओर मिलकर ४८ हड्डियां होती है।

कभी कभी १३ वीं पर्शुका (Rib) भी मिलती है।

ग्यारहवीं और बारहवीं अस्थियों का उरःफलक के साथ कोई सम्बन्ध न होने से उनकी तरुणास्थियां (Cartilages) उरःफलक से नहीं मिलती शेष पर्शुकाओं की तरुणास्थियां उरःफलक से मिलती हैं।

सुश्रुत के मत में पर्शुका (Ribs), स्थालक (Facets) और स्थालकार्बुद (Tubercule) इस प्रकार एक एक पार्श्व में १२×३=३६ हड्डियां होती है, अतः दोनों पार्श्व में ७२ हड्डियां होती है।

हाराणचन्द्र के मत से पृष्ठ में ३४ हड्डियां होती हैं। सुश्रुत के मत से ३० और आधुनिक मत से ३४ कशेरुकायें (Vertebra) होते है।

सुश्रुत के मत से उरःस्थल में ८ हड्डिया है। (उनमें से छः उरःफलक में और दो अक्षक)। हाराणचन्द्र के मत से उरःस्थल में तीन और दो अक्षकसंज्ञक तथा कण्ठनाडी Trachae में २१ हड्डियां होती हैं।

ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति २१।

गर्दन और उसके ऊपर की हड्डिया—ग्रीवा (गर्दन) में नौ, कण्ठनाडी में चार हनु, देश में दो, बत्तीस दांत, नाक में तीन, तालु मे एक, गण्ड, कर्ण और शंख इनमें एक एक, और शिर में छः होती हैं ॥ २१ ॥

विमर्शः—सब मिला कर 'तिरसठ' अस्थियां गर्दन में होती हैं।

अस्थिसंख्या कोष्ठक

ऊर्ध्वांग (शिर और ग्रीवा) की अस्थियाँ

चरक		सुश्रुत		आधुनिक	
ग्रीवाकी अस्थियां	१५	,,	९	Cervical Vertebra	7
जत्रु	१	कण्ठनाडी	४		
हन्वस्थि	१	,,	२	mandible	1
हनुमूलबन्धने	२			Forntal	1
शिर.कपाल	४	,,	६	Parietal	2
				Occipital	1
तालवस्थिया	२	,,	१	Palatines	2
शंखास्थियां	२	,,	२	Temporal	2
नासास्थि		,,	३	Nasal	2
गण्डकूट	१	,,	२	Malar	2
ललाट					
कर्णास्थियां					
दन्त	३२	,,	२	Auditory Ossicles	6
दन्तोदूखल	३२	,,	३२		
जत्रुकादि अन्तः अस्थियां				sphenoidal & Other. Bones	10
	९२		६३		36

धड़ की अस्थियाँ

चरक		सुश्रुत		आधुनिक	
श्रोणिफलक	२	श्रोणी	४	Innominate Bone	2
भगास्थि	१				
त्रिक		,,	१	Sacrum	1
अनुत्रिक				Coccyx	1
पृष्ठास्थियां	४५	,,	३०	Thorcic & Lumber Vertebra	17
पर्शुकास्थियां	२४	,,	२४		
पशुकार्बुद	२४	,,	२४	Ribs	24
पर्शुक-स्थालक	२४	,,	२४		
उर की अस्थियां	१४	,,	६	Sternum	1
अक्षकास्थियां	२	,,	२	Clavical	2
अंस	२				
असफलक	२	,,	२	Scapula	2
	१४०		११७		50

शाखा की अस्थियाँ

चरक		सुश्रुत		आधुनिक	
नख	२०				
पादाङ्गुलियां	३०	,,	३०	Phalanges	28
पादशलाकाएँ	१०	तल	१०	Meta Tarsals	10
,, अधिष्ठान	२	कूर्च	१०	Tarsus	12
,, गुल्फ	४	गुल्फ			
,, पार्ष्णि	२	,,	२	Os calcis, Qs	2
हस्त अङ्गुलियां	३०	,,	३०	Phalanges	28
,, शलाकाएँ	१०	तल	१०	Meta carpus	10
,, अधिष्ठान	२	कूर्च	१२	Carpus	16
,, मणिक	२	मणिक			
अन्तर्जङ्घास्थि	२	,,	२	Tibia	2
बहिर्जङ्घास्थि	२	,,	२	Fibula	2
जानुकपालिका	२	,,	२	Patella	2
जानु	२				
ऊरु या नलक	२	,,	२	Femur	2
अन्त:प्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Ulna	2
बहि प्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Radius	2
कूर्परास्थि		,,	२		
बाहुनलक	२	,,	२	Humurus	2
	१२८		१२०		120

कुलयोग

शिर और ग्रीवा	९२	६३	36
धड़की अस्थियां	१४०	११७	50
शाखाकी ,,	१२८	१२०	120
	३६०	३००	206

ऊपर दिये गये कोष्ठक से मत-मतान्तरों की कल्पना की जा सकती है ॥ २१ ॥

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपाल-रुचक-तरुण-वलय-नलकसञ्ज्ञानि । तेषां जानु-नितम्बां-स-गण्ड तालु-शङ्ख-शिरःसु कपालानि, दश-नास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोपेषु (घ्राण-कण्ठ-कर्णा-क्षिकूटेषु 'पा०') तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वल-यानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥ २२ ॥

अस्थियों के प्रकार— इन अस्थियों के पांच प्रकार होते हैं। यथा-कपाल, रुचक, तरुण, वलय, नलक। उनमें से कपाल-संज्ञक अस्थियां जानु (घुटना), नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु, शङ्ख और शिर इनमें होती है। रुचकसंज्ञक अस्थियों में दांतों की गणना की जाती है। घ्राण, कान, ग्रीवा और अक्षिकोपों की (पाठान्तर में नाक-कण्ठ-कान-अक्षिकूटों की) अस्थियां तरुणास्थि कही जाती है। पार्श्व, पृष्ठ और उर इनकी अस्थियां वलयसंज्ञक है। शेष अस्थियां नलकसंज्ञक होती है ॥ २२ ॥

विमर्श:—कपाल नामक अस्थियां कटोरी के समान रहती है। रुचक (Dental), तरुण (cartilage), वलय (Round bones), नलक (Long bones), आकार में यथानाम होती है।

भवति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥ २३ ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२४॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२५॥

शरीर-धारण में अस्थियों की प्रधानता— जैसे वृक्ष अन्तःस्थ सारों पर निर्भर होते हैं उसी प्रकार प्राणियों का शरीर अस्थिरूपी सारों से धारण किया जाता है। अतः त्वचा और मांस नष्ट होने पर भी देह की सारभूत अस्थियां नहीं नष्ट होती है। शिराओं तथा स्नायुओं से बंधे हुये मांसपिण्ड अस्थिओं का आश्रय करने से नहीं गिरते और ढीले भी नहीं होते ॥ २३-२५ ॥

विमर्श.—जैसे लोहों के छड पर सीमेन्ट लगाकर खम्भे बनाये जाते है । उसी प्रकार अस्थियां (Bones) छड़ स्वरूप है।

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च ।
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥ २६ ॥

सन्धियां—सन्धियां दो प्रकार की होती है—प्रथम चेष्टायुक्त और दूसरी स्थिर । शाखाओं में, हनुप्रदेश में और कमर में चेष्टायुक्त सन्धियां रहती है। शेष स्थिर सन्धिया समझनी चाहिये ॥ २६ ॥

विमर्श:—चेष्टायुक्त सन्धिया (Movable or Diarthroses) दो प्रकार की होती है। बहुचेष्टायुक्त और अल्पचेष्टा-

युक्त। शाखाओं में तथा अधोहनु में बहुचेष्टायुक्त सन्धियां होती हैं और पृष्ठवंश (vertibral colum) में अल्पचेष्टा वाली (Amphiarthroses) होती है।

षडुत्तरे द्वे शते; तेषा शाखास्वष्टषष्टि', एकोनषष्टिः कोष्ठे ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः ॥२७॥

सन्धियों की सख्या—सन्धियों की संख्या दो सौ छः है। उनमें से ६८ शाखाओं में, ५९ कोष्ठ में और ८३ ग्रीवा (गर्दन) के ऊपर होती हैं॥ २७॥

विमर्शः—अस्थियों के समान सन्धियों के भी तीन विभाग किये गये है।

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश, जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतर-सक्थिबाहू च व्याख्यातौ॥ २८॥

शाखागत सन्धियां— प्रत्येक पैर की अंगुलि में तीन-तीन सन्धियां होती है और दो अंगूठे में, इस प्रकार १४ सन्धियां हुईं। जानु (घुटना), गुल्फ और वंक्षण में एक-एक, इस प्रकार तीन सन्धिया हुईं। इस प्रकार एक-एक पैर में १७ सन्धिया होती है। इसी प्रकार दूसरे पैर और बाहु में भी इतनी ही सन्धियां होती हैं। अत. शाखाओं में १७×४=६८ सन्धियां होती है॥ २८॥

विमर्श.—सन्धियों के वर्णन मे अंगूठे में केवल दो सन्धिया बतायी है, तीन नहीं। इससे अंगूठे में दो हड्डिया देना रहा, किन्तु अस्थियों की गणना में अगूठे में तीन अस्थियां दी गई है।

त्रय कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ॥ २९॥

कोष्ठगत सन्धियाँ—कटी और कपालों मे तीन सन्धिया है। २४ सन्धियां पृष्ठवंश में हैं। पार्श्व में भी इतनी ही अर्थात् २४ तथा छाती में ८ है। सब मिलकर ५९ सन्धिया है॥

विमर्श—हाराणचन्द्र के मतानुसार कटिकपालों में ५ सन्धिया है। पृष्ठवंश और दोनों पार्श्वों में चौवीस-चौवीस, छाती में १६। फुफ्फुसों के साथ लगी हुई कण्ठनाडी (Trachea) में बीस। इस प्रकार ये सन्धियां ८९ होती है।

तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्त्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके, नासायाञ्च, (नासायां पञ्च, द्वौ द्वावेव द्वयोर्नेत्रयोर्भवतः पा०') द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि॥

ऊर्ध्वजत्रुगत सन्धियां—उतनी ही गर्दन में अर्थात् ८, कण्ठ में ३, हृदय, क्लोम-सम्बद्ध नाडियों में १८, दन्तमूलों में ३२, काकलक मे १, नासिका मे भी १, नेत्राश्रित वर्त्ममण्डल मे २, गण्ड में १-१ (मिलाकर २), कानों में १-१ (मिलाकर २), शङ्खों में १-१ (मिलाकर २), हनुसन्धियों में २, भ्रुकुटी के ऊपर २, शंखों के ऊपर २, शिरःकपालों में ५, मूर्धा में १॥

विमर्शः—ऊर्ध्वजत्रु में सब मिलाकर ८३ सन्धियां हैं। हाराणचन्द्र के मत में ग्रीवा की ८ सन्धियां, हृदय, क्लोम से सम्बद्ध नाडियों की १८, काकलक की १, भ्रुकुटों की २ सन्धियां तथा मूर्धा की १, सब मिलाकर ३० सन्धियां कम है। अर्थात् उनके मत में ५३ सन्धियां है।

सुश्रुत के मतानुसार ६८+५९+८३=२१० सन्धिया होती हैं।

त एते सन्धयोऽष्टविधा'—कोरो-लूखल-सामुद्र-प्रतर-तुन्नसेवनी-वायसतुण्ड-मण्डल-शङ्खावर्त्ताः॥

सन्धियों के प्रकार—ये सन्धियां आठ प्रकार की हैं, यथा—कोर, उलूखल, सामुद्र, प्रतर, तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल और शङ्खावर्त॥

विमर्शः—ये सन्धियां केवल हड्डियों के संयोग स्थान पर ही रहती है।

तेषामङ्गुलि-मणिबन्ध-गुल्फ-जानु-कूर्परेषु कोराः सन्धयः। कक्षावङ्क्षणदशनेपूलूखलाः, अंसपीठ-गुद-भग-(पाद 'पा०') नितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हनो (हन्वोः 'पा०') रुभयतस्तु वायसतुण्डः, कण्ठहृदय-नेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः॥

सन्धियों के स्थान इन सन्धियों में से कोर सन्धियां अङ्गुलि, मणिबन्ध (कलाई), गुल्फ (एडी), जानु (घुटने), और कूर्पर (कोहनी) मे होती हैं।

कक्षा, वंक्षण, दात इनमें उलूखल सन्धिया है। अंसपीठ, गुद, भग, नितम्बों में सामुद्ग सन्धिया होती है। ग्रीवा (गर्दन) और पृष्ठवश में प्रतर नामक सन्धिया है। शिर और कटी, कपालों में तुन्नसेवनी हैं। हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड सन्धियां है। कण्ठ, हृदय, नेत्र, क्लोमनाडी, इनमें मण्डल नाम की सन्धिया है। श्रोत्र और शृङ्गाटक इनमें शंखावर्त सन्धियां हैं। उनके नामों पर से ही आकृतियों का वर्णन होता है।

विमर्शः—(१) कोरसन्धि (Hinge joints or gingimus)

(२) उलूखल (Ball & socket joints)

(३) सामुद्ग (सम्पुट के आकार का Cavity joints)

(४) प्रतर।

(५) तुन्नसेवनी (सीवन के सदृश Sutures)

(६) वायसतुण्ड (कौवे की चोंच के समान. Crow beak joints)

(७) मण्डल (वर्तुलाकार. Annular joints)

(८) शंखावर्त (शंख के तुल्य)।

अस्थ्ना तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुशतानां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते॥

केवल हड्डियों में सन्धि—अस्थियों में केवल ये सन्धियां कही गई हैं ॥ ३३ ॥

विमर्शः—यहां (Syndesmology) सन्धिप्रकरण समाप्त होता है।

नव स्नायुशतानि। तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः ॥ ३४ ॥

स्नायु संख्या—स्नायु ९०० हैं। उनमें से शाखाओं में ६००, कोष्ठ में २३०, ग्रीवा के ऊपर ७० । इस प्रकार ९०० हैं ॥ ३४ ॥

विमर्शः—स्नायु को कोई (Nerves) कहते हैं। बहुतसे लोग (Muscles) कहते हैं। दूसरे Ligaments कहते हैं। इस जगह Ligaments को मानते हुए लिखा जाता है। स्नायुओं का वर्णन भी शाखागत, कोष्ठगत तथा ऊर्ध्व जत्रुगत इस प्रकार किया गया है।

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् षट् (पञ्चिचिताः 'पा०') तास्तिस्रः, तावत्य एव तलकूर्च-गुल्फेषु, तावत्य एव जंघायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ॥ ३५ ॥

शाखागत स्नायु—पैरों की प्रत्येक अंगुलि में छः छः स्नायु हैं। सब मिलाकर पैर में ३० स्नायु रहते हैं। उतनेही तल, कूर्च और गुल्फों में हैं, और जंघा में भी उतनेही हैं। जानु (घुटना) में १०, ऊरु में ४०, वंक्षण में १०, इस प्रकार एक पैर में १५० स्नायु होते हैं। तद्वत् दूसरे पैर और बाहुओंमें समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

विमर्श—पाठ भेद 'पञ्चिचिता' ऐसा है। उसका अर्थ छः स्नायुओं से निबद्ध इस प्रकार होता है।

षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत् ॥ ३६ ॥

कोष्ठगत स्नायु—कटि में ६०, पृष्ठ में ८०, पार्श्वों में ६०, और उर में ३० ॥ ३६ ॥

विमर्शः—कोष्ठ में २३० स्नायु होते हैं।

षट्त्रिंशद् ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत् ॥ ३७ ॥

ऊर्ध्वजत्रुगत स्नायु—ग्रीवा में ३६ और मूर्धा में ३४, इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत ७० स्नायु होते हैं ॥ ३७ ॥

विमर्श—सब मिलाकर ६००+२३०+७०=९०० स्नायु होते हैं।

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तासु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥ ३८ ॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥ ३९ ॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥ ४० ॥
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥ ४१ ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥ ४२ ॥
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणाम् ॥ ४३ ॥
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥ ४४ ॥

श्लोकबद्धस्नायुओंका वर्णन—स्नायु चार प्रकार की होती हैं। प्रतानवती, वृत्ता, पृथु और शुषिरा (पोली, छिद्रयुक्त) ॥ ३८ ॥

प्रतानवती शाखाओं में तथा सब सन्धियों में रहती है। सभी गोल स्नायुओं को कण्डरा कहते हैं, ऐसा तज्ज्ञ लोगों को समझना चाहिये। शुषिरा स्नायु आमाशय और पक्वाशय के अन्त भाग पर तथा बस्ति प्रदेश में होती है। चौड़ी स्नायु पार्श्व, छाती, पृष्ठ और शिर में होती है।

जिस प्रकार अच्छी तरह से बनाई हुई, तन्तों से तैयार की हुई, बहुत से बन्धनों से युक्त नौका पुरुषों के सहित भार वहन करने में समर्थ होती है। तद्वत् शरीर में भी जितनी सन्धियां हैं, वे बहुत से स्नायुओं से बंधी हुई हैं। अतः मनुष्य प्राणी का भार सहन करने में समर्थ हैं।

अस्थियां, मांसपेशियां, सिरायें और सन्धियां खराब होने से शरीर जितना बेकाम नहीं होता है, उतना स्नायु में विकृति पैदा होने से होता है; तात्पर्य यह कि स्नायु खराब होने से शरीर अवश्य अकर्मण्य बन जाता है।

जो अन्तःस्थ और बहिःस्थ स्नायुओं को जानता है, वह गहराई में स्थित शल्य को भी शरीर से निकालने में समर्थ होता है।

विमर्श—स्नायुओं का महत्त्व यहां भली प्रकार बताया जा चुका है।

श्लोक ४० में प्रथम चरणार्ध द्वितीय अर्ध में होता तो क्रम (यथासंख्य) ठीक बैठता और 'पृथुलाश्च शिरस्यथ' इसमें के अर्थ का अन्वय ठीक हो जाता।

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् ॥ ४५ ॥

पेशियों का वर्णन—पेशियां पांच सौ होती हैं। उनमें से शाखाओं में चार सौ, कोष्ठ में ६६ और गर्दन के ऊपर ३४।

विमर्श—पेशियां (Muscles)। 'गयी' के मत में कोष्ठ में ६० और गर्दन के ऊपर ८० पेशियां होती हैं।

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ॥

शाखागत पेशियां—प्रत्येक पादांगुली में ३-३ = पांचों अंगुलियों में १५, प्रपद में १०, पैर के ऊपर कूर्च में सटी हुई १०, गुल्फतलों में १०, गुल्फ और जानु के बीच में २०, जानु (घुटना) में ५, ऊरुदेश में २०, वंक्षण में १०। इस प्रकार प्रत्येक पैर (सक्थि) में १०० पेशियां होती हैं।

इस प्रकार दूसरे पैर में और दोनों बाहुओं में समझना चाहिये। सब मिलाकर ४०० मांसपेशियां हैं।

विमर्श.—अपद का अर्थ पादाग्र होना है।

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे वस्तिशिरसि, पञ्चोदरे (पञ्चदश 'पा०'), नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि (पार्श्वयोर्दश, द्वे वक्षसि 'पा०'), अक्षकांसौ प्रति समन्तान् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डु(न्दु)केषु॥

कोष्ठगत पेशियां—गुदद्वार में तीन, मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय, लिंग) में एक, सेवनी में १, अण्डकोषों में दो, नितम्ब अथवा चूतड़ों में पांच-पांच=१०, वस्तिशीर्ष में २, उदर में पांच (पाटभेद के अनुसार १०), नाभि में एक, पीठ के ऊर्ध्व भाग में सटी हुई दीर्घ पांच-पांच=१० पेशियां, पार्श्व में ६, वक्षःस्थल में १०, अक्षक और अंस के चारों ओर उण्डुक में ६, इस प्रकार सब मिलाकर ६६ मांसपेशियां हुईं॥

विमर्शः—वृद्धवाग्भट और गयी के मत में कोष्ठ में ६६ पेशियों की जगह ६० ही पेशियां बताई हैं॥ ४७॥

गयी के मतानुसार परिगणन.—मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) में १, सेवनी में १, वृषणों में ३, दोनों नितम्बों में १०, गुदद्वार में वलिसंज्ञक ३, वस्तिशीर्ष में २, यकृदादिकों के साथ उदर फलक में ७, नाभि में १, पृष्ठसन्धिमें ५, पार्श्वों में ५, वक्षःस्थलमें १०, अक्षक और अंसके चारो ओर ७, हृदयमें २, आमाशयमें १, कोष्ठके भीतर २। इस प्रकार ८० पेशियां होती हैं।

ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः (हनुसमाख्ये 'हाराणचन्द्रः'), एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायां (जिह्वाया द्वे 'पा०'), ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, (चतस्रो नेत्रयोः 'पा०') गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति (षट् शिरसि इति 'पा०')। एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि॥ ४८॥

ऊर्ध्वजत्रुगतपेशियां—ग्रीवामें ४, हनुओंमें १, काकलिकामें १, गलेमें १, तालुमें २, जिह्वामें १, ओष्ठमें २, नासिकामें २, आंखोंमें २, गण्डमें ४, कानोंमें २, ललाटमें ४, शिर (मस्तक) में १, इस प्रकार ३४ पेशियां होती हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण पेशियां ४००+६६+३४=५०० होती हैं॥ ४८॥

विमर्श—गयीके मतमें ऊर्ध्वजत्रुगत ४० पेशियां हैं॥४८॥

भवति चात्र—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः॥ ४९॥

पेशियों के दृढ होने के कारण—सिरा, स्नायु, अस्थियां, पर्व तथा सन्धि पेशियोंसे आच्छादित हैं इस कारण वे दृढ होती हैं॥ ४९॥

विमर्श—पेशियों (Muscles) के नीचे अस्थियां (Blones), (Ligaments), और सन्धियां होती हैं। किन्तु कोई २ शिराएं (Blood vessels) उनमेंसे निकलती हैं और दूसरी उसके नीचे रहती हैं।

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च पञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः॥ ५०॥

अपत्यपथे चतस्रः—तासां प्रसूतेऽभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव। पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति॥ ५१॥

स्त्रियों की पेशियां—स्त्रियों में बीस पेशियां अधिक होती हैं। इनमें से प्रत्येक स्तनमें पांच २ पेशियां होती हैं अर्थात दोनों स्तनोंमें दस पेशियां। उनकी यौवनावस्था में वृद्धि होती है।

अपत्यमार्ग में चार मांसपेशियां होती हैं। उनमें दो (फैली हुई) भीतर की ओर, और दो (गोलाकार तथा मुख में आश्रित) बाहर की ओर होती हैं, इस प्रकार अपत्यमार्ग की चार मांसपेशियां हुईं।

गर्भछिद्र के आश्रित तीन पेशियां होती हैं। शुक्र और आर्तवोंको प्रवेश कराने वाली तीन पेशियां होती हैं।

गर्भशय्या, पित्ताशय तथा पक्वाशय इनके मध्य में रहती है। इसमें गर्भ रहता है॥ ५०-५१॥

विमर्श—स्तन (Breast), गर्भाशय (Uterus) और योनि (Vegina) इनको आश्रय करके स्त्रियोंमें अधिक पेशियां रहती हैं।

तासां बहल-पेलव-स्थूलाणु-पृथु-वृत्त-ह्रस्व-दीर्घ-स्थिर-मृदु-श्लक्ष्ण-कर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायु-प्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति॥

पेशियों के स्वरूपः—बीच बीच में सन्धियां, अस्थियां, शिराएँ, स्नायु, इनको ढकने के कारण पेशियों में बहलता (चौडापन), पेलवत्व (अल्पता), स्थूलत्व (मोटापन), अणुत्व (छोटापन), पृथुत्व (विस्तीर्णता), वृत्तत्व (गोलाई), ह्रस्वत्व (छोटा होना), दीर्घत्व (बडा होना), स्थिरत्व, मृदुत्व, श्लक्ष्णत्व (चिकनापन) और कर्कशत्व (खुरदरापन), ये भाव स्वभाव से ही होते हैं॥ ५२॥

विमर्शः—पेशियों के गुणधर्म बदलने के कारण उनकी यथास्थान स्थिति है।

भवति चात्र—

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः॥ ५३॥

लिंग भेद रहने पर भी सामान्य पेशीसंस्थानमें समानता—पुरुषों के लक्षण (लिङ्ग) और (अण्डकोष) रहने वाली जो पेशियां कही गई हैं, वही पेशियां स्त्रियों में अन्तर्गत फल (डिम्ब) ग्रन्थि को ढके हुए रहती हैं॥ ५३॥

विमर्शः—यह तन्त्रान्तरीय श्लोक गयी को संमत नहीं है। उसके मतमें स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तीन पेशियां कम होती हैं। भोज का भी मत गयी के मत को पुष्टि देने वाला है।

'पञ्च पेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप।
अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः'॥

उपर्युक्त श्लोक में अन्तर्गत फलका बीज-ग्रन्थि (Ovary) से तात्पर्य है।

मर्मसिरा-धमनी-स्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥ ५४ ॥

मर्मादिकों के प्रकार—मर्म, शिरा, धमनी और स्रोतसोंका विभाग दूसरी जगह बताया जायेगा ॥ ५४ ॥

विमर्शः—मर्मों (Vital weak spots) का वर्णन षष्ठ अध्याय में, शिराओं (Blood vessels) का सप्तम अध्याय में, और धमनियों (Arteries) तथा स्रोतसों का वर्णन नवम अध्याय में दिया गया है।

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥ ५५ ॥

गर्भशय्या—योनि, शंखनाभि के आकारकी, तीन आवर्तों से युक्त होती है। उसके तीसरे आवर्तमें गर्भशय्या रहती है।

विमर्शः—योनि (Vegina) के आखीर भाग में गर्भाशय (Uterus) रहता है।

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भाशय्यां विदुर्बुधाः ॥५६॥

जैसी रोहित मत्स्य के मुख की आकृति होती है, उसी प्रकार गर्भशय्या होती है, ऐसा तज्ज्ञ लोग कहते हैं ॥५६॥

विमर्शः—गर्भशय्या का मुख छोटा होता है, किन्तु पीछे का भाग बडा होता है। गर्भशय्या (Uterus) प्रथम तो बहुत छोटी होती है, यहां तक कि भगसन्धि (Symphysis pubis) तक गर्भ के तीन महीने के होने पर आती है, किन्तु बढ़ते-बढ़ते वह महाप्राचीरक (Diaphragm) तक पहुंच जाती है।

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५७॥

गर्भस्थित शिशु की स्थिति—स्त्रियों के गर्भाशय में गर्भ संकुचित तथा अभिमुख होता है, किन्तु प्रसव के समय स्वाभाविक प्रकार से वह शिर से योनि को प्राप्त होता है ॥

विमर्शः—शिशु की स्थिति का ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। शिशु जब शिर से आता है तो सुभीता से पैदा होता है, किन्तु तिरछा आने पर, उसका नितम्ब प्रथम आने से, मृत होने से, विकृत रहने से उसमें कठिनता उत्पन्न होती है। कभी-कभी तो पेट चीर कर भी बच्चे निकालने पडते है।

वस्ति गह्वर के चार भाग प्रथम करते है। एक रेखा एक बगल से दूसरे बगल को और दूसरी भगसन्धि के बीच से पीछे की ओर। इन चार भागों का नाम दक्षिण-पूर्वानु शीर्षासन (R. O A Right occipito anterior), दक्षिण-पश्चिमानु-शीर्षासन (R. O. P), उसी प्रकार वाम पूर्वानु-शीर्षासन (L, O. A) और वाम-पश्चिमानु-शीर्षासन (L. O. P. Left occipito pasterior) यह है। इन चार भागों में बच्चा शिर द्वारा या नितम्ब द्वारा आता है। सबसे अच्छा प्रकार वाम-पूर्वानु-शीर्षासन (L O A) है। इस अवस्था में बच्चे का जन्म सुगमता पूर्वक होता है। और भी प्रकारों की स्थिति होती है। वह विस्तार भय से नहीं दी गई है।

बालक जीवित होने के प्रायः दो लक्षण होते हैं। प्रथम-हृत्स्पन्दन सुनना और दूसरा—बच्चे की हलचल।

कभी-कभी वस्तिगह्वर छोटा (Contracted) होता है तो बच्चा कठिनता से निकलता है। वह समझने के लिए पुरोर्ध्वकूटों के (Sup anterior spine), मध्य का और दोनों जघन-चूडाग्रों के (Crest of ilum) मध्यका तथा भगसन्धि से पाँचवे कटिकशेरुकाग्र (Symphysis pupis) से पञ्चम (Lumber Vertedra के Spine external conjugate) का अन्तर लेते है, जो निम्न प्रकार से होना चाहिये-

(१) कूटान्तरिक व्यास (Interspinous diameter) ९॥ से १० इञ्च।

(२) जघनशिखान्तरिक व्यास (Inter crestal diameter) १०॥ से ११ इञ्च।

(३) बाह्य अनुदीर्घव्यास (External conjugate) ७॥ इञ्च।

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष(नैव 'पा०') वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥

शल्यज्ञान की आवश्यकता—यह जो देह का त्वक् (चर्म) पर्यन्त अङ्ग विनिश्चय है, उसका किसी भी प्रकार शल्यज्ञान के बिना वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥ ५८ ॥

विमर्शः—शल्यज्ञान से ही प्रत्यङ्गों का और चर्मों के सूक्ष्म भागों का वर्णन किया जा सकता है। अन्यथा नहीं।

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग् द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥५९॥
प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टञ्च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्द्धनम् ॥ ६० ॥

शवच्छेदन की आवश्यकता—इसी लिये शल्य के हरण करने वालों को मृत शरीर का शोधन करके अच्छे प्रकार अङ्ग का निश्चय करना चाहिये।

संक्षेप में प्रत्यक्ष देखा हुआ और शास्त्रसे ज्ञात, ये दोनों ही क्रियाएं ज्ञान की वृद्धि में कारण होती हैं ॥ ५९-६० ॥

विमर्शः—अङ्गों का ज्ञान (Anotomy) जानने के लिए मृत शरीर का शोधनकर प्रत्यक्ष कर्म (Practical) करना चाहिये। (Practical) के साथ शास्त्रज्ञान (Theory) भी जानना आवश्यक होता है। दोनों प्रकार के अभ्याससे निःसंदेह ज्ञान होता है। चरकमें भी शारीर ज्ञान का महत्त्व बताया है। यथा—

'शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः' ॥

और भी—शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥

तस्मात्समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीष पुरुषमवहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणु-

वल्कलकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तराङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥ ६१ ॥

शवच्छेदन की विधि—शवच्छेदनकी आवश्यकता होनेके कारण सम्पूर्ण अवयव वाले, विषसे मृत्यु न हुई हो और दीर्घ व्याधिसे न मरा हुआ, सौ वर्ष आयुके पूर्वका, अन्नमें से पुरीष (मल) निकाले हुए पुरुष को, न बहनेवाली नदीमें, पिञ्जरे में बांधकर मुंज, पेड़का छिलका (वल्कल), कुश, शण (सन); इनमेंसे किसी एक वस्तुसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को लपेटकर अन्धेरेमें सडावे । अच्छे प्रकारसे सड़नेपर उसे निकालकर पश्चात् उशीर (खस), बाल, वेणु (बांस), वल्कल (वृक्षकी छाल), इनमें से किसी एक से तयार की हुई कूचीसे धीरे धीरे खुरचते हुए पूर्वोक्त सब त्वचाओं को, बाह्य तथा भीतरी अङ्ग, प्रत्यङ्गों को ७ दिननक आंखों से देखे॥

विमर्शः—प्रथम शरीरको लेकर सड़ावे पश्चात् वनस्पतियोंके क्वथ बनाकर उसे खुरचते २ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेना चाहिये ।

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः ।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥ ६२ ॥

आत्माका दर्शन—शरीर में बहुतही सूक्ष्म आत्माको देख नहीं सकते । वह ज्ञान-चक्षुओं से अथवा तपश्चक्षुओंसे देखा जा सकता है ॥ ६२ ॥

विमर्शः—यहां आत्माका अस्तित्व और उसको देखनेके उपाय—ज्ञान (सद्गुरूपदेश और तपश्चर्या (चान्द्रायणादि व्रत) बताए हैं ।

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमपोह्य चरेत् क्रियाः ॥ ६३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरणशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

—०—

निःसन्देह ज्ञानके पश्चात् चिकित्सा करे—शरीरके विषयमें और शास्त्रके विषयमें भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये । देखनेसे और शास्त्रावलोकनसे संदेहको हटाकर क्रिया (चिकित्सा अथवा शल्यकर्म) करना चाहिये ॥ ६३ ॥

विमर्शः—चरकमें भी 'शरीरसंख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक् । तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते' ॥ तथा—'केवलं चिन्तितं ह्यस्य शरीरं सर्वभावतः । शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुह्यति ।' इस प्रकार चिकित्साकर्म और शल्यकर्म में संदेह-निरसन के लिये शरीर ज्ञान का कितना महत्त्व है—यह बताया है ।

इति शारीरस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ॥

—०—

शारीरे प्रश्नाः—

(१) चरकसुश्रुताधुनिकमतपुरस्सरं त्वग्विवेचनं कार्यम् ।
(२) आशयशब्दस्य निरुक्तिं प्रदर्श्याशयानां नामानि देयानि ।
(३) चरकसुश्रुतावाचीनमनपुरस्सरमस्थ्नां परिगणनं कृत्वा, तेषां प्रकारान् विलिख्य मतभेदे च कानि कारणानि ?
(४) स्नायु-सन्धि-स्रोतसां पेशीनाञ्च सङ्ख्याया. प्रकाराणां स्रोविषयकभेदपुरस्सरं निर्देशः करणीयः ।
(५) शरीरस्य का व्याख्या ? तज्ज्ञानस्य का आवश्यकता तथा शवच्छेदनस्य प्राचीनार्वाचीनकाले विधिश्च लेखनीयः ।
(६) विज्ञाने आत्मनोऽप्रत्यक्षत्वेऽपि कथं तस्यास्तित्वे विश्वासभूमिः ।

—०—

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके पश्चात् प्रत्येक मर्मनिर्देश नामक शारीर की व्याख्या की जायेगी ।

जैसा कि भगवान् धन्वन्तरिने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—प्रत्येक मर्मनिर्देशमें के 'प्रत्येक' शब्दके आगे मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि ये शब्द समझने होंगे । ऐसा करनेका फल प्रत्येक शिरामर्मनिर्देश, प्रत्येक स्नायुमर्मनिर्देश इत्यादि होता है । मर्मस्थान (Vital weak spots) है । मर्मों में अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, पञ्चेन्द्रियां और भूतात्मा ये रहते हैं । इनको ही जीवनाधार कहते हैं । यथा—'जीवनाधाराणि प्रायेण मुनयो जगुः । अथवा—'मारयतीति मर्म' यह भी मर्मकी व्याख्या है, क्योंकि मर्मों का विघात होनेसे मृत्यु होती है । सुश्रुतमें भी मर्मकी—'मर्माणि नाम मांसशिरास्नायवस्थिसन्धिसन्निपाताः, तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति । तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तास्तान् भावानापद्यन्ते' इस प्रकार व्याख्या है । उसी प्रकार 'येष्वभिहतेषु म्रियन्ते नरास्तानि मर्माणि' यह भी मर्म की व्याख्या (Defination) है ।

सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति । न खलु मांससिरास्नायवस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥ ३ ॥

मर्मों की संख्या तथा प्रकार—मर्म एक सौ सात हैं । उनके पांच प्रकार होते हैं । उदाहरणार्थ (१) मांसमर्म, (२) शिरामर्म, (३) स्नायुमर्म, (४) अस्थिमर्म और (५) सन्धिमर्म ।

मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि-मर्मों से अतिरिक्त मर्म न मिलने के कारण दूसरे मर्म होते ही नहीं ॥ ३ ॥

विमर्शः—यद्यपि स्रोतोंकी हानि होने पर भी मृत्यु होती है, तथापि उनसे मृत्यु निश्चित होगी ही, ऐसा नहीं । इसलिये स्रोतोमर्म माने नहीं गये हैं । 'स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्' शा. अ. ९ में वचन भी मिलता है ।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ॥ ४ ॥

मर्मके विभागोंकी सख्या— मांसमर्म ११, शिरामर्म, ४१, स्नायुमर्म २७, अस्थिमर्म ८, और सन्धिमर्म २०; इस प्रकार कुल १०७ मर्म है ॥ ४ ॥

विमर्शः—आगे की गद्य-संख्या ७ में उपर्युक्त स्थानोंमें कौनसे मर्म होते है। यह बताया जावेगा।

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् ॥ ५ ॥

देशभेदसे मर्मोकी सख्या— इन मर्मों में से ११ मर्म पैरमें होते हैं। इसी प्रकार दूसरा पैर और दो बाहुओंमें भी समझना चाहिये। सब शाखाओंमें ४४ मर्म होते हैं। पेट और छातीमें १२, पीठमें १४ इस प्रकार कोष्ठमें २६ मर्महोते है।

गर्दन के ऊपर ३७ मर्म हैं। कुल मिलाकर ४४+२६+३७=१०७ मर्म ॥ ५ ॥

विमर्श.—शाखा, कोष्ठ और ऊर्ध्वजत्रुके अनुसार मर्मोका भी विभाग बताया है।

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्र-तलहृदय-कूर्च-कूर्चशिरो-गुल्फेन्द्रबस्ति-जान्वा-ण्यूर्वी-लोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरसक्थि व्याख्यातम्।

उदरोरसोस्तु गुद-बस्ति-नाभि-हृदय स्तनमूल-स्तनरोहिता-पलापान्य-पस्तम्भौ (अपस्तम्भावपलापौ चेति पाठः) चेति ॥

पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुण-कुकुन्दर-नितम्ब पार्श्व-सन्धि-बृहत्य-सफलकान्यंसौ चेति।

बाहुमर्माणि तु क्षिप्र-तलहृदय-कूर्च-कूर्चशिरो-मणिबन्धेन्द्रबस्ति-कूर्परा ण्यूर्वी-लोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति, एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः।

जत्रुण ऊर्ध्वमर्माणि तु चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृकाः, द्वे कृकाटिके, द्वे विधुरे, द्वे फणे, द्वावपाङ्गौ, द्वावावर्त्तौ, द्वावुत्क्षेपौ, द्वौ शङ्खावेका स्थपनी, पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ॥ ६ ॥

पैरके मर्म—१ क्षिप्र, २ तलहृदय, ३ कूर्च, ४ कूर्चशिर, ५ गुल्फ, ६ इन्द्रबस्ति, ७ जानु, ८ आणि, ९ ऊर्वी, १० लोहिताक्ष, ११ विटप, ये सक्थि (पैर) मे मर्म होते हैं। इसी प्रकार दूसरे पैर में होते हैं।

उदर और उरु में—गुद, बस्ति, नाभि, हृदय, दो स्तन मूल, दो स्तनरोहित, दो अपलाप और दो अपस्तम्भ, सब मिलकर १२ मर्म है।

पीठ में—दो कटीकतरुण, दो कुकुन्दर, दो नितम्ब, दो पार्श्वसन्धि, दो बृहती, दो अंसफलक और दो अंस। इस प्रकार १४ पृष्ठमर्म है।

बाहुमर्ममें—(१) क्षिप्र, (२) तलहृदय, (३) कूर्च, (४) कूर्चशिर, (५) मणिबन्ध, (६) इन्द्रबस्ति, (७) कूर्पर, (८) आणि, (९) ऊर्वी, (१०) लोहिताक्ष, (११) कक्षधर; ये बाहु के मर्म हैं। इसी प्रकार दूसरी बाहु में भी समझना चाहिये।

जत्रु (गर्दन) के ऊपर—चार धमनियां, आठ मातृकायें; दो कृकाटिका, दो विधुर, दो फण, दो अपाङ्ग, दो आवर्त, दो उत्क्षेप, दो शङ्ख, एक स्थपनी, पाच सीमन्त, चार शृङ्गाटक और एक अधिपति। इस प्रकार ३७ मर्म हैं।

आगे चलकर प्रत्येक मर्म का स्थान और इसके विद्ध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण बता दिये गये हैं ॥ ६ ॥

तत्र तलहृदये-न्द्रबस्ति-गुद-स्तनरोहितानि मांसमर्माणि,

नीलाधमनी-मातृका-शृङ्गाटका-पाङ्ग-स्थपनी-फण-स्तनमूला-पलापा-पस्तम्भ-हृदय-नाभि-पार्श्वसन्धि-बृहती-लोहिताक्षो-र्व्यः शिरामर्माणि,

आणि-विटप-कक्षधर-कूर्चशिरो-बस्ति-क्षिप्रां-सविधुरो-त्क्षेपाः कूर्चमर्माणि,

कटीकतरुण-नितम्बां-सफलक-शंखास्त्वस्थिमर्माणि, जानु-कूर्पर-सीमन्ता-धिपति-गुल्फ-मणिबन्ध-कुकुन्दरा-वर्त-कृकाटिकाश्चेति संधिमर्माणि ॥ ७ ॥

मासादि मर्मों के नाम—१. मांसमर्मः-४ तलहृदय, ४ इन्द्रबस्ति, १ गुदा, और २ स्तनरोहित। सब मिलकर ११ मांसमर्म होते है।

२. सिरामर्मः—४ नीलाधमनियां, ८ मातृका, ४ शृङ्गाटक, २ अपाङ्ग, १ स्थपनी, २ फण, २ स्तनमूल, २ अपलाप, २ अपस्तम्भ, १ हृदय, १ नाभि, २ पार्श्वसन्धि, २ बृहती, ४ लोहिताक्ष, ४ ऊर्वी। सब मिलकर ४१ शिरामर्म है।

३. स्नायुमर्म.—आणि ४, विटप २, कक्षधर २, कूर्च ४, कूर्चशिर ४, बस्ति १, क्षिप्र ४, अंस २, विधुर २, उत्क्षेप २। ये २७ स्नायुमर्म है।

४. अस्थिमर्म.—कटीकतरुण २, नितम्ब २, अंसफलक २, शंख २। कुल अस्थिमर्म ८ है।

५. सन्धिमर्मः—जानु २, कूर्पर २, सीमन्त ५, अधिपति १, गुल्फ २, मणिबन्ध २, कुकुन्दर २, आवर्त्त २, कृकाटिका २। कुल सख्या २०। इस प्रकार १०७ मर्म होते हैं ॥७॥

विमर्शः—उपर्युक्त मर्मों के स्थान—शाखा, कोष्ठ और ऊर्ध्वजत्रुगत अङ्गों के व्यतिरिक्त नहीं होते हैं। अतः उनका स्थान शाखादिकों मे समझ लेना ठीक है।

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि मर्माणि भवन्ति। तद्यथा—सद्यः-प्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणि चेति। तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्यघ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति ॥ ८ ॥

मर्मों के प्रकार— मर्म पांच प्रकार के होते है। जैसे—(१) सद्यःप्राणहर १९, (२) कालान्तरप्राणहर ३३, (३) विशल्यघ्न ३, (४) वैकल्यकर ४४, (५) रुजाकर ८। कुल संख्या १०७ है ॥ ८ ॥

विमर्शः—कोई मर्म तत्काल प्राणहरण करने वाले होते है, उनको सद्यःप्राणहर मर्म कहते हैं। कालान्तरप्राणहर मर्म कई दिनों के पश्चात् प्राण लेते हैं। विशल्यघ्न मर्म-शल्य को

निकालने से प्राण लेने वाले, वैकल्यकर मर्म-विकलता उत्पन्न करने वाले और रुजाकर मर्म-पीड़ा करने वाले होते हैं। इनकी सख्या ऊपर बतायी गयी है।

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदय वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि तु ॥ ९ ॥

सद्यःप्राणहर मर्म—शृङ्गाटक ४, अधिपति १, शंख २, कण्ठसिरायें ८, गुदा, हृदय, वस्ति और नाभि, इन पर आघात होने से तत्काल मृत्यु होती है ॥ ९ ॥

विमर्शः—इनकी संख्या १९ होती है।

वक्षोमर्माणि-सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रवस्तयः।
कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ बृहती च या।
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु ॥ १० ॥

कालान्तर-प्राणहर मर्म—वक्षोमर्म ८ (छातीके मर्म-२ स्तनमूल, २ स्तनरोहित, २ अपलाप, २ अपस्तम्भ), सीमन्त ५, तलहृदय ४, क्षिप्र ४, इन्द्रवस्ति ४, कटीकतरुण २, सन्धि (पार्श्वसन्धि) २, बृहती २, नितम्ब २। ये कालान्तर-प्राणहर मर्म होते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—सब मिलकर ३३ कालान्तर-प्राणहर मर्म होते हैं।

उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् ॥११॥

विशल्यघ्न मर्म—उत्क्षेप २ और स्थपनी १। ये तीन मर्म विशल्यघ्न होते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—जिसमें शल्य रहने तक प्राण रहते हैं, किन्तु शल्य निकालने पर मृत्यु होती है; वे विशल्यघ्न मर्म हैं।

लोहिताक्षाणि जानूर्वीकूर्चेविटपकूर्पराः।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥१२॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ तथा।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च ॥१३॥

वैकल्यकर मर्म—लोहिताक्ष ४, आणि ४, जानु २, ऊर्वी ४, कूर्च ४, विटप २, कूर्पर २, कुकुन्दर २, कक्षधर २, विधुर २, कृकाटिका २, अंस २, अंसफलक २, अपांग २, नीला २, मन्या २, फण २, आवर्त्त २। ये वैकल्यकर मर्म हैं ॥ १२-१३ ॥

विमर्श.—वैकल्यकर (विकलता करने वाले मर्म) सख्यामें ४४ होते हैं।

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ द्वे द्वे कूर्चशिरांसि च।
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

रुजाकर मर्म—गुल्फ २, मणिबन्ध २, कूर्चशिर ४, ये आठ मर्म रुजाकर (पीडा देने वाले) समझना चाहिये ॥ १४ ॥

विमर्श.—वैकल्यकर और रुजाकर मर्मों में भेद निम्न प्रकार है। वैकल्यकर स्थायी विकार पैदा करते हैं किन्तु पीडाकर मर्म केवल पीडा ही पैदा करते हैं, स्थायी विकृति उत्पन्न नहीं करते हैं।

क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥१५॥

क्षिप्र मर्म का लक्षण—क्षिप्र मर्म वेधन मात्र से ही कई दिनों के पश्चात् मृत्यु लाते हैं ॥ १५ ॥

विमर्श.—इस मर्म में चोट आना ही मृत्युका विप्रकृष्ट कारण हो जाता है।

मर्माणि नाम मांससिरास्नायवस्थिसन्धिसन्निपाताः, तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति; तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते ॥१६॥

मर्म का लक्षण—मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि इनका एकत्र होना यह मर्म का लक्षण है। इन मर्मों में ही स्वाभाविक प्रकार से प्राण रहते हैं। इस लिये मर्मों के ऊपर आघात होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि इन्द्रियार्थों का ज्ञान नष्ट हो जाता है और मन तथा बुद्धि चंचल जाती है। दूसरे विद्वानों का कहना है कि भ्रम, प्रलाप (असंबद्ध भाषण), पतन (गिरना) और प्रमोह ये लक्षण होते हैं ॥१६॥

विमर्श.—मर्म की व्याख्या अध्याय के प्रारम्भ में अच्छी प्रकार दी गयी है।

तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति।

कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति।

विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते। (पाकात्पतितशल्यो वा जीवति)

वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति।

रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकी च रुजामाहुरेके ॥ १७ ॥

मर्मों के साथ महाभूतों का सम्बन्ध—सद्यःप्राणहर मर्म आग्नेय होते हैं। अग्निगुण शीघ्र कम होने के कारण शरीर को नष्ट कर देते हैं।

कालान्तर प्राणहर मर्म सौम्य (सोम-जल-सम्बन्धी) और आग्नेय (अग्नि सम्बन्धी) होते हैं। अग्निगुण शीघ्र कम होने से और सोम गुण शनैः २ कम होने के कारण ये मर्म कालान्तर से प्राण लेते हैं।

विशल्यप्राणहर मर्म—ये मर्म वायव्य होते हैं। इन मर्मों में मुख में शल्य के होने से जब तक वायु रुकी रहती है तब तक प्राणी जीवित रहता है किन्तु शल्य निकालने मात्र से मर्मस्थान से वायु निकल जाती है इसीलिये यावत् कालपर्यन्त शल्य रहता है तब तक (पुरुष) जीवित रहता है किन्तु शल्य निकालने से मृत्यु को प्राप्त होता है। (व्रण का पाक होने पर शल्य निकल जायगा तो जीवित रहता है)

वैकल्यकर मर्म—सौम्य गुण वाले होते हैं। सोम स्थिर होने के कारण और शैत्य के कारण प्राणों का अवलम्बन करता है। रुजाकर मर्म अग्नि और वायु गुण युक्त होते हैं। अग्नि और वायु विशेष प्रकार से पीडा करने वाले होते हैं। कई आचार्यों के मत में रुजा पाञ्चभौतिक (पाचों भूतों से सम्बन्ध रखने वाली) होती है ॥ १७ ॥

विमर्श.—यद्यपि सर्व मर्म प्राण लेने वाले होते हैं तथापि कालान्तर प्राणहर वगैरह भेद उन मर्मों की विशेषता बताते हैं। सर्व मर्मों में सोम, मारुत, तेज, तथा सत्त्व, रज और तम, एवं भूतात्मा रहता है तो भी तेजोगुण, जलीय गुण इत्यादि गुण अधिकता से उन मर्मों मे विद्यमान रहने के कारण भिन्न बताये गये हैं।

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां (समवृद्धानां 'पा०') च समवायात् सद्यः-प्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा (च 'पा०') कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि (विशल्यघ्नानि 'पा०')
त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥

अन्य आचार्यों का मत—कई आचार्यों का मत है कि मांसादि पांचों के समान प्रकार से एकत्र संयोग होने और बढ़ने पर सद्य प्राणहर मर्म होते हैं।

कालान्तर प्राणहर मर्म एक कम अर्थात् चार रचना के मेल से होते हैं या पांचों रचना अल्प प्रकार से मिलने से कालान्तर प्राणहर मर्म होते हैं। पांचों में से दो कम अर्थात् तीन रचना का सयोग होने से विशल्य प्राणहर मर्म होते हैं।

तीन कम मर्मों का अर्थात् दो का संयोग होने से वैकल्य-कर मर्म होते हैं।

खाली एक ही प्रकार की रचना (मांसादि) का होना यह रुजाकर मर्म है। उपर्युक्त मत ठीक नहीं क्योंकि अस्थि-मर्म पर ताडन होने पर भी रक्त का आगमन होता है अर्थात् मर्मों में मांसादि पांचों प्रकार होते हैं। अन्यथा खाली हड्डियों पर चोट लगने से रक्त कैसे आता ? ॥१८॥

विमर्शः—प्रत्यक्ष देखने पर ऐसा कोई मर्म नहीं दीखता है जो मांस, शिरा, स्नायु आदि से हीन हो। अस्थियां विद्ध होने पर रक्त निकलता है अर्थात् उस जगह मांस और शिराओं का सम्बन्ध तो अवश्य ही मानना पडेगा। अतः सर्व मर्मों में मांस, शिरा, स्नायु, इत्यादि पांचों वस्तुओं को मानना ही पडता है।

भवति चात्र—

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति ॥
(यापयन्ति 'पा०') ॥ १९ ॥

उपर्युक्त विधान की पुष्टि—जो चार प्रकार की सिरायें शरीर में विद्यमान हैं। वे बहुशः मर्म स्थानों में प्रविष्ट होती हैं और स्नायु, अस्थियां, मांस और सन्धियां इनको पुष्ट करती हुई देह का पालन करती हैं ॥ १९ ॥

विमर्श.—चार प्रकार की शिरायें (वातवह, पित्तवह, कफवह और रक्तवह) इस प्रकार से होती है।

ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥ २० ॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्-
मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥ २१ ॥

शल्य-चिकित्सा में मर्मों की रक्षा करनी चाहिये—मर्म में चोट आने पर कुपित हुई वायु चारों ओर से (उन शिराओं को) ढक लेती है। इस प्रकार प्रवृद्ध हुई वायु शरीर में खूब वेदनाओं को उत्पन्न करती है। रुजा के पश्चात् शरीर सुन्न होता है। अनन्तर शरीर की संज्ञा नष्ट होती है। अतः शल्य निकालने की इच्छा करने वाले लोगों को प्रयत्नपूर्वक मर्मों की रक्षा करके शल्य निकालना चाहिये ॥ २०-२१ ॥

विमर्श—'ता. प्रवृद्धः' इस स्थल में 'तासु प्रवृद्ध.' ऐसा भी पाठ-भेद है। शिराओं मे क्रुद्ध हुई वायु प्रथम पाञ्च-भौतिक शरीरयन्त्र को विघटित करती है। पश्चात् संज्ञा नाश होता है।

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥ २२ ॥

कुपित कफ-पित्तों का लक्षण —वायु के लक्षणों के समान पित्त और कफ के भी लक्षण पैदा होते हैं। अत. मर्मों की परीक्षा अच्छी तरह करना उचित है ॥ २२ ॥

विमर्शः—पित्तके लक्षण दाह, चोष, औष्ण्य इत्यादि होते हैं। कफ के लक्षण स्रोतोनिरोध, तन्द्रा आदि उत्पन्न होते है। अतएव दोष कुपित न हो किन्तु शल्योद्धरण हो ऐसी व्यवस्था होने के लिये मर्मो का भलीप्रकार ज्ञान आवश्यक है।

एक प्रकार के मर्म दूसरे मर्मों के समान भी कारणवश कार्य करते हैं ॥

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति।
कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति।
विशल्यघ्नं वैकल्यकरं च भवति।
वैकल्यकरं कालान्तरेण क्लेशयति रुजां च करोति।
रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति ॥ २३ ॥

सद्यः प्राणहर मर्मों के समीप आघात होने से कालान्तर में मृत्यु होती है।

कालान्तर प्राणहर मर्मों के समीप विद्ध होने से मर्म विकलता पैदा करते हैं।

विशल्यघ्न मर्म (के समीप विघात होने से) विकल करने वाला होता है।

वैकल्यकर मर्मों के समीप चोट लगने से वे कालान्तर में पीडा देते हैं और वेदना उत्पन्न करते हैं।

रुजाकर मर्मों के समीप आघात होने से वे मर्म तीव्र पीडा न देते हुवे थोडी तकलीफ देते है ॥ २३ ॥

विमर्शः—मर्मों के बगल में चोट आने से वे अपने तकलीफ देने के कार्य भलीप्रकार नहीं कर सकते किन्तु यदि वे ही मर्मों पर बीच मे आघात अच्छी तरह हो जावे तो वे अपना कार्य शीघ्र कर डालते हैं।

उसी प्रकार निम्न श्रेणियों के मर्मों में विशेष जोर के आघात होंगे तो वे अपने सदृश कार्य न करते हुए उच्च श्रेणी के मर्मों के जो कार्य हैं वे करते हैं। जैसे रुजाकर मर्मों का काम पीडा देना है, तथापि वे मर्म अपने से उच्च मर्म जो वैकल्यकर हैं, उनके तुल्य काम कर देते हैं।

तात्पर्य यह है कि उच्च श्रेणी के मर्म कम आघातों से या समीप में आघात होने से जैसे निम्न श्रेणी के मर्मों का काम करते हैं, उसी प्रकार निम्न श्रेणी के मर्म भी आघात के तरतम भेद से अपने से उच्च श्रेणियों के कार्य कर सकते हैं।

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति॥२४॥

मर्मों का कार्य करने का काल—सद्य प्राणहर मर्म सात दिन के भीतर मारते हैं। कालान्तर-प्राणहर मर्म एक पक्ष (१५ दिन) में अथवा एक महीने में मार डालते हैं। कालान्तर-प्राणहर मर्मों में भी क्षिप्र नामक मर्म कदाचित् शीघ्र ही मार देता है। विशल्य, प्राणहर तथा वैकल्यकर मर्मों पर कदाचित् विशेष आघात होने से वे (मर्म) मार देते हैं॥ २४॥

विमर्श—यहां रुजाकर मर्मों का काल नहीं बताया है। उनकी कार्य करने की शक्ति विशल्य, प्राणहर तथा वैकल्यकर मर्मों के समान समझना चाहिये। यदि विशल्य, प्राणहर, वैकल्यकर और रुजाकर मर्मोंपर गहरी चोट न आवे तो मृत्यु प्राप्त नहीं होती है।

अत ऊर्ध्वं सक्थिमर्माणि व्याख्यास्याम.।

(अ) तत्र पादस्यांगुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये 'क्षिप्र' नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपेण मरणम्।

(आ) मध्यमाङ्गुलिमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदय नाम, तत्र रुजाभिर्मरणम्।

(इ) क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चौ नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः।

(ई) गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ।

(उ) पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा।

(ऊ) पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम्।

(ए) जङ्घोर्वो. सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता।

(ऐ) जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यंगुलमाणी नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च।

(ओ) ऊरुमध्ये ऊर्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः।

(औ) ऊर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसन्धेरूरुमूले लोहिताक्षं नाम, (ऊरुमूले लोहिताख्यं 'पा०')। तत्र लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा।

(अं) वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र पाण्ड्यमल्पशुक्रता वा भवति।

एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ।

विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि।

यथा वङ्क्षण-वृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः। विशेषस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः।

एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि॥ २५॥

सक्थि (शाखाओं) के मर्म और उन पर आघात होने पर होने वाले उपद्रव—इसके पश्चात् सक्थि (शाखाओं) के मर्मों का वर्णन दिया जाता है।

(अ) पैर का अंगूठा और समीपस्थ अङ्गुलि के मध्य भागमें 'क्षिप्र' नामका मर्म है। इस मर्म पर आघात होनेसे (आक्षेपसे) मृत्यु होती है।

(आ) मध्यमा अङ्गुलिके अनुसार पावके मध्य प्रदेश में तलहृदय नाम का मर्म विद्यमान है। उसके विद्ध होनेपर पीडाओंसे मृत्यु होती है।

(इ) क्षिप्र मर्मके ऊपर दोनों ओर कूर्च नामक मर्म है। उसमें आघात होनेपर पैर तिरछा होता है और उसमें कम्प पैदा होता है।

(ई) गुल्फ सन्धिके नीचे दोनों ओर (दोनों बगल) 'कूर्चशिर' नामका मर्म है। उस जगह विद्ध होनेसे वेदना और सूजन उत्पन्न होते हैं।

(उ) पैर और जङ्घा की सन्धियोंमें 'गुल्फ' नामका मर्म है। वहां पर विद्ध होनेसे पीडा और पादस्तब्धता (पैरमें जकड़न) अथवा खञ्जता (लंगडापन) पैदा होती है।

(ऊ) पार्ष्णि और जङ्घाके मध्य भागमें 'इन्द्रवस्ति' मर्म है। उस मर्म पर आघात होनेसे रक्त का निर्गम होकर मृत्यु होती है।

(ए) जङ्घा और ऊरु के जोडपर 'जानु' मर्म है। वह मर्म विद्ध होनेसे खञ्जता (लङ्गडापन) होती है।

(ऐ) जानु (घुटना) के ऊपर तीन अङ्गुल दोनों ओर 'आणी' नामक मर्म है। इस पर चोट लगनेसे शोफकी वृद्धि होती है और पैर जकड जाता है।

(ओ) ऊरुके मध्य भागमें 'ऊर्वी' नामक मर्म है, वह विद्ध होनेसे रक्त का क्षय होकर पैर सूखता है।

(औ) ऊर्वी नामक मर्मके ऊपर और वंक्षण सन्धिके नीचे ऊरुकी जडमें 'लोहिताक्ष' नामका मर्म है। वह विद्ध होनेपर खून का निर्गम होकर मृत्यु अथवा पक्षाघात (Paralysis) होता है।

(अं) वङ्क्षण और वृषण के मध्यमें 'विटप' नामका मर्म है। वह विद्ध होनेसे पाण्ढय (नपुंसकता) अथवा अल्पशुक्रता पैदा होती है।

इस प्रकार पैरोंके ११ मर्मोंका वर्णन हो चुका है। इसी प्रकार दूसरे पैर और दोनों बाहुओंका वर्णन समझना चाहिये।

पैरके मर्म और बाहुओं के मर्मों में इतनी ही विशेषता है कि जहाँ पैरमें गुल्फ, जानु और विटप ये मर्म हैं वहां बाहुओं में मणिबन्ध, कूर्पर और कक्षधर नामक मर्म हैं।

जैसे वंक्षण और वृषणों के बीच में विटप नामका मर्म है, उसी प्रकार वक्षःस्थल और कक्षा के बीच में 'कक्षधर' नामक मर्म है। उसमें विद्ध होने से विटपादि मर्मों के विद्ध होने के समान लक्षण पैदा होते हैं। मणिबन्ध विद्ध होने पर विशेषतया हाथ रुकते हैं। कूर्पर (कोहनी) में विद्ध होने से लूलापन और कक्षधर मर्म विद्ध होने पर पक्षाघात (Paralysis) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार शाखाओं में ४४ मर्मों का वर्णन किया है॥२५॥

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः।

(अ) तत्र वात-वर्चो-निरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्।

(आ) अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्यो मरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति।

(इ) पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा, नाभिः, तत्रापि सद्यो मरणम्।

(ई) स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयम्। तत्रापि सद्य एव मरणम्।

(उ) स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया (कासश्वासाभ्यां) म्रियते।

(ऊ) स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ (स्तनचूचुकयोर्मध्ये स्तनरोहितौ 'पा०'), तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया (कासश्वासाभ्यां) च म्रियते।

(ए) अंसकूटयोरधस्यात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्।

(ऐ) उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्। एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि॥२६॥

पेट और छाती के मर्म तथा उनके विद्ध होने पर पैदा होनेवाले उपद्रवः—इसके पश्चात् उदर और उर (वक्षःस्थल) के मर्मों की व्याख्या करेंगे।

(अ) गुदमर्म-वायु और वर्च (मल-पाखाना) इनको निकालने वाला तथा स्थूलान्त्र (Large intestine) बृहदन्त्र में लगा हुआ रहता है। उस जगह वेधन होने से तत्काल मृत्यु होती है।

(आ) वस्तिमर्म अल्प मांस और अल्प शोणित युक्त होता है और वह अन्दर की ओर कटि प्रदेश में रहता है और मूत्र का आशय (स्थान) है।

यह मर्म अश्मरी (पथरी) के व्रण के अतिरिक्त अन्य व्रणों से विद्ध होने पर तत्काल मृत्यु करता है। अश्मरी व्रण भी वस्ति के दोनों ओर होगा तो मृत्यु हो जायगी। वस्ति मर्म के एक तरफ व्रण होने से मूत्र का स्रवण करने वाला व्रण होता है। यह व्रण चिकित्सा करने पर कष्ट से ठीक होता है।

(इ) पक्वाशय और आमाशय के मध्य में शिराओं का उत्पत्तिस्थान 'नाभि' नामक मर्म है। उसके भी विद्ध होने से प्राणी तत्काल मृत्यु को प्राप्त करता है।

(ई) 'हृदय' नामक मर्म दोनों स्तनों के मध्य में वक्षःस्थल में रहता है। वह सत्त्व, रज और तमोगुणों का स्थान है। आमाशय के द्वार के समीप रहता है। वहां भी विद्ध होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

(उ) स्तनमूलः—ये दो मर्म, स्तनों के दो अंगुल नीचे, दोनों ओर रहते हैं। उनमें कफ से कोष्ठ पूर्ण होने से (कास और श्वास से) मृत्यु होती है।

(ऊ) स्तनरोहितः—स्तनचूचुकों के ऊपर दोनों ओर स्तनरोहित नाम के दो मर्म हैं। उनमें रक्त से कोष्ठ भर जाने पर श्वास और कास से मृत्यु होती है।

(ए) अपलाप नामक दो मर्म अंसकूटों के नीचे और पार्श्वभागों के ऊपर होते हैं। उन मर्मों का रक्त पूयरूप होने से मृत्यु होती है।

(ऐ) अपस्तम्भ नामक दो मर्म, छाती के दोनों ओर वात को वहन करने वाली जो नाडियां होती हैं, उन्हें कहते हैं। इन मर्मों में वायु से कोष्ठ पूर्ण होने के कारण, श्वास और कास से मृत्यु होती है।

इस प्रकार उदर और उरस् (छाती) के बारह मर्मों का वर्णन किया गया है॥ २६॥

विमर्शः—(१) गुदा मर्म (Rectum)
(२) वस्ति मर्म (Bladder)
(३) नाभि मर्म (Umbilical)
(४) हृदय मर्म (Heart)
(५, ६) स्तनमूल (Root of the lungs)
(७, ८) स्तनरोहित मर्म (Base of lung)
(९, १०) अपलाप (Apex of lungs)
(११, १२) अपस्तम्भ मर्म (Branchii)

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः।

(अ) तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुविवर्णो हीनरूपश्च म्रियते।

(आ) पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतः कुकुन्दरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च।

(इ) श्रोणिकाण्डकोरुपर्यायाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्।

(ई) अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते।

(उ) स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते।

(ऊ) पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ।

(ए) बाहुमूर्ध-ग्रीवामध्येंऽसपीठ-स्कन्ध-निबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्धबाहुता।

एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥ २७ ॥

पृष्ठ मर्म—अब पृष्ठमर्मों का वर्णन करेंगे।

(अ) पृष्ठवंशों से दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म हैं। यहाँ पर विद्ध होने से रक्त का क्षय होकर शरीर पाण्डु, विवर्ण और हीनरूप होकर मृत्यु हो जाती है।

(आ) कुकुन्दर नामक मर्म पृष्ठवंश के दोनों ओर जघन के बाह्य भागों में रहते हैं। यहाँ पर चोट आने से स्पर्श ज्ञान नष्ट होता है और शरीर के अधोभाग की चेष्टाओं का नाश होता है।

(इ) नितम्ब नामक मर्म श्रोणिकाण्ड के ऊपर आशयों (मूत्राशय और मलाशय) को ढकने वाले, पार्श्वोंको बाँधे हुए होते हैं ये मर्म विद्ध होनेसे अधः काय (नीचे का शरीर) सूख जाता है और दुर्बलता होकर मृत्यु प्राप्त होती है।

(ई) पार्श्वसन्धि नामक मर्म पार्श्वोंके नीचे लगे हुए, जघन और पार्श्वों के बीचमें, जघन के ऊपर और तिरछे होते हैं। उनमें रक्तसे कोष्ठ भरने पर मृत्यु प्राप्त होती है।

(उ) वृहती मर्म—स्तनमूलोंके सीधे, पृष्ठवंशके दोनों ओर वृहती नाम के मर्म हैं। इनके विद्ध होनेसे रक्त का अधिक निर्गम होकर मृत्यु हो जाती है।

(ऊ) असफलक मर्म पृष्ठवंशके दोनों ओर पीठ के ऊपर, त्रिकास्थि की रेखा में लगे हुए हैं। उनपर चोट आनेसे वे सुन्न और शुष्क हो जाते हैं।

(ए) 'अंस' नामक मर्म—बाहुमूर्ध (कन्धा) और ग्रीवाके मध्य भागमें, अंसपीठ और स्कन्ध को बाँधने वाले 'अंस' नामका स्नायु मर्म है। इन पर चोट आनेसे बाहु जकड़ जाते हैं।

इस प्रकार १४ पृष्ठमर्मोंका व्याख्यान हो गया है ॥ २७ ॥

विमर्श—प्रत्येक मर्म दो दो होनेसे १४ मर्म हो जाते हैं।

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः।

(अ) तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये, व्यत्यासेन तत्र मूकता-स्वरवैकृत-मरसग्राहिता च।

(आ) ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः (चतस्रः चतस्रः 'पाठः') सिरामातृकाः, तत्र सद्यो मरणम्।

(इ) शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके, तत्र चलमूर्द्धता।

(ई) कर्णपृष्ठतोऽधः संश्रिते विधुरे, तत्र बाधिर्यम्।

(उ) घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे, तत्र गन्धाज्ञानम्।

(ऊ) भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा।

(ए) भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्त्तौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा।

(ऐ) भ्रुवोरन्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शंखौ, तत्र सद्योमरणम्।

(ओ) शंखयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ, तत्र सशल्यो जीवेत्, पाकात् पतितशल्यो वा, नोद्धृतशल्यः।

(औ) भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी, तत्रोत्क्षेपवत्;

(अं) पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभय-चित्तनाशैर्मरणम्।

(अः) घ्राण-श्रोत्र-क्षि-जिह्वा-संतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणम्।

(क) मस्तकाभ्यन्तरत उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव (सद्यो मरणं पा०)।

एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥ २८ ॥

ग्रीवाके ऊपरके मर्म—ऊर्ध्वजत्रुगत मर्मों का वर्णन करते हैं।

(अ) चार धमनियां—कण्ठनाडी के दोनों ओर चार धमनियां हैं। उनमें दो नीला और दो मन्या। वे व्यत्यासेन (वैपरीत्येन) अर्थात् दोनों ओर एक एक हैं। उनमें चोट आनेसे मूकत्व और विकृतस्वर तथा रसग्राहक शक्ति का अभाव, ये दोष पैदा हो जाते हैं।

(आ) ग्रीवाके दोनों ओर चार सिरा 'मातृका' नामकी हैं। उनके विद्ध होनेसे तत्काल मृत्यु प्राप्त होती है।

(इ) दो कृकाटिका मर्म, शिर और ग्रीवाके सन्धि पर हैं। वहां पर आघात होनेसे शिर हिलता रहता है।

(ई) दो विधुर नामक मर्म, कानोंके पीछे और नीचे की ओर रहते हैं। उन पर चोट आनेसे बधिरता (बहिरापन) उत्पन्न होती है।

(उ) दो फण मर्म, घ्राणमार्ग के दोनों ओर भीतर स्रोतोमार्ग में लगे हुए होते हैं, उनके विद्ध होने पर गन्धज्ञान का अभाव होता है।

(ऊ) दो 'अपांग' मर्म, भ्रूपुच्छों के सिरों के नीचे और आंखों के बाह्य भाग पर रहते हैं। उनके विद्ध होने से अन्धता अथवा दृष्टि कम हो जाती है।

(ए) दो आवर्त नामक मर्म भौंहों के ऊपर निम्न भागों पर रहते हैं, उनमें भी अभिघात होनेसे आन्ध्य अथवा दृष्टि का विघात होता है।

(ऐ) दो शङ्ख नाम के मर्म भौंहों के अन्त पर, कान और ललाट के मध्य में होते है। उनमें विघात होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

(ओ) दो उत्क्षेप नाम के मर्म शंखों के ऊपर तथा बालों के समीप भागों में होते हैं। यदि उनमें शल्य रहने दें अथवा व्रणस्थान पक कर शल्य निकल जावे तो मृत्यु नहीं होती परन्तु यदि शल्य निकाला जाय तो जीवन नहीं रहता।

(औ) भ्रुकुटियों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहां भी विद्ध होने पर उत्क्षेप के समान कष्ट समझना चाहिये।

(अं) शिर में सीमन्त नामक पाँच सन्धियाँ होती हैं, उनके विद्ध होने पर उन्माद, भय तथा चित्तनाश होकर मृत्यु होती है।

(अः) शृङ्गाटक मर्म चार होते हैं। और वे घ्राण (नासिका), श्रोत्र (कर्ण), अक्षि (नेत्र) और जिह्वा—इनको सन्तर्पण करने वाली शिराओं के बीच में शिराओं के समुदायात्मक हैं। उस जगह चोट आने पर भी सद्यः मृत्यु होती है।

(क) अधिपति नाम का मर्म, मस्तक के भीतर ऊपर की ओर शिरा सन्निपात युक्त बालों के आवर्त (चक्कर) सदृश होता है। यहाँ विद्ध होने से सद्यः मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत ३७ मर्मों की व्याख्या कर दी गयी है ॥ २८ ॥

विमर्शः—४. धमनियां। ८. मातृका। २. कृकाटिका।
२. विधुर २. फण २. आवर्त
२. शंख २. उत्क्षेप १. स्थपनी
५. सीमन्त २. अपांग ४. शृङ्गाटक
१. अधिपति

मर्मों का प्रमाण—सब मिलाकर ३७ मर्म होते हैं।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्व
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम्।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥२९॥
हृद्वस्ति-कूर्च-गुद-नाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरशोऽङ्गुलार्धम् ॥३०॥
एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् (मर्म 'पा०')।
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥ ३१ ॥

उर्वी, शिर (कूर्चशिर), विटप, कक्ष (कक्षधर) पार्श्व, स्तनपूर्वमूल (स्तनमूल) ये एक एक अङ्गुल परिमित होते हैं।

मणिबन्ध और गुल्फ ये दो दो अंगुल होते हैं। जानु, सपर (दूसरा जानु) और दो कूर्पर (कोहनी) इनका तीन अंगुल प्रमाण होता है।

हृदय, वस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि और शिर में जो चार चार (शृङ्गाटक), पांच (सीमन्त) और गले में दस तथा दो अर्थात् बारह (दो नीला, दो मन्या, आठ मातृकायें) हैं, वे हथेली के गड्ढे के बराबर होते हैं।

शेष मर्म को आधा अंगुल लम्बा चौडा समझना चाहिये।

यह प्रमाण जान कर मर्म को छोडकर शस्त्र कर्म करना चाहिये। चूँकि मर्मों के पार्श्व भागों में भी अभिघात होने पर मृत्यु होती हैं अतः मर्म स्थान छोड़ कर शस्त्र कर्म करना चाहिये ॥ २९–३१ ॥

विमर्शः—मर्मों के आकार और उनके स्थान (Position) का शस्त्रकर्म वालों (Surgeons) को खूब ख्याल रखना चाहिये।

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं नयन्ति ॥ ३२ ॥
क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधनिपातनिकृत्तमूलाः ॥ ३३ ॥
तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ॥ ३४ ॥

शाखा नष्ट होने से मृत्यु नहीं होती—हाथ पैर काटने पर मनुष्यों की शिराओं (Blood vessels) के संकोच को प्राप्त होने के कारण थोडा सा रक्त बाहर निकलता है। यद्यपि (हाथ पैर काटने पर) पुरुष भयङ्कर सकट को प्राप्त होता है तथापि शाखा काटने पर भी जैसे तरु नष्ट नहीं होता उसी प्रकार पुरुष मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

क्षिप्र और तलहृदय मर्म विद्ध होने से रक्त अधिक आता है और वायु भी अधिक पीडा देती है। इस प्रकार के मर्म विद्ध होने से, आयुध के घावों से काटे हुए हैं मूल जिनके, ऐसे पेडों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है।

इसलिये तलहृदय और क्षिप्र मर्म विद्ध होने पर मणिबन्ध और गुल्फ प्रदेशों में हाथ और पैरों को काट डालना चाहिये ॥ ३२–३४ ॥

विमर्शः—मर्म कट जाने से रक्त का खूब निर्गमन होता है। अतः वह रक्त रोकने के लिये हाथ पैरों को काटने का प्रसग आवे तो काटकर रक्त की रक्षा करना श्रेयस्कर होता है।

मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः।
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥३५॥
संभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रनिहतैश्च शरीरदेशैः।
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-
र्येषां न मर्मसु कृता विविधाः प्रहाराः ॥३६॥

मर्मों का प्राधान्य—मर्मों पर आघात होने से तत्काल मृत्यु होती है। अतः मर्म शल्य विषय (Surgery) का अर्ध भाग कहलाता है। यदि कोई चतुर वैद्य की चिकित्सा से जीवित भी रहे तो निःसशय विकलता को प्राप्त होता है।

कोष्ठ, शिर-कपाल, ये फूटकर जर्जरित हो गये हों, टाँग, बाहु, पैर और हाथ सम्पूर्ण भी कट गये हों, शस्त्रों के आघातों से सर्व शरीर जर्जरित हो तो भी, मर्मों पर यदि घाव न हुए हों तो जीवित रह सकते हैं ॥ ३५-३६ ॥

विमर्श.—मर्मों पर आघात होने से जीवित रहना असंभव है। सब शरीर पर घाव होने से बच सकते हैं। अतः मर्मों की रक्षा जीवन-रक्षा के लिये एक आवश्यक उपाय है।

जिस प्रकार वस्ति यह काय चिकित्सार्ध है उसी प्रकार मर्म यह शस्त्रक्रिया (Surgery) का अर्ध विषय है।

सोम-मारुत-तेजांसि रज'सत्त्वतमांसि च ।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥
मर्मस्वभिहितास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ॥ ३७ ॥

मर्मों में त्रिगुण, भूतात्मा आदि रहते हैं—मर्मों में प्रायः सोम (जल), मारुत (वायु), तेज (अग्नि) [त्रिदोष] तथा सत्त्व, रज, तम' और भूतात्मा रहते हैं। इसलिये मर्मों पर आघात होने से प्राणी जीवित नहीं रहते हैं ॥ ३७ ॥

विमर्श'—यद्यपि तीनों शारीरिक और मानसिक दोष सर्व शरीर में विद्यमान हैं तथापि मर्म प्रदेशों में उनका आधिक्य रहता है। इसलिये मर्मों पर आघात होने से शारीरिक और मानसिक दोष कुपित होकर देह और मन को दूषित कर देते हैं। आधारभूत शरीर और मन उनका नाश होने से भूतात्मा भी चला जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनो-बुद्धि-विपर्ययः ।
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ॥ ३८ ॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥ ३९ ॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणाद् ।
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥ ४० ॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥ ४१ ॥

विविध मर्मों पर आघात होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण'—आशु हर (सद्य प्राणहर) मर्मों पर आघात होने से रूप, रसादि इन्द्रियार्थों का ज्ञान नहीं होता और मन तथा बुद्धि विपरीत होती है तथा विविध प्रकार की पीडा होती है।

कालान्तर प्राणहर मर्मों पर आघात होने से धातुक्षय निश्चय होता है। धातुक्षय के पश्चात् वेदनाओं से प्राणी मरता है।

वैकल्य कर मर्मों का व्याघात होने से केवल वैद्यों के नैपुण्य से शरीर क्रियायुक्त रहते हुए भी विकलता को प्राप्त होता है।

विशल्यघ्न मर्मों का विघात होने से पूर्वोक्त कारणों के अनुसार जानना चाहिये अर्थात् 'जब तक शल्य रहता है तब तक जीवित रहता है।' इत्यादि।

रुजाकर मर्मों पर आघात होने से नाना प्रकार की पीडायें होती हैं। यदि अज्ञ वैद्यों द्वारा चिकित्सा की जाय तो विकलता को भी प्राप्त होता है ॥ ३८-४१ ॥

विमर्श'—पांचों प्रकारों के मर्मों के विद्ध होने पर उत्पन्न होने वाले लक्षण बताये गये हैं।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाहारणादपि ।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

छेद, भेद, ज्वलन इनसे होने वाले लक्षण—मर्मों के समीप भाग पर, छेदन, भेदन, अभिघात (चोट), जलन और दारण (फटना) इन सबसे मर्मों के अनुरूप लक्षण होते हैं ॥

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा ।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥ ४३ ॥

मर्मों पर आघात कम उपद्रव वाले अथवा निरुपद्रव होते हों ऐसा नहीं है, किन्तु प्राय' मर्मों पर विघात होने से विकलता अथवा मृत्यु अवश्य होती है ॥ ४३ ॥

विमर्शः—मर्मों पर आघात होने से विकलता और मृत्यु अवश्य होती है।

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ॥
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ ४४ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

मर्मों के विकार कृच्छ्रसाध्य होते हैं—तथा जो कोई भी निज विकार मर्मों को आश्रय करते हुए शरीर में होते हैं, वे प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी प्राय' कृच्छ्रतम (अत्यन्त कष्टसाध्य) होते हैं ॥ ४४ ॥

विमर्शः—मर्मों के विकार कष्टसाध्य होने से वैद्यों को खूब प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।

इति सुश्रुते शारीरस्थाने षष्ठोऽध्यायः समाप्त ।

शारीरे प्रश्नाः—

(१) मर्मणः का व्याख्या ? शल्यशास्त्रे कथं तेषां प्राधान्यम् ।
(२) मर्मणां का संख्या ? तेषां प्रकाराः के ? स्थानानि च कानि ? तथा कोष्ठगतमर्मणां विवरणं कार्यम् ।
(३) मर्मणां विघातेऽपि कथं न प्राणहानिः ?
(४) हृदस्ति-कूर्च-गुद-नाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे ।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरशोऽङ्गुलीर्वम् ॥
अस्य श्लोकस्य व्याख्या विधेया ।
(५) क्षिप्राधिपति-विधुर-विटपापलाप-स्थपनी-फणापस्तन्मा-र्पां वर्णनं कृत्वा, मर्मणामभ्यासेन किं प्रयोजनम् ?
(६) कस्मान्मर्मणां भेदः ? सद्यः प्राणहराणि विशल्यघ्नानि च कानि मर्माणि ?

सप्तमोऽध्यायः

अथातः सिरावर्णन-विभक्तिनाम शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब सिरावर्णन विभक्ति नामक शारीर अध्याय कहेंगे। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि कह चुके हैं ॥ १-२ ॥

विमर्श—सिरावर्णन विभक्ति की जगह सिरा-वर्ण-विभक्तिशारीरं ऐसा भी पाठभेद है। इस अध्याय में Angiology का वर्णन किया है।

सप्त शिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः, तासां नाभिर्मूलं ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ ३ ॥

शिराओं की संख्या और दृष्टान्त—सात सौ शिरायें होती हैं। जलहारिणी (करिया) द्वारा जैसे आराम (उपवन) अथवा कुल्या (छोटे जलमार्ग) के द्वारा जिस प्रकार केदार (खेत) का उपस्नेहन होता है, उसी प्रकार शिराओं से यह शरीर पोषित होता है। पेड के पत्तों की सीवनियों के समान शिरायें फैली हुई होती हैं। उन शिराओं का मूलस्थान नाभि है। नाभि से ये शिरायें ऊपर, तिरछे और नीचे की ओर फैलती हैं। इन शिराओं द्वारा (आकुञ्चन, प्रसारणादि द्वारा) शरीर का उपकार होता है ॥ ३ ॥

विमर्श—यद्यपि शिरा हजारों होती हैं तो भी ७०० संख्या सामान्यतया बता दी गयी है। उपर्युक्त गद्य में तीन दृष्टान्त शिराओं के स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम भेदों का निदर्शन करने के लिये है। शिराओं के द्वारा यदि सर्वदा शरीर पुष्ट होता ही रहता तो वृद्धावस्था में गात्र शिथिल नहीं होते। इसलिये समझना पडता है, कि तारुण्य में इन शिराओं द्वारा पुष्टि मिलती है, किन्तु वृद्धावस्था में शरीर 'शाप्य' होता है, 'पुष्ट' नहीं। 'प्रसारणादिभिः' इस जगह आदि शब्द से स्वप्न, प्रबोध, भाषण इत्यादि कर्म समझने चाहिये।

भवतश्चात्र श्लोकौ—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्।
ताभ्यां सर्वा विबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति—
(प्रवर्तन्ते 'पा०') समन्ततः ॥ ४ ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥ ५ ॥

पुष्टि के श्लोक—शरीर में जितनी शिरायें हैं वे सब नाभि में ही लगी हुई हैं। उसी जगह से सर्वत्र फैलती हैं। (यह वर्णन गर्भावस्था का है)।

नाभि में प्राणियों के प्राण रहते हैं और प्राणों से नाभि आश्रित है। शिराओं से नाभि घिरी है जैसे पहिये की (चक्र की) नाभि अरों द्वारा घिरी रहती है ॥ ४-५ ॥

विमर्शः—जिस प्रकार अरों पर चक्रनाभि आश्रित रहती है और चक्रनाभि पर अरे आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार नाभि में प्राण रहते हैं और नाभि का आधार प्राण होते हैं। यहाँ पर प्राण शब्द से रक्त यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि नाभि के द्वारा ही रक्त का संवहन (गर्भावस्था में) हुआ करता है। इसी रक्तसंवहन पर भ्रूण का शरीर निर्भर होता है। यदि रक्तसंवहन रुक जावे तो भ्रूण नष्ट हो जाता है ॥

तासां मूलशिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः।

तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः।

एवमेतानि सप्त सिराशतानि भवन्ति ॥ ६ ॥

सात सौ सिराओं का विवरण—सात सौ शिराओं की मूलशिरा ४० हैं। उनमें से दस वातवहा, दस पित्तवहा, दस कफवहा और दस रक्तवहा होती हैं।

वातवह स्थानों में रहने वाली तथा वायु को वहन करने वाली शिरायें १७५ होती हैं। उतनी ही पित्तस्थान में पित्त को वहन करने वाली शिरायें होती हैं। इसी प्रकार कफ को वहन करने वाली और कफ के स्थान में रहने वाली शिराएँ होती हैं। यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली) इनमें उतनी ही रक्तवाहिनी शिरायें होती हैं ॥ ६ ॥

विमर्श—इस जगह सात सौ शिरा चार विभागों में विभक्त कर दी गई हैं।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विंशतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां गुदमेढ्रश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि।

एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, पण् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं भवति ॥ ७ ॥

वातवह शिराओं का विभाग—प्रत्येक टांग में वातवाहिनी शिरायें २५ हैं। इस प्रकार दूसरी टांग और बाहुओं में समझ लेना चाहिये।

कोष्ठ में ३४ शिरायें होती हैं। इनमें से गुदा और मेढ् (शिश्न), इनको आश्रय करके श्रोणि में आठ शिरायें होती हैं। दो दो पार्श्वों में, छः पीठ में, पेट में उतनी ही, वक्षःस्थल में दस।

जत्रु के ऊपर ४१ शिरायें होती हैं। उनमें से १४ गर्दन में, ४ कानों में, ९ जिह्वा में, ६ नासिका में, ८ आंखों में। इस प्रकार वातवह शिरायें १७५ होती हैं ॥ ७ ॥

विमर्श—सक्थि में १००
कोष्ठ में ३४
जत्रु के ऊपर ४१
} १७५ सर्व मिलाकर शिरायें होती हैं।

एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

शेष शिराओं का विभाग—शेष अर्थात् पित्त, कफ और रक्तवह शिराओं का इसी प्रकार विभाग होता है। भेद इतना ही है कि नेत्रों में १० और कानों में २ पित्तवाहिनियाँ होती हैं। इसी प्रकार रक्तवहा और कफवहा शिराएं समझना चाहिये। इसी प्रकार ७०० शिराओं का विभाग कहा गया है ॥ ८ ॥

विमर्शः—चारों प्रकारों की शिराओं का विभाग बता चुके हैं।

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥९॥
(यदा वायुरदुष्टस्तु सेवते स्ववहाः सिराः।
तदा तु बलवर्णौजः प्रसीदेच्च मनस्तथा ॥ 'पा'०)
यदा तु कुपितो वायुः स्वाः शिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥ १० ॥

शिराचारी अकुपित और कुपित वायु का कार्य—वायु अपने शिराओं में कायिक और मानसिक कार्य ठीक प्रकार से चलाता है। बुद्धि के काम में भ्रम नहीं रहता। उसी प्रकार और भी दूसरे-दूसरे गुणों को वायु करता है जिनका वर्णन सू. अ. १५ में 'तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरण' इत्यादि प्रकार से किया गया है।

(पाठभेद के अनुसार अदुष्ट वायु अपनी शिराओं में जब रहता है, तब बल (शक्ति), वर्ण (कान्ति) और ओज तथा मन-प्रसाद को करता है)।

जब वायु कुपित होकर अपनी शिराओं को प्राप्त होता है तो वात संबंधी, नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं॥९-१०॥

विमर्श.—शारीरिक, मानसिक कार्यों को वायु अदुष्ट होकर अपनी शिराओं में घूमकर कराता है। वही यदि विकृत हो तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है।

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।
संसर्पन् स्वा सिरा. पित्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
(यदा त्वकुपित पित्तं सेवते स्ववहाः सिरा ।
अव्यापन्नस्तदाऽग्निस्तु सम्यक् पचति भोजनम् ॥
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि पित्तमात्मसिराश्चरन् ॥ 'पा'०)
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥ १२ ॥

शिराचारी अकुपित तथा कुपित पित्त के कार्य—अकुपित पित्त अपनी शिराओं में फिरता हुआ, कान्ति, अन्न की रुचि, अग्नि का दीपन, नीरोगता और अन्य अन्य गुणों को सू. अ १५ में के 'रागपक्त्योज' इत्यादि उत्पन्न करता है।

(पाठ भेद के अनुसार जब पित्त अदूषित रहता हुआ अपनी शिराओं में घूमता है तब अग्नि भी निर्दोष होकर अच्छी तरह भोजन पचाती है। और अन्य गुण भी पैदा होते हैं) जब प्रकुपित पित्त शिराओं में जाता है तो नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ११-१२ ॥

विमर्श.—अदुष्ट पित्त अपनी शिराओं में घूम कर अग्नि की वृद्धि करता है। वही विकृत होने से पित्तजन्य रोगों को पैदा करता है।

स्नेहमङ्गेषु सन्धानां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥
(यदा त्वकुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः संप्रपद्यते ।
आशयाः सन्धयश्चैव वर्तन्तेऽस्य निरामयाः ॥ 'पा'०)
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१४॥

शिराचारी अकुपित और कुपित कफ के कार्य—कफ अपनी शिराओं में घूमता हुआ, अंगों में स्नेह (चिक्कणता), संधियों में स्थैर्य (स्थिरता), बल और अपने अन्य गुणों को करता है।

(पाठभेद के अनुसार जब अदुष्ट कफ अपनी शिराओं में गति करता है तब आशय और सन्धियाँ नीरोग होकर काम करती हैं।)

दूषित कफ अपनी शिराओं को प्राप्त होने पर कफ संबंधी नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १३-१४ ॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१५॥
(यदा त्वकुपित रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदा सम्यक् प्रजानाति स्पर्शनानां शुभाशुभम् ॥
वर्णप्रसादनं स्थैर्यं धातूनां पुष्टिमेव च ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि रक्तमात्मसिराश्चरन् ॥)
यदा तु कुपित रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥ १६ ॥

निजशिरागत अकुपित और कुपित रक्त के कार्य— (अच्छा) रक्त अपनी शिराओं में फिरता हुआ धातुओं का पूरण, कान्ति, अच्छी तरह से स्पर्श ज्ञान और अन्य गुण 'रक्तं वर्णप्रद' (सू. अ. १५) में कहे हुए को उत्पन्न करता है।

(पाठभेद के अनुसार अकुपित रक्त अपनी शिराओं में फिरता हुआ भली प्रकार इन्द्रियों के शुभाशुभ को जानता है। तथा वर्ण, स्थिरता, धातुओं की पुष्टि और अन्य अन्य गुणों को भी करता है।)

किन्तु कुपित रक्त जब अपनी शिराओं को प्राप्त होता है तो रक्तजन्य नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १५-१६ ॥

विमर्श—शुद्ध रक्त और अशुद्ध रक्त अपनी शिराओं में क्या कार्य करते हैं, यह इन श्लोकों में बताया गया है।

नहि वातं सिराः केचिन्न पित्तं केवलं तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१७॥

प्राय. सभी शिराएँ सब दोषों का वहन करती हैं—कोई भी शिरा केवल वात, पित्त अथवा कफ का संवहन नहीं करती, किन्तु तीनों दोषों का वहन करती हैं। अतः वे सर्ववहा कही जाती हैं ॥ १७ ॥

विमर्श.—पीछे की ओर तो 'विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश' इत्यादि प्रकार से पित्तवह कफवह शिराओं का

निर्देश किया गया है। वह उन उन दोषों की अधिकता के कारण समझना चाहिये। वस्तुतः सर्व शिराओं में सर्व दोषों का अनुबन्ध अवश्य रहता है।

प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१८॥

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए उदाहरण या प्रमाण—दूषित हो कर दौडने वाले दोष अपने स्थान या मार्ग को छोडकर गलत मार्ग में जरूर जाते है। अतः शिराये सब दोषों को वहन करने वाली होती है और सर्ववहा कहलाती है ॥ १८ ॥

विमर्शः—चाहे कुपित हों, अथवा अकुपित हों, सब दोषों को सब शिराये वहन करती है। इसलिए सर्ववहा शिराये कही जाती हैं।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिरा कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१९॥

शिराओं का वर्ण विभाग—वातवहा शिरा अरुण (किंचित् लाल) वर्ण की होती हैं। वे वायु से भरी हुई होती हैं। पित्त से नीली और उष्ण होती हैं। कफ से शीत (ठडी), स्थिर और गौरी (श्वेत वर्ण की) शिरायें होती हैं। रक्त को वहन करने वाली रोहिणी (लाल रंग की और चमकदार) तथा बहुत उष्ण और ठण्डी नहीं होती हैं ॥ १९ ॥

विमर्शः—कोई लोग सिरा को अशुद्ध रक्तवाहिनी (Vein) मानते है। किन्तु अन्य विद्वान् सिरा को रक्तवाहिनी (Blood vessel) मानते हैं। रक्तवह सिराये मानने वालों के मत के अनुसार नीला सिरा (Veins) होती है। गौर्यः (Lymphatics = रसायनी) और असृग्वहा (Arteries=धमनियां) होती हैं। अरुण कौन सी होती हैं यह निश्चित नहीं है, किन्तु उसे वायु को वहन करने वाली अर्थात् चेष्टा युक्त होना चाहिये। अतः इनको (Nerve) कहेंगे किन्तु (Nerve) पोली नहीं होती है। इसलिये अरुण सिराये कौन सी हैं यह विषय सदिग्ध ही है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक्।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥ २० ॥

अवेध्य सिराओं का वेध करने से उपद्रव—इसके पश्चात् अवेध्य शिरायें कही जायेंगी। उनका वेध होने पर विकलता अथवा मरण निश्चय ही होता है ॥ २० ॥

विमर्शः—अवेध्य सिराओं का वेध होने से मृत्यु अथवा विकलता होती है। इसलिए इसका ज्ञान होना आवश्यक होता है।

सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान्।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टि च मूर्धनि ॥ २१ ॥

सब शिराओं का परिगणन—शाखाओं में ४०० शिरायें होती हैं। कोष्ठ में १३६ और ग्रीवा में १६४ शिरायें होती है ॥

विमर्शः—वेध्य और अवेध्य शिराओं का विभाग बनाने के लिये फिर से शिराओं का परिगणन करके उनका षडंगों में विभाग किया गया है।

शाखासु षोडश शिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥ २२ ॥

अवेध्य शिराओं का परिगणन—१६ शाखाओं में, ३२ कोष्ठ में, ५० जत्रु के ऊपर अवेध्य शिरायें होती हैं ॥ २२ ॥

विमर्शः—१६+३२+५०=९८ शिरायें अवेध्य होती हैं।

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थिन भवति, तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे लोहिताक्षसंज्ञा चैका, एतास्त्वव्यध्याः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ।

एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु ॥ २३ ॥

शाखागत अवेध्य शिरायें—प्रत्येक टांग में १०० शिरायें होती हैं। उनमें से जालधरा शिरा और अन्दर की ओर तीन शिरायें (दो उर्वी और एक लोहिताक्ष) अवेध्य होती हैं। इसी प्रकार दूसरे पैर और बाहुओं को समझना चाहिये।

इस प्रकार सब शाखाओं में १६ अवेध्य शिरायें होती हैं ॥

विमर्शः—जालधरा शिरा तलहृदय मर्म में रहती है। उर्वी और लोहिताक्ष स्वतन्त्र मर्म भी पहिले ही वर्णित है (अ० ६)।

(अ) द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः द्वे द्वे विटपयोः; कटीकतरुणयोश्च।

कोष्ठगत अवेध्य शिरायें—(अ) श्रोणी में ३२ शिराये होती हैं। इनमें से आठ अवेध्य शिराये होती हैं। विटप मर्मों में दो दो और कटीकतरुणों में दो-दो।

(आ) अष्टावष्टावेकैकस्मिन्पार्श्वे तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे।

(आ) एक-एक पार्श्व में आठ-आठ शिरायें होती हैं। उनमें से ऊपर जानेवाली एक-एक शिराओं को बचाना चाहिये। पार्श्वसन्धिगत दो शिराओं को भी बचाना चाहिये।

(इ) चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे परिहरेद् बृहती सिरे।

(इ) पृष्ठ में पृष्ठ वंश के दोनों ओर २४ शिराये है। उनमें से ऊपर जाने वाली दो बृहती नामक शिराओं को बचाना चाहिये।

(ई) तावत्य एवोदरे तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत्।

(ई) उदर में भी २४ शिरायें होती हैं। इनमें से मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर रोमराजी के दोनों ओर दो-दो शिराओं को बचाना चाहिये।

(उ) चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः द्वे हृदये, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ।

एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति ॥ २४ ॥

(उ) वक्षःस्थल में चालीस शिरायें होती हैं। उनमें से १४ शिरायें शस्त्र कर्म के लिये अयोग्य होती हैं।

यथा—हृदय में दो, स्तनमूल में दो-दो अर्थात् चार, दोनों स्तन रोहित में दो दो अर्थात् चार, अपलाप और अपस्तम्भ के (दोनों ओर के) एक-एक अर्थात् दो दो इस प्रकार आठ शिरायें।

इस प्रकार पृष्ठ, पेट, छाती में ३२ शिरायें शस्त्र कर्म में अवेध्य होती हैं ॥ २४ ॥

विमर्शः—मध्य शरीर में ८ उदर में (मूत्रेन्द्रिय) पर ४

(विटप में ४+) (कटीकतरुण में ४=८) वक्षःस्थल में १४

पार्श्व में २
पार्श्वसन्धिगत २
पृष्ठ में २

(हृदय में २+ स्तनमूल में ४+ स्तनरोहित में ४+ अपलाप २+ अपस्तम्भ २=१४)

सब मिलकर ३२ शिराओं को बचाना चाहिये।

चतुःषष्टि सिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति,

(अ) तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः, एव ग्रीवायां षोडशाव्यध्याः।

(गयी तु वातादिवहानां चतुर्भिरष्टकैर्द्वात्रिंशद् ग्रीवायां तत्र षोडशाव्यध्या इति प्रतिपादयति)

ऊर्ध्वजत्रुगत शिरायें—जत्रु के ऊपर १६४ शिरायें हैं।

(अ) ग्रीवा में ५६ शिरायें हैं। उनमें से १२ मर्म संज्ञक शिरायें, दो कृकाटिका, दो विधुर इस प्रकार ग्रीवा में १६ शिराओं को बचाना चाहिये।

(आ) हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत्।

(आ) हनु के दोनों ओर आठ-आठ शिरायें हैं। उनमें से सन्धि में रहनेवाली दो दो धमनियों को छोड़देना चाहिये।

(इ) षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे।

(इ) जिह्वा में ३६ शिरायें होती हैं। उनमें से १६ जिह्वा के नीचे होती हैं। उनमें से दो रसवह और दो वाग्वह, शस्त्रकर्म में वेधनीय नहीं होती हैं।

(ई) द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिकयश्चतस्रः परिहरेत्, तासामेव च तालुन्येकां मृदावुदेशे।

(ई) नासिका में २४ शिरायें होती हैं। इनमें से नाक के पास की चार शिराओं को बचाना चाहिये। तालु के मृदु देश में की एक शिरा का भी परिहार करना चाहिये।

(उ) अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत्।

(उ) दोनों नेत्रों में ३८ शिरायें हैं। इनमें से अपांगों की एक शिरा की रक्षा करना चाहिये।

(ऊ) कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत्।

(ऊ) कानों में दश शिरायें हैं। इनमें से एक-एक शब्दवाहिनी शिराओं को बचाना चाहिये।

(ए) नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः, आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या।

(ए) नासिका और नेत्रगत ललाट में ६० शिरायें होती हैं। उनमें से केशान्तों मे जानेवाली चार, आवर्त्त मर्मों में एक एक और स्थपनी मे एक, सब मिलाकर ७ शिराओं को बचाना चाहिये।

(ऐ) शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतामेकैकां परिहरेत्।

(ऐ) शङ्खों में दस शिरायें होती हैं। उनमें से शंख सन्धि की एक-एक शिरा का परिहार करना चाहिये।

(ओ) द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैका, एकामधिपतावितिः।

एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥ २५ ॥

(ओ) माथे में १२ शिरायें होती हैं।

इनमें से उत्क्षेप मर्मों की दो, सीमन्तों की पाँच (प्रत्येक सीमान्त की एक) अधिपति में से एक शिरा को बचाना चाहिये।

इस प्रकार ५० शिरायें जत्रु के ऊपर की अवेध्य होती हैं॥

विमर्श—ग्रीवा में १६ कानों में २
हनुसन्धि मे ४ नेत्र + नासिका ७
जिह्वा में ४ शङ्ख में २
नासिका में ५ शिर में ८
नेत्रों में २ ५०

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः शिराः।
प्रताना पद्मिनीकन्दाद्विसादीनां यथा जलम् ॥२६॥

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः।

शिराओं की विसतन्तुओं का दृष्टान्त—नाभि से फैली हुई शिरायें चारों ओर से शरीर को व्याप्त कर देती हैं। जैसे कि पद्मिनी कन्द से विस आदि के प्रतान जल को व्याप्त कर देते हैं ॥ २६ ॥

विमर्श.—सब शरीर शिराओं के प्रतानों से व्याप्त होता है।

इति सुश्रुते शारीरस्थाने सप्तमोऽध्याय. समाप्त. ॥

शारीरे प्रश्नाः—

(१) नाभिस्था प्राणिना प्राणा प्राणान्नाभि र्युपाश्रिता।
शिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥
अस्य श्लोकस्य व्याख्या विधेया।

(२) स्वशिरागतानां कुपितानामकुपितानाञ्च दोषाणां गुणाः दोषाश्च के ?

(३) कति च सिरा ?
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिरा. कफात् ॥
असृग्वहास्तु रोहिण्य. सिरा नात्युष्णशीतला।
पद्मस्थास्य विवरण कार्यम्। तत्रारुणा वातवहा.का. सिरा.?

(४) जत्रुण ऊर्ध्वमवेध्याः सिरा. का. ?

अष्टमोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधि शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

विषय—अब सिराव्यधविधि नामका शारीर कहेंगे।
जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—शिराओं का मोक्ष (वेधन) कैसे करना चाहिए? किन रोगों में करना चाहिये? कौन लोग शिरावेधके लिये योग्य हैं, कौन अयोग्य हैं? इत्यादि विचार इस अध्याय में किया जायेगा।

बाल-स्थविर-रूक्ष-अनक्षीण-भीरु-परिश्रान्त-मद्यपान्यस्त्रीकृशित-वमित-विरिक्तास्थापितानुवासित-जागरित-क्लीव-कृश-गर्भिणीनां कास-श्वास-शोष-प्रवृद्धज्वराक्षेपक-पक्षाघातोपवास-पिपासा मूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, (अस्याग्रे ताडपत्रपुस्तके 'किं कारणम्? एषां खलु वेधादिन्द्रियसंमोहः शोषो वा भवति. रक्तपित्तिनो रक्तात्ययाद्वातप्रकोपो मृत्युर्वा सिरावेधेन संभवेत्' इत्यधिकः पाठः)

याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥ ३ ॥

किन लोगों का और किस दशा में शिरावेध न करे?- बाल, स्थविर (वृद्ध), रूक्ष, अनक्षीण (व्रण से जिसका बल क्षीण हुआ है), भीरु (डरपोक), परिश्रान्त (थका हुआ), मद्यपान-स्त्री, और अध्व (मार्ग) से कृश, वमित (जिसने वमन किया हो), विरिक्त (जिसने विरेचन किया हो), आस्थापित, अनुवासित, जागरित (जगा हुआ), क्लीव (नपुंसक), कृश (दुबला) और गर्भिणी तथा कास (खांसी)-श्वास (दमा)-शोष (राजशक्ष्मा)-प्रवृद्ध ज्वर (विशेष ज्वर)-आक्षेपक (Convulsions) पक्षाघात, (Paralysis) उपवास-पिपासा (प्यास)-मूर्च्छा इत्यादि रोगों से पीडित लोगों का शिरावेध नहीं करना चाहिये।

वेध करने के लिये योग्य शिरा होने पर भी, न दीखने वाली, दीखने वाली होने पर भी न बंधी हुई, यंत्रित (बधी हुई) होने पर भी न उठी हुई शिराओं का वेध नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्शः—बाल और वृद्ध लोग यथाक्रम असंपूर्ण धातु अथवा क्षीणधातु रहते हैं। उसी प्रकार भीरु लोग मूर्छित होते हैं। अनुवासित लोगों के शिरावेध से प्रथमतः क्षीण हुआ जठराग्नि और भी क्षीण हो जाता है। क्लीव (नपुंसक) लोगों का शुक्र क्षय होने के कारण अल्प शक्ति होती है, कृश और गर्भिणी में जीवन नाश की आशंका रहती है। इतर उपर्युक्त लोगों में शिरावेध से वायु कुपित होने का डर रहता है। काम-श्वास-शोष आदि रोगों से क्रान्त मनुष्यों में धातु क्षीण होने के कारण देह का संदेह रहता है। विशेष ज्वर वालों का शिराव्यध करने से प्रलाप की संभावना रहती है।

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ॥ ४ ॥

सिरावेध कब करे?—सूत्रस्थान १४ अध्याय में कहे हुए रक्त मोक्ष से अच्छे होने वाले, अपक्व विकारों में, उसी प्रकार जो न कहे गये हों और रक्तमोक्ष से ठीक होने वाले हों उन विकारों में यथाभ्यास (अभ्यास के अनुसार) और यथान्याय (विधि को न छोड़ते हुए) शिरावेधन करना चाहिये ॥

विमर्श.—यथाऽभ्यास (जिन शिराओं का वेधन किया जाता हो) और यथान्याय (जन्तुघ्न द्रव्यों से शस्त्र और शरीर का वह भाग साफ रखते हुए) शिरावेध करना चाहिये।

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥ ५ ॥

अवेध्य शिराओं का भी वेध करने का समय—प्रतिषिद्ध शिराओं का भी विषों के उपद्रव में और भयप्रद अवस्थाओं में शिरावेध करना निषिद्ध नहीं है ॥ ५ ॥

विमर्श—बाल, वृद्ध, भीरु इत्यादिकों में भी विद्रधि आदि विकार होने पर शिरावेध करना उचित होता है।

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रव्यप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्र-पट्ट-चर्मान्तर्वल्कल-लतामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रं गृहीत्वा सिरां विध्येत् ॥ ६ ॥

शिरावेध की विधि—रोगी को स्नेहन-स्वेदन करा के दोष के विपरीत पतला-सा अन्न देकर अथवा यवागू का पान कराकर योग्य काल में अपने समीप बैठाकर अथवा खड़ा करके जीवन में जिसमें बाधा न पड़े ऐसे वस्त्र, पट्ट, चर्म अन्तर्वल्कल (अन्दर की छाल), लतादि किसी चीज से बांधकर बहुत कड़ा अथवा शिथिल न हो ऐसे ढङ्ग से शरीर के उस भाग में उपर्युक्त शस्त्र से शिरा का वेध करे ॥ ६ ॥

विमर्श—प्रधान शस्त्र कर्म करते समय रक्त का परिभ्रमण अच्छे प्रकार होने के लिये द्रव प्राय अन्न खिलाया जाता है। वर्षादि ऋतुओं में मेघाच्छन्न दिन इसके लिये वर्ज्य है। मर्मप्रदेशों का ध्यान रख कर शस्त्र कर्म करना चाहिये।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥ ७ ॥

शिरावेध कब न करे?—कड़े शीतकाल में, अधिक गरमी में, जोर की बहती हुई हवा में, आकाश के मेघाच्छन्न रहते तथा जब कोई रोग न हो, शिरावेध न करना चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्श.—उपरिनिर्दिष्ट ५ स्थितियों का ख्याल रखकर शिरावेध करने का विधान है।

(अ) तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरश्मिमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटक ग्रीवामुष्टयोरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वय ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—

दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं

यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्, एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधि॥

भिन्न-भिन्न स्थानों के लिये नियन्त्रणविधि—(अ) जिस पुरुष का शिरावेधन करना हो उसका सूर्य की ओर मुख रहे, फिर अरत्निमात्र ऊँची चौकी पर बैठे, सक्थियाँ (पैर) सिकुडी हुई हों, दोनों सधियों पर केहुनियों को रखे, अगूठों को मुट्ठियों पर दबावे और उनमुट्ठियों को मन्याओं के उपर रखे, फिर गर्दन और मुट्ठियों पर यन्त्रण-शाटक डाले, पीछे की ओर कोई दूसरा व्यक्ति खडा हो और वह अपना बायां हाथ उठाकर शाटक के दोनों सिरों को पकड़ा कर, (वैद्य) पुरुष से कहे कि "दाहिने हाथ से शिराओं का उत्थान होने के लिये, न बहुत जोर से और न बहुत धीमे, यन्त्र का आवेष्टन करो, रक्त का निर्हरण होने के लिये यन्त्र को पृष्ठमध्य में दबाओ" और जिसका शिरावेध करना हो उसको मुख में हवा भर कर बैठाये।

यह यन्त्रण-विधि अन्तर्गत शिराओं को छोड कर शिरोगत शेष शिराओं के वेधन के लिये है।

(आ) पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वाऽन्य पादमीषत्संकुचितमुच्चै. कृत्वा व्यध्यसिरपादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हरनाभ्यां प्रपीड्यागुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत्।

(आ) पैरों के शिरावेधन का यन्त्रण-प्रकार—जिस पुरुष के पैर का वेध करना हो उसका पैर सम स्थान पर अच्छे प्रकार रख कर दूसरे पैर को किंचित उठा कर जिस पैर में शिरावेध करना हो उस पैर को घुटने के नीचे शाटक (यंत्रण वस्त्र) से लपेट कर, गुल्फ पर्यन्त दोनों हाथों से दबा कर अथवा वेध्य प्रदेश के ऊपर चार अंगुल प्लोत (कपड़ा), चर्म इत्यादि में से किसी एक से बांधे। इसके पश्चात पैर की शिरा का वेधन करे।

(इ) अधोपरिष्टाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत्।

(इ) हाथों की शिराओं के लिये—अंगूठे को मुष्टि के भीतर की ओर दबा कर अच्छे प्रकार से आसन पर सुखपूर्वक बैठे हुए पुरुष के हाथ को पूर्वोक्त प्रकार से बांध कर हाथ की शिरा का वेध करे।

(ई) गृध्रसीविश्वाच्योः संकुचितजानुकूर्परस्य।

(ई) गृध्रसी और विश्वाची में घुटने और कूर्पर (कोहनी) को सिकोड़ ले पश्चात् यंत्रण करे।

(उ) श्रोणीपृष्टस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत्।

(उ) श्रोणि, पीठ और कंधे में शिरावेध करना हो तो पीठ को ऊँचा करके और शिर को झुका कर बैठे हुए व्यक्ति को सीधी तनी हुई पीठ होने की हालत में शिरावेध करना चाहिये।

(ऊ) उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य।

(ऊ) पेट और छाती में शिरावेध करना हो तो, शिर को ऊँचा उठा कर छाती तथा मध्य शरीर को फैलाकर शरीर में दृश्यमान शिराओं का वेध करे।

(ए) बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः।

(ए) पार्श्वों (बगलों) का शिरावेध करना हो तो बाहुओं से शरीर को अवलंबन करके शिराओं का वेध करे।

(ऐ) अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे।

(ऐ) मेढ्र (लिंग) पर शिरावेध करना हो तो मेढ्र को बिना झुकाये शिरावेध करे। (पाठभेदों में 'अवनामित' मिलता है। उस जगह "मेढ्र को झुका कर" ऐसा अर्थ है)

(ओ) उन्नामितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम्।

(ओ) जिह्वा के नीचे शिरावेध करना हो तो जिह्वा को ऊपर उठा कर जिह्वाग्र को दबा कर जिह्वा के नीचे की शिराओं का वेध करना चाहिये।

(औ) अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च।

एष यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरबलेन व्याधिबलेन च विद्धयात्॥ ८॥

(औ) तालु और दन्तमूलों में वेध करना हो तो मुख को फाडकर तालु और दन्तमूलों में वेध करना चाहिये।

इसी प्रकार अनुक्त प्रदेशों में शिराओं को यन्त्रों से अथवा उपायान्तरों से बाँधकर शिराओं के उत्थान करनेवाले उपायों को सोचकर शरीर और व्याधि के अनुसार शिराओं का वेध करना चाहिये।

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम्॥ ९॥

स्थान-भेदानुसार वेधविधि—मांसल प्रदेशों में यव (जौ) मात्र शस्त्र से वेधन करे। (मांसल स्थान से) भिन्न प्रदेश में आधे जौ के बराबर अथवा यवमात्र व्रीहिमुख यन्त्र से वेध करे।

अस्थियों के ऊपर 'कुठारिका' नामक यन्त्र से आधा यव (जौ) के बराबर गहरा शिरावेध करे॥ ९॥

विमर्श—व्रीहिमुख यन्त्र (Trocar & cannula, और कुठारिका (Axe shaped knife or chisle).

भवन्ति चात्र—

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रय. स्मृताः॥ १०॥

शिरावेधन काल—वर्षा ऋतु में व्यभ्र (बादल जब न हों ऐसे) काल में, ग्रीष्मऋतु में, ठण्डे समय में, हेमन्तऋतु में मध्याह्न में शस्त्रकर्म करना चाहिये॥ १०॥

विमर्श—आत्ययिक अवस्था में शिरावेध करना पडे तो उपर्युक्त तीन कालों का ध्यान रखना चाहिये।

सम्यक् शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥ ११॥

सुविद्ध के लक्षण—अच्छे प्रकार शस्त्र चलने से धारा के

साथ कुछ काल ग्लून बहे, बाद रुक जावे तो सुविद्ध समझना चाहिये ॥ ११ ॥

विमर्शः—रक्त का स्वभाव गाढ़ा होकर (coagulate) रुकने का होता है। ऐसा ही दीख पड़े तो अच्छा रक्त आ रहा है, यह अनुमान होता है।

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्त्तते ॥ १२ ॥

अशुद्ध रक्त प्रथम आने में दृष्टान्त—जिस प्रकार कुसुम्भ के फूलों से प्रथम पीलासा रङ्ग निकलता है, उसी प्रकार शिराओं का वेध करने से दुष्ट रक्त पहले बाहर आता है ॥१२॥

विमर्श—जब तक दुष्ट रक्त बहता है तब तक रक्त की संचित होने की (coagulation) शक्ति नष्ट हुई रहती है और इसीलिये पहले दुष्ट रक्त आता है।

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृपितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥१३॥

शिराओं के न बहने के कारण—मूर्च्छित (बेहोश), अतिभीत (खूब डरे हुए), श्रान्त (थके हुए), तृपित (प्यासे), उसी प्रकार अनुत्थित (न उठे हुए) और अयन्त्रित (न बाँधे हुए) की दशाओं में शिराओं का वेधन करने पर रक्त भले प्रकार नहीं बहता।

विमर्शः—उपर्युक्त अवस्थाओं में रक्त की गति मन्द रहने के कारण शिराओं में रक्त वहन नहीं होता।

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा ॥१४॥

क्षीणादि व्यक्तियों में स्रावण—क्षीण, बहुत दोषयुक्त, मूर्च्छा से आक्रान्त पुरुष का शिरावेध अपराह्ण में दूसरे अथवा तीसरे दिन करना चाहिये ॥ १४ ॥

विमर्श—क्षीण आदि व्यक्तियों का शिरावेध करना हो तो दोपहर में दूसरे अथवा तीसरे दिन करना चाहिये।

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चाति प्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥ १५ ॥

पूर्णतया दूषित रक्त न निकालें—दूषित रक्त का भी स्राव पूर्णतया न करना चाहिये। शेष रक्त की संशमन विधि से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्शः—'रक्तं जीव.' रक्त ही प्राण है। इसलिये उसकी रक्षा करना आवश्यक है। 'अधिक रक्त न निकल जाय' ऐसा इसलिये कहते हैं कि चाहे दूषित रक्त भले ही रह जाय, पर इसका अधिक नाश होना उचित नहीं।

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥ १६ ॥

रक्त-निर्हरण का प्रमाण—बलिष्ठ, विपुल दोष वाले और तरुण व्यक्ति का रक्त अधिक से अधिक एक प्रस्थ निकलना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्श—वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में एक प्रस्थ १३॥ पल का होता है। किन्तु इतना रक्त निकलना आजकल असह्य होता है। इसलिये रोगी का बल देखकर उसका विचार करना चाहिये।

(अ) तत्र पाददाह-पादहर्ष-बबाहुक-चिप्प-विसर्प-वातशोणित-वातकण्टक-विचर्चिका-पाददारी-प्रभृतिषु क्षिप्रमर्मणः उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन शिरां विध्येत्।

किन-किन रोगों में कहाँ कहाँ सिरावेध करे?—(अ) व्रीहिमुख यन्त्र से पाददाह, पादहर्ष, चिप्प, विसर्प, वातशोणित, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी इत्यादि रोगों में क्षिप्रमर्म के ऊपर दो अंगुल शिरावेध करे।

(आ) श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते।

(आ) श्लीपद रोग के विषय में उसकी चिकित्सा बताते समय कहा जायगा।

(इ) क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले।

(इ) क्रोष्टुकशीर्ष, खञ्जता, पगुता और वातवेदनाओं में जंघा में गुल्फ से चार अंगुल ऊपर शिरावेध करे।

(ई) अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले।

(ई) अपची में इन्द्रबस्ति के नीचे दो अंगुल शिरावेध करे।

(उ) जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम्।

(उ) गृध्रसी में जानुसन्धि के ऊपर अथवा चार अंगुल नीचे शिरावेध करना चाहिये।

(ऊ) ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे।
एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ।

(ऊ) गलगण्ड में ऊरुमूल में रहने वाली शिरा का वेध करना चाहिये।

इसी प्रकार से दूसरी टांग और दोनों बाहुओं के लिये भी शिरावेध का प्रकार कह दिया गया।

(ए) विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहि कनिष्ठिकाऽनामिकयोर्मध्ये वा।

(ए) विशेष करके प्लीहारोग में वामबाहु के मध्य में भीतर की ओर कूर्परसन्धि के समीप अथवा कनिष्ठिका और अनामिका (छोटी अंगुली के पास की अंगुली) के मध्यदेश में शिरावेध करे।

(ऐ) एवं दक्षिण-बाहौ यकृदाख्ये कफोदरे।
(ओ) चैतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति।

(ऐ, ओ) इसी प्रकार यकृत् दाल्योदर नामक रोग में और कास, श्वास में भी दक्षिण बाहु में शिराओं का वेध करे।

(औ) गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्।

(औ) विश्वाची नामक रोग में गृध्रसी के समान शिरावेध करना चाहिये।

(अं) श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्याम्।

(अ) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणि के चारों ओर दो अंगुल अन्तर पर शिरावेध करना चाहिये।

(अः) परिवर्तिकोपदेश-शूकदोष-शुक्र-व्यापत्सु मेढ्रमध्ये।

(अः) परिवर्तिका, उपदंश, शुक्रदोष और शुक्र रोगों में मेढ्र के मध्य की शिरा का वेध करे।

(क) वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्यां वामपार्श्वे दकोदरे।

(क) मूत्रवृद्धि में वृषणों के बगल में और उदकोदर में नाभि के नीचे, सीवनी के बायीं ओर चार अंगुल पर शिरावेध करना चाहिये।

(ख) वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च।

(ख) अन्तर्विद्रधि तथा पार्श्वशूल में बायीं बगल में, कक्षा और स्तन के बीच में शिरावेध करना चाहिये।

(ग) बाहुशोषबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे।

(ग) बाहुशोष और अवबाहुक रोगों में कन्धे के बीच में शिरावेध करना चाहिये, ऐसा कई विद्वानों का कथन है।

(घ) त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके।

(घ) तृतीयक ज्वर में त्रिकसन्धि के मध्य की शिरा का वेध करना चाहिये।

(ङ) अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके।

(ङ) चतुर्थक ज्वर में किसी भी एक पार्श्व में स्कन्धसन्धि के नीचे शिरा का वेध करे।

(च) हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे।

(च) अपस्मार में हनुसंधि के बीच में रहने वाली शिरा का वेध करे।

(छ) शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे।

(छ) अपस्मार और उन्माद में शंख तथा केशान्त सन्धिगत और वक्षःस्थल अपांग तथा ललाट में रहने वाली शिराओं का वेध करना चाहिये।

(ज) जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च।

(ज) जिह्वारोग और दन्तरोगों में जीभ के नीचे रहने वाली शिराओं का वेध करना चाहिये।

(झ) तालुनि तालव्येषु।

(झ) तालु के रोगों में तालु में शिरावेध करना चाहिये।

(ञ) कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च।

(ञ) कर्ण-पीडा और कर्ण-रोगों में कानों के ऊपर चारों ओर शिरावेध करना चाहिये।

(ट) गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाऽग्रे।

(ट) गन्ध का ग्रहण न होने पर और नाक की बीमारियों में नाक के अग्रभाग में शिरावेध करना चाहिये।

(ठ) तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वक्ष्यामयेषूपनासिके लालाट्यामपाङ्ग्यां वा।

(ठ) तिमिर रोग, अक्षिपाक इत्यादि आंखों के रोगों में नाक के समीप, ललाट किंवा अपांग में की शिराओं का वेध करे।

एता एव च शिरोरोगा अधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति॥ १७॥

शिरोरोग और अधिमन्थ इत्यादि रोगों में इन्हीं शिराओं का वेध करना चाहिये॥ १७॥

विमर्शः—अपची रोग में अपची उत्पन्न होने के पश्चात् शिरावेध करे। रूढ (पुराण) अपची न हो।

सन्धि में शस्त्रक्रिया नहीं करनी चाहिये। इसलिये कूर्परसन्धि का अर्थ कूर्परसन्धि के समीप समझना चाहिये।

(ओ)—में निर्दिष्ट विध्याची में केहुनी के ऊपर अथवा नीचे चार अंगुल समझना चाहिये।

जिन-जिन रोगों में शिरावेध बताया गया है, वहां-वहां रक्तजन्य व्याधि हो अथवा रक्त का अनुबन्ध हो तो शिरावेध करना चाहिये।

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः—

इसके बाद दुष्टवेध का वर्णन करेंगे।

तत्र—दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युद्दीर्णाऽन्तेऽभिहता परिशुष्का कृणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धा विद्धा(अपविद्धा 'पा०')ऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनःपुनर्विद्धा मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः॥ १८॥

दुष्टवेध के बीस प्रकार—

१ दुर्विद्ध, २ अतिविद्ध, ३ कुञ्चित, ४ पिच्चित, ५ कुट्टित, ६ अप्रस्रुत, ७ अत्युद्दीर्ण, ८ अन्तेविद्ध, ९ परिशुष्क, १० कृणित, ११ वेपित, १२ अनुत्थितविद्ध, १३ शस्त्रहत, १४ तिर्यग्विद्ध, १५ विद्ध (अपविद्ध 'पा०'), १६ अव्यध्य, १७ विद्रुत १८ धेनुक, १९ पुनःपुनर्विद्ध और २० मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि इत्यादिकों के मर्मों में विद्ध दुष्टवेध के बीस प्रकार होते हैं॥१८॥

(अ) तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्त(न व्यक्त 'पा०')मसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा।

दुष्टवेध के प्रकारों के लक्षण —

(अ) दुर्विद्धा का लक्षण —सूक्ष्म शस्त्र से वेध करने पर थोडा रक्त आता हो और जिसमें वेदना और सूजन हो उसे दुर्विद्ध समझना चाहिये।

(आ) प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा।

(आ) अतिविद्धा का लक्षणः—प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण रक्त (शरीर के) भीतर जाता हो अथवा बहुत रक्त निकलता हो तो उन शिराओं को अतिविद्ध जानना चाहिये।

(इ) कुञ्चितायामप्येवम्।

(इ) कुञ्चिता का लक्षणः—कुञ्चिता में अपविद्ध के समान लक्षण होते हैं।

(ई) कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता।

(ई) पिच्चिना का लक्षण—कुण्ठित (कुन्द धार वाले) शस्त्र से कुचली जाने के कारण जो शिरा चौडी हो जाती है उसे पिच्चिका कहते हैं।

(उ) अनासादिता पुनः पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता।

(उ) कुट्टिता का लक्षणः—जो शिरा अनासादित (मिली न हो) परन्तु अन्त (समीप) की शिराएँ पुनः पुनः उससे विद्ध हों, उसको कुट्टिता कहते हैं।

(ऊ) शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता।

(ऊ) अप्रस्रुता का लक्षणः—शीत, भय, मूर्च्छा (बेहोशी) से, यदि रक्त न निकले तो अप्रस्रुता कहते हैं।

(ए) तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा।

(ए) अत्युदीर्णा का लक्षणः—तीक्ष्ण (तीखे) और महामुख (चौड़े मुख वाले) शस्त्र से विद्ध होने पर उसे अत्युदीर्णा कहते हैं।

(ऐ) अल्परक्तस्रावण्यऽन्तेभिहता।

(ऐ) अन्तेऽभिहता का लक्षणः—शिरा के अन्त (अन्तिम भाग) पर वेध करने के कारण थोड़ा रक्त निकलता हो तो उसे अन्तेऽभिहता कहते हैं।

(ओ) क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का।

(ओ) परिशुष्का का लक्षण—जिसका रक्त क्षीण हो गया हो और उसमें वायु भर गया हो, उसे परिशुष्का कहते हैं।

(औ) चतुर्भागावसादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता।

(औ) कूणिता का लक्षण.—जिस शिरा में शस्त्र (शिरा के) चतुर्थ भाग को प्राप्त होता है और उससे थोडा-सा रक्त निकलता हो, उसे कूणिता कहते हैं।

(अं) दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता।

(अं) वेपिता का लक्षण —स्थान को छोड कर शिरा को बांधने से कांपने वाली शिरा का रक्त बाहर नहीं आता। ऐसी शिरा को वेपिता कहते हैं।

(अः) अनुत्थितविद्धायामप्येवम्।

(अः) अनुत्थित विद्धा का लक्षण —जो शिरा उठी न हो उसे वेधने से भी वेपिता के तुल्य लक्षण पैदा होते हैं।

(क) छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्करी शस्त्रहता।

(क) शस्त्रहता का लक्षण.—शस्त्र से कटने के कारण, बहुत परिमाण में रुधिर निकलता हो और वे शिरायें अपना काम न कर सकती हों, उनको शस्त्रहता कहते हैं।

(ख) तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्यग्विद्धा।

(ख) तिर्यग्विद्धा का लक्षणः—तिरछा शस्त्र चलाने के कारण जो शिरा थोडी (कटने से) रह गयी हो, उसे तिर्यग्विद्धा कहते हैं।

(ग) बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा।

(ग) अपविद्धा का लक्षण.—हीन शस्त्र प्रयोग के कारण बहुत जगह चोट लगी हो, उसे अपविद्धा कहते हैं।

(घ) अशस्त्रकृत्याऽव्यध्या।

(घ) अव्यध्या का लक्षण —शस्त्र कर्म के अयोग्य शिराओं के व्यध होने को अव्यध्या कहते हैं।

(ङ) अनवस्थितविद्धा विद्रुता।

(ङ) विद्रुता का लक्षण—अनवस्थित (चञ्चल) शिराओं का यदि वेध हुआ हो तो वे विद्रुता कहलाती हैं।

(च) प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहव्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका।

(च) धेनुका का लक्षणः—यदि शिराप्रदेश को जोर से दबाने के कारण तथा ऊपर ही ऊपर शस्त्र के चिह्न हो जाने के कारण पुन पुनः रक्त का स्राव होता हो, तो उसे धेनुका कहते हैं। इसमें गौ के स्तन के समान स्राव होता है।

(छ) सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद् बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा।

(छ) पुन. पुनःविद्धा का लक्षण.—सूक्ष्मशस्त्र होने के कारण पुनः पुनः वेध करने से कटी हुई शिराओं को पुनः पुनः विद्धा कहते हैं।

(ज) मांसस्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति॥ १९॥

(ज) मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धिमर्मों पर वेध करने से रुजा (पीडा), शोफ (सूजन), वैकल्य (विकलता) और मरण (मृत्यु) प्राप्त हो जाता है॥ १९॥

विमर्शः—कुञ्चिता और अतिविद्धा में फर्क यह है कि कुञ्चिता शिरा कुटिलीभूत (तिरछी) होती है और अतिविद्धा में शिरा ज्यों की त्यों रहती है। दोनों में ही कभी-कभी रक्त (शरीर के) भीतर की ओर चला जाता है, अथवा कभी-कभी जोर से निकलने लगता है।

अनुत्थितविद्धा और वेपिता में बहुत साम्य है। किन्तु अनुत्थितविद्धा में शिराएँ उठती नहीं और वेपिता में भी अन्य प्रदेश में बांधने से शिराएँ चञ्चल होती हैं। दोनों में भी रक्त का प्रवाह जोर से नहीं होता।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चलाह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्त्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥ २०॥
अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥ २१॥
स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक्सिराव्यधात्॥२२॥
शिराव्यधश्चिकित्साऽर्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्त्तितः।
यथा प्राणिहितः सम्यग्व्यस्तः कायचिकित्सिते॥ २३॥

शिरावेध के उपद्रव, उपचार और उसका महत्त्व—शिराएँ स्वभावतः ही चञ्चल होती हैं। वे मछली की तरह परिवर्तन करती हैं। इसलिये शिराओं के विषय में तज्ज्ञ (उनका जानकार) कोई भी नहीं होता। अतः इनका वेध प्रयत्नपूर्वक ही करे।

शस्त्रकर्म में अज्ञ व्यक्ति यदि शरीर के ऊपर शस्त्र चलावे तो पहले कही हुई व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत से उपद्रव भी पैदा होते हैं।

शिरावेध अच्छे प्रकार करने पर जैसे व्याधियाँ शान्त होती हैं, वैसे स्नेहन-स्वेदनों से अथवा लेपों से शान्त नहीं होती।

कायचिकित्सा में जैसे अच्छे प्रकार दिया हुआ वस्ति का महत्व है वैसे ही शल्यतन्त्र (शस्त्रकर्म) में शिरावेध चिकित्साऽर्ध है ॥ २०–२३ ॥

विमर्शः—शिरावेध का महत्व बताने के लिये और भी एक श्लोक मिलता है—(मांसमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात्। धमन्यश्च विशुध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः ॥ रसस्वेदादिनिष्यन्दाद्विशुध्यन्ति)।

तत्र स्निग्ध-स्विन्न-वान्त-विरिक्ता-स्थापिता-नुवासित शिराविद्धैः परिहर्त्तव्यानि—

क्रोधायास-मैथुन-दिवास्वप्न-वाग्व्यायाम (व्यायाम 'पा०') यान ध्ययन-स्थाना-सन-चङ्क्रमण शीत-वाता-तप-विरुद्धा-सात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते।

एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ २४ ॥

स्नेहन-स्वेदनादि करने पर किन किन बातों को वर्ज्य करना चाहिये—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरावेध करने पर क्रोध, आयास (परिश्रम), मैथुन (स्त्रीप्रसङ्ग), दिन में सोना, वाग्व्यायाम (जोर से बोलना, गाना इत्यादि), यान (घोडा, गाडी की सवारी), अध्ययन, स्थान (खडे रहना), आसन (बैठे रहना), चङ्क्रमण (घूमना), शीत (ठडक), हवा (आँधी वगैरह), आतप (घाम या धूप), विरुद्ध, असात्म्य और अजीर्ण इत्यादिकों का, बल आने तक त्याग करना चाहिये।

कई विद्वानों का मत है कि एक मास पर्यन्त उपर्युक्त बातों को छोडना चाहिये। इन सबों का विस्तार आगे चल कर करेंगे ॥ २४ ॥

विमर्शः—उपर्युक्त बातों का त्याग करने से बल आता है तथा विद्ध स्थान शीघ्र भर जाते हैं।

भवतश्चात्र—

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥ २५ ॥
अवगाढे जलौका स्यात्प्रच्छन्ने पिण्डिते हितम्।
शिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥ २६ ॥

इति सुश्रुतसंहिताया शारीरस्थाने शिरा व्यधविधि-शारीर नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

रक्तनिर्हरण-साधनों का स्थानानुकूल प्रयोग—शिरामोक्ष (रक्त निकलना), विषाण (सींगी लगाना), तुम्बी, जलौका, पद (प्रच्छान)-पूर्व पूर्व प्रकार गभीर देश के लिये करते हुए दुष्ट रक्त का निर्हरण करना चाहिए। अर्थात् खूब गभीर प्रान्त में रक्त दुष्ट हो तो शिरावेध करे, उसके ऊपर हो तो विषाण (सींगी लगाने) का प्रयोग करे, और थोडा ऊपर होने से तुम्बी, त्वचा के नीचे प्रदेश में होने से जलौका लगावे और त्वचा (चर्म) में हो तो पद (प्रच्छान) करना चाहिये।

खूब गभीर प्रान्त में रक्तदुष्टि हो तो जलौका (जोंक) लगावे। पिंडित जगह में प्रच्छान करे, सर्व शरीर में रक्तदुष्टि हो तो शिरावेध करे और त्वचागत हो तो सींगी अथवा अलाबू का प्रयोग करे ॥ २५–२६ ॥

विमर्शः—तुम्बी लगाने की विधि को (cupping) और जलौका को (leech) जोंक कहते हैं।

तुम्बी (cupping) करना हो तो जहाँ दर्द अथवा दुष्ट रक्त हो उस जगह पर छोटी परई में बत्ती लगाकर, मृत्पात्र को उलटा करके रखे। मृत्पात्र के स्थान में किसी धातु का पात्र नहीं लगाना चाहिये।

परिणाम यह होता है कि बत्ती की उष्णता से जिस जगह बत्ती लगाई हो उसके ऊपर की हवा हट जाती है। और बाहर की हवा का दबाव मृत्पात्र के चारों ओर से उस स्थान के बाह्य भागों पर पड़ता है जिनके कारण शरीर का वह भाग मृत्पात्र में जाने लगता है। उसमें दर्द अथवा दुष्ट रक्त वाली जगह का दर्द उस प्रदेश की विस्तृति से हटता है अथवा दुष्ट रक्त बाहर (फोडे द्वारा) चला आता है। पश्चात् कप (cup) अथवा मृत्पात्र को हटाते हैं। कभी वह पात्र इस बैठने के कारण हटाया नहीं जा सकता है, तब उसे फोड देते हैं। पात्र फूट सके, इसी सुभीते के लिये मृत्पात्र अथवा कप लेना प्रशस्त होता है। धातु का पात्र फोडने में दिक्कत होती है। इससे कभी प्राणों पर भी बीतती है। अतः धातु पात्र का तुम्बी (cupping) के लिये उपयोग न करे।

इति सुश्रुते शारीरस्थानेऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

शारीरे प्रश्नाः—

(१) शल्यशास्त्रे सिरावेधस्य प्राधान्य प्रदर्श्य, कस्मादधुना तस्य प्रचारस्यावरोधो जातः ? अवरोधनिवारणोपायाश्च के ?

(२) रक्तमोक्षणे के च अन्य उपाया ? कुत्र कुत्र च तेषां प्रयोगाः ? केषां रक्तमोक्षण निषिद्धम् ?

(३) रक्तनिर्हरणे सामान्यविधिः, सिरायन्त्रणप्रकार, तथा समुपयुक्तः कालश्च लेखनीय।

(४) रक्तनिर्हरणे कानि च शस्त्राणि प्रयुज्यन्ते ? केषु केषु रोगेषु कुत्र कुत्र कथं च सिरावेधः कर्तव्यः इति स्पष्टतया लेखनीयम्।

(५) सन्धिस्थाने, विश्राच्यास्च कुत्र सिरावेध कर्त्तव्य ?

(६) परिशुष्का-कूणिता-कुञ्चिताना तथा अनुत्थितविद्धानां च लक्षणानि कानि ?

नवमोऽध्यायः

अथातो धमनी-व्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब धमनी-व्याकरण नामक शारीर कहेंगे। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १ ॥

विमर्शः—पिछले अध्याय में शिराव्यध का वर्णन होने के पश्चात् शिरा और धमनी का साम्य होने से, अब धमनी का विवरण करेंगे। धमनी शब्द से कुछ विद्वान् (cerebral nerves नाडियाँ) समझते हैं और कुछ (arteries) शुद्ध रक्त वाहिनियाँ।

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः—सिरा-धमनी-स्रोतसामविभाग', सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः,कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यात्, आगमाच्च, केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ २ ॥

धमनीविवरणः— नाभि से उत्पन्न होने वाली २४ धमनियाँ कही गई है। कई विद्वानों का मत है कि शिरा, धमनी और स्रोतस् ये एक ही हैं, धमनियाँ और स्रोतस् शिराओं के विकार हैं। किन्तु यह मत ठीक नही है। शिराओं से धमनियाँ और स्रोतस् भिन्न ही है। क्योंकि इनके व्यंजन (आकृति, चिह्न अथवा लक्षण) भिन्न हैं। इनके मूल भी भिन्न भिन्न हैं, कर्म भी अलग हैं और शास्त्र में भी इनको पृथक् पृथक् माना है। तथापि परस्पर में सम्बन्ध होने के कारण, शास्त्र में (शिरा, स्रोतस्, धमनी, आशय, ये सब आकाशीय माने गये हैं।) समान वचन मिलने के कारण तथा इनके साधारण कर्म के कारण और सूक्ष्मता के कारण शिरा, स्नायु और धमनी के कार्य भिन्न होने पर भी ये सब एक ही मालूम होते हैं ॥ २ ॥

विमर्श.—इस गद्य में शिराएँ, स्नायु और धमनियाँ भिन्न होने पर भी एक क्यों मालूम पड़ते हैं, यह बताया गया है।

तासां तु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्य', चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥ ३ ॥

धमनी के प्रकार —नाभि से उत्पन्न होने वाली धमनियों में से दस ऊपर को, दस नीचे की ओर और चार तिरछी जाती हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—गर्भावस्था में होने वाली २४ धमनियों का विभाग बताया गया है।

ऊर्ध्वगाः—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-प्रश्वासोच्छ्वास जृम्भित-क्षु-द्धसित-कथित-रुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते ताश्चिंशत्। तासां तु वात-पित्त-कफ-शोणित-रसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्द-रूप-रस-गन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिन्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेताश्चिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदर-पार्श्व-पृष्ठोरः-स्कन्ध-ग्रीवा-बाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ५ ॥

ऊपर जानेवाली धमनिया—ऊपर जानेवाली (धमनियां) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जृम्भित (जम्हाई), क्षुत् (छींक), हसित (हँसना), कथित (बोलना), रुदित (रोना) इत्यादि को वहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं। वे धमनियाँ हृदय को प्राप्त होती हुई तीन भागों में विभक्त होने के कारण ३० हो जाती हैं। उनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रसों को दो-दो वहन करती हैं। इस प्रकार वे दस होती है। आठ धमनियाँ शब्द, रूप, रस, गन्धों को वहन करती है। दो धमनियों से बोला जाता है। दो के द्वारा घोष अर्थात् अव्यक्त ध्वनि की जाती है। दो से सोया जाता है। दो से जागा जाता है। दो अश्रुओं को वहन करती है। दो स्त्रियों के स्तनों में रहती हुई दूध का वहन करती हैं। वे ही दो धमनियाँ पुरुष में स्तनों में रह कर शुक्र का वहन करती हैं। इसी प्रकार तीस धमनियों का शाखा-प्रशाखाओं में विभाग कर दिया गया है। इन्हीं से नाभि के ऊपर (पेट), पार्श्व (बगल), पृष्ठ (पीठ), उरः, स्कन्ध (कन्धे), ग्रीवा (गर्दन) और बाहु (भुजाओं) का धारण और पोषण होता है ॥ ५ ॥

विमर्शः—शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि को वहन करने वाली धमनियाँ कैसी होंगी? धमनी शब्द से शुद्ध रक्तवाहिनी (Artery) लिया जाय तो, उसमें से शुद्ध रक्त (Oxygenated blood) का वहन होता है। यदि धमनी शब्द से वातनाडी (Nerve) समझें तो उनमें से पित्त, कफ और शोणित, का वहन नहीं होता तो भी वातनाडियाँ पित्ताशय, कफाशय, शोणिताशयों को जाती तो जरूर है।

इस जगह धमनी से यह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा शब्द स्पर्शादि इन्द्रियों का पोषण ठीक प्रकार हो जाता है। कहा भी है "एताभिः ·· धार्यन्ते याप्यन्ते चेति"।

भवति चात्र—

ऊर्ध्वङ्गमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।
अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ॥ ६ ॥

ऊपर जाने वाली धमनियाँ पूर्ण प्रकार से ये सब कार्य करती हैं और नीचे की तरफ जाने वाली धमनियों को एवं उनके कार्यों का आगे यथोचित वर्णन करेंगे ॥ ६ ॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां च रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति, आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, ताश्चिंशत्।

तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्त्तवसंज्ञम्, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे अष्टावन्यास्तिर्यग्गामिनीनां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति, तास्त्वेताश्चिंशत् सविभागा व्याख्याताः।

एताभिरधो नाभेः पक्वाशय-कटी-मूत्र-पुरीष-गुद-वस्ति-मेढ्र-सक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥ ७ ॥

अधोगामी धमनियों के कार्य— अधोगामी धमनियाँ वात

(अपना वायु), मूत्र, पुरीष (मल), शुक्र, आर्त्तव को नीचे की ओर वहन करती हैं। वे पित्ताशय को प्राप्त होती हुई अग्नि की उष्णता से वहाँ के विपक्व (ठीक पके हुए) अन्नरस और जलीय रसों का विवेचन और वहन करती हुई शरीर का तर्पण (पोषण) करती हैं। ऊर्ध्वगत और तिर्यग्गत धमनियों का रस अर्पण करती हैं और रसस्थान (हृदय) को रस द्वारा भर देती हैं। मूत्र, पुरीष और स्वेद का अलग अलग विभाग कर देती हैं। आमाशय और पक्वाशय के बीच में (इन धमनियों के) तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार ३० धमनियाँ होती हैं।

उनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रसों को दो-दो धमनियाँ वहन करती हैं। इस प्रकार दस धमनियाँ हुईं। अन्त्रों का आश्रय करके अन्न को वहन करने वाली दो, जल का वहन करने वाली दो, मूत्रवस्ति (Bladder) को प्राप्त होकर मूत्र का वहन करने वाली दो, शुक्र की उत्पत्ति करने के लिये शुक्र का वहन करने वाली दो, (शुक्र का) विसर्ग (बाहर निकालने) के लिये दो, वे ही दो (धमनियाँ) स्त्रियों के आर्त्तव को वहन करती हैं तथा उसका विसर्ग करती हैं। दो स्थूलान्त्र (बृहदन्त्र large intestine) में लगी हुई मल को निकालती हैं। शेष आठ धमनियाँ तिर्यग् जाने वाली धमनियों के स्वेद को अर्पण करती हैं। इसी प्रकार यथाविभाग तीस धमनियों की व्याख्या हुई।

इन धमनियों से नाभि के नीचे के पक्वाशय, कमर, मूत्र, पुरीष (मल), गुद, वस्ति (Bladder मूत्राशय), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) और सक्थि धारण की जाती है और इन्हीं से इनका पोषण होता है॥ ७॥

विमर्श.—उक्त श्लोकों में अधोगामी धमनियों को रक्ताशय और विसर्ग संस्थानों में विभक्त करके स्पष्ट किया है।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।
तिर्यग्गाः सम्प्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम्॥ ८॥

अधोगामी सब धमनियाँ (उपर्युक्त) इन सब कार्यों को करती हैं। और आगे तिर्यग्गत धमनियों तथा इनके यथायोग्य कर्मों को कहेंगे॥ ८॥

तिर्यग्गाणां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसंख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेवं चाभ्याङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते, तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगता. सविभागा व्याख्याताः॥ ९॥

तिर्यग् धमनियों के कार्य—चार तिर्यग्गत धमनियों में से प्रत्येक धमनी उत्तरोत्तर सैकड़ों और सहस्रों प्रकारों से विभक्त होती हैं। इस प्रकार वे शाखाएँ असंख्य होती हैं। इन धमनियों से यह शरीर गवाक्षित (जाल) के समान बँधा हुआ है और आतत (फैला) हुआ है। उन धमनियों के मुख रोमकूपों से मिले होते हैं। इन (मुखों) के द्वारा स्वेद (पसीने) का वहन होता है। रस द्वारा भीतर बाहर दोनों ओर तर्पण करती हैं। इन मुखों से अभ्यङ्ग (मालिश), परिषेक (स्नान), अवगाहन, आलेपन (उबटन) इत्यादिकों का त्वचा में परिपक्व हुआ वीर्य शरीर के भीतर पहुँचता है। इन्हीं के द्वारा सुखकर अथवा असुखकर स्पर्श का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सब शरीर में व्याप्त विभाग के साथ ये चार धमनियाँ बतायी गयी हैं॥ ९॥

विमर्शः—तिर्यग्गत धमनियों की हजारों शाखायें होती हैं। उन शाखाओं के मुख होते हैं। इन्हीं मुखों द्वारा तेल, जल आलेपनों का शोषण होता है। स्पर्शज्ञान भी इनके ही द्वारा होता है।

भवतश्चात्र—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते॥ १०॥

धमनियों को मृणालों का दृष्टान्त—जिस प्रकार मृणाल (कमलनाल) और बिस (सूक्ष्मतर कमलनाल) में स्वभावतः छिद्र होते हैं, उसी प्रकार धमनियों में छिद्र होते हैं जिनके द्वारा रस का उपचय (ग्रहण) होता है॥ १०॥

विमर्शः—मृणाल में जिस प्रकार छिद्रों द्वारा जल का शोषण होता है, उसी प्रकार धमनियों द्वारा रस का शोषण हुआ करता है।

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥ ११॥

(अथ, पञ्चाभिभूता', पञ्चेन्द्रियं, पञ्चसु, पञ्चकृत्व', भावयन्ति। पञ्चेन्द्रियं, पञ्चसु, भावयित्वा, विनाशकाले, पञ्चत्वम्, आयान्ति)।

धमनियों की उत्पत्ति, कार्य और लय,—पञ्चाभिभूताः (पञ्च महाभूतों से उत्पन्न हुई धमनियां), पञ्चेन्द्रिय (पांच इन्द्रिय वाले कर्म पुरुष को), पञ्चसु (कर्ण, नेत्र, जिह्वाऽऽदि पञ्च इन्द्रियाधिष्ठानों में), पञ्चकृत्व' (पर्याय से पांच बार), भावयन्ति (नियोजित करती हैं)। पञ्चेन्द्रियं (सूक्ष्म रूप इन्द्रिय-पञ्चक को) पञ्चसु (आकाशादि पञ्चमहाभूतों में), भावयित्वा (नियोजित करके), विनाशकाले (नाश होने के समय में), पञ्चत्व (नाश को) आयान्ति (प्राप्त होती हैं)।

इस प्रकार धमनियाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से उत्पन्न होकर, इन्द्रियाधिष्ठान कर्ण, नेत्र, त्वचादिकों में पर्याय से पांच बार प्राणियों को लगाती है। किन्तु प्राणियों का नाश होते समय वे ही धमनियाँ पञ्चमहाभूतों में सूक्ष्म शरीर को व्याप्त करती हुई विनाश को प्राप्त होती हैं।

(अ) कई विद्वानों के मत से "पञ्चादिभूतान्यथ पञ्चकृत्वा" ऐसा पाठ है।

(आ) दूसरे आचार्यों के मत से "पञ्चादिभूतास्त्वथ पञ्चधा वा" ऐसा पाठ है।

गयी के मत में रूप-रसादि पञ्चक में चक्षु, जिह्वा इत्यादि इन्द्रिय-पञ्चक को पाच धमनियां लगाती हैं। किन्तु वे मन के साथ संसक्त होती हुई भिन्न-भिन्न समयों में इन्द्रियार्थ-पञ्चकों का ज्ञान कराती है। क्योंकि शरीर में मन तो एक ही है और मन को लेकर ही इन्द्रियार्थों का ग्रहण होता रहता है। किन्तु मृत्यु के समय वे धमनियाँ अपने अपने भूतों में विभक्त होती हुई उनमें लीन हो जाती हैं।

ग्रन्थान्तर में धमनियों के जो कार्य बताये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

'रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा।
शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वासवचनानि च॥
भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु।
तत्सस्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम्॥
शरीर हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चतत्त्वावशेषत्वात् पञ्चतां गतमुच्यते'॥

अर्थात् धमनियाँ रस का निरन्तर वहन करती हैं और शब्दादिकों को ग्रहण करती हैं, श्वासोच्छ्वास और वचनों को भी ग्रहण करती हैं। इसके बाद पांच प्रकारों का ज्ञान होता है। किन्तु मृत्यु के समय पांच महाभूतों में विभक्त होती हैं। विनाशकाल में शरीर अचेतन और शून्य वासस्थान के समान अचेतन होता है और पञ्चतत्त्वों में अवशेष रह जाने से पञ्चत्व को प्राप्त हुआ कहलाता है॥ ११॥

विमर्शः—अब तक के वर्णन से धमनी को वातनाडी (Nerve) समझना योग्य प्रतीत होता है। किन्तु रूढार्थ तो धमनी (Artery) है। तन्त्रान्तरों में भी वर्णन है कि अङ्गुष्ठ मूलभाग में धमनी (Radial artery) होती है।

गन्धवह धमनियाँ (Olfactory nerves), रूपवह (Optic nerves), रसवह (Lingual nerves), शब्दवह (Auditory nerves), इत्यादि प्रकारों से धमनी का अर्थ वातनाडी (Nerve) होता है। और शुद्ध रक्तवाहिनी की सज्ञा रोहिणी (Artery) है। वृद्धवाग्भट में 'समागूढाः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धरक्तम्' ऐसा वचन भी है। इससे यह सिद्ध है कि रोहिणी शुद्ध रक्तवाहिनी की संज्ञा है।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः।

तानि तु प्राणान्नोदक-रस-रक्त मांस-मेदो-मूत्र-पुरीष-शुक्रार्त्तववहानि, येष्वधिकारः, एकेषां बहूनि, एतेषां विशेषा बहवः।

स्रोतों के मूलों में विद्ध होने पर पैदा होने वाले लक्षण'—अब स्रोतों के मूल में विद्ध होने वाले लक्षण कहेंगे। वे स्रोतवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मासवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्त्तववह होते हैं। इन्हीं का (११ प्रकारों के स्रोतों का शल्यतन्त्र में) अधिकार है। एक स्रोत के बहुत स्रोत होते हैं। इनके भी बहुत से भेद होते हैं।

(अ) तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च (प्राणवाहिन्यश्च) धमन्यः, तत्र विद्धस्याक्रोशन-विनमन मोहन-भ्रमण-वेपनानि मरणं वा भवति।

(अ) प्राणवह स्रोत दो हैं—उनका मूलस्थान हृदय और रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। उनके विद्ध होने से आक्रोश (चिल्लाना), विनमन (झुकना), मोहन (मूर्च्छा), भ्रम (चक्कर) और वेपन (कम्प) अथवा मरण भी प्राप्त होता है।

विमर्शः—प्राणवह स्रोत फुप्फुस होते हैं। वे भी दो होते हैं। इनका भी मूलस्थान फुप्फुसीय रक्तवाहिनियां और हृदय होता है, उसी प्रकार फेफडे (Lungs) विद्ध होने पर प्राणवह स्रोतों के समान लक्षण पैदा होते हैं।

(आ) अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च।

(आ) अन्नवह स्रोत दो होते हैं। उनका मूल आमाशय और अन्नवह धमनियां हैं, उनके विद्ध होने से आध्मान (पेट फूलना), शूल (पेट में दर्द), अन्नद्वेष (खाने की इच्छा का अभाव), छर्दि (कै), पिपासा (प्यास), आन्ध्य (दृष्टि घटना अथवा सर्वथा नाश) और मरण भी प्राप्त होता है।

विमर्श :—अन्नवह स्रोत (Pharynx) और अन्ननलिका (Oesophagus) दो हैं। और धमनियाँ या नाडियां (Vagi) और (Sympathetic nerves) भी दो हैं।

(इ) उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा (पिपासाऽसाध्या श्यावाङ्गता पाठः) सद्योमरणं च।

(इ) उदकवह स्रोत दो हैं। उनका मूल स्थान तालु और क्लोम है। उनके विद्ध होने पर प्यास लगती है और तत्काल मृत्यु होती है। (पाठभेद के अनुसार असाध्य पिपासा और कृष्णाङ्गता)।

विमर्श.—उदकवह स्रोत गल और कण्ठनाडी दो हैं। उनके मूल तालु (Palate) और क्लोम (Pharynx) हैं।

(ई) रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च।

(ई) रसवह स्रोत दो हैं। उनके मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ हैं, उनके विद्ध होने पर शोष (क्षय) और प्राणवह स्रोतों के विद्ध होने के समान लक्षण होते हैं और मृत्यु होती है।

विमर्श :—रसवह स्रोत (Lymphatic and Thoracic Duct) दो हैं। और उनके मूल हृदय (Heart) तथा रसवह धमनियाँ (Glosso pharyngeal and Lingual nerves) हैं।

(उ) रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च।

(उ) रक्तवह स्रोत दो हैं। इनके मूल यकृत (जिगर Liver), प्लीहा (तिल्ली spleen) और रक्त को वहन करने वाली धमनिया हैं। इन स्रोतों के विद्ध होने से शरीर काला पड़ जाता है, ज्वर आता है, दाह होता है, शरीर सफेद होता है (Aneamia), रक्त निकलता है और आंखें लाल होती हैं।

(ऊ) मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुस्त्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च।

(ऊ) मांसवह स्रोत दो हैं। उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवह धमनियाँ हैं। उनका वेध होने से सूजन, मांस-शोष (शरीर का सूखना), शिरा-ग्रन्थि और मृत्यु, ये लक्षण होते हैं।

(ए) मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलता शोफः पिपासा च।

(ए) मेदोवह स्रोत दो हैं। उनके मूल कटि और दो वृक्क (गुर्दे Kidneys) हैं। इनके विद्ध होने से पसीना, अङ्ग की स्निग्धता, तालुशोष, स्थूलता, सूजन और प्यास इत्यादि लक्षण होते हैं।

(ऐ) मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च।

(ऐ) मूत्रवह स्रोत दो हैं। उनके मूल वस्ति (Bladder) और मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) हैं। उनके विद्ध होने से वस्ति फूलती है। मूत्र रुकता है और मूत्रेन्द्रिय स्तब्ध होती है।

(ओ) पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च।

(ओ) पुरीषवह स्रोत दो हैं। उनके मूल पक्वाशय (Large Intestine) स्थूलान्त्र और गुद (Rectum) हैं। इनके विद्ध होने से आनाह (पेट फूलना), दुर्गन्ध और आंतों में ग्रंथि ये लक्षण होते हैं।

(औ) शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात्प्रसेको रक्तशुक्रता च (वाऽप्रसेक. पाठः)।

(औ) शुक्रवह स्रोत (Seminiferous Tubules) दो हैं। उनके मूल दो स्तन (Nipples) और दो वृषण (Testes) हैं। इनके विद्ध होने से क्लैव्य, देर से शुक्र का प्रसेक होना (अर्थात् वीर्य का क्षीण होना और शुक्र का रक्तयुक्त हो जाना), ये लक्षण होते हैं।

(अं) आर्त्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यः। तत्र विद्धायां बन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च।

(अं) आर्त्तववह स्रोत दो हैं। उनके मूल गर्भाशय (Uterus) और आर्त्तव को वहन करनेवाली धमनियाँ हैं। वे विद्ध होने पर क्लीवता (Impotency नपुंसकता), बन्ध्यापन (Sterility), मैथुन सहन करने की सामर्थ्य का न होना, आर्त्तवनाश (Amenorrhea) ये लक्षण होते हैं।

(अ) सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः।

(अ.) सेवनी विद्ध होने पर वेदना उत्पन्न होती है।

(क) वस्तिगुदविद्धलक्षण प्रागुक्तमिति—स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्। उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत्॥ १०॥

(क) वस्ति और गुद विद्ध होने के लक्षण पहिले कहे गये हैं। स्रोतोविद्ध होने पर 'प्रत्याख्येय' (अच्छा न हो सकेगा), यह कह कर चिकित्सा करनी करानी चाहिये॥१२॥

विमर्शः—शल्य निकालने पर क्षत के समान चिकित्सा करनी चाहिये। यद्यपि अस्थि, मज्जा स्वेदवाहि स्रोत भी होते हैं, तथापि उनका शल्यतन्त्र में कोई प्रयोजन न होने के कारण निर्देश नहीं दिया है।

भवति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ १३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

स्रोत का लक्षण—शरीर में मूल छिद्र से फैले हुये और रस को अभिवहन करने वाले अन्तर (छिद्र अथवा अवकाश) को स्रोत समझना चाहिये॥ १३॥

विमर्शः—चरक में स्रोत का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है-'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥' चरक—विमानस्थान ५ अ०।

इति सुश्रुते शारीरस्थाने नवमोऽध्यायः समाप्तः॥९॥

शारीरे प्रश्नाः

(१) स्रोतसो लक्षण सोदाहरण लेखनीयम्। शल्यशास्त्रे च कतिविधानि स्रोतांसि तेषा नामानि च कानि?

(२) धमनीशब्दस्य कोऽर्थः। तत्प्रभवस्थान किम्? तिर्यग्गतवाहिनीना कर्माणि च कानि?

(३) पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्व पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयन्ति। पञ्चेन्द्रिय पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥ अस्य पद्यस्य विस्तारपूर्वक व्याख्या करणीया।

(४) केषा स्रोतसा विद्धत्वेन निश्चित मरणं भवति?

(५) पिपासा स्वेदागमन-स्थूलत्व शोफता तालुशोषश्च कस्य स्रोतसो वेधनेन भवन्तीति नामनिर्देश कृत्वा लेखनीयम्।

दशमोऽध्यायः

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १॥

अब गर्भिणी व्याकरण नामक शारीर की व्याख्या करते हैं, जैसे भगवान् धन्वन्तरि कह गये हैं॥ १॥

विमर्शः—इस अध्याय में प्रसूति तन्त्र (Midwifery) और बालकों के विकार तथा स्तन्यदोष इत्यादि विषयों का विचार किया गया है।

गर्भिणी प्रथमदिवसात्प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलंकृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा

च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्ध-दुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्य-श्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च (क्रोधभयभास्करांश्च 'पा') भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद् यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत, न चायासयेच्छरीरं पूर्वोक्तानि च परिहरेत् शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ २ ॥

गर्भिणी के लिये सामान्य नियम—गर्भिणी पहले दिन से सदा प्रसन्न, पवित्र अलङ्कारयुक्त, श्वेत कपडे धारण करने वाली, शान्ति रखने वाली, मंगल कार्य रत, देवता की पूजा करने वाली हो, ब्राह्मण तथा गुरु लोगों की सेवा में तत्पर रहे। मैले, विकृत, हीन (न्यून) अवयवों को स्पर्श न करे। दुर्गन्धयुक्त (सडे हुए), दुर्दर्शन (बुरे दृश्य), और उद्वेग (ग्लानि) करने वाली कथाओं को छोड दे। सूखा, पर्युषित (बासी), कुथित (सडाहुआ) तथा क्लिन्न (झरने वाले) अन्न को न खाये। बाहर निकला, शून्य गृह, चैत्य (देवताओं से आश्रित वृक्ष अथवा बौद्धालय), श्मशान वृक्षों का आश्रय, क्रोध, तथा भय युक्त पदार्थ, उसी प्रकार जोर से बोलना, हसना आदि गर्भ में बाधक बातों को छोड दे। बारम्बार तैल की मालिश तथा उबटन आदि का प्रयोग न करना चाहिये। शरीर को कष्ट नहीं देना चाहिये। उसी प्रकार गर्भावक्रान्ति अध्याय में जिन बातों का त्याग बताया है, उनका अवश्य त्याग करे। शयन और आसन पर नरम बिछौना बिछाना चाहिये। वे (शयन, आसन आदि) बहुत ऊंचे न हों। अपाश्रयोपेत (निराधार न) हों, असंबाध (पीडा रहित) हों। हृद्य (मन को प्रसन्न करने वाली), द्रव (पतली) मधुर-प्राय (मीठी), स्निग्ध (स्नेहयुक्त), दीपनीय (अग्निका वर्धन करने वाली) वस्तुओं से युक्त भोजन कराना चाहिये। ये साधारण नियम प्रसूति होने तक के लिये हैं॥ २ ॥

विमर्श—अच्छे प्रकार का भोजन करे तथा शारीरिक परिश्रम न करे, मन को कष्ट देने वाली बातों का ख्याल न करे। आराम करे। मलिन वस्त्र का परिधान न करे। ग्राम्यधर्म (मैथुन), गाडी की सवारी आदि त्याग दे।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत, विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्, चतुर्थे दध्ना पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषा चेत्येके ॥ ३ ॥

विशेष नियम—महीने-महीने के हिसाब से—विशेष करके गर्भिणी पहले, दूसरे, तीसरे महीनों में मीठा, ठण्डा, पतला, आहार सेवन करे। बहुत से लोगों का अभिप्राय है कि तृतीय महीने में साठी चावल दूध से खिलाना चाहिये। चौथे महीने में साठी चावल दही से, पाँचवे महीने में दूध से और छठे में घी से खिलाना चाहिये ॥ ३ ॥

विमर्श—चरक के मतानुसार, पहले मास में दूध ठण्डा-ठण्डा और बार-बार गर्भिणी पान करे और सात्म्य भोजन करे।

द्वितीय मास में मधुर औषधों से सिद्ध किया हुआ केवल दूध का सेवन करे।

तृतीय मास में दूध में घृत और मधु मिला कर सेवन करे।

चौथे मास में एक अञ्ज प्रमाण में दूध का निकाला हुआ मक्खन लेना चाहिये।

पञ्चम मास में क्षीरसर्पि (दूध-घृत) का पान करे।

षष्ठ मास में मधुर औषधों से सिद्ध किया हुआ क्षीरसर्पि (दूध-घृत) ले।

चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं च भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे स्वदष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः॥

चौथे से सातवें महीने तक के नियम—चौथे महीने में दूध का मक्खन मिला कर सेवन करना चाहिये और जांगल मांस के साथ हृदय का हितकर भोजन करना चाहिये।

पांचवे महीने में दूध और घी मिलाया हुआ (अन्न देना चाहिये)

छठे महीने में गोखरू से पकाये हुए घी अथवा यवागू का पान कराना चाहिये।

सातवें महीने में पृथक्पर्ण्यादि से बनाया हुआ घी पिलावे।

इस प्रकार करने से गर्भ पुष्ट होता है ॥ ४ ॥

विमर्श—चरक के मतानुसार चतुर्थ महीने में एक अञ्ज प्रमाण में क्षीर नवनीत (दूध का मक्खन) दे।

पञ्चम महीने में क्षीरसर्पि (दूध-घृत) पिलावे।

षष्ठ महीने में मधुर औषधों से सिद्ध किया हुआ क्षीरसर्पि (दूध घृत) का पान करावे।

सातवें महीने में छठे महीने के आहार के समान आहार देना चाहिये।

अष्टमे बदरोदकेन बलाऽतिबला-शतपुष्पा-पलल-पयो-दधि-मस्तु-तैल-लवण-मदनफल-मधु-घृत-मिश्रेणास्थापयेत्; पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन (पयोमधुकषायसिद्धेन 'पा') तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्, एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते॥

आठवें महीने से प्रसवपर्यन्त के नियम.—आठवें महीने में बदर (बेर) के काढ़े में बला (खिरेंटी), अतिबला (कंघी), शतपुष्पा (सोंफ), पलल (मांसरस अथवा तिलकल्क), दूध, दही का पानी, तैल, लवण, मदन (मैनफल), शहद और घी को मिला कर उसकी आस्थापन बस्ति दे। यह पुराने मल के शोधन के लिये और वायु का अनुलोमन करने

के लिये है। इसके पश्चात् दूध और मधुर गण से सिद्ध किये हुए तैल से अनुवासन कराना चाहिये।

वायु का अनुलोमन होने पर सुख से और उपद्रवों से रहित प्रसव होता है।

इसके पश्चात् स्निग्ध यवागुओं से और जाङ्गल रसों से प्रसव काल तक चिकित्सा करनी चाहिये।

इस प्रकार चिकित्सा करने से गर्भिणी स्नेहयुक्त बलिष्ठ और उपद्रव रहित होती हुई सुखपूर्वक प्रसूता होती है॥७॥

विमर्श—चरक के मतानुसार आठवें महीने में क्षीर से बनाया हुआ यवागू घी मिला कर बार-बार पिलाना चाहिये। इससे गर्भिणी स्वस्थ रहती हुई स्वास्थ्य, बल, वर्ण तथा स्वर जिसका ठीक हो ऐसे उत्तम पुत्र को पैदा करती है।

नवें महीने में मधुर औषधों से सिद्ध किये हुए तेल का अनुवासन करना चाहिये। योनि में तैल का पिचु (लुगदी) बना कर रखना चाहिये। इससे गर्भस्थान के मार्ग का स्नेहन होता है।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत्; प्रशस्ततिथ्यादौ॥ ६॥

नवम मास में सूतिकागार में रखे- नवम महीने में शुभ मुहूर्त्त, प्रशस्त तिथि आदि देखकर सूतिकागार में प्रवेश कराना चाहिये॥ ६॥

विमर्श:—चरक शारीरस्थान अध्याय अष्टम में निम्न प्रकार से करना लिखा है—

'ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपागते भगवति शशिनि कल्याणकरणे मैत्रे मुहूर्त्ते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् कुसुमसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्वोदकपूर्वमाप्तनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्त्तमाना प्रदक्षिणं प्रवेशयेत्सूतिकाऽऽगारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीक्षेत्।'

तत्रारिष्टं (तत्रारिष्टमगारं पा०) ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्राणां श्वेत-रक्त-पीत-कृष्णेषु भूमि-प्रदेशेषु बिल्व-न्यग्रोध-तिन्दुक-भल्लातकनिर्मितं सर्वागारं यथासंस्थं तन्मयपर्यङ्कं समुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्रागुदारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयम्॥ ७॥

सूतिकागार कैसा हो—सूतिकागार वर्ण के अनुसार होता है। श्वेत भूमि ब्राह्मणों के लिये, रक्त (लाल) क्षत्रियों के लिये, पीली वैश्यों के लिये और काली शूद्रों के लिये होती है। इनमें बेल, न्यग्रोध (वटवृक्ष), तिन्दुक (तेंदुवा) और भल्लातक (भिलावा) के काष्ठों से ब्राह्मणादि क्रम के अनुसार सूतिकागृह बनावे। इन्हीं की लकडी के पलग रहें। दिवालें लिपी हुई हों। सब प्रकार के परिच्छद (उपयुक्त सामग्री) स्थान-स्थान पर रखे हों। सूतिकागार का द्वार पूर्व अथवा दक्षिण में हो। आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौडा, रक्षा करने के योग्य वस्तुओं से और मंगलमय वस्तुओं से युक्त अरिष्ट (सूतिकागार) बनाना चाहिये।

विमर्श:—बालक और माता के लिये उपयुक्त वस्तुएँ निम्न प्रकार की अवश्य रखनी चाहिये—

(१) साफ कपडे, (२) रेंडी का तेल (Castor oil), (३) गरम पानी की व्यवस्था, (४) धागा, (५) कैंची, (६) निद्राप्रद ओषधियाँ, (७) दाई (Nurse) इत्यादि।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।
सगूने जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी॥ ८॥

प्रसूति के लक्षण—कुक्षि शिथिल होने से, हृदय-बधन ढीले होने से, जघनप्रदेश में शूल होने से प्रसूति होगी, ऐसा समझना चाहिये॥ ८॥

विमर्श:—प्रसूति होने के पहिले दो प्रकार के दर्द होते हैं। एक अवास्तविक False) और दूसरा वास्तविक (True)।

अवास्तविक (False)—	वास्तविक (True)—
(१) इसकी वेदना पेट में ही रहती है, कटि की ओर नहीं।	(१) कमर से नीचे की ओर पीडा जाती है।
(२) इसमें गर्भाशय का मुख नहीं खुलता और गर्भोदक नहीं निकलता है।	(२) गर्भाशय का मुख खुलता है और वहाँ श्लेष्मा लगा हुआ दीखता है, तथा गर्भोदक आने लगता है।
(३) पाचक ओषधियों से यह शान्त होती है।	(३) पाचक ओषधियों से शान्त नहीं होती।
(४) सकोच अनियमित रहता है।	(४) नियतकाल में गर्भाशय का संकोच प्रतीव्र होता है।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च॥ ९॥

आसन्न-प्रसूति के लक्षण—जब प्रसूति होने का भाव आता है तब कटि (कमर) और पीठ में चारों ओर पीडा होती है। बार-बार मलत्याग की इच्छा होती है और मूत्र आने लगता है। उसी प्रकार योनि से श्लेष्मा निकलती है॥ ९॥

विमर्श.—ऊपर बताये हुए प्राय वास्तविक प्रसूति वेदना (True labour pains) के लक्षण मिलते हैं। वे प्राय. तीन ही होते हैं।

(१) कटि से लेकर जंघा की तरफ पीडा का होना।
(२) योनि प्रदेश पर श्लेष्मा का आना।
(३) गर्भोदक का आना।

चरक में निम्न प्रकार के लक्षण दिये हैं:—

'तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति। तद्यथा-गात्राणां ग्लानिराननस्याधोगौर्विमुक्तबन्धनत्वमिव कुक्षेरवस्रंसनमधोगुरुत्वं वङ्क्षण-बस्ति-कटि-कुक्षि-पार्श्व-पृष्ठनिस्तोदो योनेः प्रस्रवणमनन्नाभिलाषश्च। च० शा० ७ अ० ३४ गद्य।'

प्रसव काल की तीन अवस्थायें (Three labour Stages)

प्रथमावस्था:—(१) ततोऽनन्तरभावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य गर्भनाडीप्रबन्धविमुक्तिः।

द्वितीयावस्था:—(२) श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु शूलं विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति बस्तिशिरोऽवगृह्णाति। आवीनां स्वरणम्। गर्भस्य परिवर्त्तनम्। योनिमुखं प्रपत्तिर्विशल्यभावश्च।

तृतीयावस्थाः—(३) यदा च प्रजाता स्यात्तदैवैनामवेक्षेत—कदाचिदस्या अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्ना वेति ।

प्रसूति की प्रथमावस्था में—आवी आने लगती है, और गर्भोदक (Liquor amnia) आने लगता है ।

द्वितीयावस्था में—श्रोणि, वङ्क्षण और बस्तिशिर में शूल होता है । गर्भ हृदय (अर्थात् महाप्राचीरक Diaphragm) से हटकर उदर को प्राप्त होकर बस्तिशिर को प्राप्त होता है । आवी शीघ्र शीघ्र आती है, गर्भ का परिवर्तन होता है । योनिद्वार पर गर्भ आता है और गर्भ बाहर आने से आराम मिलता सा मालूम होता है ।

तृतीयावस्था में—प्रसूति के उत्तरकाल में कहीं अपरा (Placenta) का पतन हुआ या नही, यह देखना चाहिये ।

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां (संभृतां 'पा'०) यवागूमाकण्ठात् पाययेत्, ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामासुप्रसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः, स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशला कर्त्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥ १० ॥

आसन्न प्रसूति के समय का कर्त्तव्य—जो गर्भिणी आसन्न प्रसवा हो उसको अभ्यङ्ग कराकर गरम जल से स्नान करावे । पश्चात् मंगल और स्वस्तिवाचन करके, बालक और बालिकाओं से वेष्टित होकर वह पुन्नाम फल हाथ में ले । इसके पश्चात् उसको घृत के साथ आकण्ठ (पर्याप्त) यवागू पिलाना चाहिये । अनन्तर विस्तीर्ण और मृदु शयन पर तकिया लगा कर उत्तानावस्था में (ऊपर मुँह करके), पैरों को खींच कर बैठे और निःशंक (पुनः पुनः प्रसूति कराने के कारण) वृद्धा (बुढ़िया), प्रसूति कराने मे कुशल, नख जिनके कटे हुए हैं ऐसी चार स्त्रियाँ उसकी सेवा में रहें ॥ १० ॥

विमर्शः—अशकनीय स्त्रियाँ वे होती हैं जिनके सामने गर्भिणी को डर या लज्जा न हो ।

चरकसंहिता शा० अष्टम अध्याय में दिया है, 'आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयन विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नम् । तदध्यासीत सा । ततस्तां ता. समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणा. स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीभिः सान्त्वनीयाभिः = ३१ ॥ १० ॥'

अर्थात् आवी प्रारम्भ होने पर मृदु वस्तुओं से युक्त बिछौना जमीन पर बिछाना चाहिये । उस पर वह आसन्न प्रसवा स्त्री बैठे । बाद उससे चारों ओर से घेर कर सौम्य और मधुर तथा सान्त्वनायुक्त शब्दों से आश्वासन देती हुई अच्छे गुणवाली स्त्रियाँ उसकी सेवा करें ।

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुमुख(मुख 'पा')मभ्यज्यानुव्रूयाच्चैनामेका—सुभगे । प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्तगर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरस्सु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः । ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुं मूर्द्धाभिघातिनं कासश्वासशोषपङ्गुं विकटं वा जनयति ॥ ११ ॥

प्रवाहण विचार—जब स्त्री बैठ जाय तब विशिखान्तर (अपत्यमार्ग) को अन्दर से बाहर की ओर मालिश करती हुई सेविका उससे कहे कि हे सुभगे ! प्रवाहण करो किन्तु आवी न होने पर प्रवाहण न करो । गर्भनाडी प्रबन्ध छूटने पर श्रोणि, वंक्षण, बस्तिशिर में पीडा होने पर धीरे-धीरे प्रवाहण करो । गर्भ निकलने पर जोर से प्रवाहण करो । गर्भ योनि मुख को प्राप्त होने पर अधिक जोर लगाओ, जब तक गर्भ का निर्गमन नही होता । वेदना के पूर्व यदि प्रवाहण (कुथन) करे तो बहिरा, गूगा, कुबडा, ठेढ़ी-ठोढी वाला, शिर में चोट वाला, कास (खाँसी), श्वास (दमा) और शोष (क्षय) से पीडित तथा विकट (विलक्षण आकृति) वाला पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

विमर्श—आवियों का प्रादुर्भाव न होने पर भी प्रवाहण करने पर होने वाले उपद्रवों का चरक संहिता में भी उल्लेख किया गया है यथा—'ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युरनागताऽऽवीर्मा प्रवाहिष्ठाः । या अनागताऽऽवी प्रवाहते । व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति । प्रजा चास्या अविकृता विकृतिमापन्ना वा श्वासकासशोषप्लीहप्रसक्ता भवति । यथा क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाऽप्यवाप्नोति, तथानागतकाल गर्भमतिप्रवाहमाणा । यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां सन्धारणमुपघातायोपपद्यते, तथाप्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणम् । स यथानिर्देश कुरुष्वेति वक्तव्या । तथा च कुर्वती शनै. शनैः पूर्वं प्रवाहेत । ततोऽनन्तरं बलवत्तरम् । च० शा० अ० ८ ।'

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेद् नाकालमार्कपेत् ॥ १२ ॥

गर्भ सीधा करे—यदि गर्भ उलटा हो तो उसको सीधा कर दे ॥ १२ ॥

विमर्शः—जब गर्भ तिरछा आवे अथवा ललाटोदय किंवा मुखोदय हो अथवा अपरा का अवरोध हो तो गर्भ को घुमाना पड़ता है । उसको बाह्यत., अन्तस्थत' और मिश्रविधि से करना पडता है । उद्देश्य यह कि—शिरोविवर्तन अगर हो तो शिरोविवर्तन कर दे जिससे बालक ठीक से निकले ।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बह्वीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोर्धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥ १३ ॥

गर्भ रुकने पर उपाय—गर्भ सङ्ग होने पर काले सर्प की केंचुली (Covering) से अथवा पिण्डीतक से योनि का धूपन करे । हिरण्यपुष्पी (लाङ्गली कलिकारिका) का मूल हाथ और पैर में बाँधे । सुवर्चला (सूर्यभक्ता) अथवा विशल्या (पाटला) को धारण करे ॥ १३ ॥

विमर्श.—पिण्डीतक का अर्थ मैनफल है, यथा—'मदनश्छर्दनः पिण्डी राठः पिण्डीतकस्तथा । करहाटो मरुवकः शल्यको विषपुष्पकः ॥' मदनपालनिघण्टु ।

अथ जातस्योल्वमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥ १४ ॥

बालक पैदा होने पर.—बालक पैदा होने पर प्रथम जरायु को हटावे, घी और सेंधा नमक से बालक का मुख साफ करे, घी में भिगोया हुआ पिचु (फोहा) मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) पर रखे पश्चात् आठ अंगुल गर्भनाडी लेकर उसे खींचे और धागे से उसको बाँधकर गर्भनाल का छेदन करे और धागे के एक प्रदेश को बालक की गर्दन में अच्छी तरह बाँध दे ॥ १४ ॥

विमर्श.—जरायु हटाते समय नाक और मुख पर का जरायु प्रायः शीघ्र हटाना चाहिये, नहीं तो श्वास रुकने का भय रहता है। फिर गर्भनाडी को खींच कर उसके एक सिरे को बाँधे। यदि न बाँधकर काटा जाय तो रक्त का स्राव होगा और उससे बालक के जीवन की हानि होगी।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्, ततो बालतैलेनाभ्यज्य क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्य-हेमप्रतप्तेन वा, वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथादोषं यथाविभवं च ॥ १५ ॥

बालक का अभ्यङ्ग स्नान आदि—नालछेदन के पश्चात् ठंडे जल से बालक को आश्वासित करके; जातकर्म करने के पश्चात्, घी और मधु से मिश्रित थोडा सुवर्ण भस्म अनामिका से चटावे। पश्चात् बलातैल से अभ्यङ्ग कराके, क्षीरवृक्षों की त्वचा से बनाये हुए क्वाथ से अथवा सर्वगन्धों (पुलादिकों) के जल से, अथवा चाँदी या सुवर्ण को तपा कर उसे बुझा कर गरम किये गये जल से अथवा कैथ के पत्तों के गर्म कषाय से यथाकाल, यथादोष और यथावैभव बालक को स्नान करावे ॥ १५ ॥

विमर्श—यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि पुत्री हो तो बिना मन्त्र के चटाना चाहिये और पुत्र हो तो निम्नलिखित मन्त्र से चटाना चाहिये। प्राशनमन्त्र—'प्रते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्। आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शत जीव शरदो लोके अस्मिन्।

क्षीरवृक्ष से—गूलर, वर्गद, पीपल, वेत, पाकर का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि कहा है-'उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो वेतस प्लक्ष एव च। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः संज्ञया समुदाहृताः' ॥

सर्वगन्ध से—चातुर्जातक (तज, इलायची, तेजपात, नागकेशर), कपूर, शीतलचीनी, अगर, शिलारस, लौंग का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि कहा है—'चातुर्जातं समाख्यातं त्वगेलापत्रकेशरैः। चातुर्जातकर्पूरकक्कोलागुरुसिह्लकम्। लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्ध विनिर्दिशेत्' ॥ अथवा सर्वगन्ध से—इलायची, सफेद चन्दन, केशर, मुरामांसी, शीतलचीनी, जटामांसी, कचूर, गन्धाविरोजा, तेजपात, गठिवन, कपूर, लोहबान, खस, कस्तूरी, नखी, पूति खटासी, छरीला, गजपीपल, फूलप्रियङ्गु, मेथी, लवङ्ग आदि इन सब द्रव्यों को समझना चाहिये। इन सबका उपयोग श्री विष्णु तैल आदि के गन्धपाक में होता है। क्योंकि कहा है—'पुलाचन्दनकुङ्कुमागुरुमुराकक्कोलमांसीशटी श्रीवासच्छदग्रन्थिपर्णशशभृत् क्षौणिध्वजोशीरकम्। कस्तूरी नखपूतिगैलजशुभामेथीलवङ्गादिकं गन्धद्रव्यमिदं प्रदेयमखिल श्रीविष्णुतैलादिषु' ॥ दूर्वा और ब्राह्मी का स्वरस मधु और घृत तथा सुवर्ण के साथ, चटावे, ऐसा भी एक पाठ है।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्राच्चिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्त्तते ॥ १६ ॥

स्तन्य प्रवर्त्तन काल—स्त्रियों के हृदयस्थ धमनियों के खुल जाने के पश्चात् तीन या चार रात बीतने पर दूध आने लगता है ॥ १६ ॥

विमर्श—पहिले दो तीन दिन आने वाले दूध को Colostrum कहते हैं। 'यह पिलाना चाहिये' ऐसा कई विद्वानों का अभिप्राय है। दूसरे लोग कहते हैं, इसे नहीं पिलाना चाहिये। कहने वालों का कथन है कि यह कुछ मारक (Laxative) होता है और बालक को बल देता है।

तस्मात्प्रथमेऽहि मधुसर्पिरनन्त(अनन्ता 'पा')मिश्र मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसमितं द्विकाल पाययेत् ॥ १७ ॥

शिशु को तीन दिन तक देने के पदार्थ—बालक को पहले दिन घी और शहद के साथ थोड़ा-सा सुवर्ण अथवा पाठभेद के अनुसार अनन्ता (दूर्वा) मन्त्र से पवित्र करके तीन बार पिलावे। दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया हुआ घृत दे। उसके पश्चात् विषम प्रमाण में घी और शहद बच्चे के पाणितल प्रमाण में दो बार देकर दूध पिलाना चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्श—वृद्ध वाग्भट में 'अनन्तामिश्रे मधुसर्पिषी' (अ. स. उ. अ १) ऐसा पाठ है।

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्काथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पली-पिप्पलीमूल-हस्तिपिप्पली-चित्रक-शृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात् विशुद्धे ततो विदारिगन्धाऽऽदिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यव-कोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाऽभिधाना स्यात्, पुनरार्त्तवदर्शनादित्येके ॥ १८ ॥

सूतिका की चिकित्सा—इसके पश्चात् प्रसूता स्त्री को बलातैल से अभ्यंग कराके वात को दूर करने वाली औषधों के क्वाथ से चिकित्सा करनी चाहिये। यदि (रक्त) दोष बाकी हो तो उसी दिन पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चीता और सोंठ के चूर्ण को गरम गुडोदक के साथ पिलाना चाहिये। इसी प्रकार जब तक दुष्ट रक्त आता है तब तक दो या तीन दिन करे। रक्त शुद्ध होने पर विदारीगन्धा से सिद्ध किया हुआ यवागू अथवा क्षीरयवागू तीन दिन तक पिलावे। इसके बाद यव (जौ), कोल (बैर) और कुलथी से सिद्ध किये हुए जांगल रस के साथ शाली का भात अग्नि बल और ताकत देखकर खिलावे। इस प्रकार १॥ महीने करके प्रसूति के लिये उपयुक्त आहार और विहारों को छोड़ने से उसका 'विगत-सूतिका' शब्द से निर्देश किया जाता है। कई विद्वानों

के मत से पुनः प्रथम मासिक धर्म होने तक वह प्रसूता रहती है। पश्चात् 'विगत-सूतिका' हो जाती है ॥ १८ ॥

विमर्श.—यहाँ 'विगत-सूतिका' किसे कहते हैं यह बताया गया है।

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत्, पिप्पल्यादिकषायानुपानां, स्नेहनित्या च स्यात्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवतीम् (बलवती), अबलां यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत्र ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥ १९ ॥

सूतिका चिकित्सा—धन्वभूमि (मरुप्रदेश) में उत्पन्न हुई प्रसूता को घी अथवा तेल में से किसी एक की मात्रा पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान के साथ पिलावे। बलवान् स्त्री को तीन या पांच दिन स्नेह का पान, अभ्यंग आदि करे। निर्बल प्रसूता स्त्री को तीन अथवा पांच दिन तक यवागू देना चाहिये। इसके बाद स्नेहन युक्त अन्न खिलाना चाहिये ॥१९॥

विमर्श:—भूख लगने पर, सात्म्य पदार्थों को सोच कर देना चाहिये। दशमूल के क्वाथ का प्रयोग व्यवहार में सर्वत्र दिखाई देता है गर्भ अपनी जगह पर स्थित हो, इस लिये स्वच्छ कपडे पेट पर बांधे।

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्। क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ॥ २० ॥

प्रसूता के लिये वर्ज्य—प्रायः पर्याप्त गरम जल से प्रसूता को स्नान करावे। उसको चाहिये कि क्रोध, श्रम तथा मैथुन आदि न करे ॥ २० ॥

विमर्श:—आतुरोपद्रव-चिकित्सित अध्याय में कही हुई क्रोधादि १५ चीजें छोड दे।

मिथ्याऽऽचारात्सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥२१॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥२२॥

सूतिका के विकार कष्टसाध्य होते हैं—प्रसूता को मिथ्याऽऽचार और अपतर्पण से जो रोग उत्पन्न होता है वह यथाक्रम कष्टसाध्य अथवा असाध्य होता है। इस लिये देश-काल और व्याधि के लिये सात्म्यकर्म कौन से है यह जान कर चिकित्सा करे। जिसमें अत्यय (विनाश) को वह प्राप्त न हो॥२१-२२॥

विमर्श:—प्रसूता के लिए सात्म्य चीजों का और देश तथा काल का विशेष ध्यान रखना चाहिये। एक ही प्रकार की चिकित्सा सर्वत्र अनुपयुक्त होती है।

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वाकटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः ('चास्याः' पाठः) पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या ('चास्या' पाठः) महावृक्ष क्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शाल- ('शालि' पाठः)मूलकल्कं वा पिप्पल्यादि वा मद्येन, सिद्धार्थक-कुष्ठ-लाङ्गली-महावृक्ष-क्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात्। स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनाचरेत् ॥ २३ ॥

अपरा पतन न होने पर—अपरा पतन न होने से पेट फूलना और आध्मान हो जाता है। इस लिये प्रसूता के गले में अङ्गुलि को बाल से लपेट कर घुमावे, कडवी तुम्बी, कृतवेधन (कडवी तरोई कोशातकी), सरसो और सांप को केचुली कडुए तेल में मिला कर योनि का धूपन करे, अथवा लांगली (कलिहारी) की जड के कल्क से हाथ पैरों के तल प्रदेश पर लेप करे, किंवा प्रसूता के माथे पर सेहुण्ड के दूध का चिंसन करे अथवा कुष्ठ और कलिहारी की जड के कल्क को मद्य अथवा गोमूत्र के साथ पिलावे, शाल मूल-कल्क अथवा पिप्पल्यादि गण के चूर्ण को मद्य से पिलावे अथवा सरसो, कुष्ठ, लांगली (कलिहारी), सेहुण्ड के दूध के साथ अथवा सुरामण्ड से अस्थापन करे। इन्हीं औषधों से सिद्ध किये हुए सरसों के तेल से उत्तर वस्ति देना चाहिये अथवा नख काट कर, हाथ को चिकना बनाकर अपरा निकालना चाहिये॥

विमर्श.—अपरा का (Placenta) पतन न होने से नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। उसका अंश भी भीतर रहे तो बहुत उपद्रव होते हैं।

अपरा निकालने के लिए ९ विधियाँ ऊपर बता दी गई है। चरकसंहिता में हस्तक्रिया से अपरा-पातन करने को लिखा है। दाहिने हाथ से नाभि के ऊपर दबावे और बायाँ हाथ पीठ पर रखे और अच्छी तरह हिलावे। इससे अपरा का पतन होता है। इसी से मिलती हुई आधुनिक काल की भी विधि होती है।

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं (अवशोषितं 'पा') रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्ध नाभेरधःपार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति; ततश्च नाभिवस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम्।

मक्कल रोग के लक्षण—रूक्ष शरीर वाली प्रसूता स्त्री के तीक्ष्ण औषधों से सूखे हुए रक्त में, उस स्थान की वायु नाभि के नीचे, पार्श्वों में, वस्ति में अथवा वस्तिशीर्ष में ग्रन्थि उत्पन्न करती है। पश्चात् नाभि, वस्ति और उदर में शूल होता है, पक्वाशय में सुई चुभने के समान पीडा होती है और वह फटता हुआ सा मालूम होता है। पेट चारो ओर से फूलता है, मूत्र रुकता है। ये मक्कल्ल के लक्षण है ॥ २४ ॥

विमर्श.—प्रसूता की प्रसूति के कारण न निकले हुए रक्त से उत्पन्न होने वाला शूल मक्कल्ल कहा जाता है। सुश्रुत संहिता में 'प्रजातायाश्चोत्तरकाल तीक्ष्णैरवशोषित रक्तं मक्कल्लं करोति' ऐसा लक्षण है। 'च' कारसे अप्रजाता भी समझना चाहिये।

तत्र वीरतर्वादिसिद्ध जलमूषकादिप्रतीवाप पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा सुखोदकेन पिप्पल्यादिकाथेन

वा, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिकाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादिकाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुचतुर्जातकधनिकुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिवेदरिष्टमिति ॥ २५ ॥

मक्कल रोग की चिकित्सा—मक्कल शूल पर वीरतर्वादिगण से सिद्ध किये हुए जल में ऊषकादिगण का प्रक्षेप करके पिलाना चाहिये। यवक्षार चूर्ण कोष्ण जल से अथवा पिप्पल्यादि क्वाथ से दे। अथवा पिप्पल्यादि चूर्ण सुरामण्ड के साथ दे। वरुणादिगण के क्वाथ में पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पली मूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) और इलायची का प्रक्षेप देकर पिलावे। पृथक् पर्ण्यादि-कषाय में देवदारु और काली मिर्च मिला कर दे। त्रिकटु, चतुर्जात और धनियां के साथ पुराना गुड मिला कर दे। अथवा स्वच्छ अरिष्ट पिलावे॥

विमर्श—उपर्युक्त सात प्रयोगों में से यथासम्भव किसी एक का प्रयोग करना चाहिये।

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवत्यास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलु-वदरी-निम्ब परूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववस्तृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत।

बालक की सेवा—बालक को रेशमी कपड़ा पहना कर, रेशम बिछाये हुए बिछौने पर सुलाना चाहिये। पीलु-बेर-निम्ब और फालसे की डाल से उसको पंखा करे। बालक के माथे पर तेल में भिगोया हुआ फोवा रखना चाहिये। रक्षोघ्न धूपों से उसको धूपन करे। हाथ, पैर, माथा और गर्दन पर रक्षोघ्न पदार्थों को बांधे। तिल, तीसी और सरसों के कणों को फैलावे, सूतिकागार में अग्नि जलाये और व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे हुए विधानों का आचरण करे॥ २६॥

विमर्श—बालक का कोमल शरीर होने के कारण अत्यन्त सावधान रह कर सेवा करनी चाहिये।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा॥ २७॥

नामकरण—बाद दसवें दिन माता और पिता मंगलोत्सव तथा स्वस्ति-वाचन करके अभीष्ट अथवा नक्षत्र के अनुसार नाम करण करें॥ २७॥

विमर्श—नक्षत्र नाम अर्थात् उस नक्षत्र के देवता का नाम रखना चाहिये।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामनो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य।

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्॥ २८॥

धात्रीनियुक्ति-विचार—उसके पश्चात् (बालक के) ब्राह्मणादि वर्ण के अनुसार धात्री (दाई) की योजना करे। वह धात्री मध्यम शरीरवाली, मध्यम वयस्का, नीरोग, शीलवती, अचचला, अलोभिनी होनी चाहिये, न दुबली हो, न मोटी, स्वच्छ दूध वाली हो, उसके ओठ लम्बे न हों, स्तन भी लम्बे या ऊर्ध्व न हों, अव्यङ्ग, निर्व्यसन, जीवित बालक वाली, यथेष्ट दुग्ध युक्त, प्रेम करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, अच्छे कुल में उत्पन्न होने के कारण बहुत गुणों से युक्त, एवं श्यामा लक्षणविशिष्ट हो। इस प्रकार की धात्री बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि करने के लिये होती है। ऊर्ध्व स्तन वाली धात्री का दुग्ध पिलाने से कराल मुख होता है। बड़े स्तन होने पर बालक की नाक और मुख ढक जाने के कारण मरण तक हो सकता है॥ २८॥

विमर्श—माता के दुग्ध के अभाव में धात्री का दुग्ध देना उचित होता है। मानव जाति से भिन्न प्राणियों का दुग्ध (बालक को) पिलाने से नाना प्रकार के अजीर्ण जन्य रोग उत्पन्न होते हैं। श्यामा के लक्षण—'शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्त्तिता।'

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत।

दुग्धपान विधि—अच्छे मुहूर्त्त में बालक को शिर से स्नान कराकर, नये वस्त्र पहना कर उत्तर की ओर मुख करके बैठावे, दाई को पूर्व की ओर मुख करके बैठाकर दक्षिण (दाहिना) स्तन को धोकर, थोडा सा दूध बाहर निकालकर निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित करके पिलाना चाहिये॥२९॥

विमर्श—प्रथम बार मन्त्रपूर्वक पिलाया जाता है, जिससे बल और आयु प्राप्त होते हैं।

मन्त्रः—

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे! नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥ ३०॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने!।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हे सुभगे! तुम्हारे स्तनों में दुग्ध को वहन करनेवाले चारों समुद्र बालक के बल की वृद्धि के लिये हों।

शुभानने! जिस प्रकार देवता अमृत का सेवन करने से दीर्घायु हुए, उसी प्रकार तुम्हारा अमृत-रसमय दुग्ध-पान कर बालक दीर्घायु हो॥ ३०-३१॥

विमर्श—यहाँ दूध को अमृत की उपमा दी गई है। सब रोगों को दूर रखते हुए बलप्रद केवल माता का दुग्ध ही होता है। अन्य पेय उसके सामने तुच्छ हैं।

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति॥ ३२॥

अनेक दाइयों की नियुक्ति न करे—यदि बार-बार दाई

बदली जाय तो नाना प्रकार के दूध मिलकर अमात्म्य के कारण व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। इसलिये एक ही दाई को रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

विमर्शः—यदि स्त्रियों का दूध न दिया जाय तो स्वास्थ्य तो बिगडता है ही, साथ ही बालकों की अजीर्णता के कारण यकृत् वृद्धि भी होती है।

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमिप्रादुर्भावः। तस्मादेवविधं स्तन्यं न पाययेत् ॥ ३३ ॥

दूध पिलाने के पूर्व दूध निकालने की आवश्यकता—यदि दुग्ध न निकालते हुए बालक को पिलाया जाय तो कास, श्वास, वमि (कै) की उत्पत्ति होती है क्योंकि बहुत देर से रुके हुए दूध से पूर्ण स्तनों का पान करने से स्रोत रुक जाते हैं जिससे उपर्युक्त उपद्रव होते हैं। अतः इस प्रकार का (दूध निकाले बिना) दूध न पिलाना चाहिये ॥ ३३ ॥

विमर्श—स्तन से थोडा सा दूध निकाल देने पर स्तन के मार्ग का संशोधन होता है और ऊपर ही ऊपर रहा हुआ गन्दा दूध निकल जाता है।

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यव-गोधूम-शालि-षष्टिक-मांसरस सुरा-सौवीरक-पिण्याक लशुन-मत्स्य-कशेरुक-शृङ्गाटक-बिस-विदारीकन्द-मधुक-शतावरी-नलिका ऽलाबु-कालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥ ३४ ॥

स्तन्य नाश के कारण और उसके वर्धन के उपाय—क्रोध से, शोक से, तथा वात्सल्य (प्रेम) के न होने से स्त्रियों के दुग्ध का नाश होता है। स्त्री के दूध उत्पन्न होने के लिये उसे प्रसन्न करके जौ, गेहूँ, शालि-साठी चावल, मांसरस (सुर्वा), सुरा (मद्य), सौवीरक (काजी), पिण्याक (तिलकल्क), लहसुन, मत्स्य (मछली), कशेरुक (कमेरू), सिंघाडा, बिस, विदारीकंद, मुलेठी, शतावर, नालिका (शाकविशेष), अलाबु (कद्दू), कालशाक इत्यादि पदार्थों को खिलाना चाहिये ॥ ३४ ॥

विमर्श—दुग्ध उत्पन्न करने के लिये मन की प्रसन्नता अत्यावश्यक है। मन प्रसन्न होने पर दुग्धोत्पादक ओषधि देने से फल शीघ्र होता है—अन्यथा नहीं।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खाभासामप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति ॥ ३५ ॥

दुग्ध-परीक्षा—धात्री का दूध जल में छोडकर परीक्षा करनी चाहिये। वह दूध यदि ठण्डा, स्वच्छ, पतला और सफेद हो तथा जल में छोडने पर उसमें घुलने वाला हो, उस पर फेन न आवे, तन्तु रहित हो, जल पर तैरने वाला अथवा डूबने वाला भी न हो तो उसे शुद्ध दूध समझना चाहिये। उस दूध से बालक को अरोग्य, शरीर की पुष्टि और बल की वृद्धि प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥

विमर्शः—यहाँ दूध की स्वाभाविक परीक्षा (Physical examination) दी गयी है।

न च क्षुधित-शोकार्त्त-श्रान्त-प्रदुष्टधातु,गर्भिणी-ज्वरिता-ऽतिक्षीणा-ऽतिस्थूल-विदग्धभक्त(भक्ष्य 'पा')-विरुद्धाहार-तर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्, नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥३६॥

किस प्रकार की दाई का दूध न पिलावे—जो धात्री भूखी हो, शोक से पीडित हो, थकी हुई हो, दुष्ट धातुवाली, गर्भिणी, ज्वर से पीडित, बहुत क्षीण, स्थूल, विदग्ध भोजन किये हुई, विरुद्ध आहार किये हुई हो तो उसका दूध न पिलाना चाहिये। बालक को दी हुई औषध जीर्ण न हुई हो तो भी न पिलाना चाहिये क्योंकि इससे दोष, औषध और मलों की तीव्र वेगोत्पत्ति होने का भय रहता है ॥३६॥

विमर्शः—दाई उपर्युक्त दोषों से रहित हो तो भी बालक के जीर्णाजीर्ण औषधों का ध्यान रखना ही चाहिये। उसी प्रकार बालक यद्यपि स्वस्थ हो तो भी धात्री को तो कोई विकार नहीं है इसका भी ध्यान रखना चाहिये अर्थात् दोनों को स्वस्थ होना चाहिये।

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥३७॥
मिथ्याऽऽहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ॥
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥३८॥

धात्री के गुरुभोजन, विषम आहार और दोषयुक्त आहारों के कारण शरीर में दोष कुपित होते हैं। पश्चात् दुग्ध दूषित होता है। विरुद्ध आहार और विहार करने वाली स्त्रियों के वात पित्तादि दोष कुपित होते हुए दुग्ध को दूषित करते हैं, जिस कारण बालक के शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये कुशल वैद्य उन व्याधियों को अच्छी तरह समझ ले ॥ ३७-३८ ॥

विमर्शः—बालक तीन प्रकार के होते हैं। १—स्तन्यपान करने वाले, २—अन्न ग्रहण करने वाले और ३ अन्न और स्तन्य पान करने वाले। स्तन्य पान करने वाले बालकों को कोई भी रोग पैदा हो तो उसकी धात्री के आहार-विहार का विचार करना चाहिये। अन्न और स्तन्य लेने वाले बालकों के विकार में धात्री और बालक दोनों के आहार और आचारों का ख्याल रखे।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग-देशे तु रुजा यत्रास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥३९॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत्।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्त्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥४०॥
विण्मूत्रसङ्ग-वैवर्ण्य-च्छर्द्यांध्मानान्त्रकूजनैः।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥४१॥

बालक के रोग जानने का प्रकार—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में जहाँ कहीं रोग उत्पन्न होता है उस स्थान को बालक बार-बार स्पर्श करता है और स्पर्श करने पर रोता है।

मूर्द्धा (मस्तक) में विकार हो तो आँख बन्द कर लेता है और शिर को धारण नहीं कर सकता। बस्ति में पीडा हो तो मूत्र रुकता है और पीडा होती है, प्यास लगती है तथा मूर्च्छा आती है।

मल-मूत्र का रुकना, विवर्ण होना, कै हो जाना, पेट फूलना, पेट में शब्द होना इनसे कोष्ठगत दोषों का होना समझना चाहिये और विशेष रोने से सर्व शरीर में दोष है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९-४१ ॥

विमर्श—बालकों के विकारों की परीक्षा उसके रोने से और स्पर्श किये जाने वाले अङ्गों से करनी पडती है।

तेषु यथाऽभिहितं मृद्वल्पछेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा संयुक्तं विद्ध्यात्, धात्र्याश्च केवलं, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च पूर्ववत्, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः ॥ ४२ ॥

बालकों के विकारों में औषध किसको देना चाहिये ?—बालकों के विकारों में रोग के अनुसार मृदु और कफ तथा मेद को नष्ट करने वाली ओषधि मात्रापूर्वक दूध पीने वाले बालक को दूध और घी के साथ देनी चाहिये और धात्री को केवल औषध ही देनी चाहिये। दूध और अन्न खाने वाला बालक हो तो उसे स्वयं और धात्री दोनों को देना चाहिये। अन्न खाने वाला बालक हो तो कषायादि औषध उसे ही देना चाहिये, धात्री को नहीं ॥ ४२ ॥

विमर्शः—स्तन्यपान करने वाले बालक को उसकी ही धात्री के दूध के साथ औषध दी जाती है।

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसंमितामौषधमात्रां विद्ध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसमितामन्नादायेति ॥ ४३ ॥

औषध मात्रा—स्तन्यपान करने वाले एक महीने के ऊपर वाले बालक को एक चुटकी मात्रा देनी चाहिये। स्तन्य और अन्न ग्रहण करने वाले बालक को बेर की गुठली के बराबर मात्रा देनी चाहिये। केवल अन्न ग्रहण करने वाले बालक को बेर के बराबर मात्रा देनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विमर्श—औषध को दूध, घी और मिश्री में मिला कर देना चाहिये। तन्त्रान्तर में भी दिया है, यथा—'प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका। अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुसर्पिरभिनाधृतैः। एकैकां वर्धयेत्तावद्यावत् संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं मात्रावृद्धिः स्याद्यावत्षोडशकाब्दिकः।' यहाँ यह ख्याल रहे कि उपर्युक्त मात्रा नूतन वनस्पति की और अनुपान युक्त है। इसलिये अग्नि, बल, वय, द्रव्य इत्यादि को समझ कर मात्रा निर्धारित करे।

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेषु तत्कल्कसलिलौ पाययेत् शिशुं स्तनौ ॥ ४४ ॥

कल्क से स्तन-लेप करे—जिन जिन विकारों के योग कहे जायेंगे उन उन रोगों में उन उन योगों के कल्क स्तनों पर लगा कर बालक को पिलाना चाहिये ॥ ४४ ॥

विमर्श—यदि बालक औषधमात्रा ग्रहण न कर सके तो स्तनों पर औषध का लेप लगा दे और लेप सूखने पर निकाल दे। पश्चात् स्तनों को धोकर बालक को दूध पिला दे।

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे।
स्तन्यपागाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥ ४५ ॥
न च तृष्णाभयादत्र पाययेत् शिशुं स्तनौ।
विरेक-वस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥ ४६ ॥

ज्वर की विशेष चिकित्सा—स्तन्य-पान करने वाले बालक को वात, पित्त और कफ ज्वरों में यथाक्रम एक, दो अथवा तीन दिन तक घी नहीं पिलाना चाहिये किन्तु दूध और अन्न ग्रहण करने वाले बालक तथा अन्न ग्रहण करने वाले बालक को उचित जान पड़े तो घी देना चाहिये। प्यास लगेगी, ऐसा समझ कर दूध नहीं पिलाना चाहिये। उसी प्रकार बस्ति, विरेचन और वमन-आत्ययिक काल को छोड कर न देना चाहिये ॥ ४५-४६ ॥

विमर्शः—बालक के ज्वर में स्नेहन, वमन, विरेचन तथा आस्थापन न देना चाहिये। उसी प्रकार अग्नि प्रदीप्त होने के लिये दूध भी न देना चाहिये। उसके साथ-साथ यह भी ख्याल रखे कि बुखार का वेग कम होने पर और अग्नि प्रदीप्त होने पर दूध पिला सकते हैं।

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तालुवस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः श्रृतम्।
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा ॥ ४७ ॥

तालुपान की चिकित्सा—मस्तुलुङ्ग के क्षय के कारण वायु तालुवस्थि को दबा देता है। तब बालक तृषा से दीन होता है। उसके लिये पान और अभ्यञ्जन के लिये मधुर द्रव्यों से बनाये हुए घी का प्रयोग करना चाहिये। उसी प्रकार ठण्डे जल से सिञ्चन करके बालक को उद्वेजित करना चाहिये ॥ ४७ ॥

विमर्श—मस्तुलुङ्ग (Brain matter) कम होने पर पान और अभ्यङ्ग के लिये मधुर द्रव्यों से बनाये हुए घृत का प्रयोग करना चाहिये।

वातेनाध्मापिता नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥ ४८ ॥
गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥ ४९ ॥

तुण्डनाभि और गुदापाक चिकित्सा—वायु से नाभि फूल गई हो और उसमें वेदना हो तो उसे 'तुण्डिनाभि' कहते हैं, उसको वातनाशक स्नेह, स्वेद और उपनाहों से शमन करना चाहिये।

बालकों को गुदापाक हो तो उस पर पित्तघ्नी-चिकित्सा करे, विशेष कर रसाञ्जन (रसौत) का पान और लेप के लिये प्रयोग हितकर होता है ॥ ४८-४९ ॥

विमर्शः—तुण्डिनाभि होने से उस जगह की पेशियाँ ढीली होती हैं जिस कारण आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) होना सम्भव होता है।

गुदपाक के लिये पेट में लेने के लिये गुलाबजल में घोट रसाञ्जन की शुद्धि करने के पश्चात् उसका प्रयोग करना चाहिये। उसकी मात्रा ½ से १ रत्ती होती है।

क्षीराहाराय-सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थक-वचा-मांसी-पयस्या-ऽपामार्ग-शतावरी-सारिवा-ब्राह्मी-पिप्पली-हरिद्रा-कुष्ठ-सैन्धव-सिद्धम्।

क्षीरान्नादायमधुक-वचा-पिप्पली-चित्रक-त्रिफला-सिद्धम्।

अन्नादाय द्विपञ्चमूली-क्षीर-तगरभद्रदारु-मरिच-मधुक-विडङ्ग-द्राक्षादि (द्राक्षार्धि 'पा') ब्राह्मीसिद्धम्।

तेनारोग्यबलमेधाऽऽयूंषि शिशोर्भवन्ति ॥ ५० ॥

घृतपान विधि—स्तन्यपान करने वाले बालक को सिद्धार्थक (सफेद सरसों), वच, जटामासी, पयस्या (क्षीरकाकोली), अपामार्ग (चिंचेडा), शतावर, सारिवा (अनन्तमूल), ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, सुगन्ध कूठ और सेंधानमक से सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे।

क्षीर और अन्न लेने वाले बालक के लिये मुलेठी, वच, पिप्पली, चित्रक और त्रिफला से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिये।

अन्न लेने वाले बालकों को दोनों पञ्चमूल, क्षीरविदारी, तगर, भद्रदारु (देवदारु), गोलमिर्च, मधुक (मुलेठी), विडङ्ग (वायविडङ्ग), द्राक्षा (मुनक्का) और दोनों ब्राह्मी (मण्डूकपर्णी और ब्राह्मी) साधित घृत दे।

इस प्रकार का घृत देने से आरोग्य, बल, मेधा और आयु की वृद्धि होती है॥ ५० ॥

विमर्शः—तीनों प्रकारों के बालकों को तीन प्रकारों के भिन्न-भिन्न घृत दिये जाते हैं।

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैवं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्त्तेत प्रियशतैरजिघांसुः, एवमनभिहतमना ह्यभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति।

वाता-ऽऽतप-विद्युत्प्रभा-पादप-लता-शून्यागार-निम्नस्थान-ग्रहच्छायाऽऽदिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥ ५१ ॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥ ५२ ॥

बालक के साथ वर्ताव कैसा हो?—बालक को जिसमें तकलीफ न हो, ऐसे लेना चाहिये। उसको तर्जन न करे। उसे भय मालूम न हो, इसलिये अकस्मात् कभी न जगावे। बालक को एकदम दूसरों से खींच न ले अथवा ऊपर न उठावे अन्यथा वातादि दोष कुपित होने का डर रहता है। उसको बैठा न रखे, नहीं तो उसके कुबड़ा होने का डर रहता है। अजिघांसु (मन का उद्वेग न करते हुए) प्रियकर पदार्थों से उसके मन की रक्षा करे।

इस प्रकार अनुद्विग्न मन वाला बालक हर समय बढ़ता है और बलिष्ठ, नीरोग एवं सुप्रसन्न रहता है।

वायु (आंधी), कड़ी धूप, विद्युत्प्रभा (बिजली की चमक), पादप (पेड़), लता, शून्यगृह, निम्नस्थान (गुहा, कुवाँ वगैरह), ग्रहच्छाया और दुष्टग्रहों की पीडा से बालक की रक्षा करनी चाहिये।

अशुद्ध (गन्दे) स्थान में, आकाश में (शून्य स्थान या अन्धेरा में), ऊँची-नीची जगह पर, घाम, हवा, वर्षा, धूल, धूम और जल में उसको न छोडे ॥ ५१-५२ ॥

विमर्शः—बालक को शारीरिक और मानसिक पीडा न हो इसके लिये सर्वप्रकार से प्रयत्न करना चाहिये।

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि च।
दद्यादास्तन्यपर्याप्ते-र्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥ ५३ ॥

स्त्री दुग्ध न मिले तो क्या करे?—बालक को दुग्ध सात्म्य जानकर उसे बकरी अथवा गौ का दूध, माता के पर्याप्त दूध न होने पर, यथोचित मात्रा में देना चाहिये ॥ ५३ ॥

विमर्शः—यद्यपि स्त्रियों के दुग्ध से भिन्न दुग्ध पिलाने से बालक की पाचन-शक्ति बिगड़ती है तो भी दुग्ध सात्म्य होने के कारण देना चाहिये।

षण्मासात् (षण्मासं 'पा') चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च॥

अन्न प्राशन कब करावे—छः महीने के पश्चात् बालक को लघु और हितकर अन्न देना चाहिये ॥ ५४ ॥

विमर्शः—छः महीने के पश्चात् स्तन्य और लघु अन्न दोनों दिया जाता है।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्, प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥ ५५ ॥

बालक की रक्षा कैसे करे?—निरन्त अवरोध (अन्तःपुर) में बालक रहे। उपसर्ग (गिरना इत्यादि) भय से उसकी रक्षा करे। ग्रहों के उपद्रवों से यत्नपूर्वक बालक की रक्षा करे॥

विमर्शः—मणि, मन्त्रादिकों से ग्रहों की शान्ति होती है और शारीरिक बाधा न हो इसके लिये आप्तवर्ग और नौकर-चाकरों के बीच में बालक को रखना चाहिये।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति, नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नाभवर्चा दीनार्त्तस्वरो निशि जागर्त्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्य-च्छुच्छुन्दरी-मत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तम्, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५६ ॥

ग्रहों से पीडित बालक के लक्षणः—बालक खिन्न होता है, उसको पीडा होती है, रोता है, सज्ञाहीन होता है, नख और दांतों से अपने और धात्री को काटता है, दांत किटकिटाता है, कूं कूं आवाज करता है, जम्भाई लेता है, भृकुटियों को सिकोड़ता है, ऊपर देखता है, मुह से फेन निकालता है, क्रूर होते हुए होंठ काटता है, मल पतला और कच्चा ही निकलता है, दीन और दुःखयुक्त स्वर रहता है, रात में जागता है, दुर्बल होता है, अङ्ग म्लान होते हैं, मछली,

छछुन्दर और खटमलों के समान शरीर से गन्ध आती है, पहले के समान दूध पीने की इच्छा नहीं करता है, ये सामान्यतया ग्रहों से पीड़ित बालकों के लक्षण बताये गये हैं। उत्तर तन्त्र में विस्तार से वर्णन करेंगे ॥ ५५ ॥

विमर्श:—माधवनिदान में उपर्युक्त लक्षण पद्य में दिये गये हैं। यथा'—

'क्षणादुद्विजते बालः क्षणाद्धसति रोदिति।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव च॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते।
भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत्॥
क्षामोऽति निशि जागर्त्ति शूनाक्षो भिन्नविट्स्वरः।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा॥
सामान्यं ग्रहदुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम्।
(बालरोग-निदानम्)

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५७॥

विद्याग्रहणकाल:—बालक जब शक्तिमान् हो जाय तो वर्ण के अनुसार उसको विद्या पढ़ानी चाहिये ॥ ५७ ॥

विमर्श'—विद्याग्रहण सामर्थ्य मानसिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतः मानसिक उन्नति होने पर ब्राह्मण को दण्ड-नीति और वैश्य को व्यापार विषयक ज्ञान कराना चाहिये।

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां (षोडश वर्षां 'पा') पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥

विवाह काल—विद्याध्ययन होने के पश्चात् पच्चीस वर्ष की अवस्था में युवक को द्वादश वर्ष वाली बाला के साथ विवाह कराना चाहिये। उससे वह पितृकार्य (श्राद्ध पक्षादि), धर्म-कार्य (यज्ञयागादि श्रुतिस्मृति प्रमाणित), अर्थ (सुवर्ण, रौप्य, पैसा आदि), काम और प्रजा को प्राप्त करता है ॥५८॥

विमर्श—वैद्यक और धर्मशास्त्र के मतानुसार विवाह विषय-लालसा की तृप्ति के लिये नहीं बल्कि धर्म, अर्थ आदि के लिये होना है।

ऊनषोडशवर्षायां (ऊनद्वादशवर्षायां 'पा') मप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्यावत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थं स विपद्यते ॥ ५९ ॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥ ६० ॥

उपर्युक्त काल से कम आयु वाले पति पत्नी होने पर दोष.—सोलह साल के पूर्व कन्या को यदि पच्चीस साल से कम पुरुष का गर्भ रहे तो वह गर्भ पेट में ही नष्ट होता है। यदि गर्भ से बालक उत्पन्न हो तो वह बहुत दिन नहीं जीता, यदि जीता रहे तो भी वह दुर्बलेन्द्रिय बन जाता है। इसलिये बहुत छोटी बाला को गर्भ धारण न करवावे ॥ ५९-६० ॥

विमर्श—पाठ भेद के अनुसार सोलह साल के पूर्वके स्थान में द्वादश वर्ष से कम वयस्क की बाला को गर्भ धारण न कराना कहा गया है।

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्याप्येवविधस्य न ह्यत्र दोषाः सम्भवन्ति ॥ ६१ ॥

गर्भाधान न करने योग्य व्यक्ति:—यदि उपर्युक्त अवस्था में गर्भ रहे तो वह कुक्षि में ही मरता है अथवा जीता रहने पर भी रोगयुक्त होता है ॥ ६१ ॥

(अ) तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशय-कटी-वङ्क्षण-वस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयसृतक्षीरपानैश्च।

गर्भदोष-चिकित्सा—(अ) पूर्वोक्त (मूढगर्भ निदान में कहे अनुसार) गर्भ पतन होनेवाला हो तो गर्भाशय, कमर, वङ्क्षण और वस्ति प्रदेश में शूल तथा रक्त का प्रादुर्भाव—ये लक्षण होते हैं। उस समय ठण्डे परिषेक, अवगाहन और लेपों से उपचार करे। जीवनीय गणोक्त ओषधियों से सिद्ध किये हुए दुग्ध से चिकित्सा करे।

(आ) गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्संधारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्।

(आ) गर्भस्फुरण हो तो उसका संधारण करने के लिये बार-बार उत्पलादि गण से सिद्ध किया हुआ दूध पिलाना चाहिये।

(इ) प्रस्रंसमाने—सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात्स्थानं च प्रक्रामति गर्भे—कोष्ठे संरम्भः; तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः।

(इ) गर्भ का स्राव होता हो तो दाह के साथ बगल और पृष्ठ में शूल होता है, असृग्दर (रक्तप्रदर), आनाह (पेट फूलना) और मूत्रसंग (मूत्रावरोध) ये लक्षण होते हैं। गर्भ एक स्थान से दूसरी ओर जाता हो तो कोष्ठ में क्षोभ होता है। उस पर स्निग्ध क्रिया करे।

(ई) वेदनायां—महासहा-क्षुद्रसहा-मधुक-स्वदंष्ट्रा-कण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्; मूत्रसङ्गे—दर्भादिसिद्धम्; आनाहे—हिङ्गु-सौवर्चल-लशुनवचासिद्धम्।

(ई) वेदना हो तो महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), मधुक (मुलेठी), स्वदंष्ट्रा (गोखरू) और कण्टकारी (भटकटैया) से सिद्ध किये हुए दूध में मिश्री और मधु मिलाकर पिलावे। मूत्रसंग होने पर दर्भादि से सिद्ध किया हुआ दुग्ध पिलावे। आनाह (पेट फूलता) हो तो सौवर्चल का प्रक्षेप डाल कर लहसुन और वच से सिद्ध किया हुआ दूध हींग मिलाकर पिलाना चाहिये।

(उ) अत्यर्थं स्रवति रक्ते—कोष्ठागारिकाऽगारमृत्पिण्ड-समङ्गाधातकी-कुसुम-नवमालिका-गैरिक-मर्जरस-रसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक् प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरु-शृङ्गाटक-शालूककल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलोदककन्दकाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्।

(उ) रक्तस्राव ज्यादा होता हो तो कोष्ठागारिका नामक कीटक के घर की मृत्तिका, समङ्गा, धाय का फूल, नवमल्लिका

(वनमल्लिका), गेरू, राल और रसाञ्जन इनमें से जो द्रव्य मिल सकें उनका चूर्ण मधु के साथ चटावे, अथवा न्यग्रोधादि (वटादि) की छाल या उनके पत्तों का कल्क दूध के साथ पिलाना चाहिये। उत्पलादि कल्क अथवा कसेरू, सिंघाड़ा और शालूक (कमलकन्द) का कल्क उबाले हुए दुग्ध के साथ पिलाना चाहिये, अथवा गूलर के फल और जल में पैदा होनेवाले कन्द के क्वाथ को शर्करा और मधु से मीठा बनाकर शालिधान्य का कल्क अथवा चूर्ण देना चाहिए, अथवा वटादि स्वरसों में भिगोये हुए वस्त्रों को योनि में धारण कराना चाहिये।

(ऊ) अथादृष्टशोणितवेदनायां—मधुक-देवदारु-मञ्जिष्ठा-पयस्यासिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्मन्तक-शतावरी-पयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहती-द्वयोत्पल-शतावरी-सारिवा-पयस्या-मधुकसिद्ध वा, एवमुपक्रान्ताया उपावर्त्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते।

(ऊ) यदि वेदना हो पर रक्त का स्राव न दिखाई दे तो, मुलेठी, देवदारु, मञ्जिष्ठा और पयस्या (क्षीरकाकोली डल्हण के मत से अर्कपुष्पी) से सिद्ध किया दुग्ध पिलावे। अथवा अश्मन्तक (पाषाणभेद), शतावर और पयस्या (क्षीरकाकोली) से सिद्ध किया हुआ दूध पिलावे।

अथवा विदारीगन्ध गण से सिद्ध किया हुआ दूध पिलावे।

अथवा दोनों बृहती, नीलकमल, शतावर, सारिवा, क्षीरकाकोली और मुलेठी से साधित दुग्ध पिलाना चाहिये।

इस प्रकार चिकित्सा करने पर पीड़ा शान्त होती है और गर्भ बढ़ने लगता है।

(ए) व्यवस्थिते च गर्भे—गव्येनोदुम्बरशलाटु-सिद्धेन पयसा भोजयेत्।

(ए) गर्भ व्यवस्थित होने पर गूलर के शलाटु (कोमल फल) से सिद्ध किये हुए गोदुग्ध के साथ भोजन कराना चाहिये।

(ऐ) अतीते—लवणस्नेहवर्ज्यैर्भिर्यवागूभिरुद्दाल-कादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत् यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि।

(ऐ) गर्भपतन होने पर लवण और स्नेहों से रहित, उद्दालक (जङ्गली कोदो) आदि से बनाया हुआ यवागू पाचनीय द्रव्यों के साथ जितने मास का गर्भपतन हो गया हो उतने दिन तक पिलाना चाहिये।

(ओ) बस्त्युदरशूलेषु—पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा।

(ओ) वस्ति और उदरशूल हो तो दीपनीय द्रव्यों से युक्त पुराना गुड़ अथवा अरिष्ट देना चाहिये।

(औ) वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहा-दिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्लेशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माष-तिल-बिल्व-शलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधु माध्वीकं चानुपिबेत्सप्तरात्रम्।

(औ) वात के उपद्रवों के कारण स्रोतसों में गर्भ लीन होता है, पश्चात् बहुत दिन वहाँ रहने पर मर जाता है, तब मृदु स्नेह, स्वेदादि क्रम से चिकित्सा करनी चाहिये। उत्क्लेश (कुरर का भेद) के मांस रस के साथ पकाया हुआ यवागू बहुत स्नेह देकर पिलावे, माष (उड़द), तिल, बिल्व के कोमल फलों से सिद्ध किये हुए कुल्माषों को खिलाना चाहिये तथा सात दिन तक ऊपर से मधु और माध्वीक (सुरा) पिलाना चाहिये।

(अं) कालातीतस्थायिनि गर्भे—विशेषतः सधा-न्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत।

(अ) कालातीत गर्भ हो तो ऊखल में धान्य डालकर उसको मूसल से कूटना चाहिये अथवा विषम (ऊँचा-नीचा) आसन या सवारी पर बैठाना चाहिये।

(अः) वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयो-भिर्मांसरसैश्चोपचरेत्।

(अः) जब गर्भ वायु से आक्रान्त होता है तब माता की कुक्षि को पूर्णतया व्याप्त नहीं करता है और उसका स्फुरण भी धीरे-धीरे होता है। उस अवस्था में बृंहणीय दूध और मांसरस देकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

(क) शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजी-वमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैग-मेपाहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः, तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥ ६२॥

(क) शुक्र और शोणित जब वायु से युक्त होते हैं तब उनमें जीवात्मा मिलता है जिससे पेट फूलता है, किन्तु कोई भी कारण न होते हुए भी कदाचित् पेट पिचक जाता है तो उसे नैगमेप ने हरण किया ऐसा लोग कहते हैं। यदि वही पेट कदाचित् अत्यन्त लीन हो जाय तो उसे नागोदर कहते हैं।

नैगमेप और नागोदर में लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिये॥ ६२॥

विमर्शः—गर्भस्राव के प्रकार, उनके लक्षण और चिकित्सा यहा बता दी गयी है।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं व्याख्यास्यामः।
मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी॥६३॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा राज्ञा पद्मा मधुकमेव च॥६४॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका॥६५॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः॥६६॥
कपित्थ-बृहती-बिल्व-पटोले क्षु-निदिग्धिका-
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्विषगष्टमे॥६७॥
नवमे मधुका-नन्ता-पयस्या-सारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम्॥६८॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति॥६९॥

गर्भस्राव न हो इसलिये मासानुमास चिकित्सा—इसके पश्चात् प्रत्येक मास में देनेवाली ओषधियाँ कहेंगे।

प्रथम महीने में—मुलेठी, सागवान के बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु; ये दूध के साथ देना चाहिये। दूध का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ के साथ लगाना चाहिये। द्वितीय मास में—अश्मन्तक, काले तिल, ताम्रवल्ली (मक्षिष्ठा) और शतावर। तृतीय मास में—वृद्धादनी (बाँदा), पयस्या (क्षीरकाकोली), लता (प्रियंगु), नीलोत्पल तथा सारिवा (अनन्तमूल)। चतुर्थ मास में—अनन्ता (दूर्वा), सारिवा (अनन्तमूल) राना, पद्मा (पद्मचारिणी अथवा भार्गी) और मुलेठी। पंचम मास में—दोनों बृहती, काश्मरी (गम्भारी), क्षीरिवृक्षों के अंकुर और छाल तथा घृत। षष्ठ मास में—पृश्निपर्णी, बला, शिग्रु (सहजन), श्वदंष्ट्रा (गोखरू) और मधुपर्णिका (मधुयष्टिका)। सप्तम मास में—सिंघाड़ा, कमलकन्द, मुनक्का, कसेरू, मुलेठी और मिश्री। हे वत्स! श्लोकार्ध में कहे गये इन सात योगों को दुग्ध के साथ यथासंख्य (अर्थात् जो श्लोकार्ध की संख्या हो उसी मास के गर्भस्राव के लिये देना चाहिये। अष्टम मास में—कैथ, बृहती (बड़ी कटेरी), बेल, परवल, ईख, निदिग्धिका (भटकटैया) की जड़ों से सिद्ध किया हुआ दुग्ध पिलावे। नवम मास में—मुलेठी, दूर्वा, क्षीरविदारी, सारिवा (अनन्तमूल) का सेवन करे। दशम मास में—सोंठ और क्षीरकाकोली से सिद्ध किया हुआ दुग्ध पिलाना अथवा सोंठ, मुलेठी और देवदारु दूध से पिलाना चाहिये। इस प्रकार करने से गर्भ पुष्ट होता है और तीव्र पीड़ा शान्त होती है॥ ६३-६९॥

विमर्शः—वाग्भट के शारीरस्थान द्वितीय अध्याय में भी इसी प्रकार की चिकित्सा बतायी गई है।

निवृत्तप्रसवाया तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानायाः नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति॥ ७०॥

निवृत्त-प्रसवा की सन्तति अल्पायु होती है—निवृत्त प्रसवा के पश्चात् यदि छः साल के ऊपर प्रसूति हो तो बालक अल्पायु होता है॥ ७०॥

विमर्शः—छः साल तक जिसको संतान उत्पन्न न हो, उसे निवृत्तप्रसवा कहते हैं।

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोरश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः॥

गर्भिणी की चिकित्सा कैसी हो—प्राण-सकट प्राप्त होनेवाला रोग यदि गर्भिणी को हो तो कै कराना चाहिये। मधुर और अम्ल अन्न के साथ अनुलोमन करना चाहिये। मृदु संशोधन देना चाहिये। अन्न-पान मृदुवीर्यवाला, मधुरप्राय और गर्भ को घातक न हो ऐसा होना चाहिये। हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग जिस प्रकार न हो, उस प्रकार और गर्भ के प्रतिकूल न रहे ऐसी मृदुप्राय चिकित्सा करनी चाहिये॥७१॥

विमर्शः—औषध, अन्न और विहार ये सब तीक्ष्ण न हों बल्कि मृदुप्राय हों। पञ्चकर्म करना हो तो गर्भ के विरुद्ध न पड़े, इस पर ध्यान रहे।

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधुसर्पिः सकाञ्चनम्॥ ७२॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु॥ ७३॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधा-बलबुद्धिविवर्धनाः॥ ७४॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीर नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

बालक के लिए हितकर योग—(१) सुवर्णभस्म, सुगन्धकूठ, मधु, घृत और वच। (२) ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मधु, घृत और सुवर्णभस्म। (३) अर्कपुष्पी (पयस्या), मधु, घी, सुवर्णभस्म और वच। (४) सुवर्णभस्म, पर्वतनिम्ब, श्वेता (अपराजिता), दूर्वा, घृत और मधु।

ये चार प्राश चार श्लोकार्धों में बताये गये हैं। ये बालक के शरीर, स्मरणशक्ति, बल और बुद्धि के बढ़ानेवाले हैं॥७४॥

विमर्शः—विश्वामित्र के वाक्य से मात्रा का प्रमाण बताया गया है। यथा—

विडङ्गफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम्।
एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धितम्॥
कोलास्थिमात्रं क्षीरादे दद्याद्भैषज्यकोविदः।
क्षीराद्ये कोलमात्रमन्नादोदुम्बरोपमम्॥

जातमात्र बालक को वायविडङ्ग के फल प्रमाण मात्रा दे। उत्तरोत्तर मास में एक एक वायविडङ्ग फल प्रमाण मात्रा को बढ़ाना चाहिये। दुग्ध पीनेवाले बालक को बेर की गुठली के बराबर। दुग्ध और अन्न लेनेवाले बालक को बेर के प्रमाण में। अन्न ग्रहण करनेवाले बालक को उदुम्बर प्रमाण में मात्रा देनी चाहिये।

इति सुश्रुते शारीरस्थाने दशमोऽध्यायः समाप्तः॥

शारीरे प्रश्नाः—

(१) गर्भिण्या अनुमासिकान्नपानविधिर्देयः, गर्भिणीचिकित्सासूत्राणि च लेख्यानि।

(२) गर्भस्रावप्रकारास्तथा अनुमासिकगर्भस्राव-चिकित्सा लेखनीया।

(३) अपरायाः अपतन्त्याः के के भवन्त्युपद्रवाः। तस्याः चिकित्सा विशदतया देया।

(४) मक्कलस्य निदान लक्षण चिकित्सा च लेखनीया।

(५) बालस्य रोगज्ञानोपायाः के? ग्रहोपसृष्टलक्षणानि च कानि? कीदृश सूतिकाऽऽगारं प्रशस्तं भवति?

(६) धात्रीपरीक्षा कथं कर्त्तव्या?

समाप्तश्चेदं शारीरस्थानम्।

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५६

महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता

सुश्रुतसंहिता

'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' हिन्दीव्याख्या-वैज्ञानिकविमर्शोपेता

(चिकित्सास्थानम्)

व्याख्याकार.-

वैद्य प्रियव्रत सिंह एम. ए., ए. एम. एस.

चिकित्सक, श्रीराम लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी हिन्दू आतुरालय, वाराणसी.

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी.
मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी.
प्रथम संस्करण, संवत् २०१७

(पुनर्मुद्रणादिका. सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
(INDIA)
1960

॥ श्रीः ॥

सुश्रुतसंहिता

'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' व्याख्योपेता

चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर द्विव्रणीय अर्थात् शारीरिक और आगन्तुक द्विविध व्रणों की चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा॥

द्वौ व्रणौ भवतः—शारीरः, आगन्तुश्च । तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः, आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषुपरशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः । तत्र तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते ॥ ३ ॥

व्रण—दो प्रकार के होते हैं—(क) शारीरिक और (ख) आगन्तुक। इन दोनों में (क) शारीरिक व्रण वह है जो—वात, पित्त, कफ, रक्त और सन्निपात (इनमें से दो या अधिक के संयोग) के कारण उत्पन्न होता है। (ख) आगन्तुक व्रण—पुरुष, पशु, पक्षी, हिंसकजीव तथा सर्प आदि से, गिरने, दबने चोट लगने और अग्नि से, क्षार, विष एवं तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग से, लकड़ी पत्थर के टुकड़ों से, घड़े के खप्पर से, सींग से, चक्र, बाण, फरसा, शक्ति, भाला आदि शस्त्रों के अभिघात से उत्पन्न होता है। यद्यपि व्रण की दृष्टि से ये दोनों व्रण समान श्रेणी के हैं, (जिससे इस अध्याय का नाम 'एकव्रणीय' भी हो सकता था) किन्तु इसे 'द्विव्रणीय' कहने का प्रयोजन यह है कि इन द्विविध व्रणों के उत्पादक हेतु पृथक्-पृथक् हैं एवं इनकी प्रतिकार-पद्धति भी कुछ भिन्न है ॥ ३ ॥

विमर्शः—चरक तथा सुश्रुत दोनों आचार्यों ने इस अध्याय का नाम 'द्विव्रणीयं चिकित्सितम्' (द्वौ व्रणावधिकृत्य कृत द्विव्रणीयम्, चिकित्सितं विकारप्रतिकारः) रखा है। 'द्वौ व्रणाविति निजश्चागन्तुश्च । निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुज'। (चरक) इन दोनों आचार्यों के साथ द्विविध व्रण की मान्यता के पोषक वाग्भट भी हैं।—'व्रणो द्विधा निजागन्तु-दुष्ट-शुद्ध-विभेदतः'। व्रण की इस द्विविधमान्यता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रधानतः उत्पादक हेतुओं की भिन्नता के कारण ही सभी प्रकार के व्रण इन दो श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं। दोनों प्रकार के व्रणों में प्रारम्भिक प्रतिकार-पद्धति कुछ भिन्न अवश्य रहती है, किन्तु एक सप्ताह व्यतीत होने पर शारीरिक व्रणों की भाँति आगन्तुक व्रणों में भी दोषों का प्रसार हो जाता है। आगन्तुक व्रण केवल एक सप्ताह तक (सद्योव्रणत्वं सप्ताहमेव) अपनी सज्ञा स्थिर रखने में समर्थ होते हैं। सुश्रुत ने स्पष्ट लिखा है—'उत्तरकालन्तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः' अर्थात् एक सप्ताह के बाद आगन्तुक व्रणों की चिकित्सा भी दोषों के प्रसार-भेद से शारीरिक व्रणों की भाँति ही करनी चाहिए। अध्याय की समाप्ति पर कहे गए चिकित्सासूत्र—'षष्ठ्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रण' वाक्य में एकवचनान्त व्रण शब्द का प्रयोग चिकित्सा की दृष्टि से द्विविध व्रणों में समानता ही दर्शाता है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान शल्यकर्म में सुविधा की दृष्टि से समस्त व्रणों का विभाजन तीन श्रेणियों में करता है—'The various ulcers

१. व्याल—'व्याला व्याघ्रादयो दुष्टजीवा' व्याघ्र आदि हिंसक जीव।
२. सरीसृप—'सरीसृपाः कृष्णसर्पादयो मीनमकरौ च' पेट के बल चलने वाले जन्तु।
३. शकल—'शकलं काष्ठादीना खण्डम्' लकडी पत्थर के टुकड़े।
४. कपाल—'घटादीना कर्पर' मिट्टी के घड़े का टुकड़ा।
५. शक्ति—'शक्तिरायुधविशेषस्त्रिमुखी' तीन मुखवाला शस्त्र।

that are commonly met with in Surgical practice are Conveniently classified under the three following headings-(1) Ulcers due to injury or pyogenic organisms, with or without predisposing circulatory or nervous disturbances. (2) Ulcers due to specific micro-organisms. (3) Malignant ulcers. (Elements of Sargical Diagnosis) यद्यपि व्रणों का उपर्युक्त विभाजन आयुर्वेदीय 'द्विविध व्रण' की पद्धि से पृथक् मालूम पड़ता है, किन्तु उत्पादक-हेतुओं का जहाँ तक सम्बन्ध है, दोनों चिकित्सा-पद्धतियाँ एक ही निर्णय पर पहुँचती हैं। आयुर्वेद-संहिताओं में हेतुभेद की दृष्टि से किया गया व्रणों का द्विविध वर्गीकरण; इन तीनों भेदों को अपने अन्दर अन्तर्भूत कर लेता है। पहला विभाग आगन्तुक व्रण की श्रेणी में, तथा दूसरा और तीसरा विभाग शारीरिक व्रण की श्रेणी में आता है।

सर्वस्मिन्नेवागन्तुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारणविधिविशेषः सन्धानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद्द्विकारणोत्थानप्रयोजनम्, उत्तरकालं तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥ ४ ॥

सभी प्रकार के आगन्तुक व्रणों में, अभिघात से क्षत उत्पन्न होते ही, शरीर में व्याप्त क्षतजन्य उष्मा को शान्त करने के लिए, पित्त-शमन की विधि के अनुसार शीतल क्रिया तथा व्रण के मुख को बन्द करने के लिए मधु घृत का प्रयोग करना चाहिए। एक सप्ताह के बाद दोषों के प्रसारभेद से (आगन्तुक व्रणों की) शारीरिक व्रणों की भाँति चिकित्सा होनी चाहिए। द्विविध (भिन्न) कारणों से उत्पन्न व्रणों की यही चिकित्सा-पद्धति है ॥ ४ ॥

विमर्शः—प्रहार से उत्पन्न क्षत के कारण, आन्तरिक अवयवों में एक प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। आघात लगते ही हृदय में धक्का (Shook) लगता है। इस धक्के से हृदय की गति सामान्यावस्था की अपेक्षा बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप रक्तवाहिनियों में रक्तप्रवाह अधिक होने लगता है और वे फैल जाती हैं। रक्तप्रवाह की सहसा तीव्रता से एवं स्नायु-मण्डल के उत्तेजित हो जाने के कारण सम्पूर्ण शरीर उष्ण हो जाता है। आगन्तुक व्रणों में यह स्थिति विशेष रूप से होती है। उपर्युक्त संदर्भ में 'क्षतोष्मा' शब्द का प्रयोग शरीर के अन्दर होने वाले इसी विकार का निर्देशक है। इसकी शान्ति के लिए पित्तशमन-विधि का आश्रय लेना चाहिए। पित्त और रक्त समान गुण वाले हैं। शीतल क्रिया से पित्त की शान्ति होती है। रक्तवाहिनियों में रक्तप्रवाह का आधिक्य शरीर को उष्ण बना देता है। अतः क्षत की उष्मा को शान्त करने के लिए पित्तवत् शीत क्रिया के विधान की आवश्यकता पड़ती है। शीत क्रिया से रक्तवाहिनियों में सकोच होता है। रक्त के प्रवाह में शिथिलता आती है, जिससे क्षत से निकलने वाले रक्त का अवरोध होता है तथा मस्तिष्क रक्तवाहिनियों के दबाव से मुक्त हो जाता है। क्षत के रोगी को प्रकृतिस्थ करने के लिए शीतक्रिया आवश्यक होती है। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी इस क्रिया का समर्थन होता है Head injury तथा Injuries of the spine (शिर और पृष्ठवंश के अभिघात) में Ice (वर्फ) का प्रयोग इसी दृष्टि से किया जाता है। रक्तस्राव को रोकने के लिए क्षत पर भी वर्फ (Ice) रखा जाता है तथा तृषा की शान्ति के लिए Cold drink (शीतपेय) का प्रयोग किया जाता है।

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः प्रसरणसामर्थ्यात्, यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे; शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके ॥ ५ ॥

प्रसार की शक्ति के अनुसार कुपित दोषों का प्रसार-भेद संक्षेप में पन्द्रह प्रकार का होता है। इनका वर्णन 'व्रण प्रश्नाधिकार' में किया जा चुका है। कुछ आचार्य इसमें व्रण के 'शुद्ध भेद' को सम्मिलित कर दोषप्रसार-भेद को सोलह प्रकार का मानते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—यहाँ 'दोषोपप्लव' शब्द का प्रयोग उनके प्रसार के अर्थ में किया गया है। इसका तात्पर्य है (वातादीनां शोणितचतुर्थानां पृथगन्योऽन्यसंसर्गः) अर्थात् वातादि दोष पृथक्-पृथक्, दो-दो अथवा तीनों मिलकर रक्त से सम्बन्ध स्थापित करके अपना विस्तार करते हैं। संक्षेप में इनका प्रसार पन्द्रह प्रकार का होता है। यदि रक्त की तरह अन्य दूष्य (धातु मलादि) पदार्थों के साथ भी दोषों के संसर्ग की कल्पना की जाय, और इनके प्रसारभेद की गणना हो तो यह संख्या असत्य हो जावेगी। इसीलिये पन्द्रह प्रकार का प्रसारभेद संक्षेप में माना गया है। दोषों के प्रसारभेद की संख्या शारीरिक व्रणों के भेदों का निरूपण भी करती है, क्योंकि तीनों दोष तथा रक्त ही शारीरिक व्रणों के उत्पादक कारण हैं। व्रण प्रश्नाधिकार में दोषों के प्रसार का वर्णन इस प्रकार है—'एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा—वातः, पित्त, श्लेष्मा, शोणितम्, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफा वातपित्तकफशोणितानीत्येव पञ्चदशधा प्रसरन्ति।' (सु. सू. अ २१) व्रण के 'शुद्ध भेद' (शुद्ध सकलदोषोपप्लवरहितो व्रणः) को इस सख्या में सम्मिलित करने पर यह भेद सोलह प्रकार का हो जाता है। शुद्ध व्रण का लक्षण है—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकीसमः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥' (सु. सू. अ. २३)

तस्य लक्षणं द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं रुक्। 'व्रण' गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषः॥ ६ ॥

व्रण के लक्षण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। १. पीड़ा होना व्रण का सामान्य लक्षण है। व्रण धातु का अर्थ है शरीर को चूर-चूर करने वाला और इसकी व्युत्पत्ति है-'व्रणयतीति व्रणः' अर्थात् शरीर को विवर्ण करने वाला। २. विशेष लक्षण—वातादि दोषों के अनुसार हुआ करते हैं ॥ ६ ॥

तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्, क्षिप्रजः पीतनीलाभः

किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारकारी पीतपिटकाजुष्टश्चेति पित्तात्, प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालावततः कठिनः पाण्डुवर्णाभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति कफात्, प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिटकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात्, तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभस्तनुस्रावी चेति वातपित्ताभ्यां, कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाल्पस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्यां, गुरुः सदाह उष्णः पीतपाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्माभ्यां, रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणभस्तनुस्रावी चेति वातशोणिताभ्यां, घृतमण्डाभो मीनधावननीरगन्धिर्मृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्यां, रक्तो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरः सरक्तपाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्यां, स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्यः, कण्डूस्फुरणचुमचुमायमानप्रायः पाण्डुघनरक्तस्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः, दाहपाकरागकण्डूप्रायः पाण्डुघनरक्तस्रावी चेति पित्तश्लेष्मशोणितेभ्यः, त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः, निर्दलननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूव्यापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः, जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥ ७ ॥

वातादि दोषों के प्रकारभेद से व्रणों का अशुद्ध और शुद्ध भेद—१ वातज व्रण—मकोड़ी जिए वाला (श्याव शुक्लानुविद्ध कृष्णो वर्णः), लालिमायुक्त, पतला, शीतल लसदार रक्तस्राव वाला, रूखा, चटचट (वेदना विशेष) करने वाला, फड़कन, तनाव, सूई चुभने तथा फटने की सी पीड़ा से युक्त, अधिक पीड़ा वाला और मांसरहित होता है। २. पित्तज व्रण—शीघ्र उत्पन्न होने वाला, पीला नील वर्ण युक्त, पलाशपुष्प को धोने पर निकलने वाले जल के समान उष्ण स्राव वाला, दाह, पाक और लालिमा आदि विकार तथा पीली फुन्सियों से युक्त होता है। ३. कफज व्रण—निरन्तर भयंकर खुजली से युक्त, मोटे किनारों वाला, फैले सिरास्नायुओं के जाल से बँधा हुआ, कठिन, देखने में पीला, मन्द पीड़ा वाला, सफेद, ठंडे, गाढ़े तथा लसीले स्राव से युक्त और भारी होता है। ४. रक्तज व्रण—मूँगा के एक जैसे टुकड़ों के तुल्य वर्ण वाला, काले छाले एवं फुन्सियों के जाल से भरा हुआ, तेज खारे गन्ध वाला, वेदनायुक्त धुआँ देने वाला (धूम तुल्य वाष्प निकालने वाला), तथा रक्तस्राव वाला एवं पित्त के लक्षणों से युक्त होता है। ५. वातपित्तज व्रण—चुभने की सी पीड़ा, दाह तथा धुआँ तुल्य वाष्प से युक्त, लालिमा लिए हुए पीला और वातपित्त के वर्ण के समान स्राव वाला होता है। ६. वातश्लेष्मज व्रण—खुजली वाला, पीड़ायुक्त, रूखा, भारी, कठिन तथा बारबार बहने वाले, ठंडे और लसीले स्राव से युक्त होता है। ७. पित्तश्लेष्मज व्रण—भारी, दाहयुक्त, उष्ण तथा गाढ़े पीले रङ्ग के स्राव वाला होता है। ८. वातरक्तज व्रण—रूखा, पतला, अत्यन्त चुभने की सी पीड़ा वाला, सुन्न (स्पर्शज्ञान रहित) रक्त के समान लालिमायुक्त एवं वातरक्त के वर्ण के तुल्य स्राव वाला होता है। ९ पित्तरक्तज व्रण—घृतमण्ड (घी के ऊपर वाला स्वच्छ भाग) के समान, मछली धोये हुए जल की गन्ध वाला, कोमल, फैलने वाला, उष्ण और काले स्राव वाला होता है। १०. श्लेष्मरक्तज व्रण—लाल, भारी, लसीला, खुजली युक्त, अचल तथा रक्त सहित पीले स्राव वाला होता है। ११. वातपित्तरक्तज व्रण—फड़कन, चुभने की सी पीड़ा, जलन और धुआँ देने वाला तथा पीले रङ्ग के पतले रक्तस्राव से युक्त होता है। १२. वातश्लेष्मरक्तज व्रण—खुजली, फड़कन एवं चुनचुनाहट से युक्त (चुमचुमायनं गजिकाभिर्पपलिप्त इव वेदना) और पीले, गाढ़े रक्तस्राव वाला होता है। १३. पित्तश्लेष्मरक्तज व्रण—जलन, पाक, लालिमा और खुजली से युक्त तथा पीले, गाढ़े रक्तस्राव वाला होता है। १४. वातपित्तकफज व्रण—तीनों दोषों के वर्ण, वेदना और स्राव विशेष से युक्त होता है। १५. वातपित्तस्फुरणरक्तज व्रण—जलने और मथने की तरह पीड़ा वाला, फड़कन, चुभने की सी पीड़ा, जलन, पाक, लालिमा तथा खुजली से युक्त, अत्यन्त सुन्न, विविध वर्ण एवं वेदना मिश्रित स्राव विशेष वाला होता है। १६. शुद्ध व्रण—जिह्वा की ऊपरी सतह के समान लाल, कोमल, स्निग्ध एवं चिकना, वेदना रहित, सुन्दर आकृति वाला स्राव रहित होता है ॥ ७ ॥

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा—अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विस्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरण व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैल रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्न बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधु सर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति ॥ ८ ॥

व्रण के साठ उपक्रम (चिकित्सा विधान) होते हैं—१. अपतर्पण २. आलेप ३. परिषेक ४. अभ्यङ्ग ५. स्वेद ६. विस्लापन ७. उपनाह ८. पाचन ९ विस्रावण १०. स्नेह ११. वमन १२. विरेचन १३. छेदन १४. भेदन १५. दारण १६ लेखन १७. एषण १८. आहरण १९. व्यधन २०. विद्रावण २१. सीवन २२. सन्धान २३. पीडन २४. शोणितास्थापन २५. निर्वापण २६. उत्कारिका २७. कषाय २८ वर्ति २९ कल्क ३०. सर्पि ३१. तैल ३२. रसक्रिया ३३ अवचूर्णन ३४. व्रणधूपन ३५. उत्सादन ३६ अवसादन ३७. मृदुकर्म ३८. दारुणकर्म

३९. क्षारकर्म ४०. अग्निकर्म ४१. कृष्णकर्म ४२. पाण्डुकर्म ४३ प्रतिसारण ४४. रोमसञ्जनन ४५. लोमापहरण ४६ वस्ति कर्म ४७. उत्तरवस्तिकर्म ४८. बन्ध ४९. पत्रदान ५०. कृमिघ्न ५१. बृंहण ५२. विषघ्न ५३. शिरोविरेचन ५४. नस्य ५५. कवल-धारण ५६. धूम ५७. मधुसर्पि ५८. यन्त्र ५९. आहार ६०. रक्तविधान ॥ ८ ॥

तेषु कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णमिति शोधनरोपणानि, तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः, शोणितास्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं बन्धविधानं चोक्तानि, स्नेहस्वेदनवमनविरेचनबस्युत्तरबस्तिशिरोविरेचननस्यधूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः, यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यते ॥९॥

इन उपक्रमों में से—कषाय, वर्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया और अवचूर्णन का प्रयोग व्रणों के शोधन तथा रोपण के लिये होता है। आठ इनमें शस्त्रकर्म हैं। शोणितास्थापन, क्षार, अग्नि, यन्त्र, आहार, रक्तविधान और बन्धविधान का वर्णन पहले किया जा चुका है। स्नेह, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति, उत्तरबस्ति, शिरोविरेचन, नस्य, धूम और कवलधारण का वर्णन दूसरे स्थान पर किया जायगा। इन उपक्रमों में जो शेष बचते हैं उनका वर्णन यहाँ किया जा रहा है ॥ ९ ॥

विमर्शः—चरक में केवल ३६ प्रकार के सिद्ध उपक्रमों का ही वर्णन है। 'तथा चोपक्रमा. सिद्धाः षट्त्रिंशत्समुदाहृताः' (चरक चि. अ. १३)

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः, तस्यैकादशोपक्रमा भवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः, ते च विशेषेण शोथप्रतीकारे वर्तन्ते, व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते; शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव ॥ १० ॥

अपतर्पणमाद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च ॥ ११ ॥

पहले कहा जा चुका है कि शोथ ६ प्रकार का होता है। अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त ग्यारह उपक्रम शोथ के होते हैं। इन उपक्रमों का प्रयोग शोथ के प्रतिकार के लिए मुख्य रूप से होता है। शोथ के व्रण रूप में परिवर्तित हो जाने पर भी इन उपक्रमों के प्रयोग में कोई विरोध नहीं पड़ता। शेष उपक्रम प्रायः व्रण-चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं। अपतर्पण (लङ्घन) पहला उपक्रम है और सभी प्रकार के शोथों के लिये सामान्य तथा सर्वश्रेष्ठ विधि है ॥ १०-११ ॥

विमर्श—वात, पित्त, कफ, शोणित, सन्निपात और आगन्तुक भेद से ६ प्रकार के शोथों का वर्णन 'आमपक्वैषणीय अध्याय' में किया गया है। षड्विध शोथ के उपचार के लिये अपतर्पण से लेकर विरेचन तक केवल ग्यारह उपक्रमों का निर्देश इस स्थल पर है, किन्तु अपतर्पण से विरेचन तक की गणना में उपक्रमों की संख्या १० होती है। इसके परिमार्जन के लिये इतना जान लेना चाहिये कि 'अपतर्पणादय.' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अपतर्पणम् आदौ येषां ते अपतर्पणादय' ऐसी है। यहाँ अपतर्पणविशेषणबहुव्रीहि समास होने के कारण 'अपतर्पण' को छोड़कर शेष विधानों की गणना करना ही उचित है। इस प्रकार गणना करने से उपक्रमों की संख्या एकादश होगी।

भवन्ति चात्र—

दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः।
अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम् ॥ १२ ॥

जैसे कि—अपतर्पण-दोषों के प्रकोप से युक्त मनुष्य के दोष और बल का विचार करके कुपित दोषों की शान्ति के लिये अपतर्पण (लङ्घन) कराना चाहिये ॥ १२ ॥

ऊर्ध्ववातपिपासाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितैः।
न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः ॥ १३ ॥

ऊर्ध्ववात (निरन्तर शब्द के साथ डकार आना), प्यास, भूख, मुखशोष और परिश्रम से युक्त तथा गर्भवती, वृद्ध, बालक, दुर्बल एवं कायर को अपतर्पण नहीं कराना चाहिये ॥

शोफेषूत्थितमात्रेषु व्रणेषूग्ररुजेषु च।
यथास्वैरौषधैर्लेपं प्रत्येकश्येन कारयेत् ॥ १४ ॥

२. आलेप (लेप)—उत्पन्न हुए शोथों में और तीव्र वेदना वाले व्रणों में वातादि दोषों के अनुकूल (मिश्रक अध्याय में वर्णित) एक एक (गण की) ओषधियों का लेप करना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्।
क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥ १५ ॥

जलते हुये घर में जल छिड़कने से जिस प्रकार अग्नि शीघ्र शान्त हो जाती है उसी प्रकार (व्रण पर किया गया) लेप पीडा को शीघ्र दूर करता है ॥ १५ ॥

प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा।
उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत् ॥ १६ ॥

लेप (व्रण-वेदना को शान्त कर) प्रसन्नता लाता है, व्रण को शुद्ध करता है, शोथ को मिटाता है, निम्न व्रण को ऊपर उठाता है और व्रण को भरता है। इस प्रकार यह इन समस्त कार्यों को करता है ॥ १६ ॥

वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलन्धाम्लमांसरसवातहरौषधनिष्काथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत, पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधक्षीरवृक्षनिष्काथैरनुष्णैः परिषेकान् कुर्वीत, श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिष्काथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत ॥ १७ ॥

यथाऽम्बुभिः सिच्यमानः शान्तिमग्निर्नियच्छति।
दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति ॥ १८ ॥

३. परिषेक (सेक) Fomentation-वातज शोथ में, वेदना की शान्ति के लिए, घृत, तैल, काञ्जी, (१) मांसरस और वातघ्न औषधियों के उष्ण क्वाथ से परिषेक करना चाहिए। पित्त, रक्त, चोट और विष से उत्पन्न (शोथ) में दूध, घृत, मधु, शर्करा, गन्ने के रस, मधुर औषधियों (काकोल्यादि गण) तथा क्षीरवृक्ष (वट गूलर आदि) के शीतल क्वाथ से परिषेक करना चाहिए। कफज शोथ में तैल, मूत्र, क्षारयुक्त जल, (२) सुरा, (३) शुक्त और कफ को दूर करने वाली औषधियों

के उष्ण क्वाथ से परिषेक करना चाहिए। जल सिंचन से जिस प्रकार अग्नि शान्त होती है उसी प्रकार परिषेक से दोषाग्नि का सहसा शमन होता है ॥ १७-१८ ॥

विमर्श—शोथ का लक्षण करते हुए सुश्रुत ने लिखा है—'तैर्विदग्धाः पृथुर्ग्रथित. समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसवानः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते।' अर्थात् वातादि दोषों का समूह शरीर के किसी भाग की त्वचा तथा मांस में स्थित हो कर जब सम, विषम, मोटा या गांठदार उभार उत्पन्न कर देता है तो वह 'शोथ' कहलाता है। शोथ आघात से भी उत्पन्न होता है। शोथ में धातुओं की रचना और उनकी शक्ति नष्ट नहीं होती। जीवाणुजन्य शोथ तथा अन्य प्रकार से उत्पन्न हुए शोथ में भिन्नता होती है। जीवाणुओं की संख्या वृद्धि के साथ ही जीवाणु शोथ बढ़ता जाता है, किन्तु अन्य प्रकार के शोथ में ऐसे लक्षण नहीं होते। वस्तुतः जीवाणुओं और धातुओं के संघर्ष के फलस्वरूप जो परिवर्तन होता है, उसे 'शोथ' कहते हैं। शोथ की शान्ति के लिए 'परिषेक' सद्यः फलदायक प्रयोग है। दोषों के प्रकोप के अनुसार अनेक द्रव्यों का उल्लेख परिषेक के निमित्त किया गया है। जहाँ वातज और कफज शोथ में परिषेक के लिए उष्ण-क्वाथ का प्रयोग है वहीं पित्तज शोथ के लिए शीतल क्वाथ का भी विधान किया गया है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में भी उष्ण तथा शीत सेक का विधान है। शोथ के समय रक्तनलिकायें फैल जाती हैं, उनमें रक्त प्रवाह की मात्रा बढ़ जाती है। कुछ समय के पश्चात् रक्त-प्रवाह में शिथिलता आती है और अन्त में वह बिलकुल रुक जाता है। ऐसी अवस्था में एकत्रित रक्त को उस भाग से हटाना आवश्यक होता है, जिसमें वहाँ शुद्ध रक्त का संचार हो सके। इस क्रिया के लिए उष्ण सेक का प्रयोग हितकर होता है। उष्णता के प्रयोग से रक्त नलिकाओं का प्रसार होता है। एकत्रित रक्त दूसरे भाग में हट जाता है तथा नवीन रक्त के संचार के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। उष्ण परिषेक के लिए रबर की थैली (Ice bag) में उष्ण जल भर कर व्रण स्थान पर रखा जाता है। शीत परिषेक में रबर की थैली में बर्फ भर कर व्रण स्थान पर रखते हैं। शीतपरिषेक का प्रभाव उष्ण परिषेक से सर्वथा उलटा होता है। शीत परिषेक रक्तवाहिनियों को संकुचित करने के लिए किया जाता है। पित्तज शोथ में शीत परिषेक का विधान इसी अर्थ की सिद्धि के लिए किया गया है। वातज शोथ में परिषेक के लिए धान्याम्ल तथा कफज शोथ में सुरा और शुक्त का निर्देश है। इनके लक्षण निम्न प्रकार से हैं—(१) धान्याम्ल—(धान्याम्लं काञ्जिकम्, टल्हण) 'कुल्माषधान्यमण्डाम्लमिश्रित काञ्जिक विदु' (शा० अ० १०) कुल्माष (आधे उबले हुए गोधूम आदि) धान तथा माण्ड आदि का सन्धान (पात्र-मुखबन्धन) कर रख देने से जो अम्ल पदार्थ तैयार होता है उसे काञ्जी (धान्याम्ल) कहते हैं। (२) सुरा—'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरां जगु. (शा० अ० १०) यह एक प्रकार का मद्य विशेष है। (३) शुक्त—'कन्दमूलफलादीनि सक्षेहलवणानि च। यत्र द्रवैरभिपूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते' ॥ (शा० अ० १०) अभिपूयन्ते—शब्द का तात्पर्य है (पूयन्ते सन्धानीभूतानि क्रियन्ते) कन्द के मूल आदि द्रव्यों को द्रव पदार्थों में सन्धान कर रखना।

अभ्यङ्गस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो
दोषोपशमं मृदुतां च करोति ॥ १९ ॥

४. अभ्यङ्ग (मालिश)—दोषों को समझ कर प्रयुक्त किया गया अभ्यङ्ग दोष (शोथ) को शान्त करता है तथा कोमल बनाता है ॥ १९ ॥

स्वेदविस्लापनादीनां क्रियाणां प्राक् स उच्यते।
पश्चात् कर्मसु चादिष्टः स च विस्रावणादिषु ॥ २० ॥

अभ्यङ्ग का विधान स्वेद, विस्लापन आदि क्रियाओं के पूर्व तथा विस्रावण आदि क्रियाओं के पश्चात् किया गया है ॥

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः ॥२१॥

५ स्वेद—पीडायुक्त, दारुण (वायु से रुक्ष) और कडे शोथों में तथा इन लक्षणों से युक्त व्रणों में स्वेदन करना चाहिए ॥ २१ ॥

स्थिराणां रुजतां मन्दं कार्यं विस्लापनं भवेत्।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाङ्ग्या ततः शनैः ॥२२॥
विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा।
शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः ॥ २३ ॥
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च।
निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः ॥ २४ ॥
तस्य संपाचनं कुर्यात् समाहृत्यौषधानि तु।
दधितक्रसुराशुक्तधान्याम्लैर्योजितानि तु ॥ २५ ॥
स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम्।
सैरण्डपत्रया शोफं नाह्येदुष्णया तया ॥२६॥

६ विस्लापन (शोथ का विलयन) ७. उपनाह (पुलटिस) और ८. पाचन—कठिन तथा मन्द वेदना वाले (शोथ) में विस्लापन (अङ्गुली आदि से मसल कर शोथ मिटाना) करना चाहिए। बुद्धिमान वैद्य (शोथ स्थल की) मालिश तथा स्वेदन करके बांस की पतली डाली, हथेली या अगूठे से धीरे-धीरे मसले। आम (अपक्व) और विदग्ध (अर्धपक्व) शोथों में उपनाह करना चाहिए। इससे अविदग्ध (आम) शोथ की शान्ति तथा विदग्ध (अर्धपक्व) शोथ का पूर्ण पाक होता है। (अपतर्पण से लेकर) विरेचन तक की क्रियाओं से जिस शोथ की शान्ति न हो उनका (७) पाचन मिश्रक अध्याय में निर्दिष्ट ओषधियों के द्वारा करना चाहिए। (पाचन ओषधियों को) दही, मट्ठा, सुरा, शुक्त और काञ्जी में मिला, (घृत-तैल से) स्निग्ध करके, नमक डाल कर, सुन्दर (८) उत्कारिका पकावे। इसे एरण्डपत्र के साथ गरम-गरम शोथ पर बाँधे।

विमर्श—(७) पाचन ओषधियाँ—शणमूलकशिग्रूणा फलानि-तिलसर्षपाः। शक्तव. किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥ (सु० सू० अ० ३७) (८) उत्कारिका—(लप्तिकाकृति., अन्ये पूपलिकाकृतिमाहुः) (टल्हण)।

हितं सम्भोजनं चापि पाकायाभिमुखो यदि।

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च ॥ २७ ॥
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम् ।
सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति ॥ २८ ॥
संरब्धे विषमे चापि व्रणे विस्रावणं हितम् ।
सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा ॥ २९ ॥

९. विस्रावण (रक्तमोक्षण)—यदि शोथ पक रहा हो तो (रोगी को) यथेष्ट भोजन करावे। तत्काल उत्पन्न हुए शोथ में, वेदना की शान्ति तथा पाक से बचने के लिए, रक्त मोक्षण करना चाहिए। शोथयुक्त, कठिन, श्याम अरुण वर्ण के रक्त और वेदना वाले तथा विशाल मूल वाले—ऊँचे नीचे व्रण में विस्रावण हितकर होता है। विषयुक्त (शोथ) में तो विशेष कर जलौका तथा प्रच्छान विधि से रक्तमोक्षण करना चाहिए ॥

वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा ।
सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम् ॥ ३० ॥
यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते ।
उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः ॥ ३१ ॥
संक्लिष्टश्या (ध्या) मरुधिरे व्रणे प्रच्छर्दनं हितम् ।
वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु ॥ ३२ ॥
विरेचन प्रशसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः ।
अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च ॥ ३३ ॥
स्नायुकोथादिषु तथा च्छेदन प्राप्तमुच्यते ।
अन्तः पूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि ॥ ३४ ॥
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ।
बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि ॥ ३५ ॥
मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम् ।
सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते ॥ ३६ ॥
पाकोद्वृत्तेषु दोषेषु तत्तु कार्यं विजानता ।
सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥ ३७ ॥

१०. स्नेहपान ११ वमन १२ विरेचन १३ छेदन १४ भेदन और १५ दारण—वेदना की शान्ति और पाक से बचाने के लिए (व्रणित के) उपद्रवों (कम्प, छींक, पक्षवध आदि) से युक्त, रूक्ष, कृश और व्रण से क्षीण मनुष्य को निर्दिष्ट औषधियों से सिद्ध स्नेहपान कराना चाहिए। उभरे हुए मांस वाले, विशेष कर कफ से युक्त शोथ में तथा कुछ काले रक्त वाले, व्रण में वमन कराना हितकर होता है। वायु से दूषित पित्तप्रधान तथा पुराने व्रणों में विरेचन का विधान व्रण पण्डितों (Surgeons) के विचार से उत्तम होता है। जिस रोग (व्रण) में पाक न हो (मेद, कफ, ग्रन्थि, मासकन्द आदि) अथवा जिसमें अल्प पाक हो, (वल्मीक आदि) कठा हो, अचल हो तथा स्नायु (शिरा, धमनी आदि) के कोथ (सड़न Gangrene) में छेदन करना चाहिए। अन्दर पूय वाले तथा बिना मुख वाले एवं खोखले और गतिशील व्रण में भेदन करना उपयुक्त होता है। बालक, वृद्ध, असहनशील, क्षीण, कायर, स्त्री तथा मर्म के ऊपर उत्पन्न हुए व्रण में, दारण कर्म के लिए स्थित व्रण में, पिण्डीभूत शोथ में और जिस व्रण में त्वचा में पाक हो गया हो, व्रणोपचार को जानने वाला वैद्य पीडन द्रव्यों (मिश्रक अध्याय में पठित) से व्रण का (१) पीडन कर भली भाँति पिसे हुए (२) दारण द्रव्य अथवा क्षार (प्रतिसारणीय क्षार) द्वारा दारण कर्म करे ॥ ३०-३७ ॥

विमर्शः—पीडन कर्म के लिए पीडन द्रव्यों को पीस कर, व्रण के मुख पर लेप कर, सुखा देना चाहिए। लेपके सूखने पर त्वचा में संकोच होने से व्रण पर भार पडता है। इस क्रिया को 'पीडन' कहते हैं। इससे पूय के एकत्रित होने में सहायता प्राप्त होती है। (१) पीडन द्रव्य—द्रव्याणा पिच्छिलानान्तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः ॥ (२) दारण द्रव्य—चिरविल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारक। कपोतगृध्रकङ्काणां पुरीषाणि च दारणम् ॥ क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारण परम् ॥ (सु० सू० अ० ३७)

कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः ।
कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक् ॥ ३८ ॥
समं लिखेत् सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः ।
वर्त्मनां तु प्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत् ॥ ३९ ॥
क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम् ।
कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत् ॥ ४० ॥

१६ लेखन Scraping—कठिन (मांस से हीन), मोटे और गोल किनारे वाले, बार बार फूटने वाले तथा कडे एवं उन्नत मांस वाले व्रण में वैद्य को लेखन करना चाहिए। (कठिन व्रणों में) सम लिखेत् अर्थात् न तो अधिक और न न्यून लेखन कर्म करे। (मोटे और गोल किनारे वाले व्रणों में) सुलिखितम् अर्थात् अधिक लेखन करे। (बार बार फूटने वाले व्रणों में) निरवशेषतः अर्थात् सम्पूर्ण रूप से लेखन कर्म करे और (कडे तथा उन्नत मांस वाले व्रण में) वर्त्मना प्रमाणेन समम् अर्थात् व्रण द्वारा अधिकृत चतुर्दिक् भाग में समान रूप से शस्त्र द्वारा लेखन कर्म करे। लेखन कर्म के लिए क्षौम (क्षौमम्-अतसीवस्त्रम्) प्लोत (कपड़ा Gauze), पिचु (रुई Cotton), फेन (समुद्र फेन), यवक्षार, सेन्धा नमक और खुरदरे पत्तों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३८-४० ॥

नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः ।
करीरबालाङ्गुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक् ॥ ४१ ॥

१७ एषण Probing—नाडीव्रण, शल्ययुक्त व्रण, उन्मार्गी व्रण (भगन्दर) तथा खोखले व्रण में, करीरकीनाल, बाल अङ्गुलि अथवा एषणी (धातुनिर्मित) से वैद्य को धीरे धीरे एषण कर्म करना चाहिए ॥ ४१ ॥

नेत्रवर्त्मगुदाभ्याशनाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः ।
चुच्चूपोदकजैः शलघ्नैः करीरैरेषयेत्तु ताः ॥ ४२ ॥

दृष्टिपथ और गुदा के समीप वाले तथा छोटे मुख वाले रक्तयुक्त नाडीव्रणों में चुच्चू (शाक विशेष), पोई और करीर के चिकने नाल से एषण कर्म करना चाहिये ॥ ४२ ॥

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान् भिषक् ।
यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्तोद्धरणलक्षणम् ॥ ४३ ॥

१८ आहरण—बुद्धिमान् वैद्य, खुले हुये तथा बन्द मुख वाले व्रणों से (सूत्र स्थान में) कही गई शल्य निकालने की

विधि के अनुसार निःशल्य लक्षण की प्राप्ति पर्यन्त शल्य का आहरण (बाहर निकालना) करे ॥ ४३ ॥

विमर्शः—'प्राप्तोद्धरणलक्षणम्' से तात्पर्य है निःशल्य के लक्षण का। निःशल्यलक्षण—अल्पबाधमशूलञ्च नीरुजं निरुपद्रवम्। प्रसन्नं मृदुपर्यन्त निराघट्टमनुत्तमम् ॥ एषणा सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः। प्रसाराकुञ्चनाक्षमं निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥ (सु. सू. अ. २६)

रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणता।
शस्त्रं निदध्याद्दोषं च स्रावयेत् कीर्तितं यथा ॥ ४४ ॥

१९. व्यधन—२०. विस्रावण—वेधसाध्य रोगों (दकोदर, मूत्रवृद्धि आदि) में उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रमाण के अनुसार शस्त्र का प्रयोग करे और निर्दिष्ट विधि के अनुसार दोषों (पूय आदि) को बाहर निकाले ॥ ४४ ॥

विमर्श—शस्त्र-प्रयोग की विधि व्याधि के अनुसार—'दकोदरोद्दिष्टं प्रमाणमङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढम्। विद्रध्यादिषु पुनर्महत्त्वेऽपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रनिपातनम्। (डल्हण)

अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये।
यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च ॥ ४५ ॥

२१. सीवन २२. सन्धान—पाकजन्य उपद्रवों से रहित, मांस में स्थित तथा खुले हुये मुख वाले (व्रणों) का कथित विधि के अनुसार सीवन और सन्धान करना चाहिये ॥ ४५ ॥

पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान्मर्मगतानपि।
यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥४६॥

२३. पीडन—पूय से युक्त, छोटे मुख वाले तथा मर्म में स्थित व्रणों के ऊपर (सूत्र स्थान में कथित) पीडन द्रव्यों का लेप लगा कर चारों ओर से पीडन करना चाहिये ॥४६॥

शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥ ४७ ॥

पीडन कर्म के लिये (व्रण पर लगे हुये) प्रलेप को सूखने देना चाहिये। (छोटे मुख वाले व्रण में) व्रण के मुख पर लेप नहीं लगाना चाहिये। (व्रण का मुख खुला रहने से) इस प्रकार दोष (पूय) स्वयं बाहर निकलता रहता है ॥ ४७ ॥

तैस्तैर्निमित्तैर्बहुधा शोणिते प्रस्रुते भृशम्।
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत् ॥ ४८ ॥

२४. शोणितास्थापन—शिरावेध आदि भिन्न-भिन्न कारणों से रक्त की प्रवृत्ति अधिक होने पर पूर्वकथित शोणितास्थापन विधि के द्वारा वैद्य को रक्तप्रवाह रोकना चाहिये ॥

विमर्श—शोणितास्थापन विधि—चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्। सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा (सु. सू. अ. १४)

दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः।
रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥ ४९ ॥

२५ निर्वापण—पित्तप्रकोप के कारण दाह, पाक, ज्वर तथा रक्त से आक्रान्त व्रणों में निर्वापण करना चाहिये ॥४९॥

यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृताप्लुतैः।
दिह्यादबहलान् सेकान् सुशीतांश्चावचारयेत् ॥ ५० ॥

पूर्वकथित (मिश्रक अध्याय में) शीतल द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर, घृत मिला, (व्रणस्थान पर) पतला लेप और शीतल सेक करे ॥ ५० ॥

विमर्शः—निर्वापण—निर्वापण नाम पित्तरक्तव्रणस्य पच्यमानस्य ज्वरेणाभिभूतस्य औषधादिभिर्वेदनोपशमः।' अर्थात पित्तरक्त से उत्पन्न, पकने वाले तथा ज्वर से युक्त व्रण में औषधि आदि के प्रयोग से पीड़ा की शान्ति करना निर्वापण कहलाता है।

व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु।
तोदकाठिन्यपारुष्यशूलवेपथुमत्सु च ॥ ५१ ॥
वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा।
स्नैहिकेषु च बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥ ५२ ॥

२६. उत्कारिका—क्षीण मांस वाले, पतले स्राव वाले, न पकने वाले तथा चुभने की सी पीडा, कडापन, रूक्षता, शूल और कम्प से युक्त व्रणों में, वातघ्न वर्ग (भद्रदार्वादि), अम्लगण (सौवीर, तुषोदक आदि), काकोल्यादिगण तथा तेल वाले बीजों (तिल, तीसी, रेडी आदि) से सुन्दर उत्कारिका पकाकर स्वेदन करे ॥ ५१-५२ ॥

विमर्श—उत्कारिकानिर्माणविधि—वातघ्न वर्ग और काकोल्यादिगण की औषधियों तथा स्नेह वाले बीजों को समान भाग में लेकर चतुर्गुण अम्लगण के साथ मिला, पेया के समान, न तो बहुत पतली और न गाढ़ी उत्कारिका (लप्सी) बनानी चाहिये।

तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम्।
दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः ॥ ५३ ॥

स्थिर (अचल) वेदनायुक्त, दुर्गन्धित, सडे गले हुये और विशेषकर लसीले व्रणों का स्वेदन करना चाहिये ॥ ५३ ॥

कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः।
अन्तः शल्यानणुमुखान् गम्भीरान् मांससंश्रितान् ५४

२७. कषाय—अन्दर शल्य तथा छोटे मुख वाले, गहरे और मांस में स्थित व्रणों का शोधन, पूर्वकथित शोधन कषायों के साथ करना चाहिये ॥ ५४ ॥

विमर्शः—शोधनकषाय—शल्किन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः। शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥ (सु. सू. अ. ३७)

शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान् यथाक्रमम्।
पूतिमांसप्रतिच्छन्नान् महादोषांश्च शोधयेत् ॥ ५५ ॥

२८ वर्ति और २९. कल्क—शोधनद्रव्यों से युक्त वर्ति के द्वारा यथाक्रम से (सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम) दुर्गन्धित मांस से ढके हुए और अत्यन्त दूषित (वात-कफ से) व्रणों का शोधन करना चाहिये ॥ ५५ ॥

विमर्श—यहाँ 'महादोषान्' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। वैसे तो बहुवचनान्त होने के कारण इस शब्द से तीनों दोषों के अर्थ का ही बोध होता है, किन्तु यहाँ

व्रणशोधन का प्रसङ्ग उपस्थित है और पित्त की शुद्धि के लिये शोधनद्रव्य-सिद्ध घृत के प्रयोग का पृथक् निर्देश किया गया है, अतः वात, कफ से दूषित अर्थ में ही 'मद्य दोषान्' शब्द चरितार्थ हो रहा है। सशोधनवर्ति तथा कल्क निर्माण के लिये ओषधियों का उल्लेख मिश्रक अध्याय में किया गया है।

कल्कीकृतैर्यथालाभं वर्तिद्रव्यैः पुरोदितैः।
पित्तप्रदुष्टान् गम्भीरान् दाहपाकप्रपीडितान् ॥ ५६ ॥
कार्पासीफलमिश्रेण जयेच्छोधनसर्पिषा।
उत्सन्नमांसानस्निग्धानल्पस्रावान् व्रणांस्तथा ॥५७॥
सर्पपस्नेहयुक्तेन धीमांस्तैलेन शोधयेत्।
तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम् ॥ ५८ ॥
व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्याद् द्रव्यैरुदीरितैः।
कषाये विधिवत्तेषां कृते चाधिश्रयेत् पुनः ॥ ५९ ॥
सुराष्ट्रजां सकासीसां दद्याच्चापि मनःशिलाम्।
हरितालं च मतिमांस्ततस्तामवचारयेत् ॥ ६० ॥
मातुलुङ्गरसोपेतां सक्षौद्रामतिमर्दिताम्।
व्रणेषु दत्त्वा तां तिष्ठेत्त्रींस्त्रींश्च दिवसान् परम् ॥६१॥

३० सर्पि ३१. तैल ३२. रसक्रिया—पूर्वकथित वर्तिद्रव्यों में से जितनी सुलभ हों उनके कल्क के द्वारा व्रणों का शोधन करना चाहिये। पित्त से दूषित, गहरे, दाह तथा पाक से पीडित व्रणों के शोधन के लिए बिनौले के कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये। उठे हुए मांस वाले, रूक्ष तथा अल्प स्राव युक्त व्रणों का शोधन (शोधनद्रव्यों से सिद्ध) सरसों और तिल के तेल से बुद्धिमान वैद्य को करना चाहिये। (शोधनद्रव्य सिद्ध) तैल से जिन व्रणों की शुद्धि न हो तथा जो स्थिर मांस वाले हों, उनकी शान्ति के लिये पूर्वकथित द्रव्यों से शोधनीय रसक्रिया का प्रयोग करना चाहिये। रसक्रिया के लिये कथित औषधियों के कषायनिर्माण-विधि के अनुसार बने हुये क्वाथ को पुनः पकाकर उसमें फिटकिरी, कासीस, मैनसिल और हरिताल मिलावे, तथा बिजौरे नीबू के रस एवं मधु के साथ भली भाँति रगड कर बुद्धिमान वैद्य प्रयोग करें। व्रण में रसक्रिया का प्रयोग तीन तीन दिन पर करना चाहिये ॥ ५६-६१ ॥

विमर्श—शोधन द्रव्य—वृहती कण्टकारी च हरिताल मनःशिला। शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥ (सु० सू० अ० ३७) रसक्रिया की औषधियों को एक बार व्रण पर रखने के बाद तीसरे दिन बदल देना चाहिए। इससे अधिक दिन व्रण पर औषधि नहीं रखनी चाहिए अन्यथा अधिक दिन तक रसक्रिया का प्रयोग होने से 'व्रण वस्तु' के फटने की आशंका रहती है। रसक्रिया की औषधियाँ—सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च। रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥ (सु० सू० अ० ३७)

मेदोजुष्टानगम्भीरान् दुर्गन्धांश्चूर्णशोधनैः।
उपाचरेद् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्तिजैः ॥६२॥

३३. अवचूर्णन—बुद्धिमान वैद्य, मेद से युक्त, अल्प गहराई वाले (उत्तान) और दुर्गन्धित व्रणों का उपचार शोधनद्रव्यों के तथा शोधनवर्ति की औषधियों के चिकने चूर्ण से करे ॥६२॥

शुद्धलक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम्।
तत्र कार्यं यथोद्दिष्टैर्द्रव्यैर्वैद्येन जानता ॥ ६३ ॥

शुद्ध व्रणों में रोपण कषाय का प्रयोग हितकर होता है। बुद्धिमान वैद्य इस कार्य के लिए पूर्वकथित द्रव्यों (वटादि वर्ग) से सिद्ध कषाय का प्रयोग करे ॥ ६३ ॥

अवेदनानां शुद्धानां गम्भीराणां तथैव च।
हिता रोपणवर्त्यङ्गकृता रोपणवर्तयः ॥ ६४ ॥

वेदनारहित, शुद्ध और गहरे व्रणों में रोपण द्रव्यों (सोमलता, गुडूची, अश्वगन्धा आदि) से निर्मित रोपणवर्ति का प्रयोग हितकर होता है ॥ ६४ ॥

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम्।
कल्कः संरोहणः कार्यस्तिलजो मधुसंयुतः ॥ ६५ ॥

दुर्गन्धित मांस से रहित तथा मांसल स्थान में स्थित होने पर भी न भरने वाले व्रणों में रोपण मधुमिश्रित तिल-कल्क का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६५ ॥

स माधुर्यात्तथौष्ण्याच्च स्नेहाच्चानिलनाशनः।
कषायभावान्माधुर्यात्तिक्तत्वाच्चापि पित्तहृत् ॥६६॥
औष्ण्यात् कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्च कफे हितः।
शोधयेद्रोपयेच्चापि युक्तः शोधनरोपणैः ॥ ६७ ॥

यह तिलकल्क मधुर, उष्ण और स्निग्ध होने से वायु का नाश करता है। कषाय, मधुर और तिक्त होने के कारण पित्त को दूर करता है तथा उष्ण, कषाय और तिक्त होने से कफ में हितकर है। शोधन और रोपण औषधियों के साथ मिलाकर प्रयुक्त किया गया (तिलकल्क) शोधन और रोपण करता है ॥ ६६-६७ ॥

निम्बपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चापि युक्तश्चाप्युपरोपणः ॥ ६८ ॥

निम्बपत्र और मधु के साथ मिलाकर प्रयुक्त किया गया (तिलकल्क) व्रण का सशोधन करता है तथा निम्बपत्र, मधु और घृत से युक्त तिलकल्क का प्रयोग व्रण का रोपण करता है ॥ ६८ ॥

तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः।
शमयेदविदग्धं च विदग्धमपि पाचयेत् ॥ ६९ ॥

कुछ आचार्य तिलकल्क के समान यव (जौ) कल्क को भी मानते हैं। इसके प्रयोग से अपक्व व्रण शान्त होते हैं तथा अल्पपक्व व्रणों का पाचन होता है ॥ ६९ ॥

पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेत्तथा।
पित्तरक्तविपागन्तून् गम्भीरानपि च व्रणान् ॥ ७० ॥
रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा।
कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक् ॥७१॥
कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः।
अवन्ध्यानां चलस्थानां शुद्धानां च प्रदुष्यताम् ॥७२॥
द्विहरिद्रायुतां कुर्याद्रोपणार्थां रसक्रियाम्।

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक् ॥
चूर्णं विदध्यान्मतिमान् प्राक्स्थानोक्तो विधिर्यथा ७३

यह पके हुए व्रणों को फोडता है और फूटे हुए व्रणों का शोधन तथा रोपण करता है। पित्त, रक्त और विष से उत्पन्न तथा आगन्तुक एवं गहरे व्रणों का रोपण, रोपणीय द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध के द्वारा निकाले गए घृत से करना चाहिए। बुद्धिमान वैद्य को कफ और वात से आक्रान्त व्रणों का रोपण पूर्वोक्त (रोपणीय) औषधियों से सिद्ध तैल के द्वारा करना चाहिए। जिन व्रणों में पट्टी बाँधना निषिद्ध है (पित्त, रक्त, विष तथा अभिघात से उत्पन्न व्रण) तथा जो सन्धि-स्थान पर स्थित है एवं शुद्ध होने पर भी जिनमें पुनः दोषो-त्पत्ति हो जाती है उन व्रणों के रोपण के लिए हल्दी और दारुहल्दी से युक्त रसक्रिया करनी चाहिए। समान, कठिन मांस वाले तथा त्वचा में स्थित व्रणों के रोपण के लिए सूत्र-स्थान में कही गई विधि के अनुसार औषधियों के चूर्ण का प्रयोग बुद्धिमान वैद्य को करना चाहिए ॥ ७०-७३ ॥

विमर्श.—प्राक्स्थानोक्तो विधिः—प्राक्स्थाने सूत्रस्थाने उक्तो-विधि' येन प्रकारेण। स च प्रकार. 'किंशुकक्षिफलारोध्रमि'त्यादिना निर्दिष्टः। (उद्रहण) रोपण चूर्णः—कङ्कुका त्रिफला रोध्र कासीस श्रवणाहया। धवाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपण चूर्णमिष्यते ॥ (सु. सू. अ. ३७)

शोधनो रोपणश्चैव विधिर्योऽयं प्रकीर्तितः ॥ ७४ ॥
सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषतः ।
एष आगमसिद्धत्वात्तथैव फलदर्शनात् ॥ ७५ ॥
मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन ।
स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु ॥७६॥
भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया ।
आद्ये द्वे पञ्चमूल्यौ तु गणो यश्चानिलापहः ॥ ७७ ॥
स वातदुष्टे दातव्यः कषायादिषु सप्तसु ।
न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिश्च यः स्मृतः ॥७८॥
तौ पित्तदुष्टे दातव्यौ कषायादिषु सप्तसु ।
आरग्वधादिस्तु गणो यश्चोष्णः परिकीर्तितः ॥
तौ देयौ कफदुष्टे तु, संसृष्टे संयुता गणाः ॥ ७९ ॥

जिस शोधन-रोपण विधि का वर्णन किया गया है, वह दोषसामान्य से सभी प्रकार के (शारीरिक और आगन्तुक) व्रणों के लिए सामान्य विधि है। शास्त्र (चिकित्सा शास्त्र) में प्रसिद्ध तथा आरोग्य प्रदान करने वाली इस (शोधन-रोपण) विधि का प्रयोग मन्त्र की भाँति बिना किसी विचार (तर्क-वितर्क) के करना चाहिए। जिन औषधियों का कथन मैंने पहले किया है उनका विभाजन १. कषाय, २ वर्ति, ३. कल्क, ४ सर्पि, ५. तैल, ६ रसक्रिया और ७. चूर्ण में योग के अनुसार वैद्य को अपनी बुद्धि से भी करना चाहिए। प्रारम्भ में कहे गए वातघ्न लघु और बृहत् पञ्चमूल गण का प्रयोग सप्तकषायों (कषाय, वर्ति, कल्क आदि) में वात से दूषित व्रणों के लिए करना चाहिए। जिन न्यग्रोधादि और काकोल्यादि गणों का उल्लेख किया जा चुका है उन दोनों का सप्तकषायों में प्रयोग पित्त से दूषित व्रण के लिए करना चाहिए। आरग्वधादि और उष्णगण (सुरसादिगण) का वर्णन पहले किया जा चुका है। कफ से दूषित व्रण में इन दोनों गणों का तथा मिश्रित दोष वाले व्रणों में गणों का सम्मिलित प्रयोग (शोधन-रोपण होने के कारण) करना चाहिए ॥ ७४-७९ ॥

वातात्मकानुग्ररुजान् सास्रावानपि च व्रणान् ॥८०॥
सक्षौमयवसर्पिर्भिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत् ।

३४ धूपन—वातदोष, तीव्र वेदना तथा स्राव से युक्त व्रणों में क्षौम (तीसी से निर्मित वस्त्र), जौ, घृत और धूपन द्रव्यों (श्रीवेष्टक, सर्जरस आदि) से धूप देना चाहिए ॥८०॥

परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च ॥ ८१ ॥
कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च ।
मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः ॥ ८२ ॥
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते ।

३५ उत्सादन—सूखे हुए, अल्पमांस वाले तथा गहरे व्रणों में उत्सादनीय (निम्न व्रण को ऊपर उठाने वाले) द्रव्यों से सिद्ध घृत और लेप का प्रयोग करना चाहिए। रोगी को मांसाहारी जन्तुओं का मांस विधिपूर्वक खिलाना चाहिए। मांस सेवन से विशुद्ध मन वाले (शोक, क्रोध आदि से रहित) व्यक्ति के मांस की वृद्धि होती है ॥ ८१-८२ ॥

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥ ८३ ॥
कुर्याद् द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह ।

३६ अवसादन—उभरे हुए मृदु मांस वाले व्रणों का अवसादन (उठे हुए व्रण को नीचा करना) पूर्व कथित (कासीसादि) औषधियों के चूर्ण में मधु मिलाकर करना चाहिए ॥ ८३ ॥

कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना ॥ ८४ ॥
मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत् ।
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत् ॥८५॥

३७ मृदुकर्म—कठिन, अल्पमांस वाले एवं वात से दूषित व्रणों में मृदुकर्म और रक्तमोक्षण तथा वातघ्न औषधियों से युक्त स्नेह और सेक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८४-८५ ॥

मृदुत्वमाशुरोहं च गाढो बन्धः करोति हि ।
व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम् ॥
धवप्रियङ्ग्वशोकानां रोहिण्याश्च त्वचस्तथा ॥ ८६ ॥
त्रिफलाधातकीपुष्परोध्रसर्जरसान् समान् ।
कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत् ॥ ८७ ॥

३८ दारुण कर्म—कसकर पट्टी बाँधने से व्रण में कोमलता आती है और वह शीघ्र भरता है। मृदु मांस वाले व्रणों में दारुण कर्म (व्रण को कठिन बनाने वाली क्रिया) हितकर होता है। धव, फूलप्रियङ्गु, अशोक, कटुतुम्बी की छाल, हरड, बहेड़ा, आँवला, धाय के फूल, लोध्र और राल का समान भाग में महीन चूर्ण बना कर व्रण पर छिड़कना चाहिए ॥

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान् ।
तथैव खलु दुःशोध्यान् शोधयेत् क्षारकर्मणा ॥८८॥

३९ क्षार कर्म—उभरे हुए मांस वाले, कठिन, खुजली युक्त, चिरकाल से उत्पन्न तथा कठिनाई से शुद्ध होने वाले व्रणों का शोधन क्षार कर्म के द्वारा करना चाहिए ॥ ८८ ॥

स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ।
निःशेषच्छिन्नसन्धींश्च साधयेदग्निकर्मणा ॥ ८९ ॥

४० अग्नि कर्म—मूत्र बहाने वाले, अश्मरीजन्य तथा रक्त बहाने वाले अन्य व्रण एवं सम्पूर्ण रूप से कटी हुई सन्धियों वाले व्रण को अग्निकर्म से सिद्ध (नीरोग) करना चाहिए ॥८९॥

दुरूढत्वात्तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत् ।
भल्लातकान् वासयेत्तु क्षीरे प्राङ्मूत्रभावितान् ।
ततो द्विधा च्छेदयित्वा लौहे कुम्भे निधापयेत् ॥९०॥
कुम्भेऽन्यस्मिन् निखाते तु तं कुम्भमथ योजयेत् ।
मुखं मुखेन सन्धाय गोमयैर्दाहयेत्ततः ॥ ९१ ॥
यः स्नेहश्च्यवते तस्माद्ग्राहयेत्तं शनैर्भिषक् ।
ग्राम्यानूपशफान् दग्ध्वा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥९२॥
तैलेनानेन संसृष्टं शुष्कमालेपयेद् व्रणम् ।
भल्लातकविधानेन सारस्नेहांस्तु कारयेत् ॥
ये च केचित् फलस्नेहा विधानं तेषु पूर्ववत् ॥ ९३ ॥

४१. कृष्णकर्म—भलीभाँति न भरने के कारण श्वेत वर्ण वाले व्रणों में कृष्णकर्म हितकर होता है। पहले (सप्ताह पर्यन्त) गोमूत्र में रखे हुए भिलावे को दूध में (सात दिन) रखे। फिर भिलावे के दो टुकड़े कर लोहे के घड़े में रखे। पश्चात् भूमि में गड़े हुए दूसरे घड़े के मुख के साथ (भिलावे वाले) घड़े का मुख मिलाकर सन्धिबन्धन करके ऊपर से उपले की अग्नि जलावे। इस विधि से जो स्नेह (तेल) टपके उसे धीरे धीरे वैद्य ग्रहण करे। ग्राम्य तथा आनूप देश के पशुओं का खुर जला कर बनाया गया बारीक चूर्ण इस तेल में मिलावे और शुष्क व्रण पर लेप करे। भल्लातक विधान के अनुसार (स्नेह निकालने की उपर्युक्त विधि) सारस्नेह (सालसारादिगण की औषधियों का तेल) निकाले तथा फलस्नेह (विभीतक आदि फलों का तेल) निकालने में उपर्युक्त विधि का ही अनुसरण करे ॥ ९०-९३ ॥

दुरूढत्वात्तु कृष्णानां पाण्डुकर्म हितं भवेत् ॥ ९४ ॥
सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम् ।
तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम् ॥ ९५ ॥

४२. पाण्डुकर्म—भलीभाँति न भरने के कारण जो व्रण काले हो गये हों उनमें पाण्डुकर्म (त्वचा के समान वर्ण करना) हितकर होता है। रोहिणीफल (हरीतकी भेद) को सात दिन बकरी के दूध में रख कर उसी दूध से बारीक पीस ले। त्वचा के समान वर्ण करने के लिए इसका प्रयोग हितकर है ॥ ९४-९५ ॥

नवं कपालिकाचूर्णं वैदुलं सर्जनाम च ।
कासीसं मधुकं चैव क्षौद्रयुक्तं प्रलेपयेत् ॥ ९६ ॥

कोरे शकोरे (मिट्टी का पात्र विशेष) के चूर्ण, वेंत की जड़, राल, कासीस और मुलेठी के चूर्ण में मधु मिलाकर प्रलेप लगावे ॥ ९६ ॥

कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत् ।
कासीसं रोचनां तुत्थं हरितालं मनःशिलाम् ॥ ९७ ॥
वेणुनिर्लेखनं चापि प्रपुन्नाडरसाञ्जनम् ।
अधस्तादर्जुनस्यैतन्मासं भूमौ निधापयेत् ॥
मासादूर्ध्वं ततस्तेन कृष्णमालेपयेद् व्रणम् ॥ ९८ ॥

कैथ के अन्दर का गूदा निकालकर उसे बकरी के मूत्र से भर दे। उसमें कासीस, गोरोचन, तूतिया, हरिताल, मैनशिल, बाँस की छाल का चूर्ण, चकवड़ का बीज और रसोत मिला कर एक मास तक अर्जुन वृक्ष की जड़ के नीचे जमीन में गाड कर रखे। एक मास उपरान्त काले व्रण पर इसका लेप करे ॥ ९७-९८ ॥

कुक्कुटाण्डकपालानि कतकं मधुकं समम् ॥ ९९ ॥
तथा समुद्रमण्डूकी मणिचूर्णं च दापयेत् ।
गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम् ॥ १०० ॥

४३. प्रतिसारण—मुर्गी के अण्डे का छिलका, निर्मली, मुलेठी, समुद्रमण्डूकी (मुक्ताशुक्ति) और मणिचूर्ण (स्फटिक पत्थर, मोती आदि का चूर्ण) को समान भाग में ले, गोमूत्र के साथ पीस कर गोली बनावे। इस गोली से प्रतिसारण (घर्षण) कर्म करे ॥ ९९-१०० ॥

हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम् ।
रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥१०१॥

४४ रोमसञ्जनन—हाथीदांत को जलाकर (कोयला बनाकर) चूर्ण करके उत्तम रसोत (बकरी के दूध के साथ) में मिलाकर लेप करने से हथेली और तलवे में भी बाल उत्पन्न होते हैं ॥ १०१ ॥

चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः ॥ १०२ ॥

चौपायों (पशुओं) की त्वचा, बाल, खुर, सींग और हड्डी की भस्म को (रोमरहित) तेल पुते हुए भाग पर बुरकने से पुनः रोम उत्पन्न हो जाता है ॥ १०२ ॥

कासीस नक्तमालस्य पल्लवांश्चैव संहरेत् ।
कपित्थरसपिष्टानि रोमसंजननं परम् ॥ १०३ ॥

कासीस और करञ्ज के पत्तों को कैथ के रस से पीस कर किया गया लेप बाल उत्पन्न करने के लिए उत्तम प्रयोग है ॥

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति ।
क्षुरकर्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत् ॥ १०४ ॥

४५ लोमापहरण—बालों से भरा होने के कारण जो व्रण भलीभांति न भरता हो, उस व्रण के बालों को, छुरा, कैंची तथा संदंशयन्त्र (चिमटी) से निकाल देना चाहिए ॥

(शङ्खचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम् ।
शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम्) ॥ १०५ ॥

(शंख का चूर्ण दो भाग और हरिताल एक भाग को शुक्त (फल सिद्ध अम्ल द्रव) के साथ पीस कर लेप लगाना बालों को गिराने के लिए उत्तम प्रयोग है) ॥ १०५ ॥

तैलं भल्लातकस्याथ स्नुहीक्षीरं तथैव च।
प्रगृह्यैकत्र मतिमान् रोमशातनमुत्तमम् ॥ १०६ ॥

बुद्धिमान वैद्य भिलावे के तेल और थूहर के दूध को एकत्र मिलाकर बालों को गिराने के लिए प्रयोग करे ॥१०६॥

कदलीदीर्घवृन्ताभ्यां भस्मालं लवणं शमी।
बीजं शीतोदपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत् ॥ १०७ ॥

केला और अरलू की भस्म (जलाकर बनाई गई राख), हरिताल, सेन्धानमक और शमी के बीज को शीतल जल से पीस कर बालों को गिराने के लिए प्रयोग करना चाहिए ॥

आगारगोधिकापुच्छं रम्भाऽऽलं बीजमैङ्गुदम्।
दग्ध्वा तद्भस्म तैलाम्बु सूर्यपक्वं कचान्तकृत् ॥१०८॥

आगारगोधिका की पूँछ, केला, हरिताल और इङ्गुदीबीज को जलाकर बनाई गई भस्म में तेल तथा जल मिला कर धूप में पकाया जावे। यह रोमनाशक योग है ॥ १०८ ॥

विमर्शः—आगारगोधिका को बंगाल प्रान्त में ब्राह्मणी कहते हैं। यह सर्प की तरह चमकदार और रेखाङ्कित किन्तु आकार में छोटी और पैर वाली होती है, देहाती क्षेत्र के घरों में यह बहुधा देखी जाती है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में इसे 'ओटनी' कहते हैं।

वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः।
अधः काये विशेषेण तत्र वस्तिर्विधीयते ॥ १०९ ॥

४६. वस्तिकर्म—वायु से दूषित, रूक्ष और तीव्रवेदनावाले तथा विशेष कर शरीर के अधो भाग में स्थित व्रणों में वस्ति कर्म करना चाहिए ॥ १०९ ॥

मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे।
तथैवार्तवदोषे च वस्तिरप्युत्तरो हितः ॥ ११० ॥

४७. उत्तरवस्ति—मूत्राघात, मूत्रदोष, शुक्रदोष और अश्मरीजन्यव्रण तथा आर्त्तवदोष में उत्तरवस्ति हितकर होती है ॥

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते ॥ १११ ॥

४८. बन्ध (Bandage)—पट्टी बाँधने से व्रण शुद्ध होता है, उसमें मृदुता आती है तथा निःशङ्क रूप से (मक्खी आदि के लगने की बाधा से रहित) भरता है, अतः व्रण में पट्टी बाँधनी चाहिए ॥ १११ ॥

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्।
पत्रदानं भवेत् कार्यं यथादोषं यथर्तु च ॥११२॥

४९. पत्रदान—स्थिर, अल्पमांसवाले तथा रूक्षता के कारण न भरनेवाले व्रणों में, दोष और ऋतु के अनुसार पत्रदान (व्रण पर लेप लगाकर ऊपर पत्ता रखना) करना चाहिए ॥ ११२ ॥

एरण्डभूर्जपूतीकहरिद्राणां तु वातजे।
पत्रमाश्वत्थलं चैव काश्मरीपत्रमेव च ॥ ११३ ॥
पत्राणि क्षीरवृक्षाणामौदकानि तथैव च।
दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः ॥ ११४ ॥

वातज व्रण में—रेंड, भोजपत्र, करञ्ज तथा हल्दी की पत्ती रखनी चाहिए। रक्त-पित्त से दूषित व्रण में-अश्वत्थला (पोई), गम्भारी, क्षीरवृक्ष (वट, गूलर आदि) तथा औदक (कमल आदि के) पत्तों का प्रयोग बुद्धिमान् वैद्य को करना चाहिए ॥

पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः।
पत्रं च शुकनासाया योजयेत् कफजे व्रणे ॥११५॥

कफजव्रण में—पाठा, मूर्वा, गिलोय, मकोय, हल्दी और शुकनासा (चर्मकार वट) के पत्तों का प्रयोग करे ॥ ११५ ॥

अकर्कशमविच्छिन्नमजीर्णं सुकुमारकम्।
अजन्तुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते ॥ ११६ ॥

जो पत्ता खुरदरा न हो, फटा न हो, नया हो, पतला हो, और कीड़ों से खाया हुआ न हो तथा कोमल हो वह (पत्रदान के लिए) गुणकारी होता है ॥ ११६ ॥

स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः।
नादत्ते यत्ततः पत्रं लेपस्योपरि दापयेत् ॥ ११७ ॥

पत्ते को लेप के ऊपर रख कर पट्टी बाँधने से स्नेह (शतधौत घृत आदि) और औषधि का सार (वीर्य) पट्टी में नहीं लगता इसलिए लेप के ऊपर पत्ता रखना चाहिए॥११७॥

शैत्योष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च।
दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता ॥ ११८ ॥

शीतलता और उष्णता उत्पन्न करने तथा स्नेह को बचाने के लिए, विद्वान वैद्य को लेप के ऊपर पत्ता रखना चाहिए ॥ ११८ ॥

मक्षिका व्रणमागत्य निःक्षिपन्ति यदा कृमीन्।
श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥ ११९ ॥
तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तस्रावश्च जायते।
सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा ॥ १२० ॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः।
हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन वा ॥ १२१ ॥
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा कृमीनपहरेद् व्रणात्।
विंशतिं कृमिजातीस्तु वक्ष्याम्युपरि भागशः ॥१२२॥

५०. कृमिव्रण—व्रण पर बैठकर मक्खियाँ जब कृमि उत्पन्न कर देती हैं। तब उन कृमियों के काटने से व्रण में अत्यन्त कष्ट देनेवाला शोथ उत्पन्न हो जाता है। उसमें तीव्र और विचित्र (तोद, दाह, कण्डू आदि नाना रूपवाली) वेदना तथा रक्तस्राव होता है। इस अवस्था में सुरसादि गण की औषधियों का प्रयोग व्रण के धोने तथा भरने के लिए हितकर होता है। इतिवन, करञ्ज, मदार, नीम और खिरनी की छाल को गोमूत्र में पीसकर लेप करना अथवा क्षारयुक्त जल से सेक करना हितकर होता है। मांस के टुकड़े से (व्रण को) ढक कर कृमियों को व्रण से बाहर निकालना चाहिए। बीस प्रकार की कृमि जाति का वर्णन उत्तरतन्त्र (कृमिप्रतिषेधीय अध्याय) में किया जावेगा ॥ ११९-१२२ ॥

दीर्घकालातुराणां तु कृशानां व्रणशोषिणाम्।
बृंहणीयो विधिः सर्वः कायाग्नि परिरक्षता ॥१२३॥

५१ बृंहण—चिरकाल से रुग्ण, कृश एवं व्रण से शुष्क (दुर्बल) व्यक्ति के लिए जाठराग्नि की रक्षा करते हुए सभी प्रकार की बृंहण (शरीर को पुष्ट करने वाली) विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ १२३ ॥

विषजुष्टस्य विज्ञान विषनिश्चयमेव च।
चिकित्सितं च वक्ष्यामि कल्पेषु प्रतिभागशः ॥१२४॥

५२ विषघ्न—विष से युक्त (अन्न-पान आदि) का लक्षण विष (स्थावर-जंगम आदि) की परीक्षा और उसकी चिकित्सा कल्प स्थान में पृथक् २ कही जावेगी ॥ १२४ ॥

कण्ठमन्तः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः।
शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात्कुशलो भिषक् ॥१२५॥

५३ शिरोविरेचन—कुशल वैद्य खुजली वाले, शोथ युक्त और कण्ठ प्रदेश के (जत्रुवक्षोऽसयोः सन्धिः) व्रणों में शिरोविरेचन का प्रयोग करे ॥ १२५ ॥

रुजावन्तोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः।
व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता ॥ १२६ ॥

५४ नस्य—विद्वान वैद्य पीडायुक्त, वायु से आक्रान्त, रूक्ष और कण्ठ प्रदेश से ऊपर के व्रणों में नस्य (स्नैहिक नस्य) का प्रयोग करे ॥ १२६ ॥

दोषप्रच्यावनार्थाय रुजादाहक्षयाय च।
जिह्वादन्तसमुत्थस्य हरणार्थं मलस्य च ॥ १२७ ॥
शोधनो रोपणश्चैव व्रणस्य मुखजस्य वै।
उष्णो वा यदि वा शीतः कवलग्रह इष्यते ॥ १२८ ॥

५५ कवलधारण—दोषों को निकालने के लिए पीड़ा और दाह की शान्ति के लिए जिह्वा तथा दांतों में लगे हुए मल को साफ करने के लिये एवं मुख में उत्पन्न व्रण के शोधन तथा रोपण के लिए उष्ण अथवा शीतल कवलधारण हितकर होता है ॥ १२७ १२८ ॥

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् व्रणांश्च कफवातजान्।
शोफस्रावरुजायुक्तान् धूमपानैरुपाचरेत् ॥ १२९ ॥

५६ धूम—कण्ठ प्रदेश से ऊपर के रोगों की और कफ-वातजन्य तथा शोथ, स्राव एवं पीडा से युक्त व्रणों की चिकित्सा धूमपान से करनी चाहिये ॥ १२९ ॥

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च।
सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥ १३० ॥

५७ मधुसर्पि—क्षतजन्य ऊष्मा को रोकने तथा व्रण को जोड़ने के लिये, नवीन एवं चौडे व्रण में मधुसर्पि का प्रयोग करना चाहिये ॥ १३० ॥

अवगाढास्त्वणुमुखा ये व्रणाः शल्यपीडिताः।
निवृत्तहस्तोद्धरणा यन्त्रं तेषु विधीयते ॥ १३१ ॥

५८ यन्त्र—गहरे, बहुत छोटे मुखवाले, शल्य से युक्त तथा जिन व्रणों में से हाथ द्वारा शल्य निकालना सम्भव न हो उनमें यन्त्र का प्रयोग करना चाहिये ॥ १३१ ॥

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्निदीपनः।
सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता ॥१३२॥

५९ आहार—विद्वान् वैद्य सभी प्रकार के व्रणरोगियों को लघु मात्रा (परिमाण में अल्प) और लघु द्रव्यों (गुण में लघु शालिधान्य आदि) का स्निग्ध, उष्ण अग्निदीपन आहार प्रदान करे ॥ १३२ ॥

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।
रक्षाविधानैरुद्दिष्टैर्यमैः सनियमैस्तथा ॥ १३३ ॥

६०. रक्षाविधान—पहले कहे गए रक्षाविधान, (गुग्गुलु आदि का धूपन एवं आयुर्वेदविहित मन्त्रों का प्रयोग) तथा यम और नियम के द्वारा क्षत से पीडित व्यक्ति की निशाचरों से रक्षा अहर्निश करनी चाहिए ॥ १३३ ॥

विमर्श—यमै. सनियमैरिति। पञ्च यमा नियमाश्च पञ्च। यम का लक्षण—अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं तथैव च। व्यवहार-निवृत्तिश्च यमाः पञ्च प्रकीर्तिताः ॥ नियम का लक्षण—अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥

षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पञ्चलक्षणलक्षितः।
षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ॥१३४॥

६ कारण, आठ अधिष्ठान, और पांच लक्षणों से पहचाने गए व्रण की चिकित्सा निर्दिष्ट (पूर्व कथित) ६० उपक्रमों तथा चतुष्पादों के द्वारा की जाती है ॥ १३४ ॥

विमर्श—(१) व्रण के षण्मूल (६ कारण)—वात-पित्तकफशोणितसन्निपातागन्तवः षडेव मूलकारणानि यस्य स षण्मूलः। (२) अष्टपरिग्राही (अधिष्ठान) त्वङ्मांससिरास्नायु-सन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि परिगृह्य नीति अष्टपरिग्राही। परिग्रहोऽधिष्ठानम् आश्रय इत्यर्थः। (३) पञ्चलक्षण—(गन्ध-वर्ण) स्रावरुजाकृतिभिर्लक्षणैर्लक्षित इति। (४) साठ विधानों (उपक्रमों) का वर्णन ऊपर किया गया है। (५) चतुर्भिः (चतुष्पाद)—(चतुर्भिर्वैद्यातुरपरिचारकौषधैरित्यर्थः। डल्हण

योऽल्पौषधकृतो योगो बहुग्रन्थभयान्मया।
द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति ॥१३५॥

ग्रन्थविस्तार के भय से अल्प औषधियों से युक्त जिन योगों का वर्णन मैंने किया है, उन योगों में तुल्य गुण वाले अन्य द्रव्यों का आवाप (निक्षेप) दोषयुक्त नहीं है ॥ १३५ ॥

प्रसङ्गाभिहितो यो वा बहु दुर्लभभेषजः।
यथोपपत्ति तत्रापि कार्यमेव चिकित्सितम् ॥ १३६ ॥

प्रसंगवश कहे गए अनेक दुर्लभ औषधियों वाले योगों में से जितने द्रव्य उपलब्ध हो सकें, उन्हीं से चिकित्सा कार्य करना चाहिए ॥ १३६ ॥

गणोक्तमपि यद् द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम्।
तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदन्यकीर्तितम् ॥ १३७ ॥

गणों में निर्दिष्ट यदि कोई द्रव्य व्याधि की दृष्टि से उपयुक्त न हो तो उसे निकाल देना चाहिए तथा योग से सम्बद्ध किन्तु गण में नहीं कहे गए अन्य द्रव्य का भी मिश्रण कर लेना चाहिए ॥ १३७ ॥

उपद्रवास्तु द्विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च ।
तत्र गन्धादयः पञ्च व्रणस्योपद्रवाः स्मृताः ॥१३८॥

उपद्रव दो प्रकार के होते हैं (१) व्रण के और (२) व्रण से पीड़ित के। उनमें गन्ध आदि पांच व्रण के उपद्रव कहलाते हैं ॥ १३८ ॥

ज्वरातिसारौ मूर्च्छा च हिक्का च्छर्दिररोचकः ।
श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य तु ॥१३९॥

ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिचकी, वमन, अरुचि, श्वास, कास, अन्न का परिपाक न होना और प्यास ये व्रण से पीडित के उपद्रव हैं ॥ १३९ ॥

व्रणक्रियास्वेवमासु व्यासेनोक्तास्वपि क्रियाम् ।
भूयोऽप्युपरि वक्ष्यामि सद्योव्रणचिकित्सिते ॥१४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने द्विव्रणीय-
चिकित्सितं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

व्रण के उपक्रमों का विस्तार से यहां वर्णन होने पर भी आगे कहे जाने वाले 'सद्योव्रणचिकित्सित' अध्याय में पुनः क्रियाओं का कथन किया जावेगा ॥ १४० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिका-भाषायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः सद्योव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर सद्योव्रण-चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः ।
विश्वामित्रसुतं शिष्यमृषिं सुश्रुतमन्वशात् ॥ ३ ॥

धार्मिकों में प्रधानतम, अर्थयुक्त हृदयग्राही नवीन वाणी बोलने वाले धन्वन्तरि ने, अपने शिष्य, विश्वामित्र के पुत्र, ऋषि सुश्रुत को शिक्षा दी ॥ ३ ॥

नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।
नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥४॥

विविध रूप के धार तथा मुख वाले शस्त्रों का प्रहार शरीर के विभिन्न स्थानों पर होने से नाना प्रकार के जिन व्रणों की उत्पत्ति होती है, उनका लक्षण कहता हूं ॥ ४ ॥

विमर्शः—व्रण की आकृति के निर्देशक तीन कारणों का उल्लेख ऊपर किया गया है। (१) शस्त्र की धार (२) शस्त्र का मुख तथा (३) शरीर का वह प्रदेश जहाँ शस्त्राभिघात हुआ हो व्रण की आकृति निर्धारित करते हैं। (१) शस्त्र की धार यदि तीक्ष्ण है तो उससे उत्पन्न व्रण में भोथरे (Blunt) शस्त्र से निर्मित व्रण की अपेक्षा भिन्नता रहेगी, चाहे अभिघात का स्थान एक ही क्यों न हो। Medical juris prudence में व्रण की आकृति से ही चोट पहुंचाने वाले शस्त्र का अनुमान किया जाता है। (२) शस्त्र का मुख भी व्रण की आकृति बनाता है। यदि शस्त्र भाले की तरह नोकीला है तो उससे उत्पन्न व्रण की आकृति तलवार आदि लम्बे-चौडे मुख वाले शस्त्रजन्य व्रण की अपेक्षा भिन्न होगी। शस्त्र का जैसा मुख होगा अभिघात वश वह शरीर पर वैसा ही व्रण बनावेगा। (३) व्रण की आकृति के निर्माण में शरीर का वह प्रदेश भी भाग लेता है, जहां शस्त्राभिघात होता है। शिर छाती तथा पीठ जैसे प्रशस्त प्रदेश के व्रण, हाथ-पैर आदि संकीर्ण स्थान के व्रणों से भिन्न आकृति के होते है।

आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा ।
अर्धचन्द्रप्रतीकाशा विशालाः कुटिलास्तथा ॥ ५ ॥
शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे ॥
एवंप्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः ।
दोषजा वा स्वयं भिन्ना न तु वैद्यनिमित्तजाः ।
भिषग्व्रणाकृतिज्ञो हि न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥

चौडे, चौकोर, त्रिकोण, गोल, अर्द्धचन्द्राकार, विस्तृत, टेढे, शकोरे की भांति बीच में दबे हुए तथा जौ के समान मध्य में उठी हुई आकृति वाले, वातादि दोषों से उत्पन्न अथवा स्वयं फटने वाले आगन्तुक व्रण होते हैं, ये व्रण वैद्यों के द्वारा बनाए गए नहीं होते ॥ ५-६ ॥

भयङ्कर स्वरूप वाले तथा विकृत व्रणों को देखकर व्रणों की आकृति को जानने वाला वैद्य घबडाता नहीं है।

विमर्श—वैद्य निर्मित व्रण का लक्षण—आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः। प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥ (सु. सू. अ. ५)

भृशं दुर्दर्शरूपेषु व्रणेषु विकृतेष्वपि ॥ ७ ॥
अनन्ताकृतिरागन्तुः स भिषग्भिः पुरातनैः ।
समासतो लक्षणतः षड्विधः परिकीर्तितः ॥ ८ ॥
छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षत पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ९ ॥

अनेक आकार के आगुन्तक व्रणों को प्राचीन वैद्यों ने लक्षण के अनुसार सक्षेप में ६ प्रकार का माना है। (१) छिन्न (२) भिन्न (३) विद्ध (४) क्षत (५) पिच्चित और छठा घृष्ट। इनका लक्षण कहा जा रहा है ॥ ७-९ ॥

विमर्श—आगन्तुक व्रणों की आकृति मुख्यतः प्रहार में प्रयुक्त शस्त्रों के स्वरूप पर आश्रित रहती है। छिन्न और भिन्न व्रण तीक्ष्णधार वाले (तलवार आदि) शस्त्रों के द्वारा बनते हैं। अत्यन्त छोटे मुख वाले शस्त्रों (बाण आदि) से विद्ध व्रणों की उत्पत्ति होती है तथा पिच्चित और घृष्ट व्रणों का निर्माण लाठी-पत्थर आदि पदार्थ करते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के अनुसार व्रणों का स्वरूप निम्नलिखित रूप में ४ प्रकार का होता है:—The nature of the wound·—

(i) If the wound is simple clean cut through the skin or other tissues, the appearance of the skin quite up to the edge of the wound being unaltered, and the surface of the cut smooth, showing the

different structure cut through, it is an incised wound

(ii) If the surface of the wound is dark in colour and uneven and the skin arround it is livid, ecchymosed, and more or less cold and benumbed, it is acontused wound

(iii) If the surface of the wound is extremely irregular, with long threds of tissue adherent to it, it is a lacerated wound.

(iv) There is where the depth of a wound is out of proportion to its superficial extent, a punctured wound.

तिरश्चीन ऋजुर्वाऽपि यो व्रणा श्वायतो भवेत् ।
गात्ररय पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते ॥ १० ॥

चौडी आकृति वाला तिरछा या सीधा तथा शस्त्र प्रहार से हाथ आदि अङ्गों के कटकर पृथक् हो जाने या लटकते रहने पर जो व्रण बनता है उसे छिन्न व्रण कहते हैं ॥ १० ॥

कुन्तशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः ।
हृतः किञ्चित् स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ११ ॥

भाला, शक्ति (शक्तिस्त्रिमुखी), ऋष्टि (सबरी) और तलवार आदि शस्त्रों के अग्रभाग तथा सींग आदि के प्रहार से फटे हुए आशयों (आमाशय-पक्वाशय आदि) के द्वारा कुछ स्राव (अनिर्दिष्ट द्रव) बहाने वाले व्रण को भिन्न व्रण कहते हैं ॥ ११ ॥

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ १२ ॥

(१) आमाशय (२) अन्त्याशय (३) पक्वाशय (४) मूत्राशय (५) रक्ताशय (६) हृदय (७) उण्डुक और (८) फुप्फुस कोष्ठ कहलाते हैं ॥ १२ ॥

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ १३ ॥
मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ १४ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।
हृच्छूल पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥ १५ ॥

(शस्त्रप्रहार से) आशयों के छिदने पर वे रक्त से भर जाते हैं, ज्वर और दाह होता है तथा मूत्रमार्ग, गुदा, मुख एव नासिका से रक्तस्राव होने लगता है। मूर्च्छा, श्वास, तृषा, आध्मान (वायु से पेट का फूलना), अन्न से अरुचि, मल-मूत्र और वायु का अवरोध, पसीने का निकलना, नेत्रों में रक्तवर्ण, मुख मे लोह की गन्ध आना, शरीर में दुर्गन्ध तथा हृदय और पार्श्व में पीड़ा होती है। इनके विशेष लक्षण मुझ से सुनो ॥ १३-१५ ॥

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत् पुनः ।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ १६ ॥

आमाशय में रक्त एकत्रित होने पर बार बार रक्त का वमन, अत्यधिक आध्मान और अत्यन्त भयङ्कर उदरशूल होता है ॥ १६ ॥

पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च ।
शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥१७॥

पक्वाशय में रक्त एकत्रित होने पर शरीर में पीडा और भारीपन, नाभिप्रदेश के नीचे शीतलता तथा स्रोतों से रक्त प्रवाह होता है ॥ १७ ॥

अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् ।
पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ॥१८॥

अन्त्राशय के भिन्न न होने पर भी आंतों के सूक्ष्म स्रोतों से उनमें रक्त भर जाता है और उनमें भारीपन उसी प्रकार लक्षित होता है जिस प्रकार बन्द मुख वाले घडे के सूक्ष्म छिद्रों से जल की उपस्थिति का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयाद्विना ।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥ १९ ॥

छोटे मुख वाले शस्त्रों के प्रहार से आशय के अतिरिक्त अन्य अङ्ग का (शल्य के साथ) ऊपर उठ जाना अथवा शल्य रहित स्थिति में होना विद्ध व्रण कहलाता है ॥ १९ ॥

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

न तो अधिक मात्रा में दो टुकडों में विभाजित और न अधिक फटे हुए अपितु (छिन्न और भिन्न) दोनों व्रणों के लक्षणों से युक्त शरीर के ऊँचे-नीचे व्रण को क्षतव्रण कहते हैं ॥ २० ॥

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥२१॥

(लाठी आदि के) प्रहार तथा (किवाड आदि में) दबने के कारण अस्थि के साथ ही कुचलकर जो अङ्ग फैल जाता है तथा मज्जा और रक्त से सन जाता है उसे पिच्चित व्रण कहते हैं ॥ २१ ॥

विगतत्वग्यदङ्गं हि संघर्षादन्यथाऽपि वा ।
उपास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ॥ २२ ॥

रगड अथवा अन्य प्रकार से अङ्ग के त्वचा रहित हो जाने तथा उपा (दाह विशेष) और स्राव से युक्त व्रण को घृष्ट व्रण कहते हैं ॥ २२ ॥

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् ।
रक्तक्षयाद्वृजस्तत्र करोति पवनो भृशम् ॥ २३ ॥
स्नेहपानं हित तत्र तत्सेको विहितस्तथा ।
वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम् ॥ २४ ॥
धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धधान्यालेपनानि च ।
वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्बस्तिविधीयते ॥ २५ ॥

छिन्न, भिन्न, विद्ध तथा क्षत व्रणों से रक्तस्राव अधिक होता है। रक्तक्षय के कारण (कुपित हुआ) वायु व्रणों में

अत्यन्त वेदना उत्पन्न करता है। इसमें स्नेहपान तथा सेक (कोष्णस्नेहसेक) उपयुक्त होता है। इन व्रणों में वेशवार तथा भलीभांति स्निग्ध (घृत-तैल से युक्त) कृशरा की पुलटिश बांधनी चाहिये। धान्यस्वेद और स्निग्ध पदार्थों का लेप एवं वातघ्न औषधियों से सिद्ध स्नेहवस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ २३–२५ ॥

विमर्श—वेशवार—वेशवारैर्निरस्थिस्विन्नस्निग्धपिष्टमासैः । कृशरा-तिलतण्डुल-मापकृता यवागूः । उपनाहनं बन्धनम् । धान्य स्वेदो मापादिकोष्णधान्यस्वेद इत्येके, अन्ये तु धान्यं धान्याम्लम्-अम्लशब्दोत्तरपदलोपेन । डल्हण

पिच्छिते च विघृष्टे च नातिस्रवति शोणितम् ।
अगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते ॥२६॥
तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः ।
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः ॥ २७ ॥

पिच्छित और घृष्ट व्रण से रक्तस्राव अधिक नहीं होता। रक्तस्राव न होने के कारण अत्यधिक दाह तथा पाक होता है। इसमें व्रण की ऊष्मा तथा दाह और पाक को रोकने के लिए शीतल लेप एवं परिषेक का प्रयोग करना चाहिए ॥२६-२७॥

षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः ।
ज्ञेयं समर्पितं सर्वं सद्योव्रणचिकित्सितम् ॥ २८ ॥

उपर्युक्त ६ प्रकार के छिन्न-भिन्न व्रणों की चिकित्सा संक्षेप में बतलाई गई है। इनका प्रयोग सद्योव्रण चिकित्सा में करना चाहिए ॥ २८ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि छिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥२९॥
ये व्रणा विवृताः केचिच्छिरःपार्श्वावलम्बिनः ।
तान् सीव्येद्विधिनोक्तेन बध्नीयाद्दृढमेव च ॥३०॥

इसके आगे छिन्न व्रणों की चिकित्सा विधि का वर्णन करता हूँ। चौडे मुखवाले शिर और पंसवाडों में स्थित व्रणों को कही गई विधि (ऋजुग्रन्थित्वेन सेवन्यादिना) के अनुसार सीना चाहिए तथा कसकर पट्टी बाँधनी चाहिए ॥ २९-३० ॥

कर्णं स्थानादपहृतं स्थापयित्वा यथास्थितम् ।
सीव्येद्यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाभिप्रतर्पयेत् ॥ ३१ ॥

(कटकर) अपने स्थान से पृथक् हुए कान को यथा स्थान रखकर पूर्वोक्त विधि के अनुसार सीना चाहिए तथा तेल से (वातघ्न औषध सिद्ध) कानों को भर देना चाहिए ॥

कृकाटिकान्ते छिन्ने तु गच्छत्यपि समीरणे ।
सम्यङ्निवेश्य बध्नीयात् सीव्येच्चापि निरन्तरम् ॥३२॥
आजेन सर्पिषा चैवं परिषेकं तु कारयेत् ।
उत्तानोऽन्नं समश्नीयाच्छयीत च सुयन्त्रितः ॥ ३३ ॥

ग्रीवा यदि कृकाटिकान्त प्रदेश (गले का पिछला भाग) तक कट गई हो और वायु भी बाहर निकल रहा हो तो उसे यथास्थान भली भाँति स्थापित कर चारों ओर से सीकर पट्टी बाँधनी चाहिए। बकरी के घी से परिषेक करना चाहिए तथा उत्तान (पीठ के बल लिटाकर) भोजन कराना चाहिए और यन्त्रों से बाँधकर सुलाना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

शाखासु पतितांस्तिर्यक् प्रहारान् विवृतान् भृशम् ।
सीव्येत् सम्यङ्निवेश्याशु सन्ध्यस्थीन्यनुपूर्वशः ॥३४॥
बद्ध्वा वेल्लितकेनाशु ततस्तैलेन सेचयेत् ।
चर्मणा गोफणाबन्धः कार्यो,यो वा हितो भवेत् ॥३५॥

हाथ-पैर आदि शाखाओं पर लगे हुए तिरछे और अधिक खुले मुख वाले प्रहारों (व्रणों) में, सन्धि तथा अस्थियों को भली भाँति यथास्थान स्थित करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार शीघ्र सी दे और वेल्लित बन्धन (Spiral bandage) से शीघ्र बाँधकर तैल (वातघ्न औषध सिद्ध) के द्वारा सिंचन करे। चमड़े से गोफणाबन्धन Sling bandage) अथवा जो बन्धन हितकर हो उसका प्रयोग करे ॥ ३४–३५ ॥

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत्तु तम् ।
अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत् पुरुषं व्रणे ॥ ३६ ॥

जिस व्यक्ति के पीठ में व्रण हो उसे पीठ के बल (उत्तान) तथा जिसे छाती में व्रण हुआ हो उसे पेट के बल लिटाना चाहिए ॥ ३६ ॥

विमर्श—उत्तानं शाययेदिति दोषस्रुत्यर्थम्, अन्यथा अनिर्गच्छन् अन्तर्व्यवस्थियो दोष उत्सङ्ग कृत्वा विकरोति, अन्यथेति अधोमुख इत्यर्थः । उक्तञ्च 'उरोव्रणी उत्तानशय्या परिहरेत् । पृष्ठव्रणी तु स्तनोरोऽवष्टभ्य, दोषस्त्वन्यथा न प्रसिच्यते, अनिर्गच्छन् विकारान् उत्पादयति इतिजेज्जटः । गयी तु 'पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदनुत्तान शयीत सः । अतोऽन्यथा चोरसिजे शयीत पुरुषो व्रणे' इति पठति, व्याख्यानयति च–अनुत्तानोऽवाङ्मुखः अधोमुख. शयीत, उरसिजेषु व्रणेषु अन्यथा उत्तान एव शयीतेति ।

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन बुद्धिमान् ।
बध्नीयात् कोशबन्धेन प्राप्तं कार्यं च रोपणम् ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् वैद्य सम्पूर्ण रूप से कटी हुई शाखा को (उष्ण) तैल से जलाकर कोश बन्धन (Sheath bandage) से बाँधे तथा रोपण कर्म करे ॥ ३७ ॥

चन्दनं पद्मकं रोध्रमुत्पलानि प्रियङ्गवः ।
हरिद्रा मधुकं चैव पयः स्यादत्र चाष्टमम् ॥ ३८ ॥
तैलमेभिर्विपक्वं तु प्रधानं व्रणरोपणम् ।
चन्दनं कर्कटाख्या च सहे मांसाह्वयाऽमृता ॥ ३९ ॥
हरेणवो मृणालं च त्रिफला पद्मकोत्पले ।
त्रयोदशाङ्गं त्रिवृतमेतद्वा पयसाऽन्वितम् ॥ ४० ॥
तैलं विपक्वं सेकार्थे हितं तु व्रणरोपणे ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥४१॥

चन्दन, पद्माख, लोध्र, नील कमल, प्रियङ्गु, हल्दी, मुलेटी और आठवें द्रव्य दूध के साथ पकाया गया तेल व्रणरोपण के लिए उत्तम होता है। चन्दन, काकडासिंगी, मापपर्णी, मुद्गपर्णी, जटामांसी, गिलोय, रेणुकाबीज, खस, हरड, बहेडा, आँवला, पद्माख और नील कमल, इन तेरह औषधियों के कल्क के द्वारा घृत, वसा तथा मज्जा से युक्त तैल का पाक चतुर्गुण दुग्ध के साथ किया जावे। यह त्रयोदशाङ्ग तैल परिषेक एवं रोपण के लिए हितकर होता है। इसके आगे भिन्न व्रणों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जाता है ॥ ३८–४१ ॥

विमर्श—त्रिवृतमिति। त्रिभिर्वृतवसामज्जभिर्वृतं तैल त्रिवृतम्, एतत् त्रयोदशाङ्ग तैलम्। गयी तु मज्जवर्ज्जं स्नेहस्त्रिवृतमित्याह, तन्मते त्रिवृतं पयसा विपक्व व्रणरोपणमिति।

भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत्।
तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः ॥ ४२ ॥
पीडयेत् पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण तु।
ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्य चानेन सर्पिषा ॥ ४३ ॥

भिन्न नेत्र अवलोकन आदि अपने कार्यों के अयोग्य हो जाता है। जो नेत्र भिन्न न होकर बाहर निकल आया हो उसे शिराओं की स्थिति में बिना बाधा पहुँचाये यथास्थान स्थापित कर, ऊपर कमल पत्र रखकर, हाथ से धीरे धीरे भली-भाँति दबावे। इसके पश्चात् आगे कहे जानेवाले घृत के द्वारा तर्पण (नेत्रों में घृत भरना) और नस्य कर्म करे ॥४२ ४३॥

आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुक चोत्पलानि च ॥
जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्।
सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत् प्रशस्यते ॥ ४४ ॥

मुलेठी, नील कमल, जीवक और ऋषभक को पीस कर कल्क बनावे तथा एक आढक दूध में बकरी के घी का पाक करे। यह घृत सभी प्रकार के नेत्राभिघात के लिए उत्तम होता है ॥ ४४ ॥

उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः ॥ ४५ ॥
कषायभस्ममृत्कीर्णां बद्ध्वा सूत्रेण सूत्रवित्।
अग्नितप्तेन शस्त्रेण च्छिन्द्यान्मधुसमायुतम् ॥ ४६ ॥
बद्ध्वा व्रण सुजीर्णेऽन्ने सर्पिष. पानमिष्यते।
स्नेहपानादृते चापि पयःपानं विधीयते ॥ ४७ ॥
शर्कारामधुयष्टिभ्यां लाक्षया वा श्वदष्ट्रया।
चित्रासमन्वित चैव रुजादाहविनाशनम् ॥ ४८ ॥

यदि मनुष्य के उदर से मेद की वर्ति बाहर निकल आवे तो शास्त्र को जानने वाला वैद्य उस पर कषाय भस्म (सर्जकार्जुनादयस्तेषा भस्म क्षारः) और काली मिट्टी का चूर्ण छिड़ककर सूत्र से बाँधे तथा मधु लगे हुए अग्नितप्त शस्त्र से काटकर पट्टी बाँध दे। रोगी के खाये हुए आहार का भली-भाँति पाचन हो जाने पर घृतपान करावे। स्नेहपान के अतिरिक्त दुग्धपान का विधान भी करना चाहिए। शर्करा, मुलेठी, लाख, गोखरू और एरण्ड से सिद्ध दूध पीडा और दाह को दूर करता है ॥ ४५-४८ ॥

विमर्श—कषाया. सर्जकार्जुनादय, तेषा भस्म क्षारः, घृत कृष्णघृत। चित्रा-एरण्डः। मेदवर्ति के छेदन में अग्नितप्त शस्त्र का विधान व्रण को पाक से बचाने के लिए किया गया है। बाहर निकली हुई मेदवर्ति जब अन्दर प्रविष्ट न हो अथवा प्रविष्ट होकर भी जो पुनः बाहर निकल आवे तब उसकी जड़ में सूत्र बाँधकर ऊपरी हिस्से को अग्नितप्त शस्त्र (Cautery knife) से काट देना चाहिए। वातप्रकोप से व्रण की रक्षा करने के लिए अन्न जीर्ण होने के बाद घृत अथवा औषध सिद्ध दुग्ध पान का विधान किया गया है। वृद्ध वाग्भट ने लिखा है—'त क्षौद्रे च व्रणे बद्धे सुजीर्णेऽन्ने घृत पिबेत्। क्षीर वा शर्कराचित्रालाक्षागोक्षुरकैः श्रृतम्।

आटोपो मरणं वा स्याच्छूलो वाऽच्छिद्यमानया।
मेदोग्रन्थौ तु यत्तैलं वक्ष्यते तच्च योजयेत् ॥४९॥

मेदवर्ति का छेदन न करने पर, आटोप (वायु से उदर में गुडगुडाहट), उदरशूल या मृत्यु भी हो सकती है। मेदग्रन्थि के लिए जिस तैल (द्विकरञ्जतैल) का कथन किया गया है उसका प्रयोग करना चाहिए ॥ ४९ ॥

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥५०॥

त्वचा को छेदकर शिरा आदि का भेदन करते हुए अथवा बचाकर कोष्ठ में प्रविष्ट हुआ शल्य पूर्वोक्त (कोष्ठगते त्वाटोपानाहविद्रध्यादीन्) उपद्रवों को उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डु शीतपादकराननम्।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ ५१ ॥

रक्त से भरे हुए कोष्ठवाले, श्वेतशरीर, ठण्ढे हाथ, पैर, मुख और श्वास से युक्त तथा लाल नेत्र और दोष एवं मल की रुकावट से पीडित रोगी को त्याग देना चाहिए ॥ ५१ ॥

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते।
पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम् ॥ ५२ ॥

आमाशय में रक्त एकत्रित होने पर वमन तथा पक्वाशय में एकत्रित होने पर निःशङ्क विरेचन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५२ ॥

आस्थापनं च निःस्नेहं कार्यमुष्णैर्विशोधनैः।
यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च।
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत् सैन्धवसयुताम् ॥ ५३ ॥

(गोमूत्र आदि) उष्ण विशोधन द्रव्यों से स्नेह रहित आस्थापन (बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। जौ, बेर और कुलथी के स्नेह रहित रस (यूष) के साथ अन्न का आहार अथवा सेंधा नमक मिश्रित यवागू (यवाग्वा विरलद्रवा) पिलाना चाहिए ॥ ५३ ॥

अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ॥ ५४ ॥

जिस मनुष्य के शरीर से रक्तस्राव अधिक हो गया हो अथवा कोष्ठ फट गया हो उसे (रक्त की न्यूनता को पूरा करने के लिए) रक्तपान करना चाहिए ॥ ५४ ॥

विमर्श—(आजकल Blood transfusion का प्रयोग ऐसी स्थिति में किया जाता है।)

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ॥ ५५ ॥

(शल्य विद्ध) जिस व्यक्ति का मल, मूत्र और वायु अपने मार्ग से प्रवृत्त होता हो तथा उपद्रव (ज्वर, आध्मान आदि) शान्त हो गए हों, वह मनुष्य कोष्ठ भिन्न होने पर भी जीवित रहता है ॥ ५५ ॥

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्।
पिपीलिकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ॥५६॥

यदि बिना फटी हुई आंत बाहर निकल आई हो तो उसे

पूर्वस्थिति में अन्दर प्रवेश करना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि (फटी हुई आंत को) चीटों के शिर (मुख) से, फटे हुए दोनों सिरों को मिलाकर, पकड़वाकर आंत को अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये ॥ ५६ ॥

विमर्श—ना यथेति। यथैव स्थितानि तथैव प्रवेश्यानि तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः। अपरे तु अन्यथा व्याख्यानयन्ति यथा—अभिन्नादन्यथा अपरप्रकार भिन्नमन्त्र प्रवेश्य न भवेत् तथा च वृद्धवाग्भटः—'अभिन्नमन्त्र निष्क्रान्त प्रवेश्य न ह्यनोऽन्यथा' इति। भिन्नमपि मतान्तरेण प्रवेश्यमिति निर्दिशन्नाह—पिपीलिकाशिरोग्रस्तमित्यादि। तदपि भिन्नमपि, अन्त्र प्रवेश्यमिति सम्बन्धः। (डल्हण)

प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः।
प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ॥ ५७ ॥

तृण, रक्त और धूलि से लिप्त (बाहर निकली हुई) आंत को दूध से धोकर, घृत का लेपन करके, नाखून कटे हुए हाथ से (चिकित्सक) धीरे-धीरे अन्दर प्रविष्ट करे ॥५७॥

प्रवेशयेत् क्षीरसिक्तं शुष्कमन्त्रं घृताप्लुतम्।
अङ्गुल्याऽभिमृशेत् कण्ठं जलेनोद्वेजयेदपि ॥ ५८ ॥
हस्तपादेषु संगृह्य समुत्थाप्य महाबलाः।
भवत्यन्तः प्रवेशस्तु यथा निर्धुनुयुस्तथा ॥ ५९ ॥
तथाऽन्त्राणि विशन्त्यन्तः स्वां कलां पीडयन्ति च।
व्रणाल्पत्वाद्बहुत्वाद्वा दुष्प्रवेशं भवेत्तु यत् ॥ ६० ॥
तदापाट्य प्रमाणेन भिषगन्त्रं प्रवेशयेत्।
यथास्थानं निविष्टे च व्रणं सीव्येदतन्द्रितः ॥ ६१ ॥

सूखी हुई आंत को दूध से धोकर घृत का लेपन करके अन्दर प्रविष्ट करना चाहिए। (यदि बाहर आई हुई आंत अन्दर प्रविष्ट न होती हो तो उसे यथास्थान करने के लिये तीन उपाय करे) (१) अंगुलि से (गले के अन्दर) कण्ठ में स्पर्श करे, (२) रोगी के ऊपर जल छिडककर उसे त्रास पहुँचावे, (३) बलवान व्यक्ति (रोगी के) हाथ-पैरों को दोनों ओर से पकड़कर ऊपर उठावें और इस प्रकार हिलावे कि आंत अन्दर प्रविष्ट हो जाय। इस प्रकार आंत प्रविष्ट होती हैं और अपनी कला (मलधरा) को अन्दर दबाती हैं। (उदरपर) व्रण का मुख छोटा अथवा व्रण की अधिकता होने से, आंत का अन्तः प्रवेश कठिन होने पर, वैद्य प्रमाण के अनुसार काटकर आंत को अन्दर प्रविष्ट करे। आलस्यरहित वैद्य आंत को यथास्थान स्थापित करके व्रण को सी दे ॥ ५८-६१ ॥

स्थानादपेतमादत्ते प्राणान् गुम्फितमेव वा।
वेष्टयित्वा तु पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ ६२ ॥
घृतं पिवेत् सुखोष्णं च चित्रातैलसमन्वितम्।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधः प्रवृत्तये ॥६३॥

(यथास्थान स्थित न होने पर) अपने स्थान से हटी हुई अथवा परस्पर उलझी हुई आंत घातक होती है। कपड़े से व्रण को बांधकर (उष्ण) घृत का सेक करे और मल में मृदुता लाने तथा वायु को अनुलोम करने के लिए एरण्डतैल-मिश्रित सुखोष्ण घृत पिलावे ॥ ६२-६३ ॥

ततस्तैलमिदं कुर्याद्रोपणार्थं चिकित्सकः।
त्वचोऽश्वकर्णधवयोर्मोचकीमेषशृङ्गयोः ॥ ६४ ॥
शल्लक्यर्जुनयोश्चापि विदार्याः क्षीरिणां तथा ॥
बलामूलानि चाहृत्य तैलमेतैर्विपाचयेत्।
व्रणं संरोपयेत्तेन वर्षमात्रं यतेत च ॥ ६५ ॥

इसके बाद चिकित्सक, व्रण-रोपण के लिए निम्नाङ्कित तैल का निर्माण करे। अश्वकर्ण (अश्वकर्णः पूर्वदेशप्रसिद्धः, अश्वत्थसदृशः), धव, सेमल, काकडासिंगी, सलई, अर्जुन, विदारीकन्द और क्षीरिवृक्षों की छाल तथा खरेंटी की जड के कल्क से तैल पाक करके, व्रण का रोपण करे एवं एक वर्ष पर्यन्त रोगी को (मैथुन, व्यायाम आदि से) बचावे ॥६४-६५॥

पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोक्ष्य चाक्षिणी।
प्रवेश्य तुन्नसेवन्या मुष्कौ सीव्येत्तत परम् ॥ ६६ ॥
कार्यो गोफणिकाबन्धः कट्यामावेश्य यन्त्रकम्।
न कुर्यात् स्नेहसेकं च तेन क्लिद्यति हि व्रणः ॥६७॥

अण्डकोषों के बाहर निकल आने पर रोगी के पैरों तथा नेत्रों को जल से धोकर, अण्डकोषों को अन्दर प्रविष्ट करके, तुन्नसेवनी से सी देना चाहिये। कटिप्रदेश में लकड़ी का पट्ट (Splint) लगाकर गोफणिका-बन्धन (Sling Bandage) बाँधना चाहिये तथा स्नेह और सेक नहीं करना चाहिए। स्नेह-सेक करने से व्रण में क्लेद उत्पन्न हो जाता है ॥

कालानुसार्यागुर्वेलाजातीचन्दनपद्मकैः।
शिलादार्व्यमृतातुत्थैस्तैलं कुर्वीत रोपणम् ॥ ६८ ॥

तगर, अगर, इलायची, चमेली, चन्दन, पद्माख, मैनसिल, दारुहल्दी, गिलोय और तूतिया के कल्क से सिद्ध तैल के द्वारा व्रण का रोपण करे ॥ ६८ ॥

शिरसोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं निवेशयेत्।
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत् ॥ ६९ ॥
हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत्।
व्रणे रोहति चैकैक शनैर्बालमपक्षिपेत् ॥ ७० ॥

शिर में लगे हुए शल्य को निकालकर (व्रण में) बालवर्ति (केश की बनी बत्ती) प्रविष्ट करनी चाहिए। व्रण में बालवर्ति का प्रवेश न करने पर मस्तुलुङ्ग का स्राव होने लगता है। मस्तुलुङ्ग के स्राव से कुपित हुआ वायु रोगी को मार डालता है, इसलिए उपर्युक्त चिकित्सा करनी चाहिये। व्रण जैसे-जैसे भरने लगे एक-एक बाल धीरे धीरे निकालते रहना चाहिये ॥ ६९-७० ॥

विमर्श—मस्तुलुङ्ग.—'मस्तुलुङ्गमिति शिरसो बलाधानं स्त्यानघृताकार मस्तुलुङ्गमुच्यते' (डल्हण)।

गात्रादपहृतेऽन्यस्मात् स्नेहवर्तिं प्रवेशयेत्।
कृते निःशोणिते चापि विधिः सद्यः क्षते हितः ॥७१॥

शरीर के अन्य अङ्ग से शल्य निकालकर स्नेहवर्ति प्रविष्ट करनी चाहिए। व्रण को (पाक से बचाने के लिए) रक्त-रहित करके सद्यः क्षत के लिए कही गई विधि (मधु, घृत आदि) का प्रयोग करना हितकारक होता है ॥ ७१ ॥

दूरावगाढाः सूक्ष्माः स्युर्ये व्रणास्तान् विशोणितान् ।
कृत्वा सूक्ष्मेण नेत्रेण चक्रतैलेन तर्पयेत् ॥ ७२ ॥

जो व्रण अधिक गहरे तथा सूक्ष्म (बहुत छोटे) हों उनको रक्तरहित करके सूक्ष्म नेत्र (व्रणप्रक्षालन यन्त्र) के द्वारा चक्रतैल से तर्पण करना चाहिये ॥ ७२ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां त्रिवर्गं तुत्थमेव च ॥ ७३ ॥
विडङ्गं कटुकां पथ्यां गुडूचीं सकरञ्जिकाम् ।
संहृत्य विपचेत् काले तैलं रोपणमुत्तमम् ॥ ७४ ॥

मजीठ, हल्दी, पद्मा (भार्गी), त्रिवर्ग (त्रिफला), तूतिया, विडङ्ग, कुटकी, हरीतकी, गिलोय और करञ्ज को एकत्रित कर, इनके कल्क से सिद्ध किए गए तैल का व्रण-रोपण के समय प्रयोग उत्तम होता है ॥ ७३–७४ ॥

तालीशं पद्मकं मांसी हरेण्वगुरुचन्दनम् ॥
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः ।
पक्वं सद्योव्रणेपूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम् ॥ ७५ ॥

तासीशपत्र, पद्माख, जटामांसी, रेणुकाबीज, अगर, चन्दन, हल्दी, दारुहल्दी, कमलगट्टा, खस और मुलेठी के कल्क के साथ पकाया गया तैल सद्यःव्रण के लिए उत्तम रोपण योग है ॥ ७५ ॥

क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्छिते भग्नवद्विधिः ।
घृष्टे रुजो विगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद् व्रणम् ॥ ७६ ॥

क्षतजव्रण में क्षतविधि (मधु, घृत, तैल-अभ्यङ्ग आदि समस्त विधि) तथा पिच्छितव्रण में भग्नसधानविधि (बन्ध, सेक, रूक्ष भोजन आदि) का प्रयोग करना चाहिए। घृष्ट व्रण की पीड़ा को (मधु, घृत-सेक आदि से) शीघ्र शान्त करके (शाल, सर्जक, अर्जुन आदि के) चूर्ण से व्रण का उपचार करना चाहिए ॥ ७६ ॥

विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव च ॥ ७७ ॥
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशनम् ।
अयमेव विधिः कार्यः क्षीणे मर्महते तथा ॥ ७८ ॥

जिस मनुष्य के अङ्ग अपने स्थान से च्युत हो गए हों, जो ऊँचे स्थान से गिर पड़ा हो, कुचल गया हो, तथा जिसे चोट लगी हो, उसे तेल से भरी हुई द्रोणी (लकड़ी का बना नौकाकृति पात्र) में रखे और मांसरस खिलावे। क्षीण एवं मर्म स्थान में चोट लगे हुए रोगी के लिए भी इसी विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७७–७८ ॥

रोपणे सपरीपेके पाने च व्रणिनां सदा ।
तैलं घृतं वा संयोज्यं शरीरतूनवेक्ष्य हि ॥ ७९ ॥

व्रण रोगी के व्रणरोपण, परिषेक और पान में उसकी प्रकृति और ऋतु का विचार करके तैल अथवा घृत का प्रयोग सदा करना चाहिए ॥ ७९ ॥

विमर्श—यदि रोगी वात-कफप्रकृतिवाला हो और शिशिर आदि ऋतुएँ हों तो तैल का तथा रक्त, पित्त प्रकृतिवाला और शरद् आदि ऋतुएँ हों तो घृत का प्रयोग करना चाहिए।

घृतानि यानि वक्ष्यामि यत्नतः पित्तविद्रधौ ।
सद्योव्रणेषु देयानि तानि वैद्येन जानता ॥ ८० ॥

पित्तज विद्रधि के लिए जिन घृतों का वर्णन किया जायगा उनका उपयोग बुद्धिमान वैद्य को सद्यः व्रण में यत्नपूर्वक करना चाहिए ॥ ८० ॥

सद्यः क्षतव्रणं वैद्यः सशूलं परिषेचयेत् ।
सर्पिषा नातिशीतेन बलातैलेन वा पुनः ॥ ८१ ॥

शूलयुक्त सद्यः व्रण का परिषेक वैद्य किञ्चित् उष्ण घृत अथवा बलातैल से करे ॥ ८१ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां पथ्या तुत्थं सुवर्चलाम् ।
पद्मकं रोध्रमधुकं विडङ्गानि हरेणुकाम ॥ ८२ ॥
तालीशपत्रं नलदं चन्दनं पद्मकेशरम् ।
मञ्जिष्ठोशीरलाक्षाश्च क्षीरिणां चापि पल्लवान् ॥ ८३ ॥
प्रियालबीजं तिन्दुक्यास्तरुणानि फलानि च ॥
यथालाभं समाहृत्य तैलमेभिर्विपाचयेत् ।
सद्योव्रणानां सर्वेषामदुष्टानां तु रोपणम् ॥ ८४ ॥

मजीठ, हल्दी, भार्गी, हरीतकी, तूतिया, हुलहुल, पद्माख, लोध्र, मुलेठी, विडङ्ग, रेणुकाबीज, तालीशपत्र, खस, चन्दन, पद्मकेशर, मजीठ, खस, लाख तथा क्षीरिवृक्षों (वट, गूलर आदि) के पत्र, चिरौंजी और तिन्दुक के कच्चे फल, इन द्रव्यों में जो उपलब्ध हों उन्हें एकत्रित कर इनके कल्क के साथ तैल पाक करे। यह तैल सभी प्रकार के शुद्ध सद्यः व्रणों का रोपण करता है ॥ ८२–८४ ॥

कषायमधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धाश्च योजयेत् ।
सद्योव्रणाना सप्ताहं पश्चात् पूर्वोक्तमाचरेत् ॥ ८५ ॥

सद्यः व्रण में एक सप्ताह तक कषाय, मधुर, शीतल और स्निग्ध क्रिया तथा इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधि (द्विव्रणीय-चिकित्सा विधि) का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रणेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ॥ ८६ ॥
विशोषणं तथाऽऽहारः शोणितस्य च मोक्षणम् ।
कषाय राजवृक्षादौ सुरसादौ च धावनम् ॥८७॥
तयोरेव कषायेण तैल शोधनमिष्यते ।
क्षारकल्पेन वा तैलं क्षारद्रव्येषु साधितम् ॥ ८८ ॥

दूषित व्रणों में ऊर्ध्व (वमन शिरोविरेचन) तथा अधः-शोधन (विरेचन आस्थापन) का प्रयोग, विशोपण, (लघन), आहार (तिक्त, कटु, कषाय द्रव्य) और रक्तमोक्षण करना चाहिए। व्रण धोने के लिए आरग्वधादि और सुरसादि गण के द्रव्यों का क्वाथ तथा शोधन के लिए इन्हीं द्रव्यों के कषाय से सिद्ध तैल का प्रयोग हितकर होता है। अथवा क्षारपाक विधान के अनुसार क्षारोदक बना कर, क्षारद्रव्यों (मुष्कक, पलाश आदि) के कल्क के द्वारा सिद्ध किया गया तैल, व्रणशोधन के लिए प्रयोग में लावे ॥ ८६–८८ ॥

द्रवन्ती चिरबिल्वश्च दन्ती चित्रकमेव च ।
पृथ्वीका निम्बपत्राणि कासीसं तुत्थमेव च ॥ ८९ ॥
त्रिवृत्तेजोवती नीली हरिद्रे सैन्धवं तिलाः ।

भूमिकदम्बः सुवहा शुकाख्या लाङ्गलाह्वया ॥ ६० ॥
नैपाली जालिनी चैव मदयन्ती मृगादनी ।
सुधामूर्वार्ककोटारिहरितालकरञ्जिकाः ॥ ६१ ॥
यथोपपत्ति कर्तव्यं तैलमेतैस्तु शोधनम् ।
घृतं वा यदि वा प्राप्त कल्काः संशोधनास्तथा ॥६२॥

द्रवन्ती (दन्ती भेद), करञ्ज, दन्ती, चित्रक, भंगरैला, नीम के पत्ते, कासमर्द, नृतिगा, निशोथ, तेजोवती (मालकांगनी), नील के पत्ते, इन्द्री, दारुहल्दी, सेन्धानमक, तिल, भूमिकदम्ब (गोरखमुण्डी), सुवहा (गोधापदी), शुकाख्या (चर्मकारवट), कलिहारी, नैपाली (मैनशिल), जालिनी (कटुतुम्बी), मदयन्ती (मेहदी), मृगादनी (इन्द्रायण की जड़), सेहुण्ड, मूर्वा, मदार, विडङ्ग, हरिताल और करञ्ज, इनमें से जितने द्रव्य उपलब्ध हों उनके कल्क के साथ शोधनतैल का पाक करे। अथवा (शोधन द्रव्यों से सिद्ध) घृत या असंशोधन कल्कों का प्रयोग आवश्यकतानुसार हितकर होता है ॥ ८०-९२ ॥

सैन्धवत्रिवृदेरण्डपत्रकल्कस्तु वातिके ॥
त्रिवृद्धरिद्रामधुककल्कः पैत्ते तिलैर्युतः ।
कफजे निलनेजोहादन्तीस्वर्जिकचित्रकाः ॥ ९३ ॥

सेन्धानमक, निशोथ और एरण्ड पत्र के कल्क का प्रयोग वात से दूषित, निशोथ, इन्द्री और मुलेठी के तिलयुक्त कल्क का प्रयोग पित्त से दूषित तथा निल, मालकांगनी, दन्ती, सज्जीखार और चित्रक के कल्क का प्रयोग कफ से दूषित व्रण के शोधन के लिए करना चाहिए ॥ ९३ ॥

दुष्टव्रणविधिः कार्यो मेहकुष्ठव्रणेष्वपि ॥ ९४ ॥

प्रमेह और कुष्ठ से उत्पन्न व्रणों की चिकित्सा में भी दुष्टव्रणचिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९४ ॥

षड्विधः प्राक् प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः ।
नानः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभि ॥६५॥

६ प्रकार के जिन सद्यःव्रणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है उनसे अधिक की गणना करने में नियमित वाणी बोलने वाले भी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ९५ ॥

उपसर्गैर्निपातैश्च तत्त्व पण्डितमानिनः ।
केचित् संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः ॥ ९६ ॥

अपने को पण्डित समझने वाले कुछ अभिमानी लोग, उपसर्ग (प्र-परादयः) और निपात (चादयः) का संयोग करके इन्हें अनेक प्रकार का मानते हैं ॥ ९६ ॥

बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेष्वेवावतिष्ठते ।
विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम् ॥ ९७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सद्योव्रणचिकित्सितं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

जिस प्रकार सामान्य में विशेष का समावेश रहता है उसी प्रकार उनके अनेकविध कथन का इन्हीं ६ भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः (सद्यःव्रण के) ६ भेद हैं, यही श्रेष्ठ मत है ॥ ९७ ॥

विमर्श—उपसर्गा प्र-परादय, तै संयोज्य भाषन्ते, यथा सम्यक् छिन्न सच्छिन्न, सुष्ठु छिन्न सुच्छिन्नम्, अल्पं हि छिन्नमाच्छिन्नमिति, निपातैर्यथा—अतिक्रमाच्छिन्नमतिच्छिन्न, पूजित छिन्न सुच्छिन्नम्, अल्प छिन्नमीषच्छिन्नमाच्छिन्नमिति। विशेषा इव सामान्ये इति। यथैव हि कर्मसामान्ये गमनप्रसारणाकुञ्चनादीनां कर्मविशेषाणामवरोध, तथा छेदसामान्ये सर्वेषामेव सच्छिन्नपरिच्छिन्नातिच्छिन्नादीनां छेदविशेषाणामवरोध । डल्हण

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका-भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो भग्नानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर भग्नों की (अस्थि और सन्धि भग्न) चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से कहा)— ॥ १-२ ॥

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ३ ॥

अल्प आहार करने वाले, अजितेन्द्रिय (अपथ्यसेवी), वातप्रकृति और उपद्रवों (ज्वर, आध्मान, मल-मूत्र का अवरोध) से युक्त व्यक्ति का भग्न कष्टसाध्य होता है ॥ ३ ॥

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम् ।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥ ४ ॥

लवण, कटु, क्षार, अम्ल, मैथुन, धूप, व्यायाम और रूक्ष अन्न का सेवन भग्नवाले व्यक्ति को नहीं करना चाहिये ॥

शालिर्मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः ।
बृंहणं चान्नपानं स्याद्देयं भग्नाय जानता ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् वैद्य, भग्न से पीड़ित व्यक्ति को शालिचावल, मांसरस, दूध, घृत, सतीन (वर्तुलकलाय) का यूष और शरीर की वृद्धि करने वाले आहार तथा पेय का सेवन करावे ॥ ५ ॥

मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः ।
वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥ ६ ॥

महुआ, गूलर, पीपल, पलाश, अर्जुन, बाँस, साल और वट की छाल का संग्रह कुशा के लिये (Splint बाँधने के लिये) करना चाहिए ॥ ६ ॥

विमर्श.—यहाँ कुशा शब्द का प्रयोग (Splint) के अर्थमें व्यवहृत किया गया है। 'कुशार्थं भग्नबन्धनार्थं वंशादिक प्रोच्यते' (डल्हण)। आधुनिक युग में अंग और भग्न को स्थिर रखने के लिए अनेक प्रकार की कुशायें प्रयोग में लाई जाती हैं। इन कुशाओं का निर्माण लकड़ी, चमड़ा, नमदा, गटापार्चा, और लोहशलाकाओं के द्वारा होता है। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा लोह और लकड़ी की कुशा का व्यवहार अधिक होता है।

आलेपनार्थं मञ्जिष्ठां मधुकं रक्तचन्दनम् ।
शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥ ७ ॥

मजीठ, मुलेठी, लालचन्दन और शतधौत घृत-मिश्रित

शालिचावल का चूर्ण लेप के लिए संग्रह करना चाहिए ॥ ७ ॥

सप्ताहादथ सप्ताहात् सौम्येष्वृतुषु बन्धनम् ॥
साधारणेषु कर्तव्यं पञ्चमे पञ्चमेऽहनि ।
आग्नेयेषु त्र्यहात् कुर्याद्भग्नदोषवशेन वा ॥ ८ ॥

सौम्य ऋतुओं में सात सात दिन पर, साधारण ऋतुओं में पाँच पाँच दिन पर और आग्नेय ऋतुओं में तीन-तीन दिन पर अथवा भग्न के दोषों के अनुसार समय का विचार करके बन्धन बाँधना चाहिये ॥ ८ ॥

तत्रातिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते ॥ ९ ॥
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च ।
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः ॥१०॥

बहुत ढीली पट्टी बाँधने से सन्धि में स्थिरता नहीं आती और गाढ़ बन्धन (कसकर बाँधना) भी त्वचा आदि में शोथ, पीडा तथा पाक उत्पन्न कर देता है। इसलिये भग्न-बन्धन को जानने वाले भग्न में साधारण बन्धन को ही श्रेष्ठ समझते हैं ॥ ९-१० ॥

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने ॥
पञ्चमूलीविपक्वं तु क्षीरं कुर्यात् सवेदने ।
सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता ॥ ११ ॥

परिषेक के लिए न्यग्रोधादिगण के द्रव्यों का शीतल कषाय तथा वेदनायुक्त भग्न में लघुपञ्चमूल से सिद्ध दूध अथवा सुखोष्ण-चक्रतैल का प्रयोग बुद्धिमान् वैद्य को करना चाहिये ॥ ११ ॥

विमर्शः—'चक्रतैलं सद्यःपीडितोद्धृतमेके वदन्ति। अन्ये पुनरणुतैलकल्पेन गृहीतमपक्वं तैलं चक्रतैलमाहुः ॥' (डल्हण)

विभज्य कालं दोषं च दोषघ्नौषधसंयुतम् ।
परिषेकं प्रदेहं च विदध्याच्छीतमेव च ॥ १२ ॥

दोष और काल का विभाग करके दोषघ्न औषधयुक्त शीत या उष्ण परिषेक तथा प्रलेप का प्रयोग करना चाहिये ॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ।
शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः ॥ १३ ॥

मधुर औषधियों (काकोल्यादिगण) से सिद्ध, प्रथम प्रसव-वाली गाय का ठण्डा दूध, घृत और लाख का चूर्ण मिलाकर भग्न के रोगी को प्रातःकाल पिलाना चाहिये ॥ १३ ॥

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः ।
प्रतिसार्यं कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत् ॥ १४ ॥

व्रण वाले भग्न में मधु घृतयुक्त (न्यग्रोधादि गण के) कषाय से व्रण का प्रतिसारण (लेपन) करके शेष विधान (आहार आदि) भग्न की भाँति करना चाहिये ॥ १४ ॥

प्रथमे वयसि त्वेवं भग्ने सुकरमादिशेत् ।
अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके ॥१५॥

प्रथम वयस (बाल्य काल) तथा अल्प दोष वाले व्यक्ति एवं शिशिर ऋतु का भग्न उपर्युक्त आहार और आचार के सेवन से सुखसाध्य होता है ॥ १५ ॥

प्रथमे वयसि त्वेवं मासात् सन्धिः स्थिरो भवेत् ।
मध्यमे द्विगुणात् कालादुत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः ॥१६॥

उपर्युक्त आहार और आचार का सेवन करने पर बाल्य काल का सन्धि-भग्न एक मास में, युवावस्था का दो मास में और वृद्धावस्था का तीन मास में स्थिर (दृढ़) हो जाता है।

अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत् ।
आकृष्टेदतिक्षिप्तमधो गतं चोपरि वर्तयेत् ॥ १७ ॥

नीचे झुकी हुई अस्थि को ऊपर और ऊपर उठी हुई को नीचे दबाना चाहिये। अपने स्थान से दूर हटी हुई अस्थि को खींचकर तथा नीचे खिसकी हुई को ऊपर उठाकर यथा-स्थान करना चाहिये ॥ १७ ॥

आकृष्टनैः पीडनैश्चैव सङ्क्षेपैर्बन्धनैस्तथा ॥ १८ ॥
सन्धीञ्छरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि ।
एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक् ॥१९॥

बुद्धिमान् वैद्य आकृषन (खींचना), पीडन (नीचे-ऊपर दबाना), संक्षेप (सिकोडना) तथा बन्धन आदि स्थापन-उपायों के द्वारा शरीर की सभी चल और अचल सन्धियों को यथास्थान स्थापित करे ॥ १८-१९ ॥

विमर्श.—पीडन—पीटनग्रहणेन नमनोन्नमनपरिवर्तनानि गृह्यन्ते। सङ्क्षेप सम्यक् प्रेरणमित्यर्थ.। सर्वा तु सङ्क्षेपशब्देन आकुञ्चनमाह। हस्तपादकटीहनुगताः सन्धयश्चला, तद्विपरीता अचलाः। सन्धीनिति बाहुल्येन निर्देशः, तेन काण्डभग्नानप्येतैरुपायै. स्थापयेत् ॥ (डल्हण)

उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत् ।
तस्य शीतान् परीषेकान् प्रदेहांश्चावचारयेत् ॥ २० ॥

उत्पिष्ट (चूर्णित), विश्लिष्ट (अपने स्थान से च्युत) सन्धि को वैद्य न हिलावे और शीतल परिषेक तथा लेप का प्रयोग करे ॥ २० ॥

अभिघाते हृते सन्धिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः ॥
घृतदिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि ।
पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा यथावद्बन्धमाचरेत् ॥ २१ ॥

अभिघात के कारण हुआ सन्धिभग्न अपनी पूर्वावस्था में पुनः आ जाता है। घृतलिप्त वस्त्र (पट्टी) भग्न प्रदेश में विधिपूर्वक लपेट कर उस पर कुशा (Splint) रखे और भलीभाँति (कोश दाभ आदि बन्धनों में जो उपयुक्त हो) पट्टी बांधे ॥ २१ ॥

प्रत्यङ्गभग्नस्य विधिरत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसके आगे प्रत्येक अङ्ग (अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गं, नखादीन् आरभ्य यावच्छिर इति) के भग्न की चिकित्सा-विधि कही जाती है ॥ २२ ॥

नखसन्धिं समुत्पिष्टं रक्तानुगतमारया ।
अवमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टेन लेपयेत् ॥ २३ ॥

कुचली हुई और दूषित रक्त से युक्त नखसन्धि में आरा (चर्मकाराख) से छेदकर रक्त निकालने के पश्चात् पिसे हुए शालिचावल का लेप करना चाहिये ॥ २३ ॥

भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाऽङ्गुलीं समाम् ।
अणुनाऽऽवेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ २४ ॥

टूटी हुई अथवा सन्धिच्युत अंगुलियों को समान रूप से स्थापित करके पतले वस्त्र की पट्टी लपेट कर घृत का सेक करना चाहिये ॥ २४ ॥

विमर्शः—अंगुलियों का भग्न अभिघात से उत्पन्न होता है और प्रायः संयुक्त होता है। संयुक्त भग्न में चर्म, पेशी तथा श्लैष्मिक कला आदि छिन्न हो जाती है। इसमें वायु का प्रवेश अस्थि तक होने लगता है। सन्धिच्युत होना आघात पर निर्भर रहता है।

अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम् ।
वस्त्रपट्टेन बध्नीयान्न च व्यायाममाचरेत् ॥ २५ ॥

पादतल में भग्न होने पर घृत की मालिश करके, कुशा रखकर, कपडे की पट्टी बाँधनी चाहिए और व्यायाम का निषेध कर देना चाहिये ॥ २५ ॥

अभ्यज्यायामयेज्जङ्घामूरुं च सुसमाहितः ।
दत्त्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ २६ ॥

(जंघा और ऊरु के भग्न में) सावधान चिकित्सक, घृत की मालिश करके, जंघा और ऊरुको खींचे तथा न्यग्रोधादि शीत वृक्षों की कुशा (छाल की Splint) रखकर कपडे की पट्टी बाँध दे ॥ २६ ॥

मतिमांश्चक्रयोगेन ह्याञ्छेदूर्वस्थि निर्गतम् ।
स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात् पूर्ववद्भिषक् ॥ २७ ॥

बुद्धिमान् वैद्य स्थानच्युत ऊर्वस्थि को चक्रयोग से (गोलाई में घुमाकर) खींचे और फटी तथा कुचली हुई को यथास्थान स्थित करके उपर्युक्त विधि से बाँध दे ॥ २७ ॥

विमर्शः—चक्रयोगेनाञ्छेदिति वर्तुलान् कुशान् दत्त्वा नाम यित्वा चक्रवदाञ्छेत् बध्नीयादित्यर्थः, गयी तु सभ्रमभ्रमाद् बलवत्तर पुरुषो हस्तद्वयोपरि गृहीतपार्ष्णिपादद्वयत्वात् तद्भ्रमणजवेन निरन्तर भ्रान्तस्य भग्नवतः पुनष्कायस्य चक्राकारोपलम्भाद्युक्तश्चक्रयोग इत्याह। ऊपर डल्हण तथा गयदास ने अपना अभिमत 'चक्रयोग' शब्द के लिये प्रकाशित किया है किन्तु 'चक्रयोग' शब्द से 'गोलाई में घुमाकर' अर्थ की ध्वनि ही निकलती है। आजकल ऊर्वस्थि के शिरभग्न में सधान के समय पैर को बाहर की तरफ खींचकर गोलाई में घुमाते हैं। इस क्रिया से ऊर्वस्थि-शिर अपने स्थान पर स्थित हो जाता है।

आञ्छेदूर्ध्वमधो वाऽपि कटिभग्नं तु मानवम् ।
ततः स्थानस्थिते संधौ वस्तिभिः समुपाचरेत् ॥२८॥

कटिभग्न वाले व्यक्ति को ऊपर तथा नीचे की ओर खींच कर, सन्धि के यथास्थान स्थित होने पर वस्तियों (स्नेहवस्ति) से चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २८ ॥

पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः ।
दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निबन्धनीः ॥ २९ ॥
ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत् सुसमाहितः ।
तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम् ॥ ३० ॥

सावधान चिकित्सक पर्शुकाओं के भग्न में, घृत की मालिश किए हुए रोगी को खडा करके दाहिने या वाम पार्श्व की निबन्धनी (मांसरज्जु) को मसले और कवलिका (Cotton pad) रख कर पट्टी बाँधे, इसके बाद रोगी को तेल से भरे हुए कड़ाहे या द्रोणी में सुलावे ॥ २९-३० ॥

विमर्शः—निबन्धनीः मासरज्जव इत्यर्थः, डल्हण। सुश्रुत शारीर स्थान में चार बड़ी मांसरज्जुओं का उल्लेख है। 'महत्यो मासरज्जवश्चतस्रः पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये आभ्यन्तरे च द्वे।

मुसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामांससन्धौ विसंहते ।
स्थानस्थितं च बध्नीयात् स्वस्तिकेन विचक्षणः ॥३१॥

बुद्धिमान वैद्य अंससन्धि की स्थानच्युति में, कक्षा प्रदेश को मूसल से ऊपर उठावे और सन्धि के यथास्थान स्थित होने पर स्वस्तिक बन्धन (Cross bandage) बाँधे ॥

कूर्परं तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत् ।
अनुमृज्य ततः सन्धिं पीडयेत् कूर्पराच्च्युतम् ॥३२॥
प्रसार्याकुञ्चयेच्चैनं स्नेहसेकं च दापयेत् ।
एवं जानुनि गुल्फे च मणिबन्धे च कारयेत् ॥ ३३ ॥

कूर्परसंधि का विश्लेष होने पर अँगूठे से मले। अँगूठे से मलने के बाद कूर्पर से पृथक् हुई सधि को दबावे। हाथ फैलाकर सिकोडे और स्नेह की मालिश तथा सेक करे। जानु, गुल्फ और मणिबन्ध के विश्लेष में इसी चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः ।
बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारयेत् ॥ ३४ ॥
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवणं च ततः परम् ।
हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम् ॥ ३५ ॥

तलभग्न (हथेली का भग्न) वाले व्यक्ति की दोनों हथेलियों को मिलाकर बाँधे और आमतैल (कोल्हू से निकले तेल) का परिषेक करे। पहले हाथ में मिट्टी का पिण्ड धारण करे। इसके बाद नमक का पिण्ड रखे और हाथ में शक्ति आने पर पत्थर का पिण्ड ग्रहण करे ॥ ३४-३५ ॥

विमर्शः—'उभे तले' शब्द का अर्थ जेज्जट तथा गयदास ने पृथक्-पृथक् रूप में किया है। जेज्जट का मत है—'उभे तले इति एक पाणितल द्वितीय पादतलम्, इत्युभे तले इति जेज्जटः'। गयी तु उभे अपि हस्ततले, तत्रैकस्य भग्ने वामं दक्षिणेन, दक्षिण वामेन, उभयोस्तु भग्ने तत्समेन काष्ठमयेन कृत्वा द्वे अपि बध्नीयादेवं दाढर्यं भवतीति। दोनों आचार्यों के अभिप्राय का अवलोकन करने पर 'गयदास' की उक्ति ही उचित मालूम पड़ती है, क्योंकि किसी वस्तु को ग्रहण करने की शक्ति हाथ ही में है। श्लोक के आधे भाग में मृत्पिण्ड, लवण तथा पाषाण का धारण हाथ में बल आने पर बतलाया गया है।

सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमक्षकं मुसलेन तु ॥
तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद्गाढमेव च ।
ऊरुवच्चापि कर्तव्यं बाहुभग्नचिकित्सितम् ॥ ३६ ॥

(अक्षकास्थि के विश्लेष में) नीचे दबी हुई अक्षकास्थि को

मूसल से ऊपर उठावे तथा ऊपर उठी हुई को नीचे दबावे और कस कर पट्टी बाँधे। बाहुभग्न की चिकित्सा भी ऊरुभग्न की चिकित्सा विधि की भाँति करे ॥ ३६ ॥

ग्रीवायां तु विवृत्तायां प्रविष्टायामधोऽपि वा।
अवटावथ हन्वोश्च प्रगृह्योन्नमयेन्नरम् ॥ ३७ ॥
ततः कुशां समं दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
उत्तानं शाययेच्चैनं मन्नरात्रमतन्द्रितः ॥ ३८ ॥

(ग्रीवा भग्न में) ग्रीवा के टेढी होने तथा नीचे बैठ जाने पर रोगी को अवटु (कृकाटिकाभागसन्धौ गर्तोऽवटुः) और हनु प्रदेश से पकड कर ऊपर उठाना चाहिए। इसके बाद समान कुशा (Splint) रख कर कपडे की पट्टी बाँधनी चाहिए। आलस्यरहित वैद्य ऐसे रोगी को सात दिन तक उत्तान (पीठ के बल) सुलावे ॥ ३७-३८ ॥

हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते ॥ ३९ ॥
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद्भिषक्।
वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम् ॥४०॥

हनुसंधि का विश्लेष होने पर हन्वस्थियों को आपस में मिलाकर भली-भाँति स्थित करे और स्वेदन करके पचाङ्गी बन्धन बाँधे। इसमें वातघ्न (विदारीगन्धादिगण) और मधुर (काकोल्यादि गण) द्रव्यों से सिद्ध नस्य का प्रयोग उत्तम होता है ॥ ३९-४० ॥

अभग्नांश्चलितान् दन्तान् सरक्तानवपीडयेत्।
तनुणस्य मनुष्यस्य शीतैरालेपयेद्बहिः ॥ ४१ ॥
सिक्त्वाऽम्बुभिस्ततः शीतैः सन्धानीयैरुपाचरेत् ॥
उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते।
जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्जयेच्चलितान् द्विजान् ॥४२॥

युवा मनुष्य के भग्नरहित, हिलते हुए, रक्तयुक्त, दाँतों को दबाकर बाहर से शीतल लेप करे। दाँतों का जल से सिंचन करके शीतल संधानीय द्रव्यों (मधु, घृत, न्यग्रोधादि कषाय, कल्क, चूर्ण आदि) के द्वारा चिकित्सा करे। रोगी को कमलनाल से दूध पिलावे। वृद्ध मनुष्य के हिलते हुए दाँत त्याज्य होते हैं अर्थात् चिकित्सा द्वारा उन्हें दृढ नहीं किया जा सकता ॥ ४१-४२ ॥

नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया ॥४३॥
पृथङ्नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत्।
ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ ४४ ॥

(अभिघात से) बैठी हुई या टेढी नासिका को शलाका द्वारा ऊँची और सीधी करके दोनों नाक के छिद्रों में पृथक्-पृथक् दो मुख वाली नली प्रविष्ट कर, पट्टी बाँधे तथा घृत का सेक करे ॥ ४३-४४ ॥

भग्नं कर्णं तु बध्नीयात् समं कृत्वा घृतप्लुतम्।
सद्य व्रणविधानं च ततः पश्चात् समाचरेत् ॥४५॥

टूटे हुए कान को समान स्थिति में लाकर घृत लगावे और पट्टी बाँधे, फिर सद्यःव्रण-चिकित्सा विधि (मधु, घृत, सम्यङ्, शीतपरिषेक आदि) का प्रयोग करे ॥ ४५ ॥

मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी।
दत्त्वा ततो निवध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद्घृतम् ॥ ४६ ॥

कपाल भग्न होने पर यदि मस्तुलुङ्ग का स्राव न हो तो मधु और घृत रखकर पट्टी बांधे और (रोगी को) एक सप्ताह तक घृत पिलावे ॥ ४६ ॥

पतनादभिघाताद्वा शूनमङ्गं यदक्षतम्।
शीतान् प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत् ॥४७॥

गिरने अथवा चोट लगने से क्षत के बिना भी यदि अङ्ग में शोथ हो जाय तो उसका उपचार वैद्य को शीतल-लेप और सेक से करना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथ जङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्।
कीलका बन्धनार्थं च पञ्च कार्या विजानता ॥ ४८ ॥
यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा।
सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ॥ ४९ ॥

जंघा और ऊरु (काण्ड) के भग्न में 'कपाट-शयन' हितकर होता है। बुद्धिमान् वैद्य को इसके लिये पांच कीलें लगानी चाहिये। सन्धियों की दोनों ओर दो २ तथा तल-प्रदेश में एक कील लगावे, जिसमें रोगी भग्न प्रदेश को न हिला सके ॥ ४८-४९ ॥

श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा।
भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥ ५० ॥
सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान् स्विन्नान् मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च सम्यक् प्रकृतिमानयेत् ॥५१॥

श्रोणी (कटि), पृष्ठवंश, वक्ष अथवा अक्षक (अंस-सन्धि) के भग्न या सन्धिविश्लेष में इस विधि का प्रयोग करना चाहिये। दीर्घकालीन विश्लिष्ट सन्धियों को स्नेहन, स्वेदन के द्वारा मृदु बनाकर उपर्युक्त विधि और अपनी बुद्धि से यथास्थान स्थित करना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

विमर्शः—जंघा और ऊरु भग्न के रोगियों के लिए 'कपाट शयन विधि' का निर्देश किया गया है। ऊर्वस्थि के भग्न में रोगी को लकड़ी के पटरे पर लिटाकर वङ्क्षण-सन्धि की दक्षिण और वाम दिशामें तथा जानु-सन्धि की दोनों दिशाओं में एक एक कील पटरे में जड़ी जाती है और एक कील फैले हुए पैर के तलवे की ओर लगाई जाती है। जंघाभग्न में गुल्फसन्धि की दोनों दिशाओं में दो दो कीलें तथा तलवे की ओर एक कील लगाई जाती है। इस प्रकार पांच कीलों के सम्बन्ध से इस यन्त्र का निर्माण होता है। यन्त्र के प्रयोग का अभिप्राय है दीर्घ काल तक रोगी को गतिविहीन करना। गति अस्थिसन्धान में बाधक होती है। अतः रोगी की गति में अवरोध उत्पन्न करने के लिये उसे लकडी के पटरे पर लिटाकर कीलों के सहारे भग्न प्रदेश को अवरुद्ध कर दिया जाता है। आजकल इस विधि से समता रखने वाली जिस पद्धति का प्रयोग ऊर्वस्थि भग्न संधान के लिए किया जाता है उसे Prolonged extension कहते हैं। इस कार्य के लिए Thomas's Splint का प्रयोग किया जाता है। युग परिवर्तन के फलस्वरूप लौहशलाका-निर्मित इन कुशाओं (Splint) की आकृति

'कपाटशयन विधि' से भिन्न भले ही हो, किन्तु दोनों विधियाँ समान रूप से एक लक्ष्य की ही पूर्ति करती हैं।

काण्डभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्वणसंहिते।
आपोथ्य शमयेद्भग्न ततो भग्नवदाचरेत् ॥ ५२ ॥

यदि दीर्घकालीन काण्डभग्न का संधान पूर्ण रूप से विषम स्थिति में (ऊँचा-नीचा) हो गया हो तो संन्धान का विश्लेषण करके (संधान तोड़कर) भग्न को समान रूप में स्थित करना चाहिये तथा भग्नसधानविधि की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

विमर्शः—जब अस्थि के टूटे हुए भाग का संधान ठीक से नहीं होता तो दोनों भागों के मध्य में अन्तर रह जाता है अथवा एक भाग दूसरे पर चढ़ जाता है। इस स्थिति में अस्थिसन्धान समान रूप से नहीं होता। अस्थिभग्न विषम रूप से जुड जाता है। उससे अङ्ग में विकृति आ जाती है। इस प्रकार के अस्थिसंधान को Mal union कहते हैं। ऐसी दशा में संधान को तोड़कर पुनः भग्नसंधान ठीक रूप में करना पड़ता है।

कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः।
सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥५३॥

(काण्ड भग्न में) सावधान चिकित्सक, बाहर निकली तथा सूखी हुई अस्थि को व्रण के एक भाग अथवा व्रणयुक्त सन्धि के समीप से काट दे और व्रणभग्नविधि की भांति चिकित्सा करे ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वकाये तु भग्नानां मस्तिष्क्यं कर्णपूरणम्।
घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम् ॥५४॥

शरीर के ऊर्ध्व भाग में भग्न होने पर शिरोवस्ति (मस्तिष्क्य शिरोवस्तिप्रकारः, स च लेहाक्तपिचुप्लोनादिभि), कर्णपूरण (कान में तेल डालना), घृतपान और नस्य तथा शाखाओं (जानुजङ्घा-बाहुद्वय) के भग्न में अनुवासन वस्ति हितकर होती है ॥ ५४ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैल भग्नप्रसाधकम्।
रात्रौ रात्रौ तिलान् कृष्णान् वासयेदस्थिरे जले ॥५५॥
दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत्।
तृतीयं सप्तरात्रं तु भावयेन्मधुकाम्बुना ॥ ५६ ॥
ततः क्षीरं पुनः पीतान् सुशुष्काञ्चूर्णयेद्भिषक्।
काकोल्यादिं सयष्ट्याह्व मञ्जिष्ठा सारिवा तथा ॥५७॥
कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचन्दनम्।
शतपुष्पां च संचूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत् ॥ ५८ ॥
पीडनार्थं च कर्तव्यं सर्वगन्धश्रृत पयः।
चतुर्गुणेन पयसा तत्तैलं विपचेद्भिषक् ॥ ५९ ॥

इसके आगे भग्नसंधानकारक तैल का वर्णन किया जाता है। वैद्य, प्रत्येक रात्रि में (सातदिन) काले तिलों को बहते जल में रखे और दिन में धूप में सुखा ले। इसी प्रकार तिलों को गोदुग्ध में (सात दिन) रात्रि में भिगोकर दिन में सुखा ले, तीसरी बार उसी प्रकार मुलेठी के क्वाथ की भावना दे और (चौथी बार) पुनः उपर्युक्त विधि से दूध में भावना देकर तिलों का चूर्ण बना ले। (इसके बाद) वैद्य, काकोल्यादिगण, मुलेठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, लालचन्दन और सौंफ का चूर्ण बनाकर तिलचूर्ण के साथ मिलावे। तदनन्तर एलादिगण के (सर्वगन्धा एलादय) द्रव्यों से सिद्ध उष्ण दुग्ध में उपर्युक्त चूर्ण को गीला करके कोल्हू में पेरकर तैल निकाले और चतुर्गुण दुग्ध के द्वारा इस तैल का पाक करे ॥ ५५-५९ ॥

एलामंशुमतीं पत्रं जीवकं तगरं तथा।
रोध्रं प्रपौण्डरीकं च तथा कालानुसारि(वा)णम् ॥६०॥
सैरेयक क्षीरशुक्लामनन्तां समधूलिकाम् ॥
पिष्ट्वा शृङ्गाटकं चैव पूर्वोक्तान्यौषधानि च।
एभिस्तद्विपचेत्तैल शास्त्रविन्मृदुनाऽग्निना ॥ ६१ ॥

शास्त्र को जानने वाला वैद्य, इलायची, अशुमती (शालपर्णी), तेजपात, जीवक, तगर, लोध्र, पुण्डेरी (सुगन्ध द्रव्य), तगर, कटसरैया, क्षीरविदारी, अनन्तमूल, मधूलिका (मूर्वा) और सिंघाडा तथा पूर्वोक्त (काकोल्यादीनि शतपुष्पान्तानि) औषधियों को पीसकर कल्क बनावे और उपर्युक्त विधि से निकाले गये तैल का (चतुर्गुण दुग्ध में) मन्दाग्नि से पाक करे ॥ ६०-६१ ॥

एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु ॥ ६२ ॥
आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथाऽर्दिते।
मन्यास्तम्भे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे ॥ ६३ ॥
बाधिर्ये तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षय गताः।
पथ्यं पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये बस्तिषु भोजने ॥ ६४ ॥
ग्रीवास्कन्धोरसां वृद्धिरमुनैवोपजायते।
मुखं च पद्मप्रतिम ससुगन्धिसमीरणम् ॥ ६५ ॥
गन्धतैलमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्।
राजार्हमेतत् कर्तव्यं राज्ञामेव विचक्षणैः ॥ ६६ ॥

अस्थि-भग्नों में पान, अभ्यङ्ग आदि के लिए यह तैल सदा हितकर होता है। आक्षेपक, पक्षवध, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुग्रह, बाधिर्य, तिमिर तथा अत्यन्त स्त्रीप्रसग से क्षीण व्यक्तियों के पान, अभ्यङ्ग, नस्य, वस्ति एवं भोजन में (उपर्युक्त तैल) हितकर होता है। इस तैल के सेवन से ग्रीवा, स्कन्ध और वक्षस्थल की वृद्धि (पुष्टि) होती है। मुख कमल के समान तथा सुगन्धित वायु से युक्त रहता है। इसका नाम गन्ध तैल है। यह सम्पूर्ण वातव्याधियों को नष्ट करता है। यह तैल राजाओं के योग्य है, इसका निर्माण बुद्धिमान वैद्यों को राजाओं के लिये ही करना चाहिये ॥ ६२-६६ ॥

त्रपुसाक्षप्रियालानां तैलानि मधुरैः सह।
वसां दत्त्वा यथालाभ क्षीरे दशगुणे पचेत् ॥ ६७ ॥
स्नेहोत्तममिदं चाशु कुर्याद्भग्नप्रसाधनम्।
पानाभ्यञ्जननस्येषु वस्तिकर्मणि सेचने ॥ ६८ ॥

खीरे के बीज (त्रपुस ककटीभेद), बहेडा और चिरौंजी का तेल तथा यथालाभ वसा लेकर दशगुने दूध में पकावे।

यह उत्तम स्नेह है और शीघ्र भग्नसन्धान करता है। इसका प्रयोग पान, अभ्यङ्ग, नस्य, वस्तिकर्म और परिषेक में करना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

भग्नं नैति यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ६९ ॥

वैद्य को इसका प्रयत्न करना चाहिये कि भग्न में पाक न होने पावे क्योंकि मांस, शिरा और स्नायु में पाक होने पर भग्न कष्टसाध्य हो जाता है ॥ ६९ ॥

भग्नं सन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्बणम्।
सुखचेष्टाप्रचारं च संहित सम्यगादिशेत् ॥ ७० ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भग्नचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्याय. ॥ ६ ॥

भग्नसन्धि पीड़ा से रहित हो, अङ्ग छोटा हुआ हो, भग्नस्थान समान (ऊँचा-नीचा न होना) हो और आकुञ्चन, प्रसारण आदि चेष्टायें सुखपूर्वक होती हों तो समझना चाहिए कि भग्नसन्धान सम्यक् रूप से हुआ है ॥ ७० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भावाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर वातव्याधि की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत-प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्।
देयः षड्धरणो योग सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥ ३ ॥

आमाशयगत वात में क्रमानुसार वमन कराने के पश्चात् सुखोष्ण जल से सात दिन तक षड्धरण योग का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्शः—आमाशयगते छर्दन कफस्थानत्वात्। यथाक्रममिति। अत्र यथाक्रमशब्देन पूर्वकालापरकालकर्त्तव्यता सर्वा एव आक्षिप्ता स्नेहस्वेदनपानलैङ्किकवैंगिकमानिककायशुद्धिसंसर्ज्जनभोजनादय.। षट्धरण इति षण्णा चित्रकादीना धरणा मानविशेषा यत्र योगे स षड्धरणो योग। सुखाम्बुना ईषदुष्णाम्बुना। (डल्हण)

चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकाऽतिविषाऽभया।
वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ ४ ॥

चित्रक, इन्द्रयव, पाठा, कुटकी, अतीस और हरीतकी के योग को षड्धरणयोग कहा गया है, यह वातव्याधि को शमन करने वाला योग है ॥ ४ ॥

पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्।
वस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥ ५ ॥

पक्वाशयगत वात में स्नेह-विरेचन, शोधनीयवस्ति तथा लवणप्रधान आहार देना चाहिए ॥ ५ ॥

विमर्शः—स्नेहविरेचन तिल्वकमर्षिरादिविरेचनम्। वस्तयः शोधनीयाश्चेति। 'शोधनद्रव्यनि क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसयुताः' इत्यादा.। प्राशाश्च लवणोत्तरा इति। स्नेहलवण कल्याणकलवणादयः, अन्ये तु प्राश्यन्त इति प्राशा आहारा', न तु लेहाः। लवणोत्तरा लवणप्रधाना.। (डल्हण)

कार्यो वस्तिगते चापि विधिर्वस्तिविशोधनः।
श्रोत्रादिषु प्रकुपिते कायश्चानिलहा क्रमः ॥ ६ ॥
स्नेहाभ्यङ्गोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च।
त्वङ्मांसासृक्सिराप्राप्ते कुर्याच्चासृग्विमोक्षणम् ॥ ७ ॥

वस्तिगत वात में, वस्ति को शुद्ध करने वाली विधि (अश्मरी चिकित्सितोक्त) का प्रयोग करना चाहिये। श्रोत्र आदि में (आदिशब्दात् त्वग्घ्राण-जिह्वानेत्राणीन्द्रियाणि गृह्यन्ते) वात का प्रकोप होने पर स्नेह, अभ्यङ्ग, उपनाह, मर्दन और आलेप आदि वातनाशक क्रमों का प्रयोग करना चाहिये। त्वचा, मांस, रक्त और शिरा में वायु का प्रकोप होने पर रक्तमोक्षण करना चाहिए ॥ ६-७ ॥

स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च।
स्नायुसन्ध्यस्थिसप्राप्ते कुर्याद्वायावतन्द्रितः ॥ ८ ॥

आलस्यरहित चिकित्सक, स्नायु, सन्धि और अस्थिगत वातप्रकोप में, स्नेह, उपनाह, अग्निकर्म, बन्धन और मर्दन का प्रयोग करे ॥ ८ ॥

निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते।
नाडीं दत्त्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत्पवन बली ॥ ९ ॥

(अस्थि-मज्जागत वायु के प्रकोप में) अस्थि में वायु के रुकने पर (त्वचा, मांस आदि को शस्त्र से काटकर) उसे आराशस्त्र से वेध कर (पाणिमन्थेन आराशस्त्रेण) उसमें दो मुखी नलिका लगावे और बलवान वैद्य वायु का चूषण करे ॥

शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोषचिकित्सितम्।
अवगाहकुटीकर्षूप्रस्तराभ्यङ्गबस्तिभिः ॥ १० ॥
जयेत् सर्वाङ्गज वातं सिरामोक्षैश्च बुद्धिमान्।
एकाङ्गगं च मतिमाञ्छृङ्गैश्चावस्थित जयेत् ॥ ११ ॥

शुक्रगत वायु के प्रकोप में शुक्रदोष को दूर करने वाली चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए। बुद्धिमान् वैद्य, अवगाह, कुटी, कर्षू और प्रस्तरस्वेद तथा अभ्यङ्ग, वस्ति एव रक्तमोक्षण के द्वारा सर्वाङ्गगत वायु का शमन करे। किसी अङ्ग विशेष में रुकी हुई वायु को बुद्धिमान् वैद्य सींग के द्वारा निकाले ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—अवगाहो-वातहरक्वाथपूर्णद्रोण्यादिषु अवगाहो द्रव-स्वेदः। कुटी-चतुर्द्वारा भूमावारोपिताऽनीतविधूमाङ्गारवातहरद्रव-सिक्ता, सा चोष्मस्वेदः। कर्षूः-पुरुषायाममात्रनिखातदग्धावनि प्रदेशे वातहरद्रवसिक्ते शयन स चोष्मस्वेदविशेष.। स्विन्नतुषधान्या-दिभिरास्तृतायां भूमौ परिशयनं प्रस्तरः।

बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिभिः।
सुस्निग्धे त्वसृजोक्ष कुर्यात्तु बहुशो भिषक् ॥ १२ ॥
दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलसमन्वितैः।

मुपदिशन्ति वातरोगिषु; अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यत इत्यणुतैलम् ॥ २८ ॥

तिल पेरने वाले कोल्हू की लकड़ियों को एकत्रित कर, चिरकाल तक तेल पिये हुई उन लकड़ियों के छोटे छोटे टुकड़े करके चूर्ण बनावे और बड़े कड़ाहे में जल में डालकर क्वाथ करे। इस क्रिया से जल के ऊपर जो स्नेह (तैल) आवे उसे सकोरा, हाथ या अन्य उपाय से लेकर वातघ्न औषधियों (भद्रदार्वादिगण) के कल्क के साथ स्नेहपाक विधि से पकावे। यह अणु तैल है। इसका प्रयोग वातरोगों में करना चाहिए। अणु अर्थात् सूक्ष्म तैलद्रव्यों (तेल पिए हुए कोल्हू के छोटे टुकड़े) से निर्मित होने के कारण इसे 'अणु तैल' कहते हैं ॥

अथ महापञ्चमूलकाष्टैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसितमुपितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्म निवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्, तत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत्तत् पाणिभ्यां पर्योदाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्; ततस्तैलं वातहरौषधकाथमांसरसक्षीरामलभागसहस्रेण सहस्रपाकं विपचेद्यावता कालेन शक्नुयात् पक्तुं, प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगाश्च गन्धा वातघ्नानि च, तस्मिन् सिध्यति शङ्खानाध्मापयेद् दुन्दुभीनाघातयेच्छत्रं धारयेद्बालव्यजनैश्च वीजयेद् ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्, तत् साधु सिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, तदेतत् सहस्रपाकमप्रतिवारवीर्यं राजार्हं तैलम्; एवं भागशतविपक्वं शतपाकम् ॥ २९ ॥

काली मिट्टी वाली भूमिपर बृहत्पञ्चमूल की बहुत सी लकड़ी जलावे। एक दिन उसी प्रकार अग्नि जलने दे। जब अग्नि शान्त हो जाय तब उस स्थान से राख हटाकर, विदारिगन्धादि गण से सिद्ध तैल तथा दूध के सौ-सौ घड़े से उस रिक्तभूमि का सिंचन करके एक दिन उसी स्थिति में रहने दे, फिर जितनी मिट्टी स्निग्ध हो गयी हो उसे लेकर उष्ण जल के बड़े कड़ाहे में छोड़ दे। इस क्रिया से जो तैल जल के ऊपर आवे उसे हाथ से निकालकर सुरक्षित स्थान में रखे। इस तैल का जितने समय में पाक हो सके वातहर औषधियों (भद्रदार्वादि गण) के क्वाथ, मांसरस, दूध और काञ्जी के एक सहस्र भाग के द्वारा एक सहस्र बार करे। इसमें हिमालय तथा दक्षिणापथ की सुगन्धित एवं वातघ्न औषधियों का कल्क डाले। तैल-पाक के समय शङ्ख फूँके, नगाड़े बजावे, छत्र धारण करे, चँवर डुलावे और सहस्र ब्राह्मणों को भोजन करावे। भलीभाँति तैल सिद्ध होने पर अग्नि से उतार कर सोने, चाँदी अथवा मिट्टी के पात्र में सुरक्षित स्थान में रखे। यह सहस्र पाकयुक्त अप्रतिहत-शक्तिवाला तैल राजाओं के योग्य है। इसी प्रकार सौ भाग से पकाया गया 'शतपाक तैल' होता है ॥ २९ ॥

विमर्श—हैमवताः—उत्तरापथसम्भूताः, ते पुनः कस्तूरीशटीकुष्ठमांसीसरलमुरदारुमुरात्वगादयः। दक्षिणापथगा.—चन्दनजातिफलकङ्कोललवङ्गादयः। तत्र शङ्खाध्मापनादेरचिन्त्यशक्तित्वात् अतिशयव्युत्पादनार्था। (डल्हण)

गन्धर्वहस्तमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्रकादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत्पत्रलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु ॥ ३० ॥

गन्धर्वहस्त (एरण्ड), मुष्कक (मोखा), करञ्ज, अडूसा, पूतिकरञ्ज, अमलतास और चित्रक आदि द्रव्यों के हरे पत्तों को लवण के साथ ओखल में कूटकर, घी के घड़े में रख, ऊपर से मिट्टी का लेप करके, उपलों की अग्नि में पकावे। यह 'पत्रलवण' है, इसका प्रयोग वातरोगों में करना चाहिये ॥३०॥

एवं स्नुहीकाण्डवार्ताकुशिग्रुलवणानि संक्षुद्य घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जभिः प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्; एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु। (इति काण्डलवणम्) ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार थूहर के डण्ठे, बड़ी कटेरी, सहिजन और सेन्धानमक को एक साथ कूटकर घड़े में रखे तथा घृत, तैल, वसा एवं मज्जा डालकर, मिट्टी का लेप करके, उपले की अग्नि में पकावे। यह 'स्नेहलवण' है, इसका प्रयोग वातरोगों में करना चाहिये। इसे 'काण्डलवण' भी कहते हैं ॥ ३१ ॥

गण्डीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगन्धानीपनिम्बनिर्दहन्यटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकण्टकारिकाभल्लातकेङ्गुदीवैजयन्तीकदलीवाष्पद्वयेक्षुरकेन्द्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृज्य पूर्ववद्दग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, प्रतिवापश्चात्र हिङ्ग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा। इत्येतत् कल्याणकलवणं वातरोगगुल्मप्लीहाग्निसङ्गाजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभिः कृमिभिरुपद्रुतानां चोपदिशन्ति पानभोजनेष्वपीति ॥ ३२ ॥

गण्डीर (जलपिप्पली), पलाश, कुटज (कोरैया), बेल, मदार, सेहुण्ड, अपामार्ग, पाढ़ल, फरहद, नादेयी (अरणी), कृष्णगन्धा (सहिजन), कदम्ब, नीम, निर्दहनी (अग्निमन्थ या चित्रक), अडूसा, करञ्ज, पूतिकरञ्ज, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, भिलावा, हिंगोट, वैजयन्ती (अरणी), केला, वाष्पद्वय (तच्च शोणित कृष्णञ्च सिन्धुविषये, केचिद् वर्षाभूद्वयमिति पठन्ति), इक्षुरक (तालमखाना), इन्द्रायण, श्वेतमोखा और अशोक, इन द्रव्यों को जड़, शाखा तथा पत्र सहित हरा लाकर उसमें सेन्धा नमक मिलावे और एक साथ कूटकर उपर्युक्त विधि से जलावे, फिर क्षारनिर्माण की विधि से टपकाकर, हिंग्वादि या पिप्पल्यादि गण के कल्क के साथ पकावे। यह 'कल्याणकलवण' है, इसका प्रयोग वातरोग, गुल्म, प्लीहा, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अर्श, अरोचक, कास और कृमि से पीड़ित रोगियों के पान तथा भोजन में भी करना चाहिये ॥ ३२ ॥

भवति चात्र—

विष्यन्दनादुष्णभावाद्दोषाणां च विपाचनात्।
संस्कारपाचनाच्चैवं वातरोगेषु शस्यते ॥ ३३ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वातव्याधि-चिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

जैसा कि—बहने, उष्ण होने, दोष का पाचन करने तथा संस्कारपूर्वक (विधि विशेष के द्वारा) पाक होने के कारण यह वातरोगों में हितकर होता है ॥ ३३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो महावातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर महावातव्याधि की चिकित्साविधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा।

द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते; तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढीभवति, तस्मान्न द्विविधम् ॥ ३ ॥

कुछ लोगों का मत है कि वातशोणित दो प्रकार का होता है। (१) उत्तान और (२) गम्भीर। उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि (वातशोणित प्रारम्भ में) कुष्ठ की भाँति उत्तान (त्वचा-मांस में आश्रित) होकर कालान्तर में गम्भीर हो जाता है। इसलिए दो प्रकार का नहीं है ॥ ३ ॥

विमर्शः—चरक ने वातशोणित को दो प्रकार का माना है—'द्विविध वातरक्तमिति गम्भीरमुत्तान च' (च० नि० अ० १६)

तत्र बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितस्य वायोर्गुरूष्णाध्यशनशीलस्य प्रदुष्टं शोणितं मार्गमावृत्य वातेन सहैकीभूतं युगपद्वातरक्तनिमित्तां वेदनां जनयतीति वातरक्तम्। तत्तु पूर्वं हस्तपादयोरवस्थानं कृत्वा पश्चादेहं व्याप्नोति। तस्य पूर्वरूपाणि तोददाहकण्डूशोफस्तम्भत्वक्पारुष्यसिरास्नायुधमनीस्पन्दनसक्थिदौर्बल्यानि श्यावारुणमण्डलोत्पत्तिश्चाकस्मात् पाणिपादतलाङ्गुलिगुल्फमणिबन्धप्रभृतिषु, तत्राप्रतिकारिणोऽपचारिणश्च रोगो व्यक्ततरः, तस्य लक्षणमुक्तं तत्राप्रतिकारिणो वैकल्यं भवति ॥ ४ ॥

गुरु, उष्ण पदार्थों का सेवन तथा अध्यशन (भुक्तस्योपरि भोजनम्-अध्यशनम्) करने वाले व्यक्ति का दूषित हुआ रक्त, बलवान् के साथ युद्ध आदि कारणों से कुपित हुये वायु के मार्ग को रोककर तथा वायु के साथ एक होकर, एक ही समय में, वात और रक्तजन्य वेदना को उत्पन्न करता है अतः इसे 'वातरक्त' कहते हैं। यह (वातरक्त) प्रारम्भ में हाथ पैरों में स्थित होकर पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। इसके पूर्वरूप ये हैं—चुभने की सी पीड़ा, दाह, कण्डू, शोथ, जकड़ाहट, त्वचा में कड़ापन, शिरा, स्नायु और धमनी में स्पन्दन, जंघाओं में दुर्बलता तथा हाथ पैर के तलप्रदेश, अंगुलि, गुल्फ एवं मणिबन्ध आदि में काले, लाल मण्डलों (गोल चकत्तों) का अकस्मात् उत्पन्न होना। इस प्रकार के पूर्वरूप में चिकित्सा न करानेवाले और मिथ्या आहार-विहार करनेवाले व्यक्ति का रोग अधिक बढ़ जाता है। उसका लक्षण कहा जा चुका है। रोग के प्रगट होने पर चिकित्सा न कराने वाले व्यक्ति को विकलता होती है ॥ ४ ॥

भवति चात्र—

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहारविहारिणाम्।
स्थूलानां सुखिनां चापि वातरक्तं प्रकुप्यति ॥ ५ ॥

जैसा कि—वातरक्त का प्रकोप प्रायः मिथ्या आहार-विहार करने वाले सुकुमार, स्थूल और सुखी व्यक्तियों को होता है ॥

विमर्शः—चरक ने भी 'वातशोणित' का कारण दूषित रक्त और कुपित वायु को ही माना है। 'वायु प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारित. पथि। क्रुद्ध. सदूषयेद्रक्त तज्ज्ञेय वातशोणितम्' (चरक)। सम्प्रति पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के (Gout) गठिया रोग से इस रोग की समता स्थापित की जाती है। (Gout) का प्रकोप मुख्य रूप से छोटी अस्थिसन्धियों में तथा विशेष रूप से पैर के अंगूठे की सन्धि में होता है। रोग का प्रारम्भ साधारणतः अचानक और अक्सर मध्यरात्रि में होता है। अग्निमान्द्य, मुखवैरस्य, मूत्राल्पता तथा साधारण ज्वर आदि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। रक्त में (Uric acid) की वृद्धि इस रोग का कारण मानी जाती है। साधारण दशा में रक्तगत (Uric acid) की मात्रा (100 C C) रक्त में एक से तीन मि० ग्राम तक रहती है। स्वस्थ दशा में (Uric acid) अपनी निश्चित मात्रा में रहता है तथा अनावश्यक भाग मूत्र के द्वारा बाहर निकलता रहता है। मिथ्या आहार-विहार के कारण रक्त में बढ़ा हुआ (Uric acid) जब शरीर से बाहर वृक्क द्वारा पूरा नहीं निकल पाता तब सन्धियों में (Sodium urate) का संचय होने लगता है। धनिकों में इस व्याधि का प्रकोप अधिक होने के कारण ही सम्भवतः चरक ने इसका नाम 'आढ्यवात' भी रखा है एवं अधिक मात्रा में सुरा सेवन को भी इसका कारण माना है। पाश्चात्य चिकित्सकों की धारणा भी कुछ विशेष प्रकार के सुरा-सेवन के विषय में ऐसी ही है। 'The strong wines like port and sherry and the red wines such as burgundy and claret are also probably responsible for much gout among the well to do classes'

तत्र प्राणमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तम्भारोचकाविपाकविसरणसंकोचनैरुपद्रुतं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत् ॥ ६ ॥

प्राण (बल) क्षय, मांसक्षय, पिपासा, ज्वर, मूर्च्छा, श्वास, कास, स्तम्भ (जकड़ाहट), अरोचक, अविपाक (अन्न का ठीक परिपाक न होना), विसरण (विस्तार), संकोचन आदि उपद्रवों से रहित, बलवान, जितेन्द्रिय और साधन-संपन्न रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६ ॥

तत्र, आदावेव बहुवातरूक्षम्लानाङ्गाहते मार्गावरणादुदुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिञ्चेद्वातकोपभयात्।

ततो वमनादिभिरुपक्रमैरुपपाद्य प्रतिसंसृष्टभक्तं वातप्रबले पुराणघृतं पाययेत्। अजाक्षीरं वाऽर्धतैलं मधुकाक्षयुक्तं, शृगालविन्नासिद्धं वा, शर्करामधुमधुरं, शुण्ठीशृङ्गाटककशेरुकसिद्धं वा, श्यामारास्नासुपर्वीशृगालविन्नापीलुशतावरीश्वदंष्ट्राद्विपञ्चमूलीसिद्धं वा। द्विपञ्चमूलीकाथाष्टगुणसिद्धेन पयसा मधुकमेषशृङ्गीश्वदंष्ट्रासरलभद्रदारुवचासुरभिकल्कप्रतीवापं तैलं पाचयित्वा पानादिपूपयुञ्जीत, शतावरीमयूरकिणिह्यजमोदामधुकक्षीरविदारीबलातिबलातृणपञ्चमूलीकाथसिद्धं वा काकोल्यादिप्रतीवापं, बलातैलं शतपाकं वेति। वातहरमूलसिद्धेन च पयसा परिषेचनमम्लैर्वा कुर्वीत। यवमधुकैरण्डतिलवर्षाभूभिर्वा प्रदेहः कार्यः। तत्र चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु प्रत्येकशः काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकबलातिबलाबिसमृणालशृगालविन्नामेषशृङ्गीप्रियालशर्कराकशेरुकसुरभिवचाकल्कमिश्रेषूपनाहार्थं सर्पिस्तैलवसामज्जदुग्धसिद्धाः पञ्च पायसा व्याख्याताः, स्नैहिकफलसारोत्कारिका वा, चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु मत्स्यपिशितवेशवारो वा, बिल्वपेशिकातगरदेवदारुसरलारास्नाहरेणुकुष्ठशतपुष्पैलासुरादधिमस्तुयुक्त उपनाहः, मातुलुङ्गाम्लसैन्धवघृतमिश्र मधुशिग्रुमूलमालेपस्तिलकल्को वेति वातप्रबले ॥ ७ ॥

प्रारंभ में मार्गावरोध के कारण, वायु की अधिकता से रूक्ष और म्लानतारहित अंग में से, दूषित रक्त को अनेक वार थोडा-थोडा निकाले, जिसमें वात प्रकोप न हो। इसके पश्चात् वमन, विरेचन आदि विधियों का प्रयोग कर, संसर्जनक्रम से पेया, विलेपी आदि का सेवन कराने के बाद वातरक्त के रोगी को पुरातन घृत पिलावे। अथवा बकरी के दूध में आधा तैल और एक कर्ष मुलेठी मिलाकर या पृश्निपर्णी से सिद्ध करके (अर्द्धतैल मिश्रित बकरी का दूध) शर्करा तथा मधु द्वारा मीठा कर पिलावे। अथवा सोंठ, सिंघाडा और कसेरू या निशोथ, रास्ना, मगरेला, पृश्निपर्णी, पीलु, शतावर, गोखरू और दशमूल के साथ सिद्ध करके (अर्द्धतैल मिश्रित बकरी का दूध) पिलावे। अठगुने दशमूल क्वाथ से सिद्ध दूध में, मुलेठी, काकड़ासिंगी, गोखरू, चीड, देवदारु, वच, और सुरभि (रास्ना) का कल्क मिलाकर, तैलपाक करके पान, (अभ्यङ्ग, परिषेक आदि) में प्रयोग करे। शतावर, मयूरक (अपामार्ग), किणिही (अपामार्ग), अजवायन, मुलेठी, क्षीरविदारी, खरेटी, अतिवला (कंघी) और तृण-पंचमूल के क्वाथ तथा काकोल्यादिगण के द्रव्यों के कल्क से सिद्ध तैल अथवा शतपाक (सौवार में पकाये गए) बलातैल का प्रयोग करे। वातहरमूल (दशमूल) के द्वारा सिद्ध दूध या अम्लद्रव (सुरा, सौवीर, तुषोदक आदि) से परिषेक करे। जौ, मुलेठी, एरण्ड, तिल और पुनर्नवा आदि का प्रलेप लगावे।

जौ, गेहूँ, तिल, मूँग और उडद इन (पाँच) द्रव्यों के चूर्ण में पृथक्-पृथक् काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, बला, अतिबला, बिस (भसिण्डा), कमलनाल, पृश्निपर्णी, काकडासिंगी, चिरौंजी, शर्करा, कसेरू, सुरभि (रास्ना) और वच का कल्क मिलाकर, घी, तेल, वसा, मज्जा और दूध (पाँच द्रव्य) के द्वारा सिद्ध किए गए पाँच पायसों (खीर) का वर्णन उपनाह के लिए किया गया है। स्नेहवाले फलों की उत्कारिका (लप्सी) अथवा चूर्ण किए गए जौ, गेहूँ, तिल, मूँग और उडद में मछली का मांस मिलाकर बनाया गया वेशवार या बेलगिरी, तगर, देवदारु, सरला (निशोथ), रास्ना, रेणुका बीज, कूठ, सौंफ, इलायची, सुरा, दही और मस्तु (दधिजल) से निर्मित उपनाह तथा बिजौरे का रस, सेंधानमक, घृत, मधु, सहिजन की जड और तिल कल्क मिश्रित लेप का प्रयोग वातप्रधान वातरक्त में करना चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्शः—शतपाकं—शतपाकमिति बलाक्वाथकल्काभ्यां शतशः कृत्वा विपाच्य प्रयोज्यम्। पयसा संस्कृताः पायसाः। ते तु नातिद्रवा नातिसान्द्राः प्रदेहयोग्या योज्याः। स्नैहिकफलानि तिलैरण्डातसीविभीतकादीनि, तेषां यथासम्भव सारो मज्जा। उत्कारिका लप्सिका। मत्स्यपिशितवेशवारः = मत्स्यमांसमयो वेशवारः। (डल्हण)। बिस भिसण्डकमिति लोके, मृणाल-पद्मनालम्।

पित्तप्रबले द्राक्षाऽऽरेवतकट्फलपयस्यामधुकचन्दनकाश्मर्यकषायं शर्करामधुमधुर पाययेत्, शतावरीमधुकपटोलत्रिफलाकटुरोहिणीकषायं गुडूचीकषायं वा, पित्तज्वरहर वा चन्दनादिकषायं शर्करामधुमधुरं, मधुरतिक्तकषायसिद्धं वा सर्पिः, बिसमृणालभद्रश्रियपद्मककषायेणार्धक्षीरेण परिषेकः; क्षीरेक्षुरसमधुशर्करातण्डुलोदकैर्वा द्राक्षेक्षुकषायमिश्रैर्वा मस्तुमद्यधान्याम्लैः; जीवनीयसिद्धेन वा सर्पिषाऽभ्यङ्गः, शतधौतघृतेन वा, काकोल्यादिकल्ककषायविपक्वेन वा सर्पिषा; शालिषष्टिकनलवञ्जुलतालीशशृङ्गाटकगलोड्यगौरीगैरिकशैवलपद्मकपद्मपत्रप्रभृतिभिर्धान्याम्लपिष्टैः प्रदेहो घृतमिश्रः, वातप्रबलेऽप्येष सुखोष्णः प्रदेहः कार्यः ॥८॥

पित्तप्रधान वातरक्त में मुनक्का, अमलतास, कायफल, क्षीरविदारी, मुलेठी, चन्दन और गम्भारी का क्वाथ शर्करा तथा मधु के द्वारा मधुर बनाकर पिलावे। अथवा शतावर, मुलेठी, परवल की पत्ती, त्रिफला और कुटकी का क्वाथ या गुडूचीक्वाथ या शर्करा और मधुमिश्रित पित्तज्वर-नाशक चन्दनादि क्वाथ या मधुर (काकोल्यादिगण), तिक्त (पटोलादीनि) और कषाय (त्रिफलादीनि) द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क सिद्ध घृत पिलावे। बिस (भसिण्डा), कमलनाल, भद्रश्रिय (श्वेतचन्दन) और पद्माख के क्वाथ में आधा दूध मिलाकर परिषेक (परिषेकः सर्वतो धारासेचनम्) करे। दूध, गन्ने का रस, मधु, शर्करा और तण्डुलोदक से अथवा मुनक्का और गन्ने के क्वाथ में मस्तु, मधु और काञ्जी मिलाकर परिषेक करे। जीवनीय गण (काकोली, क्षीरकाकोली आदि) की औषधियों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत या शतधौत घृत अथवा काकोल्यादिगण के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध घृत का अभ्यङ्ग (मालिश) करे। शालि, साठी, नड़सर, वेंत,

तालीशपत्र, सिघाडा, कमलगट्टा, हल्दी, गेरू, सेवार, पद्माख और कमलपत्र आदि द्रव्यों को काञ्जी के साथ पीसकर, घृत मिला, लेप लगावे। वातप्रधान वातरक्त में भी इसी लेप को किञ्चिद् उष्ण करके लगाना चाहिये ॥ ८ ॥

रक्तप्रबलेऽप्येवं, बहुशश्च शोणितमवसेचयेत् शीततमाश्च प्रदेहाः कार्या इति ॥ ९ ॥

रक्त-प्रधान वातरक्त में भी इसी विधि का अनुसरण, अनेक वार रक्तमोक्षण तथा शीतप्रधान प्रलेपों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९ ॥

श्लेष्मप्रबले त्वामलकहरिद्राकषायं मधुमधुर पाययेत्, त्रिफलाकषायं वा; मधुकशृङ्गवेरहरीतकीतिक्तरोहिणीकल्कं वा सक्षौद्रं, मूत्रतोययोरन्यतरेण गुडहरीतकीं वा भक्षयेत्; तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैश्च परिषेकः, आरग्वधादिकषायैर्वोष्णैः; मस्तुमूत्रसुराशुक्तमधुकसारिवापद्मकसिद्धं वा घृतमभ्यङ्गः, तिलसर्षपातसीयवचूर्णानि श्लेष्मातककपित्थमधुशिग्रुमिश्राणि क्षारमूत्रपिष्टानि प्रदेहः, श्वेतसर्षपकल्कः, तिलाश्वगन्धाकल्कः, प्रियालसेलुकपित्थकल्कः व्योषतिक्तापृथक्पर्णीबृहतीकल्क इत्येतेषां पञ्च प्रदेहाः सुखोष्णाः क्षारोदकपिष्टाः, शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वा क्षीरपिष्टास्तर्पणमिश्राः ॥ १० ॥

कफप्रधान वातरक्त में आंवला और हल्दी का क्वाथ मधु मिलाकर दे अथवा त्रिफलाक्वाथ पिलावे। मुलेठी, सोंठ, हरीतकी और कुटकी का कल्क मधु मिलाकर अथवा गोमूत्र या जल के साथ गुड हरीतकी का सेवन करावे।

तैल, गोमूत्र, क्षारमिश्रित जल, सुरा, शुक्त तथा कफनाशक औषधियों के क्वाथ अथवा आरग्वधादिगण के उष्ण क्वाथ से परिषेक करे। मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलेठी, सारिवा और पद्माख से सिद्ध घृत की मालिश करे। तिल, सरसों, तीसी और जौ के चूर्ण में लिसोडा, कैथ, मधु और सहिजन मिलावे तथा क्षारोदक एवं गोमूत्र के साथ पीसकर लेप लगावे। (१) पीली सरसों का कल्क, (२) तिल और अश्वगन्ध का कल्क (३) चिरौंजी, लिसोडा और कैथ का कल्क (४) मधु, सहिजन और पुनर्नवा का कल्क (५) व्योष (सोंठ-मरिच-पिप्पल), कुटकी, शालपर्णी और बड़ी कटेरी का कल्क, इन पांच लेपों को क्षारोदक में पीसकर किञ्चिद् उष्ण करके लगाना चाहिये। अथवा शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी को दूध में पीस, तर्पण (यवसक्तु) मिलाकर लेप लगावे ॥ १० ॥

संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथमुक्तं मिश्रं कुर्यात् ॥

संसर्गज (दो दो दोषों के मिश्रण से उत्पन्न) और सन्निपातज (तीनों दोषों के संयोग से उत्पन्न) वातरक्त में उपर्युक्त चिकित्साविधि का मिश्रित प्रयोग करना चाहिये ॥

सर्वेषु च गुडहरीतकीमासेवेत; पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च दश वेति; तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति; जीवनीयप्रतीवापं सर्पिः पयसा पाचयित्वाऽभ्यञ्यात्; सहासहदेवाचन्दनमूर्वामुस्ताप्रियालशतावरीकशेरुपद्मकमधुकशतपुष्पाविदारीकुष्ठानि क्षीरपिष्टः प्रदेहो घृतमण्डयुक्तः सैरेयकाटरूपकबलातिबलाजीवन्तीसुषवीकल्को वा च्छागक्षीरपिष्टः, गोक्षीरपिष्टः काश्मर्यमधुकतर्पणकल्को वा मधूच्छिष्टमञ्जिष्ठासर्जरससारिवाक्षीरसिद्ध पिण्डतैलमभ्यङ्गः; सर्वेषु च पुराणघृतमामलकरसविपकं वा पानार्थे; जीवनीयसिद्धं परिषेकार्थे, काकोल्यादिक्वाथकल्कसिद्धं वा; सुषवीक्वाथकल्कसिद्धं वा, कारवेल्लकक्वाथमात्रसिद्ध वा; बलातैलं वा परिषेकावगाहबस्तिभोजनेषु, शालिषष्टिकयवगोधूमान्नमनवं भुञ्जीत पयसा जाङ्गलरसेन वा मुद्गयूषेण वाऽनम्लेन; शोणितमोक्षं चाभीक्ष्णं कुर्वीत; उच्छ्रितदोषे च वमनविरेचनास्थापनानुवासनकर्म कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

सभी प्रकार के वातरक्त में गुड-हरीतकी का सेवन करना चाहिये। अथवा दूध या जल से पीसी हुई पिप्पल पांच या दश के क्रम से बढ़ाकर दश दिन तक दूध और चावल (भात) का आहार करते हुए सेवन करे और पन्द्रह पिप्पल का क्रम प्राप्त होने पर पुनः घटावे। इसे 'पिप्पलीवर्द्धमानक' कहते हैं। यह वातशोणित, विषम ज्वर, अरोचक, पाण्डुरोग, प्लीहोदर, अर्श, कास, श्वास, शोथ, शोष, अग्निमान्द्य, हृद्रोग और उदररोग को दूर करता है।

जीवनीयगण के कल्क तथा दूध के साथ घृत का पाक करके अभ्यङ्ग करना चाहिये।

माषपर्णी, गगेरन (कंघी), चन्दन, मूर्वा, नागरमोथा, चिरौंजी, शतावर, कशेरू, पद्माख, मुलेठी, सौंफ और कूठ को दूध में पीसकर घृतमण्ड (घी के ऊपर का स्वच्छभाग) मिला हुआ प्रलेप लगाना चाहिये।

अथवा कटसरैया, अडूसा, खरेटी, कघी, जीवन्ती और मंगरेला के बकरी के दूध में पिसे हुए कल्क या गाय के दूध में पिसे हुए गम्भारी, मुलेठी और जौ के सत्तू के कल्क का प्रलेप लगावे। मोम, मजीठ, राल, अनन्तमूल और दूध से सिद्ध पिण्ड तैल का अभ्यङ्ग करे।

सभी प्रकार के वातरक्त में, आवले के रस में सिद्ध पुराने घृत का प्रयोग पिलाने तथा जीवनीयगण के द्रव्यों से सिद्ध पुराने घृत का प्रयोग परिषेक में करना चाहिये। अथवा काकोल्यादिगण के कल्क और क्वाथ से सिद्ध या मंगरेला के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध या करेला के केवल क्वाथ से सिद्ध पुराने घृत का प्रयोग करना चाहिए। अथवा परिषेक, अवगाह, वस्ति और भोजन में बला तैल (मूढगभोक्त) का प्रयोग करना चाहिये। पुराने शालि, साठी, जौ और गेहूँ का सेवन दूध, जांगल जीवों के मांसरस अथवा अम्लरहित मूग के यूष के साथ करना चाहिये।

निरन्तर रक्तमोक्षण करना चाहिये तथा बढ़े हुए दोषों में

वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन कर्म करना चाहिये ॥ १२ ॥

(पटोलत्रिफलाभीरुगुडूचीकटुकाकृतम् ।
क्वाथं पीत्वा जयत्याशु वातशोणितजां रुजम् ॥ १३)

परवल की पत्ती, त्रिफला, शतावर, गुडूची और कुटकी का क्वाथ पीने से वातरक्तजन्य वेदना शीघ्र शान्त होती है ॥

भवन्ति चात्र—

एवमाद्यैः क्रियायोगैरचिरोत्पतितं सुखम् ।
वातासृक् साध्यते वैद्यैर्याप्यते तु चिरोत्थितम् ॥१४॥

जैसा कि—इन उपर्युक्त उपायों के द्वारा नवीन वातरक्त की चिकित्सा वैद्य आसानी से कर लेते हैं तथा चिरकालोत्पन्न वातरक्त को याप्य बना देते हैं ॥ १४ ॥

उपनाहपरीषेकप्रदेहाभ्यञ्जनानि च ।
शरणान्यप्रवातानि मनोज्ञानि महान्ति च ॥ १५ ॥
मृदुगण्डोपधानानि शयनानि सुखानि च ।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते मृदुसंवाहनानि च ॥ १६ ॥

उपनाह (पुल्टिस), परिषेक (सेक), प्रदेह (लेप), अभ्यञ्जन (मालिश), वायुरहित तथा मन को प्रसन्न रखने वाले विशालगृह, मुलायम तकिया, सुखकर शय्या एवं मृदु संवाहन (धीरे-धीरे कोमल हाथों से शरीर दबाना) वातरक्त के लिये उत्तम होता है ॥ १५-१६ ॥

व्यायाम मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणाशनम् ।
दिवाम्बुप्नमभिष्यन्दि गुरु चान्नं विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

व्यायाम, स्त्रीप्रसंग, क्रोध, उष्ण-अम्ल-लवण रसों का आहार, दिन में सोना, अभिष्यन्दि (दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्) और गुरु अन्न का सेवन वातरक्त वाले व्यक्ति को त्याग देना चाहिये ॥ १७ ॥

अपतानकिनमस्तस्ताक्ष्मवक्त्रभ्रुवमस्तब्धमेढ्रमस्वेदनमवेपनमप्रलापिनमखट्वापातिनमबहिरायामिनं चोपक्रमेत् ।

अपतानक (आक्षेपक भेद) से पीडित जिस रोगी के नेत्र रूप ग्रहण में सर्वथा असमर्थ न हों, भौंहें टेढी न हुई हों, मेढ्र (शिश्न) उत्तेजनारहित न हो, पसीना तथा कम्प न आता हो तथा जो असम्बद्ध भाषण न करता हो, शय्या से भूमि पर न गिरता हो और बहिरायाम (आक्षेपक भेद) से ग्रसित न हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ।

विमर्शः—अपतानक—नोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा । कफान्विनो नृश वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥ (सु नि.अ.१) बहिरायामः—बाह्यलाञ्छयतानस्थो बाह्यायाम करोति च । तमाक्ष्य दुधा प्राहुर्वैद्य- कटथूल-मज्जनम् ॥ खट्वाया न पतनीति अखट्वापानिनम्ः—अपतानकवेगेन पतन्नेव पाणिभ्या भूतलमवलम्बते, हस्तपादद्वयेन खट्वापादकल्पेन पतनशील. खट्वापाती नैतादृग्विव इत्यर्थः । (डल्हण)

तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थम्, अनन्तरं विदारिगन्धादिकाथमांसरसक्षीरदधिपक्वं सर्पिरन्नं पाययेत्, तथा हि नातिमात्रं वायुः प्रसरति; ततो भद्रदार्वादिवातघ्नगणमाहृत्य सयवकोलकुलत्थं सानूपौदकमांसं पञ्चवर्गमेकतः प्रकाथ्य तमादाय कषायमम्लक्षीरैः सहोन्मिश्र्य सर्पिस्तैलवसामज्जभिः सह विपचेन्मधुरकप्रतीवापं, तदेतत्त्रैवृतमपतानकिनां परिषेकावगाहाभ्यङ्गपानभोजनानुवासननस्येषु विदध्यात्; यथोक्तैश्च स्वेदविधानैः स्वेदयेत् ।

प्रथम स्नेह की मालिश करके स्वेदन से शुद्ध किए गए शरीर वाले रोगी को, शिर की शुद्धि के लिए, तीक्ष्ण अवपीडन (नस्य) (शिरोविरेचनद्रव्याणि पिष्ट्वा अवपीड्य दीयत इत्यवपीडः) का प्रयोग करना चाहिये । उसके पश्चात् विदारिगन्धादिगण के क्वाथ, मांसरस, दूध और दही से सिद्ध स्वच्छ घृत का पान कराना चाहिये क्योंकि इसके सेवन से वायु का अधिक प्रसार नहीं होता । पुनः भद्रदार्वादि वातहर गण के द्रव्य तथा जौ, बेर, कुलथी और पांचो वर्ग के आनूपौदक-मांस (कूलचराः, प्लवा., कोशस्था', पादिन , मत्स्याश्च, जेब्जाः) को एक साथ मिलाकर क्वाथ बनावे । उस क्वाथ में अम्लद्रव्य (सुरा, सौवीरक, धान्याम्ल आदि) तथा दूध मिलाकर काकोल्यादिगण के कल्क के साथ घृत, तैल, वसा और मज्जा का पाक करे । इस त्रैवृत घृत (सर्पिषोऽत्र त्रिभिर्वृत्तत्वात् त्रैवृतम्) का प्रयोग अपतानक से पीडित रोगी के परिषेक, अवगाह, अभ्यङ्ग, पान, भोजन अनुवासन और नस्य में करना चाहिये । स्वेदन विधान के अनुसार स्वेदन करना चाहिये ।

बलीयसि वाते सुखोष्णतुषवुसकरीषपूर्णे कूपे निदध्यादामुखात्, तप्तायां वा रथकारचुल्ल्यां तप्तायां वा शिलायां सुरापरिषिक्तायां पलाशदलच्छन्नायां शाययेत्, कृशरावेशवारपायसैर्वा स्वेदयेत् ।

वायु का प्रकोप अधिक होने पर सुखोष्ण धान की भूसी, भूसा और उपले की राख से पूर्ण कूप (गढ़े) में गले तक रोगी को गाड़कर रखे । अथवा सुरासिञ्चित लुहार की तप्त भट्ठी या पत्थर पर पलाश के पत्ते बिछाकर सुलावे । अथवा कृशरा (तिल, तण्डुल, उड़द की खिचड़ी), वेशवार (मांस-मिश्रित अन्न) तथा पायस (खीर) से स्वेदन करे ।

मूलकोरुबूकस्फूर्जार्जकार्कसप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धं तैलमपतानकिनां परिषेकादिपूपयोज्यम् । अभुक्तवता पीतमम्लं दधि मरिचवचायुक्तमपतानकं हन्ति, तैलसर्पिर्वसाक्षौद्राणि च । एतच्छुद्धवातापतानकविधानमुक्तं, संसृष्टे संसृष्टं कर्तव्यम् । वेगान्तरेषु चावपीडं दद्यात्, ताम्रचूडकर्कटकृष्णमत्स्यशिशुमारवराहवसाश्चासेवेत, क्षीराणि वा वातहरसिद्धानि, यवकोलकुलत्थमूलकदधिघृततैलसिद्धां वा यवागूम् ।

मूली, एरण्ड, स्फूर्जक (मरुवाकी आकृति वाला द्रव्य विशेष), अर्जक (वनतुलसी), मदार, सातला (सेहुण्ड भेद) और शंखिनी (यवतिक्ता भेद) के स्वरस से सिद्ध तैल का प्रयोग अपतानक से ग्रस्त रोगी के परिषेक आदि में करना चाहिये । बिना भोजन किए मरिच और वच मिश्रित

खट्टा दही तथा तैल, घृत, वसा एवं मधु पीने से अपतानक रोग नष्ट होता है। यह विधान शुद्धवातापतानक के लिए कहा गया है, दोषों के संमिश्रण से उत्पन्न अपतानक में समिलित चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिए। वेगों की शान्ति के समय अवपीडन (नस्य) का प्रयोग करे। मुर्गा, केकड़ा, काली मछली, मगर और सूअर की वसा का सेवन करे, अथवा वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध या जौ, बेर, कुलथी, मूली, दही, घी तथा तेल से सिद्ध यवागू का सेवन करावे।

स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्राद्धृतवेगमुपक्रमेत्, वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत, रक्षाकर्म च कुर्यादिति ॥ १८ ॥

दश दिन तक वेग की शान्ति न होने वाले (अपतानक-ग्रस्त) रोगी की चिकित्सा स्नेह, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन के द्वारा करनी चाहिये। वातव्याधि-चिकित्सा-विधि का प्रयोग तथा रक्षाकर्म करना चाहिये ॥ १८ ॥

पक्षाघातोपद्रुतमम्लानगात्रं सरुजमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत्। तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकालमाक्षेपकविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिः, अणुतैलमभ्यङ्गार्थे, शाल्वणमुपनाहार्थे, बलातैलमनुवासनार्थे, एवमतन्द्रितस्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथमुपसेवेत ॥ १९ ॥

पक्षाघात से पीडित जिस रोगी का शरीर (अङ्गविशेष) सूखा न हो, वेदना होती हो, तथा जो जितेन्द्रिय और साधन-सम्पन्न हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। प्रथम, स्नेहन, स्वेदन से युक्त रोगी को मृदु संशोधन के द्वारा शुद्धकर, अनुवासन तथा आस्थापन का प्रयोग करके समय का अतिक्रमण किये विना आक्षेपक की चिकित्सा-विधि के द्वारा उपचार करना चाहिये। इसमें विशेषता (भेद) यह है कि मस्तिष्क्य शिरोबस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा अभ्यङ्ग में अणुतैल, उपनाह में शाल्वण और अनुवासन में बलातैल व्यवहार में लाना चाहिये। इस प्रकार आलस्यरहित होकर तीन या चार मास तक क्रियामार्ग (चिकित्साविधि) का सेवन करे ॥१९॥

विमर्शः—अम्लानगात्रमहीनगात्रम्। यथाकाल कालस्यानतिक्रमेण तद्यथा वान्तस्य पश्चाद् विरेचनम्, विरिक्तस्य सप्तरात्रादनुवासनम्, अनुवासितस्य स्नेहलक्षणे सति आस्थापनम्, आस्थापितस्य सप्त पुनरनुवासनमिति। आक्षेपकविधानेन अपतानकविधानेनेत्यर्थः, आक्षेपकापतानकयोरेकविषयत्वात्। मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिविशेषः। स च स्नेहाक्त-पिचुप्लोतादिधारणेन योजनीयः। डल्हण।

मन्यास्तम्भेऽप्येतदेव विधानं, विशेषतो वातश्लेष्महरैर्नस्यै रूक्षस्वेदैश्चोपचरेत् ॥ २० ॥

मन्यास्तम्भ में भी इसी (उपर्युक्त) विधान का प्रयोग तथा विशेषकर वातकफ-नाशक नस्य और रूक्षस्वेद के द्वारा उपचार करना चाहिये ॥ २० ॥

अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत्, वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत, वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैर्मोक्षयेत्, तुम्बुरुपुष्कराह्वहिङ्ग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्काथेन पातुं प्रयच्छेत्, पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धं,-वातश्लेष्मापनुन्न कर्म कुर्यात् ॥ २१ ॥

अपतन्त्रक से पीडित रोगी को लंघन नहीं कराना चाहिये। वमन, अनुवासन और आस्थापनवस्तियों का सेवन (अपतन्त्रक का रोगी) न करे। वात और कफ से अवरुद्ध श्वास को तीक्ष्ण प्रधमक नस्य के द्वारा दूर करना चाहिए। तुम्बुल, पोहकरमूल, हींग, अम्लवेत, हरीतकी तथा तीनों नमक (सैन्धव, सज्जर और विड) का चूर्ण जौ के क्वाथ के साथ तथा पचास हरीतकी और दो पल सज्जर नमक के द्वारा चतुर्गुण दूध से सिद्ध एक प्रस्थ घी पिलावे और वात-कफनाशक विधि का प्रयोग करे ॥ २१ ॥

अर्दितातुरं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकैश्च मस्तिष्क्य-शिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः, ततः सतृणं महापञ्चमूलं काकोल्यादि विदारिगन्धादिमौदकानूपमांसं तथैवौदककन्दांश्चाहृत्य द्विगुणोदके क्षीरद्रोणे निःक्वाथ्य क्षीरावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य तैलप्रस्थेनोन्मिश्र्य पुनरभावधिश्रयेत्, ततस्तैलं क्षीरानुगतमवतार्य शीतीभूतमभिमथ्नीयात्, तत्र यः स्नेह उत्तिष्ठेत्तमादाय मधुरौषधसहाक्षीरयुक्तं विपचेत्, एतत् क्षीरतैलमर्दितातुराणां पानाभ्यङ्गादिपूपयोज्यं, तैलहीनं वा क्षीरसर्पिरक्षितर्पणमिति ॥ २२ ॥

अर्दित-ग्रस्त बलवान और साधन सम्पन्न रोगी का उपचार वातव्याधि चिकित्सा-विधि के अनुसार करना चाहिये, तथा मस्तिष्क्य (शिरोबस्ति विशेष), शिरोबस्ति, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेह और नाडीस्वेद के द्वारा विशेषरूप से उपचार करना चाहिये। तृणपञ्चमूल, बृहत् पञ्चमूल, काकोल्यादिगण, विदारिगन्धादिगण, औदक एवं आनूप-जीवों का मांस तथा औदककंद (कसेरू, सिंघाडा आदि) को एकत्रित कर दुगुने जल (दो द्रोण) एवं एक द्रोण दूध में चतुर्थांश शेष रहने तक क्वाथ करे और छान ले, पुनः एक प्रस्थ तेल के साथ (अवशिष्ट क्वाथ) मिलाकर अग्नि पर चढ़ावे, जब तेल दूध के साथ मिल जाय, अग्नि से उतार कर, शीतल होने पर मथे। इस प्रकार जो स्नेह (तैलमिश्रित घृत) निकले उसे मधुर औषध (काकोल्यादिगण) और मापपर्णी के कल्क तथा दूध के साथ पकावे। इस क्षीर-तैल का प्रयोग अर्दित रोगियों के पान और अभ्यङ्ग आदि में करना चाहिए। नेत्र-तर्पण के लिए तैल-रहित दूध से सिद्ध घृत का प्रयोग करे ॥२२॥

गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातकण्टक-पाददाहपादहर्षावबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च सिराव्यधं कुर्यात्, अन्यत्रावबाहुकात् वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत ॥ २३ ॥

गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गुल, वातकण्टक, पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बाधिर्य और धमनीगत वात-रोगों में अवबाहुक को छोड़कर कही गई शिरावेध विधि के

कृत्वा ततोऽस्मै घृताभ्यक्तगुदाय घृताभ्यक्तं यन्त्रमृज्वगुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाह्माणस्य प्रणिधाय, प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य, शलाकयोत्पीड्य, पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य, क्षारं पातयेत् पातयित्वा च पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय वाक्च्छतमात्रमुपेक्षेत, ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं चावेक्ष्य पुनरालेपयेत्, अथार्शः पक्वजाम्बवप्रतीकाशमवसन्नमीषन्नतमभिसमीक्ष्योपावर्तयेत्, क्षारं प्रक्षालयेद्धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा, ततो यष्टीमधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यन्त्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्; अशीताभिरित्येके ततो निर्वातमागार प्रवेश्याचारिकमादिशेत्, सावशेषं पुनर्दहेत्, एवं सप्तरात्रात् सप्तरात्रादेकैकमुपक्रमेत, तत्र बहुपु पूर्वं दक्षिणं साधयेत्, दक्षिणाद्वामं, वामात् पृष्ठज; ततोऽग्रजमिति ॥ ४ ॥

अर्श से पीड़ित, स्नेह-स्वेदयुक्त, बलवान् रोगी को, वातवेदना की वृद्धि को शमन करने के लिये स्निग्ध, उष्ण, अल्प और तरल अन्न का भोजन देकर एकान्त पवित्र स्थान में बिठावे। निर्मल आकाश तथा अधिक शीत और उष्णता रहित समय में, लकड़ी के समान पटरे या चौकी पर सूर्य की ओर गुदा करके, दूसरे व्यक्ति की गोद में शरीर का ऊपरी भाग रख कर, चित्त लिटावे। वस्त्र या कम्बल का आसन देकर रोगी की कमर कुछ ऊँची रखे। बाँधने की पट्टी से ग्रीवा और जघा को बाँधे, परिचारक रोगी को भलीभाँति पकड़ें, जिसमें वह हिल न सके। घृत लगे हुये, सीधे, सूक्ष्म मुख वाले यन्त्र को, गुदा मे धीरे धीरे प्रवाहण (मलोत्सर्ग के समय किनछने वाली क्रिया) कराते हुये प्रवेश करे। यन्त्र के प्रविष्ट होने पर, अर्श को देखकर शलाका से दबावे और पिचु (फोहा) या वस्त्र किसी एक से (अर्श को) साफ करके क्षार लगावे। क्षार लगाकर, यन्त्र का द्वार हाथ से बन्द करके, एक सौ गिनने तक प्रतीक्षा करे। फिर अर्श को पोंछ (साफ) कर, क्षार और व्याधि के बल को देखते हुए, पुनः क्षार लगावे। यदि अर्श पकी हुई जामुन के समान वर्ण वाले, सिकुड़े हुए तथा कुछ दबे दीख पड़ें तो क्षार को पोंछ डाले। क्षार को काञ्जी, दही, मस्तु, शुक्त अथवा विजौरे के रस से धोवे। फिर मुलेठी का चूर्ण मिले हुए घृत से, क्षार की जलन को शान्त करके, यन्त्र को निकाले। रोगी को उठाकर उष्ण जल में बिठावे और ऊपर से शीतल जल छिड़के। कई आचार्य उष्ण जल छिड़कने का विधान बतलाते है। इसके बाद वायुरहित गृह में रोगी को रखकर, आहार-विहार का आदेश करे। अवशिष्ट अर्श को पुनः जलावे। इस प्रकार सात-सात दिन पर एक एक अर्श की चिकित्सा करे। यदि अर्श अधिक हों तो प्रथम दक्षिण भाग के अर्शों की, दक्षिण के बाद वाम भाग के, वाम भाग के बाद पीठ की ओर के और पश्चात् आगे की ओर के अर्शों की चिकित्सा करे ॥ ४ ॥

विमर्श.—अर्श की चिकित्सा के लिये अभुक्तवत' कर्म कुर्वीत' यह उपदेश सूत्रस्थान अध्याय ५ में है। किन्तु यहाँ स्निग्ध द्रवप्रायमन्न भुक्तवन्तम्' का निर्देश किया गया है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों में विरोध पड़ता है। कुछ आचार्यों का मत है कि रोगी को बलवान बनाये रखने के लिये चिकित्सा से तीन चार दिन पूर्व स्निग्ध उष्ण पदार्थ का सेवन कराना चाहिये। कुछ आचार्य चिकित्सा के दिन ही स्निग्ध अल्प भोजन का विधान बतलाते हैं। आधुनिक शल्यतन्त्र के अनुसार भी मूढगर्भ, उदर तथा मुखरोगों में शस्त्रकर्म के दिन भोजन का निषेध किया जाता है। भोजन करने से शरीर की प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के द्वारा वमन-हिक्का आदि उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है। वृद्ध वैद्यों की सम्मति भी यही है 'भुक्तवतो हि कर्मणि क्रियमाणे हिक्काश्वासादय उत्पद्येरन्निति वृद्धवैद्या' डल्हण। अर्श रोग में भोजन से उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त उपद्रवों की आशंका अल्प रहती है। अतः स्निग्ध, उष्ण द्रवप्राय अन्न का विधान चिकित्सा से पूर्व किया गया है।

तत्र वातश्लेष्मनिमित्तान्यग्निक्षाराभ्यां साधयेत्, क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि ॥ ५ ॥

इनमें वात और कफजन्य अर्शों की चिकित्सा अग्नि तथा क्षार से एवं पित्त और रक्तजन्य की केवल मृदुक्षार से करनी चाहिये ॥ ५ ॥

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिरग्निदीप्तिर्लाघवं बलवर्णोत्पत्तिर्मनस्तुष्टिरिति सम्यग्दग्धलिङ्गानि अतिदग्धे तु गुदावदरणं दाहो मूर्च्छा ज्वरः पिपासा शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा भवन्ति, ध्यामाल्पव्रणता कण्डूरनिलवैगुण्यमिन्द्रियाणामप्रसादो विकारस्य चाशान्तिर्हीनदग्धे ॥ ६ ॥

वायु का अनुलोम होना, अन्न में रुचि, अग्नि की वृद्धि, शरीर में हलकापन, बल और वर्ण की उत्पत्ति तथा मनस्तुष्टि (प्रसन्नता) ये सम्यग्दग्ध के लक्षण हैं। अतिदग्ध में गुदा का फटना, दाह, मूर्च्छा, ज्वर, पिपासा, रक्त का अधिक स्राव तथा अधिक रक्तस्राव से उत्पन्न उपद्रव होते हैं। हीनदग्ध के लक्षण हैं—काले छोटे व्रण की उत्पत्ति, व्रण में कण्डू, प्रतिलोम वायु, इन्द्रियों में प्रसन्नता का अभाव और विकार का शान्त न होना ॥ ६ ॥

महान्ति च प्राणवतश्छित्त्वा दहेत्, निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद्विना स्वेदाभ्यङ्गस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणालेपक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत्; प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन, भिन्नपुरीषाणि चातीसारविधानेन, बद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेनोदावर्तविधानेन वा; एष सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः ॥ ७ ॥

बलवान व्यक्तियों के बड़े अर्शों को शस्त्र से काटकर अग्निकर्म से जलावे। बाहर निकले हुए, दोष (वात, पित्त कफ तथा रक्त) पूर्ण अर्शों में, यन्त्र की सहायता के बिना, स्वेद, अभ्यङ्ग, स्नेह, अवगाहन, उपनाह, रक्तमोक्षण, आलेप, क्षार, अग्नि और शस्त्रों से चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तस्राव वाले अर्श में, रक्तपित्त के लिए कथित चिकित्सा विधि, मलभेद

वाले अर्श में अतिसार को रोकने वाली विधि तथा कोष्ठबद्धता वाले अर्श में स्नेहपान अथवा उदावर्त में प्रयुक्त विधि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। सभी स्थानों के अर्शों को जलाने की यह प्रक्रिया है ॥ ७ ॥

विमर्शः—अर्श की चिकित्सा में क्षार, अग्नि और शस्त्र चिकित्सा विधि का विशेष महत्त्व है। अर्श को निर्मूल करने के लिए इन तीनों में से किसी एक विधि का आश्रय लेना आवश्यक होता है। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में भी शस्त्र तथा अग्निदाह-प्रक्रिया का प्रयोग अर्श की चिकित्सा के लिए किया जाता है, शस्त्र-चिकित्सा का वर्णन करते हुए Romanis तथा mitchiner लिखते हैं—

The operation in most general use and one which gives on the whole very good result, is ligature, which is best associated with excision of the pile beyond the ligature, for this relieves the pain caused by the presence of the tense thrombosed haemorrhoid The patient, who should de prepared by a dose of caster oil the night before and given two enemeta one four hours and the other one hour before operation, is placed in the lithotomy position previously having been anaesthelised The finger is inserted in the annus and the piles can be coaxed outside, a proceeding which saves stretching the sphincter ani and this causing the patient subsequent pain The piles are then grasped separately in forceps, which are applied longitudinally on the bowel (ie along the pile) and ligatured, the skin being cut beforethe ligature is applied, but not the mucusmembrane

अर्श चिकित्सा के लिये अग्निदाह का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आ रहा है, किन्तु आधुनिक युग में इस विधि का विधान विशेष रूप से नहीं होता। इसके लिये रोमानिस और मिचनर लिखते हैं—Another method, not now much used, is the clamp and cautery, the piles being seized in an ivory clamp and seared away with an actual or electrical cautery

आसाद्य च दर्वीकूर्चकशलाकानामन्यतमेन क्षार पातयेत्। भ्रष्टगुदस्य तु विना यन्त्रेण क्षारादिकर्म प्रयुञ्जीत। सर्वेषु च शालिषष्टिकयवगोधूमान्नं सर्पिःस्निग्धमुपसेवेत पयसा निम्बयूषेण पटोलयूषेण वा, यथादोषं शाकैर्वास्तूकतण्डुलीयकजीवन्त्युपोदिकाऽम्बलाबालमूलकपालङ्क्यसनचिल्लीचुच्चूकलायवल्लीभिरन्यैर्वा। यच्चान्यदपि स्निग्धमग्निदीपनमर्शोघ्नं सृष्टमूत्रपुरीषं च तदुपसेवेत ॥ ८ ॥

अर्श को देखकर दर्वी (कलछी की आकृति का यन्त्र), कूर्च (Brush) या शलाका यन्त्र (Probe) में किसी एक के द्वारा क्षार लगावे। बिना यन्त्र की सहायता के, भ्रष्ट गुदा (Rectal Prolaps) में क्षार आदि कर्म का प्रयोग करना चाहिये। सभी अर्शों में शालि, साठी चावल, जौ और गेहूँ आदि अन्न को घी से स्निग्ध करके दूध, नीम के यूष अथवा परवल के यूष के साथ सेवन करना चाहिये। दोषों के अनुसार वथुआ, चौलाई, जीवन्ती, पोई, अम्बला (मेथी भेद) छोटी मूली, पालकी, असन (विजयसार), चिल्ली (चेत्रवास्तूक), चुच्चू (शाक विशेष) और मटर की लता तथा इसी प्रकार के अन्य शाकों के साथ आहार करना चाहिये। इनके अतिरिक्त स्निग्ध, अग्निदीपक, अर्श को नष्ट करने वाले तथा मल-मूत्र को निकालने वाले अन्य अनुक्त अन्न-पान, औषध द्रव्यों का सेवन भी करना चाहिये ॥ ८ ॥

दग्धेषु चार्शःस्वभ्यक्तोऽनलसन्धुक्षणार्थमनिलप्रकोपसंरक्षणार्थं च स्नेहादीनां सामान्यतः क्रियापथमुपसेवेत। विशेषतस्तु वातार्शःसु सर्पीषि च वातहरदीपनीयसिद्धानि हिङ्ग्वादिभिश्चूर्णैः प्रतिसंसृज्य पिबेत्, पित्तार्शःसु पृथक्पर्ण्यादीनां कषायेण दीपनीयप्रतीवापं सर्पिः, शोणितार्शःसु मञ्जिष्ठामुरुङ्गयादीनां कषाये पाचयेत्, श्लेष्मार्शःसु सुरसादीनां कषाये। उपद्रवांश्च यथास्वमुपाचरेत् ॥ ९ ॥

दग्ध और अदग्ध (चकारेण अदग्धेष्वपि विधिरयम्) अर्शों में अभ्यङ्ग करके, जठरानल को उत्तेजित करने तथा वायु के प्रकोप को रोकने के लिए स्नेह आदि क्रियाओं का सेवन सामान्य रूप से करना चाहिए और वातज अर्शों में विशेष रूपसे, अग्निदीपक (पिप्पल्यादि गण) तथा वातहर (भद्रदार्वादि गण) द्रव्यों से सिद्ध घृत, हिंग्वादि चूर्ण (वातव्याधि पठित) मिलाकर पीना चाहिये। पित्तज अर्श में पृष्टपर्णी आदि (मिश्रक अध्याय में पठित) द्रव्यों के क्वाथ और दीपनीय (पिप्पल्यादि गण) द्रव्यों के प्रक्षेप से सिद्ध, घृत का सेवन करना चाहिये। रक्तार्श में मजीठ और मीठे सहिजन आदि के क्वाथ से सिद्ध तथा कफज अर्श में सुरसादि गण के क्वाथ से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए। (गुल्म, ज्वर आदि) उपद्रवों की, दोषों के अनुसार द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

परं च यत्नमास्थाय गुदे क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेत्, तद्विभ्रमाद्धि षाण्ढ्यशोफदाहमदमूर्च्छाटोपानाहातीसारप्रवाहणानि भवन्ति मरणं वा ॥ १० ॥

किन्तु, गुदा में क्षार, अग्नि और शस्त्रों का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिये। क्योंकि इसमें व्यतिक्रम होने से नपुंसकता, शोथ, दाह, मूर्च्छा, आटोप (उदर में गुड़गुडाहट), आनाह (पेट का फूलना), अतिसार, प्रवाहण (किनछना) अथवा मृत्यु भी हो जाती है ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वं यन्त्रप्रमाणमुपदेक्ष्यामः—तत्र यन्त्रं लौहं दान्तं शाङ्गं वाक्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं पुसां, षडङ्गुलपरिणाहं नारीणां तलायतं; तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थम्, एकच्छिद्रं तु कर्मणि; एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति, छिद्रप्रमाणं तु

त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरपरिणाहं, यदङ्गुलमवशिष्टं तस्यार्धाङ्गुलादधस्तादर्धाङ्गुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकम्; एष यन्त्राकृतिसमासः ॥ ११ ॥

इसके आगे यन्त्रों का प्रमाण (आकृति-माप आदि) कहा जाता है। इनमें यन्त्र लोह, दांत, सींग अथवा वृक्ष से निर्मित, गौ के स्तन के समान, चार अंगुल लम्बे (आयतं दीर्घम्) पांच अंगुल मोटे (गोल) पुरुषों के लिए तथा ६ अंगुल मोटे और हथेली के बराबर लम्बे स्त्रियों के लिये होने चाहिये। उनमें दो छिद्र रहना चाहिये, एक छिद्र देखने के लिये और दूसरा कर्म करने के लिये, क्योंकि एक छिद्र रहने से शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि का अतिक्रमण नहीं होता। छिद्र की लम्बाई तीन अंगुल और गोलाई अंगुष्ठोदर प्रमाण होनी चाहिये। एक अंगुल जो शेष स्थान बचता है उसमें आधा अंगुल नीचे, आधा अंगुल उठी हुई ऊपर में गोल कर्णिका होनी चाहिये। संक्षेप में यन्त्रों की आकृति इस प्रकार की होती है ॥ ११ ॥

अत ऊर्ध्वमर्शसामालेपान् वक्ष्यामः—स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः प्रथमः, कुक्कुटपुरीषगुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः, दन्तीचित्रकसुवर्चिकालाङ्गलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीयः, पिप्पलीसैन्धवकुष्ठशिरीषफलकल्कः स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थः, कासीसहरितालसैन्धवाश्वमारकविडङ्गपूतीककृतवेधनजम्ब्वर्कोत्तमारणीदन्तीचित्रकालर्कस्नुहीपयःसु तैलं विपक्वमभ्यञ्जनेनार्शः शातयति ॥ १२ ॥

इसके आगे अर्शों के लिये लेपों का उल्लेख किया जाता है—सेहुण्ड के दूध के साथ हल्दी का चूर्ण मिलाकर बनाया गया पहला लेप। मुर्गे की विष्ठा, गुञ्जा, (घुंघुची), हल्दी और पिप्पल के चूर्ण को गोमूत्र तथा गोपित्त से पीसकर बनाया गया दूसरा लेप। दन्ती, चित्रक, हुलहुल और कलिहारी को गोपित्त के साथ पीसकर बनाया गया कल्क तीसरा लेप। पिप्पल, सेन्धा नमक, कूठ और शिरीष के फल को सेहुण्ड अथवा मदार के दूध में पीसकर बनाया गया चौथा लेप। कासीस, हरिताल, सेन्धानमक, कनेर की जड़, विडङ्ग, करञ्ज, कृतवेधन (राजक्षोशातकी), छोटी जामुन, मदार का दूध, उत्तमारणी (भूम्यामलकी), दन्ती, चित्रक, अलर्क (श्वेतार्क) और सेहुण्ड के दूध से सिद्ध तैल की मालिश करने से अर्श नष्ट होता है ॥ १२ ॥

अत ऊर्ध्वं भेषजसाध्येष्वदृश्येष्वर्शःसु योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः—प्रातः प्रातर्गुडहरीतकीमासेवेत, ब्रह्मचारी गोमूत्रद्रोणसिद्धं वा हरीतकीशतं प्रातः प्रातर्यथाबलं क्षौद्रेण, अपामार्गमूल वा तण्डुलोदकेन सक्षौद्रमहरहः, शतावरीमूलकल्कं वा क्षीरेण, चित्रकचूर्णयुक्तं वा सीधु पराघ्यं, भल्लातचूर्णयुक्तं वा सक्तुमन्थमलवणं तक्रेण, कलशे वाऽन्तश्चित्रकमूलकल्कावलिप्ते निषिक्तं तक्रमम्लमनम्लं वा पानभोजनेषूपयुञ्जीत, एष एव भार्ग्यास्फोतायवान्यामलकगुडूचीषु तक्रकल्पः पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकविडङ्गशुण्ठीहरीतकीषु च पूर्ववदेव, निरन्नो वा तक्रमहरहर्मासमुपसेवेत, शृङ्गवेरपुनर्नवाचित्रककषायसिद्धं वा पयः कुटजमूलत्वक्फाणितं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं क्षौद्रेण, महावातव्याध्युक्तं हिङ्ग्वादिचूर्णमुपसेवेत तक्राहारः क्षीराहारो वा, क्षारलवणांश्चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेत्, चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धं वा पयः पलाशतरुक्षारसिद्धं वा, पलाशतरुक्षारसिद्धान् वा कुल्माषान्, पाटलापामार्गबृहतीपलाशक्षारं वा परिस्रुतमहरहर्घृतसंसृष्टं, कुटजवन्दाकमूलकल्कं वा तक्रेण, चित्रकपूतीकनागरकल्कं वा पूतीकक्षारेण क्षारोदकसिद्धं वा सर्पिः पिप्पल्यादिप्रतीवापं, कृष्णतिलप्रसृतं प्रकुञ्चं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत शीतोदकानुपानम्; एभिरभिवर्धतेऽग्निरर्शांसि चोपशाम्यन्ति ॥१३॥

इसके आगे औषधसाध्य, अदृश्य (गुदा के अन्दर होने के कारण न दीखने वाले) अर्शों को नष्ट करने के लिए योगों का कथन किया जाता है। प्रतिदिन प्रातः काल गुड़ और हरीतकी का सेवन करे, अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एक द्रोण गोमूत्र के द्वारा सिद्ध, एक सौ हरीतकी, प्रतिदिन प्रातः काल शक्ति के अनुसार, मधु के साथ सेवन करे। अथवा अपामार्ग की जड़ तण्डुलोदक के साथ मधु मिला कर प्रतिदिन सेवन करे। अथवा शतावरी का कल्क बनाकर दूध के साथ या चित्रकचूर्ण मिश्रित सीधु (मद्य विशेष) का सेवन श्रेष्ठ होता है। अथवा भिलावे के चूर्ण से युक्त सत्तू (धान के लावे का सत्तू) का मन्थ बनाकर, बिना नमक मिलाये, मट्ठे के साथ सेवन करे। अथवा घड़े में अन्दर चित्रक की जड़ का कल्क लेप करके, मट्ठा रखे और उस खट्टे या खटाई रहित मट्ठे का पान और भोजन आदि में प्रयोग करे। भार्गी, अपराजिता अजवायन, आँवला और गुडूची के लिए भी यही तक्रकल्प विधि (तक्रपान-विधि) है। पिप्पल, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, विडङ्ग, सोंठ और हरीतकी के द्वारा भी उपर्युक्त विधि से तक्र का निर्माण करे, अथवा अन्न त्याग कर, प्रतिदिन एक मास तक तक्र सेवनकरे। अथवा आर्द्रक, पुनर्नवामूल और चित्रक के क्वाथ से सिद्ध दूध का सेवन करे। अथवा कुडा के जड़की छाल का फाण्ट (क्वाथ विशेष), पिप्पल्यादि चूर्ण और मधु मिला कर सेवन करे। महावातव्याधिचिकित्सा के प्रसङ्ग में पठित हिङ्ग्वादिचूर्ण का सेवन और केवल मट्ठा या दूध का आहार करे। अथवा यवक्षार, सेन्धानमक, चित्रक की जड़ और क्षारोदक से सिद्ध कुल्माष (यवौदनः) का भोजन करे या चित्रक की जड़ और क्षारोदक से सिद्ध दूध का पान करे। अथवा पलाश वृक्ष के क्षार से सिद्ध कुल्माष या सेवन करे। अथवा पाढ़ल, अपामार्ग, बड़ी कटेरी और वस्त्र से भलीभाँति छाना हुआ पलाशक्षार प्रतिदिन घृत मिला कर या कुटज और वन्दाक की जड़ का कल्क मट्ठे के साथ या चित्रक, करञ्ज और सोंठ का कल्क करञ्ज क्षार के साथ सेवन करे। अथवा क्षारोदक से सिद्ध घृत पिप्पल्यादि चूर्ण मिला कर या काला तिल

दो पल या एक पल प्रतिदिन प्रातः काल शीतल जल से सेवन करे। इन योगों से अग्नि की वृद्धि तथा अर्शो का शमन होता है ॥ १३ ॥

द्विपञ्चमूलीदन्तीचित्रकपथ्यानां तुलामाहृत्य जलचतुर्द्रोणे विपाचयेत्, ततः पादावशिष्टं कषायमादाय सुशीतं गुडतुलया सहोन्मिश्र्य घृतभाजने निःक्षिप्य मासमुपेक्षेत यवपल्ले, ततः प्रातः प्रातर्मात्रां पाययेत्, तेनार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगोदावर्तारोचका न भवन्ति दीप्तश्चाग्निर्भवति ॥ १४ ॥

दशमूल, दन्ती, चित्रक और हरीतकी एक तुला लेकर चार द्रोण जल में पकावे। चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ में, शीतल होने पर एक तुला गुड मिलावे और उसे घी के पात्र में भर कर एक मास तक जौ की राशि में रखे। इसे प्रतिदिन प्रातः काल मात्रानुसार पान करे। इसके सेवन से अर्श, ग्रहणी दोष, पाण्डु रोग, उदावर्त और अरोचक आदि रोग नहीं होते तथा अग्नि दीप्त होती है ॥ १४ ॥

पिप्पलीमरिचविडङ्गैलवालुकलोध्राणां द्वे द्वे पले, इन्द्रवारुण्याः पञ्च पलानि, कपित्थमध्यस्य दश, पथ्याफलानामर्धप्रस्थः, प्रस्थो धात्रीफलानाम्, एतदैकध्यं जलचतुर्द्रोणे विपाच्य, पादावशेषं परिस्राव्य, सुशीतं गुडतुलाद्वयेनोन्मिश्र्य, घृतभाजने निःक्षिप्य, पक्षमुपेक्षेत यवपल्ले; ततः प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत। एष खल्वरिष्टः प्लीहाग्निसङ्गार्शोग्रहणीहृत्पाण्डुरोगशोफकुष्ठगुल्मोदरकृमिहरो बलवर्णकरश्चेति ॥१५॥

पिप्पल, मरिच, विडङ्ग, एलुआ और लोध दो-दो पल, इन्द्रायण पाँच पल, कैथ का गूदा दश पल, हरीतकी आधा प्रस्थ, आँवले एक प्रस्थ, इन द्रव्यों को एक साथ चार द्रोण जल में पकावे, चतुर्थांश क्वाथ अवशेष रहने पर छान ले, शीतल होने पर दो तुला गुड़ मिला कर घी के पात्र में भरकर पन्द्रह दिन जौ की राशि में रखे। बल के अनुसार प्रतिदिन प्रातः काल सेवन करे। यह अरिष्ट प्लीहा, अग्निमान्द्य, अर्श, ग्रहणी, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदर और कृमिरोग को नष्ट करता है तथा बल एवं वर्ण को बढाता है ॥१५॥

विमर्श—उपर्युक्त दोनों योगों का उल्लेख अभयारिष्ट तथा दन्त्यरिष्ट के नाम से चरक संहिता में अर्श चिकित्सा के अन्दर आया है।

तत्र, वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषिद्धं, पित्तजेषु विरेचनम्, एवं रक्तजेषु संशमनं, कफजेषु शृङ्गवेरकुलत्थोपयोगः, सर्वदोषहरं यथोक्तं सर्वजेषु, यथास्वौषधिसिद्धं च पयः सर्वेष्विति ॥

वात प्रधान अर्श में स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए। पित्तज अर्श में विरेचन तथा रक्तज में संशमन चिकित्सा करनी चाहिए। कफज अर्श में आर्द्रक और कुलथी का उपयोग करना चाहिए। त्रिदोषज अर्श में सभी दोषों को दूर करने वाली चिकित्सा विधि का प्रयोग और दोषों के अनुकूल औषधियों से सिद्ध दूध का सेवन करना चाहिए ॥ १६ ॥

विमर्शः—सशमनम्-न वामयति नापि विरेचयति व्याधिना सहैकीभूय तमेव व्याधिं शमयेदिति सशमनम्। डल्हण। न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषास्तथोद्धतान्। समीकरोति विषमान्शमनं तदथा स्मृता ॥ शार्ङ्गधर।

अत ऊर्ध्वं भल्लातकविधानमुपदेक्ष्यामः—भल्लातकानि परिपक्वान्यनुपहतान्याहृत्य तत एकमादाय द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य तस्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृताभ्यक्ततालुजिह्वौष्ठः प्रातः प्रातरुपसेवेत, ततोऽपराह्णे क्षीर सर्पिरोदन इत्याहारः; एवमेकैकं वर्धयेद्यावत् पञ्चेति, ततः पञ्च पञ्चाभिवर्धयेद्यावत् सप्ततिरिति, प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेद्भूयः पञ्च पञ्च यावत् पञ्चेति, पञ्चभ्यस्त्वेकैकं यावदेकमिति। एवं भल्लातकसहस्रमुपयुज्य सर्वकुष्ठार्शोभिर्विमुक्तो बलवानरोगः शतायुर्भवति ॥ १७ ॥

इसके आगे भल्लातक विधान का उपदेश किया जाता है। पके हुए तथा जो कटे-फटे न हों ऐसे भिलावों को एकत्रित करे। उनमें से एक भिलावे को लेकर दो, तीन या चार टुकडों में काटे और क्वाथविधि से पकावे। उस क्वाथ को शीतल करके, तालु, जिह्वा और ओष्ठ में घृत लगा कर, शुक्ति प्रमाण (आधा पल) प्रतिदिन प्रातः काल सेवन करे और अपराह्ण में दूध, घृत मिश्रित चावल (भात) का भोजन करे। इस प्रकार एक एक भिलावा प्रतिदिन बढावे, जब तक पाँच भिलावों की सख्या पूरी न हो। इसके बाद पाँच पाँच भिलावे प्रतिदिन बढावे, जब तक उनकी संख्या सत्तर न हो। जब सत्तर भिलावों की संख्या पूरी होजाय तब पाँच-पाँच भिलावों के क्रम से घटावे जब तक पाँच भिलावों की सख्या न प्राप्त हो। पाँच भिलावों की सख्या तक पहुँचने पर, एक एक भिलावा घटावे, जब तक एक भिलावे की संख्या शेष बचे। इस प्रकार एक हजार भिलावे का सेवन करने वाला व्यक्ति, सभी प्रकार के कुष्ठ और अर्श रोग से मुक्त, बलवान, नीरोग एव सौ वर्ष की आयु वाला होता है ॥ १७ ॥

द्विव्रणीयोक्तेन विधानेन भल्लातकनिश्च्युतितं स्नेहमादाय प्रातः प्रातः शुक्तिमात्रमुपयुञ्जीत, जीर्णे पूर्ववदाहारः फलप्रकर्षश्च। भल्लातकमज्जभ्यो वा स्नेहमादायापकृष्टदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तो निवातमागारं प्रविश्य यथाबलं प्रसृतिंप्रकुञ्चं वोपयुञ्जीत, तस्मिञ्जीर्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य मासत्रयमादिष्टाहारो रक्तेदात्मानं; ततः सर्वोपतापानपहृत्य वर्णवान् बलवान् श्रवणग्रहणधारणशक्तिसंपन्नो वर्षशतायुर्भवति मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति, एवं दशमासानुपयुज्य वर्षसहस्रायुर्भवति ॥१८॥

द्विव्रणीय चिकित्सा में बतलाई गई विधि के अनुसार भिलावे के निकाले गए स्नेह (तेल) का, प्रतिदिन प्रात:काल

आधा पल की मात्रा में सेवन और स्नेह का पाचन होने पर उपर्युक्त आहार करे। इसमें अधिक लाभ की प्राप्ति होती है। अथवा भिलावे की मज्जा से तेल निकाल कर, वमन, विरेचन के द्वारा दोषों को दूर करके, ससर्जन क्रम से पेया, विलेपी आदि का सेवन करते हुए वायुरहित गृह में प्रवेश कर, बल के अनुसार दो पल या एक पल सेवन करे। भल्लातक स्नेह का पाचन होने पर दूध, घी मिश्रित चावल का भोजन करे। इस प्रकार एक मास तक भिलावे के स्नेह का सेवन करके तीन मास तक उपर्युक्त आहार का सेवन करते हुए, क्रोध आदि से अपनी रक्षा करे। इससे सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त होकर, सुन्दर वर्ण वाला, बलवान, सुनने, ग्रहण करने (समझने) और धारण करने (स्मरण रखने) की शक्ति से सम्पन्न होकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। एक एक मास सेवन करने से आयु में एक एक सौ वर्ष की वृद्धि होती है। इस प्रकार दश मास तक सेवन करने पर एक हजार वर्ष की आयु होती है ॥ १८ ॥

भवन्ति चात्र—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः ॥ १९ ॥

जैसा कि—जिस तरह खैर और विजयसार सभी प्रकार के कुष्ठों का नाश करते हैं उसी तरह सभी प्रकार के अर्शों का नाश कुटज और भिलावे से होता है ॥ १९ ॥

हरिद्रायाः प्रयोगेण प्रमेहा इव षोडश ॥
क्षाराग्नी नातिवर्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः ॥ २० ॥

जिस तरह हल्दी के प्रयोग से सोलह प्रकार के साध्य प्रमेहों का नाश होता है उसी तरह क्षार और अग्नि के प्रयोग से दृश्य अर्श नष्ट हो जाते हैं ॥ २० ॥

घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः ॥
आसवाश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम् ॥ २१ ॥

दोषों की वृद्धि को देख कर दीपनीय घृत (पिप्पल्यादि घृत), लेह (कुटजादि लेह), अयस्कृति (नवायस लौह आदि) सुरा और आसवों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१ ॥

वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कुटुकासनम् ॥
यथास्वं दोषलं चान्नमर्शःसु परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

मल मूत्र के वेगों का रोकना, स्त्रीसेवन, घोड़े आदि की पीठ पर बैठना, तीक्ष्ण द्रव्यों का पान, उकड़ू बैठना तथा दोषों के अनुकूल उन्हें बढ़ाने वाले अन्न का परित्याग अर्श रोग में करना चाहिए ॥ २२ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भानुमतीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर अश्मरी की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः।
औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥ ३ ॥

अश्मरी (Stone) भयङ्कर व्याधि है, इसे यमराज के तुल्य (घातक) समझना चाहिए। नवीन अश्मरी औषधि-चिकित्सा-साध्य होती है, किन्तु पुरानी अश्मरी के लिए शस्त्र-चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है ॥ ३ ॥

तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते।
तेनास्यापचयं यान्ति व्याधेर्मूलान्यशेषतः ॥ ४ ॥

अश्मरी के पूर्वरूपों में स्नेह, स्वेद आदि विधियों का प्रयोग करना चाहिए, इससे इस व्याधि का समूल नाश होता है ॥ ४ ॥

पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तकौ तथा।
शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका ॥ ५ ॥
कपोतवङ्क्षाऽऽर्तगलः कक्षकोशीरकुब्जकाः।
वृक्षादनी भल्लुकश्च वरुणः शाकज फलम् ॥ ६ ॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च।
ऊषकादिप्रतीवापमेषां कार्थैर्घृतं कृतम् ॥ ७ ॥
भिनत्ति वातसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥
क्षारान् यवागूयूषांश्च कषायाणि पयांसि च।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् वातनाशने ॥ ८ ॥

पाषाणभेद, वसुक (श्वेतार्क), वशिर (रक्त अपामार्ग या गजपिप्पल), अश्मन्तक (चागेरी), शतावर, गोखरू, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, कपोतवंका (ब्राह्मी), आर्तगल (नील पियावासा), कक्षक (कवहक इति मालवे प्रसिद्ध.), खस, कुब्जक (गुल्ला), वृक्षादनी (वंदाक), भल्लुक (श्योनाक), वरुण, शाकज फल (शाकः कर्कशमसृणपृष्ठोदरपत्रो वृक्षः तस्य फलम्), जौ, कुलथी, बेर और निर्मली इन द्रव्यों के क्वाथ में ऊषकादि गण का कल्क डाल कर घृत सिद्ध करे। यह घृत वातज अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है। इस वातनाशक गण के द्वारा क्षार, यवागू, यूष, क्वाथ, दूध तथा भोजन (चावल आदि) सिद्ध करना चाहिए।

कुशः काशः सरो गुन्द्रा इत्कटो मोरटोऽश्मभित् ॥ ९ ॥
वरी विदारी वाराही शालिमूलत्रिकण्टकम्।
भल्लूकः पाटला पाठा पत्तूरोऽथ कुरुण्टिका ॥ १० ॥
पुनर्नवा शिरीषश्च कथितास्तेषु साधितम्।
घृतं शिलाजमधुकबीजैरिन्दीवरस्य च ॥ ११ ॥
त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम्।

भिनत्ति पित्तसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥ १२ ॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् पित्तनाशने ॥ १३ ॥

कुश, काश, सरपत, गुन्द्रा (पटेरा तृण विशेष), इक्षट (महती खगाली), मोरट (इक्षुमूल), पाषणभेद, शतावरी, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, शालिधान्य की जड, गोखरू, भल्लूक (श्योनाक), पाढला, पाठा, पतंग, कुरुण्टिका (कटसरैया) पुनर्नवा और शिरीष के क्वाथ में शिलाजतु, मुलेठी, नील कमल के बीज, खीरा और ककड़ी आदि के बीज का कल्क मिला कर सिद्ध किया गया घृत पित्तज अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है। इस पित्तनाशक वर्ग के द्वारा क्षार, यवागू, यूप, कषाय, दूध और भोजन का पाक करना चाहिए ॥ ९-१३ ॥

गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेलाहरेणवः ।
कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैः ससुराह्वयैः ॥ १४ ॥
एतैः सिद्धमजासर्पिरूपकादिगणेन च ।
भिनत्ति कफसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥ १५ ॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् कफनाशने ॥ १६ ॥

वरुणादिगण, गुग्गुलु, इलायची, रेणुका बीज, कूठ, भद्रादि (देवदारु, कूठ, हरिद्रा आदि), मरिच, चित्रक और देवदारु, के क्वाथ में ऊपकादि गण के कल्क से सिद्ध, बकरी का घी सेवन करने से कफज अश्मरी शीघ्र नष्ट होती है। इस कफनाशक गण के द्वारा क्षार, यवागू, यूप, कषाय, दूध और भोजन का पाक करना चाहिए ॥ १४-१६ ॥

पिचुकाङ्कोलकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः ।
चूर्णितैः सगुडं तोयं शर्कराशमनं पिवेत् ॥ १७ ॥

पिचुक (कपास का फूल), अकोल, निर्मली, शाक और नील कमल के फल का चूर्ण, जल में गुड के साथ घोल कर शर्करा को नष्ट करने के लिए पीना चाहिए ॥ १७ ॥

क्रौञ्चोष्ट्रारासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका ॥
अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च ।
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा ॥ १८ ॥

क्रौञ्च (कराकुल), ऊँट और गदहे की हड्डी, गोखरू, मूसली, अजवायन, कदम्ब की जड तथा सोंठ (चूर्ण) सुरा या उष्ण जल से सेवन करने पर शर्करा नष्ट होती है ॥

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ॥
अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिवेत् ॥ १९ ॥

गोखरू के बीज का चूर्ण, मधु मिला कर, बकरी के दूध के साथ, अश्मरी को नष्ट करने के लिए एक सप्ताह पीना चाहिए ॥ १९ ॥

द्रव्याणा तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालितः ॥
ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः सयुक्तः साधितः शनैः ॥२०॥
तत्रोपकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः ॥
एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि ॥२१॥

घृत पाक के लिए कहे गए (वरुणादि गण) द्रव्यों का भेडी के मूत्र में घोल कर छाना गया क्षार और ग्राम्य पशुओं (गाय, बकरी, घोडा आदि) के मल के क्षार को मिला कर, ऊपकादि गण तथा त्रिकटु के कल्क के साथ धीरे-धीरे पकावे। यह क्षार अश्मरी, गुल्म और शर्करा को नष्ट करता है ॥

तिलापामार्गकदलीपलाशयवकल्कजाः ॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः ॥ २२ ॥

तिल, अपामार्ग, केला, पलाश और जौ के कल्क से निर्मित क्षारका, भेडी के मूत्र के साथ सेवन, शर्करा को नष्ट करने के लिए श्रेष्ठ है ॥ २२ ॥

पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत ॥ २३ ॥
श्वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मीकल्कं वाऽक्षसमं पिवेत् ॥
सहैडकाख्यौ पेयौ वा शोभाञ्जनकमार्कवौ ॥ २४ ॥
कपोतवङ्कामूलं वा पिवेदम्लैः सुरादिभिः ॥
तत्सिद्धं वा पिवेत् क्षीर वेदनाभिरुपद्रुतः ॥ २५ ॥
हरीतक्यादिसिद्धं वा वर्षाभूसिद्धमेव वा ।
सर्वथैवोपयोज्यः स्याद्वरुणो वीरतरादिकः ॥ २६ ॥

पाढल और कनेर का क्षार उपर्युक्त विधि से बनाना चाहिये। अथवा गोखरू, मुलेठी और ब्राह्मी का कल्क एक कर्ष (भेड़ी के मूत्र के साथ) पीना चाहिये। अथवा एडक (मोथी तृणविशेष) के साथ सहिजन और भृङ्गराज का सेवन करे। अथवा कपोतवंकामूल (ब्राह्मी की जड़) का सेवन काञ्जी आदि अम्ल द्रव तथा सुरा आदि (सौवीरक, मैरेयक) के साथ करे। अथवा वेदना से पीडित रोगी, इन द्रव्यों से सिद्ध, दूध का पान करे। अथवा त्रिफला या पुनर्नवा से सिद्ध दूध का पान करे। वीरतर्वादिगण का सेवन सब प्रकार (घृत, क्षीर, कषाय, यवागू भोजन आदि) से करना चाहिए ॥ २३-२६ ॥

घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः ।
यदि नोपशम गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥ २७ ॥

घृत, क्षार, कषाय, दूध और उत्तरबस्ति (नैरूहिक तथा स्नैहिक) से भी यदि (अश्मरी) शमन न हो तो आगे कही जाने वाली विधि (शस्त्र-कर्म) के द्वारा छेदन करना चाहिये ॥ २७ ॥

कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा ।
उपक्रमो जघन्योऽयमतः संपरिकीर्तितः ॥ २८ ॥

चूँकि शस्त्र-कर्म में कुशल वैद्य की सफलता भी अनिश्चित रहती है इसलिए यह उपक्रम (शस्त्रकर्म) निकृष्ट कहा गया है ॥ २८ ॥

अक्रियाया ध्रुवो मृत्युः क्रियाया संशयो भवेत् ।
तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥२९॥

(शस्त्रकर्म) न करने पर रोगी की मृत्यु निश्चित रहती है तथा शस्त्रकर्म करने पर भी सशय बना रहता है इसलिये

कल्याण करने वाले वैद्य को राजा की (अथवा रोगी के अभिभावक की) अनुमति लेकर शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषमीषत्कर्शितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवन्तं कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनमग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसम्भारमाश्वास्य, ततो बलवन्तमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपविष्टान्यपुरुषस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटीकं वस्त्राधारकोपविष्टं सङ्कुचितजानुकूर्परमितरेण सहाववद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा, ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वं विमृद्य मुष्टिनाऽवपीडयेदधोनाभेर्यावदश्मर्यधः प्रपन्नेति, ततः स्नेहाभ्यक्ते क्लृप्तनखे वामहस्तप्रदेशिनीमध्यमे अङ्गुल्यौ पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेढ्रान्तरमानीय, निर्व्यलीकमनायतमविषमं च वस्तिं सन्निवेश्य, भृशमुत्पीडयेदङ्गुलिभ्यां यथा ग्रन्थिरिवोन्नतं शल्यं भवति ॥३०॥

इसके अनन्तर रोगी का स्नेहन करके, (वमन-विरेचन द्वारा) दोषों को दूरकर, कुछ दुर्बल करे और अभ्यङ्ग (स्नेहन) तथा स्वेदन से शरीर को शुद्धकर भोजन करावे। फिर बलिप्रदान, मंगल-पाठ, स्वस्तिवाचन कर्म करे तथा अग्रोपहरणीय अध्याय में कही गई विधि के अनुसार (यन्त्र, शस्त्र, क्षार, शलाका आदि) सभी साधनों को एकत्रित कर रोगी को आश्वासन दे। फिर बल सम्पन्न एवं न घबड़ाने वाले रोगी को घुटने की ऊँचाई के बराबर चौकी पर पूर्वाभिमुख बैठावे और (पूर्वाभिमुख बैठे हुए) दूसरे पुरुष की गोद में रोगी का कटि से ऊपर का भाग, उत्तान रूप में रखे। कटिप्रदेश कुछ ऊँचा कर कपडे की गद्दी नितम्ब के नीचे लगावे, घुटने और कुहनी को सिकोड कर एक दूसरे के साथ धागे या कपडे से (पट्टी) बाँध दे। फिर भलीभाँति नाभिप्रदेश में स्नेह की मालिश करे और बाँये पसवाडे को मलकर नाभि के नीचे मुट्ठी से तब तक दबावे जब तक अश्मरी नीचे न आ जाय। फिर स्नेह से स्निग्ध, कटे हुए नाखून वाली बाँये हाथ की तर्जनी और मध्यमा अगुलियों को गुदा में प्रवेश करे और सेवनी के नीचे ले जाकर, उपाय और बल से, गुदा तथा लिङ्ग के बीच लाकर, सिकुडन रहित, छोटी और सीधी वस्ति को सम्यक् स्थापित करके, अंगुलियों से जोर से दबावे जिससे शल्य (अश्मरी) गाँठ के समान ऊपर उठ जाय ॥३०॥

स चेद्गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः।
हृतबल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो मृतोपमः ॥ ३१ ॥
न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत्तु म्रियेत सः।
विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं प्रयतेत वै ॥ ३२ ॥

यदि शल्य (अश्मरी) को पकड लेने पर रोगी के नेत्र स्तब्ध हो जांय, वह मूर्च्छित हो जाय, मुर्दे के समान गर्दन लटका दे तथा चेष्टारहित मृतक के समान प्रतीत हो तो उस रोगी का शल्य नहीं निकालना चाहिये। शल्य निकाला जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है। इन लक्षणों से रहित रोगी के शल्य को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये ॥३१-३२॥

ततः सव्ये पार्श्वे सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वाऽवचारयेच्छस्त्रमश्मरीप्रमाणं, दक्षिणतो वा क्रियासौकर्यहेतोरित्येके, यथा सा न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति, तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत;

वामपार्श्व में सेवनी को एक जौ छोडकर, अश्मरी के प्रमाण (लम्बाई) के अनुसार, शस्त्र कर्म करे (चीरा लगावे)। कुछ आचार्यों का मत है कि क्रिया में सुविधा की दृष्टि से दाहिनी ओर शस्त्रकर्म करना चाहिए। अश्मरी के टुकडे न हों या वह चूर-चूर न हो जाय इसका प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि यदि थोड़ा भी चूर्ण निकालने में शेष रह जाय तो वह पुनः बडा आकार धारण कर लेता है। इसलिए समस्त अश्मरी को अग्र वक्त्र (आहरण यन्त्र) से निकालना चाहिये ॥ ३३ ॥

विमर्शः—अपकृष्टदोषमूर्ध्वाधोदोषनिर्हरणेन दोषरहितम्। ईषत् कर्शितमिति अतिकर्शनेन कर्माक्षमता, अकर्शनेनोपचितानल्पवस्तिकायत्वादश्मर्या अप्राप्तिरिति। बलवन्तमिति अपकृष्टदोष विशुद्धमन्नससर्जनेन सञ्जनितबलम्। अश्मरी निकालने की जिस प्रक्रिया का वर्णन सुश्रुत ने किया है उसे पाश्चात्य-चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार 'Lateral perineal lithotomy' कह सकते हैं। Lateral perineal lithotomy, where the stone is removed through the lateral portion of the perineum by incising the prostate This operation is no longer performed, except upon African natives who will insist on going out of hospital on the next day. आजकल Lithotrity और Lithotomy दो प्रकार की शस्त्र क्रियायें अश्मरी निकालने के लिये प्रयुक्त होती हैं। 'Two typs of operation are practised that of Cutting for the stone (Lithotrity) and crushing the stone (Lithotomy) Lithotomy क्रिया का प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है। (१) Lateral perineal lithotmy:—इस क्रिया का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। प्राचीन युग में अश्मरी निकालने के लिए इसी क्रिया का व्यवहार होता था। (२) प्रक्रिया का नाम है Median perineal lithotomy और (३) प्रक्रिया Suprapubic lithotomy कहलाती है। इस तीसरी प्रक्रिया का व्यवहार आधुनिक युग में अश्मरी निकालने के लिए प्रायः किया जाता है 'This is the form of operation employed in practically all cases The bladder is opened above the pubes (as described on p 886) the stone is felt and removed with forceps If the urine is uninfected, the bladder may then be sutured with a continuous Catgutstitch, and the wound closed without drainage, but if cystitis and infection of the urine are present, the bladder must be drained for from five to seven days By this operation any other condition, such as enlarged prostate or growth of

the bladder, can be dealt with at the same time 'The Science and practice of Surgery'

स्त्रीणां तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः, तस्मात्तासामुत्सङ्गवच्छस्त्रं पातयेत्, अतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत्, पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रक्षरणम्; अश्मरीव्रणाहते भिन्नवस्तिरेकधाऽपि न भवति, द्विधा भिन्नवस्तिराश्मरिको न सिध्यति।

स्त्रियों का गर्भाशय वस्ति के पार्श्व में निकट में ही रहता है। इसलिये उनमें शस्त्र प्रयोग उत्तान रूप में, अर्थात् अधिक गहरा नहीं करना चाहिये, अन्यथा स्त्रियों को मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। पुरुषों में भी वस्ति-मुख के स्रोत में व्रण होने पर मूत्रस्राव होने लगता है। अश्मरी निकालने के लिए शस्त्र द्वारा किए गये व्रण के अतिरिक्त अन्य कारणों से फटी हुई वस्ति का सन्धान नहीं होता तथा दो भागों में फटी हुई वस्ति वाला अश्मरी का रोगी नीरोग नहीं होता ॥ ३२ ॥

विमर्शः-उत्सङ्गवदिति। ऊर्ध्वं सङ्गः मयस्थानीति तदुत्सङ्गवत् उत्तानमित्यर्थः। अन्यथेति। यदावगाढ. शस्त्रपात. स्यात् तदा बहिर्गत त्वङ्मांस भित्त्वा वस्तित्वचा सह भगवन्तुवस्तिपार्श्वाश्रयस्य गर्भाशयस्यापि त्वचो भेदः स्यात्, ततस्तासा भगान्तर्गतो मूत्रस्रावी व्रणः स्यादित्यर्थ। तथा च वैतरण—'भगस्याधः स्त्रिया वस्तिरूर्ध्वं गर्भाशय. स्थित.। गर्भाशयश्च वस्तिश्च महास्रोत समाश्रितौ। वस्तिभाग समुत्सृज्य व्रजन्यश्मरीं मुखः। स्त्रिगत्रे भेदन तासा हितमन्यत्र दोषकृत्।' (डल्हणः)

अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधाभिन्नवस्तिर्जीवति, क्रियाभ्यासाच्छास्त्रविहितच्छेदान्नःस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च शल्यस्येति। उद्धृतशल्यं तूष्णोदकद्रोण्यामवतार्य स्वेदयेत्, तथा हि वस्तिरसृजा न पूर्यते; पूर्णे वा क्षीरवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात् ॥ ३३ ॥

अश्मरी-व्रण के कारण एक स्थान पर फटी हुई वस्ति वाला रोगी क्रियाभ्यास, शास्त्रविहित छेदनकर्म और मूत्र की मात्रा में वृद्धि होने के कारण जीवित रहता है। शल्य (अश्मरी) निकालने के बाद रोगी को उष्ण जल की द्रोणी (नौकाकृति टब) में बैठाकर स्वेदन करे इस विधि के प्रयोग से वस्ति में रक्त एकत्रित नहीं होता। यदि वस्ति में रक्त भर जाय तो क्षीरवृक्षकाथ का प्रयोग पुष्पनेत्र (उत्तरवस्ति) के द्वारा करना चाहिये ॥ ३३ ॥

विमर्श.—क्रियाभ्यासात्—क्रियाणामुष्णोदकस्वेदक्षीरवृक्षकषायभोजनादीनामभ्यसन क्रियाभ्यासस्तस्मात्। अश्मरीप्रमाणमुखमात्र. सेवनीयव्यपार्श्वग. शास्त्रविहितच्छेदस्तस्मात्। नि.स्यन्दो मूत्रं तेन परिवृद्ध शल्य तस्मादित्यर्थ.। एतदुक्त भवति-येन निःस्यन्देन मूत्रेण वृद्धेन सता शल्य परिवृद्धम्, तस्य शल्यापहरणेऽपि निःशेषापरिक्षुतत्वाद् भिन्नवस्तिर्जीवति। यथा तु शल्यस्येतिपदं परित्यज्य निस्यन्दपरिवृद्धत्वादित्येव पठति व्याख्यानयति च-नि.स्यन्दस्य मूत्रस्य परिवृद्धत्वेन, अत एव मूत्रवृद्धिकरयवागूगुडक्षीराद्यसौहित्यविधान, शास्त्रविहिताक्रमच्छेदे तु मूत्रनि.शेषक्षरणान्मरणमिति। (डल्हणः) यहाँ गयदास की उक्ति ही उचित प्रतीत होती है।

भवति चात्र—

क्षीरवृक्षकषायस्तु पुष्पनेत्रेण योजितः।
निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं वस्तिगतं च यत् ॥ ३४ ॥

जैसा कि—उत्तरवस्ति के द्वारा प्रयुक्त क्षीरवृक्ष कषाय अश्मरी और वस्तिगत रक्त को शीघ्र बाहर निकाल देता है।

मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुडसौहित्यं वितरत्; उद्धृत्य चैनं मधुघृताभ्यक्तव्रणं मूत्रविशोधनद्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेदुभयकालं त्रिरात्रं; त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेद्दशरात्रं मूत्रासृग्विशुद्ध्यर्थं व्रणक्लेदनार्थं च, दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जाङ्गलरसैरुपाचरेत्; ततो दशरात्रं चैनमप्रमत्तः स्वेदयेत् स्नेहेन द्रवस्वेदेन वा; क्षीरवृक्षकषायेण चास्य व्रणं प्रक्षालयेत्; रोध्रमधुकमञ्जिष्ठाप्रपौण्डरीककल्कैर्व्रणं प्रतिग्राहयेत्; एतेष्वेव हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यञ्जनमिति; सप्तरात्रान्न स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन विधिना दहेदग्निना, स्वमार्गप्रतिपन्ने चोत्तरवस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेन्मधुरकपायैरिति; यदृच्छया वा मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसाऽपहरेत्, एव चाशक्ये विदार्य वा नाडीं शस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत्। रूढव्रणश्चाङ्गनाश्वनगनागरथद्रुमान् नारोहेत वर्षं, नाप्सु प्लवेत, भुञ्जीत वा गुरु ॥ ३५ ॥

मूत्रमार्ग के शोधन के लिये रोगी को गुड-मिश्रित भात खिलाना चाहिये। (उष्ण जल की द्रोणी से) रोगी को बाहर निकाल कर, मधु और घृत व्रण पर लगावे। मूत्रशोधन द्रव्यों (तृणपचमूल, गोखरू आदि) के द्वारा सिद्ध, उष्ण घृतयुक्त यवागू दोनों समय तीन दिन पिलावे। तीन दिन के बाद मूत्र और रक्त की शुद्धि तथा व्रण को आर्द्र करने के लिये, पर्याप्त गुड मिश्रित दूध के साथ नरम भात थोडी मात्रा में दस दिन खिलावे। दस दिन के पश्चात् खट्टेफल (दाडिम आदि) तथा जगली जीवों के मांसरस का सेवन करावे। इसके बाद दस दिन तक सावधानी के साथ रोगी का स्नेह या द्रव स्वेद के द्वारा स्वेदन करे। क्षीरवृक्ष के क्वाथ से रोगी का व्रण धोवे।

लोध, मुलेठी, मजीठ और पुण्डेरी (सुगन्ध द्रव्य) के कल्क का लेप व्रण पर लगावे। इन द्रव्यों में हल्दी मिलाकर इनके कल्क से सिद्ध तेल या घृत की मालिश व्रण पर करे। वस्ति में रक्त एकत्रित होने पर उत्तरवस्ति के द्वारा उपचार करे। सात दिन के अनन्तर जब मूत्र अपने स्वाभाविक मार्ग से न निकले तब कही गई विधि के अनुसार व्रण को अग्नि से जलावे। मूत्र के स्वाभाविक मार्ग से निकलने

पर मधुर और कषाय वर्ग (काकोल्यादिगण तथा क्षीरवृक्षादि) के क्वाथ से उत्तरवस्ति, आस्थापन और अनुवासन के द्वारा उपचार करे। अपने आप मूत्रमार्ग में पहुँचकर रुकी हुई शुक्राश्मरी या शर्करा को मूत्रमार्ग के द्वारा निकाले। इस प्रकार न निकलने वाली अश्मरी को, मूत्रमार्ग में चीरा लगाकर बडिश शस्त्र (Hook) से निकाले। व्रण के भर जाने पर भी एक वर्ष तक स्त्रीसेवन न करे, घोडा, हाथी, पर्वत, रथ और वृक्ष पर न चढ़े, जल में न तैरे एवं भारी भोजन न करे ॥ ३७ ॥

मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदबस्तीन् परिहरेत्। तत्र मूत्रवहच्छेदान्मरण मूत्रपूर्ण बस्तेः, शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा, मुष्कस्रोतउपघाताद् ध्वजभङ्गः मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रप्रक्षरणं, सेवनीयोनिच्छेदाद्रुजः प्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥ ३६ ॥

मूत्रवह, शुक्रवह, मुष्कस्रोत, मूत्रप्रसेक (वस्तिमुख स्रोत), सेवनी, योनि, गुदा और बस्ति को शस्त्रकर्म करने के समय कटने से बचावे। मूत्रवह के कटने से मृत्यु होती है तथा बस्ति मूत्र से भर जाती है। शुक्रवह के कटने से मृत्यु अथवा नपुंसकता होती है। मुष्कस्रोत के कट जाने पर ध्वजभङ्ग हो जाता है। मूत्रप्रसेक (वस्तिमुख) में व्रण होने पर मूत्रस्राव होने लगता है। सेवनी और योनि के कट जाने पर वेदना की उत्पत्ति होती है। बस्ति और गुदाविद्ध का लक्षण पहले (मर्मनिर्देश में) कहा जा चुका है ॥ ३६ ॥

भवतश्चात्र—

मर्माण्यष्टावसंबुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम्।
व्यापादयेद्बहून्मर्त्यान् शस्त्रकर्मापटुर्भिषक् ॥ ३७ ॥

जैसा कि—शस्त्रकर्म को भलीभाँति न जानने वाला वैद्य मनुष्यों के स्रोतों में स्थित आठ प्रकार के मर्मों को न पहचान कर अनेक व्यक्तियों को मार डालता है ॥ ३७ ॥

सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम्।
मूत्रसेकं मूत्रवहं योनिर्बस्तिस्तथाऽष्टमः ॥ ३८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽश्मरीचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(१) सेवनी, (२) शुक्रवह, (३) मुष्कस्रोत (४) गुदा, (५) मूत्रप्रसेक, (६) मूत्रवह, (७) योनि और (८) बस्ति ये आठ मर्म हैं ॥ ३८ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर भगन्दरों की चिकित्साविधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

पञ्च भगन्दरा व्याख्याताः, तेष्वसाध्यः शम्बूकावर्तः शल्यनिमित्तश्चेति; शेषाः कृच्छ्रसाध्याः ॥ ३ ॥

पाँच प्रकार के भगन्दरों का वर्णन (निदान स्थान में) किया जा चुका है, इनमें शम्बूकावर्त (त्रिदोषज) और शल्य से उत्पन्न (क्षतज) भगन्दर असाध्य तथा शेष कष्टसाध्य होते हैं ॥ ३ ॥

तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडकं, पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यन्त्रयित्वा, भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा, ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण; अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्; आसाद्य वाऽग्निं क्षारं चेति; एतत् सामान्यं सर्वेषु ॥ ४ ॥

भगन्दर पिडका से पीडित, अपक्व पिडका वाले रोगी की चिकित्सा, अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त (द्विव्रणीय चिकित्सा में पठित) ग्यारह विधानों के द्वारा करनी चाहिए। पक्वपिडका वाले रोगी का स्नेहन कर अवगाह स्वेदन करे (उष्ण जल की द्रोणी में बिठाकर स्वेदन करना) और शय्या पर बिठावे। फिर अर्श चिकित्साविधि की भाँति (Lithotomy position) रोगी को बाँधकर पराचीन (बहिर्मुख) और अवाचीन (अन्तर्मुख) भगन्दर की परीक्षा करे तथा एषणीयन्त्र प्रवेश करके कुछ ऊँचा उठावे एवं आशयसहित शस्त्र से काट दे।

अन्तर्मुख वाले भगन्दर में उसी प्रकार भलीभाँति यन्त्र प्रवेश करके प्रवाहण करते हुए रोगी के भगन्दर-मुख की परीक्षा करे और एषणीयन्त्र डालकर चीरा लगावे। अथवा भगन्दर को देखकर अग्नि या क्षार कर्म का प्रयोग करे। सभी भगन्दरों के लिए यह सामान्य चिकित्साविधि है।

विशेषतस्तु—

नाड्यन्तरे व्रणान् कुर्याद्भिषक् तु शतपोनके।
ततस्तेषूपरूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत् ॥ ५ ॥
गतयोऽन्योन्यसम्बद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा।
नाडीरनभिसंबद्धा यश्छिनत्त्येकधा भिषक् ॥ ६ ॥
स कुर्याद्विवृतं जन्तोर्व्रणं गुदविदारणम्।
तस्य तद्विवृतं मार्गं विण्मूत्रमनुगच्छति ॥ ७ ॥
आटोपं गुदशूलं च करोति पवनो भृशम्।
तत्राधिगततन्त्रोऽपि भिषङ्मुह्येदसंशयम्।
तस्मान्न विवृतः कार्यो व्रणस्तु शतपोनके ॥ ८ ॥

विशेष चिकित्सा—सुशिक्षित वैद्य को शतपोनक (चलनी के समान छिद्रवाले) भगन्दर में नाडियों के मध्य में व्रण बनाना चाहिए और इन व्रणों के भर जाने पर शेष नाडी (Sinus) की चिकित्सा करनी चाहिए। एक दूसरे से सम्बन्धित नाडियों में अनेक प्रकार के व्रण बाहर से बनाना चाहिए।

जो वैद्य एक दूसरे से सम्बन्ध-रहित नाडी मे एक प्रकार का व्रण बनाता है वह रोगी के व्रण को फैला देता है तथा गुदा को विदीर्ण कर देता है। उस रोगी के फैले हुए व्रण-मार्ग से मल, मूत्र का स्राव होता है तथा प्रकुपित वायु आटोप और गुदा में अत्यन्त शूल उत्पन्न कर देता है। ऐसे अवसर पर शल्यशास्त्र निष्णात वैद्य भी निस्सन्देह घबडा जाता है। इसलिए शतपोनक भगन्दर में व्रण को चौड़ा नहीं करना चाहिए।

विमर्श—शतपोनक भगन्दर (Multiple fistula) चलनी के समान अनेक छोटे छोटे छिद्रों से युक्त होता है। अर्थात् इसमें छोटे-छोटे व्रण हो जाते है जिनसे निरन्तर झागदार स्वच्छ स्राव अधिक मात्रा में निकलता रहता है। सुश्रुत ने शल्यशास्त्र-निष्णात वैद्य को भी इसमें एक काल में सभी मार्गों के अन्दर शस्त्रक्रिया का निषेध करते हुए, सावधान किया है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान भी ऐसे अवसर पर यही सम्मति प्रदान करता है—'During the Operation the track must be examined carefully visually and with the probe, and all side tracks laid open freely and curetted, if they are very numerous deal with one side of the rectum alone and leave the other to be treated subsequently as it is useless to open the main track unless all its branches are also dealtwith. The same applies to horseshoe Fistula, and here a word of warning is necessary as to multiple division of the sphincter ani, which should not be cut in more than two places at one time'

The Science & Practice of Surgery.

व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा वै विजानता ॥ ९ ॥
अर्धलाङ्गलकश्छेदः कार्यो लाङ्गलकोऽपि वा।
सर्वतोभद्रको वाऽपि कार्यो गोतीर्थकोऽपि वा ॥१०॥

कुशल वैद्य इस अनेक छिद्र वाली व्याधि में अर्द्धलाङ्गलक (आधे हल की आकृति की भाँति) या लाङ्गलक (पूरे हल की आकृति की भाँति) व्रण भी बनावे। अथवा सर्वतोभद्रक (मण्डलाकार) या गोतीर्थक (गौ के खुर की आकृति का) व्रण बनावे ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—लाङ्गल हलमुच्यते, अर्द्धलाङ्गल इव अर्द्धलाङ्गलक। सर्वतोभद्रस्त्वासनविशेष पर्यङ्किकाकारो मण्डलाकारसदृशो वा। गोतीर्थको गच्छतो गोर्मूत्रगतिसदृश, अथवा गोतीर्थं गोयोनिरुच्यते, तदाकारो गोतीर्थक, अथवा गोतीर्थं निपान येन गाव. पिबन्ति, तत्खुराङ्कितवच्छेदविशेष कर्तव्य'। तथा च तन्त्रान्तरम्—'द्वाभ्या समाभ्या पार्श्वाभ्या छेदो लाङ्गलको मतः हस्वमेकतर यच्च सोऽर्द्धलाङ्गलक स्मृत। सेवनीं वर्जयित्वा तु चतुर्द्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रक छेदमाहुश्छेदविदो जना। पार्श्वागतेन छिद्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत्।'

सर्वतः स्रावमार्गास्तु दहेद्वैद्यस्तथाऽग्निना।
सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः॥
रुजास्रावापहं तत्र स्वेदमाशु प्रयोजयेत् ॥ ११ ॥

वैद्य स्रावमार्गों को चारों ओर से अग्नि के द्वारा जलावे। सुकुमार एव भीरु व्यक्ति का शतपोनक-भगन्दर कष्टसाध्य होता है। उसमे वेदना तथा स्राव को बन्द करने के लिए स्वेदन का प्रयोग शीघ्र करना चाहिए ॥ ११ ॥

स्वेदद्रव्यैर्यथोद्दिष्टैः कृशरापायसादिभिः ॥ १२ ॥
ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैर्लावाद्यैर्वाऽपि विष्किरैः।
वृक्षादनीमथैरण्डं बिल्वादिं च गणं तथा ॥ १३ ॥
कषायं सुकृतं कृत्वा स्नेहकुम्भे निषेचयेत्।
नाडीस्वेदेन तेनास्य तं व्रणं स्वेदयेद्भिषक् ॥ १४ ॥

पूर्वकथित स्वेदन द्रव्य, कृशरा, पायस, ग्राम्य, आनूप और उदक जीवों के मांस, लवा आदि या विष्किर (घोंसले मे रहने वाले) पक्षियों के मांस तथा वृक्षादनी (वन्दाक), एरण्ड एवं बिल्वादिगण (बृहत्पञ्चमूल) के द्रव्यों का भली-भांति क्वाथ बनाकर स्नेहलिप्त घड़े में रखे और नाडीस्वेद के द्वारा वैद्य रोगी के व्रण का स्वेदन करे ॥ १२-१४ ॥

तिलैरण्डातसीमाषयवगोधूमसर्षपान् ।
लवणान्यम्लवर्गं च स्थाल्यामेवोपसाधयेत् ॥
आतुरं स्वेदयेत्तेन तथा सिध्यति कुर्वतः ॥ १५ ॥

तिल, एरण्ड, अलसी, उड़द, जौ, गेहूँ, सरसों, पंचलवण, और अम्लवर्ग का थाली में (चौडे पात्र में) क्वाथ बनाकर रोगी का स्वेदन करे। इस क्रिया से रोग की निवृत्ति होती है ॥ १५ ॥

स्विन्नं च पाययेदेनं कुष्ठं च लवणानि च ॥ १६ ॥
वचाहिङ्ग्वजमोदं च समभागानि सर्पिषा।
मार्द्वीकेनाथवाऽम्लेन सुरासौवीरकेण वा ॥ १७ ॥
ततो मधुकतैलेन तस्य सिञ्चेद्भिषग्व्रणम्।
परिषिञ्चेद् गुदं चास्य तैलैर्वातरुजापहैः ॥ १८ ॥
विधिनाऽनेन विण्मूत्रं स्वमार्गमधिगच्छति।
अन्ये चोपद्रवास्तीव्राः सिध्यन्त्यत्र न संशयः ॥१९॥

स्वेदन के उपरान्त रोगी को, कूठ, पंचलवण, वच, हींग और अजवायन समभाग में लेकर घी के साथ पिलावे। द्राक्षामद्य, काञ्जी, सुरा अथवा सौवीरक या मुलेठी के कल्क से सिद्ध तेल के द्वारा उस रोगी के व्रण का परिषेक करे। वातवेदना को शमन करने वाले (वातव्याधि में पठित) तेलों के द्वारा रोगी के गुदा का परिषेक करे। इन विधानों के द्वारा मल, मूत्र की प्रवृत्ति स्वाभाविक मार्ग से होने लगती है और अन्य भयकर उपद्रव (आध्मान-गुदभ्रंश आदि) निस्सन्देह शान्त हो जाते हैं ॥ १६-१९ ॥

शतपोनक आख्यात उष्ट्रग्रीवे क्रियां शृणु।
अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत् ॥ २० ॥
पूतिमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः।
अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः पिष्टैः प्रलेपयेत् ॥ २१ ॥
बन्धं ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं तु सर्पिषा।
तृतीये दिवसे मुक्त्वा यथास्वं शोधयेद्भिषक् ॥
ततः शुद्धं विदित्वा च रोपयेत्तु यथाक्रमम् ॥ २२ ॥

शतपोनक का वर्णन हो चुका, अब उष्ट्रग्रीव भगन्दर की क्रिया विधि सुनो—उष्ट्रग्रीव भगन्दर में एषण (Probing)

करे और व्रण में चीरा लगाकर क्षार लगावे। उसमें सड़े हुए दुर्गन्धित मांस को निकालने के लिए अग्निकर्म श्रेष्ठ नहीं होता। उष्ट्रग्रीव भगन्दर में तिलों को पीसकर घृत मिला, लेप करना चाहिये। उसके बाद पट्टी बाँध देनी चाहिए और घी से परिषेक करना चाहिए। वैद्य तीसरे दिन पट्टी खोलकर पित्त और ताप को दूर करने वाली औषधियों के द्वारा व्रण को शुद्ध करे और व्रण के शुद्ध होने पर जब रोपण की अवस्था प्राप्त हो तब रोपण करे ॥ २०-२२ ॥

उत्कृत्यास्रावमार्गांस्तु परिस्रावी बुद्धिमान् ॥ २३ ॥
क्षारेण वा स्रावगति दहेद्घृततप्तेन वा।
सुखोष्णेनाणुतैलेन सेचयेद् गुदमण्डलम् ॥ २४ ॥
उपनाहाः प्रदेहाश्च मूत्रक्षारसमन्विताः।
वामनीयौषधैः कार्याः परिषेकाश्च मात्रया ॥ २५ ॥
मृदुभूतं विदित्वैनमल्पस्रावरुगन्वितम्।
गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात् खर्जूरपत्रकम् ॥ २६ ॥
चन्द्रार्धं चन्द्रचक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम्।
छित्त्वाऽग्निना दहेत् सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः ॥
ततः संशोधनैरेवं मृदुपूर्वैर्विशोधयेत् ॥ २७ ॥

बुद्धिमान वैद्य परिस्रावी भगन्दर में स्रावमार्गों को शस्त्र से काटकर क्षार या अग्नि से स्रावमार्ग को जलावे। सुखोष्ण अणुतैल से गुदाचक्र का सेक करे। गोमूत्र तथा क्षारयुक्त उपनाह (पुल्टिस) पुनः प्रलेप लगावे। वमन कराने वाली (मदनफल आदि) औषधियों के क्वाथ से थोड़ा परिषेक करे। इसमें स्राव तथा पीड़ा की न्यूनता एवं कोमलता होने पर स्रावमार्ग का (एषणीसे) अन्वेषण करके शस्त्र से खजूर के पत्ते की आकृति का अर्धचन्द्राकार, चन्द्रमण्डल तुल्य, सूचीमुख अवाङ्मुख चीरा लगावे। शस्त्र से चीरा लगाने के बाद क्षार या अग्नि से भली भाति पुनः जलावे। इसके बाद प्रथम संशोधन द्रव्यों के द्वारा मृदु संशोधन देकर (कोष्ठ की परीक्षा करके) तीक्ष्ण विरेचन का प्रयोग करे ॥

विमर्श—तत्र सर्वतः स्रोतुं शीलं यस्य स परिस्रावी सर्वतः स्रावमुखः। खर्जूरपत्रमिव पत्रं यस्य तत् खर्जूरपत्रकम्, तच्च मध्यनाडीच्छेदस्य पार्श्वद्वयस्थाना मुखाना निर्वक्त्रं छेदेन पक्षिद्वयेनसमानं भवति। अन्तर्मुखे स्थूलमूलेऽपि तेन सूचीमुखः, तदेव अवाङ्मुखं नवोमुखम्। ततः पूर्वं मृदु शोधयित्वा विज्ञातकोष्ठस्य तीक्ष्णं शोधनम्।

बहिरन्तर्मुखस्यापि शिशोर्यस्य भगन्दरः ॥ २८ ॥
तस्याहितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचारणम्।
यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्यावचारयेत् ॥ २९ ॥

बालक के बहिर्मुख तथा अन्तर्मुख भगन्दर में भी विरेचन, अग्निकर्म, शस्त्र और क्षार का प्रयोग हानिकर होता है। इसमें मृदु और तीक्ष्ण अर्थात् न तो अधिक तीक्ष्ण और न अधिक मृदु औषधियों के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २८-२९ ॥

आरग्वधनिशाकालाचूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
अपवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥
योगोऽयं नाशयत्याशु गतिं मेघमिवानिलः ॥ ३० ॥

अमलतास, हल्दी और तगर का चूर्ण, मधु तथा घृत में मिलाकर सूत की मोटी बत्ती में लगावे तथा व्रण में प्रवेश करे। यह व्रणों के शोधन के लिए हितकर है। यह योग (वर्ति) गति (स्रावमार्ग) को उसी प्रकार शीघ्र नष्ट करता है जिस प्रकार वायु बादलों का नाश करता है ॥ ३० ॥

आगन्तुजे भिषङ्नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः ॥ ३१ ॥
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया।
दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः।
कृमिघ्नं च विधिं कुर्याच्छल्यानयनमेव च ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् वैद्य आगन्तुक भगन्दर में नाडी (स्रावमार्ग) को शस्त्र द्वारा यत्नपूर्वक काटकर, जामुन के फल के समान अग्निवर्ण शलाकायन्त्र अथवा तप्तशलाका से पूर्वकथित विधि के अनुसार उस व्रण को जलावे। व्रण के अन्दर से शल्य निकालने का उपाय तथा कृमिनाशक क्रिया करे ॥ ३१-३२ ॥

प्रत्याख्यायैष चारभ्यो वर्ज्यश्चापि त्रिदोषजः।
एतत् कर्म समाख्यातं सर्वेषामनुपूर्वशः ॥ ३३ ॥

यह (आगन्तुक भगन्दर) असाध्य है ऐसा समझ कर इसकी चिकित्सा प्रारम्भ करे तथा त्रिदोषज भगन्दर को असाध्य समझ कर त्याग दे। सभी भगन्दरों के लिए क्रमशः इस चिकित्सा विधि का वर्णन किया गया है ॥ ३३ ॥

एषां तु शस्त्रपतनाद्वेदना यत्र जायते।
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

इनमें शस्त्रकर्म के कारण जहाँ वेदना उत्पन्न हो वहाँ उष्ण अणुतैल के द्वारा परिषेक करना हितकर (श्रेष्ठ) होता है ॥ ३४ ॥

वातघ्नौषधसम्पूर्णां स्थालीं छिद्रशरावि काम् ॥ ३५ ॥
स्नेहाभ्यक्तगुदस्तप्तामध्यासीत सवाष्पिकाम्।
नाड्या वाऽस्याहरेत् स्वेदं शयानस्य रुजापहम्।
उष्णोदकेऽवगाहो वा तथा शाम्यति वेदना ॥ ३६ ॥

वातघ्न औषधियों (भद्रदार्वादि) के क्वाथ से पूर्ण, छिद्रयुक्त शराव से ढकी तथा वाष्प से भरी हुई, तप्त थाली पर गुदा में स्नेह लगाकर रोगी को बैठावे। अथवा रोगी को सुलाकर वेदना शान्त करने वाले नाडीस्वेद से स्वेदन करे। अथवा उष्ण जल में बिठाने से भी वेदना की शान्ति होती है ॥ ३५-३६ ॥

कदलीमृगलोपाकप्रियकाजिनसंभृतान्।
कारयेदुपनाहांश्च शाल्वणादीन् विचक्षणः ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् वैद्य कदलीमृग (बृहत्तमविडालस्तनो व्याघ्राकारो विलेशयः) लोपाक (लोमड़ी) और प्रियक (अजगरप्रायः स्थलो दीर्घः) के चर्म को एकत्रित कर उनके द्वारा पुल्टिस बाँधे तथा शाल्वण (मांसमिश्रित) स्वेद करे ॥ ३७ ॥

कटुत्रिकं वचाहिङ्गुलवणान्यथ दीप्यकम्।
पाययेच्चाम्लकौलत्थसुरासौवीरकादिभिः ॥ ३८ ॥

त्रिकटु, वच, हींग, पंचलवण और अजवायन का चूर्ण

कांजी, कुलथी के क्वाथ, सुरा तथा सौवीरक आदि के साथ पिलावे ॥ ३८ ॥

ज्योतिष्मतीलाङ्गलकीश्यामादन्तीत्रिवृत्तिलाः ।
कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका ।
कासीसं काञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते ॥ ३९ ॥

मालकांगनी, कलिहारी, काला निशोथ, दन्ती, श्वेत-निशोथ, तिल, कूठ, सौंफ, श्वेतदूर्वा, लोध्र, श्वेतपुष्पा अपराजिता, कासीस, ककुष्ठ और यवतिक्ता यह वर्ग (भगन्दर में) शोधन के लिये उत्तम है ॥ ३९ ॥

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मञ्जिष्ठा पयसा सह ।
उत्सादनं भवेदेतत् सैन्धवक्षौद्रसंयुतम् ॥ ४० ॥

श्वेतनिशोथ, तिल, दन्ती तथा मजीठ का दूध के साथ, सेन्धानमक और मधु मिलाकर लेप करने से निम्न व्रण भरता है ॥ ४० ॥

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठानिम्बपल्लवाः ।
त्रिवृत्तेजोवतीदन्तीकल्को नाडीव्रणापहः ॥ ४१ ॥

रसोत, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, नीम का पत्ता, श्वेत-निशोथ, तेजवल और दन्ती का कल्क नाडीव्रण (Sinus) का नाश करता है ॥ ४१ ॥

कुष्ठं त्रिवृत्तिला दन्ती माक्षिकः सैन्धवं मधु ।
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद् व्रणशोधनम् ॥४२॥

कुष्ठ, श्वेतनिशोथ, तिल, दन्ती, पिप्पल, सेन्धानमक, मधु, हल्दी, त्रिफला और तूतिया व्रणशोधन के लिए हितकर होते हैं ॥ ४२ ॥

माक्षिको मधुकं रोध्रं कुष्ठमेला हरेणवः ॥ ४३ ॥
समङ्गा धातकी चैव सारिवा रजनीद्वयम् ।
प्रियङ्गवः सर्जरसः पद्मकं पद्मकेसरम् ॥ ४४ ॥
सुधा वचा लाङ्गलकी मधूच्छिष्टं ससैन्धवम् ।
एतत् संभृत्य संभारं तैलं धीरो विपाचयेत् ॥ ४५ ॥
एतद्धि गण्डमालासु मण्डलेष्वथ मेहिषु ।
रोपणार्थं हितं तैलं भगन्दरविनाशनम् ॥ ४६ ॥

पिप्पल, मुलेठी, लोध्र, कूठ, इलायची, रेणुकाबीज, मजीठ, धाय के फूल, सारिवा, हल्दी, दारुहल्दी फूलप्रियङ्गु, राल, पद्माख, कमलकेशर, सेहुण्ड, वच, कलिहारी, मोम और सेन्धानमक इन द्रव्यों को पूर्ण रूप से एकत्रित कर इनके द्वारा धैर्यशील वैद्य तैल पाक करे। यह तैल गण्डमाला, मण्डल तथा प्रमेहजन्य व्रण के रोपण के लिए हितकर एव भगन्दरनाशक है ॥ ४३-४६ ॥

न्यग्रोधादिगणश्चैव हितः शोधनरोपणे ।
तैलं घृतं वा तत्पक्वं भगन्दरविनाशनम् ॥ ४७ ॥

न्यग्रोधादिगण के द्रव्य, शोधन-रोपण के लिए हितकर तथा इनके कल्क से सिद्ध तैल या घृत भगन्दरनाशक होता है ॥ ४७ ॥

त्रिवृद्दन्तीहरिद्राऽर्कमूलं लोहाश्वमारकौ ।
विडङ्गसारं त्रिफला स्नुह्यर्कपयसी मधु ॥ ४८ ॥
मधूच्छिष्टसमायुक्तैस्तैलमेतैर्विपाचयेत् ।
भगन्दरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः ॥ ४९ ॥

श्वेत निशोथ, दन्ती, हल्दी, मदार की जड़, लोह (अगर), कनेर की जड, विडङ्ग, त्रिफला, सेहुण्ड का दूध, मदार का दूध, मधु और मोम के द्वारा तैल पाक करे। इस तैल का प्रयोग विशेष रूप से भगन्दर के नाश के लिए करना चाहिए॥

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलपूं हयमारकम् ।
सुधां वचां लाङ्गलकीं सप्तपर्णं सुवर्चिकाम् ॥ ५० ॥
ज्योतिष्मतीं च सम्भृत्य तैलं धीरो विपाचयेत् ।
एतद्धि स्यन्दनं तैलं भृशं दद्याद्भगन्दरे ॥ ५१ ॥
शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा ।
द्विव्रणीयमवेक्षेत व्रणावस्थासु बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

चित्रक, मदार, श्वेत निशोथ, पाठा, कठगूलर, कनेर, सेहुण्ड, वच, कलिहारी, सतवन, सज्जीखार और मालकांगनी को एकत्रित कर धैर्यवान् वैद्य तैल पाक करे। यह तैल दोषों को बाहर निकालने वाला है। इसका प्रयोग भगन्दर में प्रचुर परिमाण में करना चाहिये। यह व्रण का शोधन रोपण करता है एवं व्रणस्थान को त्वचा का रग प्रदान करता है। बुद्धिमान वैद्य व्रण की दशा के अनुसार द्विव्रणीय-चिकित्सा में पठित विधि का प्रयोग करे ॥ ५०-५२ ॥

छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयन्त्रस्य यन्त्रवित् ।
ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्धेन्दुसन्निभम् ॥ ५३ ॥

यन्त्र प्रयोग को जानने वाला वैद्य अर्शयन्त्र के ओष्ठ को छिद्र से ऊपर पकडकर अर्धचन्द्राकार रूप में भगन्दर के अन्दर प्रवेश करे ॥ ५३ ॥

व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च ।
संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहिताया चिकित्सास्थाने भगन्दरचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

भगन्दर व्रण के भर जाने पर भी रोगी को व्यायाम, मैथुन, क्रोध, घोडे आदि की सवारी और भारी भोजन एक वर्ष तक त्याग देना चाहिये ॥ ५४ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाया भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर कुष्ठ रोग की चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

विरुद्धाध्यशनासात्म्यवेगविघातैः स्नेहादीनां चाय-

थारम्भै. पापकियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति ॥ ३ ॥

विरुद्ध भोजन, अध्यशन, असात्म्यसेवन, वेगावरोध, स्नेह स्वेद आदि का क्रम विरुद्ध प्रयोग, पापकर्म तथा पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप त्वचा के रोग उत्पन्न होते हैं ॥३॥

विमर्शः—सयोग, देश, काल और मात्रा आदि के विरुद्ध भोजन करना विरुद्ध भोजन कहलाता है, जैसे मछली और दूध का सेवन संयोग विरुद्ध भोजन है। पहले खाये हुए अन्न के परिपाक होने से पूर्व ही पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है। असात्म्य सेवन का तात्पर्य प्रकृति के विरुद्ध किसी पदार्थ के सेवन से है। वेगावरोध में मल, मूत्र आदि के वेगों को रोकने की गणना आती है। कुष्ठ एक भयङ्कर व्याधि है। आयुर्वेद ने मिथ्याहार-विहार के अतिरिक्त पाप एवं प्राक्तन कर्म को भी कुष्ठ का कारण माना है और ऐसा मानना आयुर्वेद शास्त्र की अपनी विशेषता है। कर्मज व्याधि का लक्षण करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—'यथाशास्त्र तु निर्णीतो यथाव्याधिचिकित्सित । न शम याति यो व्याधिः स ज्ञेय कर्मजो बुधै ।' कर्मज व्याधि का नाश भी आचार्यों ने भोग के द्वारा ही माना है—'कर्मक्षयात्कर्मकृता दोषजा स्वस्वभेषजै । कर्मदोषोद्भवा यान्ति कर्मदोषक्षयात् क्षयम् ।'

तत्र त्वग्दोषी मांसवसादुग्धदधितैलकुलत्थमाषनिष्पावेक्षुपिष्टविकाराम्लविरुद्धाध्यशनाजीर्णविदाह्यभिष्यन्दीनि दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत् ॥ ४ ॥

त्वचा रोग से पीडित व्यक्ति को मांस, वसा, दूध, दही, तेल, कुलथी, उडद, निष्पाव (राजशिम्बी), गन्ने के रस से बने पदार्थ, पिट्टी (उड़द आदि) से बनी वस्तुएँ, अम्लद्रव्य विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्णावस्था में भोजन, विदाही और अभिष्यन्दि पदार्थों का सेवन तथा दिन में सोना एवं मैथुन का परित्याग कर देना चाहिये।

विमर्श.—विदाही-'द्रव्यस्वभावाद्वथ गौरवाद्वा चिरेण पाक जठराग्नियोगात् । पित्तप्रकोप विदहत्करोति तदन्नपान कथित विदाहि ॥' अभिष्यन्दि—'पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्य रुद्ध्वा रसवहाः सिरा । धत्ते यद् गौरव तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोरदूषश्यामाकोद्दालकादीननवान् भुञ्जीत मुद्गाढक्योरन्यतरस्य यूषेण सूपेन वा निम्बपत्रारुष्करञ्जामिश्रेण, मण्डूकपर्ण्यवल्गुजाटरूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिःसिद्धैः सर्षपतैलसिद्धैर्वा, तिक्तवर्गेण वाऽभिहितेन, मांससात्म्याय वा जाङ्गलमांसमेदस्क वितरेत्, तैल वज्रकमभ्यङ्गार्थे, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, पानपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषायम्, इत्येष आहाराचारविभाग ॥ ५ ॥

पुराने शालि, साठी, जौ, गेहूँ, कोद्रव, सावां और अरण्य कोद्रव का भोजन, मूंग या अरहर किसी एक के यूष (पतली दाल) अथवा नीम के पत्ते और भिलावे के सूप (शाक का शोरवा) के साथ करना चाहिये। अथवा मण्डूकपर्णी, (ब्राह्मी भेद), चाकुची, अड़रूष और रूपिका पुष्प (मदार का फूल) को घृत या सरसों के तेल में पकाकर अथवा पूर्वकथित तिक्त वर्ग (पनवाड़, चाकुची, पटोल आदि) के साथ पुराने शालि आदि का भोजन करना चाहिये। मांसाहारी रोगियों को जांगल जीवों का मेदरहित मास भोजन के लिए देना चाहिये। मालिश के लिए वज्रक तैल (सप्तपर्ण, करञ्ज आदि से सिद्ध) का प्रयोग करना चाहिये। आरग्वधादि गण के कषाय (चूर्ण कल्क-स्वरस आदि) का प्रयोग व्रण के उत्सादन (निम्न व्रण को भरने के लिए) करना चाहिये। पान, परिषेक और स्नान में खदिर कषाय का प्रयोग करना चाहिये। (कुष्ठ रोग के लिए) यह आहार (आहार में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य और रसों का विभाजन) तथा आचार की व्यवस्था है ॥ ५ ॥

तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत। तत्र त्वक्संप्राप्ते शोधनालेपनानि, शोणितप्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनानि, मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनारिष्टमन्थप्राशाः, चतुर्थकर्मगुणप्राप्तं याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च, तत्र संशोधनाच्छोणितावसेचनाच्चोर्ध्वं भल्लातशिलाजतुधातुमाक्षीकगुग्गुल्वगुरुतुवरकखदिरासनायस्कृतिविधानमासेवेत, पञ्चमं नैव चोपक्रमेत् ॥ ६ ॥

कुष्ठ रोग के पूर्वरूपों में दोनों मार्गों के द्वारा (वमन तथा विरेचन) सशोधन का प्रयोग करे। त्वचागत (रसगत) कुष्ठ में शोधन द्रव्यों का लेप करे। रक्तगत में सशोधन, आलेपन, कषायपान तथा रक्तमोक्षण करे। मांसगत में शोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, अरिष्ट (आसवसुरा आदि), मन्थ (शीतल जल में औषधि का चूर्ण डाल मथकर बनाया गया पेय) और प्राश (अवलेह) का सेवन करे। चतुर्थकर्मगुणप्राप्त अर्थात् चतुर्थ धातु मेदगत कुष्ठ, आत्मवान (सम्यक् आहाराचार करने वाला) और सविधानयुक्त (प्रभूत उपकरण वाले) व्यक्ति का याप्य होता है। इनमें सशोधन और रक्तमोक्षण के पश्चात् भिलावा, शिलाजतु, स्वर्णमाक्षिक, गुग्गुलु, अगर, तुवरक (सौराष्ट्री मृत्तिका), खदिर, असन (विजयसार) और अयस्कृति विधान (महा कुष्ठ अध्याय में पठित) का सेवन करना चाहिये। पांचवीं अर्थात् अस्थि आदि गत धातुओं के कुष्ठ की चिकित्सा असाध्य समझकर त्याग देनी चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत्। मेषशृङ्गीश्वदंष्ट्राशार्ङ्गेष्टागुडूचीद्विपञ्चमूलीसिद्धं तैलं घृतं वा वातकुष्ठिनां पानाभ्यङ्गयोर्विदध्यात्, धवाश्वकर्णककुभपलाशपिचुमर्दपर्पटकमधुकरोध्रसमङ्गासिद्धं सर्पिः पित्तकुष्ठिनां, प्रियालशालारग्वधनिम्बसप्तपर्णचित्रकमरिचवचाकुष्ठसिद्धं श्लेष्मकुष्ठिनां, भल्लातकाभयाविडङ्गसिद्धं वा, सर्वेषां तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति ॥ ७ ॥

कुष्ठ रोगी की चिकित्सा प्रथम स्नेहपानविधि (वमन-विरेचन आदि संशोधन के पश्चात्) के द्वारा करनी चाहिये। मेढ़ासिंगी, गोखरू, काकजंघा, गिलोय और दशमूल से सिद्ध

तैल या घृत का प्रयोग वातज कुष्ठ के रोगी के पान और अभ्यङ्ग में करना चाहिये। धव, अश्वकर्ण (शालवृक्ष), अर्जुन, पलाश, नीम, पित्तपापडा, मुलेठी, लोध्र और मजीठ से सिद्ध घृत का प्रयोग पित्तज कुष्ठ के रोगी के लिए करना चाहिये। चिरौंजी, शालवृक्ष, अमलतास, नीम, मतवन, चित्रक, मरिच, वच और कूठ से सिद्ध (घृत) अथवा भिलावा, हरड़ और विडङ्ग से सिद्ध (घृत) का प्रयोग कफज कुष्ठ में करना चाहिये। सभी कुष्ठों में तुवरक (सौराष्ट्र मृत्तिका) से सिद्ध तैल अथवा भल्लातक तैल का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥

सप्तपर्णारग्वधातिविषेक्षुरपाठाकटुरोहिण्यमृतात्रिफलापटोलपिचुमर्दपर्पटकदुरालभात्रायमाणामुस्ताचन्दनपद्मकहरिद्रोपकुल्याविशालामूर्वाशतावरीमारिवेन्द्रयवाटरूपकपडङ्ग्रन्थामधुकभूनिम्बगृष्टिका इति समभागः कल्कः स्यात्, कल्काच्चतुर्गुणं सर्पिः प्रक्षिप्य तद्द्विगुणो धात्रीफलरसस्तच्चतुर्गुणा आपस्तदैकध्यं समालोड्य विपचेत्, एतन्महातिक्तक नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वररक्तपित्तहृद्रोगोन्मादापस्मारगुल्मपिडकासृग्दरगलगण्डगण्डमालाश्लीपदपाण्डुरोगविसर्पपाण्ड्यकण्डूपामादीञ्छमयेदिति ॥ ८ ॥

मतवन, अमलतास, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी, गिलोय, त्रिफला, परवल की पत्ती नीम, पित्तपापडा, यवासा, त्रायमाणा, नागरमोथा, चन्दन, पद्माख, हल्दी, पिप्पली, इन्द्रायण, मूर्वा, शतावर, अनन्तमूल, इन्द्रयव, अडूषा, वच, मुलेठी, चिरायता और विदारीकन्द को समान भाग में लेकर कल्क बनावे, कल्क से चौगुना घृत और घृत से दुगना आँवले का रस तथा आँवले के रस से चौगुना जल लेकर, सभी द्रव्यों को एक साथ मिलाकर पकावे। यह तिक्तक नामक घृत कुष्ठ, विषमज्वर, रक्तपित्त, हृद्रोग, उन्माद, अपस्मार, गुल्म, पिडका, रक्तप्रदर, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, पाण्डुरोग, विसर्प, नपुंसकता, कण्डू और पामा आदि को शान्त करता है ॥ ८ ॥

त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूपककटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणा पर्पटकश्वेतेषां द्विपलिकान् भागाञ्जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिरातविक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, एतत्तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्पपाण्ड्यशमनमूर्ध्वजत्रुगतरोगघ्नं चेति ॥ ९ ॥

त्रिफला, परवल की पत्ती, नीम, अडूषा, कुटकी, यवासा, त्रायमाणा और पित्तपापडा दो दो पल लेकर एक द्रोण जल में चतुर्थांश अवशेष रहने तक क्वाथ किया जावे और आधा आधा पल त्रायमाणा, नागरमोथा, इन्द्रयव, चन्दन, चिरायता और पिप्पली पीसकर कल्क बना (चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ के साथ) एक प्रस्थ घृत का पाक किया जावे। यह तिक्तक नामक घृत कुष्ठ, विषमज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणी दोष, शोथ, पाण्डुरोग, विसर्प और नपुंसकता को शमन तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का नाश करता है ॥ ९ ॥

अतोऽन्यतमेन घृतेन स्निग्धस्विन्नस्यैकां द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा सिरा विध्येत्; मण्डलानि चोत्सन्नान्यवलिखेद्भीक्ष्णं, प्रच्छयेद्वा, समुद्रफेनशाकगोजीकाकोदुम्बरिकापत्रैर्वाऽवघृष्यालेपयेल्लाक्षासर्जरसरसाञ्जनप्रपुन्नाडावल्गुजतेजोवत्यश्वमारकार्ककुटजारेवतमूलकल्कैर्मूत्रपिष्टैः पित्तपिष्टैर्वा, स्वर्जिकातुत्थकासीसविडङ्गागारधूमचित्रककटुकसुधाहरिद्रासैन्धवकल्कैर्वा, एतान्येवावाप्य क्षारकल्पेन निःस्रुते पालाशे क्षारे ततो विपाच्य फाणितमिव संजातमवतार्य लेपयेत्, ज्योतिष्कफललाक्षामरिचपिप्पलीसुमनःपत्रैर्वा, हरितालमनःशिलार्कक्षीरतिलशिग्रुमरिचकल्कैर्वा, स्वर्जिकाकुष्ठतुत्थकुटजचित्रकविडङ्गमरिचरोध्रमनःशिलाकल्कैर्वा, हरीतकीकरञ्जिकाविडङ्गसिद्धार्थकलवणरोचनावल्गुजहरिद्राकल्कैर्वा ॥ १० ॥

इनमें से किसी एक घृत के द्वारा रोगी का स्नेहन कर स्वेदन करे और एक, दो, तीन, चार या पाँच शिराओं का वेधन करे तथा उभरे हुये मण्डलों को अनेक बार खुरचे या पाछ लगावे। (१) अथवा समुद्रफेन, सिहोर, गोजिह्वा और कठगूलर आदि के पत्तों से रगड कर, लाख, राल, रसोन, चकवड के बीज, वाकुची, तेजबल, कनेर की जड, मदार, कुटज और अमलतास की जड को गोमूत्र या गोपित्त में पीस कर लेप लगावे। (२) अथवा सज्जीखार, तूतिया, कासीस, विडङ्ग, गृहधूम, चित्रक, कुटकी, सेहुण्ड, हल्दी और सेन्धानमक के कल्क का लेप करे। (३) इन्हीं द्रव्यों को क्षारनिर्माण-विधि के अनुसार जलाकर जल में छान लिया जावे और छने हुये पलाशक्षार के साथ पकाया जावे। जब फाणित (राब) के समान पाक हो जाय, अग्नि से उतार कर लेप लगाया जावे। (४) अथवा मालकांगनी के फल, लाख, मरिच, पिप्पल और चमेली के पत्ते या (५) हरिताल, मनःशिला, मदार का दूध, तिल, सहिजन के बीज और मरिच के कल्क का लेप करे। (६) अथवा सज्जीखार, कूठ, तूतिया, कुडे की छाल, चित्रक, विडङ्ग, मरिच और मैनशिल के कल्क या (७) हरीतकी, करञ्ज, विडङ्ग, पीली सरसों, सेन्धानमक, गोरोचन, वाकुची और हल्दी के कल्क (गोमूत्र या गोपित्त में पिसा हुआ) का लेप करे ॥ १० ॥

सर्वे कुष्ठापहाः सिद्धा लेपाः सप्त प्रकीर्तिताः।
वैशेषिकानतस्तूर्ध्वं दद्रूश्वित्रेषु मे शृणु ॥ ११ ॥

सभी प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करने वाले सात सिद्ध (निश्चित फल देने वाले) लेपों का वर्णन किया गया है। इसके आगे दद्रु और श्वित्र में प्रयोग किये जाने वाले विशेष लेपों को मुझसे सुनो ॥ ११ ॥

लाक्षाकुष्ठं सर्षपाः श्रीनिकेत
रात्रिर्व्योषं चक्रमर्दस्य बीजम्।

कृत्वैकस्थं तक्रपिष्टः प्रलेपो
दद्रूपक्तो मूलकाद् बीजयुक्तः ॥ १२ ॥

लाख, कूट, मरमों, श्रीनिकेत (विरोजा), हल्दी, सोंठ, मरिच, पिप्पल, चक्रवड के बीज और मूली के बीज को एकत्र मट्ठे में पीसकर दद्रु पर लेप लगाना चाहिये ॥१२॥

मिन्धूद्भूतं चक्रमर्दस्य बीज-
मिक्षूद्भूतं केशरं नार्च्यशैलम् ।
पिष्टो लेपोऽयं कपित्थाम्लसेन
दद्रून्तूर्णं नाशयत्येष योगः ॥ १३ ॥

सेन्धानमक, चक्रवड का बीज, गुड, नागकेशर और तार्क्यशैल (रसौत) को कैथ के रस में पीस कर लेप लगाने से यह योग दद्रु का शीघ्र नाश करता है ॥ १३ ॥

हेमक्षीरी व्याधिघातः शिरीषो
निम्बः सर्जो वत्सकः साजकर्णः ।
शीघ्रं तीव्रा नाशयन्तीह दद्रूः
स्नानालेपोद्वर्षणेषु प्रयुक्ताः ॥ १४ ॥

स्वर्णक्षीरी, अमलतास, सिरीष, नीम, राल, इन्द्रजौ और अजकर्ण (शालवृक्ष भेद) का स्नान, लेप तथा उबटन में प्रयोग करने से तीव्र दद्रु का शीघ्र नाश होता है ॥ १४ ॥

भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं
दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलप्वाः ।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णं सुखोष्णं
स्फोटाच्छित्रे पुण्डरीके च कुर्यात् ॥१५॥

बड़ी कण्टकारी की जड़ तथा छोटी कण्टकारी की जड समान भाग में लेकर कूट ली जावे। इस कल्क से सिद्ध सुखोष्ण जल का पान करने से श्वित्र और पुण्डरीक कुष्ठ में फफोले पड़ते हैं ॥ १५ ॥

द्वीपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा
भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः ।
पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेको निहन्ति ॥ १६ ॥

चीता या हाथी के खाल को जलाकर तेल के साथ फूटे हुये फफोले पर लगावे। अमलतास वृक्ष के द्वारा निर्मित क्षार के साथ पूतिकीट को मिलाकर लगाना श्वित्र-नाश के लिये श्रेष्ठ योग है ॥ १६ ॥

विमर्श —पूतिः कीटः श्रस्वादौ वर्षाकाले कर्दमेषु 'नलिनी'ति प्रसिद्ध, पूर्वदेशे 'पुण्डालिके'ति ख्यात चारग्वधक्षारेण सहितो मिश्रितः। राजवृक्ष आरग्वध । एक श्रेष्ठ । बंगाल में पूतिकीट को 'गाँधी पोका' संज्ञा प्राप्त है। किसी किसी टीकाकार ने 'पूतिकीट' के नाम से 'खटमल' का ग्रहण किया है।

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा
वैभीतकं तैलमथ द्वितीयम् ।
एतत् समस्तं मृदितं प्रलेपा-
च्छित्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम् ॥१७॥

काले साँप को भली भाँति जला कर बनाई गई राख (काली राख) और बहेड़े के तेल को मिलाकर लेप लगाने से सभी प्रकार के श्वित्र शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ १७ ॥

अध्यर्धतोये सुमतिस्रुतस्य
क्षारस्य कल्पेन तु सप्तकृत्वः ।
तैलं शृतं तेन चतुर्गुणेन
श्वित्रापहं भ्रक्षणमेतदग्र्यम् ॥ १८ ॥

(काले साँप को जला कर बनाई गई श्वेत राख) डेढ गुना जल में क्षार निर्माण विधि के अनुसार सात बार भली-भाँति छान लिया जावे। इस क्षार-जल को चौगुना लेकर इसके द्वारा तैल-पाक किया जावे। श्वित्र को नष्ट करने के लिये यह उत्तम लेप है ॥ १८ ॥

विमर्श.—कृष्णसर्पो यदा दह्यमानोऽतिकृष्णत्वं गच्छति, तदा तच्चूर्णं मसीत्युच्यते, न त्वतिदह्यमानो यदा शुक्लत्वं याति तदा क्षार इत्युच्यते । (डल्हणः)

घृतेन युक्तं प्रपुनाडबीजं
कुष्ठं च यष्टीमधुकं च पिष्ट्वा ।
श्वेताय दद्याद् गृहकुक्कुटाय
चतुर्थभक्ताय बुभुक्षिताय ॥ १९ ॥
तस्योपसंगृह्य च तत् पुरीष-
मुत्पाचितं सर्वत एव लिम्पेत् ।
अभ्यन्तरं मासमिमं प्रयोगं
प्रयोजयेच्छित्रमथो निहन्ति ॥ २० ॥

चक्रवड के बीज, कूठ और मुलेठी को पीसकर घृत मिलावे, इसे सफेद रंग के घरेलू मुर्गे को एक दिन भूखा रख कर दूसरे दिन संध्या समय खिलावे। इस मुर्गे की विष्ठा को एकत्रित कर पाक को प्राप्त हुए कुष्ठ पर चारों ओर लेप करे। इस प्रयोग का व्यवहार एक मास तक करने से धात्वन्तरगत श्वित्र नष्ट होता है ॥ १९-२० ॥

विमर्शः—चतुर्थभक्तायेति । एकाहमुपोषिताय द्वितीयेऽहनि नार्यं श्वेतवर्णाय ग्राम्यकुक्कुटाय अत्यन्तबुभुक्षिताय प्रपुन्नाडबीजादिक घृतयुक्तं भक्षयितुं दद्यात् । (डल्हणः)

क्षारे सुदग्धे गजगण्डजे तु
गजस्य मूत्रेण बहुस्रुते च ।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं
दत्त्वा पचेद् बीजमवल्गुजस्य ॥ २१ ॥
एतद्यदा चिक्कणतामुपैति
तदा समस्तं गुटिका विदध्यात् ।
श्वित्रं प्रलिम्पेदथ संप्रघृष्य
तया व्रजेदाशु सवर्णभावम् ॥ २२ ॥

गजलेण्डज (जलपिप्पली) को भली-भाँति जला कर क्षार बनावे और उसे हाथी के मूत्र में घोल कर अनेक बार छाने। एक द्रोण परिमाण में इस क्षार जल को लेकर, इसमें बाकुची बीज दसवाँ भाग मिलावे और पाक करे। जब इसमें चिकनापन आ जाय अर्थात् पाक गाढ़ा हो जाय तब सबकी

गोलियाँ बना ले। श्वित्र को भली-भाँति घिस कर इस गोली का लेप करने से उस स्थान की त्वचा का रंग, शरीर के अन्य भाग की त्वचा के समान शीघ्र हो जाता है ॥२१-२२॥

विमर्शः—गजलेण्ड गजगण्डीरक, नदीपिप्पलिकेत्यन्ये। गजलेण्डकक्षार इत्यन्ये पठन्ति। तच्च न पठनीयं, तन्त्रान्तरविरोधात्।

कषायकल्पेन सुभावितां तु
जलं त्वचा चूतहरीतकीनाम्।
तां ताम्रदीपे प्रणिधाय धीमान्
वर्तिं वटक्षीरसुभावितां तु ॥ २३ ॥
आदीप्य तज्जातमसीं गृहीत्वा
तां चापि पथ्याऽम्भसि भावयित्वा।
संप्रक्षितं तद्बहुशः किलासं
तैलेन सिक्तं कटुना प्रयाति ॥ २४ ॥

कषाय-निर्माण-विधि के अनुसार आम और हरीतकी के वृक्ष की छाल का क्वाथ बनावे। बुद्धिमान् वैद्य इस क्वाथ तथा वरगद के दूध से रूई की वत्ती को भली-भाँति भावित करे (भिगोवे) और उसे (कटुतैल में भिगो कर) ताम्बे के दीपक में रखकर जलावे। वत्ती के जलने से जो काजल एकत्रित हो उसमें हरीतकी-क्वाथ की भावना दे तथा कटु-तैल से किलास कुष्ठ का सिंचन कर उस पर अनेक बार लेप करे। इस प्रयोग से किलास कुष्ठ नष्ट होता है ॥ २३-२४ ॥

विमर्शः—चूतहरीतकीना त्वच छित्त्वा कषायकल्पेन क्वाथ-कल्पनया यज्जलीयक्वाथस्तेन सुभाविता पिचुवर्ति कटुतैलेन सिक्त्वा तां ताम्रदीपे प्रणिधाय स्थापयित्वा, आदीप्य प्रज्वाल्य, तज्जातमसीं गृहीत्वा ततो वटक्षीरसुभाविता कृत्वा, ततस्तामेव पथ्याक्वाथेन भावयित्वा, कटुना तैलेन सिक्त्वा, किलाश बहुशः सम्प्रक्षितं सत् अर्थात् लेपितमपयाति। अयं योगोऽन्यत्राप्युक्त—'पथ्याग्रत्वक् कषायेण पिचुवर्तिः सुभाविता। कटुतैलयुते ताम्रपात्रे प्रज्वालयेत्तत' ॥ मसीं तत्र वटक्षीरपथ्याक्वाथेन भावयेत्। प्रक्षितं कटुतैलाक्त तेन श्वित्रं प्रणश्यति।' गयदासस्तु 'वर्तिं पटवर्तिं पूर्वं वटक्षीरेण भावयेत् ततः कटुतैलेन' इति व्याख्यानयति। 'तैलेन सिक्त कटुना समस्त मालेपयेदेवमुपैति शान्तिम्' इति केचित् पठन्ति। (उपसंहारः)

आवल्गुजं बीजमग्र्यं नदीजं
काकाह्वानोदुम्बरी या च लाक्षा।
लौहं चूर्णं मागधी तार्क्ष्यशैलं
तुल्याः कार्याः कृष्णवर्णास्तिलाश्च ॥२५॥
वर्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां
लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी।
लेपात् पित्त शौखिनं श्वित्रहारि
ह्रीवेरं वा दग्धमेतेन युक्तम् ॥ २६ ॥

वाकुचीबीज, उत्तम स्वर्णमाक्षिक, कठगूलर, लाख, लोहचूर्ण, पिप्पली, रसोत और सबके बराबर काला तिल लेकर गौ के पित्त से पीसकर वत्ती बनावे तथा श्वित्र पर लेप करे। यह लेप श्वित्र रोग से पीडित रोगियों के श्वित्र रोग को नष्ट करने वाला है। अथवा सुगन्धवाला को जलाकर मोर के पित्त से पीसकर श्वित्र पर लेप करे। यह भी श्वित्र को नष्ट करने के लिए उत्तम योग है ॥ २५-२६ ॥

तुत्थालकटुकाव्योपसिहार्कह्यमारकाः।
कुष्ठावल्गुजभल्लातक्षीरिणीसर्षपाः स्नुही ॥ २७ ॥
तिल्वकारिष्टपीलूनां पत्राण्यारग्वधस्य च ॥
बीजं विडङ्गाश्वहन्त्रोर्हरिद्रे बृहतीद्वयम्।
आभ्यां श्वित्राणि योगाभ्यां लेपान्नश्यन्त्यशेषतः ॥२८॥

(१) तूतिया, हरिताल, कुटकी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सिंह (लाल सहिजन या अडूसा), मदार, कनेर की जड, कूठ, वाकुची, भिलावा, दुद्धी, सरसों और सेहुण्ड तथा (२) लोध, नीम, पीलू, अमलतास के पत्ते, विडङ्ग, कनेर के बीज, हल्दी, दारुहल्दी, बडी कटेरी और छोटी कटेरी इन दो योगों का लेप लगाने से श्वित्र सम्पूर्ण रूप से नष्ट होता है ॥

वायसीफल्गुतिक्तानां शतं दत्त्वा पृथक् पृथक् ॥२९॥
द्वे लोहरजसः प्रस्थे त्रिफलाऽऽढकं तथा।
द्विद्रोणेऽपां पचेद्यावद्भागौ द्वावसनादपि ॥ ३० ॥
शिष्टौ च विपचेद्भूय एतैः श्लक्ष्णप्रपेषितैः।
कल्कैरिन्द्रयवव्योषत्वग्दारुचतुरङ्गुलैः ॥ ३१ ॥
पारावतपदीदन्तीबाकुचीकेशराह्वयैः।
कण्टकार्या च तत्पक्वं घृतं कुष्ठिषु योजयेत् ॥ ३२ ॥
दोषधात्वाश्रितं पानादभ्यङ्गात्त्वग्गतं तथा।
अप्यसाध्यं नृणां कुष्ठं नाम्ना नीलं नियच्छति ॥३३॥

वायसी (काकतिक्ता या काकमाची), फल्गु (कठगूलर) और कुटकी पृथक् २ सौ २ प्रस्थ, लोहचूर्ण २ प्रस्थ, त्रिफला २ आढक, तथा विजयसार २ प्रस्थ, इन द्रव्यों को तीन द्रोण जल में दो भाग क्वाथ अवशेष रहने तक पकावे। पुनः अवशिष्ट क्वाथ में इन्द्रजौ, सोंठ, मरिच, पिप्पली, दालचीनी, देवदारु, अमलतास, काकजवा, दन्ती, वाकुची, नागकेशर और बडी कटेरी का महीन पिसा हुआ कल्क मिलाकर घृत पाक करके कुष्ठरोगियों के लिए प्रयोग करे। इस घृत के पीने से धातुओं में स्थित तथा अभ्यङ्ग से त्वचागत दोष नष्ट होते हैं। यही नील घृत मनुष्यों के असाध्य कुष्ठ को भी नष्ट करता है ॥ २९-३३ ॥

त्रिफलात्वक् त्रिकटुकं सुरसा मदयन्तिका।
वायस्यारग्वधश्चैषां तुलां कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥ ३४ ॥
काकमाच्यर्कवरुणदन्तीकुटजचित्रकात्।
दार्वीनिदिग्धिकाभ्यां तु पृथग्दशपलं तथा ॥ ३५ ॥
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावत् षट्प्रस्थं परिशेषितम्।
शक्रद्रसदधिक्षीरमूत्राणां पृथगाढकम् ॥ ३६ ॥
तद्वद्घृतस्य तत्साध्य भूनिम्बव्योषचित्रकैः।
करञ्जफलनीलिकाश्यामावल्गुजपीलुभिः ॥ ३७ ॥
नीलिनीनिम्बकुसुमैः सिद्धं कुष्ठापहं घृतम्।
म्रक्षणादङ्गसावण्य श्वित्रिणां जनयेन्नृणाम् ॥
भगन्दरं कृमीनर्शो महानीलं नियच्छति ॥ ३८ ॥

हरड, बहेडा तथा आंवले का छिलका, सोंठ, मरिच, पिप्पली, तुलसी, मेंहदी, मकोय और अमलतास प्रत्येक एक २ तुला, मकोय, मदार, वरुण, दन्ती, कुटज, चित्रक, दारुहल्दी और बडी कटेरी पृथक् २ दश २ पल, इन द्रव्यों को तीन द्रोण

जल में ६ प्रस्थ क्वाथ अवशेष रहने तक पकावे। इस अवशिष्ट क्वाथ में गोवर का रस, दही, दूध, गोमूत्र और गोघृत पृथक्-पृथक् एक २ आढक मिलाकर, चिरायता, सोंठ, मरिच, पिप्पली, चित्रक, करञ्जबीज, नीलिका (नील), काला निशोथ, वाकुची, पीलू, नीलिनी (नील) और नीम के फूल के कल्क के साथ घृत पाक किया जावे। यह घृत कुष्ठनाशक होता है। इस घृत की मालिश करने से श्वित्रग्रस्त मनुष्यों की त्वचा में सवर्णता (अन्य स्वस्थ स्थान की त्वचा के तुल्य वर्ण का होना) आती है। यह महानील घृत भगन्दर, कृमि और अर्श रोग को नष्ट करता है॥ ३४-३८॥

मूत्रं गव्यं चित्रकव्योपयुक्तं
सर्पिःकुम्भे क्षौद्रयुक्तं स्थितं हि।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत्
कुर्याच्चास्मिन् कुष्ठदिष्टं विधानम्॥ ३९॥

गोमूत्र में चित्रक, सोंठ, मरिच, पिप्पली और मधु मिला उसे घी के भाण्ड में बन्द रख कर पन्द्रह दिन के पश्चात् श्वित्र के रोगियों को पीना चाहिए। और कुष्ठ रोग के लिये बतलाये गये नियमों का पालन करना चाहिए॥ ३९॥

पूतीकार्कसुरूनरेन्द्रद्रुमाणां
मूत्रैः पिष्टाः पल्लवाः सौमनाश्च।
लेपः श्वित्रं हन्ति दद्रूव्रणांश्च
दुष्टान्यर्शास्येष नाडीव्रणांश्च॥ ४०॥

करञ्ज, मदार, सेहुण्ड, देवदारु, अमलतास और चमेली के पत्तों को गोमूत्र के साथ पीस कर लेप करने से श्वित्र, दद्रु, व्रण, दूषित अर्श और नाडीव्रण नष्ट होते हैं॥ ४०॥

अस्मादूर्ध्वं निःसृते दुष्टरक्ते
जातप्राणं सर्पिषा स्नेहयित्वा।
तीक्ष्णैर्योगैश्छर्दयित्वा प्रगाढ
पश्चाद्दोष निर्हरेच्चाप्रमत्तः॥ ४१॥

इसके बाद दूषित रक्त निकल जाने पर, शक्तिलाभ होने के पश्चात्, घी से स्नेहन करके तीक्ष्ण योगों के द्वारा भलीभांति वमन करावे, फिर सावधानी से दोषों को दूर करे॥ ४१॥

दुर्वान्तो वा दुर्विरिक्तोऽपि वा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्तदेहः।
निःसन्दिग्धं यात्यसाध्यत्वमाशु
तस्मात् कृत्स्नान्निर्हरेत्तस्य दोषान्॥ ४२॥

वमन अथवा विरेचन यथाक्रम न होने से प्रकुपित हुए दोष कुष्ठरोगी के शरीर में फैल जाते हैं और शीघ्र ही निस्सन्देह उसे असाध्य बना देते हैं, इसलिए रोगी के सम्पूर्ण दोषों को बाहर निकालना चाहिये॥ ४२॥

पक्वात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयाद्
मासान्मासात् स्रसनं चापि देयम्।
स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्प
नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात्रिरात्रात्॥ ४३॥

कुष्ठ में दोष-शोधन का क्रम-कुष्ठरोगी को पन्द्रह दिन के पश्चात् वमन और एक २ मास के बाद विरेचन देना चाहिये। वर्ष में दो बार रक्तमोक्षण करना चाहिए तथा तीन २ दिन पर नस्य देना चाहिये॥ ४३॥

पथ्या व्योष सेक्षुजात सतैलं
लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात्।
धात्रीपथ्याक्षोपकुल्याविडङ्गान्
क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वाऽवलिह्यात्॥ ४४॥
पीत्वा मासं वा पलांशां हरिद्रां
मूत्रेणान्तं याप्यरोगस्य गच्छेत्।
एवं पेयश्चित्रकः श्लक्ष्णपिष्टः
पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्रयुक्ताः॥ ४५॥

कुष्ठ में कतिपय योग—हरीतकी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, गुड और तेल मिलाकर चाटने से कुष्ठरोग से रोगी शीघ्र मुक्त हो जाता है, अथवा आँवला, हरड, बहेड़ा, पिप्पली और विडङ्ग को मधु तथा घृत किसी एक के साथ चाटने से कुष्ठरोग से मुक्त होता है। अथवा एक पल हल्दी गोमूत्र के साथ एक मास तक सेवन करने से रोगी कुष्ठरोग से मुक्त होता है। इसी प्रकार चित्रक अथवा पिप्पली को महीन पीसकर (हल्दी की भांति एक पल प्रमाण में) गोमूत्र के साथ सेवन करे॥ ४४-४५॥

विमर्शः—तेल और गुड़ का सेवन कुष्ठरोग में अहितकर है, किन्तु उपर्युक्त योग में तेल तथा गुड के सेवन का विधान बतलाया गया है। इसका कारण द्रव्यों का परस्पर सयोग है। हरीतकी और त्रिकटु के सयोग से गुड तथा तेल का सेवन कुष्ठनाशक बन जाता है। द्रव्यों में एक दूसरे के संयोग से गुणान्तर की उत्पत्ति होती है। दृष्टान्त स्वरूप हल्दी और चूना को ले लीजिए, हल्दी पीली है और चूना सफेद, किन्तु जब दोनों का सम्मिश्रण होता है तब रक्तवर्ण की सृष्टि हो जाती है। डल्हण ने इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में किया है—'तैलगुडयो· कुष्ठकारित्वेऽपि हरीतकीत्रिकटुसंयुक्तयोः कुष्ठहारित्वम्, सयोगशक्तेरचिन्त्यत्वात्'।

तद्वत्ताक्ष्यं मासमात्र च पेयं
तेनाजस्रं देहमालेपयेच्च।
आरिष्टी त्वक् सप्तपर्णी च तुल्या
लाक्षा मुस्तं पञ्चमूल्यौ हरिद्रे॥ ४६॥
मञ्जिष्ठाक्षौ वासको देवदारु
पथ्यावह्नी व्योषधात्री विडङ्गः।
सामान्यांश योजयित्वा विडङ्गै-
श्चूर्णं कृत्वा तत्पलोन्मानमश्नन्॥ ४७॥
कुष्ठाज्जन्तुर्मुच्यते त्रैफलं वा
सर्पिर्द्रोणं व्योषयुक्तं च युञ्जन्।
गोमूत्राम्बुद्रोणसिद्धेऽक्षपीडे
सिद्ध सर्पिर्नाशयेच्चापि कुष्ठम्॥ ४८॥
आरग्वधे सप्तपर्णे पटोले
सवृक्षके नक्तमाले सनिम्बे।
जीर्णं पक्व तद्धरिद्राद्वयेन
हन्यात् कुष्ठं मुष्ककं चापि सर्पिः॥ ४९॥

इसी प्रकार एक मास तक गोमूत्र के साथ रसोत पीना चाहिये और शरीर में उसका लेप लगाना चाहिये। नीम की छाल, सतवन, लाख, नागरमोथा, दशमूल, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, बहेड़ा, अड़ूसा, देवदारु, हरड, चित्रक, सोंठ, मरिच, पिप्पली, आँवला और विडङ्ग, इन द्रव्यों के बराबर विडङ्ग मिलाकर चूर्ण बनावे। एक पल की मात्रा में (गोमूत्र के साथ एक मास तक) इस चूर्ण का सेवन करने से रोगी कुष्ठ से मुक्त होता है। अथवा एक द्रोण त्रिफलाघृत त्रिकटु-चूर्ण मिलाकर सेवन करने से रोगी कुष्ठ से मुक्त होता है। एक द्रोण गोमूत्र के द्वारा अक्षपीड (यवतिक्ता या कालमेघ) कल्क से सिद्ध घृत कुष्ठ को नष्ट करता है। अमलतास, सतवन, परवल की पत्ती, कुटज, करञ्ज, नीम, हल्दी, दारुहल्दी और मुष्कक (मोखा या पाढल) के कल्क से सिद्ध पुराण घृत कुष्ठ का नाश करता है ॥ ४६-४९ ॥

रोध्रारिष्टं पद्मकं रक्तसारः
सप्ताह्वाक्षौ वृक्षको बीजकश्च।
योज्याः स्नाने दह्यमानस्य जन्तोः
पेया वा स्यात् क्षौद्रयुक्ता त्रिभण्डी ॥ ५० ॥

दाहयुक्त कुष्ठी के लिये स्नान-प्रयोग—लोध, नीम, पद्माख, पतंग, सप्तपर्ण, कुटज और विजयसार के क्वाथ से (षडङ्गोदक कल्पना से सिद्ध) अत्यधिक दाह वाले कुष्ठरोगी को (पित्त की अधिकता के कारण) स्नान करावे अथवा निशोथ का चूर्ण मधु मिलाकर चटावे ॥ ५० ॥

खादेत् कुष्ठी मांसशा(पा)ते पुराणान्
मुद्गान् सिद्धान्निम्बतोये सतैलान्।
निम्बक्वाथं जातसत्त्वः पिबेद्वा
क्वाथं वाऽर्कालर्कसप्तच्छदानाम् ॥ ५१ ॥

क्रिमि पड़े हुये कुष्ठियों की चिकित्सा—मांस के सड़कर गिरने पर (गलित कुष्ठ में) कुष्ठरोगी को नीम के क्वाथ से सिद्ध तैलयुक्त पुराने मूग का आहार करना चाहिये। अथवा कृमियुक्त कुष्ठ वाला रोगी नीम का क्वाथ या लाल तथा सफेद फूल के मदार एवं सप्तपर्ण का क्वाथ पान करे ॥

जग्धेष्वङ्गेष्वश्वमारस्य मूलं
लेपो युक्तः स्याद्विडङ्गैः समूत्रैः।
मूत्रैश्चैनं सेचयेद्भोजयेच्च
सर्वाहारान् संप्रयुक्तान् विडङ्गैः ॥ ५२ ॥

कृमियों से खाये हुए अङ्गों पर कनेर की जड तथा विडङ्ग को गोमूत्र में पीसकर लेप करे। गोमूत्र से रोगी का परिषेक करे तथा सभी प्रकार के आहार में विडङ्ग मिलाकर भोजन करावे ॥ ५२ ॥

कारञ्जं वा सार्षपं वा क्षतेषु
क्षेप्यं तैलं शिग्रुकोशाम्रयोर्वा।
पक्वं सर्वैर्वा कटूष्णैः सतिक्तैः
शेषं च स्याद्दुष्टव्रत् सविधानम् ॥ ५३ ॥

करञ्ज, सरसों, सहिजन या कोशाम्र (छुद्र आम का बीज) का तेल व्रणों पर लगावे। अथवा कटु, उष्ण (मरिचादि) और तिक्त (नीम आदि) द्रव्यों के क्वाथ में करञ्ज आदि सभी द्रव्यों के तेल का पाक करके व्रण पर लगावे, शेष चिकित्सा दूषित व्रण की भांति करे ॥ ५३ ॥

सप्तपर्णकरञ्जार्कमालतीकरवीरजम्।
स्नुहीशिरीषयोर्मूलं चित्रकास्फोतयोरपि ॥ ५४ ॥
विपलाङ्गलवज्राख्यकासीसालमनःशिलाः।
करञ्जबीजं त्रिकटु त्रिफलां रजनीद्वयम् ॥ ५५ ॥
सिद्धार्थकान् विडङ्गानि प्रपुन्नाडं च संहरेत्।
मूत्रपिष्टैः पचेदेतैस्तैलं कुष्ठविनाशनम्।
एतद्वज्रकमभ्यङ्गान्नाडीदुष्टव्रणापहम् ॥ ५६ ॥

वज्रक तैल—सप्तपर्ण, करञ्ज, मदार, चमेली, कनेर, सेहुण्ड, शिरीष, चित्रक और अपराजिता की जड, वत्सनाभ-विष, कलिहारी, वज्र (वज्राख्यो द्वितीयसेहुण्ड, अभ्र वा), कासीस, मैनसिल, करञ्जबीज, सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरड, बहेड़ा, आँवला, हल्दी, दारुहल्दी, पीलीसरसो, विडङ्ग तथा चकवड के बीज, इन द्रव्यों को एकत्रित कर गोमूत्र से पीस कर कल्क बनावे एवं इनके द्वारा कुष्ठनाशक तैल का पाक करे। इस वज्रक तैल की मालिश करने से नाडीव्रण और दूषित व्रण नष्ट होते हैं ॥ ५४-५६ ॥

सिद्धार्थकः करञ्जौ द्वौ द्वे हरिद्रे रसाञ्जनम् ॥५७॥
कुटजश्च प्रपुन्नाडसप्तपर्णौ मृगादनी।
लाक्षा सर्जरसोऽर्कश्च सास्फोतारग्वधौ स्नुही ॥५८॥
शिरीषस्तुवराख्यस्तु कुटजारुष्करौ वचा।
कुष्ठं कृमिघ्नं मञ्जिष्ठा लाङ्गली चित्रकं तथा ॥५९॥
मालती कटुतुम्बी च गन्धाह्वा मूलकं तथा।
सैन्धवं करवीरश्च गृहधूमं विषं तथा ॥६०॥
कम्पिल्लकं ससिन्दूरं तेजोह्वातुत्थकाह्वये।
समभागानि सर्वाणि कल्कपेष्याणि कारयेत् ॥६१॥
गोमूत्रं द्विगुणं दद्यात्तिलतैलाच्चतुर्गुणम्।
कारञ्जं वा महावीर्यं सार्षपं वा महागुणम् ॥६२॥
अभ्यङ्गात् सर्वकुष्ठानि गण्डमालाभगन्दरान्।
नाडीदुष्टव्रणान् घोरान् नाशयेन्नात्र संशयः।
महावज्रकमित्येतन्नाम्ना तैलं महागुणम् ॥६३॥

महावज्रक तैल—पीली सरसो, करञ्ज, पूतिकरञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी, रसोत, कुटज, चकवड़, सप्तपर्ण, इन्द्रायण, लाख, राल, मदार, अपराजिता, अमलतास, सेहुण्ड, शिरीष, सौराष्ट्रमृत्तिका, कुटज, भिलावा, वच, कूठ, विडङ्ग, मजीठ, कलिहारी, चित्रक, चमेली, कड़ुई तुम्बी, कपूरकचरी, मूली, सेन्धानमक, कनेर, गृहधूम, वत्सनाभविष, कबीला, सिन्दूर, तेजबल, तूतिया इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर, पीस कर कल्क बनावे। कल्क से दुगुना गोमूत्र और चौगुना तिल-तैल या महाबलशाली करञ्ज तैल अथवा अत्यन्त गुणवान् सरसो का तेल लेकर तैल पाक करे। इस तैल की मालिश करने से अत्यन्त भयकर सब प्रकार के कुष्ठ, गण्डमाला, भगन्दर, नाडीव्रण और दूषित व्रण निस्सन्देह नष्ट होते हैं। महावज्रक नामक यह तैल महान् गुणशाली है ॥ ५७-६३ ॥

पित्तावापैर्मूत्रपिष्टैस्तैलं लाक्षादिकैः कृतम् ॥६४॥

सप्ताहं कटुकालब्वां निदधीत चिकित्सकः।
पीतवन्तं ततो मात्रां तेनाभ्यक्तं च मानवम् ॥६५॥
शाययेदातपे तस्य दोषा गच्छन्ति सर्वशः।

लाक्षादिक तैल—लाक्षादि गण (लाक्षा, सर्जरस, रसाञ्जन आदि) की औषधियों को गोमूत्र में पीस कर कल्क बनावे और गोपित्त का प्रक्षेप डालकर तैल पाक करे। चिकित्सक इस तैल को एक सप्ताह कद्दुई तुम्बी में रखे। रोगी को मात्रानुसार तैल पिला कर इसी तैल की मालिश करावे, रोगी को धूप में सुलावे। इस प्रकार रोगी के दोष चारों ओर से निकल जाते हैं ॥ ६४-६५ ॥

स्रुतदोष समुत्थाप्य स्नातं खदिरवारिणा ॥६६॥
यवागूं पाययेदेनं साधितां खदिराम्बुना।

खदिरादि यवागू—दोषों के बाहर निकल जाने पर रोगी को उठा कर खैर के क्वाथ से स्नान करावे (स्नान किए हुए रोगी को) खैर के क्वाथ से सिद्ध यवागू पिलावे ॥ ६६ ॥

एव सशोधने वर्गे कुष्ठघ्नेष्वौषधेषु च ॥६७॥
कुर्यात्तैलानि सर्पींषि प्रदेहोद्वर्पणानि च।
प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान् वैरेचनान् शुभान्।
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा यैरुत्थान न गच्छति ॥६८॥

प्रदेह, उद्वर्पण तथा विरेचन में तैल घृत की उपयोगिता—इसी प्रकार सशोधन वर्ग और कुष्ठघ्न औषधियों के कल्क के साथ तैल और घृत का पाक करके लेप लगावे तथा मालिश करे। प्रतिदिन प्रातः काल कल्याणकारक रेचक योगों का सेवन करके पाँच, छः, सात या आठ रेचन करे, जिसमें दोष-प्रकोप पुनः न हो ॥ ६७-६८ ॥

कारभ वा पिवेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम्।
जातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षड्भिरपोहति ॥६९॥

ऊँटनी के मूत्र का योग—अथवा ऊँटनी के मूत्र का पान करे और उसका पाचन हो जाने पर केवल दुग्धाहार करे। इस क्रिया के द्वारा कृमियुक्त कुष्ठ छः मास में नष्ट हो जाता है ॥६९॥

दिदृक्षुरन्त कुष्ठस्य खदिर कुष्ठपीडितः।
सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु ॥ ७० ॥

कुष्ठ में खदिर योग की प्रशसा—कुष्ठ रोग का नाश देखने की इच्छा वाले कुष्ठ से पीडित व्यक्ति को, स्नान, पान और आहार में सर्वत्र खैर का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७० ॥

यथा हन्ति प्रवृद्धत्वात् कुष्ठमातुरमोजसा।
तथा हन्त्युपयुक्तस्तु खदिरः कुष्ठमोजसा ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ कुष्ठ अपनी शक्ति से रोगी का अन्त कर देता है, उसी प्रकार प्रयोग में लाया गया खैर अपनी शक्ति (वीर्य, प्रभाव) से कुष्ठ रोग का नाश करता है ॥ ७१ ॥

नीचरोमनख श्रान्तो हिताश्यौषधतत्परः।
योपिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति ॥ ७२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सित नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

कुष्ठियों का पथ्यापथ्य—कटे हुए केश तथा नख वाला, विश्राम करने वाला, हितकर भोजन एवं औषधि के सेवन में लगा हुआ, स्त्री, मांस और सुरा को त्यागने वाला कुष्ठरोगी कुष्ठ से मुक्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाया भाषाटीकाया नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अथातो महाकुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

महाकुष्ठ चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर महाकुष्ठ की चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥१-२॥

कुष्ठेषु मेहेषु कफामयेषु
सर्वाङ्गशोफेषु च दारुणेषु।
कृशत्वमिच्छत्सु च मेदुरेषु
योगानिमानभ्यमतिर्विदध्यात् ॥ ३ ॥

भयङ्कर कुष्ठ, मेह और कफरोग तथा सर्वाङ्गशोथ एवं कृश (दुर्बल) होने की इच्छा वाले मेदस्वी व्यक्तियों के लिए, कुशाग्रबुद्धि वैद्य इन (अधोलिखित) योगों का प्रयोग करे ॥३॥

क्षुण्णान् यवान्निष्पूतान् रात्रौ गोमूत्रपर्युषितान् महति किलिञ्जे शोषयेत्, एवं सप्तरात्रं भावयेच्छोषयेच्च, ततस्तान् कपालभृष्टान् शक्तून् कारयित्वा, प्रातः प्रातरेव कुष्ठिनं प्रमेहिणं वा शालसारादिकषायेण कण्टकिवृक्षकषायेण वा पाययेद्भल्लातकप्रपुन्नाडावल्गुजार्कचित्रकविडङ्गमुस्तचूर्णचतुर्भागयुक्तान्।

कुष्ठ में यवकल्प—कूटे हुए जौ की भूसी साफ करके, रात्रि में गोमूत्र में भिगो कर, (दिन में) बाँस के बड़े टोकरे में सुखावे। इस प्रकार सात दिन गोमूत्र में भिगोवे और सुखावे। फिर इन्हें (भड़भूजे के) ठीकरे में भुनवा कर सत्तू बनावे और प्रतिदिन प्रातः काल कुष्ठ तथा प्रमेह वाले व्यक्ति को शालसारादिगण या काटे वाले वृक्षों (खदिर, बेर, इरिमेद, सेहुण्ड आदि) के क्वाथ में मिलावा, चक्रवड के बीज, वाकुची, मदार, चित्रक, विडङ्ग और नागरमोथा का चूर्ण चतुर्थांश मिला कर पिलावे।

एवमेव शालसारादिकषायपरिपीतानामारग्वधादिकषायपरिपीतानां वा गवाश्वाशकृद्भूतानां वा यवानां शक्तून् कारयित्वा भल्लातकादीना चूर्णान्यावाप्य खदिराशननिम्बराजवृक्षरोहीतकगुडूचीनामन्यतमस्य कषायेण शर्करामधुमधुरेण द्राक्षायुक्तेन दाडिमामलकवेतसाम्लेन सैन्धवलवणान्वितेन पाययेत्; एष सर्वमन्थकल्पः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार शालसारादिगण या आरग्वधादिगण के क्वाथ से भावित अथवा गोबर में रख कर निकाले हुए जौ का सत्तू बनावे और भल्लातक आदि द्रव्यों का चूर्ण मिला कर, खैर, विजयसार, नीम, अमलतास, रोहेडा तथा गिलोय में से

किसी एक के क्वाथ को शर्करा और मधु के द्वारा मीठा बना कर तथा मुनक्का, अनार, अम्लवेत और सेधा नमक के द्वारा खट्टा एव नमकीन बनाकर पिलावे। यह सब प्रकार के मन्थ बनाने की विधि है ॥ ४ ॥

विमर्शः—मन्थपरिभाषा-सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारि परिप्लुताः। नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते ॥

यावकांश्च भक्ष्यान् धानोलुम्बककुल्माषापूपपूर्णकोशोत्कारिकाशष्कुलिकाकुणावीप्रभृतीन् सेवेत; यवविधानेन गोधूमवेणुयवानुपयुञ्जीत ॥ ५ ॥

जौ के बने हुए भोज्य पदार्थ—सूखे भुने हुए जौ, आग में भुने हुए हरे जौ, अर्धस्विन्नजौ, मालपूआ, कचौडी, लप्सी, पूडी और पापड आदि का सेवन करे। जौ की विधि के अनुसार गेहूँ तथा बांस के बीजों को उपयोग में लावे ॥ ५ ॥

अरिष्टानतो वक्ष्यामः—पूतीकचव्यचित्रकसुरदारुसारिवादन्तीत्रिवृत्त्रिकटुकानां प्रत्येकं षट्पलिका भागा बदरकुडवस्त्रिफलाकुडव इत्येतेषां चूर्णानि; ततः पिप्पलीमधुघृतैरन्तःप्रलिप्ते घृतभाजने प्राक्कृतसंस्कारे सप्तोदककुडवानयोरजोऽर्धकुडवमर्धतुलां च गुडस्याभिहितानि चूर्णान्यावाप्य स्वनुगुप्तं कृत्वा यवपल्ले सप्तरात्रं वासयेत्, ततो यथाबलमुपयुञ्जीत, एषोऽरिष्टः कुष्ठमेहमेदःपाण्डुरोगश्वयथूनपहन्ति। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ चारिष्टान् कुर्वीत ॥ ६ ॥

कुष्ठ में अरिष्ट विधान—इसके आगे अरिष्टों का वर्णन किया जाता है—करञ्ज, चव्य, चित्रक, देवदारु, अनन्तमूल, दन्ती, निशोथ, सोंठ, मरिच, पिप्पली, प्रत्येक ६ पल, बेर एक कुडव और त्रिफला एक कुडव, इनका चूर्ण बनावे। फिर पिप्पली, मधु तथा घृत पुते हुए एवं धूप आदि से संस्कार किए गए घी के भाण्ड में, सात कुडव जल, आधा कुडव लोहचूर्ण, आधा तुला गुड तथा उपर्युक्त चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर, सुरक्षित स्थान में, जौ की राशि में सात दिन रखे। पश्चात् शक्ति के अनुसार इसका सेवन करे। यह अरिष्ट कुष्ठ, मेह, मेद, पाण्डु और शोथ रोग को नष्ट करता है। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि और आरग्वधादि गण के द्रव्यों के द्वारा अरिष्ट बनावे ॥ ६ ॥

आसवानतो वक्ष्यामः—पलाशभस्मपरिस्रुतस्योष्णोदकस्य शीतीभूतस्य त्रयो भागा द्वौ फाणितस्यैकध्यमरिष्टकल्पेन विदध्यात्, एवं तिलादीनां क्षारेषु; शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ मूत्रेषु चासवान् विदध्यात् ॥ ७ ॥

कुष्ठ में आसवविधान—आसवों का वर्णन इसके आगे किया जाता है। पलाश की भस्म (राख) उष्ण जल में घोल ले। शीतल होने पर इसका तीन भाग (तीन आढक), और दो भाग (दो आढक) फाणित (राव) अरिष्ट-निर्माण विधि के अनुसार (त्रिफला, बेर आदि के चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर) एक साथ मिला कर रखे। इसी प्रकार तिल आदि के क्षार (अश्मरी-प्रकरण में पठित), शालसारादि गण, न्यग्रोधादि गण और आरग्वधादि गण के क्षारजल तथा गोमूत्र के द्वारा आसवों का निर्माण करे ॥ ७ ॥

अथ सुरा वक्ष्यामः—शिशपाखदिरयोः सारमादायोत्पाट्य चोत्तमारणीब्राह्मीकोशवतीस्तत्सर्वमेकतः कषायकल्पेन विपाच्योदकमाददीत मण्डोदकार्थं, किण्वपिष्टमभिषुणुयाच्च यथोक्तम्। एवं सुराः शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च विदध्यात् ॥ ८ ॥

सुराविधान—इसके अनन्तर सुरा का वर्णन किया जाता है—शीशम और खैर की लकडी का सार भाग (बीच का हिस्सा) लेकर काट ले और उत्तमारणी, ब्राह्मी तथा देवदाली सबको एक साथ क्वाथनिर्माण-विधि के अनुसार पका कर, सुरा बनाने के लिए जल (क्वाथ) ग्रहण करे। इसमें सुराबीज पीस कर मिलावे तथा पूर्व में कही गई विधि (सू. विरेचनाधिकार) के अनुसार संधान करे। इसी प्रकार शालसारादिगण, न्यग्रोधादि गण और आरग्वधादि गण के द्रव्यों से सुरा निर्माण करे ॥ ८ ॥

अतोऽवलेहान् वक्ष्यामः—खदिरासननिम्बराजवृक्षशालसारक्वाथे तत्सारपिण्डाञ्छ्लक्ष्णपिष्टान् प्रक्षिप्य विपचेत्, ततो नातिद्रवं नातिसान्द्रमवतार्य तस्य पाणितल पूर्णमप्रातराशो मधुमिश्रं लिह्यात्। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च लेहान् कारयेत् ॥९॥

कुष्ठ में अवलेह-विधान—इसके आगे अवलेहों का वर्णन किया जाता है। खैर, विजयसार, नीम, अमलतास और शाल वृक्ष के सारभाग का क्वाथ बनावे। इस क्वाथ में इन्हीं द्रव्यों के सारभाग को महीन पीस कर मिलावे और पाक करे। फिर न अधिक पतला और न अधिक गाढ़ा अवलेह अग्नि से उतार कर, सायंकाल मधु मिला कर हथेली में भरकर चाटे। उसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि और आरग्वधादि गण के द्रव्यों से अवलेह सिद्ध करे ॥ ९ ॥

अतश्चूर्णक्रियां वक्ष्यामः—शालसारादीना सारचूर्णप्रस्थमाहृत्यारग्वधादिकषायपरिपीतमनेकशः शालसारादिकषायेणैव पाययेत्; एव न्यग्रोधादीनां फलेषु पुष्पेष्वारग्वधादीनां चूर्णक्रियां कारयेत् ॥ १० ॥

कुष्ठ में चूर्णक्रिया—इसके आगे चूर्ण क्रिया का वर्णन किया जाता है। शालसारादि गण के द्रव्यों के सारभाग का चूर्ण एक प्रस्थ लेकर, आरग्वधादि गण के क्वाथ की अनेक भावना दे, शालसारादि गण के क्वाथ के साथ पिलावे। इसी प्रकार न्यग्रोधादिगण के फलों से तथा आरग्वधादि गण के फूलों से चूर्ण निर्माण करे ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वमयस्कृतीर्वक्ष्यामः—तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण निर्वापयेत् पोडशवारान्, ततः खदिराङ्गारतप्तान्युपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेद्यनतान्तवपरिस्रावितानि, ततो यथाबल मात्रा सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्यनम्लमलवणमाहारं कुर्वीत, एवं तुलामुपयुज्य कुष्ठमेहमेद-

श्वयथुपाण्डुरोगोन्मादापस्मारानपहत्य वर्षशतं जीवति, तुलायां तुलायां वर्षशतमुत्कर्षः, एतेन सर्वलौहेष्वयस्कृतयो व्याख्याता' ॥ ११ ॥

कुष्ठ में अयस्कृति (लौहरसायन)—इसके आगे अयस्कृति (लौहरसायन) का वर्णन किया जाता है। तीक्ष्ण लोह के पतले पत्र को लेकर उस पर लवणवर्ग (पचलवण) के कल्क का लेप करे। फिर उपलों की अग्नि पर उन पत्रों को तपाकर, त्रिफला और शालसारादिगण के क्वाथ में सोलह बार बुझावे। फिर खैर के अङ्गारे पर (सोलह बार) तपावे और शीतल होने पर चूर्ण बनाकर कपड़े में छान ले। अग्निबल के अनुसार घी और मधु मिला कर अल्पमात्रा में सेवन करे। औषधि का पाचन होने पर रोगानुसार अम्ल तथा लवण वर्जित भोजन करे। इस प्रकार इस चूर्ण की एक तुला सेवन करके, कुष्ठ, मेह, मेद, शोथ, पाण्डु, उन्माद और अपस्मार रोग का नाश कर, रोगी सौ वर्ष जीवित रहता है। एक एक तुला में सौ-सौ वर्ष के गुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा सभी लोह (सुवर्ण, ताम्र आदि धातु) की अयस्कृति का वर्णन किया गया है ॥ ११ ॥

त्रिवृच्छ्यामाग्निमन्थसप्तलाकेवुकशङ्खिनीतिल्वकत्रिफलापलाशशिंशपानां स्वरसमादाय पालाश्यां द्रोण्यामभ्यासिच्य खदिराङ्गारतप्तमयःपिण्डं त्रिःसप्तकृत्वो निर्वाप्य तमादाय पुनरासिच्य स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत्, ततश्चतुर्थभागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य भूयोऽग्नितप्तान्ययःपत्राणि प्रक्षिपेत्, सिध्यति चास्मिन् पिप्पल्यादिचूर्णभागं द्वौ मधुनस्तावद्घृतस्येति विद्यात्, ततः प्रशान्तमायसे पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं शुक्तिं प्रकुञ्चं चोपयुञ्जीत जीर्णे यथाव्याख्याहारमुपसेवेत। एषौषधायस्कृतिरसाध्यं कुष्ठं प्रमेहं वा साधयति. स्थूलमपकर्षति, शोफमुपहन्ति, सन्नमग्निमुद्धरति. विशेषेण चोपदिश्यते राजयक्ष्मिणां, वर्षशतायुष्ट्वानया पुरुषो भवति।

शालसारादिक्वाथमासिच्य पालाश्यां द्रोण्यामयोघनांस्तप्तान्निर्वाप्य कृतसंस्कारे कलशेऽभ्यासिच्य पिप्पल्यादिचूर्णभागं क्षौद्रं गुडमिति च दत्त्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, एतां महौषधायस्कृतिं मासमर्धमासं वा स्थितां यथाबलमुपयुञ्जीत। एवं न्यग्रोधादावारेवतादिषु च विदध्यात् ॥ १२ ॥

निशोथ, विधारा, अरनी, सातला-सेहुण्ड, एरण्ड, अविनी (यवतिक्ता), लोध्र, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पलाश, और शीशम का स्वरस. पलाशवृक्ष के बने द्रोणी (नौकाकृति पात्र टब) में रखकर. उसमें खैर के अङ्गार पर तपाये गये लोहपिण्ड को इक्कीस बार बुझावे तथा उस लौह बुझे स्वरस को थाली में रखकर उपले की अग्नि पर पकावे। जब चतुर्थांश स्वरस अवशिष्ट रह जाय, उतार कर छान ले और पुनः अग्नि पर तपाये गए लोहपत्रों को उसमें डाल दे। पाक होने के समय पिप्पल्यादि चूर्ण एक भाग, मधु दो भाग, तथा घी दो भाग मिलावे। पाक सिद्ध होने पर लोहे के पात्र में सुरक्षित स्थान में रखे। फिर विधान के अनुसार आधा पल, अथवा एक पल सेवन करे और औषधि का पाचन होने पर व्याधि के अनुकूल आहार का भोजन करे। यह अयस्कृति औषध, असाध्य कुष्ठ तथा प्रमेह को दूर करती है, मोटे को कृश बनाती है, शोथ का नाश करती है, मन्द अग्नि को तीव्र करती है तथा राजयक्ष्मा से पीडित रोगियों के लिए इसका विशेष विधान है। इसके सेवन से मनुष्य सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। पलाश की द्रोणी में शालसारादिगण का क्वाथ रख कर उसमें लोहपिण्ड तपा कर बुझावे। इस क्वाथ को (लोहचूर्ण के साथ) धूप आदि से संस्कृत घड़े में रखकर पिप्पल्यादि चूर्ण एक भाग तथा मधु और गुड़ दो-दो भाग मिलाकर, सुरक्षित स्थान में रखे। इस महाऔषध अयस्कृति को एक मास या पन्द्रह दिन (संधान करके) रखने के पश्चात्, अग्निबल के अनुसार सेवन करे। इसी प्रकार न्यग्रोधादिगण और आरग्वधादिगण के द्रव्यों से अयस्कृति का निर्माण करे ॥ १२ ॥

अतः खदिरविधानमुपदेक्ष्यामः—प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा तस्य मध्यमं मूलं छित्त्वाऽयोमयं कुम्भं तस्मिन्नन्तरे निदध्याद्यथा रसग्रहणसमर्थो भवति, ततस्तं गोमयमृदाऽवलिप्तमवकीर्यैन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेद्यथाऽस्य दह्यमानस्य रसः स्रवत्यधस्तात्, तद्यदा जानीयात् पूर्णं भाजनमिति, अथैनमुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन् पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारं परिहारञ्च, प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोऽभिवृद्धिर्भवति।

खदिरसारतुलामुदकद्रोणे विपाच्य षोडशांशावशिष्टमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, तमामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत। एष एव सर्ववृक्षसारेषु कल्पः। खदिरसारचूर्णतुलां खदिरसारकाथमात्रां वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, खदिरसारकाथसिद्धमाविकं वा सर्पिः ॥ १३ ॥

कुष्ठ में खदिर विधान—इसके आगे खदिर विधान का वर्णन किया जाता है—प्रशस्त भूमि में उत्पन्न, कीड़ों से नष्ट न किये गये, तरुण खदिर वृक्ष को चारों ओर से खोद कर, उसकी जड़ के बीच में काटकर खोखला बनावे और उसके अन्दर लोहे का घड़ा इस प्रकार रखे जिसमें खैर का रस उस घड़े में टपके। फिर उसमें गोबर तथा मिट्टी का लेप करके उपले आदि से युक्त ईंधन के द्वारा अग्नि लगा दे, जिसमें जलने वाले उस खैर का रस (घड़े में) नीचे टपके। जब ज्ञात हो जाय कि घड़ा रस से भर गया तब घड़े को निकाल, रस छान कर, दूसरे पात्र में सुरक्षित स्थान में रखे। फिर विधान के अनुसार, आँवले का रस तथा मधु और घृत मिलाकर इस रस की मात्रा का सेवन

करे। औषधि का पाचन होने पर भल्लातक-विधान में कहे गए आहार-विहार का सेवन तथा त्याग करे। इस औषधि का एक प्रस्थ सेवन करने पर आयु में सौ वर्ष की वृद्धि होती है। एक तुला खैरसार को एक द्रोण जल में पकावे और सोलहवाँ हिस्सा क्वाथ शेष रहने पर अग्नि से उतार कर सुरक्षित स्थान में रखे। आँवले का रस तथा मधु और घी मिलाकर इसका सेवन करे। सभी वृक्ष सारों से औषधि निर्माण की यही विधि है। खैरसार का चूर्ण एक तुला अथवा खैरसार के क्वाथ की मात्रा प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे, या खैरसार के क्वाथ से सिद्ध भेडी के घृत का सेवन करे ॥ १३ ॥

अमृतवल्लीस्वरसं काथं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, तत्सिद्धं वा सर्पिः, अपराह्णे ससर्पिष्कमोदनमामलकयूषेण भुञ्जीत; एवं मासमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुच्यत इति ॥ १४ ॥

कुष्ठ में गुडूची-विधान—प्रतिदिन प्रातःकाल गुडूची का स्वरस या क्वाथ अथवा इनसे सिद्ध घृत का सेवन और अपराह्ण में घृतयुक्त भात, आँवले के यूष के साथ भोजन करे। इस प्रकार एक मास इसका सेवन करके (रोगी) सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त होता है ॥ १४ ॥

कृष्णतिलभल्लातकतैलामलकरससर्पिषां द्रोणं शालसारादिकषायस्य च, त्रिफलात्रिकटुकपरूषकफलमज्जविडङ्गफलसारचित्रार्कावल्गुजहरिद्राद्वयत्रिवृद्दन्तीन्द्रयवयष्टीमधुकातिविषारसाञ्जनप्रियङ्गूणां पालिका भागास्तानैकध्यं स्नेहपाकविधानेन पचेत्, तत् साधुसिद्धमवतार्य परिस्राव्यानुगुप्तं निदध्यात्, तत उपसंस्कृतशरीरः प्रातः प्रातरुत्थाय पाणिशुक्तिमात्रं क्षौद्रेण प्रतिसंसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन सर्पिष्मन्तं खदिरोदकसिद्धं मृद्वोदनमश्नीयात् खदिरोदकसेवी, इत्येवं द्रोणमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुक्तः शुद्धतनुः स्मृतिमान् वर्षशतायुररोगो भवति ॥ १५ ॥

काले तिल का तेल, भिलावे का तेल, आँवले का रस, घी और शालसारादिगण का क्वाथ एक-एक द्रोण, हरड, बहेडा, आँवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, फालसे के फल की मज्जा, विडङ्गफलसार (विडङ्ग), चित्रक, मदार, बाकुची, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, दन्ती, इन्द्रयव, मुलेठी, अतीस, रसोत और प्रियङ्गु एक-एक पल, इन द्रव्यों को एक साथ स्नेहपाक-विधि के अनुसार पकावे। भली भाँति स्नेह सिद्ध होने पर अग्नि से उतार कर, छान ले और सुरक्षित स्थान में रखे। फिर वमन-विरेचनादि क्रिया के द्वारा शुद्ध शरीर वाला रोगी, प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर, एक पल औषधि मधु मिलाकर सेवन करे। औषधि का पाचन होने पर, खैर के क्वाथ में सिद्ध नरम भात का, घृतयुक्त, लवणरहित, मूंग और आँवले के यूष के साथ आहार करे तथा खैर का क्वाथ पीवे। इस प्रकार एक द्रोण औषधि सेवन करके, रोगी सभी कुष्ठों से मुक्त होकर, शुद्ध शरीर वाला, स्मृतिशील, सौ वर्ष की आयु वाला और निरोग होता है ॥ १५ ॥

भवति चात्र—

सुरामन्थासवारिष्टांल्लेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥१६॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महाकुष्ठचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

जैसा कि—बुद्धिमान् वैद्य को इन बीजों (बीज की भाँति योगों) के द्वारा हजारों सुरा, मन्थ, आसव, अरिष्ट, अवलेह, चूर्ण और अयस्कृति का निर्माण करना चाहिए ॥ १६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

प्रमेह चिकित्सितोपक्रम—इसके अनन्तर प्रमेह की चिकित्साविधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

द्वौ प्रमेहौ भवतः—सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति; उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥ ३ ॥

प्रमेह के दो प्रकार—प्रमेह दो प्रकार का होता है—(१) सहज (जन्मजात) और (२) अपथ्य निमित्तज (अहितकर आहार विहार से उत्पन्न)। इनमें सहज प्रमेह माता-पिता के बीज-दोष तथा अपथ्यनिमित्तज अहितकर आहार विहार के सेवन करने के कारण उत्पन्न होता है। इन दोनों में से प्रथम अर्थात् सहज प्रमेह से पीडित व्यक्ति कृश (दुर्बल), रूक्ष (रूखी त्वचा वाला) अल्प आहार करने वाला, अधिक जल पीने वाला और भ्रमणशील होता है। दूसरे अहिताहार-विहारजन्य प्रमेह से पीडित व्यक्ति स्थूल (मोटा), अधिक आहार करने वाला, स्निग्ध (चिकनी त्वचा वाला), प्रायः आसन पर बैठे रहने तथा चारपाई पर सोते रहने के अभ्यास से युक्त होता है।

विमर्श—सहज प्रमेह का कारण माता-पिता के बीज दोष को माना गया है, किन्तु कुछ लोगों का कथन है कि स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता। इसका परिहार डल्हण निम्न प्रकार से करते हैं—'अत्र केचिदाहु स्त्रीणां प्रमेहा न भवन्तीति, तथा तन्त्रान्तरे—रज प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति। सर्वे शरीरदोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः' इति। एतत् तु न युक्तम्, सर्वतन्त्राप्रसिद्धेः, प्रत्यक्षविरोधाच्च। कृशं कार्श्यादिलक्षणयुक्तं सहजमित्यर्थः। स्थूलं स्थौल्यादिधर्मयुक्तमहिताहारविहारजमित्यर्थः। अत्र अपतर्पयतीति अपतर्पणं लघनम्, अपतर्पणानि व्यायामशोधनानि तिक्तकटुकानि च। चरक ने भी स्थूल और कृश भेद से दो प्रकार के प्रमेहरोगियों की कल्पना- चिकित्सा सौकर्य के

लिए की है। 'स्थूल. प्रमेही बलवानिहैक. कृशस्तयैकः परिदुर्बलश्च। सबृहण तत्र कृशस्य कार्यं सशोधनं दोषबलाधिकस्य॥' (च० चि० अ० ६)

तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत, स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः॥ ४॥

प्रमेह की सामान्य चिकित्सा—इनमें कृश (सहज प्रमेह वाले) व्यक्ति की चिकित्सा औषधि-सिद्ध अन्न पान तथा वमन, विरेचनादि क्रियाओं के द्वारा और स्थूल (अहिताहारजन्य) व्यक्ति की चिकित्सा अपतर्पण आदि क्रियाओं (लंघन, व्यायाम, शोधन एवं तिक्त, कटु पदार्थों का सेवन) के द्वारा करनी चाहिये॥ ४॥

सर्व एव च परिहरेयुः सौवीरकतुषोदकशुक्तमैरेयसुरासवतोयपयस्तैलघृतेक्षुविकारदधिपिष्टान्नाम्लयवागूपानकानि ग्राम्यानूपौदकमांसानि चेति॥ ५॥

प्रमेह में वर्ज्य पदार्थ—(प्रमेह से पीडित) सभी व्यक्तियों को सौवीरक, तुषोदक, शुक्त, मैरेय, सुरा, आसव, जल, दूध तेल, घी, इक्षुविकार (गुड आदि), दही, पिसा हुआ अन्न, खट्टे शर्बत, ग्राम्य, आनूप और औदक जीवों के मांस का सेवन त्याग देना चाहिये॥ ५॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवोद्दालकाननवान् भुञ्जीत चणकाढकीकुलत्थमुद्गविकल्पेन, तिक्तकषायाभ्यां च शाकगणाभ्यां निकुम्भेङ्गुदीसर्षपातसीतैलसिद्धाभ्यां, बद्धमूत्रैर्वा जाङ्गलैर्मांसैरपहृतमेदोभिरनम्लैर्घृतैश्चेति॥ ६॥

प्रमेह में पथ्य—(प्रमेह रोग में) पुराना शालि, साठी, जौ, कोदो और अरण्य-कोदो तथा चना, अरहर, कुलथी और मूंग विकल्प से (बदल २ कर), दन्ती, इङ्गुदी, सरसों एवं तीसी के तेल में सिद्ध तिक्तगण (चकवड, पटोल आदि) और कषायगण (वट शुंगादिक) के शाक के साथ, अथवा हरिण तथा जगली जीवों के घी और खटाई रहित, मेदशून्य मास के साथ खाना चाहिये॥ ६॥

विमर्शः—चरक ने भी प्रमेह रोग के पथ्य में दन्ती, इङ्गुदी, आदि के तेल का विधान बतलाया है—'दन्तीङ्गुदी तैलयुत प्रमेही तथातसीसर्षपतैलयुक्तम्। सषष्टिक स्याच्तृणधान्यमन्न यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही।' (च. चि. अ. ६)

तत्रादित एव प्रमेहिणं स्निग्धमन्यतमेन तैलेन प्रियङ्ग्वादिसिद्धेन वा घृतेन वामयेत् प्रगाढ विरेचयेच्च, विरेचनादनन्तर सुरसादिकषायेणास्थापयेन्महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैन्धवयुक्तेन, दह्यमानं च न्यग्रोधादिकषायेण निस्तैलेन॥ ७॥

प्रमेह में शोधनविधि—प्रथम स्निग्ध किए गए प्रमेहरोगी को उपर्युक्त किसी तेल (कुम्भादि तैल) अथवा प्रियङ्गु आदि से सिद्ध घृत के द्वारा तीक्ष्ण वमन कराना चाहिए और विरेचन देना चाहिये। विरेचन के पश्चात् सुरसादिगण के कषाय में सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मधु और सेन्धा नमक मिलाकर आस्थापन वस्ति देनी चाहिए तथा दाहयुक्त (प्रमेह रोगी) को तैलरहित न्यग्रोधादिगण के कषाय से आस्थापन वस्ति देनी चाहिये॥ ७॥

ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्तकषायं वा शालकम्पिल्लकमुष्ककल्कमक्षमात्रं वा, मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं, कुटजकपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा, निम्बारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि, एते पञ्च योगाः सर्वमेहानामपहन्तारो व्याख्याताः॥

सर्वप्रमेह में ५ योग—शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को (१) हल्दी में मधु मिलाकर आँवले के रस से पिलावे, (२) अथवा हरड, बहेडा, आँवला, इन्द्रायण, देवदारु और नागरमोथा का क्वाथ पिलावे, (३) अथवा शाल, कबीला और पाढल का कल्क एक कर्ष, हल्दी मिलाकर तथा मधु के द्वारा मीठा करके, आँवले के रस से पिलावे, (४) अथवा कुटज, कैथ, रोहितक, बहेडा और सप्तपर्ण के फूलों का कल्क (आँवले के रस से) पिलावे। (५) अथवा नीम, अमलतास, सप्तपर्ण, मूर्वा, कुटज, सोमवृक्ष और पलाश की छाल, पत्ता, जड़, फल तथा फूल का क्वाथ (मधु और आँवले के रस के साथ) पिलावे। सभी प्रकार के प्रमेहों का नाश करने वाले इन पाँच प्रयोगों का वर्णन किया गया है॥ ८॥

विशेषश्चात ऊर्ध्वं—तत्रोदकमेहिन पारिजातकषायं पाययेत्, इक्षुमेहिनं वैजयन्तीकषाय, सुरामेहिनं निम्बकषायं, सिकतामेहिनं चित्रककषायं, शनैर्मेहिनं खदिरकषायं, लवणमेहिनं पाठाऽगुरुहरिद्राकषायं, पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं, सान्द्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं; शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरञ्जकसेरुककषायं ककुभचन्दनकषाय वा, फेनमेहिनं त्रिफलारग्वधमृद्वीकाकषायं, मधुमधुरमिति?

पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेत्, हरिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायम्, अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं, क्षारमेहिन त्रिफलाकषायं, मञ्जिष्ठामेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषाय, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दुकास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रम्।

२० प्रमेहों में २० योग—इसके आगे विशेष योगों का वर्णन किया जाता है। (१) उदकमेह के रोगी को फरहद का क्वाथ, (२) इक्षुमेह वाले को वैजयन्ती (अरणी) का क्वाथ, (३) सुरामेह वाले को नीम का क्वाथ, (४) सिकतामेह वाले को चित्रक का क्वाथ, (५) शनैःमेही को खैर का क्वाथ, (६) लवणमेही को पाठा, अगर और हल्दी का क्वाथ, (७) पिष्टमेही को हल्दी और दारुहल्दी का क्वाथ, (८) सान्द्रमेही को सप्तपर्ण का क्वाथ, (९) शुक्रमेही को दूब, सेवार, प्लव (केवटीमोथा), हठ (जलकुम्भी), करञ्ज और कशेरू का क्वाथ अथवा अर्जुन और चन्दन का क्वाथ, (१०) फेनमेही को त्रिफला, अमलतास और मुनक्के का क्वाथ, मधु के द्वारा मीठा करके पिलावे

पिलावे। पित्तजन्य नीलमेह वाले को शालसारादिगण का क्वाथ अथवा पिप्पली की छाल का क्वाथ और हरिद्रामेह वाले को अमलतास का क्वाथ पिलावे। अम्लमेह वाले को न्यग्रोधादिगण का क्वाथ, क्षारमेही को त्रिफला का क्वाथ, मञ्जिष्ठामेही को मजीठ और चन्दन का क्वाथ, शोणितमेही को गिलोय, तिन्दुक (कुचला) की गुठली, गम्भारी तथा खजूर का क्वाथ मधु मिलाकर पिलावे।

अत ऊर्ध्वमसाध्येष्वपि योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः; तद्यथा—सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिङ्गुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्, वसामेहिनमरिष्टमन्यकषायं शिंशपाकषायं वा, क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं, हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुःस्पर्शकषायं मधुमधुरं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति; दह्यमानमौदककन्दकाथसिद्धां यवागूं क्षीरेक्षुरसमधुरां पाययेत् ॥ ९ ॥

इसके आगे असाध्य प्रमेहों को भी, याप्य बनाने के लिये योगों का कथन किया जाता है। जैसे कि—सर्पिर्मेही को कूठ, कुटज, पाठा, हींग और कुटकी का कल्क गिलोय तथा चित्रक के क्वाथ से पिलावे। वसामेही को अरणी अथवा शीशम का क्वाथ, क्षौद्रमेही को कदर (श्वेतखदिर) और सुपारी का क्वाथ, हस्तिमेही को तिन्दुक (तेन्दू), कैथ, शिरीष, पलाश, पाठा, मूर्वा और दुरालभा का क्वाथ मधु मिलाकर, तथा हाथी, घोड़ा, सूअर और ऊँट की अस्थि का क्षारोदक पिलावे। दाह वाले रोगी को उदककन्द (जल में उत्पन्न होने वाले कशेरु, सिंघाडा, कमल की जड आदि) के क्वाथ से सिद्ध यवागू, दूध तथा गन्ने के रस से मीठा बनाकर पिलावे ॥ ९ ॥

विमर्शः—व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं। (१) साध्य और (२) असाध्य। साध्य व्याधि के पुनः दो भेद किये जा सकते हैं (१) सुख साध्य और (२) कृच्छ्रसाध्य तथा असाध्य व्याधि भी असाध्य और याप्य दो रूपों में विभक्त हो सकती है। उपर्युक्त योगों का निर्देश असाध्य प्रमेहों को याप्य बनाये रखने के लिये है।

याप्य व्याधि का लक्षण है—'अपनीयं तु तं विद्यात्क्रिया याप्यते हि यत्। क्रियायां तु निवृत्तायां सद्यो यश्च विनश्यति'। प्रमेह रोग में इक्षुविकार (गुड, शर्करा आदि) का सेवन वर्जित किया गया है किन्तु मद्य होते हुए भी मधु का प्रयोग विहित है। मधु योगवाही औषध है, इसके अतिरिक्त प्रमेह को नष्ट करने की इसमें स्वाभाविक शक्ति है। लेखन, विशोधन, मेदनाशक तथा कषायरस युक्त होने के कारण, मधु का प्रयोग प्रमेह रोग के लिए प्रचुर परिमाण में किया गया है। उपर्युक्त सभी क्वाथों में मधु का प्रक्षेप मिलाना चाहिये। 'मधु मधुरमिति वचनं सर्पिर्मेहादिकषायेष्वपि द्रष्टव्यम्' डल्हण.। प्रमेह रोग में जलीय धातु के नष्ट होने पर, पित्तकी वृद्धि के कारण रोगी दाह का अनुभव करता है। अतः इस रोग में यवागूपान का निषेध होते हुए भी दाह की शान्ति के लिये, जलीय कन्दों के क्वाथ से सिद्ध क्षीर इक्षुरस मिश्रित, यवागूपान का विधान, अपवाद स्वरूप केवल पित्तज प्रमेह में ही किया गया है।

ततः प्रियङ्ग्वनन्तायूथिकापद्मात्रायन्तिकालोहितिकाम्बष्ठाडिमत्वक्शालपर्णीपद्मतुङ्गकेशरधातकीबकुलशाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवांश्च कुर्वीत; शृङ्गाटकगिलोड्यबिसमृणालकाशकसेरुकमधुकाम्रजम्ब्वसनतिनिशककुभकट्वङ्गरोध्रभल्लातकपलाशचर्मिवृक्षगिरिकर्णिकाशीतशिवनिचुलदाडिमाजकर्णहरिवृक्षराजादनगोपघोण्टाविकङ्कतेषु वा; यवान्नविकारांश्च सेवेत; यथोक्तकषायसिद्धां यवागूं चास्मै प्रयच्छेत्, कषायाणि वा पातुम् ॥ १० ॥

प्रमेहों में अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव, यवागू एवं कषाय योग—प्रियङ्गु, अनन्तमूल, जूही, भार्गी, त्रायन्तिका (मेंहदी), लोहितिका (मजीठ), पाठा, अनार का छिलका, शालपर्णी, कमल, तुङ्ग (नारियल), नागकेशर, धाय के फूल, मौलसिरी, सेमल, श्रीवेष्टक (सरलनिर्यास विरोजा) और मोचरस के द्वारा अरिष्ट, अयस्कृति (लोहरसायन), अवलेह तथा आसवों का निर्माण करे। अथवा सिंघाडा, गिलोड्य (कमलगट्टा), कमल की जड़, कमलनाल, काश, कशेरु, मुलेठी, आम, जामुन, विजयसार, तिनिश, अर्जुन, अरलू, लोध्र, भिलावा, पलाश, चर्मिवृक्ष, अपराजिता, शीतशिव, जलवेत, अनार, अजकर्ण (सर्जक-शालभेद), हरिवृक्ष, खिरनी, गोपघोण्टा (झडबेर) और विकङ्कत (यज्ञवृक्ष-कण्टकी), के द्वारा अरिष्ट, अयस्कृति, अवलेह तथा आसवों का निर्माण करे और जौ के बने हुए अन्न का सेवन करे। कहे गए द्रव्यों (प्रियङ्गु शृङ्गाटक आदि वर्ग) के कषाय से सिद्ध यवागू या इनका क्वाथ रोगी को पिलावे ॥ १० ॥

विमर्श.—तिनिश स्यन्दन.। चर्मिवृक्ष चर्मलोह इति प्रसिद्धो लकुचद्रुमाकारो महावृक्ष। शीतशिव शनपुष्पाभेद.। हरिवृक्ष इन्द्रवृक्षः, धवाकार इत्येके, कुटज इत्यन्ये पठन्ति, हरि-द्रावृक्ष इत्यपरे पठन्ति। तत्र हरिद्रा प्रसिद्धा, वृक्षः कुटज। यथोक्तेत्यादि अनन्तरोक्तप्रियङ्ग्वादि-शृङ्गाटकादिवर्गैः कृतामिति।

महाधनमहिताहारमौषधद्वेषिणमीश्वरं वा पाठाभयाचित्रकप्रगाढमनल्पमाक्षिकमन्यतममासव पाययेत्, अङ्गारशूल्यवदंशं वा माध्वीकमभीक्ष्णं, क्षौद्रकपित्थमरिचानुविद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेत्, ?

विशिष्ट व्यक्तियों के लिए प्रमेह में विशेष चिकित्सा—विपुल धनशाली, अहिताहार करने वाले, औषधिद्वेषी तथा राजा को, पाठा, हरड़ और चित्रक में से किसी एक के क्वाथ में प्रचुर परिमाण में मधु मिला कर पिलावे, अथवा भट्टी पर निकाले गए माध्वीक को बार बार पिलावे। मधु, कैथ और मरिच मिश्रित पेय तथा आहार रोगी को दे।

विमर्श.—पाठाभयाचित्रकाणामनुक्तानां कषाय 'कर्षत्रयमनुक्त मपि देयमिति प्रगाढार्थं। अन्ये तु अन्यतममासव पूर्वोक्तं प्रियङ्ग्वादासवम्। अङ्गारशूल्यवदंशमिति भट्टिरोदशन्। माध्वीक मधुयोनिमद्य चिरसस्थितञ्च।

उष्ट्राश्वतरखरपुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु; हिङ्गुसैन्धवयुक्तैर्यूषैः सार्षपैश्च रागैर्भोजयेत्; अविरुद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेद्रसगन्धवन्ति च, प्रवृद्धमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीडागजतुरगरथपदातिचर्यापरिक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सेवेरन् ॥ ११ ॥

रोगी को ऊँट, खच्चर और गधा के लीद का चूर्ण अन्न में मिला कर खाने को दे। हींग और सेन्धा नमक मिश्रित यूष और सरसों युक्त राग के साथ भोजन करावे। जो विरोधी न हों इस प्रकार के रस और गन्ध युक्त पेय, तथा भोजन का प्रयोग रोगी के लिए करे। बढ़े हुए प्रमेह वाले रोगी को व्यायाम, कुश्ती, खेल, हाथी और घोड़े की सवारी, रथचर्या, पदातिचर्या, भ्रमण, अस्त्र एवं उपास्त्र का अभ्यास करना चाहिए ॥ ११ ॥

विमर्शः—राग -सिताम्लचुक्रसिन्धूत्थ मवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृत । व्यायामोऽङ्गाना विविध प्रकार आयाम, तथा चोक्तम्-'तुलाश्रमगुणाकर्षधनुराकर्षणादिभि.। आयामो विविधोऽङ्गानां व्यायाम इति कीर्त्तित'। नियुद्ध बाहुयुद्धम्। रथचर्या पदातिचर्याश्च जमदग्निराह-'सर्वदिग्भागमार्गेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु। शस्त्रास्त्रैर्यस्तु सयोग स चर्येति प्रकीर्त्यते'। डल्हण ।

अधनस्त्ववान्धवो वा पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्याशी ग्रामैकरात्रवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिक वा गच्छेत्, महाधनो वा श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्, तन्मूत्रशकृद्भक्षः सततमनुव्रजेद्गाः, ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः खनेद्वा कूप, कृश तु सततं रक्षेत् ॥ १२ ॥

साधनरहित व्यक्तियों के लिये प्रमेह में विशेष चिकित्सा—धनहीन या बन्धु बान्धव रहित प्रमेह रोगी, बिना जूता पहने तथा छाता लगाये, भिक्षावृत्ति धारण करते हुए, एक ग्राम में एक दिन ठहर कर, मुनि के समान इन्द्रियों को वश में करके, सौ योजन या इससे अधिक यात्रा करे, अतुल सम्पत्ति शाली, श्यामाक (सावां) और नीवार (तीनी का चावल) खाकर, आँवला, कैथ, तिन्दुक (तेंदू) तथा अश्मन्तक (पाषाणभेद) का फलाहार करते हुए मृगों के साथ रहे एव गौ के गोवर और मूत्र का सेवन करते हुये निरन्तर उसके पीछे भ्रमण करे। यदि रोगी ब्राह्मण हो तो शिलोञ्छवृत्ति धारण करके ब्रह्मरथ का उद्धार करे या वेदाध्ययन करे। शूद्र निरन्तर कृषि करे या कूप खोदे। कृश रोगी की रक्षा सदा करनी चाहिए ॥ १२ ॥

विमर्शः—भूमिपतितस्योत्सृष्टस्य कणश शस्यग्रहणं शिलः, कणशो धान्यग्रहणमित्यर्थः। भूमिष्ठमात्रस्य शस्यस्य ग्रहणमुञ्छः। ब्रह्मरथं ब्राह्मणाधिष्ठित शकटमुद्धरेत्, अथवा ब्रह्म एव रथो ब्रह्मरथस्तमुद्धरेत्, धारयेद् वेदमित्यर्थः। पापरोगप्राय. प्रमेहो वेदाध्ययनान्नाशमुपैति। इतर. शूद्र.। (डल्हण.)

भवति चात्र—

अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्नतन्द्रितः।
संवत्सरादन्तराद्वा प्रमेहात् प्रतिमुच्यते ॥ १३ ॥
इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

जैसे कि—निर्धन व्यक्ति, वैद्य के आदेशानुसार आलस्य रहित हो, इस प्रकार का आचरण करते हुए एक वर्ष में या उसके अन्दर ही प्रमेह रोग से मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहपिडकाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

प्रमेहपिडकाचिकित्सोपक्रम-इसके अनन्तर प्रमेह पिडका की चिकित्साविधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥

शराविकाद्या नव पिडकाः प्रागुक्ता; ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ता मृद्व्योऽल्परुज. क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः ॥ ३ ॥

साध्य प्रमेहपिडकाओं के लक्षण—शराविका आदि नव पिडकाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है, इनमें बलवान् व्यक्ति की अल्प, त्वचा एव मांस में स्थित, मृदु, अल्प वेदना वाली और शीघ्र पकने तथा फूटने वाली पिडकायें साध्य होती हैं ॥ ३ ॥

ताभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्। तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं वनस्पतिकषायं वस्तमूत्र चोपादिशेत्; एवमकुर्वतस्तस्य मधुराहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तो भवति, तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत; एवमकुर्वतस्तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणिते प्रदूष्य शोफं जनयन्त्युपद्रवान् वा कांश्चित्, तत्रोक्तः प्रतीकारः सिरामोक्षश्च, एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्रं रुजो विदाहमापद्यते, तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च, एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः; तस्मादादित एव प्रमेहिणमुपक्रमेत् ॥४॥

प्रमेह पिडकाओं में अवस्थानुसार क्रियाविशेष का निर्देश-इनसे (शराविका आदि से) पीडित प्रमेह रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये। इन पिडकाओं के पूर्वरूप में अपतर्पण (लघन), वनस्पतियों (वटआदि) का क्वाथ और बकरे का मूत्र सेवन कराना चाहिये। इस नियम का पालन न करते हुए मधुर पदार्थों का सेवन करने वाले उस रोगी का मूत्र, स्वेद, और श्लेष्मा मीठा हो जाता है तथा प्रमेह रोग की अभिव्यक्ति होती है। इस दशा में वमन विरेचन दोनों प्रकार के सशोधनों का सेवन कराना चाहिये। इस प्रकार न करने वाले रोगी के बढ़े हुए पदो, मांस तथा रक्त को दूषित कर शोथ या अन्य उपद्रवों को उत्पन्न कर देते हैं। इस दशा में पूर्वोक्त (अपतर्पण से विरेचन

तक एकादश उपक्रम) चिकित्सा विधि का प्रयोग और शिरावेध करना चाहिए। इस चिकित्सा क्रम का उल्लंघन करने वाले रोगी का शोथ वृद्धि को प्राप्त होता है, उसमें अत्यधिक पीड़ा होती है और विदाह (पाक) उत्पन्न हो जाता है। इस दशा में शस्त्रक्रिया एवं व्रण चिकित्सा विधि (व्रण के ६० उपक्रम) का प्रयोग करना चाहिये। इन क्रियाओं को उपयोग में न लाने वाले रोगी का बढा हुआ पूय (शोथ के अन्दर एकत्रित) अन्दर की वस्तुओं (मांस, लसीका आदि) को फाड़कर (गलाकर) बहुत बडा खोखला (Cavity) बना देता है और असाध्य हो जाता है। इसलिए प्रारम्भ से ही (पूर्वरूप की अवस्था से ही) प्रमेह के रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥

विमर्शः—उत्सङ्ग इव उत्सङ्ग, व्रणाशये हि चिरकालपूयावस्थानेनावदारितमन्त्रप्रदेशान्तरं निम्नमुत्सङ्गतुल्यत्वात् उत्सङ्ग इत्युच्यते। उत् ऊर्ध्वं पूयस्य सङ्ग उत्सङ्ग इत्यन्ये (डल्हणः) चरक ने भी प्रमेह पिडकाओं की चिकित्सा के लिए शल्यशास्त्र को ही उपयोगी माना है—प्रमेहिणा याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सद्म। ताः शल्यहृद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण सशोधनरोपणैश्च ॥' (च० चि० अ० ६)

भल्लातकबिल्वाम्भुपिप्पलीमूलोदकीर्यावर्षाभूपुनर्नवाचित्रकशटीम्नुहीवरुणकपुष्करदन्तीपथ्या दशपलोन्मिता यवकोलकुलत्थांश्च प्रास्थिकान् सलिलद्रोणे निष्काथ्य चतुर्भागावशिष्टेऽवतार्य वचात्रिवृत्कम्पिल्लकभार्गीनिचुलशुण्ठीगजपिप्पलीविडङ्गरोध्रशिरीषाणा भागैरर्धपलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेन्मेहव्यथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्रधिपिडकानां नाशनं नाम्ना धान्वन्तरम् ॥ ५ ॥

धान्वन्तर घृत—भिलावा, बेल सुगन्धवाला, पिप्पलीमूल, करञ्जिया, रक्तपुनर्नवा, श्वेतपुनर्नवा, चित्रक, कचूर, सेहुण्ड, वरुण, पोहकरमूल, दन्ती और हरड़ प्रत्येक द्रव्य दश पल, जौ, बेर और कुलथी एक एक प्रस्थ, इन द्रव्यों का एक द्रोण जल में चतुर्थांश अवशेष रहने तक क्वाथ किया जावे। क्वाथ को अग्नि से उतार कर इसमें वच, निशोथ, कबीला, भार्गी, जलबेंत, सोंठ, गजपिप्पल, विडङ्ग, लोध और शिरीष आधा-आधा पल का कल्क डालकर एक प्रस्थ घृत पकावे। मेह, शोथ, गुल्म, उदर, अर्श, प्लीहा, विद्रधि और पिडकाओं को नष्ट करने वाला यह धान्वन्तर घृत है ॥ ५ ॥

विमर्श—डल्हण के मत से यह योग प्रक्षिप्त है—'अनार्षोऽयं योगः, जेज्जटाचार्येण नोक्तत्वात्, तस्मान्न पठनीयः।'

दुर्विरेच्या हि मधुमेहिनो भवन्ति मेदोऽभिव्याप्तशरीरत्वात्, तस्मात्तीक्ष्णमेतेषां शोधनं कुर्वीत। पिडकापीडिताः सोपद्रवाः सर्व एव प्रमेहा मूत्रादिमाधुर्ये मधुगन्धसामान्यात् पारिभाषिकीं मधुमेहाख्यां लभन्ते ॥ ६ ॥

प्रमेहरोग में तीक्ष्णशोधन का उपदेश—शरीर में मेद की अधिकता के कारण मधुमेह से पीडित रोगी दुर्विरेच्य होते हैं अर्थात् उन्हें विरेचन बडी कठिनाई से होता है। इसलिए उन्हें तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए। पिडका जुष्ट और उपद्रव युक्त सभी प्रमेह, मूत्र आदि की मधुरता में मधु के तुल्य गन्ध धारण करने के कारण पारिभाषिक रूप से मधुमेह संज्ञा प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

न चैतान् कथंचिदपि स्वेदयेत्, मेदोबहुत्वादेतेषां विशीर्यते देहः स्वेदेन ॥ ७ ॥

इनमें किसी प्रकार का स्वेदन नहीं देना चाहिए क्योंकि मेद की अधिकता के कारण स्वेदन से उनका शरीर गलता है ॥७॥

रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः, ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडकाः प्रादुर्भवन्ति ॥

शरीर के निम्न भाग में ही पिडका होने में कारण—रसायनियों (रस, पित्त, कफ और रक्त को बहाने वाली धमनियों) की दुर्बलता के कारण प्रमेह रोगियों के दोष ऊपर की ओर (ऊर्ध्वभाग में) नहीं उठते, इसलिए मधुमेह के रोगियों में शरीर के निम्नभाग में ही पिडकाओं की उत्पत्ति होती है ॥ ८ ॥

विमर्शः—रसायनीनामित्यत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन रसपित्तकफशोणितवहाना धमनीनामित्यर्थः। दौर्बल्यादिति। सर्वशरीरगतस्य सर्वद्रववातोरपानव्यानाम्नामधोऽनुलोम्यमानत्वाद् रसादिवहानामपि धमनीनामध एव बलवत्त्व नतूर्ध्वमित्यर्थः, रसहारणीनामिति केचित् पठन्ति। (डल्हणः)

अपक्वानां तु पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः, पक्वानां व्रणवदिति; तैलं तु व्रणरोपणमेवादौ कुर्वीत, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, शालसारादिकषायं परिषेचने, पिप्पल्यादिकषायं पानभोजनेषु, पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टाक्षुद्रावृहतीसारिवासोमवल्कसप्तपर्णारग्वधकुटजमूलचूर्णानि मधुमिश्राणि प्राश्नीयात् ॥ ९ ॥

अपक्व तथा पक्व पिडकाओं की विशेष चिकित्सा—अपक्व पिडकाओं की चिकित्सा, शोथ की भाँति और पक्व की व्रण की भाँति करनी चाहिए। व्रणरोपण द्रव्यों से सिद्ध तैल का प्रयोग प्रारम्भ में ही करना चाहिए। आरग्वधादिगण का क्वाथ उत्सादन (निम्नव्रण को ऊँचा करना) के लिए, शालसारादि गण का क्वाथ परिषेक के लिए, पिप्पल्यादिगण का क्वाथ पीने तथा भोजन में प्रयोग में लाना चाहिए और पाठा, चित्रक, काकजंघा, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, अनन्तमूल, सोमवल्क (कायफल), सप्तपर्ण, अमलतास तथा कुटज की जड का चूर्ण मधु मिलाकर चाटना चाहिए ॥ ९ ॥

शालसारादिवर्गकषायं चतुर्भागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुनरुपनीय साधयेत्, सिध्यति चामलकरोध्रप्रियङ्गुदन्तीकृष्णायस्ताम्रचूर्णान्यावपेत्, एतदनुपदग्धं लेहीभूतमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगमुपयुञ्जीत, एष लेहः सर्वमेहानां हन्ता ॥ १० ॥

प्रमेह में शालसारादि लेह—शालसारादिगण के द्रव्यों का चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ अग्नि से उतार, छानकर, पुनः अग्नि पर पकावे, इस क्वाथ में पाक के समय आँवला, लोध, प्रियङ्गु, दन्ती, काले लोह का चूर्ण (भस्म) और ताम्रचूर्ण मिलावे, इसे जलने से बचाते हुए लेह (चाटने योग्य) के समान

होने पर अग्नि से उतार कर सुरक्षित स्थान में रखे। फिर विधान के अनुसार इसका सेवन करे। यह अवलेह सभी मेहों का नाशक है ॥ १० ॥

त्रिफलाचित्रकत्रिकटुकविडङ्गमुस्तानां नव भागास्तावन्त एव कृष्णायश्चूर्णस्य; तत्सर्वमैकध्यं कृत्वा यथायोगं मात्रा सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, एतन्नवायसम्; एतेन जाठर्यं न भवति, सन्नोऽग्निराप्यायते, दुर्नामशोफपाण्डुकुष्ठरोगाविपाककासश्वासप्रमेहाश्च न भवन्ति ॥ ११ ॥

प्रमेह में नवायस लौह—हरड, बहेडा, आँवला, चित्रक, सोंठ, मरिच, पिप्पल, विडङ्ग और नागरमोथा इन द्रव्यों का मिलित नव भाग और इनके समान कृष्णलोह चूर्ण (भस्म) को एक साथ मिलाकर, इसकी उपयुक्त मात्रा मधु तथा घृत के साथ सेवन करे। यह नवायस है। इसके सेवन से स्थूलता (जाठर्य्यं स्थौल्यम्) नहीं होती, मन्द अग्नि भी प्रदीप्त होती है तथा दुःख देने वाले शोथ, पाण्डु, कुष्ठरोग, अन्न का परिपाक न होना, कास, श्वास और प्रमेह आदि नहीं होते ॥ ११ ॥

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्थांशावशेषिते।
परिस्रुते ततः शीते मधु माक्षिकमावपेत् ॥ १२ ॥
फाणितीभावमापन्न गुडं शोधितमेव च।
श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च ॥ १३ ॥
ऐकध्यमावपेत् कुम्भे संस्कृते घृतभाविते।
पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्तेऽन्तःशुचौ दृढे ॥ १४ ॥
श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान्।
खदिराङ्गारतप्तानि बहुशः सन्निपातयेत् ॥ १५ ॥
सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत्।
मासांस्त्रींश्चतुरो वाऽपि यावद्दालोहसक्षयात् ॥ १६ ॥
ततो जातरसं तं तु प्रातः प्रातर्यथाबलम्।
निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥ १७ ॥
कार्श्यकृद्बलिनामेष सन्नस्याग्नेः प्रसाधकः।
शोफघ्नः गुल्महृत् कुष्ठमेहपाण्ड्वामयापहः ॥ १८ ॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः।
अभिष्यन्दापहरणो लोहारिष्टो महागुणः ॥ १९ ॥

प्रमेह में लोहारिष्ट—शालसारादिगण के द्रव्यों का चतुर्थांश क्वाथ अवशिष्ट रहने पर अग्नि से उतार कर छान ले और शीतल होने पर इसमें मधु तथा उसी क्वाथ में गलाकर बनाया गया गुड का शुद्ध राब एवं पिप्पल्यादिगण के द्रव्यों का महीन पिसा हुआ चूर्ण मिलाकर धूप आदि से संस्कृत घृत से भावित इसे पिप्पलचूर्ण और मधु एवं पुते हुए, पवित्र, दृढ घडे में रखे। बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण लोह के अनेक चिकने पत्रों को खैर के अंगार पर तपाकर इसमें डाले। फिर भलीभाँति घडे का मुख बन्द कर उसे तीन चार मास या जब तक लोह गल न जाय, जौ की राशि में रखे। इसके सिद्ध होने पर, प्रतिदिन प्रात काल अग्नि-बल और विधान के अनुसार अनुकूल आहार करते हुए इसका सेवन करे। यह बलवान (मोटे) व्यक्ति को कृश तथा मन्द अग्नि को दीप्त करता है, शोथनाशक है, गुल्म, कुष्ठ, मेह और पाण्डुरोग को मिटाता है, प्लीहोदर तथा विषमज्वर को शीघ्र नाश करता है एवं अभिष्यन्द (मूत्राभिष्यन्द) को दूर करता है। यह लोहारिष्ट महागुणशाली है ॥ १२–१९ ॥

प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्।
विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते ॥ २० ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहपिडकाचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

प्रमेह निवृत्ति के लक्षण—जिस समय प्रमेहग्रस्त रोगी का मूत्र पिच्छिलतारहित, स्वच्छ, रूक्ष, तिक्त और कटु हो जाय उसे निरोग समझना चाहिए ॥ २० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो मधुमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

मधुमेह चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर मधुमेह की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जारहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १–२ ॥

मधुमेहित्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम्।
योगेनानेन मतिमान् प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥ ३ ॥

चिकित्सकों से परित्यक्त, मधुमेह प्रमेह के रोगी की चिकित्सा को प्राप्त बुद्धिमान वैद्य को इस योग के द्वारा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

मासे शुक्रे शुचौ चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः।
जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥ ४ ॥

शिलाजीत की उत्पत्ति—शुक्र (ज्येष्ठ) और शुचि (आषाढ़) मास में सूर्य की किरणों द्वारा तपे हुए पर्वत, शिलाखण्डों से, लाख के तुल्य स्वरस, टपकाते हैं ॥ ४ ॥

शिलाजत्विति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम्।
त्रय्वादीनां तु लोहानां पण्णामन्यतमान्वयम् ॥ ५ ॥

इसे शिलाजतु कहते हैं, यह सभी व्याधियों को नष्ट करता है। इसका सबन्ध रागा आदि ६ धातुओं (१ रांगा, २ सीसा, ३ ताम्र, ४ रौप्य, ५ सुवर्ण और ६ कृष्णलौह) में किसी एक धातु से रहता है ॥ ५ ॥

ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षड्व्यानिप्रथितं क्षितौ।
लोहाद्भवति तद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥ ६ ॥

शिलाजीत के भेद तथा धातुविशेष के अनुसार रस वीर्य में विशेषता—भूतल पर इसके उत्पादक ६ स्थान प्रसिद्ध हैं, जिनका ज्ञान धातुओं के अपने अपने गन्ध से होता है। लोह धातु से लाख के तुल्य उत्पन्न होने के कारण इसे शिलाजतु कहते हैं।

तस्य लोहस्य तद्वीर्यं रसं चापि बिभर्ति तत्।
त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम् ॥ ७ ॥
यथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठे श्रेष्ठगुणाः स्मृताः।

शिलाजतु की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता—लोह अर्थात् धातुओं में सम्बन्धित होने के कारण शिलाजतु इन धातुओं के वीर्य रस (वर्णन का प्रभाव) को भी धारण करता है। जिस प्रकार रांगा, सीसा और लोह आदि धातु उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं उसी प्रकार इनसे उत्पन्न शिलाजतु भी गुण में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम् ॥ ८ ॥
कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा ।

शिलाजीत के सामान्य गुण—सभी प्रकार के शिलाजतु तिक्त, कटु, कषाय सर (रेचक) विपाक में कटु, उष्ण, वीर्य, शोषक तथा छेदन करने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

तेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं च यत् ॥ ९ ॥
गोमूत्रगन्धि यच्चापि तत् प्रधानं प्रचक्षते ।

प्रधान शिलाजीत के लक्षण—इनमें जो शिलाजतु काला, भारी, स्निग्ध, शर्करा (रेत) रहित और गोमूत्र की गन्ध वाला होता है वह श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ ९ ॥

तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषो दिनोदये ॥ १० ॥
पिबेत् सारोदकेनैव श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम् ।
जाङ्गलेन रसेनान्नं तस्मिञ्जीर्णे तु भोजयेत् ॥ ११ ॥

शिलाजीत के प्रयोग का विधान—वमन विरेचन के द्वारा शुद्ध शरीर वाला रोगी, शालसारादिगण के क्वाथ की भावना देकर महीन पिसे हुए शिलाजतु को, शालसारादि गण के क्वाथ के साथ ही अग्नि-बल के अनुसार प्रातःकाल सेवन करे और औषधि पाचन होने पर जांगलजीवों के मांस रस के साथ अन्न का आहार करे ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—छेदन द्रव्य का लक्षण—श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानु-मूलयति यद्बलात्। छेदनं तद्यथा क्षारो मरिचानि शिलाजतु ॥ शिलाजतु एक रसायन औषधि है। चरक ने चार धातुओं को ही शिलाजतु का स्थान माना है'—नात्युष्णशीत धातुभ्यश्च तुभ्यस्तस्य सम्भव.। हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वर कृष्णायसादपि। रसायन तद्विधिभिस्तद् वृष्य तच्च रोगनुत्। शिलाजतु का गुण वर्णन करते हुए चरक लिखते हैं—'न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वय यन्न जयेत्प्रसह्य। तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्त स्वस्थस्य चोर्जां विपुला ददाति ॥' (च० चि० अ० १) शिलाजतु देखने में तारकोल के समान काला और गाढ़ा द्रव होता है जो सूखने पर चमकीला तथा भंगुर हो जाता है। यह जल में घुलनशील है किन्तु एलकोहोल, क्लोरोफार्म या ईथर आदि में नहीं घुलता। आधुनिक विश्लेषण के अनुसार निम्नलिखित वस्तुएँ शुद्ध शिलाजतु में पायी जाती हैं। जल ९५%, ऐन्द्रिय द्रव्य ३६.२०% पार्थिव द्रव्य ३४.९५% (Nitrogenous maltero) १.३% चूना ७.८०% और अभ्रक १.३५% सम्भवतः भौतिक तत्त्वों के इस अनुपात के कारण ही शिलाजतु में गुणों का संचय हुआ है जिसकी प्रशंसा आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों ने मुक्तकण्ठ से की है। शिलाजतु वृक्क तथा वस्ति रोगों को दूर करने वाला उत्तम द्रव्य है। इसके प्रयोग से वृक्क की रक्तवाहिनियाँ फैल जाती है जिससे उनमें रक्त अधिक पहुँचता है और सम्भवतः मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। इसका प्रयोग मूत्र के द्रवभाग को ही बढाता है। यदि मूत्र में (Phosphates या Albumin) आता हो तो इसके प्रयोग से वह घट जाता है। शिलाजतु रक्त द्वारा यकृत् में पहुँच कर सम्भवतः उसे उत्तेजित करता है क्योंकि इसके सेवन से पित्त अधिक निकलता देखा गया है। पित्ताशय शोथ या अश्मरी में इसके प्रयोग से लाभ पहुँचता है। यदि पित्तसञ्चय या अवरोध के कारण पाण्डु, कामला हो गया हो तो इसका सेवन लाभ पहुँचाता है। यकृत् की शर्करा निर्माण प्रक्रिया पर भी इसका प्रभाव देखा गया है क्योंकि इसके प्रयोग से मूत्र तथा रक्त में (Sugar) की मात्रा कम हो जाती है। शिलाजतु रक्तभार (Blood Pressure) को ही कम करता है शिलाजतु के प्रयोग से त्वचा की रक्तवाहिनियों के फैलने पर स्वेद की मात्रा बढ़ जाती है जिससे त्वचा का शोथहर जाता है। इसके सेवन से बढ़ा हुआ मेद घटता है। इस क्रिया में (Metabolism) की उत्तेजना सम्भवतः सहायक होती है। शिलाजतु शरीर में बल, वीर्य उत्पन्न कर जरा को दूर करता है अतः इसे रसायन कहते हैं। 'शिवागुटिका' शिलाजतु से निर्मित आयुर्वेद जगत् की प्रसिद्ध औषधि है जिसके प्रयोग से मधुमेह (Blood Pressure) आदि रोगों में महान् लाभ होता है। केवल शुद्ध शिलाजतु का सेवन भी मूत्र में आने वाले (Sugar) की मात्रा को कम करने के लिए उपयोगी है। मधुमेह को नष्ट करने के लिए शालसारादिगण के क्वाथ के साथ इसका सेवन विधान आगे बतलाया गया है।

उपयुज्य तुलामेव गिरिजादमृतोपमात् ।
वपुर्वर्णबलापेतो मधुमेहविवर्जितः ॥ १२ ॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः ।
शत शत तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके ॥ १३ ॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः ।
मेह कुष्ठमपस्मारमुन्माद श्लीपद गरम् ॥ १४ ॥
शोष शोफार्शसी गुल्म पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
अपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम् ॥१५॥
न सोऽस्ति रोगो य चापि निहन्यान्न शिलाजतु ।
शर्करा चिरसंभूतां भिनत्ति च तथाऽश्मरीम् ॥१६॥
भावनालोडने चास्य कर्तव्ये भेषजैर्हितैः ।

इस प्रकार अमृत तुल्य गुण वाले शिलाजतु की एक तुला (सौ पल) सेवन करने पर रोगी मधुमेह से मुक्त हो कर, कान्तिमान और बलवान बनता है तथा अजर, अमर (देवताओं की तरह) की भाँति सौ वर्ष की पूर्ण आयु तक जीवित रहता है। एक एक तुला शिलाजतु का सेवन करने पर आयु के सौ सौ वर्ष की वृद्धि तथा दश तुला सेवन करने पर एक सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त होती है। भल्लातक के विधान में कही गई परिहार विधि का पालन, शिलाजतु सेवन काल में करना चाहिए। शिलाजतु के सेवन से अल्प काल में ही मेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, गर (विष) दोष, शोफ, शोथ, अर्श, गुल्म, पाण्डु और विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं। ऐसी व्याधि कोई नहीं है जिसे शिलाजतु नष्ट न करता हो। यह दीर्घ काल से उत्पन्न शर्करा तथा अश्मरी का भेदन करता है। इसमें हितकर औषधियों की भावना देनी चाहिए तथा उनके साथ ही इसे घोलना चाहिए ॥ १२-१६ ॥

एवं च माक्षिक धातु तापीजमप्यमृतोपमम् ॥ १७ ॥

मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम् ।
पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान् ॥ १८ ॥

मधुमेह से स्वर्णमाक्षिक का विधान—इसी प्रकार तापी नदी से उत्पन्न अमृततुल्य, मधुर, स्वर्ण के सदृश मालूम पड़ने वाले अथवा रजत की कान्ति वाले अम्ल माक्षिक-धातु (स्वर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक) पीने से बुढ़ापा, कुष्ठ, मेह, पाण्डु और क्षय आदि रोग नष्ट होते हैं ॥ १२-१८ ॥

विमर्शः—स्वर्ण माक्षिक तथा रौप्य माक्षिक भेद से माक्षिक दो प्रकार का होता है। इसकी उत्पत्ति तापी नदी के किनारे मानी गई है, किन्तु आजकल माक्षिक बिहार, नेपाल, पञ्जाब और बुन्देल खण्ड की खियासतों में पर्याप्त पाया जाता है, विदेशों से भी इसका आयात अधिक मात्रा में होता है। स्वर्ण माक्षिक लोह का उपधातु है। कुछ ग्रन्थ स्वर्ण के अभाव में इसका प्रयोग बतलाते हैं। सम्भवतः वे स्वर्णमाक्षिक में सोने का कुछ अंश मानते हैं। परन्तु आधुनिक विश्लेषण के अनुसार इसमें लोह, गन्धक तथा अल्पांश ताम्र का भाग पाया जाता है। अतः इसे लोह का Compound माना गया है और इसे Iron sulphide कहा जाता है। माक्षिक रसायन औषधि है। रसरत्नसमुच्चय कारने इसका गुणानुवाद इन शब्दों में किया है—'माक्षिकधातु सकलामयघ्नः प्राणो रसेन्द्रस्य परं हि वृष्यः। दुर्मल्लोहद्वयमेलनश्च गुणोत्तरः सर्वरसायनाग्र्यः। लोह धातु का Comnound होने के कारण इसका प्रयोग पोषण के लिए लोह तथा स्वर्ण के स्थान पर पाया जाता है। प्रमेह, क्षय, जीर्णज्वर और मन्दाग्निजन्य पाण्डु रोगों में यह अग्नि को दीप्त करता हुआ रक्त के लाल कणों को शीघ्र पोषित करता है। लोह Comdound रक्त-वाहिनियों को सङ्कुचित करते हैं, यदि कहीं से रक्तस्राव होता हो तो इनके प्रयोग से वह बन्द हो जाता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से रक्तपित्त में लोह तथा लोह Compound का प्रयोग प्रचलित है। शरीर में रक्तवृद्धि करने तथा बल्य होने के कारण क्षय, कास, शोथ आदि रोगों में विशेषतः माक्षिक का प्रयोग किया जाता है।

तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थाश्च विवर्जयेत् ।
पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम् ॥ १९ ॥

शिलाजतु तथा माक्षिक धातु का सेवन करने वाले रोगी को कबूतर और कुलथी का सेवन त्याग देना चाहिए। पञ्चम धातु अस्थि गत कुष्ठ में संशोधन, संशमन आदि क्रियाओं से लाभ न होने पर, श्रद्धावान् और जीने की इच्छा रखने वाले (कुष्ठ रोगी की चिकित्सा अधोलिखित योग के द्वारा होनी चाहिए) ॥ १९ ॥

विमर्श—पञ्चकर्मगुणातीतमित्यत्र वमनादीना पञ्चकर्म गुणानामप्राप्तफलमित्येके, तत् तु न सम्यक्, यत पञ्चशब्देन पञ्चमधात्वन्वितं कुष्ठमुक्तम्, तत्र कर्माणि संशोधनशमनान्यङ्गयुग्गुलुशिलाजतुप्रभृतीनि, तेषा गुणा फलानि, तान्यतानम्। अन्ये तु पूर्वरूपप्रियया मद्र रसादि-धातूना चतुर्णा क्रियासमूहः पञ्चकर्माणीति मन्यन्ते। (डल्हण)

योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम् ।
वृक्षाम्लतुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिपु ॥ २० ॥
वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः ।
तेषां फलानि गृह्णीयात सुपक्वान्यम्बुदागमे ॥ २१ ॥
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च ।
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत् ॥२२॥
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात् ।
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ॥ २३ ॥

मधुमेह में तुवरक का विधान—इस योग के द्वारा कुष्ठ रोगी की भी चिकित्सा बुद्धिमान् वैद्य को करनी चाहिए। पश्चिम समुद्र के तट पर स्थित, लहरों के थपेड़ों से उठी हुई वायु के द्वारा कम्पित पत्तों वाले तुवरक वृक्ष के पके हुए फलों को, वर्षा-ऋतु के आगमन पर एकत्रित करे और इन फलों की मींगी निकाल, सुखा कर चूर्ण बनावे तथा तिल के समान द्रोणी (कोल्हू) में पेर कर या कुसुम्भ बीज की भाँति दबा कर तेल निकाले। इस तैल को फिर अग्नि पर पका कर तेल के जलीयांश को जलावे और अग्नि से उतार कर पन्द्रह दिन उपलों की ढेर में रखे ॥ २०-२३ ॥

स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान् ।
चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे ॥ २४ ॥
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम् ।
तत्र मन्त्र प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्र्यते ॥ २५ ॥

बलवान् रोगी स्नेहन तथा स्वेदन से दोषों को दूर कर, पन्द्रह दिन के पश्चात्, शुक्ल पक्ष के शुभ दिन में, चतुर्थ भक्तान्तरित हो कर (तीसरे दिन प्रातः काल) संसर्जन क्रम से पेया, विलेपी आदि के सेवन द्वारा बल प्राप्त करके मन्त्र से पवित्र किए गए तैल की मात्रा (एक कर्ष प्रमाण), पान करे। जिस मन्त्र के द्वारा यह अभिमन्त्रित किया जाता है उसे कहता हूँ ॥ २४-२५ ॥

विमर्शः—चतुर्थभक्तान्तरित इति पक्षादूर्ध्वं प्रथमेऽह्नि साय प्रातः प्रकृतिभोजनद्वयम्। द्वितीयेऽह्नि प्रातर्मुक्त्वा साय भोजन न कार्यम्, फलाम्लमुष्णोदक वा पाययेत् साय भोजनस्थाने, ततस्तृतीयेऽहनि लघुकोष्ठाय प्रातः स्नेह दद्यात्, एव चतुर्थभक्तान्तरित भवतीत्यर्थ। (डल्हण.) तुवरक का परिचय—'पत्रैस्तु केशराकारैः कलायसदृशैः फलैः। वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरज.॥ गलित कुष्ठ (Leprocy) में तुवरक तैल का प्रयोग आज कल किया जाता है ॥ २४-२५ ॥

'मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय ।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युत ॥ २६ ॥

हे महाप्रभावशाली मज्जसार! सभी धातुओं को शुद्ध करो, शंख, चक्र और गदा को हाथ में धारण करने वाले कृष्ण तुम्हें आज्ञा देते हैं ॥ २६ ॥

तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषा यान्त्यसकृत्ततः ।
अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत् ॥ २७ ॥
पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः ।
पथ्यं परिहरेच्चापि मुद्गयूपौदनाशनः ॥ २८ ॥

इस तेल के प्रयोग से, वमन तथा विरेचन के द्वारा रोगी के दोष एक साथ बाहर निकलते हैं। फिर रोगी को अल्पस्नेह एवं लवणयुक्त शीतल यवागू सायंकाल में पिलावे। इस विधि के द्वारा रोगी पाँच दिन तैल पान करे और एक पक्ष तक

क्रोध आदि का त्याग कर मूंग के यूप के साथ चावल (भात) का भोजन करे ॥ २७-२८ ॥

पञ्चभिर्दिवसैरेव सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते ।
तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ॥ २९ ॥
निहितं पूर्ववन् पश्चात् पिबेन्मासमतन्द्रितः ।
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ॥ ३० ॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम् ।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम् ॥ ३१ ॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना ।
पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ॥ ३२ ॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम् ।
वपुष्मन्तं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम् ॥ ३३ ॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया ।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पाँच दिन में ही रोगी सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त हो जाता है। इसी तेल को खैर के तिगुने क्वाथ में भली भाँति सिद्ध करके, पूर्ववत् उपलों की राशि में पका कर (पन्द्रह दिन के पश्चात्) एक मास तक आलस्य-रहित हो सेवन करे यह सब प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करता है। इस तेल की मालिश करके पूर्वोक्त आहार (मृग का यूष और भात) करे। जिस कुष्ठ रोगी को स्वरभेद हो, नेत्र रक्तवर्ण हों, मांस गल गया हो तथा कीड़े पड़ गए हों, उसे इनके प्रयोग के द्वारा शीघ्र स्वस्थ करे। इस तेल को घृत तथा मधु मिला कर खैर के क्वाथ के साथ पीने और पक्षियों के मांसरस का आहार करने से दो सौ वर्ष की आयु होती है। इस तेल का पचास दिन तक नस्य लेने से यह मनुष्य को उत्तम शरीर वाला, सुनी हुई बात को स्मरण रखने वाला तथा तीन सौ वर्ष की आयु वाला बनाता है। मात्रापूर्वक तुवरक की मज्जा (तेल) का पान करने से यह मनुष्य का शोधन करता है। महा प्रभावशाली तुवरक कुष्ठ एवं प्रमेह को नष्ट करने में उत्कृष्टतम है ॥ २९-३४ ॥

सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः
क्षिप्रस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च ।
पैल्लयं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्
नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन ॥ ३५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मधुमेह-चिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

तुवरक की मज्जा, सेन्धा नमक और अञ्जन (स्रोतोञ्जन) को अन्तर्धूम विधि से जला कर, तुवरक तैल में मिलावे। इस अञ्जन के प्रयोग से अर्म (पाठान्तर पिङ्गरोग) रात्र्यन्ध, काच, नीली रोग और तिमिर नष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः उदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

उदर चिकित्सोपक्रम—इसके अनन्तर उदर रोगों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि । तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि च; अवशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि; सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत । तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः, उत्तरः शस्त्रसाध्यः, कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि वा ॥ ३ ॥

उदर रोगों की साध्यासाध्यता—आठ प्रकार के उदर रोगों का वर्णन पहले (निदान स्थान में) किया जा चुका है। उनमें बद्धगुदोदर तथा परिस्रावी असाध्य एवं शेष कष्ट साध्य होते हैं। सभी उदर रोगों को असाध्य समझते हुए उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। इनमें प्रारम्भ के चार उदर रोग (वातज, पित्तज, कफज और दूषीविष निमित्तज) औषधि साध्य, शेष (प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर एवं दकोदर) शस्त्रसाध्य होते हैं। अधिक समय व्यतीत होने पर सभी उदर रोग शस्त्र साध्य अथवा असाध्य होते हैं ॥ ३ ॥

उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत्; शालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान् नित्यमश्नीयात् ॥ ४ ॥

उदर रोग में पथ्यापथ्य—उदर रोगी को गुरु, अभिष्यन्दी, रूक्ष, विदाही, स्निग्धपिशित (मेदयुक्त मांस) पदार्थों का भोजन तथा स्नान और नदी में तैरना आदि त्याग देना चाहिए। शालि, साठी, जौ, गेहूँ और नीवार (धान्य विशेष) का भोजन प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ४ ॥

तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, तिल्वकार्विपक्केनानुलोम्य, चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगन्धादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, शाल्वणेन चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन च, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥ ५ ॥

वातोदर-चिकित्सा—वातोदर के रोगी को विदारिगन्धादि गण से सिद्ध घृत के द्वारा स्नेहन और लोध्र से सिद्ध घृत के द्वारा विरेचन देकर, पर्याप्त प्रमाण में एरण्ड तैल मिश्रित विदारिगन्धादि गण के क्वाथ से आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे और उदर पर शाल्वण की पुलटिस बांधे। इस रोगी को विदारिगन्धादि गण से सिद्ध दूध और जांगल-जीवों के मांसरस के साथ भोजन करावे और बार-बार स्वेदन करे ॥ ५ ॥

पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्केन सर्पिषा स्नेहयित्वा, श्यामात्रिफलात्रिवृद्विपक्केनानुलोम्य, शार्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च,

पायसेनोपनाह्येदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा ॥ ६ ॥

पित्तोदर चिकित्सा—पित्तोदर के रोगी को मधुर गण (काकोल्यादि गण) से सिद्ध घृत के द्वारा स्नेहन और विधारा, हरड, बहेडा, आंवला और निशोथ से सिद्ध घृत के द्वारा विरेचन देकर, पर्याप्त परिमाण में शर्करा, मधु और घृत मिश्रित न्यग्रोधादि गण के क्वाथ से आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे, उदर पर खीर की पुलटिस बाँधे एवं विदारिगन्धादि गण से सिद्ध दूधके साथ भोजन करावे ॥६॥

श्लेष्मोदरिण तु पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य, स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य, त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलकबीजकल्कैश्चोपनाह्येदुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

श्लेष्मोदर-चिकित्सा—श्लेष्मोदर के रोगी को पिप्पल्यादि कषाय से सिद्ध घृत के द्वारा स्नेहन और सेहुण्ड के दूध से सिद्ध घृत के द्वारा विरेचन देकर, प्रचुर परिमाण में सोंठ, मरिच, पिप्पल, गोमूत्र, यवक्षार और तेल मिश्रित मुष्ककादि गण के क्वाथ से आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे, उदर पर सन, तीसी, धाय के फूल, सुराबीज, सरसों और मूली के बीज के कल्क की पुलटिस बांधे एव कुलथी के क्वाथ में पर्याप्त त्रिकटु-चूर्ण मिलाकर अथवा खीर के साथ भोजन करावे और बार-बार स्वेदन करे ॥ ७ ॥

दूष्योदरिण तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्धमासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा; शुद्धकोष्ठं तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्; इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दशयित्वा भक्षयेद् बल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत्, तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ॥ ८ ॥

दूष्योदर-चिकित्सा—दूषीविषजन्य उदर रोगी को असाध्य समझ कर, सातला सेहुण्ड और शखिनी (कालमेघ भेद) के स्वरस से सिद्ध घृत के द्वारा एक मास या पन्द्रह दिन विरेचन करावे, अथवा सेहुण्ड के दूध, सुरा और गोमूत्र के द्वारा सिद्ध घृत से विरेचन करावे। कोष्ठ शुद्ध होने पर, मद्य के साथ कनेर, गुञ्जा और काकादनी (वायसतिन्दुक) की जड़ का कल्क पिलावे। अथवा काले सर्प से गन्ने के टुकडे या ककड़ी आदि फलों को कटवा कर खावे। अथवा मूलज और कन्दज विषों का सेवन करे। इस क्रिया से रोगी या तो निरोग हो जाता है अथवा अन्य भाव (मृत्यु) को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

विमर्श—दूषीविष—निमित्तज उदर रोग की चिकित्सा में सर्पविष अथवा मूलज और कन्दज विषों का प्रयोग 'विषस्य विषमौषधम्' उक्ति को चरितार्थ करता है। वर्त्तमान होमियोपैथिक चिकित्सा विज्ञान इसी सिद्धान्त पर आधारित है। चरक ने भी क्रियातीत त्रिदोषज उदर रोग में भौतिक तथा सर्पविष के प्रयोग की विधि का प्रतिपादन किया है—'पान भोजनसयुक्त विषमस्मै प्रदापयेत्। यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ॥' (च. चि. अ. १८)

भवति चात्र—

कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च।
सर्वोदरेषु शंसन्ति बहुशस्त्वनुलोमनम् ॥ ९ ॥

उदररोग में दोषानुलोमन की प्रशंसा—जैसे कि-प्रकुपित वायु और मल का संचय उदर रोग की उत्पत्ति के मूल कारण है। अतः सभी उदर रोगों में अनेक बार विरेचन कराना उत्तम माना गया है ॥ ९ ॥

अत ऊर्ध्वं सामान्ययोगान् वक्ष्यामः। तद्यथा—एरण्डतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी, माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम्, उष्ट्रीक्षीराहारो वाऽन्नवारिवर्जी, पक्षं, पिप्पलीं वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनासेवेत, सैन्धवाजमोदायुक्तं वा निकुम्भतैलम्, आर्द्रशृङ्गवेररसपात्रशतसिद्धं वा वातशूलेऽवचार्य, शृङ्गवेररसविपक्वं क्षीरमासेवेत, चव्यशृङ्गवेरकल्कं वा पयसा सरलदेवदारुचित्रकमेव वा, (सु) सुरङ्गीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं वा, ज्योतिष्कफलतैलं वा क्षीरेण स्वजिकाहिङ्गुमिश्रं पिबेत्।

उदर रोगों में कतिपय सामान्य योग-इसके आगे साधारण योगों का वर्णन किया जाता है। जैसे कि—एरण्डतैल प्रतिदिन एक या दो मास केवल गोमूत्र या दूध के साथ जल त्यागकर, सेवन करे, अथवा निराहार रहकर भैंस का मूत्र दूध के साथ सात दिन सेवन करे। अथवा अन्न और जल त्यागकर पन्द्रह दिन ऊँटनी का दूध पीवे या पूर्वोक्त विधान के अनुसार पिप्पली (वर्द्धमान पिप्पली, वातशोणित अध्याय में पठित) का सेवन एक मास करे। अथवा सेन्धा नमक और अजवायन के साथ दन्ती के तेल का सेवन करे। अथवा वातजशूल में सौ आढक आर्द्रक और सोंठ के स्वरस से सिद्ध दन्ती तैल (तन्त्रान्तर में तिल तैल) का सेवन करे। आर्द्रक स्वरस से सिद्ध दूध का सेवन करे। अथवा चव्य और आर्द्रक का कल्क या चीड़, देवदारु और चित्रक का कल्क दूध के साथ सेवन करे। अथवा मुरङ्गी (सहिजन), शालपर्णी, विधारा और पुनर्नवा का कल्क दूध के साथ सेवन करे। अथवा मालकांगनी के तेल में सज्जीखार और हींग मिलाकर दूध के साथ पीवे।

गुडद्वितीया वा हरीतकीं भक्षयेत्, स्नुहीक्षीरभावितानां वा पिप्पलीनां सहस्रं कालेन, पथ्याकृष्णाचूर्णं वा स्नुहीक्षीरभावितमुत्कारिकां पक्वां दापयेत्।

अथवा गुड़ के साथ हरीतकी खावे। अथवा सेहुण्ड के दूध में भिगोई गई एक सहस्र पिप्पली, जितने समय में खा सके खावे, अथवा हरड़ और पिप्पली के चूर्ण में सेहुण्ड के दूध की भावना दे, उत्कारिका (लप्सी) पका कर खावे।

हरीतकाचूर्णं प्रस्थमाढके घृतस्याविप्याङ्गारेष्वभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वाऽर्धमास यव-

पल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीकाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्।

एक प्रस्थ हरड का चूर्ण एक आढक घी में मिला, अग्नि पर पिघलावे और कोंचे से मथकर जौ की राशि में पन्द्रह दिन सुरक्षित रखे, फिर उसे निकाल कर छान लेवे और हरीतकी क्वाथ तथा खट्टा दही मिलाकर पकावे। इसे विधान के अनुसार एक मास या पन्द्रह दिन पिलावे।

गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेत्, विपक्वं चावतार्य शीतीभूतं मन्थानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्, तद्यथायोगं मासं मासार्धं वा पाययेत्।

गाय के दूधमें सेहुण्ड का दूध मिलाकर पकावे, पकने पर अग्नि से उतार कर, शीतल होने पर मथनी से मथकर मक्खन निकाले और उसे सेहुण्ड के दूध के साथ ही पुनः पकावे। इसे विधान के अनुसार एक मास या पन्द्रह दिन पिलावे।

चव्यचित्रकदन्त्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदाहरिद्राशङ्खिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्धकार्षिका भागा राजवृक्षफलमज्जामष्टौ कर्षाः, महावृक्षक्षीरपले द्वे, गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि, एतत् सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्।

चव्य, चित्रक, दन्ती, अतीस, कूठ, सारिवा, त्रिफला, अजवायन, हल्दी, शंखिनी (यवतिक्ता), निशोथ और त्रिकटु, प्रत्येक आधा २ कर्ष, अमलतास के फल की गुद्दी आठ कर्ष, सेहुण्ड का दूध दो पल, गाय का दूध और गोमूत्र आठ-आठ पल, इन सब द्रव्यों को एक प्रस्थ घृत में मिला कर पकावे। इसे विधानानुसार एक मास या पन्द्रह दिन पिलावे।

एतानि तिल्वकघृतचतुर्थानि सर्पींष्युदरगुल्मविद्रध्यष्ठीलानाहकुष्ठोन्मादापस्मारेषूपयोज्यानि विरेचनार्थं; मूत्रासवारिष्टसुराश्चाभीक्ष्णं महावृक्षक्षीरसंभृताः सेवेत; विरेचनद्रव्यकषायं वा शृङ्गवेरदेवदारुप्रगाढम्॥

इन तीनों तथा चौथे तिल्वक घृत (वातव्याधि में पठित) का प्रयोग उदर, गुल्म, विद्रधि, अष्ठीला, आनाह, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार में विरेचन के लिए करना चाहिए। गोमूत्र, आसव, अरिष्ट और सुरा का सेवन सेहुण्ड का दूध मिलाकर बार बार करना चाहिए अथवा विरेचन द्रव्यों के क्वाथ में सोंठ और देवदारु का चूर्ण प्रचुर परिमाण में मिला कर सेवन करना चाहिए॥ १०॥

वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याणां पालिका भागाः पिप्पल्यादिवचादिहरिद्रादिपरिपठितानां च द्रव्याणां श्लक्ष्णपिष्टानां यथोक्तानां च लवणानां, तत्सर्वं मूत्रगणे प्रक्षिप्य महावृक्षक्षीरप्रस्थं च मृद्वग्निना अवघट्टयन् विपचेदप्रदग्धकल्कं, तत्साधुसिद्धमवतार्य शीतीभूतमक्षमात्रा गुटिका वर्तयेत्, तासामेकां द्वे तिस्रो वा गुटिका बलापेक्षया मासांस्त्रींश्चतुरो वा सेवेत, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया विशेषेण महाव्याधिपूपयुज्यते (विशेषेण) कोष्ठजांश्च कृमीनपहन्ति कासश्वासकृमिकुष्ठप्रतिश्यायारोचकाविपाकोदावर्तांश्च नाशयति॥ ११॥

उदर रोग में मूत्र वर्त्ति—वमन द्रव्य (मदनफल आदि), विरेचन द्रव्य (निशोथ आदि-संशोधन-शमनीय अध्याय में पठित), पिप्पल्यादि, वचादि और हरिद्रादि गण (द्रव्य-संग्रहणीय अध्याय में पठित) के द्रव्य तथा पाँचो नमक प्रत्येक एक-एक पल ले, महीन पीसकर चूर्ण बनावे। फिर समस्त चूर्ण को गोमूत्र आदि (आठों मूत्र) मूत्रों में एक प्रस्थ सेहुण्ड के दूध के साथ, कलछी से चलाते हुए, जिसमें कल्क जलने न पावे, धीमी आँच पर पकावे। जब पाक भली-भाँति सिद्ध हो जाय, अग्नि से उतार कर शीतल होने पर एक-एक कर्ष प्रमाण की गोलियाँ बनावे। इनमें से एक, दो, या तीन बत्ती, शक्ति के अनुसार, तीन या चार मास तक सेवन करे। यह आनाहवर्त्ति विशेष कर महाव्याधियों में प्रयुक्त होती है और कोष्ठगत कृमियों को मारती है तथा कास, श्वास, कृमि, कुष्ठ, प्रतिश्याय, अरोचक, अन्न का परिपाक न होना एवं उदावर्त को नष्ट करती है॥ ११॥

मदनफलमज्जकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवत्रिवृत्त्रिकटुकसर्षपलवणानि महावृक्षक्षीरमूत्रयोरन्यतरेण पिष्ट्वाऽङ्गुष्ठमात्रां वर्तिं कृत्वोदरिण आनाहे तैललवणाभ्यक्तगुदस्यैकां द्वे तिस्रो वा पायौ निदध्यात्, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया वातमूत्रपुरीषोदावर्ताध्मानानाहेषु विधेया॥ १२॥

उदर रोग में आनाहवर्त्ति-क्रिया—मैनफल की गिरी, कुटज, जीमूत (देवदाली), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी), धामार्गव (महाकोशातकी), निशोथ, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सरसों और पाँचो नमक को सेहुण्ड के दूध या गोमूत्र किसी एक के साथ पीसकर, अँगूठे के बराबर वर्ति बनावे तथा उदर रोग में आनाह होने पर, रोगी की गुदा में तैल-नमक लगाकर, एक या दो वर्ति प्रवेश करे। इस आनाहवर्ति-क्रिया का प्रयोग वातज, मूत्रज और पुरीषज उदावर्त, आध्मान तथा आनाह में करना चाहिए॥ १२॥

विमर्शः—उदावर्त, आध्मान तथा आनाह इन तीनों व्याधियों में वायु की प्रधानता रहती है, किन्तु लक्षणभेद से इनकी गणना पृथक्-पृथक् की गई है। सुश्रुत ने उदावर्त की उत्पत्ति के अनेक कारण बतलाये हैं तथा इसकी निरुक्ति भिन्न शब्दों में की है—'वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवर्मोद्गिरैः। व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते॥' (सु. उ. अ. ५१) आध्मान का लक्षण—'साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम्॥' (सु. नि. अ १) आनाह रोग, आमरस या मल के आमाशय या पक्वाशय में सञ्चित होने के कारण उत्पन्न होता है—'आम शुष्कं च निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेव विकारमानाहमुदारन्ति॥' (सु. उ. अ. ५६)

प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो

वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः सिरां विध्येत्, विमर्दयेच्च पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थं; ततः संशुद्धदेहं समुद्रशुक्तिकाक्षारं पयसा पाययेत्, हिङ्गुसौवर्चिके वा क्षीरेण, स्नुनेन पलाशक्षारेण वा यवक्षारं, किंशुकक्षारोदकेन वा बहुशः स्नुनेन यवक्षारं, पारिजातकेक्षुरकापामार्गक्षारं वा, तैलसंसृष्टं शोभाञ्जनकयूषं पिप्पलीसैन्धवचित्रकयुक्तं, पूतिकरञ्जक्षारं वाऽम्लसंयुतं विड्लवणपिप्पलीप्रगाढम् ॥ १३ ॥

प्लीहोदर चिकित्सा—प्लीहोदर के रोगी का स्नेहन, स्वेदन, करके दही के साथ भोजन करावे और बायें हाथ में कूर्पर प्रदेश के अन्दर की शिरा का वेधन करे तथा रक्त निकालने के लिए प्लीहा को हथेली से मले। फिर (वमन विरेचन के द्वारा) शुद्ध शरीर वाले रोगी को, समुद्र से निकली हुई शुक्ति का क्षार दूध के साथ पिलावे। अथवा हींग और सज्जीक्षार दूध के साथ पिलावे, या छाने हुए पलाशक्षार के साथ यवक्षार पिलावे। अथवा अनेक बार छाने गए पलाशपुष्पक्षारोदक के साथ यवक्षार पिलावे। अथवा पारिजातक, तालमखाना और अपामार्ग क्षार का सेवन करावे। अथवा तैल मिश्रित सहिजन का काथ पिप्पली, सेन्धा नमक और चित्रक मिलाकर पीवे। अथवा काञ्जी में घोलकर छाने गए पूतिकरञ्ज के क्षार में विडनमक तथा पिप्पली प्रचुर मात्रा में मिलाकर सेवन करे ॥ १३ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः, घृतप्रस्थ तत्तुल्यं च क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत्, एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निमङ्गगुल्मोदरोदावर्तश्वयथुपाण्डुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति। मन्दाग्निर्वा हिङ्ग्वादिकं चूर्णमुपयुञ्जीत ॥ १४ ॥

उदर रोग में षट्पल घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार और सेन्धानमक एक एक पल, घृत तथा दूध एक एक प्रस्थ, इन्हें एक साथ मिलाकर पकावे। यह षट्पलक नामक घृत, प्लीहा, अग्निमान्द्य, गुल्म, उदर, उदावर्त, शोथ, पाण्डु, कास-श्वास, प्रतिश्याय, ऊर्ध्ववात और विषमज्वर को नष्ट करता है। अथवा मन्दाग्नि वाला रोगी हिङ्ग्वादि चूर्ण का उपयोग करे ॥ १४ ॥

यकृदाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः। विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ सिराव्यधः ॥ १५ ॥

यकृदाल्युदर में शिरावेध—यकृदाल्युदर में भी इसी क्रिया विधि का व्यवहार करना चाहिए। इसमें (प्लीहोदरमें) अन्तर यही है कि शिरावेध दाहिने हाथ में करना चाहिए ॥ १५ ॥

मणिबन्ध सकूर्पराभ्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम्।
दहेत सिरां शरेणाशु प्लीहो वैद्यः प्रशान्तये ॥ १६ ॥

प्लीहोदर में सिरादाह—वैद्य प्लीहा की शान्ति के लिए मणिबन्ध (कलाई) को कुछ झुकाकर, बायें अँगूठे की ओर जाती हुई शिरा को (तप्त) बाण से शीघ्र जलावे ॥ १६ ॥

बद्धगुदं परिस्राविणं च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत। परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत, संधानं च यथोक्तं कारयेत्, यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत्, ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेत्, वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोघृत्तर्मिति ॥ १७ ॥

बद्धगुदोदर और परिस्रावी उदररोग की चिकित्सा—बद्धगुद और परिस्रावी उदर में, स्नेहन, स्वेदन एवं अभ्यङ्ग से युक्त रोगी की नाभि के नीचे, वाम भाग में रोमराजी से चार अंगुल स्थान छोड़कर उदर में चीरा लगावे और चार अंगुल आँत बाहर निकाल, भली भाँति परीक्षा करके, बद्धगुदोदर के आँतों के अवरोधक पत्थर, बाल या मल को दूर करे। फिर आँतों में मधु एवं घृत पोतकर, आँतों को यथास्थान स्थापित करके उदर के बाहरी व्रण को सी दे। परिस्रावी उदर में भी इसी प्रकार शल्य को निकाल कर, आँत के स्राव को साफ करके, छिद्रवाली आँत को बराबर मिलाकर उस स्थान में काली चीटियों से कटावे। जब चीटियाँ आँत को पकड़ लें उनका धड़ शिर से अलग कर दे और पहले की भाँति उदर व्रण को सी दे। व्रण का सन्धान पूर्वकथित विधि के अनुसार करे। मुलेठी मिली हुई काली मिट्टी का लेप करके पट्टी बाँध दे। फिर वायुरहित गृह में रोगी को ले जा कर परिचारकों को उनका कर्तव्य समझा दे। इस रोगी को तेल या घी की द्रोणी (टब) में बिठावे और केवल दूध का आहार करावे ॥ १७ ॥

दकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याग्नेः सुपरिगृहीतस्याकक्षात् परिवेष्टितस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्, तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पञ्चनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत्, ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत्, न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत्, सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातीसारश्वासकासपार्श्वदाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसञ्जातप्राणस्य, तस्मात्तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत् निःसृते च दोषे गाढतरमाविकर्कोशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं, तथा नाध्मापयति वायुः; षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा, ततस्त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा, अवशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत; एवं संवत्सरेणागदो भवति ॥ १८ ॥

जलोदर चिकित्सा—जलोदर के रोगी को, वातहर तैल की मालिश तथा उष्णजल से स्वेदन करके, विठावे। समझदार व्यक्ति उसे भली-भाँति कक्षा प्रदेश से पकडकर रखें, वस्त्र लिपटे हुए उस रोगी की नाभि के नीचे, बाईं ओर चार अंगुल रोमराजी से हटकर, व्रीहिमुख शस्त्र (Trocar) से अँगूठे के उदर के बराबर गहरा वेधन करे। इसमें रांगा आदि किसी धातु की अथवा पख (पक्षियों के पंख) की दोनों ओर मुख वाली नली लगाकर दोषयुक्त जल को बाहर निकाले। इसके बाद नली को निकाल कर, तैल तथा नमक का लेप करके, व्रण पर पट्टी बाँध दे। एक ही दिन में समस्त दोषयुक्त जल को न निकाले, क्योंकि सहसा सम्पूर्ण जल निकलने पर तृष्णा, ज्वर, अङ्गमर्द, अतिसार, श्वास और पाददाह उत्पन्न हो जाते हैं अथवा दुर्बल रोगी के उदर में अत्यधिक जल भर जाता है। इसलिए तीन, चार, पाँच, छः, आठ, दश, बारह और सोलह दिन में से किसी एक का अन्तर देकर, दोषयुक्त जल को थोड़ा-थोडा निकालना चाहिए। दोषोदक के निकल जाने पर भेड़ के चमडे, रेशमी वस्त्र या किसी अन्य चमडे से उदर को बाँध देना चाहिए। इस प्रकार वायु के द्वारा आध्मान (Tympanites) नहीं होता। छै मास तक दूध या जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन करावे। इसके पश्चात् तीन महीने तक आधा जल मिले हुए दूध, फलों के खट्टे रस या जंगली जीवों के मासरस के साथ भोजन दे तथा शेष तीन महीने तक हितकर, हल्का अन्न सेवन करावे। इस प्रकार एक वर्ष में रोगी रोगरहित हो जाता है ॥ १८ ॥

भवति चात्र—

आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं श्रृतं जाङ्गलजो रसो वा ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

उदर रोगों में दूध और जांगल जीवों के मांसरस का प्रयोग-जैसा कि'—कुशल वैद्य को, उदर रोग के सभी रोगियों के लिए आस्थापन, विरेचन आदि क्रियाओं तथा पीने और आहारविधि में, औषधिसिद्ध दूध अथवा जांगल जीवों का मांसरस प्रयोग करना चाहिए ॥ १९ ॥

विमर्श.—आजकल जलोदर की चिकित्सा में जल निकालने के लिए जिस विधि का प्रयोग किया जाता है उसे Tapping कहते हैं। इस विधि में Trocar and Cannula शस्त्र से Peritoneal cavity में वेधन किया जाता है। इस क्रिया का प्रयोग कभी-कभी अनेक बार करना पडता है। शस्त्र-क्रिया विधि का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—'The bladder having been emptied, and the anaesthetic injected at the area selected, usually the midline just above the pubes, the skin is incised and the trocar thrust boldly through the abdominal wall, a proceeding which may produce some shock when no more fluid escapes even no squeezing from the flanks, the trocar is with drawn and the incision closed, and sealed with a collodion dressing A tight wide binder must be applied

'The Science and practice of surgery'

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

मूढगर्भचिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर मूढगर्भ की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जाता है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥१ २॥

नातोऽन्यत् कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम्; अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन, उत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जूकरणदारणानि चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता, तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत ॥ ३ ॥

मूढगर्भ शल्य को निकालने के समान दूसरा कठिन (शक्य) कर्म नहीं है। इसमें योनि, यकृत्, प्लीहा, आन्त्र-गुहा तथा गर्भाशय के मध्य में, स्पर्श के द्वारा, कार्य करना पडता है। उत्कर्षण (अधोगत गर्भ को ऊपर उठाना), अपकर्षण (ऊर्ध्वगत गर्भ को नीचे करना), स्थानापवर्तन (उत्तान गर्भ का मुख नीचे की ओर करना), उद्वर्त्तन (नीचे की ओर मुख वाले गर्भ को उत्तान करना), उत्कर्तन (ऊपर उठे हुए किसी अंग को काटना), भेदन, छेदन (मृतगर्भ के अंगों को काट कर टुकड़े करना), पीडन (दबाना), ऋजूकरण (टेढ़े गर्भ को सीधा करना) और दारण (फाडना) आदि कार्य, गर्भ और गर्भिणी की रक्षा करते हुए, एक हाथ से करने पड़ते हैं। इसलिए राजा की अनुमति लेकर, बडी सावधानीके साथ कार्य करना चाहिए॥

तत्र समासेनाष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा; स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति-शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा ॥ ४ ॥

मूढगर्भ के प्रकार—मूढगर्भ की गति संक्षेप में आठ प्रकार की होती है। प्राकृतिक रूप से भी तीन प्रकार की रुकावटें (गर्भ में) होती है, (१) शिर की वक्रता के कारण, (२) अंसप्रदेश (शिर और बाहु) की वक्रता के कारण तथा (३) जघन प्रदेश (कटि का अग्रभाग) की वक्रता के कारण ॥

जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत। निर्हर्तुमशक्ये च्यावनान् मन्त्रानुपश्रृणुयात्; तान् वक्ष्यामः ॥ ५ ॥

मूढगर्भ में मन्त्र प्रयोग—जीवित गर्भ की स्थिति में सूतिका के गर्भ को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि

गर्भ के निकलने में कठिनाई हो तो 'च्यावन (गर्भ गिरानेवाले) मन्त्रों' को सुनाना चाहिए। उन मन्त्रों का कथन किया जाता है ॥ ५ ॥

'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी।
उच्चैश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ ६ ॥

हे सुन्दरि! तुम्हारे इस मन्दिर (गृह) में अमृत, सोम (चन्द्रमा), चित्रभानु (सूर्य) और उच्चैःश्रवा नामक (इन्द्र का अश्व) घोडे का निवास हो ॥ ६ ॥

इद ममृतमपां समुद्भृतं वै तव लघु गर्भमिम प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शांतिम्

हे स्त्रि! यह अमृत समुद्र से निकाला गया है, तुम्हारे गर्भ को यह शीघ्र मुक्त करे। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र तथा समुद्र तुम्हें शान्ति प्रदान करें ॥ ७ ॥

मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्तः सर्वभयाद्गर्भ एह्येहि विरमावितः ॥ ८ ॥

पशु के बन्धन खुल गए, सूर्य ने अपनी किरणें फैला दीं। हे गर्भ! तुम सब विघ्न-बाधाओं से मुक्त हुए, आओ, आओ और सुरक्षित रहो ॥ ८ ॥

औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि। मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वननगवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नाघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत् तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाऽऽक्षेत्, एकसक्थ्ना प्रतिपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्योपहरेत्, स्फिग्देशं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्योपहरेत्, तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य पश्चादर्धमूर्ध्वमुत्क्षिप्य पूर्वार्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्; पार्श्वोपवृत्तशिरसमसं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत्, बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यासौ शिरोऽनुलोममानीयापहरेत्, द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत् ॥ ९ ॥

मूढगर्भ में गर्भ निकालने की क्रिया—पूर्वकथित (शारीर स्थान में अपरापातन के लिए पठित) औषधियों का भी प्रयोग करे। गर्भस्थ शिशु की मृत्यु होने पर, गर्भिणी को चित्त लिटावे और दोनों जघा सिकोड कर, कटि के नीचे कपडे की गद्दी लगा, कटिभाग को कुछ ऊँचा करे। फिर धन्वन (धनु वृक्षो बदरीसदृशपत्रः), नगवृत्तिका (शल्लकी) और सेमल का लुआब तथा घी हाथ में लेप कर, योनि में प्रवेश करे और गर्भ को निकाले। इनमें जंघाओं (पैरों) के द्वारा निकले हुए गर्भ को अनुलोमरूप में ही खींचे। एक जघा के बाहर आने पर दूसरी जंघा को भी फैलाकर गर्भ को निकाले। नितम्ब को दबा कर ऊँचा उठावे और जघाओं को फैलाकर, गर्भ को निकाले। तिरछे आये हुए तथा अर्गला (किवाड को बन्द रखने के लिए लगाने वाला डंडा) की भाति बेंढे गर्भ के पिछले आधे भाग (नितम्ब, पैर) को ऊपर उठा कर, अगले आधे भाग (शिरो भाग) को योनिमार्ग में सीधा करके, गर्भ को निकाले। पार्श्व की ओर शिर मुडे हुए गर्भ में, कन्धे को दबा कर ऊपर उठावे और शिर को योनिमार्ग में लाकर गर्भ को निकाले। दोनों हाथों के द्वारा बाहर आये हुए गर्भ में गर्भ को ऊपर उठावे और ऊर्ध्वभाग को अनुलोम दिशा में लाकर गर्भ को निकाले। अन्त के दो मूढगर्भ असाध्य होते है। जिस मूढगर्भ में इन क्रियाओं से फल न निकले, उसमें शस्त्र प्रयोग करना चाहिए ॥ ९ ॥

विमर्शः—पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के अनुसार, उपर्युक्त मूढगर्भों का नामकरण, निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है। (१) सक्थिभ्यामागतम् (Full breech presentation) (२) एकसक्थ्ना प्रपन्नस्य (Footling or knee presentation) (३) स्फिग्देशेनागतस्य (Franc breech presentation) (४) तिर्यगागतस्य (Transvers presentation) (५) पार्श्वोपवृत्तशिरसम् (Transvers presentation with prolapse of hands) (६) बाहुद्वयप्रतिपन्नस्य (Complex presentation) Complex or Compound presentation तथा Foot and knee presentation असाध्य माने गए हैं। मूढगर्भ की इन अवस्थाओं में शस्त्रावचारण की आवश्यकता होती है।

सचेतन च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्।
दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत् ॥ १० ॥
अविषह्य विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्।
न गर्भिण्या विपर्यासस्तस्मात्प्राप्तं न हापयेत् ॥ ११ ॥

मूढगर्भ को निकालने के लिए शस्त्र-प्रयोग—जीवितगर्भ को कभी शस्त्र से नहीं काटना चाहिए, क्योंकि काटने पर माता और शिशु दोनों की मृत्यु हो जाती है। असहनीय व्याधि की दशा में गर्भपात कराना कल्याणकारी होता है। गर्भिणी की मृत्यु न हो इसलिए उपस्थित वस्तु को नहीं छोडना चाहिए अर्थात् उस समय गर्भिणी की रक्षा करनी चाहिए ॥ १०-११ ॥

ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य, शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत्; अभिन्नशिरसमक्षिकूटे गण्डे वा, अंससक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्, जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति ॥ १२ ॥

स्त्री को आश्वस्त करके मण्डलाग्र (Round head knife) या अंगुलिशस्त्र (Finger knife) से गर्भके शिर को फाडे और शिर तथा कपालास्थियों को बाहर खींचकर शंकुयन्त्र (Blunt hook and crotchet) के द्वारा छाती या कक्षा पकडकर गर्भ को बाहर निकाले। शिर के न टूटने पर अक्षिकूट या कपोल प्रदेश पकड़कर, कधा फँसने पर, अंसप्रदेश से बाहु को काट कर, मशक के समान फूले या वायु से भरे हुए उदर वाले गर्भ के उदर मे चीरा लगा, आँतों को निकाल, गर्भके शिथिल होने पर उसे बाहर निकाले। नितम्ब प्रदेश के फँसने पर जघन कपालों को काटकर गर्भ को निकाले ॥ १२ ॥

किंबहुना—
यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ १३॥

अधिक क्या कहा जाय—उस गर्भ का जो जो अङ्ग रुकता हो उसे काटकर भलीभाँति वैद्य बाहर निकाले और यत्नपूर्वक नारी की रक्षा करे॥ १३॥

गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः।
तत्रानल्पमतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम्॥ १४॥

वायु के प्रकोप से गर्भ की गति (स्थिति) नाना प्रकार की हो जाती है, ऐसी दशा में बुद्धिमान वैद्य को विधिपूर्वक कार्य करना चाहिए॥ १४॥

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशु यथा॥ १५॥

बुद्धिमान् वैद्य, एक क्षण भी मृतक गर्भ की उपेक्षा न करे, क्योंकि वह माता को उसी प्रकार शीघ्र मार डालता है जिस प्रकार श्वास रुकने से पशु की मृत्यु हो जाती है॥ १५॥

मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेद्यमन्तर्विजानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन॥ १६॥

शस्त्रकर्म के ज्ञाता वैद्य को, मण्डलाग्र शस्त्र (Circular knife) के द्वारा अन्दर छेदन कर्म करना चाहिए, क्योंकि वृद्धिपत्र (Scalpel) का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है, उससे छेदन करने में स्त्री की प्राणहानि संभावित है॥ १६॥

अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्।
हस्तेनापहरेद्वाऽपि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा॥ १७॥

यदि अपरापातन न होता हो तो वैद्य, पूर्वोक्त विधि (शारीर स्थान में पठित) के द्वारा अपरापातन करावे अथवा हाथ से पार्श्वभाग को दबाकर निकाले॥ १७॥

धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद्वांऽसपिण्डिकाम्।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक्॥ १८॥

बुद्धिमान् वैद्य, तैलसिक्त योनि वाली उस स्त्री को धीरे-धीरे (हाथ-पैर पकडवाकर) हिलाकर या कंधे को दबाकर अपरापातन करावे॥ १८॥

एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत्॥ १९॥

शस्त्रकर्म के पश्चात्कर्म—इस प्रकार जिस नारी का शल्य (मूढगर्भ) निकला हो उसे उष्ण जल से स्नान करावे और शरीर में तेल की मालिश करके योनि में तेल (पिचु) रखे॥ १९॥

एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।
कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिङ्गुभार्गीः सदीप्यकाः॥ २०॥
वचामतिविषां रास्नां चव्यं संचूर्ण्य पाययेत्।
स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च॥ २१॥
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम्।
शाकत्वग्धिङ्ग्वतिविषापाठाकटुकरोहिणीः॥ २२॥
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत् पूर्ववद्भिषक्।
त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत्॥ २३॥
पाययेतासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्।
शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम्॥ २४॥
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत्।
सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना॥ २५॥
स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता।
पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम्॥ २६॥

इस प्रकार योनि कोमल होती है तथा योनिशूल भी शान्त हो जाता है। पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, इलायची, हींग, भार्गी, अजवायन, वच, अतीस, रास्ना और चव्य का चूर्ण, दोषों को बाहर निकालने तथा वेदना की शान्ति के लिए, घृत के साथ पिलावे अथवा इन औषधियों का स्नेह-रहित क्वाथ, कल्क या चूर्ण खिलावे। वरुण की छाल, हींग, अतीस, पाठा, कुटकी तथा तेजवल का चूर्ण बनाकर भी वैद्य, पूर्वोक्त विधि के अनुसार (घी के साथ) पिलावे। इसके पश्चात्, तीन, पाँच या सात दिन पुनः स्नेहपान करावे और रात्रि में विधिपूर्वक बना हुआ आसव या अरिष्ट पिलावे। शिरीष और अर्जुन का क्वाथ आचमन (कुल्ला या पान) के लिए हितकर होता है। अन्य उपद्रवों (वातरोग ज्वर आदि) के लिए तदनुकूल चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से शुद्ध हुई नारी नित्य स्निग्ध, हितकर और अल्प भोजन करे, स्वेदन और अभ्यङ्ग करावे तथा क्रोध न करे। दश दिन तक भोजन में वातहर द्रव्यों से सिद्ध (शतपुष्पा आदि) दूध का सेवन करे॥ २०-२६॥

रसं दशाहं शेषे तु यथायोगमुपाचरेत्।
व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च वरवर्णिनीम्॥ २७॥
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत् परिहारतः।
योनिसन्तर्पणेऽभ्यङ्गे पाने बस्तिषु भोजने॥ २८॥
बलातैलमिदं चास्यै दद्यादनिलवारणम्।

शेष दिनों में अनुकूल आहार का सेवन कराना चाहिए तथा उपद्रव रहित, विशुद्ध, और सुन्दर वर्ण होने पर, चार मास के बाद आहार-विहार के बन्धन से मुक्त कर देना चाहिए। इस नारी (प्रसूता) के योनि संतर्पण, अभ्यङ्ग, पान, बस्ति तथा भोजन में वातनाशक अधोलिखित बलातैल का प्रयोग करना चाहिए॥ २७-२८½॥

बलामूलकषायस्य दशमूलीश्रृतस्य च॥ २९॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथस्य पयसस्तथा।
अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदेकतः॥ ३०॥
पचेदावाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम्।
तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च॥ ३१॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम्।
मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम्॥ ३२॥
शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम्।
तत् साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृन्मयेऽपि वा॥ ३३॥

प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्त निधापयेत् ।
बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत् ॥ ३४ ॥
यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत् ।
या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान् ॥ ३५ ॥
वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा ।
भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते ॥ ३६ ॥
एतदाक्षेपकादीन् वै वातव्याधीनपोहति ।
हिक्कां कासमधीमन्थं गुल्मं श्वासं च दुस्तरम् ॥३७॥
षण्मासानुपयुञ्जैतदन्त्रवृद्धिमपोहति ।
प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः ॥ ३८ ॥
राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः ।
सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः ॥ ३९ ॥

सूतिका रोग में बलातैल—खरेटी की जड़ का क्वाथ, दशमूल का क्वाथ, जौ, बेर और कुलथी का क्वाथ तथा दूध आठ-आठ भाग और तेल एक भाग, इनमें मधुर गण के द्रव्य (काकोल्यादिगण), सेन्धानमक, अगर, राल, धूपवृक्ष, देवदारु, मजीठ, चन्दन, कूठ, इलायची, नगर, जटामासी, छड़ीला, तेजपात, तगर, सारिवा, वच, शतावर और पुनर्नवा का कल्क डालकर एक साथ पकावे। तैल के भलीभाँति सिद्ध होने पर, सोना, चाँदी या मिट्टी के पात्र में अच्छी तरह भरकर सुरक्षित स्थान में रखे। यह बलातैल के नाम से प्रसिद्ध है तथा सभी वातव्याधियों को नष्ट करता है। प्रसूता को उसकी शक्ति के अनुसार इस तैल की मात्रा का सेवन कराना चाहिए। गर्भ धारण की इच्छावाली स्त्री, नष्टशुक्र-वाले पुरुष, वायु से क्षीण, मर्मस्थान में चोट लगे हुए, कुचले हुए, चोट लगे हुए, हड्डी टूटे हुए और थकावट से पीड़ित व्यक्तियों के लिए सभी विधियों से (अभ्यङ्ग, पान, बस्ति और भोजन आदि में) इस तैल का प्रयोग करना चाहिए। यह तैल आक्षेपक आदि वातव्याधियों को नष्ट करता है। भयङ्कर हिक्का, कास, अधिमन्थ, गुल्म, श्वास और अन्त्रवृद्धि आदि रोग छः मास तक इस तैल का सेवन करने से नष्ट हो जाते हैं। इस तैल के सेवन से पुरुष के रस रक्तादि धातुओं की वृद्धि होती है तथा उसका यौवन स्थिर रहता है। राजाओं, राजाओं की कोटि के मनुष्यों, सुखी, सुकुमार और सम्पत्तिशाली पुरुषों के लिए इस तैल का निर्माण करना चाहिए ॥ २९-३९ ॥

बलाकषायपीतेभ्यस्तिलेभ्यो वाऽप्यनेकशः ।
तैलमुत्पाद्य तत्काथशतपाक कृतं शुभम् ॥ ४० ॥
निवाते निभृतागारे प्रयुञ्जीत यथाबलम् ।
जीर्णेऽस्मिन् पयसा स्निग्धमश्नीयात् षष्टिकौदनम् ॥
अनेन विधिना द्रोणमुपयुञ्जान्नमीरितम् ।
भुञ्जीत द्विगुणं कालं बलवर्णान्वितस्ततः ॥ ४२ ॥
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः शतायुः पुरुषो भवेत् ।
शतं शतं तथोत्कर्षो द्रोणे द्रोणे प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥

शतपाक बलातैल—अनेक बार बला क्वाथ की भावना दिए हुए तिलों से तेल निकाल कर, उसे बलाकाथ के साथ ही सौ बार पकावे। वायुरहित, एकान्त घर में, शक्ति के अनुसार इसका सेवन करे। इस औषधि का पाचन होने पर दूध के साथ, घृतयुक्त साठी के चावलों का भोजन करे। इस विधि से बलातैल की एक द्रोण मात्रा सेवन करने पर मनुष्य, उपर्युक्त अन्नों का दुगुना आहार करता है, बल, वर्ण सम्पन्न बनता है तथा सभी पापों से मुक्त होकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। एक एक द्रोण तैल के सेवन करने पर आयु में सौ-सौ वर्ष की वृद्धि होती है॥

बलाकल्पेनातिबलागुडूच्यादित्यपर्णिषु ।
सैरेयके वीरतरौ शतावर्यां त्रिकण्टके ॥ ४४ ॥
तैलानि मधुके कुर्यात् प्रसारिण्यां च बुद्धिमान् ।
नीलोत्पलं वरीमूलं गव्ये क्षीरे विपाचयेत् ॥४५॥
शतपाकं ततस्तेन तिलतैलं पचेद्भिषक् ।
बलातैलस्य कल्कांस्तु सुपिष्टांस्तत्र दापयेत् ॥ ४६ ॥
सर्वेषामेव जानीयादुपयोगं चिकित्सकः ।
बलातैलवदेतेषां गुणाश्चैव विशेषतः ॥ ४७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मूढगर्भ-चिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

बला तैल के विधानानुसार गुडूची आदि तैल बनाने का भी निर्देश—बुद्धिमान् वैद्य, बलाकल्क के अनुसार अतिबला, गुडूची, सूर्यावर्त्त, कटसरैया, वीरतरु, शतावर, गोखरू, मुलेठी और प्रसारणी के द्वारा तैल सिद्ध करे। वैद्य, नीलकमल और शतावर की जड़ गौ के दूध में पकावे और इस सिद्ध दूध में बलातैल के कल्क द्रव्यों का भलीभाँति पिसा हुआ कल्क मिलाकर सौ बार तिल तैल का पाक करे। चिकित्सक को इन सभी तेलों के उपयोग और विशेष कर गुणों को, बलातैल के तुल्य समझना चाहिए ॥ ४४-४७ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिका भाषाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर विद्रधियों की चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जारहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

उक्ता विद्रधयः षड् ये तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ।
शेषेष्वामेषु कर्तव्या त्वरितं शोफवत् क्रिया ॥ ३ ॥

आम विद्रधियों में व्रणशोथ की भाँति चिकित्सानिर्देश—जिन ६ प्रकार की विद्रधियों का वर्णन (निदान स्थान में) किया जा चुका है, उनमें सन्निपातज विद्रधि असाध्य होती है। शेष विद्रधियों में अपक्वावस्था में ही शोथ चिकित्सा की भांति (अपतर्पण से विरेचन तक) शीघ्र क्रिया करनी चाहिए ॥

वातघ्नमूलकल्कैस्तु घृततैलवसायुतैः ।
सुखोष्णो बहलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ॥ ४ ॥

सानूपौदकमांसस्तु काकोल्यादिः सतर्पणः।
स्नेहाम्लसिद्धो लवणः प्रयोज्यश्चोपनाहने ॥ ५ ॥
वेशवारैः सकृशरैः पयोभिः पायसैस्तथा।
स्वेदयेत् सतत चापि निर्हरेच्चापि शोणितम् ॥ ६ ॥

वातविद्रधि चिकित्सा—वातज विद्रधि में, वातघ्न (भद्रदार्वादिगण) द्रव्यों की जड के कल्क में घी, तेल और वसा (चर्बी) मिलाकर, सहने योग्य उष्ण तथा गाढा लेप लगाना चाहिए। उपनाह (पुलटिश) के लिए आनूप (महिष आदि) और औदक (मछली आदि) जीवों का मांस, काकोल्यादिगण के द्रव्य, धान का लावा, सेन्धा नमक मिलाकर, स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) तथा काञ्जी के साथ सिद्ध करके, प्रयोग में लाना चाहिए। वेशवार (संस्कृत-मांसविशेष), कृशरा (तिलतण्डुलमापकृता यवागू), दूध तथा पायस (क्षीरसिद्धस्तण्डुलः पायसः) से निरन्तर स्वेदन और रक्तमोक्षण भी करना चाहिए ॥४-६॥

स चेदेवमुपक्रान्तः पाकायाभिमुखो यदि।
त पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याद्विस्रं च शोधयेत् ॥७॥

इस प्रकार की चिकित्सा के अनन्तर भी, यदि उस विद्रधि में पाक के लक्षण उपस्थित हों, तो उसे पकाकर शस्त्र से चीरा लगाना चाहिए और चीरा लगे हुए व्रण का शोधन करना चाहिए ॥ ७ ॥

पञ्चमूलकषायेण प्रक्षाल्य लवणोत्तरैः।
तैलैर्भद्रादिमधुकसयुतैः प्रतिपूरयेत् ॥ ८ ॥

बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ से व्रण को धोकर, भद्रदार्वादिगण के द्रव्य, मुलेठी तथा पर्याप्त लवण मिश्रित तैल से व्रण को भर देना चाहिए ॥ ८ ॥

वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धेन त्रैवृतेन च रोपयेत् ॥ ९ ॥

विरेचक द्रव्यों के चूर्ण से युक्त (संशोधन-शमनीय अध्यायोक्त) त्रैवृत (घृत, तेल, वसा) से व्रण का शोधन कर, पृथक्पर्ण्यादिगण से सिद्ध त्रैवृत (स्नेह) के द्वारा व्रण का रोपण करना चाहिए ॥ ९ ॥

पैत्तिकं शर्करालाजामधुकैः सारिवायुतैः।
प्रदिह्यात् क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचन्दनैः ॥ १० ॥

पैत्तिकविद्रधि चिकित्सा-पित्तज विद्रधि में, शर्करा, धान का लावा, मुलेठी और सारिवा अथवा क्षीरकाकोली, खस, और चन्दन को दूध में पीस कर लेप लगाना चाहिए ॥ १० ॥

पाक्यैः शीतकषायैर्वा क्षीरैरिक्षुरसैस्तथा।
जीवनीयघृतैर्वाऽपि सेचयेच्छर्करायुतैः ॥ ११ ॥
त्रिवृद्धरीतकीनां च चूर्णं लिह्यान्मधुद्रवम्।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् पक्वं चापाट्य बुद्धिमान् ॥१२॥

उपर्युक्त औषधियों के उष्ण या शीत कषाय, दूध और गन्ने के रस से अथवा शर्करायुक्त जीवनीय गण से सिद्ध घृत के द्वारा भी परिषेक करना चाहिए। निशोथ और हरीतकी का चूर्ण मधु मिलाकर चटाना चाहिए तथा पक्व विद्रधि को चीरकर जलौका द्वारा बुद्धिमान् वैद्य को रक्त निकालना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

क्षीरवृक्षकषायेण प्रक्षाल्यौदकजेन वा।
तिलैः सयष्टीमधुकैः सक्षीरैः सर्पिषा युतैः ॥ १३ ॥
उपदिह्य प्रतनुना वाससा वेष्टयेद् व्रणम्।

क्षीरवृक्ष (वट, गूलर आदि) अथवा औदक (कमल, कुमुद आदि) द्रव्यों के कषाय से व्रण को धोकर, मुलेठी, दुग्ध और घृत मिश्रित तिल कल्क का लेप करके, पतले कपड़े से व्रण को बांध देना चाहिए ॥ १३½ ॥

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः ॥ १४ ॥
सहरिद्रैः कृतं सर्पिः सक्षीरं व्रणरोपणम्।
क्षीरशुक्लापृथक्पर्णीसमङ्गारोध्रचन्दनैः ॥ १५ ॥
न्यग्रोधादिप्रवालेषु तेषां त्वक्त्वथवा कृतम्।

प्रपौण्डरीक (पुण्डेरी सुगन्ध द्रव्य), मजीठ, मुलेठी, खस, पद्माख और हल्दी के कल्क के साथ दूध से सिद्ध घृत व्रण-रोपक होता है। क्षीरविदारी, पृष्ठिपर्णी, मजीठ, लोध्र, चन्दन और वट आदि के पत्ते अथवा उनके छाल से सिद्ध घृत व्रण का रोपण करता है ॥ १४-१५½ ॥

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च ॥ १६ ॥
सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा।
द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी ॥ १७ ॥
प्रियङ्गु कुशमूलं च निचुलस्य त्वगेव च।
मञ्जिष्ठाचन्दनोशीरमुत्पल सारिवे त्रिवृत् ॥ १८ ॥
एतेषां कार्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
दुष्टव्रणप्रशमनं नाडीव्रणविशोधनम् ॥ १९ ॥
सद्यश्छिन्नव्रणानां च करञ्जाद्यमिदं शुभम्।
दुष्टव्रणाश्च ये केचिद्ये चोत्सृष्टक्रिया व्रणाः ॥ २०॥
नाड्यो गम्भीरिका याश्च सद्यश्छिन्नास्तथैव च।
अग्निक्षारकृताश्चैव ये व्रणा दारुणा अपि ॥ २१ ॥
करञ्जाद्येन हविषा प्रशाम्यन्ति न संशयः।

करञ्जादिघृत—करञ्ज के नवीन पत्ते तथा कच्चे फल, चमेली के पत्ते, परवल के पत्ते, नीम के पत्ते, हल्दी, दारुहल्दी, मोम, मुलेठी, कुटकी, प्रियगु, कुशा की जड, जलवेत की छाल, मजीठ, चन्दन, खस, कमल, सारिवा, और निशोथ एक एक कर्ष लेकर, इनके कल्क के साथ एक प्रस्थ घृत पकावे। कल्याणकारी यह करञ्जाद्यघृत दुष्ट व्रणों को शान्त तथा नाडी और सद्य छिन्न व्रणों को शुद्ध करता है। अन्य दुष्ट व्रण, असाध्यव्रण, नाडीव्रण, गम्भीरव्रण, सद्यः छिन्न व्रण, अग्नि तथा क्षारदग्ध व्रण और अन्य भयकर व्रण भी इस करञ्जाद्यघृत के प्रयोग से निस्सन्देह शान्त होते हैं ॥

इष्टकासिकतालोष्टगोशकृत्तुषपांशुभिः ॥ २२ ॥
मूत्रैरुष्णैश्च सततं स्वेदयेच्छ्लेष्मविद्रधिम्।
कषायपानैर्वमनैरालेपैरुपनाहनैः ॥ २३ ॥
हरेद्दोषानभीक्ष्णं चाप्यलाब्वाऽसृक् तथैव च।

आरग्वधकषायेण पक्वं चापाट्य धावयेत् ॥२४॥
हरिद्रात्रिवृताशक्तुतिलैर्मधुसमायुतैः।
पूरयित्वा व्रणं सम्यग्बध्नीयात् कीर्तितं यथा ॥२५॥
ततः कुलत्थिकादन्तीत्रिवृच्छ्यामार्कतिल्वकैः।
कुर्यात्तैलं सगोमूत्रं हितं तत्र ससैन्धवम् ॥२६॥

श्लैष्मिकविद्रधिचिकित्सा—कफज विद्रधि को उष्ण ईंट, बालू, पत्थर, गोबर, भूसा, धूलि और गोमूत्र से निरन्तर सेकना चाहिये। क्वाथ, वमन, आलेप और उपनाह से दोषों को तथा अलाबू से रक्त को बार बार निकालना चाहिये। पकी हुई विद्रधि को चीरकर अमलतास के क्वाथ से धोना चाहिए, तथा मधुमिश्रित हल्दी, निशोथ, सत्तू और तिल के कल्क से व्रण को भली भाँति भरकर, पूर्वोक्तविधि (वनेन वामसा श्लैष्मिक गाढनरम्) के अनुसार पट्टी बाँधनी चाहिए। कुलथी, दन्ती, निशोथ, कालानिशोथ, मदार, निलवक, सेन्धानमक और गोमूत्र के द्वारा (कफज विद्रधि के लिए) हितकर तैल सिद्ध करना चाहिए ॥ २२-२६ ॥

पित्तविद्रधिवत् सर्वाः क्रिया निरवशेषतः।
विद्रध्यो कुशलः कुर्याद्रक्तागन्तुनिमित्तयो ॥ २७ ॥

रक्तज-आगन्तुजविद्रधिचिकित्सा—कुशल वैद्य, रक्तज और आगन्तुक विद्रधियों में, पित्तज विद्रधि की भाँति, सम्पूर्ण चिकित्साविधि का प्रयोग करे ॥ २७ ॥

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते।
ऊषकादिप्रतीवापं पिबेन् सुखकरं नरः ॥ २८ ॥

अपक्व अन्तर्विद्रधि चिकित्सा—अपक्व अन्तर्विद्रधि में, ऊषकादिगण के प्रक्षेप से युक्त, सुख देने वाले, वरुणादिगण का क्वाथ रोगी को पिलाना चाहिए ॥ २८ ॥

अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्विरेचनेन च।
अचिराद्विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितम् ॥ २९ ॥

इन दोनों (वरुणादि और ऊषकादिगण) वर्गों और विरेचक द्रव्यों से सिद्ध घृत, प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से विद्रधि शीघ्र नष्ट होती है ॥ २९ ॥

एभिरेव गणैश्चापि ससिद्धं स्नेहसंयुतम्।
कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथैवाप्यनुवासनम् ॥ ३० ॥

इन वरुणादि, ऊषकादि और विरेचक गण के क्वाथ में तैल मिलाकर आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग भी शीघ्र करना चाहिए ॥ ३० ॥

पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥ ३१ ॥

अथवा दोषानुसार पान, आलेप और भोजन में मीठे सहिजन के वृक्ष की छाल का चूर्ण मिलाकर सेवन करने से अपक्व विद्रधि नष्ट होती है ॥ ३१ ॥

तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वाऽपि सुरादिभिः।
यथादोषगणक्वाथैः पिबेद्वाऽपि शिलाजतु ॥ ३२ ॥
प्रधानं गुग्गुलुं चापि शुण्ठीं च सुरदारु च।
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम् ॥ ३३ ॥

अथवा जल, काञ्जी, गोमूत्र और सुरा आदि के साथ मीठे सहिजन के छाल का चूर्ण या वातादि दोषहर गण के क्वाथ के साथ शिलाजतु का सेवन करना चाहिए। सोंठ तथा देवदारु मिश्रित श्रेष्ठ महिषाक्ष गुग्गुलु का भी सेवन कराना चाहिए और स्नेहन, उपनाह एवं अनुलोमन का भी सदा प्रयोग करना चाहिए ॥ ३२-३३ ॥

यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक्।
रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्राहौ वदन्ति तु ॥३४॥

श्लैष्मिकविद्रधि में, सिरावेध—कफज विद्रधि में, पूर्वोक्त विधि (वामपार्श्वे कक्षान्तरयोरभ्यन्तरे) के अनुसार वैद्य को शिरावेध करना चाहिए। कुछ आचार्य रक्तज और पित्तज विद्रधि में, बाहु में (कूर्पर प्रदेश में) शिरावेध की अनुमति देते हैं ॥

पक्वं वा बहिरुन्नद्धं भित्त्वा व्रणवदाचरेत्।
स्नुतेपूर्ध्वमधो वाऽपि मैरेयाम्लसुरासवैः ॥ ३५ ॥
पेयो वरुणकादिस्तु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा।
शिग्रुमूलजले सिद्धं समिद्धार्थकमोदनम् ॥ ३६ ॥
यवकोलकुलत्थानां यूषैर्भुञ्जीत मानवः।
प्रातः प्रातश्च सेवेत मात्रया तैल्वकं घृतम् ॥ ३७ ॥
त्रिवृताद्गिणक्वाथसिद्धं वाऽप्युपशान्तये।

पक्वविद्रधिचिकित्सा—पकी हुई या बाहर की ओर उभरी हुई विद्रधि को चीर कर, व्रण के समान उपचार करना चाहिए। ऊपर या नीचे के मार्ग से फूटकर बहने वाली विद्रधि में मैरेय, काञ्जी, सुरा और आसव के साथ वरुणादि गण के द्रव्य या मीठे सहिजन के छाल का चूर्ण पीना चाहिए। सहिजन की जड़ के क्वाथ से सिद्ध सरसो युक्त भात (चावल), जौ, बेर और कुलथी के यूष के साथ रोगी को खिलाना चाहिये। अथवा प्रतिदिन प्रातःकाल विद्रधि की शान्ति के लिए अल्प मात्रा में तिल्वक घृत (वातव्याधि में पठित) या त्रिवृतादिगण के क्वाथ से सिद्ध घृत का सेवन करना चाहिए ॥

नोपगच्छेद्यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥ ३८ ॥

विद्रधि को पाक से बचाने का निर्देश—वैद्य को ऐसा यत्न करना चाहिए कि विद्रधि में पाक न हो ॥ ३८ ॥

पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता।
प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजाते तु विद्रधौ ॥ ३९ ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम्।
विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्वेवाऽस्थि तु भेदयेत् ॥४०॥

मज्जागतविद्रधिचिकित्सा—विद्रधि में पाक होने पर सफलता अनिश्चित रहती है अतः मज्जागत विद्रधि की चिकित्सा असाध्य समझ कर करनी चाहिए। स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त रोगी का रक्तमोक्षण करना चाहिए। (मज्जागत विद्रधि में) पाक होने पर विद्रधि-चिकित्सा के लिए कही गई क्रियाविधि का प्रयोग या अस्थि का भेदन करना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

निःशल्यमथ विज्ञाय कर्तव्यं व्रणशोधनम्।
धावेत्तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तथा हितम् ॥ ४१ ॥

विद्रधि व्रण के, शल्य (पूय आदि) रहित होने पर, व्रण का शोधन करना चाहिए, तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से व्रण को

धोना चाहिए और तिक्त द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए ॥ ४१ ॥

यदि मज्जपरिस्रावो न निवर्तेत देहिनः ।
कुर्यात् संशोधनीयानि कषायादीनि बुद्धिमान् ॥४२॥

यदि रोगी की विद्रधि से मज्जा का बहना बन्द न हो तो संशोधनीय क्वाथों का प्रयोग बुद्धिमान् वैद्य को करना चाहिए॥

प्रियङ्गुधातकीरोध्रकट्फलं तिनिसैन्धवम् ।
एतैस्तैलं विपक्तव्यं विद्रधिव्रणरोपणम् ॥ ४३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विद्रधि-चिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

प्रियङ्गु, धाय के फूल, लोध्र, कायफल, तिनिश (स्यन्दन) और सेन्धा नमक के साथ विद्रधि व्रण को भरने वाला तेल पकाना चाहिए ॥ ४३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

विसर्प नाडी-स्तनरोग की चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर विसर्प, नाडी और स्तन रोग की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

साध्या विसर्पास्त्रय आदितो ये
न सन्निपातक्षतजौ हि साध्यौ ।
साध्येषु तत्पथ्यगणैर्विदध्याद्-
घृतानि सेकांश्च तथोपदेहान् ॥ ३ ॥

विसर्प की साध्यासाध्यता एवं सामान्य चिकित्सा—प्रारम्भ के तीन विसर्प (वातज, पित्तज और कफज) साध्य तथा सन्निपातज और क्षतज विसर्प असाध्य होते हैं। साध्य विसर्पों में वातादि दोषहर गण के द्रव्यों से सिद्ध घृत, सेक और लेप का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

मुस्ताशताह्वासुरदारुकुष्ठवाराहिकुस्तुम्बुरुकृष्णगन्धाः ।
वातात्मके चोष्णगणाः प्रयोज्याः सेकेषु लेपेषु तथा श्रृतेषु
यत् पञ्चमूलं खलु कण्टकाख्यमल्पंमहच्चाप्यथ वल्लिजं च ।
तच्चोपयोज्यं भिषजा प्रदेहे सेके घृते चापि तथैव तैले ॥

वातज विसर्प चिकित्सा—वातज विसर्प में सौफ, देवदारु, कूठ, वाराहीकन्द, धनियां, सहिजन, (शमीत्यपरे) और उष्णगण (भद्रदार्वादि, पिप्पल्यादि) के द्रव्यों को सेक, लेप एवं क्वाथ में तथा कण्टक पञ्चमूल, लघुपञ्चमूल, बृहत्पञ्चमूल और वल्लीपञ्चमूल को प्रदेह, सेक, घृत और तैल पाक के लिए वैद्य को प्रयुक्त करना चाहिए ॥

कसेरुशृङ्गाटकपद्मगुन्द्राः सशैवलाः सोत्पलकर्दमाश्च ।
वस्त्रान्तराः पित्तकृते विसर्पे लेपा विधेयाः सघृताः सुशीताः
ह्रीवेरलामज्जकचन्दनानि स्रोतोजमुक्तामणिगैरिकाश्च ॥
क्षीरेण पिष्टाः सघृताः सुशीता लेपाः प्रयोज्यास्तनवः सुखाय

पित्तज विसर्प चिकित्सा—पित्तज पिसर्प में, व्रण पर वस्त्र रख कर, कसेरु, सिंघाड़ा, कमल, भद्रमुस्ता, सेवार तथा कमल युक्त कीचड़ का घृत मिश्रित शीतल लेप लगाना चाहिए। विसर्प में सुख पहुचाने के लिए सुगन्धवाला, लामज्जकतृण, चन्दन, सौवीराञ्जन, मुक्ता, मणि और गेरू को दूध में पीस कर, घृत मिलावे तथा शीतल पतला लेप करे ॥ ६-७ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पयस्या मञ्जिष्ठिका पद्मकचन्दने च
सुगन्धिका चेति सुखाय लेपः पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्यः
न्यग्रोधवर्गैः परिषेचनं च घृतं च कुर्यात् स्वरसेन तस्य ।
शीतैः पयोभिश्च मधूदकैश्च सशर्करैरिक्षुरसैश्च सेकान् ॥

पुण्डेरी, मुलेठी, चीरविदारी, मजीठ, पद्माख, चन्दन और उत्पल सारिवा के लेप का प्रयोग, पित्तज विद्रधि में सुख पहुचाने (दाहशान्ति) के लिए वैद्य को करना चाहिए। वटादि वर्ग के क्वाथ से परिषेक तथा इनके स्वरस से सिद्ध घृत, शीतल दूध, मधु-मिश्रित जल, शर्बत और गन्ने के रस के द्वारा सेक (Cold compress) करना चाहिए ॥

घृतस्य गौरीमधुकारविन्दरोध्राम्बुराजादनगैरिकेषु ।
तथार्षभे पद्मकसारिवासु काकोलिमेदाकुमुदोत्पलेषु ॥
सचन्दनायां मधुशर्करायां द्राक्षास्थिरापृश्निशताह्वयासु ॥
कल्कीकृतासूदकमत्र दत्त्वा न्यग्रोधवर्गस्य तथा स्थिरादेः
गणस्य बिल्वादिकपञ्चमूल्याश्चतुर्गुणं क्षीरमथापि तद्वत् ।
प्रस्थं विपक्वं परिषेचनेन पैत्तीर्निहन्यात्तु विसर्पनाडीः ॥
विस्फोटदुष्टव्रणशीर्षरोगान्
पाकं तथाऽऽस्यस्य निहन्ति पानात् ।
ग्रहार्दिते शोषिणि चापि बाले घृतं हि गौर्यादिकमेतदिष्टम्

पित्तजविसर्प में गौर्यादि घृत—हल्दी, मुलेठी, लालकमल, लोध्र, सुगन्धवाला, खिरनी, गेरू, ऋषभक, पद्माख, सारिवा, काकोली, मेदा, श्वेतकमल, नीलकमल, चन्दन, मधु की शर्करा, मुनक्का, शालपर्णी, पृष्टिपर्णी और सौफ के कल्क के साथ, वटादिवर्ग, विदारिगन्धादि गण तथा बृहत्पञ्चमूल के चतुर्गुण क्वाथ एवं चतुर्गुण दूध के साथ एक प्रस्थ घृत का पाक किया जावे। इस घृत के परिषेक से विसर्प और नाडी व्रण तथा पीने से विस्फोट, दुष्ट व्रण, शीर्ष रोग (ऊर्ध्वजत्रुगत रोग) और मुखपाक नष्ट होता है। यह गौर्यादि घृत-ग्रह ग्रसित और शोष से पीडित बालक के लिए भी हितकर है ॥ १०-१३ ॥

अजाऽश्वगन्धा सरला सकाला
सैकैपिका चाप्यथवाऽजशृङ्गी ।
गोमूत्रपिष्टो विहितः प्रदेहो हन्याद्विसर्पं कफजं सुशीघ्रम् ॥
कालानुसार्यागुरुचोचगुञ्जारास्नावचाशीतशिवेन्द्रपर्ण्यः ।
पालिन्दिमुञ्जातमहीकदम्बा हिता विसर्पेषु कफात्मकेषु ॥

के बीज और पुष्प का चूर्ण, लाक्षादिगण के क्वाथ से स्वच्छ किए गए नाडीव्रणों पर छिड़कना चाहिए ॥ ३६ ॥

तथा च गोमांसमसीं हिताय
कोष्ठाश्रितस्यादरतो दिशन्ति ।
वर्तीकृतं माक्षिकसंप्रयुक्तं
नाडीव्रमुक्तं लवणोत्तमं वा ॥ ३७ ॥
दुष्टव्रणे यद्विहितं च तैलं
तत्सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात् ॥ ३८ ॥
चूर्णीकृतैरथ विमिश्रितमेभिरेव
तैलं प्रयुक्तमचिरेण गतिं निहन्ति ॥३९॥

इसी प्रकार कोष्ठगत नाडीव्रणों को नष्ट करने के लिए, गोमांस को जलाकर बनाई गई राख (क्षार) को अत्यन्त हितकर कहा गया है। अथवा सेन्धा नमक में मधु मिला कर बनाई गई वर्ति नाडीव्रण के लिए हितकर है दुष्ट व्रणों की चिकित्सा के लिए जिस तैल (द्रवन्ती, चिरबिल्व आदि द्रव्यों से सिद्ध) का वर्णन किया गया है, उसका प्रयोग सभी नाडीव्रणों में वैद्य को करना चाहिए। उपर्युक्त द्रव्यों का चूर्ण तेल में मिला कर प्रयोग करने से नाडीव्रण शीघ्र नष्ट होता है ॥ ३७-३९ ॥

एष्वेव मूत्रसहितेषु विधाय तैलं
तत् साधितं गतिमपोहति सप्तरात्रात् ।
पिण्डीतकस्य तु वराहविभावितस्य
मूलेषु कन्दशकलेषु च सौवहेषु ॥
तैलं कृतं गतिमपोहति शीघ्रमेतत्
कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु ॥ ४० ॥

इन्हीं द्रव्यों के कल्क के साथ गोमूत्र में सिद्ध किया गया तैल, नाडीव्रण को सात दिन में नष्ट करता है। वराह-विभावित पिण्डीतक की जड़ (काले रंग के फूल वाला पिण्डी तक), सुवहाकन्द (गन्धनाकुली) तथा अमरवरायुध साह्वयकन्द (वज्रनामक) के टुकड़ों से सिद्ध किया गया तेल नाडीव्रण को शीघ्र दूर करता है ॥ ४० ॥

विमर्श —पिण्डीतकस्त्रिविध कृष्णपुष्प., श्वेतपुष्प , पीतपुष्पश्च। तेष्वत्र वराहभाविन. कृष्णपुष्पो ग्राह्य । सुवहा गन्धनाकुली नापीणीति लोके, गोधापदीत्यपरे, कान्दालीत्यन्ये, तस्या कन्दशकलेषु कन्दखण्डेषु, कृत संस्कृतम् । कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु इत्यत्र अमरवर इन्द्रस्तस्यायुध वज्र तेन समान आह्वय सज्ञा येषां ते अमरवरायुधसाह्वया वज्रकन्दास्तेषु । (डल्हण)

भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन
सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च ॥ ४१ ॥
स्यान्मार्कवस्य च रसेन निहन्ति तैलं
नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ।

भिलावा, मदार, मरिच, सेन्धानमक, विडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी और चित्रक के कल्क के साथ, भंगरैया के रस में सिद्ध किया गया तेल कफ-वातजन्य नाडीव्रण, अपची एवं व्रणों को नष्ट करता है ॥ ४१ ॥

स्तन्ये गते विकृतिमाशु भिषक् तु धात्रीं
पीतां घृतं परिणतेऽहनि वामयेत्तु ॥ ४२ ॥
निम्बोदकेन मधुमागधिकायुतेन
वान्तागतेऽहनि च मुद्गरसाशना स्यात् ।
एवं त्र्यहं चतुरहं पडहं वमेद्वा
सर्पिः पिबेत्त्रिफलया सह संयुतं वा ॥ ४३ ॥

स्तन्यदोष-चिकित्सा—(दोषों के द्वारा) दूध में विकार उत्पन्न होने पर, धात्री को घृत पिला कर, मधु और पिप्पली युक्त नीम के क्वाथ से संध्या समय वैद्य शीघ्र वमन करावे और वमन हो जाने पर दूसरे दिन मूंग का यूष भोजन के लिए दे। इस प्रकार तीन, चार या ६ दिन वमन कराना चाहिए या त्रिफला मिश्रित घृत पिलाना चाहिए ॥ ४२-४३ ॥

भार्गीं वचामतिविषां सुरदारु पाठां
मुस्तादिकं मधुरसां कटुरोहिणीं च ।
धात्री पिबेत्तु पयसः परिशोधनार्थं-
मारग्वधादिषु वरं मधुना कषायम् ॥ ४४ ॥

भार्गी, वच, अतीस, देवदारु, पाठा, मुस्तादिगण, मूर्वा, कुटकी और आरग्वधादि गण के क्वाथ में मधु मिला कर दुग्ध शुद्धि के लिए धात्री को पीना चाहिए ॥ ४४ ॥

सामान्यमेतदुपदिष्टमतो विशेषा-
द्दोषान् पयोनिपतितान् शमयेद्यथास्वम् ।
रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्या-
द्यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् ॥ ४५ ॥

स्तन्य-विकृति की यह सामान्य चिकित्सा है। स्तन्य विकार को उत्पन्न करने वाले दोषों के प्रकोप के अनुसार, उनकी विशेष चिकित्सा करनी चाहिए—स्तन रोग (स्तन विद्रधि Mammary abscess) की भली भाति परीक्षा करके, विद्रधि चिकित्सा के लिए जिन अनेक विधानों का कथन किया गया है, उनका प्रयोग वैद्य को करना चाहिए ॥ ४५ ॥

संपच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः
संभोजनेन खलु पाचयितुं यतेत ।
शीघ्रं स्तनो हि मृदुमांसतयोपनद्धः
सर्वं प्रकोथमुपयात्यवदीर्यते च ॥ ४६ ॥

पकने वाली स्तन विद्रधि में भी पुलटिस का प्रयोग न कर, यथेष्ट भोजन के द्वारा ही उसे पकाने का यत्न करना चाहिए क्योंकि मृदुमांस से निर्मित स्तन सम्पूर्ण रूप से सड़ जाता है और फट जाता है ॥ ४६ ॥

पक्के तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः
कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम् ।
आमे विदाहिनि तथैव गते च पाकं
धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत ॥४७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विसर्पनाडी-स्तनरोगचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स्तनविद्रधि में पाक होने पर, दुग्ध बहाने वाली नाड़ियों तथा दोनों कृष्ण चूचुक को बचा कर शस्त्रकर्म करना चाहिए। आम (अपक्व), विदग्ध (अर्धपक्व) और पाकयुक्त स्तन विद्रधि की दशा में धात्री के स्तनों से बार-बार दूध निकालना चाहिए ॥ ४७ ॥

विमर्शः—स्तन-विद्रधि की प्रत्येक दशा में धात्री के स्तनों से बार बार दूध निकालने का विशेष प्रयोजन है। विद्रधि की आमावस्था में उसे विदग्धता से बचाने के लिए; विदग्धावस्था में पाक से बचाने के लिए तथा पाकावस्था में नाडीव्रण से रक्षा करने के लिए धात्री के स्तनों से बार-बार दूध निकालते रहना चाहिए। इस कार्य के लिए सम्प्रति Breast pump का प्रयोग किया जाता है।

इत्यायुर्वेददत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो ग्रन्थ्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर ग्रन्थि-अपची-अर्बुद और गलगण्ड की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

ग्रन्थिष्वथामेषु भिषग्विदध्या-
च्छोफक्रियां विस्तरशो विधिज्ञः ।
रक्षेद्बलं चापि नरस्य नित्यं
तद्रक्षितं व्याधिबलं निहन्ति ॥ ३ ॥

आमग्रन्थिचिकित्सा—क्रिया-विधि को जानने वाला वैद्य अपक्व विद्रधि में शोथ-चिकित्साविधि (अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त एकादश क्रिया) का विस्तार से प्रयोग करे और रोगी के बल की सदा रक्षा करता रहे, क्योंकि सुरक्षित किया गया बल, व्याधि की शक्ति को नष्ट करना है॥

तैलं पिबेत् सर्पिरथो द्वयं वा
दत्त्वा वसां वा त्रिवृतं विदध्यात् ।
अपेहि वातादशमूलसिद्धं
वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा ॥ ४ ॥

आमग्रन्थि में स्नेहपानविधि—वैद्य, (ग्रन्थि से पीड़ित रोगी को) तैल या घृत अथवा तैल, घृत दोनों या तैल घृत और वसा तीनों द्रव्यों को मिलाकर, अथवा प्रसारणी और दशमूल से सिद्ध चारों या दो-दो स्नेहों (तैल, घृत, वसा और मज्जा) को पिलावे ॥ ४ ॥

हिस्राऽथ रोहिण्यमृताऽथ भार्गी
श्योनाकबिल्वागुरुकृष्णगन्धाः ।
गोजी च पिष्टा सह तालपत्र्या
ग्रन्थौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः ॥ ५ ॥
स्वेदोपनाहान् विविधांश्च कुर्या-
त्तथा प्रसिद्धानपरांश्च लेपान् ।
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
प्रक्षाल्य बिल्वार्कनरेन्द्रतोयैः ॥ ६ ॥
तिलैः सपञ्चाङ्गुलपत्रमिश्रैः
संशोधयेत सैन्धवसप्रयुक्तैः ।
शुद्धं व्रणं वाऽप्युपरोपयेत्तु
तैलेन रास्नासरलान्वितेन ।
विडङ्गयष्टीमधुकामृताभिः
सिद्धेन वा क्षीरसमन्वितेन ॥ ७ ॥

वातजग्रन्थिचिकित्सा—वातज ग्रन्थि में हिंस्रा, कुटकी, गिलोय, भार्गी, अरल, बेल, अगर, सहिजन, गोजिह्वा और मूसली को पीसकर प्रलेप लगावे एवं विविध प्रकार के स्नेह और उपनाह (पुलटिस) तथा अन्य प्रसिद्ध लेपों का (मिश्रक अध्यायोक्त) प्रयोग करे। अथवा पकी हुई ग्रन्थि को चीरकर पूय निकाले और बेल, मदार तथा अमलतास के क्वाथ से व्रण को धोकर तिल, पूरण्डपत्र और सेन्धा नमक के कल्क से संशोधन करे। रास्ना और निशोथ के चूर्ण को तेल में मिलाकर अथवा विडङ्ग, मुलेठी और गिलोय के कल्क के साथ दूध के द्वारा सिद्ध तैल से शुद्ध व्रण का रोपण करे ॥५-७॥

जलौकसः पित्तकृते हितारतु
क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च ॥ ८ ॥
काकोलिवर्गस्य च शीतलानि-
पिबेत् कषायाणि सशर्कराणि ।
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि
चूर्णं पिबेद्वापि हरीतकीनाम् ॥ ९ ॥
मधूकजम्ब्वर्जुनवेतसानां
त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेत ।
सशर्करैर्वा तृणशून्यकन्दै-
र्दिह्याद्भीरुणं मुचुलुन्दजैर्वा ॥ १० ॥

पित्तजग्रन्थिचिकित्सा—पित्तज ग्रन्थि में जोंक लगाकर रक्त निकालना तथा दूध और जल से परिषेक करना हितकर होता है। काकोलीगण के शीतल क्वाथ में शर्करा मिलाकर अथवा हरीतकी का चूर्ण भी द्राक्षारस या गन्ने के रस के साथ पिलाना चाहिए। महुआ, जामुन, अर्जुन और बेल की छाल का (पीस कर) लेप लगाना चाहिए। अथवा तृणशून्य कन्द (केवड़े की जड़) या मुचुलुन्द (मुचुकुन्द) में शर्करा मिलाकर बार बार लेप लगाना चाहिए ॥ ८-१० ॥

विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
धावेत् कषायेण वनस्पतीनाम् ।
तिलैः सयष्टीमधुकैर्विशोध्य
सर्पिः प्रयोज्यं मधुरैर्विपक्वम् ॥ ११ ॥

पकी हुई ग्रन्थि को चीरकर पूय निकाले और (वट, पीपल, गूलर आदि) वनस्पतियों के क्वाथ से धोवे तथा तिलकल्क एवं मुलेठी के चूर्ण से व्रण का शोधन कर मधुर द्रव्यों (काकोल्यादिगण) के द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग करे ॥ ११ ॥

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या
ग्रन्थौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु ।
स्विन्नस्य विस्लापनमेव कुर्या-
दद्रुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः ॥ १२ ॥
विकङ्कतारग्वधकाकणन्ती-
काकादनीतापसवृक्षमूलैः ।
आलेपयेत् पिण्डफलार्कभार्गी-
करञ्जकालामदनैश्च विद्वान् ॥ १३ ॥

कफग्रन्थि चिकित्सा—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि क्रियाओं के द्वारा कफजग्रन्थि के दोषों के दूर हो जाने पर, स्विन्न (स्वेदनयुक्त) शरीर वाले रोगी की ग्रन्थि का अगूठा, लोह, पत्थर या वांस के दण्ड से वैद्य विस्लापन (मर्दन के द्वारा शोथ का विलयन) करे। विकङ्कत (कण्टकारी), अमलतास, रक्तगुञ्जा, काकादनी (वायसतिन्दुक कौवाठोठी) तापसवृक्ष (इङ्गुदी), पिण्डफला (कटुतुम्बी), मदार, भार्गी, करञ्ज, तगर और मैनफल की जड़ को पीसकर विद्वान् वैद्य लेप लगावे ॥ १३ ॥

अमर्मजातं शममप्रयान्त-
मपक्वमेवापहरेद्विदार्य ।
दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा
सद्यः क्षतोक्तं च विधिं विदध्यात् ॥१४॥

जो ग्रन्थि मर्मस्थान में उत्पन्न न हुई हो एवं उपर्युक्त चिकित्सा विधानों के द्वारा जिसका शमन न होता हो, उसे कुशल चिकित्सक अपक्वावस्था में ही चीरकर निकाले और रक्त के रुकने पर अग्नि से जलावे तथा सद्यःक्षत के लिए कही गई (मधु, घृत आदि का प्रयोग) विधि का प्रयोग करे ॥१४॥

या मांसकन्द्यः कठिना बृहत्य-
स्तास्वेष योज्यश्च विधिर्विधिज्ञैः ।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य सुपक्वमाशु
प्रक्षालयेत् पथ्यतमैः कषायैः ॥ १५ ॥
संशोधनैरतं च विशोधयेत्तु
क्षारोत्तरैः क्षौद्रगुडप्रगाढैः ।
शुद्धे च तैलं त्ववचारणीयं
विडङ्गपाठारजनीविपक्वम् ॥ १६ ॥

जो मांसग्रन्थि वडी और कठिन हो उसमें ही उपर्युक्त चिकित्सा-विधि का प्रयोग क्रिया-कुशल चिकित्सक को करना चाहिए। अथवा पकी हुई ग्रन्थि को शीघ्र शस्त्र से चीरकर कफजन्य व्रण को नष्ट करने वाले क्वाथों से धोना चाहिए और सशोधन द्रव्यों में प्रचुर यवक्षार, मधु तथा गुड़ मिला कर व्रण का शोधन करना चाहिए। शुद्ध व्रण में विडङ्ग, पाठा और हल्दी के कल्क से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५-१६ ॥

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं
दत्त्वोपरिष्टाद् द्विगुणं पटान्तम् ।
हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्या-
ल्लोहेन धीमानदहन् हिताय ॥ १७ ॥

मेदोजग्रन्थिचिकित्सा—मेदोजग्रन्थि में तिलकल्क का लेप करके ऊपर से दुहरे वस्त्र के द्वारा ढककर, अग्नितप्त लोह-शलाका से धीरे धीरे जलने से बचाते हुए, बुद्धिमान् वैद्य रगड़े ॥ १७ ॥

प्रलिप्य दार्वीमथ लाक्षया वा
प्रतप्तया स्वेदनमस्य कार्यम् ।
निपात्य वा शस्त्रमपोह्य मेदो
दहेत् सुपक्वत्वथवा विदार्य ॥ १८ ॥
प्रक्षाल्य मूत्रेण तिलैः सुपिष्टैः
सुवर्चिकाद्यैर्हरितालमिश्रैः ।
ससैन्धवैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः
क्षारोत्तरैरेनमभिप्रशोध्य ।
तैलं विदध्याद् द्विकरञ्जगुञ्जा-
वंशावलेखेङ्गुदमूत्रसिद्धम् ॥ १९ ॥

अथवा कड़छी में लाख का लेप करके अग्नि पर तपावे और उससे ग्रन्थि का स्वेदन करे। अथवा ग्रन्थि को शस्त्र से चीरकर मेद को निकाले और अग्नि से व्रण को जलावे। अथवा भली भाति पकी हुई ग्रन्थि को चीरकर गोमूत्र से धोवे और तिल, सज्जीखार, हरिताल एवं सेन्धानमक के चूर्ण में प्रचुर परिमाण में मधु, घृत तथा यवक्षार मिलाकर व्रण का शोधन करे। करञ्ज, पूतिकरञ्ज, गुञ्जा, वांस की छाल, इङ्गुदी और गोमूत्र के द्वारा तैल पाक करना चाहिए ॥

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव ॥ २० ॥
सर्पिः कृतं हन्त्यपची प्रवृद्धां
द्विधा प्रवृत्तं तदुदारवीर्यम् ।
निर्गुण्डिजातीबरिहिप्रयुक्तं
जीमूतक माक्षिकसैन्धवाढ्यम् ॥ २१ ॥
अभिप्रतप्तं वमनं प्रगाढं
दुष्टापचीपूत्तममादिशन्ति ।
कैडर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं
तैलं हितं मूर्धविरेचनं च ॥ २२ ॥
शाखोटकस्य स्वरसेन सिद्ध
तैलं हितं नस्यविरेचनेषु ।
मधूकसारश्च हितोऽवपीडे
फलानि शिग्रोः खरमञ्जरेर्वा ॥ २३ ॥

अपचीचिकित्सा—देवदाली और कड़ुई तरोई के फल तथा दन्ती-द्रवन्ती और निशोथ की जड़ के कल्क से सिद्ध किया गया घृत बढ़ी हुई अपची को नष्ट करता है। यह घृत उत्कृष्ट शक्तिशाली तथा दोनों मार्गों से (वमन-विरेचन) दोषों को दूर करने वाला है। दूषित अपची में गाढ़ वमन कराने के लिए, सभालू, चमेली और सुगन्ध वाला के उष्ण क्वाथ में, देवदाली कल्क, मधु और सेन्धानमक

मिलाकर प्रयोग करना श्रेष्ठ माना गया है। कैटर्य (पर्वत निम्ब या निर्गुण्डी), बिम्बी (कुंदरू) और कनेर की जड़ के कल्क से सिद्ध तैल के द्वारा गाढ़ वमन करना तथा शिरोविरेचन देना एवं सिहोड के स्वरस से सिद्ध तैल का नस्य और विरेचन में प्रयोग करना हितकर होता है। अथवा महुआ का सार (वृक्ष के अन्दर का भाग), सहिजन और अपामार्ग का बीज, अवपीडन नस्य (अवपीड्य दीयते इत्यवपीडः नस्यभेदः) के लिए हितकर होते हैं ॥ २०-२३ ॥

ग्रन्थीनमर्मप्रभवानपक्वा-
नुद्धृत्य चाग्निं विदधीत पश्चात् ।
क्षारेण वाऽपि प्रतिसारयेत्तु
सलिख्य शस्त्रेण यथोपदेशम् ॥ २४ ॥

अमर्मज ग्रन्थि में क्षार, अग्नि, शस्त्रक्रिया का विधान मर्म-रहित स्थान में उत्पन्न अपक्व ग्रन्थि को (शस्त्र से चीरकर) निकालने के पश्चात् अग्निकर्म (Coutery) करना चाहिये। अथवा यथोक्तविधि के अनुसार शस्त्र से ग्रन्थि का लेखन (Scraping) कर क्षार के द्वारा प्रतिसारण (घिसना) करना चाहिये ॥ २४ ॥

पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि
मित्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान् ।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो
निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात् ॥२५॥

अपची में अग्निकर्म का विधान—बुद्धिमान् वैद्य (जानु-सधि के पश्चात् भाग से) पार्ष्णि (एड़ी) की ओर बारह अङ्गुल माप कर, इन्द्रबस्ति मर्म को बचाते हुए चीरा लगावे और मछली के अण्डों के सदृश मेद के जाल को निकाल कर अग्निकर्म (Cautery) करे। अर्थात् तप्तलोह शलाका से व्रण स्थान को जलावे, जिसमें पुनः मेद के जाल की उत्पत्ति न हो ॥ २५ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने इन्द्रबस्ति मर्म का स्थान एड़ी की ओर जंघा के मध्य में माना है तथा इसकी गणना मांसमर्मों में की है—'पार्ष्णि प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम् ।' 'तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि ।' (सु शा. अ. ६) इस दृष्टि से इन्द्रबस्ति मर्म पिण्डली प्रदेश की मांसपेशी में ही किसी स्थान पर हो सकता है।

आ गुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तो-
स्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य ।
घोणर्जुवेधः सुरराजबस्ते-
र्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति ॥ २६ ॥

गुल्फ सन्धि के कर्ण (खुलक अर्थात् टखना) से भली भाँति (जघा की ओर २० अङ्गुल) मापे गए रोगी के (जंघा प्रान्त के कुल माप के) आठवें भाग (ढाई अंगुल) इन्द्रबस्ति मर्म के स्थान को छोड कर, कण्डरा में नासिका के समान सीधा चीरा लगावे। कुछ आचार्य इन्द्रबस्ति मर्म के लिए नेत्र प्रमाण (दो अंगुल) स्थान छोडने का परामर्श देते हैं ॥२६॥

विमर्शः—आगुल्फकर्णात् खुलकात् गुल्फौ कर्णाविव यस्य स तथा, (खुलको जघापादयोः सन्धि) सुरराजवस्तेरिन्द्रबस्तेरष्टभाग जङ्घायाश्चरणहीनाया विंशत्यङ्गुलाया अष्टमो भाग सार्द्धमङ्गुलद्वय हित्वा, यद्यपि द्व्यङ्गुल इन्द्रबस्तिस्तथापि तदुपघातपरिहारार्थं सार्द्धमे-वाङ्गुलद्वय शेयम् । अन्ये तु अक्षिमात्रमेव द्व्यङ्गुल नेत्रप्रमाण हित्वेति वदन्ति । घोणर्जुवेध इति गुल्फकर्णस्य खुलकस्य, घोणा नासा इव घोणा, यथोत्तरीयकण्डरा तस्या ऋजुरवक्रो वेधो व्यध· । अपच्यास्तु जङ्घाकण्डरागतमेदोमूलनाया भोजवचनम्—'वातपित्तकफा वृद्धा मेद-श्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कण्डरा प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्' इत्यादीति गयी, जेज्जटस्याप्ययमभिप्राय । एव प्रथमश्लोकेनाधस्ताद् द्वितीयश्लोकेनेन्द्रबस्तेरुपरिष्टात् जङ्घाया· पाश्चात्यभागगतकण्डराया-व्यङ्गुलमात्रो व्यध· कार्य इति स्थितम् । (डल्हण)

मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक् ।
अङ्गुल्यन्तरितं सम्यगपचीनां निवृत्तये ॥ २७ ॥

अथवा अपची की भली भाँति निवृत्ति के लिए वैद्य मणिबन्ध (कलाई) के ऊपर एक अगुल के अन्तर से तीन रेखायें बनावे ॥ २७ ॥

चूर्णस्य काले प्रचलाककाक-
गोधाहिकूर्मप्रभवां मसीं तु ।
दद्याच्च तैलेन सहेङ्गुदीनां
यद्वक्ष्यते श्लीपदिनां च तैलम् ॥
विरेचनं धूममुपाददीत भवेच्च नित्यं यवमुद्गभोजी ।

व्रण-रोपण काल में (चूर्णस्य काले रोपणकाले) प्रचलाक (मोर), कौवा, गोह, सर्प और कछुए को जला कर बनाई राख (क्षार), इङ्गुदी के तेल में मिला कर लगावे तथा श्लीपद रोगियों के लिए जिन तैलों का कथन किया जावेगा, उनका प्रयोग करे। रोगी को वैरेचनिक धूम दे और प्रतिदिन जौ और मूग का भोजन करावे ॥ २८ ॥

कर्कारुकैर्वारुकनारिकेलप्रियालपक्वाङ्गुलबीजचूर्णैः ॥
वातार्बुदं क्षीरघृताम्बुसिद्धै-
रुष्णैः सतैलैरुपनाहयेत्तु ।
कुर्याच्च मुख्यान्युपनाहनानि
सिद्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः ॥ ३० ॥

वातज अर्बुद चिकित्सा—कर्कारुक (कूष्माण्ड), एर्वारुक (ककडी), नारियल, चिरौंजी और एरण्ड बीज के चूर्ण, तथा दूध, घी और जल से सिद्ध उष्ण तैल के द्वारा वातज अर्बुद का उपनाह करना चाहिए एव मास और वेशवार से सिद्ध प्रधान उपनाहों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९२ ३० ॥

स्वेदं विदध्यात् कुशलस्तु नाड्या
शृङ्गेण रक्तं बहुशो हरेच्च ।
वातघ्ननिर्यूहपयोऽम्लभागै-
सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा ॥ ३१ ॥

कुशल चिकित्सक नाडी स्वेद करे और सींग के द्वारा अनेक बार रक्त निकाले। अथवा वातघ्न (देवदार्वादिगण)

द्रव्यों के क्वाथ, दूध तथा काञ्जी से सिद्ध-शतपाक त्रिवृत् स्नेह (घृत, तैल, वसा) पिलावे ॥ ३१ ॥

स्वेदोपनाहा मृदवस्तु कार्याः
पित्तार्बुदे कायविरेचनं च ।
विधृष्य चोदुम्बरशाकगोजी-
पत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिम्पेत् ॥ ३२ ॥
श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियङ्गु-
पत्तङ्गरोध्राञ्जनयष्टिकाह्वैः ।
विस्राव्य चारग्वधगोजिसोमाः
श्यामा च योज्याः कुशलेन लेपे ॥ ३३ ॥
श्यामागिरिह्वाञ्जनकीरसेषु
द्राक्षारसे सप्रलिकारसे च ।
घृतं पिबेत् क्षीतकसंप्रसिद्ध
पित्तार्बुदी तज्जठरी च जन्तु ॥ ३४ ॥

पित्तज अर्बुद चिकित्सा—पित्तज अर्बुद में मृदु स्वेद, उपनाह और विरेचन हितकर होता है। गूलर, वरुण और सिहोड़ के पत्तेसे अर्बुदको रगड़ कर, राल, प्रियङ्गु, पतङ्ग, लोध्र, अञ्जन तथा मुलेठी के चिकने चूर्ण में मधु मिलाकर, अनेक वार लेप लगावे। कुशल चिकित्सक अर्बुद से रक्त निकल कर अमलतास, गोजी (दार्वीपत्र या शाखोटक), सोमलता और निशोथ के लेपका प्रयोग करे। निशोथ, गिरिह्वा (श्वेतस्यन्द), अञ्जनकी (नीलाञ्जनिका या श्रीफलिका), मुनक्का और सहाचिमका (यवतिक्ता) के रस में क्षीतक (मुलेठी) कल्क के द्वारा सम्यक् सिद्ध घृत, पित्तज अर्बुद तथा पित्तोदर के रोगी को पिलावे ॥ ३२-३४ ॥

शुद्धस्य जन्तोः कफजेऽर्बुदे तु
रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत् ।
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च दोषान्
हरन्ति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात् ॥३५॥
कपोतपारावतविड्विमिश्रैः
सकांस्यनीलैः शुकलाङ्गलाख्यैः ।
मूत्रैस्तु काकादनिमूलमिश्रैः
क्षारप्रदिग्धैरथ वा प्रदिह्यात् ॥ ३६ ॥

कफज अर्बुद चिकित्सा—कफज अर्बुद में (वमन से) शुद्ध हुए रोगी के अर्बुद से (अलाबू के द्वारा) रक्त निकाल कर ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग (वमन-विरेचन) से दोषों को हरण करने वाले द्रव्यों (अपची के लिए पठित जीमूतक, बोपवर्ती फल, दन्ती, द्रवन्ती आदि) का कल्क बना, उसपर लेप लगावे। कबूतर और पारावत (परेवा) की बीट, कांसे की कालिख, शुक (अन्यिपर्ण भेद), कलिहारी और काकादनी (वायसतिन्दुक) की जड़ गोमूत्र में पीस कर लेपकरे अथवा क्षारयुक्त गोमूत्रका लेप लगावे ॥३५ ३६॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कै-
र्मांसप्रागाढैर्दधिमस्तुयुक्तैः ।
लेपं विदध्यात् कृमयो यथाऽत्र
मूर्च्छन्ति मुञ्चन्त्यथ मक्षिकाश्च ॥३७॥
अल्पावशिष्टे कृमिभक्षिते च
लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात् ।
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीस-
पट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा ॥ ३८ ॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात्
प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः ।
आरग्वधजातीकरवीरपत्रैः
कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम् ॥ ३९ ॥
शुद्धे च तैलं विदधीत मार्गी
विडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम् ।
यदृच्छया चोपगतानि पाकं
पाक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥ ४० ॥

सेम, पिण्याक (सरसो-अलसी आदि की खली) और कुलथी के कल्क में प्रचुर मांस, दधि तथा मस्तु (दधि जल) मिलाकर, अर्बुद पर लेप करे जिसमें मक्खियाँ वहाँ आकर बैठें और कृमि उत्पन्न करें। जब कृमियों के खाने से अर्बुद का अल्प भाग अवशिष्ट रह जाय तब लेखन करके अग्निकर्म करे। अल्पमूल वाले अर्बुद को रांगा, तांबा, सीसा या लोहे की पट्टी से चारों ओर से बांध कर, रोगी के प्राण की रक्षा करते हुए, सावधान चिकित्सक क्षार, अग्नि तथा शस्त्र कर्म का अनेक वार प्रयोग करे। अपराजिता, चमेली और कनेर के पत्ते का क्वाथ व्रण को शुद्ध करने के लिए उपयोगी होता है। व्रण के शुद्ध होने पर भार्गी, विडङ्ग, पाठा और त्रिफला के कल्क से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए। स्वतः पाक को प्राप्त होने वाले अर्बुद की चिकित्सा, क्रियाकुशल वैद्य पक्व व्रण चिकित्सा विधि की भाँति करे ॥ ३७-४० ॥

मेदोऽर्बुदं स्विन्नमथो विदार्य
विशोध्य सीव्येद्व्रणरक्तमाशु ।
ततो हरिद्रागृहधूमरोध्र-
पत्तङ्गचूर्णैः समनःशिलालैः ॥ ४१ ॥
व्रणं प्रतिग्राह्य मधुप्रगाढैः
करञ्जतैलं विदधीत शुद्धे ।
सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि
करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति ।
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु
हन्युः सशेषाणि यथा हि वह्निः ॥ ४२ ॥

मेदोऽर्बुद चिकित्सा—स्वेदन किए गए मेदोज अर्बुद को चीर कर शुद्ध करे और रक्तस्राव बन्द होने पर शीघ्र सी दे। फिर हल्दी, गृहधूम, लोध्र, पतङ्ग, मैनशिल और हरिताल के चूर्ण में पर्याप्त मधु मिलाकर व्रण पर लेप लगावे और व्रण के शुद्ध होने पर करञ्ज तैल (विद्रधि में पठित) का प्रयोग करे। जिन अर्बुदों में दोष शेष रह जाते हैं उनकी उत्पत्ति पुनः शीघ्र हो जाती है इसलिए समूल रूप से उनका उच्छेद करना चाहिए। शेष बचे हुए दोषों को उसी प्रकार नष्ट करना चाहिए जिस प्रकार अग्नि सम्पूर्ण वस्तुओं को जला देती है ॥ ४१-४२ ॥

संस्वेद्य गण्डं पवनोत्थमादौ
नाड्याऽनिलघ्नौषधपत्रभङ्गैः ॥ ४३ ॥
अम्लैः समूत्रैर्विविधैः पयोभि-
रुष्णैः सतैलैः पिशितैश्च विद्वान् ।
विस्रावयेत् स्विन्नमतन्द्रितश्च
शुद्धं व्रणं चाप्युपनाहयेत्तु ॥ ४४ ॥
शणातसीमूलकशिग्रुकिण्व-
प्रियालमज्जानुयुतैस्तिलैस्तु ।
कालामृताशिग्रुपुनर्नवार्क-
गजादिनामाकरहाटकुष्ठैः ॥ ४५ ॥
एकैपिकावृक्षकतिल्वकैश्च
सुराम्लपिष्टैरसकृत् प्रदिह्यात् ॥ ४६ ॥

वातज गलगण्ड-चिकित्सा—वातज गलगण्ड में विद्वान वैद्य प्रथम वातघ्न (एरण्ड आदि) द्रव्यों के पत्तों के उष्ण क्वाथ, काञ्जी, अष्टविध मूत्र, दूध, तैल और मांसरस के द्वारा नाड़ी स्वेद करे। आलस्यरहित वैद्य, स्वेदनयुक्त गण्ड से रक्त निकाले और व्रण का शोधन कर, पुलटिस बाँधे। सन, अलसी, मूली, सहिजन, सुरावीज, चिरौंजी की मींगी, तिल, तगर, गिलोय, सहिजन, पुनर्नवा, मदार, गजपिप्पल, मैनफल, कूठ, एकैपिका (पाठा), कुटज और लोध्र को सुरा तथा काञ्जी में पीसकर अनेक बार लेप करे ॥ ४३ ४६ ॥

तैलं पिवेच्चामृतवल्लिनिम्ब-
हंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः ।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्डरोगे ॥ ४७ ॥

गिलोय, नीम, हंसपदी, कुटज, पिप्पल, बला, अतिबला और देवदारु से सिद्ध तेल गलगण्ड रोग में लाभ पहुँचाने के लिए नित्य पिलावे ॥ ४७ ॥

स्वेदोपनाहैः कफसंभवं तु
संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात् ।
ततोऽजगन्धातिविषाविशल्या-
विषाणिकाकुष्ठशुकाह्वयाभिः ॥ ४८ ॥
पलाशभस्मोदकपेषिताभि-
र्दिह्यात् सुगुप्ताभिरशीतलाभिः ।
दशार्धसङ्ख्यैर्लवणैश्च युक्तं
तैलं पिवेन्मागधिकादिसिद्धम् ॥ ४९ ॥
प्रच्छर्दनं मूर्धविरेचनं च
धूमश्च वैरेचनिको हितस्तु ।
पाकक्रमो वाऽपि सदा विधेयो
वैद्येन पाकङ्गतयोः कथञ्चित् ॥ ५० ॥

कफज गलगण्ड-चिकित्सा—कफज गलगण्ड में स्वेद और उपनाह से स्वेदन करके, रक्तमोक्षण करना चाहिए तथा अजगन्धा (वनतुलसी), अतीस, विशल्या (कलिहारी), विषाणिका (मेढ़ासिंगी), कूठ, शुकाह्वय (चर्मकारवट) और गुप्ता को पलाश क्षारोदक से पीस कर, उष्ण लेप लगाना चाहिए। पिप्पल्यादि गण के क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल में, पाँचो नमक मिलाकर पिलाना चाहिए। वमन, शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम का प्रयोग करना चाहिए। किसी प्रकार पाक होने पर (वातज, कफज गलगण्ड में) पक्व व्रण की भाँति चिकित्सा-विधि का प्रयोग वैद्य को सदा करना चाहिए ॥

कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा
भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः ।
सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा
हिताय देया गलगण्डरोगे ॥ ५१ ॥

गलगण्ड रोग में पथ्य—त्रिकटु चूर्ण (सोंठ मरिच-पिप्पली) के साथ मधु और गोमूत्र मिलाकर जौ का अन्न तथा आदी, परवल और नीमयुक्त मूंग का यूष खिलाना हितकर होता है ॥ ५१ ॥

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां
विध्येत् सिरां स्निग्धतनोर्नरस्य ।
श्यामासुधालोहपुरीषदन्ती-
रसाञ्जनैश्चापि हितः प्रदेहः ॥ ५२ ॥
मूत्रेण वाऽऽलोड्य हिताय सारं
प्रातः पिबेत् सालमहीरुहाणाम् ।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य विदार्य चैनं
मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत् ॥५३॥
मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेद्वा
दग्धे च सर्पिर्मधु चावचार्यम् ।
कासीसतुत्थे च ततोऽत्र देये
चूर्णीकृते रोचनया समेते ॥ ५४ ॥
तैलेन चाभ्यज्य हिताय दद्यात्
सारोद्भवं गोमयजं च भस्म ।
हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो
गाढश्च बन्धो यवभोजनं च ॥ ५५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने ग्रन्थपच्यर्बुदगल-
गण्डचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

मेदज गलगण्ड-चिकित्सा—मेदज गलगण्ड में, स्निग्ध शरीर रोगी की, पूर्वकथित (अससन्धि-निर्दिष्ट) शिरा का वेध करना चाहिए और निशोथ, सेहुण्ड, मण्डूर, दन्ती और रसोत का लेप लगाना चाहिए। अथवा सालसारादि गण के वृक्षों का सार गोमूत्र में घोल कर, प्रातः काल पिलाना चाहिए। अथवा ग्रन्थि को शस्त्र से चीर कर, मेद बाहर निकाल देना चाहिए और व्रण को सी देना चाहिए। अथवा मज्जा, घृत, मेद और मधु से (उष्ण करके) जलाना चाहिए और जल जाने पर मधु-घृत का प्रयोग करना चाहिए तथा उस व्रण पर कासीस, तूतिया और गोरोचन का चूर्ण लगाना चाहिए। व्रण पर तेल लगा कर, सालसारादि गण और गोबर की

राख (भस्म) लगानी चाहिए, (व्रण धोने के लिए) त्रिफला क्वाथ तथा गाढ बन्धन (कसकर पट्टी बाँधना) और जौ के भोजन का नित्य प्रयोग करना चाहिए ॥ ५२-५५ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर वृद्धि, उपदंश और श्लीपद की चिकित्साविधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

अन्त्रवृद्ध्या विना पञ्च वृद्धयस्तासु वर्जयेत् ।
अश्वादियानं व्यायामं मैथुनं वेगनिग्रहम् ।
अत्यासनं चंक्रमणमुपवासं गुरूणि च ॥ ३ ॥

वृद्धि में वर्ज्य विषय—अन्त्रवृद्धि को छोड कर अन्य ६ (वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद और मूत्र-वृद्धि) वृद्धि रोगों में, घोडे आदि की सवारी, व्यायाम, मैथुन, मल-मूत्रादि के वेगों का अवरोध, अधिक देर तक बैठना, भ्रमण, उपवास तथा भारी पदार्थों का भोजन त्याग देना चाहिए ॥ ३ ॥

तत्रादितो वातवृद्धौ त्रैवृतस्निग्धमातुरम् ॥ ४ ॥
स्विन्नं चैनं यथान्यायं पाययेत विरेचनम् ।
कोशाम्रतिल्वकैरण्डफलतैलानि वा नरम् ॥ ५ ॥
सक्षीरं वा पिबेन्मासं तैलमैरण्डसंभवम् ।
ततः कालेऽनिलघ्नानां कार्थैः कल्कैश्च बुद्धिमान् ॥६॥
निरूहयेन्निरूढं च भुक्तवन्तं रसौदनम् ।
यष्टिमधुकसिद्धेन ततस्तैलेन योजयेत् ॥ ७ ॥
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च प्रदेहांश्चानिलापहान् ।
विदग्धां पाचयित्वा वा सेवनीं परिवर्जयेत् ।
भिन्द्यात्ततः प्रभिन्नायां यथोक्तं क्रममाचरेत् ॥ ८ ॥

वातज वृद्धि चिकित्सा—वातज वृद्धि में प्रथम रोगी को त्रैवृतस्नेह (वातव्याधुक्त) से स्निग्ध करके स्वेदन करे और (पन्द्रहवें दिन) विधिपूर्वक विरेचन द्रव्य पिलावे। अथवा कोशाम्र (आम्र विशेष), लोध्र और एरण्ड के फलों का तेल पिलावे या एक मास तक दूध के साथ एरण्डतैल का सेवन करावे। इसके बाद बुद्धिमान् वैद्य निर्दिष्ट समय पर (आठवें दिन) वातहर द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से निरूहबस्ति का प्रयोग करे एवं निरूहयुक्त रोगी को मांसरस तथा चावल का भोजन देकर, मुलेठी से सिद्ध तैल के द्वारा अनुवासन बस्ति लगावे। स्नेहन, उपनाह और वायुनाशक प्रलेपों का प्रयोग करे अथवा विदग्ध (पाकोन्मुख) वृद्धि को पकाकर, सेवनी को बचाते हुए, चीरा लगावे और चीरा लगी हुई वृद्धि में द्विव्रणीय अधिकारोक्त, क्रिया विधि का व्यवहार करे ॥४-८॥

विमर्श.—सुश्रुत में, स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् वमन, विरेचन, निरूहण आदि का काल अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट है। 'पक्षाद् विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम् । सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद् विरेचितः ॥ (सु. चि. अ. ३६) चरक ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—'संसृष्टभक्त नवमेऽह्नि सर्पिस्त्वं पाययेताप्यनुवासयेद्वा । दद्यात् त्र्यहान्नानि बुभुक्षिताय तैलाक्तगात्राय ततो निरूहम् ॥ प्रत्यागते मांसरसेन भोज्य. समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् । नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नित्याशित. स्यादनुवासनीयः॥ (च. सि. अ. १)

पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रन्थिक्रमो हितः ॥ ९ ॥
पक्वां वा भेदयेद्भिन्नां शोधयेत् क्षौद्रसर्पिषा ।
शुद्धायां च भिषग्दद्यात्तैलं कल्कं च रोपणम् ॥ १० ॥

पित्तज वृद्धि चिकित्सा—अपक्व पित्तज वृद्धि में, पित्तज ग्रन्थि चिकित्सा के लिए कथित क्रियाविधि का प्रयोग हितकर होता है। अथवा पकी हुई वृद्धि को चीरकर, मधु तथा घृत से शोधन और शुद्ध वृद्धि में (द्विव्रणीयोक्त) रोपण तैल एवं कल्क का प्रयोग वैद्य को करना चाहिये ॥ ९-१० ॥

रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेद्भिषक् ।
पिबेद्विरेचनं वाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ।
पित्तग्रन्थिक्रमं कुर्यादामे पक्वे च सर्वदा ॥ ११ ॥

वैद्य रक्तज वृद्धि (Haematocele) में जोंक के द्वारा रक्तमोक्षण करे तथा शर्करा और मधु मिश्रित विरेचन द्रव्य पिलावे। अपक्व एवं पक्व वृद्धि में, पित्तज ग्रन्थि के लिए कही गई, चिकित्सा विधि का सर्वदा व्यवहार करे ॥

वृद्धिं कफात्मिकामुष्णैर्मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥ १२ ॥
पीतदारुकपाचं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ।
विम्लापनाद्ऋते वाऽपि श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः ॥ १३ ॥
पक्वायां च विभिन्नायां तैलं शोधनमिष्यते ।
सुमनारुष्करार्कोठसप्तपर्णेषु साधितम् ॥ १४ ॥

कफज वृद्धि चिकित्सा—कफज वृद्धि में गोमूत्र के साथ पिसे हुए उष्णवीर्य (वचादि, पिप्पल्यादि, मुष्ककादि गण) द्रव्यों का लेप तथा दारुहल्दी का क्वाथ, गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये। विम्लापन के अतिरिक्त श्लेष्म ग्रन्थि की शेष सभी क्रियायें कफज वृद्धि में हितकर होती हैं। पककर फूटी हुई वृद्धि में चमेली, भिलावा, अकोठ और सतवन से सिद्ध तैल का प्रयोग व्रणशोधन के लिए हितकर होता है ॥

मेदःसमुत्थां संस्वेद्य लेपयेत् सुरसादिना ।
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः ॥ १५ ॥
स्विन्नां चावेष्टय पट्टेन समाश्वास्य तु मानवम् ।
रक्षन् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत् ॥ १६ ॥
मेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात्कासीससैन्धवे ।
बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत् ।
मनःशिलाललवणैः सिद्धमारुष्करेषु च ॥ १७ ॥

मेदज वृद्धि चिकित्सा—मेदज वृद्धि (Elephantiasis of the Scrotum) में स्वेदन करके, सुरसादिगण अथवा शिरोविरेचन द्रव्यों (संशोधन सशमनीयोक्त) को गोमूत्र में पीस

कर सहने योग्य, उष्ण लेप लगाना चाहिये। स्वेदनयुक्त वृद्धि में पट्टी बांध, रोगी को आश्वासन देकर वृषण तथा सेवनी को बचाते हुए, वृद्धिपत्र शस्त्र (Scalpel) से चीरा लगाना चाहिए और व्रण से मेद बाहर निकाल, उसमें कासीस तथा सेन्धानमक भरकर, यथोक्त विधि के अनुसार (गोफणा या स्थगिकाबन्धन Sling or Stump Bandage) व्रण को बांधना चाहिए। एवं व्रण के शुद्ध होने पर मैनशिल, हरिताल, सेन्धा नमक और मिलावे के द्वारा सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५-१७ ॥

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ १८ ॥
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद्भिषक् ॥१९॥
मूत्रं नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्।
शुद्धायां रोपणं दद्याद्वर्जयेदन्त्रहैतुकीम् ॥ २० ॥

मूत्रज वृद्धि-चिकित्सा—मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) में कोष का स्वेदन करने के पश्चात् कपडे की पट्टी लपेट कर, सेवनी के पार्श्व में नीचे की ओर व्रीहिमुख शस्त्र (Trocar) के द्वारा वेधन करना चाहिये। (वेधन के बाद) दो मुख वाली नली (Cannula) लगाकर मूत्र (लसीका) निकाल देना चाहिये तथा नलिका निकालकर, स्थगिका बन्धन (Stump of Bandage) बांधना चाहिये। व्रण के शुद्ध होने पर रोपण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। यदि वृद्धि अन्त्र के कारण (Scrotal Hernia) हो तो शस्त्र-प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ १८-२० ॥

विमर्शः—मूत्रवृद्धि (Hybrocele) की जिस चिकित्सा पद्धति का वर्णन ऊपर किया गया है उसे Tapping कहते हैं। प्राचीन युग में संभवतः सर्वत्र केवल इसी विधि का प्रयोग Hydrocele की चिकित्सा के लिए किया जाता था। Tapping की सामान्य विधि इस प्रकार है—The patient should be seated or, better, lying on abed or Couch for this operation The position of the testis having been ascertained (usually by touch and the patients, sensation, though transillumination may afford valuable indication of ifs position), the pyriform scrotal swelling is grasped in the palm of the hand, and the penis beling held away by the thumb the skin is made to stretch tensely over the mass. The scrotum is now painted with 2 percent Iodine in spirit, and an area on the front free frym vains being selected, a sterile trocar and Cannula are plunged in, the trocar withdrawn, and the fiuid allowed to escape through the Cannula, the hand being used to press out the fluid toward the cannula When no more fluid escapes the cannula is with drawn and the opening sealed with gauze and collodion 'The Science and Practice of Surgery' Tapping करने पर कोष में एकत्रित द्रव पदार्थ (fluid) निकल तो जाता है किन्तु कुछ काल बाद द्रव प्रायः पुनः एकत्रित होने लगता है और Tapping की आवश्यकता बनी ही रहती है। इस कारण आधुनिक युग में Hydrocele की चिकित्सा के लिए Tapping का प्रचलन समाप्तप्राय है तथा Redical cure के लिए Operation का ही व्यवहार सर्वत्र किया जा रहा है। Operation की सामान्य विधि इस प्रकार है—Operation for Redical cure :—

A short incision is made upwards and outwards from the pubicspine The sac of the Hydrocele having been exposed in the depth of the incision, it is pressed well up into the wound from below and held while it is incised along side the cord. A fairly free incision should be made and the stream of fluid directed in to a bowl, pressure being mean-while maintained on the scrotum to empty the sac. The wound is mopped out and the edges of the sac grasped in forceps, and the whole tunica and testis pulledup through the wound and separated gently from the surrounding cellular tissue, in which all bleeding points must be secured if a haematoma of the scrotum is to be avoided.

अप्राप्तफलकोपायां वातवृद्धिक्रमो हितः।
तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया ॥ २१ ॥
सम्यङ्मार्गावरोधार्थं कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्।
त्वचं भित्त्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेच्चाङ्गविपर्ययात् ॥ २२ ॥

अन्त्रवृद्धि चिकित्सा—जो अन्त्र-वृद्धिफल-कोष (अण्ड कोष) में न पहुँची हो (Incomplet hernia) उसमें वातज वृद्धि चिकित्सा का प्रयोग हितकर होता है। वङ्क्षणस्थ वृद्धि (Inguinal hernia) में मार्ग को (Inguinal canal) भलीभाँति अवरुद्ध करने के लिए अर्धचन्द्राकार शलाका से जलाना चाहिए तथा कोषप्राप्त वृद्धि को (Scrotal hernia) (असाध्य समझ कर) त्याग देना चाहिए। अङ्ग विपर्यय अर्थात् वाम भाग की अन्त्रवृद्धि में दाहिने पैर के अंगूठे की मध्य की त्वचा को तथा दक्षिण भाग की अन्त्रवृद्धि में बायें पैर के अंगूठे की मध्य की त्वचा को काटकर जलाना चाहिए ॥

विमर्शः—सुश्रुत के अनुसार सक्षेप में अन्त्रवृद्धि का तात्पर्य है वृहद् या क्षुद्र अन्त्र के किसी भाग का वङ्क्षण सन्धि में स्थित हो कर कालान्तर में कोष में उतर आना। सुश्रुत ने अन्त्रवृद्धि को असाध्य व्याधि माना है। 'नामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते'। इसीलिए चिकित्सा के प्रसंग में वे 'वर्जयेदन्त्रहैतुकीम्' 'कोषप्राप्तान्तु वर्जयेत्' आदि निषेध वाक्यों का प्रयोग करते हैं। सम्भवतः उस युग में, अन्त्रवृद्धि की चिकित्सा के लिए शस्त्रक्रिया का सफल प्रयोग नहीं हो सका था। आधुनिक युग में भी कुछ काल पूर्व तक अन्त्रवृद्धि (Hernia) का Operation कष्ट साध्य समझा जाता था। यदि अन्त्रवृद्धि के रोगी की चिकित्सा शीघ्र प्रारम्भ न हो और आंत कुछ काल तक अपनी पूर्व स्थिति में न आ सके तो रोगी का प्राण सङ्कटापन्न रहता है। आज भी operation की स्थिति तो वही है किन्तु रोग सर्वथा असाध्य नहीं समझा जाता। इस

व्याधि में operation से पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है। यदि यह कहा जाय कि operation ही इस व्याधि की एक मात्र चिकित्सा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। आंत को नीचे उतरने से रोकने के लिए Truss (विशेष प्रकार का बन्धन) का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

अनेनैव विधानेन वृद्धौ वातकफात्मिके।
प्रदहेत् प्रयतः किंतु स्नायुच्छेदोऽधिकस्तयोः॥ २३॥

वात तथा कफजन्य वृद्धि में भी इसी प्रकार सावधानी के साथ (अगूठे की मध्य की त्वचा में चीरा लगाकर) जलावे किन्तु इनमें स्नायुच्छेद (चीरा लगाना) गहरा करना चाहिये॥ २३॥

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा सिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ २४॥

अथवा अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिए शंखप्रदेश के ऊपर और कान के अन्त में सेवनी को यत्नपूर्वक बचाकर, विरुद्ध दिशा में (वामभाग की अन्त्रवृद्धि के लिये दक्षिण भाग के शंखप्रदेश तथा दक्षिण भाग की अन्त्रवृद्धि के लिये वामभाग के शंखप्रदेश में शिरावेधन करना चाहिये॥ २४॥

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः।
सिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः॥ २५॥

उपदंश में सामान्य चिकित्सा—साध्य उपदंशों में स्नेहन और स्वेदन से युक्त रोगी के शिश्न मध्य में शिरावेध के द्वारा अथवा जोंक लगाकर रक्तमोक्षण करना चाहिये॥ २५॥

हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्।
सद्योऽपहृतदोषस्य रुक्शोफावुपशाम्यतः॥ २६॥
यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तं विरेचनम्।
निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्॥ २७॥

अत्यधिक बढ़े हुए दोषों को उभयमार्ग (वमन तथा विरेचन) के द्वारा दूर करना चाहिये। दोषों के दूर हो जाने पर रोगी की वेदना और शोथ शीघ्र शान्त हो जाते हैं। रोगी यदि दुर्बल या विरेचन के अयोग्य हो तो अत्यन्त बढ़े हुए दोषों को निरूहवस्ति के द्वारा दूर करना चाहिये॥

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्वपर्पाभूकुष्ठदारुभिः।
सरलागुरुरास्नाभिर्वातजं संप्रलेपयेत्॥ २८॥
निचुलैरण्डबीजानि यवगोधूमसक्तवः।
एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः संप्रलेपयेत्।
प्रपौण्डरीकपूर्वैश्च द्रव्यैः सेकः प्रशस्यते॥ २९॥

वातज उपदंशचिकित्सा—पुण्डेरी, मुलेठी, पुनर्नवा, कूठ, देवदार, निशोथ, अगर और रास्ना के कल्क का लेप वातज उपदंश में करना चाहिये। बेंत, एरण्डबीज, जौ, गेंहूँ और लाजसत्तू का स्निग्ध, सहने योग्य, उष्ण लेप वातज उपदंश में लगावे तथा पूर्वोक्त पुण्डेरी आदि द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक करे॥ २८-२९॥

गैरिकाञ्जनयष्ट्याह्वसारिवोशीरपद्मकैः॥ ३०॥
सचन्दनोत्पलैः स्निग्धैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः॥ ३१॥
सर्पिः स्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः।
अथवाऽपि सुशीतेन कषायेण वटादिना॥ ३२॥

पित्तज उपदंशचिकित्सा—गेरू, रसोत, मुलेठी, सारिवा, खस, पद्माख, चन्दन और कमल के कल्क को स्निग्ध करके, पित्तज उपदंश में लेप लगाना चाहिये। लालकमल, नीलोफर, कमल नाल, सर्जक (शालभेद), अर्जुन, बेंत और मुलेठी के कल्क में घृत मिलाकर, पित्तज उपदंश में लेप करना चाहिये। घी, दूध, शर्बत, गन्ने का रस और मधुयुक्त जल के द्वारा अथवा वटादिवर्ग (क्षीरिवृक्ष) के शीतल कषाय से परिषेक करना चाहिये॥ ३०-३२॥

सालाश्वकर्णाजकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम्॥ ३३॥
सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत्।
रजन्यतिविषामुस्तासुरसासुरदारुभिः॥ ३४॥
सपत्रपाठापत्तूरैरथ वा संप्रलेपयेत्।
सुरसारग्वधाद्यैश्च क्वाथाभ्यां परिषेचयेत्॥ ३५॥

शाल, अश्वकर्ण (पूर्वदेशप्रसिद्धः अश्वत्थसदृश), अजकर्ण (पियाशाल इति लोके) और धव की छाल को सुरा से पीस कर, तेल मिला, उष्ण करके, कफज उपदंश में लेप लगाना चाहिये अथवा हल्दी, अतीस, नागरमोथा, निशोथ, देवदारु, तमालपत्र, पाठा और पतंग के कल्क का लेप तथा सुरसादिगण और आरग्वधादिगण के क्वाथ से परिषेक करना चाहिये॥३३-३५॥

एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः।
प्रतिकुर्यात् क्रियायोगैः प्राक्स्थानोक्तैर्हितैरपि॥ ३६॥
न याति च यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
विदग्धैस्तु सिरास्नायुत्वङ्मांसैः क्षीयते ध्वजः॥ ३७॥
शस्त्रेणोपचरेच्चापि पाकमागतमाशु वै।
तदाऽपोह्य तिलैः सर्पिः क्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत्॥ ३८॥
करवीरस्य पत्राणि जात्यारग्वधयोस्तथा।
प्रक्षालने प्रयोज्यानि वैजयन्त्यर्कयोरपि॥ ३९॥

उपदंश की अवस्थाभेद से चिकित्सा—इस प्रकार सशोधन, आलेप, परिषेक और रक्तमोक्षण तथा सूत्रस्थानोक्त एवं द्विव्रणीयोक्त क्रियाओं के द्वारा (आम उपदंश का) प्रतिकार करना चाहिए। उपदंश में पाक न हो; इसका प्रयत्न वैद्य को करना चाहिये क्योंकि उपदंश में पाक होने पर शिरा, स्नायु, त्वचा तथा मांस के सड़ने से शिश्न भी गल जाता है। पाक होने पर शस्त्रक्रिया के द्वारा शीघ्र उपचार करना चाहिए। व्रण से पूय निकाल कर घृत, मधु मिश्रित तिल कल्क का लेप करना चाहिये। व्रण को धोने के लिए कनेर, चमेली, अमलतास, अरणी और आक के पत्तों का क्वाथ प्रयोग में लाना चाहिये॥

सौराष्ट्रीं गैरिकं तुत्थं पुष्पकासीससैन्धवम्।
रोध्रं रसाञ्जनं दार्वीं हरितालं मनःशिलाम्॥ ४०॥
हरेणुकैले च तथा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तच्चूर्णं क्षौद्रसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम्॥ ४१॥

उपदंश में चूर्ण विधान—फिटकिरी, गेरू, तूतिया, पुष्प (पुष्पाञ्जन-यशद से निर्मित), कासीस, सेन्धानमक, लोध्र, रसोत, दारुहल्दी, हरिताल, मैनशिल, रेणुकाबीज और इलायची का महीन चूर्ण, मधु मिलाकर, उपदंशव्रण में प्रयोग करना चाहिये ॥ ४०-४१ ॥

जम्ब्वाम्रसुमनानिम्बश्वेतकाम्बोजिपल्लवाः ।
शल्लकीबदरीबिल्वपलाशतिनिशत्वचः ॥ ४२ ॥
क्षीरिणां च त्वचो योज्याः क्वाथे त्रिफलया सह ।
तेन क्वाथेन नियतं व्रणं प्रक्षालयेद्भिषक् ॥ ४३ ॥
अस्मिन्नेव कषाये तु तैलं धीरो विपाचयेत् ।
गोजीविडङ्गयष्टीभिः सर्वगन्धैश्च संयुतम् ।
एतत् सर्वोपदंशेषु श्रेष्ठं रोपणमिष्यते ॥ ४४ ॥

जम्ब्वादि योग—जामुन, आम, चमेली, नीम, श्वेत (श्वेतस्यन्द) और काम्बोजी (मायपर्णी) के पत्ते, सलई, बेर, बेल, पलाश और स्यन्दन तथा क्षीरिवृक्षों की छाल एवं त्रिफला का एकत्र क्वाथ बनाकर, वैद्य को इस क्वाथ से प्रतिदिन व्रण धोना चाहिये। धैर्यशील वैद्य, उपर्युक्त क्वाथ के द्वारा गोजिह्वा, विडङ्ग, मुलेठी, तथा सर्वगन्ध (एलादिगण) के कल्क के साथ तैल पाक करे। यह तैल सभी उपदंश व्रणों के रोपण के लिए उत्तम होता है ॥ ४२-४४ ॥

स्वर्जिकातुत्थकासीस शैलेयं च रसाञ्जनम् ॥ ४५ ॥
मनःशिलासमैश्चूर्णं व्रणवीसर्पनाशनम् ।
गुन्द्रां दग्ध्वा कृत भस्म हरितालं मन शिला ॥४६॥
उपदंशविसर्पाणामेतच्छान्तिकरं परम् ।
मार्कवस्त्रिफला दन्ती ताम्रचूर्णमयोरज. ॥ ४७ ॥
उपदंशं निहन्त्येष वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ।
उपदंशद्वयेऽप्येतां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥ ४८ ॥
तयोरेव च या योग्या वीक्ष्य दोषबलाबलम् ।

सज्जीखार, तूतिया, कासीस, शैलेय (भूरिछरीला), रसोत और मैनशिल का समभाग में एक साथ बना हुआ चूर्ण उपदंशव्रण और विसर्प को नष्ट करता है। गुन्द्रा (पटेरा) को जलाकर बनाई गई भस्म, हरिताल और मैनशिल का मिश्रित प्रयोग उपदंश तथा विसर्प को शान्त करने के लिये उत्तम योग है।

भृङ्गराज, हरड, बहेडा, आँवला, दन्ती, ताम्रभस्म और लोहभस्म का मिश्रित प्रयोग उपदंश को इस प्रकार नष्ट करता है जैसे बिजली वृक्ष का नाश करती है।

रक्तज और सन्निपातज उपदंश को असाध्य समझते हुए (तुल्यकारण होने से) दोषों के बलाबल के अनुसार यथायोग्य इन्हीं क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये ॥४५-४८॥

उपदंशे विशेषेण शृणु भूयस्त्रिदोषजे ॥ ४९ ॥
दुष्टव्रणविधिं कुर्यात् कुथितं मेहन त्यजेत् ।
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन पश्चाच्छेपं दहेद्भिषक् ॥ ५० ॥
सम्यग्दग्धं च विज्ञाय मधुसर्पिः प्रयोजयेत् ।
शुद्धे च रोपणं दद्यात् कल्कं तैलं हितं च यत् ॥ ५१ ॥

त्रिदोषज उपदंश की चिकित्सा—त्रिदोषज उपदंश की विशेष चिकित्सा पुनः सुनो। इसमें दुष्टव्रण की चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिये तथा सड़े हुए शिश्न के सडे भाग को काटकर अलग कर देना चाहिए। इसके पश्चात् वैद्य को अग्नितप्त जम्ब्वोष्ठशस्त्र (जम्बूफल सदृश कृष्णपाषाण रचित) से शिश्न के शेष भाग को जलाना चाहिये। सम्यग् दग्ध के लक्षण उपस्थित होने पर मधु, घृत का प्रयोग तथा व्रण के शुद्ध होने पर रोपण के लिये कल्क और तैल जो हितकर हो उसका विधान करना चाहिये ॥ ४९-५१ ॥

स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक् ।
कृत्वा गुल्फोपरि सिरां विध्येत्तु चतुरङ्गुले ॥ ५२ ॥
समाप्यायितदेहं च बस्तिभिः समुपाचरेत् ।
मासमैरण्डजं तैलं पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ॥ ५३ ॥
पयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च ।
त्रैवृतं चोपयुञ्जीत स्नेहं दाहस्तथाऽग्निना ॥ ५४ ॥

वातजश्लीपदचिकित्सा—वातजश्लीपद में स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त रोगी के गुल्फ सन्धि के चार अङ्गुल ऊपर वैद्य शिरावेध करे और रोगी के शक्ति सम्पन्न होने पर बस्ति (निरूहबस्ति) का प्रयोग तथा एक मास तक गोमूत्र मिश्रित एरण्ड तैल का सेवन करावे। सोंठ से सिद्ध दूध के द्वारा भात खिलावे तथा त्रैवृत स्नेह (वातव्याधुक्त) का प्रयोग करे। इसमें अग्निकर्म की अपेक्षा दाहकर्म (जम्ब्वोष्ठादि शस्त्रों से जलाना) श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ ५२-५४ ॥

गुल्फस्याधः सिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसंभवे ।
पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्यात् पित्तार्बुदविसर्पवत् ॥ ५५ ॥

पित्तजश्लीपदचिकित्सा—पित्तज श्लीपद में गुल्फ सन्धि के नीचे शिरावेध तथा पित्तज अर्बुद एवं विसर्प की भाँति पित्तनाशक चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥५५॥

सिरां सुविदितां विध्येदङ्गुष्ठे श्लैष्मिके भिषक् ।
मधुयुक्तानि चाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः ॥ ५६ ॥
पिबेद्वाऽप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन च ।
कटुकामृतां शुण्ठीं विडङ्गं दारु चित्रकम् ॥ ५७ ॥
हितं वा लेपने नित्यं भद्रदारु सचित्रकम् ।
विडङ्गमरिचार्केषु नागरे चित्रकेऽथवा ॥ ५८ ॥
भद्रदार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च ।
तैलं पक्वं पिबेद्वाऽपि यवान्न च हित सदा ॥ ५९ ॥

कफजश्लीपदचिकित्सा—वैद्य श्लीपद में अगूठे की प्रसिद्ध शिरा (शिप्रमर्म के चार अङ्गुल ऊपर) का वेधन करे तथा रोगी को मधुयुक्त क्वाथ बार बार पिलावे। अथवा आठ प्रकार के मूत्रों में से किसी एक के साथ हरीतकी का कल्क पिलावे। अथवा कुटकी, गुडूची, सोंठ, विडङ्ग, देवदारु और चित्रक का कल्क किसी एक मूत्र के साथ पिलावे। अथवा देवदारु और चित्रक के कल्क का लेप नित्य व्यवहार करना हितकर होता है। अथवा विडङ्ग, मरिच, मदार, सोंठ, चित्रक, देवदारु, एलुआ और पाँचों नमक के साथ सिद्ध तेल पिलाना और जौ के अन्नका सेवन कराना सदा हितकर होता है ॥ ५६-५९ ॥

पिवेत् सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये ।
पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वाऽपि यथाबलम् ॥ ६० ॥
अनेनैव विधानेन पुत्रञ्जीवकजं रसम् ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित् ॥६१॥
केवुकाकन्दनिर्यासं लवणं त्वथ पाकिमम् ।
रसं दत्त्वाऽथ पूर्वोक्तं पेयमेतद्भिषग्जितम् ॥ ६२ ॥

श्लीपद की निवृत्ति के लिये सरसों का तेल या पूतिकरञ्ज के पत्तों का रस शक्ति के अनुसार पिलाना चाहिये। काल सात्म्य के भेद को जानने वाला विद्वान् वैद्य इसी विधान से पुत्रजीवक के स्वरस का प्रयोग करे। पूर्वोक्त औषध स्वरस (पुत्रजीवक स्वरस) के साथ केवुकाकन्द की गोंद तथा विडनमक मिलाकर वैद्य रोगी को पिलावे ॥ ६०-६२ ॥

काकादनीं काकजङ्घां बृहतीं कण्टकारिकाम् ।
कदम्बपुष्पीं मन्दारीं लम्बां शुकनसां तथा ॥ ६३ ॥
दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत् क्षारकल्पवत् ।
तत्र दद्यात् प्रतीवापं काकोदुम्बरिकारसम् ॥ ६४ ॥
मदनाच्च फलात् क्वाथं शुक्राख्यस्वरसं तथा ।
एष क्षारस्तु पानीय श्लीपदं हन्ति सेवित ॥ ६५ ॥
अपचीं गलगण्डं च ग्रहणीदोषमेव च ।
भक्तस्यानशनं चैव हन्यात् सर्वविषाणि च ॥ ६६ ॥
एष्वेव तैल संसिद्धं नस्याभ्यङ्गेषु पूजितम् ।
एतानेवामयान् हन्ति ये च दुष्टव्रणा नृणाम् ॥ ६७ ॥

श्लीपद में पानीयक्षार—काकादनी (काकनासा), काकजंघा, बड़ी कटेरी, गोरखमुण्डी, मन्दारी, लम्बा (कडुई तुम्बी) और शुकनासा (चर्मकार वट) को जलाकर क्षारकल्प की भाँति गोमूत्र में घोलकर छाना जावे। इसमें कठगूलर का रस, मैनफल का क्वाथ तथा चर्मकार वट का स्वरस प्रक्षेप रूप में मिलाया जावे। इस पानीयक्षार का सेवन करने से श्लीपद, अपची, गलगण्ड, ग्रहणीदोष, अजीर्ण और सभी प्रकार के विष नष्ट होते हैं। इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल नस्य तथा अभ्यङ्ग के लिये उत्तम होता है और यह मनुष्यों के उपर्युक्त रोगों तथा दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है ॥६३-६७॥

द्रवन्ती त्रिवृतां दन्तीं नीलीं श्यामां तथैव च ।
सप्तलां शङ्खिनीं चैव दग्ध्वा मूत्रेण गालयेत् ॥ ६८ ॥
दद्याच्च त्रिफलाक्वाथमेष क्षारस्तु साधित ।
अधो गच्छति पीतस्तु पूर्वैराख्याशिषः समाः ॥६९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

द्रवन्ती, निशोथ, दन्ती, नील, श्यामा, सातला—सेहुण्ड और शङ्खिनी (यवनिका) को जलाकर गोमूत्र में इक्कीस बार छान लिया जावे। इस सिद्ध क्षार जल में त्रिफला क्वाथ मिलाकर रोगी को पिलावे। इस क्षार जल में भी उपर्युक्त चार जल के सभी गुण विद्यमान रहते हैं और इसके सेवन से उपर्युक्त रोगों का नाश होता है ॥ ६८-६९ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर क्षुद्र रोगों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत् ।
शुक्तिशृङ्गीयवक्षारकल्कैश्चालेपयेद्भिषक् ॥ ३ ॥
श्यामालाङ्गलकीपाठाकल्कैर्वाऽपि विचक्षणः ।
पक्वां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयेत् ॥ ४ ॥

अजगल्लिका चिकित्सा—अपक्व अजगल्लिका (बालकों की पिडका विशेष) में जोंक के द्वारा रक्तमोक्षण तथा शुक्ति (सीप), शृङ्गी (सजीखार) और यवक्षार के कल्क का लेप वैद्य को करना चाहिये। अथवा बुद्धिमान् वैद्य श्यामा (विधारा), कलिहारी और पाठा के कल्क का लेप करे। पक्व अजगल्लिका का उपचार पूर्वोक्त व्रण-चिकित्सा विधान के अनुसार करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

विमर्श.—यहाँ आम (अपक्व) अजगल्लिका की चिकित्सा में जलौका द्वारा उपचार पहले लिखकर अन्य द्रव्यों के लेप का विधान किया गया है। गयदास की सम्मति है कि प्रथम लेप का प्रयोग तदनन्तर जलौका द्वारा रक्तस्राव कराना चाहिये। आलेप, शोथ के उपक्रमों में आद्य उपक्रम है, इस हेतु से गयदास की सम्मति उचित प्रतीत होती है।

अन्धालजीं यवप्रख्यां पनसीं कच्छपीं तथा ।
पाषाणगर्दभं चैव पूर्वं स्वेदेन योजयेत् ॥ ५ ॥

अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसिका, कच्छपिका और पाषाणगर्दभ में प्रथम स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५ ॥

मनःशिलातालकुष्ठदारुकल्कैः प्रलेपयेत् ।
परिपाकगतान् भित्त्वा व्रणवत् समुपाचरेत् ॥ ६ ॥

उपर्युक्त रोगों में मैनशिल, हरिताल, कूठ और देवदारु के कल्क का लेप तथा (शोथों में) पाक होने पर चीरा लगाकर व्रण चिकित्सा विधान के अनुसार उपचार करना चाहिये ॥६॥

विवृतामिन्द्रवृद्धां च गर्दभीं जालगर्दभम् ।
इरिवेल्लीं गन्धनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा ॥ ७ ॥
पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक् ।
रोपयेत् सर्पिषा पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः ॥ ८ ॥

विवृता, इन्द्रवृद्धा, गर्दभी, जालगर्दभ, इरिवेल्लिका, गन्धनामा, कक्षा और विस्फोटक में पित्तज विसर्प की चिकित्सा के अनुसार उपचार तथा मधुर औषधियों के क्वाथ (काकोल्यादि गण) से सिद्ध घृत के द्वारा व्रण का रोपण वैद्य को करना चाहिये ॥ ७-८ ॥

चिप्प्य(प्प)मुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद्भिषक्।
चक्रतैलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत् ॥ ९ ॥
बन्धेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत्।
मधुरौषधसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत् ॥ १० ॥

चिप्पचिकित्सा—चिप्प रोग (नखमांस गत पाक) में उष्णजल से सेक करके दूषित मांस को काटकर वैद्य रक्तमोक्षण करावे और व्रण पर चक्रतैल (कोल्हू का तेल) लगाकर राल का चूर्ण छिडके तथा पट्टी बांधे। यदि इन क्रियाओं से सफलता की सम्भावना न हो तो अग्नि से जलावे और मधुर औषधियों (काकोल्यादि गण) से सिद्ध तैल के द्वारा व्रण का रोपण करे ॥ ९-१० ॥

कुनखे विधिरप्येष कार्यो हि भिषजा भवेत्।
उपाचरेदनुशयीं श्लेष्मविद्रधिवद्भिषक् ॥ ११ ॥

कुनख चिकित्सा—वैद्य को कुनख में भी इसी विधि का प्रयोग तथा अनुशयी (ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित भीतरी भाग में पकने वाली पिडका) में कफज विद्रधि की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

विदारिकां समभ्यज्य स्विन्नां विम्लाप्य लेपयेत्।
नगवृत्तिकवर्षाभूबिल्वमूलैः सुपेषितैः ॥ १२ ॥
व्रणभावगतायां वा कृत्वा सशोधनक्रियाम्।
रोपणार्थं हितं तैलं कषायमधुरैः श्रृतम् ॥ १३ ॥

विदारिकाचिकित्सा—विदारिका (कक्षा, वङ्क्षण प्रदेश की ग्रन्थियों में शोथ) में स्वेदन, अभ्यङ्ग तथा विम्लापन (अंगूठे से मर्दन) कर नगवृत्तिक (जिङ्गिनी), पुनर्नवा और वेल की जड़ को भलीभांति पीसकर लेप लगावे। अथवा व्रण का रूप हो जाने पर संशोधन उपचार के पश्चात्, व्रण-रोपण के लिये कषाय और मधुर द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध तैल का प्रयोग हितकर होता है ॥ १२-१३ ॥

प्रच्छानैर्वा जलौकोभिः स्राव्याऽपक्वा विदारिका।
अजकर्णैः सपालाशमूलकल्कैः प्रलेपयेत् ॥ १४ ॥
पक्वां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयोः।
कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत् ॥ १५ ॥
बद्ध्वा च क्षीरवृक्षस्य कषायैः खदिरस्य च।
व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धां ततस्तां रोपयेत् पुनः ॥ १६ ॥

अपक्व विदारिका में पाछ लगाकर अथवा जोंक के द्वारा रक्तस्राव करावे। अजकर्ण (सर्ज) और पलाश की जड़ के कल्क का लेप करे और पकी हुई विदारिका को शस्त्र से चीर कर, परवल तथा नीम की पत्ती के कल्क में तिल कल्क और घृत मिलाकर लेप लगावे एवं पट्टी बांधे। क्षीरी वृक्ष (वट-गूलर आदि) और खैर के क्वाथ से व्रण को धोवे तथा शुद्ध होने पर उसका रोपण करे ॥ १४-१६ ॥

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्करार्बुदम्।
कच्छूं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत् समुपाचरेत् ॥ १७ ॥
लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपैः।
वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम्।
सारतैलमथाभ्यङ्गं कुर्वीत कटुकैः श्रृतम् ॥ १८ ॥

शर्करार्बुद-कच्छू-विचर्चिका पामा की चिकित्सा—शर्करार्बुद का उपचार, मेदज अर्बुद की चिकित्सा के अनुसार करना चाहिये।

कच्छू, विचर्चिका और पामा की चिकित्सा कुष्ठ रोग की भांति करनी चाहिये। इन रोगों में मोम, सौफ और पीली सरसों या वच, दारुहल्दी और सरसों का लेप हितकर होता है। अथवा करञ्ज तैल तथा कटु द्रव्यों (पिप्पल्यादि गण) से सिद्ध सारतैल (शीशम, अगर, सरल, देवदारु आदि वृक्षों के सार भाग से निकाला गया तैल) की मालिश करनी चाहिए ॥ १७-१८ ॥

पाददार्यां सिरां विद्ध्वा स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥
मधूच्छिष्टवसामज्जासर्जचूर्णघृतैः कृतः।
यवाह्वगैरिकोन्मिश्रैः पादलेपः प्रशस्यते ॥ २० ॥

पाददारी चिकित्सा—पाददारी (विवाई Rhagades) में शिरावेधन कर स्वेदन और अभ्यङ्ग का प्रयोग, तथा मोम, वसा, मज्जा और राल के चूर्ण से सिद्ध घृत में यवक्षार एवं गेरु मिलाकर पैर में लेप लगाना चाहिये ॥ १९-२० ॥

पादौ सिक्त्वाऽऽरनालेन लेपनं ह्यलसे हितम्।
कल्कीकृतैर्निम्बतिलकासीसालैः ससैन्धवैः ॥ २१ ॥
लाक्षारसोऽभया वाऽपि कार्यं स्याद्रक्तमोक्षणम्।
सिद्धं रसे कण्टकार्यास्तैलं वा सार्षपं हितम्।
कासीसरोचनशिलाचूर्णैर्वा प्रतिसारणम् ॥ २२ ॥

अलस चिकित्सा—अलस रोग (Chilblain पानी लगने से पैर की अंगुलियों का सडना) में पैरों को काञ्जी से धोकर, नीम, तिल, कासीस, हरिताल और सेन्धा नमक के कल्क या लाखके रस और हरीतकी-कल्क का लेप लगाना चाहिए अथवा रक्तमोक्षण या कण्टकारी के रस में सिद्ध सरसों के तेल का प्रयोग, अथवा कासीस, गोरोचन और मैनसिल के चूर्ण से प्रतिसारण (घर्षण) करना हितकर होता है ॥ २१-२२ ॥

उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत् कदरसंज्ञकम् ॥ २३ ॥

कदरचिकित्सा—कदर नामक रोग (Corn या गोखरू) को शस्त्र से काटकर अग्नितप्त तैल से जलाना चाहिये ॥ २३ ॥

इन्द्रलुप्ते सिरां मूर्ध्नि स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्।
कल्कैः समरिचैर्दिह्याच्छिलाकासीसतुत्थकैः ॥ २४ ॥
कुटन्नटादारुकल्कैर्लेपनं वा प्रशस्यते।
प्रच्छयित्वाऽवगाढं वा गुञ्जाकल्कैर्मुहुर्मुहुः ॥ २५ ॥
लेपयेदुपशान्त्यर्थं कुर्याद्वाऽपि रसायनम्।
मालतीकरवीराग्निनक्तमालविपाचितम्।
तैलमभ्यञ्जने शस्तमिन्द्रलुप्तापहं परम् ॥ २६ ॥

इन्द्रलुप्त चिकित्सा—इन्द्रलुप्त (गञ्ज Alopecia) में स्नेहन, स्वेदन से युक्त रोगी के शिर की शिरा का वेधन कर रक्तमोक्षण और मरिच, मैनशिल, कसीस तथा तूतिया के कल्क अथवा तगर और देवदारु के कल्क का लेप लगाना

चाहिये। अथवा शिर में गहरा पाछ लगाकर, रोगी की वेदना की शान्ति के लिए, बारबार गुञ्जा कल्क का लेप करे या रसायन विधि के अनुसार लेप लगावे। चमेली, कनेर, चित्रक और करञ्ज के कल्क से सिद्ध तैल, अभ्यङ्ग के लिए अत्यन्त हितकर तथा इन्द्रलुप्त नाशक होता है ॥ २४-२६ ॥

अरूंषिकां हृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा ॥ २७ ॥
दिह्यात् सैन्धवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु ।
हरितालनिशानिम्बकल्कैर्वा सपटोलजैः ॥ २८ ॥
यष्टीनीलोत्पलैरण्डमार्कवैर्वा प्रलेपयेत् ॥
इन्द्रलुप्तापहं तैलमभ्यङ्गे च प्रशस्यते ॥ २९ ॥

अरूंषिका चिकित्सा—अरूंषिका (Exema of the face and scalp शिर की स्रावयुक्त पिडकायें) में रक्तमोक्षण के पश्चात् नीम के क्वाथ से परिषेक तथा घोड़े की लीद के रस में सेन्धानमक मिलाकर लेप अथवा हरिताल, हल्दी, नीम और पटोलपत्र के कल्क या मुलेठी, नीलोफर, एरण्ड और भगरैया के कल्क का लेप लगाना चाहिये। इन्द्रलुप्तनाशक तैल का अभ्यङ्ग कराना भी उत्तम होता है ॥ २७-२९ ॥

सिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धस्विन्नस्य मूर्धनि ।
अवपीडं शिरोबस्तिमभ्यङ्गं च प्रयोजयेत् ।
क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोय प्रशस्यते ॥ ३० ॥

दारुणक चिकित्सा—दारुणक (शिर के बालों की जड़ में दरार पड़ना) में स्नेहन, स्वेदन युक्त रोगी के शिर की शिरा का वेधन कर अवपीडनस्य, शिरोबस्ति और अभ्यङ्ग का प्रयोग करना चाहिये। व्रण को धोने के लिए, कोदो धान के क्षार जल का प्रयोग उत्तम होता है ॥ २८-३० ॥

उपरिष्टात् प्रवक्ष्यामि विधिं पलितनाशनम् ।
मसूरिकायां कुष्ठघ्नलेपनादिक्रिया हिता ।
पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया वा संप्रशस्यते ॥ ३१ ॥

मसूरिका-चिकित्सा—पलित रोग को नष्ट करने की चिकित्सा विधि आगे (मिश्रक चिकित्सित अध्याय में) कही जावेगी। मसूरिका में कुष्ठनाशक लेप आदि क्रियायें अथवा पित्तश्लेष्मज विसर्प के लिए कही गई चिकित्सा विधि हितकर होती है ॥ ३१ ॥

जतुमणिं समुत्कृत्य मपकं तिलकालकम् ।
क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः ॥ ३२ ॥

जतुमणि-मशक-तिलकालक चिकित्सा—जतुमणि (Congenital mole शरीर पर जन्म जात कुछ लाल और चिकना मण्डल), मपक (Elevated mole शरीर में उड़द के समान काले मस्से) और तिलकालक (Non elevated mole तिल) को भलीभांति काटकर, क्षार अथवा अग्नि से धीरे २ जलाना चाहिये ॥ ३२ ॥

न्यच्छे व्यङ्गे सिरामोक्षो नीलिकायां च शस्यते ॥३३॥
यथान्यायं यथाभ्यासं ललाटादिसिराव्यधः ।
घृष्ट्वा दिह्यात्त्वचं पिष्ट्वा क्षीरिणां क्षीरसयुताम् ॥ ३४ ॥
बलातिबलयष्ट्याह्वरजनीर्वा प्रलेपनम् ।
पयस्यागुरुकालीयलेपनं वा सगैरिकम् ॥ ३५ ॥
क्षौद्राज्ययुक्तया लिम्पेद्दंष्ट्रया शूकरस्य च ।
कपित्थराजादनयोः कल्कं वा हितमुच्यते ॥ ३६ ॥

न्यच्छ-व्यङ्ग नीलिका चिकित्सा—न्यच्छ (लाञ्छन), व्यङ्ग (झांई) और नीलिका (कृष्णवर्ण का मण्डल) में शिरावेध हितकर होता है। विधान तथा कर्माभ्यास के अनुसार ललाट आदि की शिराओं का वेध करना चाहिये। रोगाक्रान्त स्थान को (समुद्रफेन आदि से) घिस कर, क्षीरिवृक्षों की दूध सहित छाल को पीस लेप लगाना चाहिये या खरेंटी, कघी, मुलेठी और हल्दी का लेप करना चाहिये। अथवा पयस्या (अर्कपुष्पी), अगर, कालीय (कृष्ण चन्दन) और गेरु तथा मधु, घृत, युक्त शूकर के दांत का लेप लगाना चाहिये। अथवा कैथ और खिरनी के कल्क का लेप हितकर होता है ॥ ३३-३६ ॥

यौवने पिडकास्वेष विशेषाच्छर्दनं हितम् ।
लेपनं च वचारोध्रसैन्धवैः सर्षपान्वितैः ।
कुस्तुम्बुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम् ॥ ३७ ॥

यौवनपिडका चिकित्सा—यौवनपिडकाओं (मुहाँसे) में वमन कराना विशेष हितकर है। अथवा वच, लोध्र, सेन्धा नमक और सरसों या धनियां, वच, लोध्र और कूठ का लेप लगाना हितकर होता है ॥ ३७ ॥

पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा ॥ ३८ ॥
तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिःपानं प्रदापयेत् ।
निम्बारग्वधयोः कल्को हित उत्सादने भवेत् ॥ ३९ ॥

पद्मिनीकण्टक चिकित्सा—पद्मिनीकण्टक रोग (त्वचा का सौम्य अर्बुद Papilloma of the skin) में नीम के क्वाथ से वमन कराना और उसी क्वाथ से सिद्ध घृत, मधु मिलाकर पिलाना तथा नीम और अमलतास के कल्क का उबटन लगाना हितकर होता है ॥ ३८-३९ ॥

परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत् ।
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत् पीडयेन्मणिम् ॥४०॥
प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः ।
त्रिरात्र पञ्चरात्रं वा वातघ्नैः साल्वणादिभिः ॥ ४१ ॥
दद्याद्वातहरान् बस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत् ।
वपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सकः ॥ ४२ ॥

परिवर्त्तिका तथा अवपाटिका चिकित्सा—परिवर्त्तिका (Para Phimosis शिश्न रोग) में घृत लगाकर, भली भांति स्वेदन करके (उपनाह) पुलटिस बांधनी चाहिये, फिर (घृत) मालिश करके शिश्नमुण्ड को दबाते हुए चर्म को धीरे २ नीचे उतारना चाहिये। मणि के अन्दर प्रविष्ट होने पर, चर्म को शाल्वण आदि वातघ्न उपनाहों (पुलटिस) के द्वारा तीन या पांच दिन स्वेदन करना चाहिये। वातनाशक वस्तियों का प्रयोग तथा स्निग्ध अन्न का भोजन कराना चाहिये। अवपाटिका (Tear in the Prepuce शिश्नच्छद) की चिकित्सा दोषानुसार, चिकित्सक को इसी प्रकार करनी चाहिये ॥ ४०-४२ ॥

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम् ।
दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥ ४३ ॥
परिषेके वसामज्जशिशुमारवराहयोः ।
चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम् ॥ ४४ ॥
व्यहात् व्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाडीं प्रवेशयेत्
स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत् ।
भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत् ॥ ४५ ॥

निरुद्धप्रकश चिकित्सा—निरुद्धप्रकश (Phimosis) में दोनों ओर छिद्र वाली लोह, लकड़ी या लाख की बनी नली पर घी लगा, शिश्न मार्ग के अन्दर प्रवेश करना चाहिये। शिश्नमुण्ड के परिषेक के लिए मगर तथा सूअर की चर्बी और मज्जा एवं वातनाशक द्रव्यों से युक्त चक्रतैल (कोल्हू का तेल) का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार तीन २ दिन के बाद, क्रमशः मोटी नली, भलीभांति प्रवेश कर स्रोत (मार्ग) को बढाना चाहिये और स्निग्ध अन्न खिलाना चाहिये। अथवा सेवनी को बचाते हुए शस्त्रक्रिया कर, सद्यःक्षत विधि के अनुसार उपचार करना चाहिये ॥

सन्निरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम् ॥ ४६ ॥
प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत् ।
विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम् ।
सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया ॥ ४७ ॥

संनिरुद्धगुद-चिकित्सा—सनिरुद्धगुद (Stricture of the Rectum), वल्मीक और अग्निरोहिणी (कच्चा प्रदेश के स्फोट) को असाध्य समझते हुए, विधान के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। अग्निरोहिणी का उपचार, विसर्प के लिये बतलाई गई विधि के अनुसार करना चाहिए तथा सन्निरुद्ध गुद में निरुद्धप्रकश की चिकित्सा-विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४६-४७ ॥

शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत् ॥४८॥
विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत् ।
वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम् ॥ ४९ ॥
तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ।
कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च ॥ ५० ॥
आरेवतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैस्तथैव च ।
श्यामामूलैः सपललैः शक्तुभिश्चैः प्रलेपयेत् ॥ ५१ ॥
सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक् तमुपनाहयेत् ।
पक्वं वा तद्विजानीयाद्वृतीः सर्वा यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥
अभिज्ञाय ततश्छित्त्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक् ।
संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥ ५३ ॥
व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान् भिषक् ।
सुमना ग्रन्थयश्चैव भल्लातकमनःशिले ॥ ५४ ॥
कालानुसारी सूक्ष्मैला चन्दनागुरुणी तथा ।
एतैः सिद्धं निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम् ॥ ५५ ॥
पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम् ।
वल्मीकं यत् सशोफं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता ॥५६॥

वल्मीक चिकित्सा—वल्मीक (हाथ-पादतल और ग्रीवा आदि की वल्मीक के स्वरूप की गांठ) को शस्त्र से काटकर क्षार तथा अग्नि से जलावे और अर्बुद की चिकित्सा के लिये बतलाई गई विधि के अनुसार व्रण का शोधन एवं रोपण करे। मर्मस्थान से रहित तथा छोटे वल्मीक में संशोधन कर वैद्य, रक्तमोक्षण करे और कुलथी की जड, गुडूची, सेन्धा-नमक, अमलताश की जड, दन्ती की जड़, काले निशोथ की जड, पलल (तिल की पिष्टि) और सत्तू (धान के लावे का) को एकत्र मिलाकर लेप लगावे तथा भलीभांति स्निग्ध एवं सुखोष्ण उपनाह (पुलटिस) बांधे। वल्मीक के पक जाने पर, पूय की सम्पूर्ण गति (मार्ग) को भलीभांति समझकर, बुद्धिमान् वैद्य, विधान के अनुसार चीरा लगावे तथा अग्नि से जलावे। दूषित मांस को शुद्ध कर, क्षार से प्रतिसारण (रगडे) और व्रण के शुद्ध होने पर रोपण करे। चमेली की कली, भिलावा, मैनशिल, कृष्णसारिवा, छोटी इलायची, चन्दन और अगर से सिद्ध नीम का तेल, वल्मीक के रोपण के लिए हितकर होता है। हाथ-पैरों के ऊपर होने वाले, अनेक छिद्रों से व्याप्त शोथयुक्त वल्मीक को कुशल वैद्य त्याग दे ॥ ४८-५६ ॥

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना ।
पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम् ।
पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम् ॥ ५७ ॥

अहिपूतना चिकित्सा—बालकों के अहिपूतना रोग की चिकित्सा, धात्री के दुग्ध की शुद्धि द्वारा करनी चाहिये।

परवल की पत्ती, हरड, बहेडा, आँवला और रसोत के द्वारा सिद्ध घृत पिलाने से, कष्टसाध्य अहिपूतना रोग भी नष्ट हो जाता है ॥ ५७ ॥

त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम् ॥ ५८ ॥

हरड, बहेड़ा, आँवला, बेर और खैर के क्वाथ का प्रयोग व्रण रोपण के लिए करना चाहिये ॥ ५८ ॥

कासीसरोचनातुत्थहरितालरसाञ्जनैः ।
लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैन्धवसंयुता ।
कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत् ॥ ५९ ॥

कासीस, गोरोचन, तूतिया, हरिताल और रसोत अथवा बेर की छाल और सेन्धानमक काञ्जी में पीसकर लेप लगाना चाहिये। चूर्णकाल (व्रणरोपण के समय) में कपाल (पके हुए मिट्टी के घड़े का टुकडा) और तूतिया के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५९ ॥

चिकित्सेन्मुष्ककच्छूं चाप्यहिपूतनपामवत् ॥ ६० ॥

वृषणकच्छू (Eczema of the Scrotuem) की चिकित्सा भी, अहिपूतना और पामा की भाँति करनी चाहिये ॥ ६० ॥

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत् ।
कारयेद्रोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ।
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

गुदभ्रंश-चिकित्सा—गुदभ्रंश (Prolapsus Recti) में बाहर निकली हुई गुदा का स्वेदन और स्नेहन कर अन्दर

प्रवेश करना चाहिये और अधोवायु निकलने के लिए, मध्य में छेद वाली, चमड़े की गोफणा बन्धन (T. Bandage) से पट्टी बाँधनी चाहिये तथा धीरे-धीरे स्वेदन करना चाहिये॥६१॥

क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जिताम् ॥ ६२ ॥
पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ।
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥ ६३ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षुद्ररोगचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

दूध में बृहत्-पञ्चमूल तथा आँतरहित चूहे को पकाकर, इस दूध के द्वारा, वातघ्न औषधियों के कल्क के साथ, तैल पाक किया जावे। इस तैल के पीने तथा लगाने से कष्ट साध्य गुदभ्रंश रोग नष्ट होता है ॥ ६२-६३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शूकदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर शूक रोग की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

संलिख्य सर्पपीं सम्यक् कषायैरवचूर्णयेत् ।
कषायेष्वेव तैलं च कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥ ३ ॥

सर्षपीचिकित्सा—सर्षपी को भली भाँति खुरच कर कषाय वृक्षों का चूर्ण (मिश्रकोक्त शोधन द्रव्य) व्रण पर लगाना चाहिये तथा व्रण रोपण के लिए, कषाय द्रव्यों के कल्क के साथ ही तैल पाक करना चाहिये ॥ ३ ॥

अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेच्च पुनः पुनः ।
तथा चानुपशाम्यन्तीं कफग्रन्थिवदुद्धरेत् ॥ ४ ॥

अष्ठीलिका-चिकित्सा—कुशल चिकित्सक, अष्ठीलिका में जोंक लगाकर बारबार रक्तमोक्षण करावे तथा इस प्रकार शान्त न होने वाली अष्ठीलिका को कफज ग्रंथि की भाँति शस्त्र से काट कर निकाले ॥ ४ ॥

स्वेदयेद् ग्रथितं शश्वन्नाडीस्वेदेन बुद्धिमान् ।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत् ॥ ५ ॥

ग्रथित-चिकित्सा—बुद्धिमान् वैद्य ग्रथित में नाड़ी स्वेद से प्रतिदिन स्वेदन करे और भली भाँति स्निग्ध एवं सुखोष्ण उपनाह (पुलटिस) बाँधे ॥ ५ ॥

कुम्भीकां पाकमापन्नां भिन्द्याच्छुद्धां तु रोपयेत् ।
तैलेन त्रिफलालोध्रतिन्दुकाम्रातकेन तु ॥ ६ ॥

कुम्भीका चिकित्सा—पकी हुई कुम्भीका को शस्त्र से चीरकर, व्रण को शुद्ध करके, हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र, तिन्दुक (तेंदू) और आमड़े से सिद्ध तैल के द्वारा रोपण करना चाहिये ॥ ६ ॥

ग्राहयित्वा जलौकोभिरलजीं सेचयेत्ततः ।
कषायैस्तेषु सिद्धं च तैलं रोपणमिष्यते ॥ ७ ॥

अलजी चिकित्सा—अलजी में जलौका के द्वारा रक्तमोक्षण कर कषाय वृक्षों के क्वाथ से परिषेक तथा इन्हीं कषायवृक्षों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल से व्रण का रोपण करना चाहिये ॥ ७ ॥

बलातैलेन कोष्णेन मृदितं परिषेचयेत् ।
मधुरैः सर्पिषा स्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहयेत् ॥ ८ ॥

मृदित चिकित्सा—मृदित में सुखोष्ण बलातैल से परिषेक और मधुर द्रव्यों में घृत मिलाकर सुखोष्ण उपनाह (पुलटिस) बाँधना चाहिये ॥ ८ ॥

संमूढपिडकां क्षिप्रं जलौकोभिरुपाचरेत् ।
भित्त्वा पर्यागतां चापि लेपयेत् क्षौद्रसर्पिषा ॥ ९ ॥

संमूढ पिडिका चिकित्सा—संमूढपिडिका में, जलौका द्वारा शीघ्र रक्तमोक्षण कराना चाहिये तथा पकी हुई को चीर कर मधु और घृत का लेप लगाना चाहिये ॥ ९ ॥

अवमन्थे गते पाकं भिन्ने तैलं विधीयते ।
धवाश्वकर्णपत्तङ्गसल्लकीतिन्दुकीकृतम् ॥ १० ॥

अवमन्थ चिकित्सा—अवमन्थ के पककर फूटने पर, धव, अश्वकर्ण (गन्धमुण्ड), पतङ्ग, साल और तेंदू के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिये ॥ १० ॥

क्रियां पुष्करिकायां तु शीतां सर्वां प्रयोजयेत् ।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् सर्पिषा चावसेचयेत् ॥ ११ ॥

पुष्करिका-चिकित्सा—पुष्करिका में सम्पूर्ण शीतल क्रियाओं का प्रयोग, जोंक के द्वारा रक्तमोक्षण तथा घृत से परिषेक करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्पर्शहान्यां हरेद्रक्तं प्रदिह्यान्मधुरैरपि ।
क्षीरेक्षुरससर्पिर्भिः सेचयेच्च सुशीतलैः ॥ १२ ॥

स्पर्शहानि-चिकित्सा—स्पर्शहानि में रक्तमोक्षण कर, मधुर द्रव्यों के कल्क का लेप तथा शीतल दूध, गन्ने के रस, और घृत के द्वारा परिषेक करना चाहिये ॥ १२ ॥

पिडकामुत्तमाख्यां च बडिशेनोद्धरेद्भिषक् ।
उद्धृत्य मधुसंयुक्तैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥ १३ ॥

उत्तमा पिडका चिकित्सा—उत्तमा नामक पिडका को वैद्य बडिशशस्त्र से निकाले और मधुयुक्त कषाय द्रव्यों के चूर्ण से अवचूर्णन करे (व्रण पर चूर्ण छिड़के) ॥१३॥

रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके ।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च देयं तैलमनन्तरम् ॥ १४ ॥

शतपोनक चिकित्सा—शतपोनक में पहले लेखन (Scraping) कर, रसक्रिया और इसके पश्चात् पृथक्पर्ण्यादिगण से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए ॥ १४ ॥

क्रियां कुर्याद्भिषक् प्राज्ञस्त्वक्पाकस्य विसर्पवत् ।
रक्तविद्रधिवच्चापि क्रिया शोणितजेऽर्बुदे ॥१५॥
कषायकल्कसर्पींषि तैलं चूर्णं रसक्रियाम् ।
शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥ १६ ॥
हितं च सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम् ।
हितः शोणितमोक्षश्च यद्यपि लघु भोजनम् ॥ १७ ॥

त्वक्पाक तथा रक्तजार्बुदचिकित्सा—विद्वान् वैद्य को त्वक्पाक की चिकित्सा विसर्प की भाँति करनी चाहिये। रक्तज अर्बुद में रक्तज विद्रधि की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए तथा क्वाथ, कल्क, घृत, तैल, चूर्ण, रसक्रिया, शोधन और रोपण कर्म द्विव्रणीयोक्त अवस्था के अनुसार प्रयोग में लाना चाहिये। दोषों के अनुसार घृतपान, विरेचन, रक्तमोक्षण तथा लघु भोजन, रक्तज अर्बुद में हितकर होता है ॥१५-१७॥

अर्बुदं मांसपाकं च विद्रधिं तिलकालकम् ।
प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक् सम्यक् प्रतिक्रियाम् ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शूकरोग-चिकित्सितनामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अर्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक को असाध्य समझते हुए, वैद्य को, भलीभाँति चिकित्सा करनी चाहिये ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मुखरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर मुखरोग की, चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च ।
वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान् ॥ ३ ॥

ओष्ठरोग चिकित्सा—वातज ओष्ठ रोग में, मोम युक्त चतुर्विध स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) की मालिश और नाड़ी स्वेद का प्रयोग बुद्धिमान् वैद्य को करना चाहिये ॥३॥

विदध्यादोष्ठकोपे तु साल्वणं चोपनाहने ।
मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम् ॥ ४ ॥

वातज ओष्ठरोग में साल्वण की पुलटिस, शिरोवस्ति, और वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल का नस्य हितकर होता है ॥

श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु ।
यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात् प्रतिसारणम् ॥ ५ ॥

वातज ओष्ठ रोग में विरोजा, राल, देवदारु, गुग्गुल और मुलेठी के चूर्ण से प्रतिसारण (घर्षण) करना चाहिये ॥ ५ ॥

पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत् ।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः ॥ ६ ॥

पित्तज, रक्तज और अभिघातज ओष्ठ रोग में जोंक के द्वारा रक्तमोक्षण तथा विद्रधि की भाँति सम्पूर्ण (संशोधन-संशमनरूपा बाह्याभ्यन्तरीया) क्रिया करनी चाहिये ॥ ६ ॥

शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च ।
हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके ॥ ७ ॥
त्र्यूषणं स्वर्जिकाक्षारो यवक्षारो विडं तथा ।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥ ८ ॥

कफज ओष्ठ रोग में, रक्तमोक्षण के अनन्तर शिरोविरेचन, धूम, स्वेद और कवल का प्रयोग तथा सोंठ, मरिच, पिप्पल, सज्जीखार, यवक्षार और विडनमक में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिये ॥ ७-८ ॥

मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः ।
प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ॥ ९ ॥

मेदज ओष्ठरोग में स्वेदन के पश्चात् शस्त्र से चीरकर व्रण का शोधन, अग्निकर्म तथा प्रियंगु, त्रिफला और लोध्र में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए ॥ ९ ॥

एतदोष्ठप्रकोपानां साध्यानां कर्म कीर्तितम् ।
दन्तमूलगतानां तु रोगाणां कर्म वक्ष्यते ॥ १० ॥

साध्य ओष्ठरोगों के लिए यह चिकित्सा विधि बतलाई गई है, दाँतों की जड (मसूड़ा) में होने वाले रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा ॥ १० ॥

शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान् ।
निष्काथ्य त्रिफलां मुस्तं गण्डूषः सरसाञ्जनः ॥११॥
प्रियङ्गवश्च मुस्तं च त्रिफला च प्रलेपनम् ।
नस्यं च त्रिफलासिद्धं मधुकोत्पलपद्मकैः ॥ १२ ॥

शीताद (Spongy Gums) में रक्तमोक्षण के अनन्तर सोंठ, सरसों, त्रिफला, नागरमोथा और रसोत के क्वाथ का गण्डूष धारण (मुख में क्वाथ रखना) तथा प्रियंगु, नागरमोथा और त्रिफला कल्क का लेप एवं त्रिफला, मुलेठी, कमल और पद्माख से सिद्ध तैल के नस्य का प्रयोग करना चाहिये ॥

दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम् ।
सपञ्चलवणः क्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम् ।
हितः शिरोविरेकश्च नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ॥१३॥

नवीन दन्तपुप्पुटक (Gum boil) में रक्तमोक्षण, पाँचों लवण और यवक्षार में मधु मिलाकर प्रतिसारण तथा शिरोविरेचन, नस्य एवं स्निग्ध भोजन हितकर होता है ॥ १३ ॥

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणांस्तु प्रतिसारयेत् ॥१४॥
रोध्रपत्तङ्गयष्ट्याह्वलाक्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः ।
गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः ।
काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिश्च नस्यतः ॥ १५ ॥

दन्तवेष्टक (Pyorrhoea) में रक्तमोक्षण के बाद लोध्र, पतङ्ग, मुलेठी और लाख के चूर्ण में विशेष मधु मिलाकर व्रणों का प्रतिसारण, क्षीरिवृक्षों के क्वाथ में मधु, घृत और

शर्करा मिलाकर गण्डूष धारण तथा काकोल्यादि के कल्क के साथ दशगुने दूध में सिद्ध घृत का नस्य प्रयोग करना चहिये ॥ १४-१५ ॥

शौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसाञ्जनैः ॥ १६ ॥
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः ।
सारिवोत्पलयष्ट्याह्वसावरागुरुचन्दनैः ॥ १७ ॥
क्षीरे दशगुणे सिद्ध सर्पिर्नस्ये च पूजितम् ।
क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः ॥ १८ ॥

शौषिर में, मसूढ़े से रक्त निकाल कर, लोध्र, नागरमोथा और रसोत के चूर्ण में मधु मिला हुआ लेप तथा क्षीरिवृक्षों के क्वाथ का गण्डूष धारण और सारिवा, कमल, मुलेठी, लोध्र, अगर एवं चन्दन के कल्क के साथ दशगुने दूध से सिद्ध घृत का नस्य हितकर होता है। बुद्धिमान् वैद्य परिदर में शीतादि के लिए कही गई चिकित्सा विधि का प्रयोग करे ॥ १६-१८ ॥

संशोध्योभयतः कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा ।
काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥ १९ ॥
क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत् ।
पिप्पलीः सर्षपाव् श्वेतान्नागरं नैचुलं फलम् ॥ २० ॥
सुखोदकेन संसृज्य कवलं चापि धारयेत् ।
घृतं मधुरकैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥ २१ ॥

उपकुश में वमन, विरेचन के द्वारा, दोनों मार्गों से शरीर को तथा शिरोविरेचन के द्वारा शिर को शुद्ध कर कठगूलर और गोजिह्वा के पत्ते से मसूढ़े को रगड़ कर रक्त निकालना चाहिए तथा मधु युक्त पाँचो नमक और सोंठ, मरिच, पिप्पल के चूर्ण से प्रतिसारण करना चाहिए एव पिप्पल, सरसों, सोंठ और वेतसफल के चूर्ण को, गुनगुने जल में मिला कर कवल धारण करना चाहिए। मधुर द्रव्यों (काकोल्यादि गण) से सिद्ध घृत, कवल धारण तथा नस्य दोनों के लिए हितकर होता है॥

शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत् ।
ततः क्षारं प्रयुञ्जीत क्रियाः सर्वाश्च शीतलाः ॥ २२ ॥

दन्तवैदर्भ में, दाँतों की जड़ को शस्त्र से स्वच्छ कर क्षार-प्रयोग तथा सम्पूर्ण शीतल क्रिया करनी चाहिए ॥ २२ ॥

उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत् ।
कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता ॥ २३ ॥

अधिकदन्त (अथवा वर्द्धन Extra tooth) को उखाड़ कर, अग्निकर्म तथा कृमिदन्त की भाँति, कुशल वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरभिश्चूर्णैरुपाचरेत् ।
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायावशूकजैः ॥ २४ ॥
क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः ॥
पटोलत्रिफलानिम्बकपायश्चात्र धावने ।
हितः शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः ॥ २५ ॥

अधिमांस (Impacted wisdom tooth) को काट कर वच, तेजवल, पाठा, सज्जीखार और यवक्षार के चूर्ण में मधु मिला कर लगाना चाहिए तथा पिप्पली चूर्ण और मधु का कवल धारण करना चाहिए। व्रण धोने के लिए (कुल्ला करने के लिए) परवल की पत्ती, त्रिफला और नीम का क्वाथ तथा शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम का प्रयोग हितकर होता है॥

सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु ।
नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत् ॥ २६ ॥
यं दन्तमभिजायेत नाडी त दन्तमुद्धरेत् ।
छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत् ॥२७॥
शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा ।
भिनत्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थिगतिर्ध्रुवम् ।
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्व्रणमरिथरम् ॥ २८ ॥

दन्तनाड़ी में, सामान्य नाडी (Synus) चिकित्सा विधि का प्रयोग किया जाता है, विशेष चिकित्सा विधि का वर्णन मुझ से सुनो—जिस दाँत के समीप नाडीव्रण (Synus) उत्पन्न हो उस दाँत को, यदि दाँत ऊपर की पङ्क्ति में न हो तो मसूढे का मांस शस्त्र से काट कर, निकाल देना चाहिए और व्रण को शुद्ध कर क्षार अथवा अग्नि से जलाना चाहिए। क्योंकि, दाँत की उपेक्षा करने पर अर्थात् दाँत को न निकालने पर, नाडीव्रण निश्चय ही हन्वस्थि का भेदन कर देता है। इसलिए टूटे तथा हिलते हुए दाँत को जड़ से निकालना चाहिए ॥ २६-२८ ॥

उद्धृते तूत्तरे दन्ते समूले स्थिरबन्धने ॥ २९ ॥
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि ।
काणः संजायते जन्तुरर्दितं चास्य जायते ॥३०॥
चलमप्युत्तर दन्तमतो नापहरेद्भिषक् ।

उपर की पंक्ति में स्थित, स्थिर बन्धन युक्त अर्थात् दृढ़ दाँत को जड़ से उखाड़ने पर, अत्यधिक रक्तस्राव होने के कारण, ऊपर कहे गए भयङ्कर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य काना तथा अर्दित रोग ग्रस्त हो जाता है। इसलिए वैद्य को ऊपर के हिलते हुए दाँत को भी नहीं उखाडना चाहिए ॥

धावने जातिमदनस्वादुकण्टकखादिरम् ॥ ३१ ॥
कषायं जातिमदनकटुकस्वादुकण्टकैः ।
यष्ट्याह्वरोध्रमञ्जिष्ठाखदिरैश्चापि यत् कृतम् ।
तैलं संशोधनं तद्धि हन्याद्दन्तगतां गतिम् ॥ ३२ ॥

दन्तनाडी को धोने के लिए चमेली, मैनफल, गोखरू, और खैर का क्वाथ तथा व्रण को शुद्ध करने के लिए चमेली मैनफल, कुटकी, गोखरू, मुलेठी, लोध्र, मजीठ और खैर के क्वाथ से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि यह तैल दन्तगत नाड़ी को नष्ट करता है ॥ ३१-३२ ॥

कीर्तिता दन्तमूले तु क्रिया दन्तेषु वक्ष्यते ॥ ३३ ॥

दन्तमूल के (मसूढ़े) रोगों की चिकित्सा का वर्णन तो किया गया अब दन्त रोगों की चिकित्सा कही जा रही है॥३३॥

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषश्चैवृतस्य वा ।
निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः ॥ ३४ ॥

चतुर्विध स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) अथवा

त्रैवृतघृत (महावातव्याधि-पठित) एवं वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ का, सुखोष्ण कवल धारण, दन्तहर्ष को नष्ट करता है ॥

स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ।
रसो रसयवाग्वश्च क्षीरं सन्तानिका घृतम् ।
शिरोबस्तिर्हितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः ॥ ३५ ॥

स्नैहिक धूम, नस्य, स्निग्ध भोजन, मांसरस, मांसरस में सिद्ध यवागू, दूध, मलाई, घी, शिरोवस्ति और वायुनाशक सभी क्रियायें, दन्तहर्ष में हितकर होती हैं ॥ ३५ ॥

अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक् ॥ ३६ ॥
लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत् ।
दन्तहर्षक्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥ ३७ ॥

दाँतों की जड़ को हानि पहुँचाये विना वैद्य को, दन्तशर्करा (Tartar) निकालनी चाहिए और लाख के चूर्ण में मधु मिला कर प्रतिसारण तथा दन्तहर्ष के लिए कथित सम्पूर्ण क्रियाओं का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६-३७ ॥

कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता ।

कपालिका (Inamel) कष्टसाध्य रोग है, इसमें भी उपर्युक्त चिकित्सा हितकर होती है ॥ ३७ ॥

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम् ॥ ३८ ॥
तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः ।
भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः ॥ ३९ ॥

न हिलने वाले कृमिदन्त (Dental caries) की चिकित्सा, स्वेदन, रक्तमोक्षण, वातघ्न अवपीडनस्य, स्नेहों के गण्डूष-धारण, भद्रदार्वादि तथा पुनर्नवादि गण के लेप और स्निग्ध आहार के द्वारा करनी चाहिए ॥ ३८-३९ ॥

चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च ।
ततो विदारीयष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुकैः ।
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत् ॥ ४० ॥

हिलते हुए दाँत को उखाड़ कर, उस खोखले स्थान तथा शौषिरजन्य छिद्र को अग्नि से जलाना चाहिए फिर विदारी-कन्द, मुलेठी, सिंघाड़ा और कशेरुके कल्क द्वारा, दशगुने दूध से सिद्ध, तैल के नस्य का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४० ॥

हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चादितवत् क्रियाम् ॥ ४१ ॥

हनुमोक्ष (Dislocation of the lower jaw) में अर्दित के लिए कथित (शिरोवस्ति, नस्य, धूम, उपनाह आदि) चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

विमर्शः—चरक तथा अष्टाङ्गसंग्रह में 'हनुमोक्ष' का नाम वात रोग की श्रेणी में रखा गया है। सुश्रुत इसे दन्तरोग की पङ्क्ति में रखते हैं। 'हनुमोक्ष' वस्तुतः हन्वस्थि की स्थान-च्युति है। इस दृष्टि से दन्त रोग की श्रेणी में इसे स्थान प्राप्त नहीं होता, किन्तु हन्वस्थि निम्न दन्तपंक्ति की आधार-शिला भी है और हन्वस्थि की अनेक व्याधियाँ दन्त-विद्रधि के कारण हो जाती हैं। सम्भवतः सुश्रुत ने इसी कारण से 'हनुमोक्ष' का नाम दन्त रोगों के साथ रखा है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान भी, दन्तरोग को हन्वस्थि की व्याधियों का उत्पादक कारण मानता है। जहाँ तक चिकित्सा का सम्बन्ध है, सुश्रुत ने भी, अन्य आचार्यों की भाँति 'हनुमोक्ष' के लिए वातव्याधि-चिकित्सा विधान का ही परामर्श दिया है।

फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम् ।
तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्तरोगी विवर्जयेत् ॥४२॥

दन्तरोग से पीडित व्यक्ति को खट्टे फलों का सेवन, शीतल जल, रूक्ष अन्न, दतौन से दाँत धोना तथा अत्यधिक कडे भोज्य पदार्थों को त्याग देना चाहिए ॥ ४२ ॥

साध्यानां दन्तरोगाणां चिकित्सितमुदीरितम् ।
जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये ॥४३॥

साध्य दन्त रोगों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया गया है। जिह्वागत साध्य रोगों में सफलता के लिए चिकित्सा कर्म का निर्देश किया जा रहा है ॥ ४३ ॥

ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम् ।
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत् कार्यं भिषजा भवेत् ॥४४॥

वातज ओष्ठ-प्रकोप के लिए जिस चिकित्सा-विधि का वर्णन पहले किया गया है, उसका प्रयोग वैद्य को, वातज जिह्वाकण्टक में करना चाहिए ॥ ४४ ॥

पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते ।
प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम् ॥ ४५ ॥

पित्तज जिह्वाकण्टक में, जिह्वा को रगड कर, रक्त निकालने के पश्चात् मधुर द्रव्यों से प्रतिसारण, गण्डूष धारण और नस्य का प्रयोग हितकर होता है ॥ ४५ ॥

कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये ।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥ ४६ ॥
गृह्णीयात् कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः ।
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत् ॥ ४७ ॥

कफज जिह्वाकण्टक में, जिह्वा को खुरच कर रक्त निकालने के अनन्तर पिप्पल्यादि गण के द्रव्यों में मधु मिलाकर प्रति सारण, पीली सरसों और सेन्धा नमक का कवल धारण तथा परवल, नीम, बड़ी कटेरी और यवक्षार मिश्रित यूष के साथ भोजन हितकर होता है ॥ ४६-४७ ॥

उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत् ।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् ॥ ४८ ॥

उपजिह्वा (Ranula) को खुरच कर, क्षार से प्रतिसारण तथा शिरोविरेचन, गण्डूष धारण और धूम (वैरेचनिक धूम) के द्वारा उपचार करना चाहिए ॥ ४८ ॥

जिह्वागतानां कर्मोक्तं तालव्यानां प्रवक्ष्यते ।
अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम् ॥ ४९ ॥
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ।
नोत्कृष्टं चैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद्भिषक् ॥ ५० ॥

जिह्वागत रोगों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया गया, तालुगत रोगों की चिकित्सा का कथन किया जा रहा है।

जिह्वा के उपर स्थित गलशुण्डिका (Elongated Uvula) को अंगूठा और अंगुलि के संदश से (अंगूठा और तर्जनी अंगुलि को मिलाकर चिमटी का रूप देना) खींच कर, मण्डलाग्र शस्त्र (Round head knife) के द्वारा, न तो बहुत अधिक और न बहुत कम अपि तु तृतीयांश भाग, वैद्य को काटना चाहिए ॥ ४९-५० ॥

अत्यादानात् स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ।
हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः ॥५१॥
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः ।
गलशुण्डीं तु सञ्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम् ॥५२॥

अधिक काट देने पर रक्तस्राव होने के कारण, रोगी की मृत्यु हो जाती है। अल्प मात्रा में काटने पर शोथ, लालास्राव, अधिक निद्रा, भ्रम और आँखों के सामने अन्धकार होता है। इसलिए शल्य क्रिया से पूर्ण परिचित विद्वान् वैद्य, सावधानी के साथ, गलशुण्डी को काट कर, अधोलिखित चिकित्सा का प्रयोग करे ॥ ५१-५२ ॥

मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः ।
क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत् ॥ ५३ ॥
वचामतिविषां पाठां रास्नां कटुकरोहिणीम् ।
निष्काथ्य पिचुमन्दं च कवलं तत्र योजयेत् ॥ ५४ ॥
इङ्गुदीकिणिहीदन्तीसरलासुरदारुभिः ।
पञ्चाङ्गीं कारयेत् पिष्टैर्वर्तिं गन्धोत्तरां शुभाम् ॥ ५५ ॥
ततो धूमं पिवेज्जन्तुर्द्विरह्नः कफनाशनम् ।
क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः ॥ ५६ ॥

मरिच, अतीस, पाठा, वच, कूठ, अरलू और सेन्धानमक के चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए। वच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी और नीम के क्वाथ का कवल धारण कराना चाहिए। हिंगोट, किणिही (अपामार्ग), दन्ती, निशोथ और देवदारु, इन पाँच द्रव्यों को पीस कर, सुन्दर-सुगन्धित पञ्चाङ्गीवर्तिं (पञ्चभिरङ्गभूतैर्द्रव्यैः कृता पञ्चाङ्गी) बनावे, कफनाशक इस वर्तिं का धूम, रोगी को दिन में दो बार पिलाना चाहिए तथा मूग के यूष में यवक्षार मिला कर भोजन के लिए देना चाहिए ॥ ५३-५६ ॥

विमर्श.—पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार भी जब गलशुण्डी (Elongated Uvula) Chronic हो जाती है और शोथ बना रहता है, उस अवस्था में शल्य चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है—'The treatment of this Condition Consists in removing the lower half of the Uvula after painting it with cocaine, by puling it down with forceps and snipping it off with scissors.' 'The Science and Practice of Surgery'

तुण्डिकेर्यग्रुपे क्रिमे सङ्घाने तालुपुप्पुटे ।
एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ॥ ५७ ॥

तुण्डिकेरी (Tonsillitis से समानता) अधुप (Palatitis से समानता), क्रिमि (Adenoma of the Palate से समानता), मांसघात (Fibroma से समानता), और तालुपुप्पुट (Epulis of the Palate से समानता) में उपर्युक्त विधि का प्रयोग तथा विशेष रूप से शस्त्र कर्म करना चाहिए ॥ ५७ ॥

तालुपाके तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनम् ।

तालुपाक (Ulceration of the Palate) में पित्तनाशक क्रिया का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७½ ॥

स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ।
कीर्तितं तालुजानां तु कण्ठ्यानां कर्म वक्ष्यते ॥५८॥

तालु शोष में स्नेहन तथा स्वेदन और वायुनाशक क्रिया का प्रयोग करना चाहिए। तालु रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया, कण्ठरोगों की चिकित्सा-विधि बतलाई जा रही है ॥ ५८ ॥

साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम् ॥५९॥
छर्दनं धूमपानं च गण्डूषो नस्यकर्म च ।

साध्य रोहिणी रोगों में (Diphtheria) रक्तमोक्षण, वमन, धूम्रपान, गण्डूष-धारण और नस्य कर्म, हितकर होता है ॥ ५९ ॥

वातिकीं तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ॥ ६० ॥
सुखोष्णान् स्नेहगण्डूषान् धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ।
पतङ्गशर्कराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत् ॥ ६१ ॥
द्राक्षापरूषकक्काथो हितश्च कवलग्रहे ।
अगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत् ॥ ६२ ॥
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम् ।
नस्यकर्मणि योक्तव्यं तथा कवलधारणे ॥ ६३ ॥
पित्तवत् साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसंभवाम् ।
विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत् ॥ ६४ ॥

वातज रोहिणी में रक्तमोक्षण के अनन्तर, पञ्च लवण से प्रतिसारण (घर्षण) तथा बार-बार स्नेहयुक्त सुखोष्ण गण्डूष धारण कराना चाहिए। पित्तज रोहिणी में पतङ्ग, शर्करा और मधु के द्वारा प्रतिसारण तथा मुनक्का और फालसे के क्वाथ का कवल धारण हितकर होता है। कफज रोहिणी में गृहधूम्र और कुटकी चूर्ण से प्रतिसारण तथा श्वेता, विडङ्ग, दन्ती और सेन्धा नमक के द्वारा सिद्ध तैल, नस्य एवं कवल धारण में प्रयोग करना चाहिए। रक्तज रोहिणी की चिकित्सा, वैद्य को पित्तज रोहिणी की भाँति करनी चाहिए। कण्ठशालूक से रक्त निकाल, तुण्डिकेरी की भाँति चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६०-६४ ॥

विमर्श:—रोहिणी (Diphtheria) एक प्रकार की घातक व्याधि है। सद्यः सुचारु उपचार न होने पर इसकी घातकता में सन्देह नहीं रहता। सुश्रुत तथा चरक दोनों आचार्यों ने इस रोग को प्राणहारक माना है। 'प्रदूष्य मांस गलरोधिनोऽङ्कुरान्, सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी।' (सु० नि० अ० १६) 'त्रिरात्र परम तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्। कुशलेन त्वतिक्रान्त क्षिप्र सम्पद्यते सुखी।' (च० सू० अ० १८) इस रोग का प्रधान कारण, पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार (Diphtheria Bacillus) नामक दण्डाकार जीवाणु

होता है। बच्चों में इस रोग का प्रकोप अधिक पाया जाता है। रोग की प्रबलता को रोकने के लिए (Diphtheria Antitoxin) का प्रयोग आजकल किया जाता है। Antitoxin के प्रयोग से रोग की असाध्यता में न्यूनता हुई है। (Antitoxin) के प्रयोग के साथ साथ हृदय को बल देने वाली औषधियों का प्रयोग भी करते रहना चाहिये।

एककालं यवान्नं च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः।
उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम् ॥ ६५ ॥

रोगी को एक समय स्नेहयुक्त जौ का अल्प आहार देना चाहिये तथा अधिजिह्वा की चिकित्सा, उपजिह्वा की भाँति करनी चाहिये ॥ ६५ ॥

एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत्।
गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत् ॥६६॥

एकवृन्द रोग में रक्तमोक्षण के पश्चात् शोधनविधि (शिरोविरेचन, धूम, लेप, क्षार आदि) का प्रयोग तथा गिलायु नामक व्याधि में शस्त्र के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद्गलविद्रधिम्।

मर्मस्थान से रहित और भलीभाँति पकी हुई गलविद्रधि (Peritonsillar abscess) में चीरा लगाना चाहिए ॥६६½॥

विमर्शः—पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र भी इस व्याधि में शस्त्रक्रिया का ही विधान बतलाता है। 'Once fluctuation is detected or there is sufficient indication that pus is definitely localised, the Condition must be dealt with by incision and evacuation of the pus.' 'The Science & Practice of Surgery')

वातात् सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत् ॥ ६७ ॥
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः।
ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ॥ ६८ ॥

वातजसर्वसर (मुख ओष्ठ आदि का पाक Stomatitis) में पंचलवण के चूर्ण से प्रतिसारण, वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल का कवल धारण तथा नस्य हितकर होता है। बुद्धिमान् वैद्य, इस रोग से पीडित व्यक्ति के लिए अधोलिखित (स्नैहिक) धूम का प्रयोग करे ॥ ६७-६८ ॥

शालराजादनैरण्डसारद्रुदमधूकजाः ॥
मज्जानो गुग्गुलुध्याममांसीकालानुसारिवाः।
श्रीसर्जरसशैलेयमधूच्छिष्टानि चाहरेत् ॥ ६९ ॥
तत्सर्वं सुकृतं चूर्णं स्नेहेनालोड्य युक्तितः।
टिण्टूकवृन्तं सक्षौद्रं मतिमांस्तेन लेपयेत् ॥ ७० ॥
एष सर्वसरे धूमः प्रशस्तः स्नैहिको मतः।
कफघ्नो मारुतघ्नश्च मुखरोगविनाशनः ॥ ७१ ॥

शाल, खिरनी, एरण्ड, सारवृक्ष (खदिर आदि), हिंगोट, महुआ की मज्जा (वृक्ष का सार भाग), गुग्गुलु, ध्याम (गन्धतृण), जटामांसी, तगर, श्री (लवङ्ग), राल, भूरिछरीला और मोम, इन द्रव्यों का महीन चूर्ण बनाकर, युक्तिपूर्वक (जितने स्नेह में चूर्ण लेप लगाने योग्य हो) स्नेह मिलाया जावे। बुद्धिमान् वैद्य इस चूर्ण का लेप मधु लगे हुए अरलू की टहनी पर लगावे। सर्वसर रोग के लिये यह स्नैहिक धूम श्रेष्ठ समझा जाता है। यह कफनाशक, वातहर एवं मुखरोग को नष्ट करता है ॥६९-७१॥

पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः।
सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥ ७२ ॥

पित्तज सर्वसर रोग में वमन, विरेचन आदि से शुद्ध शरीर वाले रोगी के लिये, सम्पूर्ण पित्तनाशक, मधुर और शीतल क्रिया करनी चाहिये ॥ ७२ ॥

प्रतिसारणगण्डूषौ धूमः संशोधनानि च।
कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात् कफापहम् ॥ ७३ ॥
पिवेदतिविषां पाठां मुस्तं च सुरदारु च।
रोहिणीं कटुकाख्यां च कुटजस्य फलानि च ॥ ७४ ॥
गवां मूत्रेण मनुजो भागैर्धरणसंमितैः।
एष सर्वान् कफकृतान् रोगान् योगोऽपकर्षति ॥७५॥

कफज सर्वसर रोग में प्रतिसारण, गण्डूष धारण, संशोधन तथा कफनाशक क्रिया करनी चाहिये। अतीस, पाठा, नागरमोथा, देवदारु, कुटकी और इन्द्रयव का एक धरण (२४ रत्ती) चूर्ण गोमूत्र के साथ रोगी को पिलाना चाहिये। यह योग सम्पूर्ण कफजन्य विकारों को नष्ट करता है ॥७३-७५॥

क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः।
विदध्यात् कवलान् वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥ ७६ ॥

दूध, गन्ने का रस, गोमूत्र, दही, मस्तु (दधिजल), अम्ल (धान्याम्ल), काञ्जी तथा तैल और घृत का भी दोषों के प्रकोप के अनुसार कवल धारण करना चाहिये ॥ ७६ ॥

रोगाणां मुखजातानां साध्यानां कर्म कीर्तितम्।
असाध्या अपि वक्ष्यन्ते रोगा ये तत्र कीर्तिताः ॥७७॥

साध्य मुख रोगों की चिकित्सा बतलाई गई है, असाध्य पूर्वनिर्दिष्ट मुखरोगों की चिकित्सा का कथन किया जा रहा है ॥ ७७ ॥

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगतिशौषिरौ ॥ ७८ ॥

मांसज, रक्तज तथा सन्निपातज ओष्ठरोग तथा सन्निपातजगति (नाडी) और शौषिर दन्तरोग त्याज्य होते हैं ॥

दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वागतेष्वलासस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा ॥ ७९ ॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो विदार्यलस एव च।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी च या ॥ ८० ॥

दन्तरोगों में, श्यावदन्तक, दालन और भञ्जनक असाध्य होते हैं तथा जिह्वागत रोगों में अलास, तालुगत में अर्बुद एवं (कण्ठगत में) स्वरघ्न, वलय, वृन्द, विदारी, अलस, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी और रोहिणी असाध्य होती है ॥ ७९-८० ॥

जैसे कि—शोथ का नाश चाहने वाले रोगी को, पिट्ठी के बने आहार, रूखे पदार्थ, लवण, मिट्टी, दिन में सोना, आनूप जीवों का मांस, स्त्रीप्रसग, घृत, तैल, दूध तथा भारी पदार्थों का सेवन त्याग देना चाहिए ॥ १३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातोऽनागतावाधप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर अनागतावाधप्रतिषेध (ईषद् आगतः अनागतः, आवाधो दुःखं, तस्य प्रतिषेधश्चिकित्सितम्) अर्थात् सम्भावित दुःखों को रोकने के लिये, चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृतिशिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

उत्थायोत्थाय सतत स्वस्थेनारोग्यमिच्छता ॥
धीमता यदनुष्ठेय तत् सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

आरोग्य की कामना करने वाले बुद्धिमान् स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन निरन्तर जिन दैनिक कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये, उनका कथन किया जाता है ॥ ३ ॥

तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम् ॥
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम् ॥ ४ ॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम् ॥
अवेक्ष्यर्तुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत् ॥ ५ ॥
कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः ॥
निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥ ६ ॥
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा ॥
क्षौद्रव्योषत्रिवर्गोक्तं सतैलं सैन्धवेन च ॥ ७ ॥
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत् ॥
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च ॥ ८ ॥
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन् ।
नरो गन्धोपदेही तु श्लेष्माणं चापकर्षति ॥ ९ ॥
वैशद्यमग्न्यभिरुचिं सौमनस्यं करोति च ।
न स्याद्दौर्बल्यमास्योष्टजिह्वारोगसमुद्भवे ॥ १० ॥
अथाम्यपाके श्वासे च कासहिक्यावमीषु च ।
दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥ ११ ॥
शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पानकृशान्वितः ।
अक्षिणी कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः ॥ १२ ॥

उक्त प्रात काल शय्या त्याग कर बारह अगुल लम्बी, कनिष्ठिका अगुलि के समान मोटी, सीधी, बिना गाँठवाली, अग्र (मध्यमा भाग), तथा दो गाँठ से रहित, नवीन (ताजी), उत्तम भूमि में उत्पन्न, ऋतु और दोषों के अनुकूल रस एव वीर्य से युक्त, कषाय, मधुर, तिक्त और कटु रस युक्त दातुन का प्रयोग करना चाहिये। तिक्त रस वाले द्रव्यों में नीम, कषाय रस में महुआ तथा कटु रस में करञ्ज की दतवन श्रेष्ठ होती है। मधु, सोंठ, मरिच, पिप्पल, दालचीनी, इलाइची, तेजपात, (त्रिवर्गोक्त त्रिसुगन्धिना लिप्त) तेल, सेन्धानमक और तेजवल के चूर्ण से लिप्त दतवन के द्वारा दाँतों को प्रतिदिन शुद्ध करना चाहिये। दतवन की कोमल कूँची से दन्तशोधन चूर्ण के द्वारा एक एक दाँत को पृथक् पृथक् मसूडों की रक्षा करते हुए, रगड़ना चाहिये। इस दन्तशोधन चूर्ण के प्रयोग से मुख की दुर्गन्धि, दाँतों के मैल और कफ का नाश होता है तथा निर्मलता, अन्न में रुचि एव प्रसन्नता उत्पन्न होती है। गला, तालु, ओष्ठ और जिह्वा के रोग, मुखपाक, श्वास, कास, हिक्का और वमन से ग्रसित तथा दुर्बल, अजीर्णावस्था में भोजन किये हुये, मूर्च्छा एवं मद से पीडित, शिरःशूल से दुःखी, प्यासे, थके हुए, मद्यपान की थकावट से युक्त, अर्दित, कर्णशूल और दन्तरोग ग्रस्त मनुष्य को दतवन नहीं करनी चाहिये ॥ ४-१२ ॥

जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च ।
तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ॥ १३ ॥
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यशोफजाड्यहरं सुखम् ।
दन्तदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेहगण्डूषधारणम् ॥ १४ ॥

चाँदी, सोना तथा वृक्ष के टहनियों से निर्मित, कोमल, चिकनी, दस अगुल लम्बी जिभ्भी-जिह्वा के मल को खुरचने के लिये श्रेष्ठ होती है। इसके प्रयोग से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, शोथ और जडता का नाश तथा प्रसन्नता उत्पन्न होती है। स्नेह (तैल) का गण्डूष धारण दाँतों को दृढ़ तथा रुचि उत्पन्न करता है ॥ १३-१४ ॥

क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः ।
भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ॥ १५ ॥
प्रक्षालयेन्मुख नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा ।
नीलिका मुखशोषं च पिडकां व्यङ्गमेव च ॥ १६ ॥
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत् ।
मुखं लघु निरीक्षेत दृढं पश्यति चक्षुषा ॥ १७ ॥

क्षीरवृक्ष के क्वाथ अथवा क्षीरवृक्ष के क्वाथ में दूध मिला कर या लोध्र (भिल्लो रोध्र) अथवा आँवले के क्वाथ या शीतल जल से स्वस्थ मनुष्य को मुख तथा नेत्रों को धोना चाहिये। (इस नियम का पालन) नीलिका, मुखशोष, पिड़का, व्यङ्ग तथा रक्तपित्तजन्य रोगों का शीघ्र नाश करता है। मुख हलका (सुदर) दिखलाई देता है तथा नेत्रों की ज्योति स्थिर होती है ॥ १५-१७ ॥

मतं स्रोतोञ्जन श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम् ।
दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम् ॥ १८ ॥
तेजोरूपायहं चैव सहते मारुतातपौ ।
न नेत्ररोगा जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत् ॥ १९ ॥

सिन्धुनदी में उत्पन्न स्रोतोञ्जन मलरहित तथा उत्तम होता है। यह आँखों की जलन, खुजली, मल, पानी आना और पीड़ा को दूर करता है। नेत्रों में तेज आता है तथा वायु और धूप को सहने की शक्ति प्राप्त होती है। इसके

प्रयोग से नेत्र रोग उत्पन्न नहीं होते, इस लिये नेत्रों में अजन लगाना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

भुक्त्वाऽच्छिरसा स्नातः श्रान्तश्छर्दनवाहनैः ।
रात्रौ जागरितश्चापि नाञ्ज्याज्ज्वरित एव च ॥ २० ॥

भोजन तथा शिर से स्नान किए हुए, वमन एवं वाहन (सवारी) से श्रान्त, रात्रि में जगे हुये और ज्वर से पीडित व्यक्ति को अंजन नहीं लगाना चाहिये ॥ २० ॥

कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः ।
सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम् ॥ २१ ॥
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् ।
हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् ॥ २२ ॥
प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम् ।
पथ्यं सुप्रोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे ॥२३॥
रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम् ।
रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम् ॥ २४ ॥

कपूर, जायफल, शीतलचीनी, लवंग, लताकस्तूरी, चूना और सुपारी के साथ ताम्बूल (पान) का सेवन कल्याणकारी होता है। पान खाने से मुख में निर्मलता, सुगन्धि, कान्ति एवं सुन्दरता आती है। हनु (मसूडा), दाँत, स्वर, जिह्वा का मल और इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। मुख-प्रसेक (मुख से पानी आना) शान्त होता है। हृदय में शक्ति आती है और गले की व्याधियों का नाश होता है। सोकर उठने वाले तथा भोजन, स्नान और वमन किए हुए मनुष्य के लिये पान हितकर है। रक्तपित्त, क्षतक्षीण, तृष्णा और मूर्च्छा से पीडित एवं रूक्ष, दुर्बल तथा मुखशोष वाले व्यक्तियों के लिये पान हितकर नहीं होता ॥ २१-२४ ॥

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोऽभ्यङ्गोऽपकर्षति ।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम् ॥ २५ ॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम् ।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम् ॥ २६ ॥

शिर पर तेल की मालिश करने से शिर में होने वाले रोग दूर होते हैं। केश कोमल, लम्बे, घने, चिकने और काले बनते हैं। शिर की तृप्ति तथा मुख की त्वचा सुंदर होती है। इन्द्रियां शक्तिसम्पन्न और शून्य मस्तिष्क पुनः पूर्ण होता है॥

मधुकं क्षीरशुक्ला च सरलं देवदारु च ।
क्षुद्रकं पञ्चनामानं समभागानि सहरेत् ॥ २७ ॥
तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ।
सदैव शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत् ॥ २८ ॥

मुलेठी, क्षीरविदारी, सरलकाष्ठ, देवदारु और लघुपञ्चमूल को समभाग में एकत्रित कर, इनके क्वाथ और कल्क के द्वारा चक्रतैल (कोल्हू का तेल) का पाक करके मनुष्य के शिर पर सदा ठण्डे तेल की मालिश करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा ।
हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥ २९ ॥

केशप्रसाधनी (कघी) का व्यवहार केशों को सुन्दर बनाता है तथा धूलि, जूँ और मल को दूर करता है। कर्णपूरण (कान में तेल डालना) के व्यवहार से हनु (ठोढ़ी), मन्या, शिर और कान की पीडा नष्ट होती है ॥ २९ ॥

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः ।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः ॥ ३० ॥

अभ्यङ्ग (मालिश) का अभ्यास शरीर में कोमलता लाता है, कफ और वात को रोकता है, धातुओं को पुष्ट करता है, तथा शरीर को शुद्ध और बल, वर्ण से सम्पन्न बनाता है ॥

सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसाधकः ।
क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥ ३१ ॥

सेक (सर्वांगपरिषेक) थकावट मिटाता है, वायु को नष्ट करता है, भग्नसन्धि (Dislocation) को स्थिर करता है, तथा क्षत, अग्निदग्ध, अभिघात और रगड़ से उत्पन्न पीड़ा को दूर करता है ॥ ३१ ॥

जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः ।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ ३२ ॥

जड में जल से सींचे गए वृक्ष के अंकुर जिस प्रकार बढ़ते हैं उसी तरह स्नेहसिक्त (मालिश करने से) व्यक्ति की धातुयें वृद्धि को प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥

सिरामुखैः रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन् ।
शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ३३ ॥

स्नान करने में प्रयुक्त किया गया स्नेह शिराओं के मुख रोमकूप और धमनियों के द्वारा शरीर को तृप्त करता हुआ बल उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित् ।
तैलं घृतं वा मतिमान् युञ्ज्यादभ्यङ्गसेकयोः ॥ ३४ ॥

प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, देश तथा दोषों की विकृति के ज्ञाता बुद्धिमान् वैद्य को तेल या घी का प्रयोग अभ्यंग (मालिश) और सेक (स्नान) में करना चाहिये ॥ ३४ ॥

केवलं सामदोषेषु न कथञ्चन योजयेत् ।
तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथञ्चन ॥ ३५ ॥
तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः ।
पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥ ३६ ॥
शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः ।
सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत् ॥३७॥

आम दोषों में स्नेह (असंस्कृत स्नेह) का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। नवीन ज्वर तथा अजीर्ण से पीड़ित और विरेचन, वमन एवं निरूहवस्ति से युक्त मनुष्य को अभ्यंग कभी नहीं करना चाहिये। प्रथम दो अवस्थाओं (नवीन ज्वर तथा अजीर्ण) में अभ्यङ्ग करने से व्याधि कष्टसाध्य या असाध्य भी हो जाती है। शेष अवस्थाओं (विरेचन, वमन एवं निरूह) में उस दिन अभ्यङ्ग का प्रयोग अग्निमांद्य आदि रोगों को उत्पन्न कर देता है। सन्तर्पणजन्य व्याधियों में अभ्यङ्ग नहीं करना चाहिये। ३५-३७ ॥

बढती है, थकावट और झुनझुनी मिटती है, तथा पैरों की त्वचा कोमल बनती है। पादाभ्यङ्ग सदा हितकर होता है॥

पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम्॥ ७१॥
सुखप्रचारमोजस्यं सदा पादत्रधारणम्।
अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत्॥ ७२॥
पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्।

पैरों में जूता या खडाऊँ धारण के गुण—पैरों में जूता या खडाऊ पहनना पैर के रोगों को दूर करता है, शक्ति देता है, राक्षसों का नाश करता है, प्रसन्नता लाता है, सुख की वृद्धि करता है तथा ओज को बढ़ाता है। पैरों में बिना जूता पहने भ्रमण करना मनुष्य को रोगी और अल्पायु बनाता है तथा नेत्रों की ज्योति नष्ट करता है॥ ७१-७२॥

पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्॥ ७३॥
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्।

केश, नख, रोम कटवाने के गुण—केश, नख और रोम कटवाने से पाप (कलुष) का शमन होता है, प्रसन्नता प्राप्त होती है, शरीर हल्का होता है तथा सौभाग्य की उत्पत्ति और उत्साह की वृद्धि होती है॥ ७३॥

वाणवारं मृजावर्णतेजोबलविवर्धनम्॥ ७४॥

कवच धारण के गुण—शरीर पर कवच धारण करने से शरीर-शुद्धि तथा वर्ण, तेज और बल की वृद्धि होती है॥ ७४॥

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोऽपहम्।
वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम्॥ ७५॥
वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शंकरं छत्रधारणम्।

पगडी तथा छत्र धारण के गुण—शिर पर पगडी बाँधने से पवित्रता (स्वच्छता) रहती है, बालों की वृद्धि तथा वायु, धूप और धूलि से रक्षा होती है। छत्र धारण वर्षा, वायु, धूलि, धूप और तुषार आदि का निवारण करता है, वर्ण, नेत्रों की ज्योति और ओज को बढाता है एवं कल्याणकारी होता है॥ ७५॥

शुनः सरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम्॥ ७६॥
श्रमस्खलनदोषघ्न स्थैर्यं च प्रशस्यते।
सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम्॥ ७७॥
अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम्।

दण्ड धारण के गुण—दण्ड धारण कुत्ता, सर्प, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु तथा सींग वाले पशुओं के भय को मिटाता है, थकावट एवं फिसलने के दोष को दूर करता है, वृद्धावस्था में सहायक है, सत्त्व (सत्त्वगुण), उत्साह (बल), बल (तेज), स्थिरता, धीरता और वीर्य (शक्ति) की वृद्धि करता है, सहारा देता है और भय का नाश करता है॥

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यकरी सुखा॥ ७८॥

विश्राम करने के गुण—सुखपूर्वक बैठना (विश्राम करना) वर्ण, कफ, स्थूलता और सुकुमारता लाता है तथा सुख प्रदान करता है॥ ७८॥

अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यविनाशनः।
अत्यध्वा विपरीतोऽस्माज्जरादौर्बल्यकृच्च सः॥ ७९॥

मार्ग चलने के गुण, अधिक मार्ग चलने के दोष—मार्ग चलना वर्ण, कफ, स्थूलता और सुकुमारता को नष्ट करता है तथा इसके विपरीत अधिक मार्ग चलना, बुढ़ापा और दुर्बलता लाता है॥ ७९॥

यत्तु चङ्क्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत्।
तदायुर्बलमेधाग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम्॥ ८०॥

टहलने के गुण—जिस परिश्रम से शरीर में विशेष वेदना उत्पन्न न हो अर्थात् स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से किया गया भ्रमण आयु, बल, मेधा और अग्नि को बढाता है तथा इन्द्रियों को चैतन्य करता है॥ ८०॥

श्रमानिलहरं वृष्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम्।
सुखं शय्यासनं, दुःखं विपरीतगुणं मतम्॥ ८१॥

सुखकर शय्या तथा आसन के गुण—कोमल बिस्तर पर सोने से थकावट और वायु का नाश होता है, बल, शरीर की पुष्टि, निद्रा और धीरता की प्राप्ति होती है तथा सुख मिलता है। इसके विपरीत कठिन शय्या दुःखदायिनी होती है॥८१॥

वालव्यजनमोजस्यं मक्षिकादीनपोहति।
शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नो व्यजनानिलः॥ ८२॥

चँवर डुलाने के गुण—चँवर डुलाना ओज की वृद्धि करता है और मक्खियों को भगाता है तथा ताड आदि के पंखे से हवा करना शोष, दाह, श्रम, स्वेद एवं मूर्च्छा नाशक है॥ ८२॥

प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम्।
संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम्॥ ८३॥

पैर दबाने के गुण—हाथों से धीरे-धीरे पैर दबाना प्रसन्नता और निद्रा लाता है, बल उत्पन्न करता है, कफ, वात और श्रम का नाश करता है, मांस, रक्त एवं त्वचा की पुष्टि करता है तथा सुखदायक होता है॥ ८३॥

प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहपक्तिनुत्।
स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा॥ ८४॥
सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः।
निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा॥ ८५॥

तेज वायु-सेवन के दोष गुण तथा निर्वात स्थान के गुण-सामने की तेज वायु का सेवन रूक्षता, विवर्णता और जकडाहट उत्पन्न करता है, दाह एवं पाचकाग्नि का नाश करता है तथा स्वेद, मूर्च्छा और प्यास मिटाता है। विपरीत दिशा की वायु में इससे विरुद्ध गुण होते है। ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में मनुष्य को प्रसन्नतापूर्वक सामने की तेज वायु का सेवन करना चाहिये। आयु की वृद्धि और आरोग्यलाभ के लिये सदा तेज वायु से रहित स्थान का सेवन करना चाहिये॥

आतपः पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत्।
दाहवैवर्ण्यकारी च च्छाया चैतानपोहति॥ ८६

धूप तथा छाया सेवन के गुण दोष—धूप का सेवन पित्त, तृष्णा, अग्नि, स्वेद, मूर्च्छा, भ्रम और रक्त (रक्तपित्त) की वृद्धि तथा दाह एवं विवर्णता उत्पन्न करता है और छाया इनका नाश करती है ॥ ८६ ॥

अग्निर्वातकफस्तम्भशीतवेपथुनाशनः ।
आमाभिष्यन्दजरणो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥ ८७ ॥

अग्निसेवन के गुण—अग्निसेवन (आग तापना) वात, कफ, स्तम्भ (जकड़ाहट), शीत और कम्प का नाश करता है, आम और अभिष्यन्द (स्रोतों की रुकावट) को जलाता है तथा रक्त एवं पित्त को दूषित करता है ॥ ८७ ॥

पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम् ।
करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता ॥८८॥

निद्रा के गुण—समय पर निद्रा का सेवन शरीर की पुष्टि तथा वर्ण, बल और उत्साह की वृद्धि करता है, अग्नि को बढाता है, आलस्य को दूर करता है, और धातुओं को साम्यावस्था में लाता है ॥ ८८ ॥

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघूष्णीषच्छत्रोपानत्केन दण्डपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बन्धुभूतेन भूतानां गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खल्वुपचरितव्यं तदपि न रात्रौ, न केशास्थिकण्टकाश्मतुषभस्मोत्करकपालाङ्गारामेध्यस्नानबलिभूमिषु, न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात् ॥ ८९ ॥

प्रस्थान के पूर्व पालन करने योग्य सद्वृत्त—(प्रस्थान से) पूर्व ही नख और केश कटवाये हुए, पवित्र, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए, छोटी पगडी, छाता एवं जूता पहने हुए, हाथ में छड़ी लिये हुए, समय पर हितकर, अल्प और मधुर वाणी बोलने वाले, जीवों के प्रति बन्धुभाव रखने वाले, गुरु एवं वृद्ध पुरुषों की अनुमति प्राप्त और अच्छे सहायकों से युक्त मनुष्य को यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये। फिर भी रात्रि में नहीं चलना चाहिये। केश, अस्थि, काटे, पत्थर, भूसा, राख, उत्कर (घास की ढेर), मिट्टी के ठीकरे, अङ्गार, अपवित्र भूमि, स्नान और बलि प्रदान की भूमि, ऊँची नीची भूमि, इन्द्रकील (यज्ञ के लिये गाडे गये यूप (स्तम्भ) की भूमि), चौराहे, और श्वभ्र (गड्ढे) के ऊपर से नहीं चलना चाहिये ॥ ८९ ॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत्, न देवब्राह्मणपितृपरिवादांश्च, न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचानुपासीत ॥ ९० ॥

राज्य के विरुद्ध, कठोर, चुगली और असत्य वाणी नहीं बोलनी चाहिये। देवता, ब्राह्मण और पूज्य लोगों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। राजद्रोही, पागल, धर्मभ्रष्ट, क्षुद्र और नीच आचार वाले व्यक्तियों का सङ्ग नहीं करना चाहिये॥९०॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुञ्जराधिरोहणानि परिहरेत्, पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि, भिन्नशून्यागारश्मशानविजनारण्यवासान्निसंभ्रमव्यालभुजङ्गकीटसेवाश्च, ग्रामाघातकलहशस्त्रसन्निपातव्यालसरीसृपशृङ्गिसन्निकर्षांश्च ॥ ९१ ॥

वृक्ष, पर्वत, झरना, ऊँची नीची, वल्मीक (दीमक युक्त) भूमि, तथा दुष्ट घोडे, हाथी आदि पर चढना त्याग देना चाहिये। जल से भरी हुई नदी, समुद्र, बिना जाने हुए छोटे तालाब, गड्ढे और कूप में नहीं उतरना चाहिये, टूटे हुए एवं जनरहित मकान, श्मशान, निर्जन तथा वन में नहीं रहना चाहिये। अग्निसम्भ्रम (ऊपर उठती हुई ज्वाला वाली अग्नि), व्याघ्र, सर्प तथा कीडे मकोडों का सेवन (इनके समीप वास) नहीं करना चाहिये। ग्रामाघात (महामारी से युक्त), कलह, युद्ध, व्याघ्र, सर्प और सींग वाले पशुओं के समीप नहीं जाना चाहिये ॥ ९१ ॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेङ्खादम्पत्यन्तरेण यायात् । न शवमनुयायात् । देवगोब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रमेत । नास्तं गच्छन्तमुद्यन्तं वाऽऽदित्यं वीक्षेत । गां धापयन्तीं धयन्तीं परसस्यं वा चरन्तीं न कस्मैचिदाचक्षीत, न चोल्कापातोत्पातेन्द्रधनूंषि । नाग्निं मुखेनोपधमेत् । नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात् ॥ ९२ ॥

अग्नि, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेङ्खा (झूला) और स्त्री-पुरुष के बीच में से होकर नहीं निकलना चाहिये। शव के पीछे नहीं चलना चाहिये। देवता, गौ, ब्राह्मण, श्मशानवृक्ष, ध्वजा, रोगी, धर्मभ्रष्ट और पापकर्म में लिप्त व्यक्तियों की छाया नहीं लाँघनी चाहिये। डूबते और निकलते हुए सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिये। बछड़े को दूध पिलाती हुई, स्वयं कुछ पीती हुई या दूसरे का खेत चरती हुई गौ, उल्कापात एवं इन्द्रधनुष की चर्चा किसी से नहीं करनी चाहिये। अग्नि को मुख से नहीं फूँकना चाहिये। जल या भूमि को हाथ पैर से नहीं पीटना चाहिये ॥ ९२ ॥

न वेगान् धारयेद् वातमूत्रपुरीषादीनाम् । न बहिर्वेगान् ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसन्निकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम् ॥ ९३ ॥

मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेग को नहीं रोकना चाहिये, मल, मूत्र आदि बाह्य वेगों का उत्सर्ग, ग्राम, नगर, मन्दिर, श्मशान, चौराहा, तालाब और मार्ग के निकट तथा खुले हुये स्थान में नहीं करना चाहिये। वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, गौ और गुरु की ओर मुख करके मलोत्सर्ग नहीं करना चाहिये ॥ ९३ ॥

न भूमिं विलिखेत्, नासंवृतमुखः सदसि जृम्भोद्गारकासश्वासक्षवथूनुत्सृजेत्, न पर्यङ्किकावष्टम्भपादप्रसारणानि गुरुसन्निधौ कुर्यात् ॥ ९४ ॥

भूमि को नख से नहीं कुरेदना चाहिये। मुख को बिना ढके हुए सभा में जम्भाई, डकार, श्वास और छींक नहीं करनी चाहिये। गुरु के समीप पलग पर सहारा लेकर तथा पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिये ॥ ९४ ॥

न वालकर्णनासास्रोतोदशनाक्षिविवराण्यभिकुष्णीयात्, न वीजयेत् केशमुखनखवस्त्रगात्राणि, न गात्रनखवक्त्रवादित्रं कुर्यात्, न काष्ठलोष्टतृणादीनभिहन्याच्छिन्द्याद्भिन्द्याद्वा ॥ ९५ ॥

वाल, कान, नाक, स्रोत (मल-मूत्रेन्द्रिय) और दाँत के छिद्रों को अंगुलि से नहीं कुरेदना चाहिये। केश, मुख, नख, वस्त्र और शरीर को नहीं हिलाना चाहिये। शरीर नख और मुख को बजाना नहीं चाहिये। लकडी, ढेला और तृण आदि को पीटना, काटना या तोडना नहीं चाहिये ॥ ९५ ॥

न प्रतिवातातपं सेवेत, न भुक्तमात्रोऽग्निमुपासीत, नोत्कटकाल्पकाष्ठासनमध्यासीत, न ग्रीवां विषमं धारयेत्, न विषमकायः क्रियां भजेत् भुञ्जीत वा, न प्रततमीक्षेत विशेषाज्ज्योतिर्भास्करसूक्ष्मचलभ्रान्तानि, न भारं शिरसा वहेत्, न स्वप्नजागरणशयनासनस्थानचङ्क्रमणयानवाहनप्रधावनलङ्घनप्लवनप्रतरणहास्यभाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यतिसेवेत ॥

सामने की वायु और धूप का सेवन नहीं करना चाहिये। भोजन करते ही आग नहीं तापना चाहिये, बहुत ऊँचे, छोटे तथा लकडी के आसन पर नहीं बैठना चाहिये। गर्दन टेढी नहीं रखनी चाहिये। शरीर टेढा करके कार्य या भोजन नहीं करना चाहिये। आँख फाडकर, विशेष रूप से प्रकाश और सूर्य तथा सूक्ष्म, अस्थिर एवं भ्रान्त वस्तुओं की ओर नहीं देखना चाहिये। शिर पर बोझ नहीं ढोना चाहिये। सोना, जागना, लेटना, बैठना, चक्कर काटना, रथ आदि की सवारी करना, घोडे आदि पर चढना, दौडना, लाँघना, उछलना, तैरना, हँसना, बोलना, मैथुन और व्यायाम आदि उचित कार्यों का सेवन भी अधिक नहीं करना चाहिये ॥९६॥

उचितादप्यहिताद् क्रमशो विरमेत्, हितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशः, न चैकान्ततः पादहीनात् ॥९७॥

उचित (अभ्यस्त) फिर भी अहितकर आहार-विहार का परित्याग और हितकर किन्तु अनुचित (अनभ्यस्त) का सेवन क्रमशः चतुर्थांश के त्याग तथा स्वीकार के क्रम से करना चाहिये न कि किसी वस्तु का पूर्णरूप से सहसा परित्याग या सेवन प्रारम्भ करना चाहिये ॥ ९७ ॥

नावाक्शिरा शयीत, न भिन्नपात्रे भुञ्जीत, न विना पात्रेण, नाञ्जलिपुटेनापः पिवेत्, काले हितमितस्निग्धमधुरप्रायमाहार वैद्यप्रत्यवेक्षितमश्नीयात्, ग्रामगणगणिकापणिकशत्रुसत्रशठपतितभोजनानि परिहरेत्, शेषाण्यपि चानिष्टरूपरसगन्धस्पर्शशब्दमानसानि, अन्यान्येवंगुणान्यपि सभ्रमदत्तानि, (तान्यपि) मक्षिकावालोपहतानि, नाप्रक्षालितपाणिपादो भुञ्जीत, न मूत्रोच्चारपीडित, न सन्ध्ययोर्नानुपाश्रितो नातीतकालं हीनमतिमात्रं (नोद्धृतस्नेहं) चेति ॥ ९८ ॥

मुख के बल नहीं सोना चाहिये। फूटे हुए पात्र तथा बिना पात्र के भोजन नहीं करना चाहिये। अञ्जलि से पानी नहीं पीना चाहिये। समय पर वैद्य द्वारा परीक्षित, हितकर, अल्प, स्निग्ध और मधुर रस प्रधान आहार खाना चाहिये। ग्रामभोज तथा गण (रथकार, चारण आदि), गणिका (वेश्या), पणिक (दूकानदार), शत्रु, सत्र (यज्ञ), शठ (दुर्जन) और पतित (धर्मभ्रष्ट) के अन्न का परित्याग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त अन्य शेष अप्रिय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द से युक्त मनुष्यों का भोजन भी नहीं करना चाहिये। प्रिय रूप, रस, गन्ध आदि से युक्त व्यक्तियों के द्वारा घबडाहट में दिया गया भोजन भी परित्याग देना चाहिये। मक्खी और बाल गिरे हुए पदार्थों को भी त्याग देना चाहिये। हाथ, पैर धोये बिना भोजन नहीं करना चाहिये। मूत्र मल के वेग को धारण किये हुए, सन्ध्या समय, आसन पर बिना बैठे, भोजन का समय बिताकर, तथा बहुत अल्प और बहुत अधिक (घृतरहित) भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ९८ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नष्टं पर्युषितं पयः।
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ॥ ९९ ॥
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।
अन्यथा जनयेत् कुष्ठविसर्पादीन् गदान् बहून् ॥
नात्मानमुदके पश्येन्न नग्न प्रविशेज्जलम् ॥ १०० ॥

घी निकाला हुआ, फटा हुआ तथा बासी दूध नहीं पीना चाहिये। घी, शक्कर, मूँग का यूष, मधु, उष्ण द्रव्य या आँवला मिलाये बिना रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये। अन्यथा कुष्ठ, विसर्प आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। जल में अपनी छाया नहीं देखनी चाहिये तथा नग्न होकर जल में प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ ९९-१०० ॥

द्यूतमद्यातिसेवाप्रतिभूत्वसमाह्वानगोष्ठीवादित्राणि न सेवेत, स्रजं छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि न चान्यैर्धृतानि धारयेत्, ब्राह्मणमग्निं गां च नोच्छिष्टः स्पृशेत् ॥ १०१

जुआ, अधिक मद्यपान, प्रतिभू (जमानतदारी), समाह्वान (गप्प लडाना), गोष्ठी (सभा) और वादित्र (ढोल, मृदङ्ग आदि बजाना) नहीं करना चाहिये। माला, छाता, जूता, स्वर्ण और पुराने वस्त्र, दूसरे व्यक्ति के धारण किये हुए नहीं पहनना चाहिये। ब्राह्मण, अग्नि और गौ को जूठे हाथ से नहीं छूना चाहिये ॥ १०१ ॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्।
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥ १०२ ॥

ऋतुभेद से पीने योग्य रसों का निर्देश—जैसे कि-मनुष्यों के जो जो दोष जिस जिस ऋतु में प्रकुपित होते हैं, उनमें तदनुकूल रसों का सेवन बुद्धिमान् वैद्य को कराना चाहिए ॥

वर्षासु न पिवेत्तोयं पिवेच्छरदि मात्रया।
वर्षासु चतुरो मासान् मात्रावदुदकं पिवेत् ॥ १०३ ॥

वर्षा और शरद् ऋतु में थोडा जल (न पिवेत् ईषत् पिवेदित्यर्थः) पीना चाहिए। वर्षा के चार मास (आषाढ,

श्रावण, भाद्र, आश्विन) में मात्रापूर्वक (मात्राशब्दोऽल्पवचनः) अर्थात् अल्प जल पीना चाहिए ॥ १०३ ॥

उष्णं हैमे वसन्ते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम् ।
हेमन्ते च वसन्ते च सीध्वरिष्टौ पिबेन्नरः ॥ १०४ ॥

हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में उष्ण तथा ग्रीष्म ऋतु में पर्याप्त शीतल जल पीना चाहिए। हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में मनुष्यों को सीधु तथा अरिष्ट पान करना चाहिये ॥

शृतशीतं पयो ग्रीष्मे प्रावृट्काले रसं पिबेत् ।
यूषं वर्षति, तस्यान्ते प्रपिबेच्छीतलं जलम् ॥१०५॥

ग्रीष्म ऋतु में उष्ण जल शीतल करके तथा प्रावृट्काल में मांसरस पीना चाहिये। वर्षा ऋतु में यूष तथा उसके अन्त में शीतल जल पीना चाहिए ॥ १०५ ॥

स्वस्थ एवमतोऽन्यस्तु दोषाहारगतानुगः ।
स्नेहं सैन्धवचूर्णेन पिप्पलीभिश्च संयुतम् ॥ १०६ ॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं न च वेगान् विधारयेत् ।
अग्निदीप्तिकरं नृणां रोगाणां शमनं प्रति ॥ १०७ ॥
प्रावृट् शरद्वसन्तेषु सम्यक् स्नेहादिमाचरेत् ॥

स्वस्थ मनुष्य को उपर्युक्त विधि से तथा अस्वस्थ को दोष और आहार के अनुसार जलपान करना चाहिये। अग्नि की वृद्धि करने के लिए सेन्धानमक तथा पिप्पल का चूर्ण मिलाकर स्नेहपान करना चाहिये और मल-मूत्रादि के वेगों का धारण नहीं करना चाहिये। मनुष्यों की अग्नि वृद्धि तथा रोगों का शमन करने के लिए प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतुओं में भली भाँति स्नेहपान कराना चाहिए ॥

कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको बस्तिरीरणे ॥ १०८ ॥
शस्यते त्रिष्वपि सदा व्यायामो दोषनाशनः ।
भुक्तं विरुद्धमप्यन्नं व्यायामान्न प्रदुष्यति ॥ १०९ ॥

त्रिदोष के शमन में व्यायाम का महत्त्व—कफ में वमन, पित्त में विरेचन और वायु में वस्ति तथा तीनों दोषों के शमन के लिए दोषनाशक व्यायाम का सेवन, सदा हितकर होता है। व्यायाम करने से खाया हुआ विरुद्ध अन्न भी दूषित नहीं होता अर्थात् उसका भी पाचन हो जाता है ॥ १०८-१०९ ॥

उत्सर्गमैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मनाः ।
नेच्छेद्दोषचयात् प्राज्ञः पीडां वा कायमानसीम् ॥

मल-मूत्र के त्याग, मैथुन, भोजन और शोधन (वमन-विरेचन) काल में, उसी में दत्त-चित्त रहना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य को दोष-संचय के भय मात्र से ही, शरीर और मन को पीडित नहीं करना चाहिए ॥ ११० ॥

अतिस्त्रीसंप्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान् ।
शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः ॥ १११ ॥
अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः ।

अधिक मैथुन के दोष—संयमी मनुष्य को अधिक स्त्री-प्रसङ्ग से बचना चाहिये। शूल, कास, ज्वर, श्वास, दुर्बलता, पाण्डुरोग, क्षय और आक्षेपक आदि व्याधियाँ, अधिक मैथुन से उत्पन्न होती हैं ॥ १११ ॥

आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः ॥ ११२ ॥
स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः ।

स्त्री-प्रसङ्ग में संयमी पुरुष, आयुष्मान्, देर में बुड्ढे होने वाले, शरीर शोभा, वर्ण और बल से युक्त तथा कठिन और स्थिर मांसपेशियों वाले होते हैं ॥ ११२ ॥

त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्वा समीयात् प्रमदां नरः ॥ ११३ ॥
सर्वेष्वृतुषु, धर्मेषु पक्षात् पक्षाद् व्रजेद् बुधः ।

सभी ऋतुओं में तीन-तीन दिन के अन्तर पर तथा ग्रीष्म ऋतु में पन्द्रह दिन के अन्तर से बुद्धिमान् को स्त्री-संभोग करना चाहिये ॥ ११३ ॥

रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥ ११४ ॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम् ।
हीनाङ्गीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषसमन्विताम् ॥११५॥
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि ।
सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः ॥११६॥

रजस्वला, मैथुन से अनिच्छा वाली, मलिन, अप्रिय, ऊँचे वर्ण की, वयोवृद्ध, रोग से पीड़ित, अङ्गहीन, गर्भवती, द्वेष रखने वाली, योनि रोग से युक्त, समान गोत्र वाली, गुरुपत्नी, संन्यासिनी, तथा अगम्या (मैथुन के अयोग्य पुत्री, सास आदि) स्त्रियों के साथ एवं संध्याकाल और पर्व के दिन मनुष्य को सम्भोग नहीं करना चाहिये ॥११४-११६॥

गोसर्गे चार्धरात्रे च तथा मध्यदिनेषु च ।
लज्जासमावहे देशे विवृतेऽशुद्ध एव च ॥ ११७ ॥
क्षुधितो व्याधितश्चैव क्षुब्धचित्तश्च मानवः ।
वातविण्मूत्रवेगी च पिपासुरतिदुर्बलः ॥ ११८ ॥
तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् ।
दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत् ॥ ११९ ॥

प्रातःकाल, अर्द्धरात्रि और मध्याह्न में तथा लज्जा अनुभव होने वाले खुले हुए और अशुद्ध स्थान में, एवं भूखे, रोगी, दुखी, वायु, मल और मूत्र के वेग से युक्त प्यासे और अत्यन्त दुर्बल मनुष्य को, स्त्री-प्रसग नहीं करना चाहिये। तिर्यग्योनि (पशुयोनि) एवं अयोनि (मुख आदि) में मैथुन तथा शुक्रवेग का धारण (रोकना) नहीं करना चाहिये। बलवान् व्यक्ति को भी, दूषित योनि में शुक्र त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ११७-११९ ॥

रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्धावरणमेव च ।
स्थितावुत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम् ॥ १२० ॥
क्रीडायामपि मेवावी हितार्थी परिवर्जयेत् ।

शुक्र का अत्यधिक त्याग और शिश्नमुण्ड का आवरण करना (रगडना या खोली चढ़ाना) तथा खड़े होकर एवं चित्त लेटकर शुक्र त्याग करना विशेष निन्दनीय है। बुद्धिमान् और अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को खेल में भी शुक्र-त्याग नहीं करना चाहिये ॥ १२० ॥

रजस्वलां प्राप्तवतो नरस्यानियतात्मनः ॥ १२१ ॥
दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ।

असंयमी पुरुष को रजस्वला स्त्री के साथ संभोग करने

पर, उसकी दृष्टि, आयु और तेज की हानि तथा अधर्म की प्राप्ति होती है ॥ १२१ ॥

लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु ॥ १२२ ॥
वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवितक्षयः ।

संन्यासिनी, गुरुपत्नी, समान गोत्र वाली और वृद्धा स्त्री के साथ तथा पर्व और संन्ध्याकाल में सम्भोग करने से जीवन का क्षय होता है ॥ १२२ ॥

गर्भिण्या गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः ॥
हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां कामं वन्ध्यामसंवृते ।
देहेऽशुद्धे च शुक्रस्य मनसश्च क्षयो भवेत् ॥ १२४ ॥
क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृपितोऽबलः ।
स्थितैश्च हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विन्दति ॥

गर्भवती के साथ सम्भोग करने पर गर्भ को पीड़ा और रोगिणी के साथ बल का नाश होता है। हीन अङ्गों वाली, मलिन, द्वेष रखने वाली, कामवासनारहित, ('कामवन्ध्याम्' इति हाराणचन्द्रः) खुले प्रदेश में तथा अशुद्ध शरीर वाली स्त्री के साथ सम्भोग करने से, शुक्र का क्षय एवं मन में ग्लानि होती है। भूखे और दुखी, मध्याह्न काल में, प्यासे, निर्बल अवस्था में तथा बैठकर सम्भोग करने से, शुक्र नाश एवं वायु का प्रकोप होता है ॥ १२३–१२५ ॥

अतिप्रसङ्गाद्भवति शोपः शुक्रक्षयावहः ।
व्याधितस्य रुजा प्लीहि मृत्युर्मूर्च्छा च जायते ॥

अधिक स्त्री-प्रसङ्ग करने से शुक्रक्षयजन्य शोप की उत्पत्ति होती है। रोगी व्यक्ति के सम्भोग करने पर पीडा, प्लीहा वृद्धि मूर्च्छा एवं मृत्यु होती है ॥ १२६ ॥

प्रत्यूपस्यर्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः ।
तिर्यग्योनावयोनौ च दुष्टयोनौ तथैव च ॥ १२७ ॥
उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रस्य च क्षयः ।

प्रातःकाल और आधी रात में स्त्री-सम्भोग करने पर वायु तथा पित्त का प्रकोप होता है। तिर्यग्योनि (पशुओं की योनि), अयोनि (मुख मैथुन आदि) तथा दूषितयोनि में शुक्र त्याग करने से उपदंश रोग, वात प्रकोप और शुक्र का क्षय होता है ॥ १२७ ॥

उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे ॥ १२८ ॥
उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु सभवः ।
सर्वं परिहरेत्तस्मादेतल्लोकद्वयेऽहितम् ॥ १२९ ॥
शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न सन्धार्यं कथचन ।

मल मूत्र के उपस्थित वेग के समय तथा चित्त लेटकर, शुक्र के वेग को रोकने से, शुक्राश्मरी की उत्पत्ति शीघ्र होती है। इसलिये इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए अहितकर, इन सभी कार्यों का परित्याग करना चाहिए तथा मोह (अज्ञान) के वशीभूत होकर, उपस्थित शुक्र-वेग को कभी नहीं रोकना चाहिए ॥ १२८–१२९ ॥

वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलान्विताम् ॥ १३० ॥
अभिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलङ्कृताम् ।
सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणवृंहितः ॥ १३१ ॥

वाजीकरण विधि के द्वारा शक्तिसम्पन्न, रति का इच्छुक और प्रसन्न मनुष्य को, आयु, रूप और गुण से युक्त, समान स्वभाव वाली, गुणशीला, कामवासना सहित, प्रसन्न और अलङ्कारवती रमणी का सेवन, युक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥

भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरं ससितं रस एव च ।
स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायान्ते हितानि तु ॥१३२॥

मैथुन के अन्त में, शर्करा मिश्रित भोजन, मिश्री मिला दूध और मांसरस तथा स्नान, पंखे से वायु सेवन एवं निद्रा लेना हितकर होता है ॥ १३२ ॥

मुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यैतदीरितम् ।
आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥१३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनागताबाध-चिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

सद्वृत्त का उपसहार—सद्वृत्त की इन प्रधान बातों का संक्षेप में कथन किया गया है। आचाररहित मनुष्य आयु, आरोग्य या धन नहीं प्राप्त कर सकते ॥ १३३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मिश्रकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

मिश्रक चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर मिश्रक चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १–२ ॥

पाल्यामयास्तु विस्राव्या इत्युक्तं प्राङ्निबोध तान् ।
परिपोटस्तथोत्पात उन्मन्थो दुःखवर्धनः ॥ ३ ॥
पञ्चमः परिलेही च कर्णपाल्या गदाः स्मृताः ।

कर्णपाली के रोगों की संख्या तथा नाम—कर्णपाली के रोग विस्रावण के योग्य होते हैं, यह पहले कहा जा चुका है, उनका वर्णन सुनो। कर्णपाली-रोग पाँच प्रकार के होते हैं—(१) परिपोट (२) उत्पात (३) उन्मन्थ (४) दुःख वर्धन और (५) परिलेही ॥ ३ ॥

सौकुमार्यात्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्धिते ॥ ४ ॥
कर्णशोफो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥५॥

परिपोट के लक्षण—सुकुमारता के कारण बहुत दिनों से छोडे हुए, कान की लोर (कर्णपाली) के छिद्रों को सहसा बढ़ाने से, कर्णपाली में पीडा तथा परिपोटयुक्त (कुछ फटा हुआ) शोथ हो जाता है, उसे परिपोट कहते हैं। वायु के द्वारा उत्पन्न यह परिपोट काला, लाल और स्तब्ध (जकडा हुआ) होता है ॥ ४–६ ॥

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि ।
शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥६॥

लोपाकानूपमज्जानं वसां तैलं नवं घृतम् ।
पचेद्दशगुणं क्षीरमावाप्य मधुरं गणम् ॥ २५ ॥
अपामार्गोश्वगन्धे च तथा लाक्षारस शुभम् ।
तत्सिद्धं परिपूतं च स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥ २६ ॥
तेनाभ्यञ्जयात् सदा पालीं सुस्विन्नामतिमर्दिताम् ।
एतेन पाल्यो वर्धन्ते निरुजो निरुपद्रवाः ॥
मृद्व्यः पुष्टाः समाः स्निग्धा जायन्ते भूषणक्षमाः ॥२७॥

कर्णपालीवर्धन तैल—शृगाल (या लोमडी) और आनूप जीवों की मज्जा, वसा, तैल एव नवीन घृत को दशगुने दूध के द्वारा काकोल्यादि गण के द्रव्य, अपामार्ग, अश्वगन्ध और लाक्षारस प्रक्षेप के साथ पकाना चाहिये तथा पाक सिद्ध होने पर, छान कर सुरक्षित स्थान में रखना चाहिए। भली भाँति स्वेदित और मर्दित कर्णपाली में सदा इससे अभ्यंग करना चाहिए। इसके प्रयोग से वेदना और उपद्रव के बिना पालियाँ बढ़ती है तथा कोमल, पुष्ट, सम, स्निग्ध एवं आभूषण धारण करने योग्य होती है ॥ २५–२७ ॥

नीलीदल भृङ्गरजोऽर्जुनत्वक्
पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च ।
बीजोद्भव साहचरं च पुष्प
पथ्याक्षधात्रीसहितं विचूर्ण्य ॥ २८ ॥
एकीकृतं सर्वमिद प्रमाय
पङ्केन तुल्यं नलिनीभवेन ।
संयोज्य पक्ष कलशे निधाय
लौहे घटे सद्मनि सापिधाने ॥ २९ ॥
अनेन तैलं विपचेद्विमिश्र
रसेन भृङ्गत्रिफलाभवेन ।
आसन्नपाके च परीक्षणार्थं
पत्रं बलाकाभवमाक्षिपेच्च ॥ ३० ॥
भवेच्चदा तद्भ्रमराञ्जनील
तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे ।
कृष्णायसे मासमवस्थितं त-
दभ्यङ्गयोगात् पलितानि हन्यात्॥ ३१ ॥

पलित रोग में नीलीतैल—नीलीदल (नील का पत्ता), भंगरैया, अर्जुन की छाल, मैनफल, कृष्ण लोहचूर्ण, विजयसार और सहचर के फूल तथा हरड, बहेडा आवले का एक साथ चूर्ण बनाकर, तौल लिया जावे और इसके समान कमल की जड का कींचड़ मिलाकर, लोहे के ढक्कन युक्त घडे में, पन्द्रह दिन घर के अन्दर रखा जावे। पन्द्रह दिन के पश्चात् उसमें तैल मिलाकर, भृगराज और त्रिफला स्वरस के द्वारा, पाक किया जावे। पाक सिद्धि की परीक्षा के लिए बगुला का पंख तैल में छोडना चाहिए, जब वह पख भौंरे के समान नील वर्ण का (काला) हो जाय, तब तैल को पका हुआ समझ कर, काले लोह के पात्र में एक मास तक रखना चाहिए। इस तैल के मर्दन से पलित रोग नष्ट होता है ॥ २८–३१ ॥

सैरीयजम्ब्वर्जुनकाश्मरीजं
पुष्पं तिलान्मार्कवचूतबीजे ।
पुनर्नवे कर्दमकण्टकार्यौ
कासीसपिण्डीतकबीजसारम् ॥ ३२ ॥
फलत्रयं लोहरजोऽञ्जनं च
यष्ट्याह्वयं नीरजसारिवे च ।
पिष्ट्वाऽथ सर्वं सह मोदयन्त्या
साराम्भसा वीजकसंभवेन ॥ ३३ ॥
साराम्भसा सप्तभिरेव पश्चात
प्रस्थैः समालोड्य दशाहगुप्तम् ।
लौहे सुपात्रे विनिधाय तैल-
मभ्रोद्भवं तच्च पचेत् प्रयत्नात् ॥ ३४ ॥
पक्वं च लौहेऽभिनवे निधाय
नस्यं विदध्यात् परिशुद्धकायः ।
अभ्यङ्गयोगैश्च नियुज्यमानं
भुञ्जीत मापान् कृशरामथो वा ॥ ३५ ॥
मासोपरिष्टाद्वनकुञ्चिताग्राः
केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः ।
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयु-
र्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति ॥ ३६ ॥
बलं परं सभवतीन्द्रियाणां
भवेच्च वक्त्रं वलिभिर्विमुक्तम् ।
नाकामिनेऽनर्थिनि नाकृताय
नैवारये तैलमिदं प्रदेयम् ॥ ३७ ॥

केश को काला करने के लिए सैरीयकादि तैल—सैरीय (कटसरैया), जामुन, अर्जुन और गम्भारी के फूल, तिल, भंगरैया, आम की गुठली, श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, कमल के जड की कीचड़, बडी कटेरी, छोटी कटेरी, कासीस, मैनफल, विजयसार, त्रिफला, लोहचूर्ण, रसाञ्जन, मुलेठी, नीलकमल, सारिवा और मल्लिका को विजयसार के क्वाथ से पीसकर, सात प्रस्थ विजयसार के क्वाथ में घोलना चाहिए और लोहपात्र में रखकर, दस दिन सुरक्षित स्थान में रखना चाहिए। फिर इसमें बहेडे का तेल मिलाकर यत्न पूर्वक पाक करके सिद्ध तैल को नवीन लोह पात्र में रखना चाहिये। वमन-विरेचनादि से शुद्ध शरीर वाले रोगी को, इस तैल का नस्य और मर्दन करना चाहिए तथा इस अवधि में उडद या खिचडी खानी चाहिए। एक मास तक इसका सेवन करने से केश घने, घुंघराले तथा भौंरे और अञ्जन के समान काले हो जाते हैं। इसका सेवन करने वाले व्यक्तिको पलित (बालों का असमय सफेद होना) और खलित (खल्वाट) रोग नहीं होते तथा वृद्धावस्था शीघ्र आक्रमण नहीं करती। इन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न बनती हैं एवं मुख की झुर्रियाँ मिट जाती हैं। अनिच्छुक, आवश्यकता रहित, कृतघ्न तथा शत्रु को यह तैल नहीं देना चाहिए ॥ ३२–३७ ॥

लाक्षा रोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले
कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च ।

मञ्जिष्ठोशीरा स्यात् सुराष्ट्रोद्भवा च
पत्तङ्गं वै रोचना चाञ्जनं च ॥ ३८ ॥
हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य
कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम् ।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च
काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः ॥ ३९ ॥
मेदो मज्जा सिक्थकं गोघृतं च
दुग्धं काथः क्षीरिणां च द्रुमाणाम् ।
एतत् सर्वं पक्वमेकैकशोऽन्यतरतु
वक्त्राभ्यङ्गे सर्पिरुक्तं प्रधानम् ॥ ४० ॥
हन्याद् व्यङ्गं नीलिकां चातिवृद्धां
वक्त्रे जाताः स्फोटिकाश्चापि काश्चित् ।
पद्माकारं निर्वलीकं च वक्त्रं
कुर्यादेतत् पीनगण्डं मनोज्ञम् ॥ ४१ ॥
राज्ञामेतद्योषितां चापि नित्यं
कुर्याद्वैद्यस्तत्समानां नृणां च ।
कुष्ठघ्नं वै सर्पिरेतत् प्रधानं
येषां पादे सन्ति वैपादिकाश्च ॥ ४२ ॥

मुख पर मर्दन करने के लिये घृत—लाख, लोध्र, हल्दी, दारुहल्दी, मैनशिल, हरिताल, कूठ, नागकेशर, गेरु, वर्णक (कचीला), मजीठ, वच, सौराष्ट्री मिट्टी, पतंग, गोरोचन, स्रोताञ्जन, अमलतास की छाल, बरगद के पके पत्ते, पीत चन्दन, पद्माख, कमलगट्टा, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, पारद, दूध में पिसे हुए काकोल्यादिगण के द्रव्य, मेद, मज्जा, मोम, और गोघृत को गोदुग्ध तथा क्षीरीवृक्षों क्वाथ के द्वारा पकाना चाहिए। मुख में मालिश करने के लिए यह घृत उत्तम होता है। इसके सेवन से व्यंग, बहुत बढ़ी हुई नीलिका, तथा मुख में निकले हुए किसी प्रकार के फफोले नष्ट होते हैं। मुख कमल के समान, झुर्री रहित भरा हुआ तथा सुन्दर हो जाता है। राजा, स्त्री तथा इनके समान अन्य पुरुषों के लिये इस घृत का प्रयोग वैद्य को नित्य कराना चाहिए। यह घृत कुष्ठनाशक एवं विपादिका से पीडित व्यक्तियों के लिए हितकर होता है ॥ ३८-४२ ॥

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं
चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम् ।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया
लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः ॥ ४३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मिश्रकचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

राजाओं के योग्य अङ्गराग—हरीतकी चूर्ण, नीम के पत्ते, आम की छाल, अनार की कली और मेहदी के पत्ते के द्वारा बनाया गया अंगराग राजाओं के योग्य होता है ॥ ४३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां पञ्चविंशोऽध्याय. ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

क्षीणबलवालों के लिये वाजीकरण-चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर हीनशक्ति व्यक्तियों के लिए वाजीकरण चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥ ३ ॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् ।
योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥ ४ ॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् ।
नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः ॥ ५ ॥

वाजीकरण के योग्य मनुष्य—रोगरहित, तरुण और वाजीकरण द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्तियों के लिए सभी ऋतुओं में प्रतिदिन मैथुन करना निषिद्ध नहीं है। वृद्ध, रमण की इच्छा वाले, स्त्रियों का प्रिय बनने की कामना वाले, अधिक स्त्री संभोग से क्षीण, नपुसक, अल्पशुक्रयुक्त, विलासी, धनवान, रूप-यौवनसम्पन्न तथा अनेक पत्नियों वाले मनुष्यों के लिए, वाजीकरण योग हितकर होते हैं ॥ ३-५ ॥

विमर्श.—कल्यस्य रोगरहितस्य । उदग्रवयसस्तरुणस्य । रिरंसुरन्तुमिच्छुः । वाजीकरण-'वाज शुक्र तदस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्' । वाज शुक्र का पर्यायवाचक शब्द है। जिस व्यक्ति के शरीर में शुक्र विद्यमान रहता है वह वाजी अर्थात् वीर्यवान् कहलाता है। यदि इस प्रकार का व्यक्ति चिन्ता, भय आदि कारणों से शुक्ररहित हो जाय तो उसे अवाजी संज्ञा प्राप्त होगी। पुनः जिस क्रिया विशेष के द्वारा वह व्यक्ति वाजी अर्थात् वीर्यवान् बनाया जाता है। उसे वाजीकरण कहते हैं। अथवा—'वाजी अश्वस्तद्वत् नारीषु मैथुनस्य सामर्थ्यं वीर्यवृद्धिश्च येन क्रियाविशेषेण जायते तद्वाजीकरणम्'। जैसा कि चरक ने लिखा है—'येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवच्च मते नरः। येन वाऽप्यधिकं वीर्यं वाजीकरणमेव तत्' ॥ हारीतसंहिता में वाज शब्द से मैथुन का ग्रहण किया गया है—'वाजो नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसञ्ज्ञितम्। वाजीकरणसञ्ज्ञाभि. पुंस्त्वमेव प्रचक्षते' ॥ वाजीकरण पदार्थों का सेवन मनुष्य को धर्म, अर्थ, प्रीति तथा यश प्रदान करता है। महर्षि चरक ने वाजीकरण की प्रशंसा इन शब्दों में की है। 'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्। तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च॥ पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रया ।

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान् ।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥ ६ ॥
भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च ।
वाचः श्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा ॥७॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना ।
गीतं श्रोत्रमनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः ।

गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ॥
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥ ८ ॥

वाजीकरण की निरुक्ति—जिस वस्तु का विधिपूर्वक सेवन कर मनुष्य घोड़े के समान अत्यन्त वेगवान बन कर स्त्रियों को सन्तुष्ट करता है, उसे वाजीकरण कहते हैं। नाना प्रकार के भोजन, भांति भांति के पेय पदार्थ, कर्णप्रिय वाणी, स्पर्श-सुखदायक त्वचायें, चन्द्रमा से सुशोभित रात्रि, नवयौवना रमणी, कान तथा मन को आकर्षित करने वाले गीत, पान, मदिरा, पुष्पमाला, मनोहर गन्ध, सुन्दर स्वरूप, उपवन और मानसिक प्रसन्नता, मानव को वाजी (वीर्यवान्) बनाती है ॥ ८-९ ॥

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते ।
द्वेष्यस्त्रीसंप्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम् ॥ ९ ॥

मानसिक क्लीवता के लक्षण—रमण की इच्छा वाले व्यक्ति के मन में (भय, अविश्वास, स्त्री-दोषदर्शन आदि) अप्रिय भावों के कारण, आघात लगने तथा शत्रुता रखने वाली स्त्री के संप्रयोग (अभिचार) से जो नपुंसकता होती है, उसे मानसिक क्लीवता कहते हैं ॥ ९ ॥

कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः ।
सौम्यधातुक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तदपरं स्मृतम् ॥ १० ॥

कटु, अम्ल, उष्ण और लवण रस का अधिक सेवन करने से सौम्यधातु (शुक्र) के क्षय के कारण जो नपुंसकता होती है, वह दूसरी क्लीवता है ॥ १० ॥

अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः ।
ध्वजभङ्गमवाप्नोति तच्छुक्रक्षयहेतुकम् ॥ ११ ॥

अत्यधिक मैथुन-रत जो व्यक्ति वाजीकरण पदार्थों का सेवन नहीं करता, उसे शुक्रक्षय के कारण ध्वजभङ्ग की प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

महता मेढ्रोगेण मर्मच्छेदेन वा पुनः ।
क्लैब्यमेतच्चतुर्थं स्यान्नृणां पुंस्त्वोपघातजम् ॥ १२ ॥

भयानक मेढ्र रोग (शिश्न रोग) या शुक्रवाही नाड़ी के कट जाने से मनुष्यों को पुंस्त्वनाशक चौथी क्लीवता होती है॥

जन्मप्रभृति यः क्लीवः क्लैब्यं तत् सहजं स्मृतम् ॥१३॥

बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्मचर्यतः ।
षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु खरशुक्रनिमित्तजम् ॥ १४ ॥

जन्मकाल से जो नपुंसकता होती है वह सहज (जन्म जात) क्लीवता कहलाती है। चञ्चलचित्त बलवान मनुष्य ब्रह्मचर्य से जब शुक्र-वेग को रोकता है तो छठी नपुंसकता होती है, यह अवस्था शुक्र के खर (कठिन) हो जाने से होती है ॥ १३ ॥

असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत् ।
साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः ॥ १५ ॥

सहज और मर्मच्छेदजन्य क्लीवता असाध्य होती है। अन्य साध्य क्लीव रोगों में हेतु विपरीत (व्याधि-उत्पादक कारण के विरुद्ध) चिकित्सा करनी चाहिए ॥ १४-१५ ॥

निर्विर्याजीकरो यस्तु तं प्रवक्ष्याम्यतः परम् ।
तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा ॥ १६ ॥
पौण्ड्रेक्षुरसैरार्द्रं मर्दितं सैन्धवान्वितम् ।
वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत् ॥
तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम् ॥ १७ ॥

वाजीकरण उत्कारिका (लप्सी)—इसके आगे वाजीकरण विधि का वर्णन किया जाता है। तिल, उड़द, विदारीकन्द या शालि धान्य के चूर्ण को पौण्डे और गन्ने के रस से गीला कर गूंदना चाहिए तथा सेंधा नमक और सूअर की मेद मिलाकर घी के द्वारा उत्कारिका (लप्सी) पकानी चाहिए। इसको खाकर पुरुष सौ स्त्रियों के साथ संभोग कर सकता है ॥ १६-१७ ॥

वस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ॥ १८ ॥
शिशुमारवसापक्वाः शष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः ।
यः खादेत् स पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत् ॥१९॥

वाजीकरण शष्कुली (पूरी)—बकरे के अण्डकोष के साथ सिद्ध किए गए (पकाये गए) दूध से अनेक बार भावना दिए गए तिल तथा मगर की चर्बी में पकी हुई इन तिलों की शष्कुली (पूरी) को खाने वाला पुरुष, सौ स्त्रियों के साथ अपूर्व रूप से संभोग कर सकता है ॥ १८-१९ ॥

पिप्पलीलवणोपेते वस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि ।
साधिते भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम् ॥ २० ॥

वाजीकरण वस्ताण्ड (बकरे का अण्डकोष) योग—पिप्पल और सेन्धा नमक युक्त बकरे का अण्डकोष, दूध से निकले हुए घी (मक्खन) के द्वारा पका कर, जो व्यक्ति खाता है, वह सौ स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है ॥ २० ॥

पिप्पलीमाषशालीनां यवगोधूमयोस्तथा ।
चूर्णभागैः समैस्तैस्तु घृते पूपलिकां पचेत् ॥ २१ ॥
तां भक्षयित्वा पीत्वा तु शर्करामधुरं पयः ।
नरश्चटकवच्छ्रेष्ठद्दशवारान्निरन्तरम् ॥ २२ ॥

वाजीकरण पूपलिका (पूरी)—पिप्पल, उड़द, शालिधान्य, जौ और गेहूं का समान भाग में चूर्ण बना कर (पीसकर) घी के द्वारा पूरी बनाई जावे। इनको खाकर तथा शर्करायुक्त दूध पीकर मनुष्य चटक पक्षी की भांति निरन्तर दश बार रमण कर सकता है ॥ २१-२२ ॥

विदार्याः सुकृतं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम् ।
सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति ॥ २३ ॥

वाजीकरण विदारीकन्द योग—विदारीकन्द के भली भांति बने हुए चूर्ण में विदारीकन्द-स्वरस की भावना देकर घी और मधु के साथ चाटने से मनुष्य दश स्त्रियों के साथ संभोग कर सकता है ॥ २३ ॥

एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम् ।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्युक्तं लीढ्वा पय पिबेत् ॥
एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति ॥ २४ ॥

वाजीकरण आमलक योग—इसी प्रकार आंवले के स्वरस में भावित आँवले का चूर्ण, चीनी, मधु और घी के साथ चाट कर दूध पीना चाहिए। इसके सेवन से अस्सी वर्ष का वृद्ध व्यक्ति भी युवक की भांति कामातुर होता है ॥ २४ ॥

पिप्पलीलवणोपेते वस्ताण्डे घृतसाधिते ।
शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम् ॥
कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ॥ २५ ॥

वाजीकरण अण्ड योग—पिप्पल और सेंधा नमक के साथ, घी में पकाये गए बकरे का अण्डकोष या शिशुमार के अण्डे का सेवन करना चाहिए। ये दोनों अत्यधिक वाजीकरण हैं। कुलीर (केकड़ा) कूर्म (कछुआ) और नक्र (घड़ियाल) के अण्डे का सेवन भी इसी प्रकार करना चाहिए ॥ २५ ॥

महिषर्षभवस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ॥ २६ ॥

वाजीकरण महिषादिशुक्र योग—अथवा महिष (भैंसा), ऋषभ (बैल) और वस्त (बकरा) का शुक्र मनुष्य को पीना चाहिए ॥ २६ ॥

अश्वत्थफलमूलत्वक्कुङ्कुमसिद्धं पयो नरः ।
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥ २७ ॥

वाजीकरण अश्वत्थ योग—पीपल के फल, मूल, छाल और कोमल पत्ते के द्वारा सिद्ध किए गए चीनी और मधु मिश्रित दूध को पी कर मनुष्य कलिङ्ग पक्षी की भांति कामवासना युक्त होता है ॥ २७ ॥

विदारिमूलकल्कं तु घृतेन पयसा नरः ।
उदुम्बरसमं पीत्वा वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ २८ ॥

वाजीकरण विदारीमूल योग—विदारीकन्द का कल्क गूलर के फल की मात्रा में उष्ण दूध के साथ पीकर वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है ॥ २८ ॥

माषाणां पलमेकं तु संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा ।
अवलिह्य पयः पीत्वा तेन वाजी भवेन्नरः ॥ २९ ॥

वाजीकरण माष योग—मधु-घृत युक्त एक पल उड़द खा कर और दूध पीकर मनुष्य वीर्यवान् बनता है ॥ २९ ॥

क्षीरपक्वांस्तु गोधूमानात्मगुप्ताफलैः सह ।
शीतान् घृतयुतान् खादेत्ततः पश्चात् पयः पिबेत् ३०

वाजीकरण गोधूमादि योग—कौंच के बीज के साथ गेहूं को दूध में पकाकर, शीतल होने पर घृत मिला कर खाना चाहिए और उपर से दूध पीना चाहिए ॥ ३० ॥

नक्रमूषिकमण्डूकचटकाण्डकृतं घृतम् ॥ ३१ ॥
पादाभ्यङ्गेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत् ।
यावत् स्पृशति नो भूमिं तावद्रात्रेन्निरन्तरम् ॥ ३२ ॥

वाजीकरण पादाभ्यङ्ग योग—घड़ियाल, चूहा, मेंढक और चटक पक्षी के अण्डे के द्वारा पकाए गये घी की मालिश पैरों में करने से बल उत्पन्न होता है। इसका अभ्यङ्ग कर भूमि पर पैर नहीं रखना चाहिए। जब तक मनुष्य पैरों से भूमि का स्पर्श नहीं करता तब तक निरन्तर स्त्री संभोग कर सकता है ॥ ३१-३२ ॥

स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम् ।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥ ३३ ॥

वाजीकरण स्वयंगुप्तादि योग—कौंच के बीज और तालमखाना के चूर्ण में शर्करा मिला कर धारोष्ण दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य का शुक्रक्षय नहीं होता है ॥ ३३ ॥

उच्चटाचूर्णमप्येवं क्षीरेणोत्तममिष्यते ।
शतावर्युच्चटाचूर्णं पेयमेवं बलार्थिना ।
स्वयंगुप्ताफलैर्युक्तं मापसूपं पिबेन्नरः ॥ ३४ ॥

वाजीकरण कतिपय योग—इसी प्रकार उच्चटा (श्वेतदुर्वारिका या श्वेतगुञ्जा) का चूर्ण धारोष्ण दूध के साथ सेवन करना उत्तम होता है। बल चाहने वाले व्यक्ति को शतावर और उच्चटा की जड़ इसी प्रकार (उपर्युक्त विधि) पीनी चाहिए। कौंच के फलों से युक्त उड़द का सूप (यूष) मनुष्य को पीना चाहिए ॥ ३४ ॥

गुप्ताफलं गोक्षुरकाच्च बीजं
तथोच्चटां गोपयसा विपाच्य ।
खजाहतं शर्करया च युक्तं
पीत्वा नरो हृष्यति सर्वरात्रम् ॥ ३५ ॥

कौंच के बीज, गोखरू और उच्चटा के बीज को दूध के साथ कौंच से घोट कर पकाया जावे। इसमें शर्करा मिलाकर दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य सम्पूर्ण रात्रि कामातुर रहता है ॥ ३५ ॥

माषान् विदारीमपि सोच्चटां च
क्षीरे गवां क्षौद्रघृतोपपन्नाम् ।
पीत्वा नरः शर्करया सुयुक्तां
कुलिङ्गवद्धृष्यति सर्वरात्रम् ॥ ३६ ॥

उड़द, विदारीकन्द और उच्चटाबीज को गो के दूध में पका कर, मधु, घृत और शर्करा के साथ सेवन करने पर मनुष्य कुलिङ्ग पक्षी की भांति रात्रि-पर्यन्त कामवासनायुक्त बना रहता है ॥ ३६ ॥

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां मापपर्णभृतां गवाम् ।
यत् क्षीरं तत् प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु ॥ ३७ ॥

वाजीकरण क्षीर योग—प्रथम बार ब्यायी हुई, बड़े बछड़े वाली और उड़द के पत्ते खाने वाली गौ का दूध, बल चाहने वाले व्यक्तियों के लिए श्रेष्ठ होता है ॥ ३७ ॥

क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः ।
वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत् ॥ ३८ ॥

सभी प्रकार के दूध, सभी प्रकार के मांस और काकोल्यादिगण, वाजीकरण होने के कारण श्रेष्ठ होते हैं, अतः इनका सेवन करना चाहिए ॥ ३८ ॥

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः ।
सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया ॥ ३९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वाजीकरण योगों के फल—ये वाजीकरण योग, मानसिक प्रसन्नता, सन्तान और बल प्रदान करने वाले हैं, इनका सेवन वमन-विरेचनादि से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को काल आदि की अपेक्षा से अर्थात् ऋतु का विचार करके करना चाहिए ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां षड्विंशोऽध्यायः ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातः सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

सर्वोपघात शमनीय रसायन का उपक्रम—इसके अनन्तर सभी बाधाओं को शमन करने वाली रसायन विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥ ३ ॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः ॥ ४ ॥

रसायन के योग्य अवस्था तथा मनुष्य—युवा अथवा मध्यावस्था में, स्निग्ध और शुद्ध शरीर वाले मनुष्य को रसायन का सेवन बुद्धिमान् वैद्य सदा करावे। जिस मनुष्य के शरीर की शुद्धि (वमन, विरेचनादि क्रियाओं के द्वारा) न की गई हो उसके लिए रसायन सेवन करना उचित नहीं है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र पर रंग सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार अशुद्ध शरीर वाले व्यक्ति के ऊपर रसायन सेवन का प्रभाव नहीं पड़ता ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—औषधियाँ दो प्रकार की होती हैं—'स्वस्थस्योर्जस्कर किञ्चित्किञ्चिदार्त्तस्य रोगनुत्'। (चरक) अर्थात् कुछ औषधियाँ स्वस्थ मनुष्यों के बल और ओज को बढ़ाती हैं तथा दूसरी रोगी व्यक्तियों के रोग को दूर करती हैं। इनमें प्रथम, स्वस्थ मनुष्यों के बल और ओज को बढ़ाने वाले द्रव्य रसायन कहलाते हैं, जैसा कि चरक ने लिखा है—'स्वस्थस्योर्जस्कर यत्तु तद्व वृष्यं तद्रसायनम्'। रसायन द्रव्यों का सेवन मनुष्य को बुढ़ापा और व्याधि से बचाता है। वह दो प्रकार का होता है। (१) कुटी प्रावेशिक और (२) वातातपिक। रसायन के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं। (१) काम्य—बल, बुद्धि आदि को बढ़ाने की कामना से सेवन किए जाने वाले द्रव्य काम्य रसायन की श्रेणी में आते हैं (२) नैमित्तिक—किसी व्याधि विशेष को नष्ट करने के निमित्त शिलाजतु, भल्लातक आदि का सेवन नैमित्तिक रसायन कहलाता है। (३) आजस्रिक-दूध, घृत का निरन्तर सेवन आजस्रिक रसायन है। रसायन द्रव्य रस-रक्तादि सातों धातुओं को पुष्ट कर मनुष्य-शरीर में ओज की वृद्धि करते हैं। रसायन सेवन के पूर्व वमन-विरेचन आदि के द्वारा मनुष्य को शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिए अन्यथा रसायन सेवन का पूरा फल प्राप्त नहीं होता।

शरीरस्योपघाता ये दोषजा मानसास्तथा।
उपदिष्टाः प्रदेशेषु तेषां वक्ष्यामि वारणम् ॥ ५ ॥

वातादि शारीरिक तथा रज और तम मानसिक दोषों के द्वारा उत्पन्न होने वाले शारीरिक विकारों को, जिनका उल्लेख यथास्थान किया गया है, दूर करने का उपाय बतलाया जाता है ॥ ५ ॥

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिश समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः ॥ ६ ॥

शीतल जल, दुग्ध, मधु और घृत का योग—शीतल जल, दूध, मधु और घृत पृथक् पृथक्, दो दो, तीन-तीन अथवा चारों, एक साथ सर्व प्रथम प्रातः काल पीने से आयु स्थापित होती है ॥ ६ ॥

तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेदेवमहरहर्मासं, तदेव मधुयुक्तं भल्लातककाथेन वा, मधुद्राक्काथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा, गुडूचीकाथेन वा, एवमेते पञ्च प्रयोगा भवन्ति; जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्; एते खल्वशांसि क्षपयन्ति, कृमीनुपन्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति ॥ ७ ॥

रसायन-विडंग तण्डुल योग—विडंग के चावलों (विडंग की भूसी हटाकर चावलों के समान बनाए गए) के चूर्ण में मुलेठी का चूर्ण तथा मधु मिलाकर; शक्ति के अनुसार, शीतल जल के द्वारा सेवन करना चाहिए और इसके पीछे शीतल पीना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन एक मास तक करना चाहिए। अथवा उपर्युक्त विडंग-तण्डुलों को भिलावे के क्वाथ के साथ या मधुयुक्त मुनक्के के क्वाथ के साथ या मधुमिश्रित आँवले के रस में या गुडूची क्वाथ से पीना चाहिए। इस प्रकार ये पाँच प्रयोग होते हैं। औषधि का पाचन होने पर लवणरहित, अल्प स्नेहयुक्त मूंग और आंवले के यूष के साथ घृत मिला हुआ भात खाना चाहिए। इन योगों का सेवन करने से अर्शों का नाश होता है, कृमि मरते हैं तथा समझने और स्मरण रखने की शक्ति उत्पन्न होती है। इनका एक एक मास प्रयोग करने से, आयु में सौ-सौ वर्ष की वृद्धि होती है॥

विडङ्गतण्डुलानां द्रोण पिष्टपचने पिष्टवदुपस्वेद्य विगतकषाय स्विन्नमवतार्य हृपदि पिष्टमायसे दृढे कुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि भस्मराशावन्तर्गृहे चतुरो मासान्निदध्यात्, वर्षाविगमे चोद्धृत्योपसस्कृतशरीरसहस्रसंपातामिहुत कृत्वा प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, पांशुशय्यायां शयीत, तस्य मासादूर्ध्वं सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्, द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूकास्तथैवापहरेत्, चतुर्थे दन्तनखरोमाण्यवशीर्यन्ते, पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते, अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति, दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि चास्य भवन्ति, रजस्तमसी चापोह्य सत्त्वमधितिष्ठति, श्रुतनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजवलोऽश्वजवः पुनर्युवाऽष्टौ वर्षशतान्यायुरवाप्नोति, तस्याणुतैलमभ्यङ्गार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सौशीर कूपोदकं स्नानार्थे, चदनमुपलेपनार्थे, भल्लातकविधानवदाहारं परिहारश्च ॥८॥

द्वितीय विडंग तण्डुल योग—एक द्रोण विडंग-तण्डुलों (तुषरहित विडंग) को तृणनिर्मित (टोकरी) कड़ाही में रखकर,

पिट्टे बनाने के लिए उबाले जाने वाले पदार्थों की भांति स्वेदन करना चाहिए। फिर क्वाथ रहित (जलीयांशरहित) उबले हुये उन तण्डुलों को अग्नि से उतारकर, पत्थर की सिल पर पीसना चाहिए और लोहे के मजबूत घड़े में पर्याप्त प्रमाण में मधु एवं जल के साथ बन्द करना चाहिये। उस पात्र को वर्षाऋतु में अन्दर के घर में, राख की ढेर में, चार मास रखना चाहिए। वर्षा के बीतने पर घड़े को निकालकर, वमन-विरेचनादि से शरीर शुद्ध करके तथा एक सहस्र सम्पात मन्त्रों की आहुति देकर, प्रतिदिन प्रातःकाल शक्ति के अनुसार इस औषधि का सेवन करना चाहिये। औषधि का पाचन होने पर लवणरहित, अल्प स्नेहयुक्त मूंग तथा आँवले के यूष के साथ ही मिला हुआ भात खाना चाहिए। धूलि की शय्या पर सोना चाहिए। एक मास के बाद इस औषधि का सेवन करने वाले व्यक्ति के सम्पूर्ण अंगों से कृमि निकलते हैं। इन कृमियों को अणु तैल की मालिश किए हुए उस व्यक्ति के शरीर से बाँस की कोंपल के द्वारा निकालना चाहिए। इस प्रकार दूसरे मास में चींटियों को तथा तीसरे में जू को इसी विधि से निकालना चाहिए। चौथे मास में उस व्यक्ति के दाँत, नख और रोम झड़ जाते हैं तथा पाँचवें में उत्तम गुण एवं लक्षण उत्पन्न होते हैं। उस व्यक्ति का शरीर अपूर्व श्रीयुक्त तथा सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है। उसे दूर के शब्दों को सुनने तथा दृश्यों को देखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। रज और तम को हटाकर सत्त्वगुण स्थापित होता है। सुनी हुई वाणी को धारण करने तथा अपूर्व श्लोक-रचना करने की शक्ति प्राप्त होती है। हाथी के समान बल और घोड़े की तरह वेग होता है एवं वह व्यक्ति पुनः युवक बनकर आठ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। उस व्यक्ति के अभ्यंग के लिये अणु तैल, उत्सादन (उबटन) के लिये अजकर्ण (शालवृक्ष) का क्वाथ (कल्क), स्नान के लिए खसयुक्त कूपजल और लेप लगाने के लिए चन्दन का प्रयोग करना चाहिये तथा भल्लातक-सेवन-विधान में बतलाये गए आहार एवं परिहार नियम का पालन कराना चाहिये॥

विमर्शः—पिष्ट पचने तृणादिकृतास्तारे कटाहे। आजकल बांस की बनी टोकरियां भी उपलब्ध होती हैं, तथा उनके द्वारा इस प्रकार के कार्य सम्पादित किए जाते हैं। पहले लोहे की कड़ाही में जल भर दिया जाता है और उसके ऊपर इन टोकरियों में जिन द्रव्यों का स्वेदन करना होता है उन्हें भर कर रखते हैं। इनमें रखे हुए पदार्थों का स्वेदन वाष्प के द्वारा होता है। सहस्रसम्पातामिहुतम्—सहस्रसम्पाताध्यायो ऋग्वेदे पठ्यते, तैर्मन्त्रै., सहस्र हुत्वा उपयुञ्जीत। वंशविदलेन—वंशकलम्बिकया। अभानुषम्—अपूर्वश्रीयुक्तम् वपु. करोतीत्यर्थ.। अपूर्वोत्पादीति-अपूर्वश्लोकादिकं करोतीत्यर्थ। कषायोऽत्र कल्क। सस्नेहकल्केनोद्वर्षणमुत्सादनम्। आशिष इति गुणा।

काश्मर्याणां निष्कुलीकृतानामेष एव कल्पः पांशुशय्याभोजनवर्जम्, अत्र हि पयसा श्रृतेन भोक्तव्यं, समानमन्यत् पूर्वेणाशिषश्च। शोणितपित्तनिमित्तेषु विकारेष्वेतेषामुपयोगः॥ ९॥

गम्भारी का योग—धूलि की शय्या एवं तथा कथित आहार के निषेध पूर्वक गुठली रहित गम्भारी के फलों के लिये भी यही विधि है तथा इसके सेवन काल में उष्ण दूध के साथ भोजन करना चाहिए। अन्य विधियां एक समान हैं तथा औषध-सेवन का फल भी पूर्व औषध के तुल्य है। इनका प्रयोग रक्त और पित्तजन्य व्याधियों में करना चाहिए॥ ९॥

यथोक्तमागारं प्रविश्य बलामूलार्धपलं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य द्वादशवर्षाणि वयस्तिष्ठति; एवं दिवसशतमुपयुज्य वर्षशतं वयस्तिष्ठति। एवमेवातिबलानागबलाविदारीशतावरीणामुपयोगः। विशेषतस्त्वतिबलामुदकेन, नागबलाचूर्णं मधुना, विदारीचूर्णं क्षीरेण, शतावरीमप्येवं पूर्वेणान्यत्समानमाशिषश्च समाः। एतास्त्वौषधयो बलकामानां शोषिणां रक्तपित्तोपसृष्टानां शोणितं छर्दयतां विरिच्यमानानां चोपदिश्यन्ते॥ १०॥

बलामूल (खरेटी) रसायनयोग—पूर्वोक्त प्रकार के गृह में प्रवेश कर खरेटी की जड़ आधापल या एक पल दूध में घोलकर पीना चाहिये तथा औषधि का पाचन होने पर दूध, घी और भात खाना चाहिए। इस प्रकार बारह दिन प्रयोग करने से बारह वर्ष और सौ दिन प्रयोग करने से सौ वर्ष की आयु स्थिर रहती है। इसी प्रकार अतिबला, नागबला, विदारीकन्द और शतावर का प्रयोग करना चाहिये। इनके सेवन में विशेषता इतनी है कि अतिबला जल के साथ, नागबला चूर्ण मधु के साथ और विदारीकंद तथा शतावर चूर्ण का सेवन दूध के साथ करना चाहिये। औषध सेवन का फल तथा अन्य बातें पूर्ववत् हैं। इन औषधियों का प्रयोग बल के इच्छुक, शोषरोगी, रक्तपित्त से ग्रसित, रक्तवमन करने वाले तथा विरेचन के योग्य व्यक्तियों के लिये करना चाहिये॥ १०॥

वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, प्रतिषेधोऽत्र पूर्ववत्, प्रयोगमिममुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम्, एतेनैव चूर्णेन पयोऽवचूर्ण्य श्रृतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुञ्जीत सायं प्रातरेककालं वा, जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति॥ ११॥

वराहीकन्द रसायन योग—वाराहीकन्द की जड़ का एक तुला चूर्ण बनाकर उसकी एक मात्रा (एक पल) मधु के साथ दूध में घोलकर पीना चाहिए। औषध का पाचन होने पर दूध, घी और भात खाना चाहिये। इसके प्रयोग में, पूर्वोक्त वर्जित पदार्थों का त्याग करना चाहिये। इस योग को सेवन करने वाला व्यक्ति, सौ वर्ष की आयु तथा स्त्री संभोग में अक्षयता (शुक्रक्षय का न होना) प्राप्त करता है। उपर्युक्त चूर्ण के साथ दूध का पाक करके शीतल होने पर मथकर घी निकालना चाहिए। इसमें मधु मिलाकर प्रातः और सायंकाल अथवा एक समय सेवन करना चाहिए।

औषध का पाचन होने पर दूध, घी और भात खाना चाहिए। इस प्रकार एक मास सेवन करने से सौ वर्ष की आयु होती है ॥ ११ ॥

चक्षुःकामः प्राणकामो वा बीजकसाराग्निमन्थमूलं निष्काथ्य माषप्रस्थं साधयेत्, तस्मिन् सिध्यति चित्रकमूलानामक्षमात्रं कल्कं दद्यादामलकरसचतुर्थभागं, ततः स्विन्नमवतार्य सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा शीतीभूतं मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्योपयुञ्जीत यथाबलं, यथासात्म्यं च लवणं परिहरन् भक्षयेत्। जीर्णे मुद्गामलकरूपेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात् पयसा वा मासत्रयम्, एवमाभ्यां प्रयोगाभ्यां चक्षुः सौपर्णं भवत्यनल्पबलः स्त्रीषु चाक्षयो वर्षशतायुर्भवतीति ॥

विजयसार आदि रसायन योग—नेत्रों में ज्योति तथा बल की कामना वाले व्यक्ति को विजयसार और अरणी की जड़ का क्वाथ करके उसके साथ एक प्रस्थ उड़द का पाक करना चाहिये। उड़द का पाक होते समय चित्रक की जड का कल्क एक कर्ष और आँवले का रस चतुर्थांश (उड़द की अपेक्षा) मिलाना चाहिये। जब उड़द उबल जाय उसे अग्नि से उतार एक सहस्र संपात मन्त्रों के द्वारा आहुति देकर मधु और घृत के साथ शक्ति के अनुसार सेवन करना चाहिए। जहां तक लवण छोड़ना सात्म्य रहे, उसका त्याग करते हुए भोजन करना चाहिये। औषध का पाचन होने पर घीमिश्रित भात, लवणरहित मूंग और आँवले के यूष अथवा दूध के साथ तीन मास खाना चाहिये। इस प्रकार इन दोनों प्रयोगों के सेवन से नेत्र की ज्योति गरुड की भांति होती है, बल बढ़ता है, स्त्री संभोग में शुक्रक्षय नहीं होता तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

भवति चात्र—

पयसा सह सिद्धानि नरः शणफलानि यः।
भक्षयेत् पयसा सार्धं वयस्तस्य न शीर्यते ॥ १३ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सर्वोपघातशमनीयं रसायनचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥

सन के फल का रसायन योग—जैसे कि—दूध में पके हुए सन के फलों को जो मनुष्य दूध के साथ सेवन करता है, उसकी आयु नहीं गिरती, अर्थात् एक समान स्थिर रहती है उसमें परिवर्तन नहीं होता ॥ १३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मेधायुष्कामीयं रसायनचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१-२॥

मेधायुष्कामीय रसायन चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर बुद्धि और आयु प्रदान करने वाले रसायन चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

मेधायुष्कामः श्वेतावल्गुजफलान्यातपपरिशुष्कान्यादाय सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा गुडेन सहालोड्य स्नेहकुम्भे सप्तरात्रं धान्यराशौ निदध्यात्, सप्तरात्रादुद्धृत्य हृतदोषस्य यथाबलं पिण्डं प्रयच्छेदनुदिते सूर्ये, उष्णोदकं चानुपिबेत्; भल्लातकविधानवच्चागारप्रवेशः, जीर्णौषधश्चापराह्णे हिमाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रः शालीनां षष्टिकानां च पयसा शर्करामधुरेणौदनमश्नीयात्; एवं षण्मासानुपयुज्य विगतपाप्मा बलवर्णोपेतः श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। कुष्ठिनं पाण्डुरोगिणमुदरिणं वा कृष्णाया गोमूत्रेणालोड्यार्धपलिकं पिण्डं विगतलौहित्ये सवितरि पाययेत्, पराह्णे चालवणेनामलकयूषेण सर्पिष्मन्तमोदनमश्नीयात्; एवं मासमुपयुज्य स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। एष एवोपयोगश्चित्रकमूलानां रजन्याश्च चित्रकमूले विशेषो द्विपलिक पिण्ड परं प्रमाण, शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥

श्वेत वाकुची के बीजों का रसायन योग—बुद्धि और आयु की कामना वाला व्यक्ति धूप में सुखाये गए श्वेत वाकुची के बीजों का महीन चूर्ण बना कर, उसमें गुड मिलावे और घी के घड़े में सात दिन धान की ढेर में रखे। सात दिन के बाद घड़े को निकाल कर, वमन-विरेचन के द्वारा शुद्ध शरीर वाला व्यक्ति शक्ति के अनुसार सूर्योदय से पूर्व औषध पिण्ड (एक पल) सेवन कर, ऊपर से उष्ण जल का पान करे। भल्लातक-सेवन विधान की भांति गृह में प्रवेश करे। औषध का पाचन होने पर अपराह्ण में शीतल जल से स्नान करके शाली और साठी के चावलों का शर्करा-मिश्रित दूध के साथ भोजन करे। इस प्रकार ६ मास औषध सेवन करके रोगी पाप रहित होकर बल और वर्ण से युक्त सुनी हुई वाणी को धारण करने की शक्ति वाला, स्मृतिशाली, निरोग और सौ वर्ष की आयु वाला होता है। कुष्ठी, पाण्डुरोगी या उदर रोगी को काली वाकुची के बीजों का चूर्ण गोमूत्र में घोलकर आधे पल की मात्रा में उषाकाल में पिलाया जावे। अपराह्ण में लवणरहित आँवले के यूष के साथ घी मिला हुआ भात रोगी भोजन करे। इस प्रकार एक मास औषध सेवन करके रोगी स्मृतिशाली निरोग और सौ वर्ष की आयु वाला होता है। यही उपयोग-विधान चित्रक की जड और हल्दी का है। चित्रकमूल के सेवन में विशेषता इतनी है कि इसकी उत्तम मात्रा २ पल होनी चाहिये अन्य बातें पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागार प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत् पयोऽनुपानं वा, तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत, तिलैर्वा सह भक्षयेन्त्रीन् मासान् पयोऽनुपानं, जीर्णे पयः

सर्पिरोदन इत्याहारः; एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसी श्रुतनिगादी भवति वर्षशतमायुरवाप्नोति। त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनां भक्षयेत्, त्रिरात्रादूर्ध्वं पयः सर्पिरिति चोपयुञ्जीत। विल्वमात्रं पिण्डं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥ ४ ॥

मण्डूकपर्णी-स्वरस रसायन योग—वमन-विरेचनादि के द्वारा दोषों को दूर किया हुआ व्यक्ति, ससर्जन क्रम से पेया, विलेपी आदि का सेवन करके, भल्लातक-सेवन-विधान के अनुसार, गृह में प्रवेश करे और एक सहस्र सपात मंत्रों के द्वारा आहुति देकर, शक्ति के अनुसार, मण्डूकपर्णी-स्वरस दूध में घोलकर अथवा दूध के अनुपान से, पान करे। औषधि के जीर्ण होने पर, दूध के साथ जौ का भात भोजन करे। अथवा तिलों के साथ, दूध के अनुपान से तीन, मास मण्डूकपर्णी का सेवन और औषध जीर्ण होने पर दूध, घी तथा भात भोजन करे। इस प्रकार औषध सेवन करके तेजस्वी, और सुनी हुई वाणी को धारण करने में शक्तिमान् होता है तथा (रोगी) सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। तीन दिन उपवास करके, तीन दिन मण्डूकपर्णी का सेवन करे। तीन दिन के पश्चात् दूध और घी का सेवन करे। अथवा एक पल औषध-पिण्ड दूध में घोल कर पीवे। इस प्रकार बारह दिन औषध सेवन करने वाला व्यक्ति, बुद्धिमान् और सौ वर्ष की आयु वाला होता है ॥ ४ ॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्, क्षीरसात्म्यो वा पयसा भुञ्जीत, एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चसी मेधावी भवति, द्वितीयं सप्तरात्रमुपयुज्य ग्रन्थमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति, तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारितं शतमप्यवधारयति, एवमेकविंशतिरात्रमुपयुञ्जयालक्ष्मीरपक्रामति; मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति, सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठन्ति, श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति ॥ ५ ॥

ब्राह्मीस्वरस रसायन योग—वमन विरेचनादि के द्वारा दोषों को दूर कर तथा संसर्जन क्रम से पेया, विलेपी आदि का सेवन करके (रोगी) गृह में प्रवेश करे और एक सहस्र संपात मन्त्रों से आहुति देकर, शक्ति के अनुसार ब्राह्मी-स्वरस का सेवन करे। औषध जीर्ण होने पर, अपराह्न काल में, लवण-रहित यवागू पीवे, जिसे दूध सात्म्य हो वह दूध के साथ यवागू सेवन करे। इस प्रकार सात दिन औषध सेवन करने से तेजस्वी और मेधावी होता है। दूसरी वार सात दिन औषध सेवन करने से अभिलषित ग्रन्थ की रचना करता है और विस्मृत रचना स्मरण हो जाती है। तीसरी वार सात दिन औषध सेवन करने से दो वार कही गई सौ वाणी भी स्मरण रखता है। इस प्रकार इक्कीस दिन (औषध) सेवन करने से दुःख-दारिद्र्य नष्ट होता है, मूर्तिमान सरस्वती देवी शरीर में प्रवेश करती हैं, सभी श्रुतियाँ स्मरण हो जाती हैं और सुनी हुई वाणी को धारण करने की शक्ति लाभ कर, पांच सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडङ्गतण्डुलानां कुडवं द्वे द्वे पले वचामृतयोर्द्वादश हरीतक्यामलकबिभीतकानि श्लक्ष्णपिष्टान्यावाप्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, पूर्ववच्चात्र परीहारः, एतेनोर्ध्वमधस्तिर्यक् कृमयो निष्क्रामन्ति, अलक्ष्मीरपक्रामति, पुष्करवर्णः स्थिरवयाः श्रुतनिगादी त्रिवर्षशतायुर्भवति, एतदेव कुष्ठविषमज्वरापस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु संशोधनमादिशन्ति ॥ ६ ॥

ब्राह्मीघृत रसायन—ब्राह्मी स्वरस दो प्रस्थ और घृत एक प्रस्थ में विडङ्ग-तण्डुल (विडङ्ग के तुषरहित चावल) एक कुडव, वच और गिलोय दो दो पल तथा त्रिफला बारह पल, महीन पीस कर, सिद्ध करके, सुरक्षित स्थान में रखना चाहिए। इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधि से बलके अनुसार इसकी मात्रा (एक पल) सेवन करनी चाहिए। औषध का पाचन होने पर दूध, घी और भात खाना चाहिए तथा पूर्वोक्त वर्जित पदार्थों का सेवन त्याग देना चाहिए। इसके सेवन से ऊपर-नीचे तथा मध्य शरीर से कृमि निकलते हैं। दारिद्र्य नष्ट होता है। वर्ण कमल की भांति होता है और आयु स्थिर रहती है। श्रवण की हुई वाणी को धारण करने की शक्ति लाभ कर, मनुष्य तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। कुष्ठ, विषम ज्वर, अपस्मार, उन्माद, विष, भूतबाधा, ग्रह तथा अन्य महाव्याधियों में इसी संशोधन का उपदेश किया जाता है ॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य हैमवत्या वचायाः पिण्डमामलकमात्रमभिहुतं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुञ्जीत, ततोऽस्य श्रोत्रं विप्रियते, द्विरभ्यासात् स्मृतिमान् भवति, त्रिरभ्यासाच्छ्रुतमादत्ते, चतुर्द्वादशरात्रमुपयुज्य सर्वं तरति किल्बिषं, तार्क्ष्यदर्शनमुत्पद्यते, शतायुश्च भवति। द्वे द्वे पले इतरस्या वचाया निष्काथ्य पिबेत् पयसा, समानं भोजनं समाः पूर्वेणाशिषश्च ॥ ७ ॥

वचा रसायन योग—जिस व्यक्ति ने वमन-विरेचनादि के द्वारा शरीर की शुद्धि कर ली हो, उसे गृह में प्रविष्ट होकर होम करके, आँवले के बराबर श्वेत वचा का पिण्ड दूध में घोल कर पीना चाहिए। औषध जीर्ण होने पर दूध, घी और भात खाना चाहिए। इस प्रकार बारह दिन प्रयोग करना चाहिए। इस क्रिया से औषध सेवन करने वाले व्यक्ति की श्रवणशक्ति बढती है। दूसरी बार बारह दिन औषध सेवन करने से स्मृतिशील बनता है। तीसरी बार बारह दिन सेवन करने से श्रवण की हुई वाणी को धारण करता है। चौथी बार बारह दिन औषध सेवन करके, सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। गरुड के समान दृष्टि हो जाती है तथा सौ वर्ष की

आयु प्राप्त करता है। दो-दो पल लाल रंग की वच का क्वाथ कर, दूध के साथ सेवन करे। आहारविधि तथा गुण पूर्वोक्त औषधि के समान हैं ॥ ७ ॥

विमर्श.—हेमवत्या वचायाः श्वेतवचाया इत्यर्थः। अभिहुतमित्यत्र कृत्वेत्यध्याहारात् होमं कृत्वेत्यर्थः। इतरस्या वचाया इति अरुणाया इत्यर्थः।

वचाशतपाकं वा सर्पिर्द्रोणमुपयुज्य पञ्चवर्षशतायुर्भवति, गलगण्डापचीश्लीपदस्वरभेदांश्चापहन्तीति ॥८॥

रसायन शतपाक वचा घृत—वच के क्वाथ एवं कल्क के साथ सौ बार पकाये गए घृत की एक द्रोण मात्रा सेवन करने से मनुष्य की आयु पाँच सौ वर्ष की होती है और गलगण्ड, अपची, श्लीपद तथा स्वरभेदादि रोग नष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि आयुष्कामरसायनम्।
मन्त्रौषधसमायुक्तं संवत्सरफलप्रदम् ॥ ९ ॥

इसके आगे मन्त्र तथा औषधियों से युक्त, एक वर्ष में फल प्रदान करने वाले, आयुर्वर्द्धक रसायन का कथन किया जाता है ॥ ९ ॥

विल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान् सहस्रशः।
श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने ॥ १० ॥
सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम्।
त्वचं विहाय विल्वस्य मूलक्वाथं दिने दिने ॥ ११ ॥
प्राश्नीयात् पयसा सार्धं स्नात्वा हुत्वा समाहितः।
दशसाहस्रमायुष्यं स्मृतं युक्तरथं भवेत् ॥ १२ ॥

आयुर्वर्द्धक रसायन—पुष्य नक्षत्र में मनुष्य को (अथर्ववेदोक्त) श्रीसूक्त के द्वारा एक सहस्र आहुति देकर प्रतिदिन प्रातः काल सुवर्ण के साथ बेल का चूर्ण, मधु और घृत मिला कर चाटना चाहिए। इसके सेवन से दारिद्र्य दूर होता है। बेल के जड की छाल हटाकर पकाया गया क्वाथ, बुद्धिमान् व्यक्ति को प्रतिदिन, स्नान और होम करने के पश्चात् दूध के साथ, सेवन करना चाहिए। इस औषध को सेवन करने वाले व्यक्ति की आयु, दश सहस्र वर्ष की होती है तथा वह युक्तरथ (रसायन समर्थ) होता है ॥ १०-१२ ॥

हुत्वा बिसानां क्वाथं तु मधुलाजैश्च संयुतम्।
अमोघं शतसाहस्रं युक्तं युक्तरथं स्मृतम् ॥ १३ ॥

बिसक्वाथ रसायन योग—बिस (मृणाल) का क्वाथ मधु और धान के लावे के साथ होम करके पीना चाहिए। यह अव्यर्थ रसायन है और सौ सहस्र (एक लाख) वर्ष की आयु प्रदान करता है एवं रसायन समर्थ बनाता है ॥ १३ ॥

सुवर्णं पद्मबीजानि मधु लाजा. प्रियङ्गवः।
गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यनाशक रसायन योग—स्वर्ण भस्म, कमलगट्टा, मधु, धान का लावा और प्रियङ्गु को गौ के दूध के साथ सेवन करने से दरिद्रता का निवारण होता है ॥ १४ ॥

नीलोत्पलदलक्वाथो गव्येन पयसा श्रृतः।
ससुवर्णस्तिलैः सार्धमलक्ष्मीनाशनः स्मृतः ॥ १५ ॥

नील कमल का क्वाथ गोदुग्ध के साथ पकाकर सुवर्ण भस्म और तिल के साथ सेवन करने से दारिद्र्य दूर होता है॥

गव्यं पयः सुवर्णं च मधूच्छिष्टं च माक्षिकम्।
पीतं शतसहस्राभिर्हुतं युक्तरथं स्मृतम् ॥ १६ ॥

एक लक्ष आहुतियाँ देकर गोदुग्ध, सुवर्णभस्म, मोम और मधु को एक साथ सेवन करने से मनुष्य रसायन-समर्थ बनता है ॥ १६ ॥

वचाघृतसुवर्णं च विल्वचूर्णमिति त्रयम्।
मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥ १७ ॥

मेधावर्धक वचादि योग—वचा, घृत, सुवर्ण भस्म और बेल के चूर्ण को घृत के साथ सेवन करने से बुद्धि और आयु बढती है, आरोग्य लाभ होता है तथा शरीर की पुष्टि एवं सौभाग्य की वृद्धि होती है ॥ १७ ॥

वासामूलतुलाक्वाथे तैलमावाप्य साधितम्।
हुत्वा सहस्रमश्नीयान्मेध्यमायुष्यमुच्यते ॥ १८ ॥

एक तुला अडूसा की जड़ के क्वाथ में सिद्ध तैल को एक सहस्र आहुतियाँ देकर सेवन करने से बुद्धि तथा आयु की वृद्धि होती है।

यावकांस्तावकान् खादेदभिभूय यवांस्तथा।
पिप्पलीमधुसंयुक्तान् शिक्षा चरणवद्भवेत् ॥ १९ ॥

जौ को कूट कर, उनसे बनाये गए भोज्य पदार्थ का सेवन मधु और पिप्पली के साथ करना चाहिए। इससे शास्त्राभ्यास स्वतः उसी प्रकार होता है जैसे बाल्यावस्था के बाद चलने की शिक्षा दिए बिना भी, बालक स्वयं चलने लगते हैं॥ १९ ॥

विमर्श —यवानाम् एते यावका यवान् तावकान् अभिभूय कुट्टयित्वा तत्कृतान् भक्ष्यान् मधुपिप्पलीसयुक्तान् खादेत्। शिक्षाचरणवद् भवेदिति शिक्षा उपदेशापेक्षाशास्त्राभ्यास सुखेनैव भवति। यथा किल बाल्यानन्तर पादगमन शिक्षा विनैव भवति तथैवैतेन योगेनाभ्यवहृतेन मेधावृद्धे. शास्त्राभ्यास. सुखेनैव भवति। (उल्हण)

मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्।
प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात् ॥ २० ॥

अरिष्टशामक मध्वादियोग—अरिष्ट दशा में पड़ा हुआ रोगी भी मधु, आंवले का चूर्ण और सुवर्ण भस्म इन तीनों को चाट कर प्राणनाश के संशय से मुक्त होता है ॥ २० ॥

शतावरीघृतं सम्यगुपयुक्तं दिने दिने।
सक्षौद्रं ससुवर्णं च नरेन्द्रं स्थापयेद्वशे ॥ २१ ॥

वशीकरण शतावरी घृत योग—प्रति-दिन मधु और सुवर्ण भस्म के साथ शतावरी घृत का भली भांति सेवन राजा को वश में रखता है ॥ २१ ॥

गोचन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिक मधु।
सुवर्णमिति संयोगः पेयः सौभाग्यमिच्छता ॥ २२ ॥

सौभाग्यकारक गोचन्दनादि योग—सौभाग्य की कामना वाले व्यक्ति को गोचन्दना (प्रियङ्गु), मोहनिका (पुत्रजीवक), मुलेठी, भँरि का मधु और सुवर्ण भस्म एक साथ मिला कर पीना चाहिए ॥ २२ ॥

पद्मनीलोत्पलक्वाथे यष्टीमधुकसंयुते।
सर्पिरासादितं गव्यं ससुवर्णं सदा पिबेत् ॥ २३ ॥

पयश्चानुपिबेत् सिद्धं तेषामेव समुद्भवे ।
अलक्ष्मीघ्नं सदाऽऽयुष्यं राज्याय सुभगाय च ॥ २४ ॥

सौभाग्यकारक पद्मादि योग—मुलेठी युक्त लाल और नील कमल के क्वाथ के द्वारा गोघृत का पाक कर सुवर्णभस्म के साथ सदा सेवन करना चाहिए और इसके पश्चात् उपर्युक्त द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध किया गया दूध पीना चाहिए। यह योग दरिद्रनाशक, आयुर्वर्धक तथा राज्य और ऐश्वर्य को देने वाला है ॥ २३-२४ ॥

यत्र नोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने ।
शन्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदा भवेत् ॥ २५ ॥

इन योगों के निर्माण काल में जहाँ मन्त्र का कथन नहीं किया गया है, उन सभी स्थलों पर तीन पदों वाली गायत्री का उच्चारण करना चाहिए ॥ २५ ॥

पाप्मानं नाशयन्त्येता द्युश्चौषधयः श्रियम् ।
कुर्युर्नागबलं चापि मनुष्यममरोपमम् ॥ २६ ॥

ये औषधियाँ, दुःख और दारिद्र्य का नाश कर लक्ष्मी प्रदान करती हैं, हाथी का बल देती हैं तथा मनुष्य को देवताओं के समान बनाती हैं ॥ २६ ॥

सततोद्यमनं वादः परतन्त्रावलोकनम् ।
तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गु(ग)णः ॥ २७ ॥

बुद्धि-मेधावर्धक गण—निरन्तर अध्ययन, वाद (स्वपक्ष-साधनं परपक्षबाधन वादः), दूसरे तन्त्रों (न्याय, वैशेषिक, व्याकरण आदि) का अवलोकन तथा इन विद्याओं का पठन-पाठन एवं आचार्य की सेवा, बुद्धि और स्मृति बढ़ाते हैं॥

आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥ २८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मेधायुष्कामीयं रसायनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

आयुर्वर्धक गण—पूर्व आहार के पचने पर भोजन करना, मल-मूत्रादि के वेगों का न रोकना, ब्रह्मचर्य (इन्द्रियसंयम), अहिंसा और दुस्साहस का परित्याग, आयु की वृद्धि करते हैं॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायामष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन का उपक्रम—इसके अनन्तर स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली व्याधियों की चिकित्सा के लिए रसायन का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥१-२॥

विमर्शः—स्वभावप्रवृत्तानां क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रवृत्तीनां भगवीनां प्रतिषेधनं स्वभावव्याधिप्रतिषेधनम्, तदधिकृत्य कृत रसायनं स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयम् । (डल्हण)

ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसञ्ज्ञितम् ।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

पूर्व काल में ब्रह्मा आदि ने बुढापा और मृत्यु को नष्ट करने के लिए सोम नामक अमृत का सृजन किया था, उसके सेवन का विधान बतलाया जा रहा है ॥ ३ ॥

एक एव खलु भगवान् सोमः स्थानानामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥ ४ ॥

२४ प्रकार के सोम—भगवान् सोम एक ही प्रकार के हैं किन्तु स्थान, नाम, आकृति और वीर्य भेद से उनके चौबीस भेद हो जाते हैं ॥४॥

तद्यथा—
अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः ।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥ ५ ॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि ।
स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥ ६ ॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाकरस्तथा ।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥ ७ ॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते ।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥ ८ ॥

जैसे कि:—(१) अंशुमान् (२) मुञ्जवान् (३) चन्द्रमा (४) रजतप्रभ (५) दूर्वासोम (६) कनीयान् (७) श्वेताक्ष (८) कनकप्रभ (९) प्रतानवान् (१०) तालवृन्त (११) करवीर (१२) अंशवान् (१३) स्वयंप्रभ (१४) महासोम (१५) गरुडाहृत (१६) गायत्र (१७) त्रैष्टुभ (१८) पाङ्क्त (१९) जागत (२०) शाकर (शाङ्कर) (२१) अग्निष्टोम (२२) रैवत (२३) त्रिपदा गायत्री और (२४) उडुपति, इन वेदोक्त शुभ नामों से सोमों का कथन किया जाता है ॥ ५-८ ॥

सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने ।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥ ९ ॥

इन सभी सोमों के सेवन की विधि एक ही है तथा सभी समान फल देने वाले हैं। इनका सेवन विधान बतलाया जाता है ॥ ९ ॥

अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिच्छदोपेतः प्रशस्ते देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे (राजते वा) पात्रेऽञ्जलिमात्रं, ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्, तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥१०॥

सोम-सेवन की विधि—इनमें से किसी एक सोम का सेवन करने की कामना वाला मनुष्य, सभी साधनों तथा

सेवकोंके साथ, उत्तम भूमि पर, तीनगर्भ वाला गृह बनवाकर, वमन, विरेचनादि के द्वारा शरीर की शुद्धि तथा ससर्जन क्रम से पेया, विलेपी आदि का सेवन करके अग्निष्टोमयज्ञ-विधान से लाये गए तथा ऋत्विजों के द्वारा पीडित और अग्निक्षिप्त, अंशुमान् (सोमकन्द) को उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त एवं नक्षत्र में लेकर गृह के भीतरी भाग में स्वस्ति-वाचन मगल पाठ करके सोमकन्द को सोने की सुई से फाड कर सोने के पात्र में एक कुडव प्रमाण दूध (रस) ग्रहण करे। इसके बाद विना स्वाद लिए एक बार में सोम रस पी ले। फिर आचमन करके रस निकाले गए अंशुमान् कन्द को जल में डाल कर यम और नियम के द्वारा मन को एकाग्र तथा मौन धारण करके मित्रों के साथ विहार करे ॥ १० ॥

विमर्शः—अध्वरकल्पेनाहृतम्-अग्निष्टोमविधानेनानीतम्। अभिषुतम्-ऋत्विग्भि. पीडितम्। अभिहुत-वह्नौ प्रक्षिप्तम्। अञ्जलिमात्रं-कुडवप्रमाणम्। उपस्पृश्य-आचमन कृत्वा। शेष-गृहीतक्षीरमंशुमत' कन्दम्। मन.सङ्कल्पादिनिरोधो नियम, पुनरिन्द्रियदेहयो निरोधो यम.। आत्मान चेत'। वाग्यत.-मौनं कृत्वा।

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः।
आसीत तिष्ठेत् क्रामेच्च न कथञ्चन संविशेत् ॥ ११ ॥

रसायन मनुष्य, वायुरहित स्थान में पान करनेवाला सोम का ध्यान करते हुए, पवित्रतापूर्वक बैठे, खडा रहे और चले किन्तु निद्रा न ले ॥ ११ ॥

सायं वा भुक्तवानुपश्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमान. शयीत, तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत् (अशनायितो वा क्षीरं); ततः प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत, तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते, तत' शोणिताक्त कृमिव्यामिश्रं छर्दितवते सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्; ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्यते, स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्विनिर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति, ततः सायं स्नाताय पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्, क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्, ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते, तत' सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत, तत. सायं पूर्ववदेव क्षीर वितरेत्, एवं पञ्चमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत, केवलमुभयकालमस्मै क्षीर वितरेत; ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति, तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेह पयः पाययेत, ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्र पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, ततोऽस्य मांसमाप्याय्यते, त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति, तस्य नवमदिवसात् प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेक'; ततो दशमेऽहन्येतदेव वितरेत्, ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति; एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत, ततस्त्रयोदशात् प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः, एवमाषोडशाद्वर्तेत; ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकप्रकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः, तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत् पञ्चविंशतिरिति; ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा, ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः; स्थिराः स्निग्धा लक्षणसंपन्नाः केशाश्च सूक्ष्मा जायन्ते, त्वक् च नीलोत्पलानसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशा; ऊर्ध्वं च मासात् केशान् वापयेत्, वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत्; ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात् केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्थिराः स्निग्धाः ततस्त्रिरात्रात् प्रथमावसथपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्, ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्यं, यवपिष्टमुद्वर्तनार्थं, सुखोष्ण च पय परिषेकार्थं, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थं, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थं, चन्दनमनुलेपार्थं, आमलकरसविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः, क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थं, एवं दशरात्र; ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत; ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत, किञ्चिदातपपवनान् वा सेवेत, पुनश्चान्तः प्रविशेत्, न चात्मानमादर्शेऽप्सु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्; ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेत्, एवं सर्वेषामुपयोगविकल्पः। विशेषतस्तु वल्लीप्रसन्नक्षुपकादयः सोमा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्भक्षयितव्याः। तेषां तु प्रमाणमर्धचतुष्कमुष्टयः ॥ १२ ॥

अथवा सन्ध्या समय भोजन तथा मंगल पाठ श्रवण कर, कृष्णमृग की मृगछाला विछी हुई कुशा की शय्या पर मित्रों के मध्य में सोवे। प्यास लगने पर अल्प-मात्रा में शीतल जल का पान करे। फिर प्रात'काल उठकर, मगलपाठ श्रवण कर तथा स्वस्ति वाचन करके गौ का स्पर्श करे एवं पूर्ववत् विहरे। सोम का पाचन होने पर वमन होता है। रक्तमिश्रित, कृमियुक्त वमन करने वाले मनुष्य को सन्ध्या समय उष्ण दूध शीतल करके पिलावे। तीसरे दिन कृमियुक्त रेचन होता है। इससे वह मनुष्य अनिष्ट तथा प्रतिग्रह भोजन आदि से मुक्त होकर शुद्ध शरीर वाला होता है। सन्ध्यासमय स्नान किए हुए उस मनुष्य को पूर्ववत् दूध पिलावे और रेशमी चादर विछी हुई शय्या पर सुलावे। चौथे दिन उस व्यक्ति के शरीर में शोथ उत्पन्न होता है एवं सम्पूर्ण अङ्गों से कृमि निकलते हैं। उस दिन शय्या पर धूल विछा कर सोवे और सन्ध्या समय पूर्ववत् दूध पीवे। इसी प्रकार पाँचवें और छठे दिन करे, उसे दोनों समय केवल दूध पिलावे। सातवें दिन त्वचा और मांस से रहित अस्थि वाला होकर वह केवल सोमपान के

कारण श्वास लेता है। उस दिन सुखोष्ण दूध से स्नान करा, तिल, मुलेठी और चन्दन का सम्पूर्ण शरीर में लेप लगावे और दूध पिलावे। आठवें दिन प्रातःकाल में ही दूध से स्नान किए हुए तथा शरीर में चन्दन का लेप लगाये हुए मनुष्य को दूध पिलाकर, धूलि की शय्या से उठाकर, रेशमी चादर बिछी हुई शय्या पर सुलावे। इसके पश्चात् उस मनुष्य का मांस पुष्ट होने लगता है, त्वचा फटने लगती है, दाँत, नख और रोम गिर जाते हैं। नवें दिन उसके शरीर पर अणु तैल की मालिश तथा सोम की छाल के क्वाथ से स्नान करावे। दशवें दिन यही कार्य करे। इससे उसकी त्वचा स्थिर हो जाती है। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें दिन करे। तेरहवें दिन सोम की छाल के क्वाथ से स्नान करावे और इस प्रकार सोलहवें दिन तक करे। सत्रहवें दिन नोकीले, चिकने, हीरा, वैदूर्य और स्फटिक की भाँति चमकीले, सम, स्थिर तथा सहनशील दाँत निकलते हैं। उस दिन से पुराने शालि चावल के द्वारा दूध में बनाई गई यवागू का सेवन पच्चीसवें दिन तक करे। फिर दोनों समय उसे शालि चावल का गला हुआ भात दूध के साथ खिलावे। उस व्यक्ति के मूंगा, वीरबहूटी और बाल सूर्य के समान लाल नख तथा स्थिर, चिकने, उत्तम लक्षणों से युक्त एवं सूक्ष्म केश उत्पन्न होते हैं। त्वचा, नील कमल, तीसी के फूल और वैदूर्य की भाँति सुंदर होती है। एक मास के बाद केशों को कटवावे और केश कटवाकर खस, चन्दन तथा काले तिल के कल्क का लेप शिर पर लगावे अथवा दूध से स्नान करावे। सात दिन के बाद उस व्यक्ति के भौंरे और अञ्जन के समान काले और घुँघराले, स्थिर तथा चिकने केश निकलते हैं। तीन दिन के पश्चात्, प्रथम वासस्थान की चहार दिवारी से निकलकर, एक क्षण रुककर पुनः अन्दर प्रवेश करे। उस मनुष्य के अभ्यङ्ग के लिये बला तैल, उबटन के लिये जौ की पिट्ठी, स्नान के लिए सुखोष्ण दूध, घर्षण के लिए अजकर्ण कषाय (कल्क), स्नान के लिये खसयुक्त कूप जल, लेप के लिये चन्दन, और आँवले के रस से युक्त यूष तथा सूप आदि का प्रयोग करे और दूध एवं मुलेठी के साथ सिद्ध काले तिल का लेप शरीर में लगावे। इस प्रकार दस दिन करे। फिर दूसरे दस दिन दूसरे गर्भ में (घर के दूसरे भाग में) रहे। फिर तीसरे गर्भ में अपने को स्थिर रखते हुए, दस दिन वास करे और कुछ धूप तथा वायु का सेवन कर पुनः घर में प्रवेश करे। रूपवान हो जाने के कारण अपनी छाया शीशा या जल में न देखे। अन्य दश दिनों तक क्रोध आदि का परित्याग करे। इसी प्रकार सभी सोमों के सेवन का क्रम है। विशेष रूप से लता, प्रतान (शाखा वाले) और क्षुप (छोटे पौधे) आदि स्वरूप वाले सोमों का सेवन ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को करना चाहिये। इनकी मात्रा साढ़े चार पल है॥ १२॥

अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिपुणुयात्, चन्द्रमसं राजते; तावुपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति, शेषांस्तु ताम्रमये मृन्मये वा रोहिते वा चर्मणि विततते, शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः। ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति॥ १३॥

अनेकविध सोमों के रस-ग्रहण के लिए पात्रों का निर्देश—अंशुमान सोम को सोने के पात्र में निचोड़ना चाहिये और चन्द्रमस को चाँदी के पात्र में। इन दोनों का सेवन कर मनुष्य, अणिमा, लघिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त कर देव महेश्वर को प्राप्त करता है। शेष अन्य सोमों को ताम्बा या मिट्टी अथवा रोहितमृग के चर्म से निर्मित बड़े पात्र में निचोड़ना चाहिये। शूद्रों को छोड़कर अन्य तीन वर्ण के व्यक्तियों को, सोम का सेवन करना चाहिये। चौथे मास में पूर्णमासी को पवित्र स्थान में ब्राह्मणों की पूजा तथा स्वस्तिवाचन, मंगलपाठ करके गृह से निकल कर पूर्वोक्त विधि के अनुसार चले॥ १३॥

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥ १४॥

सोमसेवन का फल—औषधियों के स्वामी सोम का प्रयोग कर बुद्धिमान् मनुष्य दस सहस्र वर्ष तक नवीन शरीर धारण करता है॥ १४॥

नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च।
तस्यालमायुः क्षपणे समर्थानि भवन्ति हि॥ १५॥

अग्नि, जल, विष, शस्त्र और अस्त्र कोई भी सोम-सेवन करने वाले मनुष्य की आयु नष्ट करने में समर्थ नहीं होते॥

भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रसुतानामनेकधा।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति॥ १६॥

साठ वर्ष की आयु वाले भद्रजाति के तथा अनेक बार जिनके मस्तकों से मद चू चुका है, ऐसे सहस्र हाथियों का बल सोम सेवन करने वाला मनुष्य प्राप्त करता है॥ १६॥

क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः॥ १७॥

क्षीरसागर, इन्द्रपुरी तथा उत्तर कुरु प्रदेश, जहाँ भी वह व्यक्ति जाना चाहे उसकी गति अकुण्ठित रहती है॥ १७॥

कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः॥ १८॥

रूप में कामदेव के समान तथा कान्ति में दूसरे चन्द्रमा की भाँति वह महान् तेजस्वी मनुष्य जीवों के मन को प्रसन्न करता है॥ १८॥

साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत्॥ १९॥

वह मनुष्य समस्त वेदों तथा उनके अङ्ग एवं उपाङ्गों के तत्त्व को जानता है, उसके सकल्प अव्यर्थ होते हैं और वह देवताओं की भाँति समस्त संसार में विचरता है॥ १९॥

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥२०॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः॥ २१॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥ २२॥

सोमों के सामान्य लक्षण—सभी सोमों में पन्द्रह पत्ते होते हैं और वे शुक्लपक्ष में निकलते तथा कृष्णपक्ष में झड जाते हैं। शुक्लपक्ष में प्रतिदिन सोम का एक एक पत्ता उत्पन्न होता है तथा पूर्णमासी के दिन वे पूरे पन्द्रह हो जाते हैं। पुनः कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता झडने लगता है और पक्ष की समाप्ति पर (अमावस्या को) केवल लता शेष रह जाती है॥

अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवांल्लशुनच्छदः॥ २३॥

विविध सोमों के विशिष्ट लक्षण—अंशुमान सोम घृत की गन्ध वाला तथा रजतप्रभ कन्दयुक्त होता है। मुञ्जवान् सोम में केले के समान कन्द और लशुन की भाँति पत्ते होते हैं॥

चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ॥ २४॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ नौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ।
तथाऽन्ये मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते॥२५॥
सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः॥२६॥

चन्द्रमा और कनकप्रभ सोम सदा जल में रहते हैं। गरुडाहृत और श्वेताक्ष सर्प की केंचुल के समान तथा पाण्डुर (धूमर)वर्ण के होते हैं एवं वृक्ष के अग्रभाग में लटके रहते हैं। शेष अन्य सोम मण्डलाकार चित्रों से चित्रित की भांति प्रतीत होते हैं। सभी सोम पन्द्रह पत्ते वाले होते हैं, उनके कन्द में दूध तथा लतायें होती हैं एवं पत्ते नाना प्रकार के होते हैं॥

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा॥ २७॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः॥ २८॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः।
हृष्टवन् प्लवते तत्र चन्द्रमा सोमसत्तमः॥ २९॥

सोमों की उत्पत्ति के स्थानों का निर्देश—हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, पारियात्र, विन्ध्य, देवसुन्द तथा ह्रद (बड़े तालाब) में सोम पाये जाते हैं। वितस्ता नदी के उत्तर में, बहुत बडे जो पाँच पर्वत हैं, उनके नीचे, मध्य में, सिन्धु नामक महानद है, उसमें, सोमों में श्रेष्ठ चन्द्रमा, हृष्ट (जलकुम्भी) की भाँति तैरता रहता है॥

तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्॥३०॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्करस्तथा।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः॥३१॥

मुञ्जवान् और अंशुमान् भी चन्द्रमा नामक सोम के समीप रहते हैं। काश्मीर में क्षुद्रक मानस नामक दिव्य सरोवर है, वहाँ गायत्र, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत तथा शाक्कर एवं अन्य दूसरे चन्द्रमा के समान सुंदर सोम भी हैं॥३०-३१॥

यैश्चात्र मन्दभाग्यैस्ते भिषजश्चापमानिताः।
न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा॥३२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

भाग्यहीन, वैद्य का अपमान करने वाले, अधार्मिक और कृतघ्न तथा औषधियों एवं ब्राह्मणों से द्वेष रखने वाले मनुष्य उन्हें देख नहीं पाते॥ ३२॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायामेकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निवृत्तसन्तापीयं रसायनं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

निवृत्तसंतापीय रसायनाध्याय का उपक्रम—इसके अनन्तर, सन्ताप को दूर करने वाले, रसायन चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा॥ १-२॥

यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः।
तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः॥ ३॥

जिस प्रकार सन्ताप (दुःख) से मुक्त देवता लोग स्वर्ग में प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार इन औषधियों को प्राप्त कर मनुष्य पृथ्वी पर हर्षित होते हैं॥ ३॥

अथ खलु सप्त पुरुषा रसायनं नोपयुञ्जीरन्; तद्यथा—अनात्मवानलसो दरिद्रः प्रमादी व्यसनी पापकृद् भेषजापमानी चेति। सप्तभिरेव कारणैर्न संपद्यते; तद्यथा—अज्ञानादनारम्भादस्थिरचित्तत्वादारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्मादौषधालाभाच्चेति॥ ४॥

रसायन सेवन के अयोग्य पुरुष—सात प्रकार के मनुष्यों को रसायन का सेवन नहीं करना चाहिए, जैसे-अजितेन्द्रिय, आलसी, दरिद्र, प्रमादी, व्यसनी, पापकर्म में लिप्त और औषधियों का अपमान करने वाले। सात कारणों से ही, रसायन सेवन का फल प्राप्त नहीं होता—१ अज्ञान २ औषध का आरम्भ न करना ३ मन की चञ्चलता ४ दरिद्रता ५ पराधीनता, ६ अधर्म तथा ७ औषध का न मिलना॥ ४॥

अथौषधीर्व्याख्यास्यामः—तत्राजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणुः; अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, चेत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः। तासां सोमवत् क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहिताः। तासामागारेऽभिहुतानां या क्षीरवत्यस्तासां क्षीरकुडवं सकृदेवोपयुञ्जीत, यास्त्वक्षीरा मूलवत्यस्तासां प्रदेशिनीप्रमाणानि त्रीणि

काण्डानि प्रमाणमुपयोगे, श्वेतकापोती, समूलपत्रा भक्षयितव्या, गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टि खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्राव्याभिधारितमभिहुतं च सकृदेवोपयुञ्जीत, चक्रकायाः पयः सकृदेव, ब्रह्मसुवर्चला सप्तरात्रमुपयोक्तव्या भक्ष्यकल्पेन, शेषाणां पञ्च पञ्च पलानि क्षीराढकेकथितानि प्रस्थेऽवशिष्टेऽवतार्य परिस्राव्य सकृदेवोपयुञ्जीत। सोमवदाहारविहारौ व्याख्यातौ, केवलं नवनीतमभ्यङ्गार्थे, शेषं सोमवदानिर्गमादिति ॥ ५ ॥

सोमसदृश अन्य रसायन ओषधियाँ—इसके आगे औषधियों का वर्णन किया जाता है—अजगरी, श्वेत कापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी और महावेगवती, इन अठारह औषधियों को, सोम के समान शक्तिशाली कहा गया है। इनका सेवन-विधान तथा गुण और प्रशसा भी, सोम की भांति शास्त्र में वर्णित है। होम किए हुए गृह में (प्रवेश करके) इनमें से जो दूध वाले हों, उनका एक कुडव (४ पल) दूध, एक वार में पी ले। जो दूधरहित मूल वाली हों, उनकी तर्जनी अंगुलि के तुल्य, तीन टुकड़ों की मात्रा का उपयोग करे। श्वेत कापोती, मूल और पत्ते के साथ सेवन करनी चाहिए। गोनसी, अजगरी और कृष्ण कापोती को, नख सहित एक मुट्ठी प्रमाण, छोटे छोटे टुकडे करके, दूध में पकाकर तथा छान कर, थोडा घी मिला, होम करके, एक वार में सेवव करे। चक्रका का दूध एक वार में पीवे। ब्रह्मसुवर्चला का सेवन भक्ष्यकल्प (मालपुआ, पूडी, कचौडी आदि) विधान से सात दिन करे। शेष अन्य सोमों को पांच-पांच पल लेकर, एक आढ़क दूध में पकावे और एक प्रस्थ दूध अवशिष्ट रहने पर अग्नि से उतार, छान कर, एक वार में सेवन करे। आहार-विहार का विधान, सोम की तरह समझे और अभ्यङ्ग में केवल मक्खन का प्रयोग करे। शेष सभी विधान, गृह से वाहर निकलने तक, सोम के तुल्य है ॥ ५ ॥

भवन्ति चात्र—

युवानं सिंहविक्रान्तं कान्तं श्रुतनिगादिनम्।
कुर्युरेताः क्रमेणैव द्विसहस्रायुषं नरम् ॥ ६ ॥

रासायनिक ओषधियों के सेवन का फल—जैसे कि:—ये औषधियाँ, क्रमानुसार मनुष्य को युवा, सिंह के समान वलशाली, सुन्दर, स्मृति शील तथा दो सहस्र वर्ष की आयु वाला वनाती हैं ॥ ६ ॥

अङ्गदी कुण्डली मौली दिव्यस्रक्चन्दनाम्बरः।
चरत्यमोघसंकल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे ॥ ७ ॥

वाजूवन्द, कुण्डल, मुकुट, दिव्यमाला, चन्दन और वस्त्र धारण करके तथा सफल मनोरथ होकर, मनुष्य, वादलों के लिए भी दुर्गम, आकाश में विचरता है ॥ ७ ॥

व्रजन्ति पक्षिणो येन जललम्बाश्च तोयदाः।
गतिः सौषधिसिद्धस्य सोमसिद्धे गतिः परा ॥ ८ ॥

पक्षियों तथा जल से भरे हुए वादलों की भांति औषधिसिद्ध मनुष्य की गति होती है। सोमसिद्ध पुरुष की गति तो कुछ दूसरी ही है अर्थात् वह इनसे उत्कृष्ट होती है ॥ ८ ॥

अथ वक्ष्यामि विज्ञानमौषधीनां पृथक् पृथक्।
मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ॥ ९ ॥
पञ्चारत्निप्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः।
निष्पत्रा कनकाभासा मूले व्यङ्गुलसंमिता ॥ १० ॥
सर्पाकारा लोहितान्ता श्वेतकापोतिरुच्यते।
द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमण्डलाम् ॥ ११ ॥
व्यरत्निमात्रां जानीयाद्गोनसीं गोनसाकृतिम्।
सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम् ॥ १२ ॥
एवंरूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत्।
कृष्णसर्पस्वरूपेण वाराही कन्दसंभवा ॥ १३ ॥
एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा।
छत्रातिच्छत्रके विद्याद्वृक्षोन्ने कन्दसंभवे ॥ १४ ॥
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते।
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥ १५ ॥
कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी।
करेणुः सुबहुक्षीरा कन्देन गजरूपिणी ॥ १६ ॥
हस्तिकर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी।
अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ॥ १७ ॥
अजा महौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा।
श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्या समांक्षुपाम् ॥ १८ ॥
चक्रकामोषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम्।
मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः ॥ १९ ॥
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदाऽऽदित्यानुवर्तिनी।
कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति ॥ २० ॥
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला।
अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यर्धाङ्गुलसंमितैः ॥ २१ ॥
पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः।
श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ॥ २२ ॥
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा।
गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसंभवे ॥ २३ ॥
हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः।
अथवा शङ्खपुष्प्या च समाना सर्वरूपतः ॥ २४ ॥

रासायनिक विविध औषधियों के लक्षण—इसके आगे, औषधियों की पहचान, पृथक् पृथक् वतलाई जाती है। अजगरी, गोलाकार, धूसर वर्ण के चित्रों से चित्रित, सर्प के समान, पाँच पत्तों वाली तथा पाँच अरत्नि (वालिश्त) प्रमाण की होती है। श्वेत कापोती, पत्ररहित, स्वर्ण के समान आभावाली, मूल में दो अंगुल लम्वी, सर्पाकार तथा लाल किनारे वाली होती है। गोनसी, दो पत्ते वाली, लाल जड़ तथा काले मण्डलों से युक्त, दो अरत्नि लम्वी और गौ के खुर के समान आकृति वाली होती है।

कृष्ण कापोती, दूध युक्त, रोमवाली, कोमल, गन्ने के रस के समान रस वाली और उसी रूप-रस की होती है। वाराही स्वरूप में काले सर्प के समान, कन्द से उत्पन्न होने वाली, एक पत्ते वाली, महान् शक्ति सम्पन्न और टूटे हुए अञ्जन की भांति, चमक से युक्त होती है। छत्रा और अतिछत्रा, राक्षसों का नाश करने वाली, कन्द से उत्पन्न होने वाली, चुदापा और मृत्यु को दूर करने वाली तथा श्वेत कापोती के समान आकृति वाली होती है। कन्या नामक महौषधि, मोरपंख के समान सुन्दर बारह पत्तों से युक्त, कन्द से उत्पन्न होने वाली तथा सुनहले रंग के दूध वाली होती है। करेणु अधिक दूध वाली, हाथी के समान कन्दवाली तथा हस्तिकर्णपलाश के समान पत्तों वाली एवं दो पत्तों से युक्त होती है। अजा नामक महौषधि, बकरी के स्तन की भांति कन्द वाली, दूध से युक्त, क्षुप (छोटे पौधे) के आकार वाली तथा शंख, कुन्द (पुष्प) और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होती है। चक्रका औषधि, श्वेत, विविध वर्ण के पुष्पों से युक्त, काकादनी (गुञ्जा) के पौधे के समान और जरा एवं मृत्यु को दूर करने वाली होती है। आदित्यपर्णी, मूलवाली, सूर्य की लाल किरणों के समान सुन्दर, कोमल, पाँच पत्तों से युक्त तथा सदा सूर्य का अनुगमन करने वाली होती है। देवी ब्रह्मसुवर्चला, सोने के समान वर्ण वाली, जल के किनारे फैलने वाली, दूध युक्त और कमलिनी के समान होती है। श्रावणी का पौधा एक बालिश्त लम्बा, पत्ते दो अंगुल लम्बे, फूल नीलोफर की आकृति के और फल अञ्जन के समान होते हैं। महाश्रावणी, सोने के समान चमकीली, दूध से युक्त, धूसर वर्ण वाली और महाश्रावणी के लक्षणों से युक्त होती है। गोलोमी और अजलोमी, रोमवाली, कन्द से उत्पन्न होने वाली, हंसपदी के समान कटे हुए तथा जड़ों से निकलने वाले पत्तों वाली अथवा सम्पूर्ण रूप से शंखपुष्पी के समान होती है ॥ ९-२४ ॥

वेगेन महताऽऽविष्टा सर्पनिर्मोकसन्निभा।
एषा वेगवती नाम जायते ह्यम्बुदक्षये ॥ २५ ॥

वेगवती, वेग से बढ़ने वाली, साँप की केंचुल के समान आकृति वाली और वर्षा ऋतु के अन्त में (शरद् ऋतु में) उत्पन्न होती है ॥ २५ ॥

सप्तादौ सर्परूपिण्यो ह्यौषध्यो याः प्रकीर्तिताः।
तासामुद्धरणं कार्यं मन्त्रेणानेन सर्वदा ॥ २६ ॥

रासायनिक ओषधियों के उखाड़ने का मन्त्र—प्रारम्भ में, साप की आकृतिवाली जिन सात औषधियों का वर्णन किया गया है, उन्हें इस अधोलिखित मन्त्र के साथ, सदा उखाड़ना चाहिए ॥ २६ ॥

महेन्द्रराम कृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥ २७ ॥

महेन्द्र, राम, कृष्ण, ब्राह्मण और गौ के तप और तेज से, कल्याण करने के लिए, शान्त रहो ॥ २७ ॥

मन्त्रेणानेन मतिमान् सर्वा एवाभिमन्त्रयेत्।
अश्रद्दधानैरलसैः कृतघ्नैः पापकर्मभिः ॥ २८ ॥
नैवासादयितुं शक्याः सोमाः सोमसमास्तथा।

इस मन्त्र के द्वारा बुद्धिमान् वैद्य, सभी औषधियों को अभिमन्त्रित करे। श्रद्धारहित, आलसी, कृतघ्न और पापकर्म में रत मनुष्य, चन्द्रमा के तुल्य सोमों को, प्राप्त नहीं कर सकते ॥ २८ ॥

पीतावशेषममृतं देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः ॥ २९ ॥
निहितं सोमवीर्यासु सोमे चाप्योषधीपतौ।

पूर्वोक्त ओषधियों के अमृत समान गुणकारी होने में हेतु-ब्रह्मा के पश्चाद्गामी देवताओं ने, पीने से बचे हुए अमृत को, सोम के समान वीर्य वाली औषधियों में तथा औषधियों के स्वामी चन्द्रमा में रख दिया ॥ २९ ॥

देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे ॥ ३० ॥
दृश्यते च जलान्तेषु मेध्या ब्रह्मसुवर्चला।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हिमसंक्षये ॥ ३१ ॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥ ३२ ॥
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा।
गोलोमी चाजलोमी च महती श्रावणी तथा ॥ ३३ ॥
वसन्ते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते।
कौशिकीं सरितं तीर्त्वा सञ्जयन्त्यास्तु पूर्वतः ॥ ३४ ॥
क्षितिप्रदेशो वल्मीकैराचितो योजनत्रयम्।
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्धसु ॥ ३५ ॥
मलये नलसेतौ च वेगवत्योषधी ध्रुवा।
कार्तिक्यां पौर्णमास्यां च भक्षयेत्तामुपोषितः ॥ ३६ ॥
सोमवच्चात्र वर्तेत फलं तावच्च कीर्तितम्।
सर्वा विचेयास्त्वोषध्यः सोमाश्चाप्यर्बुदे गिरौ ॥ ३७ ॥
स शृङ्गैर्देवचरितैरम्बुदानीकभेदिभिः।
व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितैः ॥ ३८ ॥
गुहाभिर्भीमरूपाभिः सिंहोन्नादितकुक्षिभिः ॥
गजालोडिततोयाभिरापगाभिः समन्ततः।
विविधैर्धातुभिश्चित्रैः सर्वत्रैवोपशोभितः ॥ ३९ ॥
नदीषु शैलेषु सरःसु चापि
पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः
सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते ॥ ४० ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निवृत्ततंत्रीयं रसायन नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त ओषधियों के उत्पत्ति-प्रदेश—जलाशयों में श्रेष्ठ देवसुन्द तथा सिन्धु महानदी में एवं जल के किनारे, मेध्या ब्रह्मसुवर्चला दीखती है। इसी प्रकार आदित्यपर्णी वसन्त ऋतु में दिखलाई पड़ती है। अजगरी सदा तथा गोनसी वर्षा ऋतु में दृष्टिगत होती है। काश्मीर में क्षुद्रक मानस नामक एक दिव्य जलाशय है, वहाँ करेणु, कन्या, छत्रा, अतिछत्रा, गोलोमी, अजलोमी, श्रावणी और महाश्रावणी उत्पन्न होती

हैं। वाराही और गोनसी वसन्त ऋतु में दिखलाई पड़ती है। कौशिकी नदी को पार करके, सप्तपत्नी के पूर्व में, वल्मीक से भरा हुआ तीन योजन का भूभाग है, वहाँ श्वेतकापोती मलय पर्वत तथा नल सेतु पर निश्चय प्राप्त होती है। इसे कार्तिक मास की पूर्णिमा को उपवास करके सेवन करना चाहिए। इसमें सोम सेवन की भांति आहार और आचार तथा गुण बतलाया गया है। सभी औषधियाँ तथा सोम अर्बुदगिरि से एकत्रित करनी चाहिए। उस पर्वत की चोटियों पर देवता विचरते हैं, शिखर मेघघटा का भेदन करते हैं, (ऊँचाई के कारण) वह प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों से भरा हुआ है तथा वहाँ सिद्ध ऋषि और देवताओं का वास है। वह भयङ्कर गुहाओं तथा सिंहगर्जना से प्रतिध्वनित खोहों से व्याप्त तथा हाथियों के द्वारा आलोडित नदियों के जल से चतुर्दिक् घिरा हुआ है और नाना प्रकार के धातु एवं चित्र विचित्र वस्तुओं से सभी स्थानों में सुशोभित है। नदी, पर्वत, जलाशय, पवित्रवन, आश्रम एवं सभी स्थानों में इन सम्पूर्ण औषधियों को ढूँढना चाहिए क्योंकि भूमि सभी स्थलों पर सम्पत्ति धारण करती है॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां त्रिंशत्तमोऽध्यायः॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

स्नेहोपयौगिक चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर स्नेहप्रयोग चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा॥

स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोवस्त्युत्तरवस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः॥ ३॥

स्नेह की प्रशंसा—मनुष्य शरीर में स्नेह ही सार वस्तु है, उसका जीवन (बल) स्नेह पर आधारित रहता है तथा उसकी रक्षा भी स्नेह के द्वारा ही होती है। स्नेह का प्रयोग पान, अनुवासन, मस्तिष्क (शिरोविरेचन), शिरोवस्ति, उत्तरवस्ति, नस्य, कर्णपूरण (कान में तेल डालना), गात्राभ्यङ्ग (शरीर की मालिश) और भोजन में करना चाहिये॥

तत्र द्विर्योनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः स्नेहगुणाश्च। तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति॥ ४॥

स्नेह के भेद एवं उनमें गोघृत तथा तिल तेल की प्रधानता—स्नेह के दो उत्पत्तिस्थान (स्थावर और जगम) तथा चार भेद (घृत, तैल, वसा, मज्जा) होते हैं। जगम स्नेहों (घृत, वसा, मज्जा) में गोघृत प्रधान होता है और स्थावरों में तिल तैल॥ ४॥

अत ऊर्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाप्रधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः—तत्र तिल्वकैरण्डकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकम्पिल्लकशम्पाकनीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति, जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति, विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुसिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरो विरेचयन्ति, करञ्जपूतीककृतमालमातुलुङ्गेङ्गुदीकिराततिक्तकस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते, तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिषु, त्रपुसेर्वारुककर्कारुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहा मूत्रसङ्गेषु, कपोतवङ्कावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु, कुसुम्भसर्षपपातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहेषु, तालनारिकेलपनसमोचप्रियालबिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ, विभीतकभल्लातकपिण्डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे, श्रवणकङ्कटकुटुण्टुकस्नेहाः पाण्डूकरणे, सरलपीतदारुशिशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषु, सर्व एव स्नेहा वातमूपपन्नन्ति, तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः॥ ५॥

विविध स्थावर स्नेहों के गुण तथा उपयोग—इसके आगे प्रयोजन और प्रधानता की दृष्टि से, श्रेष्ठ स्थावर स्नेहों का वर्णन किया जाता है—इनमें तिल्वक (लोध्र), एरण्ड, कोशाम्र, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (सेहुण्ड भेद), शङ्खिनी (यवतिक्ता), पलाश, विषाणिका (मेढासिंगी), गवाक्षी (इन्द्रायण), कम्पिल्लक (कबीला), शम्पाक (अमलतास) और नीलिनी (नील) से उत्पन्न स्नेह विरेचन करते हैं। जीमूतक (देवदाली), कुटज, कृतवेधन (कडुई तरोई), इक्ष्वाकु (कडुई तुम्बी), धामार्गव (नेनुआ) और मैनफल से उत्पन्न स्नेह वमन कराते हैं। विडङ्ग, खरमञ्जरी (अपामार्ग), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन), सूर्यवल्ली (हुलहुल), पीलु, सिद्धार्थक (सरसों) और ज्योतिष्मती (मालकांगनी) से उत्पन्न स्नेह, शिरोविरेचन के लिए उपयुक्त होते हैं। करञ्ज, पूतिकरञ्ज, कृतमाल (अमलतास), मातुलुङ्ग (बिजौरा), इङ्गुदी और चिरायता का स्नेह, दुष्टव्रणों में प्रयुक्त होता है। तुवरक, कैथ, कबीला, भिलावा और परवल के स्नेह का प्रयोग, महाव्याधियों में किया जाता है। त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कर्कारुक (कूष्माण्डी), तुम्बी (कडुतुम्बी) और कूष्माण्ड के स्नेह का प्रयोग, मूत्रावरोध में किया जाता है। कपोतवङ्का (ब्राह्मी), अवल्गुज (वाकुची) और हरीतकी का स्नेह, शर्करा और अश्मरी में प्रयुक्त होता है। कुसुम्भ (बर्रे का तेल), सरसों, तीसी, नीम, अतिमुक्तक (माधवीलता) भाण्डी (मजीठ), कटुतुम्बी और कटभी (मालकांगनी) का स्नेह, प्रमेहों में प्रयोग में लाया जाता है। ताल (ताड़), नारियल, कटहल, मोच (केला), प्रियाल (चिरौंजी), बेल, महुआ, श्लेष्मातक (लिसोड़ा) और आम्रातक (आमड़ा) फलों के स्नेह, पित्तयुक्त वात में प्रयोग किये जाते हैं। बहेड़ा, भिलावा, और पिण्डितक (मैनफल) का स्नेह कृष्णकर्म (त्वचा का वर्ण काला करना) में प्रयुक्त होता है। श्रवण (तापसवृक्ष, इगुदी), कंगुक (प्रियगु) और दुण्टुक (अरलू) का स्नेह पाण्डुकर्म में प्रयुक्त होता है। चीड़,

देवदार, शीशम और अगर के सार भाग का स्नेह बद्दु, कुष्ठ एवं किटिभ रोग में व्यवहृत होता है। सभी स्नेह वातनाशक होते हैं। तेल के गुणों का संक्षेप में वर्णन किया गया है ॥५॥

अत ऊर्ध्वं कषायस्नेहपाककममुपदेक्ष्यामः। तत्र केचिदाहुः—त्वक्पत्रफलमूलादीनां भागस्तच्चतुर्गुणं जल चतुर्भागावशेषं निष्काथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहप्रसृतेषु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्राक्षसमान् भेषजपिण्डानित्येष स्नेहपाककल्पः। एतत्तु न सम्यक्; कस्मात्? आगमासिद्धत्वात् ॥६॥

क्वाथ तथा स्नेह के पाक-क्रम में एकदेशीय मत—इसके आगे कषाय (क्वाथ) और स्नेहपाक विधि का कथन किया जाता है। कुछ आचार्यों का मत है कि वनस्पतियों की छाल, पत्ता, फूल और मूल एक भाग तथा उससे चौगुना जल डाल कर क्वाथ करना चाहिये और चतुर्थांश जल अवशेष रहने पर उतार लेना चाहिये, यह कषायपाक विधि है। स्नेहपाक के लिए ६ अञ्जली स्नेह में चौगुना द्रव-पदार्थ (जल या किसी द्रव्य का स्वरस-क्वाथ) मिलाना चाहिये और चार अक्ष (बहेड़े का फल) की मात्रा में कल्क द्रव्य डालना चाहिये यह स्नेह पाक विधि है। किन्तु उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र से इस वचन की पुष्टि नहीं होती ॥ ६ ॥

विमर्शः—प्रसृतोऽत्र संयुक्तपञ्चाङ्गुलिरीषदविस्तृतपाणिरेव, न तु पुनः पलद्वयम्। चतुरश्राक्षसमान् भेषजकल्कपिण्डान् विभीतकफलमानान् पिष्टभेषजकल्कान्।

पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः—तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः; ते षोडश सुवर्णम्; अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः; ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः; शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति ॥ ७ ॥

पल-कुडवादिमान परिभाषा—इसलिये पल, कुडव आदि की मान परिभाषा का वर्णन किया जाता है—मध्यम श्रेणी की बारह उड़दों का एक सुवर्णमाष होता है और सोलह सुवर्ण माष का एक सुवर्ण (कर्ष)। अथवा मध्यम श्रेणी की उन्नीस निष्पावों (सेम के बीज) का एक धरण होता है और अढ़ाई धरण का एक कर्ष। इसके आगे चौगुना के क्रम से बढ़ते हुए (जैसे चार कर्ष का एक पल और चार पल का एक कुडव) पल, कुडव, प्रस्थ, आढ़क और द्रोण बनते हैं। सौ पल की एक तुला होती है और बीस तुला का एक भार। यह मान-परिभाषा सूखे हुए द्रव्यों के लिये है, गीली औषधियों और द्रव पदार्थ इसी मान में दुगना लेना चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्शः—मध्यमा मध्यमप्रमाणा, तेन नातिस्थूला नातिसूक्ष्माश्च ग्राह्याः। सुवर्णं कर्ष इत्यर्थः। अर्द्धतृतीया येषां तान्यर्द्धतृतीयानि सार्द्धद्वयमित्यर्थः। ततः कर्षाच्चतुर्गुणवर्द्धमानात् पलम्, एवं पलात् कुडवः, कुडवात् प्रस्थः, प्रस्थादाढकम्, आढकाद् द्रोणः।

तत्रान्यतमपरिमाणसंमितां यथायोगं त्वक्पत्रफलमूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्वाऽवकुट्याष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाऽभिषिच्य स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं काथयित्वाऽपहरेदित्येष कषायपाककल्पः। स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः, तदैकध्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः। अथवा तत्रोदकद्रोणे त्वक्पत्रफलमूलादीनां तुलामावाप्य चतुर्भागावशिष्टं निष्काथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रवमावाप्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः ॥ ८ ॥

स्नेहपाक कल्प—इनमें से किसी एक मान के अनुसार, योग में प्रयुक्त किये जाने वाले द्रव्यों की त्वचा (छाल), पत्र, फल और मूल आदि को धूप में सुखाकर, उनमें से काटने योग्य द्रव्यों के छोटे छोटे टुकड़े काट लेना चाहिए तथा तोड़ने योग्य द्रव्यों को छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड लेना चाहिये और सबको कूटकर आठगुने या सोलहगुने जल में मिगोकर क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश क्वाथ अवशिष्ट रहने पर उसे अग्नि पर से उतार लेना चाहिये; यह कषायपाक विधि है। स्नेहपाक में स्नेह से चौगुना द्रव पदार्थ, और स्नेह का चतुर्थांश औषधियों का पिसा हुआ कल्क एक साथ मिलाकर पाक करना चाहिये, यह स्नेहपाक विधि है। अथवा एक द्रोण जल में छाल, पत्ता, फल और जड आदि की एक तुला डालकर क्वाथ करना चाहिये और चतुर्थांश जल अवशेष रहने पर उतार लेना चाहिए, यह कषायपाक विधि है। एक कुडव स्नेह में, एक पल औषधि का पिसा हुआ कल्क तथा चौगुना द्रव पदार्थ डालकर पाक करना चाहिये, यह स्नेहपाक विधि है ॥ ८ ॥

भवतश्चात्र—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम्।
तत्रायं विधिरास्येयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु ॥ ९ ॥
अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्।
कल्ककाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

जैसे कि—जिस स्थान पर स्नेह, औषध और जल का परिमाण न लिखा गया हो वहाँ इस विधि का व्यवहार करना चाहिए और जहाँ विधि का निर्देश हो वहाँ उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। जहाँ द्रव पदार्थ का नाम निर्देश न किया गया हो वहाँ जल लेना चाहिये और कल्क तथा क्वाथ्य द्रव्य का निर्देश न होने पर, जिस वर्ग की औषधियों के द्वारा स्नेहपाक करना हो, उसी वर्ग के द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ९-१० ॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपाककममुपदेक्ष्यामः। स तु त्रिविधः; तद्यथा—मृदुः, मध्यमः, खर इति। तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषज स मृदुरिति, मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः, कृष्णमवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषज स खर ऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति, तं पुनः साधु साधयेत्। तत्र

पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति ॥ ११ ॥

त्रिविध स्नेहपाक के लक्षण—इसके आगे स्नेहपाक विधि का वर्णन किया जाता है। स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है; जैसे—मृदु, मध्यम और खर। जिस स्नेह पाक में स्नेह और औषध (कल्क द्रव्य) पृथक् पृथक् दृष्टिगत हों उसे मृदुपाक कहते हैं; जब कल्क द्रव्य मोम के समान विशद (पिच्छिलता रहित) और अविलेपी (अंगुलियों में न चिपकने वाला) हो तो वह मध्यम पाक कहलाता है और जब कल्क द्रव्य काला, अवसन्न (भूनने से कुछ टूटा हुआ), ईषद् विशद (कुछ पिच्छिलतारहित) तथा चिकना हो जाय तो उसे खर पाक कहते हैं। इससे अधिक पाक करने पर स्नेह जल जाता है, उसे फिर से भलीभांति पकाना चाहिये। पान और भोजन में मृदु, नस्य और अभ्यङ्ग में मध्यम तथा वस्ति और कर्णपूरण में खर पाक स्नेह का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११ ॥

भवतश्चात्र—

शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपशमे तथा।
गन्धवर्णरसादीनां संपत्तौ सिद्धिमादिशेत् ॥ १२ ॥
घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात् कुशलो भिषक्।
फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ॥१३॥

स्नेहसिद्धि के लक्षण—जैसे कि— जब घृतपाक के समय उठने वाला शब्द बन्द हो जाय, फेन शान्त रहे तथा गन्ध, वर्ण और रस आदि की उत्पत्ति हो, तो इस प्रकार पके हुए घृत को, कुशल वैद्य, सिद्ध समझे। तैलपाक में, फेन की अधिकता होने तथा अन्य लक्षण घृत के समान उपस्थित होने पर, उसे सिद्ध समझना चाहिए ॥ १२-१३ ॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममुपदेक्ष्यामः—अथ खलु लघुकोष्ठायातुराय कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रनष्टकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत् ॥ १४ ॥

स्नेहपान विधि—इसके आगे स्नेहपान विधि का वर्णन किया जाता है—स्वस्तिवाचन और मगलपाठ किए हुए लघु कोष्ठ वाले आतुर को, (लघुकोष्ठत्वं जीर्णाहारप्रदर्शनार्थम्) उदयाचल पर्वत के शिखर पर, तपे हुए सुवर्णसमूह के समान पीले और लाल वर्ण के सूर्य के आगमन पर (प्रातःकाल) व्याधि, दोष और आतुर के हीन, मध्य और उत्तम बल की परीक्षा करके, तैल अथवा घृत की मात्रा पीने के लिए देना चाहिये। स्नेहपान करते ही उष्ण जल से आचमन कर तथा पैर में जूता धारण करके रोगी को घूमना चाहिये ॥ १४ ॥

रूक्षक्षतविपार्तानां वातपित्तविकारिणाम्।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥ १५ ॥

घृतपान के योग्य मनुष्य—रूक्ष, क्षत एवं विष से पीड़ित, वात और पित्तजन्य व्याधियों से युक्त तथा हीन बुद्धि और स्मृति वाले आतुरों के लिए, घृतपान उत्तम होता है ॥ १५ ॥

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये ॥ १६ ॥

तैलपान के योग्य मनुष्य—जिन रोगियों के कोष्ठ में कृमि पड़ गए हों, वायु भरी हुई हो, मेद और कफ की वृद्धि हो गई हो, जिन्हें तैल सेवन सात्म्य हो तथा जो शरीर को दृढ़ बनाना चाहते हों, उन्हें तैलपान करना चाहिये ॥१६॥

व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः।
महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥ १७ ॥

वसापान के योग्य मनुष्य—अधिक व्यायाम से कृश, सूखे हुए शुक्र और रक्तवाले, अतिशय पीड़ा युक्त अत्यन्त तीव्र अग्नि वाले और वायु के सहारे ही जिनकी प्राणरक्षा हो रही हो ऐसे मनुष्यों के लिए वसा पान उत्तम होता है ॥१७॥

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः।
मज्जानमाप्नुयुः सर्वे सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥ १८ ॥

मज्जापानके योग्य मनुष्य—कड़े कोष्ठवाले, कष्टसहिष्णु, वातजन्यव्याधि से पीडित और तीव्र अग्नि वाले सभी आतुरों को, जिसके लिए जो औषध अनुकूल हो, उसमें सिद्ध मज्जा अथवा घृतपान करना चाहिये ॥ १८ ॥

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम् ॥ १९ ॥

दोष-विशेष के अनुसार घृत पान का निर्देश—पित्तजन्य व्याधि में, अन्य द्रव्यों से रहित केवल घृत, वातज में लवणयुक्त घृत तथा कफ की अधिकता होने पर सोंठ, मरिच, पिप्पली एवं यवक्षार मिश्रित घृत पिलाना चहिए ॥ १९ ॥

विमर्शः—केवलमसहायमन्यद्रव्यैरसयुक्तमित्यर्थः। तच्च संस्कृतमसंस्कृतं वा। गयी तु पित्तहरद्रव्यसाधितमेव केवलमित्याह।

दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च।
युञ्ज्याच्त्रिषष्टिधाभिन्नैः समासव्यासतो रसैः ॥ २० ॥

दोषों के ससर्ग विशेष में ६३ रस योग—दोषों की अल्पता और अधिकता तथा उनके सम्मिश्रण की परीक्षा करके, पृथक् एवं सम्मिलित रूप से द्रव्यों के तिरसठ प्रकार के रसभेदों के साथ, घृत का सेवन करना चाहिये ॥ २० ॥

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्णशीतले।
अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम् ॥२१॥

अच्छ स्नेहपान का निर्देश—जिन्हें स्नेह सात्म्य है तथा जो कष्ट-सहिष्णु हैं, उन्हें समशीतोष्ण काल में, अच्छ स्नेह (केवल स्नेह) पीना चाहिये क्योंकि उनके लिये केवल स्नेह श्रेष्ठ होता है ॥ २१ ॥

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥२२॥

स्नेहपान में काल विचार—शीतऋतु में दिन में और उष्ण ऋतु में रात्रि में तथा वात और पित्त की अधिकता में रात्रि में एव वात तथा कफ की अधिकता में दिन में स्नेहपान कराना चाहिए ॥ २२ ॥

वातपित्ताधिकस्योष्णे तृष्णामूर्च्छोन्मादकारकः ।
शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत् ॥२३॥

वात और पित्त की अधिकता में, उष्ण-ऋतु में किया गया स्नेहपान, तृष्णा, मूर्च्छा और उन्माद कारक होता है एवं वात और कफ की अधिकता में, शीतऋतु में किया गया स्नेहपान गुरुता, अरुचि तथा शूल उत्पन्न करता है ॥ २३ ॥

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः ।
एवं चानुपशाम्यन्त्या स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत् ॥२४॥
दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत् ।

स्नेहपान में उपद्रव स्वरूप तृष्णा की चिकित्सा—स्नेह पान के पश्चात् प्यास लगने पर, आतुर को उष्ण जल पीना चाहिए, यदि इससे प्यास न बुझे तो उष्ण जल पीकर स्नेह का वमन करना चाहिए। आतुर के शिर पर शीतल द्रव्यों का लेप तथा शीतल जल से स्नान कराना चाहिए ॥ २४½ ॥

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि ॥२५॥
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता ।
या मात्रा परिजीर्येत तथाऽर्धदिवसे गते ॥२६॥
सा वृष्या बृंहणीया च मध्यदोषे च पूजिता ।
या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते ॥ २७ ॥
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता ।
या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि ॥ २८ ॥
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत् ।
अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यति ॥ २९ ॥
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ।

स्नेह की मात्रा का निर्देश—दिन के चतुर्थांश भाग (एक प्रहर) के व्यतीत होने पर, स्नेह की जिस मात्रा का पाचन होता है, वह अग्नि को दीप्त करती है तथा अल्प दोष वाले आतुर के लिए श्रेष्ठ होती है। स्नेह की जो मात्रा आधा दिवस व्यतीत होने पर जीर्ण होती है, वह वृष्य और बृंहण होती है तथा मध्य दोष वाले आतुर के लिए उपयुक्त होती है। स्नेह की जो मात्रा दिन का चतुर्थांश भाग अवशेष रहने पर (तीन प्रहर में) जीर्ण होती है, वह स्नेहन के योग्य होती है तथा अधिक दोष वाले आतुर के लिए उसका प्रयोग श्रेष्ठ होता है। स्नेह की जो मात्रा दिवस की समाप्ति पर जीर्ण होती है तथा जिसके सेवन से ग्लानि, मूर्च्छा और मद उत्पन्न नहीं होते, वह श्रेष्ठ समझी जाती है। दोषों को दूषित किए बिना जो मात्रा दिन-रात में जीर्ण होती है वह कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह और अपस्मार नाशक होती है ॥ २५-२९ ॥

यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत विचक्षणः ॥ ३० ॥
पीतो ह्यतिबहुः स्नेहो जनयेत् प्राणसंशयम् ।

प्रथम मात्रा की प्रशस्तता—बुद्धिमान् वैद्य, आतुर को उसकी अग्नि के अनुसार, स्नेह की पहली मात्रा पिलावे। क्योंकि अधिक स्नेह पान प्राण को संकट में डाल देता है ॥३१॥

मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति ॥ ३१ ॥
विष्टभ्य चापि जीर्येत्तं वारिणोष्णेन वामयेत् ।

ततः स्नेहं पुनर्दद्याल्लघुकोष्ठाय देहिने ।
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत् ॥ ३२ ॥

स्नेह पान से उत्पन्न अजीर्ण में उपचार—मिथ्या आहार-विहार अथवा अधिकता के कारण जिस आतुर का स्नेह जीर्ण न हो, तथा कष्ट से जिसका पाचन हो, उस स्नेह को उष्ण जल के द्वारा वमन करा देना चाहिए। लघुकोष्ठ वाले मनुष्य को पुनः स्नेह पिलाना चाहिए तथा स्नेह का पाचन हुआ या नहीं इस शंका के उपस्थित होने पर उष्ण जल पिलाना चाहिए ॥ ३२ ॥

तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ।
स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारतिक्लमाः ॥ ३३ ॥
परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम् ।
यवागूं पाययेच्चोष्णां काम क्षिन्नाल्पतण्डुलाम् ॥३४॥
देयौ यूषरसौ वाऽपि सुगन्धी स्नेहवर्जितौ ।
कृतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते ॥ ३५ ॥

इस क्रिया से उद्गार (डकार) शुद्ध होता है और भोजन में रुचि उत्पन्न होती है। स्नेह मात्रा के पाचन काल में तृषा, दाह, भ्रम, आलस्य, अनिच्छा और श्रम (थकावट) उत्पन्न होने पर जीर्ण-स्नेहवाले मनुष्य को उष्ण जल से नहला कर, अल्प चावलों वाली गली हुई उष्ण यवागू यथेष्ट पिलानी चाहिए। सुगन्धि और स्नेह रहित यूष या मांसरस पिलाना चाहिए अथवा अल्प घृतयुक्त, विलेपी का सेवन कराना चाहिए ॥ ३३-३५ ॥

पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा ।
सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः ॥ ३६ ॥

स्नेहपान के काल की अवधि—तीन, चार, पाँच तथा छै दिन स्नेह पिलाना चाहिए, सात दिन के उपरान्त, सेवन किया गया स्नेह सात्म्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा ।
तृष्णार्त्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ॥ ३७ ॥

सुकुमार आदि के लिये भोजन के साथ स्नेह प्रयोग का निर्देश—सुकुमार, कृश, वृद्ध, बालक, स्नेहद्वेषी तथा प्यास से पीडित व्यक्तियों को, उष्ण ऋतु में भोजन (यवागू, विलेपी आदि) के साथ स्नेह पान कराना चाहिए ॥ ३७ ॥

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकं ।
पीतमैकध्यमेतद्धि सद्य स्नेहनमुच्यते ॥ ३८ ॥

सद्यः स्नेहन योग—पिप्पली, लवण, (सैन्धव), चारों स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा), दही और दही का पानी एक साथ मिलाकर पीने से, शीघ्र स्नेहन होता है ॥ ३८ ॥

भृष्टा मांसरसे स्निग्धा यवागूः सूपकल्पिता ।
प्रक्षुद्रा पीयमाना तु सद्य-स्नेहनमुच्यते ॥ ३९ ॥

भुने हुए मांस के रस में बनाई गई स्नेहयुक्त यवागू, राब मिलाकर (क्षुद्र फाणितं) पीने से, शीघ्र स्नेहन करती है ॥ ३९ ॥

सर्पिष्मती पय सिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला ।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्य-स्नेहनमुच्यते ॥ ४० ॥

थोडे चावलों की दूध में पकी हुई घृत युक्त सुखोष्ण यवागू का सेवन, सद्यः स्नेहन करता है ॥ ४० ॥

पिप्पल्यो लवणं सर्पिस्तिलपिष्टं वराहजा।
वसा च पीतमैकध्यं सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ ४१ ॥

पिप्पली, लवण (सैन्धव), घी, तिल की पिट्ठी और सूअर की चर्बी, एक साथ मिलाकर पीने से सद्यः स्नेहन होता है ॥ ४१ ॥

शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम्।
दुग्ध्वा क्षीरं पिवेद्रूक्षः सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥ ४२ ॥

दूध दूहनेवाले पात्र में घी मिली हुई शर्करा रखकर, उसमें दूध दूह कर पीने से, रूक्ष मनुष्य का शीघ्र स्नेहन होता है ॥ ४२ ॥

यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिकान्वितः।
पयो दधि सुरा चेति घृतमप्यष्टमं भवेत् ॥ ४३ ॥
सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यःस्नेहनमुत्तमम्।
राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद्घृतोत्तमम् ॥ ४४ ॥

जौ, बेर और कुलथी के क्वाथ में पिप्पली के कल्क के साथ दूध, दही, सुरा एवं आठवीं संख्या घृत की मिलाकर, घृतपाक किया जावे, इस घृत के पीने से शीघ्र स्नेहन होता है। इस उत्तम घृत का प्रयोग, राजा तथा राजाओं के तुल्य वैभव सम्पन्न व्यक्तियों के लिए करना चाहिए ॥ ४३-४४ ॥

बलहीनेषु वृद्धेषु मृद्वग्निस्त्रीहतात्मसु।
अल्पदोषेषु योज्याः स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः ॥४५॥

निर्बल, वृद्ध, मृदु अग्नि वाले, अत्यधिक स्त्री प्रसंग से क्षीण तथा अल्प दोष युक्त व्यक्तियों के लिए, उपर्युक्त योगों का प्रयोग भली-भाँति करना चाहिए ॥ ४५ ॥

विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी तरुणज्वरी।
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥४६॥
छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः।
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः ॥ ४७ ॥
अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिवेन्नरः।
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपान विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

स्नेहपान के अयोग्य मनुष्य—अजीर्ण ग्रस्त, तरुण ज्वर से युक्त, दुर्बल, अरोचक से पीड़ित, स्थूल, मूर्च्छा, मद, छर्दि (वमन) और प्यास से दुखी, थके हुए, अधिक सुरापान किए हुए, श्रम (थकावट) युक्त, जिन्हें वस्ति, विरेचन एवं वमन कराया गया हो, ऐसे मनुष्यों को तथा असमय और दुर्दिन में स्नेहपान नहीं करना चाहिए। अकाल-प्रसव वाली स्त्री को भी स्नेहपान नहीं करना चाहिए ॥ ४६-४८ ॥

स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः।
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः ॥४९॥

इन मनुष्यों को स्नेहपान करने से नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं, जो कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य बन जाती हैं ॥ ४९ ॥

गर्भाशयेऽवशेषाः स्यू रक्तक्लेदमलास्तताः।
स्नेहं जह्यान्निपेवेत पाचनं रूक्षमेव च ॥ ५० ॥

(अकाल-प्रसूता स्त्री के) गर्भाशय में रक्त, क्लेद और मल अवशेष रह जाते हैं, उस दशा में स्नेहपान का परित्याग कर पाचन और रूक्ष औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५० ॥

दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत्।
पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते ॥ ५१ ॥
उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति।
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥ ५२ ॥

दस दिन के उपरान्त यथाविधि, स्नेहपान का प्रयोग करना चाहिए। मल गाँठदार हो गया हो, रूक्ष हो, अन्न का पाचन कठिनाई से होता हो, छाती जलती हो, वायु कोष्ठ से ऊपर की ओर आती हो, शरीर का वर्ण विकृत हो गया हो, दुर्बलता तथा रूक्षता हो तो मनुष्य को स्नेहपान कराना चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

सुस्निग्धा त्वग्विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता।
ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम्।
सम्यक्स्निग्धस्य लिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च ॥ ५३ ॥

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—त्वचा में स्निग्धता, मल में ढीलापन, अग्नि की दीप्ति, शरीर में मृदुता, ग्लानि, अंगों में हलकापन, अधोमार्ग (गुदा) से स्नेह का निकलना तथा स्नेह से अरुचि या घबडाहट होना सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं ॥ ५३ ॥

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम् ॥ ५४ ॥

अतिस्निग्ध के लक्षण—भोजन में अरुचि, मुख से लालास्राव, गुदा में दाह, प्रवाहिका तथा अत्यधिक मल की प्रवृत्ति होना अतिस्निग्ध के लक्षण हैं ॥ ५४ ॥

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम्।
श्यामाकोरदूषान्नतक्रपिण्याकशक्तुभिः ॥ ५५ ॥

रूक्ष तथा अतिस्निग्ध के लिये प्रतीकार—रूक्ष मनुष्यों का स्नेह से स्नेहन और अतिस्निग्ध का साँवा, कोदो आदि अन्न तथा तक्र, पिण्याक (तिल की खली) और सत्तू आदि के द्वारा रूक्षण करना चाहिए ॥ ५५ ॥

दीप्तान्तरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषो भवेत्तु

स्नेहपान के फल—स्नेहपान करनेवाले पुरुष की जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है, धातुयें नवीन हो जाती है, बल एवं वर्ण की प्राप्ति होती है, इन्द्रियाँ अपने कार्य में समर्थ रहती हैं, वृद्धावस्था का आगमन विलम्ब से होता है तथा वह पुरुष शतायु होता है ॥ ५६ ॥

स्नेहो हितो दुर्बलबह्विदेहसन्धुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य।
बलान्वितौभोजनदोषजातैः प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्नेहौपयोगिक-चिकित्सित नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

व्याधि से पीडित मनुष्य की, दुर्बल अग्नि को प्रदीप्त करने तथा शरीर को पुष्ट बनाने के लिए, स्नेहपान हितकर होता है। स्नेहपान से प्रदीप्त हुई अग्नि और सबल हुए शरीर को, भोजन के दोष से उत्पन्न विकार, सहसा दबाने में समर्थ नहीं होते ॥ ५७ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायामेकत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

स्वेद प्रयोग चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर स्वेदन-प्रयोग चिकित्सा विधि का वर्णन, किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

चतुर्विधः स्वेदः; तद्यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति; अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः

स्वेद के भेद—स्वेदन चार प्रकार का होता है, जैसे—(१) तापस्वेद, (२) उष्णस्वेद, (३) उपनाहस्वेद और (४) द्रवस्वेद। अन्य सभी प्रकार के स्वेदों का अन्तर्भाव, इन्हीं चार स्वेदों में हो जाता है ॥ ३ ॥

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकन्दुककपालवालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चाङ्गतो बहुशः खादिराङ्गारैरिति ॥ ४ ॥

तापस्वेद विधि—हाथ (करतल), कांसा (कांस्यपात्र), कन्दुक (लोहे आदि की कडाही), कपाल (मिट्टी का ठीकरा), बालू और वस्त्र के द्वारा तथा खैर की लकडी के अंगारों से, लेटे हुए रोगी के अंगों को अनेक बार तपा कर, ताप स्वेद किया जाता है ॥ ४ ॥

ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिञ्चेदम्लद्रव्यैर्वा, तैरार्द्रोलूक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत्। मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गकाथपूर्णं वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माण गृह्णीयात्। पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्या मुखमभिसन्धाय तस्मिंश्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत् ॥ ५ ॥

ऊष्मस्वेद तथा नाडीस्वेद की विधि—ऊष्मस्वेद के लिए कपाल, पाषाण, ईंट और लोहपिण्ड को अग्नि में लाल करके, जल या काञ्जी आदि अम्लद्रव्य छिडककर, गीले वस्त्र में लपेटना चाहिए तथा उससे अंगों का स्वेदन करना चाहिए। अथवा मांसरस, दूध, दही, स्नेह, धान्याम्ल (काजी) और वातघ्न द्रव्यों के पत्तों (एरण्ड पत्र आदि) के उष्ण क्वाथ से भरे हुए घडे के मुख को ढँककर उससे निकलने वाले वाष्प के द्वारा स्वेदन करना चाहिए। अथवा पार्श्व में छेद किए गए, उल्टे मुख वाले दूसरे घडे को उस घडे के मुख पर रखकर, सन्धि बन्धन करके, ऊपर वाले घडे के छिद्र में हाथी के सूंड की आकृति वाली नली लगानी चाहिए और उससे स्वेदन करना चाहिए ॥ ५ ॥

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम्।
सुखा सर्वाङ्गगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम् ॥६॥

सुखपूर्वक बैठे हुए तथा भली-भाँति अभ्यङ्ग से युक्त और कम्बल आदि से ढके हुए वात के रोगी का, हाथी के सूंड की आकृति वाली नाडी से, स्वेदन करना चाहिए। इससे सभी अंगों का स्वेदन सुखपूर्वक होता है तथा रोगी किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करता ॥ ६ ॥

व्यामार्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः।
स्वेदनार्थे हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका ॥७॥

अर्धव्याम लम्बी, तीन स्थानों में मुडी हुई एवं हाथी के सूंड की आकृति वाली कैलिञ्जी (कुश, काश आदि द्रव्यों से निर्मित) हस्तिशुण्डिका नाडी, स्वेदन के लिए हितकर होती है ॥ ७ ॥

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥८॥
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः।
पूर्ववत् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम् ॥९॥

भूस्वेद तथा अश्मस्वेद की विधि—मनुष्य की लंबाई के बराबर भूमि खोदकर और उसमें खैर की लकडी जला कर दूध, कांजी एवं जल छिडकना चाहिए। फिर वातघ्न द्रव्यों के पत्ते बिछा, उस पर रोगी को सुलाकर, स्वेदन करना चाहिए। अथवा पत्थर की पटिया पर खैर की लकडी जला, राख हटाकर पूर्ववत् स्वेदन करना चाहिए ॥ ८-९ ॥

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं स्वेदयेत् ॥ १० ॥

कुटी स्वेदन की विधि—अथवा चार द्वार वाली कुटी बनाकर उसके अन्दर रोगी को बैठाना चाहिए और चारों द्वार पर अग्नि के अंगारों को रखकर पूर्ववत् स्वेदन करना चाहिए ॥ १० ॥

कशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्; एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् ॥११॥

प्रस्तरस्वेद विधि—अथवा मूग, उडद आदि धान्य (कोशधान्य) को भली भाँति उबालकर, चटाई या इसी प्रकार की किसी अन्य वस्तु पर फैलाकर, उसपर रोगी को सुलाना चाहिए तथा वस्त्र से ढककर स्वेदन करना चाहिए। इसी प्रकार धूलि, गोबर, तुष, (जौ, धान आदि की भूसी), बुस (भूसा) और तिल की खली के द्वारा (उष्ण करके) स्वेदन करना चाहिए ॥ ११ ॥

उपनाहस्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं

काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः साल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत् ॥ १२ ॥

उपनाह स्वेद विधि—कांजी के द्वारा पीसे हुए तथा प्रचुर परिमाण में लवण और स्नेह युक्त वातघ्न द्रव्यों के मूल के कल्क का, सहन करने योग्य उष्ण लेप लगाकर, उपनाह स्वेद करना चाहिए। इसी प्रकार काकोल्यादि गण, एलादिगण, सुरसादिगण, तिल, तीसी और सरसों के कल्क तथा खिचड़ी, खीर, लप्सी, वेशवार (कुट्टित मांस) या साल्वण (वातव्याधियुक्त) को महीन वस्त्र में बाँधकर, स्वेदन करना चाहिए ॥ १२ ॥

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्, एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहेत; एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेदिति ॥ १३ ॥

अवगाहन तथा परिषेचन की विधि—वातहर द्रव्यों के उष्ण क्वाथ से पूर्ण कड़ाही या द्रोणी (टब) में रोगी को बैठाकर, द्रव स्वेद करना चाहिए। इसी प्रकार दूध, मांसरस, यूष, तेल, कांजी, घी, वसा और मूत्र (अष्टविध मूत्र) में रोगी को बैठाना चाहिए और उपर्युक्त द्रव्यों के सुखोष्ण क्वाथ से स्नान करना चाहिए ॥ १३ ॥

विमर्श:—चरक ने तेरह प्रकार के स्वेदों का वर्णन स्वेदाध्याय में लिखा है—'सङ्कर. प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षः कुटी भूः कुम्भिकैव च। कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश। इन त्रयोदशविध स्वेदों का अन्तर्भाव सुश्रुत चतुर्विध स्वेदों में ही करते हैं। तापस्वेद के अन्दर जेन्ताक, कर्ष, कुटी, कूप और होलाक इन पाँच स्वेदों का उष्ण स्वेद में सङ्कर, प्रस्तर, अश्मघन, नाड़ी, कुम्भी और भू, छै स्वेदों का तथा द्रव स्वेद में परिषेक और अवगाह का अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्न अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति॥

दोषविशेष में स्वेद विशेष का उपयोग—इनमें ताप और उष्णस्वेद विशेषकर कफनाशक तथा उपनाह स्वेद, वात नाशक होता है। कफ या वात के साथ पित्त के मिलने पर द्रवस्वेद का विधान करना चाहिए ॥ १४ ॥

कफमेदोऽन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति ॥१५॥

निरग्निस्वेद—वायु के कफ और मेद से युक्त होने पर वायुरहित स्थान, धूप, भारी ओढने के वस्त्र, मल्लयुद्ध, व्यायाम, बोझ उठाना, तथा क्रोध आदि के द्वारा स्वेद निकालना चाहिए ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ॥ १६ ॥

चतुर्विद स्वेदों के दो भेद—जैसे कि—चार प्रकार के जिन स्वेदों का वर्णन किया गया है, उनका प्रयोग सम्पूर्ण शरीर अथवा अङ्ग विशेष में दो प्रकार से (साग्नि और निरग्नि) किया जाता है ॥ १६ ॥

येषां नस्यं विधातव्यं वस्तिश्चैव हि देहिनाम्।
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥

प्रथम तथा पश्चात् स्वेद्य रोगी—जिन मनुष्यों को नस्य और वस्ति देनी हो तथा जो शोधन के योग्य हों, उनका प्रथम स्वेदन करना चाहिये ॥ १७ ॥

पश्चात् स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भानुपद्रवा।
सम्यक् प्रजातः काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता ॥

शल्य (मूढगर्भ) निकालने के उपरान्त उपद्रवरहित मूढगर्भा तथा समय पर भलीभांति प्रसव की हुई स्त्री का स्वेदन बाद में अर्थात् प्रसव के पश्चात् करना चाहिए ॥ १८ ॥

स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च भगन्दर्यर्शसस्तथा।
अश्मर्यां चातुरो जन्तुः शेषाञ्छास्त्रे प्रचक्ष्महे ॥ १९

भगन्दर, अर्श और अश्मरी में आतुर का स्वेदन पहले और पीछे (शल्य क्रिया के पूर्व और पश्चात्) करना चाहिए, शेष व्याधियों के लिए विधान बतलाया जाता है ॥

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे
स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित्।
दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु
गच्छेद्भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥ २०॥

स्वेद के पूर्व स्नेह की आवश्यकता—स्वेदन विधि के ज्ञाता वैद्य को बिना अभ्यङ्ग किए हुए तथा स्नेहरहित शरीर वाले व्यक्ति का स्वेदन कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है कि स्नेहरहित काष्ठ स्वेदन पाकर शीघ्र टूट जाता है ॥ २० ॥

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं
प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैरन्त्यशेषम् ॥ २१ ॥

स्नेह से क्लिन्न (गले हुए) धातु तथा अपने स्थान में स्थित एवं मार्गों में (शाखाओं में) रुके हुए दोष, भली भांति स्वेदन किये जाने पर, पिघल कर कोष्ठ में आ जाते हैं और शोधन क्रियाओं के द्वारा सम्पूर्ण रूप से शरीर से बाहर निकल जाते हैं ॥ २१ ॥

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्।
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥ ॥ २२ ॥

स्वेद के गुण—स्वेदन करने से अग्नि दीप्त होती है, शरीर कोमल होता है, त्वचा स्वच्छ होती है और भोजन में रुचि तथा स्रोतों में निर्मलता आती है। स्वेद प्रयोग निद्रा और तन्द्रा को दूर करता है तथा चेष्टारहित सन्धियों को शीघ्र सचेष्ट बनाता है ॥ २२ ॥

स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं
शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य।

सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेत-
न्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥ २३ ॥

सम्यक् स्विन्न के लक्षण—भलीभांति स्वेदन होने पर रोगी के शरीर से पसीने का निकलना, रोग का नाश, शरीर में हलकापन, शीत की इच्छा और कोमलता आदि लक्षण होते हैं। स्वेदन का मिथ्यायोग होने पर इसके विपरीत लक्षण होते हैं ॥ २३ ॥

स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः
स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च
कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम् ॥ २४ ॥

अति स्विन्न के लक्षण—अत्यधिक स्वेदन होने से संधियों में पीडा, विदाह, फफोले की उत्पत्ति, पित्त और रक्त का प्रकोप, मूर्च्छा, क्लम (थकावट) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, इस दशा में शीघ्र शीतोपचार करना चाहिए ॥ २४ ॥

पाण्डुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः
क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः।
तृट्च्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो
नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी।
स्वेदाद्येषां यान्ति देहा विनाशं
नो साध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः।
स्वेदैः साध्यो दुर्बलोऽजीर्णभक्तः
स्यातां चेद् द्वौ स्वेदनीयौ ततस्तौ ॥

स्वेद के अयोग्य रोगी—पाण्डु, प्रमेह, रक्तपित्त और क्षय से पीडित, निर्बल, अजीर्ण ग्रसित, उदर रोग, विष, तृष्णा और वमन से दुःखी, गर्भिणी, मद्यपान किए हुए तथा अतिसार वाले मनुष्यों का स्वेदन नहीं करना चाहिए। स्वेदन करने से इन मनुष्यों का शरीर नष्ट हो जाता है तथा इनके रोग साध्यावस्था को प्राप्त नहीं होते। यदि दुर्बल और अजीर्णावस्था में भोजन किए हुए व्यक्ति स्वेदसाध्य व्याधि से पीडित हों तो दोनों का स्वेदन करना चाहिए ॥ २५ ॥

एतेषां स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान्।
मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥ २६ ॥

स्वेदसाध्य व्याधियों में निर्दिष्ट स्थान में स्वेदन का विधान—उपर्युक्त व्याधियों से पीडित यदि किसी आतुर का रोग स्वेदसाध्य हो तो बुद्धिमान् वैद्य को मृदु स्वेद देना चाहिए तथा हृदय, अण्डकोष और नेत्रों पर भी मृदु स्वेद का प्रयोग करना चाहिए ॥ २६ ॥

सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत्।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ॥२७॥

वायु रहित स्थान में तथा अन्न का पाचन होने पर एवं स्नेह की मालिश किए हुए व्यक्ति के लिए ही सभी स्वेदों का प्रयोग करना चाहिए। नेत्रों का स्वेदन शीतल वस्तुओं से ढक कर करना चाहिए ॥ २७ ॥

स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत्।
सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नानमुष्णाम्बुभिः शनैः ॥२८॥

स्वेदन करते समय आतुर के हृदय पर शीतल द्रव्य से बार २ स्पर्श करना चाहिए तथा भली भांति स्वेदन हो जाने पर धीरे-धीरे मालिश करके उष्ण जलसे स्नान कराना चाहिए ॥

स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गं च निवातशरणस्थितम्।
भोजयेदनभिष्यन्दि सर्वं चाचारमादिशेत् ॥ २९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

स्वेदन के पश्चात् कर्तव्य—भली भांति स्वेदन करके तथा अंगों को वस्त्र से ढक कर, आतुर को वायुरहित स्थान में रखना चाहिए और अनभिष्यन्दि (स्रोतों को अवरुद्ध न करने वाले) भोजन देकर सभी प्रकार के आचार, व्यवहार का नियम समझा देना चाहिए ॥ २९ ॥

विमर्शः—सद्यो व्याधिकरणीयामवस्था स्यन्दयति आपादयति यद् द्रव्यं तदभिष्यन्दि, स्रोतसामुपलेपकारि वा, तद्विपरीतमनभिष्यन्दि।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाख्यायां द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

वमन-विरेचन से साध्य रोगों की चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर वमन, विरेचन के द्वारा साध्य रोगों की (उपद्रवो रोगः) चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥

दोषों के अवस्था विशेष से चिकित्सा विशेष का निर्देश—क्षीण हुए दोषों को बढ़ाना चाहिए, कुपित हुए दोषों को शान्त करना चाहिए तथा बढ़े हुए दोषों को शरीर से बाहर निकालना चाहिए एवं समान रूप में स्थित दोषों की रक्षा करनी चाहिए, यही चिकित्सा का सिद्धान्त है ॥ ३ ॥

प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्।
तस्मात्तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय ॥ ४ ॥

वमन-विरेचन का विधान—दोषों को शरीर से बाहर निकालने में मुख्यतः वमन और विरेचन का प्रयोग किया जाता है, इस लिए उन दोनों का विधान बतलाया जा रहा है, सुनो ॥ ४ ॥

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यन्दिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्निं बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च ॥ ५ ॥

तीक्ष्ण अग्नि वाले, बलवान, बहुदोषयुक्त, महाव्याधि से पीड़ित एवं वमन-साम्य स्निग्ध-स्विन्न रोगी को (स्रोतों का बन्धन खुल जाने से) प्रचलित दोष युक्त देख कर, 'कल्ह मैं तुम्हें वमन कराने वाली औषधि पिलाऊँगा' इस निश्चय के साथ अभिष्यन्दि आहार (ग्राम्य, आनूप, उदक जीवों का मांस, दूध, भात आदि) का भली भांति भोजन कराना चाहिए ॥ ५ ॥

भवति चात्र—

पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते ॥ ६ ॥

जैसे कि :—स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त मनुष्य के दोषों को कोमल एवं नाना प्रकार के अन्नों से उत्क्लेशित कर प्रयुक्त किया गया वमन, भली भांति प्रवृत्त होता है ॥ ६ ॥

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषाय-कल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य; असात्म्यबीभत्सदुर्गन्ध-दुर्दर्शनानि च वमनानि विद्ध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि; तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतम-माकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत; तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षि-मनुसृतं जानीयात्, ततः प्रवृत्तक्लासं ज्ञात्वा जानु-मात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयो कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालाना-मन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्तं वामयेत्तावद्यावत् सम्य-ग्वान्तलिङ्गानीति ॥ ७ ॥

दूसरे दिन प्रातः काल, साधारण (अधिक शीत एवं उष्णता रहित) समय में आतुर के कोष्ठ विशेष की परीक्षा कर, वमनकारक क्वाथ, कल्क, चूर्ण और स्नेह द्रव्यों में जिसका प्रयोग उचित हो, किसी एक की मात्रा पिला कर वमन कराना चाहिए। वमनकारक द्रव्यों को असात्म्य, बीभत्स (विकृत आकृति का), दुर्गन्ध युक्त तथा देखने में कुरूप बनाना चाहिए। विरेचन द्रव्यों का निर्माण इसके विपरीत (सात्म्य, सुन्दर आकृति तथा सुगन्ध युक्त एवं देखने में प्रिय) करना चाहिए; सुकुमार, दुर्बल, बालक, वृद्ध और कायर के वमन-साध्य विकारों में, दूध, दही, तक्र तथा यवागू में से किसी एक को, आकण्ठ (पूर्ण रूप से) पिलाना चाहिए। औषध पीकर, अग्नि से हाथों को तपा कर उष्णता अनुभव करते हुए, आतुर को दो घड़ी (मुहूर्त घटिकाद्वयम्) प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस रोगी के शरीर में स्वेद का प्रादुर्भाव देख कर यह समझना चाहिए कि शिथिल हुए दोष अपने स्थान से चलायमान होकर कुक्षि प्रदेश में जा रहे हैं। मिचली प्रारम्भ होने पर घुटने के बल रोगी को आसन पर बैठाकर, श्रेष्ठ जनों के द्वारा ललाट, पीठ, पसवाड़े और ग्रीवा को हाथों से भली भांति पकड़वाकर. अंगुली, एरण्ड या कमल की नाल में से किसी एक के द्वारा, कण्ठ प्रदेश के अन्दर स्पर्श करते हुए, सम्यग्वान्त के लक्षण उपस्थित होने तक, वमन कराना चाहिए ॥

भवतश्चात्र—

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं
कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः।
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च
हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते ॥ ८ ॥

वमन के अयोग तथा अतियोग के लक्षण—जैसे कि:—मुख से लालास्राव होना, हृदय की अशुद्धि (गुरुता की अनुभूति) और कण्डू, वमन का अयोग होने पर उपस्थित होते हैं। अतियोग होने पर पित्त की अधिक प्रवृत्ति, सज्ञा नाश और हृदय तथा कण्ठ में पीडा होती है ॥ ८ ॥

पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते
शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च
स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ ९ ॥

वमन के सम्यग्योग के लक्षण—कफ के पश्चात् पित्त का सुखपूर्वक निकलना, हृदय, कण्ठ और शिर की शुद्धि, शरीर में हलकापन तथा कफ का स्राव होने पर रोगी को भली-भांति वमन हो चुका, यह समझना चाहिए ॥ ९ ॥

सम्यग्वान्तं चैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशम-नानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारि-कमादिशेत् ॥ १० ॥

सम्यग्वमन हो जाने के बाद का कर्त्तव्य—भली भांति वमन हो जाने पर रोगी को (स्रोतों में चिपके हुए कफ को निकालने के लिए) स्नैहिक, वैरेचनिक और प्रायोगिक (शमनीय) में से किसी एक धूम को शक्ति के अनुसार पिला कर, आहार-विहार का नियम समझा देना चाहिए॥१०॥

भवन्ति चात्र—

ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेह-
मुष्णाभिरद्भिः परिपिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां
यूषैः रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु ॥ ११ ॥

जैसे कि :—उष्ण जल से स्नान किए हुए, शुद्ध पवित्र शरीर वाले रोगी को सायंकाल कुलथी, मूग, और अरहर के यूष तथा जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन करना चाहिए ॥ ११ ॥

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रा-
तन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा
न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥ १२ ॥

वमन कराने का फल—कास, उपलेप (स्रोतों में मल की वृद्धि), स्वरभेद, निद्रा, तन्द्रा, मुख की दुर्गन्धि, विष जन्य उपद्रव, कफ का स्राव और ग्रहणी दोष, वमन करने वाले मनुष्य को कभी नहीं होते ॥ १२ ॥

छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा
यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ॥ १३ ॥

वृक्ष के कट जाने पर उसके फूल, फल और जटा का विनाश जिस प्रकार शीघ्रता से हो जाता है उसी प्रकार शोधन से कफ का हरण हो जाने पर उससे उत्पन्न होने वाले रोग शान्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववात-
गुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्ध-
मूत्रातुरान् केवलवातरोगान् ॥ १४ ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्त-
दुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान्।
ऊर्ध्वासृपित्तक्षुधितातिरूक्ष-
गर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ॥ १५ ॥

वमन के अयोग्य रोगी—तिमिर, ऊर्ध्ववात, गुल्म, उदर, कृमि तथा श्रम से पीडित, स्थूल, क्षतक्षीण, कृश, अत्यन्त वृद्ध, मूत्र रोग वाले, शुद्ध वात रोग एवं स्वरभेद से युक्त, अध्ययन में लगे हुए, भली भांति जिन्हें वमन न हुआ हो, क्रूर कोष्ठ वाले, तृष्णा से व्याकुल, बालक, ऊर्ध्व रक्तपित्त के रोगी, भूखे, अत्यन्त रूक्ष, गर्भिणी, उदावर्त से दुःखी तथा निरूहण का प्रयोग किए हुए व्यक्तियों को, वमन नहीं कराना चाहिए ॥ १४-१५ ॥

अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः॥१६॥

वमन के अयोग्य रोगों में वमन कराने से मनुष्यों के रोग कष्टसाध्य अथवा असाध्य हो जाते हैं, इसलिए उन्हें वमन नहीं कराना चाहिए ॥ १६ ॥

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विपातुराः।
अतीव चोल्वणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना ॥ १७ ॥

वमन के अयोग्य रोगों में वमन का विशेष निर्देश—उपर्युक्त रोगी भी यदि अजीर्ण से पीड़ित हों, विष विकार के रोगी हों तथा जिनमें अत्यधिक कफ की वृद्धि हो, उन्हें मुलेठी के क्वाथ से (वमन द्रव्य मिला कर) वमन कराना चाहिए ॥ १७ ॥

वाम्यास्तु—विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतीनासकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनिःकफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति ॥१८॥

वमन के योग्य रोगी—विषदोष, शोष, स्तन्यदोष, मन्दाग्नि, उन्माद, अपस्मार, श्लीपद, अर्बुद, विदारिका, मेदवृद्धि, प्रमेह, गरविष, ज्वर, अरुचि, आमातिसार, हृद्रोग, पित्तविभ्रम, विसर्प, विद्रधि, अजीर्ण, मुखप्रसेक, हृल्लास (मिचली आना) श्वास, कास, पीनस, पूतिनासा, कण्ठ, ओष्ठ और मुखपाक, कर्णस्राव, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, गलशुण्डिका, अधः रक्तपित्त, कफस्थान में होने वाली व्याधियों तथा कफजन्य विकारों से पीडित अन्य आतुरों को वमन कराना चाहिए ॥ १८ ॥

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय च देयम्; अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति ॥ १९ ॥

विरेचन का विधान—विरेचन भी स्नेहन तथा स्वेदन से युक्त एवं वमन किए हुए व्यक्ति को देना चाहिए, क्योंकि वमन प्रयोग से रहित सम्यग्विरिक्त रोगी का भी नीचे की ओर आया हुआ कफ, ग्रहणी को ढक लेता है और गुरुता अथवा प्रवाहिका उत्पन्न कर देता है ॥ १९ ॥

अथातुरं श्वो विरेचनं पाययिताऽस्मीति पूर्वाह्णे लघु भोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्।
अथापरेऽहनि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत् ॥ २० ॥

विरेचक औषध पान की विधि—आतुर को कल्ह विरेचन पिलाऊँगा इस निश्चय के अनुसार प्रातःकाल लघुभोजन कराना चाहिए; इसके बाद बिजौरे का रस और उष्ण जल पिलाना चाहिए। दूसरे दिन आतुरोपक्रमणीय अध्याय में वर्णित विधि के अनुसार श्लेष्मा तथा रसधातु के नष्ट होने की परीक्षा करके रोगी को औषध की मात्रा पिलानी चाहिए ॥ २० ॥

विमर्श—फलाम्ल बीजपूराद्यि। विगतश्लेष्माणमिति कर्तव्ये धातुग्रहण श्लेष्ममहचरितरसधातूपलक्षणम्। रसावशेषेऽपि सम्प्रेसकत्वाद् पुरुषस्य विरेचन न देयमिति आतुरोपक्रमणीयाध्याये उक्तम्। मात्रा पुरुषस्य बलापेक्षया प्रधानमध्यादिभेदेन तन्त्रान्तरोक्ताः कथ्यन्ते। द्वे पले ज्येष्ठमाख्यात मध्यमन्तु पलं भवेत्। पलार्द्धमुपयुञ्जीत कनीयस्तु विरेचनम्। डल्हण

तत्र मृदुः, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः; समदोषो मध्यमः, स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति। पीतौषधश्च तन्मनाः शय्याभ्याशे विरेच्यते ॥ २१ ॥

विविध कोष्ठ के लक्षण—कोष्ठ तीन प्रकार के होते हैं, (१) मृदु (२) क्रूर और (३) मध्यम। पित्त की अधिकता वाला कोष्ठ मृदु होता है, इसमें दूध से भी विरेचन हो जाता है। वात और श्लेष्मा की अधिकतावाला कोष्ठ क्रूर होता है, इसमें विरेचन कठिनाई से होता है। दोषों की साम्यावस्थावाला कोष्ठ मध्यम होता है, इसमें विरेचन साधारण द्रव्यों से हो जाता है। मृदु कोष्ठवाले को औषध की मृदु मात्रा, क्रूर कोष्ठवाले को तीक्ष्णमात्रा, तथा मध्यम कोष्ठवाले को मध्यम मात्रा पिलानी चाहिए।

औषधपान किए हुए रोगी को विरेचन की ओर अपना ध्यान रखते हुए, शय्या के समीप विरेचन करना चाहिए ॥ २१ ॥

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान् धारयेद्बुधः ।
निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत् ॥२२॥

विरेचन औषध पीये हुये के लिये अपथ्य—विरेचन औषधि का पान किए हुए बुद्धिमान व्यक्ति को, मल-मूत्रादि का वेग नहीं रोकना चाहिए। उसे वायुरहित स्थान में सोना चाहिए तथा शीतल जल का स्पर्श एवं प्रवाहण (मलत्याग के समय किनछना) नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥

यथा च वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति, एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति ॥

वमन और विरेचन में दोषों के निकलने का क्रम—जिस प्रकार वमन में लालास्राव, पान की हुई औषध, कफ, पित्त और वायु क्रम से निकलते हैं, उसी प्रकार विरेचन में मूत्र, मल, पित्त, पान की हुई औषध और कफ निकलता है ॥ २३ ॥

भवन्ति चात्र—

(स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो
दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः ।)
हृत्कुक्ष्यशुद्धि परिदाहकण्डू
विण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरिक्ते ॥
मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः
शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम् ॥ २४ ॥

विरेचन के अयोग तथा अतियोग के लक्षण—जैसे कि—(भली भाँति विरेचन न होनेपर कफ और पित्त का प्रकोप, दाह, अरुचि, गौरव और अग्निमांद्य हो जाता है) सम्यग्विरेचन न होनेपर हृदय और कुक्षि की अशुद्धि, दाह, कण्डू और मल-मूत्र का अवरोध होता है। मूर्च्छा, गुदभ्रंश, कफ का अधिक स्राव और शूल की उत्पत्ति होना अधिक विरेचन होने के चिह्न हैं ॥ २४ ॥

गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु
नाभ्यां लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं
सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत् ॥ २५ ॥

सम्यग्विरेचन के लक्षण—कफ से युक्त पित्त और मल (दोषोऽन्न पित्तस्थानगतं दोषोपलक्षित पुरीषं कफपित्तञ्च) के शरीर से बाहर निकलने के पश्चात्, नाभिप्रदेश में लघुता और मन में प्रसन्नता की उत्पत्ति होने तथा वायु के अनुलोम दशा में आने पर रोगी को भली भाँति विरेचन हुआ समझना चाहिए ॥ २५ ॥

मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं
न पाययेताहनि तत्र पेयाम् ।
क्षीणं तृषार्तं सुविरेचितं च
तन्वी सुखोष्णां लघु पाययेच्च ॥ २६ ॥

विरेचन के बाद पथ्य विधान—यदि आतुर मन्दाग्नि से पीडित हो, क्षीण न हुआ हो तथा भली-भाँति विरेचन न हो तो उस दिन उसे पेया नहीं पिलानी चाहिए। क्षीण, प्यास से पीडित तथा भली-भाँति विरेचन हुए रोगी को पतली, सहने योग्य उष्ण एवं हलकी पेया पिलानी चाहिए ॥ २६ ॥

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
विरेचनं सम्यगुपास्यमानम् ॥ २७ ॥

विरेचन के फल—बुद्धि में निर्मलता, इन्द्रियों में अपना कार्य करने की शक्ति, धातुओं में स्थिरता, उत्साह की वृद्धि, अग्नि दीप्ति तथा वृद्धावस्था का विलम्ब से आगमन आदि गुण, भली-भाँति विरेचन का सेवन करने से उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

यथोदकानामुदकेऽपनीते
चरस्थिराणां भवति प्रणाशः ।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां
पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार जलाशय से जल निकल जाने पर स्थावर और जगम वस्तुएँ (कमल, मछली आदि) नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार पित्त के निकलने पर, पित्तजन्य व्याधियों का (विरेचन से) नाश हो जाता है ॥ २८ ॥

मन्दाग्नयतिस्नेहितबालवृद्ध-
स्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः ।
श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो
गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक् ॥२९॥
नवप्रतिश्यायमदात्ययी च
नवज्वरी या च नवप्रसूता ।
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः
स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च ॥ ३० ॥
अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान्
विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम् ।
विरेचनैर्यान्ति नरा विनाश-
मज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ॥ ३१ ॥

विरेचन के अयोग्य रोगी—मन्दाग्नि से पीडित, अधिक स्नेह से युक्त, बालक, वृद्ध, स्थूल, क्षतक्षीण, भय से दुखी, शान्त, तृषार्त, अजीर्णावस्था में भोजन किए हुए, गर्भिणी, अधोग रक्त पित्त-नवीन प्रतिश्यायमदात्यय तथा नवीन ज्वर से युक्त, नवीन प्रसूता, शल्य से पीडित, एवं जिनका स्नेहन आदि न किया गया हो, उन्हें विरेचन नहीं देना चाहिए। पित्त की अधिकता से जो दुर्बल हों उन्हें भी धीरे-धीरे विरेचन देना चाहिए। विरेचन के अयोग्य आतुर, मूर्ख व्यक्ति के द्वारा विरेचन का प्रयोग कर देने पर मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ २९-३१ ॥

विरेच्यास्तु—ज्वरगराकुष्ठशोऽर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधिपाण्डुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगन्दरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मण्कोष्ठाशयरक्तिबन्धविसूचिकालसकमूत्राघा-

तकुष्ठविस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यन्दशिरःकर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधिपरीता इति ॥ ३२ ॥

विरेचन के योग्य रोगी—ज्वर, गरविष, अरुचि, अर्श, अर्बुद, उदर, ग्रन्थि, विद्रधि, पाण्डुरोग, अपस्मार, हृद्रोग, वातरक्त, भगन्दर, छर्दि, योनिरोग, विसर्प, गुल्म, पक्वाशय के रोग, विबन्ध, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कुष्ठ, विस्फोटक, प्रमेह, आनाह, प्लीहा, शोथ, वृद्धि (अन्त्रवृद्धि) शस्त्रक्षत, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, अक्षिपाक, काच, तिमिर, अभिष्यन्द, शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग, नासारोग, मुखरोग, गुदरोग, मेढ्रोग, दाह, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, कृमि कोष्ठ वाले तथा पित्तस्थानगत अन्यरोगों एवं पित्तजन्य व्याधियों से पीडित अन्य आतुरों को विरेचन देना चाहिए ॥

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्वि रेचनम् ।
वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा ॥ ३३ ॥

वमन और विरेचन के दोष निर्हरण में विशेषता—सर, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण और विकाशि होने से विरेचन द्रव्य (अधोमार्ग से) दोषों को दूर करते हैं तथा वमन द्रव्य अपने स्वभाव (प्रभाव विशेष) के कारण ऊर्ध्वमार्ग से दोषों को निकालते हैं ॥ ३३ ॥

विमर्श :—सरस्य भावः सरत्वमानुलोम्यम् । सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यम्, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारित्वम् । तीक्ष्णस्य भावस्तैक्ष्ण्यम्, शीघ्रतरदोषस्रावणकरत्वम् । उष्णस्यभाव औष्ण्यम् सौम्यद्रव्योपमर्दनकरणसामर्थ्यम् । विकाशिनो भावः विकाशित्व धातो शैथिल्यकरणसामर्थ्यम् । अत्र प्रकृति, स्वभाव. शक्तिविशेष. प्रभावो वीर्यमित्यनर्थान्तरम् । तेन प्रकृत्या वीर्येणान्यथागतमूर्ध्वगनम् । सरत्वादिभिर्गुणैर्विरेचनमधो दोषानपहरेत् । वमनस्य तुल्यगुणत्वेऽपि वीर्येणोर्ध्वगामित्वम् । टल्हण

यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम् ।
गुणोत्कर्षाद्व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥३४॥

पाक को प्राप्त होता हुआ विरेचन द्रव्य दोषों को लेकर अधोमार्ग में प्रवृत्त होता है और वमन द्रव्य अपक्व अवस्था में ही अपने गुण की प्रधानता से दोषों को ऊर्ध्वमार्ग से निकालता है ॥ ३४ ॥

विमर्श—विरेचन द्रव्य स्थिर, गुरु तथा पृथ्वी और जल गुण प्रधान होते हैं, इसलिए स्थिर होने के कारण पाचन होने पर एवं गुरु होने के कारण अधोमार्ग से प्रवृत्त होते हैं। वमन द्रव्य वायु, अग्नि, गुणप्रधान तथा शीघ्रगमनशील होते हैं, अतः शीघ्रगमनशील होने से अपक्व अवस्था में तथा लघु होने से ऊर्ध्वमार्ग में प्रवृत्त होते हैं।

मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतितीक्ष्ण विरेचनम् ।
न सम्यङ् निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितम् ॥३५॥

विरेचन का सम्यक् प्रवर्त्तन न होने में कारण—अत्यन्त वेग से प्रवर्तित अतितीक्ष्ण विरेचन प्रदीप्त अग्नि वाले मृदु कोष्ठ मनुष्य के दोषों को भली-भाँति नहीं निकालता ॥३५॥

पीतं यदौषधं प्रातर्भुक्तपाकसमे क्षणे ।
पक्तिं गच्छति दोषांश्च निर्हरेत्तत् प्रशस्यते ॥३६॥

विरेचनीय औषध की श्रेष्ठता—प्रातःकाल पी हुई जो औषध आहार-पाचन के समय (तीन प्रहर में) पाक को प्राप्त होती है और दोषों को निकालती है, वह श्रेष्ठ होती है ॥ ३६ ॥

दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः ।
हरेत् प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत् प्रच्युतानपि ॥३७॥

दुर्बल के दोष-हरण में विशेष विधि—दुर्बल मनुष्य के अपने स्थान से चलायमान और कुपित हुए दोषों को बार बार थोड़ी थोड़ी मात्रा में निकालना चाहिए तथा अल्प चलायमान दोषों को भी शमन करना चाहिए ॥ ३७ ॥

हरेद्दोषांश्चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य वा ।
चला ह्युपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम् ॥३८॥

स्थान से चलित दोषों को अवश्य निकालने का निर्देश—बलवान अथवा दुर्बल रोगी के चलायमान पक्व दोषों को बाहर निकालना चाहिए क्योंकि उपेक्षा किए गए दोष बहुत काल तक मनुष्य को कष्ट पहुँचाते हैं ॥ ३८ ॥

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ।
सन्धुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत् ॥३९॥

क्रूर कोष्ठ के संशोधन की विधि—मन्दाग्नि तथा क्रूर कोष्ठवाले व्यक्ति की अग्नि को क्षार और लवण युक्त घृत से दीप्त करके तथा स्नेहन, स्वेदन देकर विरेचन देना चाहिए ॥

स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात् ।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम् ॥४०॥

शोधन का स्नेह स्वेदपूर्वक प्रयोग में हेतु—स्नेहन और स्वेदन से युक्त रोगी का दोष औषधियों के द्वारा बलपूर्वक उत्कर्षित किए जाने पर मार्ग में उसी प्रकार नहीं ठहर सकता जिस प्रकार चिकने घड़े पर जल नहीं ठहरता ॥ ४० ॥

न चातिस्नेहपीतस्तु पिबेत् स्नेहविरेचनम् ।
दोषाः प्रचलिताः स्थानाद् भूयः श्लिष्यन्ति वर्त्मसु ॥

अतिस्निग्ध के लिए स्नेह विरेचन का निषेध—अत्यधिक स्नेहपान किए हुए व्यक्ति को स्नेहविरेचन नहीं पीना चाहिए क्योंकि अपने स्थान से चलायमान दोष पुनः मार्गों में चिपक जाते हैं ॥ ४१ ॥

विषाभिघातपिडकाशोफपाण्डुविसर्पिणः ।
नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथा कुष्ठिप्रमेहिणः ॥४२॥

विरेचन के अयोग्य व्यक्ति—विष अभिघात, पिडका, शोथ, पाण्डु, कुष्ठ और प्रमेह के रोगी तथा जो अत्यधिक स्निग्ध नहीं हैं उन्हें विरेचन देना चाहिए ॥ ४२ ॥

विरूक्ष्य स्नेहसात्म्य तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत् ।
तेन दोषा हृतास्तस्य भवन्ति बलवर्धनाः ॥४३॥

स्नेहसात्म्य वालों के लिए संशोधन विधि—स्नेहसात्म्य व्यक्ति को रूक्ष बनाकर तथा पुनः स्नेहन करके विरेचन देना चाहिए, इससे निकले हुए दोष बल की वृद्धि करते हैं ॥ ४३ ॥

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेत्तौषधं मृदु ।
ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः ॥ ४४ ॥

अविज्ञात कोष्ठ वालों के लिये सशोधन में विशेषता—जिस व्यक्ति ने कभी पहले विरेचन द्रव्य का पान न किया हो, उसे मृदु औषधि पिलाकर शुद्ध करना चाहिए। इसके पश्चात् उसके कोष्ठ का ज्ञान होने पर सशोधन करना चाहिए ॥ ४४ ॥

सुखं दृष्टफलं ह्यल्पमात्रं महागुणम् ।
व्यापत्स्वल्पात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम् ॥ ४५ ॥

राजा का योग्य विरेचन—पीने में सुखकर, जिसका गुण ज्ञात हो चुका हो, मन को प्रिय, अल्पमात्रा वाली, अधिक गुणशील तथा जिसमें हानिकारक दोष स्वल्प हो, ऐसी औषधि राजा को पीनी चाहिए ॥ ४५ ॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत् ।
दारु शुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥ ४६ ॥

रूक्ष का संशोधन करने में दोष—स्नेहन और स्वेदन का प्रयोग किए बिना जो मनुष्य संशोधन औषधि पीता है, उसका शरीर इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे सूखी लकडी मोडने से टूट जाती है ॥ ४६ ॥

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः ।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥४७॥

संशोधन के द्वारा सुखपूर्वक दोषों के निकलने का निर्देश—स्नेहन और स्वेदन से चलायमान तथा स्निग्ध रसों के द्वारा प्रकुपित, कोष्ठ में पहुँचे हुए मनुष्यों के दोष, संशोधन के द्वारा सुखपूर्वक बाहर निकाले जा सकते हैं ॥४७॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिका भाषा व्याख्यायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

वमन-विरेचन दोषज व्याधि-चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर वमन, विरेचन के दोष से उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते । तत्र वमनस्याधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्; सामान्यमुभयोः—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं, हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलम्, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं, विबन्धः, अङ्गग्रग्रह इति ॥३॥

पन्द्रह प्रकार के वमन-विरेचन व्यापदों का निर्देश—वैद्य और आतुर के दोष से (भेषज और परिचारक का ग्रहण भी वैद्य एवं आतुर के द्वारा होता है) वमन तथा विरेचन के द्वारा पन्द्रह प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इनमें वमन द्रव्य का नीचे को जाना और विरेचन का ऊपर की ओर उठना पृथक् पृथक् व्यापत्तियाँ है। शेष अन्य व्यापत्तियाँ दोनों में (वमन-विरेचन) समान रूप से होती हैं:—(जिनके नाम निम्न लिखित हैं) १ सावशेषौषधत्व, २ जीर्णौषधत्व, ३ हीनदोषापहृतत्व, ४ वातशूल, ५ अयोग, ६ अतियोग, ७ जीवादान, ८ आध्मान, ९ परिकर्तिका, १० परिस्राव, ११ प्रवाहिका, १२ हृदयोपसरण, २१ विबन्ध, १४ अङ्ग ग्रग्रह ॥

विमर्श—ऊपर निर्देश किया गया है कि वमन, विरेचन के द्वारा पन्द्रह प्रकार की व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती है। इनमें वमन की अधोगति तथा विरेचन की ऊर्ध्वगति दो व्यापत्तियाँ पृथक्-पृथक् होती है। शेष तेरह व्यापत्तियों का उल्लेख दोनों में समान रूप से होना चाहिए, जिसमें पन्द्रह व्यापत्तियों की गणना ठीक हो जाय। किन्तु उपर्युक्त गणना में चौदह व्यापत्तियाँ आती हैं। इनमें अन्तिम अङ्ग-ग्रग्रह व्यापत्ति का पाठ सुश्रुत संहिता के कई संस्करणों में प्राप्त नहीं होता तथा हाराणचन्द्र जी भी उसे अपने पाठ में सम्मिलित नहीं करते। इस प्रकार उपर्युक्त सूची में से अङ्ग ग्रग्रह को हटा देने पर ही उपर्युक्त गणना का सामञ्जस्य हो सकता है। चरक ने दश व्यापदों का ही नाम निर्देश किया है—'आध्मान परिकर्त्तिश्च स्रावो हृद्ग्रहमोर्ग्रहः । जीवादान सविभ्रंशस्तम्भः सोपद्रवः क्रमः । अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः । प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादापदः स्मृताः ॥ (च. सि. अ. ६) सावशेषौषधत्व का तात्पर्य है जीर्णावशेष अर्थात् बिना जीर्ण हुई औषधि। इसका लक्षण चरक में इस प्रकार है—'क्लमो दाहोऽङ्गसदन भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजा । अरतिर्वलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः । (च.सि.अ. ६)

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद्वमनमधो गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥ ४ ॥

वमन के अधोगमन-व्यापद् का निर्देश—भूख से पीडित, अत्यन्त तीक्ष्ण अग्निवाले, मृदु कोष्ठ अथवा दुर्बल मनुष्य का पाक को प्राप्त होता हुआ वमन द्रव्य, सरत्व आदि गुणों की समानता के कारण नीचे की ओर जाता है। इससे इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् वमन नहीं होता तथा दोष (कफ) का उत्क्लेश (वृद्धि) होता है; इस दशा में रोगी का शीघ्र स्नेहन करके पुनः तीक्ष्णतर औषध पिला कर वमन कराना चाहिए ॥ ४ ॥

अपरिशुद्धामाशयस्योत्क्लिष्टश्लेष्मणः सशेषान्नस्य वाऽहृद्यमति प्रभूतं वा विरेचनं पीतमूर्ध्वं गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तत्राशुद्धामाशयमुल्बणश्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेत्, आमान्वये त्वामवत् संविधानम्, अहृद्येऽतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणयुक्तं च; अत ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्यौषधे न तृतीयं पाययेत्, ततस्त्वेनं मधुघृतफाणितयुक्तैर्लेहैर्विरेचयेत् ॥

विरेचन के ऊर्ध्वगमन व्यापद का निर्देश—जिस आतुर का आमाशय अशुद्ध हो तथा कफ का उत्क्लेश हो अथवा जिसका आहार पूर्ण रूप से न पचा हो, उसे अप्रिय या अधिक मात्रा में पिलाया गया विरेचन द्रव्य, ऊपर की ओर जाता है। इससे अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति और दोष (पित्त) की वृद्धि होती है। इस स्थिति में अशुद्ध आमाशय एवं बढ़े हुए कफ वाले को शीघ्र वमन कराके पुनः तीक्ष्णतर विरेचन देना चाहिए। आम का अनुबन्ध रहने पर लंघन, पाचन कराना चाहिए। अप्रिय तथा अधिक मात्रा की अवस्था में प्रिय और प्रमाणयुक्त औषध पिलानी चाहिए। इस क्रिया के उपरान्त भी यदि विरेचन द्रव्य ऊपर की ओर उठे तो तीसरी बार विरेचन नहीं देना चाहिए। इस दशा में मधु, घृत, और राव से युक्त अवलेह के द्वारा आतुर को विरेचन कराना चाहिए॥ ५॥

दोषविग्रथितमल्पमौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा न स्रंसयति दोषान्, तत्र तृष्णा पार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गाराविशुद्धिश्च भवति, तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेदूर्ध्वभागिके, अधोभागिकेऽपि च सावशेषौषधमतिप्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तलक्षणमप्येवं वामयेत्॥ ६॥

सावशेष औषध व्यापद् का वर्णन—वमन अथवा विरेचन की जीर्णावशेष, दोषमिश्रित अल्प औषध, दोषों को निकालने में समर्थ नहीं होती। इससे तृष्णा, पार्श्वशूल, छर्दि (वमन), मूर्च्छा, पर्वभेद (सन्धियों में पीडा), हृल्लास (थुकथुकी), अरति (कहीं मन न लगना) और उद्गार का शुद्ध न होना, होता है। वमन की अवस्था में उस जीर्णावशेष अल्प औषध को उष्ण जल के द्वारा शीघ्र वमन कराना चाहिए और विरेचन की दशा में भी असम्यग्विरिक्त के लक्षणों से युक्त बलवान् पुरुष के बहुदोष मिश्रित जीर्णावशेष औषध को उपर्युक्त विधि से वमन के द्वारा निकालना चाहिए॥ ६॥

क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति, तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्हीयमाणा व्याधिविभ्रंशं बलविभ्रंशं चापादयन्ति, तमनल्पममन्दमौषध च पाययेत्॥ ७॥

जीर्णौषध व्यापद् का वर्णन—तीक्ष्ण अग्निवाले क्रूर कोष्ठ मनुष्य की सेवन की हुई अल्पमात्रा या अल्पगुण वाली औषधि भोजन की भाति पच जाती है। उस अवस्था में समय पर बाहर न निकाले गए दोष, व्याधिविभ्रंश (कोष्ठ आदि में क्षोभ उत्पन्न करना) और बलविभ्रंश (सन्धि विश्लेष आदि) उत्पन्न कर देते हैं। इस दशा में प्रचुर और तीक्ष्ण औषध पिलानी चाहिए॥ ७॥

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुण वा भेषजमुपयुक्तमल्पान् दोषान् हन्ति; तत्र वमने दोषशेषो गौरवमुत्क्लेशं हृद्याविशुद्धि व्याधिवृद्धि च करोति, तत्र तं यथायोगं पाययित्वा वामयेद् दृढतरं, विरेचने तु गुदपरिकर्तनमाध्मान शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोर्व्याधिवृद्धिं च करोति, तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद् दृढतरं दृढ बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति॥

अल्पदोष हरण व्यापद् का वर्णन—स्नेहन और स्वेदन का प्रयोग किए बिना सेवन की गई अल्प गुण वाली औषधि अल्प दोषों को ही नष्ट करती है। उस समय वमन की अवस्था में बचा हुआ दोष गौरव, (भारीपन) उत्क्लेश (मिचली आना) हृदय की अशुद्धि और व्याधि वृद्धि करता है। इसमें योग के अनुसार (स्नेहन-स्वेदन करके) वमन द्रव्य पिला कर आतुर को अत्यधिक वमन कराना चाहिए। विरेचन की अवस्था में बचा हुआ दोष, गुदपरिकर्त्तन (गुदा में चारों ओर काटने के समान पीड़ा), आध्मान, शिरोगौरव, वायु का अवरोध तथा रोग की वृद्धि करता है। इसमें आतुर को, पुनः स्नेहन तथा स्वेदन का प्रयोग करके, तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए। बहुदोष या चलायमान दोषों से युक्त दृढ शरीर वाले व्यक्ति को स्नेहन, स्वेदन के अनन्तर तीसरे दिन अल्प गुण वाली औषधि सेवन करानी चाहिए॥ ८॥

अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति, तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रम मदं संज्ञानाशं च करोति, तं वातशूलमित्याचक्षते; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्॥ ९॥

वातशूल व्यापद् का वर्णन—स्नेहन, स्वेदन के बिना ब्रह्मचर्य रहित अवस्था में सेवन की गई रूक्ष औषध वायु को कुपित करती है। उस समय प्रकुपित हुआ वायु, पार्श्व, पृष्ठ, श्रोणि (कटि) मन्याप्रदेश और मर्म (हृदय) में पीड़ा तथा मूर्च्छा, भ्रम, मद और संज्ञानाश कर देता है। इस दशा को वात शूल कहते हैं। इसमें स्नेह की मालिश करके तथा मापादि शमी धान्यों के द्वारा स्वेदन देकर, मुलेठी के क्वाथ से सिद्ध तैल के द्वारा अनुवासन वस्ति लगानी चाहिए॥

स्नेहस्वेदाभ्यामविभावितशरीरेणाल्पमौषधमल्पगुणं वा पीतमूर्ध्वमधो वा नाभ्येति दोषांश्चोत्क्लेश्य तैः सह बलक्षयमापादयति, तत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति, तमयोगमित्याचक्षते, तमाशु वामयेन्मदनफललवणाम्बुभिर्विरेचयेत्तीक्ष्णतरैः कषायैश्च। दुर्वान्तस्य तु समुत्क्लिष्टा दोषा व्याप्य शरीरं कण्डूश्वयथुकुष्ठपिडकाज्वराङ्गमर्दनिस्तोदनानि कुर्वन्ति, ततस्तानशेषान्महौषधेनापहरेत्। अस्निग्धस्विन्नस्य दुर्विरिक्तस्याधोनाभेः स्तब्धपूर्णोदरता शूलं वातपुरीषसङ्गः कण्डूमण्डलप्रादुर्भावो वा भवति, तमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्तीक्ष्णेन। नातिप्रवर्तमाने तिष्ठति वा दुष्टसंशोधने तत्सन्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत् पाणितापैश्च पार्श्वोदरमुपस्वेदयेत्, ततः प्रवर्तन्ते दोषाः। अनुप्रवृत्ते चाल्पदोषे जीर्णौषधं बहुदोषमहःशेषं बलं चावेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात्। अप्रवृत्तदोषं दशरात्रादूर्ध्वमुपसंस्कृतदेहं स्नेहस्वेदाभ्यां भूयः शोधयेत्। दुर्विरेच्यमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्। ह्रीभयलोभैर्वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था

वणिजः श्रोत्रियाश्च भवन्ति, तस्मादेते दुर्विरेच्याः बहुगतत्वात्; अत एव ताननिलिप्तवान् स्वदोषपक्षात् शोधयेत् ॥ १० ॥

वमन-विरेचन के अयोग व्यापद् का वर्णन—स्नेहन और स्वेदन से रहित शरीर वाले व्यक्ति को दिलाई गई अल्पमात्रा या अल्प गुण वाली औषधि, ऊर्ध्व या अधो मार्ग में (वमन-विरेचन) प्रवृत्त नहीं होती और दोषों को उत्क्लेशित कर उनके साथ बलक्षय उत्पन्न कर देती है। इससे आध्मान, हृदयग्रह, तृष्णा, मूर्च्छा और दाह होता है। इस अवस्था को अयोग कहते हैं। इस दशा में (वमन का अयोग होने पर) मैनफल और लवण मिश्रित जल पिला कर शीघ्र वमन कराना चाहिए तथा (विरेचन के अयोग में) अति तीक्ष्ण कषायों से विरेचन कराना चाहिए। सम्यक् भांति वमन न होने पर उत्क्लेशित हुए दोष, शरीर में व्याप्त होकर कण्डू, शोथ, कुष्ठ, पिडका, ज्वर, उदर्मद और निम्नोद (मुंह चुम्बे के समान पीड़ा) उत्पन्न कर देते हैं। औषधि की बड़ी मात्रा पिला कर इनका समूल नाश करना चाहिए। स्नेहन और स्वेदन से रहित, दुर्विरिक्त मनुष्य की नाभि के नीचे स्तब्धता, तनाव, शूल, अधोवात वायु एवं मल का अवरोध तथा कण्डू और मण्डल की उत्पत्ति होती है, इसे प्रथम आस्थापन देकर (निरूहबस्ति) पुनः स्नेह बस्ति से स्नेहन करके, तीक्ष्ण कषायों के द्वारा विरेचन कराना चाहिए। विरेचन का वेग भली भांति न होने पर अथवा विरेचन द्रव्य के दूषित होकर रुकने पर इसे उत्तेजित करने के लिए उष्ण जल पिलाना चाहिए और करतल को उष्ण करके पार्श्व तथा उदर पर सेक करना चाहिए, इससे दोषों की प्रवृत्ति (विरेचन) होती है। दोषों की प्रवृत्ति अल्प मात्रा में होने पर, औषधि की जीर्णावस्था, दोष बाहुल्य, दिवस का अवसान, शारीरिक शक्ति एवं पुरुष के बल की परीक्षा कर पुनः औषधि की मात्रा पिलानी चाहिए। दोषों की प्रवृत्ति न होने पर दस दिन के उपरान्त, स्नेहन, स्वेदन के द्वारा शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति का पुनः (वमन-विरेचन के द्वारा) संशोधन करना चाहिए। कठिनाई से विरेचन होने वाले व्यक्ति को प्रथम आस्थापन (निरूह बस्ति) देकर तथा स्नेह बस्ति का प्रयोग करके, विरेचन कराना चाहिए। लज्जा, भय और लोभ से उपस्थित मल, मूत्र के वेगों को रोकने वाली प्रायः स्त्रियाँ, राजा के समीप रहने वाले व्यक्ति व्यापारी तथा वेदपाठी हुआ करते हैं, इस कारण ये लोग दुर्विरेच्य होते हैं, क्योंकि इनमें वायु की प्रबलता रहती है। अतः भली भांति स्नेहन-स्वेदन करके इनका शोधन करना चाहिए ॥ १० ॥

स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रमतिमृदुकोष्ठस्य वाऽतितीक्ष्णमधिकं वा दत्तमौषधमतियोगं कुर्यात्। तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तं घृतेनाभ्यज्याऽवगाह्य शीतास्वप्सु शर्करामधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वं, विरेचनातियोगे कफस्यातिप्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य, तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तमतिशीतास्वम्भिः परिषिच्याऽवगाह्य वा शीतैस्तण्डुलाम्बुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्, पिच्छाबस्तिं चास्मै दद्यात्, क्षीरसर्पिषा चैनमनुवासयेत्, प्रियङ्ग्वादिं चास्मै तण्डुलाम्बुना पातुं प्रयच्छेत्, क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत् ॥ ११ ॥

अतियोग व्यापद् का वर्णन—अत्यधिक स्नेहन, स्वेदन से युक्त, अथवा अत्यन्त मृदु कोष्ठ वाले पुरुष को अत्यन्त तीक्ष्ण या अधिक मात्रा में दी गई औषधि अतियोग उत्पन्न कर देती है। वमन का अतियोग होने पर पित्त की अधिक प्रवृत्ति; बल का ह्रास और वायु का प्रबल प्रकोप होता है। इसमें घृत की मालिश कर शीतल जल से स्नान कराना चाहिए और दोषों के अनुसार शर्करा और मधु मिश्रित अवलेहों के द्वारा उपचार करना चाहिए। विरेचन का अतियोग होने पर प्रथम कफ की अत्यधिक प्रवृत्ति और इसके बाद रक्तमिश्रित कफ का आगमन होता है। इस दशा में भी बल का ह्रास और वात का प्रबल प्रकोप होता है। रोगी को अत्यन्त शीतल जल से स्नान कराना चाहिए और मधु मिश्रित शीतल तण्डुलोदक के द्वारा वमन कराना चाहिए। इसे पिच्छाबस्ति (पिच्छिल द्रव्यों से युक्त) देनी चाहिए। दूध युक्त घी से अनुवासन बस्ति लगानी चाहिए और तण्डुलोदक के साथ प्रियङ्गु आदि गण के द्रव्य पीने के लिए देना चाहिए तथा दूध या मांसरस में से किसी एक के साथ भोजन कराना चाहिए ॥ ११ ॥

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमपसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञ्यमित्युपद्रवा भवन्ति; तमजासृक्चन्दनोशीराञ्जनलाजचूर्णैः सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्, फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुङ्गाभिर्वा वटादीनां पेयां सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा, पयसा जाङ्गलरसेन वा भोजयेत्, अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्; जिह्वामतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रवृद्धां तिलक्षाराग्निप्रलिप्तां वाऽन्तः पीडयेत्, अन्तःप्रविष्टायामम्लमन्ये तस्य पुरस्तात् स्वादयेयुः; व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्, हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विद्ध्यात्, तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत् ॥१२॥

वमन के अतियोग का वर्णन—इसी अतियोग की अवस्था में वमन का अतियोग होने पर रोगी रक्त थूकता है अथवा रक्त का वमन करता है। इसमें जिह्वा का बाहर निकलना, अन्दर की ओर मुड़ जाना, आँखों का फैल जाना, जबड़े का बन्द होना, तृष्णा, हिक्का, ज्वर और संज्ञानाश आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इस दशा में बकरी का रक्त, चन्दन, खस, सौंवीराञ्जन और धान के लावे के चूर्ण का शर्करा एवं जल के द्वारा मन्थ बना कर पिलाना चाहिए। घृत, मधु और शर्करा मिश्रित फलों के रस या वट आदि वृक्षों की कोंपलों से या मल बांधने वाले (कूटज आदि) द्रव्यों के द्वारा सिद्ध मधु मिली हुई पेया पिलानी चाहिए। दूध अथवा जांगल जीवों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिए। अधिक रक्त-स्राव को रोकने वाली विधि के अनुसार उपचार करना चाहिए। अधिक

बाहर निकली हुई जिह्वा में त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पल) और लवण रगड़ कर या तिल और द्राक्षा का लेप करके अन्दर दबाना चाहिए। अन्दर घुसी हुई जिह्वा को बाहर निकालने के लिए दूसरे व्यक्ति को उस रोगी के सम्मुख खट्टे फलों का स्वाद लेना चाहिए। नेत्रों के फैल जाने पर घृत की मालिश करके दबाना चाहिए। जबड़े के बैठ जाने पर वातहर नस्य और स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। तृष्णा आदि में यथायोग्य उपचार करना चाहिए तथा संज्ञानाश होने पर बांसुरी, वीणा एवं संगीत की ध्वनि सुनानी चाहिए॥

विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति, ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति; तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्, निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत्, क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत, वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिपूक्तः प्रतीकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत्, न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्, शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्, न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु ॥ १३ ॥

विरेचन के अतियोग का वर्णन—विरेचन का अतियोग होने पर मोरपंख की चन्द्रिका के तुल्य जल बाहर निकलता है। इसके अनन्तर मांस के धोवन के समान जीव शोणित (शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगाश्रय रक्त) आता है, फिर गुदभ्रंश, कम्प और वमन के अतियोग वाले उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा भी अधिक रक्तस्राव को रोकने वाली विधि के द्वारा करनी चाहिए। गुदभ्रंश होने पर गुदा में स्नेह का अभ्यङ्ग तथा स्वेदन करके अन्दर की ओर दबाना चाहिए। कम्प में वातव्याधि चिकित्सा विधि का प्रयोग करना चाहिए। जिह्वानि:सरण की चिकित्सा विधि ऊपर बतलाई गई है। जीव शोणित का स्राव अधिक होने पर गम्भारी के फल, बेर, दूब और खस के द्वारा सिद्ध दूध में घी का मण्ड और सौवीराञ्जन मिला कर, शीतल करके, आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। न्यग्रोधादिगण के क्वाथ में गन्ने का रस, घृत और रक्त (बकरी का रक्त) मिलाकर वस्तियों के द्वारा उपचार करना चाहिए। थूक के साथ रक्त निकलने पर रक्तपित्त और रक्तातिसार की भांति चिकित्सा करनी चाहिए तथा पान और भोजन में न्यग्रोधादिगण के द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्, यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं, सभक्तं च शुने दद्याच्छक्तुसमिश्रं वा, स यद्युपभुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्, अन्यथा रक्तपित्तमिति ॥ १४ ॥

जीवशोणित और रक्त-पित्त परीक्षा—जीवशोणित (शुद्ध रक्त) और रक्तपित्त की परीक्षा के लिए निकले हुए रक्त में रुई या वस्त्र भिगोना चाहिए। यदि उष्ण जल से धोने पर भी वस्त्र का रंग साफ न हो तो उसे जीवशोणित समझना चाहिए। भोजन या सत्तू में उस रक्त को मिला कर कुत्ते को देना चाहिए, यदि कुत्ता उसे खा ले तो जीवशोणित समझना चाहिए अन्यथा उसे रक्तपित्त जानना चाहिए ॥ १४ ॥

सशेषान्नेन बहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधमाध्मापयति, तत्रानिलमूत्रपुरीषसङ्गः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभङ्गो गुदबस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति, तं चाध्मानमित्याचक्षते; तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत् ॥१५॥

आध्मान व्यापद् का वर्णन—अन्न का समुचित परिपाक न होने वाले, बहुदोष युक्त, रूक्ष, एवं वातप्रधान कोष्ठ मनुष्य को स्नेहरहित शीतल औषधि पीने से आध्मान होता है। इसमें अपान वायु और मलमूत्र का अवरोध, पेट का फूलना, पार्श्वपीडा, गुदा और बस्ति में सुई चुभाने की सी वेदना तथा भोजन से अरुचि हो जाती है। इस अवस्था को आध्मान कहते हैं। इसमें स्वेदन करके आनाहवर्ति (मूत्रादि अनुलोमन क्रिया), दीपन, लवन आदि क्रिया तथा बस्ति के द्वारा उपचार करना चाहिए ॥ १५ ॥

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वाऽतितीक्ष्णोष्णातिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति, तत्र गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तनमनिलसङ्गो वायुर्विष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति, तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत् ॥ १६ ॥

परिकर्तिका व्यापद् का वर्णन—क्षीण बलकाय, अतिमृदु कोष्ठ, मन्दाग्नि से युक्त, रूक्ष पुरुष के अत्यन्त तीक्ष्ण, उष्ण अथवा अधिक लवणमिश्रित अति रूक्ष औषधि पीने से पित्त और वायु प्रकुपित होकर परिकर्तिका उत्पन्न कर देते हैं। इसमें गुदा, नाभि, मेढ्र, बस्ति और शिर में दाह के साथ कैंची से काटने के समान वेदना, अपान वायु का अवरोध, वायु की विगुणता और भोजन में अरुचि हो जाती है। इसमें मधु, घृत युक्त मुलेठी और काले तिल के कल्क के साथ पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए और रोगी को शीतल जल से स्नान तथा दूध के साथ भोजन दे कर, घृतमण्ड अथवा मुलेठी के द्वारा सिद्ध तेल से अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६ ॥

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति, ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति, तत्र दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः, तं परिस्रावमित्याचक्षते; तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेत्, उपशान्तदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत् ॥ १७ ॥

परिस्राव व्यापद् का वर्णन—बहु दोषयुक्त क्रूर कोष्ठ वाले मनुष्य के मृदु औषधि सेवन करने पर, वह दोषों को उत्क्लेशित कर सम्पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकाल पाती, जिससे वे दोष परिस्राव उत्पन्न कर देते है। इसमें दुर्बलता, उदर में वायु वैगुण्य, भोजन में अरुचि और अंगों में पीड़ा होती है, वेदना के साथ पित्त और श्लेष्मा निकलता है, इस अवस्था को परिस्राव कहते हैं। इस दशा में अजकर्ण, धव, तिनिश (स्यन्दन), पलाश और वला (खरेंटी) के मधु युक्त क्वाथ के द्वारा आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा परिस्राव के शान्त होने पर रोगी का स्नेहन करके पुनः सशोधन देना चाहिये ॥ १७ ॥

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वातवर्चः उदीरयति वेगाघातेन वा, तदा प्रवाहिका भवति; तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाह्यमाणः कफमुपविशति; तां परिस्रावविधानेनोपचरेत् ॥ १८ ॥

प्रवाहिका व्यापद् का वर्णन—अतिरूक्ष या अति स्निग्ध पुरुष में प्रयुक्त औषधि; वात और मल के अप्राप्त वेगों को प्रवर्तित कर अथवा वेगों का अवरोध करके; प्रवाहिका उत्पन्न करती है। अर्थात् अत्यन्त रूक्ष पुरुष को औषधि देने पर जब वायु और मल के अप्राप्त वेग ही प्रवर्तित होते हैं तब प्रवाहिका होती है तथा अत्यन्त स्निग्ध पुरुष को जब औषधि दी जाती है तब वेगों के अवरुद्ध होने के कारण प्रवाहिका होती है। इसमें वातसहित, दाह और शूल से युक्त, गुरु, पिच्छल, श्वेत, कृष्ण या रक्तमिश्रित बहुत अधिक कफ प्रवाहण करने पर (मल त्याग के समय किनछने पर) निकलता है। इसका उपचार, परिस्राव चिकित्सा विधि की भांति करना चाहिये ॥ १८ ॥

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते, उद्वृताक्षो जिह्वां खादति, प्रताम्यत्यचेताश्च भवति, तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रायेण चैनं बस्तिभिरुपाचरेत् ॥ १९ ॥

औषध के प्रवृत्त वेग को रोकने से उत्पन्न अवस्था का वर्णन—जो व्यक्ति अज्ञानवश ऊपर या नीचे की ओर प्रवृत्त औषध-वेग को रोकता है, उसके (प्रकुपित हुए) दोष हृदय में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था में प्रधान मर्म (हृदय) के सन्तप्त होने से अत्यधिक वेदना से पीडित पुरुष दाँत कटकटाता है, आँखे ऊपर उठ जाती हैं, जीभ काटता है, मूर्च्छित होता है और अन्त में सज्ञारहित हो जाता है। मूर्ख लोग इसकी चिकित्सा (मृतक समझ कर) नहीं करते। इसमें रोगी का अभ्यङ्ग करके धान्यस्वेद से स्वेदन करना चाहिये, मुलेठी से सिद्ध तेल के द्वारा अनुवासन देना चाहिए और तीक्ष्ण शिरोविरेचन का प्रयोग करना चाहिए। फिर मुलेठी मिले हुए तण्डुलोदक के द्वारा वमन कराना चाहिए तथा दोषों के प्रकोप के अनुसार वस्तियों से इसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १९ ॥

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत, तस्य दोषाः स्रोतःस्वङ्गीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापाद्य विबध्यन्ते, तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति; तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत; अधोभागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवामूत्रसंसृष्टं विरेचनाय पाययेत्, आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्, यथादोषमाहारक्रमं च; उभयतोभागे तूपद्रवविशेषान् यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥ २० ॥

विबन्धव्यापद् का वर्णन—ऊर्ध्व या अधोमार्ग से प्रवृत्त दोषों की स्थिति में जो पुरुष शीतलगृह, जल, वायु या अन्य शीतल वस्तुओं का सेवन करता है, उसके दोष स्रोतों में रुककर, घनत्व (ठोस) दशा को प्राप्त होते हुए वायु, मूत्र और मल को रोककर विबन्ध उत्पन्न कर देते है। इसमें रोगी को दाह, ज्वर और तीव्र वेदना होती है, उसे शीघ्र वमन देकर अवस्था के अनुसार उपचार करना चाहिए। विरेचन की अवस्था में अधोभाग के दोषों को दूर करने वाले द्रव्यों को सेन्धानमक, काञ्जी तथा गोमूत्र में मिलाकर विरेचन के लिए पिलाना चाहिए, आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग दोषों के अनुसार करना चाहिये, दोषों के अनुकूल आहार सेवन कराना चाहिए तथा दोनों मार्गों की प्रवृत्ति अवस्था में उपद्रव विशेष का प्रतिकार, दोषों के अनुसार करना चाहिए ॥ २० ॥

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनं, यदधः परिस्रवणं स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वं शुष्कोद्गारा इति ॥ २१ ॥

कतिपय वमन-विरेचन व्यापदों के अन्तर का निर्देश—विरेचन में जिस प्रकार गुदपरिकर्तिका होती है उसी प्रकार वमन में कण्ठक्षणन (कण्ठ में जलन) होता है, विरेचन में जो परिस्राव है वमन में वही कफप्रसेक है तथा विरेचन में जिसे प्रवाहिका कहते है वही वमन में शुष्क उद्गार कहलाता है ॥

भवति चात्र—

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दश पञ्च च तत्त्वतः।
एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पूर्वोक्त व्यापदों का हेतु—जैसे कि:—तत्त्वतः (परमार्थ रूप से) जिन पन्द्रह प्रकार की व्यापदों का वर्णन किया गया है, वे विरेचन तथा वमन के अतियोग, मिथ्यायोग, एव हीन योग के कारण उत्पन्न होती हैं ॥ २२ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

नेत्रवस्ति के प्रमाण, विभाग तथा चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर यन्त्रवस्ति इनका प्रमाण तथा विभाग एवं इनके द्वारा की जानेवाली व्याधि-प्रतिकार पद्धति का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

विमर्शः—नेत्र यन्त्रम् (स्नेहदानसाधननलिका)। वस्तिरेणादीनां मूत्राधारः (वस्तिनामिचर्मविशेषो मूत्रारथानम्) तदाधेय द्रव्यमपि, तयो. प्रमाण प्रविभागश्च, स एव चिकित्सित व्याधे प्रतीकारो यस्मिन् तत्।

तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककर्मकरत्वाद्वस्तेः; इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधनसंशमनसंग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहन्ति, वयः स्थापयति ॥ ३ ॥

वस्ति की प्रशसा—आचार्य लोग स्नेहन आदि कर्मों में वस्तिकर्म को मुख्यतम मानते है। क्योंकि वस्ति अनेक कार्यों को सिद्ध करती है। नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से वस्ति दोषों का सशोधन, संशमन और संग्रहण करती है, क्षीण शुक्र पुरुष को वाजी अर्थात् शुक्रवान् वनाती है, कृश को पुष्ट करती है, स्थूल को दुर्वल करती है, नेत्रों को शक्ति देती है, वली-पलित रोगों का नाश करती है और आयु को वढ़ाती है ॥ ३ ॥

शरीरोपचय वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धि च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥ ४ ॥

भली भांति सेवन की गई वस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, वल, आरोग्य और आयुष्य की वृद्धि करती है ॥ ४ ॥

विमर्शः—चिकित्सा में चरक ने वस्ति के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—शाखागता कोष्ठगताश्च रोगा मर्माण्यसर्वावयव गताश्च। ये सन्ति तेषा न तु कश्चिदन्यो वायोः पर जन्मनि हेतुरस्ति। विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसघातकरः स यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्तेर्विना भेषजमस्ति किञ्चित्। तस्माच्चिकित्सार्द्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि वस्तिमेके ॥ (च० कल्प० अ० १)

तथा ज्वरातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दितान्तेपकपक्षाघातैकाङ्गसर्वाङ्गरोगाध्मानोदरयोनिशूलशर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशोणितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्धनुमन्याग्रहशर्कराश्मरीमूढगर्भप्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते ॥ ५ ॥

वस्ति साध्य रोग—वस्ति का विशेष प्रयोग ज्वर अतिसार, तिमिर, प्रतिश्याय, शिरोरोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकाङ्गवात, सर्वाङ्गवात, आध्मान, उदर, योनिशूल, शर्करा-शूल, वृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातशोणित, वात-मूत्र-मल का अवरोध, उदावर्त, शुक्र आर्तव-स्तन्यनाश, हृदय, हनु-मन्याग्रह, शर्करा, अश्मरी तथा मूढगर्भ प्रभृति रोगों में किया जाता है ॥

भवति चात्र—

बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते।
संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा ॥ ६ ॥

जैसे कि—वात, पित्त· कफ, रक्त, दोषों के संसर्ग (प्रकोप) तथा सन्निपात (त्रिदोपज संसर्ग) में वस्ति प्रयोग ही सर्वदा हितकर होता है ॥ ६ ॥

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां पडष्टदशाङ्गुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुलव्यङ्गुलार्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि। तेषु चास्थापनद्रव्यप्रमाणमातुरहस्तसंमितेन प्रसृतेन संमितौ प्रसृतौ द्वौ चत्वारोऽष्टौ च विधेयाः ॥ ७ ॥

वस्ति नेत्र का प्रमाण—एक, आठ तथा सोलह वर्ष की आयु के लिए क्रमशः छै, आठ और दश अंगुल लम्वी, कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा अंगुलि के समान मोटी अग्रभाग में डेढ अंगुल, दो अंगुल और साढे तीन अंगुल दूरी पर कर्णिकासहित तथा मूल में कंक, श्येन (वाज) और मोर के पख की नाडी की भांति प्रवेश द्वार वाली एव मूग, उडद और मटर प्रमाण अग्र छिद्र युक्त नेत्रों का निर्माण करना चाहिये। उनमें क्रमशः आतुर की हस्त प्रमाण अञ्जलि से दो, चार और आठ अञ्जलि आस्थापन द्रव्य की मात्रा रखनी चाहिए ॥ ७ ॥

विमर्शः—तत्र सावत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणामित्यत्र यथासख्यव्याख्यानेन सावत्सरिकवालस्य निरूहयन्त्र षडङ्गुलप्रमाणम्, तत्कनिष्ठिकापरिणाहम्, अग्रेऽध्यर्द्धाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिक, कङ्कपक्ष नाडीतुल्यप्रवेश मूले, मुद्गवाहिस्रोतश्चाग्रे विदध्यात्। छत्राकारा गुदेऽधिकान्त प्रदेशरोधिनी कर्णिका कथ्यते। कङ्क वकचञ्चुः कृष्णवर्ण प्रसिद्ध एव। अष्टवर्षस्य पुनरष्टाङ्गुलप्रमाण, तदनामिकापरिणाहम्, अग्रे द्व्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिक, श्येनपक्षनाडीतुल्यप्रवेश मूले, माषवाहिस्रोतश्चाग्रे विदध्यात्। द्विरष्टवर्षस्य षोटशवर्षस्येत्यर्थः। किम्भूत यन्त्रम्, दशाङ्गुलप्रमाण, तन्मध्याङ्गुलिपरिणाह, अर्द्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकम्। वर्हिणो मयूरः, तत्पक्षनाडीप्रवेश मूले, कलायवाहिस्रोतश्चाग्रे विदध्यात्। तेष्विति सावत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षेषु वालेषु यथासख्यमातुरहस्तेन द्वौ चत्वारोऽष्टौ च प्रसृता विधेयाः। प्रसृतोऽत्र कुञ्चिताङ्गुलिः पाणिः, ननु पलद्वयमिति गयदासाचार्यः। जेज्जटाचार्यस्तु आतुरहस्तग्रहण मध्यमपुरुषहस्तोपलक्षणम्, तेन तत् प्रसृतेन पलद्वयप्रमितेनेति व्याख्यानयति। (डल्हण)

वर्षान्तरेषु नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि।
वयोबलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम् ॥ ८ ॥

बीच के वर्षों में (उपर्युक्त आयु के अतिरिक्त) नेत्रों का

प्रमाण तथा वस्ति द्रव्य की मात्रा वय, बल और शरीर की भली भाँति परीक्षा करके बढ़ा लेनी चाहिए ॥ ८ ॥

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरीणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्, अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलास्थिमात्रच्छिद्रं, छिन्नकलायमात्रच्छिद्रमित्येके; सर्वाणि मूले वस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि। आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहितं द्वादशप्रसृताः। सप्ततेस्तूर्ध्वं नेत्रप्रमाणमेतदेव, द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत् ॥ ९ ॥

पच्चीस वर्ष से ऊपर की आयु के लिए बारह अङ्गुल लम्बी, मूल में अंगुष्ठोदर प्रमाण मोटी, अग्रभाग में कनिष्ठिकोदर प्रमाण मोटी तथा अग्रभाग में तीन अंगुल दूरी पर कर्णिका सहित, गृद्धपक्षी की नाडी के समान मूल में प्रवेश द्वार वाली, बेर की गुठली के तुल्य अग्रभाग में छिद्र से युक्त, किन्हीं आचार्यों के मत से फूले हुए मटर के तुल्य अग्रभाग में छिद्रयुक्त एवं सभी नेत्रों के वस्ति को बाँधने के लिए दो कर्णिका होनी चाहिए। इनमें आस्थापन द्रव्य बारह प्रसृत (अञ्जलि) होना चाहिए। सत्तर वर्ष से ऊपर की आयु में नेत्र का प्रमाण इतना ही होना चाहिए पर द्रव्य प्रमाण सोलह वर्ष की आयु के तुल्य होना चाहिए ॥ ९ ॥

मृदुर्वस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः।
तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु वस्तिर्हि स्याद् बलायुषी ॥१०॥

बालक और वृद्धों की वस्ति में विशेषता—बालक और वृद्ध के लिए विशेषरूप से मृदु वस्ति का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि इस अवस्था में तीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग बल और आयुष्य को नष्ट करता है ॥ १० ॥

(व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं मुद्गवाहिस्रोतः; व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत ॥ ११ ॥)

व्रण नेत्र के लक्षण—व्रण नेत्र की लंबाई आठ अङ्गुल और स्रोत मूंग की आकृति का होना चाहिए तथा व्रण की परीक्षा करके दोषों के अनुसार स्नेह एवं कषायों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११ ॥

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीन्यृजूनि गुटिकामुखानि च ॥ १२ ॥

वस्तिनेत्र के निर्माण द्रव्यों और आकृतियों का निर्देश—नेत्र सुवर्ण, रजत, ताम्र, लौह, पित्तल, दन्त, शृंग, स्फटिक और वृक्ष के सार भाग से निर्मित तथा चिकने, दृढ़, गौ की पूँछ की आकृतिवाले, सीधे और गोलमुख से युक्त होने चाहिए ॥ १२ ॥

वस्तयश्च बन्ध्या मृदवो नातिबहला दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम् ॥ १३ ॥

वस्ति के निर्माण द्रव्य—वस्तियों का निर्माण बन्ध्या गौ, भैंस, सूअर, बकरी और भेंड़ की वस्तियों के द्वारा करना चाहिए, जो कोमल हों, बहुत मोटी न हों तथा दृढ और प्रमाण युक्त हों ॥ १३ ॥

नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसंभवा।
वस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम् ॥१४॥

नेत्र के अभाव में नरसल, बाँस या अस्थि की बनी हुई नली हितकर होती है और वस्ति के अभाव में पतला चमड़ा अथवा गाढ़ा वस्त्र उपयोगी होता है ॥ १४ ॥

वस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्।
मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम् ॥१५॥
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्युब्जं तु विवृताननम्।
बद्ध्वा लोहेन तप्तेन चर्म स्रोतसि निर्दहेत् ॥१६॥

वस्ति निर्माण की प्रक्रिया—मांस रक्त आदि से रहित, शुद्ध (कषायरञ्जित), भली-भाँति स्वच्छ की हुई, कोमल, न तो बड़ी और न छोटी, अनेक बार स्नेह से मर्दित, फैले हुए मुखवाली अधोमुखी वस्ति को नेत्र के मूल में जोड़कर बाँधना चाहिए और तप्त लोह-शलाका से उस वस्ति चर्म के छिद्र को जला देना चाहिए ॥ १५-१६ ॥

परिवर्त्य ततो बस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत्।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥१७॥

वस्ति को फिर उलट कर तथा बाँधकर सुरक्षित स्थान में रखना चाहिए और इसके द्वारा विधिपूर्वक आस्थापन (निरूह) एवं तैल वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ॥१७॥

तत्र द्विविधो वस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च। आस्थापनं, निरूह इत्यनर्थान्तरं; तस्य विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनो युक्तरथः, सिद्धबस्तिरिति। स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद्वा निरूहः, वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनम्। माधुतैलिकविधानं च निरूहोपक्रमचिकित्सिते वक्ष्यामः। यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहवस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादावप(?)कृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः। तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्रावस्तिरिति ॥ १८ ॥

वस्ति के भेद—वस्ति दो प्रकार की होती है—(१) नैरूहिक और (२) स्नैहिक। आस्थापन और निरूह एकार्थवाचक शब्द हैं। माधुतैलिक वस्ति इसी का भेद है और यापन, युक्तरथ तथा सिद्धवस्ति इसके पर्यायवाचक शब्द है। दोषों को निकालने अथवा शरीर का रोहण (वृद्धि) करने के कारण इसे निरूह कहते हैं तथा वय (बल?) या आयु को स्थिर रखने से यह आस्थापन कहलाती है। माधुतैलिक वस्ति का विधान निरुहक्रम चिकित्सित अध्याय में किया जा रहा है। अपने प्रमाण और गुण के अनुसार कथित, आस्थापन से चतुर्थांश मात्रा वाली अनुवासन वस्ति, स्नेह वस्ति का भेद है। शरीर में रुकी रहने पर भी जो दूषित नहीं होती अथवा प्रतिदिन जिसका प्रयोग किया जाय उसे अनुवासन कहते हैं। इस अनुवासन वस्ति का भेद मात्रा वस्ति है, जो डेढ़पल प्रमाण मात्रा वाली तथा निरुपद्रव होती है ॥ १८ ॥

विमर्शः—यस्य यत् प्रमाणं यो यो गुणस्तान्यां विहितः स्नेहवस्त्याख्योऽनुवासनसञ्ज इत्यर्थः। यथावय इत्यादि वक्ष्यमाण-

वाक्यदर्शनात् आस्थापनस्य पादैस्त्रिभिरवकृष्टो हीन: पादावकृष्टः। अयमर्थ:—सांवत्सरिकादि कालापेक्ष यत् प्रकुञ्चादि चतुर्विंशतिपलावसान निरूहप्रमाण तच्चतुर्थांशेन कर्षमारभ्य षट्पलानि यावदनुवासनस्य प्रमाणमिति। तस्याप्यनुवासनस्य षट्पलप्रमाणस्यार्द्धार्द्धमात्रा अवकृष्ट: पादावशिष्टोऽध्यर्द्धपलमात्र इत्यर्थ:। (डल्हण)

निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः।
निरूहशोधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति।
अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम् ॥१९॥
सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः।
तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहवस्तिर्विधीयते ॥२०॥

विशुद्ध देह में ही स्नेहवस्ति विधान का निर्देश—निरूहवस्ति शोधन और लेखन करती है तथा स्नैहिक वस्ति बृंहण होती है। निरूहवस्ति से शुद्ध हुए मार्गों में स्नेह भली-भाँति उसी प्रकार पहुँचता है जिस प्रकार सर्वविध दोषरहित (कूड़े, करकट या अन्य बाधा से रहित) नाली में जल पहुँचता है। वस्तियाँ (निरूह और अनुवासन) सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाली तथा शरीर के लिए प्राण होती हैं, अतः शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति के लिए ही स्नेहवस्ति का विधान करना चाहिए ॥१९-२०॥

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शःपाण्डुरोगभ्रममदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकण्ठशोपशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः ॥ २१ ॥

वस्ति कर्म के अयोग्य मनुष्य—उन्माद, भय, शोक, पिपासा, अरोचक, अजीर्ण, अर्श, पाण्डुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, छर्दि, कुष्ठ, मेह, उदर, स्थौल्य, श्वास, कास, कण्ठशोप, शोथ तथा उर:क्षत से युक्त कृश, सात मास की गर्भिणी, दुर्बल अग्नि वाले, असहिष्णु बालक, वृद्ध एवं वातरोग के अतिरिक्त अन्य कारणों से क्षीण पुरुषों को, अनुवासन और निरूहण वस्तियाँ नहीं देनी चाहिए ॥

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन ॥२२॥

रोग विशेष में केवल स्थापन का निर्देश—उदर, प्रमेह और कुष्ठ से पीडित तथा स्थूल मनुष्य को अनुवासन वस्ति अवश्य देनी चाहिए किन्तु इनके लिए निरूह वस्ति का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥

असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत् ॥२३॥

अनुवासन प्रयोग से इनमें हानि—इन रोगों से पीड़ित मनुष्यों को अनुवासन देने से व्याधियाँ असाध्य हो जाती हैं, असाध्य अवस्था में भी अंगों में पीडा अधिक होती है ॥२३॥

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः।
सम्यक्प्रणिहितो वस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति ॥२४॥

वस्ति द्वारा सर्वांगगत दोषों के हरण का निर्देश—भली-भाँति प्रयुक्त वस्ति पक्वाशय, कटिप्रदेश और नाभि के अधोभाग में चारों ओर ठहरती है ॥ २४ ॥

पक्वाशयाद्वस्तिवीर्यं खैर्देहमनुसर्पति।
वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम् ॥२५॥

पक्वाशय से वस्ति का वीर्य (प्रभाव) स्रोतों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में उसी प्रकार फैल जाता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में सींचे गए जल की शक्ति सम्पूर्ण वृक्ष में फैल जाती है ॥ २५ ॥

स चापि सहसा वस्तिः केवलः समलोऽपि वा।
प्रत्येति वीर्यं त्वनिलैरपानाद्यैर्विनीयते ॥२६॥

वह वस्ति भी केवल या मल के साथ सहसा बाहर निकल आती है किन्तु उसकी शक्ति अपान, उदान और व्यान आदि के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुँच जाती है ॥ २६ ॥

वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात् (न्)।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव ॥२७॥

पक्वाशयस्थ वस्ति अपनी शक्ति से शिर से पैर तक के सम्पूर्ण दोषों को उसी प्रकार ग्रहण करती है जिस प्रकार आकाश में रहने वाला सूर्य भूमि से रसों को खींचता है ॥२७॥

स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य संचयान्।
उत्खातमूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः ॥२८॥

भली भाँति प्रयुक्त वस्ति अपनी शक्ति से कटि, पृष्ठ और कोष्ठ में संचित दोषों को हिलाकर जड सहित उखाड कर दूर करती है ॥ २८ ॥

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः ॥२९॥
वायोर्विषहते वेगे नान्या वस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ॥३०॥

वात-प्रकोप के प्रशमन में वस्ति की प्रधानता—चूँकि तीनों दोषों को प्रकुपित करने में स्वामी वायु होता है, इसलिए शरीर को हानि पहुँचाने वाले, अत्यधिक बढ़े हुए उस वायु के वेग को विशेषरूप से सहन करने में वस्ति, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा, उसी प्रकार समर्थ होती है जिस प्रकार पवन के द्वारा प्रताडित जल के वेग को समुद्र का कूल (किनारा) सहन करता है ॥ २९-३० ॥

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥३१॥

भली भाँति सेवन की गई वस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्य और आयुष्य की वृद्धि करती है ॥ ३१ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यापदो वक्ष्यामः। तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः; अतिस्थूलं, कर्कशम्, अवनतं, अणुभिन्नं, सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अस्निग्धमित्येकादश नेत्रदोषाः; बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेति पञ्च वस्तिदोषाः, अतिपीडितता, शिथिलपीडितता, भूयो भूयोऽवपीडनं, कालातिक्रम इति चत्वारः पीडनदोषाः; आमता, हीनता, अतिमात्रता, अतिशीतता, अत्युष्णता, अतितीक्ष्णता, अतिमृदुता,

अतिस्निग्धता, अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता, अतिद्रवता, इत्येकादश द्रव्यदोषाः; अवाक्शीर्षोच्छीर्षन्युज्जोत्तानसङ्कुचितदेहस्थितदक्षिणपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्त शय्यादोषाः; एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशद्व्यापदो वैद्यनिमित्ताः आतुरनिमित्ताः पञ्चदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यन्ते स्नेहस्त्वष्टभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैः, अशनाभिभूतः, मलव्याप्तिभ्रः, दूरानुप्रविष्टः, अस्विन्नरयः, अनुष्णः, अल्पम्भुक्तवतः, अल्पश्चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति। अयोगस्तूभयोः, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहः, अतियोगः, जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति ॥ ३२ ॥

बस्ति की व्यापत्तियों का निर्देश—इसके अनन्तर बस्ति के दोषों का वर्णन किया जा रहा है। (१) नेत्र का विशेष हिलना (२) प्रविष्ट होते ही मुड जाना (३) दक्षिण और वाम पार्श्वों का दबना (४) अत्यधिक ऊपर उठना (५) नीचे को दबना और (६) तिरछा प्रविष्ट करना ये छै दोष बस्ति-प्रयोग के हैं। (१) बहुत मोटा (२) खुरदरा (३) नीचे को झुका होना (४) परमाणुओं का भिन्न होना, (५) समीप कर्णिका युक्त (६) दूर कर्णिका युक्त (७) अत्यधिक छोटे छिद्र वाला (८) बहुत बडे छिद्र वाला (९) बहुत लम्बा (१०) बहुत छोटा और (११) किनारे से युक्त ये ग्यारह नेत्र के दोष हैं। (१) मांस सहित होना, (२) छोटी होना, (३) छिद्र युक्त होना, (४) स्नायु-जाल से युक्त होना और (५) भली-भाँति न बाँधने वाली होना ये पाँच बस्ति के दोष हैं। (१) अधिक दबना (२) कम दबना (३) बार बार दबना और (४) पीड़न काल का अतिक्रमण करना ये चार बस्ति को दबाने के दोष हैं। (१) अपक्व स्नेह, (२) अल्प होना, (३) अधिक होना, (४) अत्यन्त शीतल होना, (५) अत्यधिक उष्ण होना, (६) अत्यन्त तीक्ष्ण होना, (७) अत्यन्त मृदु होना, (८) अत्यन्त स्निग्ध होना, (९) अत्यन्त रूक्ष होना, (१०) अत्यधिक गाढा होना, और (११) अत्यधिक द्रव होना ये ग्यारह द्रव्य के दोष हैं। (१) शिर नीचे रखना (२) शिर ऊँचा रखना, (३) पेट के बल लिटाना, (४) चित्त लिटाना, (५) शरीर सिकोड़ कर रखना, (६) बैठे रहना और (७) दाहिने पसवाडे से सोये हुए को बस्ति देना, ये सात शय्या-दोष हैं। उपर्युक्त ये चौवालीस दोष चिकित्सक के द्वारा उत्पन्न होते हैं। आतुर के द्वारा उत्पन्न होनेवाले पन्द्रह प्रकार के उपद्रवों का वर्णन आतुरोपद्रव-चिकित्सित अध्याय में किया जा रहा है। आठ कारणों के द्वारा रुका हुआ स्नेह पुनः वापस नहीं आता। (१) तीनों दोषों के कारण (२) भोजन के द्वारा दबाये जाने से (३) मल के मिश्रण से (४) दूर प्रविष्ट हो जाने से (५) स्वेदन के बिना प्रयुक्त होने से (६) शीतल होने से (७) आहार नहीं करने से तथा (८) अल्प आहार करने से। ये दोष वैद्य और आतुर दोनों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। (१) दोनों बस्तियों का अयोग (२) आध्मान (३) परिकर्तिका (४) परिस्राव (५) प्रवाहिका (६) हृदयोपसरण (७) अङ्ग प्रग्रह (८) अतियोग और (९) जीवादान ये नौ व्यापद् वैद्य के द्वारा उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

भवति चात्र—

षट्सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः।
तासां वक्ष्यामि विज्ञानं सिद्धिं च तदनन्तरम् ॥३३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

जैसे कि—सक्षेप से छिहत्तर व्यापदों का वर्णन किया गया है, प्रथम इनका लक्षण तदनन्तर उनकी चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है ॥ ३३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिका भाषाव्याख्यायां
पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

नेत्रबस्ति व्यापच्चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर नेत्र और बस्ति के दोष से उत्पन्न होने वाली व्यापदों की चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते।
गुदे क्षतं रुजा वा स्यात्तत्र सद्यःक्षतक्रियाः ॥३॥

नेत्र प्रणिधान व्यापद् का वर्णन एवं उसकी चिकित्सा—बस्ति प्रयोग के समय नेत्र के हिलने तथा अन्दर प्रविष्ट होकर मुड जाने से गुदा में क्षत या वेदना होती है, उसमें सद्यःक्षत क्रिया विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३ ॥

अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा।
विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्च सेचनम् ॥४॥

नेत्र के अधिक ऊपर उठे होने तथा नीचे दबे होने के कारण गुदा में पीडा होती है, इसमें पित्तनाशक क्रियाविधि का प्रयोग तथा स्नेह से परिषेक करना चाहिए ॥ ४ ॥

तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वेषपीडिते।
मुखस्यावरणाद्बस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते।
ऋजु नेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग्विजानता ॥५॥

नेत्र तिरछा प्रविष्ट होने तथा उभय पार्श्व के दबने से नेत्र-मुख के अवरुद्ध हो जाने के कारण, बस्ति का प्रयोग भली भांति नहीं होता। इसलिये कुशल चिकित्सक को नेत्र का प्रयोग सीधा करना चाहिये ॥ ५ ॥

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रेऽस्निग्धति घर्षणात्।
गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं तस्य पूर्ववत् ॥६॥

नेत्रदोष व्यापद् का वर्णन और उसकी चिकित्सा—बहुत

मोटे और खुरदरे तथा किनारेदार नेत्र के प्रयोग से गुदा में रगड लगने के कारण व्रण एवं वेदना हो जाती है, इसकी चिकित्सा पूर्ववत् सद्यःक्षत चिकित्साविधि के अनुसार करनी चाहिये ॥ ६ ॥

आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः ।
अवसेको भवेद्वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत् ॥७॥

नेत्रमूल में कर्णिका के अत्यन्त समीप रहने तथा परमाणुओं के भिन्न रहने पर वस्तिदान व्यर्थ होता है क्योंकि वस्ति में से द्रव्य चूता है, इसलिए इन दोषों से युक्त वस्ति का परित्याग करना चाहिए ॥ ७ ॥

प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात् ।
क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्वस्तिश्च पिच्छिलः ॥८॥

कर्णिका के नेत्रमूल में दूर (तीन अङ्गुल से ऊपर चार अङ्गुल की दूरी पर) स्थित होने पर गुदामर्म के पीडित होने से रक्तस्राव होता है, इसमें भी पित्तनाशक क्रिया विधि तथा पिच्छावस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो वस्तिश्च पूर्ववत् ।
प्रत्यागच्छंस्तत' कुर्याद्रोगान् बस्तिविघातजान् ॥९॥

प्रमाणहीन एव सूक्ष्म छिद्र वाले नेत्र के प्रयोग से क्लेश होता है तथा पूर्ववत् वस्ति व्यर्थ होती है, एवं वस्ति के वापस लौटने के कारण वस्ति को पीडित करने वाले (मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र आदि) रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ ९ ॥

दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत् ।
प्रस्तीर्णे बहले चापि बस्तौ दुर्बद्धदोषवत् ॥१०॥

वस्तिदोष व्यापद् का वर्णन और उसकी चिकित्सा–बहुत लम्बे और बहुत बडे छिद्र वाले नेत्र का प्रयोग करने से वस्ति को अत्यधिक दबाने वाले दोषों की भांति लक्षण होते हैं। वस्ति के स्नायुजाल से युक्त तथा अधिक मोटी होने पर कठिनाई से बँधने वाले दोष होते है ॥ १० ॥

बस्तावल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याल्पा गुणा मताः ।
दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ॥११॥

वस्ति के छोटी होने पर उसमें अल्प द्रव्य आता है, इससे गुण में भी कमी रहती है और दुर्बद्ध एवं अणुभिन्न (फटी रहने पर) होने से भिन्न नेत्र के समान लक्षण होते हैं ॥११॥

अतिप्रपीडितो वस्तिः प्रयात्यामाशय तत. ।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥१२॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान् ॥१३॥

वस्तिपीडन दोष व्यापद् का वर्णन और उसकी चिकित्सा—अधिक दबाव देकर प्रयोग की गई वस्ति आमाशय में पहुँचती है और वहाँ वायु से प्रेरित होकर नासिका या मुख से बाहर निकलती है। इस अवस्था में रोगी के गले को शीघ्र दबाना और केश आदि को पकडकर हिलाना चाहिए तथा तीक्ष्ण शिरोविरेचन और कायविरेचन एवं शीतल परिषेक करना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

शनैः प्रपीडितो बस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ।
न च सपादयत्यर्थं तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत् ॥१४॥

धीरे से दबाई गई वस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती जिससे कार्य का सम्पादन नहीं होता, इसलिए वस्ति को उचित रूप से दबाना चाहिए ॥ १४ ॥

भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते ।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र बस्तयः ॥१५॥

बार बार वस्ति को दबाने से उदर का वायु दबता है उससे आध्मान और उग्र पीड़ा होती है, इस दशा में जिसके लिए जो वस्ति उपयोगी हो उसका प्रयोग करना चाहिये ॥

कालातिक्रमणात् क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते ।
तत्र व्याधिबलघ्नं तु भूयो बस्तिं निधापयेत् ॥१६॥

वस्तिकाल (द्रुत और विलम्बित रूप से वस्ति प्रदान की क्रिया) का अतिक्रमण होने पर क्लेश और व्याधि (अनुलोम व्याधि) की उत्पत्ति होती है, इस अवस्था में व्याधि के बल को नाश करने वाली वस्ति का पुनः प्रयोग करना चाहिए ॥ १६ ॥

गुदोपदेहशोकौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि ।
तत्र संशोधनो बस्तिर्हितं चापि विरेचनम् ॥१७॥

वस्ति द्रव्यदोष व्यापद् का वर्णन और उसकी चिकित्सा-अपक्व स्नेह (आमतैल) द्रव्य का वस्ति में प्रयोग करने पर गुदा में लेप और शोथ हो जाता है, इसमें संशोधन वस्ति और विरेचन हितकर होता है ॥ १७ ॥

हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१८॥

हीन मात्रा में प्रयुक्त दोनों वस्तियाँ (स्नेह वस्ति, निरूह वस्ति) विशेष कार्य सम्पादन नहीं करतीं तथा अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर आनाह, क्लम और अतिसार उत्पन्न कर देती हैं ॥ १८ ॥

मूर्च्छां दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ ।
मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ ॥१९॥

अति उष्ण और तीक्ष्ण वस्तियाँ मूर्च्छा, दाह और अतिसार को उत्पन्न तथा पित्त को प्रकुपित करती हैं, एव मृदु और शीतल वस्तियाँ वात-विबन्ध (वायु की रुकावट) और आध्मान-कारक होती हैं ॥ १९ ॥

तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः ।
गुदबस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः ॥२०॥
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः ।
तत्र सान्द्रे तनु बस्तिं तनौ सान्द्रं च दापयेत् ॥२१॥

वस्ति के हीन आदि दोषों में हेतु विपरीत क्रिया हितकर होती है। सान्द्र (गाढा) निरूहण द्रव्य गुदा और वस्ति में उपलेप कर देता है और पतला द्रव्य अल्प गुण वाला एव प्रवाहिकोत्पादक होता है। इसमें सान्द्रवस्ति के दोष में तनुवस्ति और तनुवस्ति के दोष में सान्द्रवस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ २०-२१ ॥

स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते ।
बस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत् ॥२२॥

स्निग्ध वस्ति अतिशय क्लेदकारी तथा रूक्ष, स्तम्भ और आध्मान कारक होती है, अति स्निग्ध वस्तिजन्य दोष में

रूक्ष वस्ति तथा रूक्ष में स्निग्ध वस्ति का प्रयोग करना चाहिये॥

अतिपीडितवद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके।
उच्छीर्षके समुन्नाहं बस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ॥२३॥
तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः।
न्युब्जस्य बस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ॥२४॥
हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्ठमथापि च।
उत्तानस्यावृते मार्गे बस्तिर्नान्तः प्रपद्यते ॥२५॥

शय्यादि दोष व्यापद का वर्णन और उसकी चिकित्सा—वस्ति दान के समय मस्तक नीचा रखने पर अतिपीडित वस्ति के समान दोषों की उत्पत्ति होती है तथा शिर को ऊँचा रख कर दी गई वस्ति मेढ़ को फुला देती है। इस दशा में रोगी का सम्यक् स्वेदन करके, सुख देनेवाली उत्तर-वस्ति का प्रयोग हितकर होता है। अधोमुख पुरुष की विमार्गगत वस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती, प्रकुपित वायु हृदय, गुदा और पक्वाशय को पीड़ित करती है। उत्तान सोये हुए पुरुष के अवरुद्ध मार्ग में वस्ति देने से वह अन्दर प्रविष्ट नहीं होती ॥ २३–२५ ॥

नेत्रसंवेजनभ्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकुप्यति।
देहे सङ्कुचिते दत्तः सवर्त्मोरप्युभयोस्तथा ॥२६॥
न सम्यगनिलाविष्टो बस्तिः प्रत्येति देहिनः।
स्थितस्य बस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवाङ्मुखः ॥२७॥

नेत्र (वस्तिनेत्र) के हिलने से भ्रान्त (चलायमान) हुआ वायु उदर में प्रकुपित होती है। रोगी के शरीर एवं दोनों जंघा को सकुचित कर वस्ति देने पर, वायु से भरी होने के कारण वस्ति, भली भाँति वाहर नहीं आती। बैठे हुए मनुष्य को वस्ति देने पर वह शीघ्र नीचे की ओर लौटती है ॥ २६–२७ ॥

न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः।
नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः ॥२८॥
दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः।
न्युब्जादीनां प्रदानं च वस्तेर्नैव प्रशस्यते ॥२९॥
पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत्।
व्यापदः स्नेहवस्तेस्तु वक्ष्यन्ते तच्चिकित्सिते ॥३०॥

दक्षिण पार्श्व मे लेटे हुए पुरुष को वस्ति देने से वह सम्पूर्ण पक्वाशय में नहीं पहुँच पाती क्योंकि पक्वाशय वाम पार्श्व में होता है, इसलिए आशय का तर्पण नहीं होता और वस्ति दान व्यर्थ होता है। अधोमुख दशा में वस्ति लगाना भी उचित नहीं होता। इस अवस्था में वायु का प्रकोप होने पर तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिए। स्नेह वस्ति से होनेवाली हानियों का वर्णन उनकी चिकित्सा के प्रसंग में किया जा रहा है ॥ २८–३० ॥

अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिताः।
अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो बस्तिर्नैति प्रयोजितः ॥३१॥
विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते।
तत्र तीक्ष्णो हितो बस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ॥३२॥

अयोग आदि व्यापदों का वर्णन और उनकी चिकित्सा—अयोग आदि व्यापदों का वर्णन चिकित्सा के साथ किया जा रहा है। शीतल, अल्पद्रव्य युक्त तथा हीन मात्रा वाली प्रयोग की गई वस्ति वापस नहीं आती तथा विष्टम्भ, आध्मान और शूल उत्पन्न करती है, इसे अयोग कहते है। इस अवस्था में तीक्ष्ण वस्ति तथा तीक्ष्ण विरेचन हितकर होता है ॥ ३१–३२ ॥

सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः।
अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥३३॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः।
तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥३४॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम्।
तत्र तीक्ष्णतरो बस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम् ॥३५॥

अजीर्णशेष में अथवा भोजन के बाद एवं दोषों की अधिकता में तथा अत्यधिक भोजन किए हुए व्यक्ति को अत्यन्त उष्ण और बहुत धीरे दी गई वस्ति अथवा अधिक मात्रा में एवं मल की अधिकता वाले पुरुष के लिए प्रयुक्त शीतल तथा लवण-स्नेहरहित वस्ति, शीघ्र आध्मान उत्पन्न करती है। इसमें हृदय, कटि, पार्श्व और पृष्ठ में भयङ्कर पीडा होती है, उस दशा में अत्यन्त तीक्ष्ण निरूह वस्ति तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग भी हितकर होता है ॥ ३३–३५ ॥

अतितीक्ष्णोऽतिलवणो रूक्षो बस्तिःप्रयोजितः।
सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥३६॥
नाभिबस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तस्य स्नेहश्च मधुरैः श्रृतः ॥३७॥

अत्यन्त तीक्ष्ण तथा अत्यधिक लवणयुक्त रूक्ष वस्ति का प्रयोग, पित्त के साथ वायु को कुपित कर परिकर्तिका उत्पन्न कर देता है, इसमें मनुष्य की नाभि, वस्ति और गुदा में कैंची से काटने की भाँति पीड़ा होती है। इस दशा में पिच्छा वस्ति और मधुर द्रव्यों से सिद्ध स्नेहवस्ति का प्रयोग हितकर होता है ॥ ३६–३७ ॥

अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते।
दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः ॥३८॥
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद्गुदे।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र बस्तिः क्षीरघृतेन च ॥३९॥

अत्यन्त अम्ल, लवण युक्त तीक्ष्ण वस्ति परिस्राव उत्पन्न करती है, इसमें मनुष्य को दुर्बलता तथा अंगों में पीडा एव पित्त का स्राव होता है जिससे गुदा में दाह उत्पन्न हो जाता है। इसके लिए पिच्छावस्ति और दूध तथा घृत के साथ वस्ति देना हितकर होता है ॥ ३८–३९ ॥

प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात् सानुवासनात्।
सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफासृग्रुपवेश्यते ॥४०॥
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम्।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥४१॥

अनुवासन के साथ तीक्ष्ण निरूहण का प्रयोग करने से प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है। इसमें दाह और शूल के साथ कफ और रक्त निकलता है एवं रोगी को बैठने में कष्ट होता है। इसके लिए पिच्छावस्ति का प्रयोग तथा दूध के साथ

भोजन तथा मधुरगण के द्वारा सिद्ध घृत या तैल का अनुवासन प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः।
हृदयस्थोपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम् ॥४२॥
दोषैस्तत्र रुजस्तारता मदो मूर्च्छाऽङ्गगौरवम्।
सर्वदोषहरं बस्तिं शोधनं तत्र दापयेत् ॥४३॥

वायु के साथ अत्यन्त तीक्ष्ण निरूह या अनुवासन का प्रयोग होने पर, वह हृदय में पहुँचकर अंगों में पीडा उत्पन्न करता है। दोषों के प्रकुपित होने से भिन्न-भिन्न (तोद, ओप, चोप आदि) पीडायें, मद, मूर्च्छा और अंगों में भारीपन होता है। इसमें सभी दोषों को दूर करनेवाली शोधन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२-४३ ॥

रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च।
बस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥४४॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टा स्वेदाभ्यञ्जनबस्तयः ॥४५॥

रूक्ष, बहुवात युक्त तथा विधि-विपरीत सोये हुए रोगी को दी गई वस्ति अंगों में जकडाहट उत्पन्न करती है तथा मृदु, अल्प औषधियुक्त रूक्ष वस्ति, अंगों में पीडा, स्तम्भ, जृम्भा, ऐंठन, कम्पन और जोडों में फूटन उत्पन्न करती है। इस दशा में स्वेदन, अभ्यङ्ग और वस्तियों का प्रयोग हितकर होता है ॥ ४४-४५ ॥

अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽतिस्वेदितस्य च।
अल्पदोषस्य वा बस्तिरतियोगाय कल्पते ॥४६॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम्।
पिच्छाबस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः ॥४७॥

अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अधिक मात्रा युक्त एवं अत्यधिक स्वेदन तथा अल्प दोष वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त वस्ति, अतियोग उत्पन्न करती है। इसमें विरेचन के अतियोग के समान लक्षण होते हैं। इसके लिए पिच्छा वस्ति तथा शीतोपचार हितकर होता है ॥ ४६-४७ ॥

अतियोगात् परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत्।
देयस्तत्र हितश्चाप्सु पिच्छाबस्तिः सशोणितः ॥४८॥

विरेचन के अतियोग की भाँति वस्ति के अतियोग से जीवादान (जीवरक्त का निकलना) होने पर रक्तयुक्त जलीय पिच्छावस्ति का प्रयोग हितकर होता है ॥ ४८ ॥

नवैता व्यापदो यास्तु निरूहं प्रत्युदाहृताः।
स्नेहबस्तिष्वपि हि ता विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥४९॥

निरूह के द्वारा होनेवाली जिन नौ व्यापदों का कथन किया गया है उनकी कल्पना बुद्धिमान वैद्य को स्नेहवस्तियों में भी करनी चाहिए ॥ ४९ ॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सल्लक्षणचिकित्सिताः।
भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवन्ति हि ॥५०॥

इस प्रकार सभी व्यापदों के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन किया गया है, वैद्य को ऐसा यत्न करना चाहिए जिसमें ये दोष न होने पावें ॥ ५० ॥

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्ति-व्यापच्चिकित्सितं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

निरूहण तथा अनुवासन के काल की अवधि—भली-भाँति वमन कराने के पन्द्रह दिन पश्चात् विरेचन तथा सोलहवें दिन निरूहण का प्रयोग करना चाहिए। निरूहण से युक्त पुरुष को अनुवासन उसी समय देना चाहिए किन्तु विरेचन की अवस्था में सात दिन के पश्चात् अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अनुवासन और उत्तरबस्ति चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर अनुवासन और उत्तरबस्ति चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलायवै।
कृताह्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ॥ ३ ॥

विरेचन के उपरान्त अनुवासन की विधि—विरेचन से सात दिन पश्चात्, बल-लाभ तथा भोजन किए हुए अनुवासन के योग्य पुरुष को भली भाँति अनुवासन देना चाहिए ॥३॥

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम् ॥ ४ ॥

अनुवासन बस्ति की मात्रा—वय के अनुसार निरूह वस्तियों की जो मात्रा बतलाई गई है, उसकी चौथाई मात्रा मनुष्यों की स्नेहवस्तियों में लेनी चाहिए ॥ ४ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्।
एतैर्हि विहतः स्नेहो नैवान्तः प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

अनुवासन बस्ति का पूर्व कर्म—वायु, मल और मूत्र का त्याग किए हुए पुरुष के लिए बस्ति का विधान करना चाहिए, क्योंकि इनकी उपस्थिति में इनसे अवरुद्ध स्नेह अन्दर प्रविष्ट नहीं होता ॥ ५ ॥

स्नेहबस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः।
स्नेहवीर्यं तथा दत्ते देहं चानुविसर्पति ॥ ६ ॥

अशुद्ध शरीरवाले पुरुष के लिए स्नेहबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। शुद्ध शरीर में स्नेह वस्ति का प्रयोग करने से वह स्नेह बल प्रदान करता है तथा शरीर में फैल जाता है ॥ ६ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलानीह यथाक्रमम्।
पानान्वासननस्येषु यानि हन्युर्गदान् बहून् ॥ ७ ॥

अनुवासन के लिए तैलों का वर्णन—इसके आगे क्रमानुसार तैलों का वर्णन किया जा रहा है जिनका प्रयोग पान,

अनुवासन और नस्य में करने से अनेक व्याधियों का नाश होता है ॥ ७ ॥

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः ।
शताह्वाकुष्ठयष्ट्याह्ववचाबिल्वहुताशनैः ॥ ८ ॥
सुपिष्टैर्द्विगुणक्षीरं तैलं तोयचतुर्गुणम् ।
पक्त्वा बस्तौ विधातव्य मूढवातानुलोमनम् ॥ ९ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ।
कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥ १०॥

कचूर, पोहकरमूल, पिप्पल, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूठ, मुलेठी, वच, बेल और हुताशन (चित्रक) को पीस कर, तैल से दुगुने दूध और चौगुने जल के द्वारा तैल पाक करके, बस्ति-प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से मूढ़ वायु का अनुलोमन तथा अर्श, ग्रहणी दोष, आनाह, विषम ज्वर और कटि, ऊरु, पृष्ठ एवं कोष्ठगत वात रोगों का नाश होता है ॥

वचापुष्करकुष्ठैलाभदनामरसिन्धुजैः ।
काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥११॥
पाठाजीवकजीवन्तीभार्गीचन्दनकटफलैः ।
सरलागुरुबिल्वाम्बुवाजिगन्धाग्निवृद्धिभिः ॥१२॥
विडङ्गारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकर्धिभिः ।
पिष्टैस्तैलं पचेत् क्षीरपञ्चमूलरसान्वितम् ॥१३॥
गुल्मानाहाग्निपङ्गार्शोग्रहणीमूत्रसङ्गिनाम् ।
अन्वासनविधौ युक्तं;शस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥१४॥

वच, पोहकर मूल, कूठ, इलायची, मैनफल, देवदारु, सेन्धा नमक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलेठी, मेदा, महामेदा, नराधिप (अमलतास), पाठा, जीवक, जीवन्ती, भार्गी, चन्दन, कायफल, निशोथ, अगर, बेल, अम्बु (सुगन्ध वाला), अश्वगन्ध, अग्नि (चित्रक), वृद्धि, विडङ्ग, अमलतास, श्यामा (विधारा), निशोथ, पिप्पल और ऋद्धि को पीस कर दूध और पञ्चमूल-क्वाथ के साथ तैल पाक किया जावे। इसका प्रयोग गुल्म, आनाह, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी और मूत्रावरोध से पीडित तथा वातरोगियों की अनुवासन वस्ति में उत्तम होता है ॥ ११–१४ ॥

विमर्शः—अत्र तैले नराधिपारग्वधपाठात् सरला त्रिवृत् पाठाश्च एतयोर्द्विगुणा मात्रा देया। उक्तञ्च–'घृते तैले च योगे च यद् द्रव्य पुनरुच्यते। तद् दानव्यमिहाचार्यैर्भागतो द्विगुण मतम्'।

चित्रकातिविषापाठादन्तीबिल्ववचामिषैः ।
सरलांशुमतीराम्नानीलिनीचतुरङ्गुलैः ॥१५॥
चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः ।
जीवकर्षभवर्षाभूबस्तगन्धाशताह्वयैः ॥१६॥
रेण्वश्वगन्धामज्जिष्ठाशटीपुष्करतस्करैः ।
सक्षीरं विपचेत्तैल मारुतामयनाशनम् ॥१७॥
गृध्रसीखञ्जकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् ।
शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां वस्तावाशु नियोजितम् ॥१८॥

चित्रकादि तैल अनुवासनार्थः—चित्रक, अतीस, पाठा, दन्ती, बेलगिरी, वच, सौंफ, निशोथ, अशुमती (शालिपर्णी), रास्ना, नील, अमलतास, चव्य, अजमोद, काकोली, मेदा, महामेदा, देवदारु, जीवक, ऋषभक, वर्षाभू (पुनर्नवा), अजगन्धा, सौंफ, रेणु (पित्तपापडा), अश्वगन्ध, मजीठ, कचूर, पोहकर-मूल, और तस्कर (चोरक) को पीस कर दूध के साथ तैल पाक किया जावे। यह तैल वातज व्याधियों का नाश करता है। इसका वस्ति के द्वारा आशु प्रयोग गृध्रसी, खञ्ज, कुब्ज, आढ्यवात, मूत्रावरोध, उदावर्त एव मन्दाग्नि वाले पुरुषों के लिए हितकर होता है ॥ १५–१८ ॥

भूतिकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः ।
दशमूलसहाभार्गीपञ्चग्रन्थामरदारुभिः ॥१९॥
बलानागबलामूर्वावाजिगन्धामृताद्वयैः ।
सहाचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥२०॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितै श्रृतम् ।
जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरचतुर्गुणम् ॥२१॥
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरःस्थितान् ।
हन्याद्वातविकारांस्तु वस्तियोगैर्निषेवितम् ॥२२॥

भूतिकादि तैल (अनुवासनार्थ)—भूतिक (कत्तृणापरपर्य्यायम्), एरण्ड, पुनर्नवा, रास्ना, अडूषा, रोहिष (कत्तृण), दशमूल के द्रव्य, मापपर्णी, भार्गी, पिप्पलीमूल, देवदारु, बला (खरेटी), नागबला (गंगेरन), मूर्वा, अश्वगन्ध, अमृताद्वय (गुडुची और हरीतकी), कटसरैया, वरी (शतावरी), विश्वा (सोंठ), काकनासा, विदारीकन्द, जौ, उडद, तीसी, झडबेर और कुलथी के छाने हुए क्वाथ में, जीवनीय-गण की औषधियों के प्रक्षेप (कल्क) के साथ, चतुर्गुण दूध के द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल, जङ्घा, ऊरु, त्रिक, पार्श्व, अंस, बाहु, मन्या एव शिरोभाग में स्थित वातविकारों को वस्ति के द्वारा प्रयोग करने पर नाश करता है।

जीवन्त्यतिबलामेदाकाकोलीद्वयजीवकैः ।
ऋषभातिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥ २३ ॥
रास्नामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचन्दनैः ।
स्वयङ्गुप्राशटीशृङ्गीकलसीसारिवाद्वयैः ॥ २४ ॥
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु ।
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्धनम् ॥ २५ ॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् ।
नस्ये पाने च संयुक्तमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥ २६ ॥

जीवन्ती, अतिबला (कंघी), मेदा, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पिप्पल, काकनासा, वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलेठी, निशोथ, भीरु (शतावरी), चन्दन, स्वयङ्गुप्ता (कौचकेबीज), कचूर, काकडासिंगी, कलसी (पृष्टिपर्णी), श्वेतसारिवा और कृष्णसारिवा को पीसकर, अष्टगुण दूध के साथ तैल या घृत का पाक करके, अनुवासन में प्रयोग करना चाहिए। यह योग शुक्र, अग्नि और बल को बढ़ाने वाला, बृंहण, वात, पित्तनाशक तथा गुल्म और अनाह को दूर करता है। नस्य और पान में इसका प्रयोग करने से ऊर्ध्वजत्रु गत रोग दूर होते हैं ॥ २३–२६ ॥

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचन्दनैः ।
श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषाम्बुभिः ॥ २७ ॥

तैलपादं पचेत् सर्पिः पयसाऽष्टगुणेन च ।
न्यग्रोधादिगणक्वाथ-युक्तं बस्तिषु योजितम् ॥ २८ ॥
दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन् ।
पित्तरक्तज्वरांश्चैव हन्यात् पित्तकृतान् गदान् ॥२९॥

मधुकादितैलम् (अनुवासनार्थ)—मुलेठी, गम्भारी, कुटकी, कमल, चन्दन श्यामा (प्रियङ्गु), पद्माख, जीमूत (नागरमोथा), इन्द्रजौ, अतीस और सुगन्धवाला को पीस कर चतुर्थांश तैल मिश्रित घृत, आठ गुने दूध के साथ सिद्ध करके न्यग्रोधादि गण के क्वाथ के साथ बस्तियों में प्रयोग करना चाहिए। इससे दाह, असृग्दर, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्त, ज्वर तथा पित्तजन्य व्याधियाँ नष्ट होती हैं।

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः ।
चन्दनद्वयभूनिम्बपद्मबीजकसेरुकैः ॥ ३० ॥
पटोलकटुकारक्तागुन्द्रापर्पटवासकैः ।
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं तृणमूलरसेन च ॥ ३१ ॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम् ।
नस्येऽभ्यञ्जनपाने वा हन्यात् पित्तगदान् बहून् ॥३२॥

मृणालादितैल (अनुवासनार्थ)—मृणाल (कमलनाल), कमल, शालूक (कमलकन्द), श्वेतसारिवा, कृष्ण सारिवा, नागकेशर, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, चिरायता, कमलगट्टा, कमेरु, परवल की पत्ती, कुटकी, रक्ता (मजीठ), गुन्द्रा (पटेर), पित्तपापडा और अडूसा को पीसकर, तृणपञ्चमूल के क्वाथ तथा द्विगुण दूध के साथ, तैल या घृत का पाक करके बस्तिदान, नस्य, अभ्यङ्ग और पान में प्रयोग करना चाहिए। इससे अनेक पित्तज रोगों का नाश होता है ॥३०-३२॥

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः ।
निम्बारग्वधपर्पटन्यग्रोधसप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥ ३३ ॥
गुडूचीन्द्रसुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः ।
तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम् ॥ ३४ ॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्तिषु योजितम् ।
स्थूलतालस्यकण्डूवादीन् जयेत्कफकृतान् गदान् ॥३५॥

त्रिफलादि तैल (अनुवासनार्थ)—त्रिफला, अतीस, मूर्वा निशोथ, चित्रक, अडूसा, नीम, अमलतास, वच, सप्तपर्ण, हल्दी, दारुहल्दी, गुडूची, इन्द्रसुरा (इन्द्रवारुणी), पिप्पल, कूठ, मरसों और सोंठ को समान भाग में पीस कर सुरसादि गण के क्वाथ के द्वारा तैल पाक करके पान, अभ्यङ्ग, गण्डूष, नस्य तथा बस्तियों में प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से स्थूलता आलस्य, कण्डू एवं कफज व्याधियाँ नष्ट होती हैं।

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः ।
सरलागुरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुमैः ॥ ३६ ॥
मरिचैलामयाकट्वीशटीग्रन्थिककट्फलैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा पक्वमेभिः समायुतम् ॥ ३७ ॥
बल्लीकण्टकमूलाभ्यां काथेन द्विगुणेन च ।
हन्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥ ३८ ॥

पाठादितैल (अनुवासनार्थ)—पाठा, अजवायन, शार्ङ्गेष्टा (काकजघा), पिप्पल, गजपिप्पल, सोंठ, निशोथ, अगर, कालीय (पीतचन्दन), भार्गी, चव्य, देवदारु, मरिच, इलायची, हरीतकी, कुटकी, कचूर, पिप्पलीमूल और कायफल को समान भाग में पीस कर कण्टक पञ्चमूल और वल्लीपञ्चमूल के दुगने क्वाथ के साथ तिल तैल या एरण्ड तैल सिद्ध करना चाहिए। अनुवासन में इस तैल का प्रयोग करने से कफजन्य सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट होती हैं ॥ ३६-३८ ॥

विडङ्गादीच्यसिन्धूत्थशटीपुष्करचित्रकैः ।
कट्फलातिविषाभार्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥ ३९ ॥
मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः ।
शताह्वानीलिनीरास्नाकलसीवृषपरेरणुभिः ॥ ४० ॥
बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादन्तीचव्यनराधिपैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥ ४१ ॥
प्लीहोदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् ।
प्रमेहशर्कराशांसि हन्यादाश्वनुवासनैः ॥ ४२ ॥

विडङ्गादितैल (अनुवासनार्थ)—विडङ्ग, सुगन्धवाला, सेन्धानमक, कचूर, पोहकरमूल, चित्रक, कायफल, अतीस, भार्गी, वच, कूठ, देवदारु, मेदा, मैनफल, मुलेठी, श्यामा (विधारा), निचुल (जलवेत), सोंठ, सौंफ, नील, रास्ना, पृष्टिपर्णी, अडूसा, पित्तपापडा, बेल, अजवायन, पिप्पल, दन्ती, चव्य और अमलतास को पीसकर, मुष्कक गण के क्वाथ के साथ तिलतैल या एरण्ड तैल का पाक करना चाहिए। इसके द्वारा अनुवासन देने पर प्लीहा, उदावर्त, वातरक्त, गुल्म, आनाह, कफज रोग, प्रमेह, शर्करा और अर्श शीघ्र नष्ट होता है ॥ ३९-४२ ॥

अशुद्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानुवासयेत् ॥ ४३ ॥

वायु के अति प्रकोप में अशुद्ध पुरुष के अनुवासन की विधि—केवल वात रोग से अत्यधिक पीडित अशुद्ध शरीर वाले पुरुष को भी दिन, रात में सभी समय अनुवासन देना चाहिए ॥ ४३ ॥

रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान् ।
दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ॥ ४४ ॥

रूक्ष एवं बहुवातयुक्त पुरुष को दो, तीन बार अनुवासन देकर, स्निग्ध शरीर होने के पश्चात् निरूहबस्ति देनी चाहिए॥

अस्निग्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
स्नेहप्रगाढैर्मतिमान्निरूहैः समुपाचरेत् ॥ ४५ ॥

वायु के अति प्रकोप में अस्निग्ध पुरुष के अनुवासन की विधि—केवल वात से अतिपीडित स्नेहरहित शरीर वाले पुरुष की चिकित्सा भी बुद्धिमान् वैद्य को स्नेहबहुल निरूह बस्ति के द्वारा करनी चाहिए ॥ ४५ ॥

अथ सम्यङ्निरूढं तु वातादिष्वनुवासयेत् ।
बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रमम् ॥ ४६ ॥

दोषभेद से अनुवासन तैल—वातादि दोषों में, भली भांति निरूपण किए गए व्यक्ति को, क्रमशः बेल, मुलेठी और मैनफल के द्वारा सिद्ध तैल से, अनुवासन देना चाहिए ॥ ४६ ॥

रात्रौ बस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिज ।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥ ४७ ॥

रात्रि में बस्तिदान का निषेध—रात्रि में बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि रात्रि में उत्पन्न होने वाले दोषों का उत्क्लेश होता है तथा शक्ति युक्त स्नेह आध्मान, गौरव एवं ज्वर उत्पन्न कर देता है ॥ ४७ ॥

विमर्शः—दोषोत्क्लेश इति यस्मात् रात्रावाहारविदाहेन कालशैत्यात् स्रोतोमुखसंवृतत्वेन च दोषधातुमलेषु विश्लेदनलक्षण उत्क्लेशो भवति। अन्यत्राप्युक्तम्-'अविशुद्धे तु हृदये निशि क्लिन्नेषु धातुषु। विदग्धेऽन्नरसे स्रोतःसूपलिप्तेषु देहिनाम्। व्यापारेभ्यो निवृत्तानां दोषोत्क्लेशो भवेदिति'।

अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति ॥ ४८ ॥

दिन में बस्ति प्रदान के गुण—दिन में दोषों के अपने स्थान में स्थित रहने और अग्नि के अन्न रस से युक्त होने तथा स्रोतों का मुख खुला होने के कारण शरीर में स्नेह की शक्ति फैलती है ॥ ४८ ॥

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते।
नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम् ॥४९॥

अवस्था विशेष में रात्रि में भी अनुवासन की विधि—पित्त की अधिकता तथा कफ के क्षीण होने पर एवं उष्ण काल में, वात रोग से पीड़ित रूक्ष मनुष्य को रात्रि में अनुवासन देना चाहिए ॥ ४९ ॥

उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः।
संभवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक् ॥५०॥

उष्ण काल अथवा पित्त की अधिकता में भी दिन में अनुवासन प्रयोग करने से दाह आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए वैद्य को प्रदोष काल में बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५० ॥

शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये।
स्नेहो दिनान्ते पानोक्तान् दोषान् परिजिहीर्षता ॥५१॥

ऋतु विशेष के अनुसार बस्ति के काल में विशेषतायें—स्नेहपान में कथित दोषों से बचने की अभिलाषा वाले पुरुष को, शीत और वसन्त ऋतु में दिन में तथा ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद् ऋतु में दिन के अन्त में स्नेह (अनुवासन बस्ति) देना चाहिए ॥ ५१ ॥

अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानिलाधिकम्।
तीव्रायां रुजि जीर्णान्न भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५२॥

वाताधिक्य में सर्वदा अनुवासन बस्ति की विधि—वायु की अधिकता होने पर दिन रात में भी तथा अन्न जीर्ण होने पर तीव्र वेदना की स्थिति में भोजन देकर अनुवासन प्रयोग करना चाहिए ॥ ५२ ॥

न चाभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथञ्चन।
शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत् ॥५३॥

बिना भोजन किये हुये को स्नेह बस्ति का प्रतिषेध—बिना भोजन कराये कभी स्नेह बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि शरीर शुद्ध होने से तथा कोष्ठ की रिक्तता के कारण स्नेह ऊपर की ओर जाता है ॥ ५३ ॥

सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम्।
ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः ॥५४॥

भोजनोत्तर अविलम्ब अनुवासन देने का निर्देश—रोगी को भोजन देकर अविलम्ब (गीले हाथ की स्थिति में ही) सदा अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि अन्न के परिपाक काल में प्रयुक्त की गई स्नेह बस्ति ज्वर उत्पन्न कर देती है ॥ ५४ ॥

न चातिस्निग्धमशन भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥५५॥

अत्यधिक स्नेह युक्त भोजन देकर अनुवासन का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि दो प्रकार से प्रयुक्त हुआ स्नेह मद और मूर्च्छा उत्पन्न करता है ॥ ५५ ॥

रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत्।
युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५६॥

रूक्ष अन्न का सेवन बल और वर्ण का नाश करता है इसलिए मनुष्य को अल्प स्नेहयुक्त भोजन देकर अनुवासन देना चाहिए ॥ ५६ ॥

यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधि समीक्ष्य वा।
यथोचितात् पादहीनं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५७॥

यूष, दूध और मांसरस अथवा व्याधि के अनुकूल आहार (संसर्जन क्रम के अनुसार सेवन किए जाने वाले) की चतुर्थांश मात्रा खिलाकर अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५७ ॥

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः ॥५८॥
विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत् स्नेहबस्तिना।
प्रणिधानविधानं तु निरूहे संप्रवक्ष्यते ॥५९॥

अनुवासन बस्ति देने की विधि—अनुवासन किए जाने वाले पुरुष का भली भाँति अभ्यङ्ग करके धीरे-धीरे उष्ण जल से स्वेदन करना चाहिए फिर शास्त्रवर्णित भोजन देकर कुछ टहलाना चाहिए और मल-मूत्र का परित्याग कराने के पश्चात् स्नेहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसका प्रणिधान-विधान (बस्ति-प्रदान के नियम) निरूह बस्ति के प्रकरण में कहा जा रहा है ॥ ५८-५९ ॥

ततः प्रणिहितस्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्।
प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति ॥६०॥

बस्ति-विधान के अनुसार स्नेहबस्ति लेने के अनन्तर रोगी को सम्पूर्ण अङ्गों को फैला, उत्तान लेटकर, सौ बार गिनती गिनना चाहिए। इस प्रकार स्नेह का वीर्य सारे शरीर में फैल जाता है ६० ॥

ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन् वाराञ्छनैः शनैः।
स्फिचोश्चैनं ततः शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत्ततः ॥६१॥
एवं प्रणिहिते वस्तौ मन्दायासोऽथ मन्दवाक्।
स्वास्तीर्णे शयने काममासीताचारिके रतः ॥६२॥

रोगी के हाथ-पैर के तलवे तथा नितम्ब पर धीरे-धीरे तीन-तीन बार थपथपाना चाहिए, फिर शय्या को रोगी सहित तीन बार ऊपर उठाना चाहिए। इस प्रकार बस्ति प्रणिधान के पश्चात् अल्पश्रम तथा अल्प वाणी बोलते हुए,

रोगी को अपनी शय्या पर सोकर क्रोध आदि नियमों के परित्याग का पालन करना चाहिए ॥ ६१-६२ ॥

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः ।
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम् ॥६३॥

स्नेह में सेन्धा नमक तथा सौंफ मिलाकर सुखोष्ण वस्ति देने से वह सुखपूर्वक सहसा बाहर आती है ॥ ६३ ॥

यस्यानुवासनो दत्तः सकृदन्वक्षमात्रजेत् ।
अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः ॥६४॥
सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः ।
तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति ॥६५॥

अनुवासन औषधि के एकबार में ही लौट आने में दोष—अधिक उष्णता, तीक्ष्णता, वायु के दबाव, वातयुक्त अथवा अधिक मात्रा में होने या औषधि के गुरुत्व के कारण जिस पुरुष का प्रयुक्त एक बार में ही औषधि के साथ बाहर आ जाता है, उसे दूसरी वस्ति अल्प मात्रा में देनी चाहिए, क्योंकि स्नेह के न रुकने से स्नेहन नहीं होता ॥ ६४-६५ ॥

विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने ।
दाहक्लमप्रवाहार्तिकरश्चात्यनुवासनः ॥६६॥

स्नेहहीन तथा स्नेहाधिक अनुवासन के दोष—स्नेहहीन अनुवासन वायु, मल और मूत्र का अवरोध तथा अधिक स्नेहयुक्त दाह, क्लम और प्रवाहिका उत्पन्न करता है ॥ ६६ ॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु ।
ओपचोषं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः ॥६७॥

सम्यग् अनुवासित के लक्षण—जिस पुरुष का स्नेह वायु और मल के साथ ओप चोष (वेदना विशेष) के बिना शीघ्र वापस आ जाता है उसे भली-भाँति अनुवासित समझना चाहिए ॥ ६७ ॥

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः ।
लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि ॥६८॥

यदि मनुष्य प्रदीप्त अग्नि वाला हो तो, स्नेह के वापस आने पर पूर्व आहार के पाचन के पश्चात् इच्छानुकूल लघु भोजन देना चाहिए ॥ ६८ ॥

प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यनागरसाधितम् ।
तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकाङ्क्षा च जायते ॥६९॥

प्रातःकाल धनियाँ और सोंठ के साथ सिद्ध उष्ण जल देना चाहिए, इससे अनुवासित व्यक्ति की अग्नि दीप्त होती है तथा भोजन में रुचि उत्पन्न होती है ॥ ६९ ॥

स्नेहवस्तिक्रमेष्वेवं विधिमाहुर्मनीषिणः ।
अनेन विधिना षड्वा सप्त वाऽष्टौ नवैव वा ॥७०॥
विधेया वस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम् ।
दत्तस्तु प्रथमो वस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवच्छकृत् ॥७१॥

स्नेहवस्ति के प्रथमादि दान से कार्य का निरूपण—कायचिकित्सकों ने स्नेहवस्तियों के क्रम में इसी विधि का विधान किया है। इस विधि से छः, सात, आठ, या नौ स्नेहवस्तियाँ देनी चाहिए और इनके मध्य में निरूहवस्ति का प्रयोग भी करना चाहिए। प्रयुक्त प्रथम स्नेहवस्ति, वस्ति और वर्चस का स्नेहन करती है ॥ ७० ७१ ॥

विमर्श—चरक ने निम्नलिखित रूप में वस्तिदान प्रकार और उनकी संख्या का वर्णन किया है—द्विषण्मताः कर्म्मसु वस्तयो हि काले ततोर्द्धेन तथा च योगे । सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक्स्नेह एकः परतश्च पञ्च । काले त्रयोऽन्तेऽन्तरिनस्तथैकः स्नेहा निरूहैः सहिताश्च षट् स्युः । योगे निरूहास्त्रय एव देयाः, स्नेहास्तथा षट् च पराङ्मिध्याः । (च. सि अ. १) द्वि षडिति द्वादश वस्तयः । कर्म्मसु चिकित्सितकर्म्मसु । इति कर्मवस्ति । तथा काले वस्तिस्ततोऽर्द्धेन षड्वस्तयः, योगे च तथार्द्धेन षट्वस्तयः स्युरिति । सानुवासना निरूहा द्वादश कर्म्मसु प्राक् स्नेह एको निरूहवस्तिः पूर्वमेकः स्नेहवस्तिस्ततो निरूहवस्तिस्तत परतः पञ्च सानुवासना निरूहा इति कर्म्मसु द्वादशवस्तयः । तथा च एकोऽनुवासनवस्ति पूर्वं ततो निरूहस्ततोऽनुवासन ततो निरूहस्ततोऽनुवासन ततो निरूहस्ततोऽनुवासनं ततो निरूहस्ततोऽनुवासन ततो निरूहस्ततोऽनुवासन ततो निरूहइति द्वादश कर्म्मसु वस्तयः । काले सान्वासनात्रय इति षट्, तत्र प्राक् स्नेह एको निरूहात् पूर्वमेकः स्नेहवस्तिस्ततो निरूहस्ततोऽनुवासनवस्तिस्ततो निरूहस्तत स्नेहवस्तिस्ततो निरूह इति षट् सानुवासना निरूहा वस्तय काले । अथ योगे तथार्द्धेन सानुवासनाः षट्वस्तयः । तद् यथा—त्रय एव निरूहा देयास्त्रया पराङ्मिध्याः स्नेहाश्च त्रय इति षट् । तथा च—पूर्वमेकोऽनुवासनवस्तिस्ततो निरूहस्ततः स्नेहवस्तिस्ततो निरूहस्तत स्नेहवस्तिस्ततो निरूह इत्येव षट् योगे स्युरिति । पराङ्मिध्यास्त्रिय स्नेहास्त्रयो निरूहा इति । (गंगाधर कविराज)

सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्वस्थमनिलं जयेत् ।
जनयेद्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः ॥७२॥

भली भाति दी गई दूसरी वस्ति ऊर्ध्वजत्रुगत वायु का शमन करती है और तीसरी प्रयुक्त वस्ति बल एवं वर्ण की उत्पत्ति करती है ॥ ७२ ॥

रसं चतुर्थी रक्तं तु पञ्चमः स्नेहयेत्तथा ।
षष्ठस्तु स्नेहयेन्मांसं मेदः सप्तम एव च ॥७३॥
अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम् ।
एवं शुक्रगतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत् ॥७४॥

चौथी वस्ति रस, पाँचवीं रक्त, छठी मांस एवं सातवीं मेद का स्नेहन करती है आठवीं और नौवीं वस्ति क्रमानुसार अस्थि और मज्जा का स्नेहन करती है। इस प्रकार शुक्रगत दोषों की (व्याधि समुद्देशीयोक्तान् क्लैब्यापहर्षजनकान्) चिकित्सा द्विगुण वस्तियों (अठारह वस्ति) के द्वारा भली भांति करनी चाहिए ॥ ७३-७४ ॥

अष्टादशाष्टादशकान् स्नेहवस्तीनां यो निषेवते ।
यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च ॥७५॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवैस्तुल्योऽमरप्रभः ।
वीतपाप्मा श्रुतधरः सहस्रायुर्नरो भवेत् ॥७६॥

अनुवासन का फल—पूर्वोक्त विधान और परिहार क्रम के अनुसार जो पुरुष अठारह, स्नेह तथा अठारह निरूह वस्तियों का सेवन करता है वह हाथी के समान बलशाली, घोडे की भांति वेगवान्, देवताओं के तुल्य कान्तिमान्, पूर्व जन्म के पापों से मुक्त और श्रवण की हुई वाणी को धारण करने वाला तथा सहस्रवर्ष की आयु से युक्त होता है ॥ ७५-७६ ॥

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात् पवनाद्भयम् ॥७७॥

अनुवासन अथवा निरूह में से किसी एक वस्ति के अधिक सेवन में दोष—स्नेह या निरूह किसी एक वस्ति का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि स्नेहवस्ति की अधिकता से अग्नि का नाश और उत्क्लेश तथा निरूह से वात के प्रकोप का भय रहता है ॥ ७७ ॥

तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः ।
नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥७८॥

इसलिए निरूह के पश्चात् अनुवासन और अनुवासन के बाद निरूह का प्रयोग करना चाहिए। इस विधि से वस्ति सेवन करने पर पित्त और कफ का उत्क्लेश नहीं होता तथा वात-प्रकोप का भय नहीं रहता ॥ ७८ ॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने ।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्त्र्यहात् ॥७९॥

स्नेहवस्ति का अवस्थाविशेष से विधान का निर्देश—रूक्ष तथा बहुवात युक्त पुरुष के लिये प्रतिदिन तथा अन्य मनुष्यों के लिए अग्निमांद्य के भय से तीसरे दिन स्नेहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७९ ॥

स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनल्पयः ।
तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥८०॥

अभ्यास से वस्ति आपद् विहीन होने का निर्देश—रूक्ष मनुष्यों को अल्पमात्रा में दीर्घकाल तक सेवन की गई स्नेहवस्ति, हानि नहीं पहुँचाती। उसी प्रकार स्निग्ध पुरुषों के लिए अल्पमात्रा युक्त निरूह का सेवन हितकर होता है ॥८०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेहवस्तिजाः ।
बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः ॥८१॥
अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान् ।
कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः, स चापि न निवर्तते ॥८२॥

दोषाभिभूत स्नेहवस्ति के व्यापद्—इसके आगे स्नेह वस्तियों से उत्पन्न होनेवाली व्यापदों (हानियों) का वर्णन किया जा रहा है। जब बलवान वातादि दोष कोष्ठ में रहते हैं तब अल्पशक्तिवाले स्नेह को तिरस्कृत करके पृथक्-पृथक् उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं तथा स्नेह को भी बाहर नहीं निकलने देते ॥ ८१ ८२ ॥

तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता ।
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः ॥८३॥

वायु से स्नेह के तिरस्कृत होने पर मुख में कषायता, जृम्भा, भिन्न भिन्न वातजन्य वेदनायें, कम्प और विषमज्वर होता है ॥ ८३ ॥

पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत् ।
दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता ॥८४॥

पित्त के द्वारा स्नेह के निरस्कृत होने से मुख में कटुता, दाह, तृष्णा, ज्वर और स्वेदागमन होता है तथा नेत्र, मूत्र, एवं अंग पीले पड़ जाते हैं ॥ ८४ ॥

श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता ।
गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीतज्वरोऽरुचिः ॥८५॥

श्लेष्मा के द्वारा स्नेह का तिरस्कार होने पर मुख से लालास्राव, मुख में मधुरता, गौरव, छर्दि, श्वास लेने में कठिनाई, शीत ज्वर और अरुचि होती है ॥ ८५ ॥

तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे वस्तिं निधापयेत् ।
यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च ॥८६॥

पूर्वोक्त व्यापदों की चिकित्सा—दोषों के द्वारा स्नेह के तिरस्कृत होने पर दोषों के अनुकूल दोषशामक चिकित्सा विधि का विधान करना चाहिए ॥ ८६ ॥

अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा ।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसंचर ॥८७॥
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ।
तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते ॥८८॥

अधिक भोजन करने पर स्नेहवस्ति देने से उत्पन्न व्यापद् और उनकी चिकित्सा—अधिक भोजन करने पर अन्न से तिरस्कृत हुआ स्नेह जब बाहर नहीं आता तब आमाशय में गुरुता, शूल, वायु का अवरोध, हृदय में पीडा, मुख वैरस्य श्वास, मूर्च्छा, भ्रम और अरुचि होती है। इसमें लंघन के पश्चात् दीपन चिकित्सा विधि का प्रयोग हितकर होता है ॥ ८७-८८ ॥

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ।
तदाऽङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते ॥८९॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् ।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम् ॥९०॥

अशुद्ध देहवाले को अनुवासन देने में व्यापद् और उनकी चिकित्सा—अशुद्ध शरीरवाले (विरेचन निरूह से रहित) व्यक्ति का मल से मिश्रित स्नेह जब पुनः बाहर नहीं आता तब अंगों में पीड़ा, आध्मान, श्वास और शूल उत्पन्न होता है एवं पक्वाशय में गुरुता होती है। इसमें निरूहण तथा तीक्ष्ण औषधियों से ही सिद्ध तीक्ष्ण अनुवासन का प्रयोग भी करना चाहिए ॥ ८९-९० ॥

शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् ।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम् ॥९१॥
स्नेहगन्धि मुख चापि कासश्वासावरोचकः ।
अति पीडितवत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा ॥९२॥

स्नेह का अनुसरण उदर में होने पर व्यापद् तथा उनकी चिकित्सा—शुद्ध शरीर वाले (वमन विरेचन से युक्त) पुरुष में स्नेह के उदर में प्रवेश करने से, शरीर में स्नेह का दिखलाई पडना, इन्द्रियों में मलवृद्धि, ग्लानि, मुख में स्नेह की गन्ध, काम, श्वास, और अरुचि होती है। इसमें अधिक पीडित (दबाई गई) वस्ति की भाँति चिकित्सा विधि तथा आस्थापन वस्ति (निरूहण) का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९१-९२ ॥

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः संप्रयोजितः ।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते ॥९३॥
वितन्वन्गौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति ।
तत्राम्यापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम् ॥९४॥

स्वेदन तथा शोधन से रहित अवस्था में अल्प स्नेह देने पर व्यापद् और उनकी चिकित्सा—स्वेदन तथा वमन विरेचन से रहित अशुद्ध शरीरवाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मात्रा में अल्प, शीतल और मृदु स्नेह बाहर नहीं आता एवं धीरे-धीरे निकलता है, जिससे विबन्ध, गौरव, आध्मान और पक्वाशय में शूल होता है। इसमें शीघ्र आस्थापन के साथ अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९३-९४ ॥

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत् ॥९५॥

अल्प भोजन किए हुए को मन्दगुण स्नेहदान से व्यापद् और उनकी चिकित्सा—अल्प भोजन के पश्चात् अल्पमात्रा में दिया गया स्नेह मन्दगुण होने के कारण बाहर नहीं आता और श्रम, उत्क्लेश एवं अतिशय मानसिक व्याकुलता उत्पन्न करता है ॥ ९५ ॥

तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन बस्तिना।
(अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते) ॥९६॥

इस अवस्था में भी शोधनीय वस्ति से आस्थापन करना चाहिए। (शोधनीय स्नेहवस्ति से अनुवासन भी हितकर होता है।) ॥ ९६ ॥

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति।
कुर्याद्धरितगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत् ॥९७॥

स्नेह वस्ति के न निकलने पर व्यापत्काल की अवधि का निर्देश—दिन-रात अर्थात् २४ घण्टे में भी वापस नहीं आया हुआ स्नेह विकार उत्पन्न नहीं करता और वस्ति का गुण प्रदान करता है, किन्तु जीर्ण होने पर अल्प गुण युक्त होता है ॥ ९७ ॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहवस्तिरनिःसृतः।
सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥९८॥

उपद्रव न करनेवाले स्नेहवस्ति के न निकलने पर उपेक्षा का निर्देश—रूक्षता के कारण अवरुद्ध जिस मनुष्य की सम्पूर्ण या अल्पमात्रा में बाहर न आई हुई स्नेहवस्ति कोई उपद्रव नहीं करती, बुद्धिमान वैद्य को उसकी उपेक्षा करनी चाहिए ॥ ९८ ॥

अनायान्त त्वहोरात्रात् स्नेह संशोधनैर्हरेत्।
स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥९९॥

एक स्नेहवस्ति के बिना निकले दूसरी वस्ति न देने का निर्देश—एक अहोरात्र में बाहर नहीं आए हुए स्नेह को संशोधन के द्वारा निकालना चाहिए, स्नेहवस्ति के वापस न आने पर दूसरी स्नेहवस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः।
वस्तेरुत्तरसञ्ज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ॥१००॥

उत्तरवस्ति विधि का निर्देश—इस प्रकार लक्षण और चिकित्सा के साथ सम्पूर्ण व्यापत्तियों का वर्णन किया गया। इसके आगे उत्तरवस्ति की विधि का कथन किया जा रहा है ॥ १०० ॥

चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रमातुराङ्गुलसमितम्।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥१०१॥

नेत्र प्रमाण—आतुर की अंगुलियों के माप से चौदह अंगुल, मालती पुष्प के वृन्त की भाँति अग्रभाग वाला तथा सरसों के निकलने योग्य छिद्र से युक्त होना चाहिए ॥ १०१ ॥

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुर्व्वश्चात्र कीर्तितः।
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम् ॥१०२॥

उत्तरवस्ति के द्रव्य की मात्रा—(स्नैहिक) उत्तरवस्ति में स्नेह की उत्तम मात्रा एक पल होती है। पच्चीस वर्ष से अल्प आयु वाले व्यक्तियों के लिए स्नेह मात्रा की कल्पना वैद्य को अपनी बुद्धि से करनी चाहिए ॥ १०२ ॥

निविष्टकर्णिकं मध्ये, नारीणां चतुरङ्गुले।
मूत्रस्रोतःपरीणाह मुद्गवाहि दशाङ्गुलम् ॥१०३॥

स्त्रियों के उत्तरवस्ति के नेत्र का प्रमाण—पुरुषों के नेत्र में कर्णिका मध्यभाग में होनी चाहिए तथा स्त्रियों के नेत्र में चार अंगुल की दूरी पर। मूत्र के निकलने का मार्ग मूग के निकलने योग्य छिद्र तथा लम्बाई दश अंगुल होनी चाहिए ॥ १०३ ॥

मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः।
तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम् ॥१०४॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमङ्गुलम्।
विधेयं चाङ्गुलं तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा ॥१०५॥

स्त्रियों के लिए नेत्र-प्रणिधान की विधि—कुछ अन्य विद्वान् नेत्र-प्रमाण मेढ्र के तुल्य मानते हैं। स्त्रियों के अपत्य-मार्ग में चार अंगुल नेत्र प्रविष्ट करना चाहिए और मूत्रमार्ग में दो अंगुल। कन्या (बारह वर्ष से न्यून आयु) के लिए एक अंगुल नेत्र का प्रयोग करना चाहिए और कही जाने वाली विधि के अनुसार उनकी अंगुलि प्रमाण का विधान करना चाहिए ॥ १०४-१०५ ॥

स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वाङ्गुलीमूलसंमितम्।
देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम् ॥१०६॥

स्त्रियों की उत्तरवस्ति में स्नेह का मान—स्त्रियों के लिए स्नेह की मात्रा उनकी अंगुलि मूल के बराबर एक प्रसृत (अञ्जलि) लेना चाहिए और (बलवान रोग में) सभी अवस्थाओं में उक्त प्रमाण का प्रयोग करना चाहिए तथा (मध्यहीन बल रोग में) न्यून मात्रा की कल्पना अपनी बुद्धि के अनुसार करनी चाहिए ॥ १०६ ॥

औरभ्रः शौकरो वाऽपि बस्तिराजश्च पूजितः।
तदलाभे प्रयुञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम् ॥१०७॥

उत्तरवस्ति के योग्य वस्ति का निरूपण—औरभ्र (भेडा) सूअर अथवा बकरे की वस्ति इनके लिए उत्तम होती है, उनके अभाव में पक्षियों के गलचर्म का प्रयोग करना चाहिए॥

(अस्यालाभे हृतेः पादो मृदुचर्मततोऽपि वा)।
अथातुरमुपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम् ॥१०८॥
यवागूं सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम्।
निपण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम् ॥१०९॥
स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मानवम्।
ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम् ॥११०॥

पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम् ।
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्याद्ङ्गुलानि षट् ॥१११॥

पुरुषों की उत्तरवस्ति के प्रणिधान की विधि—(इसके अभाव में मशक का चतुर्थांश भाग या मृदुचर्म प्रयोग में लाना चाहिए) स्नेहन, स्वेदन से युक्त शिथिल आशय वाले रोगी को अग्निबल के अनुसार घृत, दुग्धयुक्त यवागू पिलाकर, घुटने के बराबर ऊँची, सहारे वाली चौकी पर सीधा बैठाना चाहिए और उष्ण तैल से वस्तिप्रदेश के ऊपरी भाग तथा रोगी की भलीभांति मालिश करनी चाहिए। फिर उस रोगी के दृढ़ लिङ्ग को सीधा स्थापित कर, प्रथम शलाका से मूत्रमार्ग का अन्वेषण करके, तदनन्तर घृत लगे हुए नेत्र को धीरे-धीरे ६ अंगुल प्रविष्ट करना चाहिए ॥ १०८-१११ ॥

मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम् ।
ततोऽवपीडयेद्बस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत् ॥११२॥

कुछ आचार्य पुरुषेन्द्रिय प्रमाण नेत्र-प्रवेश का कथन करते हैं। वस्ति को दबाकर धीरे से नेत्र निकाल लेना चाहिए ॥ ११२ ॥

विमर्शः—चरक ने पुरुषेन्द्रिय प्रमाण नेत्र-प्रवेश का विधान बतलाया है। 'ऋजः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तिते। शलाकयाऽन्विष्य गतिं यथाप्रतिहता व्रजेत्। ततः शेफःप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्।' (च. सि. अ. ९)

ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः ।
भोजयेत् पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा ॥११३॥

बुद्धिमान् वैद्य स्नेह के वापस आने पर रोगी को सायंकाल दूध, यूष अथवा मांसरस के साथ भोजन की मात्रा खिलावे ॥ ११३ ॥

अनेन विधिना दद्याद्वस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा ।
ऊर्ध्वजान्वै स्त्रियै दद्यादुत्तानायै विचक्षणः ॥११४॥

स्त्रियों की उत्तरवस्ति-प्रणिधान विधि—जानु को ऊँचा करके उत्तान लेटी हुई स्त्री को तीन या चार वस्ति बुद्धिमान वैद्य इस विधि से लगावे ॥ ११४ ॥

सम्यक् प्रपीडयेद्योनिं दद्यात् सुमृदुपीडितम् ।
त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद्योनिमुखं प्रति ॥११५॥

वस्ति-प्रणिधान के समय योनि को दबाकर तीन कर्णिका वाले नेत्र को योनिमुख में प्रवेश करके धीरे-धीरे वस्ति दबानी चाहिए ॥ ११५ ॥

गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु ।
क्वाथप्रमाणं प्रसृतं, स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत् ॥११६॥

स्त्रियों के निरूह तथा उत्तरवस्ति के लिए क्वाथ का प्रमाण—गर्भाशय की शुद्धि के लिए स्त्रियों में स्नेह की मात्रा स्नेह से द्विगुण (पूर्वोक्त अंगुलिमूल-सम्मित प्रसृति की अपेक्षा द्विगुण) होनी चाहिए तथा क्वाथ की मात्रा (निरूहवस्ति के लिए पुरुषों में) एक प्रसृत और स्त्रियों के लिए दो प्रसृत होनी चाहिए ॥ ११६ ॥

कन्येतरस्याः, कन्यायास्तद्वद्वस्तिप्रमाणकम् ।
अप्रत्यागच्छति भिषग् बस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥११७॥
भूयो बस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गणैः ।
गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसंभृताम् ॥११८॥

उत्तरवस्ति में स्नेह के न निकलने पर उसके निकालने का उपाय—प्रसूता या अप्रसूता तथा कन्या (बारह वर्ष से न्यून आयु) के लिए वस्ति-शोधनार्थ क्वाथ की मात्रा पुरुष की भांति रोगी को अञ्जलि की माप से एक प्रसृत लेनी चाहिए। उत्तरवस्ति के वापस आने पर वैद्य को पुनः शोधनगण के द्रव्यों से युक्त वस्ति लगानी चाहिए। अथवा शोधन द्रव्य मिश्रित वर्ति (विरेचन द्रव्य युक्त) गुदा में रखनी चाहिए ॥

प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारमथैषणीम् ।
पीडयेद्वाऽप्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ॥११९॥

अथवा बुद्धिमान् वैद्य को वस्तिद्वार में एषणी (शलाका) प्रवेश करना चाहिए या मुट्ठी के अग्रभाग से बलपूर्वक नाभि के नीचे दबाना चाहिए ॥ ११९ ॥

आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च ।
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वाऽपि ससैन्धवाः ॥१२०॥
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ।
बस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ॥१२१॥

अमलतास के पत्ते और सेन्धानमक को एक साथ निर्गुण्डी स्वरस या गोमूत्र के द्वारा पीसकर आयु के अनुसार मूंग, इलायची और सरसों के समान वर्ति बनानी चाहिए तथा वस्ति के आगमन के लिए शलाका की सहायता से उसे मूत्रमार्ग में रखना चाहिए ॥ १२०-१२१ ॥

आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः ।
कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनागरैः ॥१२२॥

अथवा गृहधूम, बड़ी कटेरी, पिप्पल, मैनफल, सेन्धा नमक और सोंठ को शुक्त, गोमूत्र एवं सुरा के द्वारा पीसकर बनाई गई वर्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२२ ॥

अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत् ।

स्नैहिक उत्तरवस्ति के पश्चात् नितम्ब-ताडन आदि अनुवासन चिकित्साकर्म का प्रयोग समझकर करना चाहिए ॥

शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकाम्बुना ॥१२३॥
दह्यमाने तदा बस्तौ दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ।
क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥१२४॥

वस्तिदाह में चिकित्सा—वस्ति में दाह होने पर शर्करा और मधु मिश्रित शीतल मुलेठी क्वाथ की वस्ति लगानी चाहिए। अथवा क्षीरवृक्ष के शीतल क्वाथ में दूध मिलाकर वस्ति प्रयोग करना चाहिए ॥ १२४ ॥

शुक्रं दुष्टं शोणितं चाङ्गनानां
पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम् ।
मूत्राघातान्मूत्रदोषान् प्रवृद्धान्
योनिव्याधिं संस्थितिं चापरायाः ॥१२५॥
शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीं च
शूलं बस्तौ वङ्क्षणे मेहने च ।
घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान्
हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः ॥१२६॥

उत्तरबस्ति का फल—उत्तरबस्ति, प्रमेह को छोड़कर दूषित शुक्र और स्त्रियों के आर्तव, रज की अधिकता, रज का नाश एवं रज:कष्ट, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, योनिरोग, अपरा की रुकावट, शुक्रस्राव, अश्मरी तथा बस्ति, वङ्क्षण और लिङ्ग के शूल, एवं बस्ति की अन्य भयङ्कर व्याधियों को नष्ट करती है ॥ १२५-१२६ ॥

सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च ।
बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना ॥१२७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

भली भांति दी गई उत्तरबस्ति के लक्षण, उसके दोष और उनकी चिकित्सा स्नेहबस्ति के समान होती है ॥ १२७ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निरूहक्रमचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

निरूह विधान का उपक्रम—इसके अनन्तर निरूह विधान के द्वारा चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

अथानुवासितमास्थापयेत्; स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टबहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधःसुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशप्रतिच्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चितदक्षिणसक्थमितरप्रसारितसक्थि सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा, ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सव्यपाणिकनिष्ठिकानामिकाभ्यां वस्तेर्मुखार्धं सङ्कोच्य, मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृतास्यं कृत्वा, वस्तावौषधं प्रक्षिप्य, दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चानुत्सिक्तमनायतमबुद्बुदमसङ्कुचितमवातमौषधसत्रमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिञ्चेत्, ततः मूत्रेणौषधान्ते द्विर्निर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात्, अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना बस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमाङ्गुलिप्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्याङ्गुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तमुपादाय प्रयच्छेदनुपूर्व्वशं ममभुग्नमुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात् ॥३॥

निरूह के प्रणयन की विधि—अनुवासित (अनुवासन बस्ति प्रयुक्त) पुरुष को आस्थापन (निरूह बस्ति) देना चाहिए। भली भांति स्नेहन, स्वेदन से युक्त शरीर तथा मल-मूत्र का त्याग किए हुए व्यक्ति को वायु रहित, पवित्र गृह में मध्याह्न काल के समय, निम्नभाग में सुन्दर पकड़ने योग्य स्थान वाली, कटि प्रदेश की ओर विशाल एवं सिरहाने से रहित फैली हुई शय्या पर बाँये पसवाड़े से लिटाना चाहिए। उस व्यक्ति के दाहिने पैर को सिकोड़ कर बायाँ पैर फैला देना चाहिए और उसे प्रसन्न-चित्त, अन्न का परिपाक हो गया है तथा मौन होकर अंस प्रदेश को उन्नत रख विश्राम कर रहा है, ऐसा समझ कर (देख कर) बायें पैर के ऊपर नेत्र को रख, दूसरे पैर के अंगूठे और अंगुलि से बस्ति-कर्णिका को ऊपर उठा कर, बायें हाथ की कनिष्ठिका एवं अनामिका से बस्ति के आधे मुख को बन्द करके, मध्यमा, तर्जनी और अंगूठे से आधे मुख को खोल कर बस्ति में औषध भरना चाहिए। फिर दाहिने हाथ के अंगूठे, तर्जनी और मध्यमा अंगुलि से, ऊपर के भाग से औषध न निकले इतनी भरी हुई, विस्तार रहित, बुलबुले से रिक्त असंकुचित एवं वायु-विहीन बस्ति को औषधि के समीप पकड़ कर, बायें हाथ से दाहिने हाथ के ऊपर पकड़ना चाहिए और दाहिने हाथ से ही इसमें औषधि भरना चाहिए तथा औषधि के अन्त भाग में दो-तीन बार सूत्र लपेट कर बांधना चाहिए। तदनन्तर सीधे दाहिने हाथ से बस्ति को पकड़ना चाहिए और बायें हाथ की मध्यमा एवं तर्जनी अंगुलि से नेत्र को पकड़ कर, अंगूठे से नेत्र के मुख को बन्द करके, अग्र भाग में घृत लगे हुए नेत्र को घृतयुक्त गुदा में प्रविष्ट करने के लिए पृष्ठ वंश के नीचे देना चाहिए और कर्णिका को सीधे ऊपर रखते हुए नेत्र को प्रविष्ट करो ऐसा रोगी से कहना चाहिए ॥ ३ ॥

बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत् ।
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम् ॥ ४ ॥

बायें हाथ से बस्ति को पकड़ कर दाहिने हाथ से एक ही दबाव में न तो बहुत शीघ्र और न धीरे धीरे बस्ति को दबाना चाहिए ॥ ४ ॥

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात् । अथातुरमुपवेशयेदुत्कुटुकं बस्त्यागमनार्थम् । निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति ॥५॥

नेत्र को बाहर निकाल कर, बस्ति देने से लेकर तीस मात्रा तक प्रतीक्षा करनी चाहिए फिर रोगी को खड़ा होने के लिए कहना चाहिए। बस्ति के बाहर आने के लिए रोगी को उकड़ू बैठाना चाहिए। निरूह बस्ति के वापस आने का समय एक मुहूर्त (दो घड़ी) होता है ॥ ५ ॥

विमर्शः—उत्सृष्टबहिर्वेग त्यक्तविण्मूत्रादिकम् । प्रततायां शय्यायां स्वस्थाया विस्तीर्णायामिति केचित् । श्रोणिप्रदेशप्रतिच्यूढाया कटिप्रदेशविशालायाम् । सुनिषण्णदेहम् अंसोन्नत यथा स्यात्तथा विश्रान्तशरीरम् । सव्यपाणिर्वामकरः । अनुत्सिक्तमूर्ध्वक्षरणरहितं यथा भवति तथा सिक्तम् । अनायतमनतिदीर्घम् (अचिरात् प्रवृत्तम्) । आर्कायक कर्णिकां मध्यादीषत्कृत्य । नेत्र प्रणिधत्स्व प्रवेशयेति आतुरं प्रति भिषग् ब्रूयात । त्रिंशन्मात्रा इति मात्रामान हि अग्निवेशेन व्याख्यातम्-'यावत् पर्येति हस्ताग्र दक्षिण जानुमण्डलम् । निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्त्तिता' । मुहूर्तो घटिकाद्वयम् ।

अनेन विधिना बस्तिं दद्याद्बस्तिविशारदः ।
द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः ॥ ६ ॥

वस्ति क्रिया के जानने वाले वैद्य को प्रयोजन के अनुसार इस विधि से दूसरी, तीसरी अथवा चौथी वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६ ॥

सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवारयेत् ।
विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः ॥ ७ ॥

निरूह के अतियोग का निषेध—निरूह वस्ति के भली भांति प्रयुक्त होने के लक्षणों की उपस्थिति होने पर वस्ति प्रयोग बन्द कर देना चाहिए तथा सुकुमार मनुष्यों के लिए विशेष रूप से वस्तियों का कम ही प्रयोग करना चाहिए ॥७॥

अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम् ।
यस्य स्याद्वस्तिरल्पोऽल्पवेगो हीनमलानिलः ॥ ८ ॥
दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान् ।

दुर्निरूढ के लक्षण—वस्ति प्रयोग का क्रम अल्प भले ही रहे किन्तु उसका अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिस व्यक्ति की वस्ति अल्प गुण वाली हो, वेग अल्प हो, मल और वायु की न्यूनता हो तथा जिसमें मूत्रपीडा, अरुचि एवं जडता उत्पन्न हो उसे दुर्निरूढ (भली भांति निरूह प्रयोग न होना) समझना चाहिए ॥ ८ ॥

यान्येव प्राङ्न्यायोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते ॥ ९ ॥
तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता ।

अतिनिरूढ के लक्षण—अतिविरेचन के जिन लक्षणों का वर्णन हमने पहले किया है उन्हीं लक्षणों को अतिनिरूह में भी बुद्धिमान् वैद्य को समझना चाहिए ॥ ९ ॥

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः ॥१०॥
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत् ।

सुनिरूढ के लक्षण—जिस व्यक्ति का मल, पित्त, कफ और वायु क्रम से बाहर निकलता है तथा शरीर में लघुता उत्पन्न होती है उसे सुनिरूढ (भली भांति निरूह प्रयुक्त) समझना चाहिए ॥ १० ॥

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातवन्तं तु भोजयेत् ॥११॥

फिर स्नान किये हुए सुनिरूढ पुरुष को भोजन कराना चाहिए ॥ ११ ॥

पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात् ।
सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः ॥१२॥

पित्त, श्लेष्मा और वात युक्त सुनिरूढ व्यक्ति को क्रमशः दूध, यूष एव मांसरस के साथ अथवा सभी को विकार रहित जाङ्गल जीवों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिए ॥ १२ ॥

त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापि वा ।
यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते ॥१३॥

भोजन तीन हिस्सा अथवा आधा या अल्प मात्रा में न्यून होना चाहिए तथा भोजन की इस मात्रा का विधान अग्नि और दोष के अनुसार करना चाहिए ॥ १३ ॥

अनन्तरं ततो युञ्ज्याद्यथास्वं स्नेहबस्तिना ।
विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः ॥१४॥
आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम् ।

स्नेहवस्ति के गुण—इसके पश्चात् दोष के अनुसार स्नेहवस्ति का प्रयोग करना चाहिए। आस्थापन और स्नेहवस्ति के भली भांति प्रयुक्त होने पर इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति में वृद्धि, मन में प्रसन्नता, स्निग्धता एव व्याधि की शान्ति होती है ॥१४॥

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते ॥१५॥
रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम् ।

उस दिन (निरूह वस्ति के प्रयोग के दिन) रोगी को वायु के प्रकोप का प्रबल भय रहता है, इसलिए मांसरस के साथ चावल का भोजन तथा उसी दिन अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५ ॥

पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम् ॥१६॥
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहबस्तिर्विधीयते ।

इसके अनन्तर अग्नि-बल तथा वायु की क्रियाओं का ज्ञान करके अन्न-पान से अवरुद्ध कोष्ठ में स्नेह वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६ ॥

अनायान्त मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥१७॥
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्लसंयुतैः ।

यदि एक मुहूर्त अर्थात् दो घडी में निरूह वस्ति वापस न आवे तो शोधनीय तथा यवक्षार, गोमूत्र एवं काञ्जी मिश्रित तीक्ष्ण निरूहों के द्वारा बुद्धिमान् वैद्य को उसे बाहर निकालना चाहिए ॥ १७ ॥

विगुणानिलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम् ॥१८॥
शूलारतिज्वरानाहान्मरणं वा प्रवर्तयेत् ।

देर तक निरूह के रहने से दोष—विपरीत गति वाले वायु से अवरुद्ध हुआ निरूह बहुत काल तक रुक जाता है जिससे शूल, अरति (किसी कार्य में मन का न लगना), ज्वर और आनाह की उत्पत्ति अथवा मृत्यु भी हो जाती है ॥ १८ ॥

न तु भुक्तवतो देयमास्थापनमिति स्थितिः ॥१९॥
विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम् ।
कोपयेत् सर्वदोषान् वा तस्माद्भुक्तवद्भोजिने ॥२०॥

अन्न खाये हुये को आस्थापन का निषेध—भोजन किये हुए व्यक्ति को आस्थापन नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे विसूचिका की उत्पत्ति या भयङ्कर वमन होता है अथवा सम्पूर्ण दोष कुपित हो जाते है। इसलिए निरूह वस्ति का प्रयोग भोजन न किए हुए व्यक्तियों के लिए ही करना चाहिए ॥ १९-२० ॥

जीर्णान्नस्याशये दोषाः पुंसः प्रव्यक्तिमागताः ।
निःशेषाः सुखमायान्ति भोजनेनाप्रपीडिताः ॥२१॥

जीर्ण अन्न वाले के लिये आस्थापन देने में गुण—जीर्ण अन्न वाले व्यक्ति के पक्वाशय में निरावरण रूप में स्थित दोष, भोजन के द्वारा पीडित न होने पर, सम्पूर्ण रूप में सुखपूर्वक बाहर निकल जाते है ॥ २१ ॥

न वाऽऽस्थापनविक्षिप्तमन्नमग्निः प्रधावति ।
तस्मादास्थापनं देयं निराहाराय जानता ॥२२॥

आस्थापन वस्ति के द्वारा विक्षिप्त हुई (दुर्बल हुई) अग्नि अन्न की ओर नहीं दौडती अर्थात् अन्न का परिपाक करने में समर्थ नहीं रहती अतः कुशल चिकित्सक को आस्थापन वस्ति का प्रयोग निराहार मनुष्य के लिए ही करना चाहिए ॥

आवस्थिकं क्रमं चापि बुद्ध्वा कार्यं निरूहणम् ।
मलेऽपकृष्टे दोषाणां बलवत्त्वं न विद्यते ॥२३॥

अवस्था विशेष में अन्न खाये हुए को भी निरूह देने का निर्देश—आवस्थिक क्रम का ज्ञान करके (तीव्र शूल, आध्मान आदि रोगों की अवस्था में चिकित्सा के द्वारा ऊर्ध्व भाग से दोषों की शुद्धि न होने पर भोजन किए हुए व्यक्ति को भी फलवर्ति आदि के प्रयोग से निरूह का प्रयोग करना) अर्थात् रोगों की अवस्था के अनुसार चिकित्सा क्रम का निर्णय कर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि मल के निकल जाने पर दोष निर्बल हो जाते हैं ॥ २३ ॥

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः काथा रसास्तथा ।
लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचा ॥२४॥
एला त्रिकटुकं राम्ना सरलो देवदारु च ।
रजनी मधुकं हिङ्गु कुष्ठं संशोधनानि च ॥२५॥
कटुका शर्करा मुस्तमुशीरं चन्दनं शटी ।
मञ्जिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसाञ्जनम् ॥२६॥
बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजा यवाः ।
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ॥२७॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका ।
निरूहेषु यथालाभमेष वर्गो विधीयते ॥२८॥

आस्थापन में उपयोगी द्रव्य—सभी प्रकार के दूध, अम्ल, मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मांसरस तथा लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसों, वच, इलायची, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पल), राम्ना, सरलवृक्ष, देवदारु, हल्दी, मुलेठी, हींग, कूठ, संशोधन द्रव्य (त्रिवृत् आदि), कुटकी, शर्करा, नागरमोथा, खस, चन्दन, कचूर, मजीठ, मैनफल, चण्डा (लाल कनेर), त्रायमाणा, रसोत, बेलगिरी, अजवायन, प्रियङ्गु, इन्द्रयव, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि और मधूलिका (तृणविशेषः मर्कटिकेति लोके) इस वर्ग में से जितनी औषधियाँ मिल सकें उनका प्रयोग निरूहबस्तियों में किया जाता है ॥ २४-२८ ॥

स्वस्थे काथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः ।
क्रुद्धेऽनिले चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥२९॥

निरूह में दोषानुसार क्वाथ की मात्रा—स्वस्थ पुरुष के लिए (निरूह) क्वाथ के चारों भाग और स्नेह का पाँचवा भाग तथा वात प्रकोप में स्नेह का चौथा भाग, पित्त प्रकोप में छठा एवं कफ प्रकोप में आठवां भाग होना चाहिए ॥ २९ ॥

सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां, लवणं पुनः ।
क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥३०॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे कल्पनात्रियम् ॥३१॥

तीनों दोषों के प्रकोप में कल्क आठवां भाग तथा लवण मधु, मूत्र, फल, दूध, काञ्जी एवं मांसरस का योग बुद्धिमान् वैद्य को युक्तिपूर्वक करना चाहिए। निरूहबस्ति की कल्पना निम्न लिखित रूप में है ॥ ३०-३१ ॥

विमर्शः—स्वस्थे समवातपित्तकफे पुरुष । द्वादश प्रसृतस्य निरूहस्य चत्वारो भागाश्चत्वारः प्रसृता अष्टौ पलानि । स्नेहस्य भाग. पञ्चम इति चतुर्विंशतिपलनिरूहापेक्षया पादोनपञ्चपलानि । क्रुद्धेऽनिले चतुर्थ इति चतुर्थो भाग. षट् पलानीत्यर्थ । षष्ठः पित्ते इति क्रुद्धे पित्ते स्नेहस्य षष्ठो भागः चत्वारि पलानीत्यर्थः । कफेऽष्टम इति क्रुद्धे कफे स्नेहस्याष्टमो भागस्त्रीणि पलानीत्यर्थः । सर्वत्र वातपित्तश्लेष्मसु कल्कस्य अष्टमो भागस्त्रीणि पलानीत्यर्थः । सर्वेषु स्वस्थास्वस्थेषु इति गयी । लवण पुनरित्यादि लवणाद्रीनि विशेष-प्रमाणेनानुक्तान्यपि युक्त्या दापयेत्, युक्त्या योगेनेत्यर्थः ।

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः ।
बस्तेः सुकल्पना प्रोक्ता तस्य दानं यथार्थकृत् ॥३२॥

बस्ति द्रव्य के योजन का क्रम—श्रेष्ठ वैद्यों ने कल्क, स्नेह और कषाय के अपृथग्भाव (आपस में घुला-मिला रहना) को ही बस्ति की सुन्दर कल्पना बतलाई है तथा इसका दान (प्रयोग) यथार्थकृत् अर्थात् वात, पित्त, कफ और शोणित का हरण, शोधन, संग्रहण, लेखन, बृंहण, वाजीकरण एवं रसायन आदि गुणों को करने वाला होता है ॥ ३२ ॥

दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम् ।
पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः ॥३३॥
सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम् ।
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान् ॥३४॥

प्रथम सेन्धानमक एक कर्ष तथा मधु दो प्रसृत (चारपल) मिला कर हथेली से मथना चाहिए और मथते समय धीरे-धीरे मधु के तुल्य स्नेह मिलाते रहना चाहिए। इसके बाद भली भाति मथन हो जाने पर, मैनफल का कल्क मिला कर फिर वातादि दोषों को दूर करने वाले अन्य द्रव्यों का महीन पिसा हुआ कल्क उनके अंश के समान मिलाना चाहिए ॥

गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन्मथ्नीयात्त खजेन च ।
यथा वा साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः समः ॥३५॥

दूसरे गहरे पात्र में उपर्युक्त द्रव्यों का मथनी से मन्थन करना चाहिए अथवा जिस प्रकार उचित दिखलाई पड़े वैसे मथना चाहिए किन्तु इसका ध्यान रखना चाहिए कि द्रव्य न तो अधिक गाढ़ा और न पतला हो जाय अपि तु समान रहे ॥

रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ।
कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत् ॥३६॥

मांसरस, दूध, काञ्जी और मूत्र का मिश्रण दोषों की अवस्था के अनुसार करना चाहिए तथा पांच प्रसृत छाना हुआ क्वाथ इसमें मिलाना चाहिए ॥ ३६ ॥

अत ऊर्ध्वं द्वादशप्रसृतान् वक्ष्यामः—

दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् ।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥३७॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् ।
संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥३८॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम् ।
एव प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥३९॥

द्वादश प्रसृत-प्रमाण का साधन—इसके आगे द्वादश प्रसृत प्रमाण की साधन विधि का वर्णन किया जाता है—प्रथम सेन्धा नमक एक कर्ष लेकर इसके साथ दो प्रसृति (चार पल) मधु मिला दोनों को मथकर, तीन प्रसृति

स्नेह मिलाना चाहिए और स्नेह के मिल जाने पर एक प्रसृति कल्क द्रव्य डालना चाहिए। जब सभी द्रव्य आपस में भली-भाँति मिल जाँय तब चार प्रसृति कषाय मिलाना चाहिए। सबके अन्त में दो प्रसृति प्रक्षेप द्रव्य का संयोग करना चाहिए। इस प्रकार बनाई गई वस्ति द्वादश-प्रसृत होती है ॥ ३७–३९ ॥

ज्येष्ठाया. खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम् ।
अपह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत प्रसृतिहापनम् ॥४०॥

ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम मात्रा का यह प्रमाण बतलाया गया है। यदि इस मात्रा में न्यूनता करनी हो तो वैद्य को एक प्रसृति न्यून कर देनी चाहिए ॥ ४० ॥

यथावयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता ।
सैन्धवाद्विद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः ॥४१॥

सिद्धि की कामना करनेवाले श्रेष्ठ वैद्यों ने सैन्धव से लेकर कषाय पर्यन्त निरूहवस्तियों की यह कल्पना आयु के अनुसार की है ॥ ४१ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते बस्तयोऽत्र विभागशः ।
यथादोषं प्रयुक्ता ये हन्युर्नानाविधान् गदान् ॥४२॥

इसके आगे विभाग केअनुसार वस्तियों का वर्णन किया जाता है, जो वातादि दोषों के अनुसार प्रयुक्त होने पर विविध प्रकार की व्याधियों का नाश करती हैं ॥ ४२ ॥

शम्पाकोरुवुवर्षाभूवाजिगन्धानिशाच्छदैः ।
पञ्चमूलीबलाराल्लागुडूचीसुरदारुभिः ॥४३॥
कथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः ।
कल्कैर्मार्गविकाम्भोदहपुषामिसिसैन्धवैः ॥४४॥
वत्साह्वयप्रियङ्गूम्रायष्ट्याह्वयरसाञ्जनैः ।
दद्यादास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम् ॥४५॥

शम्पाकादि आस्थापन—अमलतास, एरण्ड, पुनर्नवा, अश्वगन्ध, निशाच्छद (कचूर), लघुपञ्चमूल, खरेटी, राल्ना, गुडूची और देवदारु, एक एक पल तथा आठ मदनफल, (चार मैनफल बराबर है एक पल के) इस प्रकार इन सोलह पल द्रव्यों का क्वाथ करना चाहिए और इसमें पिप्पल, नागरमोथा, हाऊबेर, सौंफ, सेन्धानमक, इन्द्रयव, प्रियङ्गु, मुलेठी एवं रसोत का कल्क मिलाकर मधु आदि से संस्कृत करके सहने योग्य उष्ण आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥

पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसङ्गिनाम् ।
ग्रहणीमारुतार्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम् ॥४६॥

इसके प्रयोग से पृष्ठ, ऊरु और कटिशूल, अश्मरी, मल-मूत्र-वायु का अवरोध, ग्रहणी, वात तथा अर्श रोग नष्ट होते हैं तथा रक्त, मांस एवं बल की प्राप्ति होती है ॥ ४६ ॥

गुडूचीत्रिफलाराल्लादशमूलबलापलैः ।
कथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियङ्गुघनसैन्धवैः ॥४७॥
शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठबिल्वजैः ।
सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्धपलान्वितैः ॥४८॥
क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः ।
समालोड्य च मूत्रेण दद्यादास्थापनं परम् ॥४९॥

गुडूच्यादि आस्थापन—गुडूची, त्रिफला, राल्ना, दशमूल, खरेंटी और मांस का क्वाथ करके प्रियङ्गु, नागरमोथा, सेंधा-नमक, सौंफ, वच, पिप्पल, अजवायन, कूठ, बेलगिरि और गुड एक-एक कर्ष तथा मैनफल आधा पल पीसकर क्वाथ में मिलाना चाहिए, फिर इसमें मधु, तैल, घृत, दूध, शुक्त, काञ्जी, मस्तु एवं गोमूत्र घोलकर आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥

विमर्श—पल मासम्। गुडूच्यादीनि बलान्तानि षोडशद्रव्याणि प्रत्येक पलमितानि तथा मासस्यापि षोडशपलानि एव सप्तदश द्रव्याणि द्वात्रिंशत्पलपरिमितानि, मासस्य षट्त्रिंशदधिकशतपल प्रमाण जल दत्त्वा क्वाथयेत्। बिल्वज बिल्वफलम्।

तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्निप्राणवर्धनम् ।
सर्वमारुतरोगघ्नं वयःस्थापनमुत्तमम् ॥५०॥

इसके प्रयोग से शरीर की कान्ति, वर्ण, बल, उत्साह, शक्ति, अग्नि और प्राण (अग्नीषोमादयः) की वृद्धि होती है तथा यह समस्त वातरोगों को नष्ट करता है एवं आयु को स्थिर रखने में श्रेष्ठ है ॥ ५० ॥

कुशादिपञ्चमूलाब्दत्रिफलोत्पलवासकैः ।
सारिवोशीरमञ्जिष्ठाराल्लारेणुपरूपकैः ॥५१॥
पालिकैः कथितैः सम्यग् द्रव्यैरेभिश्च पेषितैः ।
शृङ्गाटकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचन्दनैः ॥५२॥
विदारीमिसिमञ्जिष्ठाश्यामेन्द्रयवसिन्धुजैः ।
फलपद्मकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः ॥५३॥
दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः ।
दाहासृग्दरपित्तास्रकृपित्तगुल्मज्वरान्नयेत् ॥५४॥

कुशादि आस्थापन—तृणपञ्चमूल (कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु), नागरमोथा, त्रिफला, नीलकमल, अडूसा, सारिवा, खस, मजीठ, रास्ना, रेणु (पर्पटक) और फालसे को एक एक पल लेकर भलीभाँति क्वाथ करके इसमें महीन पिसा हुआ सिंघाड़ा, कौंच के बीज, गजपिप्पल, नागकेशर, अगर, चन्दन, विदारीकन्द, सौंफ, मजीठ, श्यामा (प्रियङ्गु), इन्द्रयव, सेन्धानमक, मैनफल, पद्माख और मुलेठी मिलाना चाहिए फिर मधु, दूध एवं घृत घोलकर शीतल करके अम्ल द्रव्यों से रहित एवं मांसरस, इक्षुरस आदि द्रवों से युक्त, आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से दाह, रक्तप्रदर, रक्तपित्त, पित्तजगुल्म और ज्वर नष्ट होता है ॥ ५१–५४ ॥

रोध्रचन्दनमञ्जिष्ठाराल्लाऽनन्तावलर्धिभिः ।
सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः ॥५५॥
स्थिरादितृणमूलैश्च काथः कर्षत्रयोन्मितैः ।
पिष्टैर्जीवकर्षकाकोलीयुगर्धिमधुकोत्पलैः ॥५६॥
प्रपौण्डरीकजीवन्तीमेदारेणुपरूपकैः ।
अभीरुमिसिसिन्धूत्थवत्सकोशीरपद्मकैः ॥५७॥
कसेरुशर्करायुक्तैः सर्पिर्मधुपयप्लुतैः ।
द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो बस्तिः सुशीतलः ॥५८॥
गुल्मासृग्दरहृत्पाण्डुरोगान् सविषमज्वरान् ।

असृक्पित्तातिसारौ च हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥५८॥

लोध्रादि आस्थापन—लोध, चन्दन, मजीठ, रास्ना, अनन्तमूल, खरेंटी, ऋद्धि, सारिवा, अडूसा, गम्भारी, मेदा, मुलेठी, पद्माख, स्थिरादि (लघुपञ्चमूल) और तृणपञ्चमूल तीन तीन कर्ष लेकर क्वाथ करके इसमें पिसा हुआ जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, मुलेठी, नीलकमल, पुण्डेरी, जीवन्ती, मेदा, पित्तपापड़ा, फालसा, अभीरु (शतावरी), सौंफ, सेन्धानमक, इन्द्रयव, खस, पद्माख और कसेरु मिलाना चाहिए फिर शर्करा, घृत, मधु एवं दूध घोलकर तथा तीक्ष्ण और अम्ल द्रव्यों से रहित, शीतल वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से गुल्म, रक्तप्रदर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, विषमज्वर, रक्तातिसार, पित्तातिसार तथा अन्य पित्तज व्याधियाँ नष्ट होती हैं ॥ ५५-५९ ॥

भद्रानिम्बकुलत्थार्ककोशातक्यमृतामरैः ।
सारिवाबृहतीपाठामूर्वाऽऽरग्वधवत्सकैः ॥६०॥
क्वाथः, कल्कस्तु कर्तव्यो वचामदनसर्षपैः ।
सैन्धवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥६१॥
कटुतैलमधुक्षारमूत्रतैलाम्लसंयुतैः ।
कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापाण्डुमेहिनाम् ॥६२॥
मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम् ।
गलगण्डगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥६३॥

भद्रादि आस्थापन—भद्रा (कायफल), नीम की छाल, कुलथी, मदार, कड़ुई तरोई, गिलोय, देवदारु, सारिवा, बड़ी कटेरी, पाठा, मूर्वा, अमलतास और इन्द्रयव का क्वाथ करके इसमें वच, मैनफल, सरसों, सेन्धानमक, देवदारु, कूट, इलायची, पिप्पल, बेलगिरी और सोंठ का कल्क मिलाकर कटुतैल, मधु, यवक्षार, गोमूत्र, तिलतैल तथा काञ्जी का मिश्रण करके इसके द्वारा कामला, पाण्डु तथा प्रमेह से पीड़ित, मेदस्वी, अग्निमान्द्य से युक्त, कफरोगी, अन्न से द्वेष रखने वाले, गलगण्ड, गरविष, ग्लानि, श्लीपद एवं उदर के रोगियों को शीघ्र आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६०-६३ ॥

दशमूलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः ।
कथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैन्धवदारुभिः ॥६४॥
पाठामागधिकेन्द्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः ।
कुर्यादास्थापनं सम्यक्मूत्राम्लफलयोजितैः ॥६५॥
कफपाण्डुगदालस्यमूत्रमारुतसंगिनाम् ।
आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मक्रिमिविकारिणाम् ॥६६॥

दशमूलादि आस्थापन—दशमूल, हरड़ी, बेलगिरी, परवल की पत्ती, त्रिफला और देवदारु का क्वाथ करके इसमें नागरमोथा, सेन्धानमक, दारुहल्दी, पाठा, पिप्पल एवं कुटज का पिसा हुआ कल्क मिलाकर तथा तिल तैल, यवक्षार, मधु, गोमूत्र, काञ्जी और मैनफल भलीभाँति घोलकर इसके द्वारा कफ और पाण्डुरोग, आलस्य, मूत्र एवं वात के अवरोध से पीड़ित, आम, आटोप, अपची, कफजगुल्म तथा क्रिमिविकार से युक्त रोगियों के लिए आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६४-६६ ॥

वृषाश्ममेदवर्षाभूधान्यगन्धर्वहस्तकैः ।
दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः ॥६७॥
कुलत्थबिल्वभूनिम्बैः कथितैः पलसंमितैः ।
कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वषड्ग्रन्थामरसर्षपैः ॥६८॥
पिप्पलीमूलसिन्धूत्थयवानीमिसिवत्सकैः ।
क्षौद्रेक्षुक्षीरगोमूत्रसर्पिस्तैलरसाप्लुतैः ॥६९॥
तूर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्टबहुरोगिणाम् ।
गृध्रसीशर्कराऽष्ठीलातूनीगुल्मगदापहम् ॥७०॥

वृषादि आस्थापन—अडूसा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, धनियां, एरण्ड, दशमूल, बला, मूर्वा, जौ, बेर, कचूर, कुलथी, बेलगिरी और चिरायता एक एक पल लेकर क्वाथ करना चाहिए। फिर इसमें मैनफल, मुलेठी, वच, देवदारु, सरसों, पिप्पलीमूल, सेन्धानमक, अजवायन, सौंफ और इन्द्रयव का कल्क मिला, मधु, इक्षुरस, दूध, गोमूत्र, घृत, तैल तथा मांसरस घोलकर, सन्निपातज रोगों की शान्ति के लिए शीघ्र आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से गृध्रसी, शर्करा, अष्ठीला, तूनी और गुल्मरोग नष्ट होता है ॥ ६७-७० ॥

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः ।
त्रायमाणाऽमृतारक्तापञ्चमूलीविभीतकैः ॥७१॥
सबलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः ।
यष्ट्याह्वमिसिसिन्धूत्थफलिनीन्द्रयवाह्वयैः ॥७२॥
रसाञ्जनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः ।
युक्तो वस्तिः सुखोष्णोऽयं मांसशुक्रबलौजसाम् ॥७३॥
आयुषोऽग्नेश्च संस्कर्ता हन्ति चाशु गदानिमान् ।
गुल्मासृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान् ॥७४॥
विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुण्डलीम् ।
जानुजङ्घाशिरोबस्तिग्रहोदावर्तमारुतान् ॥७५॥
वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचीः ।
रक्तपित्तकफोन्मादप्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान् ॥७६॥

रास्नादि आस्थापन-रास्ना, अमलतास, पुनर्नवा, कुटकी, खस, नागरमोथा, त्रायमाणा, गिलोय, मजीठ, लघुपञ्चमूल, बहेड़ा और बला एक एक पल लेकर क्वाथ करना चाहिए और उसमें मैनफल, मुलेठी, सौंफ, सेन्धानमक, प्रियङ्गु तथा इन्द्रयव का कल्क तथा रसोत, मांसरस, मधु, द्राक्षा एवं सौवीर का मिश्रण कर इस वस्ति का सुखोष्ण प्रयोग मांस, शुक्र, बल और ओज से युक्त व्यक्तियों के लिए करना चाहिए। इसके प्रयोग से आयु तथा अग्नि की वृद्धि होती है और गुल्म, रक्तप्रदर, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, उरःक्षत, क्षय, विषमज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुण्डलिका, जानु-जघा-शिर-वस्ति की जकड़ाहट, उदावर्त, वातरोग, वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला, कुक्षिशूल, उदर, अरुचि, रक्तपित्त, कफज उन्माद, प्रमेह, आध्मान, हृद्ग्रह आदि व्याधियाँ नष्ट होती हैं ॥

वातघ्नौषधनिष्क्वाथाः सैन्धवघृतमिश्रिताः ।
साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्बस्तय कुपितेऽनिले ॥७७॥

वातरोग में आस्थापन कल्पना—वातघ्न औषधियों के क्वाथ में सेन्धानमक, निशोथ और काञ्जी मिलाकर सहने योग्य उष्ण वस्तियों का प्रयोग वातप्रकोप में करना चाहिए ॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथाः काकोल्यादिसमायुताः ।
विधेया बस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः ॥७८॥

पित्तरोग में आस्थापन कल्पना—काकोल्यादिगण से युक्त न्यग्रोधादिगण के क्वाथ में घृत एवं शर्करा का मिश्रण करके पित्त प्रकोप में वस्ति प्रदान करना चाहिए ॥ ७८ ॥

आरग्वधादिनिष्क्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः ।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे ॥७९॥

कफरोग में आस्थापन कल्पना—पिप्पल्यादिगण से युक्त आरग्वधादिगण के क्वाथ में मधु और गोमूत्र मिलाकर कफ प्रकोप में वस्ति प्रयोग करना चाहिए ॥ ७९ ॥

शर्करेक्षुरससक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः ।
क्षीरवृक्षकषायाढ्या बस्तयः शोणिते हिताः ॥८०॥

शोणित रोग में आस्थापन कल्पना—शर्करा, इक्षुरस, दूध और घृत युक्त, शीतल तथा क्षीरवृक्ष के क्वाथ की पर्याप्त मात्रा मिश्रित वस्तियाँ रक्त प्रकोप में हितकर होती हैं ॥ ८० ॥

शोधनद्रव्यनिष्क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैन्धवैः ।
युक्ताः खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥८१॥

शोधनास्थापन कल्पना—शोधन द्रव्यों के क्वाथ (वमन-विरेचन के लिए कथित द्रव्य) तथा कल्क के साथ स्नेह और सेन्धानमक मिलाकर मथनी से मन्थन करके बनाई गई वस्ति शोधन कहलाती है ॥ ८१ ॥

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः ।
ऊषकादिप्रतीवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥८२॥

लेखनास्थापन कल्पना—त्रिफला क्वाथ, गोमूत्र, मधु और यवक्षार तथा ऊषकादिगण के प्रक्षेप से युक्त वस्तियाँ लेखन कहलाती हैं ॥ ८२ ॥

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः ।
सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥८३॥

बृंहणास्थापन कल्पना—बृंहण द्रव्यों के क्वाथ में मधुर गण (काकोल्यादिगण) की ओषधियों का कल्क एवं घृत और मांसरस मिला कर बनाई गई वस्तियाँ बृंहण कहलाती हैं ॥ ८३ ॥

चटकाण्डोच्चटाक्वाथाः सक्षीरघृतशर्कराः ।
आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम् ॥८४॥

वाजीकरास्थापन कल्पना—चटक पक्षी के अण्डे तथा उच्चटा (श्वेतगुञ्जा) के क्वाथ में दूध, घृत और शर्करा एवं कौंच के बीज का प्रक्षेप मिलाकर बनाई गई वस्ति मनुष्यों के लिए वाजीकरण होती है ॥ ८४ ॥

वदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनाङ्कुराः ।
क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छिलसंज्ञिताः ॥८५॥
वाराहमाहिषैरभ्रविडालैणैयकौक्कुटम् ।
सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु ॥८६॥

पिच्छाबस्ति कल्पना—बेर, ऐरावती (नागबला), शेलु (लिसोढा), सेमल और धामन के कोमल पत्तों को दूध में पकाकर मधु तथा रक्त मिला बनाई गई वस्ति, पिच्छिल वस्ति कहलाती है। पिच्छिलबस्तियों में सूअर, भैंसा, भेडा, विडाल, कृष्णमृग, मुर्गा और बकरे का ताजा रक्त मिश्रित करना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

प्रियङ्ग्वादिगणक्वाथा अम्बष्ठाद्येन संयुताः ।
सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो बस्तयः स्मृताः ॥८७॥

संग्राह्यास्थापन-कल्पना—प्रियङ्ग्वादिगण के क्वाथ में अम्बष्ठादिगण के द्रव्यों का कल्क तथा मधु और घृत मिलाकर बनाई गई वस्तियाँ ग्राहिणी होती हैं ॥ ८७ ॥

एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक् पृथक् ।
समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेहबस्तयः ॥८८॥

पूर्वोक्त कल्पों से स्नेहबस्तियों के विधान का निर्देश—उपर्युक्त इन्हीं योगों में पृथक् पृथक् अथवा सम्पूर्ण योगों के साथ स्नेहों को सिद्ध करके भली-भाँति स्नेहबस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८८ ॥

वन्ध्यानां शतपाकेन शोधितानां यथाक्रमम् ।
बलातैलेन देयाः स्युर्बस्तयस्त्रैवृतेन च ॥८९॥

वन्ध्याओं को वस्ति देने के लिए शतपाक-बला तैल—क्रमपूर्वक वमन, विरेचनादि से शुद्ध शरीरवाली वन्ध्या स्त्रियों को शतपाक तैल (वातव्याधि में पठित) बला तैल (मूढगर्भ चिकित्सा) अथवा त्रैवृत स्नेह (महावात व्याधि में पठित) की वस्तियाँ प्रदान करनी चाहिए ॥ ८९ ॥

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं बस्तिं निधापयेत् ।
मध्यमं मध्यसत्त्वस्य विपरीतस्य वै मृदुम् ॥९०॥

सत्त्वभेद से बस्ति का भेद—उत्तम सत्त्व (बल) वाले मनुष्य को तीक्ष्ण, मध्यम सत्त्व वाले मनुष्य को मध्यम और हीन सत्त्व वाले मनुष्य के लिए मृदु बस्ति प्रयुक्त करनी चाहिए ॥ ९० ॥

एवं कालं बलं दोषं विकारं च विकारवित् ।
वस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य बस्तीन् प्रयोजयेत् ॥९१॥

कालादि भेद से बस्ति भेद—इसी प्रकार काल, बल, दोष और विकार तथा बस्ति के द्रव्य की शक्ति को समझ कर वैद्य को वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९१ ॥

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः ।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥९२॥

दोषों को उत्क्लेशित करने के लिए प्रथम उत्क्लेशनबस्ति, (उत्क्लेशित हुए) दोषों को हरण करने के लिए मध्य में दोषहर बस्ति तथा अन्त में दोषों को शान्त करने के लिए संशमन बस्ति का प्रयोग बुद्धिमान् वैद्य को करना चाहिए ॥

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा ।
हपुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥९३॥

एरण्डबीजादि उत्क्लेशन बस्ति—एरण्डबीज, मुलेठी, पिप्पल, सेन्धानमक, वच, हाऊबेर और मैनफल के कल्क से निर्मित बस्ति उत्क्लेशनबस्ति कहलाती है ॥ ९३ ॥

शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च ।
सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥९४॥

दोपहर वस्ति—सौंफ, मुलेठी, इन्द्रयव और मैनफल के साथ काञ्जी तथा गोमूत्र के द्वारा निर्मित वस्ति दोपहर वस्ति कहलाती है ॥ ९४ ॥

प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम् ।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः परः ॥९५॥

शमन वस्ति—प्रियङ्गु, मुलेठी, नागरमोथा, रसोत तथा दूध के द्वारा निर्मित वस्ति दोषों को शान्त करने के लिए श्रेष्ठ होती है ॥

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि ।
नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि ॥९६॥
दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च ।
समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम् ॥९७॥

माधुतैलिक वस्ति-प्रशंसा—राजाओं तथा उनके तुल्य पुरुषों, वैभवशाली व्यक्तियों, स्त्रियों, सुकुमारों तथा शिशु और वृद्धों के भी दोषों को हरण एव बल और वर्ण बढ़ाने वाली माधुतैलिक वस्तियों का विधान सक्षेप में बतलाया जा रहा है ॥ ९६-९७ ॥

यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र . नोच्यते ।
फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसंभवः ॥९८॥

इन माधुतैलिक वस्तियों के प्रयोग काल में सवारी, स्त्रीसेवन, भोजन तथा पान का निषेध नहीं किया गया है, इनसे लाभ भी बहुत होता है और हानि होने की सभावना भी नहीं रहती ॥ ९८ ॥

योज्यस्त्वतः सुखेनैव निरूहक्रममिच्छता ।
यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता ॥९९॥

इसलिए निरूहवस्ति की कामना करनेवाले व्यक्तियों को सुखपूर्वक इनका प्रयोग करना चाहिए । बुद्धिमान वैद्य को आतुर की इच्छानुसार (जिस समय आतुर की इच्छा हो) इस वस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९९ ॥

मधुतैले समे स्यातां काथश्चैरण्डमूलजः ।
पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च ॥१००॥
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः ।
देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः ॥१०१॥

माधुतैलिक वस्ति कल्पना—मधु और तैल की समान मात्रा, एरण्ड के जड़ का क्वाथ मधु-तैल के तुल्य, सौंफ आधापल, सेन्धानमक एक कर्ष और एक मैनफल को मथनी से मथकर माधुतैलिक नामक वस्ति का सुखोष्ण प्रयोग वैद्य को करना चाहिए ॥ १००-१०१ ॥

वचामधुकतैलं च क्वाथः सरससैन्धवः ।
पिप्पलीफलसंयुक्तो बस्तिर्युक्तरथः स्मृतः ॥१०२॥

युक्तरथ वस्ति-कल्पना—वच, मुलेठी, सेन्धानमक, पिप्पल और मैनफल के क्वाथ में तैल तथा मांसरस का मिश्रण कर बनाई गई वस्ति युक्तरथ वस्ति कहलाती है ॥

सुरदारु वरा रास्ना शतपुष्पा वचा मधु ।
हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तो बस्तिर्दोपहरः स्मृतः ॥१०३॥

दोपहर वस्ति कल्पना—देवदारु, त्रिफला, रास्ना, सौंफ, वच, मधु, हींग और सेन्धानमक से युक्त वस्ति 'दोपहर' कहलाती है ॥ १०३ ॥

पञ्चमूलीकषायं च तैलं मगधिका मधु ।
बस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैन्धवः ॥१०४॥

लघुपञ्च मूल के क्वाथ में तैल, पिप्पल, मधु, सौंफ और सेन्धानमक मिश्रितकर वस्ति प्रयोग करना चाहिए ॥ १०४ ॥

यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु ।
ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ॥१०५॥

सिद्धवस्ति कल्पना—जौ, बेर और कुलथी के क्वाथ में पिप्पल, मधु, सेन्धानमक तथा मुलेठी मिलाकर बनाई गई वस्ति सिद्धवस्ति कहलाती है ॥ १०५ ॥

मुस्तापाठामृतातिक्तबलाराास्नापुनर्नवाः ।
मञ्जिष्ठाऽऽरग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान् ॥१०६॥
पलिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम् ।
जलाढके पचेत् क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत् ॥१०७॥
क्षीरार्धाढकसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम् ।
पादेन जाङ्गलरसस्तथा मधुघृतं समम् ॥१०८॥
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः ।
कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः ॥१०९॥
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्रविबन्धनुत् ।
विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः ॥११०॥
बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः ।
यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः ॥१११॥

मुस्तादि आस्थापन वस्ति—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, कुटकी, बला, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास, खस, त्रायमाणा, गोखरू और लघुपञ्चमूल एक एक पल तथा आठ मैनफल लेकर एक आढ़क जल में पकाना चाहिए । फिर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ में आधा आढक दूध मिलाकर दुग्ध मात्र अवशिष्ट रहने तक पुनः पकाना चाहिए तथा इसमें चतुर्थांश जाङ्गलजीवों का मांसरस, समान भाग मधु, घृत एवं सौंफ तथा प्रियङ्गु, मुलेठी, इन्द्रयव, रसोत और सेन्धानमक का कल्क एक-एक कर्ष मिलाकर वस्ति प्रयोग करना चाहिए । इसके प्रयोग से वातरक्त, प्रमेह, शोथ, अर्श, गुल्म, मूत्रावरोध, विसर्प, ज्वर, मलभेद और रक्तपित्त का नाश होता है । यह मुस्तादिक वस्ति यापन वस्तियों में सर्वश्रेष्ठ है, बल तथा जीवन शक्ति प्रदान करती है, वृष्य है, नेत्रों के लिए हितकारी एवं शूलनाशक है ॥

अवेक्ष्य भेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित् ।
बीजेनानेन शास्त्रज्ञः कुर्याद्बस्तिशतान्यपि ॥११२॥

अनुक्त आस्थापन की कल्पना का सूत्र—रोगों को जानने वाले शास्त्रज्ञ वैद्य को अपनी बुद्धि से औषधि और व्याधि को समझकर इस बीज (वस्तियों) के द्वारा सैकड़ों वस्तियों का निर्माण करना चाहिए ॥ ११२ ॥

अजीर्णे न प्रयुञ्जीत दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ।
आहाराचारिकं शेषमन्यत् कामं समाचरेत् ॥११३॥

आस्थापन किये हुये लोगों के लिए वर्ज्य विषय—अजीर्ण में वस्ति प्रयोग नहीं करना चाहिए । वस्ति लेने पर दिन

में नहीं सोना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य शेष आहार-आचार के नियम का पालन पर्याप्त रूप में करना चाहिए ॥ ११३ ॥

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।
माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्बस्तिरुच्यते ॥११४॥

माधुतैलिकादि संज्ञाओं का विवरण—मधु और तैल का इन वस्तियों में प्रधानरूप से प्रयोग होने के कारण वैद्य इसे माधुतैलिक वस्ति कहते हैं ॥ ११४ ॥

रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥११५॥

जुडे हुए रथ तथा हाथी और घोडे की सवारी पर भी इस वस्ति के प्रयोग का निषेध नहीं है इसलिए इसे युक्तरथ वस्ति कहते हैं ॥ ११५ ॥

बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ॥११६॥

बल और वर्ण की वृद्धि तथा सैकडों व्याधियों में सिद्धि प्रदान करने के कारण यह सिद्ध वस्ति कहलाती है ॥ ११६ ॥

सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाश्च ये नराः।
मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ॥११७॥

सुखी, अल्पदोष युक्त, नित्य स्निग्धर हने वाले तथा मृदुकोष्ठ मनुष्यों के लिए, माधुतैलिक वस्ति का विधान करना चाहिए ॥ ११७ ॥

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात्।
एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा ॥११८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निरूहक्रम-चिकित्सितं नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

माधुतैलिक वस्ति की श्रेष्ठता में हेतु—मृदुवीर्य औषधियों से युक्त तथा पादहीन (९ अथवा ६ प्रसृत मात्रा) होने से, सम्पूर्ण विधियों का पालन (वमनादि विधियों का परित्याग) न करने से तथा एक वस्ति के द्वारा सिद्धि प्राप्त होने के कारण, इसे सिद्धवस्तियों में श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ ११८ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायामष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः आतुरोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

आतुरोपद्रव की चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर आतुरों को होनेवाले (पञ्चकर्मजन्य) उपद्रवों की चिकित्सा-विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत-प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य सुतासृजः।
निरूढस्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥३॥

संशोधन किये हुए के अग्निमान्द्य का प्रतिकार—स्नेहन, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण तथा निरूह वस्ति का सेवन करने वाले मनुष्यों की जठराग्नि मन्द हो जाती है ॥ ३ ॥

सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तैः प्रशाम्यति।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ॥४॥

वह अग्नि अत्यधिक गुरु अन्नों के सेवन से उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जिस प्रकार बडी बडी तथा बहुत अधिक लकडियों के द्वारा आच्छादित अल्प अग्नि बुझ जाती है ॥ ४ ॥

स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धुक्षित इवानलः ॥५॥

वही अग्नि (जठराग्नि) अल्प एवं लघु अन्नों के सेवन से बढती है, जिस प्रकार छोटी छोटी एव अल्प लकडियों के सहयोग से अग्नि प्रज्वलित होती है ॥ ५ ॥

हृतदोषप्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः।
त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाणकम् ॥ ६ ॥

संशोधन में हृतदोष का प्रमाण—हरण किए गए दोषों के प्रमाण के अनुसार सदा आहार विधि का पालन करना चाहिए। दोषों के हरण के लिए एकप्रस्थ, आधा आढक और एक आढक ये तीन प्रमाण होते हैं ॥ ६ ॥

तत्रावरं प्रस्थमात्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे।
प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतण्डुला ॥ १ ॥

हृतदोष प्रमाण विशेष से अन्न ससर्जन क्रम में विशेषता—इनमें प्रस्थ प्रमाण निकृष्ट, अर्द्ध आढक मध्यम तथा एक आढक उत्तम होता है। प्रस्थ प्रमाण दोषों के निर्हरण में (एक प्रस्थ विरेचन होने पर) अल्प चावलों से युक्त यवागू (पेया) का सेवन (एक बार) करना चाहिए ॥ ७ ॥

द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते।
विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः ॥ ८ ॥
दद्यादुक्तेन विधिना छिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्।
अस्निग्धलवणं स्वच्छमुद्गयूषयुतं ततः ॥ ९ ॥
अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्।
ततस्तु कृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना ॥१०॥
श्रीनंशान् वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदु।
ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः ॥११॥

आधा आढक विरेचन होने पर पेया दो बार पिलानी चाहिये तथा एक आढक प्रमाण में तीन बार। फिर स्वाभाविक आहार के चावलों के चतुर्थांश से सिद्ध, भली भाँति गले हुये चावलों वाली, एवं पिच्छिलतारहित (चावल रहित) विलेपी पूर्वोक्त क्रम से (एक, दो और तीन बार) पिलानी चाहिये। इसके पश्चात् स्नेह तथा लवणरहित स्वच्छ (अकृत अर्थात् संस्काररहित मुद्गयूष) मूंग के यूष के साथ अभ्यस्त आहार के आधे चावलों का भली भाँति पका हुआ भात खिलाना चहिये। इसके अनन्तर मन को प्रिय तथा इन्द्रियों को चैतन्य करने वाले कृतयूष (संस्कार-सिद्ध यूष) के साथ अभ्यस्त आहार के तीन भाग चावलों का मृदु पका हुआ भात आतुर को खिलाना चाहिये। इसके

वाद बुद्धिमान् वैद्य को लवा, कृष्णमृग तथा अन्य मृगों के सुसंस्कृत मांसरस के साथ स्वाभाविक आहार आतुर को खाने के लिए देना चाहिये ॥ ८-११ ॥

लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः ।
हीनमध्योत्तमेष्वेषु विरेकेषु प्रकीर्तितः ॥१२॥
एकद्वित्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमस्त्वयम् ।
कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान् हीनविशोधितान् ॥१३॥
पेयाऽभिष्यन्दयेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ।

अवस्थाविशेष से तर्पणादि क्रम—एक, दो और तीन वार भली भांति आहार (पेया, विलेपी आदि) देने का यह क्रमहीन, मध्य और उत्तम विरेचनों के लिये बतलाया गया है। कफ और पित्त की अधिकता वाले, नित्य मद्यपान करने वाले तथा भलीभांति जिनका शोधन न हुआ हो, उन्हें पेया अभिष्यन्द (स्रोतोवरोध) उत्पन्न करती है। अतः उनके लिये तर्पण आदि (तर्पण लाजसक्तवः) क्रम का विधान करना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

वेदनालाभनियमशोकवैचित्त्यहेतुभिः ॥१४॥
नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत् ।

मानसिक विकारों का उपचारः—पीडा, अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति, उपवास आदि नियम का पालन, शोक तथा उन्माद आदि मानसिक विकारों के कारण उपवास किये हुये मनुष्यों का उपचार विरेचन प्रयुक्त व्यक्तियों की भाँति करना चाहिये ॥ १४ ॥

आढकार्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने ॥१५॥
श्लेष्मान्तत्वाद्विरेकस्य न तामिच्छति तद्विदः ।
एको विरेकः श्लेष्मान्तो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ॥१६॥

हृतदोष के प्रमाण मे मतभेदः—दोषों के हरण में विरेचन का जो एक प्रस्थ, आधा आढक और एक आढक, प्रमाण बतलाया गया है, उसे विरेचन के अन्त में कफ का आगमन होने के कारण, विरेचन क्रिया को जानने वाले नहीं मानते। उनके मत में विरेचन एक ही है, जिसके अन्त में कफ का आगमन हो। इसके अतिरिक्त विरेचन का कोई दूसरा प्रमाण नहीं है ॥ १५-१६ ॥

विमर्शः—इस अध्याय के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि स्नेहन, वमन, विरेचन आदि का सेवन करने वाले व्यक्तियों की कायाग्नि मन्द हो जाती है। कायाग्नि का मन्द होना भी आतुर के लिये उपद्रव स्वरूप ही है। पञ्चकर्मजन्य इस उपद्रव को शान्त करने के लिये ससर्जन क्रम की आवश्यकता पड़ती है। यदि पञ्चकर्म के अनन्तर आतुर को तत्काल स्वाभाविक आहार का सेवन कराया जाय तो पहले से ही मन्द पडी हुई जाठराग्नि के अत्यधिक मन्द हो जाने की सम्भावना उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार अल्प अग्नि अधिक ईंधन के द्वारा आच्छादित होने पर बुझ जाती है। अल्प अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये छोटी छोटी लकड़ियों का सहारा लेना पड़ता है, उसी प्रकार पञ्चकर्म के पश्चात् मन्द हुई आतुर की जाठराग्नि को शक्ति प्रदान करने के लिए क्रमशः पेया, विलेपी आदि का सेवन कराना आवश्यक होता है। चरक ने भी इसी दृष्टिकोण का उल्लेख किया है—'पेयां विलेपी कृत कृतञ्च यूष रस त्रिद्विरथैकशश्च । क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः । यवागुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण । महान् स्थिरः सर्वमहस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः ॥ (च० चि० अ० १) यहाँ उपर्युक्त संसर्जन क्रम विधान को निम्नलिखित रूप में समझना चाहिये। (१) हीनशुद्धिशुद्धस्य पुरुषस्य तावत् प्रथमेऽन्नकाले उचितमकृतलवणाष्टमागां पेयां दद्यात्। तस्मिन्नेव दिने द्वितीयेऽन्नकाले प्रकृतिस्थाजरणकालोचिताद् भक्तात् चतुर्थांशेन कृतामतिपक्वनष्टलावयवां मण्टरहितां विलेपीं दद्यात्। द्वितीयेऽह्नि तृतीयेऽन्नकालेऽल्पिसंधालवणस्वच्छेन कृतमुद्गयूपेनोचिताद्धभागतण्डुलकृत मुरियन्नमोदन दद्यात् तस्मिन्नेव दिने चतुर्थेऽन्नकाले दृषदेनेन्द्रियवोधिना कृतमांसेन यूषेणोचितनष्टुला शतयकृतमोदन भोक्तुं दद्यात्। ततस्तृतीयेऽह्नि पञ्चमेऽन्नकाले लावैणहरिणादीनां सुसंस्कृतरसैरश्चतुष्टयप्रमाण भक्त भोक्तु दद्यात्। तृतीयेऽह्नि षष्ठेऽन्नकाले प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। (२) मध्यशुद्धिशुद्धस्य च तावदादौ द्वयोरन्नकालयोः पेयां दद्यात् द्वितीयेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोर्विलेपिकां, तृतीयेऽह्नि कालद्वयेऽप्यकृतयूप, चतुर्थेऽह्नि कालद्वयेऽपि कृतयूप, पञ्चमेऽह्नि कालद्वयेऽपि मांसरसमित्यत' षष्ठेऽह्नि प्रकृतिभोजनमागच्छेत्। (३) उत्तमशुद्धिशुद्धस्य च तावत् प्रथमेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयो पेयां दद्यात्, द्वितीयेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले पेयां, द्वितीये विलेपिका, तृतीयेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोर्विलेपिकां, चतुर्थेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोरकृतयूप, पञ्चमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकालेऽकृतयूप, द्वितीयेऽन्नकाले कृतयूप षष्ठेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोः कृतयूप, सप्तमेऽह्नि द्वयोरप्यन्नकालयोर्मांसरसम्, अष्टमेऽह्नि प्रथमेऽन्नकाले मांसरसम्, अतोऽष्टमदिवसस्य द्वितीयेऽन्नकाले प्रकृतिभोजनमाहरेत्। (डल्हण) विरेचन के अन्त में कफ का आगमन चरक को अभिप्रेत है, साथ ही विरेचन के लिये वेग और मान का निर्देश भी उन्होंने किया है। 'जघन्यमध्यप्रवरेषु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ। दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथाद्वित्रिचतुर्गुणश्च । पित्तान्तमिष्ट वमन तथोर्ध्वमधः कफान्तञ्च विरेकमाहुः ।' (च० चि० अ० १) कुछ लोग विरेचन को एक प्रकार का ही मानते हैं। उनकी सम्मति में मुख्य विरेचन वही है जिसके अन्त में आम कफ का आगमन हो। विरेचन का प्रयोग पित्त को निःशेष रूप से हरण करने के लिये किया जाता है और पित्त-निर्हरण का अनुमान तभी होता है जब कि पित्त के निकलने के पश्चात् आम कफ आने लगे। इसलिये विरेचन के 'कफान्तिक' होने के कारण, विरेचन का एकप्रस्थ, अर्द्ध आढक आदि मान, विरेचनविदों को इष्ट नहीं है। उनके अनुसार मुख्य विरेचन एक ही है और वह है 'कफान्तिक' इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मान नहीं है, फिर तीसरे मान की चर्चा ही क्या ?। कृत और अकृत यूष के लक्षण—'अस्नेहलवण सर्वमकृत कटुकैर्विना । विज्ञेय लवणस्नेहकटुकैः सस्कृत कृतम् ।' (सूपशास्त्र)

बल यत्त्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा ।
तत्रानुक्रममेकं तु बलस्थः सकृदाचरेत् ॥१७॥
द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन् वारान् दुर्बलस्तथा ।
के चिदेव क्रमं प्राहुर्मन्दमध्योत्तमाग्निषु ॥१८॥

बलविशेष से अन्नसंसर्जनक्रम-विशेषता—त्रिविध बल (तीक्ष्ण, मध्य, मृदु) का निर्देश होने के कारण तीन प्रकार के

आहारक्रम की व्यवस्था की गई है। बलवान् मनुष्य को संसर्जन अन्नक्रम का सेवन एक वार, मध्यबल वाले को दो वार और दुर्बल को तीन वार करना चाहिये। कुछ आचार्य मन्द, मध्य और उत्तम अग्नि वालों के लिये इस आहारक्रम का विधान करते हैं ॥ १७-१८ ॥

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्भजेत्।
प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः ॥१९॥
स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम्।
स्निग्धरूक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत्ततः ॥२०॥

ससर्जनक्रम के द्वारा तीव्र अग्नि में रसों के सेवन क्रम का निर्देश—अन्न-ससर्जनक्रम के द्वारा बढ़ी हुई अग्नि में दोषों के प्रकोपभय से प्रथम मधुर और तिक्तरस फिर स्निग्ध, अम्ल, लवण और कटुरस, फिर मधुर, अम्ल और लवणरस फिर मधुर और तिक्तरस तथा स्निग्ध और रूक्ष द्रव्यों को बदल बदल कर अर्थात् एक रस के बाद उसके विपरीत गुण वाले दूसरे रस का सेवन कराना चाहिये। इसके पश्चात् स्वस्थ दशा का प्राकृतिक आहार देना चाहिये ॥ १९-२० ॥

विमर्शः—अन्य आचार्यों की सम्मति भी संसर्जन क्रम के पश्चात्, रसों के सेवन क्रम में इसी आशय की है। 'दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः। अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसाना स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन क्रमान् नं प्रकृतिं नयेत्। (वृद्ध वाग्भट) अग्निसन्युक्षणार्थन्तु पूर्वं पेयादिना भिषक्। रसोत्तरेणोपचरेत् क्रमेण क्रमकोविदः॥ स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः॥ अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयो.। व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद् भिषक्॥ (च सि. अ. १२)

केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम्।
स सप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम् ॥२१॥

स्नेहपान तथा वमन किये हुये लोगों के लिये अन्न देने का क्रम—केवल स्नेहपान तथा वमन करने वाले व्यक्तियों को सात दिन लघु भोजन कराना चाहिए ॥ २१ ॥

विमर्श—'दोषरोगसशमननिमित्त पीतस्नेहः केवल स्नेहपीतः, तथा वान्तश्च अजीर्णभुक्तादिनिमित्तं कृतवमनः।

कृतः सिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम्।
स ना परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान् भवेत् ॥२२॥

संशोधन के बाद वर्ज्य परिहार के समय की अवधि—जिस मनुष्य का रक्तमोक्षण (शिरावेध) तथा शोधन (विरेचन) किया गया हो उसे एक मास अथवा जब तक वह शक्तिसम्पन्न न हो जाय तबतक क्रोध आदि नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥

त्र्यहं त्र्यहं परिहरेदेकैकं बस्तिमातुरः।
तृतीये तु परीहारे यथायोगं समाचरेत् ॥२३॥

बस्ति में परिहार काल की अवधि—एक-एक बस्ति सेवन के अनन्तर तीन-तीन दिन तक क्रोध आदि परिहारों का परित्याग तथा तीसरे परिहार-दिवस के पश्चात् यथासात्म्य पदार्थों का सेवन आतुर को करना चाहिए ॥ २३ ॥

विमर्शः—कुछ लोग इसका अर्थ निम्नलिखित रूप में करते हैं—'एकैक वस्तिमनुवासन दत्त्वा त्रीणि त्राणि अहानि परिहरेत्। तृतीये तु बस्तौ गते तृतीयादनुवासनादूर्ध्वं, यथायोग यथावस्थमन्यादीनवेक्ष्य चतुःपञ्चदिवसानन्तरीकृत्य अनुवासन योजनीयम्' ॥ (डल्हण)

तैलपूर्णाममृद्भाण्डसधर्माणो व्रणातुराः।
स्निग्धशुद्धाक्षिरोगार्ता ज्वरातीसारिणश्च ये ॥२४॥

शुद्ध के समानधर्मी अन्य रोगियों का निर्देश—व्रण से पीड़ित आतुर, स्निग्ध एवं शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति तथा नेत्र रोग, ज्वर और अतिसार से दुःखी मानव, तैलपूर्ण भाण्ड एवं कच्ची मिट्टी के पात्र के समान गुण वाले होते हैं अर्थात् इनकी रक्षा का प्रयत्न न होने पर इनके शीघ्र नाश का भय बना रहता है। अतः इनका उपचार भी संशोधन युक्त व्यक्ति की भाँति करना चाहिए ॥ २४ ॥

क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान्।
आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति ॥२५॥

स्नेहपान किये हुये लोगों के परिहरणीय का परिहार न करने के दोष—स्नेहपान आदि के समय परिहारों का त्याग न करने पर क्रोध के कारण कुपित हुआ पित्त दाह, पिपासा आदि पित्तजन्य उपद्रवों को उत्पन्न करता है तथा परिश्रम या शोक करने से चित्त विभ्रम अर्थात् विविध भ्रम, मोह, मद, अपस्मार, उन्माद आदि मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥

मैथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः।
आक्षेपकं पक्षघातमङ्गप्रग्रहमेव च ॥२६॥
गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ।
रुधिरं शुक्रवच्चापि सरजस्कं प्रवर्तते ॥२७॥

मैथुन करने वाला दुष्ट बुद्धि व्यक्ति आक्षेपक, पक्षाघात, अङ्गग्रह (अङ्गों का जकड जाना), गुह्यप्रदेश में शोथ, भयङ्कर कास और श्वास तथा शुक्र और रज की भाँति रक्तस्राव आदि भयानक व्याधियाँ प्राप्त करता है ॥ २६ २७ ॥

लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान्व्याधीन्कफात्मकान्।
प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पाण्डुतां श्वयथुं ज्वरम् ॥२८॥
मोहं सदनमज्ञानामविपाकं तथाऽरुचिम्।
तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनन्दति ॥२९॥

दिन में सोने से कफजन्य व्याधियों की प्राप्ति होती है, प्लीहोदर, प्रतिश्याय, पाण्डु, शोथ, ज्वर, मोह, अङ्गों में पीडा, अन्न का परिपाक न होना तथा अरुचि आदि रोग उत्पन्न होते हैं एवं तम से अभिभूत होने के कारण आतुर सोना ही पसन्द करता है ॥ २८-२९ ॥

उच्चैः संभाषणाद्वायुः शिरस्यापादयेद्बलम्।
आन्ध्यं जाड्यमजिह्मत्वं बाधिर्यं मूकतां तथा ॥३०॥
हनुमोक्षमधीमन्थमर्दितं च सुदारुणम्।
नेत्रस्तम्भ निमेष वा तृष्णा कास प्रजागरम् ॥३१॥
लभते दन्तचालं च तांस्ताश्चान्यानुपद्रवान्।
यानयानेन लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान् ॥३२॥

तथैवाङ्गग्रह घोरमिन्द्रियाणां च विभ्रमम्।
चिरासनात्तथा स्थानाच्छ्रोण्यां भवति वेदना ॥३३॥

उच्च स्वर से बोलने के कारण वायु शिर में पीड़ा उत्पन्न कर देता है तथा अन्धापन, जडता, गन्धज्ञान का नाश, बधिरता, मूकता, हनुसन्धिविश्लेप, अधिमन्थ (दृष्टिरोग), अर्दित, नेत्रस्तम्भ अथवा निमेप, तृष्णा, कास, निद्रानाश और दाँतों का हिलना एव वातजन्य अन्य विकारों की प्राप्ति होती है। घोड़ा, रथ आदि की सवारी करने से वमन, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, अङ्गग्रह और इन्द्रियों का भयानक विभ्रम होता है तथा अधिक काल तक बैठे या खडे रहने से श्रोणि (कटि प्रदेश) में पीडा होती है ॥ ३०-३३ ॥

अतिचङ्क्रमणाद्वायुर्जङ्घयोः कुरुते रुजः।
सक्थिप्रशोपं शोफं वा पादहर्षमथापि वा ॥३४॥

अधिक भ्रमण करने से वायु के द्वारा जंघा में पीड़ा, जघा का सूखना, शोथ अथवा पादहर्ष की उत्पत्ति होती है ॥

शीतसंभोगतोयानां सेवा मारुतवृद्धये।
ततोऽङ्गमर्दविष्टम्भशूलाध्मानप्रवेपकाः ॥३५॥

शीतल जल तथा माला, चन्दन आदि के उपभोग से वातप्रकोप, अङ्गमर्द, विष्टम्भ, शूल, आध्मान और कम्प होता है ॥ ३५ ॥

वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात्।
विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति ॥३६॥

वायु और धूप का सेवन करने से विवर्णता और ज्वर की भी प्राप्ति होती है तथा विरुद्ध आहार एवं अध्यशन से भयानक व्याधियाँ अथवा मृत्यु होती है ॥ ३६ ॥

असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसशयम्।
अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥३७॥

असात्म्य भोजन का सेवन निश्चय ही बल और वर्ण का नाश करता है। जो असंयमी पुरुप पशुओं की भाँति प्रमाणरहित भोजन करते हैं, वे रोगसमूह के मूल कारण अजीर्ण को प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥

व्यापदां कारणं वीक्ष्य व्यापत्स्वेतासु बुद्धिमान्।
प्रयतेतातुरारोग्ये प्रत्यनीकेन हेतुना ॥३८॥

पूर्वोक्त दोपों की चिकित्सा—इन व्यापत्तियों में उपद्रवों के कारणों की परीक्षा करके, बुद्धिमान वैद्य को आतुर के आरोग्य के लिए, हेतुविपरीत चिकित्सा विधि के द्वारा यत्नशील होना चाहिए ॥ ३८ ॥

विरिक्तवान्तैर्हरिणैणलावकाः
शशाश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः।
सपष्टिकाश्चैव पुराणशालय-
स्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम् ॥३९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने आतुरोपद्रवचिकित्सितं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

संशुद्ध के द्वारा सेवन योग्य अन्न पान—वमन एवं विरेचन से युक्त पुरुप को हरिण, कृष्णमृग, लवा, खरगोश, मयूर और तित्तिर आदि का मांसरस, साठी एव पुराने शालि चावल तथा मूग और अन्य जितने लघु पदार्थ हैं उनका सेवना करना चाहिए ॥ ३९ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

धूम-नस्य कवलग्रह चिकित्सा का उपक्रम—इसके अनन्तर धूम, नस्य और कवलग्रह-चिकित्सा विधि का वर्णन किया जा रहा है, जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने (सुश्रुत प्रभृति शिष्यों से) कहा ॥ १-२ ॥

धूमः पञ्चविधो भवति; तद्यथा—प्रायोगिकः; स्नैहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति ॥ ३ ॥

धूम के ५ प्रकार—धूम पाँच प्रकार का होता है, जैसे—(१) प्रायोगिक, (२) स्नैहिक, (३) वैरेचनिक, (४) कासघ्न और (५) वामनीय ॥ ३ ॥

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशाङ्गुलं शरकाण्डमङ्गुलिपरिणाहं क्षौमेणाष्टाङ्गुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेपा वर्तिः प्रायोगिके, स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलुप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः स्नैहिके, शिरोविरेचनद्रव्यैर्वैरेचने, वृहतीकण्टकारिकात्रिकटुकासमर्दहिङ्गुविड्वुदीत्वङ्मनःशिलाच्छिन्नरुहार्कटशृङ्गीप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासघ्ने, स्नायुचर्मखुरशृङ्गकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये ॥ ४ ॥

धूमवर्त्ति के साधन द्रव्य—कूठ और तगर को छोड एलादि गण की शेप अन्य औपधियों को महीन पीस कर, बारह अङ्गुल लम्बे, अङ्गुलि के समान मोटे तथा आठ अङ्गुल रेशमी वस्त्र लिपटे हुए सरकण्डे पर, लेप करके बनानी चाहिए। यह प्रायोगिक धूमवर्ति (नित्य प्रयोग की जाने वाली) कहलाती है। तिल, सहिजन के बीज तथा बहेडा आदि स्नेह फलों की मींगी, मोम, राल और गुग्गुलु आदि में स्नेह मिला कर स्नैहिक धूमवर्ति बनानी चाहिए। शिरोविरेचन द्रव्यों के द्वारा (विडङ्ग, अपामार्ग, मधुशिग्रु आदि) वैरेचनिक धूमवर्ति का निर्माण करना चाहिए। बडी कटेरी, छोटी कटेरी, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पल), कासमर्द, हींग, इङ्गुदी, दालचीनी, मैनशिल, गिलोय और काकडासिंगी तथा अन्य कासहर द्रव्यों का प्रयोग कासघ्न धूमवर्ति के निर्माण में करना चाहिए। स्नायु, चर्म, खुर, सींग, केकडे की अस्थि, सूखी मछली, सूखा मांस तथा केंचुए आदि कृमि एवं अन्य वामक द्रव्यों के द्वारा वामनीय धूमवर्ति का निर्माण करना चाहिए ॥ ४ ॥

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्रद्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। धूमनेत्रं तु कनिष्ठिकापरिणाहमग्रे कलायमा-

त्रस्रोतो मूलेऽङ्गुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोऽङ्गुलान्यष्टचत्वारिंशत् प्रायोगिके, द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशतिर्वैरेचने, षोडशाङ्गुलं कासघ्ने वामनीये च। एतेऽपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं व्रणधूपनार्थं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहिस्रोत इति ॥ ५ ॥

धूमनेत्र (नलिका) के साधन द्रव्य और धूमनेत्र के प्रमाण—वस्तिनेत्र के द्रव्यों से (सुवर्ण, चांदी, रांगा, सीसा, ताम्र, कांस्य आदि) धूमनेत्र का निर्माण करना चाहिए। प्रायोगिक धूमनेत्र, कनिष्ठिका अंगुलि के समान मोटा, अग्र भाग में मटर के बराबर छिद्र वाला, मूल में अङ्गूठे के तुल्य स्थूल तथा अड़तालीस अङ्गुल लम्बे धूमवर्ति प्रवेश योग्य स्रोत से युक्त होना चाहिए। स्नैहिक नेत्र बत्तीस अङ्गुल, वैरेचनिक चौबीस अङ्गुल तथा कासघ्न और वामनीय सोलह अङ्गुल लम्बे होने चाहिए। इनमें भी छिद्र प्रमाण बेर की गुठली के समान रहना चाहिए। व्रण-धूपन के लिए व्रण नेत्र, आठ अङ्गुल लम्बा, मटर के समान मोटा तथा कुलथी के जाने योग्य छिद्र से युक्त होना चाहिए ॥ ५ ॥

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत् ॥ ६ ॥

धूमपान की विधि—सुखपूर्वक बैठ कर, प्रसन्न चित्त से, शरीर को सीधा तथा दृष्टि को नीची करके, आलस्यरहित होकर, अग्रभाग में स्नेहलिप्त एवं प्रज्वलित धूमवर्ति को नेत्रस्रोत में स्थापित कर धूमपान करना चाहिए ॥ ६ ॥

मुखेन तं पिबेत् पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत्।
मुखपीतं मुखेनैव वमेत् पीतं च नासया ॥ ७ ॥

धूमपान प्रथम मुख से फिर नासिका से करना चाहिए तथा मुख और नासिका के द्वारा पान किए गए धूम को मुख से ही बाहर निकालना चाहिए ॥ ७ ॥

मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत्।
तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ॥ ८ ॥

मुख से धूमपान करके नासिका के द्वारा धूम बाहर नहीं निकालना चाहिए क्योंकि प्रतिलोम हुए उस धूम के कारण दृष्टिनाश हो जाता है ॥ ८ ॥

विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनादद्यात्, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां, नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ॥९॥

प्रायोगिक धूम विशेष कर नासिका के द्वारा ग्रहण करना चाहिए, स्नैहिक मुख और नासिका दोनों के द्वारा, वैरेचनिक नासिका के द्वारा तथा अन्य दोनों कासघ्न और वामनीय धूमों का सेवन मुख से ही करना चाहिए ॥ ९ ॥

तत्र प्रायोगिके वर्तिं व्यपगतशरकाण्डां निवाततप्शुष्कामङ्गारेष्ववदीप्य नेत्रमूलस्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेति ब्रूयात्; एवं स्नेहनं वैरेचनिकं च कुर्यादिति। इतरयोर्व्यपेतधूमाङ्गारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्तिं मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत, प्रशान्ते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोषविशुद्धेः; एष धूमपानोपायविधिः ॥ १० ॥

धूम विशेष से धूमपान में विशेष विधि—प्रायोगिक धूम सेवन के समय वैद्य को, सरकण्डे से निकाली हुई एवं वायु रहित प्रदेश तथा छाया में सुखाई गई धूमवर्ति को अंगार से जला कर और नेत्रमूलस्रोत में स्थापित करके, 'धूम खींचो' ऐसा आतुर से कहना चाहिए। इसी प्रकार स्नैहिक तथा वैरेचनिक धूम में भी करना चाहिए। धूम और अंगार से रहित, स्थिर एवं भलीभांति स्थापित शराव में धूमवर्ति को रख, उसे दूसरे शराव में, जिसके मूल में छिद्र हो, दबा देना चाहिए और उस छिद्र में नेत्र मूल जोडकर अन्य कासघ्न और वामनीय धूमों का सेवन कराना चाहिए। धूम के शान्त होने पर अवशिष्ट वर्ति को पुनः शराव में रखकर दोष की शुद्धि पर्यन्त धूमपान कराना चाहिए। यह धूम पान करने की विधि है ॥ १० ॥

तत्र शोकश्रमभयामर्षौष्ण्यविपरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्दारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीतालपकफाश्च न धूममासेवेरन् ॥ ११ ॥

धूमपान के अयोग्य—शोक, श्रम, भय, क्रोध, उष्ण, विष, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, पिपासा, पाण्डुरोग, तालुशोष, छर्दि, शिरोभिघात, उद्दार, लंघन, तिमिर, प्रमेह, उदर, आध्मान और ऊर्ध्ववात से पीड़ित, बालक, वृद्ध, दुर्बल, विरेचन तथा निरूहण प्रयुक्त, रात्रि जागरण किए हुए, गर्भिणी, रूक्ष, क्षतक्षीण तथा उरःक्षत से ग्रसित, मधु, घृत दही, दूध, मछली, मद्य और यवागू का पान किए हुए एवं अल्प कफ वाले मनुष्यों को धूम सेवन नहीं करना चाहिए ॥

अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम्।
घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥१२॥

अकाल में धूम पान करने से होने वाले व्यापद्—अकाल में किया गया धूम पान भ्रम, मूर्च्छा, शिरपीड़ा तथा नासिका, कान, नेत्र और जिह्वा का भयानक व्यापद् नाश करता है ॥

आद्यास्तु त्रयो धूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः। तद्यथा—क्षुतदन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरुपितशस्त्रकर्मान्तेष्विति। तत्र विभागो—मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरुपितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः, स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषु वैरेचनिकः, दन्तप्रक्षालनस्य, स्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषु प्रायोगिक इति ॥ १३ ॥

धूमपान के समयों का निर्देश—प्रारम्भ के तीन धूमों का सेवन बारह कालों में करना चाहिए। जैसेः—छींक, दन्तप्रक्षालन, नस्य, स्नान, भोजन, दिवास्वप्न, मैथुन, छर्दि, मूत्रत्याग, हसना, क्रोध और शस्त्र कर्म के पश्चात् धूमसेवन करना चाहिए। यह विभाग इस प्रकार है—मूत्रत्याग, छींक, हंसना, क्रोध और मैथुन के अन्त में स्नैहिक। स्नान, छर्दि

और दिवास्वप्न के अन्त में वैरेचनिक तथा दन्तप्रक्षालन, स्नान, भोजन एवं शस्त्र कर्म के अन्त में प्रायोगिक धूमपान का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

तत्र स्नैहिको वातं शमयति, स्नेहादुपलेपाच्च; वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्याद्दौष्ण्याद्वैशद्याच्च; प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युच्छ्रिष्टं चापकर्षति शमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति ॥

धूमों के प्रत्येक कार्य—स्नेह और उपलेप होने के कारण स्नैहिक धूम वायु का शमन करता है। रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और विशद होने के कारण वैरेचनिक धूम श्लेष्मा को उत्क्लेशित कर बाहर निकालता है। प्रायोगिक धूम साधारण अर्थात् पूर्वकथित स्नैहिक और वैरेचनिक धूमों के तुल्य होने के कारण श्लेष्मा को उत्क्लेशित करता है तथा उत्क्लेशित श्लेष्मा को बाहर निकालता है ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः ॥ १५ ॥

धूमपान के गुण—जैसे कि:—धूमसेवन से मनुष्य की इन्द्रियाँ, वाणी और मन प्रसन्न होता है। केश, दाँत, दाढ़ी और मूछ के बाल दृढ़ होते हैं, तथा मुख सुगन्धित एवं निर्मल हो जाता है ॥ १५ ॥

तथा कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेदमुखास्रावक्षवथुवमथुक्लथतन्द्रानिद्राहनुमन्यास्तम्भाः पीनसशिरोरोगकर्णाक्षिशूला वातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवन्ति ॥ १६ ॥

इसके अतिरिक्त धूम-सेवन करने वाले को कास, श्वास, अरोचक, मुख में लिपा सा मालूम पडना, स्वरभेद, मुख से लार बहना, छींक, वमन, अकस्मात् श्वासावरोध, तन्द्रा, निद्रा, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, पीनस, शिरोरोग, कर्णशूल, नेत्रशूल तथा वात-कफजन्य मुख रोग नहीं होते ॥ १६ ॥

तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोगो रोगाप्रशमनः, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णध्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यान्यतियोगो जनयति ॥ १७ ॥

धूम के योगातियोग के लक्षण—धूमपान के योग, अयोग तथा अतियोग का भी ज्ञान करना चाहिए। रोग की शान्ति होना धूम का योग, रोग का शान्त न होना अयोग तथा तालुशोष, गलशोष, दाह, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कानों में ध्वनि, दृष्टि रोग, नासा रोग और दुर्बलता का होना अतियोग कहलाता है ॥ १७ ॥

प्रायोगिकं त्रीस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिक यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोपदर्शनात्, तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वामनीयः, ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति ॥ १८ ॥

प्रायोगिक आदि धूमों के पीने की मर्यादा—मुख और नासिका से तीन तीन उच्छ्वास प्रायोगिक धूम का पान करना चाहिए तथा इस परिपाटी को तीन या चार बार (दोष और व्यक्ति के बल के अनुसार) दुहराना चाहिए। अश्रु निकलने तक स्नैहिक धूम एवं दोष अर्थात् विकृत कफ के आने तक वैरेचनिक धूम का सेवन करना चाहिए। तिल, और तण्डुल की यवागू पिलाकर वामनीय धूम पिलाना चाहिए तथा ग्रासों के मध्य में कासघ्न धूम का प्रयोग करना चाहिए॥

व्रणधूम शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्, धूमपानाद्वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति ॥ १९ ॥

व्रणधूपन की विधि—शराव-सम्पुट में बन्द व्रणधूम को, नेत्र के द्वारा व्रण में पहुँचाना चाहिए। व्रण-धूपन से वेदना की शान्ति, व्रण में निर्मलता तथा स्राव का शमन होता है ॥

विधिरेष समासेन धूमस्याभिहितो मया।
नस्यस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं निरवशेषतः ॥ २० ॥

नस्य के लक्षण और उसके भेद—धूमपान विधि का मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है, इसके अनन्तर नस्य विधि का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है ॥ २० ॥

औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। तद्द्विविधम्—शिरोविरेचन, स्नेहन च। तद्द्विविधमपि पञ्चधा। तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शः, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च; नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः, शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च; ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमितः ॥ २१ ॥

नासिका छिद्रों के द्वारा औषध या औषधसिद्ध स्नेह के प्रयोग को नस्य कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है—(१) शिरोविरेचन और (२) स्नेहन। ये द्विविध नस्य भी पाँच भागों में विभक्त है। जैसे—(१) नस्य, (२) शिरोविरेचन, (३) प्रतिमर्श, (४) अवपीड और (५) प्रधमन। इनमें नस्य और शिरोविरेचन प्रधान है। प्रतिमर्श नस्य का ही भेद है। अवपीड और प्रधमन शिरोविरेचन के भेद है। इस प्रकार नस्य शब्द वाचक पाँच प्रकारों का नियमपूर्वक प्रतिपादन किया गया है ॥ २१ ॥

विमर्श.—शिरोविरेचन-द्रव्यैर्यो दीयते स शिरोविरेचन.। शृतशीतस्वरसादीनां प्लुनावपीडनादवपीड.। चूर्णस्य मुखेन नाडया वा प्रधमापनात् प्रधमनम्।

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः। तत्तु देय वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णध्वेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजवलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति ॥ २२ ॥

स्नैहिक नस्य के प्रयोग का वर्णन—शून्य शिर, ग्रीवा, स्कन्ध और वक्षस्थल के स्नेहन एवं शक्तिसञ्चय तथा नेत्रों को निर्मल करने के लिए जिस स्नेह का प्रयोग किया जाता

है उसमें नस्य शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस स्नेह का प्रयोग, वातपित्तनाशक द्रव्यों से सिद्ध स्नेह (सर्पिस्तैलवसामज्जा) के द्वारा वात से पीड़ित शिरोरोग, दाँत-केश-श्मश्रु (दाढ़ी-मूंछ के बाल) के गिरने, भयङ्कर कर्णशूल, कर्णघ्वेड (कानों में वेणुघोष के समान ध्वनि होना), तिमिर, स्वरभेद, नासारोग, मुखशोष, अवबाहुक, अकाल वली-पलित की उत्पत्ति (असमय में झुर्रियाँ पडना तथा बालों का सफेद होना), भयानक वात पित्तजन्य व्याधियों के उदय, मुख रोग एवं अन्य विकारों में करना चाहिए ॥ २२ ॥

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धावभेदककृमिप्रतिश्याया-पस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति॥२३॥

शिरोविरेचन के योग्य रोगी—शिरोविरेचन का प्रयोग श्लेष्मा से भरे हुए तालु, कण्ठ और शिर में, अरोचक, शिरोगौरव, शूल, पीनस, अर्धावभेदक, कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्धज्ञाननाश तथा अन्य ऊर्ध्वजत्रुगत कफज विकारों में, शिरोविरेचन द्रव्यों के द्वारा (पिप्पली विडङ्ग-शिग्रुसिद्धार्थकापामार्गप्रभृतीनि) अथवा इनसे सिद्ध स्नेह से करना चाहिए ॥ २३ ॥

तत्रैतद् द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्णे वातरोगिणाम्॥

स्नैहिक और वैरेचनिक नस्यों का काल—इन द्विविध (स्नैहिक और वैरेचनिक) नस्यों का प्रयोग, भोजन के समय बिना खाये हुए तथा श्लेष्मा के रोगियों के लिए पूर्वाह्ण में एवं पित्त के रोगियों के लिए मध्याह्न में और वातज रोगियों के लिए अपराह्ण में करना चाहिए ॥ २४ ॥

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोललललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिने प्रसारितकरचरणाय किञ्चित् प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्नामितनासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति ॥ २५ ॥

नस्यदान की विधि—बादलरहित स्वच्छ आकाश के समय शिरोविरेचन के योग्य, मल मूत्र का त्याग एवं अल्प भोजन तथा दन्तधावन और धूम्रपान के द्वारा मुख और स्रोतों को शुद्ध किए हुए, हथेली के ताप से स्वेदित, मृदित गल, कपोल और ललाटप्रदेशवाले, वायु, धूप और धूलि से रहित गृह में उत्तान सोये हुए, हाथ पैर फैलाये हुए, शिर को कुछ नीचे झुकाये हुए, वस्त्र से नेत्रों को ढँके हुए, बायें हाथ की प्रदेशिनी अंगुलि से नासिका के अग्रभाग को ऊपर उठाये हुए पुरुष के स्वच्छ नासारन्ध्रों में उष्ण जल के द्वारा तपाये गए और रजत, स्वर्ण, ताम्र, मणि, मृत्तिकापात्र या शुक्ति में से किसी एक पात्र में रखे हुए सुखोष्ण स्नेह को, दाहिने हाथ से शुक्ति अथवा पिचु के द्वारा धीरे-धीरे एक धार से डाले, जिसमें वह नेत्रों में न पड़े ॥ २५ ॥

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा ॥२६॥

नासिकारन्ध्रों में स्नेह सिञ्चन के समय आतुर को शिर नहीं हिलाना चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए तथा बोलना, छींकना और हँसना नहीं चाहिए ॥ २६ ॥

एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते।
ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसंभवः ॥२७॥

क्योंकि इन अवस्थाओं में प्रयुक्त स्नेह भली-भाँति यथास्थान नहीं पहुँचता जिससे कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग तथा नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्य प्रमाणमष्टौ विन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः, इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः ॥ २८ ॥

स्नैहिक नस्य का प्रमाण—एक-एक नासारन्ध्रों में छोड़े जाने वाले स्नेह की मात्रा आठ विन्दु होती है। प्रदेशिनी अंगुलि के स्नेहसिक्त दो पोरों से टपके हुए विन्दुओं की प्रथम मात्रा, शुक्ति (३२ बूँद) दूसरी मात्रा और पाणिशुक्ति (६४ बूँद) तीसरी मात्रा होती है। इन तीनों मात्राओं का प्रयोग बल के अनुसार करना चाहिए ॥ २८ ॥

स्नेहनस्य नोपगिलेत्कथंचिदपि बुद्धिमान् ॥२९॥
शृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा।
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन् ॥३०॥

स्नैहिक नस्य के पश्चात् कर्तव्य कर्म—बुद्धिमान व्यक्ति को स्नेह नस्य कभी भी निगलना नहीं चाहिए क्योंकि शृङ्गाटक मर्म को आप्लावित कर यह मुख द्वारा बाहर निकल जाता है। इसलिए कफोत्क्लेश के भय से इसे मुख में धारण किए बिना थूक देना चाहिए ॥ २९-३० ॥

विमर्श—नोपगिलेन्न पिबेत्। तथाहि विदेहः—निष्ठीवेन्न पिबेन्नस्यं व्यापद पिबतस्त्विमा। भवन्ति कासश्छर्दिश्च कुत्साऽन्नेवमथुस्तथा' इति। क्वचिन्नस्यपानमप्युक्त विदेहेनैव-'क्षीणं मांस बल यस्य वातार्तिश्चोर्ध्वजत्रुजा। सुदीप्ताग्नि स्नेहसात्म्य. स नस्यं नासया पिबेत्। धातूँश्च तर्पयेद् देहे पीत नस्यन्तु नस्तत.' इति। नासाकर्णस्रोतोऽक्षिजिह्वातर्पणीनां शिराणा सन्निपातः शृङ्गाटक ।

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत, भोजयेच्चैनमभिष्यन्दि, ततोऽस्याचारिकमादिशेत्; रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत् ॥ ३१ ॥

नस्य-प्रयोग के अनन्तर पुनः आतुर के गला, कपोल आदि को सेंककर धूम्रपान कराना चाहिए और अभिष्यन्दि द्रव्य खिलाना चाहिए तथा उसे आचारविधि समझानी चाहिए। रोगी को, धूल, धूम्र, स्नेह, धूप, मद्य, द्रवपान,

शिरःस्नान, अधिक सवारी करना तथा क्रोध आदि का त्याग करना चाहिए ॥ ३१ ॥

तस्य योगातियोगायोगानामिदं विज्ञानं भवति ॥३२॥

स्नैहिक नस्य के योग, अतियोग तथा अयोग के लक्षण—नस्य के योग, अतियोग और अयोग के लक्षण इस प्रकार होते हैं ॥ ३२ ॥

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नप्रबोधनम् ।
विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनःसुखम् ॥३३

नस्य के योग से शिर में लघुता, सुख से सोना और जागना, विकारों का शमन, इन्द्रियों की शुद्धि तथा मानसिक सुख शान्ति की प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ।
लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत् ॥३४॥

कफ का निकलना, शिर का भारीपन और इन्द्रियों की अशान्ति ये लक्षण शिरोभाग के अतिस्नेहन अर्थात् नस्य के अतियोग से उत्पन्न होते हैं। इसमें रूक्ष उपचार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

अयोगे वातवैगुण्यमिन्द्रियाणां च रूक्षता ।
रोगाशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत् ॥३५॥

वातवैगुण्य, इन्द्रियों में रूक्षता और विकारों का शान्त न होना, ये लक्षण नस्य के अयोग से उत्पन्न होते हैं। इनमें पुनः नस्य प्रयोग करना चाहिए ॥ ३५ ॥

चत्वारो विन्दवः षड् वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम् ।
शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत् ॥३६॥

नस्य में शिरोविरेक स्नेह का प्रमाण—दोष और व्यक्ति के बल के अनुसार शिरोविरेचनीय नस्य की मात्रा—चार छै या आठ बूँद (प्रतिनासारन्ध्र के लिए) होती है ॥ ३६ ॥

विमर्श—विदेह ने इस मात्रा-क्रम का विधान अधो लिखित रूप में किया है—'चतुरश्चतुरो विन्दूनेकैकस्मिन् समाचरेत्। एषा ज्ञेया मता मात्रा तथा शीघ्र विरेचयेत्। अध्यर्धा द्विगुणा वापि त्रिगुणा वा चतुर्गुणाम्। यथाव्याधि विदित्वा तु मात्रां समवचारयेत् ॥'

नस्ये श्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ।
शुद्ध(द्धि)हीनातिसंज्ञानि विशेषाच्छास्त्रचिन्तकैः ॥३७॥

वैरेचनिक नस्य के योग, अयोग तथा अतियोग के लक्षण—शास्त्रज्ञों (विदेह आदि) ने विशेषकर प्रयोग की दृष्टि से नस्य के (१) शुद्ध (२) हीन और (३) अति नामक तीन लक्षण बनलाये हैं ॥ ३७ ॥

लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः ।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥३८॥

शिर में हलकापन, स्रोतों की स्वच्छता, व्याधि की शान्ति, मन और इन्द्रियों में प्रसन्नता तथा शिर की शुद्धि, ये नस्य के शुद्ध लक्षण हैं ॥ ३८ ॥

कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः ।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥३९॥

कण्डू, उपदेह (कुछ गीला पुता हुआ सा प्रतीत होना), स्रोतों में गुरुता तथा कफ का स्राव होना, ये लक्षण शिरोभाग की हीन शुद्धि में होते हैं ॥ ३९ ॥

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः ।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते ॥ ४० ॥

शिरोविरेचन के अतियोग में मस्तुलुङ्गः (शिरोऽन्तर्धृताकारः) का बाहर निकलना, वातवृद्धि, इन्द्रियों में विभ्रम तथा शिर की शून्यता आदि लक्षण होते हैं ॥ ४० ॥

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् ।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् ॥४१॥

शिर की हीन और अति शुद्धि होने पर कफ और वातनाशक उपचार तथा सम्यक् शुद्धि होने पर घृत के नस्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

(एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः ।
एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते ॥४२॥

एक दिन, दो दिन, सात दिन या इक्कीस दिन के अन्तर से अथवा जब तक चिकित्सक उचित समझे उसे बार बार नस्य प्रयोग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः ।
द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता) ॥४३॥

वायु के द्वारा अत्यधिक पीडित पुरुष के लिये विद्वान् वैद्य को दोनों समय नस्य प्रयोग करना चाहिये ॥ ४३ ॥

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवद्भिष्यण्णसर्पदष्टविसञ्ज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यतममवपिष्यावपीड्य च, शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च विद्ध्यात् ॥ ४४ ॥

अवपीडनस्य के योग्य पुरुष—मेद और कफ से व्याप्त शिर (अभिष्यन्नो मेदःकफाभिव्याप्तशिरः), तथा सर्पदंश के द्वारा सज्ञारहित हुए पुरुषों के लिए, शिरोविरेचन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य को पीसकर अथवा दबाकर, शिरोविरेचन की भांति अवपीड (नस्य) का प्रयोग करना चाहिये। क्षीण पुरुषों तथा रक्तपित्त के रोगियों के लिये शर्करा, इक्षुरस, दूध, घृत और मांसरस में से किसी एक द्रव्य का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४४ ॥

कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम् ।
शृताः स्नेहाः शिरःशुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः ॥४५॥

कृश, दुर्बल, भीरु, सुकुमार और स्त्रियों की शिर-शुद्धि के लिये (शिरोविरेचनीय द्रव्यों के द्वारा) सिद्ध स्नेह और इन द्रव्यों का कल्क हितकर होता है ॥ ४५ ॥

चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत् ॥४६॥

प्रधमन नस्य प्रयोग के विषय—चेतना की विकृति, कृमि तथा विष से पीडित पुरुषों के लिये शिरोविरेचनीय द्रव्यों का चूर्ण नासिकां में प्रधमन (फूँकना) करना चाहिये ॥

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तबस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत् ॥ ४७ ॥

नस्य के अयोग्य पुरुष—भोजन किये हुये, वमन से युक्त, अत्यधिकरुक्ष, प्रतिश्याय पीड़ित, गर्भिणी, स्नेह-जल-मद्य तथा किसी द्रव पदार्थ का पान किये हुये, अजीर्णग्रस्त, बस्ति-सेवन किये हुये, क्रुद्ध, गरविष से दुःखी, प्यासे, शोक-सन्तप्त, श्रान्त, बालक, वृद्ध, मल-मूत्रादि के वेगों को रोके हुये, सिर से स्नान की अभिलाषा रखने वाले तथा रजोधर्म-रहित स्त्री (रजस्वला को भी) एवं मेघाच्छन्न आकाश के समय नस्य और धूम्रपान दोनों का परित्याग करना चाहिए ॥

तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्णसहसाप्रदानादतिप्रविलम्बितशिरस उच्छिङ्गतो विचलनोऽभ्यवहरतो वा प्रतिषिद्धप्रदानाच्च व्यापदो भवन्ति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयजाश्च ॥ ४८ ॥

नस्य के व्यापद्—हीनमात्रा में, अधिकमात्रा में, अत्यन्त शीतल, अधिक उष्ण, सहसा प्रयोग करने से, सिर को अधिक नीचा रखने से, छींकने से, हिलने से, भोजन के समय तथा निषिद्ध अवस्था में नस्य का प्रयोग करने से, दोषोत्क्लेश और दोषक्षयजन्य, तृष्णा, उद्गार आदि उपद्रवों की उत्पत्ति होती है ॥ ४८ ॥

भवतश्चात्र—

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः ।
दोषोत्क्लेशान् क्षयाच्चैव विद्वेयास्ता यथाक्रमम् ॥४९॥

नस्य-व्यापदों के दो प्रकार—जैसे कि—नस्य और शिरोविरेचन में, दोषों के उत्क्लेश तथा उनके क्षय से, दो प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होते हैं। उन्हें क्रमानुसार अर्थात् नस्य के द्वारा दोषोत्क्लेशज और शिरोविरेचन के द्वारा दोषक्षयज उपद्रवों की उत्पत्ति समझनी चाहिये ॥ ४९ ॥

दोषोत्क्लेशनिमित्तास्तु जयेच्छमनशोधनैः ।
क्षय क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् ॥ ५० ॥

नस्य-व्यापदों की चिकित्सा—दोषोत्क्लेशजन्य उपद्रवों का उपचार शमन और शोधन के द्वारा तथा क्षयजन्य विकारों का प्रतिकार उनके दोषों के अनुकूल बृंहण विधि से करना चाहिये ॥ ५० ॥

प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः; तद्यथा—तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन, गृहान्निर्गच्छता, व्यायाम-व्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते, भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन, सायं चेति ॥ ५१ ॥

प्रतिमर्श नस्य का समय—प्रतिमर्श का प्रयोग चौदह अवस्थाओं में हितकर होता है; जैसे—(१) प्रातः काल शय्या त्यागने पर, (२) दन्तधावन करने के पश्चात्, (३) घर से बाहर जाते समय, (४) व्यायाम, (५) मैथुन एवं (६) मार्ग चलने से श्रान्त होने पर, (७) मूत्र, (८) अधोवायु, (९) कवल तथा (१०) अञ्जन लगाने के अन्त में, (११) भोजन के बाद, (१२) छींक आने के अनन्तर (१३) दिन में सो कर उठने पर और (१४) सायंकाल में ॥ ५१ ॥

तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति, प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चापादयति, गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः छिन्नतया रजोधूमौ वा न बाधते, व्यायामसैथुनाध्व-परिश्रान्तेनासेवितः श्रममुपहन्ति, मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति, कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति, भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति, वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति, दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति, सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति ॥ ५२ ॥

यथोक्त काल में सेवित प्रतिमर्श के गुण—प्रातः काल सो कर उठने वाले व्यक्ति के द्वारा सेवन किया गया प्रतिमर्श (नस्य) रात्रि में एकत्रित हुए नासास्रोत के मल को नष्ट करता है तथा मन में प्रसन्नता लाता है। दन्तधावन के पश्चात् सेवित प्रतिमर्श दांतों को दृढ़ बनाता है तथा मुख में सुगन्धि उत्पन्न करता है। घर से बाहर निकलते समय प्रतिमर्श का सेवन करने से, नासारन्ध्रों के गीला रहने के कारण, धूलि और धूम हानि नहीं पहुँचाते। व्यायाम, मैथुन तथा मार्गगमन से श्रान्त व्यक्ति के द्वारा सेवन किया गया प्रतिमर्श थकावट मिटाता है। मूत्र तथा अधोवायु के उपरान्त प्रतिमर्श का सेवन करने से दृष्टि का भारीपन नष्ट हो जाता है। कवल और अञ्जन के बाद सेवन करने से नेत्र निर्मल होते हैं। भोजन के बाद प्रतिमर्श का सेवन स्रोतों को शुद्ध करता है तथा शरीर में लघुता लाता है। वमन किए हुए व्यक्ति के द्वारा सेवित प्रतिमर्श स्रोतों में चिपके हुए श्लेष्मा को निकालकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। दिन में सोकर उठने वाले के द्वारा सेवन किया गया प्रतिमर्श शेषनिद्रा, भारीपन और मल को दूर कर चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करता है। सायंकाल सेवन किया गया प्रतिमर्श सुख-पूर्वक निद्रा लाता है और (प्रातः) जगाता है ॥ ५२ ॥

ईषदुच्छिङ्गतः स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥५३॥

प्रतिमर्श की मात्रा—नस्य में प्रयुक्त किया गया स्नेह जब थोड़ी छींक आने पर भी मुख में आ जाय तो उस प्रतिमर्श को प्रमाणानुकूल समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

नस्येन रोगाः शाम्यन्ति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः ।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च ॥५४॥

नस्य सामान्य के गुण—नस्य के प्रयोग से मनुष्यों के ऊर्ध्वजत्रुगत रोग शान्त होते हैं, इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं तथा मुख सुगन्धित होता है ॥ ५४ ॥

हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसा बलम् ।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवम् ॥५५॥

हनु, दन्त, शिर, ग्रीवा, त्रिक (कटि), बाहु और वक्ष बलवान बनते हैं तथा वली, पलित, खालित्य एवं व्यङ्ग रोगों की भी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ५५ ॥

तैलं कफे सवाते स्यात् केवले पवने वसाम् ।
दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते ॥५६॥

दोष विशेष से नस्य में स्नेह विशेष—(नस्य के लिए)

कफयुक्त वातप्रकोप में तैल, केवल वात में वसा, पित्त में घृत तथा वातपित्त में मज्जा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५६ ॥

चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः ।
श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते ॥५७॥

इस प्रकार चतुर्विध स्नेह के प्रयोग की विधि बतलाई गई है, इनमें श्लेष्मस्थान का विरोधी न होने के कारण तैल श्रेष्ठ होता है ॥ ५६ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कवलग्रहणे विधिम् ।
चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपणौ ॥५८॥

चतुर्विध कवल—इसके अनन्तर कवल धारण की विधि बतलाई जाती है। कवल चार प्रकार का होता है, (१) स्नेही (२) प्रसादी (३) शोधन और (४) रोपण।

स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते, स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्ते, कटवम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे ॥५९॥

वातप्रकोप में स्निग्ध और उष्ण स्नैहिक कवल, पित्त में मधुर और शीतल प्रसादन कवल तथा कफ में कटु, अम्ल, लवण, रूक्ष और उष्ण शोधन कवल धारण करना चाहिए ॥५९॥

कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे ।
चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽय प्रकीर्तितः ॥६०॥

व्रण में कषाय, तिक्त, मधुर, कटु और उष्ण रोपण कवल धारण करना चाहिए। चतुर्विध कवलों की विशेषता (भेद) का इस प्रकार वर्णन किया गया है ॥ ६० ॥

तत्र त्रिकटुकवचासर्षपहरीतकीकल्कमालोड्य तैलशुक्तसुरामूत्रक्षारमधूनामन्यतमेन सलवणमभिप्रतप्तमुपस्विन्नमृदितगलकपोललललाटप्रदेशो धारयेत् ॥६१॥

कफहर त्रिकटुकादि कवल—त्रिकटु, वच, सरसों और हरीतकी के कल्क को तैल, शुक्त, सुरा, गोमूत्र, क्षार और मधु में से किसी एक द्रव्य में घोलकर नमक मिलाना चाहिए और उसे उष्ण करके, गला, कपोल एवं ललाट प्रदेश का स्वेदन तथा मर्दन करने के पश्चात् कवल धारण करना चाहिए ॥ ६१ ॥

सुखं संचार्यते या तु मात्रा स (सा) कवलः स्मृतः ।
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूष स प्रकीर्तितः ॥६२॥

कवल तथा गण्डूष में भेद—जो मात्रा मुख में सुख पूर्वक इधर-उधर संचरित हो उसे कवल तथा जिसका संचार न हो उसे गण्डूष कहते हैं ॥ ६२ ॥

तावच्च धारयितव्योऽनन्यमनसोन्नतदेहेन यावदोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः, पुनश्चान्यो ग्रहीतव्य इति ॥६३॥

गण्डूष-धारण के काल की अवधि—गण्डूष और कवल, एकाग्र मन से शरीर को सीधा करके तबतक धारण करना चाहिए जबतक कण्ठ दोष (कफ) से परिपूर्ण न हो जाय तथा नासिका रन्ध्र और नेत्र जल से न भर जायँ। इसके अनन्तर मुख से कवल निकाल कर दूसरा कवल धारण करना चाहिए ॥ ६३ ॥

एवं स्नेहपयःक्षौद्ररसमूत्राम्लसंभृताः ।
कषायोष्णोदकाभ्यां च कवला दोषतो हिताः ॥६४॥

दोषविशेष से कवलविशेष का निर्देश—इस प्रकार स्नेह, दूध, मधु, रस, गोमूत्र, अम्ल (काञ्जी), कषाय और उष्णोदक का दोषों के अनुसार कवल धारण हितकर होता है ॥ ६४ ॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् ।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम् ॥६५॥

शुद्ध कवल के लक्षण—रोग की शान्ति, सन्तोष, निर्मलता, मुख में लघुता और इन्द्रियों की प्रसन्नता ये शुद्ध कवल के लक्षण हैं ॥ ६५ ॥

हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च ।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषतृष्णाऽरुचिक्लमाः ॥६६॥

कवल का हीन योग होने पर जडता, कफ की वृद्धि और रसज्ञान की अप्रतीति होती है तथा अतियोग होने पर मुख में पाक, शोष, तृष्णा अरुचि और क्लम होता है ॥ ६६ ॥

शोधनीये विशेषेण भवन्त्येव न संशयः ।
तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ॥६७॥
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो दाहनाशनः ।
कवलस्य विधिर्ह्येष समासेन प्रकीर्तितः ॥६८॥

दाहनाशन तिलादि कवल—शोधनीय कवलों में निस्सन्देह ये लक्षण विशेष रूप से होते हैं। तिल, नील कमल, घृत, शर्करा, दूध और मधु का कवल धारण जले हुए मुख के दाह को नष्ट करता है। संक्षेप में कवल-धारण की इस विधि का वर्णन किया गया है ॥ ६७-६८ ॥

विभज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम् ।
कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम् ॥६९॥

मुखरोग में प्रतिसारण विधि—अपनी बुद्धि से औषध को कल्क, रसक्रिया (फाणिताकृति), क्षौद्र (मोटा चूर्ण) और चूर्ण रूप में विभक्त करके प्रतिसारण करना चाहिए ॥

अङ्गुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम् ।
तस्मिन् योगमयोगं च कवलोक्त विभावयेत् ॥७०॥

प्रतिसारण में पश्चात् कर्त्तव्य कर्म—मुख के रोगियों के के लिए दोषों के अनुसार औषधि को अंगुली के अग्रभाग में लगाकर प्रतिसारण (विसना) करना चाहिए तथा प्रतिसारण के हीन और अतियोग कवल की भाँति समझना चाहिए ॥ ७० ॥

तानेव शमयेद् व्याधीन् कवलो यानपोहति ।
दोषान्नमनभिष्यन्दि भोजयेच्च तथा नरम् ॥७१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

कवल-धारण जिन रोगों को शान्त करता है उन्हीं रोगों की शान्ति प्रतिसारण के द्वारा भी होता है। प्रतिसारण काल में रोगी को दोषनाशक तथा अनभिष्यन्दि पदार्थ खिलाना चाहिए ॥ ७१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाव्याख्यायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ चिकित्सास्थानं समाप्तम् ।

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५६

महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता

सुश्रुतसंहिता

'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' हिन्दीव्याख्या-वैज्ञानिकविमर्शोपेता

(कल्पस्थानम्)

व्याख्याकार.-

डा० धन्वन्तरिहारी अग्निहोत्री ए. एम. एस.

अध्यापक, गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, रायपुर

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी.
मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी.
प्रथम संस्करण, संवत् २०१७

(पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः.)

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
(INDIA)
1960

॥ श्रीः ॥

सुश्रुतसंहिता

कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अन्नपान-रक्षाकल्प का उपक्रम—अब इसके अनन्तर अन्नपान-रक्षाकल्प (नामक अध्याय) का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—यहाँ 'अथ' शब्द मंगलसूचक अथवा माङ्गलिक है। क्योंकि मङ्गलाचरण आस्तिक बुद्धि का निदर्शक है और यह रुचि के अनुसार देवता नमस्कारात्मक अथवा 'अथ' आदि माङ्गलिक शब्दों के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार धर्मशास्त्रों में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा), 'अथ शब्दानुशासनम्' (महाभाष्य) आदि में 'अथ' शब्द को मंगलाचरणार्थं प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार यहाँ पर आचार्य ने भी मंगल-कामना के सूचनार्थ 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है। यथा 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।' इसी प्रकार अथ शब्द नवीन विषयारम्भ का द्योतक भी है क्योंकि इसके पहले चिकित्सास्थान का वर्णन किया जा चुका है। 'अन्नपान रक्षाकल्पमिति'—आचार्य डल्हण ने अपनी टीका में कहा है—'चिकित्सास्थानानन्तर कल्पस्थानमारभ्यते, यतश्चिकित्सास्थानादिभूते द्वितणीयाध्याये—विषज्ञुष्टस्य विज्ञान विषनिश्चयमेव च। चिकित्सितञ्च वक्ष्यामि कल्पे तु प्रविभागशः ॥' इत्यनेन श्लोकेन विषजुष्टान्नस्य कल्पस्थाने प्रतिपादन सूचितं तस्माद् तत्रापि स्वस्थस्य व्याधिक्षीणस्य चान्नैरेव प्राणानां धारण क्रियते, अतः प्रागन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यातुकामः प्राह—'अथातः' इत्यादि। इस प्रकार सुश्रुतोक्त कल्पस्थान अगदतन्त्र ही है, जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने सूत्रस्थान में स्वयं कहा है—'अन्नस्य रक्षाविज्ञानं स्थावरस्येतरस्य च। सर्पदष्टविषज्ञान तस्यैव च चिकित्सितम्॥ दुन्दुभेर्मूषिकाणां च कीटानां कल्प एव च। अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात् ॥ अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम् ॥' (सु. सू. अ. ३।२७ २८½) कल्पस्थान में अन्नपान रक्षाविज्ञानीय, स्थावर-विषविज्ञानीय, जंगमविष विज्ञानीय, सर्पदष्ट विषविज्ञानीय, सर्पदष्ट विषचिकित्सित, दुन्दुभिस्वनीय, मूषिक तथा कीटकल्प नाम के आठ अध्याय हैं। विषौषध के जानने से इसको कल्प कहते हैं। इस प्रकार से पूर्व कहे हुए १२० अध्याय पूर्ण हो जाते हैं। इसलिये कल्पस्थान अगद तन्त्र का नामान्तर ही है जिसको विषविज्ञान अथवा 'टोक्सिकोलॉजी' (Toxicology) भी कह सकते हैं फिर इस तन्त्र में औषध का नाम भी तो 'अगद' बताया गया है जिसका अर्थ होता है; जिसके सेवन से गद=रोग या विष विकार उत्पन्न ही न हो तथा नष्ट भी हो जावे या दूर हो जावे। इसलिए विष चिकित्सा की कल्पना इस तन्त्र में की गई है अतः इसका नाम कल्पस्थान कहा गया है। 'अन्नपान-रक्षा' की व्याख्या करते हुए डल्हणाचार्य जी ने कहा है 'अन्ने भक्ष्यमवरुद्धं घनसाधर्म्यात्; पाने लेह्यमवरुद्धं द्रवसाधर्म्यात्, एव चतुर्विधस्यापि रक्षाकल्प.। रक्षण रक्षा, सा पुनरदुष्टस्य, दुष्टस्य पुनर्विषभेषजकल्पनात् कल्पः, रक्षया सहित' कल्पो रक्षाकल्पः। आदिशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्य', तेन दन्तकाष्ठादीनामपि लक्षण-चिकित्सितकल्पनम्। इति ॥' प्रकार भेद से ससार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—(१) अमृत—जिनके सेवन से प्राणी मृत नहीं होता तथा प्रसाद अथवा प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा (२) विष—जिनके सेवन से प्राणि-मात्र विषाद का अनुभव करता है तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि कल्पस्थान अगद तन्त्र का ही नाम विशेष है जिसे विषविज्ञान या 'टोक्सिकोलॉजी' Toxicology कहा जाता है अतः इस टोक्सिकोलॉजी की व्याख्या आधुनिक

चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में निम्न प्रकार से दी हुई है, यथा—Toxicology deals with the diagnosis, symptoms and treatment of poisons, and the methods of detecting them' (Med Jurisprudence and Toxicology By J P. Modi, 1th Edition 1947, p. p 1) इसी प्रकार उपर्युक्त विष अथवा Poison की व्याख्या भी निम्न प्रकार से प्राप्त होती है 'Broadly speaking, a poison may be defined as a substance of the nature of a drug which is administered in a way and in an amount in which it is likely to be administered, will produce deleterious effects of a serious nature.' (Medical Jurisprudence and Toxicology by J P Modi, 9th edition 1947, p p 406) उपर्युक्त गद्यांश का भावार्थ यह है कि विषविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें विषाक्त प्राणी का निदान, विष के कारण उत्पन्न होने वाले लक्षण अथवा लक्षणों तथा विषाक्त प्राणी के प्राण-रक्षार्थ की जाने वाली चिकित्सा का, तथा विषदाता एव सदिग्ध विषाक्त पुरुष का निदान आदि विषयों का समावेश होता है। इसी प्रकार विष शब्द की व्याख्या का भी भावार्थ इस प्रकार किया जा सकता है कि 'सामान्यतया जो कोई भी पदार्थ शरीर के साथ बाह्यसम्पर्क में आने पर या शरीर में किसी प्रकार शोषित होने के बाद शरीर पर हानिकारक प्रभाव करे वह 'विष' (Poison) माना जाता है। या कोई भी पदार्थ जो अन्तःक्षेपण (Injection), भक्षण या बाह्य प्रयोग से शोषित हो कर शरीर में पहुँच कर या शरीर में स्वयं उत्पन्न होकर शरीरयत्र को हानि पहुँचावे या उसकी क्रिया में बाधा पहुँचावे (विषादजनक हो) उसे विष या (poison) पाइजन कहते हैं। प्राचीन आयुर्वेद ग्रथों में अगद तन्त्र का उल्लेख निम्नलिखित अध्यायों, स्थानों व कल्पों आदि के अन्तर्गत किया गया है। यथा सुश्रुत संहिता में सम्पूर्ण कल्प स्थान, चरकसंहिता में चिकित्सा स्थान का २३ वां अध्याय, अष्टाङ्गहृदय में उत्तरतन्त्र के ३५, ३६, ३७ तथा ३८ वें अध्याय, अष्टाङ्गसग्रह में उत्तरतन्त्र का ४० वाँ अध्याय, हारीतसहिता में तृतीय स्थान का ५६ वाँ अध्याय, भावप्रकाश में चिकित्सा स्थान का ६७ वाँ अध्याय, शार्ङ्गधर सहिता में यत्र तत्र, वासवराजीय में २१ व २२ वाँ प्रकरण में कृत्रि प्रतिविषों का वर्णन मिलता है। काश्यप सहिता तथा सर्वविध विषप्रतिषादिका के अन्तर्गत तथा अन्य चिकित्सा के सग्रह ग्रन्थों में प्रायः विष चिकित्सा का एक अध्याय पाया जाता है।

धन्वन्तरि काशिपतिस्तपोधर्मभृता वरः।
सुश्रुतप्रभृतीञ्छिष्यान्छशासाहतशासनः॥ ३॥

तपस्वीगण तथा धर्म को धारण करने वालों में श्रेष्ठ तथा अहतशासन अर्थात् जिसकी आज्ञा तथा अनुशासन का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ऐसे काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि जी ने अपने सुश्रुतादि शिष्यों से कहा॥ ३॥

निमर्श—आचार्य डल्हण ने एक पाठान्तर का भी वर्णन किया है यथा—'दिवोदासं क्षितिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः। सुश्रुतप्रमुखाञ्छिष्यान्छशासाहतशासनः॥' धन्वन्तरिः—'धनु- शास्त्रं तस्या तमिर्वाति गच्छतीति धन्वन्तरिः। शल्यशास्त्र के पारङ्गत विद्वान होने से धन्वन्तरि तथा जगदर्थसाधनाद् धनुर्धर्मः, तस्यान्तो व्याधि., अकालमृत्युसम्पादकोऽधर्मः, तस्यारिः व्याध्यकालमृत्युनिवर्तनद्वारा इति॥ भगवान् धन्वन्तरि काशी के राजा थे तथा उनका नाम दिवोदास था। ये चिकित्सा शास्त्र विशेष कर शल्य चिकित्सा के प्रकाण्ड विद्वान् तथा प्रवर्त्तक माने गये हैं। इन्हीं के शिष्यों में सुश्रुत भी थे जो भगवान् धन्वन्तरि के प्रधान शिष्य थे। इन सुश्रुताचार्य ने ही प्रश्नोत्तर विधि से अपने जगत् प्रसिद्ध गुरु से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर उस प्रसिद्ध सहिता ग्रन्थ की रचना की जिसको 'सुश्रुत सहिता' के नाम से चिकित्सा जगत् जानता है।

रिपवो विक्रमाक्रान्ता ये च स्वे कृत्यतां गताः।
सिसृक्षवः क्रोधविष विवरं प्राप्य तादृशम्॥ ४॥
विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपति दुष्टचेतसः।
स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित्सुभगेच्छया॥
विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः।
तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः॥ ६॥

विष से राजा की रक्षा—शौर्य, वीरता तथा विक्रम से जीते हुए शत्रु तथा अन्य लोग जो द्वेषवश अपने शत्रु हो गए हैं वे लोग अवसर की प्रतीक्षा में रहते हुए अपने क्रोध-रूपी विष को उगलने अथवा छोड़ने के लिए मौका ढूढते रहते हैं। ये दूषित मन वाले शत्रु आदि व्यक्ति अवसर पाकर निपुण राजा को विषों के प्रयोग से मार डालते हैं। इसी प्रकार कभी कभी स्त्रियां भी सौभाग्य प्राप्ति की इच्छा से नाना प्रकार के विष मिश्रित योगों को (अपने पतियों व पुरुषमित्रों को) दे देती है अथवा कभी कभी विष कन्या के उपयोग अथवा उपभोग से मनुष्य शीघ्र ही अपने प्राणों को खो बैठता है। इस लिए राजवैद्य या कुशल वैद्य का कर्तव्य है कि वह निरन्तर अपने स्वामी राजा तथा यजमान धनवान रोगी की विष से रक्षा करे॥ ४-६॥

विमर्श—उपर्युक्त पद्यांश की व्याख्या करते हुए डल्हणाचार्य ने व्यवस्था दी है कि 'नृपति. कुतो रक्षणीय इत्याह—सिसृक्षवः सृष्टुमिच्छव, क्रोधेन विष क्रोधविषम्। न केवल रिपवः स्वे चात्मीया भृत्या' कृत्यता गता' विद्वेष गता.। तथा च कृत्यशब्दार्थोऽमरकोषे—'कृत्य क्रियादेवतयोस्त्रिषु विद्विष्टकार्य्ययो.'। इति॥ विवर छिद्र प्राप्य तादृश नृपतिं वक्ष्यम स्त्रियो दुष्टचित्ता विविधान् योगान् सयोगविषाणि प्राप्य कदाचिद् अज्ञानात् सुभगेच्छया वा विविधान् योगान् सिसृक्षवो दातुमिच्छन्त्यो राजान निहन्यु। विषकन्योपयोगाद् वा क्षणाज्जह्यादसून्नर.। उक्त च 'हन्ति स्पृशन्ती स्वेदेन गम्यमाना च मैथुने। पक्व वृन्तादिव फल प्रशातयति मेहनम्।' इति। कृत्यतां गता इत्यत्र 'विकृतिं गता.' इत्यन्ये पठन्ति। इस प्रकार इतिहास का अध्ययन करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि एक राजा पराजित हो जाने पर भी अपने विजेता राजा के विनाश के लिए छल, बल, कौशल, विष, मारण, उच्चाटनादि तान्त्रिक क्रियाओं की सहायता लेता था और उस विजेता राजा के रसोइया, परिचारक, दासी आदि को मिलाकर उसके भोजन, जल, पेय, वस्त्र आदि को विषाक्त करके उसके प्राणों का विनाश करने का प्रयत्न करता था। तथा कभी-कभी तो वह उस राजा के विनाश अथवा

प्राण नाश के हेतु 'विषकन्या' का प्रयोग भी किया करता था जैसा कि भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है कि किस प्रकार चाणक्य ने पर्वतेश्वर को विषकन्या के उपयोग से मरवाया था और सम्राट् चन्द्रगुप्त के रास्ते से एक प्रभावशाली कण्टक को दूर किया था। विषकन्या—विषकन्या बनाने के लिए कन्या को बचपन से ही थोड़ी थोड़ी मात्रा में विष का सेवन करवाया जाता है। इस प्रकार थोड़ा थोड़ा विष देना आरम्भ करते हैं। फिर धीरे-धीरे इस विष की मात्रा बढ़ाते जाते हैं अन्त में यह मात्रा इतनी अधिक हो जाती है जो कि उस कन्या के लिए तो सह्य होती है किन्तु दूसरे प्राणी के लिए प्राणघातक होती है। प्रयुक्त विष कन्या के सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। चुम्बन तथा सम्भोग आदि क्रियाओं के द्वारा यह विष दूसरे पुरुष में भी आ जाता है। इसी लिए ऊपर आचार्य डल्हण ने व्याख्या करते हुए लिखा है कि—हन्ति स्पृशन्ती स्वेदेन, गम्यमाना च मैथुने। पक्वं वृन्ताद्विव फलं प्रज्ञानयति मेहनम्॥ इस विषकन्या की साधारण तथा निम्न लक्षण से पहिचान की जा सकती है कि इसके शरीर पर जूं आदि कीट तुरन्त ही मर जाते हैं। इसी प्रकार ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार वह जातक कन्या भी विषकन्या कही जाती है जो विषकन्या योग विशेष में उत्पन्न हुई हो तथा जिसको ग्रहों के योगायोग के कारण वैधव्य योग होता है। इसी प्रकार आजकल की भाषा में फिरङ्ग, पूयमेह आदि योनिरोगों से पीड़ित स्त्री भी विषकन्या कही जा सकती है तथा इसी प्रकार फिरङ्ग तथा पूयमेह आदि रोगों से पीड़ित पुरुषों को भी 'विषपुरुष' कहा जा सकता है किन्तु इनमें इतनी विषाक्तता नहीं होती कि वे प्राणों का हनन कर सकें हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि फिरङ्ग से पीड़ित स्त्री अथवा पुरुष अपने चुम्बन तथा सहवास आदि से अपने साथी पुरुष या स्त्री को फिरङ्ग रोग से ग्रस्त कर दें। किन्तु पूयमेह से ग्रस्त रोगी में चुम्बन आदि में इतनी विषाक्तता नहीं रहती जितनी कि सहवास अथवा मैथुन कर्म में, वैसे आजकल विषकन्या का प्रयोग अथवा प्रचलन नहीं के बराबर हो गया है और आजकल के युग में तो विषकन्या विगत अतीत की एक कथा मात्र ही प्रतीत होने लगी है। फिर भी अन्य प्राणहारक साधनों का प्रयोग तो आज भी अपने शत्रुओं के प्राणों के विनाश के लिए प्रायः मनुष्य करते हैं और पहले से अधिक तीव्रता तथा सफलता से। आए दिन इस प्रकार के वृत्तान्त हमें समाचार-पत्रों में पढ़ने के लिए मिलते ही हैं जो इस प्रकार के विष-व्यवहार के प्रचार के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यथा भोजन में विष मिलाकर सहयात्रियों के धन तथा प्राण लूटना, खाद्य तथा पेय पदार्थों में विष मिलाकर यथा दूध आदि में संखिया, अफीम आदि विष मिलाकर दूसरे प्राणी को पिला देना और फिर सज्ञाहीन हो जाने पर गला दाब कर हत्या कर देना या विष आदि के प्रयोग से ही प्राणों का विनाश करना। प्रायः इस प्रकार प्रयुक्त किए जाने वाले विषों में वत्सनाभ, संखिया, अफीम, कुचला, धतूरा, भाँग और पोटाशियम साइनाइड (KCN) आदि विष मुख्य हैं।

यस्माच्च चेतोऽनित्यत्वमश्ववत् प्रथितं नृणाम्।
न विश्वस्याच्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित्॥ ७॥

राजा को विश्वास करने का निषेध—क्यों कि मनुष्यों का चित्त घोड़े की भांति सदैव चंचल रहता है इसलिए चतुर राजा को चाहिए कि वह कभी किसी का विश्वास न करे (और सदैव सावधान रहे)॥ ७॥

विमर्श.—इस सम्बन्ध में डल्हणाचार्य जी का मत है कि 'अश्ववदिति। आशुतमगत्या अश्वा उच्यन्ते, एतेन शीघ्रसचारित्वो-पलक्षणार्थं चेतोऽनित्यत्वमुक्तं, यस्मादश्वस्य शीघ्रसचारित्वं नाना-भावेन चेतसः, तस्मात् कदाचिदपि कस्यापि विश्वासं न विदध्यान्न हीपतिः। वैद्यविषये च विश्वासहेतु- सूत्रस्थाने 'विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानम्' इत्यादिश्लोकेनाभिहितः॥ इसलिए वैद्य का विश्वास तो राजा को भी करना ही चाहिए और इसी कारण आचार्य ने स्वयं प्रथम सूत्रस्थान में व्यवस्था दे दी है यथा 'विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानम्'। मन की चंचलता के विषय में तो गीता में स्पष्ट कहा गया है कि 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ कविराज हाराणचन्द्र जी ने उपर्युक्त श्लोक में पाठान्तर का निर्देश भी किया है उनके मतानुसार कहीं कहीं 'न विश्वस्याच्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित्' के स्थान पर न विश्वसेत् ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित्॥' ऐसा पाठान्तर पाया जाता है।

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं संततोत्थितम्।
अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम्॥ ८॥
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमायालस्यविवर्जितम्।
जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम्॥ ९॥
मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्।
पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षमालस्यवर्जितम्॥ १०॥
पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्।
महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम्॥ ११॥

पाकशाला में नियुक्त करने योग्य वैद्य—वैद्य की योग्यता का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि वैद्य कुलीन (उच्च कुलोत्पन्न अथवा सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न), धार्मिक, स्नेह रखने वाला अर्थात् स्नेही, धन-धान्यादि साधनों से युक्त, निरन्तर अपने कर्तव्य तथा शास्त्र की बातों पर ध्यान देने वाला, लालचरहित, धूर्तताहीन, श्रद्धावान्, कृतज्ञ, देखने-सुनने में सुन्दर (व्यक्तित्व से युक्त), क्रोध, कठोरता, मत्सरता, माया तथा आलस्य से हीन, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, पवित्र स्वभाव वाला, शील तथा दया से पूर्ण चित्तवाला, मेधावी, न थकने वाला, अनुरक्त, हिताभिलाषी, वक्ता, स्वकार्यदक्ष, चतुर, निपुण, कुशल, व्यसनरहित (मद्यपान, द्यूतकर्म, धूम्रपान, वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनों से विरहित) तथा तत्त्वाधिगतशास्त्र आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त, सदैव अगद (विषनाशक औषधि योगों) को पास में रखने वाला तथा वैद्य विद्या तथा आयुर्वेद के सम्यक् सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त वैद्य को तथा अन्य आयुर्वेदज्ञों से पूजित वैद्य को राजा अपने महानस (रसोई घर) में नियुक्त करे। तथा इस प्रकार से नियुक्त राजवैद्य की देख रेख में राजा के भोजन-पान आदि के लिए भोजनादि का निर्माण हो॥ ८-११॥

विमर्श.—आचार्य डल्हण ने उक्त श्लोकादि में वर्णित वैद्य-गुणों के विषय में निम्न मत प्रदर्शित किया है यथा 'स च वैद्यो गुणवानेव विश्वासमाजनमिति वैद्यस्य गुणान् निर्दिशन्नाह-कुलीन मित्यादि। कुलीनो ह्यदुष्टबीजक्षेत्रतया नाकार्य्येषु प्रवर्त्तते। कुल-मत्रायुर्वेदाध्यायि कुल ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यभेदेन त्रिविध, कुलगुण सम्पन्नशूद्रेण सह चतुर्विधमित्यन्ये, तद्भवमिति गयी। स्निग्धः स्नेहेन मित्रभावेन राज्ञा सह व्यवस्थित, एतेन मित्रमिव सर्वथा रक्षति। सुनृत सम्यग्भृत यथा च शरीरयात्रा भवति। तथा चोक्त 'सूपौदन घृतमल व्यञ्जन दृढममलिनञ्च वासः।' इति। सततोत्थितः अहोरात्रमध्ययनाध्यापनतदर्थचिन्तानृपशरीरस्वास्थ्यापादानेषु तत्परो नित्यमित्युक्त इति। परगुणविध्वसो मात्सर्यम्। माया-परवन्धन-बुद्धिः। अनुरक्त सदाऽऽतुरलग्न रागयुक्तम्। पटु वक्तार, प्रगल्भ धृष्ट, दक्ष चतुरम्, आलस्यवर्जन द्विरुक्तमत्यन्तनिषेधार्थम्। पूर्वोक्तै गुणैरनन्तरोक्तैश्च शास्त्रार्थं', इत्यादिकैः। महानसे रसवत्याम्। तद्विधपूजितमिति तद्विधैः पाकनिष्ठिततत्त्वज्ञानै. मिषग्भि. पूजितम्॥' कविराज हाराणचन्द्र महोदय उपर्युक्त श्लोकसमुच्चय में कुछ पाठान्तर भी मानते हैं यथा 'संततोत्थितम्' के स्थान पर 'सततोत्थितम्', 'मेधाविनमसंभ्रान्तमनुरक्तं' के स्थान पर 'मेधाविनमसंभ्रान्तम्', 'मायालस्य' के स्थान पर 'मदालस्य' तथा 'दक्षमालस्यवर्जितम्' के स्थान पर 'दक्ष मायाविवर्जितम्' नामक पाठान्तर का औचित्य स्वीकार करते हैं।

प्रशस्तदिग्देशकृत शुचिभाण्डं महच्छुचि।
सजालकं गवाक्षाढ्यमाप्तवर्गनिषेवितम्॥ १२॥
विकश्मसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम्।
परीक्षितस्त्रीपुरुष भवेच्चापि महानसम्॥ १३॥

पाकशाला के लक्षण—अब राजा के भोजन आदि के लिए रसोई कैसी हो? उसका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रशस्त दिशा (आग्नेय कोण) और प्रशस्त देश में बनाई हुई, पवित्र बर्तनों वाली, बड़ी, शुद्ध साफ तथा स्वच्छ व सुथरी, जाली वाली, धुआँ जाने के लिए प्रचुर वातायनों वाली, विश्वस्त पुरुषों (कर्मचारियों) से युक्त, लकड़ी आदि के लिए अलग निश्चित स्थानवाली, छत पर वितान (चदोवा) युक्त, अग्नि पूजा की हुई तथा परीक्षित एवं विश्वसनीय स्त्री-पुरुषादिकों से युक्त रसोई होनी चाहिए॥ १२-१३॥

विमर्श—प्रशस्त देश के विषय में लिखते हुए चरक-संहिताकार कहते हैं कि 'दृढ निवात प्रवातैकदेश सुखप्रविचार-मनुपसृष्टं धूमानलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धानां सोदपानोदूखले मूषलवच्च.।' इत्यादि॥ कविराज हाराणचन्द्र 'गवाक्षाढ्यमाप्तवर्गनिषेवितम्' के स्थान पर 'गवाक्षाढ्यामात्यवर्गनिषेवितम्' नामक पाठान्तर का औचित्य स्वीकार करते हैं। आचार्य डल्हण जी उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'प्रशस्त दिग्यामेयी, देशस्तु प्रशस्त [illegible], सदृढ विस्तीर्ण, शुचि अनुपहत, सजालक जालक [illegible], गवाक्षाढ्य वातायनसमृद्ध, विकश्मसृष्टसंसृष्ट विगततृणस्थान [illegible], एतेन रसवतामपि तृणसञ्चयो न करणीय इत्युक्त भवति [illegible], कृतार्चन कृताग्निपूजनम्। इति।

तत्राध्यक्षं नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम्।
भृत्यान् दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः॥ १४॥
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः।
स्नाता दृढ संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः॥१५॥
तस्य चाज्ञाविधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः।

राजसेवा के योग्य परिचारक—वहाँ पर उस रसवती में रसोई का अधिकारी अथवा अध्यक्ष वैद्य-गुणों से सम्पन्न मनुष्यों को बनावे (तथा) काम करने वाले भृत्य, पवित्र, कुलीन, चतुर; नम्र, देखने में सुन्दर, भिन्न-भिन्न कर्मों को करने वाले, निर्मल, शुद्ध मन के, नख तथा केश कटाए हुए, स्वस्थ तथा सबल, स्नान किए हुए, चंचलतारहित, संयमी, सिर को (सफेद तथा स्वच्छ साफा या पगड़ी से) लपेटे हुए, संयत तथा आज्ञाकारी व विनम्र होने चाहिए॥१४ १५॥

विमर्श:—अध्यक्ष प्रबन्धक अथवा व्यवस्थापक को कहा जाता है जो कि वैद्यगुणों से सम्पन्न होने के साथ भोजनपाक-विधा में कुशल तथा अनुभवी भी होना चाहिए। आचार्य डल्हण उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—'अध्यक्षमधिपतिम्, वैद्यगुणान्वित वैद्यगुणै. कुलीनधार्मिकत्वादिभि-र्युक्तमित्यर्थ.।

आहारस्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः॥ १६॥
तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत्।

पाकशाला में वैद्य की सावधानी—क्योंकि मनुष्य का जीवन (प्रधानतः) आहार के आश्रित है अतः अध्यक्ष वैद्य रसोई में सदैव ही सावधान तथा जागरूक रहे॥ १६॥

माहानसिकवोढारः सौपौदनिकपौपिकाः॥ १७॥
भवेयुर्वैद्यवशगा ये चाप्यन्येऽत्र केचन।

पाकशाला के परिचारकों को वैद्य के अधीन रहने का निर्देश—रसशाला (रसोई) में काम करने वाले, पिट्ठी पीसने वाले, दाल भात रोटी (ओदन तथा सूपकार) बनाने वाले कर्मचारी तथा अन्य कर्मचारी भी जो रसोई में काम करने वाले हों वे सब अध्यक्ष वैद्य के अधीन रहकर काम करने वाले होने चाहिये॥ १७॥

विमर्श:—उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या आचार्य डल्हण ने निम्न प्रकार से की है 'माहानसे नियुक्ता माहानसिका रसवती-पतय इत्यर्थ', वोढारो वोढ्रादयो, वेष्टिकर्मकराः कहारादयो वा। सौपा उपकरणभूतद्रव्यसाधकाः सूपव्यञ्जनादिकारकाः, औदनिका उपकार्यभूतभक्तस्य साधका, पौपिकाः पूपादिभक्ष्याणां साधकाः कन्दुका इत्यर्थ'। अन्येऽत्र केचनेति वेसवारकारकादयः॥' कविराज हाराणचन्द्र 'चाप्यन्येऽत्र' के स्थान पर 'चाप्यन्ये तु' नामक पाठ का औचित्य स्वीकार करते हैं।

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः॥ १८॥
विद्याद्विपस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्।
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च॥ १९॥
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत्।
स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत्॥ २०॥
वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते।
क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि॥ २१॥
आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्।
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः॥ २२॥

वर्तते विपरीतं तु विषदाता विचेतनः ।

विष देने वाले का लक्षण—मनुष्यों के संकेत (इशारों) को समझने वाला, चतुर व बुद्धिमान् मनुष्य वाणी, चेष्टा, मुख की भाव भंगिमा आदि से विषदाता मनुष्य को पहचान ले। विष देने वाला मनुष्य पूछने पर (प्रश्न किये जाने पर) उत्तर नहीं देता, बोलने की इच्छा व चेष्टा करता हुआ भी घबड़ा जाता है। व्यर्थ की, इधर-उधर की निरर्थक बातें करता है, बहुत बकवास करता है, मूर्खों की भांति मूर्खता-पूर्ण बातें करता है। अंगुलियों को चटकाता है, भूमि को नखों व तिनकों से कुरेदता है, अकारण हँसता है। विषदाता मनुष्य रह रहकर काँपने लगता है, डरकर (भयभीत होकर) इधर-उधर या एक दूसरे की ओर देखता है। कृशगात्र वाला, सूखा तथा उतरा हुआ (श्याम) मुख वाला, नखों से कुछ तोड़ता रहता है। बारबार हाथों से बालों को छूता रहता है, न जाने योग्य मार्गों से भागने का प्रयत्न करता है, बारबार मुड़-मुड़कर पीछे देखता जाता है। विपरीत चेष्टायें करता है तथा संज्ञारहित, अज्ञान व मूढ हो जाता है ॥

विमर्शः—उपर्युक्त लक्षण अपराधी मन वाले मनुष्य के होते हैं जिन्हें मानसशास्त्र (Psychology) में Guilty minded या Guilty Conscience वाला कहा जाता है। मन में चोर बैठ जाने कारण न जाने कितने प्रकार का तर्क-वितर्क युक्त सन्देह उस मनुष्य के मन में घुसकर घर बना लेता है और उन्हीं के अनुसार उपर्युक्त मानसिक दुर्बलता-सूचक क्रियायें व लक्षणों का प्रदर्शन करने लगता है। कभी कभी आकस्मिक भय या अपने से श्रेष्ठ मनुष्य के समक्ष जाने के समय अथवा भयावहत्व की अवस्था के समय में मनुष्य में कुछ इसी प्रकार के लक्षण आने लगते हैं जिन्हें मानस शास्त्र में Nervousness कहा जाता है और इन्हीं लक्षणों के कारण उत्पन्न होने वाले सन्देह का निराकरण करने के लिये सुश्रुतकार महोदय पुनः आगे कहते हैं कि—

केचिद्भयात् पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया ॥ २३ ॥
असतामपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मात् परीक्षणं कार्यं भृत्यानामाप्ततैर्नृपैः ॥२४॥

विष देने वाले की परीक्षा करने का निर्देश—(किन्तु) कभी-कभी राजा के भय से, जल्दी के कारण या राजा की आज्ञा से सज्जन, निरपराध मनुष्य भी अपराधी व असाधु मनुष्य की भांति आचरण कर बैठते हैं। अतः इन लोगों की परीक्षा समुचित आदर व सावधानी के साथ करनी चाहिये ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने विषदाता के लक्षणों का निर्देश निम्नलिखित रूप में किया है यथा—अत्यर्थशङ्कितः स्याद्बहुवाग्-थवाऽल्पवाग्विगतलक्ष्मीकः । प्राप्तप्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥ (च० चि० अ० २३।१०६) अर्थात् जो मनुष्य किसी को विष देने आता है वह अत्यधिक शंकित रहता है, उसे इस बात का भय रहता है कि कहीं वह पकड़ न लिया जावे अथवा राजा को व स्वामी को इस बात का पता न चल जाय। वह या तो अपने अपराध को छिपाने के लिये बहुत बोलता है अथवा बहुत थोड़ा बोलता है। उसके देह व मुख की कान्ति नष्ट हो जाती है और उस समय उसके स्वभाव में काफी परिवर्तन हुआ रहता है। इस प्रकार हाव-भाव आदि में विकार अन्य कारणों से भी हो सकता है अतः केवल चेष्टाओं से भृत्य को विषदाता न जान लेना चाहिये और न विषदाताओं की चेष्टाओं के न करने से विश्वास ही कर ले। इसका निर्णय करने के लिये अग्नि द्वारा भोज्य अथवा पेय पदार्थ की परीक्षा कर लेना ही श्रेयस्कर होता है।

अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाऽभ्यङ्गेऽवलेखने ।
उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने ॥ २५ ॥
स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च ।
पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् ॥ २६ ॥
विषजुष्टेषु चान्येषु नस्यधूमाञ्जनादिषु ।
लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनन्तरम् ॥ २७ ॥

विष देने के साधन—अन्न (भोजन), पान (पेयवस्तु), दन्तकाष्ठ (दातुन), अभ्यंग के हेतु प्रयुक्त होने वाले तैल या पदार्थ में, अवलेखन (कंघी अथवा झामा आदि में), उबटन, स्नान के हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले जल, कषाय, परिषेक, चन्दन आदि लेप, माला, वस्त्र, शय्या, कवच, आभूषण, जूता, आसन आदि में, हाथी अथवा घोड़े की पीठ, विषैले नस्य, धूम, अञ्जन आदि में विष देते हैं। यहां (आगे) इनके लक्षण कहने के उपरान्त उनकी चिकित्सा का व्याख्यान किया जावेगा ॥ २५-२७ ॥

विमर्शः—प्रायः विष देने के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों में से अन्न (भोजन) तथा पान (पेय वस्तु) तो मुख्य हैं किन्तु अन्य साधनों का भी प्रयोग किया जाता है इतिहास-प्रसिद्ध एक उदाहरण हम लोगों के समक्ष है कि औरङ्गजेब ने जयसिंह के पुत्र को विषाक्त सिरोपाव (एक प्रकार की दरबार में पहनी जाने वाली पोशाक—वस्त्र विशेष) प्रदान किया था जिसके पहनने से विष लोमकूपों से होकर जयसिंह के पुत्र के शरीर में व्याप्त हो गया था और फलस्वरूप वे मृत्यु को प्राप्त हो गये थे इसी प्रकार बीड़ी व सिगरेट में विष मिलाकर भी प्राणों का विनाश किया जा सकता है।

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये ।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः ॥ २८ ॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते ।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥ २९ ॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति ।
चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ॥ ३० ॥
दृष्ट्वाऽन्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः ।
कोकिलः स्वरवैकृत्यं कौञ्चस्तु मदमृच्छति ॥ ३१ ॥
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके ।
हंसः च्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥ ३२ ॥
पृषतो विसृजत्यश्रुं विष्ठां मुञ्चति मर्कटः ।
सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राज्ञस्तान् मृगपक्षिणः ॥ ३३ ॥
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा ।

विषमिश्रित अन्न के लक्षणादि—राजा के विषाक्त भोजन में से दी हुई बलि (अग्रान्न, भोग आदि) को मक्षिका

(मक्खी), काक (कौए) आदि जो भी खाते हैं वे शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। विषमिश्रित अन्न को आग में फेंकने से (अगियारी देने से) चट-चट शब्द अत्यधिक होता है तथा अग्निशिखा (आग की लपटों) का रंग मोर की ग्रीवा की भाँति हरापन लिए हुए नीले वर्ण का हो जाता है, इस अग्नि का तेज असह्य होता है। ज्वाला विभक्त (फटी हुई अलग अलग) होती है, धुएं में तीक्ष्णता रहती है तथा अग्नि प्रायः शीघ्र ही बुझ जाती है। विषमिश्रित अन्न के सेवन से चकोर नामक पक्षी की आँखों की लालिमा नष्ट हो जाती है। विषमिश्रित अन्न को देखकर जीवजीवक नामक प्राणधारी तुरन्त मर जाता है। विपाक्त अन्न के कारण कोकिल (कोयल) का स्वर विकृत हो जाता है, क्रौञ्च नामक पक्षी को मद चढ़ जाता है। मयूर अत्यधिक चचल (हृष्ट) एवं उद्विग्न हो जाता है, तोता तथा मैना क्रन्दन करने लगते हैं—चीखने चिल्लाने लगते हैं। हंस नामक प्राणधारी पक्षी जोर जोर से शब्द करने व चिल्लाने लगता है। भृङ्गराज नामक पक्षी विशेष रूप से कूजने लगता है। पृषत् नामक प्राणी (चित्तल हरिण) के नेत्रों से अश्रुस्राव होने लगता है और बन्दर तो विपाक्त अन्न को देख व सूंघकर तुरन्त ही मल त्याग कर देता है। इसलिये राजा को चाहिए कि वह इस प्रकार के विपाक्त अन्न की पहिचान के लिए गृह्य पशु पक्षियों को घर में पाले, ऐसा करने से दो लाभ होते हैं प्रथम तो यह कि इन पशु-पक्षियों से घर की शोभा बढ़ती है तथा द्वितीयतः विपाक्त अन्न से अपने प्राणों की रक्षा भी होती रहती है ॥ २८-३४ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य महोदय ने उपर्युक्त पद्यांश की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'रसरूपादिभिस्तल्लिङ्गमुद्दिश्याह—नृपमक्षाद्राजभोजनात्। हुतमुगित्यादि। हुतमुक् वह्निः। तेन सविषेणान्नेन चटचटायत इति शब्देन विषज्ञानं, मयूरकण्ठप्रतिम इति रूपेण विषज्ञानं, नीलधूमश्चेति गन्धेन विषज्ञानं, रसेन विषज्ञान 'विनश्यन्ति मक्षिकावायसाद्याः' इत्यनेनाभिहितम्। एवं शब्दादिभिः पञ्चभिः (चतुर्भिः) विषज्ञानं प्रतिपाद्यापरेणापि प्रकारेण चकोराद्यक्षिदृगच्छुरादिविकारेण विषज्ञानमुद्दिशति। चकोरेत्यादि अक्षिरागस्य रूपग्रहणेऽव्यभिचारित्वमिति गयी, विगतरागे अक्षिणी भवत इति सम्प्रदायगौ। जीवजीवकः पक्षिविशेषः क्रौञ्च इति लुञ्च इति च लोके। मदमुच्छति हर्षं यातीत्यर्थः। हृष्येन्मयूर उद्विग्न इति उद्विग्नश्चलितः. मन् मयूरो हृष्येत तृप्येदित्यर्थः, विनिरिह चलनार्थो न मयार्थः. परस्परविरोधात्। क्रोशत शुकसारिके इति मयाद्रोदनशब्दं कुरुत इत्यर्थः। हंसः क्वेडतीति चान्यत्रमिति अतिशयेन शब्दायत इत्यर्थः। भृङ्गराजस्तु कलगीति भृङ्गराजो भ्रमरको धूम्राटनदृश पक्षिराज इतिलोके, कूजति अव्यक्त शब्दायते, पृषतश्चित्रबिन्दुः चित्तल इति लोके।

उपक्षिप्तस्य चान्नस्य बाष्पेणोर्ध्वं प्रसर्पता ॥ ३५ ॥
हृत्पीडा भ्रान्तिनेत्रत्वं शिरोरुग्वं च जायते।
तत्र नस्याञ्जने कुष्ठं लामज्जं नलदं मधु ॥ ३५ ॥
कुर्याच्छिरीषरजनीचन्दनैश्च प्रलेपनम्।
हृदि चन्दनलेपस्तु तथा सुखमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

विषमिश्रित अन्न के बाष्प के कार्य—विपाक्त अन्न को खाने के लिये थाली में परोसते समय उसमें से निकलने वाले बाष्प के ऊपर उठकर सूंघे जाने पर हृदय में पीड़ा, नेत्र की भ्रान्ति तथा शिरोवेदना आदि लक्षण व्यक्त होने लगते हैं इन सब लक्षणों के निवारणार्थ नस्य तथा अञ्जन के लिये कूठ, खस, जटामांसी तथा मधु का प्रयोग करावे। शिरीष, हरिद्रा (हल्दी) तथा चन्दन का लेप करे। हृदय-प्रदेश पर चन्दन का लेप लगावे इससे उपर्युक्त लक्षणों की निवृत्ति होने से सुख (आराम) प्राप्त होता ॥ ३५-३६ ॥

विमर्श.—कहीं पर आचार्य डल्हण ने इस पाठ में अन्य पाठान्तर भी पाया है जिसका निर्दर्शन करते हुए वे लिखते हैं कि 'उपक्षिप्तस्येत्यत्र उत्क्षिप्तस्येति केचित् पठन्ति, उत्क्षेत्स्यालाति।' इसी प्रकार कविराज हाराणचन्द्र ने भी 'लामज्जं' के स्थान पर 'रामठ' नामक पाठान्तर का औचित्य स्वीकार किया है।

पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशातं करोति च।
अत्र प्रलेपः श्यामेन्द्रगोपासोमोत्पलानि च ॥ ३७ ॥

विषमिश्रित अन्नके हाथ में लगने पर प्रभाव के लक्षण—(इसी प्रकार) हाथों में लगा हुआ विषमिश्रित अन्न हाथों में दाह (जलन), नखशातन (नखों का झड़कर गिरना) आदि लक्षण उत्पन्न करता है। इसके प्रतिकारार्थ प्रियङ्गु, अनन्तमूल, कट्फल और कमल का लेप करें ॥ ३७ ॥

विमर्शः—सुश्रुतसंहिता के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीडल्हणाचार्य ने उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या निम्न रूप में की है 'नख शात नखपातनम्। श्यामा श्यामालता, प्रियङ्गुरित्यपरे, इन्द्रा इन्द्रवारुणी, गोपा सुगन्धमूला सारिवा, इन्द्रगोपइत्यन्ये पठन्ति, तत्रेन्द्रगोपः कीटविशेषः, सोमा गुडूची, सोमलतेत्यन्ये, उत्पल नीलोत्पलम्' इस प्रकार इन आचार्य ने सोम का अर्थ गिलोय तथा श्यामा का श्यामालता अर्थ दिया है।

स चेत् प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते।
अष्ठीलावत्ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी ॥ ३८ ॥
तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात् प्रसिच्यते।
तत्र वाप्येरितं कर्म यच्च स्याद्दान्तकाष्ठिकम् ॥ ३९ ॥

सविष अन्न के भोजन करने में दोष—यदि मोह या आलस्य के वशीभूत होकर मनुष्य इस विषमिश्रित अन्न को खा जाता है तो उसकी जिह्वा (जीभ) अष्ठीला (गुठली, पत्थर अथवा लोहे) की भांति अकड़-ऐंठ कर कड़ी एवं रसज्ञान से विहीन हो जाती है अथवा रस को नहीं पहचान पाती है तथा इसमें चुभने के समान पीड़ा (दर्द) और जलन होती है, मुख में अतिमात्रा में लालास्राव, व श्लेष्मा (कफ) का स्राव होने लगता है इस प्रकार की अवस्था में ३७-३९ श्लोक के अन्तर्गत कही गई चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए अथवा आगे कही जाने वाली दन्तकाष्ठगत विष के अन्तर्गत कही गई चिकित्सा की योजना करे ॥ ३८-३९ ॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण ने व्याख्या की है कि 'दान्तकाष्ठिकमिति दान्तकीपुष्पादिभिः प्रतिसारणं, तच्च प्रतिसारणमग्रेच्छिते श्लोके विधेयम् इति ॥'

मूर्च्छां छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू ।
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम् ॥ ४० ॥
तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः ।
छर्दनं दध्युदश्विद्ध्यामथवा तण्डुलाम्बुना ॥ ४१ ॥

आमाशयगत विष के लक्षण तथा चिकित्सा—आमाशयगत विषाक्त अन्न, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, जलन, कम्पन और इन्द्रियों में विकार करता है। इस अवस्था में तुरन्त ही मदनफल (मैनफल), कटुतुम्बी (कडुवी तुम्बी), कडुवी तरोई आदि के फलों से वमन करावे अथवा दही के पानी, तक्र से अथवा चावलों के पानी से वमन करावे ॥

दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रियवैकृतम् ।
आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम् ॥४२॥
विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम् ।
दध्ना दूषीविषारिघ्नं पेयो वा मधुसंयुतः ॥ ४३ ॥

पक्वाशयगत विष के लक्षण—पक्वाशयगत विष दाह, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा (प्यास का बारम्बार व अधिक लगना), इन्द्रियों में विकार, आध्मान, पाण्डुता तथा कृशता (दौर्बल्य) उत्पन्न करता है। इस अवस्था में नीलिनीफल का विरेचन घी के साथ देना चाहिए। दूषित विषारि अगद का सेवन दही अथवा मधु से मुख द्वारा पीकर करे ॥४२-४३॥

विमर्शः—उपर्युक्त ४०, ४१, ४२ तथा ४३ वें श्लोकों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि मुख द्वारा लिए गए भोजन में मिश्रित विष के आमाशयान्त्र-प्रणाली में पहुंचने पर मुख, जिह्वा, अन्नप्रणाली (Oesophagus), आमाशय (Stomach) तथा पक्वाशय (Duodenum) में पहुँचने पर किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है और उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कौन कौन से लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं सब प्रतिक्रियाओं व लक्षणादि का विशद वर्णन आचार्य ने अपनी संहिता में आज से लगभग ४-५ हज़ार वर्ष पहले किया था और आज जब हम आधुनिकदृष्टया विषविज्ञान (Toxicology) का अध्ययन करते समय उसी वर्णन को पढ़ते हैं तथा आयुर्वेद के संहिताग्रन्थों में लिखित वर्णन से तुलना करते हैं तो हमारा मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है कि जिस विषय की विवेचना आज के वैज्ञानिक समस्त यन्त्रोपकरणों से सुसज्जित होने पर भी नहीं कर पाए हैं उसी विषय की विशद एवं साङ्गोपाङ्ग-विवेचना हमें आज से ३-४ हजार वर्ष पूर्व लिखित आयुर्वेद के संहिताग्रन्थों में मिलती है।

द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु ।
भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च ॥ ४४ ॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः ।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा॥४५॥

सविष द्रव द्रव्य के लक्षण—विषाक्त दूध, मद्य, जल आदि सभी तरल पदार्थों में विष के कारण नाना प्रकार की रेखाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं तथा उक्त द्रवों में बुद्बुदादिक उत्पन्न होने लगते हैं। इन द्रव पदार्थों में साधारण की भांति कोई प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता और यदि दिखाई भी देता है तो वह जुडा हुआ (युग्मित, दो का), छिद्रान्वित (छेद वाला), पतला अथवा विकृत आकार प्रकार वाला होता है ॥

विमर्शः—उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए डल्हणाचार्य महोदय ने लिखा है कि—'द्रवद्रव्येषु क्षीरादिषु यत् स्थूलं लक्षणं तदाह-द्रवद्रव्येष्वित्यादि। विविधा राज्यो नानाप्रकारा लेखा'। विविधा राज्यः श्रीवाग्भटेन व्याख्याता, तथा च 'नीला राजी रसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते। श्यावा पीताऽसिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा ॥ काली मद्याम्भसोः क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा' इति। फेनेत्यादि फेनस्य बुद्बुदस्य चोत्पत्तिरित्यर्थः। यमला युग्माः। छिद्राः सच्छिद्राः। तन्व्यः सूक्ष्माः। गयी तु तन्व्य इत्यत्र 'अन्या' इति पठित्वा व्याख्याति। अन्यतरेषा पशूनामिव छायाः। विकृताः सौम्यस्यापि रौद्राः, रौद्रस्यापि सौम्या'॥ कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य वाग्भट ने ऊपर कही गई विविध रेखाओं का वर्णन स्पष्ट रूप से दिया है और प्रतिदिन के अनुभव से भी हमें उपर्युक्त उक्ति सत्य प्रतीत होती है क्यों कि यह तो प्रायशः देखा ही जाता है कि जब किसी कारण से किसी धातु-निर्मित पात्र में रखा दूध विकृत हो जाता है तो ताम्र पात्र में वह नीलवर्ण का दृष्टिगोचर होने लगता है तो फिर यह भी सम्भव है कि उक्त दुग्ध में ताम्रजनित विष मिला देने पर उसका रंग नीला पड जावे अथवा उसमें नीले रंग की रेखाएं दृष्टिगोचर होने लगें। इसी प्रकार दही में ताम्रजनित विष तूतिया आदि मिला देने पर दधि में हरे रंग की रेखाएं पड़ जाती हैं यही क्रम हम तैल, मधु, घृत आदि द्रव पदार्थों में भी देख सकते हैं, इस प्रकार उक्त श्लोकों को पढ़ने से एक विज्ञ वैद्य को इस बात का ज्ञान तो भली भांति हो ही जाता है कि विभिन्न पेय पदार्थों के विषाक्त होने पर कौन-कौन से विकृतिसूचक लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। अस्तु।

शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च ।
सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च ॥ ४६ ॥
गन्धवर्णरसैर्हीनाः सर्वे भक्ष्याः फलानि च ।
पक्वान्याशु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च ॥४७॥

सविष शाक, दाल तथा भक्ष्य फल के लक्षण—शाक, दाल, अन्न तथा मांस आदि आहार द्रव्यों के विषाक्त होने पर वे क्लिन्न, स्वादरहित, तुरन्त ही बनाए गए होने पर भी बासी की भांति से दीखते हैं। इनकी गन्ध नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सभी भक्ष्य पदार्थ विषाक्त होने पर गन्ध, वर्ण, रस आदि से रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार पके हुए फल भी विष से युक्त होने पर शीघ्र ही सड जाते हैं तथा कच्चे फल विष के प्रभाव से शीघ्र पक जाते हैं ॥ ४६-४७ ॥

विमर्शः—इसी प्रसङ्ग में कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के २० वें अध्याय में लिखा मिलता है कि 'यदि भोजन में विष मिला हो तो अग्नि में उसकी लपट नीली और उसमें से निकलने वाला धुआँ भी नीला ही निकलेगा तथा अग्नि में चटचट शब्द होगा। यदि उस अन्न को पक्षियों ने खाया होगा तो वे भी उसी समय तड़फड़ाने लगेंगे। उस अन्न में से जो वाष्प (भाप Vapour) उठेगी वह भी मयूर (मोर) की ग्रीवा के समान नीले रंग की होगी। विष-मिश्रित पकाया हुआ अन्न शीघ्र ही ठण्डा हो जाता है तथा तोड़ने-फोडने पर उसका रंग भी अन्य प्रकार का हो जाता है।

किसी विष के संयोग से भोजन में से जलांश पृथक् होने लग जाता है और किसी विष के सम्पर्क से भोजन बहुत ही रूखा बन जाता है। इसी प्रकार चरककार ने भी च. चि. अ. २३ के ११०-११९ श्लोकों में उक्त विषय का विवेचन करते हुए लिखा है कि, 'पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वा च नेक्षते छायाम्। विकृतामथवा पश्यति लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥ ११० ॥ पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुजा हृदि मूर्च्छा च। स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदा ॥१११॥ मुखनाल्वोष्ठचिमचिमा जिह्वाशूना जडा विवर्णा च। द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥ ११२ ॥ आमाशय प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः। दृष्टिहृदयोपरोधो विन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥ ११३ ॥ पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः। तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ॥ ११४ ॥ अर्थात्—पान द्रव्य (दूध आदि) में यदि विष संयोग हो तो उसमें नीलवर्ण की रेखा दिखाई देती है अथवा उसका वर्ण ही विकृत हो जाता है। अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता अथवा यदि प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है तो वह विकृत होता है। यदि उस द्रव में नमक डाला जाय तो झाग बहुत उठता है (परन्तु इसी परीक्षा पर ही आधारित नहीं हो जाना चाहिये। विषभेद से एक ही द्रव में भी नाना प्रकार की राजियाँ (रेखाएँ) उत्पन्न हो सकती हैं)। विषयुक्त पेय द्रव व भोज्य अन्न की गन्ध से शिर में पीड़ा हो जाती है और हृदय पर प्रभाव होने से मूर्च्छा भी हो सकती है। स्पर्श से हाथ में शोथ व सुप्ति (वहाँ की संज्ञावाहिनी नाड़ियों का कार्य न करना), अंगुलियों में दाह अथवा व्यथा हो सकती है, नखों में भेदनवत् पीड़ा होती है अथवा नख टूटने लगते हैं। अतः जब उस अन्न को खाते हैं वा उस विपाक्त द्रव को पीते हैं। तब मुख, तालु और होंठों में चिमचिमाहट पूर्ण वेदना होती है। जीभ सूज जाती है तथा जडवत् (स्तब्ध) हो जाती है तथा उसका वर्ण भी विकृत हो जाता है। दन्तहर्ष, हनुस्तम्भ, मुखदाह, लालास्राव तथा गले में विकार हो जाते हैं। आमाशय में विपाक्त अन्न या पेय द्रव्य के पहुँचने पर वहाँ की विवर्णता होती है, पसीना आता है, शिथिलता तथा उत्क्लेश (जी मिचलाना) होता है। दृष्टिरोध और हृदय का उपरोध (अपना कार्य न करना) तथा मूर्च्छा (Syncope)) होता है, आमाशय में सैकड़ों बिन्दु सदृश स्फोट हो जाते हैं। उसी विपाक्त अन्न के पक्वाशय में पहुँचने पर मूर्च्छा, मद, मोह (इन्द्रियों का स्व-विषय ग्रहण में असमर्थ होना), दाह तथा निर्बलता होती है तथा विष के उदर में रहने पर तन्द्रा, कृशता और पाण्डुता होती है। (पक्वाशय से ग्रहणी एवं उदर से अभिप्राय क्षुद्रान्त्र तथा बृहदन्त्र दोनों से है अथवा पक्वाशय से ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र का तथा उदर से बृहदन्त्र का ग्रहण करना चाहिये।) इस प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा के ग्रन्थों में भी विषयुक्त मनुष्य में निम्नलिखित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आम्लिक विष के सामान्य लक्षण निम्नलिखित होते हैं। (१) स्वाद (Taste) अम्लीय होता है। (२) मुख में दाह एवं पीड़ा का अनुभव तथा ओष्ठ, जिह्वा तथा गले में दाह, शोथ एवं व्रणोत्पादन (ulceration) होता है। (३) वमन होता है, जिसमें आमाशयान्त्रप्रणाली से श्लैष्मिक कला के टुकड़े भी पाए जाते हैं। (४) तृष्णा (प्यास) की अधिकता होती है। (५) मुख से कष्ट के साथ शब्द निकलते हैं अथवा बिल्कुल नहीं निकलते। (६) उदर में शोथ, पीडा एवं हृदयावसाद (cardiac failure) (७) त्वचा का अधोभाग स्वेदयुक्त होता है। (८) नाडी दुर्बल हो जाती है तथा (९) श्वास अति कठिनता से आती जाती है। इसी प्रकार क्षारीय विष के सामान्य लक्षण निम्नलिखित होते हैं। (१) मुख में कषायपन तथा गले व आमाशय में दाहयुक्त उष्णता का अनुभव होता है। (२) वमन प्रायः कम होता है किन्तु वमन का रङ्ग भूरा होता है तथा वमित द्रव्य में रक्त एवं श्लैष्मिक कला के टुकड़े भी पाए जाते हैं। (३) विरेचन होता है (४) उदर शूल, नाडी-दुर्बलता एवं मुख से आमाशय तक लालिमा एवं शोथ होता है इस प्रकार यदि हम इन लक्षणों को आयुर्वेदीय ग्रन्थोक्त लक्षणों से मिलावें तो हमें उनमें अनुपम सादृश्य मिलता है जिससे हमें इस बात का गौरव होने लगता है कि आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व लिखे गए ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में कोई बात वर्णन से छूटी नहीं थी। अस्तु।

विशीर्यते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे।
जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥ ४८ ॥
अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः।
सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्तव्यं प्रतिसारणम् ॥ ४९ ॥
अथवाऽङ्कोठमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा।
शिरीषसापका वाऽपि सक्षौद्राः प्रतिसारणम् ॥ ५० ॥

सविष दांतुन आदि के लक्षण तथा चिकित्सा—दन्तकाष्ठ (दांतुन) में विष संचार होने पर दातुन की कूची झड़ने लगती है। जिह्वा, ओष्ठ, दांत और मसूढ़े सूज जाते हैं। (इसकी चिकित्सा के लिए) इसमें पाछना लगा कर धाय के फूल, हरड़, जामुन की गुठली आदि को मधु में घिस कर मसूढ़ों पर मलें (घर्षण अथवा प्रतिसारण करें) अथवा अंकोठ की मूल या सप्तपर्ण की छाल, शिरीष के बीज इनका मधु के साथ प्रतिसारण (घर्षण) करे ॥ ४८-५० ॥

विमर्शः—चरककार ने भी दन्तकाष्ठगत विष के लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तोष्ठमांसशोफश्च' ॥ (च. चि. अ. २३।११५) दातुन की कूची टूट जाती है तथा ओष्ठ एवं मसूढ़ों में शोथ हो जाता है।

जिह्वानिर्लेखकवलौ दन्तकाष्ठवदादिशेत्।

सविष जीभी, कवलादि की चिकित्सा—जिह्वानिर्लेखन (जीभी, Tongue cleaner) और कवल (गण्डूष, कुल्ला अथवा Gargle) के विष से दूषित होने पर दांतुन के प्रसङ्ग में कही गई चिकित्सा करे ॥

पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः ॥५१॥
स्फोटजन्म रुजा स्रावस्त्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः।
दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ॥ ५२ ॥
तत्र शीताम्बुसिक्तस्य कर्तव्यमनुलेपनम्।
चन्दनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ॥ ५३ ॥

सोमवल्ल्यमृता श्वेता पद्मं कालीयकं त्वचम्।
कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च युज्यते ॥ ५४ ॥

सविष अभ्यङ्ग आदि के लक्षण तथा चिकित्सा—विषाक्त अभ्यङ्ग-पिच्छिल (चिपचिपा), गाढ़ा, विवर्ण हो जाता है। इसके सेवन से स्फोट (छाले) उत्पन्न हो जाते हैं, पीड़ा, स्राव, त्वक्-पाक (त्वचा का पकना), पसीना आना, ज्वर और त्वचा का विदरण (त्वचा का फटना) होता है। इसमें (विषजुष्ट मनुष्य को) शीतल जल से स्नान करा कर चन्दन, तगर, कूठ, खस, वंशपत्र (बांस के पत्ते), गिलोय (अमृता), अपराजिता (कोयल), कालीयक काष्ठ तथा दारुचीनी को कपित्थ (कैथ) के रस और गोमूत्र के साथ पीस कर शरीर पर लेप करें तथा इसको पीयें भी ॥ ५१-५४ ॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण ने उक्त पद्यांश की व्याख्या करते हुए लिखा है—पिच्छिल इत्यादि। अभ्यङ्गोऽन्यद्वनद्रव्य तैलादि। वट्टनो घन.। वेणुपत्रिका वंशपत्राणि; अन्ये वेणुपत्रिकां वंशस्तृणपत्रिकाद्रव्यान्तरमाहुः। सोमवल्ली गुडूची। अमृता अमृता सटः सर्परिका तुत्थकम्, उत्तरपदलोपात्, श्वेता श्वेतस्यन्द', कालीयक दारुहरिद्रा। त्वचं वराङ्गम्। उष्मनुलेपन शीतनीरेण। मूत्र गोमूत्रम्। एतचेति चन्दनादिकम्' ॥ इस प्रकार आचार्य डल्हण ने अमृता से अमृतासङ्ग का ग्रहण कर तुत्थ का पाठ किया है। श्वेता से श्वेतस्यन्द का पाठ किया है तथा श्वेत का प्रयोग श्वेत त्वचा के लिए भी प्रयुक्त माना है। वस्तुतः और सभी पाठों के विषय में कोई आपत्ति नहीं भी होनी चाहिए किन्तु अमृता के लिए 'अमृतासङ्ग' अथवा तुत्थ का पाठ व प्रयोग तो उचित एवं तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता, विवादास्पद विषय हो जाता है। अस्तु।

उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने।
शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्गलक्षणैः ॥ ५५ ॥

सविष उत्सादन परिषेक, कषाय, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र तथा कवच के लक्षण और चिकित्सा—उत्सादन, परिषेक, कषाय, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र और कवचों में विष का योग होने पर अभ्यङ्ग के समान लक्षण और चिकित्सा का विधान किया जाता है ॥ ५५ ॥

केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः।
ग्रन्थिजन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टेऽवलेखने ॥ ५६ ॥
प्रलेपो बहुशस्तत्र भाविताः कृष्णमृत्तिकाः।
ऋष्यपित्तघृतश्यामापालिन्दीतण्डुलीयकैः ॥ ५७ ॥
गोमयस्वरसो वाऽपि हितो वा मालतीरसः।
रसो मूषिकपर्ण्या वा धूमो वाऽगारसंभवः ॥ ५८ ॥

सविष कंघी आदि के प्रयोग करने पर लक्षण तथा चिकित्सा—कंघी आदि वस्तुओं के विष से युक्त होने पर तथा उनके प्रयुक्त किए जाने पर केशों का पतन, शिर में पीड़ा, रोमकूपों से रक्तप्रवृत्ति (रोमकूपों से रक्त निकलना), शिर में गाठें (फुन्सियाँ) उत्पन्न हो जाती हैं। इसके प्रतिकार के लिए काली मिट्टी को 'रोरु' नाम से प्रसिद्ध नीलाण्ड मृग के पित्त, घृत, श्यामा (प्रियंगु), निशोथ, तण्डुलीयक (चौलाई) आदि से कई बार भावित करके लगावे अथवा गोबर का रस या चमेली का स्वरस शिर पर लगावे या मूषाकर्णी अथवा मूषकपर्णी का रस या गृहधूम (घर का धुवां) लगावे ॥५६-५८॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण ने उक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए लिखा है—केशशात इत्यादि। ऋष्यपित्तघृतश्यामादिस्वरसैः सप्ताहं भाविताया कृष्णमृदा बहुशः प्रलेपो हित इत्यर्थः। ऋष्यो नीलाण्ड'रोरु' इति प्रसिद्धः। कालखण्डलग्ननलिकामध्यगतजलं पित्तम्। श्यामा प्रियङ्गु, पालिन्दी निशोथ, मूषिकपर्णी, द्रवन्ती, द्रव्यान्तरमिति अन्ये। प्रलेपशब्दो गोमयस्वरसो वेत्यत्र हितशब्देन सह सम्बन्धनीयः, तेन गोमयरसादिप्रलेपो वा हितो भवतीति सम्बन्धः स्यात्।

शिरोऽभ्यङ्गः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च।
स्रजश्च विषसंसृष्टाः साधयेदवलेखनात् ॥ ५९ ॥

सविष तैलादि का शिर पर अभ्यङ्ग एवं सविष कवच, साफा तथा माला धारण करने पर लक्षण तथा चिकित्सा—शिर का अभ्यंग (तैल आदि Hair oil), शिरस्त्राण (लोहे का टोप Helmat), स्नान का जल, पगडी, मालायें इनके विष से युक्त होने पर उपर्युक्त कवी के समान लक्षण एवं चिकित्सा का विधान माने ॥ ५९ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी शिर पर विषयुक्त तैल के अभ्यङ्ग का प्रभाव बताते हुए लिखा कि—'केशच्युति शिरोग्रन्थयश्च सविषे शिरोऽभ्यङ्गे ॥' (च चि. अ. २३।११५) यदि शिर पर किया गया अभ्यङ्ग विषयुक्त हो तो बाल (केश) गिरते हैं और शिर में ग्रन्थियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार स्नान आदि में विष के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-'स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः। कण्डूर्वलिलोमहर्षाः कोठपिटकाचिमचिमाः शोथाः ॥' (च. चि. अ. २३।११६) स्नान, अभ्यङ्ग, उबटन, वस्त्र, आभूषण, वर्णक (अङ्गराग Rouge आदि सौन्दर्यप्रसाधन) आदि यदि विषदुष्ट होवें तो कण्डू, लोमहर्ष, कोठ, पिडिकाएं, चिमचिमायन होना तथा शोथ हो जाता है। इसी प्रकार सुश्रुतोक्त 'कषाय' शब्द से अभिप्राय शोधन क्वाथ का है अथवा कषाय से मुख पर शृंगारार्थ लगाए जाने वाले रागकादि का अर्थ ग्रहण करना चाहिए ॥

मुखालेपे मुखं श्याव युक्तमभ्यङ्गलक्षणैः।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः कण्टकैश्चोपचीयते ॥ ६० ॥
तत्र क्षौद्रघृतं पानं प्रलेपश्चन्दन घृतम्।
पयस्या मधुकं फल्गी बन्धुजीवः पुनर्नवा ॥ ६१ ॥

सविष आलेप द्रव्य से मुख लिप्त होने पर लक्षण तथा चिकित्सा—मुख के आलेप के विष से युक्त होने पर (विषजुष्ट) मुख श्यामवर्ण, विषैले अभ्यङ्ग के समान लक्षणों वाला हो जाता है। पद्मिनीकण्टक के समान कांटों (फुन्सियों) से भर जाता है। इसके प्रतिकार के लिए मधु घृत का पीना, चन्दन, घी, विदारीकन्द, मुलैठी, भारङ्गी, दुपहरिया तथा पुनर्नवा आदि द्रव्यों का लेप करे ॥ ६०-६१ ॥

विमर्शः—कविराज हाराणचन्द्र जी ने उपर्युक्त श्लोक में 'मुखालेपे' शब्द के स्थान पर 'मुखलेपे' शब्द के औचित्य को स्वीकार करते हुए पाठान्तर होने का निर्देश दिया है जो विचारणीय है। चरककार का मत हम पिछले श्लोक (५९ वें श्लोक) की व्याख्या करते समय दे ही चुके हैं अतः उसी वक्तव्य की पुनरावृत्ति करने से भी कोई लाभ नहीं है।

अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां लालास्रावोऽक्षिरक्तता ।
स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसंभवः ॥६२॥
तत्राभ्यङ्गवदेवेष्टा यातुवाहनयोः क्रिया ।

विषयुक्त वाहन के लक्षण तथा चिकित्सा—हाथी, घोडे आदि वाहनों की पीठ पर विष लगाने से हाथी, घोडे आदि वाहन पशु रुग्ण हो जाते हैं, उनके मुख से लालास्राव होता रहता है तथा आँखें लाल हो जाती हैं तथा उनपर सवारी करनेवाले मनुष्य के नितम्ब, गुदा, मेहन (मूत्रेन्द्रिय) तथा मुष्क (अण्डकोषों) पर स्फोट (छाले) उत्पन्न हो जाते हैं, इन लक्षणों के प्रतिकार के लिए अभ्यङ्ग के प्रसग में कही गई चिकित्सा उस वाहन तथा विष से प्रभावित मनुष्य की करें॥

विमर्शः—कविराज हाराणचन्द्र महोदय ने 'यातुश्च' नामक शब्द के स्थान पर 'युक्तेषु' शब्द के औचित्य को स्वीकार किया है और वह उचित भी है। आचार्य डल्हण ने भी उक्त शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—यातु· आरोहकस्य। यातुवाहनयो· क्रियेति। अत्र यातुशब्द आरोहक पर्य्याय इति।

शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्फसंस्रवः ॥ ६३ ॥
नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम् ।
तत्र दुग्धैर्गवादीना सर्पिः सातिविषैः श्रृतम् ॥ ६४ ॥
पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समदयन्तिकम् ।

सविष नस्य तथा धूम के लक्षण तथा चिकित्सा—नस्य और धूम में विष होने पर—नाक से रक्तप्रवृत्ति होती है, शिर में वेदना, कफ का स्राव तथा इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं। इस अवस्था में गाय आदि के दूध से, अतिविषा (अतीस) के कल्क द्वारा सिद्ध घृत पीने तथा नस्य कर्म के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। कटभी (श्वेतवच) तथा मेंहदी के कल्क से सिद्ध किए गए घृत का प्रयोग उत्तम तथा श्रेयस्कर होता है॥ ६३-६४॥

विमर्शः—कोई कोई आचार्य अतीस, मेंहदी, श्वेतवच (अथवा कोयल) इन तीनों द्रव्यों के कल्क का एक साथ प्रयोग कराते हैं। आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त 'सश्वेतम्' इस शब्द का 'श्वेतवच के साथ' अर्थ किया है जब कि कई विद्वान 'सश्वेतम्' शब्द का तात्पर्य 'श्वेत अपराजिता' नामक वनौषधि द्रव्य से किया है। अतः यह समस्या विद्वानों के द्वारा विचारणीय तथा महत्वपूर्ण प्रतीत होती है।

गन्धहानिर्विवर्णत्व पुष्पाणां म्लानता भवेत् ॥ ६५ ॥
जिघ्रतश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने ।
तत्र वाप्येरितं कर्म मुखालेपे च यत् स्मृतम् ॥ ६६ ॥

सविष पुष्प के लक्षण तथा चिकित्सा—विषैले पुष्पों में गन्ध का नष्ट होना, विवर्णता तथा मलिन होना (मुरझा जाना) आदि लक्षण होते हैं। ऐसे पुष्पों को सूघने वाले प्राणी के शिर में पीड़ा तथा आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसके प्रतिकार के हेतु विषाक्त वाष्पों की भाँति तथा विषैले मुख-लेपों के प्रसङ्ग में कही गई चिकित्सा का प्रयोग करें॥६५-६६॥

विमर्श—चरककार ने भी उपर्युक्त प्रसङ्ग में निम्नलिखित वर्णन दिया है—(गात्रमगन्ध म्लायति शिरोरुजा लोमहर्षकरम्। नासिकाक्षि नासामुखरुजां च दर्शने धूमः॥ (च. चि. अ. २३।११९) अर्थात् पुष्पों की माला विषदूषित होने पर गन्ध रहित होती है और शीघ्र मुरझा जाती है तथा साथ ही शिर में पीड़ा और रोमाञ्च होता है। तथा धूम के विषयुक्त होने पर स्रोत (विशेषकर छाती के) स्तब्ध हो जाते हैं और नाक एवं नेत्रों को हानि पहुँचती है।

कर्णतैलगते श्रोत्रवैगुण्यं शोफवेदने ।
कर्णस्रावश्च तत्राशु कर्तव्यं प्रतिपूरणम् ॥ ६७ ॥
स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः ।
सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते ॥ ६८ ॥

कर्ण में छोडे हुये सविष तैल के लक्षण तथा चिकित्सा—कान में डाले जानेवाले तैल के विषैला होने पर-सुनाई न पड़ना, कान में शोफ, वेदना तथा कर्णस्राव (कान बहना) होता है। इस अवस्था में तुरन्त ही शतावरी का स्वरस, घी तथा मधु मिलाकर डाले। कटफल का शीतल रस भी गुणकारी व लाभप्रद होता है॥ ६७-६८॥

विमर्शः—भारतीय (सस्कृत, वैदिक अथवा हिन्दी भाषा के) साहित्य में कर्णमार्ग से विष-प्रयोग का वर्णन तो प्रायः अलभ्य सा ही है किन्तु आंग्ल साहित्य के महान् कवि तथा नाटककार शेक्सपीयर ने अपने रचित एक नाटक 'हैमलेट' में विषप्रयोग की इस विधि का विवरण दिया है। इस नाटक के कथानक के अनुसार 'डेन्मार्क' के राजा का छोटा भाई अपनी राज्य लिप्सा के शमनार्थ अपने बड़े भाई के कानों में जब कि डेन्मार्क नरेश अपने उद्यान में सो रहा था विपाक्त तैल, अथवा विष की बूँदें डाल देता है जिसके फलस्वरूप उक्त राजा की सुप्तावस्था में ही अति रहस्यपूर्ण मृत्यु हो जाती है फिर वह छोटा भाई अपनी भाभी (भाई की स्त्री तथा राजकुमार हैमलेट की माता) से विवाह कर लेता है और युवराज हैमलेट के अधिकार को हड़प कर स्वय डेन्मार्क का राजा बन बैठता है और इस रहस्यमयी मृत्यु का अनावरण मृतात्मा अपने पुत्र से करती है और अपनी मृत्यु के प्रतिशोध की कामना करती है परिणाम स्वरूप हैमलेट अपने पिता की आत्मा के कथनानुसार एक नाटक का आयोजन कर उसी विषदान के दृश्य की पुनरावृत्ति करता है और इस प्रकार अपने पिता के कथित हत्यारे का पता लगाकर उसकी मृत्यु का प्रतिशोध लेकर स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त होता है। इस दुःखान्त किन्तु जगत् प्रसिद्ध नाटक में महान नाटककार शेक्सपीयर ने कर्णमार्ग से विष-प्रयोग की विधि का सविस्तर विवरण देकर अपनी अनूठी सूझ बूझ का अनुपम परिचय दिया है।

अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः ।
अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च ॥ ६९ ॥
तत्र सद्यो घृतं पेयं तर्पणं च समागधम् ।
अञ्जनं मेषशृङ्गस्य निर्यासो वरुणस्य च ॥ ७० ॥
मुष्ककस्याजकर्णस्य फेनो गोपित्तसंयुतः ।
कपित्थमेषशृङ्ग्योश्च पुष्पं भल्लातकस्य वा ॥ ७१ ॥
एकैकं कारयेत् पुष्पं बन्धूकाङ्कोटयोरपि ।

प्रयुक्त सविष अञ्जन के लक्षण तथा चिकित्सा—विषैले अञ्जन के प्रयोग से आँसू आना, नेत्र से नेत्रमल (कीचड़) का

निकलना, आँखों में जलन, वेदना, दृष्टिभ्रम तथा अन्धापन भी हो जाता है। इस अवस्था में तुरन्त घी का पान करावे, पिप्पली से युक्त तर्पण का पान करे। मेषशृंगी तथा वरुण के गोंद का अञ्जन करे। मुष्ककः अजकर्ण (साल), समुद्रफेन आदि को गाय के पित्त में मिलाकर नेत्रों में अञ्जन करे। कैथ, मेषशृंगी या भल्लातक (भिलावे) के पुष्प अथवा दुपहरिया, अकोठ आदि के फूलों में से किसी एक को घिसकर उसमे अञ्जन करे॥ ६९-७१॥

विमर्श—पिप्पली कल्क से सिद्ध घृत का तर्पण पीवे या नेत्रों का तर्पण करे। इस प्रकार पिप्पली से सिद्ध घृत से अक्षितर्पण करने से भी बड़ा लाभ होता है। चरककार ने भी अञ्जनगत विषप्रयोग से होनेवाले लक्षणों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया है कि—दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहः स्रावोऽतिरुजोपदेहः शोथरागश्च। आवेदयेद्दोषं स्पृश्यैस्त्वग्दहनेन दुष्टेः॥ (च. चि. अ. २३।११६) अञ्जन में विष का प्रभाव-यदि दूषित अञ्जन आँख में आँजा जाय तो आँखों में दाह, स्राव, आँख से मैल का बहुत अधिक निकलना, नेत्र में सूजन और लाली होती है तथा विष से दूषित अन्न के खाने से कोष्ठ में तथा दुष्ट स्पृश्य (स्पर्श किए जाने वाले) द्रव्यों के स्पर्श से त्वचा में दाह होता है। इस प्रकार कोई भी विष अपने 'दाह' गुण के कारण तुरन्त ही जान लिया जा सकता है। इसी 'दाह' गुण को आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के विषविज्ञान में इरिटेशन (Irritation) या क्षोभ नाम से जाना जाता है जो कि खनिज तथा वानस्पतिक विषों का एक प्रधान गुण होता है।

शोफः स्रावस्तथा रुग्वा पादयोः स्फोटजन्म च॥७२॥
भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम्।
उपानत्पादपीठानि पादुकावत् प्रसाधयेत्॥७३॥

प्रयुक्त सविष जूते आदि के लक्षण तथा चिकित्सा—विषैले जूते, खड़ाऊँ आदि से पाँव में सूजन, स्राव, पावों का सोना (पादसुप्तता), छालों का उत्पन्न होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जूते, आसन आदि के लक्षण व चिकित्सा पादुका की भाँति ही होती है (जो आगे कही जायगी)॥

भूषणानि हृतार्चींषि न विभान्ति यथा पुरा।
स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः॥ ७४॥
पादुकाभूषणेपूक्तमभ्यङ्गविधिमाचरेत्।

सविष भूषणादि धारण करने पर लक्षण तथा चिकित्सा—विष के कारण आभूषण तेजरहित हो जाते हैं तथा पहले की भाँति दीप्तिमान नहीं रहते (पहले की भाँति नहीं चमकते)। जिस स्थान पर उनको धारण किया जाता है वहाँ पर जलना, पकना, अवदारण (फटना) उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार इसके तथा पादुका द्वारा विषाक्तता की अवस्था में अभ्यङ्ग के प्रसंग में कही गई चिकित्सा-विधि का प्रयोग करे॥ ७४-७५॥

विमर्श—चरककार ने भी इसी प्रसङ्ग में निम्नलिखित वर्णन दिया है कि—ते च करचरण दाहतोदकण्डूमाविपाकाश्च। भूपादुकाश्वगजचर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टाः॥ (च चि. अ. २३।११८) अर्थात् पृथ्वी, पादुका (खड़ाऊ, जूता) इत्यादि, सवारी के घोड़े, हाथी आदि के चर्म, केतु (पताका व अन्य राज्य चिह्न), शय्या, आसन (कुर्सी, बेञ्च, चौकी आदि) के विष से दूषित होने पर पूर्वकथित कण्डू आदि तथा हाथ-पैर आदि में दाह व तोद होता है तथा क्रम एवं विपाक (त्वचा का पक जाना) भी होता है। इसके अलावा चरककार ने निम्नलिखित वर्णन सुश्रुत की अपेक्षा कुछ अधिक ही दिया है जो प्रासङ्गिक होने के कारण उल्लेखनीय भी है यथा—कूपतडागादिजल दुर्गन्ध सकलुष विवर्ण च। पीत श्वयथु कोठान्पिटकाश्च करोति मरण च॥ (च. चि. अ २३।१२०) अर्थात् कुएँ या तडाग (तालाब) आदि के जल में यदि विष मिला हो तो वह दुर्गन्धयुक्त, मलिन और विकृत वर्ण का होता है। उस जल को पीने से शोथ, कोठ, पिडिकाएँ और यहाँ तक की मृत्यु भी हो जा सकती है।

विषोपसर्गो बाष्पादिर्भूषणान्तो य ईरितः॥ ७५॥
समीक्ष्योपद्रवांस्तस्य विदधीत चिकित्सितम्।
महासुगन्धिमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक्॥ ७६॥
पानालेपननस्येषु विदधीताञ्जनेषु च।
विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात् प्रच्छर्दनानि च॥ ७७॥
सिराव्यधयेत् क्षिप्रं प्राप्त विस्रावणं यदि।
मूषिकाऽजरुहा वाऽपि हस्ते बद्धा तु भूपतेः॥ ७८॥
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम्।

पूर्वोक्त विषों का उपद्रव होनेपर अवस्थानुसार चिकित्सा का निर्देश—बाष्प से आरम्भ कर आभूषण पर्यन्त यह जो विष के उपद्रव कहे गये हैं उन उपद्रवों को देख व समझकर उनकी चिकित्सा करे। महासुगन्धि अगद जिसको मैं यहाँ कहता हूँ उसे वैद्यगण पान, आलेपन, नस्य और अञ्जन आदि में प्रयुक्त करें तथा तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन देवें। यदि उचित प्रतीत हो तो अथवा रोगी की अवस्था इस योग्य हो तो सिरावेध करके तुरन्त रक्तमोक्षण (Blood letting) करे। राजा के हाथ में बाँधी हुई मूषिका (अजरुहानामक औषधि) सभी विषैले अन्नों को विष रहित बना देती है॥ ७५-७९॥

विमर्श—अजरुहानामक औषधि के लक्षण आचार्य डल्हण ने निम्न बताए हैं यथा—'अजरुहालक्षणमुशनसा प्रोक्तम्—कन्द श्वेत सपिठको भेदे चाञ्जनसन्निभः। गन्धलेपनपानैस्तु विष जरयते नृणाम्॥ दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विष मोहिना। विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता॥ मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत् साऽपि च तद्गुणा॥'—इति।

हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः॥ ७९॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृताख्यं च बुद्धिमान्।
सर्पिर्दधि पयः क्षौद्रं पिबेद्वा शीतलं जलम्॥ ८०॥
मयूरान्नकुलान् गोधा. पृषतान् हरिणानपि।
सततं भक्षयेच्चापि रसांस्तेषां पिबेदपि॥ ८१॥

हृदय पर विषव्याप्ति के प्रतिषेध का निर्देश—बुद्धिमान् नृपति मित्रों के बीच में बैठा हुआ अपने हृदय की रक्षा के हेतु सदैव तत्पर रहे। अजेयघृत, व अमृतघृत का पान करता रहे। घी, दधि, दूध, मधु या शीतल जल का पान करे। मोर, नेवला, गोधा (गोह), चित्तल हरिण या हरिणों के मांस का निरन्तर सेवन करता रहे तथा इनके मांसरसों को पीता रहे॥ ७९-८१॥

विमर्शः—चरककार ने भी (च. चि. अ. २३।२३८-२३९) में 'हृदयावरण' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—हृदयावरण—सूक्ष्म ताम्रजस्तस्मै सक्षौद्र हृद्विशोधनम्। शुद्धे हृदि ततः शीघ्रं हेमचूर्णस्य दापयेत्। हेम सर्वविषाण्याशु गराश्च विनियच्छति। न मज्जते हेमपात्रे विष पद्मदलेऽम्बुवत्॥' इस प्रकार उक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए आचार्य डल्हण का कहना है कि-हृदयावरण हृदयप्रच्छादन हृदयरक्षाकारिमिमूषिकाऽजहाऽहृताऽजेपुराघृतघृतीविषारिमहाशुनन्धिशिग्वीयूषतीक्ष्णविषघ्नधारणादिभिः। मण्डूक कुष्ठमित्यादिकमजेयाख्यम्, अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीरित्याद्यघृत घृत, मरिचादीनि प्रत्येक चत्वारि पञ्च वा हृदयावरणानि पिबेदिति।

गोधानकुलमांसेषु हरिणस्य च बुद्धिमान्।
दद्यात् सुपिष्टां पालिन्दीं मधुकं शर्करां तथा॥ ८२॥
शर्करातिविषे देये मायूरं समहौषधे।
पार्पते चापि देया. स्युः पिप्पल्यः समहौषधाः॥ ८३॥
सक्षौद्रः सघृतश्चैव शिग्वीयूषो हित. सदा।
विषघ्नानि च सेवेत भक्ष्यभोज्यानि बुद्धिमान्॥ ८४॥

भक्ष्य भोज्य पदार्थों में विषघ्न द्रव्यों के योग की विधि—गोधा (गोह), नकुल (नेवला) और हरिण के मांसों में, त्रिवृत्, मुलहठी, शर्करा को बारीक पीस कर मिला देवें और फिर सेवनार्थ प्रयुक्त करें। मोर के मांस, शर्करा, अतीस तथा सोंठ को मिला कर सेवन करावें। घी और मधु के साथ शिग्वी (सेम की फली) का यूष सदैव देना हितावह होता है। बुद्धिमान मनुष्य विषघ्न द्रव्यों के साथ भक्ष्य तथा भोजनादिक का सेवन करे॥ ८२-८४॥

विमर्श.—चरककार ने भी हृदय की रक्षा का विधान बताते हुए लिखा है कि—

'आदौ हृदय रक्ष्य तस्यावरण पिबेद्यथालाभम्। मज्जान मधु घृतगैरिकमथ गोमयरस वा। इक्षु सूपकमथवा काक निष्पीड्य तद्रस वहलम्। छागादीना वाऽसृग्भस्म मृद वा पिबेदाशु॥' अर्थात्-वमन अथवा विरेचन कराने आदि के सब उपक्रमों से पूर्व हृदय की रक्षा करनी परमावश्यक है, उसकी रक्षा के लिए हृदयरक्षक औषधि जो उस समय प्राप्त हो सके पीनी चाहिए। यथा रोगी मज्जा पी सकता है, मधु चाट सकता है तथा उसे घृतपान कराया जा सकता है। अथवा शुद्ध गैरिक (स्वर्ण गैरिक) को जल में घोल कर दिया जाता है। ताजे गोबर का रस भी पिलाया जाता है। रोगी भली प्रकार पकी हुई ईख का रस भी पी सकता है अथवा कौए के सस्विन्न मांस को निचोड़ने से जो रस प्राप्त हो उसे पिला सकते हैं—यह मांसयूष बलकारक भी होता है। अथवा बकरे आदि का ताजा रुधिर रोगी को पिलावे अथवा भस्म (गोबर की राख) या वल्मीक की काली मिट्टी को ही जल में घोल कर पिलाने का भी विधान है। इसी प्रसङ्ग में अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी निम्नलिखित मत व्यक्त किया है यथा—विष कर्षति तीक्ष्णत्वाद् हृदय तस्य गुप्तये। पिबेद् घृत घृतक्षौद्रमगद वा घृतप्लुतम्॥ मज्जानं गोमयरस भस्माम्भ कृष्णमृत्तलम्। ऐक्ष्वं पक्षिरस वा वा॥ खादेद्वा कौविदाराकशिरीषकटभीच्छदान्। छागमेषव हारिणशुष्कविष्कोषित.॥ पिबेद्युगर्भिणी शीतमधुरान् पायसागदान्। तथा मूर्च्छादिषो न स्युर्विष चाददीति नानिलान्॥' और आलम्बायन महोदय का भी प्राय. यही मत है यथा—या शिराः सर्वगात्रेषु हृदये सम्प्रतिष्ठिताः। नाभिरस्य विष सर्वं हृदय सम्प्रधावति॥ घृतेन तु प्रतिच्छन्न विष नाभि प्रपीडयेत्। निर्वाग्जनन सर्पिः प्राणिना प्राणवर्धनम्॥ हृदयावरणास्तद्वद्रक्ष्या भोज्याश्च सर्वत.॥ और आजकल भी यही धारणा वैद्यों में प्रचलित है कि जब वे सक्रिया आदि का प्रयोग कराते हैं तो उसके विष प्रभाव का निराकरण करने के हेतु मक्खन वा घृत को प्रचुर मात्रा में सेवन कराने की व्यवस्था भी कर देते हैं जिससे प्रकारान्तर रूप से हृदयावरण अथवा हृदय का सरक्षण भी होता रहता है। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में विषाक्त रोगी की चिकित्सा की विधि निम्नलिखित पाई जाती है। जैसा कि 'A Test book of Medical gurisprudence and toxicology में वर्णित है, यथा—A medical practitioner should always have an emergency case ready for cases of poisoning, so that he may beable to adopt immediate treatment without loss of time The treatment should be based on the following principles —1 Removal of unabsorbed poison from the body. 2 Use of antidotes. 3 Elimination of poison absorbed into the system. 4 Treatment of the general symptoms 1 Removal of unabsorbed poison —If a person has been introduced into a wound subsequently as a result of bites or stings, a ligature should immediately be applied above the wound, which should then be excised or sucked provided there is no abrasion or ulcer in the mouth ..... .If a poison has been taken into the stomach, it should be removed by washing out the stomach with a stomach tube (syphon tube) or stomach pump ..... when the stomach tube or pump is not available, or when a patient is conscious, and does not wish to have it passed in to the stomach free emesis should be produced by tickling the fauces with the finger, afeather or a leafy twig of a tree The vomitted matter must be kept for chemical analysis The following emetics may also be administered — 1 Copious draughts of warm water 2 A table spoonful of groundmustard or two table spoonful of common salt in half apint of warm water. 3 Half a drachm of sulphate of zinc in a tumblerful of warm water to be repeated in a quarter of an hour, if necessary 4. Twenty to thirty grains of ipecacuanha powder, or two to six drachms of ipecac. wine In the cae of a child syrup of ipecac from half a tea-spoonful to two tea spoonfuls, according to the age is to be preferred as it is easy of adminisrtaion 5 Fifteen to thirty grains of Ammonium carbonate dissolved in water 6 Five to ten grains of copper sulphate dissolved

in water, but it should not be used except in cases of poisoning by phosphorus 7. One tenth grain of apomorphine hydrochloride hypodermically. This acts promptly and produces vomitting with in three or four minutes, but it causes great prostration and its effects are occasionally greatly prolonged. Hence it must be used with caution. 2 Use of Antidotes :—Antidotes are remedies which counteracts the effects of poisons. They are devided in Mechanical, chemical and physiological. Mechanical antidotes are those which render poisons inert by mechanical action, is charcoal acts mechanically by absorbing and retaining within its pores organic and also to a less degree, mineral poisons. Fats, oils and egg albumin prevent the actionof the poison by forming a coating on the mucous membrane of the stomach. Bulky food acts as a mechanical antidote to glass as it prevents its action by imprisoning its particles with in its meshes. Chemical antidotes are those which counteract the actions of poisons by forming harmless or insoluble compounds when brought in to contact with them The examples are acids for alkalies, alkaline carbonates and magnesia for mineral acids lime for oxalic acid, sodium sulphate for lead and tannin andalbumin for alkaloids . . A very important chemical antidote for organic poisons is potassium permanganate owing to its oxidizing properties . . The following formula is a useful chemical antidote which is recommended in cases where the nature of the poison swallowed is not definitely known, or in cases where it is suspected that a combination of two or more poisonous substances had been taken .—Powdered charcoal .. .2 parts. Tannic Acid... 1 part Magnesia (Magnesium oxide).. .... 1 part These drugs are mixed together, and the mixture is adminstered in the doses of a teaspoonful stirred up in a tumbler ful ofl water, to be repeated frequently. Charcoal has the property of absorbing alkaloids Tannic acid precipitates alkaloidsglucosides and many of the metals Magnesia neutralizes acids, and is used as an antidote to arsenic, if hydrated ferric oxide is not at hand Physiological antidotes or antagonists are those which act on the tissues of the body and produce symptoms exactly opposite to those caused by the poison acting on the same tissues ie Atropine and physiostigmine, atropine and pilocarpine Strychnine and bromides with chloral hydrate, digitalis and aconite and chloroform and amyl nitrites 3. Elimination of Absorbed poisons –The poison which has been absorbed into the system should be eliminated by the natural emunetory channels by giving hot baths, warm packs, diuretics and purgatives (when not contra indicated.) 4 Treatment of General symptoms :—Pain in the stomach due to the irritation of the gastric mucous membrane should be relieved by the administration of anodynes and demulcents If it is very severe, one fourth grain of morphine should be administered hypodermically Shock and collapse should be combated by warmth to surface in the form of friction, a hot bath or hot bottles or by hypodermic injection of stimulants in the form of sulphuric ether, strychnine, digitalis or cuffine Water containing 40 grains of sodium chloride to the pint and sweetened with glucose should be given frequently by the mouth, if there is dehydration owing to intense vomitting or diarrhoea. If the water can not be retained by the mouth, an enema of two pints of warm normal saline should be administered. In severe cases it is advisable to administer intravenously normal saline particularly by the drip method. It also dilutes the poison in the blood and promotes its elimination from the system, especially by the kidneys. Respiratory failure should be treated by the hypodermic injection of atropine or strychnine by artificial respiration and by inhalation ofoxygen and carbon dioxide Coma should be treated by the hypodermic injection of 1/8 garin of strychnine, by the intravenous or intramuscular injection of 5 to 15 C C of a 2% solution of coramine and by lumbar puncture In a case where coma is prolonged, an intravenous injection of normal saline may be adminstered continuously by the drip method Convulsions should be controlled by chloroform or by a drug belonging to the borbituric acid group (Med. gurisprudence and Toxicology–by J P modi 3 th edition. P. P. 431–434.)

उपर्युक्त गद्यांश का भावार्थ निम्न लिखित है:—विषाक्त रोगी की चिकित्सा:—विषाक्त रोगी की चिकित्सा करते समय निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। विषाक्त पुरुष के विष को नष्ट करना ही विषचिकित्सा का प्रधान उद्देश्य होता है। अतः निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार विषाक्त रोगी की चिकित्सा की जाती है। (१) अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना। (२) प्रतिविषों का प्रयोग। (३) शरीर के संस्थानों में शोषित हुए विष को बाहर निकालना। (४) लाक्षणिक

चिकित्सा—(१) अशोषित विष को शरीर से बाहर निकालना।—इस उद्देश्य से निम्न उपाय करना चाहिए। (अ) आमाशय-प्रक्षालन। (ब) वमन कराना। (स) अन्य क्रियाएँ। (अ) आमाशय-प्रक्षालनः—यदि रोगी ने विष सेवन मुख मार्ग से किया है और यदि इस बात का पता शीघ्र ही चल जावे तो सबसे पहले रोगी के आमाशय का प्रक्षालन 'प्रक्षालन नलिका' अथवा 'पम्प' से करना चाहिए। (ब) वमन कराना:—यदि रोगी होश में हो और तीव्र दाहक विष की आशंका न हो तो अशोषित विष को बाहर निकालने के लिए रोगी को तुरन्त वामक औषधियों में से किसी के द्वारा वमन कराना चाहिए। वामक औषधियाँः—

१ सैन्धव लवण १½ तो०, उष्णोदक ४ छटाँक घोल कर रोगी को पिला देना चाहिए।

२ राई का चूर्ण १½ तो०, जल ४ छटाँक मिला कर पिला देना चाहिए।

३. जिंक सल्फेट १½ माशा, जल ४ छटाँक घोल कर पिला देना चाहिए।

४. टिंचर इपीकाक ४ से ६ ड्राम, उष्णोदक ४ छटाँक मिला कर देना चाहिए।

५ तुत्थ ३ से ५ रत्ती तक उष्णोदक ४ छटाँक घोल कर पिला देना चाहिए (केवल फास्फोरस की विषाक्तता में)

६. एपोमार्फीन ⅟₁₀ रत्ती जल में घोल कर अधस्त्वक्-सूचीवेधन करना चाहिए।

अन्य वामक औषधियाँ—मैनफल, मुलहठी, कटुतुम्बी, नीम, इन्द्रायण, कुटज की छाल, मूर्वा, देवदाली, वायविडङ्ग, चित्रकमूल, तुरई, अर्कमूल, अरिष्टक, लवण, राई, सरसों, करंज, उष्ण जल आदि। अन्य क्रियाएँ—(१) यदि सर्प के डसने अथवा विषैले कीटादि के दंश से विष शरीर में प्रविष्ट हो गया हो तो क्षतस्थान से ऊपर तुरन्त एक बन्धन बाँध कर यदि मुख पर किसी प्रकार का क्षत अथवा खरोंचन आदि न हो तो विष को मुख से चूसना चाहिए। (२) प्रतिविषों का प्रयोगः—प्रतिविष तीन प्रकार के होते हैं। १ यान्त्रिक प्रतिविष, २. रासायनिक प्रतिविष, ३. क्रियाविरुद्ध प्रतिविष। १-यान्त्रिक प्रतिविष—मणि, कांच आदि का चूर्ण जब मुख के द्वारा सेवन कर लिया जाता है, तब वह अन्दर पहुँच कर अपनी यान्त्रिक क्रिया के कारण आमाशय और आन्त्र की श्लैष्मिक कलाओं पर आघात पहुँचाता है और उन्हें स्थान-स्थान पर क्षत-विक्षत कर देता है जिसके परिणाम स्वरूप रक्तस्राव होता है और पीड़ा होती है किन्तु यदि स्निग्ध पदार्थ जैसे वसा, तैल, अण्डे की सफेदी (अल्ब्युमिन) आदि का उपर्युक्त विषों का भक्षण करने के तुरन्त बाद अथवा उसके कुछ देर के बाद सेवन किया जाय तो आमाशय आदि की श्लैष्मिक कलाएँ क्षतयुक्त होने से बचाई जा सकती हैं। वसा, तैल आदि आमाशय और आन्त्र में पहुँच कर वहाँ की श्लैष्मिक कला पर एक आवरण की तरह चढ़ जाती है जिससे मणि, काच आदि की यान्त्रिक क्रिया फिर नहीं हो पाती। वानस्पतिक या खनिज विषों को आमाशय में निष्क्रिय करने के लिए सूक्ष्म पीसे हुए कोयले का चूर्ण खिलाया जाता है। २-रासायनिक प्रतिविषः—(१) यदि अम्लीय पदार्थों का विष के रूप में सेवन किया गया हो तो उसके लिए क्षारीय पदार्थों का प्रयोग प्रतिविष के रूप में कराना चाहिए और यदि क्षारीय पदार्थों का विष के रूप में प्रयोग किया गया हो तो अम्लीय पदार्थों को देना चाहिए। (२) खनिज अम्लों के लिए मैग्नीशिया और कार्बोनेटम देना चाहिए। (३) ऑक्जेलिक (तिमिक) अम्ल के लिए चूना। (४) नाग और टैनिन विषों के लिए सोडियम सल्फेट। (५) रसकर्पूर विष के लिए एलब्यूमिन। (६) दाहक क्षारीय विषों के लिए नींबू का रस अथवा सिरका। किन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि ऐसे प्रतिविषों का सेवन कराना चाहिए जिससे शरीर पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव न हो। ३—क्रिया विरुद्ध प्रतिविषः—(१) एट्रोपीन के लिए मार्फिया। (२) एट्रोपीन के लिए पिलोकार्पीन। (३) स्ट्रिकनीन के लिए ब्रोमाइड्स, क्लोरल हाइड्रेट के साथ। (४) डिजिटेलिस के लिए वत्सनाभ। (५) क्लोरोफार्म के लिए एमिल नाइट्राइट।

निम्नलिखित रासायनिक प्रतिविष अत्यन्त लाभप्रद हैं—

सुचूर्णित कोयला २ भाग, टैनिक एसिड १ भाग, मैग्नीशियम ऑक्साइड १ भाग मिला कर रख देना चाहिए।

आवश्यकता पड़ने पर इसमें से ३½ माशे लेकर ४ छटाँक जल में मिलाकर देना चाहिए। इसकी पुनः दूसरी मात्रा दी जा सकती है। कोयला क्षाराभों का शोषण करा देता है—टैनिकएसिड, क्षाराभों, शर्कराभों या अन्य धातुओं का अवक्षेपण करता है और मैग्नेशिया अम्लों को निष्क्रिय करता है तथा फेनाग्म (सफिया) के प्रतिविष के रूप में प्रयुक्त होता है। (३) शरीर के संस्थानों में शोषित हुए विष को बाहर निकालना।—इसके लिए स्वेदल, मूत्रल अथवा विरेचक औषधियों का प्रयोग उचित अनुचित विचार कर यथास्थान करना चाहिए। (४) लाक्षणिक चिकित्सा—१. पीड़ा कम करने के लिए मुजाहर और स्निग्ध औषधियाँ देनी चाहिए अथवा मॉर्फिया का सूचीवेधन करना चाहिए। २. स्तब्धता और हृदयावसाद की अवस्था में शरीर का ताप बनाए रखने के लिए उष्णोदक से भरी हुई बोतलों से उष्णता पहुँचानी चाहिए। अथवा तैलों से अभ्यङ्ग करना चाहिए और शरीर में उत्तेजना पहुँचानी चाहिए। इसके लिए 'स्ट्रिकनीन' ⅟₃₀ ग्रेन, अथवा 'कैम्फर इन आयल' अथवा कैम्फर इन ईथर का इञ्जेक्शन लगाना चाहिए। ३. शिरामार्ग से लवणोदक (नार्मल सैलाइन) का प्रयोग उचित अवस्था में करना चाहिए। ४. श्वासावरोध की अवस्था में ऑक्सीजन की व्यवस्था करनी चाहिए। ५. श्वासकर्म में बाधा पड़ने पर 'कृत्रिम श्वासक्रिया' करनी चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर एट्रोपीन अथवा स्ट्रिकनीन का त्वचा के नीचे इञ्जेक्शन लगाना रोगी के हित में लाभदायक होता है।

पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसाम्बुभिः ।
छर्दयेद् गुप्तहृदयो भक्षिते यदि वै विषम् ॥ ८४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽन्नपानरक्षाकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

विषभक्षण करने पर वमन प्रयोग—यदि रोगी ने विष पान किया हो तो विषघ्न वस्तुओं से हृदय को ढक कर, पिप्पली

मुलैठी, मधु, शर्करा, दूध का रस, जल आदि का सेवन करा कर वमन करावे ॥ ८५ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य का भी इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित मत है—आशयामाश्रये वमन त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि। व्याधिप्रकृतिज्ञस्तु दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ॥ (च. चि. अ. २३।१२१) अर्थात् यदि विष आमाशय गत हो तो आदि (प्रारम्भ) में वमन कराना चाहिए। यदि त्वचा में स्थित हो अर्थात् विष का बाह्य प्रयोग हुआ हो तो प्रदेह और परिसेचन आदि का प्रयोग कराया जाता है। अतः विज्ञ चिकित्सक को चाहिए कि वह दोष बल आदि को देख कर चिकित्सा करे। इसके अलावा एक और स्थान पर आचार्य कहते हैं कि—पीतवमनैः सद्यो हरेद्विरेकैर्वितीये तु ॥ (च. चि. अ. २३।१२) जब विष पिया ही गया हो तो उसे वमन द्वारा निकाल देना चाहिए। दूसरे वेग में विरेचन कराना चाहिए अर्थात् जब विष आमाशय से निकल कर आगे चला गया हो तो तब विरेचन द्वारा ही वह शरीर के बाहर निकाला जा सकता है।

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽन्नपानरक्षाकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

स्थावर विषविज्ञान का उपक्रम—अब इसके आगे स्थावर-विषविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—वनस्पति जगत (Vegitable kingdom) से अर्थात् वृक्ष, लता आदि से प्राप्त होने वाले विष अथवा विषों को स्थावर विष (Vegetable poisons) कहा जाता है। इसी प्रकार जङ्गम जगत (Animal kingdom) अर्थात् सर्प आदि प्राणियों में पाए जाने वाले विष को जङ्गम विष कहा जाता है। धातुओं अथवा खनिजों से प्राप्त होने वाले विषों का समावेश भी स्थावर विषों में कर लिया जाता है अतः स्थावर विष से पूर्व अचेतन जगत् जिसके अनुसार (Vegetable and mineral or metallic poisons) का ज्ञान हो जाता है।

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥ ३ ॥

विष के दो प्रकार—स्थावर और जंगम भेद से विष दो प्रकार का है। इसमें स्थावर विष के दस आश्रय स्थान हैं और जंगम विष के अधिष्ठान सोलह होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने विष के दो भेद बताते हुए कहा है कि—जङ्गमस्थावरायां तयोर्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्। तदभ्युसम्भव तस्माद् द्विविधं पावकोपमम् ॥ (च. चि. अ. २३।५) तत्पश्चात् ब्रह्मा ने उस विष को स्थावर और जङ्गम योनि में विभक्त कर दिया अतएव वह जल से उत्पन्न होने वाला विष दो प्रकार का हो गया १-स्थावर २-जंगम विष। विष अग्नि के समान दाह करने वाला होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन संहिताओं में अधिष्ठान (आश्रय) के भेद से स्थावर और जंगम (प्राणिज) भेद से दो प्रकार के विष लिखे हैं और पीछे के रसतंत्रों के आचार्यों ने विष तथा उपविष नाम से दो भेद किए हैं। स्थावर जंगम भेदों को अकृत्रिम अथवा प्राकृतिक विष कहते हैं इनके अतिरिक्त गरविष नाम का कृत्रिमविष भी कहा गया है। अष्टांगहृदय के रचयिता आचार्य ने भी विष की दो योनियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—स्थावरं जङ्गमं चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम्। कृत्रिमं गरसञ्ज्ञन्तु क्रियते विविधैर्विषैः॥ (अष्टाङ्गहृदय उत्तरतन्त्र अ. ३७।५) विषों का वर्गीकरण अनेकों प्रकार से हुआ है इनमें प्राचीन व अर्वाचीन विद्वानों के वर्गीकरण में बहुत असमानता है। अर्वाचीन आचार्यों में भी कई मत हैं किन्तु क्रियानुरूप वर्गीकरण अधिक प्रचलित है यथा—१ दाहक (Corrosives) २ क्षोभक (Irritants), १. दाहक-यह अधिकतर आम्लिक (Acid) तथा क्षारीय (Alkalies) होते हैं। ये रासायनिक पदार्थ अपनी तीव्र क्रिया के कारण शारीरिक धातुओं के सम्पर्क में आते ही संहारक क्रिया को तुरन्त प्रारम्भ कर देते हैं। इससे दारुण पीड़ा होती है परन्तु प्रायः शोथ नहीं होता, ये क्रियाएँ उनकी तीव्रता के अनुरूप लक्षण पैदा करती हैं। यथा गन्धकाम्ल (Sulphuric acid, H_2SO_4) २. क्षोभक (Irritants) यह शरीर में क्षोभ तथा शोथ उत्पन्न करते हैं। खाने पर दाह, वमन, रेचन तथा रक्तवमन आदि लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। इसके अधिष्ठान तथा स्थानिक क्रिया के आधार पर अनेकों भेद हैं। अधिष्ठान भेद से—खनिज (Ore) संखिया (Arsenic), अञ्जन (Antimony), पारद (Mercury), सीस (Lead), ताम्र (Copper), यशद (Zinc) रजत (Silver), बिस्मथ (Bismuth), हीरक (Diamond), कांच (Glass), फास्फोरस (Phosphorus) तथा वानस्पतिक (Vegitable), जमालगोटा (Purging croton), मदार (अर्क) (Calotropis gigantica), भिलावा (Marking nut), इन्द्रायण (Colocynth), कुचला (Strychnos nux vomica), वत्सनाभ (Aconite), जन्तु (Animal), सर्पविष (Snake venom), वृश्चिक दंश (Scorpion), कीट दंश, कैथेराइड तथा खाद्यजन्य विष (Ptomains), वायुमण्डलगत-कार्बन डाइ ऑक्साइड स्थानिक क्रियाभेद से:—१ मादक (Inebriants)—मद्य, ईथर, कपूर, तारपीन, कारबोलिक अम्ल इत्यादि। २ निद्राकर (Narcotic)—अहिफेन (Morphia). ३ प्रलापक (Deliriants)—धतूरा, खुरासानी अजवाइन, भाँग, बेलाडोना इत्यादि विष। ये विष विशेष रूप से मस्तिष्क को प्रभावित कर कार्य करते हैं। ४ संज्ञाहारक (Anaesthetising)—क्लोरोफार्म, हाइड्रेट, कोकेन, मार्फिया आदि। ५ सुषुम्ना पर प्रभाव करने वाले-कुचला (Strychnine) ६ हृदय पर प्रभाव करने वाले—तम्बाकू (Tobacco), अतिविषा, वत्सनाभ (Aconite) डिजीटेलिस और हाइड्रोसाइनिक एसिड आदि विष। ७ फुफ्फुस पर प्रभाव करने वाले.—कार्बनडाइ ऑक्साइड, कोलगैस (Coal gas) ८ नाड़ी मण्डल के प्रभावक विष—कोनियम, क्यूरारे (Curare) विष आदि। निम्न लिखित तालिकाएँ उपर्युक्त विषय को और अधिक समझने में सहायक सिद्ध होंगी, अतः—

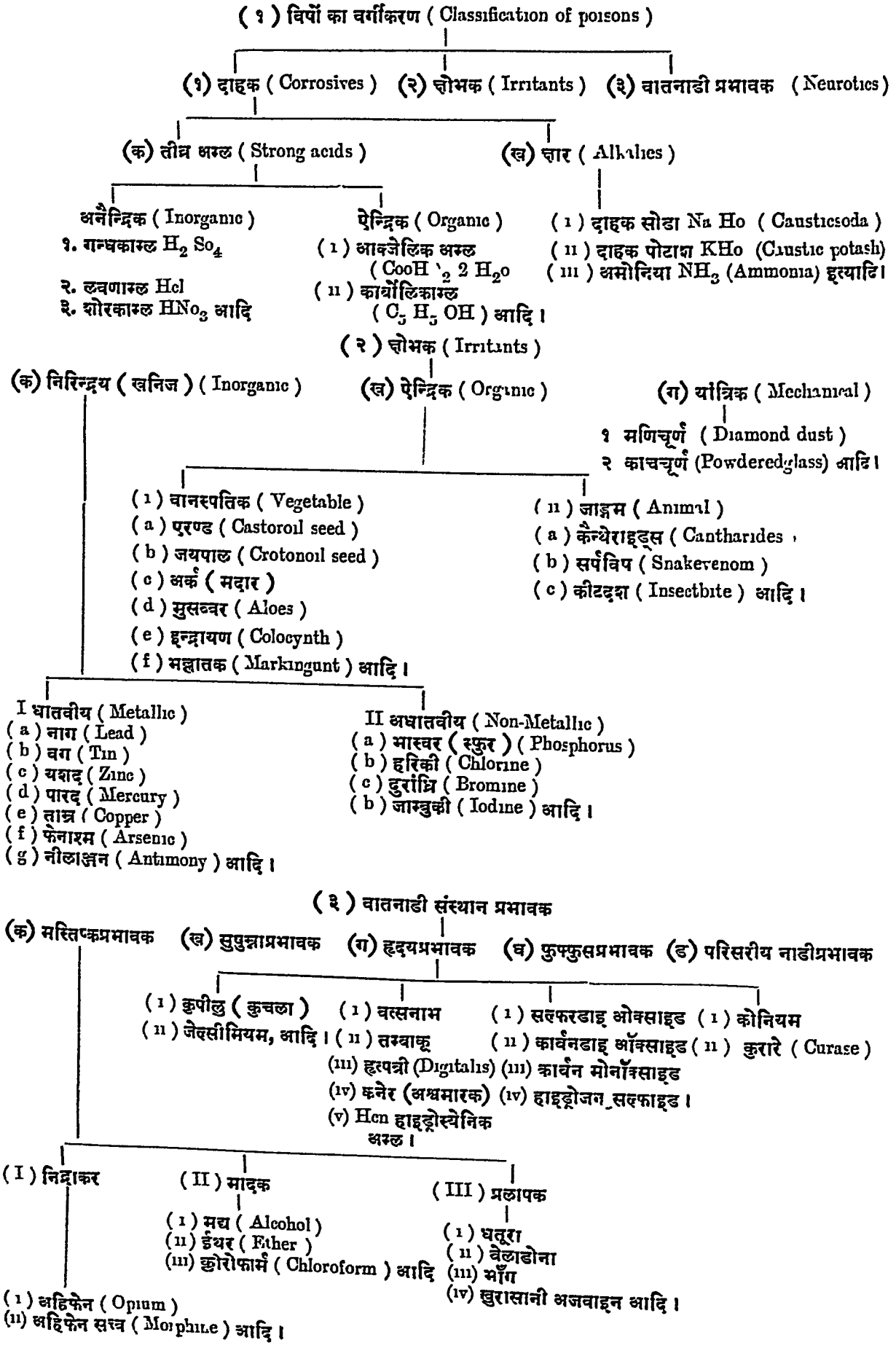
(१) विषों का वर्गीकरण (Classification of poisons)
(१) दाहक (Corrosives)
(२) क्षोभक (Irritants)
(३) वातनाडी प्रभावक (Neurotics)
(क) तीव्र अम्ल (Strong acids)
(ख) क्षार (Alkalies)
अनैन्द्रिक (Inorganic)
१. गन्धकाम्ल $H_2 So_4$
२. लवणाम्ल Hcl
३. शोरकाम्ल HNo_3 आदि
ऐन्द्रिक (Organic)
(१) आक्जेलिक अम्ल ($CooH_2 2 H_2o$
(११) कार्बोलिकाम्ल ($C_5 H_5 OH$) आदि।
(१) दाहक सोडा Na Ho (Causticsoda)
(११) दाहक पोटाश KHo (Caustic potash)
(१११) अमोनिया NH_3 (Ammonia) इत्यादि।
(२) क्षोभक (Irritants)
(क) निरिन्द्रिय (खनिज) (Inorganic)
(ख) ऐन्द्रिक (Organic)
(ग) यांत्रिक (Mechanical)
१ मणिचूर्ण (Diamond dust)
२ काचचूर्ण (Powderedglass) आदि।
(१) वानस्पतिक (Vegetable)
(a) एरण्ड (Castoroil seed)
(b) जयपाल (Crotonoil seed)
(c) अर्क (मदार)
(d) मुसब्बर (Aloes)
(e) इन्द्रायण (Colocynth)
(f) भल्लातक (Markingunt) आदि।
(११) जाङ्गम (Animal)
(a) कैन्थेराइड्स (Cantharides)
(b) सर्पविष (Snakevenom)
(c) कीटदंश (Insectbite) आदि।
I धातवीय (Metallic)
(a) नाग (Lead)
(b) वंग (Tin)
(c) यशद (Zinc)
(d) पारद (Mercury)
(e) ताम्र (Copper)
(f) फेनाश्म (Arsenic)
(g) नीलाञ्जन (Antimony) आदि।
II अधातवीय (Non-Metallic)
(a) भास्वर (स्फुर) (Phosphorus)
(b) हरिकी (Chlorine)
(c) दुरांभि (Bromine)
(b) जाम्बुकी (Iodine) आदि।
(३) वातनाडी संस्थान प्रभावक
(क) मस्तिष्कप्रभावक
(ख) सुषुम्नाप्रभावक
(ग) हृदयप्रभावक
(घ) फुफ्फुसप्रभावक
(ङ) परिसरीय नाडीप्रभावक
(१) कुपीलु (कुचला)
(११) जेल्सीमियम, आदि।
(१) वत्सनाभ
(११) तम्बाकू
(१११) हृत्पत्री (Digitalis)
(१v) कनेर (अश्वमारक)
(v) Hcn हाइड्रोस्येनिक अम्ल।
(१) सल्फरडाइ ओक्साइड
(११) कार्बनडाइ ऑक्साइड
(१११) कार्बन मोनॉक्साइड
(१v) हाइड्रोजन सल्फाइड।
(१) कोनियम
(११) कुरारे (Curase)
(I) निद्राकर
(II) मादक
(III) प्रलापक
(१) अहिफेन (Opium)
(११) अहिफेन सत्व (Morphine) आदि।
(१) मद्य (Alcohol)
(११) ईथर (Ether)
(१११) क्लोरोफार्म (Chloroform) आदि
(१) धतूरा
(११) बेलाडोना
(१११) भाँग
(१v) खुरासानी अजवाइन आदि।

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥ ४ ॥

स्थावर विष के १० अधिष्ठान—मूल, पत्र, फल, पुष्प, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु और कन्द ये दश स्थावर विष के अधिष्ठान हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी :—अग्नि पुराण में भी विष के स्थावर तथा जंगम दो भेद माने गए हैं यथा—द्विविधं विषमुच्यते। जङ्गमं सर्पमूषादि शृङ्गादि स्थावरं स्मृतम् ॥ (२९५।३)

तत्र, क्रौतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्षघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि; वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि; अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दननाराचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि; कुमुदन्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि; फेनाश्म (भस्म) हरितालं च द्वे धातुविषे; कालकूटवत्सनाभसर्षपपालककर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि;इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति ॥५॥

५५ स्थावर विषों का निर्देश—इसमें क्रौतक, कनेर, गुञ्जा, सुगन्ध, गर्गरक, करवाट, विद्युच्छिखा, विजया ये आठ मूल विष हैं। विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु, करम्भ और महाकरम्भ ये पाँच पत्रविष हैं। कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, भृगन्धा, सर्षघाती, नन्दन, सारपाक, ये बारह फल विष हैं। वेत्र, कादम्ब, वल्लीज, करम्भ और महाकरम्भ ये पाँच पुष्प विष हैं। अन्त्रपाचक, कर्त्तरी, सौरीयक, करवाट, करम्भ, नन्दन, नाराचक, ये सात त्वक् सार और निर्यास विष हैं। कुमुदन्नी, स्नुही, जालक्षीरी ये तीन क्षीर विष हैं। फेनाश्म और हरताल ये दो धातु विष हैं। कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्तक, शृङ्गीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष, कर्कटक ये तेरह कन्द विष हैं। इस प्रकार पचपन स्थावर विष हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—आचार्य गयदास द्वारा उपर्युक्त पाठ में कुछ परिवर्तन किए गये हैं यथा गयो तु गर्गरक-स्थाने अनन्ता इति पठति। नाराच स्थाने वल्लीज पठति, पालक-स्थाने वलाहनिति पठति ॥ इसी प्रकार 'रेणुका' के स्थान पर 'वेणुका' तथा 'जालक्षीरी' के स्थान पर 'क्षीरिणी' नामक पाठ के औचित्य को कई विद्वान स्वीकार करते हैं। कविराज हाराणचन्द्र महोदय 'नाराचक' के स्थान पर 'वराटक' तथा 'सर्षप' के स्थान पर 'सर्षपक' एवं 'प्रपुण्डरीक' के स्थान पर 'प्रपौण्डरीक' नामक पाठ को उचित मानते हैं। इसी प्रकार कई विद्वान 'फेनाश्म' से सखिया और कुछ विद्वान 'फेनाश्म' से 'फेनाश्म भस्म' का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। उपर्युक्त सभी विषों में केवल वत्सनाभ, शृङ्गी विष (सिंगिया विष) हरताल नामक विषों को आज का चिकित्सक समाज जानता है तथा औषधि योगों में प्रयुक्त भी करता है। इसी प्रकार क्रौतक (मुलेठी), विजया (भाँग), कनेर, गुञ्जा, स्नुही (सेहुण्ड) का दूध भी परिचित पदार्थ हैं किन्तु बाकी अन्य विषों को चाहे वनवासी कोल, भिल्ल, किरात या पहाड़ी चरवाहे आदि का समाज भले ही जानता हो किन्तु आज का चिकित्सक समुदाय इनसे अनभिज्ञ है। मुलेठी वामक होती है तथा सेहुण्ड का दूध विरेचक होता है जिसके फलस्वरूप ये तत्काल शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इसी प्रकार भाँग भी वामक गुणोंवाली होने के कारण शरीर के बाहर निकल जाती है। ऊपर के श्लोकों की टीका में बताया जा चुका है—पौधों के मूल, पत्र, फल आदि अधिष्ठान वाले विष स्थावर विष कहलाते हैं। शास्त्रों में स्थावर विषों के निम्नलिखित दस अधिष्ठान (आश्रय) तथा ५५ प्रकार लिखे हैं यथा—

अधिष्ठान	आश्रय
१ मूल विष	८
२ पत्र विष	५
३ फल विष	१२
४ पुष्प विष	५
५ त्वक्	७
६ सार	
७ निर्यास	
८ क्षीर विष	३
९ धातु विष	२
१० कन्द विष	१३
	योग ५५

सुश्रुतकार का मत उपर्युक्त सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा ही गया है। चरककार के मतानुसार—मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं वलाहकम्। कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम् ॥ पालकेन्द्रायुधं तैल मेचक कुशपुष्पकम्। रोहिषं पुण्टरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनामकम् ॥ सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥ (च. चि. अ. २३।१०-१२) अर्थात् मुस्तक, पौष्कर, क्रौञ्च, वत्सनाभ, (मीठा विष), वलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीर, पालक, इन्द्रायुध, तैल, मेचक, कुशपुष्पक, रोहिष, पुण्डरीक, लाङ्गलकी, अञ्जनाभ, सङ्कोच, मर्कट, शृङ्गी विष, हालाहल, इसी प्रकार अन्य जो विष मूलज हैं वे स्थावर विष हैं। स्थावर विषों में मूलविषों की प्रधानता के कारण उन्हें सामान्यत मूलज कहा जाता है। परन्तु पत्रविष, फलविष, क्षीरविष इत्यादि अन्य जो स्थावर विषों के अधिष्ठान भेद से विष हैं उनका भी मूलज विष से ही ग्रहण कर लिया जाता है। धातुविषों में सखिया, हरताल आदि का समावेश है। इस प्रकार चरककार ने २१ विष स्थावर विषों के भेद स्वरूप लिखे हैं। इन स्थावर विषों में मौलि (मूलज) विषों की प्रधानता होने के कारण चरककार ने उन्हें 'मूलज

विष' नामक सज्ञा प्रदान की है परन्तु वास्तव में इनमें सुश्रुतकार द्वारा कहे गए ८ मूल विषों के अतिरिक्त १३ कन्द विष भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार अष्टाङ्गसंग्रहकार के मतानुसार ५५ विष हैं जो सुश्रुतकार के मतानुकूल ही हैं। अष्टाङ्गहृदयकार के मतानुसार कालकूट, इन्द्रवत्स, शृङ्गी, हालाहल आदि चार कन्द विषों का ही अत्युग्र विषों के उदाहरण स्वरूप निर्देश है। शार्ङ्गधर, धन्वन्तरि निघण्टु-कार तथा आचार्य भावमिश्र के मतानुसार विषवर्ग में वत्सनाभ, हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृंगिक, कालकूट, हालाहल और ब्रह्मपुत्र इन ९ कन्द विषों का तथा सेहुण्ड, अर्क (आक), कनेर, कलिहारी, धतूरा, गुञ्जा और अफीम इन सात उपविषों का निर्देश मिलता है। इस प्रकार मौल विषों, जिनका प्राचीन वर्णन प्राप्त है, उन्हें नीचे श्लोकों में दिया जा रहा है:—वत्सनाभ—सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः॥ हारिद्र—हरिद्रातुल्यमूलो यो हारिद्रः स उदाहृतः। साक्तुक—यद् ग्रन्थिः सक्तुकेनैव पूर्णमध्यः स सक्तुकः। प्रदीपन—प्रदीप-लोहितो यः स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभः। महादाहकर पूर्वैः कथितः स प्रदीपनः॥ सौराष्ट्रिक—सुराष्ट्रविषये यः स्यात्स सौराष्ट्रिक उच्यते। शृंगक विष—यस्मिन् गोशृङ्गके वद्धे दुर्गन्धं भवति लोहितम्। स शृङ्गक इति प्रोक्तो द्रव्यतत्त्वविशारदैः॥ कालकूट—देवासुररणे देवैर्हतस्य पृथुमालिनः। दैत्यस्य रुधिराज्जातः तरुरश्वत्थसन्निभः॥ निर्यासः कालकूटोऽस्य मुनिभिः परिकीर्तितः। सोऽहिच्छत्रे शृङ्गवेरे कोङ्कणे मलये भवेत्॥ हालाहल—गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्र-च्छदस्तथा। तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः॥ असौ हालाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये। दक्षिणाब्धि तटे देशे कोङ्क-णेऽपि च जायते॥ ब्रह्मपुत्र—वर्णतः कपिलो यः स्यात् तथा भवति सारकः। ब्रह्मपुत्र स विज्ञेयो जायते मलयाचले॥ यद्यपि हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक तथा ब्रह्मपुत्र का नाम तो प्रकृत संहिता में नहीं दिया हुआ है परन्तु प्रधानतया उपर्युक्त इन्हीं नौ विषों के स्वरूप का वर्णन प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। चरकोक्त लाङ्गली तथा कनेर प्रायः प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त गुञ्जा, कुचला, अफीम, भाँग तथा धतूरा आदि जिनका वर्णन चरककार ने भी नहीं दिया है वे भी प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार हरिताल और संखिया को भी सभी चिकित्सक जानते हैं अतः उनका वर्णन विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है। प्राचीन सहिताओं में विष का जो विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है उसकी अपेक्षा पीछे के लिखे हुए सग्रह ग्रथों में विषों का बहुत थोड़ा वर्णन दिया गया है। विषों के भेद, सख्या तथा परिचय आदि को पश्चात्कालीन वैद्य सम्भवतः भूल गये थे और इसका कारण यह था कि विषों की उत्पत्ति अधिकतर दुर्गम पर्वतों और वनों में होती है अतः वहाँ जाकर वहाँ के निवासियों से उन विषों का परिचय प्राप्त करने का परिश्रम पीछे के वैद्य बन्धुओं ने नहीं किया था। यहाँ तक कि सुश्रुत सहिता के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य डल्हण को भी इनका परिचय नहीं था उन्होंने स्वय लिखा है कि 'मूलादि विषायन यत्न परैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरादिभ्यो ज्ञेयानि॥' इसी प्रकार उनके पूर्ववर्ती अष्टाङ्गहृदयकार वाग्भट को भी इन विषों का सम्यक् परिचय ज्ञात नहीं था। सहिताकारों के बहुत समय बाद रससिद्धों ने पारद के सस्कार करने के लिए औषधियों के साथ साथ विषों की भी खोज की और उनका निर्देश विषवर्ग में भी किया है। उन्होंने वत्सनाभ आदि तीव्र कन्द विषों को महाविष अथवा विष के नाम से तथा कलिहारी आदि मूलविष और थूहर आदि क्षीर विष, कुचला आदि मूलविष को उपविष के नाम से वर्णित किया है। रसार्णव, रसेन्द्रचूड़ामणि, रसरत्नाकर, रसरत्नसमुच्चय, रससार तथा राजनिघण्टु में भी विषवर्ग में पाँच महाविषों का निर्देश प्राप्त होता है जो शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखाते हैं यथा—सक्तुक कालकूट च सितमुस्त तथैव च। शृङ्गी कृष्णविष चैव पञ्चैते तु महाविषाः॥ (रसार्णव ५।३३) शृङ्गिक कालकूट च वत्सनाभं च सक्तुकम्। पीत च विषवर्गोऽयं प्रवरः परिकीर्तितः॥ (रसेन्द्रचूडामणि ९।११ तथा रसरत्नसमुच्चय १०।८२) हारिद्र सक्तुक मुस्त रक्तशृङ्ग च कृष्णकम्। विषपञ्चकमेतद्धि शीघ्रसिद्धिकर परम्॥ (रससार १७,२७) उक्त रसग्रंथों के विषवर्ग में दिये गये विषों की गणना व नामों की तुलना के हेतु नीचे दी हुई तालिका बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

रसार्णव	रसेन्द्रचूड़ामणि तथा रसरत्न समुच्चय	रसरत्नाकर तथा राज निघण्टु	रससार
सक्तुक	सक्तुक	सक्तुक	सक्तुक
कालकूट	कालकूट	कालकूट	हारिद्र
शृङ्गी	शृङ्गी	शृङ्गी	शृङ्गी
मुस्तक	हारिद्र	मुस्तक	मुस्तक
कृष्णविष	वत्सनाभ	वत्सनाभ	कृष्णविष

सुश्रुत संहिता में वर्णित स्थावर विष के १० अधिष्ठानों (आश्रयों) में से कन्द विषों को महाविषों के नाम से रस शास्त्रों में लिखा है और शेष मूल विष, क्षीर विष, निर्यास विष, फलविष, पत्रविष आदि को उपविषों के नाम से शार्ङ्गधर-सहिता, आयुर्वेद प्रकाश तथा रसेन्द्रसारसग्रह में कहा गया है। इनका उपयोग पारद के मुख करण क्रिया के लिए तथा अन्यत्र ओषधि के रूप में किया गया है। उपविषों की सख्या रसार्णव में ५, रससकेत कलिका में ६, रसेन्द्रचूडामणि, रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नाकर, वृहद्योगतरंगिणी, शार्ङ्गधर सहिता, रसरत्नसमुच्चय, धन्वन्तरि निघण्टु, भावप्रकाश, योगरत्नाकर, आयुर्वेदप्रकाश और रसेन्द्रसारसंग्रह में ७, कुछ रसग्रन्थों में ९, रसतरङ्गिणी में ११ और रसोपनिषद् में ४० लिखी हैं। वर्णन तथा समझने की सुगमता के लिए निम्न (१९ पृष्ठोक्त) तालिका पुनः बड़ी सहायक सिद्ध होगी

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से स्थावर विषों का प्रयोग आजकल चिकित्सा में होता है और उन सबका ज्ञान प्रत्येक वैद्य को होना चाहिए। आधुनिक विषतन्त्र (Toxicology) से भी अध्ययन-मनन कर उपर्युक्त विष सम्बन्धी ज्ञान को पूर्ण बना लेना ज्ञान तथा व्यवसाय की दृष्टि से लाभ कारक होता है।

स्थावर विष ज्ञापक तालिका

सख्या	रसार्णव	रस संकेत कलिका	रसेन्द्र चिन्तामणि रसेन्द्र सार संग्रह योगरत्नाकर आदि	रसेन्द्र चूडामणि तथा रसरत्नसमुच्चय	अन्य ग्रन्थ	रसतरङ्गिणी
१	स्नुही	वज्री	सेहुण्ड	नीलक	स्नुही	स्नुहीक्षीर
२	अर्क	अर्क	अर्क	अर्क	अर्क	अर्कक्षीर
३	करवीर	हयारि	हयारि	करवीर	हयारि	करवीर
४	लांगली	लांगली	लांगली	लांगली	लांगली	लांगली
५	उन्मत्त	हेम	धत्तूर	कनक	धत्तूर	धत्तूर
६	×	विषमुष्टि	गुञ्जा	विषमुष्टि	विषमुष्टि	विषतिन्दुक
७	×	×	अहिफेन	जया	अहिफेन	अहिफेन
८	×	×	×	×	गुञ्जा	गुञ्जा
९	×	×	×	×	जयपाल	रेचक
१०	×	×	×	×	×	भल्लातक
११	×	×	×	×	×	विनया

चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते।
षट् चैव सर्पपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु ॥ ६ ॥

कन्दविषों के अवान्तर भेद—वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो, सर्षप के छः अवान्तर भेद हैं और अन्य सभी के एक एक भेद होते हैं ॥ ६ ॥

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च।
जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु ॥ ७ ॥
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च।
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च ॥ ८ ॥
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि।
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः ॥ ९ ॥
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता।
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ॥१०॥
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत्।

स्थावर विषों के पत्रादि विशेष से गुण विशेष—मूल विष से ऐंठन, प्रलाप तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती है। पत्रविष से जृम्भा (जमुहाई), अंगों में ऐंठन तथा श्वासकष्ट होता है। फल विष से मुष्क (अण्डकोष) में शोफ, दाह और अन्न में द्वेष आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। पुष्पविष से वमन, आध्मान (अफारा) और मोह (मूर्च्छा) उत्पन्न होते हैं। त्वक्, सार, निर्यास आदि विषों के प्रभाव से मुख में दुर्गन्धि, परुषता (कठोरता), शिर में दर्द, कफ का स्राव आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। क्षीर विषों के सेवन से मुख से झाग (फेन) निकलना, अतिसार तथा जिह्वा में भारीपन होता है। धातुजन्य विष के सेवन से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा, तालु में दाह आदि लक्षण होते हैं। प्रायः ये विष अपने विषैले प्रभाव से प्राणियों को एक दिन, पन्द्रह दिन तथा एक मास के समय में मारते हैं ॥ ७–१० ॥

विमर्शः—कविराज हाराण चन्द्र 'गुरुजिह्वता' नामक शब्द के स्थान पर 'जिह्वजिह्वता' नामक पाठ को उचित मानते हैं। चरककार ने स्थावर विषों के लक्षणों को बताते हुए लिखा है कि—स्थावर तु ज्वर हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्। फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च जनयेद् भृशम् ॥ (च. चि. अ. २३।१५) अर्थात् स्थावर विष ज्वर, हिचकी, दन्तहर्ष, गलग्रह, झाग आना, वमन (कै), अरुचि, श्वास और मूर्च्छा इन्हें अधिकतया उत्पन्न करता है। आधुनिक मतानुसार भी इन विषों की क्रिया तीन प्रकार की होती है—यथा १-स्थानिक (Local).—यदि विष शरीर के किसी भाग में लग जावे तो केवल उसी स्थान की धातुओं (Tissues) का विनाश करता है यथा तीव्र अम्ल और क्षार जहाँ शरीर पर लग जाते हैं वहीं पर अपनी रासायनिक क्रिया द्वारा दाह एवं व्रणोत्पत्ति करते हैं। इसी प्रकार रसकपूर, नीलाञ्जन आदि क्षोभक विषों के सम्पर्क में आने पर उस स्थान अथवा अंग में क्षोभ (Irritation) एवं शोथ उत्पन्न हो जाता है। तथा कुछ पदार्थ त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं (Mucous membrane) के सम्पर्क में आने पर नाड़ी को प्रभावित करते हैं जैसे बेलाडोना और एट्रोपीन के प्रयोग से आँखों की पुतलियाँ (Pupils) प्रसारित हो जाती हैं एवं वत्सनाभ के प्रयोग से झनझनाहट और सज्ञाहीनता उत्पन्न हो जाती है। २-सर्वाङ्गिक क्रिया (General or systemic action):—विषों का शरीर के संस्थानों में जब शोषण हो जाता है तब वे सर्वाङ्गिक क्रिया करते हैं यथा—कुचला के सुषुम्ना पर प्रभाव करने के कारण धनुर्वात की भांति पेशियों में आक्षेप (Convulsions) होने लगते हैं। तथा वृक्क पर कैन्थेराइड्स की क्षोभक क्रिया के कारण वृक्क शोथ (Nephritis) उत्पन्न हो जाता है। क्लोरोफार्म के नस्य लेने पर मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि। ३-स्थानिक एवं सर्वाङ्गिक मिश्रित क्रिया.—इसी प्रकार कार्बोनिक एसिड, फास्फोरस आदि कुछ विष ऐसे भी हैं जो अपने प्रभाव से धातुओं का नाश करके स्थानिक क्रिया करते हैं और साथ ही साथ शरीर में शोषित होकर सर्वाङ्गिक क्रिया भी करते हैं। भिन्न-भिन्न विषों से भिन्न-भिन्न प्रभाव शरीर पर पड़ते हैं जैसे वमन, रेचन, आँखों की पुतली का प्रसारित अथवा सकुचित होना, बधिरता, अन्धापन, स्वेदाधिक्य, शीताङ्गावस्था (Algid state), प्रलाप, आक्षेप,

पक्षाघात, कम्पन, मूत्र की विवर्णता, नाडी की तीव्रता अथवा मन्दता आदि लक्षण होते हैं जो निदान करने में बहुत सहायक होते हैं।

कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥११॥
स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तम्भ एव च।
ग्रीवास्तम्भो वत्सनाभे पीतविण्मूत्रनेत्रता ॥१२॥
सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च।
ग्रीवादौर्बल्यवाक्सङ्गौ पालकेऽनुमताविह ॥१३॥
प्रसेकः कर्दमाख्येन विड्भेदो नेत्रपीतता।
वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते ॥१४॥
गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु।
शृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविवृद्धयः ॥१५॥
पुण्डरीकेण रक्तत्वमर्कोर्वृद्धिस्तथोदरे।
वैवर्ण्यं मूलकैश्छर्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः ॥१६॥
चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै।
महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलोद्भवौ भृशम् ॥१७॥
कर्कटेनोत्पतत्यूर्ध्वं हसन् दन्तान् दशत्यपि।

कन्दविषों के लक्षण—कन्दविष तीक्ष्ण विष होते हैं, उनका वर्णन विस्तार से करूंगा, यथा कालकूट विष के स्पर्श से अज्ञान, कम्पन और जडता होती है। वत्सनाभ से ग्रीवास्तम्भ, मलमूत्र का पीले वर्ण का हो जाना तथा नेत्रों में पीलापन होता है, सर्षप विष से वायु की विपरीतता, आनाह और ग्रन्थि (गांठों) की उत्पत्ति होती है। पालक विष से ग्रीवा की दुर्बलता, वाणी का अवरोध होता है। कर्दमविष के सेवन से मुख से पानी आना, अतीसार, आँखों में पीलापन होता है। वैराटक विष के प्रभाव से अंगों का दुखना और शिरोरोग होता है। मुस्तक विष से शरीर में स्तम्भ, कम्पन और शृङ्गी-विष से अंगों में शिथिलता, दाह और उदर की वृद्धि होती है। पुण्डरीक विष के प्रभाव से आँखों में लालिमा, उदर की वृद्धि और मूलक विष से विवर्णता, हिक्का (हिचकी), शोफ, मूढत्व तथा हालाहल विष के प्रभाव से श्वास देर में आता है और मनुष्य का रंग काला पड जाता है। महाविष के सेवन से हृदय में ग्रन्थि और महान् शूल होता है, कर्कटक विष के प्रभाव में आकर मनुष्य ऊपर की ओर उछलता तथा कूदता है और हंसता हुआ दाँतों को काटता है ॥ ११-१७ ॥

विमर्शः—कविराज हाराणचन्द्र महोदय ने 'वातवैगुण्य' के स्थान पर 'तालुवैगुण्य' एवं 'कर्दमाख्येन' के स्थान पर 'कर्दमाख्ये' पाठ किया है। रस-शास्त्रों में उग्रवीर्य कन्दविषों को महाविष के रूप में प्रयुक्त किया गया है। रसरत्नसमुच्चय नामक ग्रन्थ में भी सुश्रुतोक्त तेरह प्रकार के कन्दविषों का ही वर्णन मिलता है केवल सुश्रुत के पुण्डरीक, वैराटक और पालक कन्दविष के स्थान पर हारिद्रक, सक्तुक और वालुक यह नामान्तर कर दिया है। इसी प्रकार आनन्दकन्द, रससार, रसमञ्जरी, रसेन्द्र सारसंग्रह, रसेन्द्रचिन्तामणि, बृहद्योगतरंगिणी तथा आयुर्वेदप्रकाश में १८ कन्दविष लिखे मिलते हैं। रससार तथा रसमञ्जरी के कुछ विषों के नामों में परस्पर अन्तर है। इन १८ कन्द विषों में से सक्तुक आदि १८ कन्द विष सौम्य होने के कारण औषधियों के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं परन्तु शेष १० कन्दविष (कालकूट आदि) अति उग्र होने के कारण औषधि के रूप में ग्रहण नहीं किए जाते, केवल धातुरसवाद और विषवाद में ही ग्रहण किए जाते हैं। कुछ ग्रन्थों में निम्नलिखित ९ कन्दविष मिलते हैं यथा—(१) वत्सनाभ, (२) हारिद्र, (३) सक्तुक, (४) सौराष्ट्रिक, (५) प्रदीपन, (६) शृंगिक, (७) कालकूट, (८) हालाहल, (९) ब्रह्मपुत्र। रसोपनिषद् नामक रसग्रन्थ में ४० महाविषों (कन्दविषों) का वर्णन मिलता है यथा—पक्तुक वत्सनाभ च द्विहारिद्र पीतमुस्तकम्।
.....चत्वारिंशन्महाविषाः ॥ (रसोपनिषद् अ. ४।१२-१७)
इस प्रकार रसग्रन्थोक्त (रसमञ्जरी तथा रस सार आदि ग्रन्थों में वर्णित) विषों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए निम्नलिखित तालिका बड़ी उपयोग प्रमाणित होगी:—

संख्या	आयुर्वेद प्रकाश, आनन्दकन्द, रसेन्द्रचिन्तामणि, बृहद्योगतरङ्गिणी	रसमञ्जरी	रससार
१	सक्तुक	सक्तुक	सक्तुक
२	मुस्तक	मुस्तक	मुस्तक
३	कौर्म	मयूर	मयूर
४	दार्वीक	विन्दुक	विन्दुक
५	सालेप	सुमङ्गल	सुमङ्गल
६	श्वेतशृंगी	शङ्खनाभ	शंखनाभ
७	वत्सनाभ	वत्सनाभ	वत्सनाभ
८	मैकत	वालुक	सुनाभ
९	कालकूट	कालकूट	कालकूट
१०	दर्दुर	कर्दम	शुक्लकन्द
११	कर्कोट	मर्कट	कर्कटक
१२	हालाहल	हालाहल	हालाहल
१३	मेषशृंगी	शिखि	शृङ्ग
१४	यमदंष्ट्रा	चक्र	विष
१५	केशर	पुष्कर	पुष्कर
१६	ग्रन्थि	हरित	आमर
१७	रक्तशृंगी	शृङ्गी	रक्तशृङ्ग
१८	हारिद्र	हारिद्र	हारिद्र

आधुनिक चिकित्साशास्त्रों में उग्र विषों के अथवा आत्ययिक (Acute) विषों के लक्षण निम्नलिखित होते हैं—

१. वमन (Vomiting)—यह वमन क्रिया प्रायः निम्न विषों के सेवन की अवस्था में पाई जाती है—(अ) क्षोभक विष (Irritants)-जो आमाशय या गले में बेचैनी उत्पन्न करनेवाले यथा तुत्थ, सखिया, जमालगोटा, फास्फोरस, पारद आदि। (ब) वात-संस्थान अथवा वातनाड़ियों पर प्रभाव करनेवाले विष-जो अपनी प्रत्यावर्तित क्रिया से वमन केन्द्र (Vomiting centre) को उत्तेजित करके वमन कराते हैं

यथा मैण्ट्रोनीन, टिंजिटैलिस आदि। इन विषों का वामक प्रभाव आमाशय अथवा तालु (कण्ठ) में कोई विकृतिकारक प्रभाव नहीं करता। (स) नींद लाने वाले विष—यथा कार्बोलिक एसिड—यह विष निश्चल होने के साथ साथ वमन भी कराता है। (द) अन्नविष—पीतल अथवा काँसे के बर्तन में रखे हुए दधि आदि भोज्य पदार्थों के सेवन से वमन होने लगता है। किन्तु कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनमें लक्षण स्वरूप 'वमन' होता है इसलिए वमन से विषजुष्टता का सन्देह करने के पहले उन रोगों का विचार भी कर लेना आवश्यक हो जाता है। यह रोग प्रायः उदर की विकृतियों से सम्बन्धित होते हैं, जैसे बद्धगुदोदर, आन्त्रवृद्धि (Hernia), शूल (Colic pains), शोथ, व्रण, आन्त्रपुच्छ शोथ (Appendicitis), विसूचिका (Cholera), यकृत्शोथ (Hepatitis), पित्ताशय शोथ (Cholecystitis), गुदाशोथ (Proctitis), अथवा गुदरोग, ग्रहणीशूल, शोथ, अर्बुद (Tumours), आमाशयान्त्र में रक्तस्राव (विशेष रूप से आमाशय में) आदि तथा अपस्मार, ज्वर, मस्तिष्क विद्रधि तथा मधुमेह आदि में भी वमन होता है।

२. विरेचन (Purgation)—किसी किसी विष की विषाक्तता के कारण रोगी को अतिसार भी होने लगता है और इस अतिसार में मल के साथ रक्त की प्रवृत्ति होती है किन्तु कभी-कभी श्लेष्मा (Mucous) भी निकलता है। यह लक्षण प्रायः क्षोभक विषों के सेवन की अवस्था में मिलता है। दाहक विषों के सेवन की अवस्था में भी विरेचन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं इनके अतिरिक्त अन्नविष (Food poisoning) की अवस्था में भी अतिसार हो जाता है। मल के साथ जब रक्त की प्रवृत्ति होती है तो प्रायः उसका वर्ण काला होता है (Tarry stools, Black stools) किन्तु प्रवाहिका, रक्तातिसार (Bacillary dysentery), विसूचिका, आन्त्रशोथ आदि रोगों में भी मल के साथ कभी-कभी रक्त प्रवृत्ति होती देखी जाती है अतः इन बातों को ध्यान में रखकर ही कोई निर्णय करना चाहिए।

३. मुख से लार का बहना (लालास्राव) Salivation—विष के कारण रोगी के मुख से लार गिरने लगती है प्रायः वत्सनाभ, क्षार, मक्षिका, तुत्थ, पारा, तम्बाकू, एवं आयोडाइड विषों की अवस्था में यह लक्षण दृष्टिगोचर होता है। किन्तु मुखपाक (Stomatitis), मूर्गा, पाषाणगर्दभ (Mumps) आदि रोगों में भी 'अत्यधिक लालास्राव' लक्षण स्वरूप मिलता है। अतः सावधान होकर किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए।

४. आध्मान का होना (Tympanitis)—कुछ विष वायु को रोककर उदर को फुला देते हैं। इन विषों में उदर पर हाथ से ताडन (Percussion) करने से वायु का शब्द सुनाई देता है और रोगी का उदर फूला हुआ मालूम होता है। पारद, अफीम, मिट्टी का तेल तथा फास्फोरस आदि विषों के कारण यह लक्षण उत्पन्न होता है किन्तु बद्धगुदोदर, उदरावरणशोथ, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर (टाइफाइड) आदि रोगों की अवस्था में भी आँतों में मल का अवरोध होने से पेट में आध्मान हो सकता है।

५. उदर में तीव्रशूल युक्त सकुचन होना (Colic):—कुछ विषों की अवस्था में उदर की पेशियों में प्रबल संकोच (ऐंठन) होता है यथा सीसक विष (Lead poisoning) की अवस्था में। किन्तु आन्त्रक्षयजन्यशूल तथा विसूचिका रोग की अवस्था में भी आँतों में ऐंठन हो सकती है।

६. पुतली (Pupil) पर प्रभाव—कुछ विषों के कारण पुतली अपने स्वाभाविक आकार से छोटी हो जाती है अथवा संकुचित हो जाती है यथा अफीम, सर्पविष तथा कभी-कभी वत्सनाभ विष की अवस्था में। किन्तु मस्तिष्क में रक्तस्राव होने पर अथवा मस्तिष्क के तीव्र आघात (Concussion of the brain) की तृतीयावस्था में भी पुतली संकुचित हो जाती है। इसी प्रकार मद्यपान के उपरान्त अफीम का सेवन करने से पुतली अनियमित हो जाती है अर्थात् एक नेत्र की पुतली तो विस्फारित (Dilated) रहती है और दूसरे नेत्र की पुतली संकुचित या अनुभावित (स्वाभाविक) होती है। किन्तु इस अवस्था में भी अपवाद पाया जाता है, यदि मस्तिष्क में रक्तस्राव हो जाये, अथवा अधिमन्थ (Glaucoma) रोग हो तो भी पुतली अनियमित हो सकती है। इसी प्रकार बेलाडोना, धतूरा आदि विष के कारण दोनों नेत्रों की पुतलियाँ विस्फारित (Dilated) हो जाती हैं।

७. कर्णघोष (Buzzing in the ears):—विञ्जरी (Quinine) तथा सैलिसिलिक एसिड की विषाक्तता में कान में सनसनाहट होने लगती है।

८. पसीने का आना:—पाइलोकार्पीन, अफीम, वत्सनाभ आदि विषों की अवस्था में पसीना बहुत आता है।

९. ताप का बढ़ना (Rise in temperature)—धतूरा बेलाडोना, कोकोन आदि विषों से अथवा आमाशय में विक्षोभ करने वाले पदार्थों के प्रभाव से शरीर का ताप बढ़ जाता है तथा पसीना प्रायः नहीं निकलता।

१०. शीतांगता (Collapsed for Algid state of the body)—विक्षोभक तथा दाहक पदार्थों के सेवन से, मद्य, सुरमा तथा सर्पविष आदि की विषाक्तता में शरीर ठन्डा पड़ जाता है किन्तु शूल, उरःशूल, विसूचिका, अतिसार तथा अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने की अवस्था में भी शरीर शीतल (ठण्डा) हो जाता है।

शरीर का नीला पड़ जाना (श्यावता, Cyanosis)—अफीम, कुचला, कार्बन डाइ आक्साइड, सल्फोनल, सर्पविष तथा अन्य दाहक विषों की अवस्था में शरीर में नीला रङ्ग आ जाता है किन्तु फुफ्फुसपाक (श्वसनक Pneumonia) क्षय, रोहिणी (Diphtheria), उरःक्षत, (छाती में रक्तस्राव होने पर), श्वासमार्ग में बाधा तथा गलगण्ड (Goitre) की अवस्था में भी मुख अथवा शरीर नीलवर्ण अथवा कृष्णवर्ण (काले रङ्ग) का हो जाता है।

१२. सन्यास की अवस्था (Coma)—मद्य, धतूरा, तुत्थ, भाँग, अफीम आदि विषों के प्रभाव से शरीर सन्यासग्रस्त (Comatose) अर्थात् संज्ञारहित हो जाता है। किन्तु मलेरिया, यूरीमिया, कोलीमिया, मधुमेह, प्लेग तथा विसूचिका आदि रोग भी मनुष्य में सन्यास (Coma) के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं।

१३. प्रलाप (Delirium)—धतूरा, कर्पूर, भाँग, मद्यपान अफीम तथा हायोस्यायमस आदि विषों की विषाक्तता में रोगी प्रलाप करने लगता है। किन्तु पागलपन, मानसिक आघात, शूल, मधुमेह, उच्च ज्वर तथा यूरीमिया आदि की अवस्था में भी रोगी बकवाद अथवा प्रलाप करने लगता है।

१४. आक्षेप तथा अन्य वातनाडी मण्डल जनित लक्षण Convulsions and other nervous symptoms-अर्क सखिया, अफीम, सीसा, तम्बाकू आदि विषों की अवस्था में आक्षेप (Convulsions) होने लगते हैं किन्तु अपस्मार, धनुःस्तम्भ (Tetanus), जलसन्त्रास (Hydrophobia), नाडीजन्य फिरङ्ग, योषापस्मार, गर्भाक्षेपक (Eclempsia) तथा यूरीमिया आदि रोगों में भी ये आक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं। वत्सनाभ, सखिया, सीसा, सर्पविष आदि विषों के प्रभाव से शरीर के अन्दर (विशेषकर जिह्वा में) अकर्मण्यता आ जाती है। मदात्यय, सीसा, तथा संखिया विष की विषाक्तता में शरीर में क्षोभ होने के कारण कम्पन होने लगता है। तथा वत्सनाभ विष से त्वचा में चुनचुनाहट (टिक्लिङ्ग) उत्पन्न हो जाती है।

१५ मूत्र पर प्रभाव—सखिया, पारद, फास्फोरस, शीतल चीनी आदि विषों के परिणाम-स्वरूप रक्त से युक्त मूत्र की प्रवृत्ति होती है किन्तु मूत्राश्मरी आदि की अवस्था में भी रक्तमिश्रित मूत्र निकल सकता है। सनाय, रेवन्दचीनी, तथा कार्बोलिक एसिडजन्य विषाक्तता में मूत्र का रङ्ग काला हो जाता है। धतूरा, विष के प्रभाव से मूत्र त्याग करने में कठिनाई होती है किन्तु मूत्रामर्ग में अवरोध, प्रमेह, अष्टीला (Prostate enlarged) मूत्राशय शोथ तथा गर्भावस्था में भी यही लक्षण मिल सकता है अतः भलीभांति सोच विचार कर ही निश्चय करना चाहिए।

१६. नाड़ी पर प्रभाव—धतूरा, सीसा आदि विषों के प्रभाव से नाड़ी कठोर हो जाती है। तथा भाँग, अफीम, तम्बाकू एवं वत्सनाभ आदि विषों के प्रभाव से नाड़ी की गति धीमी (मन्द) पड़ जाती है किन्तु मधुमेह, सन्यास, कामला, और मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) की अवस्था में भी नाड़ी मन्दगति से चलती है। इसी प्रकार कपूर, फास्फोरस मद्य तथा धत्तूर विष की अन्तिम अवस्था में नाड़ी की गति तेज हो जाती है। किन्तु मूर्च्छा, अपस्मार, लू लगने की अवस्था में भी नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है।

१७. श्वास-प्रश्वास पर प्रभाव—वत्सनाभ, मद्य, सुरमा, तथा अहिफेन की विषमयता में श्वास की गति धीमी हो जाती है। किन्तु उन्माद, यूरीमिया, अपस्मार तथा मूर्च्छा आदि में भी श्वासगति मन्द हो जाती है। क्लोरोफार्म, निद्रल विष आदि की अवस्था में श्वास के अन्दर घरघराहट होती है किन्तु सन्यास, मस्तिष्क पर चोट लगने से भी श्वास में घरघराहट आ जाती है। कुछ विशेष लक्षण ऐसे भी होते हैं जिनको देखकर विष विशेष की विषाक्तता का ज्ञान शीघ्र हो जाता है यथा—

रोगी की अवस्थानुसार विष का निदान

रोगी की अवस्था	विष का अनुमान
१. तत्काल मृत्यु	१. पोटेशियम साइनाइड kcn.
	२. हाइड्रोसायेनिक एसिड hcn.
	३. कार्बन मोनोऑक्साइड co
	४. कार्बन डाइ ऑक्साइड CO_2
	५. तीव्र अमोनिया
	६. ऑक्जेलिक एसिड
२. मूर्च्छा	१. अहिफेन अथवा मार्फिया
	२. मद्य
	३. क्लोरोफार्म
	४. क्लोरल हाइड्रेट
	५. कर्पूर
३. हृदयावसाद	१. तीव्र अम्ल
	२. क्षार
	३. वत्सनाभ
	४. फेनाश्म
	५. तमालपत्र
	६. नीलाञ्जन
	७ एण्टीपाइरिन
४. मुख का पीत वर्ण होना	१. एण्टीफेब्रीन
५. प्रलाप	१. धत्तूर
	२. बेलाडोना
	३. भाँग
	४. मद्य
	५. कर्पूर
	६. खुरासानी अजवाइन
६. धनुर्वात की भांति पेशी आक्षेप	१. कुचला
	२ सखिया (फेनाश्म)
	३. नीलाञ्जन
७. पक्षाघात	१. वत्सनाभ
	२. फेनाश्म
	३. नाग
	४. कोनियम
८. पुतलियों का विस्फारित होना	१. धतूरा
	२. बेलाडोना
	३. खुरासानी अजवाइन(प्रथम अवस्था)
	४. अहिफेन (अन्तिम अवस्था)
	५. वत्सनाभ
	६. मद्य
	७. क्लोरोफार्म
९. पुतलियों का संकुचित होना	१. अहिफेन (अफीम)
	२. कार्बोनिक एसिड
	३. क्लोरल हाइड्रेट
१०. त्वचा की शुष्कता	१. धतूरा
	२. बेलाडोना
	३. खुरासानी अजवाइन

रोगी की अवस्था	विष का अनुमान
११. त्वचा की आर्द्रता	१. अहिफेन
	२. वत्सनाभ
	३. मद्य
	४. नीलाञ्जन
	५. तम्बाकू
	६. किसी भी विष के कारण हृदयावसाद की अवस्था।
१२. मुख श्वेत होना	१. कार्बोनिक एसिड
	२. रसकर्पूर
	३. दाहक अम्ल तथा क्षार
१३. वमन	१. संखिया (रक्तमिश्रित कपिल वर्ण का वमन)
	२. नीलाञ्जन (श्वेत वर्ण का वमन)
	३. डिजिटेलिस
	४. वत्सनाभ
	५. अमोनिया
	६. फास्फोरस आदि

इन विशेष लक्षणों के ज्ञान से विषजुष्ट व्यक्ति का निदान बहुत ही सरलता एवं शीघ्रता से हो जाता है तथा आहार एवं पेय द्रव्यों में विष मिला कर सेवन करने वाले सभी व्यक्तियों में प्रायः समान लक्षण प्रकट होते हैं। इन लक्षणों को देख कर आसानी से विष का अनुमान लगा लेना चाहिए साथ ही विषाक्त व्यक्ति की पारिवारिक अवस्था एवं उसकी दिनचर्या आदि का भी पता लगाना चाहिए क्योंकि इससे भी निदान करने में बहुत सहायता मिल सकती है।

कन्दजान्युग्रवीर्याणि प्रत्युक्तानि त्रयोदश ॥१८॥
सर्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः।

उग्रवीर्य वाले तेरह कन्द विष जो ऊपर कहे गए हैं इन सबको बुद्धिमान मनुष्यों द्वारा निम्न लिखित दस गुणों से पहचानना चाहिए ॥ १८ ॥

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च ॥१९॥
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम्।
तद्रौक्ष्यात् कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम् ॥२०॥
मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धान् छिनत्ति च।
शरीरावयवान् सौक्ष्म्यात् प्रविशेद्विकरोति च ॥२१॥
आशुत्वादाशु तद्धन्ति व्यवायात् प्रकृतिं भजेत्।
क्षपयेच्च विकाशित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि ॥२२॥
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात्।
दुर्हरं चाविपाकित्वात्तस्मात् क्लेशयते चिरम् ॥२३॥

विषों के दश गुण तथा उनके कार्य—विष रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु और अपाकी होता है। रूक्ष होने से वह वायु को, उष्ण होने से रक्त के साथ पित्त को प्रकुपित करता है। तीक्ष्ण होने के कारण बुद्धि को मोहग्रस्त करता है एवं मर्म-बन्धनों को काट देता है। सूक्ष्म होने से शरीर के अवयवों में शीघ्र प्रवेश करके विकार उत्पन्न करता है। आशुकारी होने के कारण शीघ्र प्राणों का विनाश करता है। व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विकाशी होने से दोष, धातु एवं मलों को नष्ट करता है। विशद होने के कारण कहीं पर भी रुकता नहीं (चिपकता नहीं) तथा लघु गुण वाला होने के कारण दुश्चिकित्स्य होता है। अविपाकी होने से बड़ी कठिनाई से निकाला जाता है इसी कारण मनुष्य को अधिक समय तक कष्ट देता है ॥ १९-२३ ॥

विमर्शः—कविराज हाराणचन्द्र महोदय ने एक पाठान्तर को औचित्य प्रदान किया है। वे मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धान् छिनत्ति च।' के स्थान पर 'मानस मोहयेत्तैक्ष्ण्यादन्धबन्धांश्छिनत्त्यपि।' का पाठ उचित मानते हैं। विष के दश गुणों की चर्चा करते हुए चरककार कहते हैं, कि—'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्ण विकाशि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरस दशगुणमुक्त विष तज्ज्ञैः ॥ (च चि. अ. २३।२३) विषज्ञाता चिकित्सकों ने विष के दश गुण कहे हैं। १ लघु, २ रूक्ष, ३ शीघ्रकारी, ४ विशद, ५ व्यवायी, ६ तीक्ष्ण, ७ विकाशी, ८ सूक्ष्म, ९ उष्ण, १० अनिर्देश्यरस (जिसके रस का निर्देश नहीं किया जा सकता)। विष के गुणों का देह पर प्रभाव बताते हुए चरककार पुनः आगे लिखते हैं कि—रौक्ष्याद्वातमशैत्यात्पित्त सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति। कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम् ॥ (च. चि. अ. २३।२४) विष रूक्षता के कारण वात को उष्ण होने के कारण पित्त को, सूक्ष्म होने से रक्त को, अव्यक्त रस होने से कफ को प्रकुपित करता है तथा यह शीघ्र ही सब रसों का अनुवर्तन करता है क्यों कि सूक्ष्म होने के कारण विष शरीर के छोटे से स्रोत में भी प्रवेश कर जाता है। रक्त भी इसी प्रकार सूक्ष्म-मार्गानुसारी है अतएव विष सूक्ष्म-मार्गों में पहुँच कर रक्त को भी प्रकुपित कर देता है इसके साथ ही अपने 'उष्णता' नामक गुण के कारण भी यह रक्त की दुष्टि कर सकने में समर्थ होता है। यद्यपि कफ अव्यक्त रस है किन्तु यह भी योगवाही हो जाता है। कफ स्थान में पहुँच कर अन्न के साथ योगवाही होने से कफ को प्रकुपित कर देता है। सब अन्नरसों के साथ यह देह में प्रविष्ट हो जाता है और अन्न के रस के अनुसार तत्सम्बन्धी दोष अथवा दोषों को प्रकुपित करता है। इसी विषय पर मत प्रकट करते हुए आगे चरककार लिखते हैं कि—शीघ्रव्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकाशित्वात् ॥ दुरुपक्रम लघुत्वाद्वैशद्याच्च स्यादनुक्तगति दोषम् ॥ (च. चि. अ. २३।२५ २६) शीघ्र गुण और व्यवायी गुण होने से विष शीघ्र ही सम्पूर्ण देह में व्याप्त हो जाता है तीक्ष्ण होने से मर्मनाशक होता है। हृदय आदि मर्मों पर अपना घातक प्रभाव करता है विकाशी होने से यह प्राणनाशक है। तात्पर्य यह है कि शरीर की स्थिति ओज पर है और विष ओज का नाशक होता है तथा सन्धिबन्धों को शिथिल भी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है। लघु गुण वाला होने से इसकी चिकित्सा अत्यन्त कठिन होती है। विशद गुण युक्त होने के कारण दोष किसी एक स्थान पर टिकता ही नहीं। लघु एवं विशद होने के कारण ही विष सदैव अस्थिर होता है तथा अस्थिर होने के कारण ही उसे दुश्चिकित्स्य

माना जाता है। अष्टाङ्ग संग्रह के उत्तर तन्त्र में भी इसी अभिप्राय का वर्णन मिलता है यथा—तत्र तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्पित्त रक्त च कोपयति । रौक्ष्याद्वायुम् । वैशद्यादसक्तवेग प्रसरति । सौक्ष्म्याद्व्यवायित्वाच्च दोषधातुमलादीन् समस्तान् शरीरावयवा-ननुप्रविशति । आशुकारित्वादाशु व्यापादयति । विकाशित्वान्मर्म च्छेदेन मर्नि व्यामोहयति । लाघवाद् दुर्निर्हरमव्यक्तरसत्वाच्छ्लेष्म-प्रकोपणमन्नरसांश्च सर्वाननुवर्तते (अत एव च प्रयत्नेनान्नानि विषतो रक्षेदित्युक्तम्) । अपाकित्वाज्जरां नो याति । तेनाभ्यवहृतमवश्यं मारयति । मन्त्रौषधबलेन चोपशमितमपि प्रत्ययमासाद्य पुन: प्रकुप्यतीति ॥ इसी प्रकार ओज तथा विष के गुणों का वर्णन तथा तुलना करते हुए आचार्य ने एक स्थल पर कहा भी है कि—विष और मद्य के गुण समान होते हैं तथा ओज और गोदुग्ध के गुण समान होते हैं इसलिए जहाँ विष ओज का विनाश करता है वहाँ गाय का दूध ओज को बढ़ाने वाला होता है क्योंकि विष और ओज के गुण प्रायशः विपरीत ही माने गये हैं, यथा—'गुरु शीत मृदु श्लक्ष्ण बहल मधुरं स्थिरम् । प्रसन्न पिच्छिल स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ आदि । किन्तु शार्ङ्गधर संहिताकार ने विष के केवल आठ गुण ही लिखे हैं यथा—व्यवायी, विकाशी, सूक्ष्म, छेदी, मदावह, आग्नेय, जीवितहर तथा योगवाही । अतः जो जो विष द्रव्य उपलब्ध होते हैं उनमें उक्तगुण वर्तमान अवश्य होते हैं और ये गुण जिस द्रव्य में जितने ही उग्र या तीव्र होते हैं वह द्रव्य उतना ही उग्र या तीव्र विष माना जाता है ।

स्थावरं जङ्गम यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम् ।
सद्यो व्यापादयेत्तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम् ॥२४॥

दश गुणों से युक्त विष की तत्काल मारकता—स्थावर, जंगम अथवा कृत्रिम जो भी विष तुरन्त आदमी के प्राण हरण कर लेता है उसको दस गुणों से युक्त जानना चाहिए ॥ २४ ॥

यत्स्था वर जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत् ।
जीर्णं विपन्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा २५
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृत वर्षगणानुबन्धि २६

दूषीविष के लक्षण—स्थावर, जगम या कृत्रिम विष जो कि शरीर मे पूर्ण रूप से बाहर नहीं निकलना किन्तु पचकर या विपन्न औषधियों से नष्ट होकर अथवा दावानल, वायु, धूप मे सूख जाने के कारण या अपने ही स्वभाव से ही गुणों में कुछ कम गुणों का हो जाता है उस विष की सज्ञा दूषीविष की हो जाती है। यह दूषीविष वीर्य (शक्ति) के कम होने के कारण मनुष्य को शीघ्र ही तो नहीं मारता अपि तु कफ से आवृत होने मे बहुत वर्षों तक बना रहता है ॥ २५-२६ ॥

विमर्शः—कविराज हाराण चन्द्र जी 'यद्विष' के स्थान पर 'उद्विष' का पाठ ग्रहण करते हैं। प्रायः इस प्रकार के विष को मन्द विष (Slow poison) भी कहा जाता है। यह विष मारक तो नहीं होता परन्तु शरीर में विकार उत्पन्न करता है। ऐसे विष प्राय पारद, सीसा, सखिया आदि हैं जो कि धीरे धीरे शरीर में एकत्रित होते रहते हैं और काफी मात्रा में सचित होने पर (Cumulative effect) विषजन्य प्रभाव उत्पन्न करते हैं इसी को 'वर्षगणानुबन्धी' संज्ञा भी दी जा सकती है।

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी ।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः
आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ २८ ॥

शरीर के अवयव विशेषगत दूषीविष के लक्षण—दूषीविष से पीड़ित मनुष्य को अतीसार रहता है, उसका रग बदल जाता है, उसके मुख में दुर्गन्धि एवं विरसता तथा पिपासा रहती है। मूर्च्छा, वमन, स्वरविकृति नामक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वह मनुष्य सदैव उदास रहता है तथा दूष्योदर के लक्षणों से पीड़ित रहता है। यदि दूषीविष आमाशयस्थ हो तो कफ वात के लक्षण होते हैं, पक्वाशय स्थित होने पर वायु-पित्त के लक्षण होते हैं। रोगी के शिर के बाल एव शरीर पर के रोंम झड जाते हैं और वह पर कटे हुए पक्षी की भांति गंजा दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार रस, धातु आदि में स्थित हुआ दूषीविष धातुजन्य रोगों को करता है और शीत, वायु तथा मेघाच्छन्न आकाश के होने पर यह कुपित होता है ॥ २७-२८ ॥

विमर्शः—चरककार ने इस विषय में अपना मत प्रदर्शित करते हुए कहा है कि—दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतम क्षुदीरयति । स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत् ॥ तृष्मूर्च्छा-रतिमोहगलग्रहच्छर्दिफेनादि । पित्ताशयस्थित पैत्तिकस्य कफवातयोर्विष तद्वत् ॥ तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोऽतिसारादि । कफदेशगत कफाधिकस्य वातपित्तयोश्च दर्शयति । लिङ्ग श्वासगलग्रह-कण्डूलालावमथ्वादि ॥ (च. चि. अ. २३।२६-२९) विष यद्यपि तीनों दोषों को प्रकुपित करता है परन्तु दोष के स्थान और व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार उस दोष को अधिक प्रकुपित करता है। वातिक पुरुष के वातस्थान में विष के पहुँचने पर कफ और पित्त के लक्षण अल्प होते हैं। प्यास, मूर्च्छा, अरति, मोह, गलग्रह, कै (वमन), झाग आना आदि लक्षण विशेष दृष्टिगोचर होते हैं। उसी प्रकार पैत्तिक पुरुष के पित्ताशय में स्थित विष में कफ-वात के लक्षण अल्प होते हैं और प्यास, कास, ज्वर, वमन, क्लम, दाह, तमः प्रवेश, अतिसार आदि लक्षण होते हैं जो प्रायः पैत्तिक प्रकार के होते हैं। कफाधिक पुरुष में कफाशय गत विष वात पित्त के लक्षणों को अल्प मात्रा में प्रकट करता है और श्वास, गलग्रह, कण्डू, लालास्राव आदि विशेष लक्षण समूह को उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि वातस्थान में स्थित विष श्लेष्मज रोगों को भी करता है अर्थात् वातिक रोग तो मुख्य रूप से होंगे ही किन्तु पित्तज व कफज लक्षणों की उपस्थिति भी रहेगी। इसी प्रकार पित्ताशय एव कफाशय में स्थित विष पित्तज और कफज रोगों को तो मुख्यतः उत्पन्न करता ही है किन्तु साथ ही साथ यथा क्रम वात कफज और वातपित्तज रोगों को भी उत्पन्न करता है। अष्टाङ्गसग्रह के उत्तर तत्र में भी इसी भाव का वर्णन प्राप्त होता है यथा—

विषं वदोषमूर्छितं दोषं प्रकोपयति। आशये खलु परमेव नरं हरति॥ तत्र वातादयो विकारान् कुर्वन्ति यान्यौषधपूर्वदेहानि। वातादयस्तु दूषीविषं तथा दूषयन्ति। तच्चतुर्भिराशयगतं तद्विषं कफोल्बणान॥ (अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर तन्त्र अ. ४०) एक स्थान पर चरकाचार्य दूषीविष (मन्दविष) के विषय में पुनः निर्देश करते हैं कि—दूषीविषमसृक्प्रदोषिणमाशु मर्म्मोपघातिनम्। सर्पगन्धसमगन्धवर्णं निर्दिशेत्। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तत्सम्भवत्वयात्॥ (च. चि. अ. २३।६-८)

यह विष रक्त में उत्पन्न होने के कारण वर्षाऋतु में मुद्ग के समान हिंसता को प्राप्त होकर देह में विसर्पण करता है। बादलों के हट जाने पर अगस्त्यनक्षत्र उसे नष्ट करता है। अतएव शरदृतु में विष का वीर्य (शक्ति) मन्द पड़ जाता है। प्रायः चिरकालीन संखिया विष की विषाक्तता (Chronic Arsenic Poisoning) की अवस्था में सुश्रुतोक्त बालों व रोमों का शिर तथा शरीर पर से झड़ जाना एवं गलापन आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु
यात्याशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम्॥ २६॥

व्याख्या—(इस श्लोक की व्याख्या पृ० २४, कालम २, पंक्ति १८ में देखें)।

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च
विश्लेषपर्वाथवाऽङ्गमर्दः।

दूषीविष के पूर्वरूप—निद्रा आना, भारीपन, जम्हाई, सन्धियों की शिथिलता, रोमाञ्च होना एवं अङ्गमर्द (शरीर के अङ्गों का टूटना) आदि होता है॥ २९½॥

ततः करोत्यन्नमदाविपाकं
वरोचकं मण्डलकोठमोहान्॥ ३०॥
धातुक्षयं पादकरोदरास्यशोफं
दकोदरं छर्दिमथातिसारम्।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा
कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा॥ ३१॥
उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।
गात्रग्रहमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान्॥ ३२॥

दूषीविष के कार्य—इसके अनन्तर अन्न के कारण मद (नशा होना), अविपाक, अरोचक, चकत्ते और कोठों की उत्पत्ति, धातुक्षय, हाथ-पैर-मुख में शोथ, उदर में जलवृद्धि, वमन, अतिसार, विवर्णता, मूर्च्छा, विषमज्वर, प्रबल तृष्णा उत्पन्न करता है। कोई विष उन्माद, कोई आनाह, कोई शुक्र का विनाश, कोई स्वरविकृति, कोई कुष्ठ उत्पन्न करता है। इस प्रकार ये विष नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं॥ ३०-३२॥

विमर्शः—इसी प्रसंग में चरकाचार्य का मत निम्नलिखित है यथा—दूषीविषं तु श्लेष्मरक्तदुष्टयोरुभयोः किटिभकोठलिङ्गं च। विषमेतेषां दोषं सदूषयत्यसृजमुत्क्लेदयति॥ (च० चि० अ० २३।३०) अर्थात् दूषीविष तो रक्त को दूषित करके फोड़े फुन्सियाँ, किटिभ तथा कोष्ठ (शीतपित्त, उदर्द, Urticaria) को उत्पन्न करता है। इस प्रकार दूषीविषों की अधिक मात्रा धातुओं में से भी रक्त को ही दूषित करती है। इस प्रकार विष एक एक दोष को अत्यधिक कुपित करके प्राणों का हरण करता है अथवा प्रत्येक विष दोष को अत्यधिक दूषित करके जीवन-नाश करता है।

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।
यस्माद् दूषयते धातूंस्तस्माद् दूषीविषं स्मृतम्॥ ३३॥

दूषीविष की निरुक्ति—यह विष देश, काल, अन्न, दिन में सोने से बार बार धातुओं को दूषित करता है इसलिये इस विष को दूषीविष कहते हैं॥ ३३॥

विमर्शः—उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये आचार्य डल्हण ने कहा है कि—'देश आनूपः प्रभूतानिलशीतवर्षः, कालः शीतानिलदुर्दिनादिः, अन्न मुद्गादिकृतान्नानि, अन्नग्रहणोपलक्षणत्वाद् व्यवाय व्यायामशोकादिभिरपीत्यर्थः॥' और इसके अनुसार व्यायाम, मैथुन, क्रोध आदि भी धातुओं के दूषक होते हैं अतः इनका समावेश भी अन्न में ही कर लेना चाहिये।

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम्।
श्यावा जिह्वा भवेत्तद्वा मूर्च्छा श्वासश्च जायते॥
द्वितीये वेपथुः स्तब्धो दाहः कण्ठरुजस्तथा।
विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम्॥ ३५॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्।
दुर्वर्णं हरिते शूने जायेते चास्य लोचने॥ ३६॥
पक्वामाशययोस्तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम्।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम्॥ ३७॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना॥ ३८॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं चाप्यतिसार्यते।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे॥ ३९॥

स्थावर विषों के ७ वेगों के लक्षण—स्थावर विष के सेवन से इसके प्रथम वेग में मनुष्यों की जीभ श्यामवर्ण एवं जड़ हो जाती है, रोगी मूर्च्छित हो जाता है और श्वास से पीड़ित होता है। दूसरे वेग में कम्पन, शिथिलता, दाह, गले में दर्द होता है तथा आमाशय में विष के पहुँचने पर विष हृदय में वेदना उत्पन्न करता है। तीसरे वेग में तालुशोष, आमाशय में तीव्र शूल होता है, नेत्र विवर्ण हो जाते हैं, हरे रंग के हो जाते हैं तथा शोफयुक्त हो जाते हैं। चौथे वेग में पक्वाशय और आमाशय में तोद, हिचकी, कास, आँतों में गड़गड़ाहट और शिर में भारीपन होता है। पाँचवें वेग में कफ का स्राव, विवर्णता, पर्वों (जोड़ों) का टूटना, सब दोषों का प्रकोप और पक्वाशय में वेदना होती है। छठे वेग में बुद्धि और प्राणों का नाश और अतीव अतीसार होने लगता है। सातवें वेग में स्कन्ध, पीठ और कटि (कमर) टूट जाते हैं तथा श्वासरोध होकर मृत्यु हो जाती है॥ ३५-३९॥

विमर्शः—विष की लहर को ही वेग कहते हैं। चरकाचार्य ने

ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये।
शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि च ॥५३॥
उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः।
यथास्वं तेषु कुर्वीत विषघ्नैरौषधैः क्रियाम् ॥५४॥

दूषीविष के उपद्रव की चिकित्सा—ज्वर, दाह, हिक्का, आनाह, शुक्रक्षय, शोफ, अतीसार, मूर्च्छा, हृद्रोग, उन्माद, कम्पन और जो अन्य उपद्रव हों उनमें उनकी अपनी चिकित्सा विषघ्न औषधियों के प्रयोग से करे ॥ ५३-५४ ॥

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम्।
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने स्थावरविषविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

दूषीविषकी साध्यासाध्यता के लक्षण—संयमी पुरुष में तुरन्त का विष साध्य है। एक वर्ष का पुराना विष याप्य है। क्षीण हुए एवं अहितसेवी पुरुष में दूषीविष भी असाध्य होता है ॥ ५५ ॥

विमर्श—दूषीविष की व्याख्या करते हुए आचार्य डल्हण ने कहा है कि—'दूषीविषस्य विषत्वेऽपि स्वेदो न निषिध्यते, येन मन्दवीर्यतया कफावरणाद् विषवेगेनानुबन्धित्वमस्य, अतः स्वेदेन कफस्यावरकस्योपशान्तावपहार्ये विषे कोष्ठगत शोधनेन सकलमेव-हियते ॥ इति ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने स्थावरविषविज्ञानीय नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो जङ्गमविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

जङ्गम-विष-विज्ञान का उपक्रम—अब इसके अनन्तर जंगम विष विज्ञानीय कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश।
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥३॥

जङ्गम विष के १६ अधिष्ठान—जगम विष के सोलह स्थान (अधिष्ठान) [जो द्वितीय अध्याय में] सङ्क्षेप में कहे थे उनका वर्णन अब यहाँ विस्तार से करेंगे ॥ ३ ॥

तत्र, दृष्टिर्निःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तव-मुखसन्दंशविशर्धितदुण्डास्थिपित्तशुक्रशवानीति ॥४॥

उनमें १ दृष्टि, २ निःश्वास, ३ दंष्ट्रा, ४ नख, ५ मूत्र, ६ पुरीष, ७ शुक्र, ८ लाला (लार), ९ आर्त्तव, १० मुख, ११ सन्दंश, १२ विशर्धित, १३ तुण्डास्थि, १४ पित्त, १५ शुक्र और १६ शव ये सोलह स्थान हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—कविराज हाराणचन्द्र महोदय ने 'तुण्डास्थि' के स्थान पर 'गुदास्थि' नामक पाठ का औचित्य स्वीकार किया है। आचार्य डल्हण ने उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—निःश्वासः फूत्कार., विशर्द्धित पायुकृत कुत्सित-शब्दः, शुक्रं कीटलोम, कीटानां सर्पाणाञ्च विगतप्राणानां देहः शव. ॥ इस प्रकार 'विशर्द्धित' का अर्थ-गुदा से किया गया कुत्सित शब्द-होता है। वृद्धवाग्भटकार ने निम्न अधिष्ठानों का वर्णन किया है यथा—दृष्टिनिःश्वासस्वर्शदंष्ट्रामुखनखास्थि-मूत्रपुरीषशुक्रार्तवलालाशुक्रपित्तशोणितशवानि ॥' इस प्रकार सर्प, बिच्छू, चूहा, ततैया, छिपकली, मकडी, शेर, चीता, रीछ, पागल गीदड़ और कुत्ता आदि के विष को जगम (प्राणिज) विष कहते हैं। चरककार ने जगम विष का वर्णन करते हुए लिखा है कि—सर्पा कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृह-गोधिका। जलौका मत्स्यमण्डूकाः कणभा सकृकण्टका. ॥ श्वसिह-व्याघ्रगोमायुनरशुनकुलादय. दंष्ट्रिणो ये विष तेषा दंष्ट्रोत्थ जङ्गम मतम् ॥ (च. चि. अ. २३।८, ९) सांप, कीट, उन्दुर (चूहा), लूता (मकड़ी), वृश्चिक, गृहगोधिका (छिपकली), जलौका (जोंक), मछली, मण्डूक (मेंढक), कणभ, कृकण्टक (गिरगिट) तथा कुत्ता, सिंह, व्याघ्र, गोमायु (गीदड़), तरक्षु (लकड़बग्घा), नेवला आदि जो दंष्ट्री (दाढ़ वाले) पशु हैं उनकी दाढ़ से उत्पन्न होने वाले विष जङ्गम विष होते हैं। अभिप्राय यह है कि जितने ही सविष प्राणी हैं उनके विषों का समावेश जङ्गम विषों में ही होगा।

तत्र, दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पा, भौमास्तु दंष्ट्राविषा, मार्जारश्वानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगो-धाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः, चिपिटपिच्चिटककपायवासिकसर्षपकतो-टकवर्च कीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषा., मूषिकाः शुक्रविषाः, लूतालालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तव-विषा, वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिकाश्चाल(र)विषाः, चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदा-रुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्धितमूत्रपुरीष-विषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः, विष-हतास्थि सर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि, शकुलीमत्स्यरक्तराजिवरकी(टी)मत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवलभिकाशृङ्गिभ्रम-राः शूकतुण्डविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः; शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः ॥५॥

इनमें दृष्टि-निश्वास में विषवाले दिव्य सर्प हैं। भूमि पर पाए जाने वाले सांप दंष्ट्राविष वाले हैं। बिल्ली, कुत्ता, बन्दर, मकर, मण्डूक, पाकमत्स्य, गोह, शम्बूक, प्रचालक, गृह-गोधिका, पशु, कीडे तथा अन्य दंष्ट्रा एवं नख विष वाले हैं। चिपिट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्च, कीट तथा कौण्डिन्यक, इनके मल मूत्र में विष है। चूहों के शुक्र में विष है। लूता (मकड़ी) के लाला, मूत्र, मल, मुख, संदंश, नख, शुक्र और आर्तव में विष है। बिच्छू, विश्वम्भर, वरटी, राजीवमत्स्य, उच्चिटिङ्ग, (विषखोपरा), समुद्रवृश्चिक, इनके अार (पूछ में स्थित कांटा) में विष है। चित्रशिर, सराव, कुर्दिशत, दारुकारि, मेदक, सारिका मुख इनके मुख-सदृश, विशर्धित, मूत्र एवं मल में विष होता है। मक्षिका

(मक्खी), कणभ और जोंक इनके मुखसदृश में विष होता है। विष से मृत हुए प्राणी की अस्थि, मांस का कण्टक (दांत), वरटी, मछली की अस्थि ये अस्थि विष हैं। शकुली मत्स्य, रक्तराजी, वरटी, मत्स्य ये पित्तविष-युक्त होते हैं। सूचमतुग, उचिटिङ्ग, वरटी, शतपदी (कनखजूरा), शूक, वल्मिका, शृंगी, भ्रमर इनके शूक और तुण्ड में विष है। कीट और सर्प इनके मृत देह शवविष हैं। शेष जिनका वर्णन नहीं किया गया है उनको मुखसदृश विष में गिनना चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्श—आर-भेसा अथवा बैल आदि को मारने के लिए बांस की पतली लकड़ी (बेंत) के अगले भाग में लगाई हुई तेज (तीक्ष्णधार युक्त) व पतली कील होती है उसी को 'आर' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसको बैलादि को चुभोते हैं इसी के समान रचना व कार्य होने के कारण बिच्छू के डंक को भी 'आर' शब्द से कहा है। चूहे के काटने से भी मनुष्य अथवा अन्य प्राणी विषाक्त हो जाता है आधुनिक चिकित्सा शास्त्रों में इस प्रकार उत्पन्न हुई अवस्था को 'मूषकदंश ज्वर' Rathite fever कहा जाता है, जिसके लिए 'आवर्तक ज्वर' 'Relapsing fever' नामक पर्याय भी प्रचलित है। वृद्ध वाग्भट ने तुण्ड विशर्पित के स्थान पर 'स्पर्श एवं रक्त' का पाठ किया है।

भवन्ति चात्र—

राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
सदूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥

विषदूषित तृणादियों के ज्ञान की आवश्यकता—ऐसा कहा भी है—शत्रु देश में प्रविष्ट राजा के तृण (घास, भूसा आदि), जल, मार्ग (पथ), अन्न, एवं वायु को शत्रु विष से दूषित कर देते हैं। शत्रुओं द्वारा दूषित किए गये इन द्रव्यों (वस्तुओं) को निम्न-लिखित लक्षणों से पहिचान कर शोधन करे ॥ ६ ॥

दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि फेनान्वितं राजिभिरावृतं च।
मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति॥
मज्जन्ति ये चात्र नराश्वनागा-
स्ते च्छर्दिमोहज्वरदाहशोफान्।
ऋ(ग)च्छन्ति तेषामपहृत्य दोषान्
दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत ॥ ८ ॥

विष से दूषित जल के लक्षण और उसकी चिकित्सा—विष से दूषित जल पिच्छिल, उग्रगन्ध युक्त, फेनयुक्त तथा रेखाओं से पूर्ण होता है, (इसमें रहने वाले) मेढक, मछली मर जाते हैं और अनूपचर जीवों के साथ पक्षि गण भी विष से मतवाले हो कर घूमते हैं। इस जल में मनुष्य, अश्व (घोड़े), हाथी आदि जो भी स्नान करते हैं उनको वमन, मोह, ज्वर, दाह तथा शोफ हो जाता है। उनके दोषों को दूर करने के उपरान्त दूषित किए गए जल को शुद्ध करने का भी प्रयत्न करें ॥ ७-८॥

धवाश्वकर्णासनपारिभद्रान् सपाटलान् सिद्धकमोक्षकौ च
दग्ध्वा सराजद्रुमसोमवल्कांस्तद्भस्म शीतं वितरेत् सरःसु
भस्माञ्जलिं चापि घटे निधाय विशोधयेदीप्सितमेवमम्भः

दूषित जल की शोधक ओषधि—धावड़ी (धव अथवा धाय), अश्वकर्ण, असन (विजयसार), पारिभद्र (फरहद), पाटल, सिद्धक (निर्गुण्डी), मोक्षक (मोखा), अमलतास (राज द्रुम), सोमवल्क (विट्खदिर की छाल), इनको जला कर इनकी शीतल हुई (ठण्डी) भस्म को जल में छिड़क देवे अथवा इस राख की एक अञ्जलि घड़े भर पानी में डाल कर पीने के लिए प्रयुक्त होने वाले जल का इच्छानुसार शोधन करें॥

क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा ॥१०॥
स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा।
तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते रोमनखं तथैव ॥
तत्राप्यनन्तां सह सर्वगन्धैः
पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य मार्गम्।
सिञ्चेन् पयोभिः सुमृदन्वितैस्तं
विडङ्गपाठाकटभीजलैर्वा ॥१२॥

विषदूषित भूमि के लक्षण और उसकी चिकित्सा—विष से दूषित हुए भूमि प्रदेश, शिलापृष्ठ, तीर्थ (घाट आदि), ईरिण (ऊसर भूमि का मैदान) का गाय, बैल, हाथी, घोड़े, ऊट, गधे तथा मनुष्य शरीर के जिस जिस अंग से स्पर्श होता है वहाँ वह अंग शोथ युक्त हो जाता है, उस अंग में जलन होती है, वहाँ पर के रोम तथा नख गिर जाते हैं। इसके प्रतिकार के लिए अनन्ता (सारिवा) को एलादि गण के साथ सुरा में पीस कर दूध एवं काली मिट्टी अथवा वाल्मीक मृत्तिका मिलाकर इससे छिड़काव करे अथवा वायविडङ्ग, पाठा, कटभी (अपराजिता) आदि द्रव्यों के कषाय (काढ़े) से परिषेक क्रिया करे अर्थात् उन विषस्पर्शित अंगों को उक्त क्वाथ से सींचता व स्नान कराता रहे ॥ १०-१२ ॥

तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु
सीदन्ति मूर्च्छन्ति वमन्ति चान्ये।
विड्भेदमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते
तेषां चिकित्सां प्रणयेद्यथोक्ताम् ॥१३॥
विषापहैर्वाऽप्यगदैर्विलिप्य वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत।
तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सर्वैश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः॥
पित्तेन युक्तः कपिलान्वयेन
वाद्यप्रलेपो विहितः प्रशस्तः।
वाद्यस्य शब्देन हि यान्ति नाश
विषाणि घोराण्यपि यानि सन्ति॥१५॥

विषदूषित तृण और भोजन द्रव्य के लक्षण—घास भूसा आदि एवं भोजन द्रव्यों के विष से दूषित हो जाने पर जो प्राणी इनका प्रयोग करते हैं वे शिथिल (ढीले) पड़ जाते हैं, मूर्च्छाग्रस्त और वमन, अतिसार से पीड़ित हो जाते हैं तथा मृत्यु को भी प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्था में निम्न लिखित चिकित्सा कर प्रयुक्त विष का प्रतिकार करना चाहिए। विष नाशक या अन्य अगदों से नाना प्रकार के वाद्य यन्त्रों पर लेप कर उन्हें बजाए। चांदी, पारा, स्वर्ण, सारिवा इन सबके बराबर भाग कुरुविन्द (मुस्ता या रत्न विशेष अथवा शाण का पत्थर), इनको कपिल वर्ण की गाय के पित्त में मिला कर

है। वृश्चिक (Viper) सर्प में यह विष यन्त्र पूर्णरूपेण विकसित हुआ रहता है अतः उसका विषदन्त जब उपयोग में नहीं रहता है तब एक कोर (कब्जा Hinge) द्वारा दुहरा होकर मुड़कर सिकुड़ जाता है। डंश करने के लिये जब सर्प अपना मुख खोलता है तब यह विषदन्त स्वयं खुलकर निकल पड़ता है यदि इसकी 'विषदंष्ट्रा' नष्ट भी कर दी जावे तो उसकी स्थान पर पूर्ति के लिये अन्य सुरक्षित विषदन्त रहते हैं। आचार्य डल्हण ने भी उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—अनुद्धृता अननुयोजिता अनुच्छ्रिता इति यावत्, कर्षणकुनपरावृत्त्या हि दंष्ट्राणामधोमुखत्वेनेति॥ कहने का तात्पर्य यह है कि सर्प काटने के बाद दंष्ट्रा अर्थात् फँसे हुये दाँतों को मुक्त करने के लिये एक बार उलटा होना है और उलटते ही दाँतों का मुख नीचे की ओर हो जाता है परिणाम स्वरूप क्षत में विष टपक जाता है। इसीलिये कभी कभी काटने पर विष का प्रभाव नहीं होता क्योंकि सर्प उलटे बिना ही दाँत निकाल कर अथवा दाँत तोड़कर भाग जाता है अतः विष व्रण में नहीं पहुँच पाता। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी विषयन्त्र का वर्णन बहुत सुन्दर रूप से दिया है यथा—

अतः परं प्रवक्ष्यामि दंष्ट्राणां विषलक्षणम्। दंष्ट्राणान्तु विष नास्ति नित्यमेव मुखद्वये॥ दक्षिण नेत्रमासाद्य विष सर्पस्य तिष्ठति। मस्तुलुङ्गस्यैव सर्पस्य विष गच्छति मस्तके॥ मस्तकाद्धमनीं याति तनो नाडीषु तिष्ठति। नाडीभ्यो गच्छते दष्टे विष तत्र प्रवर्तते। (शतानीकसुमन्तसंवादम्) चरककार ने भी लिखा है कि—सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरास्मिता। पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावैऽधरोत्तरे॥ यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात्सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्र स्याद्धि विषम्॥ (च० चि० अ० २३।१३८-१३९) साँप की चार दाढ़ें होती हैं। उनमें से वामपार्श्व में नीचे की ओर की कृष्ण होती है और ऊपर की पीली, दाहिनी ओर की नीचे की लाल और ऊपर की श्याम वर्ण वाली होती है। इत्यादि।

यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम्।
अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः॥३०॥
मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम्।
अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते॥३१॥
कीटैर्दष्टानुविषैः सर्पवत् समुपाचरेत्।

सभी विषों में शीतक्रिया का उपदेश—चूँकि यह विष अतिशय उष्ण और तीक्ष्ण गुणों वाला कहा गया है अतः सब विषों में शीतल परिषेक करना चाहिये। कीटों का विष मन्द न बहुत उष्ण और बहुत कफ वाला होता है इसलिये कीटों के विष में स्वेदन क्रिया का निषेध नहीं है। उग्रविष वाले कीटों के दंश की चिकित्सा सर्पों के दंश की भांति ही करे॥ ३०-३२॥

स्वभावादेव तिष्ठेत्तु प्रहारादंशयोर्विषम्॥३२॥
व्याप्य सावयवं देहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः।
लौल्यादिषान्वितं मांसं यः खादेन्मृतमात्रयोः॥३३॥
यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेऽपि वा।
अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्य मृतमात्रयोः॥३४॥
मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जितम्।

सविषमांसभक्षण के दोष—स्वभाव से ही विष दंश किये हुये स्थान पर रहता है। विषाक्त शस्त्र के द्वारा आघात होने पर तथा साँप के द्वारा काटे जाने पर विष अङ्ग के साथ साथ सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। इसी प्रकार मरे हुये विषजुष्ट प्राणी का मांस लोभवश जो कोई खाता है, वह प्राणी उस विष के अनुसार लक्षण युक्त रोग से पीड़ित होता है अथवा मर जाता है। इसलिये विषाक्त बाण से मारे गये या सर्पदंश के कारण मृत हुये प्राणी के मांस का भक्षण नहीं करना चाहिये और यदि खाना ही हो तो प्रहार तथा दंश के स्थान को छोड़कर शीघ्र ही एक मुहूर्त के अन्दर ही उस मृत प्राणी के मांस को काटकर निकाल लेना चाहिये॥ ३३-३५॥

विमर्श—उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये आचार्य डल्हण लिखते हैं कि—इदानीं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः प्रहारदंशदेश मांसमभक्ष्य मुहूर्तार्धं तदुपादेयमुद्दिशन्नाह—स्वभावादित्यादि। दिग्धविद्धाहिदष्टयो प्राणिनोरिति शेषः। अत्र दिग्धविद्धो विषलिप्तकाण्डादिहत, अहिदष्टः सर्पदष्टः। इति॥

सवातं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते॥३५॥
आध्मातोऽत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः।
उद्गच्छत्यथ फेनं च विषपीतं तमादिशेत्॥३६॥
न चास्य हृदयं वह्निर्विषजुष्टं दहत्यपि।
तद्धि स्थानं चेतनाया. स्वभावाद्व्याप्य तिष्ठति॥३७॥

विष खाये हुए के लक्षण—वायु के साथ गुदा से निकलने वाले धूम (गृहधूम=धुवांस) के समान रंग का काला मल जिसे आता है, आध्मानग्रस्त, उष्ण अश्रुवाला, विवर्ण हुआ, शिथिलतायुक्त, रोगी जिसको वमन होता हो, मुख से फेन (झाग) आता हो उस रोगी को 'विषपीत' विषपान किया हुआ समझे। इस रोगी के विष से प्रभावित हृदय को आग में न जलावे क्योंकि हृदय चेतना का स्थान है अतः विष स्वभाव से ही उसमें व्याप्त होकर रहता है॥ ३५-३७॥

विमर्श—चरककार ने भी इसी विषय के सम्बन्ध में लिखा है कि—पीत मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्देशदेशे स्यात्॥ (च० चि० अ० २३।३१) जिस मनुष्य ने विषपान किया हो तो मरने पर उसका विष हृदय-प्रदेश में विशेषतया मिलता है तथा यदि दष्ट अथवा विद्ध हो तो वह दंश देश में अधिक स्थित रहता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी लिखा है कि—पीतं मृतस्य हृदये जग्धविग्धामिविद्धयो.। दंशे तिष्ठति भूयिष्ठं सर्वतः पिण्डितं विषम्॥ नाद्यादतो विशेषेण तेषां मांस तदाश्रयम्॥ (अ० सं० उ० तं० अ० ४०) आचार्य माधवकरजी विषपीत के लक्षणों का निर्देश करते हुये लिखते हैं कि—सवात गृहधूमाभ पुरीष योऽतिसार्यते। फेनमुद्गमते चापि विषपीत तमादिशेत्॥ (विषरोग निदान १५)।

अश्वत्थदेवायतनश्मशान-
वल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु।
याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया
ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः॥ ३८॥

विशिष्ट देश आदि में सर्पदष्टों की चिकित्सा करने का निर्देश—पीपल, मन्दिर, श्मशान, वल्मीक, सन्ध्याकाल, चौराहा, भरणी या मघा नक्षत्र में तथा मर्मस्थानों पर काटे हुए मनुष्यों की चिकित्सा असाध्य होने के कारण नहीं करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

विमर्शः—एक अन्य आचार्य ने भी असाध्यत्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि—चैत्यायतनवल्मीकश्मशानेषु चतुष्पथे। आर्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकाभरणीषु च ॥ पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दंशे मर्मस्वाशु हरेषु च। दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि स्युर्दूतसम्पदः ॥ इसी प्रकार अवस्था-विशेष के अनुसार भी असाध्यता का कथन आचार्य करते हैं। चरककार ने लिखा है कि—श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये। पक्षसन्धिषु मध्याह्नेष्वर्धरात्रेऽष्टमीषु च ॥ न सिध्यन्ति नरा दष्टाः पापण्डायतनेषु च। दृष्टिश्वासमलस्पर्शैर्विषराशीविषैस्तथा ॥ विनश्यन्त्याशु संप्राप्ता दष्टा मर्मसु मर्मसु। (च. चि. अ. २३।१५८-१६०) श्मशान, चैत्य, वल्मीक, यज्ञाश्रम, सुरालय में अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की सन्धियों (अमावस्या तथा पूर्णिमा) में, मध्याह्नकाल में, आधीरात के समय में, अष्टमी तिथि में तथा पाखण्डियों के निवासस्थानों में दष्ट व्यक्ति असाध्य होते हैं। दृष्टि, श्वास, मल तथा स्पर्श से जो विषाक्रान्त कर देते हैं उनके तथा आशीविषों (दिव्य सर्पों) का साथ (सम्बन्ध) होने से ही मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार जिस किसी भी साँप द्वारा मर्मों पर डँसे जाने से शीघ्र मृत्यु हो जाती है। सविष सर्पों से श्मशान आदि स्थानों में तथा अमावस्या आदि काल में तथा मर्मस्थान पर दंशित होने पर अष्टांग संग्रहकार भी असाध्यता का निरूपण करते हैं, यथा—श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रयसुरालये। चतुष्पथे जलस्थाने जीर्णोद्यानेषु कोटरे ॥ क्षौरिद्रुमे निम्ननदी निर्झरे गिरिगह्वरे। चक्रवज्रगदाकुन्तत्रिशूलाङ्कटाधराः ॥ रक्तास्यनयना ये च ते स्युराशीविषोपमाः। न तेषां कालनियमो न च वेगेष्वनुक्रमः ॥ मन्त्रनन्त्रबलान्नापि प्रमोक्षो विनिवर्तनम्। उपहारनमस्कारजपशान्तिपरायणः ॥ कश्चिज्जीवति तद्दष्टो विरूपो विकलोऽपि वा। तथा—श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसन्धिषु। अष्टमीनवमीसन्ध्या मध्यरात्रिदिनेषु च ॥ याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते। नैर्ऋताख्ये मुहूर्ते च दष्ट मर्मसु च त्यजेत् ॥ (अ. सं. उ. तं अ. ४०) अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु। क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि ॥ (मा. नि. विष रोग निदान २०) अर्थात् अजीर्ण, पित्त और धूप से पीड़ित व्यक्तियों में, बालकों, वृद्धों और भूखों में, क्षतक्षीण, मेह से पीड़ित, कुष्ठी, रूक्ष, निर्बल व्यक्तियों एवं गर्भवती स्त्रियों में सर्पविष असाध्य होता है।

दर्वीकराणां विषमाशुघाति
सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति।
अजीर्णपित्तातपपीडितेषु
बालप्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु ॥ ३९ ॥
वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु
रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु।

अवस्था विशेष में विषवृद्धि का कथन—दर्वीकर सापों का विष शीघ्र मारक होता है। सभी विष उष्णकाल में दुगुनी शक्ति से बढ़ते हैं। अजीर्णरोगी, पित्तरोगी, धूप से पीड़ित, बालक, प्रमेह रोगी, गर्भवती, वृद्ध रोगी, क्षीण, भूखे, रूक्ष प्रकृति, भीरु एवं बादलों के आने पर सब विषों का वेग अधिक बढ़ता है ॥ ३९ ॥

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति
राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥ ४० ॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्।
जिह्मा सिता यस्य च केशशातो
नासावभङ्गश्च सकण्ठभङ्गः ॥ ४१ ॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे
हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्रा-
द्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ ४२ ॥
दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य
तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा
हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ ४३ ॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च
जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात् ॥ ४४ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने जङ्गमविष-विज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

विष रोग से पीड़ित की असाध्यता के लक्षण—शस्त्र से क्षत होने पर भी जिसका रक्त नहीं निकलता, लताओं से मारने या बाँधने पर जिसके (त्वचा पर) रेखाएँ नहीं उभरतीं, शीतलजल के स्पर्श से जिसको रोमहर्ष नहीं होता उस विषजुष्ट की चिकित्सा चिकित्सक को नहीं करनी चाहिए। तथा जिसका मुख टेढ़ा हो जावे, जिसके बाल गिर जायें, जिसकी नासा का भंग हो, जिसका स्वरभंग हो, जिसके दंशस्थान पर लालिमा युक्त कृष्ण वर्ण का शोथ हो और जिसका हनुस्तम्भ (Lock jaw) हो गया हो ऐसे रोगी को भी असाध्य मानकर उसका परित्याग कर देना चाहिए। एवं जिसके मुख से मोटी वर्तिका के सदृश लालास्राव होता हो, जिसके निम्न तथा ऊर्ध्व दोनों ही मार्गों से रक्त का स्राव हो रहा हो तथा जिसके दंशस्थान पर चार दंष्ट्राओं के चिह्न हों उसकी भी चिकित्सा वैद्य को नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार जो उन्मत्त हो, जिसमें अत्यधिक उपद्रव (Complications) दृष्टिगोचर होते हों, जिसका स्वर नष्ट हो गया हो तथा जिसका वर्ण विकृत हो गया हो, जिसमें अरिष्ट के लक्षण दिखाई पड़ें एवं जिसको किसी प्रकार (मल, मूत्र) का वेग अथवा गमनागमन की शक्ति न हो उस व्यक्ति की भी चिकित्सा असाध्य समझ कर नहीं करनी चाहिए ॥४०-४४॥

विमर्श—चरककार ने भी इस प्रसङ्ग में अपना मत निम्न प्रकार से व्यक्त किया है यथा—नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतना-

ङ्गभङ्गविक्षेपाः। शिशिरैर्नं लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी च॥ क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि॥ (च. चि. अ. २३।३२) अर्थात् विषाक्रान्त पुरुष के यदि ओंठ नीले हों, दांत शिथिल हो गए हों, बाल झड़ते हों, अङ्ग टूटते हों अथवा नासाभङ्ग (नाक का टेढ़ा पड़ जाना) आदि हो, रोगी हाथ-पैरों को इधर-उधर फेंकता हो, शीतल द्रव्यों के स्पर्श आदि से भी यदि लोमाञ्च (रोमहर्ष) न होता हो, दण्डाघात करने पर उस पर अभिघात (चोट) का चिह्न न पड़े, क्षत करने पर (चाकू आदि से काटने पर भी) रक्त न निकले तो रोगी की शीघ्र मृत्यु हो जायगी ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार महर्षि आलम्बायन ने भी असाध्य रोगी के लक्षण बताते हुए कहा है कि -नैति रक्तं क्षताद्यस्य लताघातैर्न राजिकाः। न लोमहर्षं शीताद्यैर्वर्जयेत्तं विषार्दितम्॥ कहने का तात्पर्य यह है कि सर्पविष में एक शक्तिशाली तत्त्व तन्त्रिव (Fibrin) नाम का होता है जो रक्त को शीघ्र ही जमा देता है। इसी प्रकार इसके विपरीत एक दूसरा पदार्थ प्रतितन्त्रिव (Antifibrin) नामक भी रहता है। यह पदार्थ मृत्यु के उपरान्त रक्त को पुनः तरल बना देता है। अतः इस विष के प्रभाव से रक्तस्कन्दन (Blood coagulation) हो जाने से शरीर के अवयवों को काटने पर भी रक्तस्राव नहीं होता तथा रोगी में सभी प्रकार की प्रत्यावर्तन-क्रियाओं (Reflex actions) नष्ट हो जाने के फलस्वरूप ठण्डे पानी के छिड़काव से भी रोमहर्ष नहीं होता। त्वचा की अवनाम्यता (Elasticity) नष्ट हो जाती है इसलिए बेंत या लता के बाँधने पर भी चिह्न नहीं उभड़ता। चरककार ने साँप की चार दंष्ट्राओं में विष रहता है यह माना है अतः यदि सर्प चारों दंष्ट्राओं को लगाता है तो शरीर में विष की मात्रा अधिक प्रविष्ट हो गई है यह मान लिया जाता है अतः इसे असाध्य माना गया है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में मृत्युत्तर चिह्नों के स्पष्ट होने से (रक्तसंचार के बन्द होने से बेंत आदि से मारने पर भी त्वचा पर रेखाएँ नहीं उभरतीं। जलाने पर छाला नहीं पड़ता) तथा इन लक्षणों के पूर्वरूप उपस्थित होने पर भी रोगी की मृत्यु अपरिहार्य समझ कर चिकित्सा निष्फल मानकर नहीं की जाती है।

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने जङ्गमविषविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः सर्पदष्टविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

सर्पदष्टविषविज्ञानीय का उपक्रम—अब इसके आगे सर्पदष्ट विषविज्ञानीय कल्प का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥ १-२॥

धन्वन्तरिं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम्।
पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति॥३॥
सर्पसंख्यां विभागं च दष्टलक्षणमेव च।
ज्ञानं च विषवेगानां भगवन्! वक्तुमर्हसि॥४॥

प्रकाण्ड बुद्धिमान्, सब शास्त्रों में निपुणता प्राप्त किये हुए भगवान् धन्वन्तरि के चरणों को छू कर निवेदन करते हुए सुश्रुत ने पूछा कि भगवन्! सर्पों की संख्या, उनके भेद, उनके काटने के लक्षणों तथा विष के वेगों के विषय में आप पूर्णरूपेण जानकारी रखते हैं, अतः कहें॥ ३-४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राह्रवीद्विपजां वरः।
असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः॥५॥
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः।
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च॥६॥
ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही।
क्रुद्धा निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत्॥७॥
नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया।
ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान्॥८॥
तेषां सङ्ख्यां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः।

सर्पों के महाविषशाली होने का निर्देश—अपने प्रिय शिष्य सुश्रुत के इन वचनों को सुन कर चिकित्सकों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने कहा। वासुकि जिनमें श्रेष्ठ हैं ऐसे तक्षकादि सर्प असंख्य हैं, ये पृथ्वी-धारण करने वाले नागेन्द्र हवन की अग्नि के समान तेजस्वी हैं तथा जो निरन्तर गरजते हैं, बरसते हैं, तपते हैं, सागर, पर्वत, द्वीप समेत पृथ्वी जिनके द्वारा धारण की गई है जो क्रुद्ध हो कर निःश्वास और दृष्टिमात्र से समस्त जगत् का विनाश कर सकते हैं, उन्हें सादर प्रणाम है, उनसे यहाँ चिकित्सा से कोई सम्बन्ध नहीं है। और जो दंष्ट्रा-विष वाले तथा पृथ्वी पर विचरण करने वाले सांप हैं और जो मनुष्यों को काटते हैं उनकी संख्या को उचित क्रम से कहता हूँ॥ ५-८॥

अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा॥९॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च।
निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः॥१०॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः।
तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः॥११॥
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश।
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा॥१२॥
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः।

सर्पों के ५ भेद—ऐसे साँप संख्या में अस्सी होते हैं और इनके पाँच प्रकार होते हैं यथा दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज। ये पुनः आकार की दृष्टि से तीन प्रकार के माने गए हैं, यथा—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्। इनमें दर्वीकर साँप छब्बीस (२६), मण्डली सर्प बाईस (२२), राजिमान् दस (१०), निर्विष बारह (१२) तथा वैकरञ्ज तीन (३) हैं। चित्रित मण्डली (राजिमान तथा वैकरञ्जों के संयोग से उत्पन्न) साँप सात (७) हैं (मण्डलि से चार तथा राजिमान् से तीन)॥ ९-१२॥

विमर्शः—चरककार ने भी सर्पों के भेद-प्रभेद का वर्णन करते हुए मत व्यक्त किया है कि—दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च। सर्पा यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणा॥ (च. चि. अ. २३।१२३) सभी सर्प मुख्यतया तीन श्रेणियों में

विभक्त किए गये हैं, १ दर्वीकर, २ मण्डली, ३ राजिमान्। ये क्रमशः वात, पित्त व कफ को प्रकुपित करते हैं। इस प्रकार चरककार ने साँपों के तीन भेद ही कहे हैं और उन्होंने निर्विष तथा वैकरञ्ज सर्पों के भेद का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि उनके मतानुसार चिकित्सा में निर्विष साँपों के वर्णन की आवश्यकता नहीं होती तथा वैकरञ्ज वे सर्प कहाते हैं जो सङ्कर-जाति से उत्पन्न हों अतः इनके दष्ट में मिश्रित चिकित्सा होने के कारण उनका समावेश भी उपर्युक्त तीनों भेदों में ही कर लिया गया है। आधुनिक विद्वानों ने भी इनको नौ विशाल गणों में विभक्त किया है जिनकी कुल ३२६ जातियाँ हैं, जिनमें ३८ जातियों के सर्प न्यूनाधिक विष वाले होते हैं शेष सर्प निर्विष होते हैं। साँप प्रायः २"-३" इञ्च से लेकर ३०'-४०' फीट तक लम्बे होते हैं तथा अपनी लम्बाई के अनुसार कभी कभी मनों भारी होते हैं। उपर्युक्त नौ गणों में आज तक वैज्ञानिकों ने १७०० प्रकार के सर्प देखे हैं जिनमें ३०० प्रकार के विषैले होते हैं; जिनमें वाइपेरिडी (Viperideae) के १९ तथा कोलुब्रिडी गण (Colubrine) के २३१ जातियों में से भी केवल १९ जातियाँ ही विषधर तथा प्राणघातिनी होती हैं। भारतवर्ष में प्रायः १३० प्रकार के सर्प पाये जाते है इनमें से ६९ प्रकार के सर्प ही विषैले होते हैं, इन विषैले सर्पों की ४० जातियाँ भूमि पर रहने वाली और शेष २९ जातियों के सर्प समुद्र में पाये जाते हैं, अतः केवल भूमि पर पाये जाने वाले ४० प्रकार के सर्प ऐसे होते हैं जिनके काटने से मनुष्य विपजुष्ट हो जाता है। समुद्री सर्प प्रायः काटते ही नहीं क्यों कि उनको अवसर ही कम प्राप्त होता है। इस प्रकार आधुनिक मतानुसार साँप की दो तिहाई संख्या निर्विष तथा $\frac{1}{3}$ संख्या सविष होती है। भारत में पाये जाने वाले सर्पों के वंशों तथा अनुवंशों का वर्णन संक्षेप में निम्न लिखित है—अन्धाहिक वंश (Typhlopidae)—इसमें ब्राह्मणी, पिङ्गल तथा अन्धाहिक प्रमुख हैं। गौराहिक वंश (Glauconidae)—इस वंश में श्वेतहनुपिच्छ नामक सर्प प्रमुख माना जाता है। अजगर वंश (Boidae)—यह एक बड़ा वंश है अतः इसके दो उपवंश (१) महोरग तथा (२) विशालाहिक किए गए है। महोरग उपवंश में राजकीय महोरग, शिलोचन महोरग तथा हीरक महोरग (The diamond python) मुख्य कहे गये हैं। विशालाहिक उपवंश में द्वितुण्डी (दुमुहाँ), ककडिया, वर्षाहिक, कण्डेर, स्वर्णाभ विशालाहिक, रजताभ विशालाहिक, सकोचक विशालाहिक तथा सिकताभ विशालाहिक मुख्य हैं। उपपक्षीय सर्प वंश (Anilidae)—इसमें अहिपातक और मनोज्ञक नामक सर्प मुख्य हैं। त्राणपुच्छी सर्प वंश (Uropeltidae)—इसमें कण्टकपुच्छ और पुच्छफलक नामक सर्प प्रधान होते हैं। विचित्रवर्णी सर्प वंश (Xenopeltidae)—इसमें विचित्राहि नामक सर्प होता है इसमें नील, पीत, श्वेत तथा लाल आदि विविध रंगों का मिश्रण होने के कारण यह अत्यन्त सुन्दर दृष्टिगोचर होता है। चिपिटशिर वंश (Amlohkcephalidae)-इस वंश में चामहान्व, ऋजुपुच्छ तथा पृथुशीर्ष नामक सर्प होते हैं। उरगवंश (Colubridae)—यह बहुत बड़ा वंश है इसमें कृष्णोरग, पट्टिकाहिक, अनुशल्कक, रोहितसर्प, राजसर्प, औरहा, पीतबिन्दुक, हरानाग, पद्मनाग, पनियाँ साँप, मणिपृष्ठ, रैखिक, असितधामिन, खुकरी, दीर्घमाल, रेणुक, वृद्धक आदि सर्प होते हैं। नागवंश (Elapidae)—इसमें दर्वीकर (Cobras), शङ्खचूड, नागराज, राजनाग, काला नाग, राजीमन्त (Kraits), राजिल, करैत, कौड़िया, गंड़ैचा, गेहुअन, वैकरञ्ज (Coralsnakes) आदि सर्प होते हैं। आर्णव सर्प वंश (Hydrophidae)—इस वंश में असितोदधिक, पृथुलार्णवक, पीताधरक आदि सर्प होते हैं। आखुमण्डलाक वंश (Viperidae or pitless vipers)- यह सर्पवंश भी बहुत बड़ा है, इनमें बभ्रुकपाय, स्फीतिगात्रव्याल, पृषतरोध्रपुष्प, शृङ्गनासव्याल (Common European viper), गोनस, मण्डली, सूत्कार आदि सर्प आते हैं। खलमण्डलीक वंश (Crotalidae pitted vipers)- इसमें पालिहिर (Common Himalayan viper), धवलास्यक, शृङ्गकिंकणीक, रक्तमण्डल (The Anamalai viper, चित्रमण्डल, वेणुपत्रक, मिलिन्दक, एणीपद, पनसमण्डल आदि सर्प होते हैं। यह वंश भी बहुत बड़ा सर्प वंश माना जाता है। विषाक्त सर्पों को तीन बड़े समुदायों में विभक्त किया गया है-१ नागवंश (कौलुब्राहन) २ पृदाकुवंश (वाइपराहन), ३ सकर सर्प आदि। इन्हीं दोनों के मिश्रण से सविष और निर्विष भेद से अनेक जातियाँ मिलती है। दंश-लक्षणों के आधार पर कुछ विष रक्त को जमाते है तथा कुछ प्रोटीन को नष्ट करते हैं और कुछ रक्त को तरल बना कर अतिमात्रा में रक्तस्राव कराते हैं तथा कुछ सीधे नाडीसंस्थान पर प्रभाव करके श्वास तथा संज्ञा का नाश करने के बाद हृदयावसाद करके मृत्यु का कारण बनते है। इनमें रक्त को जमाने वाले श्लैष्मिक कोटि या राजिमान् श्रेणी में, रक्तस्रावी पैत्तिक मण्डली कोटि में तथा नाड़ी-संस्थान पर प्रभाव करने वाले वातिक या दर्वीकर के वर्ग में आ जाते हैं। अस्तु।

पादाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा ॥१३॥
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः।

सर्पों के डसने के हेतु—पैर से छूजाने से, स्वभाव से दुष्ट, क्रुद्ध हुए अथवा भोजन की इच्छा से ये अतिशय क्रोधी, भीम दर्शन वाले साँप काटते हैं ॥ १३ ॥

सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम्।
सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः ॥१४॥
पदानि यत्र दन्तानामेकं द्वे वा बहूनि वा।
निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्वृत्य करोति हि ॥१५॥
चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च।
सङ्क्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तं सर्पितं भिषक् ॥१६॥
राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा।
विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत् ॥१७॥
अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य देहिनः।
पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः ॥१८॥
सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः।
कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत् ॥१९॥

सर्प दंश के ३ प्रकार—यह दंश भी तीन प्रकार का होता

है। सर्पित, रदित तथा निर्विष दंश। साँप के काटने को समझने वाले कुछ विद्वान् सर्पाङ्गाभिहत को भी चतुर्थ प्रकार का दंश मानते हैं। जहाँ पर एक-दो अथवा बहुत से दांतों के चिह्न, गहराई तक गडे हुए तथा थोड़े रक्त वाले होते हैं, जिन चिह्नों को साँप उलटकर बनाता है, चुचमालक युक्त, विकार उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म शोफ युक्त होते हैं उनको वैद्य सर्प के द्वारा काटा हुआ 'सर्पित दंश' समझे। जहाँ पर रेखाएँ लाल अथवा नीली, पीली या श्वेत हों उसे 'रदित' जानना चाहिए। यह अल्प विष वाला होता है। जहाँ पर शोथ कम हो तथा रक्त भी थोडा दूषित हुआ हो और रोगी स्वस्थ रहे वहाँ पर एक चिह्न या बहुत चिह्न होने पर भी चिकित्सक उसको 'निर्विष' जाने। इसी प्रकार भीरु व्यक्ति में साँप के छूने मात्र से कुपित हुई वायु किसी-किसी में शोथ उत्पन्न कर देता है, इसको सर्पाङ्गाभिहत कहा जाता है ॥ १४-१९ ॥

विमर्श—चरककार ने 'सर्पाङ्गाभिहत' को शङ्का-विष में मानते हुए लिखा है कि—दुरन्धकारे विद्धस्य केनचिद्दष्टशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरच्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥ ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाऽप्येतच्छङ्काविषं मतम्। चिकित्सितमिदं तस्य कुर्याद्दाश्वासनं बुधः ॥ (च. चि अ. २३।२२०-२२१) घोर अन्धकार में किसी वस्तु के चुभने से पुरुष को यह शङ्का हो जाय कि किसी सविष प्राणी ने डस लिया है तो उसी शङ्का से विष का उद्वेग हो जाता है जिससे ज्वर, वमन, मूर्च्छा व दाह भी हो सकता है अथवा ग्लानि, मोह व अतिसार हो जाता है। इसे शङ्का-विष जानना चाहिए।

व्याधितोद्विग्नदष्टानि ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु।
तथाऽतिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ॥२०॥
सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते ।
विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न क्रमते विषम् ॥२१॥

सर्पविष की अवस्थाविशेष से अल्पविषता—रोगी अथवा उद्विग्न (घबडाए) हुए साँप के द्वारा काटे हुए पुरुषों में विष अल्पवेग से थोड़ा चढ़ता है। इसी प्रकार अतिवृद्ध, बालक अवस्था वाले सर्प के काटने से भी विष थोडा ही चढ़ता है तथा गरुड, देवता, ब्रह्मर्षि, यक्ष, सिद्धों से सेवित एवं विषघ्न ओषधियुक्त स्थानों में विष का संचार नहीं होता है ॥२०-२१॥

विमर्श—रुग्ण, उद्विग्न, बाल अथवा वृद्ध सर्प में स्वभावतः विष अल्प मात्रा में तथा अल्प वीर्य वाला होता है इसी कारण अल्प मात्रा में तथा अल्प वीर्य वाला सर्पविष दष्ट प्राणी के शरीर में पहुँच कर भी अल्प प्रभाव ही करता है।

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः ।
ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥२२॥
मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः।
ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥२३॥
स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः ॥२४॥

दर्वीकर-मण्डली राजिल के लक्षण—चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक, अंकुश का चिह्न धारण करने वाले, फणयुक्त और शीघ्रगामी सर्प दर्वीकर होते हैं। नाना प्रकार के मण्डलों से चित्रित, चिपटे, मन्दगति वाले, अग्नि और सूर्य के समान कान्ति वाले साँप मण्डली हैं तथा चिकनी, नाना प्रकार के वर्णों की, तिरछी और ऊर्ध्वगामी रेखाओं से युक्त, चित्रित सर्प राजिमान् होते हैं ॥ २२-२४ ॥

विमर्श—चरककार ने उक्त सर्पों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है यथा—दर्वीकराः फणिनो मण्डली मण्डलाफणः। बिन्दुलेखा विचित्राङ्गः पन्नग स्यात्तु राजिमान् ॥ (च. चि. अ. २३।१२४) अर्थात् दर्वीकर उन्हें कहते हैं जिनके फन होता है। मण्डली उन्हें कहा जाता है जिन पर मण्डल होते हैं और फन नहीं होता। राजिमान् सर्प वे हैं जिन पर बिन्दु और रेखाएँ होती हैं और इन्हीं से जिनकी देह विशेषतः चित्रित रहती है। अष्टांगसंग्रहकार ने भी 'मण्डली' सर्पों के विषय में वर्णन किया है कि—'ज्ञेया मण्डलिनो भोगी मण्डलैर्विविधैश्चिताः। प्रायशो मन्दगमना ॥ इति।

मुक्तारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः।
सुगन्धयः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥२५॥
क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः।
सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां तथाऽम्बुजम् ॥२६॥
कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा।
धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥२७॥
महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव पशुपत्वचः।
भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्तिताः ॥२८॥

सर्पों की ब्राह्मणादि जाति का निरूपण—जो सर्प मोती, चाँदी की प्रभा के अथवा जो कपिल वर्ण के होते हैं, सुगन्धित होते हैं तथा सुवर्ण की कान्ति के होते हैं वे साँप ब्राह्मण जाति के हैं। जो साँप स्निग्धवर्ण, अतिशय क्रोधी, सूर्य-चन्द्र की आकृति के या छत्र के अथवा कमल के चिह्नवाले होते हैं वे क्षत्रिय जाति के हैं। जो काले, वज्र के समान लाल वर्ण के, धूम्रवर्ण या घरेलू कबूतर (पारावत) के समान वर्ण वाले होते हैं, वे सर्प वैश्य जाति के होते हैं तथा भैंस तथा चीता के वर्ण के, कठोर त्वचा वाले, नाना प्रकार के भिन्न-विचित्र रंगों वाले सर्प शूद्र जाति के होते हैं ॥ २५-२८ ॥

कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु।
पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥२९॥
अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम्।
ज्ञेयौ दोषैश्च दम्पत्योः—

दर्वीकरादिकों की वातादि प्रकोपकता—सब फणावाले (दर्वीकर) सर्प वायु को प्रकुपित करते हैं। मण्डली साँप पित्त को और राजिमान् सर्प कफ को प्रकुपित करते हैं। असमानवर्ण माता-पिता की सन्तान दो दोषों के संसर्गरूप-जन्य लक्षण उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥

—विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥३०॥

रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति हि।
शेषेपूक्ता मण्डलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः ॥३१॥

तीन प्रकार के साँपों के विचरण काल—इसमें और भेदों को कहते हैं रात्रि के पिछले प्रहर में राजिमान् सर्प घूमते हैं, शेष रात्रि में अर्थात् रात्रि के पहले, द्वितीय तथा तीसरे

प्रहर में मण्डली सर्प और दिन के समय में दर्वीकर सर्प घूमते हैं ॥ ३०-३१ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी लिखा है कि—विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम् । विष यथाक्रम तेषा तस्माद्वातादिकोपनम् ॥ (च. चि अ. २३।१२५) इन सर्पों के विष क्रमशः रूक्ष, कटु, अम्ल, उष्ण तथा मधुर शीतल होते हैं और यही कारण है कि वे वात आदि दोषों को प्रकुपित करते हैं। फणी सर्प का विष अम्ल तथा उष्ण होने से पित्त को प्रकुपित करता है तथा राजिमान् सर्प का विष मधुर व शीतल होने के कारण कफ को प्रकुपित करता है।

दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा ।
राजिमन्तो वयोमध्या जायन्ते मृत्युहेतवः ॥३३॥

अवस्था-विशेष से सर्पों की उग्रविषता—दर्वीकर साँप तरुणावस्था में, मण्डली सर्प वृद्धावस्था में तथा राजिमान् सर्प मध्यवय में मृत्यु के कारण होते हैं ॥ ३२ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि—तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसास्थविरास्तथा । राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः ॥ (च. चि. अ. २३।१२५) कृष्ण सर्प तरुणावस्था में, गोनस वृद्धावस्था में तथा राजिमान् मध्य आयु में अत्यन्त तीव्र विषवाले होते हैं। यहाँ कृष्ण सर्प से दर्वीकर सर्प का तथा गोनस से मण्डली सर्प का अभिप्राय है। अष्टांगसग्रह के उत्तरतंत्र में भी निम्न वर्णन मिलता है यथा—तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च । विषोल्बणा भवन्त्येते द्वयन्तरा ऋतुसन्धिषु ॥ (अ. सं उ. तं. अ. ४०)

नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः ।
वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृताः ॥३३॥

सर्पों की अल्पविषता में हेतु—नेवले से घबराये (भयभीत हुए), बाल सर्प, जल के वेग से व्यथित हुए, कृश (दुर्बल), वृद्ध, केंचुली उतारे हुए तथा डरे हुए साँप अल्प विषवाले कहे गये हैं ॥ ३३ ॥

विमर्श.—चरककार ने भी कहा है कि—वारिविप्रहता क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः । वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः ॥ (च. चि. अ. २३।१६२) अष्टांगसंग्रहकार ने भी लिखा है कि—जलाप्लुता रनिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः । शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः ॥ तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः । कुशीपधिकण्टकवद्ये चरन्ति च काननम् ॥ देश च विद्याच्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः ॥ (अ. सं. उ. तं. अ ४०)

तत्र, दर्वीकराः—कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासर्पः, शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, खण्डफणः, ककुदः, पद्मो, महापद्मो, दर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रूकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिरा, अलगर्दः, आशीविष इति (१)।

मण्डलिनस्तु—आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डलः, चित्रमण्डलः, पृषतो, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको, गोनसो, वृद्धगोनसः, पनसो, महापनसो, वेणुपत्रकः, शिशुको, मदनः, पालिन्दिरः. पिङ्गलः, तन्तुकः, पुष्पपाण्डुः, पडङ्गः, अग्निको, वभ्रुः, कपायः, कलुप. पारावतो, हस्ताभरणः, चित्रक, एणीपद इति (२)।

राजिमन्तस्तु—पुण्डरीको, राजिचित्रः, अङ्गुलराजि., विन्दुराजि, कर्दमकः, तृणशोपक, सर्पपक, श्वेतहनुः, दर्भपुष्पश्चक्रको, गोधूमकः, किक्किसाद इति (३)।

निर्विषास्तु—गलगोली, शूकपत्रः अजगरो, दिव्यको, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतीरथ, क्षीरिकापुष्पक., अहिपताकः, अन्धाहिको, गौराहिको, वृक्षेशय इति(४)।

वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः, तद्यथा—माकुलिः, पोटगलः, स्निग्धराजिरिति । तत्र, कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलि; राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः; कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति । तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके (५)।

त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकपोटगलपुष्पाभिकीर्णदर्भपुष्पवेल्लितकाः सप्त, तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत्, शेषा मण्डलिवत्, एवमेतेषां सर्पाणामशीतिर्व्याख्याता ॥ ३४ ॥

दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष, वैकरञ्ज साँपों के नामादि का निर्देश—इनमें दर्वीकर साँप-कृष्णसर्प, महाकृष्ण, कृष्णोदर, श्वेतकपोत, महाकपोत, बलाहक, महासर्प, शंख-कपाल, लोहिताक्ष, गवेधुक, परिसर्प, खण्डफण, ककुद, पद्म, महापद्म, दर्भपुष्प, दधिमुख, पुण्डरीक, भृकुटी मुख, विष्किर, पुष्पाभिकीर्ण, गिरिसर्प, ऋजुसर्प, श्वेतोदर, महाशिर, अलगर्द और आशीविष होते हैं। मण्डली सर्पों में—आदर्श मण्डल, श्वेतमण्डल, रक्तमण्डल, चित्रमण्डल, पृषत, रोध्रपुष्प, मिलिन्दक, गोनस, वृद्धगोनस, पनस, महापनस, वेणुपत्रक, शिशुक, मदन, पालिन्दिर, पिंगल, तन्तुक, पुष्पपाण्डु, षडङ्ग, अग्निक, वभ्रु, कषाय, पारावत, हस्ताभरण, चित्रक एणीपद होते हैं। राजिमान् सर्पों में—पुण्डरीक, राजिचित्र, अंगुलराजि, विन्दुराजि, कर्दमक, तृणशोषक, सर्पपक, श्वेतहनु, दर्भपुष्प, चित्रक, गोधूमक और किक्किसाद होते हैं। निर्विष सर्प में—गलगोली, शूकपत्रक, अजगर, दिव्यक, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतीरथ, क्षीरिकापुष्पक, अहिपताक, अन्धाहिक तथा वृक्षेशय होते हैं—वैकरञ्जसांप-दर्वीकर आदि तीनों प्रकार के सर्पों में विपरीत जाति से उत्पन्न साँप यथा—माकुलि, पोटगल, स्निग्धराजि। इनमें काले साँप द्वारा गोनस में विपरीत जाति से या विपरीतता से माकुलि, राजिमान् सर्प से गोनस में या विपरीतता से पोटगल सर्प उत्पन्न होता है। स्निग्धराजि सर्प कृष्णसर्प से राजिमान् में या विपरीतता से उत्पन्न होता है। इनमें पहला (माकुल) सर्प पिता की भाँति तेजस्वी

होता है और शेष दो माता के समान गुण व तेजवाले होते है। तीनों वैकरञ्ज सर्पों के सात भेद हैं यथा—दिव्येलक, रोध्र पुष्पक, राजिचित्रक, कपोटगल, पुष्पाभिकीर्ण, दर्भपुष्प, वेल्लितक ॥ ३४ ॥

इनमें पहले तीन सर्पों का विष राजिमान् सर्पो की भांति तथा शेष सर्पों का विष मण्डली सर्पों के समान होता है। इस प्रकार अस्सी सर्पों का व्याख्यान हो गया ॥ ३४ ॥

तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांस', सूक्ष्मनेत्र-जिह्वास्यशिरसः स्त्रिय', उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥ ३५ ॥

सर्पों के पुरुषादि जाति का लक्षण—इनमें बड़े नेत्र, जिह्वा, मुख और काले शिर वाले सर्प पुरुष जाति के, सूक्ष्म नेत्र जिह्वा, मुख तथा शिर वाले स्त्री जाति के होते हैं। दोनों जाति के लक्षण वाले, मन्दविष एवं क्रोधरहित सर्प नपुसक होते हैं ॥ ३५ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी सर्प, सर्पिणी और नपुंसक सर्प की पहचान करने के लिये निम्न श्लोक का पाठ किया है यथा—वृत्तभोगो महाकाय श्वसन्नूर्ध्वेक्षण. पुमान्। स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वत. स्याद्विपर्ययात् ॥ क्लीव' स्रस्त., ... ॥ (च चि अ. २३।१२९) अर्थात् जिसका फन गोल हो, देह महान् हो, फुफकारता हो, जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर हो, शिर स्थूल हो और देह सम हो वह सर्प नर होता है और यदि इसके विपरीत लक्षण हों तो उसे सर्पिणी समझें। नपुंसक सर्प शिथिल होता है तथा उसका वेग मन्द होता है। गोधा (गोह) को भी द्विजिह्व होने के कारण सर्प वंश में ही गिन लिया जाता है। सर्पों के उपर्युक्त वर्णन को भली भांति समझने के लिए टिप्पणी की तालिकायें[1] बड़ी लाभदायक सिद्ध होगीं।

१. सर्पों का वर्गीकरण

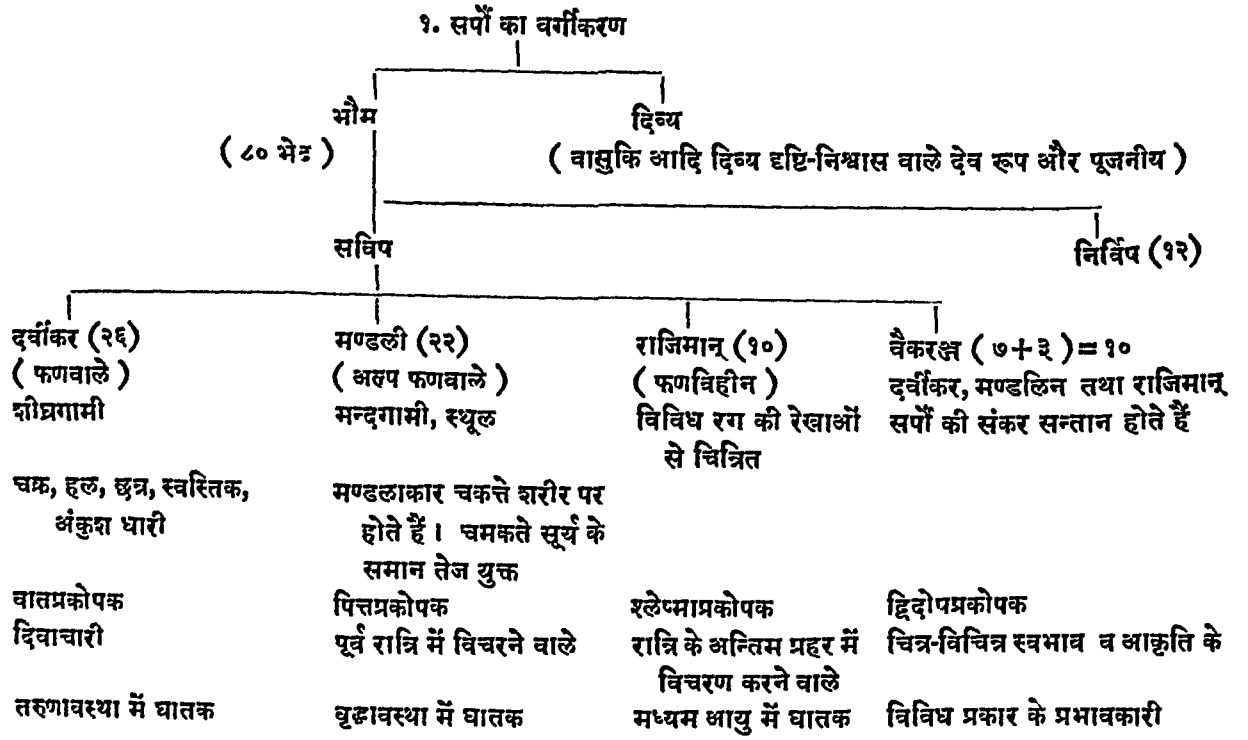

भौम सर्पों का वर्ण भेद से वर्गीकरण

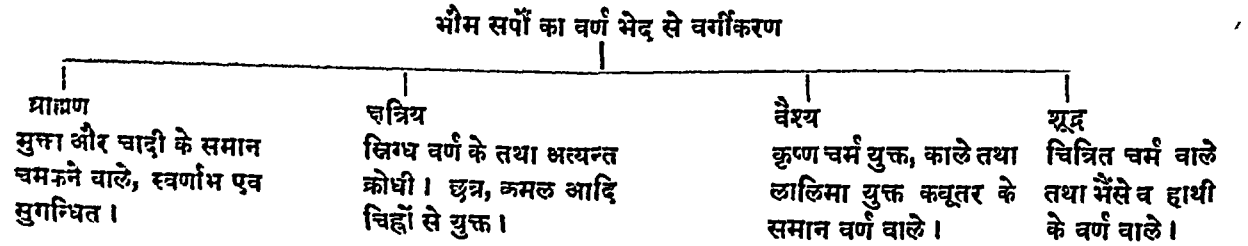

भौम सर्पों का लिङ्गभेद से वर्गीकरण

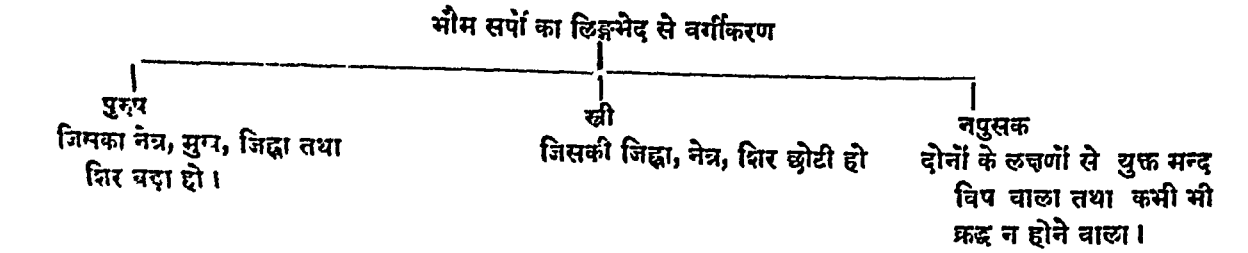

तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः। किं कारणं? विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति, न चावकाशोऽस्ति वाक्समूहमुपसंतुं प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्वत्र त्रैविध्यं भवति, तस्मात् त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः; एतद्ध्यातुरहितमसंमोहकरं च, अपि चात्रैव सर्वसर्पव्यञ्जनावरोधः ॥ ३६ ॥

सामान्य रूप से सर्पदष्ट के लक्षण—सब सर्पों के दंश के लक्षण सामान्य रूप में कहे जायेंगे। क्योंकि विष तीक्ष्ण तलवार की भांति, बिजली, अग्नि के तुल्य शीघ्र ही व्यापक होने वाला है। मुहूर्त मात्र (क्षण भर) की उपेक्षा करने से रोगी को मार देता है। वाणी से भी कहने तक का समय नहीं रहता। प्रत्येक सर्प के काटने पर भी तीन प्रकार के लक्षण होते हैं। इसलिए उनको भी तीन प्रकार से ही कहेंगे। ये कहे गए लक्षण रोगी के लिये हित कर होते हैं और वैद्य को किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं होने देते। इन्हीं लक्षणों के अन्तर्गत सब सर्पों के विष के लक्षण आ जाते हैं ॥ ३६ ॥

तत्र दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्तब्धावसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनागमनं स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति; मण्डलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्ध्वमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति; राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामादंशशोफः सान्द्रकफप्रसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः कण्ठे श्वयथुर्घुर्घुरक उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥ ३७ ॥

दर्वीकरादि[सर्पविशेष से दष्ट पुरुष के लक्षण—दर्वीकर के विष से त्वचा, नख, नेत्र, दाँत, मुख, मूत्र, मल और दंश स्थान काले पड़ जाते हैं। रूक्षता, शिर में भारीपन, सन्धियों में वेदना, कटि, पृष्ठ (पीठ), ग्रीवा में दुर्बलता, जम्भाई आना, कम्पन, स्वरभ्रंश (गला या आवाज का बैठना), गले से घरघराहट, जडता, सूखे उद्गार, कास, श्वास, हिक्का, वायु का ऊपर की ओर जाना, शूल, ऐंठन, प्यास, लालास्राव, फेन (झाग) आना, स्रोतों का बन्द होना और वातजन्य नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं। मण्डली सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख, मल, मूत्र आदि का पीला पड़ जाना, शीत की इच्छा करना, परिधूपन (सर्वाङ्ग सन्ताप), दाह, प्यास, मद, मूर्च्छा, ज्वर, रक्त की ऊर्ध्व तथा अधोमार्ग से प्रवृत्ति, मांस का विदीर्ण होना, शोथ, दंशस्थान का सडना, पीले रूपों को देखना, विष का शीघ्र कुपित होना और पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदनायें (ओप-चोप आदि) होती हैं। राजिमान् सर्प के विष के प्रभाव से त्वचा, नख आदि श्वेत हो जाते हैं, शीत लग कर ज्वर होता है, रोमहर्ष, अङ्गों में जडता, दंश के चारों ओर सूजन, घट्ट कफ का मुख से गिरना, बार बार वमन, नेत्रों में कण्डू, गले में शोथ होना, घर्घराहट, श्वासावरोध, आँखों के सामने अंधेरा छा जाना और कफजन्य विविध प्रकार की वेदनायें होती हैं ॥ ३७ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी तीनों प्रकार के विषधर सर्पों के दंश-अवस्था का वर्णन निम्नलिखित ढग से किया है, यथा—दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः। निरुद्धरक्तः कूर्मामो वातव्याधिकरो मतः॥ पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिकृतः। पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत्॥ कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलस्थिरशोफकृत्। स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक्श्लेष्मव्याधिसमीरणः॥ (च. चि. अ. २३।१२६-१२८) अर्थात् फणी सर्पों के दश में दाँतों के चिह्न सूक्ष्म तथा कृष्ण वर्ण के होते हैं वहाँ से रक्त नहीं निकलता, दंशस्थान कछुए की पीठ के समान उभरा हुआ होता है, इससे वातरोग उत्पन्न होते हैं। मण्डली सर्पों के द्वारा किया गया दंश विस्तृत स्थान पर अथवा गहरा होता है तथा वह शोथयुक्त होता है। उसमें पीली आभा होती है। स्रवित होने वाले रक्त का वर्ण भी पीला होता है और यह सभी पित्तविकारों को उत्पन्न करता है। राजिमान् सर्प का दंश पिच्छिल तथा स्थिर शोथकारक होता है। वह स्निग्ध एवं पाण्डुर होता है। दंशस्थान से निकलने वाला रक्त गाढ़ा होता है और इससे कफज रोग उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अष्टांगसंग्रहकार ने भी इस प्रसंग में अपना मत निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है यथा—" तत्र दंशः फणावताम्। कूर्मपृष्ठोन्नतो रूक्ष सूक्ष्मदंष्ट्रापदान्वितः। विकाराः श्यावना वक्त्रनखमूत्रशिविट्त्वचाम॥ शीतज्वरः सन्धिरुजा निद्रा-

आधुनिक मतानुसार सर्पों का वर्गीकरण

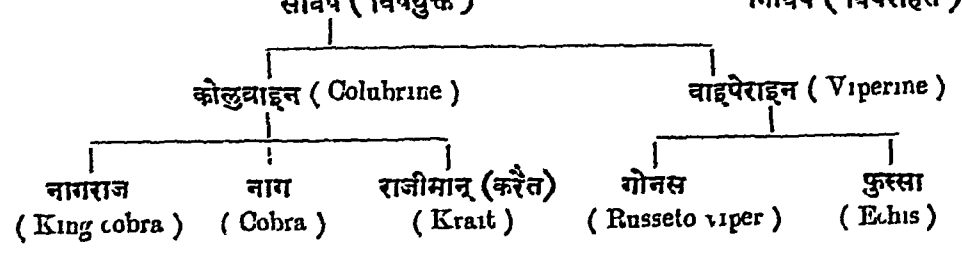

नाशो विजृम्भिका। मन्यास्तम्भः शिराध्मान पृष्ठकट्यस्थिवाग्ग्रहा ॥ शिरोगुरुत्वमरुचि. कासश्वासौ हनुग्रह.। शूलमुद्वेष्टन कोष्ठे शोष रोधौ मलाश्रयौ ॥ सन्दिग्धवाक्त्व नैश्चेष्टय मृतस्येव विसञ्ज्ञता। फेनलालोद्गमौ हिध्मा कण्ठे घुरघुरायणम् ॥ शुष्कोद्गारो मुहुरते ते वातजाश्चापरे गदा'। दशो मण्डलिनां सोष्मा सशोफः पीतलोहित ॥ पृथुर्विसर्पदाहोपाक्लेदकोथैर्विशीर्यते। सिकारा वक्त्रदन्तादिपीतता तृट् श्रमो श्रमः ॥ दाहो मूर्च्छा ज्वरस्तिक्तवक्त्रत्वं पीतदर्शनम् ·····॥ रक्तागमनमूर्ध्वाधः शीतेच्छा धूमको गदः। आशु सर्वाङ्गविसृर्गदास्ते ते च पित्तजा ॥ दशो राजिमतां स्निग्धः स्थिर. पिच्छिलशोफकृत्। सान्द्रास्र. शिशिर पाण्डुस्तद्वि कारा शिरोव्यथा ॥ अरुचिर्छर्दिरालस्य हृल्लासो मधुरास्यता। कण्ठे घुर्घुरक पाको कण्डूरक्ष्णोर्हिमो ज्वरः ॥ कृच्छ्राद् दुःश्वसन निद्रा कास श्वेतनखादिता। स्तम्भो गुरुत्वं चाङ्गानां नासिकाक्षिमुखस्रुति ॥ रोमहर्षस्तमश्चासो रोगाश्चान्ये कफोद्भवा' ॥··· (अ. सं. उ. तं. अ. ४०)

पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति, गर्भिण्या पाण्डुमुखो भ्रमाच्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति, ग्रासार्थिनाऽन्नं काङ्क्षति, वृद्धेन चिरान्मन्दाश्च वेगाः, बालेनाशु मृत्वश्च, निर्विषेणाविषलिङ्गम्, अन्धाहिकेनान्धत्वमित्येके; ग्रसनाद् अजगरः शरीरप्राणहरो न विषात्। तत्र सद्य'प्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राशनिहत इव भूमौ, स्रस्ताङ्गः स्वपिति ॥ ३८ ॥

पुरुषादि जाति के सर्पों से दष्ट पुरुष के लक्षण—पुरुष साँप द्वारा काटा गया रोगी ऊपर को देखता है, स्त्री सर्प द्वारा दष्ट रोगी नीचे की ओर देखता है तथा उसके माथे में सिराएँ उभर आती हैं और नपुंसक सर्प के द्वारा दंशित रोगी तिरछा अर्थात् पार्श्व में देखता है। गर्भवती सर्पिणी से काटे हुए मनुष्य का मुख पाण्डुवर्ण एवं शोथयुक्त होता है, प्रसूता सर्पिणी से काटे हुए मनुष्य को उदरशूल होता है, रक्तमिश्रित मूत्र की प्रवृत्ति होती है तथा उसे उपजिह्विका नामक रोग हो जाता है। ग्रासार्थी सर्प द्वारा दष्ट मनुष्य अन्न की चाहना करता है। वृद्ध साँप से काटे जाने पर विष का वेग मन्द रहता है तथा देरी करके चढ़ता है। बालक सर्प के काटने से विष जल्दी तो चढ़ता है परन्तु मन्द वेग का ही रहता है। निर्विष सर्प के काटने पर विष के लक्षण नहीं होते। अन्धे सर्प द्वारा दष्ट होने पर मनुष्य अन्धा हो जाता है ऐसी कुछ पुरुषों की धारणा है। अजगर साँप के द्वारा निगल लिए जाने पर प्राणों का विनाश होता है किन्तु उसके विष के प्रभाव से नहीं होता। इनमें से तुरन्त प्राणहर सर्प द्वारा दष्ट पुरुष शस्त्र या वज्राहत (बिजली से मारे हुए) मनुष्य की भाँति तुरन्त भूमि पर गिर जाता है, उसके सभी अंग शिथिल हो जाते हैं तथा वह सो जाता है ॥ ३८ ॥

विमर्श—चरकाचार्य ने सर्प, सर्पिणी आदि से दष्ट पुरुष के निम्नलिखित लक्षण कहे हैं, यथा— ···अधोदृष्टिः स्त्रीनप्रकम्पते। स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुसा नरो मतः ॥ व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीवदष्ट नर वदेत्। इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीव निदर्शनम् ॥ पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः। जृम्भाक्रोधोपजिह्वार्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ॥ (च. चि. अ. २३।१२०-१२२) अर्थात् सर्पिणी से दष्ट पुरुष की दृष्टि नीचे की ओर होती है। स्वर हीन व मन्द होता है तथा रोगी काँपता है। पुरुष सर्पदष्ट के लक्षण सर्पिणी-दष्ट के लक्षणों के विपरीत समझना चाहिए। और जब कहे गए सर्प और सर्पिणी के दष्ट के लक्षण मिश्रित हों तो पुरुष को नपुंसक सर्प द्वारा दष्ट जानना चाहिए। यदि गर्भिणी सर्पिणी काटे तो मुख पीला पड जाता है, ओष्ठ सूज जाते हैं और नेत्रों का वर्ण काला पड जाता है। इसी प्रकार प्रसूता सर्पिणी द्वारा दष्ट होने पर रोगी जम्भाई, क्रोध तथा उपजिह्विका नामक रोग से पीडित होता है, उसका मूत्र अत्यन्त लाल रंग का तथा रक्तयुक्त होता है। इसी प्रसंग में अष्टांगसंग्रहकार का भी मत है कि—·····दष्ट पुंसो ध्वंमीक्षते। प्रक्षिपेद्दक्षिण पाद पूर्वकायसमुद्यत. ॥ धीरोऽल्पवेग' शर्वर्यां विपरीतस्तु योषिता। हीनस्वरोऽतिसारार्त कम्पते त्रस्यते ज्वरी ॥ नपुसकेन तिर्यग्दृग्धीरश्च प्रियमैथुनः। बहुवादी च·····॥ (अ. सं. उ. तं. अ. ४०)।

तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति। तत्र दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्ट कृष्णतामुपैति, तेन काष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाङ्गे भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाङ्गे भवन्ति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति, तेन तन्द्राप्रसेकसन्धिविश्लेषा भवन्ति, पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति, तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति, षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणीं चात्यर्थं दूषयति, तेन गात्राणां गौरवमतीसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति; सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चात्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति, तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गः सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति। मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति, द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं पीतता परिदाहो दशे श्वयथुश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशक्लेदः स्वेदश्च; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति; पञ्चमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति। षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत्। राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेन पाण्डुताऽत्यर्थं जाड्यं शिर·

शोफश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दंशक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवं चापादयति; पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरं च करोति; षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति ॥ ३६ ॥

सर्पविष के सात वेगों के लक्षण—सब प्रकार के साँपों के विष के सात वेग होते हैं, यथा—दर्वीकर साँपों के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है तथा यह दूषित रक्त काला पड़ जाता है। इससे अङ्गों में कालापन और चीटियों के रेंगने के समान प्रतीति होती है, विष के दूसरे वेग में मांस दूषित हो जाता है जिसके कारण अतिशय कृष्णता, सूजन और अंग में गांठें उत्पन्न हो जाती हैं। तीसरे वेग में विष मेद धातु को दूषित करता है इससे दंशस्थान सड़ने लगता है, शिर में भारीपन, पसीना आना तथा आँखों से दिखाई न पड़ना आदि होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ में पहुँचकर कफ-प्रधान दोषों को दूषित करता है इसके फलस्वरूप तन्द्रा, कफ का मुख से स्राव होना तथा सन्धियों की शिथिलता आदि लक्षण होते हैं। पाँचवें वेग में विष अस्थियों में प्रविष्ट हो जाता है तथा प्राण और अग्नि को दूषित करता है जिसके कारण पर्वों का टूटना, हिक्का और दाह आदि लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। छठे वेग में विष मज्जा में पहुँचता है और ग्रहणी (पित्तधरा कला) को अत्यधिक दूषित कर देता है जिसके कारण शरीर में भारीपन, अतिसार, हृदय प्रदेश में पीड़ा और मूर्च्छा होती है। सातवें वेग में विष शुक्र में पहुँच कर व्यान-स्थान को अत्यधिक प्रकुपित कर देता है जिससे वायु का प्रकोप हो जाता है, कफ को सूक्ष्म स्रोतों से बाहर निकालता है। इससे घट्ट कफ मुख से निकलता है, कटि, पीठ टूटती हुई सी प्रतीत होती है, सभी चेष्टाएँ प्रायः रुक सी जाती हैं। लालास्राव और स्वेदागमन (पसीने का निकलना) बहुत होता है तथा उच्छ्वास रुक जाता है। मण्डली सर्प के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है। यह दूषित हुआ रक्त पीला हो जाता है। इसके कारण जलन, अंगों में पीलापन हो जाता है। दूसरे वेग में विष मांस को दूषित करता है इसके परिणामस्वरूप अतिशय पीलापन, दाह और दंशस्थान पर सूजन होती है। तीसरे वेग में विष मेद को दूषित करता है इसके कारण दर्वीकर साँप के विष के प्रभाव के समान ही नेत्रों से दिखाई न पड़ना, तृष्णा तथा दंशस्थान का सड़ना व स्वेदागम (पसीना होना) आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। चौथे वेग में विष कोष्ठ में पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है। पाँचवें वेग में विष सब अङ्गों में दाह करता है और छठे तथा सातवें वेगों के लक्षण दर्वीकर के लक्षण के समान ही होते हैं। राजिमान् सर्प के विष के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है, यह दूषित रक्त पाण्डुवर्ण का (श्वेत) हो जाता है। दूसरे वेग में विष मांस को दूषित करता है इसके फलस्वरूप अतिशय पाण्डुता, जड़ता तथा शिर में सूजन हो जाती है। तीसरे वेग में विष मेद को दूषित करता है इससे अन्धत्व, दंश का सड़ना, पसीना आना, नाक तथा नेत्रों से स्राव होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ में पहुँचकर मन्यास्तम्भ और शिर में भारीपन उत्पन्न करता है। पाँचवें वेग में वाणी का अवरोध तथा शीतज्वर नामक लक्षण होते हैं, छठें और सातवें वेग के लक्षण दर्वीकर सर्प के लक्षणों की भाँति ही हैं ॥ ३९ ॥

विमर्शः—चरककार के द्वारा विष के आठ वेगों का निर्देश हम स्थावर विष के वेगों का वर्णन करते समय द्वितीय अध्याय के ३४-३९ श्लोक की व्याख्या के सम्बन्ध में दिए गये विमर्श के अन्तर्गत कर चुके हैं अतः विस्तारभय तथा पुनरुक्ति दोष से बचने के लिए यहाँ वर्णन देना उचित नहीं समझते। पाठकगण इस सम्बन्ध में उपर्युक्त स्थल पर पहुँचकर जानकारी प्राप्त कर लें। अस्तु। आधुनिक मतानुसार सर्पदष्ट के लक्षण एवं चिह्न के विषय में निम्न जानकारी पाठकों के हित में लाभदायक सिद्ध होगी। सक्षेप में कोलुब्राइन जाति के सर्प अपने विष से हृद्विस्तृति (Dilatation of the heart), श्वासकृच्छ्र, शोथ, रक्तवह-संस्थान को पूर्णतया बन्द कर देते हैं अतः रोगी की मृत्यु हो जाती है। वाइपेराइन (Viperine) जाति के सर्प का विष रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों में स्राव, हृद्गतिमन्दता और हृदयावसाद से रोगी की मृत्यु कर देते हैं। इसके अतिरिक्त अन्यान्य लक्षण भी मिलते हैं। 'कोलुब्राइन' विष की अवस्था में शुभाशुभ परिणाम शीघ्रता से होता है एवं तीस मिनट के भीतर ही मृत्यु हो जा सकती है परन्तु 'वाइपेराइन' विष की अवस्था में यह परिणाम रक्त की अवस्था पर निर्भर करता है। इसी प्रकार निम्नलिखित कोष्ठक-तालिका साँप के सातों वेगों को सरलता से समझने के लिए दी जा रही है, यथा—

दर्वीकर (वातप्रकोपक)	मण्डली (पित्तप्रकोपक)	राजिमान् (कफप्रकोपक)
(१) रक्तविकार, कृष्णवर्णत्व, शरीर पर चींटियों के रेंगने की सी प्रतीति।	शोणितविकृति, पीलापन, शीतज्वर	शोणितविकृति, पाण्डुवर्ण, रोमहर्ष
(२) मांस में प्रवेश, अतिशय कालापन, शोथ व गांठों का निकलना।	मांस में प्रविष्ट होने से अतिशय पीलापन, दाह तथा दंशस्थान में शोथ।	मांस में शिथिलता, शिर में शोथ, जड़ता।
(३) मेद-दुष्टि से दंश से स्राव, शिरोगौरव, स्वेदागम, आंखों का झपना।	मेद में प्रवेश, आंखें झपना, तृष्णा, दंशस्थान से स्राव, स्वेदागम।	मेदोदुष्टि, आंखों का झपना, दांतों से स्राव, स्वेदागम, नाक तथा नेत्र से स्राव होना।
(४) कोष्ठप्रवेश, कफप्रधान दोषों की दुष्टि, आलस्य, संधिविश्लेष।	कोष्ठप्रवेश, ज्वर-वृद्धि।	कोष्ठप्रवेश, सिर का भारीपन, मन्यास्तम्भ होना।

दर्वीकर (वातप्रकोपक)	मण्डली (पित्तप्रकोपक)	राजिमान् (कफप्रकोपक)
(५) अस्थि में प्रवेश, प्राण तथा अग्नि का दूषित होना, हिचकी, दाह, तथा पर्वभेद होना।	शरीर में ज्वाला प्रतीत होना।	वाग्लोप तथा शीत ज्वर।
(६) मज्जा तथा ग्रहणी की दुष्टि, मूर्च्छा, शरीर का भारीपन, अतिसार व हृदयशूल।	दर्वीकर की भांति।	दर्वीकर की भांति।
(७) शुक्रधातु में प्रवेश, व्यानवायु का प्रकोप, सूक्ष्म शिराओं से कफ का स्राव, कटि-पृष्ठ-भंग, चेष्टाओं का नाश, लालास्रावाधिक्य तथा स्वेदातिप्रवृत्ति एवं श्वासनिरोध।	दर्वीकर की भांति।	दर्वीकर की भांति।

भवन्ति चात्र—

धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः संपरिकीर्तिताः।
तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम् ॥४०॥

सर्पविष के सात वेगों के होने में कारण—धातुओं के बीच बीच में जो सात कलायें कही गई हैं, उनमें से एक-एक को अतिक्रमण करके विष-वेगों को उत्पन्न करता है ॥ ४० ॥

येनान्तरेण तु कलां कालकल्पं भिनत्ति हि।
समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगान्तरं स्मृतम् ॥४१॥

वेगान्तर के लक्षण—वायु से प्रेरित हुआ विष जितने समय में एक कला को पार करता है उतने समय को वेगान्तर कहा जाता है ॥ ४१ ॥

शूनाङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः।
लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि ॥४२॥
तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते।
चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून् ॥४३॥
केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तं चैतेषु तद्विदः।
ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम् ॥४४॥
द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति।
केचिदेकं विहङ्गेषु विषवेगमुशन्ति हि।
मार्जारनकुलादीनां विषं नातिप्रवर्तते ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषविज्ञानीयं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पशु-पक्षियों में विष के वेगों के लक्षण—विष के प्रथम वेग में पशु दुःखी होकर शोक करता है, उसका दंश स्थान सूज जाता है। दूसरे वेग में शरीर काला पड़ जाता है मुख से लालास्राव होता है तथा हृदय में वेदना होती है। तीसरे वेग में शिर में दर्द, कण्ठ और ग्रीवा टूट जाती है, चौथे वेग में पशु कांपता है, मूढ हो जाता है। दांतों को किटकिटाता हुआ प्राणों को छोड देता है। कोई कोई आचार्य पशुओं में केवल तीन वेग ही मानते हैं। विष के प्रथम वेग में पक्षी चिन्ता करता है। तथा मूर्च्छित हो जाता है। इसके उपरान्त द्वितीय वेग में वह बेचैन हो जाता है तथा तीसरे वेग में मृत्यु को प्राप्त होता है। कई आचार्य पक्षियों में विष का एक ही वेग मानते हैं। बिल्ली, नेवले आदि प्राणियों में साप के विष का कोई प्रभाव नहीं होता अतः उनमें वेग भी नहीं होते हैं ॥ ४२-४५ ॥

विमर्श.—चरककार ने भी पशुओं में चार तथा पक्षियों में तीन वेगों की गणना की है, यथा—चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविध। आद्ये भ्रमति चतुष्पदोऽवसीदति ततः शून्यः ॥ मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु। ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे प्रभ्राम्यति द्वितीये तु। स्रस्ताङ्गश्च तृतीये वेगे याति पञ्चत्वम् ॥ (च. चि अ. २३।२०-२२) अर्थात् चौपाए पशुओं में चार प्रकार का तथा पक्षियों में तीन प्रकार का विष का वेग होता है, प्रथम वेग में चौपाए पशु को चक्कर आते हैं। दूसरे वेग में वह शिथिल हो जाता है, तीसरे वेग में वह शून्य के सदृश होकर बहुत ही अल्प आहार करता है तथा चौथे वेग में श्वास से मृत्यु हो जाती है। पक्षी प्रथम वेग में चिन्ताग्रस्त के सदृश होता है तथा उसे चक्कर आते हैं। दूसरे वेग में उसके अङ्ग शिथिल हो जाते है तथा तीसरे वेग में उसकी मृत्यु हो जाती है।

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषविज्ञानीय नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः सर्पदष्टविषचिकित्सितं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

सर्पदष्ट विषचिकित्सा का उपक्रम—अब इसके पश्चात् सर्पदष्टविषचिकित्सित कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले ॥ ३ ॥
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥ ४ ॥

सर्पदंश में अरिष्टा-बन्धन—सभी प्रकार के सर्पों द्वारा काटे गए शाखाओं (हाथ तथा पैर आदि के दष्ट) में दंश स्थान से चार अङ्गुल ऊपर एक 'अरिष्टा' बन्धन करना चाहिए। यह अरिष्टा कपड़े की चीर (पट्टी), चर्मपट्ट, वृक्ष की अन्तः छाल अथवा अन्य किसी कोमल वस्तु (रबड की नली या

पट्ट आदि) से बांधनी चाहिए। अरिष्टा द्वारा रोका गया विष ऊपर की ओर गमन न कर पाने के कारण नहीं चढ़ता॥

विमर्श.—चरककार ने भी अरिष्टा बन्धन के विषय में लिखा है, यथा—मन्त्रारिष्टोक्तबंधनिर्प्पीडन··· ···। दशात्तु विषं दष्टस्यावित्वत वेणिकां मिषग् बद्ध्वा। निर्प्पीडयेद् भृशं दशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा॥ (च. चि. अ. २३।३३-३७) इस प्रकार की अरिष्टा भी दो प्रकार की मानी जाती है। एक तो सामान्य रस्सी आदि का बांधना और दूसरा मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बांधना व विष के संचार को आगे न बढने देना। अरिष्टा-बन्धन के विषय में वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—बन्धो देशानुसारेण नातिगाढश्चथो हितः। दशपूनित्वशोफादीन कुरुतेऽतिपीडित॰॥ अशक्तः शिथिलो रोद्धुं विषं देशान्तरं व्रजत्॥ (वृ. वा भट. अ. ४०) अर्थात् बहुत ही अधिक कसकर अथवा ढीली रस्सी आदि अरिष्टा के रूप में न बांधनी चाहिए। इसके फलस्वरूप—'अन्यथत्सेतुबन्धेन बन्धने स्तम्भते विषम्। न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धादिपीडिताः॥ सिराएं विष को देह में प्रसारित नहीं कर सकतीं। चरककार ने सर्पदंश के सद्य प्रतिकार के विषय में आदेश दिया है कि—दष्टमात्र दशेदाशु त सर्प लोष्टमेव वा। उपर्यरिष्टा बध्नीयादेशं छिन्याद्देशेत्तथा॥ (च. चि. अ. २३।२४९) जब सांप ने डसा ही हो तो तत्क्षण पुरुष को चाहिए कि उसी सर्प अथवा मिट्टी के ढेले को दांतों से काट ले। दंश के ऊपर अरिष्टा (रस्सी आदि) बाँध दे। दंश को चाकू आदि से काट कर पृथक् कर दे और उस स्थान पर दाह कर दे। इस प्रकार सर्पदंश का निश्चय होते ही सबसे पहले अरिष्टा-बन्धन (Ligaturing) करना चाहिए। जिस स्थान पर सर्प ने काटा हो। उससे ऊपर के भाग में क्रमशः ४-८-१२ अङ्गुल की दूरी पर तीन बन्धन इस प्रकार कस कर बांधने चाहिए, जिससे रक्तपरिभ्रमण (Circulation of blood) रुक जावे और विष रक्त के साथ मिल कर रक्तवाहिनी सिराओं के द्वारा ऊपर की ओर विशेषतः हृदय तथा मस्तिष्क की ओर प्रवाहित न होने पावे। मन्त्रविद् लोग मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके भी इस अरिष्टा बन्ध को बांधते हैं। यद्यपि आज के वैज्ञानिक महत्त्व के युग में मन्त्र के प्रभाव को लोग चाहे न मानें पर इसका कुछ न कुछ अज्ञात प्रभाव तो पडता ही है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिये।

दष्टेदंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः॥ ५॥

सर्प से डँसे जाने पर आचूषण, छेदन तथा दाह—जहाँ पर अरिष्टा न बांधी जा सके वहाँ पर दंश स्थान को काट कर अग्नि से दाह कर दे (जला देवे)। आचूषण (चूसना), छेदन एवं दाह यह सब में प्रयुक्त हो सकते हैं॥ ५॥

प्रतिपूर्यं मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्।
स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्टो वाऽपि हि तत्क्षणम्॥६॥

आचूषण विधि—मुख को वस्त्रों से भर कर चूषण करना उत्तम है। अथवा उसी सांप को तुरन्त काट ले अथवा मिट्टी के ढेले को तुरन्त काट ले॥ ६॥

विमर्श.—अरिष्टा-बन्धन के बाद दंश को चारों ओर से निष्पीडन किया जाता है। इससे विष बहुत कुछ निकल जाता है। यदि यह पर्याप्त न हो तो दंश-स्थान का मांस काट कर निकाल देना चाहिए। यदि मर्म व सन्धि स्थान पर दंश हो तो काट कर न निकलना चाहिए क्यों कि उससे मृत्यु व अङ्ग की विकलता हो जाती है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी उत्तर तंत्र के ४० वें अध्याय में कहा है कि—निष्पीड्य त्वोद्धरेद्दंश मर्मसन्ध्यगत तथा। न जायते विषावेगो बीजनाशादिवाङ्कुरः॥ मर्मगे प्राप्नुयान्मृत्युं सन्धिस्थे विकलाङ्गताम्। फिर भी यदि समय पर बांधने को बन्धन न मिल सके व बांधना योग्य न हो वा मर्म होने के कारण दंश-स्थान को काट कर निकाला न जा सकता हो तो प्रायः उस अंग (शाखा) को ही ऊपर मर्मरहित देश से काट दिया जाता है। इसी विषय पर चरककार भी अपना मत प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि—त दश वा चूर्णेन्मुखेन यवचूर्णपाशुपूर्णेन। प्रच्छदनवेधजलौकःशृङ्गं स्नाप्य ततो रक्तम्॥ (च. चि. अ. २३।३८) मुख में जौ का आटा अथवा धूल भर कर वैद्य उस दंश को चूस ले। चूसने से वह विष जौ के आंटे अथवा मिट्टी में आ जायगा तत्पश्चात् उस मुख में आए हुए विष को थूक दे। इस समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि चूषण करने वाले चिकित्सक या वैद्य के मुख में किसी प्रकार का क्षत वा व्रण (Ulcer) इत्यादि न हो क्योंकि कटी-फटी क्षतिग्रस्त श्लेष्मल कला के द्वारा विष शीघ्र ही प्रचूषित हो जाता है अतः उस चूषक को भी सर्पदष्ट के समान ही विष का प्रभाव हो सकता है। सामान्यतः चिकित्सक को चाहिए कि वह आचूषण करने के लिए मुख में जौ का आटा भरने के पहले मुख को भीतर से घृताक्त कर ले या अन्य कोई विषनाशक औषधि भीतर मुख में लगा ले तथा विष का आचूषण करने के बाद भी जौ के आटे आदि को मुख से निकाल देने के बाद विषनाशक औषधि से गण्डूष (कुल्ला, Gargle) कर ले। यदि विष को मुख से न चूसना हो तो आचूषक यंत्र (Suctionpump) आदि से भी विष को चूसा जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी चूषण क्रिया के पूर्व दंश स्थान को पोंछ कर स्वच्छ कर लेने का आदेश दिया है और विशेषतः उस अवस्था में जब कि वह स्थान मांसल हो, यथा—आचूषेत्पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः। प्रच्छायान्तररिष्टाया मासलं तु विशेषतः॥ (अ. स. उ. तं. अ. ४०) तत्काल सांप को काटे गए मनुष्य द्वारा काटना तो सर्व साधारण के लिए प्रायः असम्भव सा होता है तथा सांप के काट कर भाग जाने पर तो और भी दुष्कर होता है परन्तु सपेरे ऐसा कर सकने में समर्थ हो सकते हैं साधारण मनुष्य नहीं क्यों कि वे तो सर्प को देखने मात्र से ही इतना डर जाते हैं कि उनकी मति ही ठिकाने नहीं रहती और फिर काटने पर तो साधारण मनुष्य स्वयं ही मृत्यु के भय से अधमरा हो जाता है। अस्तु

अथ मण्डलिना दष्ट न कथंचन दाहयेत्।
स पित्तबाहुल्यविषाद्दंशो दाहाद्विसर्पते॥ ७॥

मण्डली (सर्प) द्वारा डसे जाने पर दाह का निषेध—मण्डली सांप से काटे हुए व्यक्ति में भूल कर भी दाह न करें क्यों कि वह दंश पित्त की अधिकता के कारण दाह से फैलता है॥७॥

अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः ।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता ॥ ८ ॥

सर्पदष्ट में मन्त्रों द्वारा अरिष्टा-बन्धन—मन्त्र को जानने वाला वैद्य अरिष्टा को भी मन्त्रों से बांधे। इस प्रकार रज्जु (रस्सी) आदि से बांधी अरिष्टा विष को रोकती है (वैसे तो मंत्र के बिना भी बांधी गई अरिष्टा विष को रोकती है) ॥

देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः ।
भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ॥ ९ ॥
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः ।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥१०॥

मन्त्रशक्ति की प्रशंसा—किसी सत्यवादी, तपस्वी, ब्रह्मर्षि, द्वारा कहे गए मंत्र व्यर्थ नहीं होते। ये मंत्र भयानक विष को भी नष्ट कर देते हैं। सत्यपरायण, ज्ञानी एवं तपस्वी तथा तेजस्वी ऋषियों के मन्त्रों से विष जितनी शीघ्रता से नष्ट होता है उतनी जल्दी ओषधि-प्रयोग से दूर नहीं होता ॥९ १०॥

मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना ।
मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥११॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः ।
पूजयेन्मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः ॥१२॥

मन्त्र ग्रहण की विधि—स्त्री मांस और मधु (मद्य) का सेवन छोड कर मंत्रों को सीखना चाहिए। मंत्र सीखते समय आहार अल्प मात्रा में करना चाहिए, पवित्र रहना चाहिए, कुशा की शय्या पर सोना चाहिए। गन्ध, माला, उपहार तथा बलि से देवताओं का पूजन तथा जप एवं होम मन्त्रसिद्धि के लिए करना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

मन्त्रास्त्वविधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः ।
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः ॥१३॥

हीनस्वरादि वाले मन्त्र की असिद्धि में अगद का क्रम—विना विधि के या स्वर अथवा वर्ण से हीन प्रयुक्त मंत्र सफल नहीं होते इस लिए अगद, उपचार आदि का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

विमर्श—मन्त्रविद् लोग मन्त्रों से अभिमन्त्रित अरिष्टा-बन्धन का प्रयोग करते हैं। आज भी कुछ ऐसे मन्त्रविद् भारत के सभी प्रदेशों में मिलते हैं जो मन्त्रों के द्वारा सर्प विष को दूर करते हैं और उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिलती है। कई मन्त्रविद् तो ऐसे होते हैं, जब उनके पास कोई व्यक्ति सर्पदंश का समाचार लेकर जाता है तो वे देश, काल, दूत की आकृति, प्रकृति को देख कर ही बता देते हैं कि वह सर्पदष्ट पुरुष बचेगा या नहीं। अरिष्टा (पट्टी) इतनी कस कर बांधनी चाहिए कि सिरा का स्वाभाविक रक्त-प्रवाह रुक जावे तथा सर्पविष रक्त में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में न फैलने पावे। शरीर में विष फैलने या चढ़ने के पहले ही अरिष्टा बांधने से लाभ होता है तथा दाह एवं आचूषण आदि क्रियाएं भी इसी अवस्था में लाभप्रद सिद्ध होती हैं तथा मन्त्रों का प्रयोग तो रोगी के आरोग्य लाभ प्राप्त करने तक किया जाता है। आचूषण जहाँ तक हो सके मुख द्वारा नहीं ही करना चाहिए इसके लिए सिंगी अथवा तुम्बी आदि का प्रयोग अथवा नलिका का प्रयोग उचित रहता है। कविराज हाराणचन्द्र जी 'मिताहारेण' के स्थान पर 'जिताहारेण' नामक पाठ के औचित्य को स्वीकार करते हैं।

समन्ततः सिरा दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक् ।
शाखाग्रे वा ललाटे वा व्यध्यास्ता विसृते विषे ॥१४॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् ।
तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया ॥१५॥
समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत् ।
चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् ॥१६॥

सर्पदंश में रक्त-निकालने की विधि—कुशल चिकित्सक दंश के चारों ओर सिराओं का वेधन करे। विष के फैल जाने पर सिराओं को हाथ पैर के अग्र भाग में अथवा मस्तक में वेधन करे। रक्त के निकलने से सम्पूर्ण विष भी निकल जाता है। इस लिए रक्त का विस्रावण करे क्यों कि यही प्रक्रिया सर्पदष्ट पुरुष की श्रेष्ठ चिकित्सा मानी गई है। दंश के चारों ओर प्रच्छन क्रिया (पांछ) कर अगदों से लेप करे तथा चन्दन और खस (उशीर) मिश्रित जल से परिषेक (सिञ्चन) करे॥

पाययेत्तागदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः ।
तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका ॥१७॥
कोविदारशिरीषार्ककटभीर्वाऽपि भक्षयेत् ।

सर्पदंश में वल्मीक (विमवट) की मिट्टी आदि का योग—अगदों को दूध, मधु और घी में मिलाकर पिलावे। अगदों के अभाव में काली मिट्टी या बांबी की मिट्टी को दूध, घी, मधु के साथ मिलाकर पिलावे। कचनार, शिरीष, आक, कोयल (अपराजिता) आदि का सेवन करे ॥ १७ ॥

न पिबेत्तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च ॥१८॥

सर्पदंश में तैलादि द्रव का निषेध—तैल, कुलत्थ यूष (कुलथी का रस), मद्य तथा कांजी का सेवन न करे ॥१८॥

द्रवमन्यत्तु यत्किञ्चित् पीत्वा पीत्वा तदुद्वमेत् ।
प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्ह्रियते विषम् ॥१९॥

सर्पविष में वमन—इनके अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव पीकर वमन करे क्योंकि वमन होते रहने से विष सुखपूर्वक शरीर के बाहर निकल जाता है ॥ १९ ॥

विमर्श—अरिष्टा-बन्धन के साथ ही जिस स्थान पर सर्प ने काटा हो, उसी स्थान पर तीक्ष्ण धारवाले चाकू से चौथाई इञ्च गहरा तथा आधा इञ्च लम्बा स्थान-भेद के अनुसार चीरा लगाकर उचित मात्रा में रक्त को निकलवा दें यदि यह निश्चित हो जाय कि सर्प वातप्रकृति, कफ प्रकृति अथवा कफवात-प्रकृति का है तो दंशस्थान को गर्म लौह या अंगारे से दाग करके जलाया भी जा सकता है (Cauterization) किन्तु यह दाह क्रिया पित्त प्रकृतिवाले मण्डली जाति के सर्प के काटने पर नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार दशन स्थान के रक्तमोक्षण की क्रिया ही सर्वथा लाभप्रद तथा निरापद होती है। चरककार ने कहा है कि—न दंशं वा चूषेन्मुखेन गवचूर्णपाशुपूर्णेन। प्रच्छनवेधजलौकः शृङ्गैः साध्यं ततो रक्तम् ॥ उपर्युक्त आचूषण क्रिया के बाद प्रच्छान (पंछना), शिरावेध, जोंक व सिंगी आदि के प्रयोग

से रक्तस्रावण कराना चाहिए। क्योंकि रक्त के विष से दूषित हो जाने पर प्रकृति भी दूषित हो जाती है इसलिए देह में परिभ्रमणशील दुष्ट रक्त को प्रघर्षणों द्वारा प्रवृत्त करना चाहिए। अर्थात् यदि पछने वा सिरामोक्षण से दंशस्थान से रक्त भली प्रकार प्रवृत्त न हो तो प्रघर्षण चूर्णादिकों से उस पछे हुए स्थान पर घर्षण करना चाहिए यथा—रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत्प्रकृतिस्ततस्त्यजेत्प्राणान्। तस्मात्प्रघर्षणैरसृग्वर्तमान प्रवर्त्य स्यात् ॥ (च. चि. अ. २३।३९) क्योंकि रक्त ही विष का आश्रय होता है जैसे अग्नि का आश्रय वायु होता है। अतः वह रक्त शीतल प्रदेह तथा परिषेचनों से गाढ़ा हो जाता है तथा जम जाता है। उसके गाढ़ा हो जाने पर विष का वेग भी हट जाता है यथा—रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत्। शीतैः स्कन्दति तस्मिन स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः ॥ (च. चि. अ. २३।४१) अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वायु अग्नि को भड़काता है तथा इधर-उधर फैलाता है, वैसे ही विष को रक्त प्रवृद्ध भी करता है और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर वहन करके भी ले जाता है। यदि हम रक्त की गति में हम बाधा डाल दें तो विष के प्रसार में भी रुकावट हो जायगी। इस प्रकार दंशच्छेद आदि क्रियाओं का लाभ बताते हुए चरककार पुनः कहते हैं कि—नगरिव मूलच्छेदाद्दशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम्। आचूषणमानयन जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टा ॥ त्वच्यांसगत दाहो दहनि विषं स्रावणं रक्तात्॥ (च. चि. अ. २३-४३, ४४) जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को काट डालने से वृक्ष बढ़ता नहीं अपितु सूख जाता है उसी प्रकार दंशस्थान को काट डालने से विष वृद्धि को प्राप्त नहीं होता तथा चूसने से थोड़ा विसृत विष दंशस्थान की ओर तथा दंशस्थान से बाहर बलपूर्वक खींच लिया जाता है। तथा जिस प्रकार नदी आदि के जल को रोकने के लिए बाँध-बाँध दिया जाता है और जल उधर नहीं जा सकता उसी प्रकार अरिष्टा का बाँधना भी विष के प्रसार को नहीं होने देता। तथा सुवर्ण-मुण्ड वा शरलोह आदि से किया गया दाह त्वचा एवं मासगत विष को जला डालता है। दाह प्रायः वहाँ किया जाता है जहाँ दंशच्छेद के पश्चात् बन्ध (पट्टी) न बाँधा जा सके, तथा रक्तगत विष का नाश रक्तस्रावण क्रिया के द्वारा किया जाता है।

फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत्।
द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक् ॥२०॥
नस्यकर्माञ्जने युञ्ज्यात्तृतीये विषनाशने।
वान्तं चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत् ॥२१॥
शीतोपचार कृत्वाऽऽदौ भिषक् पञ्चमषष्ठयोः।
पाययेच्छोधन तीक्ष्णं यवागूं चापि कीर्तिताम् ॥२२॥
सप्तमे त्वपीडेन शिरस्तीक्ष्णेन शोधयेत्।
तीक्ष्णमेवाञ्जनं दद्यात्, तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्ध्नि च ॥२३॥
कृत्वा काकपद चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्।

दर्वीकर विष के ७ वेगों की चिकित्सा—दर्वीकर साँपों के प्रथम विष वेग में रक्तमोक्षण करावे। विष के दूसरे वेग में मधु और घी के साथ अगद का पान करावे। तीसरे वेग में विषनाशक नस्य कर्म तथा अञ्जन का प्रयोग करे। चौथे विष वेग में रोगी को वमन कराकर स्थावर विष के प्रसंग में कही गई यवागू पीने को दे। पाँचवें और छठे विष वेगों में प्रथमतः शीतल उपचार करे फिर तीक्ष्ण विरेचन देकर पूर्वोक्त यवागू पिलावे। सातवें वेग में तीक्ष्ण अवपीडन नस्य से शिर का शोधन करे, तीक्ष्ण अञ्जन देवे तथा तीक्ष्ण शस्त्र से शिर पर काकपद बनाकर उसमें रक्तमिश्रित मांस या ताजा चर्म रख देवे (ताकि विष उसमें उतर आवे) ॥२०-२३॥

पूर्वे मण्डलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत् ॥२४॥
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत च।
वामयित्वा यवागूं च पूर्वोक्तामथ दापयेत् ॥२५॥
तृतीये शोधितं तीक्ष्णैर्यवागूं पाययेद्धि ताम्।
चतुर्थे पञ्चमे चापि दर्वीकरवदाचरेत् ॥२६॥
काकोल्यादिर्हितः षष्ठे पेयश्च मधुरोऽगदः।
हितोऽवपीडे त्वगदः सप्तमे विषनाशनः ॥२७॥

मण्डली विष के ७ वेगों की चिकित्सा—मण्डली सर्प के प्रथम विष वेग में दर्वीकर साँपों के प्रसङ्ग में कही गई चिकित्सा करे। दूसरे वेग में अगद को घी, मधु के साथ पीने को दे तदुपरान्त पूर्वोक्त यवागू को पिलावे। तीसरे वेग में तीक्ष्ण विरेचनों से शोधन करा देने के बाद यवागू सेवन करावे। चौथे तथा पाँचवें वेग में भी दर्वीकर सर्प के समान ही चिकित्सा करे। छठे वेग में काकोल्यादि मधुर गण या अगद पान करावे। सातवें वेग में विषनाशक अगद का प्रयोग तथा अवपीडन नस्य का सेवन हितकारी होता है ॥

पूर्वे राजिमतां वेगेऽलाबुभिः शोणितं हरेत्।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां सयुक्तं पाययेत च ॥२८॥
वान्तं द्वितीये त्वगदं पाययेद्विषनाशनम्।
तृतीयादिषु त्रिष्वेवं विधिर्दार्वीकरो हितः ॥२९॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडश्च सप्तमे।

राजिल विष के ७ वेगों की चिकित्सा—राजिमान् साँपों के प्रथम वेग में तुम्बी प्रयोग द्वारा रक्तस्रावण करे। मधु तथा घी से मिश्रित अगद पीने के हेतु दे। दूसरे वेग में वमन कराने के बाद विषनाशक अगद का सेवन करावे। तीसरे, चौथे, पाँचवें वेग में दर्वीकर साँपों के प्रसङ्ग में वर्णित उपचार करे छठे वेग में तीक्ष्ण अञ्जन तथा सातवें वेग में अवपीडन नस्य का प्रयोग करे तथा नष्टसंज्ञा वाले को पुनः सज्ञावान् बनाने के हेतु उपचार करे ॥ २८-२९ ॥

विमर्श.—विष कर्षण के लिए शिर पर चीरा लगाकर (काकपद आदि क्रिया) सरक्त मासखण्ड रखने के बदले मुर्गों के गुदा के चारों ओर के पंख व रोम आदि हटाकर उसके (मुर्गे के) गुदा (मलद्वार) को दंश स्थान पर रख दिया अथवा चिपका दिया जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप मुर्गा तुरन्त ही मर जाता है। इस तरह एक मुर्गे के मरने पर दूसरा उसी प्रकार दशस्थान पर रखा जाता है इस क्रम को तबतक जारी (चालू) रखते हैं जबतक कि मुर्गे का मरना न रुक जावे। मुर्गे का जीवित रह जाना इस बात का द्योतक होता है कि रोगी के शरीर में अब

विष नहीं है। क्योंकि वह सब विष मुर्गों द्वारा गुदामार्ग से चूस-चूस कर शरीर के बाहर निकाल दिया गया है। यह भी एक चमत्कारी प्रयोग है।

गर्भिणीबालवृद्धानां सिराव्यधनवर्जितम् ॥३०॥
विषार्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु।

गर्भिणी आदि की विष चिकित्सा में विशेषता—विष से पीड़ित गर्भवती स्त्री, बालक या वृद्ध पुरुष में शिरावेधन कर्म निषिद्ध है। इनमें कहे हुए उपचारों की कोमल रूप में अर्थात् मृदुता से बरते ॥ ३० ॥

रक्तावसेकाञ्जनानि नरतुल्यान्यजाविके ॥३१॥
त्रिगुणं महिषे सोष्ट्रे गवाश्वे द्विगुणं तु तत्।
चतुर्गुणं तु नागानां, केवलं सर्वपक्षिणाम् ॥३२॥
परिषेकान् प्रदेहांश्च सुशीतानवचारयेत्।

पशुओं की विष चिकित्सा में मात्रा की विशेषता तथा पक्षियों की विष चिकित्सा—बकरी और भेड़ में रक्तावसेचन व अंजन मनुष्य में प्रयोग के समान हैं। भैंस तथा ऊँट में तीन गुनी मात्रा में, गाय और घोड़े में दो गुनी मात्रा में, हाथियों में चार गुनी मात्रा में प्रयुक्त करें। पक्षियों में सम्पूर्ण परिषेक और प्रदेह अतिशीतल द्रव्यों से करें ॥ ३१-३२ ॥

मापकं त्वञ्जनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम्।
पाने चतुर्गुणं पथ्यं वमनेऽष्टगुणं पुनः ॥३३॥

विष चिकित्सा में अञ्जनादि की मात्रा—अंजन में मात्रा एक माशा, नस्य में दुगुनी, पीने में चारगुनी तथा वमन में आठ गुनी मात्रा पथ्य मानी जाती है ॥ ३३ ॥

विमर्श—कल्क, मोदक, चूर्ण की मात्रा अधिकतम एक पल होती है। वमन द्रव्य की श्रेष्ठ मात्रा तीन पल तथा क्वाथादिकों की मात्रा चार पल आचार्यों ने मानी है। और विष में सदैव उत्तम मात्रा का प्रयोग किया जाता है, ऐसा सुश्रुतकार तथा वृद्ध वाग्भटकार आदि आचार्यों का मत है, यथा—अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति। सा च कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ गुल्मोदावर्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितै। उन्मत्तैः कृच्छ्रमग्रैश्च महती शीघ्रमेव सा ॥ इसी प्रकार तन्त्रान्तर में भी वमन आदि के लिए भी उत्तम मात्रा का निर्देश प्राप्त होता है यथा—विषजुष्टस्तु ये च कामश्वासहनाश्च ये। तरुणा बलवन्तश्च वामयेदुत्तमेन तान् ॥ इति ॥

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविषवेगबलाबलम्।
प्रधार्य निपुणं बुद्ध्या ततः कर्म समाचरेत् ॥३४॥

विष चिकित्सा में देशादि विचार की आवश्यकता—देश, प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, वेग, बल, अबल आदि को उत्तम बुद्धि से विचार कर पीछे उपचार आदि कर्म करे ॥ ३४ ॥

विमर्श—आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—देशो भूमिरातुरश्च, तत्र भूदेशोऽश्वत्थदेवायतनश्मशानादिकः, आतुरशरीरे च मर्मदेशः, प्रकृतिः कायिकी मानसी च, तत्र कायिकी वातादिकृता, मानसी च सत्वजा। प्रधार्य आलोच्य बुद्ध्या निपुणं यथा भवत्येवं कर्म समाचरेत् ॥

वेगानुपूर्व्या कर्मोक्तमिदं विषविनाशनम्।
कर्मावस्थाविशेषेण विषयोरुभयोः शृणु ॥३५॥

विवर्णे कठिने शूने सरुजेऽङ्गे विषान्विते।
तूर्णं विस्रवणं कार्यमुक्तेन विधिना ततः ॥३६॥
क्षुधार्तमनिलप्रायं तद्विघातं समाहितः।
पाययेत रसं सर्पिः शुक्तं क्षौद्रं तथा दधि ॥३७॥
तृड्दाहघर्मसंमोहे पैत्तं पैत्तविषातुरम्।
शीतैः संवाहनस्नानप्रदेहैः समुपाचरेत् ॥३८॥

अवस्थाविशेषानुसार विषचिकित्सा में विशेषता—वेगों के अनुक्रम से यह विषनाशक चिकित्सा कह दी गई है। अवस्थाविशेष के अनुसार स्थावर तथा जंगम दोनों विषों की चिकित्सा को कहता हूँ सो सुनो। विषान्वित अंग में विवर्णता, काठिन्य, शोथ या पीड़ा होने पर तुरन्त ऊपर कही गई विधि से, रक्तमोक्षण कराना चाहिए। फिर भूख लगने पर वायु की अधिकता होने पर रोगी को सावधानी से मांसरस, दधि, मधु, घी या शुक्त (सिरका) पीने के लिए दे। पैत्तिक विष से पीड़ित, पित्तप्रकृति को प्यास, दाह तथा ग्रीष्मकाल होने पर या मूर्च्छा होने पर शीतल द्रव्यों से संवाहन (मणि, रत्न या काँसे के वर्तन से स्पर्श), स्नान एवं प्रलेप का प्रयोग करे ॥ ३५-३८ ॥

शीते शीतप्रसेकार्तं श्लैष्मिकं कफकृद्विषम्।
वामयेद्वमनैस्तीक्ष्णैस्तथा मूर्च्छामदान्वितम् ॥३९॥

कफ-विषातुर में वमन—तथा शीतकाल में, शीतप्रसेक से पीड़ित होने पर तथा कफप्रकृति में कफकारक विष के होने की अवस्था में रोगी को तीक्ष्ण वमनों से वमन करावे इसी प्रकार मूर्च्छा मद वाले को भी वमन करावे ॥ ३९ ॥

कोष्ठदाहरुजाध्मानमूत्रसङ्गरुगन्वितम्।
विरेचयेच्छकृद्वायुसङ्गपित्तातुरं नरम् ॥४०॥

वातपित्त-विषातुर रोगी के लिए वस्ति तथा विरेचन—कोष्ठ में दाह, पीड़ा, आध्मान, मूत्रावरोधजन्य पीड़ा से ग्रस्त, मल तथा वायु के अवरोध से पीड़ित एवं पित्त प्रकृति के मनुष्य को विरेचन देना चाहिए ॥ ४० ॥

शूनाक्षिकूटं निद्रार्तं विवर्णाविललोचनम्।
विवर्णं चापि पश्यन्तमञ्जनैः समुपाचरेत् ॥४१॥

विषातुर में अञ्जन के योग्य अवस्था का निर्देश—पलकों के नीचे जिसमें सूजन आ गई हो, नींद से पीड़ित आंख विवर्ण और मलिन हो गई हों तथा नाना प्रकार के वर्ण जो देखता हो उसकी अञ्जनादिकों से चिकित्सा करे ॥ ४१ ॥

शिरोरुग्गौरवालस्यहनुस्तम्भगलग्रहे।
शिरो विरेचयेत् क्षिप्रं मन्यास्तम्भे च दारुणे ॥४२॥

विषातुर में शिरोविरेचन के योग्य अवस्था का निर्देश—शिर में वेदना, भारीपन, आलस्य, हनुस्तम्भ, गलग्रह या भयानक मन्यास्तम्भ होने पर तुरन्त शिरोविरेचन देवें ॥ ४२ ॥

नष्टसंज्ञं विवृत्ताक्षं भग्नग्रीवं विरेचनैः।
चूर्णं प्रधमनैस्तीक्ष्णैर्विषार्तं समुपाचरेत् ॥४३॥
ताडयेच्च सिरां क्षिप्रं तस्य शाखाललाटजाः।
तास्वप्रसिच्यमानासु मूर्ध्नि शस्त्रेण शस्त्रवित् ॥४४॥
कुर्यात् काकपदाकारं व्रणमेवं स्रवन्ति ताः।

सरक्तं चर्म मांसं वा निक्षिपेच्चास्य मूर्धनि ॥४५॥
चर्मवृक्षकषायं वा कल्कं वा कुशलो भिषक्।
वादयेच्चागदैर्लिप्त्वा दुन्दुभींस्तस्य पार्श्वयोः ॥४६॥
लब्धसंज्ञं पुनश्चैनमूर्ध्वं चाधश्च शोधयेत्।
निःशेषं निर्हरेच्चैवं विषं परमदुर्जयम् ॥४७॥
अल्पमप्यवशिष्टं हि भूयो वेगाय कल्पते।
कुर्याद्वा सादवैवर्ण्यज्वरकासशिरोरुजः ॥४८॥
शोफशोषप्रतिश्यायतिमिरारुचिपीनसान्।
तेषु चापि यथादोषं प्रतिकर्म प्रयोजयेत् ॥४९॥
विषार्तोपद्रवांश्चापि यथास्वं समुपाचरेत्।

सज्ञाहीन पडे हुये विषातुर की चिकित्सा—संज्ञा नष्ट होने के कारण आखें बाहर (या खुली) आ गई हों, ग्रीवा लटक गई हो उस विष वाले रोगी को तीक्ष्ण प्रधमन चूर्णों से शिरोविरेचन देवे। शाखा तथा ललाट में जाने वाली सिराओं पर तुरन्त ताडन करे। उनसे यदि रक्त न आवे तो शास्त्र को समझने वाला वैद्य तुरन्त शस्त्र से शिर पर काकपद का चिह्न बनाये। इस प्रकार व्रण करने से उनमें से रक्त बहने लगता है। काकपद व्रण में रक्त वाला चर्म या मांस शिर पर रख देवे अथवा चर्म वृक्ष (चामेर) के कषाय या कल्क को वहाँ रख देवे। रोगी के पास में दुन्दुभि (नगाडे) को अगदों से लेप कर बजावे। चेतना आने पर इसे पुनः वमन विरेचनादि दे। अतिशय दुर्जेय विष को पूर्णरूपेण निकाल दे क्यों कि थोडा भी बचा विष फिर वेग उत्पन्न कर सकता है अथवा शिथिलता, विवर्णता, ज्वर, कास, शिरोरोग उत्पन्न करता है। शोफ, शोष, प्रतिश्याय, तिमिर, अरुचि व पीनस आदि रोगों को उत्पन्न करता है अतः इनमें भी दोषों के अनुसार चिकित्सा करे। विष से पीडित व्यक्ति के उपद्रवों की भी चिकित्सा अपने अपने दोषों के अनुसार करनी चाहिए॥

अथारिष्टां विमुच्याशु प्रच्छयित्वाऽङ्कितं तथा ॥५०॥
दह्यात्तत्र विषं स्कन्न भूयो वेगाय कल्पते।

अरिष्टा-बन्धन से दूषित शोणित चिकित्सा—अरिष्टा को खोल कर दंश स्थान पर पाछकर वहाँ तुरन्त जला दे। क्योंकि वहाँ पर जमा हुवा विष पुनः विष वेग उत्पन्न कर देता है ॥ ५१ ॥

एवमोषधिभिर्मन्त्रैः क्रियायोगैश्च यत्नतः ॥५१॥
विषे हृतगुणे देहाद्यदा दोषः प्रकुप्यति।
तदा पवनमुद्वृत्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत् ॥५२॥
तैलमत्स्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैर्विषहरायुतैः।
पित्तज्वरहरैः पित्तं कषायस्नेहबस्तिभिः ॥५३॥
कफमारुधघाद्येन सक्षौद्रेण गणेन तु।
श्लेष्मघ्नैरगदैश्चैव तिक्तैः रूक्षैश्च भोजनैः ॥५४॥

विष निकाले जाने के बाद कुपित दोषों की चिकित्सा—इस प्रकार औषधियों से, मन्त्रों से, चिकित्सा के उपचार से शरीर से विष के निकाल देने पर यदि दोष प्रकुपित होता है तब कुपित (दूसरे स्थान पर गई हुई) वायु की स्नेहन, वमन आदि से चिकित्सा कर्म करे। इसमें तैल मछली, कुलथी, अम्ल (खटाई) को छोड़कर विषनाशक वस्तुओं के साथ स्नेहन तथा वमन कर्म करावे। पित्त को पित्तज्वर नाशक स्नेह, वस्ति आदि से शान्त करे। कफ के शमनार्थ आरग्वधादिगण में मधु मिलाकर, कफनाशक अगदों, रूक्ष और तिक्त भोज्य पदार्थों का प्रयोग करे ॥ ५२–५४ ॥

वृक्षप्रपातविषमपतितं मृतमम्भसि।
उद्बद्धं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत् ॥५५॥

नष्टसंज्ञ चिकित्सा के योग्य अन्य अवस्थाओं का निर्देश—वृक्ष से, प्रपात (झरने) से, विषम (ऊँचे-नीचे) स्थान से गिरे हुए, जल में डूबकर मरने वाले, तथा पाशबद्ध होकर (फाँसी लगाकर) मरे हुए मनुष्य की चिकित्सा तुरन्त नष्टसंज्ञ की भाँति करे ॥ ५५ ॥

विमर्श—आधुनिक चिकित्साशास्त्र के अनुसार उपर्युक्त अवस्थाओं में निम्नलिखित चिकित्सा प्रणाली अपनाई जाती है—(१) रोगी को तुरन्त नीचे लिटाकर शरीर पर के वस्त्र ढीले कर देने चाहिए तथा ग्रीवा आदि में पडे हुए बन्धनों को खोल देना चाहिए। (२) कृत्रिम श्वासक्रिया (Artificial respiration) करनी चाहिये। (३) विशुद्ध एवं स्वच्छ वायु अथवा अमोनिया (Ammonia) की व्यवस्था करनी चाहिए। (४) मुख तथा शिर पर शीतल क्रिया करनी चाहिए। (५) यदि रोगी का शरीर शीतल हो तो उष्ण उपनाह, अभ्यङ्ग अथवा उष्ण जल की बोतलों (Hot water Bottles) द्वारा शरीर के ताप (Body temperature) की रक्षा करनी चाहिए। (६) उत्तेजना के लिए कोरामीन, एड्रीनेलिन, क्लोराइड आदि के सूचीवेधों का प्रयोग करना चाहिये। (७) मुखद्वारा अथवा मलद्वार द्वारा ब्राण्डी (Brandy) का प्रयोग कराना चाहिए। (८) वक्ष, उदर एवं पिण्डलियों पर राई के प्लास्टर का प्रयोग भी किया जा सकता है। (९) यदि हृदयवृद्धि के चिह्न प्रकट होते हों तो सिरान्यध (Venesection) द्वारा रक्तमोक्षण (Blood letting) कराना चाहिए। इत्यादि, इत्यादि।

गाढं बद्धेऽरिष्टया प्रच्छिते वा
तीक्ष्णैर्लेपैस्तद्विधैर्वाऽवशिष्टैः।
शूने गात्रे क्लिन्नमत्यर्थपूति
ज्ञेयं मांसं तद्विषात् पूति कष्टम् ॥५६॥
सद्यो विद्धं निस्रवेत् कृष्णरक्तं
पाकं यायाद्दह्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति
शीर्णं मांस यात्यजस्रं क्षताच्च ॥५७॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च
यस्य स्युस्त दिग्धविद्धं व्यवस्येत्।

विष से मांस के गलने पर सडाँध आ जाने की चिकित्सा—अरिष्टा को अत्यधिक कसकर बांधने से, पाछने से, तीक्ष्ण लेपों के प्रयोग से तथा इसी प्रकार अन्य कई कारणों से, अथवा विष के अवशिष्ट रह जाने से शरीर में शोथ उत्पन्न हो जाने के कारण उस स्थान का मांस गल जाता है और इसमें बहुत अधिक पूतिमयता (सडांध व दुर्गन्धि) हो

जाती है। यह पूतिमयता विष के कारण होती है तथा कष्ट साध्य होती है। विषाक्त बाणों के वेधन से शरीर से तुरन्त काले रङ्ग का रक्त निकलता है, व्रण शीघ्र पक जाता है तथा इसमें रह रहकर जलन होती है तथा उस व्रण में बार बार पाक भी होता रहता है (क्षत से निरन्तर काले रङ्ग का सड़ा हुआ, दुर्गन्धि पूर्ण, मांस निरन्तर गिरता रहता है। रोगी को प्यास, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह तथा ज्वर आदि लक्षण होते हैं। अतः जिस रोगी में इस प्रकार के लक्षण दृष्टिगोचर होते हों उसे विषाक्त वस्तु बाण आदि से विद्ध हुआ जाने॥

पूर्वोद्दिष्टं लक्षणं सर्वमेत-
ज्जुष्टं यस्यालं विषेण व्रणाः स्युः ॥५८॥
लूतादष्टा दिग्धविद्धा विषैर्वा
जुष्टाः प्रायस्ते व्रणाः पूतिमांसाः।
तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य
वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्य ॥५९॥
हृत्वा दोषान् क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च
सम्यक् सिञ्चेत् क्षीरिणां त्वक्कषायैः।
अन्तर्वेश्मं दापयेच्च प्रदेहान्
शीतैर्द्रव्यैराज्ययुक्तैर्विषघ्नैः ॥६०॥
भिन्ने त्वस्थ्ना दुष्टजातेन कार्यः
पूर्वो मार्गः पैत्तिके यो विषे च।

जिस मनुष्य में शत्रु द्वारा अवचारित विष के कारण उक्त व्रण आदि विशेष रूप से होते हैं उनमें उपर्युक्त सभी लक्षण मिलते हैं। क्योंकि जो व्रण मकडी के काटने से, विषैले बाण आदि शस्त्र से या विष से होते हैं वे ही प्रायः सड़े मांस वाले होते हैं। इन व्रणों से युक्तिपूर्वक सड़े हुए मांस को निकाल कर फिर उसमें से जलौका लगाकर दूषित रक्त को निकाले। वमन, विरेचन आदि से दोषों को तुरन्त निकालकर वट (बरगद) आदि क्षीरि वृक्षों की छाल (त्वचा) के काढ़े से सेचन करे। पित्तजन्य विसर्पोक्त शीत वीर्य एवं शीत स्पर्श वाले द्रव्यों की तथा विषनाशक द्रव्यों को घी में मिलाकर इनसे वस्त्र को भिंगो कर (पिचु बनाकर) तथा लपेट कर व्रण के अन्दर रखे तथा इनसे (उपर्युक्त पित्त विसर्पोक्त द्रव्यों के क्वाथादिक से) बने प्रदेह लगावे। अस्थिविष के कारण उत्पन्न व्रण में भी पूर्वोक्त चिकित्सा करे, पैत्तिकविष की भी इसी प्रकार चिकित्सा करे॥ ५८-६०॥

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे
रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः ॥६१॥
कटुत्रिकं चैव सुचूर्णितानि
शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि।
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः
पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः ॥६२॥
अवार्यवीर्यो विषवेगहन्ता
महागदो नाम महाप्रभावः।

सभी विषों में महागद—त्रिवृत् (निशोथ), कलिहारी, मधुयष्टी (मुलहठी), हरिद्रा, दारुहल्दी, मजिष्ठा (मजीठ) अमलतास, पांचोनमक, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) इन सबका बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर शृङ्गनिर्मित (सींग से बने) पात्र में रखे। यह अगद पीने के हेतु अभ्यंग, अञ्जन और नस्य में प्रयुक्त होने पर विष को नष्ट करता है। इसकी शक्ति अपराजित होती है तथा विष के वेगों को नष्ट करने में यह अगद अद्वितीय है, महान् प्रभाव शाली इस अगद का नाम महागद॥ ६१-६२॥

विडङ्गपाठात्रिफलाजमोदा
हिङ्गूनि वक्रं त्रिकटूनि चैव ॥६३॥
सर्वश्च वर्गो लवणः सुसूक्ष्मः
सचित्रकः क्षौद्रयुतो निधेयः।
शृङ्गे गवां शृङ्गमयेन चैव
प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च ॥६४॥
एषोऽगदः स्थावरजङ्गमानां
जेता विषाणामजितो हि नाम्ना।

अजित अगद—विडङ्ग, पाठा, त्रिफला, अजमोदा (अजवायन), हींग, तगर, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), सभी नमक तथा चित्रक इन सब द्रव्यों को कूट पीसकर सूक्ष्म चूर्ण बना ले। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर गाय के सींग में रखकर सींग के ढक्कन से ही ढक (बन्द) कर रख दे। फिर पन्द्रह दिनों के बाद यह अजित नामक अगद स्थावर तथा जगम विषों का नाश करने वाला हो जाता है॥ ६३-६५॥

प्रपौण्डरीकं सुरदारु मुस्ता
कालानुसार्यौ कटुरोहिणी च ॥६५॥
स्थौणेयकध्यामकगुग्गुलूनि
पुन्नागतालीशसुवर्चिकाश्च।
कुटन्नटैलासितसिन्धुवाराः
शैलेयकुष्ठे तगरं प्रियङ्गुः ॥६६॥
रोध्रं जलं काञ्चनगैरिकं च
समागधं चन्दनसैन्धवं च।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि कृत्वा
शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥६७॥
एषोऽगदस्तार्क्ष्य इति प्रदिष्टो
विषं विहन्यादपि तक्षकस्य।

तार्क्ष्य अगद—प्रपौण्डरीक, देवदारु, मुस्तक (मोथा), कालानुसारी, कुटकी, स्थौणेयक, कत्तृण, गुग्गुल, नागकेशर, इलायची, श्वेत निर्गुण्डी, तालीसपत्र, सुवर्चिका (हुलहुल), श्योनाक, शिलारस, कुष्ठ, तगर, प्रियगु, लोध्र, बालक, स्वर्ण गैरिक, पिप्पली, चन्दन और सेन्धा नमक, इनका बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग में रख दें। यह अगद तक्षक सर्प के विष को भी क्षण मात्र में नष्ट कर देता है इस प्रभावशाली अगद का नाम तार्क्ष्य अगद है॥ ६६-६८॥

मांसीहरेणुत्रिफलामुरङ्गी-
रक्तालतायष्टिकपद्मकानि ॥६८॥

विडङ्गतालीशसुगन्धिकैला-
त्वक्कुष्ठपत्राणि सचन्दनानि ।
भार्गी पटोलं किणिही सपाठा
मृगादनी कर्कटिका पुरश्च ॥६९॥
पालिन्द्यशोकौ क्रमुक सुरस्याः
प्रसूनमारुष्करजं च पुष्पम् ।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि शृङ्गे
न्यसेत् सपित्तानि समाक्षिकाणि॥७०॥
वराहगोधाशिखिशङ्कीनां
मार्जारजं पार्षतनाकुले च ।
यस्यागदोऽयं सुकृतो गृहे स्या
न्नाऋषभो नाम नरर्षभस्य ॥७१॥
न तत्र सर्पाः कुत एव कीटा-
स्त्यजन्ति वीर्याणि विषाणि चैव ।
एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा
नानद्यमाना विषमाशु हन्युः ॥७२॥
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो
विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति ।

ऋषभ अगद—जटामांसी, हरेणु, त्रिफला, शोभाञ्जन, मञ्जीठ, लता (प्रियंगु), मधुयष्टी (मुलहठी), पद्माख, विडङ्ग, तालीसपत्र, सर्पगन्धा, इलायची, दालचीनी, कुष्ठ (कूठ), तेजपत्र, चन्दन, भारङ्गी, परवल, चिरचिटा, पाठा, इन्द्रायण, कर्कटशृङ्गी, गुग्गुल, निशोथ, अशोक, क्रमुक (सुपारी), तुलसीपुष्प, आदि द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर पित्त एवं मधु से मिश्रित कर सींग के बर्तन में रख दे। शूकर, गोधा (गोह), मोर, शङ्की (सेह), बिल्ली, चित्तलहरिण, तथा नेवले का ही पित्त ग्रहण करना चाहिये। जिस भाग्यशाली नृपति के महल में यह ऋषभ नामक अगद रहता है वहाँ पर न तो सर्प और न कीट ही वीर्य अथवा विष का त्यागकरते। इस अगद से लिप्त भेरी तथा नगाडे बजाए जाने पर, उनकी ध्वनि विष को शीघ्र नष्ट कर देती है। इस अगद से लिप्त पताकाओं को देखकर विष से पीडित मनुष्य तुरन्त नीरोग हो जाते हैं अर्थात् वे विष-प्रभाव से शीघ्र मुक्ति पा जाते है ॥ ६८-७३ ॥

लाक्षा हरेणुर्नलदं प्रियङ्गुः
शिग्रुद्वयं यष्टिकपृथ्विकाश्च ॥७३॥
चूर्णीकृतोऽयं रजनीविमिश्रो
सर्पिर्मधुभ्यां सहितो निषेयः ।
शृङ्गे गवां पूर्ववदापिधान-
स्ततः प्रयोज्योऽञ्जननस्यपानैः ॥७४॥
संजीवनो नाम गतासुकल्पा-
नेषोऽगदो जीवयतीह मर्त्यान् ।

संजीवन अगद—लाक्षा, हरेणु, जटामासी, प्रियंगु, मीठा, सहजन, कटु सहजन, मधुयष्टी, बडी इलायची, हल्दी आदि द्रव्यों को चूर्ण बनाकर घी तथा मधु में मिलाकर गाय के सींग के ही ढक्कन से बन्द करके रख दे। पन्द्रह दिनों के बाद इस अगद का अञ्जन, नस्य तथा पीने के लिए प्रयोग करना चाहिये। इस युक्ति से सेवन किया गया यह संजीवन नाम का अगद मृत तुल्य मनुष्यों को भी जीवनदान देता है ॥

श्लेष्मातकीकट्फलमातुलुङ्ग्यः
श्वेता गिरिह्वा किणिही सिता च ॥७५॥
सतण्डुलीयोऽगद एष मुख्यो
विषेषु दर्वीकरराजिलानाम् ।

दर्वीकर और राजिल के विष में अगद—लसोडा, कट्फल, विजौरा नीबू, श्वेत अपराजिता, चिरचिटा (किणही), शर्करा (अथवा सिता या श्वेत वचा भी) को चौलाई में मिला कर बनाया गया यह अगद दर्वीकर और राजिमान् सर्पों के विषों में मुख्य है ॥ ७६ ॥

द्राक्षा सुगन्धा नगवृत्तिका च
श्वेता समङ्गा समभागयुक्ता ॥७६॥
देयो द्विभागः सुरसाच्छदस्य
कपित्थबिल्वादपि दाडिमाच्च ।
तथाऽर्धभागः सितसिन्धुवारा-
दङ्कोठमूलादपि गैरिकाच्च ॥७७॥
एषोऽगदः क्षौद्रयुतो निहन्ति
विशेषतो मण्डलिनां विषाणि ।

मण्डली विष में अगद—द्राक्षा, सर्पगन्धा, नगवृत्तिका, श्वेत कोयल, मञ्जिष्ठा ये प्रत्येक समान भाग, तुलसीपत्र, कपित्थ (कैथ), बिल्व (बेल), अनार के पत्र ये प्रत्येक दो दो भाग, श्वेत निर्गुण्डी, अङ्कोठमूल और गैरिक आदि को आधा आधा भाग मात्रा में मिलावे। इसमें मधु मिलाकर बनाया गया अगद मण्डली सांपों के विष को विशेष रूप से नष्ट करता है ॥ ७७ ॥

वंशत्वगार्द्रोऽऽमलकं कपित्थं
कटुत्रिकं हैमवती सकुष्ठा ॥७८॥
करञ्जबीजं तगरं शिरीष
पुष्पं च गोपित्तयुतं निहन्ति ।
विषाणि लूतोन्दुरपन्नगानां
कैटं च लेपाञ्जननस्यपानैः ॥७९॥
पुरीषमूत्रानिलगर्भसङ्गा-
न्निहन्ति वर्त्यञ्जननाभिलेपैः ।
काचार्मकोथान् पटलांश्च घोरान्
पुष्पं च हन्त्यञ्जननस्ययोगैः ॥८०॥

लूतादि विष में वंशत्वगादि अगद—गीले बाँस की छाल, आँवला, कैथ, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) वच, कूठ, करञ्ज के बीज, तगर, शिरीष के फूल आदि द्रव्यों को गाय के पित्त में मिलाये। इसका लेप, अंजन और नस्य करने पर मकडी, चूहे, साँप तथा अन्य कीटों का विष नष्ट हो जाता है। वर्त्ति, अंजन तथा नाभिलेपन से यह अगद मल, मूत्र, वायु तथा गर्भ के अवरोध को नष्ट करता है। आँखों के काच (मोतिया बिन्द), अर्म, अक्षिकोथ तथा पटल

पद्माक्ष, दाडिमी, चमेलीपुष्प, हल्दी, दारुहरिद्रा, सारिवा, कृष्णसारिवा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, प्रियङ्गु, तगर, कुष्ठ (कूठ), वडी कटेरी, छोटी कटेरी, एलवालुक, चन्दन, इन्द्रायण इनसे सिद्ध किया गया कल्याणक नाम का घृत विषनाशक, ग्रहनिवारक एवं अपस्मार-नाशक है। पाण्डुरोग गर विष, श्वासरोग, मन्दाग्नि, ज्वर, कास आदि का नाशक है। शोष रोगी, अल्पवीर्यवाले मनुष्यों तथा वन्ध्याओं के लिए भी बडा उपयोगी एवं उत्तम है ॥ ८-११ ॥

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य च मारुकान्।
श्वेते द्वे काकमाचीं च गवां मूत्रेण पेषयेत् ॥१२॥
सर्पिरेतैस्तु संसिद्धं विषसंशमनं परम्।
अमृतं नाम विख्यातमपि संजीवयेन्मृतम् ॥१३॥

सर्वविष में अमृत सर्पि—अपामार्ग के बीज, शिरीष के बीज, श्वेत तथा नीली अपराजिता (कोयल), मकोय इनको गोमूत्र में पीसे और इनसे सिद्ध किया घृत विषनाशक के रूप में सर्वश्रेष्ठ है। इस घृत का नाम अमृत घृत है तथा यह घृत मृत मनुष्य को भी जीवित कर देने की अपूर्व क्षमता रखता है ॥ १२-१३ ॥

चन्दनागुरुणी कुष्ठं तगरं तिलपर्णिकम्।
प्रपौण्डरीकं नलदं सरलं देवदारु च ॥१४॥
भद्रश्रियं यवफलां भार्गीं नीलीं सुगन्धिकाम्।
कालेयकं पद्मकं च मधुकं नागरं जटाम् ॥१५॥
पुन्नागैलेलवालूनि गैरिकं श्यामकं वलाम्।
तोयं सर्जरसं मांसीं शतपुष्पां हरेणुकाम् ॥१६॥
तालीशपत्रं क्षुद्रैलां प्रियङ्गुं सकुटन्नटाम्।
शिलापुष्पं सशैलेयं पत्रं कालानुसारिवाम् ॥१७॥
कटुत्रिकं शीतशिवं काश्मर्यं कटुरोहिणीम्।
सोमराजीमतिविषां पृथ्वीकामिन्द्रवारुणीम् ॥१८॥
उशीरं वरुणं मुस्तं कुस्तुम्बुरु नखं तथा।
श्वेते हरिद्रे स्थौणेयं लाक्षां च लवणानि च ॥१९॥
कुमुदोत्पलपद्मानि पुष्पं चापि तथाऽर्कजम्।
चम्पकाशोकसुमनस्तिल्वकप्रसवानि च ॥२०॥
पाटलीशाल्मलीशैलुशिरीषाणां तथैव च।
कुसुमं तृणमूल्यश्च सुरभीसिन्धुवारजम् ॥२१॥
धवाश्वकर्णपार्थानां पुष्पाणि तिनिशस्य च।
गुग्गुलुं कुङ्कुमं विम्बीं सर्पाक्षीं गन्धनाकुलीम् ॥२२॥
एतत् संभृत्य संभार सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
गोपित्तमधुसर्पिर्भिर्युक्तं शृङ्गे निधापयेत् ॥२३॥
भग्नस्कन्धं विवृत्ताक्षं मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्।
अनेनागदमुख्येन मनुष्यं पुनराहरेत् ॥२४॥
एषोऽग्निकल्पं दुर्वारं क्रुद्धस्यामिततेजसः।
विषं नागपतेर्हन्यात् प्रसभं वासुकेरपि ॥२५॥
महासुगन्धिनामाऽयं पञ्चाशीत्यङ्गसंयुतः।
राजाऽगदानां सर्वेषां राज्ञो हस्ते भवेत् सदा ॥२६॥
स्नातानुलिप्तस्तु नृपो भवेत् सर्वजनप्रियः।
भ्राजिष्णुतां च लभते शत्रुमध्यगतोऽपि सन् ॥२७॥

सर्वविष में महासुगन्धि नामक अगदराज—चन्दन, अगुरु, कुष्ठ, तगर, हुलहुल, प्रपौण्डरीक, उशीरभेद (नलद), चीड (सरल), देवदारु, श्वेत चन्दन, यवफला, भार्ङ्गी, नीली, सर्वगन्धा, कालेयक (पीत चन्दन), पद्माक्ष, मधुयष्टी, सोंठ, जटामांसी, नागकेशर, इलायची, एलवालुक, गेरु, कत्तृण, वला, बालक, राल, छैलछरीला, सौंफ, हरेणु, तालीशपत्र, छोटी इलायची, प्रियङ्गु, केवटीमोथा, मोथा, शिला (मैनसिल), पुष्प (कासीस पुष्प), शिलारस, तेजपत्र, कालानुसारिव, त्रिकटु, कर्पूर (शीतशिव), गम्भारी, कुटकी, बावची, अतीस, मोटा जीरा, इन्द्रायण, खस, वरुण, मुस्तक, धान्यक (धनियाँ), नख, श्वेत और नीली अपराजिता, हल्दी, दारुहल्दी, स्थौणेय, लाक्षा (लाख), पाँचोनमक, कुमुद, उत्पल, नीलकमल, अर्कपुष्प, चम्पक तथा अशोकपुष्प, तिल्वकपुष्प, पाटली, शाल्मली (सेमर), लसोढ़ा, शिरीष आदि के भी पुष्प, केवडा, सुरभी (राना अथवा शल्लकी) तथा निर्गुण्डी के फल, धव, अश्वकर्ण, अर्जुन तथा तिनिश के पत्र, गुग्गुलु, केशर, कुन्दुरु, सर्पाक्षी, गन्धनाकुली, इन सब को एकत्रित कर तथा कूट पीस कर सूक्ष्म चूर्ण बनावे। इस चूर्ण को गाय के पित्त, मधु तथा घृत में मिश्रित कर गाय के सींग में रख देवे। कन्धे गिर जाने पर (स्कन्धभग्न होने पर), नेत्रों के खुले रह जाने पर तथा मृत्यु के पाश में जकडे हुए मनुष्य को भी यह अगद जीवनदान देकर इस लोक में पुनः लौटा लाता है। यह अगद अग्नि के समान अप्रतिहत शक्तिवाला, क्रोध के समान महान् तेजस्वी, सर्पों के राजा वासुकि के विष को भी नष्ट करने की शक्ति रखता है। इस अगद का नाम महासुगन्धि अगद है। इसमें सब मिलाकर पचासी औषधियाँ डाली जाती हैं। यह सब अगदों का राजा है। अतः इस महान् अगद को राजा को सदैव अपने हाथ में ही धारण किए रहना चाहिए। स्नानोपरान्त इसका लेप करने से वह नृपति सभी प्रजा तथा परिजनों का प्रिय रहता है तथा शत्रुओं के बीच घिरा रहने पर भी तेजस्वी रहता है ॥ १४-२७ ॥

उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यो विषार्तानां विजानता।
मुक्त्वा कीटविषं तद्धि शीतेनाभिप्रवर्धते ॥२८॥

विषातुरों को स्वेदन का निषेध—विष से पीडित व्यक्तियों में उष्ण को छोडकर सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। कीट विष की अवस्था में उष्ण उपचार भी करे क्योंकि शीत के कारण कीट विष का प्रभाव भी बढता जाता है ॥ २८ ॥

अन्नपानविधावुक्तमुपधार्यं शुभाशुभम्।
शुभं देयं विषार्तेभ्यो विरुद्धेभ्यश्च वारयेत् ॥२९॥
फाणितं शिग्रुसौवीरमजीर्णाध्यशनं तथा।
वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम् ॥३०॥
दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायाम क्रोधमातपम्।
सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः ॥३१॥

विषातुरों के लिए पथ्यापथ्य—अन्नपान-विधि में कहा

हुआ हित-अहित विचार करके विषजुष्ट प्राणी को हितकारी अन्न दे तथा विरोधी हानिकारक वस्तुओं के प्रयोग का त्याग करे। राव (फाणित), सहजन, कांजी, अजीर्ण, अध्यशन एवं सक्षेप में नवधान्यादि गण से विषजुष्ट प्राणी की रक्षा करे। दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम, क्रोध, धूप सेवन, सुरापान, तिल, कुलत्थ आदि को भी विष से पीडित व्यक्ति त्याग देवे ॥ २९-३१ ॥

विमर्श.—विषों के उपशमनार्थ वेदों और पुराणों में भी कई योग प्राप्त होते है यथा—गरुडपुराण (१।१९१) में एक ऐसे लेप का विधान है जिसे वाद्य यन्त्र तथा ध्वजा पर लगा देने से उनके श्रवण एवं दर्शन मात्र से विष नष्ट हो जाता है, यथा—'हरेणुमासीमक्षिष्ठा रजनीमधुकामधु। अक्षत्वक् सुरसा लाक्षा श्वपित्तं पूर्ववद्भुवि॥ वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेतै. प्रलेपिता'। श्रुत्वा, दृष्ट्वा, ममाघ्राय सद्यो भवति निर्विष. ॥ इसी प्रकार गरुड पुराण के (१।२१२ १३, १६) में एक ऐसे धूप का वर्णन है जो सभी तरह के विषों का अपहरण करता है। ऋग्वेद में (१०।९७।७) में यक्ष्मा के विष को नष्ट करने के लिये अश्वावती, सोमवती, अर्जयन्त तथा उदोजस नामक चार औषधियों का वर्णन मिलता है, यथा—अश्वावती सोमवती अर्जयन्ती उदोजसम्। आविति सर्वा ओषधीरस्या अरिष्टतातये॥ अथर्ववेद के पांचवें काण्ड के तेरहवें सूक्त में विष के स्तम्भन, निस्सरण, के लिए समन्यक योग लिखे हैं, इसी प्रकार अथर्व वेद के दसवें काण्ड के चौथे सूक्त में 'पैद्व' नामक औषधि को बहुत शक्तिशाली माना गया है, इस पैद्व का उपयोग भी कई प्रकार से वर्णित किया गया है। (१) उसके चूर्ण के अभिमन्त्रित कर दाहिने अङ्गुष्ट से रोगी के दाहिने नथुने (Right nostril) में डाला जाता है। (२) सांप वाले स्थान में इसे अभिमन्त्रित कर डाल देने से सांप भाग जाते हैं। पैद्व के प्रभाव को वर्णित करते हुए वेदों ने स्वय कहा है—पैद्वो हन्ति कसर्नील पेद्वश्चित्रमुतासितम्। पैद्वो रथर्व्याः शिर' सविभेद पृथक्ता.॥ पैद्व प्रेहि प्रथमो नुत्वा तमनुमेमसि। अहीन् वयस्पतात् अथो मेनस्यावयमेमसि॥ इद पैद्वो अजायेते दमस्य परायणम्॥ पैद्वस्य मन्महे वय स्थिरस्य स्थिर धाम्नः। इमे पश्वा पृदाकव. दीध्यत अभ्यते॥ इति।

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाङ्क्षं सममूत्रजिह्वम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टंवैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ३२

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने दुन्दुभिस्वनीयकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

विषमुक्त के लक्षण—स्वभाव में स्थित वातादि दोष होने पर, रसादि धातु और मल अपने स्वभाव में आने पर, अन्न, रुचि होने पर, मन के साथ उचित रूप में रस को ग्रहण करने वाली जिह्वा के होने पर, वर्ण, इन्द्रिय और चेष्टा से प्रसन्न (स्वाभाविक) हो जाने पर चिकित्सक मनुष्य (विष जुष्ट रोगी) को विषरहित समझे ॥ ३२ ॥

विमर्श.—चरककार विषसेवी के पथ्यापथ्य का वर्णन करते हुए लिखते है कि—शालय' षष्टिकाश्चैव कोरदूषा प्रियङ्गव भोजनार्थं प्रशस्यन्ते लवणार्थं च सैन्धवम्। तण्डुलीयकजीवन्ती वार्ताकुसुनिषण्णका। चुञ्चुर्मण्डूकपर्णी च शाकं च कुलक हितम्॥ धात्री दाडिममम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभि.। रसाश्चैणाश्च शिखिना लावतैत्तिरपार्षता.॥ विषघ्नौषधसयुक्ता रसा यूषाश्च सस्कृता.। अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानाम् भिषग्जितम्॥ विरुद्धाध्यशन-क्रोधक्षुद्व्यायासमैथुनम्। वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्न विशेषत.॥ (च० चि० अ० २३।२२३-२२७) माधवकार महोदय ने माधवनिदान में विषमुक्त अथवा विषरहित पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा है कि—प्रशान्तदोष प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाम सममूत्रविटकम्। प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्ट वैद्योऽवगच्छेदविष मनुष्यम्॥ (माधवनिदान विषरोगनिदानम् ६५)॥

इति सुश्रुतसहितायां कल्पस्थाने दुन्दुभिस्वनीयकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो मूषिककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

मूषिक कल्प का उपक्रम—अब इसके आगे मूषिक कल्प का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥

पूर्वं शुक्रविषा उक्ता मूषिका ये समासतः।
नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध मे ॥ ३ ॥
लालनः पुत्रकः कृष्णो हसिरश्चिक्कि(क्कि)रस्तथा।
छुच्छुन्दरोऽलसश्चैव कषायदशनोऽपि च ॥ ४ ॥
कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा।
कोकिलोऽरुणसंज्ञश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः ॥ ५ ॥
श्वेतेन महता सार्धं कपिलेनाखुना तथा।
मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥ ६ ॥
शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदूष्टैः स्पृशन्ति वा।
नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥ ७ ॥
जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च।
पिडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥ ८ ॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाऽङ्गसदन ज्वरः।
दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम् ॥ ९ ॥
दष्टरूपं समासोक्तमेतद्व्यासमतः शृणु।

अट्ठारह प्रकार के मूषकों के नाम—शुक्र विषवाले मूषकादि जो पहले सक्षेप में कहे गये हैं, वे संख्या में अठारह हैं। उनके नाम, लक्षण और औषध का विवरण मुझसे सुनो। लालन, पुत्रक, कृष्ण, हंसिर, चिक्किर, छुछुन्दर, अलस, कषाय, दशन, कुलिङ्ग, अजित, चपल, कपिल, कोकिल, अरुण, महाकृष्ण, उन्दुर, महाश्वेत, कपिल और कपोताभ ये अठारह चूहे है ॥

मूषकदष्ट के सामान्य लक्षण—इन चूहों का शुक्र जहाँ पर गिर जाता है, तथा शुक्रयुक्त वस्तु का जहाँ स्पर्श होता है उससे तथा इनके नख, दन्त आदि से उस अङ्ग का रक्त दूषित हो जाता है। इनके काटने से, गांठें, शोथ, कर्णिका (उभार), मण्डल, पिडिकाएँ (फुंसी), उत्पन्न होना तथा उग्र विसर्प, किटिभ, पर्वभेद, तीव्र वेदना, मूर्च्छा, अङ्गों की शिथिलता, ज्वर, दुर्बलता, अरुचि, श्वास, वमन, लोमहर्ष,

आदि लक्षण (सक्षेप में) जानो। अतः अब विस्तारपूर्वक इन सबके लक्षण आदि सुनो ॥ ७-९ ॥

विमर्शः—प्राचीन आचार्यों ने मूषक को शुक्र विष वाला माना है क्योंकि जङ्गम विषों के सम्बन्ध में लिखा है कि जङ्गम विषैले प्राणियों में प्रायः दृष्टि, निःश्वास, दात, नख, मूत्र, पुरीष, लाला, शुक्र, आर्तव, मुखसदंश आदि भागों में विषों का अधिष्ठान होता है और वहीं पर आचार्यों ने भी वर्णन किया 'मूषका. शुक्रविषाः।' मनुष्य के जिस अङ्ग पर चूहों का शुक्र गिर जाता है अथवा चूहे के शुक्र से स्पर्शप्राप्त नख, दन्त आदि के कारण किसी अङ्ग पर खरोंच आदि हो जाती है एव उसके शुक्रकीटों का रक्त से सम्पर्क हो जाता है उस अंग में चूहे के विष का प्रभाव होने लगता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार चूहे का शुक्र रक्त में प्रविष्ट होकर विष के लक्षणों को उत्पन्न करता है। इस विष का प्रभाव मन्द स्वरूप का होने के कारण दूषीविष के समान होता है। सुश्रुतसहिता के ख्यातनामा टीकाकार डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में कई आचार्यों के मतों का सग्रह भी किया है, उन उक्तियों के आधार पर भी हम यह नहीं कह सकते कि केवल चूहे के शुक्र में ही विष होता है। यथा आलम्बायन महोदय का मत है कि—शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नरस्तथा। दष्ट्राभिर्वा क्षिपन्तीह मूषिकाः पञ्चधा विषम ॥ चूहे पांच प्रकार से अपने विषों को मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट करते हैं, शुक्र, मूत्र, पुरीष, नख एवं दन्त के द्वारा। इस कथन के आधार पर तो उपर्युक्त पांचों अङ्ग भी विष के अधिष्ठान माने जा सकते हैं। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि उनका शुक्र यदि मनुष्य-शरीर पर गिर जाय एव फिर वहाँ पर उनके दांत या नख आदि लग जावें तो उसके शुक्र का सम्पर्क रक्तके साथ हो जाता है और विष का प्रभाव होने लगता है। आज का पाश्चात्य विज्ञान चूहों को दष्टा विष वाला मानता है, इनके काटने पर विष का सम्पर्क रक्त में होकर दो प्रकार के स्थानिक एवं सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करता है। कई बार तो ऐसा भी देखा जाता है किसी व्यक्ति के पैरों के तलुवे अथवा एडी का मांस चूहे खा गये किन्तु उस पर कोई भी प्रभाव नहीं हुआ। सम्भवतः इसके दो ही कारण हो सकते हैं या तो (१) निर्विष चूहों द्वारा काटा गया हो अथवा (२) रक्त के साथ उनके विष का सम्पर्क ही न हुआ हो। अस्तु आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर इस विष का कारण स्पाइरोकीटा मार्सस म्यूरिस नाम का कुन्तलाणु माना जाता है। इन जीवाणुओं से चूहे तथा मूषक उपसृष्ट होते हैं और इन्हीं उपसृष्ट चूहों के दश के कारण यह मूषकदंश ज्वर (Ratbite fever) या विष प्रभाव मनुष्यों में होता है। चूहे के काटने से मनुष्य में रोग का सक्रमण किस प्रकार होता है, उसके विषय में कतिपय वैज्ञानिकों की धारणा है कि काटते समय चूहे के मुख से कुछ लाला (Saliva) दशस्थान में गिरता है जिसके जीवाणु मनुष्य शरीर में पहुंचने तथा विष प्रभाव उत्पन्न करते हैं। मूषक दश से त्वचा में प्रविष्ट हुआ विष या जीवाणु लस्य वाहिनियों द्वारा लसग्रन्थियों में तत्पश्चात् रक्त में प्रविष्ट होकर रोग के लक्षण उत्पन्न करता है। आचार्य सुश्रुत ने चूहों के लालन, पुत्रक आदि अठारह भेदों का उल्लेख किया है, छछूदर भी इन्हीं में गिना गया है। परन्तु इन जातियों में किसी को सविष अथवा निर्विष करके भेद नहीं किया है, अतः इनके मतानुसार चूहों की सभी जातियाँ विषैली होती है निर्विष कोई भी नहीं। चूहों के दाँत बहुत तीक्ष्ण होते है अतः उनके दश से विषसंचार अवश्यम्भावी मानकर ही आचार्यों ने उक्त मत प्रतिपादित किया है जो युक्तियुक्त भी है कि चूहे के शुक्र में ही विष होता है, जब यह शुक्र मनुष्य के किसी अग पर गिर जाता है और अकस्मात् चूहा वहाँ पुनः नख मार दे या दाँत से काट ही ले तो उस शुक्र का रक्त के साथ सम्पर्क होता है और मनुष्य पर विष का प्रभाव होने लगता है। यही नहीं आचार्य सुश्रुत ने विस्तारपूर्वक पृथक् पृथक् जाति के चूहों की जातियों के दश से होने वाले लक्षणों की भी विवेचना की है। आचार्य डल्हण ने तो एक स्थान पर पुनः कहा है कि गर्भिण्या मूषिकया दष्टे अम्लादिद्रव्यहृदयः ऋतुमत्या दष्टे रक्तमेहन आध्मान रतिशीलता च ॥' इत्यादि ॥ गर्भवती चुहिया के दंशन से अम्लादि द्रव्यों के सेवन की इच्छा एव ऋतुमती या रजस्वला चुहिया के दंश से मूत्र में रक्त जाना, आध्मान तथा मैथुन की इच्छा होना आदि लक्षण होते हैं। अस्तु।

लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते ॥१०॥
तण्डुलीयककल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।

लालन दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—अब दंश से होने वाले लक्षणों को विस्तार से सुनो। लालन चूहे के कारण लालास्राव, हिचकी, वमन होता है। इसमें चौलाई के कल्क को मधु मिलाकर चाटे ॥ १० ॥

पुत्रकेणाङ्गसादश्च पाण्डुवर्णश्च जायते ॥११॥
चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः।
शिरीषेङ्गुदकल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥१२॥

पुत्रक दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—पुत्रक चूहे के दश से अङ्गों में शिथिलता, पीलापन, चूहे के बच्चे के समान गाठों से शरीर भर जाता है। इसमें शिरीष तथा इङ्गुदी (हिंगोट) का कल्क मधु के साथ सेवन करवाये ॥ ११-१२ ॥

कृष्णेन दशे शोफोऽसृक्छर्दिः प्रायश्च दुर्दिने।
शिरीषफलकुष्ठं तु पिबेत् किंशुकभस्मना ॥१३॥

कृष्णदष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कृष्ण चूहे के काटने से शोफ तथा दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) में रक्त का वमन होता है। इसमें शिरीष फल, कुष्ठ को पलाशपुष्प-भस्म में मिला कर पानी में घोल कर सेवन कराये ॥ १३ ॥

हसिरेणान्नविद्वेषो जृम्भा रोम्णां च हर्षणम्।
पिबेदारग्वधादि तु सुवान्तस्तत्र मानवः ॥१४॥

हसिर दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—हंसिर चूहे के दंश से अन्न में विद्वेष, जृम्भा (जम्हाई आना) तथा रोमाञ्च होता है। इसमें वमन (यथोचित रूप में) करा कर आरग्वधादि गण के क्वाथ का सेवन कराए ॥ १४ ॥

चिकि(क्षि)रेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमिस्तथा।
जालिनीमदनाक्ष्वेठकपायैर्वामयेत्तु तम् ॥१५॥

यवनालपभीक्षारं बृहत्योश्चात्र दापयेत् ।

चिक्किर दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—चिक्किर मूषक के दंश से शिर में वेदना, शोफ, हिक्का तथा वमन होता है। इसमें कटुतुम्बी (कडवी तुरई), मैनफल, अंकोट, इनके कषाय से वमन करावे तथा इसमें जौ के क्षार (यवक्षार), केवांच तथा बडी कटेरी का क्षार भी मिला दे ॥ १५ ॥

छुच्छुन्दरेण तृट् छर्दिर्ज्वरो दौर्बल्यमेव च ॥१६॥
ग्रीवास्तम्भः पृष्ठशोफो गन्धाज्ञानं विसूचिका ।
चव्यं हरीतकी शुण्ठी विडङ्गं पिप्पली मधु ॥१७॥
अङ्कोठबीजं च तथा पिबेदत्र विषापहम् ।

छुछुन्दर दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—छुछुन्दर के दंश से प्यास, वमन, ज्वर, दौर्बल्य, ग्रीवास्तम्भ, पीठ में सूजन, गन्धज्ञान का न होना तथा विसूचिका होती है। इसमें चव्य, हरड, सोंठ, वायविडङ्ग, पिप्पली, अंकोठ के बीज तथा मधु का सेवन करे। यह योग विषघ्न है ॥ १६-१७ ॥

ग्रीवास्तम्भोऽलसेनोर्ध्ववायुर्दंशे रुजा ज्वरः ॥१८॥
महागदं ससर्पिष्कं लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ।

अलस-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—अलस नाम मूषक के दंश स्वरूप ग्रीवास्तम्भ, ऊर्ध्ववायु, दंश में वेदना तथा ज्वर होता है। इसमें घी तथा मधु के साथ महागद को चाटे ॥१८॥

निद्रा कषायदन्तेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च ॥१९॥
क्षौद्रेपेताः शिरीषस्य लिह्यात् सारफलत्वचः ।

कषायदन्त-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कषायदन्त चूहे से नींद आना, हृदय शोष एवं कृशता होती है। इसमें शिरीष के सार, फल एवं छाल के चूर्ण को मधु के साथ चाटे ॥ १९ ॥

कुलिङ्गेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमण्डले ॥२०॥
सहे ससिन्धुवारे च लिह्यात्तत्र समाक्षिके ।

कुलिङ्ग-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कुलिङ्ग चूहे से वेदना सूजन एवं दंश स्थान पर रेखाएं ऐसी खिंच जाती हैं। इसमें मुद्गपर्णी, माषपर्णी व सिन्धुवार (निर्गुण्डी) को मधु के साथ चाटे ॥ २० ॥

अजितेनाङ्गकृष्णत्वं छर्दिर्मूर्च्छा च हृद्ग्रहः ॥२१॥
स्नुक्क्षीरपिष्टां पालिन्दीं मञ्जिष्ठां मधुना लिहेत् ।

अजित-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—अजित के दंश से अङ्गों का कृष्ण वर्ण हो जाना, वमन, मूर्च्छा, हृदय का जकडन होता है। इसमें निशोथ तथा मजीठ को थूहर के दुग्ध के साथ पीस कर मधु के साथ चाटे ॥ २१ ॥

चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया ॥२२॥
क्षौद्रेण त्रिफलां लिह्याद्भद्रकाष्ठजटान्विताम् ।

चपल-दंश से वमन, मूर्च्छा और प्यास होती है। इसमें त्रिफला, देवदारु तथा जटामांसी को चाटे ॥ २२ ॥

कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमः सतृट् ॥२३॥
लिह्यान्मधुयुतां श्वेतां श्वेतां चापि पुनर्नवाम् ।

कपिल-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कपिल नाम के मूषक से व्रण में सडन, ज्वर, गाठों का उत्पन्न होना तथा प्यास होती है। इसमें श्वेत अपराजिता (कोयल) और श्वेत पुनर्नवा के रस को चाटे ॥ २३ ॥

ग्रन्थयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः ॥२४॥
वर्षाभूनीलिनीक्काथकल्कसिद्धं घृतं पिबेत् ।

कोकिल-दष्ट के लक्षण तथा चिकित्सा—कोकिल से गांठें, तीव्र ज्वर एवं भयानक दाह होता है। इसमें पुनर्नवा, नीलिनी के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध घृत का पान करे ॥२४॥

अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान् ॥२५॥
महाकृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च ।
महता कपिलेनासृक् कपोतेन चतुष्टयम् ॥२६॥
भवन्ति चैषां दंशेषु ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः ।
पिडकोपचयश्चोग्रः शोफश्च भृशदारुणः ॥२७॥
दधिक्षीरघृतप्रस्थास्त्रयः प्रत्येकशो मताः ।
करञ्जारग्वधव्योषबृहत्यंशुमतीस्थिराः ॥२८॥
निष्काथ्य चैषां क्काथस्य चतुर्थांऽशः पुनर्भवेत् ।
त्रिवृद्वोव्यमृतावक्रसर्पगन्धाः समृत्तिकाः ॥२९॥
कपित्थदाडिमत्वक् च श्लक्ष्णपिष्टाः प्रदापयेत् ।
तत् सर्वमेकतः कृत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥३०॥
पञ्चानामरुणादीनां विषमेतद्व्यपोहति ।
काकादनीकाकमाच्योः स्वरसेष्वथवा कृतम् ॥३१॥
सिराश्च स्रावयेत् प्राज्ञः कुर्यात्संशोधनानि च ।

अरुणादि पांचों से दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—अरुण नामक मूषक से कुपित वायु वातज रोगों को उत्पन्न करती है। महाकृष्ण से पित्त एवं महाश्वेत के विष से कफ प्रकुपित होता है। महाकपिल के विष से रक्त तथा कपोत नामक मूषक के विष से चारो दोष प्रकुपित होते हैं। इसके दंश स्थान में ग्रन्थियां, चकत्ते, तथा कर्णिकायें होती हैं। उग्र वेग वाली फुन्सियों की उत्पत्ति तथा भयानक शोथ होता है। इसके लिए दही, दूध और घी प्रत्येक का एक-एक प्रस्थ, करञ्ज, अमलतास, सोंठ, मरिच, पिप्पली, कण्टकारी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी का क्वाथ बनावे और इस क्वाथ में क्वाथ का चतुर्थांश निशोथ, गावजवाँ, गुडूची, तगर, सर्पगन्धा, काली मृत्तिका (मिट्टी), कपित्थ (कैथ) की छाल तथा अनार की छाल को बारीक पीसकर मिलाये। फिर इन सबको मृदु अग्नि से पाक करे। यह योग अरुण आदि पांचों चूहों के विष को नष्ट करता है। अथवा काकादनी (सफेद गुञ्जा) तथा मकोय के स्वरस में घृत को सिद्ध करे। मर्म स्थान की सिराओं को छोडकर उचित स्थानों पर सिरामोक्षण कर्म करे तथा वमन, विरेचन आदि संशोधन कर्मों की व्यवस्था करे ॥

विमर्शः—मूषिक-दंशज विषों में दो प्रकार के लक्षण होते हैं—स्थानिक तथा सार्वदैहिक। स्थानिक लक्षण—इसमें दंश-स्थान में प्रकोप होकर, सव्रणता, पीड़ा, शोथ, कोथ (Gangrene) तथा पिडिकोत्पत्ति होती है। उस स्थान से सम्बन्धित लसिकावाहिनियाँ दोषग्रस्त होती है तथा लसग्रंथिकायें फूल जाती हैं, धीरे धीरे दंश स्थान का शोथ बढ़ता जाता है और उस पर कुपित धातु का आवरण बन जाता है। सार्वदैहिक लक्षण—इसमें स्थानिक लक्षणों के बढने के साथ ही ज्वर का सहसा आक्रमण होता है। ज्वर के समय जाड़ा, मिचली, वमन, अतिसार, शरीर में पीड़ा,

बेचैनी, शिर:शूल आदि लक्षण होते है। कभी कभी पूरे शरीर पर रक्तवर्ण के स्फोट निकलते है। विसर्प तथा शीतपित्त जैसे मण्डल शरीर पर निकलते हैं। तीसरे दिन ज्वर प्रायः १०३°-१०४° डिग्री तक पहुँच जाता है और प्रायः छठे दिन एकाएक उतर जाता है। पुन. ५-६ दिनों के बाद ज्वर का दूसरा दौरा आता है जो पांच छ: दिनों के बाद स्वय कम हो जाता है। इस प्रकार सज्वर तथा निर्ज्वर अवस्था के दौरे महीनों तक अथवा कभी कभी तो कई वर्षों तक चलते रहते हैं। ज्वर के समय सभी लक्षण तीव्र होते हैं तथा ज्वरमुक्त होने पर मन्द हो जाते है अथवा बिलकुल मिट जाते हैं। प्रत्येक दौरे के समय रोगी दुर्बल हो जाता है तथा अधिक दौरे आने पर वह अत्यन्त कृश तथा मृतप्राय हो जाता है। आचार्य सुश्रुत द्वारा कथित लक्षण सामान्यतया मूषिक विष में ही मिलते हैं। मूषिक दंशज ज्वर (Ratbite fever) का वर्णन आधुनिक चिकित्साशास्त्र में निम्न रूप में मिलता है। उपसृष्ट (Infeted) चूहे के काटने से मनुष्य के शरीर में क्षुद्र चक्राणु (Spirillum Minus) प्रवेश कर ज्वर, स्थानिक लसग्रंथियों (Lymphglands) की पीडाकर वृद्धि, विस्फोट (Rsah) तथा श्वेत कायाणूत्कर्ष (Leuco cytosis) आदि लक्षण उत्पन्न करते हैं। चूहे के काटने का का इतिहास, ज्वर का अनेक बार पुनरावर्तन, विस्फोट, स्थानिक लसग्रन्थियों की पीडाकर वृद्धि तथा श्वेतकायाणूत्कर्ष इस रोग के प्रधान लक्षण है। शरीर में चक्राणु (Spirochaeta) के प्रवेश करने से दस दिन के अन्दर दंशित स्थान में शोथ होता है। स्थानिक (Local) लस ग्रथियों की पीडाकर वृद्धि होती है और कम्प (Rigor) के साथ ज्वर प्रारम्भ होता है। प्रथम तीन दिन ज्वर रहता है तत्पश्चात् ज्वर की तीव्रता में कमी होने लगती है और सप्ताह के अन्त में प्रायः छठे दिन पसीना (Siweting) के साथ सहसा तापक्रम (Temperature) प्राकृत (Normal) हो जाता है। ज्वर के प्रारम्भ में वक्ष तथा बाहु पर उत्कर्णिक विक्षोभ (Papular rash) निकलते हैं तथा रक्त में चक्राणु मिल सकते हैं। एक सप्ताह पर्यन्त तापक्रम रहकर पुनः ज्वर प्रारम्भ हो जाता है और फिर यह क्रम चलता रहता है। रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) मिलता है। रोग का निदान करने में—मूषिक दंश का इतिहास, ज्वर पुनरावर्तन, श्वेत कायाणूत्कर्ष, रक्त तथा दंशित स्थान के स्राव में चक्राणु के मिलने से रोग विनिश्चिति सम्भव है। यह रोग घातक नहीं है परन्तु चिरकालानुबन्धी है। उचित चिकित्सा के अभाव में महीनों या वर्षों तक बार-बार आक्रमण करता रहता है धीरे धीरे उसकी तीव्रता घट कर वह अपने आप भी अच्छा हो जाता है। इस प्रकार पुनरावर्तक ज्वर के बार बार दौरे होते रहने से रोगी अधिकाधिक क्षीण हो जाता है एव इस क्षीणता के फलस्वरूप उसकी मृत्यु भी हो सकती है। जापान में यह रोग काफी प्रचलित है, वहाँ इससे १० प्रतिशत मृत्यु होती है। भारतवर्ष में भी इस रोग से मृत्यु तो होती है किन्तु प्रतिशत मृत्यु का प्रमाण ठीक-ठीक मालूम नहीं किया जा सका है।

सर्वेषां च विधिः कार्यो मूषिकाणां विषेष्वयम् ॥३२॥

दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत्।
शिरीषरजनीकुष्ठकुङ्कुमैरमृतायुतैः ॥३३॥

मूषिक विष में दाह, विस्रावण और प्रलेप—सब मूषिका दंश में यह विधि (सिरावेधन, संशोधन) करनी चाहिए। अग्नि में तप्त किए घी से दश स्थान को दग्ध करे फिर पाछ कर दश में से रक्त निकाले। दंशस्थान पर शिरीष, हल्दी, कुष्ठ, केशर और गिलोय का लेप करे ॥ ३३ ॥

छर्दनं जालिनीकाथैः शुकाख्याङ्कोठयोरपि।

मूषिक विष में शुकादि योग—जालिनी (कडुई तुरई), शुकाख्य (श्योनाक या शिरीष) और अंकोठ इनके क्वाथ से वमन करावे ॥ ३३ ॥

शुकाख्याकोषवत्योश्च मूलं मदन एव च ॥३४॥
देवदालीफलं चैव दध्ना पीत्वा विषं वमेत्।
सर्वमूषिकदष्टानामेव योगः सुखावहः ॥३५॥

शिरीष, कटु तुम्बी इनकी जड, मैनफल तथा कुकडलता का फल इनको दही के साथ पीसकर वमन करावे। सब चूहों के दंश में यह योग लाभदायक है ॥ ३४-३५ ॥

फलं वचा देवदाली कुष्ठं गोमूत्रपेषितम्।
पूर्वकल्पेन योज्याः स्युः सर्वोन्दुरुविषच्छिदः ॥३६॥

मूषक विष में फलादि योग—मैनफल, वच, देवदाली, कूठ इनको गोमूत्र में पीसकर दही के साथ पीना चाहिए। यह योग सभी चूहों के विष को नष्ट करता है ॥ ३६ ॥

विरेचने त्रिवृद्दन्तीत्रिफलाकल्क इष्यते।
शिरोविरेचने सारः शिरीषस्य फलानि च ॥३७॥

मूषिक विष में विरेचन तथा शिरोविरेचन योग—विरेचन के लिए निशोथ, दन्ती (जमालगोटा) तथा त्रिफला के कल्क का प्रयोग करे। शिरोविरेचन के लिए शिरीष का सार भाग (मध्यभाग) तथा फल का प्रयोग करावे ॥ ३७ ॥

हितस्त्रिकटुकाढ्यश्च गोमयस्वरसोऽञ्जने।
कपित्थगोमयरसौ लिह्यान्माक्षिकसंयुतौ ॥३८॥
रसाञ्जनहरिद्रेन्द्रयवकट्वीषु वा कृतम्।
प्रातः सातिविषं कल्कं लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ॥३९॥
तण्डुलीयकमूलेषु सर्पिः सिद्धं पिबेन्नरः।
आस्फोतामूलसिद्धं वा पञ्चकापित्थमेव वा ॥४०॥

मूषिक विष में सशमन योग—त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) मिलाकर गोबर के रस का अञ्जन करे। कैथ का स्वरस या गोबर के रसको मधु के साथ चाटे। रसौत, हल्दी, इन्द्रयव, कटुरोहिणी आदि के कल्क को मधु के साथ सेवन करावे। अतीस के कल्क को मधु के साथ प्रातःकाल खाये। चौलाई की मूल से सिद्ध किया हुआ घृत देवे। सारिवा के मूल में अथवा कैथ के पत्ते, फल, मूल, पुष्प व छाल इनके कषाय और क्वाथ में सिद्ध घृत का पान करे ॥ ३८-४० ॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में आखुविषचिकित्सा में (Penicillin), सखिया (Arsenic) तथा बिस्मथ (Bismuth) का सूचिकाभरण करना चाहिए। सखिया के यौगिकों में सालवर्सन, नियोसलवार्सन के प्रयोग से तुरन्त लाभ पहुँचता है। ज्वरावेग में प्रारम्भ में सुई देने से लाभ होता है।

४५-७५ ग्राम प्रति सप्ताह एक वार सिरा द्वारा (Intra venously) सुई दी जाती है इससे रक्तगत विष या जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इस रोग में प्रायः चार या पाँच सूचिकाभरण की आवश्यकता पड़ती है। व्रण की स्थानिक चिकित्सा से कोई विशेष लाभ तो नहीं होता तथापि एक्रीपलेविन, यूसोल (Eusol) तथा अन्य जीवाणुनाशक घोल (Antiseptic lotions) से उसको साफ रखना बहुत जरूरी है। इससे व्रण का रोपण शीघ्र होता है। चरककार ने भी मूषिक के लक्षण तथा चिकित्सा का निम्न प्रकार से वर्णन किया है यथा—आदंशाच्छोणित पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचि । लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषादिते ॥ मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः शिरोगुरुत्वं लालाऽसृक्लर्दिश्चामाध्यमूषिकैः ॥ (च० चि० अ० २३।१४६-१४७) अर्थात् दूषीविष चूहे के दंशव्रण से स्थान की पाण्डुता के साथ रक्त का स्राव होता है। मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होते हैं। ज्वर, अरुचि, लोमाञ्च तथा दाह आदि लक्षण होते हैं। मूर्च्छा, देह में शोथ, देह की विवर्णता, देह की क्लिन्नता व गलना, शब्द का सुनाई न पडना, ज्वर, शिर का भारीपन, लालास्राव तथा रक्त का वमन ये असाध्य मूषिकदष्ट के लक्षण है। तथा चिकित्सा का उल्लेख करते हुए चरककार कहते हैं कि-त्वचं च नागर चैव समाशं श्लक्ष्णपेषितम्। पेयमुष्णाम्बुना सर्वमूषिकाणा विषापहम् ॥ (च० चि० अ० २३।२०४) दालचीनी, सोंठ इनके बारीक पिसे चूर्णों को सम परिमाण में मिलाकर गरम जल से पिलाना चाहिये। यह सब मूषिकों के विष को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी मूषिक के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है, यथा—यस्मिन्नङ्गे पतत्येषा शुक्रभङ्गैः स्पृशन्ति वा। यच्छुक्लदिग्धैस्तत्राङ्गे दूषिते पाण्डुता गते। ग्रन्थयः श्वयथु. कोठो मण्डलानि भ्रमोऽरुचिः। शीतज्वरोऽतिरुक् सादो वेपथु. पर्वभेदनम् ॥ रोमहर्ष स्तुतिर्मूर्च्छा दीर्घकालानुबन्धनम्। श्लेष्मानुविद्धवह्वाखुपोतकच्छर्दनं सकृत् ॥ इति ॥

मूषिकाणां विषं प्रायः कुप्यत्यभ्रेष्वनिर्हृतम्।
तत्राप्येष विधिः कार्यो यश्च दूषीविषापहः ॥४१॥

मूषिक विष के शान्त होने पर भी शोधन कार्य—न निकला हुआ चूहे का विष प्रायः मेघों से आकाश के घिर जाने पर कुपित होता है। अतः यहाँ पर भी यही वमन, विरेचन तथा शिरोविरेचन आदि विधि तथा अन्य दूषीविष-नाशक उपचार बरतना चाहिए ॥ ४१ ॥

स्थिराणां रुजतां वाऽपि व्रणानां कर्णिकां भिषक्।
पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ॥४२॥

आखुविष-कर्णिका की चिकित्सा—स्थिर अर्थात् न भरने वाले अथवा भरते हुए व्रणों की कर्णिका को चिकित्सक चीरकर तथा दोष के अनुसार एवं व्रण की अवस्थानुसार चिकित्सा करे ॥ ४२ ॥

श्वशृगालतरच्छ्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥४३॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अत्यर्थवधिरोऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥४४॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु।
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ॥४५॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः।

उन्मत्त कुत्ता, शृगाल आदि से दष्ट के लक्षण—कुत्ता, गीदड (सियार), तरक्षु (लकडबग्घा), रीछ, व्याघ्र आदि के विष के कारण, कफ से दूषित हुई वायु जब सज्ञावह स्रोतों का आश्रय लेकर संज्ञा विनाश कर देती है तब पशु की पूछ, हनु और स्कन्ध (कन्धे) बहुत ढीले हो जाते हैं (उनका इन अङ्गों की स्थिति पर कोई वश अथवा नियन्त्रण नहीं रहता), मुख से बहुत सा लालास्राव होता है वह पशु बहुत बहरा हो जाता है तथा वह एक दूसरे की ओर भागता है। उस पागल, विष वाले दंष्ट्री पशु के काटने से दंशस्थान में सुषुप्ति हो जाती है तथा उसमें से काले रङ्ग का बहुत सा रक्त बहता है और प्रायः विषाक्त शस्त्र से विद्ध व्रण के से लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ४३-४५ ॥

विमर्शः—चरककार ने भी पागल कुत्ते के अभिज्ञानार्थ निम्न लिखित लक्षणों का उल्लेख किया है, यथा—श्व त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोभितापी लालास्राव्यधो वक्त्रकृदेव च ॥ अन्ये ये विविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणा'। हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मता ॥ (च० चि० अ० २३।१७४-१७५) अर्थात् कुत्ते में तीनों दोषों का प्रकोप हो जाने से तथा धातुओं में विपरीतता अथवा विकृति होने से शिर में अभिताप (पीडा) होता है। उसके मुख से लार टपकती रहती है तथा वह मुख नीचे किये हुए चलता है। अन्य भी इसी प्रकार के हिंस्र पशु है जो कफ वात को प्रकुपित करते हैं। इन सबसे दष्ट व्यक्तियों में हृदय तथा शिर में वेदना ज्वर, स्तम्भ, प्यास तथा मूर्च्छा ये लक्षण होते है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी इसका अत्यन्त सुन्दर तथा वैज्ञानिक वर्णन दिया है, यथा—शुन श्लेष्मोल्वणा दोषा सज्ञा सज्ञावहाश्रिता.। मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभ धातूनामति दारुणम् ॥ लालावानन्ध बधिर' सर्वतः सोऽभिधावति। स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धशिरोदु खी नतानन ॥ दशस्तेन विदष्टस्य सद्य. कृष्ण क्षरत्यसृक्। हृच्छिरोरुक्ज्वरस्तम्भतृष्णामूर्च्छोद्भवोऽनु च ॥ अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्यालादष्ट्राप्रहारिणः। शृगालाश्वतराश्वश्च द्वीपिव्याघ्रवृकादयः ॥ (अ० हृ० उ० तं० अ० ४६) इस प्रकार प्राचीन चिकित्सा-ग्रथों में अलर्कविष की बडी साङ्गोपांग विवेचना प्राप्त होती है। वस्तुतः यह रोग कुत्ता, बन्दर, गीदड, भेडिया, लोमड़ी, बिल्ली, सुअर, रीछ आदि प्राणियों के काटने से फैलता है परन्तु प्राय. कुत्ते और सियारों से ही मनुष्यों में फैलते हुए देखा गया है। इन प्राणियों के दशन से सदैव विष प्रभाव नहीं होता। बल्कि एक विशेष अवस्था में जब ये प्राणी विष के प्रभाव से मत्त हो जाते हैं तभी अपने दश से दूसरे प्राणियों को भी उपसृष्ट करते है। अलर्कविष एक प्रकार का तीव्र विष होता है। कुत्ते या उसके समान जाति के प्राणी उससे पीड़ित होते हैं। उनके काटने से उनके लार (लाला) द्वारा मनुष्य के घाव में इसका सूक्ष्मदर्शकातीत (Ultramicroscopic) स्यन्दनशील विषाणु (Filterable virus) संक्रमित होता है। यह विषाणु रुग्ण प्राणी की लाला तथा नेगरी पिण्ड (Negri Bodies) में पाया जाता है तथा लालाग्रन्थियों में अधिष्ठान बनाकर पडा रहता है इसीलिए

ग्रथियाँ हो जाती हैं जिनमें कभी कभी कण्डू, पीडा व दाह भी होता है अतः उस स्थान को सेंकना चाहिए तथा कैल्सियम चूर्ण मुख मार्ग से प्रयोग कराना चाहिए। शिर में पीडा होने पर वेदनाहर यथा एस्पिरीन, सिवालिजन, सेरीडोन आदि देना चाहिए। यदि ज्वर हो जावे तो लक्षणानुसार उसकी चिकित्सा करे। रोगी को चिकित्सा कराते समय कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। मादक द्रव्यों शराब आदि का प्रयोग करते रहने से रोग-क्षमता उत्पन्न होने में कठिनाई होती है। पहाड, पहाडी, सीढ़ी आदि ऊँचे स्थानों पर नहीं चढ़ना चाहिए, खेल कूद आदि में भी भाग नहीं लेना चाहिए। रोगी को ठण्डक से बचना चाहिए तथा उसे मल की सम्यक् प्रवृत्ति होती रहे इस बात का भी पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए तथा गुड, तेल, मिर्च व खट्टी वस्तुओं का प्रयोग यथासम्भव नहीं करना चाहिये। जलसंत्रास रोग उत्पन्न होने के पहले यदि प्रतिषेधक चिकित्सा करा ली जावे तो रोगी को निश्चित रूप से बचाया जा सकता है, उस समय उसे गुदा द्वारा पोषण देना चाहिए तथा अवसादक औषधों यथा अहिफेन (Morphia) का प्रयोग करें व रोगी को गरम तथा अंधेरे स्थान पर रखें। इस रोग की चिकित्सा के विशेष केन्द्र प्राय: हर बडे नगर में सरकार के द्वारा खोले गये हैं अतः चिकित्सक को तुरन्त ही ऐसे रोगी को वहाँ चिकित्सा के लिए भेज देना चाहिए।

श्वाद्योऽभिहिता व्याला येऽत्र दंष्ट्राविषा मया ॥६३॥
अतं करोति दष्टस्तु तेषां चेष्टां रुतं नरः।
बहुशः प्रतिकुर्वाणो न चिरान्म्रियते च सः ॥६४॥

उन्मत्त व्याल से दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—यहाँ पर कुत्ते आदि दंष्ट्रा विषवाले जो हिंसक पशु मैंने कहे हैं उनसे काटा हुआ मनुष्य उनके समान ही चेष्टा तथा शब्द करता है। जो बार बार इनका अनुकरण (नकल) करता है वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बनता है ॥ ६३-६४ ॥

नखदन्तक्षतं व्यालैर्यत्कृतं तद्विमर्दयेत्।
सिञ्चेत्तैलेन कोष्णेन ते हि वातप्रकोपकाः ॥६५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने मूषिककल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

हिंसक पशुओं के नख या दन्त से जो क्षत बना हो उसको मल देवे तथा उसे गरम सुहाते तेल से सेक करे। क्योंकि ये नख तथा दाँत वायु को प्रकुपित करते हैं ॥ ६५ ॥

विमर्श.—चरककार ने नख दन्त क्षत के लक्षण तथा चिकित्सा का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है कि—चतुष्पाच्छिंपाच्छिर्या नखदन्तक्षत तु यत्। शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हसपदी। रजन्यौ गैरिकं चेति नखदन्तविषापहः ॥ (च. चि. अ. २३।२१८-२१९) चौपाये या दो पैर वाले प्राणियों के नख और दाँत के क्षतों में शोथ, पक जाना और स्राव होता है। तथा ज्वर भी हो सकता है। सोमवल्क, अश्वकर्ण, गोजिह्वा, हसपदी, दारुहल्दी, गेरु इन्हें एकत्र मिश्रित कर लेप करने से नख और दाँतों का विष नष्ट हो जाता है। सिंह, बन्दर आदि के नख एवं दन्त के क्षत में विसर्प हो जाता है। सींग का क्षत भी नख क्षत के समान ही समझना चाहिए।

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने मूषिककल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः कीटकल्प व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

कीटकल्प का उपक्रम—अब इसके आगे कीटकल्प का व्याख्यान किया जायगा जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसंभवाः।
वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥
सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः।
कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः ॥ ४ ॥

कीटों की उत्पत्ति—साँपों के शुक्र, मल, मूत्र, शव के सडने तथा उनसे अण्डों के उत्पन्न होने से पैदा होनेवाले वायु, अग्नि (पित्त) तथा कफ की प्रकृतिवाले कीट विविध प्रकार के कहे गये हैं। परिणामतः ये सब कीट सब दोषों की प्रकृति से युक्त होते है। कीट छोटे अथवा तुच्छ होने पर भी अति भयानक होते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं ॥

विमर्शः—सर्पों के ही विष्ठा, मूत्र आदि के सड़ने से चार प्रकार के कीटों की उत्पत्ति मानी गई है, दोष भेद से भी वातोल्वण, पित्तोल्वण, श्लेष्मोल्वण तथा सान्निपातिक इन चारों वर्गों में ६७ प्रकार के कीटों की गणना की गई है, जिनमें १८ वातज, २४ पित्तज, तथा १३ श्लेष्मा प्रकोपक हैं शेष १२ सन्निपातज हैं जो दारुण, प्राणघातक तथा सर्पदंश के समान ही वेगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। आजकल तो इन कीटों के नाम तथा रूप का ज्ञान भी प्रायः नहीं के बराबर ही है। चरककार ने भी कीटों की उत्पत्ति के विषय में निम्नमत प्रतिपादित किया है, यथा—सर्पाणामेव विण्मूत्रात्कीटाः स्युः कीटसम्मता। दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः ॥ (च. चि. अ २३।३९) अर्थात् साँपों के ही पुरीष, मूत्र आदि से जो कीट उत्पन्न होते है उन्हें ही यहाँ कीट कहा गया है, वे संक्षेपतः दो प्रकार के होते हैं (१) दूषीविष कीट, (२) प्राणहर कीट। आचार्य डल्हण ने भी व्याख्या करते हुए लिखा है कि—'सर्पाणा दर्वीकरमण्डलिराजिमता शुक्रादिपञ्चसम्भवा, यथासख्य वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतय. कीटा। शवो मृतसर्पशरीर तस्य पूति. शटनम्। त्रीन् कीटान् दर्वीकरमण्डलिराजिलसम्बन्धेन वाय्वादिप्रकृतिक्रमान्निर्दिश्य चतुर्थं स्वभावेन कर्मणा च निर्दिशन्नाह। सुघोराः त्रिदोषादिकोपना, वैकरञ्जसर्पजानिशुक्रादिसम्भवत्वेन इति ॥'

कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी शृङ्गी शतकुलीरकः।
उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च चिचिटिङ्गो मयूरिका ॥ ५ ॥

आवर्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ ।
शरावकुर्दोऽभीराजिः परुषश्चित्रशीर्षकः ॥ ६ ॥
शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिश्च कीर्तितः ।
अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः ॥ ७ ॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः ।

अट्ठारह प्रकार के वायव्य कीटों के नाम—कुम्भीनस, तुण्डिकेरी, शृङ्गी, शतकुलीरक, उच्चिटिङ्ग, अग्निनामा, चिञ्चिटिङ्ग, मयूरिका, आवर्तक, उरभ्र, सारिका, मुखवैदल, शरावकुर्द, अभीराजि, परुष, चित्रशीर्षक, शतबाहु, रक्तराजि, ये अट्ठारह कीट वातप्रकृति के हैं, ये वायु को प्रकुपित करते हैं। इनके काटने से वातजन्य रोग होते हैं ॥ ५-७ ॥

कौण्डिन्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः ॥८॥
विनासिका ब्राह्मणिका विन्दुलो भ्रमरस्तथा ।
बाह्यकी पिच्चिटः कुम्भी वर्चःकीटोऽरिमेदकः ॥९॥
पद्मकीटो दुन्दुभिको मकरः शतपादकः ।
पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गर्दभी ॥१०॥
क्लीतः कृमिसरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकस्तथा ।
एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरेव च ॥११॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः ।

२४ प्रकार के आग्नेय कीटों के नाम—कौण्डिन्य, कणभक, वरटी, पत्रवृश्चिक, विनासिका, ब्राह्मणिका, विन्दुल, भ्रमर, ब्राह्यकी, पिच्चिटि, कुम्भी, वर्चःकीट, अरिमेदक, पद्मकीट, दुन्दुभिक, मकर, शतपादक, पञ्चालक, पाकमत्स्य, कृष्णतुण्ड, गर्दभी, क्लीत, कृमिसरारी, उत्क्लेशक, ये चौबीस पित्त प्रकृतिवाले हैं, इनके काटने से पित्तप्रकोपजन्य रोग होते हैं ॥ ८-११ ॥

विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः ॥१२॥
सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिभस्तथा ।
सूचीमुखः कृष्णगोधा यश्च कापायवासिकः ॥१३॥
कीटो गर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च ।
त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटाः श्लेष्मप्रकोपणाः ॥१४॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः कफनिमित्तजाः ।

१३ प्रकार के सौम्य कीटों के नाम—विश्वम्भर, पञ्चशुक्ल, पञ्चकृष्ण, कोकिल, सैरेयक, प्रचलक, वलभ, किटिभ, सूचीमुख, कृष्णगोधा, कपायवासिक, गर्दभक, त्रोटक, ये तेरह कीट सौम्य एवं कफप्रकोपक होते हैं, इनके काटने से कफजनित रोग होते हैं ॥ १२-१४ ॥

तुङ्गीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा ॥१५॥
कोष्ठागारी क्रिमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः ।
तुण्ड(ङ्ग)नाभः सर्पपिको वल्गुलिः शम्बुकस्तथा ॥१६॥
अग्निकीटश्च विज्ञेया द्वादश प्राणनाशनाः ।
तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् ॥१७॥
तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः ।
क्षाराग्निदग्धवद्दंशो रक्तपीतसितारुणः ॥१८॥

१२ प्रकार के सान्निपातिक कीटों के नाम—तुङ्गीनास, विचिलक, तालक, वाहक, कोष्ठागारी, कृमिकर, मण्डलपुच्छक, तुण्डनाभ, सर्षपिक, शम्बूक तथा अग्निकीट नामक बारह कीट प्राणनाशक होते हैं। इनके काटने पर सर्पों के विष की भाँति ही विषवेग होते हैं तथा उसी प्रकार की वेदनाएँ होती हैं और ये सन्निपात के लक्षण उत्पन्न करते हैं। इनका दंश क्षार या अग्निदग्ध के समान रक्त वर्ण का (लाल), पीला, श्वेत या काले वर्ण का होता है ॥ १५-१८ ॥

ज्वराङ्गमर्दरोमाञ्चवेदनाभिः समन्वितः ।
छर्दितीसारतृष्णाश्च दाहो मूर्च्छा विजृम्भिका ॥१९॥
वेपथुश्वासहिक्काश्च दाहः शीतं च दारुणम् ।
पिडकोपचयः शोफो ग्रन्थयो मण्डलानि च ॥२०॥
दद्रवः कर्णिकाश्चैव विसर्पाः किटिभानि च ।
तैर्भवन्तीह दष्टानां यथास्वं चाप्युपद्रवाः ॥२१॥
येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूर्णं तेषां समादिशेत् ।
दूषीविषप्रकोपाच्च तथैव विषलेपनात् ॥२२॥
लिङ्गं तीक्ष्णविषेष्वेतत्—

तीक्ष्ण विष कीट के लक्षण—इन तीक्ष्ण विष वाले कीटों के विष के कारण ज्वर, अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना), रोमाञ्च (वेदना के कारण), छर्दि (वमन), अतिसार, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, जृम्भा (जम्हाई आना), कम्पन, श्वास, हिचकी, दाह, अतिशीत, पिडकाओं की वृद्धि होना, शोफ, ग्रथियाँ (गाँठें), मण्डल, दद्रु, कर्णिकाएँ, विसर्प, किटिभ आदि लक्षण होते है, जो तत्सम्बन्धी दोषों के उपद्रव है तथा जो अन्य उपद्रव है उनके भेदों को भी दूषीविष के लक्षणादिकों से, विष के आहारादि भेद से ज्ञात करे ॥१९-२२॥

विमर्श—चरककार ने दूषीविष कीटों से दष्ट के लक्षण तथा उनके प्राणहर लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है, कि—गात्र रक्त सित कृष्ण श्याव वा पिडकान्वितम् । सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात्कुथित तथा ॥ कीटैर्दूषीविषैर्दष्ट लिङ्गं प्राणहरं शृणु । सर्पदष्टे तथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक् । दशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा सरुगार्तः श्वसित्यपि ॥ (च. चि. अ. २३।१४०-१४१) जिस अवयव पर दूषीविष कीट काटता है वह स्थान श्वेत, काला व श्याम वर्ण का हो जाता है। उस पर फुन्सियाँ निकल आती हैं, खुजली तथा दाह होता है। विसर्प हो जाता है अर्थात् शोथ फैलता जाता है। वह स्थान पक जाता है तथा सड़गल जाता है तथा प्राणहर कीट से दष्ट के लक्षण में साँप से दष्ट पुरुष में जैसा शोथ होता है वैसा ही यहाँ दशस्थान में शोफ उग्रगन्धयुक्त रक्त के साथ होता हुआ निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। नेत्र का भारीपन, मूर्च्छा, श्वास तथा वेदना से रोगी पीडित होता है। इसी प्रकार अष्टांगसग्रहकार ने भी कहा है कि—वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्द्धिष्णुर्विसरक्तता । शिरोऽक्षिगौरव मूर्च्छा भ्रमः श्वासोऽतिवेदना ॥ (अ. सं उ. तं अ. ४३) चरककार ने पुनः मत व्यक्त करते हुए कहा है कि—तृष्णाऽरुचिपरीतश्च भवेद् दूषीविषार्दितः । (च. चि. अ. २३।१४२) दूषीविष कीट से दष्ट पुरुष में पूर्वोक्त स्थानीय लक्षणों के अतिरिक्त तृष्णा तथा अरुचि भी होती है।

—शृणु मन्दविषेष्वतः।
प्रसेकारोचकच्छर्दिशिरोगौरवशीतकाः ॥२३॥
पिडकाकोठकण्डूनां जन्म दोषविभागतः।

मन्द विष कीट के लक्षण—अब मन्दविषों के लक्षणादि सुनो मुख से लालास्राव, अरोचक, वमन, शिर में भारीपन, अवशीतन (शीत की कमी), पिडिका, कोठ, कण्डु की उत्पत्ति आदि लक्षण कीटों के दोषों के अनुसार दृष्टिगोचर होते हैं ॥ २३ ॥

योगैर्नानाविधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत् ॥२४॥
दूषीविषप्रकाराणां तथा चाप्यनुलेपनात्।

गर विष के लक्षण—इन कीटों के विविध प्रकार के योगों से बने हुए चूर्णों को गर विष कहना चाहिए। दूषीविष की भाँति लेप करने से भी इनसे गरविष उत्पन्न होता है ॥२४॥

विमर्शः—इन विषैले कीटों के वेग सर्पों की भाँति होते हैं। बढ़नेवाला शोफ, रक्त की विस्रता, शिर तथा आँखों का भारीपन, मूर्च्छा, भ्रम, श्वास तथा दंशस्थान पर पीडा आदि लक्षण होते हैं। प्राय सभी कीटों के दंशस्थान पर कर्णिका, मांसाङ्कुर, शोफ, ज्वर, कण्डू तथा अरुचि होती है। विषों का एक छोटा भेद संयोगज विष का है। इसकी कई ग्रथकारों ने कई सज्ञाएँ दी हैं। इसके कारण मृत्यु नहीं होती परन्तु यह चिरकालीन रोगों को उत्पन्न करता है। जैसा कि चरककार ने कहा है कि—पर सयोगज चान्यद् गरसज्ञ गदप्रदम्। कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून्॥ (च. चि अ. २३।१४) स्थावर, जङ्गम से अतिरिक्त एक और भी विष होता है जिसे गर नाम से कहा जाता है। यह सयोगज होता है। यह भी रोगों को उत्पन्न करता है। कालान्तर में विपाक होने के कारण यह शीघ्र ही मृत्यु का कारण नहीं होता। वृद्ध काश्यपकार ने तो गरविष की और अधिक स्पष्ट व्याख्या की है यथा—सयोगजञ्च द्विविध तृतीय विषमुच्यते। गर स्यादविष तत्र सविष कृत्रिम मतम्॥ अर्थात् संयोगज विष नामक विष का एक तृतीय वर्ग भी है यह भी दो प्रकार का होता है। अविष द्रव्यों से निर्मित को गर तथा सविष द्रव्यों के सयोग से बने विष को कृत्रिम विष कहते हैं। यूनानी चिकित्सा के अनुसार भी केचुआ, वीरबहूटी, सांडा आदि प्राणियों का प्रयोग योगों में यथा लेपन व खाद्य योगों में किया जाता है उसी प्रकार यदि उक्त विषैले कृमियों का प्रयोग करने पर विषजनित उपद्रवादि होने लगते हैं तो वह गर विष कहलाता है। इस प्रकार विविध औषधियों के सयोग से बने विष को गर विष कहते हैं। इसके प्रभाव से शोफ, पाण्डु, उदररोग, उन्माद, अर्श आदि विकार होते हैं। नाना प्रकार के प्राणियों के अङ्गों से उत्पन्न मल (मूत्र, पुरीष, नख, केश, रोम), विरुद्ध ओषधियों के भस्म तथा अल्पवीर्य वाले विषों के योग से ये विष बनते हैं। इसका प्रयोग कुलटा या सौत के द्वेष से क्षुभित स्त्रियाँ अपने सौभाग्य के लिए व अपने पति को अपने वश में रखने के लिए अथवा अपने ऊपर अनुरक्त बनाए रखने के लिए करती हैं। यह विष सद्योघातक न होकर चिरकालिक स्वरूप की कोई व्याधि उत्पन्न कर देता है। इसके अतिरिक्त कई बार राजाओं में चिरकाल तक कष्ट देकर मारने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता रहा है। इस स्थिति में शत्रु के द्वारा प्रेरित राजा के निकटवर्ती दरबारीगण राजा पर इसका प्रयोग करते हैं। गर विष प्रायः जीर्णस्वरूप का होता है परन्तु तीव्र भी हो सकता है प्राय. इसका प्रयोग गुप्त रूप से भोजन में मिलाकर उस भोजन को शत्रु को खिलाकर किया जाता है। इस विष से पीडित हुआ व्यक्ति कृश, पाण्डुवर्ण, मन्दाग्नि, कास, श्वास, ज्वरयुक्त, प्रतिलोम वायु से युक्त, निद्रा तथा चिन्ता में डूबा हुआ, उदररोगों (यकृत् वृद्धि, प्लीहावृद्धि आदि) से पीडित, दीन हीन वाणी वाला, दुर्बल, आलसी, शोफी, निरन्तर आध्मान से युक्त, ग्रहणी तथा क्षय रोग से युक्त होता है। उसको सपने में सियार, बिल्ली, नेवला, हिंस्र पशु, बन्दर, सूखे वनस्पति तथा जलाशय दृष्टिगोचर होते हैं तथा स्वप्न में ही अपने को काला या गोरा तथा स्वस्थ होने पर इन्द्रियविहीन देखता है। उपर्युक्त लक्षणों को देखकर चिकित्सक को उसके इतिहास तथा परिस्थिति के बारे में जिज्ञासा करनी चाहिए। यदि सदिग्ध प्रकार का इतिहास प्राप्त होता हो तो गर विष का निश्चय कर लेना चाहिए। यदि रोगी तत्काल आ गया हो तो उसको वमन तथा आमाशय-प्रक्षालन कारना चाहिए। उसके बाद उसको ताम्रभस्म का उपयोग मधु के साथ कराना चाहिए। इसके चटाने से हृदय का सम्यक् विशोधन हो जाता है। सुवर्णमाक्षिक का मधु-शर्करा के साथ सेवन कराना चाहिए तथा नागदन्ती, निशोथ, स्नुहीक्षीर व मैनफल से सिद्ध घृत का प्रयोग कराना चाहिए। चिरकालीन गर विष की चिकित्सा करते समय मूर्वा, गुडूची, तगर आदि द्रव्यों को तक्र, गरम पानी या नीबू के रस से गरपीडित मनुष्य को पिलाना चाहिए। स्वर्ण के योगों का सेवन कराना चाहिए। अवस्थानुसार उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए गरविष प्रारम्भिक अवस्था में भोजन विष (Food poisoning) के रूप में रहता है परन्तु जीर्णावस्था में वह मन्दविषमयता (Slow poisoning) का रूप ले लेता है। आज के वैज्ञानिक भी मानते हैं कि किन्हीं अज्ञात कारणों से शरीर के विभिन्न अग कुछ विशिष्ट प्रकार के विष बनाने लगते हैं जिनके कारण शरीर की जीवनीय शक्ति (Vitality) घटने लगती है तथा मनुष्य मृत्यु के मुख की ओर अग्रसर होता जाता है। इस प्रकार के मन्द विष को स्वगत विषाक्तता (Auto poisoning) कहा जाता है। सम्भवतः आयुर्वेद के ग्रंथों में वर्णित गरविष जिसका निर्विष विरुद्ध द्रव्यों के सयोग से निर्माण होता है, इसी वर्ग का प्रतीत होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि हीनवीर्य स्थावर विष दूषीविष तथा हीनवीर्य मृतसर्प, कीटादि जगम विषों के सयोग से निर्मित चूर्ण प्रलेपादि गरविष हैं किन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं केवल नाम का भेदमात्र ही है क्योंकि दोनों के गुण धर्म भी समान ही होते हैं, इति। आचार्य डल्हण ने भी उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुये आलम्बायन नामक आचार्य के मत का वर्णन किया है कि—

'अथालम्बायनोक्त कीटाना सामान्यज्ञानोपायो लिख्यते—'कृष्णाभिर्विन्दुलेखाभि पक्षै पादैर्मुखैर्नखै. । शूकै. कण्टकलाङ्गूलैः सश्लिष्टैः पक्षरोमभि. ॥ स्वनै. प्रमाणै. संस्थानैर्लिङ्गैश्चापि शरीरगैः । विषवीर्यैश्च कीटाना रूपज्ञानं विधीयते ॥ इति·····तथा तेषा न केवल नियमेन शूकादिदर्शन विषप्रादुर्भाव', किन्तर्हि अभ्यवहारचूर्णानुलेपनैश्च दूषीविषलिङ्गप्रादुर्भाव इत्याह-यश्चैतानि हि चूर्णैर्वा चूर्ण्यते लिप्यतेऽथवा । मूत्रादिभिस्तस्य दूषीविषलिङ्ग समादिशेत् ॥' इति ॥

एकजातीनतस्तूर्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः ॥२५॥
सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्यासाध्यक्रमेण च ।
त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः ।
चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥२६॥
तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्ग मर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति

४ प्रकार के कणभ के नाम और उससे दष्ट के लक्षण—इसके आगे एक जातिवाले कीटों का वर्णन सामान्य भेद, काटने के लक्षणों तथा साध्यासाध्यता की दृष्टि से करूँगा । त्रिकटु, करिणी, हस्तिकक्ष, अपराजित ये चार कणभ जाति के हैं। इनके दंश के कारण तीव्र वेदना होती है तथा काटने के स्थान पर शोथ होता है एवं अगों का टूटना, अंगों का भारीपन होता है तथा दंशस्थान का वर्ण काला होता है ॥ २५-२७ ॥

विमर्शः—चरककारने भी कणभ दष्ट के लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है यथा—विसर्प. श्वयथु· शूल ज्वरश्छर्दिरथापि वा । लक्षणं कणभैर्दष्टे दशश्चैव विशीर्यते ॥ (च. चि. अ. २३।१५१) अर्थात् कणभ दष्ट पुरुप में विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर तथा वमन आदि ये लक्षण होते हैं तथा इसका दंश झड़कर गिर जाता है ।

प्रतिसूर्यकः, पिङ्गाभासो, बहुवर्णो, निरुपमो गोधेरक इति पञ्च गोधेरकाः; तैर्दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः, गोधेरकेणैतदेव ग्रन्थिप्रादुर्भावो ज्वरश्च ॥२८॥

५ प्रकार के विषखोपरा के नाम तथा उसके दष्ट के लक्षण—प्रतिसूर्यक, पिङ्गाभास, बहुवर्ण, निरुपम, गोधेरक ये पाँच जाति के हैं । गोधेरक इनके काटने से शोफ, दाह तथा पीडा होती है । गोधेरक के दंश में इन लक्षणों के साथ ज्वर और ग्रन्थियों (गाँठों) की उत्पत्ति भी होती है ॥ २८ ॥

विमर्शः—कविराज हाराणचन्द्र महोदय इस पाठ के स्थान पर निम्नलिखित पाठ का औचित्य स्वीकार करते हैं यथा—प्रतिसूर्य्य. पिङ्गभासो बहुवर्णो महाशिरा. तथा निरुपम· श्चापि पञ्च गौधेरका· स्मृताः ॥ तैर्भवन्तीह दष्टाना वेगज्ञानानि सर्पवत् । रुजश्च विविधाकारा ग्रन्थयश्च सुदारुणाः ॥' तथा आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए एक अन्य पाठान्तर का निर्देश किया है यथा—केचित् तु प्रतिसूर्यक इत्यादि स्थाने एवं पठन्ति 'प्रतिसूर्यः पिङ्गनासो बहुलोमा महाशिराः । तथा निरुपमश्चेति पञ्च गोधेरका· स्मृता. ॥ तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् । रुजश्च विविधाकारग्रन्थयश्च सुदारुणाः ॥' इति । गौधेरकलक्षण तन्त्रान्तरे-कृष्णसर्पेण गोधाया भवेद् यस्तु चतुष्पदः । सर्पो गोधेरको नाम तेन दष्टो न जीवति ॥ इति ॥

गलगोलिका—श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता, सर्पपिकेत्येवं षट्; ताभिर्दष्टे सर्पपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति, सर्पपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्पपिका प्राणहरी ॥ २९ ॥

६ प्रकार के गलगोली के नाम तथा उसके दष्ट के लक्षण—गलगोलिका, श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता तथा सर्पपिका ये छः हैं। इनके काटने पर सर्पपिका को छोड़कर दाह, सूजन और क्लेद होता है। सर्पपिका के दंश से हृदय में पीडा तथा अतिसार होता है। इन ऊपर कहे गए ६ कीटों में सर्पपिका का विष प्राणहर है अर्थात् घातक होता है ॥ २९ ॥

विमर्शः—चरककार ने गलगोडिका (गलगोली=छिपकली) दष्ट के लक्षण निम्न प्रकार से लिखा है यथा—दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गलगोटिका ॥ (च. चि. अ. २३।१५५) अर्थात् गलगोडिका दाह, तोद (व्यथा), स्वेद एवं शोथ को उत्पन्न करती है तथा इसी प्रसंग में अष्टांगसंग्रहकार का भी निम्नलिखित मत प्राप्त होता है कि—गृहगोलिकया स्वेदतोदश्वयथुदाहवान् । क्लेदी च दशो दष्टस्य हृत्पीटाग्रन्थिसम्भवः ॥ (अ. सं. उ. तं. अ. ४३) इति ।

शतपद्यस्तु-परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा, इत्यष्टौ; ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव, दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च ॥ ३० ॥

८ प्रकार के गोजर के नाम और उसके दष्ट के लक्षण—शतपदी (गोजर), परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा, ये आठ होती हैं। इनके काटने पर शोफ, वेदना तथा हृदय में दाह होता है । श्वेता तथा अग्निप्रभा के दंश से दाह एव मूर्च्छा उपर्युक्त लक्षणों के साथ विशेषरूप से होते हैं तथा श्वेत वर्ण की पिडिकाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ३० ॥

विमर्शः—चरककार ने शतपदी विष के लक्षणों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है यथा—दंशे स्वेद रुज दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥ (च. चि. अ. २३।१५५) अर्थात् शतपदी द्वारा दष्ट पुरुष के दंशस्थान पर स्वेद, वेदना, दाह आदि लक्षण होते हैं । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी लिखा है कि—पीत. शतपदी दशः स्वेदरुग्रागशोफवान् । अतसीपुष्पवर्णो वा पिटकावान् भ्रमप्रदः ॥ (अ. सं उ. तं. अ. ४३)

मण्डूकाः—कृष्णः, सारः, कुहजो, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्चेत्यष्टौ; तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात्, भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥ ३१ ॥

८ प्रकार के मेढक का नाम और उसके दष्ट के लक्षण—मण्डूक (मेंढक), कृष्ण, सार, कुहक, हरित, रक्त, यववर्णाभ, भृकुटी, कोटिक ये आठ होते हैं। इनके काटने पर दंश में कण्डू (खुजली) होती है, पीले रंग की झाग मुख से निकलती है । भृकुटी तथा कोटिक से लक्षणों के साथ दाह, वमन तथा मूर्च्छा अधिक मात्रा में होती है ॥ ३१ ॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण ने व्याख्या करते हुए तन्त्रान्तर के पाठ का वर्णन करते हुए लिखा है—अथ मण्डूकोत्पत्तिः भृकुटीलक्षणञ्च तन्त्रान्तरोक्त पठ्यते-'वर्षमाणे सुजेच्छुक प्रावृट्काले

महोरगः। ततः शरत्-प्रतप्तायां भूमौ मण्डो जलस्य हि। तस्मिन मण्डोदके जाता मण्डूकास्तेन संज्ञिता। मण्डूको गोगतिस्तज्ज्ञै कोटिक परिकीर्त्तित। तेन दष्टस्य मरण नास्ति तस्य प्रतिक्रिया॥ इति॥ चरककार ने सविषमण्डूक दष्ट के लक्षणों का निरूपण निम्नलिखित प्रकार से किया है यथा—एकदष्ट्रादितः शून सरुक् स्यात्पीतक सतृट्। छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम्॥ (च. चि. अ. २३।१५३) अर्थात् सविष मेढक के दंश में एक ही दंष्ट्रा से दंश होता है इसमें दंशस्थान सूजा हुआ तथा वेदनायुक्त होता है। देह का वर्ण पीला हो जाता है। प्यास लगती है। वमन होता है तथा निद्रा आती है।

विश्वम्भराभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते, शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति॥ ३२॥

विश्वम्भरा दष्ट के लक्षण—विश्वम्भरा नामक कीट के काटने पर दंश सरसों के आकार की एवं वेदना युक्त पिडिकाओं से पूर्ण रहता है। तथा रोगी को शीतपूर्वक (जाड़ा देकर) ज्वर आता है॥ ३२॥

अहिण्डुकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डुश्वयथवो भवन्ति मोहश्च; कण्डूमकाभिर्दष्टे पीताङ्गश्छर्द्यतीसारज्वरादिभिरभिहन्यते; शूकवृन्ताभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्धन्ते शूकं चात्र लक्ष्यते॥ ३३॥

अहिण्डुका-कण्डूमका-शूकवृन्ता के दष्ट लक्षण—अहिण्डुका के काटने पर तोद, दाह, कण्डू, श्वयथु और मूर्च्छा होती है। कण्डूमका के काटने पर रोगी के अंग पीले पड जाते हैं। वमन, अतिसार, ज्वर आदि के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है। शूकवृन्ता के काटने पर कण्डू तथा कोठ की उत्पत्ति होती है तथा दंशस्थान पर शूक (डंक) दिखाई पडता है॥ ३३॥

पिपीलिकाः—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका; कपिलिका, चित्रवर्णेति षट्; ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः॥ ३४॥

६ प्रकार की चीटियों के नाम और उनसे दष्ट के लक्षण—पिपीलिका (चींटियाँ), स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अंगुलिका, कपिलिका और चित्रवर्णा ये छः प्रकार की होती हैं। इनके काटने पर दंश में शोथ एव अग्नि से जलने (दग्ध) की भाँति दाह तथा शोथ होता है॥ ३४॥

मक्षिकाः—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, कापायी, स्थालिकेत्येवं षट्, ताभिर्दष्टस्य कण्डुशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थालिकाकापायीभ्यामेतदेव श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, कापायी स्थालिका च प्राणहरे॥ ३५॥

६ प्रकार की मक्खियों के नाम और दष्ट के लक्षण—मक्खियाँ—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, कपायी तथा स्थालिका ये छः प्रकार की होती हैं। इनके काटने पर कण्डू (खुजली), शोफ, दाह, वेदना होती है। स्थालिका तथा कपायी से इन लक्षणों के साथ में श्यामवर्ण की पिडिकाओं की उत्पत्ति तथा ज्वर आदि उपद्रव होते हैं। कपायी और स्थालिका नामक मक्खियाँ प्राणनाशक होती हैं॥ ३५॥

विमर्शः—चरककार ने मक्षिका दंश के लक्षणों को निम्नलिखित रूप में कहा है कि—सद्यः प्रस्रविणी श्यावा दाहमूर्च्छा ज्वरान्विता। पिटिका मक्षिकादंशे, तासां तु स्थगिकाऽसृहृत्॥ (च. चि. अ. २३।१५७) मक्षिका से दष्ट स्थान पर श्याम वर्ण की पिडिकाएँ होती हैं। इनमें से तत्काल ही स्राव होना प्रारम्भ हो जाता है। इन पिडिका के साथ ही दाह, मूर्च्छा आदि ज्वर ये लक्षण भी होते हैं। मक्षिकाओं में से स्थगिका नाम की मक्खी प्राणहर है। चरककारने सम्भवतः सुश्रुतोक्त स्थालिका के लिए स्थगिका नाम का पाठ किया है। अष्टांग संग्रह में भी कहा गया है कि—प्रायेण मक्षिका नेत्रे दशन्ति श्वयथूल्बणः। तद्दंशो दाहकण्डूमास्तासां तु स्थालिका त्यजेत्॥ तद्दष्टे पिटका श्यावा स्राविणी भूर्युपद्रवा॥ (अ. स. उ. तं. अ. ४३)

मशकाः—सामुद्रः, परिमण्डलो, हस्तिमशकः, कृष्णः, पार्वतीय इति पञ्च; तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः॥३६॥

५ प्रकार के मच्छरों के नाम और उनसे दष्ट के लक्षण—मशक (मच्छर)—सामुद्र, परिमण्डल, हस्तिमशक, कृष्ण और पार्वतीय ये पाँच प्रकार के होते हैं। इनके काटने से तीव्र कण्डू और दंशस्थान में सूजन होती है। पार्वतीय मशक प्राणहर कीटों के समान लक्षण वाले होते हैं॥ ३६॥

विमर्शः—मशक (मच्छर) दष्ट के लक्षण कहते हुए चरककार लिखते हैं कि—कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः। असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम्॥ (च. चि. अ. २३।१५६) मच्छरों के काटने से थोडा सा शोथ होता है और इस शोथ में खुजली तथा मन्द वेदना होती है। असाध्य मच्छरों के काटने पर लक्षण असाध्य कीटों के दंश के समान ही होते हैं।

नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति।
जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं चिकित्सितं च॥३७॥

नख से खरोंच हो जाने पर उत्पन्न विष के लक्षण—नख से खरोंच देने पर अतिशय दाह, पाक तथा पिडिकाएँ होती हैं। जोंक के काटने के लक्षण तथा चिकित्सा (सूत्र स्थान में जलौकावचारणीय नामक अध्याय) कह दी है॥ ३७॥

भवन्ति चात्र—

गोधेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसप्रभे।
भृकुटी कोटिकश्चैव न सिध्यन्त्येकजातिषु॥३८॥

एक जातियों में असाध्य—एक जाति के कीटों में गोधेरक, स्थालिका, श्वेता, अग्निप्रभा, भृकुटी और कोटिक नाम के ये कीट असाध्य माने गए हैं॥ ३८॥

विमर्शः—मण्डूकों की उत्पत्ति अथवा उत्पत्ति का जो भी रहस्य प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित किया गया हो परन्तु इतना तथ्य तो अवश्य ही प्राप्त होता है कि सर्पशुक्र से इनकी उत्पत्ति होती है। जन्य व जनक में समानता होने के कारण मण्डूक भी विषैले होते हैं। फिर भी मेंढकों में अधिकतर जातियाँ निर्विष ही होती हैं अतः चिकित्सा में प्रायः सुसाध्यता रहती है। इसी प्रकार सविष तथा निर्विष भेद से मक्षिका भी दो प्रकार की होती है। निर्विष

मक्खियाँ वनों में रहती हैं और प्रायः काटती भी अधिक हैं परन्तु इनके दंश से कोई विष प्रभाव नहीं होता है। पश्चात्य विद्वानों तथा अन्वेषकों ने भी कई सविष मक्षिकाओं का अनुसन्धान किया है, जिनके दंश से चिरकालीन ज्वर, काला ज्वर (Kalazar) तथा सुषुप्ति ज्वर (Sleeping sickness) आदि होते हैं इनमें अफ्रीका महाद्वीप में पाई जानेवाली महाविषाक्त मक्षिका टिसीटिसी (Tse Tse fly) भी है इसके अतिरिक्त (Aedes egypti) वा मरु मक्षिका, हरिस्तृन्न (Cantoridis) नाम की मक्खियाँ भी विषाक्त तथा अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण होती हैं। मशकों अथवा मच्छरों के ऊपर भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बहुत अनुसन्धान किये हैं उन्होंने विषाक्त मच्छरों को तीन बड़ी बड़ी जातियों (१) एनोफिलीज (Anopheles) (२) क्यूलेक्स (Culex) तथा (३) स्टेगोमाया (Stegomaya) में विभक्त किया है। परन्तु इनकी तथा प्राचीन आचार्यों की विचार-सरणी में भेद यह है कि प्राचीन आचार्य मच्छरों को स्वतः विषाक्त मानते हैं जब कि अर्वाचीन वैज्ञानिक उनको विषाक्त न मानकर विषाणुओं या जीवाणुओं का वाहक (Carrier) मानते हैं। अनेक विचार से ये मच्छर एक प्रकार के माध्यम (Media, host) होते हैं जो रोगजनक कीटाणुओं का वहन करते हैं तथा अपने दंशस्थान के मार्ग द्वारा प्राणियों में कीटाणुओं का अन्तर्मरण (Inoculation or Injection) कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप विषमज्वर (Malaria) श्लीपद (Filaria) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इत्यादि इत्यादि।

शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्शनात् ।
स्युः कण्डूदाहकोठारुंपिडकातोदवेदनाः ॥ ३९ ॥
प्रक्लेदवांस्तथा स्रावो भृशं संपाचयेत्त्वचम् ।
दिग्धविद्धक्रियास्तत्र यथावदवचारयेत् ॥ ४० ॥

विषाक्त शव, मूत्र, पुरीष के स्पर्श से होनेवाले लक्षण और चिकित्सा—विषाक्त शव, मूत्र, मल आदि के स्पर्श से कण्डू (खुजली), दाह (जलन), कोठ (चकत्ते, दद्दोरे), अरुंषिकाएँ, पिडिका, तोद, वेदना, क्लेदोन्नता (कोथ या सड़ना), स्राव, त्वक्पाक (Cellulitis) या (Dermatitis) आदि लक्षण होते हैं। इसमें विषाक्त शस्त्र आदि के लगने के समान चिकित्सा करे ॥ ३९-४० ॥

नावसन्नं न चोत्सन्नमतिसंरम्भवेदनम् ।
दंशादौ विपरीतार्तिं कीटदष्टं सुबाधकम् ॥ ४१ ॥

सुखसाध्य कीट दष्ट के लक्षण—जो दंश न तो बहुत दबा हुआ, और न बहुत उभरा हुआ तथा बहुत शोथयुक्त तथा रक्तवर्ण (लाल रंग) वाला होता है, अतिवेदना युक्त तथा दंश के प्रारम्भ में विपरीत पीड़ा वाला होता है वह कीटदष्ट सुखसाध्य होता है ॥ ४१ ॥

दष्टानुग्रविषैः कीटैः सर्पवत् समुपाचरेत् ।
विविधानां तु पूर्वेषां त्रैविध्येन क्रिया हिताः ॥४२॥

उग्रविष कीट की चिकित्सा—उग्रविषवाले कीटों (कीड़ों) के काटने पर सर्पविष की भाँति चिकित्सा करे। दर्वीकर, मण्डली, राजिमान् की शुक्रादि योनिभेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार के कीटों की चिकित्सा भी वातादि भेद के अनुसार करे ॥ ४२ ॥

स्वेदमालेपनं सेकं चोष्णमत्रावचारयेत् ।
अन्यत्र मूर्च्छितादंशात् पाककोथप्रपीडितात् ॥४३॥
विषघ्नं च विधिं सर्वं बहुशः शोधनानि च ।

कीट दष्ट में सामान्य चिकित्सा—स्वेदन, आलेपन तथा सेक आदि को उष्ण रूप में ही इनमें प्रयुक्त करे। मूर्च्छितावस्था में, दंश के पाक होने पर केवल शीतल स्वेदन, आलेप व परिषेक का प्रयोग करे एवं सम्पूर्ण विषघ्न उपचार करे तथा पुनः-पुनः शोधन कर्म करे ॥ ४३ ॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—इदानीं सामान्यं चिकित्सितमाह—स्वेदमालेपनमित्यादि। अन्यत्र मूर्च्छितादिति। मूर्च्छितं वर्जयित्वा, मूर्च्छिते न कुर्य्यादित्यर्थः।.....संशमनविधिं पाननस्याभ्यङ्गालेपनपरिषेकाञ्जनादिकं वातादिविषहरद्रव्यकल्पितम्। संशोधनानि चेति। वमनविरेकास्थापनानि, यथादोषमित्यध्याहारः ॥ इति ॥

शिरीषकटुकाकुष्ठवचारजनिसैन्धवैः ॥४४॥
क्षीरमज्जवसासर्पिःशुण्ठीपिप्पलिदारुषु ।
उत्कारिका स्थिरादौ वा सुकृता स्वेदने हिता ॥४५॥

वातादि-दोष विषहर स्वेद द्रव्यों का निर्देश—शिरीष, कुटकी, कुष्ठ (कूठ), वच, हल्दी, सेंधानमक, दूध, मज्जा, वसा, घी, सोंठ, पिप्पली, दारुहल्दी इनसे अथवा शालिपर्णी आदि लघु पञ्चमूल से बनाई उत्कारिका (पुल्टिस, उपनाह) स्वेदनार्थ उत्तम होती है ॥ ४४-४५ ॥

न स्वेदयेत चादंशं धूमं वक्ष्यामि वृश्चिके ।

वृश्चिक के दंश में स्वेदन-निषेध—वृश्चिक के दंश में स्वेदन कर्म न करे परन्तु आगे कहा गया धूम देवे।

अगदानेकजातीषु प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक् ॥४६॥
कुष्ठं वक्रं वचा पाठा विल्वमूलं सुवर्चिका ।
गृहधूमं हरिद्रे द्वे त्रिकण्टकविषे हिताः ॥४७॥

त्रिकण्टक में कुष्ठादि अगद—एक जाति वाले कीटों के लिए प्रयुक्त होने वाले अगदों को अब पृथक् पृथक् कहता हूँ। कूठ, तगर, वच, पाठा, विल्वमूल, सुवर्चला (हुलहुल), गृहधूम, हल्दी, दारुहल्दी यह योग त्रिकण्टक विष में हितकर होता है ॥ ४६-४७ ॥

रजन्यागारधूमश्च वक्रं कुष्ठं पलाशजम् ।
गलगोलिकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥४८॥

गलगोली विष में रजन्यादि अगद—हरिद्रा (हल्दी), गृहधूम, तगर, कुष्ठ (कूठ), पलाश बीज यह अगद गलगोलिका (छिपकली) के विष को नष्ट करता है ॥ ४८ ॥

कुङ्कुमं तगरं शिग्रु पद्मकं रजनीद्वयम् ।
अगदो जलपिष्टोऽयं शतपद्विषनाशनः ॥४९॥

शतपदी विष में कुङ्कुमादि अगद—केशर, तगर, सहजन, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी आदि को जल में पीस कर बनाया

गया अगद शतपदी (कनखजूरा या गोजर) के विष को नष्ट करता है ॥ ४९ ॥

मेषशृङ्गी वचा पाठा निचुलो रोहणी जलम् ।
सर्वमण्डूकदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५०॥

मण्डूक विष में मेषशृङ्गयादि— मेषशृङ्गी (मेढाशृङ्गी), वच, पाठा, निचुल (जलबेंत), कुटकी, बालक आदि के द्वारा बनाया अगद सभी प्रकार के मण्डूकों (मेंढकों) के विष को नष्ट करता है ॥ ५० ॥

धवाश्वगन्धातिबलाबलासातिगुहागुहाः ।
विश्वम्भराभिदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५१॥

विश्वम्भरा विष में धवादि अगद—धाय (धव), अश्वगधा, अतिबला, बला, शालिपर्णी तथा पृश्निपर्णी से बना अगद विश्वम्भराजाति के कीटों के विष का नाशक है ॥ ५१ ॥

शिरीषं तगरं कुष्ठं शालिपर्णी सहा निशे ।
अहिण्डुकाभिर्दष्टानामगदो विषनाशनः ॥५२॥

अहिण्डुका विष में शिरीषादि अगद—शिरीष, तगर, कूठ, शालपर्णी, मुद्गपर्णी, हल्दी और दारुहल्दी से बनाया गया अगद अहिण्डुका जाति के कीटों के विष को नष्ट करता है ॥

कण्डूमकाभिर्दष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः ।
दिवा ते नैव सिध्यन्ति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥५३॥

कण्डूमका-विष-चिकित्सा— कण्डूमका जाति के कीटों के दंश में रात्रि में शीतल उपचार करे क्योंकि दिन में सूर्य की किरणों से बल पाकर यह फिर अच्छा नहीं होता ॥ ५३ ॥

चक्रं कुष्ठमपामार्गः शूकवृन्तविषेऽगदः ।
भृङ्गस्वरसपिष्टा वा कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५४॥

शूकवृन्त-विष चिकित्सा—तगर, कूठ, अपामार्ग (चिरचिटा) इनका अगद शूकवृन्त कीटों के विष में प्रयुक्त किया जाता है अथवा बांबी की काली मिट्टी को भांगरे के रस (भृंगराज स्वरस) में पीसकर दंशस्थान पर लेप करे ॥ ५४ ॥

पिपीलिकाभिर्दष्टानां मक्षिकामशकैस्तथा ।
गोमूत्रेण युतो लेपः कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५५॥

पिपीलिका मक्षिका मशक विष चिकित्सा—चींटी तथा मक्खी व मच्छर के काटने पर वाम्बी (वल्मीक) की काली मिट्टी को गोमूत्र में मिलाकर लेप करे ॥ ५५ ॥

नखावघृष्टसंजाते शोफे भृङ्गरसो हितः ।
प्रतिसूर्यकदष्टानां सर्पदष्टवदाचरेत् ।

नख से खरोंच लगने व प्रतिसूर्यक दष्ट की चिकित्सा—नख से खरोंच लग जाने से उत्पन्न शोथ में भृङ्गराज-स्वरस का प्रयोग उत्तम होता है । तथा प्रतिसूर्यक के दंश में सर्पदंशोक्त की चिकित्सा करे ॥ ५६ ॥

त्रिविधा वृश्चिका प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः ॥५६॥
गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः ।
सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसंभवाः ॥५७॥

वृश्चिक की उत्पत्ति—विच्छू तीन प्रकार के कहे गये हैं (१) मन्दविष, (२) मध्यविष तथा (३) महाविष । गाय के गोबर के सड़ने से उत्पन्न होने वाले विच्छू मन्द विष वाले, काठ व ईंट के सड़ने से उत्पन्न होने वाले विच्छू मध्यविष तथा सर्प के मृत शरीर से उत्पन्न होने वाले विच्छू तीव्र विष वाले होते हैं तथा अन्य जो भी विच्छू दूसरे विषों से उत्पन्न होते हैं वे भी तीव्रविष वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

विमर्शः—गोबर कण्डे (गोहरी) आदि के इकट्ठे करने के स्थान पर होने वाले विच्छू मन्द विष वाले होते हैं क्योंकि गोबर के सड़ने से तथा विच्छू की उत्पत्ति से कोई तात्पर्य नहीं निकलता इसी प्रकार ईंट व लकड़ी आदि के रखने के स्थान पर मिलने वाले विच्छू मध्यविष वाले माने जाते हैं तथा सर्प आदि विषाक्त वस्तुओं के स्थानों के आस पास पाये जाने वाले विच्छू तीव्र विष वाले कहे जा सकते हैं। कई विद्वानों ने उपर्युक्त श्लोक को निम्न प्रकार से ग्रहण किया है—सर्पकोथोद्भवास्तीव्रा दिग्धविद्धविषैर्हते । कोथे मध्या गवादीनां शकृत्-कोथेऽवराः स्मृता ॥ इति ॥

मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः ।
दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः ॥५८॥

वृश्चिक सख्या— विच्छू तीस (संख्या में) माने गये गए हैं, इनमें बारह मन्दविष वाले, तीन मध्यम विष वाले तथा पन्द्रह तीव्र विष वाले कहे जाते हैं ॥ ५८ ॥

विमर्शः—आचार्य गयदास २७ संख्या मानते हुए लिखते हैं कि—त्रयोदश प्राणहराख्यो मध्यातथाऽपरे । मन्दवीर्या दशैकश्च वृश्चिका विषवेदिभिः ॥ सप्तविंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिता ॥ विच्छू एक विषैला प्राणी है तथा इसकी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। कुछ जातियों के दंश से रोगी को कष्ट तो बहुत होता है किन्तु उनकी मृत्यु का डर नहीं रहता है, ऐसे वृश्चिक-दंश को रुजाकर (वेदनोत्पादक) मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विच्छू ऐसे भी पाये जाते है जिनके डङ्क मारते ही शरीर का मांस गल गलकर गिरने लगता है। तथा रोगी की मृत्यु हो जाती है, ऐसे वृश्चिकों को सद्योमारक अथवा प्राणघातक की कोटि में रखा जा सकता है। विच्छू के काटने पर दंश स्थान से कुछ ऊपर अंगों में कई बन्ध लगा दिए जाते हैं, जिनसे विष का प्रसार ऊपर की ओर न होने पावे क्योंकि सर्पविष के समान ही विच्छू के विष का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होता है। किन्तु इन दोनों कीटों के विष में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सर्पदंश में पीडा नहीं होती जब कि विच्छू के विष में पीडा की पराकाष्ठा हो जाती है। इसी लिए लोकभाषा में एक प्रसिद्ध कहावत भी है कि 'सांप का काटा सोवे। विच्छू का काटा रोवै।' और वास्तव में सर्पदंश में निद्रा एवं तन्द्रा मुख्य लक्षण होते भी हैं। वृश्चिक विष का प्रधान प्रभाव नाडी-संस्थान पर होता है अतः तीव्र विष की अवस्था में अन्य स्थानों के दंश होने पर भी, मस्तिष्क तथा नाडियों के द्वारा हृदय, नासिका, जिह्वा आदि अंगों में कम्प, स्तम्भ आदि विकृतिया दृष्टिगोचर होती हैं किन्तु यह स्थिति प्रायः घातक होती है। विच्छू के पुच्छ प्रदेश (पूछ वाले भाग) में दो विषगर्भ-ग्रन्थियां होती हैं। डंक मारने से इन थैलियों का विष दंश द्वारा होता हुआ

दंश स्थान में प्रविष्ट हो जाता है जिसके फलस्वरूप दंशस्थान में तीव्र पीड़ा होती है। अन्य सार्वदैहिक लक्षणों में ज्वर तीन से छः दिनों तक हो सकता है। इसके अलावा पेट में भयंकर शूल, वमन तथा अतिसार आदि लक्षण भी हो सकते हैं। नाडीमण्डल के प्रभावित होने पर सर्वाङ्गीण स्वेद-प्रवृत्ति, एवं पेशियों में उद्वेष्टन (Muscular cramps) आदि होते हैं। ये उद्वेष्टन अधिकतर गले तथा अधोहनु की पेशियों में दृष्टिगोचर होते हैं। यदि विष बहुत ही तीव्र है तो आगे चलकर श्वासावरोध (Asphyxia), तथा संन्यास (Coma) के उपरान्त मृत्यु हो जाती है। प्रायः छोटे बच्चों में वृश्चिकदंश के कारण होने वाली मृत्यु की प्रतिशत (Percentage) अधिक पाई जाती है।

कृष्णः श्याव. कर्बुरः पाण्डुवर्णो
गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च।
पीतो धूम्रो रोमशः शाद्वलाभो
रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दाः ॥५६॥
युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे
स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः।
एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च
गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च ॥६०॥
शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति
दाहस्वेदौ दंशशोफो ज्वरश्च।

मन्दविष वृश्चिकों के नाम, लक्षण तथा कर्म—कृष्ण, श्याव, कर्बुर, पाण्डुवर्ण, गोमूत्राभ, कर्कश, मेचक, पीत (पीला), धूम्रवर्ण, रोमश, शाद्वलाभ (हरी दूब के वर्ण का) तथा लाल ये बारह वृश्चिक उदर से श्वेत होते है तथा ये मन्द विष वाले विच्छू हैं। ये विच्छू दूसरे विच्छुओं की अपेक्षा पुच्छ प्रदेश पर बहुपर्वान्वित होते हैं, इनकी पूंछ पर बहुत से जोड़ होते हैं, दूसरे प्रकार के वृश्चिकों पर इतने अधिक पर्व नहीं होते। इनके दंश से वेदना, कम्पन, गात्र-स्तम्भ, काले रक्त की प्रवृत्ति होती है। हाथ पैर आदि में दंश होने पर वेदना ऊर्ध्वगामी होने के कारण ऊपर की ओर चढ़ती है तथा दाह, स्वेद, दंशस्थान पर शोथ तथा ज्वर होता है।

विमर्शः—कहीं कहीं पर निम्नलिखित पाठान्तर भी मिलता है, यथा—'श्वेतोदरो रोमशः शाद्वलाभो रक्तश्वेते मन्द-वीर्या मतास्तु।' इति। आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—कृष्णादयो द्वादशापि श्वेतेनोदरेणोपलक्षिता वेदना चोर्ध्वमेतीति त्रिविधानामपि वृश्चिकाना सामान्यलक्षणमत्र प्रायोवृत्त्याऽभिहितम्। स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्य इति। इतरेभ्यो मन्दविषा वृश्चिका भूयोभिर्बहुतरैः पर्वभिरुपलक्षिता भवेयुः इति॥

रक्तः पीतः कापिलेनोदरेण
सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः ॥६१॥
एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता
मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्।
यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो
दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात् ॥६२॥
जिह्वाशोफो भोजनस्यावरोधो
मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदृष्टे।

मध्यविष वृश्चिकों के नाम, लक्षण तथा कर्म—मध्यम विष वाले विच्छू लाल, पीत (पीला) तथा कपिल वर्ण के होते हैं। इनका उदर कृष्ण वर्ण का होता है। इनकी पूंछ पर तीन पर्व (जोड) होते है। दर्वीकर, मण्डली तथा राजिमान तीन प्रकार के सांपों के मल मूत्र के सडने एव उनके अण्डों से जो उत्पन्न होता है। वह विच्छू उसी के अनुसार दोषोत्पत्ति को करता है। जिह्वा में शोथ, भोजन का अवरोध, तथा तीव्र मूर्च्छा, मध्यवीर्य वाले विच्छुओं के दंशन से उत्पन्न होती है॥

श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो
रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च ॥६३॥
'पीतोऽरक्तो नीलपीतोऽपरस्तु
रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च।
रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा
यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य ॥६४॥
नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा
ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः।
जन्मैतेषां सर्पकोथात् प्रदिष्टं
देहेभ्यो वा घातितानां विषेण ॥६५॥
एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः
स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च।
खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं
तस्मात् प्राणस्त्यज्यते शीघ्रमेव ॥६६॥

तीक्ष्ण विष वृश्चिकों के नाम, लक्षण तथा कर्म—श्वेत, चित्र (रङ्गविरङ्गा), श्यामल, लोहिताभ, रक्तश्वेत, रक्तोदर, नीलोदर, पीला लाल, नीला पीला, लाल नीला, नीलश्वेत, रक्तबभ्रु, पूछ पर एक पर्व वाला, पूंछ पर पर्वरहित, दो पर्व वाले इस प्रकार नाना आकृति एवं वर्ण वाले भयानक विच्छू प्राणहर माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति सर्पों के सडने से अथवा विष से मृत प्राणी के शरीर से होती है। इनके काटने पर सर्पविष-वेग के लक्षण, स्फोटों (छालों) की उत्पत्ति, भ्रान्ति, दाह तथा ज्वर आदि लक्षण होते हैं। तथा रोमकूपों या नाक व मुख से काले रंग का रक्त वेग से (तेजी से) निकलने लगता है अतः रोगी शीघ्र ही प्राण त्याग देता है॥ ६३-६६॥

विमर्शः—चरककार ने भी विच्छू के काटने के साध्य व असाध्य लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है, यथा—दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च। वृश्चिकस्य विष याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति॥ दष्टोऽसाध्यस्तु दष्टमात्रमनोपद्रुतो नरः। मासैः पनद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून्॥ (च० चि० अ० २३।१४९-१५०) अर्थात् विच्छू का विष प्रारम्भ में अग्नि के सदृश दाह तथा भेदन के सदृश पीडा को उत्पन्न करता है। यह शीघ्र ही ऊपर की ओर बढ़ता है परन्तु बाद में दंशस्थान पर आकर ठहर जाता है। तथा प्राणहर वृश्चिक के दंश से

हृदय, नाक और जिह्वा अपना काम करना बन्द कर देते हैं, मांस गल गलकर झड़ने (गिरने) लगता है तथा वह मनुष्य वेदनाओं से पीडित होकर प्राणों का त्याग कर देता है। अष्टाङ्गहृदयकार ने भी वृश्चिक-विष का वर्णन करते हुए लिखा है—वृश्चिकस्य विषलक्षणम्-आदौ दहति वह्निवत्। ऊर्ध्वं मारोहति क्षिप्र दशे पश्चात्तु तिष्ठति॥ (अ० हृ० उ० तं अ० ३७) निम्नलिखित कोष्ठक में त्रिविध वृश्चिकों के पार्थक्य का दिग्दर्शन कराया गया है:—

वृश्चिक (३०)

उग्रविष (१५) (सर्प अथवा विष-जुष्ट प्राणी के कोथ ग्रस्त शरीर से उत्पन्न)	मध्यविष (३) (ईंट तथा लकड़ी से उत्पन्न होने वाले)	मन्दविष (१२) (गोबर तथा कंडे से उत्पन्न)
अग्निवर्ण, दो या एक पर्व के लाल, काले या श्वेत उदर के। एक या हीनपर्वान्वित (पुच्छ में)।	धूम्रवर्ण, कृष्णपाद वाले तीन पर्व के वभ्रु तथा लालिमा युक्त चित्रित। पुच्छ में तीन पर्व होते हैं।	पीले, श्वेत, काले, रूक्ष, मेचकवर्ण के रोमयुक्त एवं बहु पर्वान्वित। पुच्छ में बहुत पर्व होते हैं।

प्रायः सभी विच्छू पुच्छ युक्त होते है। उनके पुच्छ में कई सन्धियां या पर्व बने होते है और पुच्छ के अन्त में एक शूक (सूचीवत्) के समान कांटा होता है जिसे तुण्ड कहा जाता है। इस तुण्ड के द्वारा ही विच्छू डंक मार कर अपना विष प्राणी के दंश स्थान में भर देता है। इस तुण्ड को आल भी कहा जाता है। वृश्चिक आलविष वाला माना जाता है, क्योंकि इनके मुख में विष का अधिष्ठान न होकर तुण्ड अथवा आल में होता है इसलिये विच्छू दंश नहीं करता वरन् प्राणी के अंग को अपने तुण्ड से विद्ध करता है।

उग्रमध्यविषैर्दष्टं चिकित्सेत् सर्पदष्टवत्।
आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छितं प्रतिसारयेत्॥६७॥
रजनीसैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः।

उग्र-मध्यविष वृश्चिक-दष्ट की चिकित्सा—तीव्र तथा मध्य विष वाले विच्छुओं के काटने पर सर्पदष्ट की भांति ही चिकित्सा करे। दंश के चारों ओर स्वेदन करके तथा उस स्थान को पोछ कर, हल्दी, सेन्धानमक, त्रिकुट (सोंठ, मरिच, पीपल) शिरीष के फल तथा पुष्पों के चूर्ण से दंश (विद्ध) स्थान पर प्रतिसारण करे या घर्षण करे वा रगडे॥ ६७॥

विमर्श.—चरककार ने विच्छुओं के विष की प्रकृति को बताकर उसकी चिकित्सा-विधि का सुन्दर वर्णन दिया है, कि—वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गा सवृश्चिका। वातपित्तोल्बणा. कीटा श्लैष्मिका कणभादय॥ (च चि. अ. २३।१६४) अर्थात् उच्चिटिङ्ग तथा विच्छुओं का विष प्रायः वातप्रधान, कीटों का विष वातपित्त-प्रधान और कणभ आदि का विष कफप्रधान (श्लैष्मिक) होता है। इसलिए विच्छू और उच्चिटिङ्गों को छोड़कर शेष सभी और सब स्थानों पर पहुँचे हुए विषों में प्रायः शीतोपचार हितकर होता है, यथा—विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च। अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः॥ (च. चि. अ. २३।१७१) अतः वृश्चिक-दष्ट की चिकित्सा निम्न प्रकार से करनी उचित होती है, यथा—वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्ग घृतेन लवणेन च। सेकांश्चोष्णान्प्रयुञ्जीत भोज्य पान च सर्पिष॥ (च. चि. अ. २३।१७२) अर्थात् विच्छू के दंश मे स्वेद, घी और सेंधानमक को मिलाकर अभ्यङ्ग तथा घी और सेंधानमक को मिश्रित कर गरम परिषेचन करना चाहिए तथा खान-पान आदि में घी का अधिक प्रयोग करे। अष्टाङ्ग-संग्रहकार ने भी चिकित्सा सिद्धान्त का वर्णन करते हुए निर्देश किया है, कि-लवणोत्तम युक्तेन सर्पिषा वा पुन. पुन.। सिञ्चेत् ··· ॥ (अ. सं उ. तं. अ. ४३) वृश्चिक दंश (Scorpion bite) के लक्षण व चिकित्सा का वर्णन आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में निम्न प्रकार से दिया गया है। विच्छू के दंश से बाल्यावस्था में रोगी की मृत्यु हो सकती है। दंशित स्थान से प्रारम्भ होकर ऊर्ध्वदिशा की ओर पीड़ा का प्रसार हो जाता है। वमन, आक्षेप (Convulsions), तीव्र ज्वर, प्रस्वेद (Sweating), उद्वेष्टन (Cramps) तथा चेतनानाश (Unconsciousness) आदि लक्षण होते हैं। स्थानिक चिकित्सा-दंशित स्थान को काटकर यदि उनका कोई भाग शरीर में रह गया हो तब उसको निकाल देना चाहिए। दंशित स्थान पर लाइकर एमोनिया फोर्ट (Liq Ammon fortis), की एक बूँद लगाने से पीडा कम हो जाती है। तथा दंशित स्थान को पोटाशियम परमैंगनेट के घोल से धोना चाहिए। इनके अतिरिक्त सद्यः लाभप्रद कई प्रकार के इडा स्वतन्त्र नाडी-मण्डल की क्रिया को पराभूत करने वाले (Sympathetic inhibitor) योगों का व्यवहार करना चाहिए। चूँकि वृश्चिक विष अम्ल प्रतिक्रिया (Acid reaction) का होता है, अत. क्षारों या क्षार-प्रतिक्रिया वाले द्रव्यों का प्रयोग शीघ्रता से उसका शामक हो जाता है। इसके अतिरिक्त संज्ञाहर द्रव्यों के उपयोग से भी सद्यः लाभ होता है। संज्ञाहर द्रव्यों के प्रयोग :—नोवोकेन (Novocaine) २% का २ सी० सी० घोल या सोडीबाई कार्ब (Sodi bi carb) के २% घोल की सी० सी० की मात्रा सूचिकाभरण द्वारा दंशित स्थान के चारों ओर प्रवेश (Infiltration) करने से पीड़ा का शमन होती है। क्योंकि इस क्रिया से वहाँ की सांवेदनिक नाडियाँ संज्ञाहीन हो जाती हैं, अतः वेदना का अनुभव रोगी को नहीं होता। परन्तु यह लाभ अल्प काल तक ही रहता है। आधे घण्टे के बाद कभी-कभी पुनः वेदना शुरू हो जाती है। लसिका (Serum) चिकित्सा विशिष्ट लसिका की ५ सी० सी० पेशीमार्ग (Intra muscular) से सूचिकाभरण करना चाहिए। तारपीन का तेल, स्प्रिट, टिंचर आयोडीन व सर्षप तैल के मिश्रण का अभ्यङ्ग भी लाभप्रद होता है तथा क्लोरोफार्म (Chloroform) के द्वारा वृश्चिक विद्ध रोगी को आंशिक संज्ञाहरण (Partial Anaesthesia) करना चाहिए। इससे रोगी तत्काल चङ्गा हो जाता है, उसका रोना-धोना जाता रहता है। अन्य चिकित्सा—तिर्यक् (Tiryaq), लेक्सिन (Lexin) आदि

का प्रयोग करने से भी लाभ होता है तथा निपात (Collapse) आदि की भी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए। अर्वाचीन काल में एक सिद्ध प्रयोग पोटाशियम परमैंगनेट और टार्टरिक या साइट्रिक एसिड (Citric Acid) का है। इन दोनों के चूर्णों को अलग-अलग रखना चाहिए। बिच्छू के दंश स्थान पर पहले पोटाशियम परमैंगनेट का थोडा चूर्ण रखे बाद में उसी के ऊपर साइट्रिक एसिड का चूर्ण छोडे तथा बाद में उसके ऊपर पानी की एक या दो बूँद डाले। ऐसा करने से वहाँ पर एक फुदकन तथा उभार बनेगी एवं बिच्छू का विष गायब हो जायगा। इसी प्रकार दंश स्थान पर पोटाश के कुछ कण रखकर नीबू के रस का एक या दो बूँद टपकाने से भी यही क्रिया होती है और वृश्चिक दंश में सद्य लाभ होता है किन्तु यदि दंशस्थान का ठीक पता न रहे तब यह योग उतना लाभकर नहीं होता।

मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाप्रजम् ॥६८॥
लेपे, स्वेदे सुखोष्णं च गोमयं हितमिष्यते।
पाने क्षौद्रयुतं सर्पिः क्षीरं वा बहुशर्करम् ॥६९॥

तुलसी के पत्तों को बिजौरा नीबू के रस तथा गोमूत्र में पीसकर लेप करे। स्वेदन के लिए सूखे गोबर से सुहाता हुआ गरम सेक देवे। पीने के लिए घी को मधु के साथ या प्रचुर मात्रा में शर्करा मिश्रित दूध दे ॥ ६८-६९ ॥

दंशं मन्दविषाणां तु चक्रतैलेन सेचयेत्।
विदारीगणसिद्धेन सुखोष्णेनाथवा पुनः ॥७०॥
कुर्याच्चोत्कारिकास्वेदं विषघ्नैरुपनाहयेत्।
गुडोदकं वा सुहिमं चातुर्जातकसंयुतम् ॥७१॥
पानमस्मै प्रदातव्यं क्षीरं वा खगुडं हिमम्।
शिखिकुक्कुटवर्हाणि सैन्धवं तैलसर्पिषी ॥७२॥
धूमो हन्ति प्रयुक्तस्तु शीघ्रं वृश्चिकजं विषम्।
कुसुम्भपुष्पं रजनी निशा वा कोद्रवं तृणम् ॥७३॥
एभिर्धूमैस्तु धूमस्तु पायुदेशे प्रयोजितः।
नाशयेदाशु कीटोत्थं वृश्चिकस्य च यद्विषम् ॥७४॥

मन्दविष वृश्चिक-दंश की चिकित्सा—मन्द विष वाले बिच्छुओं में कोल्हू के ताजे तैल से परिषेक करे अथवा विदारीगण से सिद्ध तैल से सुहाता हुआ गरम सेक करे। शिरीषादि विषहर द्रव्यों से बनाई उत्कारिका से स्वेदन करे। विषघ्न द्रव्यों से उपनाह बाँधे। दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर से मिले गुड के शर्बत को बहुत ठण्डा करके पीने को दे अथवा गुडवाले दूध को ठण्डा करके पीने के लिए देना चाहिए। मोर, मुर्गों के पंख, सेंधानमक, तेल, घी इनका धुँआ (धूम) बिच्छू के विष को शीघ्र नष्ट करता है। कुसुम्भ के फूल और हल्दी अथवा हल्दी और कोद्रव तृण (कोदों घास), इनको घी में मिलाकर गुदा प्रदेश पर किया गया धूम कीटों के तथा बिच्छू के विष को शीघ्र ही नष्ट कर डालता है ॥ ७०-७४ ॥

लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमं च तत्।
दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः ॥७५॥

लूता विष की घोरतरता का कथन—मकडी का विष अति भयानक तथा कठिनाई से जाना जाता है तथा मन्द बुद्धि वाले वैद्यों द्वारा उसकी बडी कठिनाई से चिकित्सा की जा सकती है ॥ ७५ ॥

सविषं निर्विषं चैतदित्येवं परिशङ्किते।
विषघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौषधम् ॥७६॥
अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य युज्यते।
निर्विषे मानवे युक्तोऽपदः संपद्यतेऽसुखम् ॥७७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः।
अज्ञात्वा विषसद्भावं भिषग्व्यापादयेन्नरम् ॥७८॥

अगद प्रयोग के लिए विष के निश्चय ज्ञान की आवश्यकता—यह विषजुष्ट है अथवा निर्विष है, यह शङ्का जब मन में उठे तो उसमें विषनाशक एवं रस आदि धातुओं का विरोध न करनेवाली ओषधि का प्रयोग करना चाहिए। विषजुष्ट व्यक्ति में ही अगदों का प्रयोग उत्तम है। विषरहित मनुष्यों में अगदों के प्रयोग से कष्ट होने लगता है, अतः पूर्णरूपेण सभी यत्न व प्रयत्नादि से जब विष का प्रयोग हुआ है तथा यह प्राणी विषजुष्ट है यह निश्चय हो जावे तब ही अगदादि का प्रयोग करना चाहिए। विष की उपस्थिति को न समझता हुआ वैद्य उस विषजुष्ट मनुष्य को निर्विष जानकर चिकित्सा न कर मार देता है ॥ ७६-७८ ॥

प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः।
तद्वद्विषं लक्ष्यतमं हि तासां विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥

लूता विष की दुर्विज्ञेयता—उद्भिद्यमान (फूटते हुए) अंकुर से जिस प्रकार वृक्ष, किस जाति का होगा, का पता नहीं चलता, इसी प्रकार मकड़ी का विष शरीर में थोडी मात्रा में फैला हुआ भी बड़ी कठिनाई से ही जाना जा सकता है ॥ ७९ ॥

ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठमव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्।
अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये ॥
त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं
विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति।
अतोऽधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तो-
र्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान् ॥८१॥
षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान् मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति।
तत् सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम् ॥

लूता विष का ७ दिनों में पृथक्-पृथक् लक्षण—मकडी का विष प्रथम दिन अल्प कण्डू वाला, प्रचल (व्यापक, फैलने वाला), कोठयुक्त एवं अव्यक्त वर्ण (अस्पष्ट रंग) का होता है। दूसरे दिन यह किनारों पर सूजा तथा बीच में (मध्यभाग में) दबा हुआ तथा स्पष्ट लक्षणों वाला हो जाता है। तीसरे दिन और भी स्पष्ट हो जाता है। चौथे दिन यह विष प्रकुपित होता है और इसके बाद के दिन से विषप्रकोपजन्य रोगों को मनुष्य में उत्पन्न करता है। छठे दिन यह विष सम्पूर्ण देह में फैलकर सभी मर्म प्रदेशों को विशेष रूप से आवृत कर लेता है। फिर सातवें दिन

आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत् ।
शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च ॥१०५॥
तत्र पद्मककुष्ठैलाकरञ्जककुभत्वचः ।
स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वाब्राह्म्यो विषापहाः ॥१०६॥

कपिला लूता दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कपिला लूता के दंश में ताम्र वर्ण की एवं स्थिर पिडिका होती है। शिर में भारीपन, दाह, तिमिर और भ्रम होता है। इसमें पद्माख, कुष्ट, इलायची, करञ्ज, अर्जुन की छाल, शालपर्णी, अर्कपर्णी, अपामार्ग, दूर्वा और ब्राह्मी ये विषघ्न द्रव्य लाभप्रद होते हैं ॥ १०५-१०६ ॥

आदंशे पीतिकायास्तु पिडका पीतिका स्थिरा ।
भवेच्छर्दिर्ज्वरः शूलं मूर्ध्नि रक्ते तथाऽक्षिणी ॥१०७॥
तत्रेष्टा कुटजोशीरतुङ्गपद्मकवञ्जुलाः ।
शिरीषकिणिहीशेलुकदम्बककुभत्वचः ॥१०८॥

पीतिका दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—पीतिका के काटने पर पीले रंग की पिडिका होती है जो स्वभाव में स्थिर प्रकार की होती है तथा इससे वमन, ज्वर, शिर शूल तथा नेत्रों में लाली होती है। इसमें कुटज, खस, नागकेसर, पद्माख, जल वेतस, शिरीष, अपामार्ग, लसोड़ा, कदम्ब, अर्जुन-त्वक् का प्रयोग उत्तम तथा लाभप्रद होता है ॥ १०७-१०८ ॥

रक्तमण्डनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव ।
जायन्ते तालुशोषश्च दाहश्चालविषार्दिते ॥१०९॥
तत्र प्रियङ्गुह्रीवेरकुष्ठलामज्जवञ्जुलाः ।
अगदः शतपुष्पा च सपिप्पलवटाङ्कुराः ॥११०॥

आलविष-दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—आलविष लूता के दंश में पिडिका रक्तवर्ण की (लाल चकत्ते जैसी) तथा सर्षप के समान आकार की होती है तथा इसमें तालुशोष व दाह होता है। इसमें प्रियगु, वेर, कूठ, उशीर (खस), जलवेतस, सौंफ, पिप्पली एवं वट (बरगद) के कोमल पत्तों से बनाया हुआ अगद प्रयुक्त करे ॥ १०९-११० ॥

पूतिर्मूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः ।
कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः ॥१११॥
मनःशिलालमधुककुष्ठचन्दनपद्मकैः ।
मधुमिश्रैः सलामज्जैरगदस्तत्र कीर्तितः ॥११२॥

मूत्रविष दष्ट के लक्षण और चिकित्सा—मूत्रविष वाली लूता का दंश कोथयुक्त हो फैलता है तथा उस स्थान पर का रक्त काले वर्ण का हो जाता है एवं कास, श्वास, वमन, मूर्च्छा, ज्वर एवं दाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें मैनसिल, हरताल मुलहठी, कूठ, चन्दन, पद्माख व खस को मधु के साथ मिलाकर सेवन करावे ॥ १११-११२ ॥

आपाण्डुपिडको दंशो दाहक्लेदसमन्वितः ।
रक्ताया रक्तपर्यन्तो विज्ञेयो रक्तसंयुतः ॥११३॥
कार्यस्तत्रागदस्तोयचन्दनोशीरपद्मकैः ।
तथैवार्जुनशेलुभ्यां त्वरिमराम्रातकस्य च ॥११४॥

रक्तादष्ट के लक्षण और चिकित्सा—रक्तलूता का दंश चारों ओर पाण्डुवर्ण की पिडिकाओं से युक्त, दाहयुक्त, क्लेदयुक्त, किनारों पर लाल तथा रक्तयुक्त होता है। इसमें बालक, चन्दन, उशीर (खस), पद्माख से निर्मित किए गए अगद का प्रयोग करे तथा अर्जुन, लसोड़ा (श्लेष्मातक), तथा आम्रातक (आमड़ा) की छाल को पानी में घिस कर लेप करे ॥ ११३-११४ ॥

पिच्छिलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत् ।
कासश्वासौ च तत्रोक्तं रक्तलूताचिकित्सितम् ॥११५॥

कसनादष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कसना लूता के दंश में पिच्छिल (चिपचिपा) तथा शीतल रक्त की प्रवृत्ति होती है तथा इसमें कास, श्वास आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं अतः इसके दंश में रक्तालूता के प्रसंग में वर्णित चिकित्सा का प्रयोग करे ॥ ११५ ॥

पुरीषगन्धिरल्पासृक् कृष्णाया दंश एव तु ।
ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः ॥११६॥
तत्रैलावकसर्पाक्षीगन्धनाकुलिचन्दनैः ।
महासुगन्धिसहितैः प्रत्याख्यायागदः स्मृतः ॥११७॥

कृष्णादष्ट के लक्षण और चिकित्सा—कृष्णा लूता का दंश मल की गन्ध वाला, अल्परक्तान्वित, ज्वर, मूर्च्छा, वमन, दाह, कास व श्वास आदि लक्षणों से युक्त होता है। इसमें इलायची, तगर, सर्पाक्षी, राना, चन्दन से निर्मित योग को महासुगन्धि अगद के साथ असाध्य कह कर प्रयुक्त करे ॥ ११६-११७ ॥

दंशे दाहोऽग्निवक्त्रायाः स्रावोऽत्यर्थं ज्वरस्तथा ।
चोषकण्डूरोमहर्षा दाहविस्फोटसंयुतः ॥११८॥
कृष्णाप्रशमनं चात्र प्रत्याख्याय प्रयोजयेत् ।
सारिवोशीरयष्ट्याह्वचन्दनोत्पलपद्मकम् ॥११९॥

अग्निवक्त्रादष्ट के लक्षण और चिकित्सा—अग्निवक्त्रा लूता के दंश में दाह अतिशय स्राव, ज्वर, चोष, कण्डू, रोमाञ्च, दाह, विस्फोट (छाले) होते हैं। इसको भी असाध्य कहकर ही कृष्णा लूता के विष के प्रसंग में कही गई चिकित्सा का प्रयोग करे तथा सारिवा, खस, मुलहठी, चन्दन, कमल, पद्माख का सेवन करावे ॥ ११८-११९ ॥

सर्वासामेव युञ्जीत विषे श्लेष्मातकत्वचम् ।
भिषक् सर्वप्रकारेण तथा चाक्षीवपिप्पलम् ॥१२०॥

सब लूताओं की सामान्य चिकित्सा—चिकित्सक सब लूताओं के विष में लसूड़े की छाल का पान, लेप आदि में सब प्रकार से प्रयोग करे। इसी प्रकार अक्षीव पिप्पली का प्रयोग करे ॥

विमर्शः—आचार्य डल्हण ने उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि—'अक्षीवपिप्पलमिति। अक्षीवान्महानिम्बाज्जातः पिप्पल अक्षीवपिप्पलः, अन्ये शोभाञ्जनाज्जात इति मन्यते॥ अन्यत्राप्युक्तम्-अक्षीवाज्जातस्य पिप्पलस्य मणिः सर्वविषापहः। शेलुत्वचो वेति। आलम्बायनोऽप्यत्राह-'लूताविषेषु सर्वेषु पानस्याभ्यञ्जनादिना। प्रयोज्यः पिप्पलोक्षीवाज्जातः शेलुत्वचोऽथवा' इति॥ कहने का तात्पर्य यह है कि—अक्षीव पिप्पली से यहाँ शोभाञ्जन की पिप्पली अथवा महानिम्ब पर उत्पन्न होने

वाली पिप्पली का ग्रहण करना चाहिये, किन्तु यह पाठ कुछ सन्दिग्ध सा ही प्रतीत होता है। वाग्भटकार ने भी लिखा है कि—'तर्वतोऽपहरेत् रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा। सेका लेपास्ततः शीता बोधिश्लेष्मानवाऽग्नकैः ॥' (अ० हृ० उ० तं० अ० ३७।४०) अतः यह भी विचार कई विद्वानों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है कि पीपल की छाल को दूध में पीसकर सर्व प्रकार से सेचन एवं लेपन आदि के रूप में प्रयोग कराने से अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। अस्तु।

कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ताद्ये च यदृच्छया।
अवार्यविषवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे ॥१२१॥
श्यामः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगन्धकः।
श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा॥१२२॥
आदंशे लाजवर्णाया श्यामं पूति स्रवेदसृक्।
दाहो मूर्च्छाऽतिसारश्च शिरोदुःखं च जायते ॥१२३॥
घोरो दंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते।
स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते ॥१२४॥
एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत् कृष्णतिलाकृतिः।
तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः ॥१२५॥
दंशः काकाण्डिकादष्टे पाण्डुरक्तोऽतिवेदनः।
तृण्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः स्युरुच्छ्रिताः॥१२६॥
रक्तो मालागुनादंशो धूमगन्धोऽतिवेदनः।
बहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः ॥१२७॥

असाध्य विषवाली लूताओं के दष्ट लक्षण—(ऊपर) आठ लूताएँ कष्टसाध्य वर्ग की कह दी गई हैं उनमें दो कभी अच्छी हो जाती हैं और कभी कभी नहीं भी अच्छी होतीं यथा कृष्णा व अग्निवर्णा। अब अप्रतिहत शक्ति वाली (असाध्य) लूताओं के लक्षणों को मुझसे सुनकर जानो। सौवर्णिक का दंश काला, झागदार, मछली जैसी गन्धवाला होता है। इसके दंश में रोगी को श्वास, कास, ज्वर, तृष्णा व भयानक मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं। लाजवर्णा के दंश में काले रङ्ग का दुर्गन्ध युक्त रक्त का स्राव होता रहता है तथा रोगी को दाह, मूर्च्छा, अतिसार तथा शिरोवेदना आदि लक्षण होते हैं। जालिनी नामक लूता का दंश भयानक, रेखान्वित तथा किनारों पर कटा फटा होता है। इसके कारण जडता, श्वास, अन्धकार का बढ़ते जाना तथा तालुशोष आदि लक्षण होते हैं। एणीपदी का दंश काले तिल के समान आकार वाला होता है। तथा इसमें रोगी को तृष्णा, ज्वर, कास तथा श्वास आदि लक्षण होते हैं। काकाण्डिका लूता के दंश में दष्टस्थान से स्रवित होने वाला रक्त पाण्डुवर्ण का होता है तथा रोगी को अतिवेदना, तृष्णा, मूर्च्छा, श्वास, हृद्रोग, कास तथा हिक्का (हिचकी) तीव्र रूप में होती है। मालागुणा का दंश रक्तवर्ण, तथा धूम्रगन्धी होता है इसमें बहुत वेदना होती है तथा यह कई स्थानों पर कटा-फटा हुआ होता है एवं इसमें रोगी को दाह, मूर्च्छा तथा ज्वर आदि के लक्षण भी होते हैं॥

असाध्यास्वप्यभिहितं प्रत्याख्यायाशु योजयेत्।
दोषोच्छ्रायविशेषेण दाहच्छेदविवर्जितम् ॥१२८॥

असाध्य लूताओं की प्रत्याख्यान करके चिकित्सा का निर्देश—असाध्य लूताओं में भी असाध्य कहकर ही उपर्युक्त उपचार अथवा चिकित्सा करे। तथा इनमें दोष विशेष की विशेष रूपेण चिकित्सा करे एवं दाह व छेदन आदि कर्मों का प्रयोग वर्जित मानकर न करे॥ १२८॥

साध्याभिराभिलूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः।
वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यगादंशमुद्धरेत् ॥१२९॥

साध्या लूताओं के दंश में तात्कालिक चिकित्सा—कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह साध्य लूताओं के दंश में भी शीघ्र ही वृद्धिपत्र से इनके दंश को दंशस्थान से पूर्णरूपेण व भली प्रकार से निकाल दे॥ १२९॥

अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः।
दंशस्योत्कर्तनं कुर्यादल्पशोथयथुकस्य च ॥१३०॥
मधुसैन्धवसयुक्तैरगदैर्लेपयेत्ततः।
प्रियङ्गुरजनीकुष्ठसमङ्गामधुकैस्तथा ॥१३१॥
सारिवां मधुकं द्राक्षां पयस्यां क्षीरमोरटम्।
विदारीगोक्षुरक्षौद्रमधुकं पाययेत वा ॥१३२॥
क्षीरिणां त्वक्कषायेण सुशीतेन च सेचयेत्।
उपद्रवान् यथादोषं विपन्नैरेव साधयेत् ॥१३३॥

लूता विष में दंश का उत्कर्त्तन तथा उसके पश्चात्कर्तव्य कर्म—विधान को समझने वाला चिकित्सक, मर्मरहित स्थान में ज्वर आदि से रहित तथा अल्पशोथान्वित पुरुष में दंश को काटकर निकाल दे। फिर मधु तथा सैन्धव नमक युक्त अगदों से लेप करे। इसी प्रकार प्रियङ्गु, हल्दी, कूठ, मञ्जीठ तथा मुलहठी का लेप करे। सारिवा, मुलहठी, द्राक्षा, विदारी, क्षीरमोरट इनको या विदारी, गोक्षुर (गोखरू), मधु तथा मुलहठी का क्वाथ पिलाये। वट (बरगद) आदि क्षीरी वृक्षों के अतिशीतल क्वाथ से दंशस्थान का परिषेक करे तथा दोषों के अनुसार उपद्रवों की विपन्न औषधियों से चिकित्सा करे॥ १३०-१३३॥

नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमं तथाऽवपीडं कवलग्रहं च।
संशोधनं चोभयतः प्रगाढं कुर्यात्सिरामोक्षणमेव चात्र॥

लूता में १० प्रकार के उपक्रम—लूता विष में नस्य, अञ्जन, अभ्यङ्ग, पान, धूम, अवपीड, कवलग्रह, तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण विरेचन और सिरामोक्षण इन दश विधियों से चिकित्सा करे॥

कीटदष्टव्रणान् सर्वानहिदष्टव्रणानपि।
आदाहपाकात्तान् सर्वाञ्चिकित्सेद्दुष्टवद्भिषग्॥१३५॥

दुष्टव्रण चिकित्सा का कीट दष्टव्रणादि में अतिदेश—कीटों के काटने से उत्पन्न व्रणों की, सर्पों के सब दूषित व्रणों की दाह, एवं पाक की अवस्था तक चिकित्सक दूषित व्रणों की भांति ही सम्पूर्ण चिकित्सा करे॥ १३५॥

विनिवृत्ते ततः शोफे कर्णिकापातनं हितम्।
निम्बपत्रं त्रिवृद्दन्ती कुसुम्भं कुसुमं मधु ॥१३६॥
गुग्गुलुः सैन्धवं किण्वं वर्चः पारावतस्य च।
विषवृद्धिकरं चान्नं हित्वा संभोजनं हितम् ॥१३७॥

दाहादि के निवृत्त होने पर व्रण में विषोत्पन्न कर्णिका की चिकित्सा—शोफ के हट जाने पर कर्णिका को निकाल कर अलग कर देना चाहिए। इसके लिए नीम के पत्ते, निशोथ, जमालगोटा, कुसुम्भ का पुष्प, मधु, गुग्गुल, सैन्धव, सुरावीज, कबूतर की बीट (विष्ठा) उत्तम हैं। तिल, कुलत्थ आदि विष के बढ़ाने वाले भोजनों को छोड़कर शेष सब अन्न भोजन उत्तम होते हैं॥ १३६-१३७॥

विषेभ्यः खलु सर्वेभ्य' कर्णिकामरुजां स्थिराम्।
प्रच्छयित्वा मधून्मिश्रै' शोधनीयैरुपाचरेत् ॥१३८॥

सब प्रकार के विषों में से वेदनारहित तथा स्थिर कर्णिका (मासग्रथि) पाछकर निम्बपत्र, दन्तीमूल आदि शोधनीय द्रव्यों को मधु में मिलाकर लेप करने के उपरान्त निकाले।

सप्तषष्टस्य कीटानां शतस्यैतद्विभागशः।
दृष्टलक्षणमाख्यातं चिकित्सा चाप्यनन्तरम् ॥१३९॥

चिकित्स्य का उपसंहार—एक सौ सड़सठ कीटों के दृष्ट-लक्षण अलग अलग कह दिए हैं तथा उनकी चिकित्सा भी उनके बाद में कह दी है॥ १३९॥

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः।
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥१४०॥

सूत्रस्थान, निदानस्थान, शारीरस्थान, कल्पस्थान, चिकित्सा स्थान के विभाग से एक सौ बीस अध्याय भी कह दिए हैं। इन स्थानों के नाम मात्र से कहे हुए, जो कि विस्तार से नहीं कहे गये हैं, उन विषयों को उत्तरस्थान में आगे कहूँगा॥१४०॥

सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च।
तथा दृष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम् ॥१४१॥
वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः।
चिकित्सितात् पुण्यतमं न किंचिदपि शुश्रुमः ॥१४२॥
ऋषेरिन्द्रप्रभावस्यामृतयोनेर्भिषग्गुरोः।
धारयित्वा तु विमलं मतं परमसंमतम्।
उक्ताहारसमाचार इह प्रेत्य च मोदते ॥१४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने कीटकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

चिकित्सक का पुण्यतमत्व का कथन—वेदों के सनातन होने से तथा आयुर्वेद के अक्षरों के अक्षर होने से, प्रत्यक्ष फल देखने से, मनुष्यों का कल्याणकारी होने से, वाणी समूह में अर्थ का विस्तार के रहने के कारण, मनुष्यों द्वारा पूजित होने से चिकित्सा से बढ़कर और कोई अधिक पुण्यशाली वस्तु का वर्णन हम नहीं सुनते। अमृत की योनि, वैद्यों के गुरु, श्रेष्ठ प्रभाव वाले ऋषि के अति समत, निर्मल मत को धारण करके, कहे हुए के अनुसार कार्य करने पर मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में प्रसन्न तथा सुख से रहता है।' १४१-१४३॥ इति॥

इति श्री सुश्रुतसंहिताया कल्पस्थाने कीटकल्पो-नामाष्टमोऽध्याय' ॥ ८॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां पञ्चम कल्पस्थानं समाप्तम्॥ ५॥